श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १९७

हिन्दी
खण्डनखण्डखाद्य

(शाङ्करी व

हिन्दी

स्वामी श्री हनुम



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१



॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१९७



महाकविश्रीहर्षप्रणीतं

खण्डनखण्डखाद्यम्

श्रीशङ्करमिश्रविरचित 'शाङ्करी' सहित-
'तत्त्वबोधिनी' हिन्दीव्याख्योपेतम्

स्वामी श्री ... षट्शास्त्री

डॉ ...
(एम. ए., पी-एच. डी., व्याकरणाचार्य, वेदान्ताचार्य
अध्यापक : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
१९७०

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२६ वि०

मूल्य : २५-००

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)

फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
197

KHAṆḌANA-KHAṆḌA-KHĀDYA

OF

MAHĀKAVI ŚRĪHARṢA

With

The 'Śāṅkarī' Commentary

By

Mm. ŚAṄKARA MIŚRA

AND

The 'Tattvabodhinī' Hindi Commentary

By

SWĀMĪ HANUMĀNDĀSJĪ ṢAṬŚĀSTRĪ

Edited by

DR. NAVIKĀNTA JHĀ, M. A., Ph. D.,

Adhyāpaka, Vārāṇaseya Sanskrit University, Varanasi

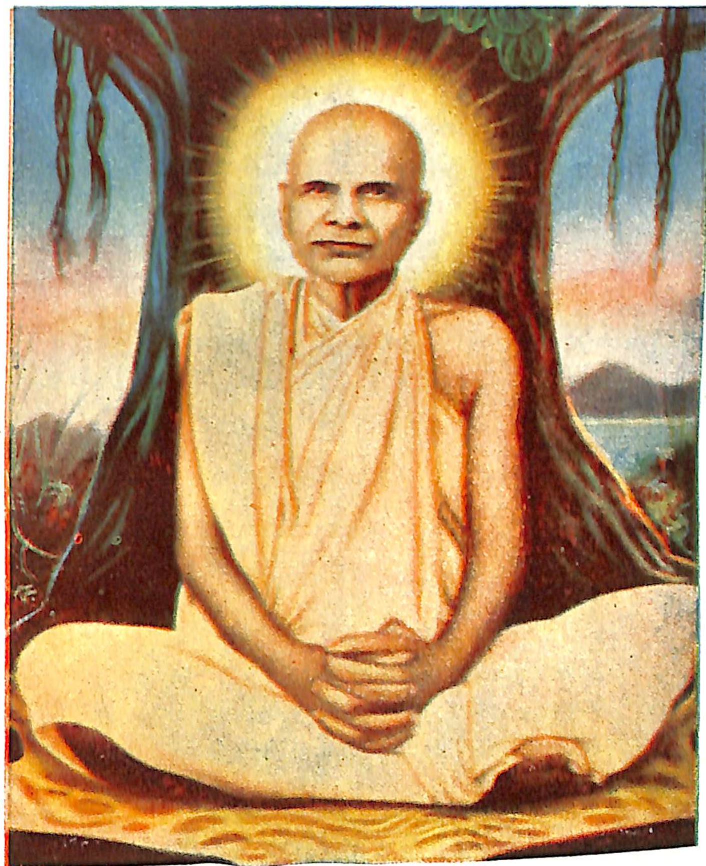


THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1970

Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)
1970
Phone : 63145

First Edition
1970
Price Rs. 25-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076



स्वामी हनुमानदास जी षट्शास्त्री



प्रस्तावना

सभी प्राणी सुख की प्राप्ति ओर दुःख को निवृत्ति के लिए नित्य निरन्तर प्रयत्नशील देखे जाते हैं। संसार में सुख ही सबों के लिए इष्ट और दुःख ही सबों के लिए अनिष्ट है। अतः सभी सुख चाहते हैं। दुःख कोई नहीं चाहता। दुःख-परिहार के लिए ही सभी लोग जीतोड़ परिश्रम करते हैं। ये दुःख तीन भागों में विभक्त किये गये हैं—(१) आध्यात्मिक (शारीरिक तथा मानसिक), (२) आधिदैविक (देवता एवं ग्रहादिप्रयुक्त), तथा (३) आधिभौतिक (मनुष्य, पशु, पक्षी एवं सर्पादिप्रयुक्त)। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं होगा जिसे इन दुःखों का अनुभव नहीं करना पड़ता हो और जो इनसे छुटकारा पाना नहीं चाहता हो।

दुःखनिवृत्ति के भी अनेक उपाय हैं। इन्हें भी हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) दृष्ट, (२) अदृष्ट तथा (३) शास्त्रीय। दृष्ट से तात्पर्य है लौकिक उपायों से। ये निम्नलिखित हैं। विविध शारीरिक दुःखों की निवृत्ति के उपाय अर्वाचीन तथा प्राचीन वैद्यक शास्त्रों में अत्यन्त विस्तृतरूप से बताये गये हैं। प्रयत्न द्वारा इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति से मानसिक दुःखों की निवृत्ति देखी जाती है। शास्त्र में वर्णित देवताओं की आराधना तथा ग्रहों की शान्ति से आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति देखी जाती है। निरापद स्थान में निवास करने और नीतिशास्त्र के अध्ययन तथा तदनुसार आचरण से आधिभौतिक दुःखों की भी निवृत्ति देखी जाती है। इस प्रकार इन उपायों के द्वारा मनुष्य पहले अपने दुःखों को मिटाने का प्रयास करता है।

मनुष्य का यह स्वभाव है कि पहले वह दुःखनिवृत्ति के सरल उपायों की ओर प्रवृत्त होता है। परन्तु दुःखों का अन्त नहीं है। एक रोग की निवृत्ति के लिए चिकित्सा की जाती है तो दूसरे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उसकी जब चिकित्सा होती है तो कुछ और ही रोग खड़े हो जाता है। इतना ही नहीं कालान्तर में फिर वे ही पुराने रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये उपाय स्थायी नहीं अर्थात् कालान्तर में फिर न होने वाले दुखों की निवृत्ति में सफल नहीं है। दूसरे शब्दों में ये आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति के कारण नहीं हैं। इतना ही नहीं, इन उपायों से दुःखों की निवृत्ति होगी ही यह नियम सिद्ध नहीं होता। देखा जाता है कि कितने रोग ऐसे हैं जिन पर ओषधों का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। शास्त्रों में भी इन्हें अचिकित्स्य रोग कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन उपायों में ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति में हेतुता असिद्ध है।

दृष्ट उपायों से विमुख होने पर अदृष्ट उपायों की ओर प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। अदृष्ट उपायों से तात्पर्य वैदिक उपायों से है। वेद में तत्तत् फलों के लिए तत्तत् कर्मों

का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए 'दर्शपूर्णमास' नाम का यज्ञ होता है। इसका फल स्वर्ग बतलाया गया है। स्वर्ग का स्वरूप इस प्रकार दिखलाया गया है:— 'सुख विशेष का नाम स्वर्ग है। वह सुख अपनी अभिलाषा से प्राप्त होता है। दुःखों से वह मिश्रित नहीं होता और न कालान्तर में उसमें दुःखों के मिश्रण का सम्भव ही रहता है[1]।' 'हम लोगों ने सोमरस का पान किया इसलिए हम लोग अमर हुए'[2] तथा 'चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले अक्षय होते हैं'[3] इत्यादि वाक्य उक्त अर्थ को ही सिद्ध करते हैं। अतः कुछ लोगों का कहना है कि अदृष्ट उपाय ही ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति में हेतु है।

परन्तु दृष्ट उपायों की तरह अदृष्ट उपाय भी ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति के हेतु नहीं हो सकते। साङ्ग कर्मों के अनुष्ठान से एक परमापूर्व की उत्पत्ति होती है। कर्म तो क्षणिक होते हैं। उनका फल स्वर्ग जन्मान्तर में प्राप्त होता है। अतः यागादि में साक्षात् स्वर्गसाधनता नहीं होती, किन्तु उससे उत्पन्न अदृष्ट (पुण्य) में होती है। यह अदृष्ट कर्मानुष्ठाता के वर्तमान शरीर के विनाश होने पर भी उसकी आत्मा में विराजमान रहता है। आत्मा नित्य है, अतः नित्य आत्मा में स्थित अदृष्ट ही लोकान्तर में साक्षात् स्वर्ग का साधन होता है। परन्तु यह स्वर्गादि फल भी अर्थ एवं काम की तरह अनित्य हैं। अर्थ तथा काम में अनित्यत्व प्रत्यक्ष एवं श्रुति से सिद्ध है। धर्म (स्वर्गादि) में प्रत्यक्ष कृतकत्व का ज्ञान करा कर अनित्यत्व का ज्ञान कराता है साक्षात् नहीं। अर्थ तथा काम में तो वह साक्षात् ही अनित्यत्व का बोध कराता है। 'जिस प्रकार खेती आदि के द्वारा सञ्चित अन्न जन्य होने से विनाशी होता है उसी प्रकार पुण्य से संचित स्वर्गादि फल भी विनाशी होता है' इत्यादि अर्थबोधक श्रुति[4] के द्वारा भी स्वर्गादि में विनाशित्व सिद्ध है। और भी, स्वर्गादि फलों में तारतम्य है। कर्मों के अनुसार उनके फलों में भी उत्कृष्टत्व एवं अपकृष्टत्व आते हैं। इतना ही नहीं, याग में पशु हिंसा होती है। इससे पाप उत्पन्न होता है। यद्यपि यह पाप मुख्य फल की अपेक्षा अत्यल्प है फिर भी प्रमाद से यदि इसके लिए विहित प्रायश्चित्त नहीं किया जाता तो इसका फल भोगना ही पड़ता है[5]। अमृतत्व प्रतिपादक श्रुति का भी आकल्पान्त स्थायित्व में तात्पर्य

---

१. 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वः पदास्पदम्॥' (तन्त्रवार्तिक)

२. 'अपाम सोमममृता अभूम' (सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका १)

३. 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।'

४. 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।'
(छान्दोग्योप०, अध्याय ८, ६, प्र० खण्ड)

५. 'मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदवगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्।' (सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका २)

है, नित्यत्व में नहीं। इस प्रकार अदृष्ट उपाय भी क्षयित्व, सातिशयत्व एवं पाप से युक्त होने के कारण ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति में हेतु सिद्ध नहीं होते[1]।

दृष्ट और अदृष्ट उपायों के निरस्त होने पर तीसरा शास्त्रीय उपाय शेष रहता है। सांसारिक अनन्त दुःखसागर में डुबे हुए प्राणियों को उद्धार करने की दृष्टि से प्राचीन ऋषियों एवं महर्षियों ने इन दुःखों के कारणों तथा इनकी निवृत्ति के उपायों की कठोर तप के द्वारा पूरी छान-बीन की। इसी के परिणामस्वरूप दर्शनशास्त्र का उदय हुआ। उन्होंने इसका भी मूल वेद में ही पाया। वेद का तात्पर्य यहाँ उपनिषत् से है उपनिषत् वेद का अन्तिम भाग है। वेद के मुख्य दो भाग हैं—(१) कर्मकाण्ड तथा (२) ज्ञानकाण्ड। उपनिषत् वेद का दूसरा भाग अर्थात् ज्ञानकाण्ड कहलाती है। इसमें जिन विषयों का सूक्ष्म तथा अत्यन्त गहन विचार है उन्हीं को भारत के प्राचीन सर्वज्ञकल्प परमदयालु ऋषियों तथा महर्षियों ने सूत्ररूप में आबद्ध किया है। फिर पश्चाद्भावी आचार्यों ने उन पर अपनी मार्मिक व्याख्या की है जो भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार भाष्यों पर वार्तिक तथा अनेकानेक टीकाओं की रचना हुई। जिससे दर्शनशास्त्र पुष्पित, फलित एवं पूर्ण विकसित हुआ। अत एव शास्त्रीय उपायों से तात्पर्य दर्शनशास्त्रों में प्रतिपादित ऐकान्तिकात्यन्तिक दुःखनिवृत्ति के उपायों से है।

मानव जीवन अनन्त जटिल समस्याओं से भरा है। पग-पग पर इसे इन समस्याओं के साथ संघर्ष करना पड़ता है। अतः उसे क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए इत्यादि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करना आवश्यक होता है। धर्मशास्त्र ही इस विषय में उसका मार्ग दर्शक बनता है। परन्तु यहीं जिज्ञासा समाप्त नहीं होती। संसार क्या है, आत्मा क्या है, दुःख क्या है, इनके निरोध के उपाय क्या हैं इत्यादि रहस्य पूर्ण बातों की जिज्ञासा उठती है जिसका उत्तर हमें दर्शनशास्त्र में मिलता है। इन विषयों के विचार दर्शनशास्त्र में बड़े सूक्ष्म, स्पष्ट तथा तर्क पूर्ण ढंग से किये गये हैं। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति से दर्शनशब्द का अर्थ होता है—ज्ञान-साधन अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुओं के यथार्थरूप का ज्ञान हो उसे दर्शन कहते हैं। शास्त्र शब्द की निष्पत्ति दो धातुओं से होती है—(१) 'शासुअनुशिष्टौ' आज्ञा देना या शासन करना तथा (२) 'शंसु स्तुतौ' वर्णन करना या प्रगट करना। शासन अर्थ में शास्त्रशब्द का अर्थ होता है प्रवर्तक तथा निवर्तक शास्त्र जिसमें समस्त विधि-निषेधात्मक वेद भाग एवं तदनुसारी स्मृत्यादि सम्मिलित हैं। शंसन अर्थ में शास्त्र शब्द का अर्थ होता है—ज्ञापक अर्थात् बोधक शास्त्र। इसमें पदार्थों का सच्चा स्वरूप बतलाया जाता है। इसी लिए इस को पदार्थ (वस्तु) तन्त्र कहा जाता है। समस्त दर्शन शास्त्रों का इसी में अन्तर्भाव है। दोनों में अन्तर यही होता है कि शासक शास्त्र पुरुषतन्त्र अर्थात्

---

१. 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।' (सांख्यकारिका, २)

पुरुषेच्छाधीन होता है और ज्ञापक शास्त्र वस्तुतन्त्र तर्थात् वस्तुओं के स्वरूप के अधीन ही निरूपणीय होता है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र मनुष्य जीवन की गहनतम समस्याओं का समाधान करता है जिससे जीवन में सुख तथा शान्ति मिलती है और अन्त में यह मानव जीवन का जो चरम लक्ष्य परमानन्दस्वरूप मोक्ष है उसके स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के साधनों को भी बतलाता है। यही दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है।

संसार विविध वैचित्र्यों से भरा है। इसका स्वरूप ही विचित्र है। अतः इसमें रहने वाले मनुष्यों की रुचि में भेद होना भी नैसर्गिक है। जो चीज एक व्यक्ति के लिये अच्छी होती है, वही चीज दूसरे व्यक्ति के लिए अच्छी नहीं होती। रुचिवैचित्र्य को छोड़कर इसका दूसरा क्या कारण हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का सोचने विचारने का अपना अलग-अलग ढंग होता है। इसी लिए दर्शनशास्त्र में भी भेद होना स्वाभाविक है। यद्यपि सभी दर्शनों का लक्ष्य मोक्ष का प्रतिपादन ही है। इसमें किसी का मतभेद नहीं है। तथापि उसके स्वरूप तथा उसके साधन आदि के विचार में भेद होने से दर्शन में भेद होता है। भारतीय दर्शनाचार्यों ने दर्शनशास्त्र को दो भागों में बाँटा है जो आस्तिक[1] तथा नास्तिक नामों से प्रसिद्ध है।

विचार में सुविधा की दृष्टि से पहले यहाँ नास्तिक दर्शन का संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करना आवश्यक है। आस्तिक दर्शनों में पूर्व पक्ष के रूप इस दर्शन के विभिन्न आचार्यों के मतों का प्रतिपादन करके खण्डन किया जाता है। इसलिए इसका महत्व आस्तिक

---

१. 'अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः' (पा० सू० ४।४।६०) इस सूत्र से प्रथमान्त निपात अस्ति तथा नास्ति शब्दों से क्रमशः 'अस्ति इति मतिः अस्य अस्ति' और 'नास्ति इति मतिः अस्य अस्ति' अर्थों में ठक् प्रत्यय का विधान है। सिद्धान्तकौमुदीकार ने इसका उदाहरण दिया है—'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' तथा 'नास्ति परलोक इति मतिर्यस्य स नास्तिकः'। इसके अनुसार आस्तिक शब्द का अर्थ होता है—परलोक (स्वर्गादि) में विश्वास करने वाला और नास्तिक शब्द का अर्थ होता है—परलोक में विश्वास नहीं करने वाला। अभिधानशक्ति का ऐसा स्वभाव है जिससे परलोकरूप अर्थ लब्ध होता है। इसी लिए उक्तविग्रह वाक्य में परलोक शब्द का उपादान है। परन्तु व्युत्पत्ति के अनुसार नास्तिक शब्द से सब नास्तिक संगृहीत नहीं होंगे। जैन एवं बौद्ध भी स्वर्ग और नरक आदि मानते ही हैं। यदि वेदप्रामाण्यानभ्युपगन्तृत्वरूप नास्तिकत्व मानें अर्थात् जो वेद को प्रमाण नहीं मानता हो वह नास्तिक है, ऐसा कहें, तो इसी प्रकार वे भी 'बौद्धागमप्रामाण्यानभ्युपगन्तृत्वादिरूप नास्तिकत्व' कह सकते हैं जिससे नास्तिक का अनुगत लक्षण ही सिद्ध नहीं होगा। इसका समाधान यह होगा कि भले ही उक्त लक्षण सर्वतन्त्र सिद्ध न हो, तथापि अपने-अपने शास्त्र में व्यवहार के लिए सब लक्षणभेद मानते ही हैं।

दर्शनों से किसी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। यह दर्शन मुख्यतया तीन भागों में विभक्त हैं—(१) चार्वाक दर्शन, (२) जैन दर्शन तथा (३) बौद्ध दर्शन। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने सभी शिष्यों को समान ही उपदेश दिया तथापि उनके भेद से तथा उनकी समझने की शक्ति के भेद से बौद्धदर्शन भी चार भागों में विभक्त हो गया—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार तथा (४) माध्यमिक। इस प्रकार नास्तिक दर्शनों की संख्या ६ होती हैं।

चार्वाक दर्शन

बृहस्पति इस दर्शन के प्रवर्तक हैं। इसलिये इसका नाम बार्हस्पत्य दर्शन पड़ा। आगे लोकायति ने इसको पल्लवित किया, अतः लोकायत मत से भी यह प्रसिद्ध हुआ। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' यही उपनिषद्वाक्य इसका मूल है। इस मत में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मान्य है। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये चार तत्त्व हैं। इन्हीं के सम्मिश्रण से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। चैतन्यविशिष्ट शरीर आत्मा है। काम ही पुरुषार्थ है। मरण ही अपवर्ग है। 'बार्हस्पत्य-सूत्र' 'तत्त्वोपप्लवसिंह 'आदि इसके मूल ग्रन्थ हैं। सभी भौतिक दर्शनों का अन्तर्भाव इसी दर्शन में है।

जैन दर्शन

जैन धर्म में राग-द्वेषादि पर विजय पानेबाला, सर्वलोक पूजित, यथास्थितार्थवादी, सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वज्ञ पुरुष 'अर्हत्' कहलाते हैं। इनसे प्रचारित धर्म 'आर्हत' कहलाता है। धर्म-प्रचारक सिद्ध पुरुष तीर्थङ्कर कहलाते हैं। इसमें बहुत तीर्थङ्कर हुए जिन में ऋषभ देव प्रथम तथा वर्धमान महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर माने जाते हैं। राग-द्वेषादि दोषों पर विजय पाने के कारण ही वर्धमान 'जिन' उपाधि से भूषित हैं। अत एव इनसे प्रचारित धर्म जैनधर्म कहलाता है। यह बौद्धधर्म से प्राचीन है।

जैन-दर्शन में तीन प्रमाण माने गये हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान तथा (३) आगम। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं—(१) अवधि, (२) मनःपर्याय तथा (३) केवल। परोक्षज्ञान के दो भेद हैं—(१) मति तथा (२) श्रुत। मतिज्ञान के भी दो भेद हैं—(१) इन्द्रियजन्य तथा (२) अनिन्द्रियजन्य। इस दर्शन में सात पदार्थ माने गये हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आश्रव, (४) संवर, (५) निर्जरा, (६) बन्ध तथा (७) मोक्ष। मोक्ष के तीन उपाय माने गये हैं—(१) सम्यक् दर्शन, (२) सम्यक् ज्ञान तथा (३) सम्यक् चरित्र।

चेतन द्रव्य जीव कहलाता है। इसका परिमाण शरीराकार माना गया है। यह स्वभावतः अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त सामर्थ्यादि गुणों युक्त होता है। परन्तु शुभाशुभ कर्मों के कारण इसका अपना स्वरूप तिरोहित रहता है। कर्ता एवं भोक्ता भी यही है। वह सम्यक् चारित्र्यादि के द्वारा कर्मबन्ध से रहित होकर मुक्त कहलाता है।

इस अवस्था में इसका सतत ऊर्ध्व गमन होता है। इसका गमनस्थान अलोकाकाश (सिद्ध शिला) है। यहाँ पर यह परम शान्ति का अनुभव करता है। यही इसको मुक्तावस्था कहलाती है।

इस दर्शन का मुख्य वैशिष्ट्य अनेकान्तवाद है। इसी का दूसरा नाम स्याद्‌वाद भी है। प्रत्येक पदार्थ में सप्तभंगीन्याय लगता है। अतः किसी भी पदार्थ का एक निश्चितरूप नहीं होता। जैन दर्शन समृद्ध है। इसकी विचार-पद्धति भी सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक है।

बौद्ध-दर्शन

भगवान् बुद्ध (४४८ ई० पूर्व) ने यद्यपि सभी शिष्यों को एक ही प्रकार का उपदेश दिया तथापि उनके आशयों को उन लोगों ने अपने-अपने ढंग सोचा और समझा जिससे बौद्ध दर्शन निम्नलिखित चार सम्प्रदायों में विभक्त हो गया—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार तथा (४) माध्यमिक।

वैभाषिक

बौद्ध-दर्शन में दो ही प्रमाण माने गये हैं—(१) प्रत्यक्ष ओर (२) अनुमान।[१] इनके आधार पर प्रमेयों का संग्रह निम्न लिखित है।

सभी पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं—(१) बाह्य तथा (२) आन्तर। शब्दरूप-रस तथा गन्ध ये पांच बाह्य विषयक अवभास और सुख-दुखदि आन्तरविषयक अवभास कहलाते हैं। ये दोनों अवभास चार प्रकार के कारणों (प्रत्ययों) से उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय चार हैं—(१) आलम्बन, (२) समनन्तर, (सहकारी) तथा (४) अधिपति। नीलादि आलम्बन प्रत्यथ से नीलादिज्ञान में जो नीलादिरूपता आती है यह आलम्बन प्रत्यय का कार्य है। यह विषयरूप होता है। समनन्तरप्रत्यय (अव्यवहित पूर्ववर्तिज्ञान) से नीलादिज्ञान में जो ज्ञानरूपता आती है वह समनन्तरप्रत्यय का कार्य है। सहकारिप्रत्यय (आलोकादि) से और अधिपतिप्रत्यय (चक्षुरादि इन्द्रिय) से विषयों (शब्दादि) के ग्रहण का नियम होता है। इस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रिय अधिपतिप्रत्यय कहलाती हैं।

प्रकारान्तर से पदार्थों को चार भागोंमें बांटा गया है—(१) भूत, (२) भौतिक, (३) चित्त तथा (४) चैत्त। पृथिव्यादि भूत कहलाते हैं। रूपादि विषय और चक्षुरादि इन्द्रियाँ भौतिक कहलाती हैं। चित्त तथा चैत्त स्कन्ध कहलाते हैं। स्कन्ध के पांच भेद हैं—(१) रूप, (२) विज्ञान, (३) वेदना, (४) संज्ञा और (५)

---

१. 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात् , शक्त्यशक्तितः'।
(प्रमाणवार्तिक, द्वितीय परिच्छेद पृ० ९२, बौद्धभारती)

संस्कार। रूपादि विषय और चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध कहलाती हैं। आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानप्रवाह विज्ञानस्कन्द कहलाते हैं। रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध के सम्बन्ध से जो सुख तथा दुखादि प्रवाह उत्पन्न होते हैं वे वेदनास्कन्ध कहलाते हैं। 'घटः' 'पटः' इत्यादि शब्दों से जिस विज्ञान प्रवाह का उल्लेख होता है उसे संज्ञास्कन्ध कहते हैं। वेदनास्कन्ध के कारण जो रागादि क्लेश, मद तथा मान आदि एवं धर्म और अधर्म उपक्लेश हैं वे संस्कारस्कन्ध कहलाते हैं।

उपर्युक्त सभी पदार्थ क्षणिक, दुःखरूप, स्वलक्षण एवं शून्यरूप हैं। भगवान् बुद्ध के द्वारा दिये गये इन चार प्रकार के उपदेशों की भावना से दुःख तथा दुःखसाधन संसार से निवृत्ति का उपाय तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान से विमलविज्ञानप्रवाह उत्पन्न होता है। यही मुक्ति है।

इस मत में सभी पदार्थ यथायोग्य ग्राह्य (प्रत्यक्ष) तथा अध्यवसेय (अनुमेय) माने गये हैं। निर्विकल्पज्ञान कल्पनापोढ [कल्पनारहित] होने के कारण प्रमारूप है और सविकल्पज्ञान कल्पनारूप होने के कारण अप्रमारूप है। सर्वास्तित्ववादी वैभाषिक मत का यही सारांश है।

सौत्रान्तिक

सौत्रान्तिक मत में भी बाह्य और आन्तर दोनों पदार्थों की सत्ता मानी गई है। वैभाविक की तरह ये भी सर्वास्तित्ववादी हैं। पदार्थों की सत्ता मानने में दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि वैभाषिक बाह्यार्थ को यथायोग्य प्रत्यक्ष और अनुमेय दोनों प्रकार के मानते हैं, परन्तु सौत्रान्तिक बाह्य विषयों को ग्राह्य = प्रत्यक्ष योग्य नहीं मानते, केवल अनुमेय ही मानते हैं। इस मत में ज्ञान और ज्ञेय में भेद है, अभेद नहीं। नीलादि ज्ञान में जो नीलाद्याकारता आती हैं उसका समर्पक बाह्य अर्थ ही है। विषयों की प्रतीति बाह्यस्वरूप से और ज्ञान की प्रतीति आन्तरस्वरूप से होती है। जिस विषय की प्रतीति होती है उसी विषय में प्रवृत्ति का नियम है। घटादि बाह्य विषयों के ज्ञान से बाह्य में ही प्रवृत्ति होती है, अन्तर ज्ञान की ओर नहीं। इस से यही सिद्ध होता है कि ज्ञान और विषयों में भेद है। इन्द्रियसन्निकृष्ट विषय ज्ञान में जब अपने आकार का समर्पण करता है तब उसी आकार से विषय की अनुमिति होती है। अतः बाह्य विषय अनुमेय ही हैं, ग्राह्य नहीं। इस मत की शेष प्रक्रिया वैभाषिक के समान ही है।

योगाचार

इस मत में विज्ञानमात्र ही सत्य माना जाता है। बाह्यार्थ मिथ्या है। अतः इस मत को मानने वाले विज्ञानमात्रास्तित्ववादी कहलाते हैं। इनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है। ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यदि इसे स्वसंवेद्य नहीं माना जाय तो किसी भी वस्तु का

प्रकाश नहीं होगा। अतः विज्ञान में ही ग्राह्यग्राहकभाव होता है। इसके अतिरिक्त बाह्यवस्तु ग्राह्य नहीं है। यदि इसे ग्राह्य मानें तो इसमें दो विकल्प होंगे—क्या वर्तमान अर्थ (ग्राह्य) का ग्रहण होगा या अतीत अर्थ का? इनमें प्रथम पक्ष नहीं मान सकते। वर्तमान अर्थ के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है। जिस अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध था वह तो द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो गया क्योंकि सभी पदार्थ क्षणिक हैं और जो प्रत्यक्ष-रूप से गृहीत होता है वह तो इन्द्रियसंयुक्त ही नहीं है। चक्षुरिन्द्रिय का संयोग किसी के साथ हो और प्रत्यक्ष किसी दूसरे का हो यह तो विरुद्ध है। यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् अतीत अर्थ का ग्रहण होता है, मानें, तो यह भी असंगत है, क्योंकि वर्तमानता ही अवभास का विषय होती है।

और भी, ग्राह्यत्वेन अभिमत अर्थ अवयवीरूप होगा या परमाणुरूप? यदि अवयवीरूप मानें तो यह अवयवी प्रत्येक अवयव में साकल्यरूप से रहेगा या एकांशत्वरूप से। यदि साकल्यपक्ष मानें तो अवयवी का एक ही अवयव के साथ सम्बन्ध होगा अन्य अवयवों के साथ सम्बन्ध नहीं होगा। यदि एकांशत्व पक्ष मानें तो यह एकांश आश्रयीभूत अवयव से भिन्न होगा या अभिन्न? यदि भिन्न पक्ष मानें, तो व्याघात होगा, क्योंकि कपाल में कपालान्तर से घट की उपलब्धि नहीं होती। अभेदपक्ष में आत्माश्रय होगा। अतः अर्थ को अवयवीरूप नहीं मान सकते। यदि इसे परमाणुरूप द्वितीय पक्ष मानें तो यह भी असंगत है, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं। ये प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते। इस प्रकार विज्ञान के अतिरिक्त ग्राह्य (अर्थ) के सिद्ध नहीं होने के कारण ग्राह्याकार विज्ञान ही दीपक के समान अपने आप का प्रकाशक सिद्ध होता है।

और भी, नील-पीतादि विषयों की उपलब्धि ज्ञान के साथ ही होती। ज्ञान के बिना इनकी उपलब्धि ही असिद्ध है। यही सहोपलम्भ नियम कहलाता है। इसीसे नीलादि विषय (ज्ञेय) और इनके ज्ञान में अभेद सिद्ध होता है। यदि ज्ञान (ग्राहक) और ज्ञेय (ग्राह्य) नीलादि में अभेद मानें तो इनका लोकसिद्ध पृथक्-पृथक् अवभास सिद्ध नहीं होगा, यह नहीं कह सकते। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा में दोषवश द्वित्व का अवभास होता है वैसे ही ग्राह्य और ग्राहक में भेद का अवभास भ्रमरूप है, सत्य नहीं[1]। अतः विज्ञान ही सत्य है और बाह्य अर्थ मिथ्या हैं।

---

१. 'संवेदनस्य तादात्म्ये न विवादोऽस्ति कस्यचित्।
तस्यार्थरूपताऽसिद्धा सापि सिद्ध्यति संस्मृतेः॥'
(प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरि० पृ० २२३, प्रकाशित, बौद्धभारती)

और भी—
'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवद्वये॥'

विज्ञान के दो भेद हैं—(१) आलयविज्ञान तथा (२) प्रवृत्तिविज्ञान । 'मैं' (अहम्) यह प्रतीति आलयविज्ञान कहलाती है और नील-पीतादि की प्रतीति प्रवृत्ति-विज्ञान कहलाती है । एक सन्तानवृत्ती आवलयविज्ञानों में प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्ति से युक्त वासनाएँ रहती हैं । इन वासनाओं का अपने-अपने कारण के प्रति अभिमुख होना इनका परिपाक कहलाता है । यही कारण शब्द से प्रतिपाद्य होता है । इस प्रतिपादन में स्वाश्रयसन्तानवृत्तिपूर्वक्षण कारण होता है । इस प्रकार अनादिवासनावश बुद्धि ही अनेकाकार से अवभासित होती है । 'सब क्षणिक हैं' इत्यादि उक्त चार प्रकार के भावनासन्तानों से जब सब वासनाओं की निवृत्ति हो जाती है तब वही बुद्धि विविध-विषयाकारों से शून्य होकर शुद्ध विज्ञान सन्तानरूप में स्थित हो जाती है । यही मोक्ष कहलाता है ।

माध्यमिक

"सब शूण्य हैं, सब शून्य हैं" इस प्रकार भगवान् बुद्ध के द्वारा दिये गये उपदेश के आधार पर सर्वशून्यवाद स्थापित है । "मैंने जो देखा वह रजत नहीं है" यह प्रतीति सर्वमान्य है । इस प्रतीति से रजत में असत्त्व सिद्ध होने से उसके ज्ञान, उसके ज्ञाता, उसके धर्म इदन्ता, उसके अधिष्ठान रजततत्त्व और उसके सम्बन्ध समवायदि सभी में असत्त्व सिद्ध होता है, क्योंकि सभी निषेधज्ञान के विषय होने के कारण निषेध्य हैं । यदि इसमें किसी को निषेध्य और किसी को अनिषेध्य माना जाय तो अर्धजरतीन्याय[1] की प्रसक्ति होगी । अतः अध्यस्ताधिष्ठानादि में से किसी एक में असत्त्व सिद्ध होने से अवशिष्ट सबों में नहीं मानने पर भी असत्त्व ही सिद्ध होगा ।

और भी, यदि घटादि पदार्थों का सत्स्वभाव माना जाय तो उसकी उत्पत्ति के लिए कारकव्यापार व्यर्थ होगा । यदि उसका असत्स्वभाव माना जाय तो हजारों कारकव्यापार होने पर भी उसका सत्स्वभाव नहीं हो सकता । यदि उसका दोनों में से कोई भी स्वभाव नहीं माना जाय तो भी विरोध ही होगा[2] । व्यवहार की उपपत्ति स्वप्नव्यवहार की तरह ही होती है । जिस प्रकार सुषुप्ति समय में किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होती, शून्य ही रहता है, उसी प्रकार शून्य रूप ही आत्मा सिद्ध होता है । अविद्यावश उसी शून्य आत्मा में यह समस्त संसार प्रतिमासित होता है । सर्वशून्यत्वादि उक्त चार

---

१. किसी मुर्गी को दो भागों में विभक्त करके एक भाग पाक के लिए और दूसरा भाग अंडे देने के लिए नहीं माना जाता । यही अर्धजरतीन्याग का स्वरूप है ।

२. 'बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते ।
तस्मादनभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः ॥'

(लङ्कावतार परिवर्त २, श्लोक १७३)

प्रकार के भावनाओं से सभी वासनाओं की निवृत्ति होने पर परम निर्वाणरूप शून्यस्वरूप अधिगत होता है। यही सर्वशून्यत्ववादी माध्यमिक मत का सारांश है।

आस्तिक (वैदिक) दर्शन

वैदिक दर्शनों में कौन दर्शन प्राचीन है और कौन दर्शन अर्वाचीन है यह निर्णय करना कठिन है, क्योंकि इन सभी का मूल वेद है। अतः जिस प्रकार वेद अनादि माना जाता है उसी प्रकार ये दर्शन भी अनादि हैं। फिर भी प्रवर्तक आचार्यों की प्राचीनता तथा अर्वाचीनता के आधार सांख्य दर्शन ही प्राचीन एवं वेद के निकटतम माना जाता है, अतः पहले सांख्य-दर्शन के ही प्रमाण तथा प्रयेयों का संक्षिप्त विचार करना संगत है।

सांख्य-दर्शन

इस दर्शन के आदि प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। ये ही हिरण्यगर्भ भी कहलाते हैं। इस दर्शन में तीन प्रमाण माने गये हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान तथा (३) आगम। तत्त्व २५ हैं—प्रकृति, महत्, अहङ्कार, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय, वागादि पांच कर्मेन्द्रिय, मन, तन्मात्रपद से शब्द-स्पर्श-रूप-रस तथा गन्ध और पचीसवाँ पुरुष[1]।

गुण तीन हैं—सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। सत्वगुण का कार्य सुख, रजोगुण का कार्य दुःख और तमोगुण का कार्य मोह है! संसार सुख, दुख तथा मोहात्मक है। इसलिये इसका कारण भी वैसा ही प्रधान 'प्रकृति' माना जाता है। इसकी स्वतः प्रवृत्ति तथा स्वतः निवृत्ति होती है। जिस प्रकार बछड़े आदि के पोषणादि के कारण दूध आदि का स्वतः निस्सरण होता है उसी प्रकार ईश्वर से अनधिष्ठित अचेतन प्रधान महदादि रूप से स्वतः परिणमित होता है। और जिस प्रकार निष्क्रिय अयस्कान्त मणि के सन्निधानमात्र से लोहे में व्यापार देखा जाता है उसी प्रकार व्यापाररहित पुरुष के सन्निधानमात्र से प्रधान भी व्यापृत होता है। जिस प्रकार परस्पर प्रयोजन से लंगड़े और अन्धे का संयोग होता है इसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष का संयोग माना जाता है। प्रकृति भोग्य है और पुरुष भोक्ता है। इसलिए प्रकृति भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती है। पुरुष भी बुद्धि के साथ अपने में भेद नहीं समझने के कारण बुद्धि की छाया पड़ने से बुद्धिस्थ दुखादि को अपने में मान लेता है। जब इसे बुद्धि के साथ विवेकज्ञान होता है तब बुद्धि का लय होता है। इसलिये वह (पुरुष) बुद्धिस्थ दुखादि का अनुभव नहीं करता, किन्तु कैवल्य रूप मोक्ष प्राप्त करता है।

---

१. 'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ (सांख्यकारिका, २२१)
तथा 'पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्.........' (सांख्यकारिका, १७१)

योग-दर्शन

योग शब्द का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध[1]। इसके आदि वक्ता हिरण्यगर्भ हैं[2]। कपिल मुनि की ही दूसरी संज्ञा हिरण्यगर्भ भी है[3]। इस प्रकार कपिल मुनि ही सांख्य तथा योग के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं। कालक्रम से योग विद्या अनेक संवादों से युक्त होने के कारण दुर्बोध हो गया। अतएव महर्षि पतञ्जलि ने योगविद्या के प्रतिपाद्य विषयों को सूत्ररूप में निबद्ध कर सुगम बनाया। इस पर महाभारत के रचयिता प्रसिद्ध व्यास से भिन्न व्यास ने व्यासभाष्य लिखा। इस भाष्य के ऊपर भी तत्त्ववैशारदी आदि अनेक मार्मिक टीकाओं की रचना हुई। इस प्रकार योग-दर्शन पूरा विकसित हुआ। इसकी मान्यता न केवल आस्तिक दर्शनों में प्रत्युत नास्तिक दर्शनों में भी पर्याप्त है।

सांख्यदर्शन के प्रतिपाद्य २५ तत्त्व इसमें भी माने गये हैं। प्रमाण भी उतने ही माने गये हैं। उन्हीं के आधार पर उक्त तत्त्वों की पर्याप्त विवेचना भी की गई है। अन्तर इतना ही है कि इसमें ईश्वर के सम्बन्ध में पूरा विचार किया गया है। सांख्य ईश्वर के सम्बन्ध में मौन है। प्रकृति की प्रवृत्ति में ईश्वर कारण नहीं है, यही कहा गया है। इससे ईश्वर के अस्तित्व का निराकरण नहीं होता। परन्तु योग में ईश्वर के अस्तित्व का पूरा विचार किया गया है। इसी आधार पर सांख्य दो भागों में विभक्त माना जाता है—१. निरीश्वर सांख्य तथा २. सेश्वर सांख्य। अतः योगदर्शन सेश्वर सांख्य शब्द से भी व्यवहृत होता है। इसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय यम-नियमादि हैं। समाधि के दो भेद माने गये हैं—१. संप्रज्ञात तथा २. असंप्रज्ञात। योग के अभ्यास से पुरुष (जीव) अणिमादि आठ प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। ये जीव सांख्यदर्शन में अनेक माने गये हैं। योगदर्शन भी यही मानता है। अविद्यादि पाँच प्रकार के क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विकल्पानुरूप संस्कार के सम्पर्क) से निवृत्त ईश्वर माना गया है[4]। अनुरागपूर्वक चित्त को ईश्वर में लगाना या प्रेमपूर्वक कर्मफलों का ईश्वर को समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। इससे भगवान् प्रसन्न होकर क्लेशों को नाश कर देते हैं जिससे समाधि की सिद्धि होती है। असंप्रज्ञात समाधि में चित्त का विषयों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। इस अवस्था में जीव वस्तुओं से पृथक् होकर अपने आप में स्थित होता है, इसी का नाम कैवल्य है।

---

१. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगसूत्र)

२. 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' (याज्ञवल्कस्मृति)

३. 'विद्यासहायवन्तमादित्यस्थं समाहितम्।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चिताः॥
हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि सुस्तुतः।'

४. 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (योगसूत्र)

न्याय-दर्शन

शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक व्यापार प्रवृत्ति कहलाता है। किसी भी वस्तु में किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति उस वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान से होती है। वस्तुओं का निर्धारण प्रमाणों के द्वारा और प्रमाणों का निर्धारण लक्षण के द्वारा होता है। न्याय-दर्शन प्रमाणों तथा प्रमेयों (वस्तुओं) का विचार एवं विवेचन करता है। इस लिए यह आन्वीक्षिकी, हेतुविद्या, वादविद्या एवं प्रमाणशास्त्र आदि नामों से प्रसिद्ध है। यह दर्शन भी श्रुतिमूलक ही है। पदार्थमीमांसा और प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से यह दर्शन दो भागों में विभक्त है। प्रथम धारा गौतम ऋषि से और द्वितीय धारा गंगेशोपाध्याय से प्रवर्तित है। प्रथम धारा का मुख्य लक्ष्य पदार्थ-विवेचन है और द्वितीय धारा का मुख्य लक्ष्य प्रमाण-विवेचन है। प्रथम धारा 'प्राचीन-न्याय' नाम से और द्वितीय धारा 'नव्य-न्याय' नाम से प्रसिद्ध है।

महर्षि गौतम (वि० पू० चतुर्थ शतक) ने न्यायसूत्रों की रचना की जो पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में विभक्त है। वात्स्यायनमुनि (वि० पू० प्रथम शतक) ने इस पर अत्यन्त प्रौढ एवं प्रामाणिक भाष्य लिखा जो वात्स्यायनभाष्य नाम से प्रसिद्ध है। दिङ्नाग ने इस का खण्डन किया। अतः उद्द्योत कर (षष्ठ शतक) ने इसके ऊपर वार्तिक लिखा जिसमें इन्होंने दिङ्नाग के समस्त कुतर्कों का खण्डन करके न्यायशास्त्र को निर्मल बनाया। फिर धर्मकीर्ति (७म शताब्दी का उत्तरार्ध) ने इस पर आक्रमण किया जिसका उत्तर वाचस्पति मिश्र (९म शतक) ने अपनी प्रसिद्ध न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका में दिया। फिर आगे जो इस पर आक्षेप किया गया उसका मार्मिक खण्डन उदयनाचार्य (दशम शतक का अन्तिम भाग) ने अपनी प्रसिद्ध तात्पर्यपरिशुद्धि टीका में किया। इस प्रकार अनेक शताब्दियों तक बौद्धनैयायिकों के साथ यह खण्डन-मण्डन—प्रणाली चलती रही जिससे दोनों न्यायदर्शनों का अत्यधिक विकास हुआ।

न्यायदर्शन के इतिहास में नये युग के प्रवर्तक मिथिला के अमूल्य रत्न गङ्गेशोपाध्याय (१३ शतक का आरम्भ भाग) ने संसार प्रसिद्ध 'तत्त्वचिन्तामणि' नाम का ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ चार खण्डों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द) में विभक्त है। इसके ऊपर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मिथिलावासी पक्षधर मिश्र (१३ शतक का अन्त भाग) ने आलोक नाम की टीका लिखी। इसके बाद रघुनाथ शिरोमणि ने (१३ वीं शताब्दी) चिन्तामणि के ऊपर दीधिति नाम की टीका लिखी और (दीधिति) के ऊपर मथुरानाथ (१६ शतक), जगदीश भट्टाचार्य (१७ शतक) तथा गदाधर भट्टाचार्य (१७ शतक) ने अपनी-अपनी लोकोत्तर प्रतिमा एवं पाण्डित्यपूर्ण टीकाओं से नव्यन्याय को पूर्ण पल्लवित एवं विकसित किया।

प्रत्येक शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों को जानने में इस (न्यायदर्शन) का ज्ञान एक प्रकाशमान् दीपक के समान सहायक होता है। लौकिक तथा पारलौकिक सभी कार्यों के सम्पादन में यह सहायक होता है। यह सब धर्मों का आश्रय (धर्म के निर्णय में मुख्य साधन) है।[1] तीन प्रकारों से इसकी प्रवृत्ति मानी जाती है—(१) उद्देश, (२) लक्षण और (३) परीक्षा।[2] । वस्तुओं के नाम का निर्देश करना उद्देश, उद्दिष्ट वस्तु का स्वरूप बतलाना लक्षण, और लक्षित वस्तुओं का प्रमाणों के द्वारा जाँच करना परीक्षा कहलाती है।

इसमें निम्नलिखित सोलह पदार्थ माने गये हैं—१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२ वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति तथा १६. निग्रहस्थान[3]। प्रमाण चार माने गये हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान तथा ४. शब्द[4]। १. आत्मा. २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८ दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुख तथा १२ अपवर्ग–ये बारह प्रमेय माने गये हैं।[5]

आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा शरीर के भेद से अनेक नित्य तथा व्यापक है। परमात्मा एक, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा जगत्कर्ता है। भोग (सुख तथा दुःखों का अनुभव) का आश्रय शरीर कहलाता है। जीवात्मा शरीर में ही सुख तथा दुःख का अनुभव करता है। मिथ्याज्ञान (भ्रम) वश जीव को अनात्मा में आत्मबुद्धि, दुःख में सुखबुद्धि, अनित्य में नित्यबुद्धि, अत्राण में त्राणबुद्धि, सभय में निर्भयबुद्धि, जुगुप्सित में अभिमतबुद्धि तथा हातव्य में अप्रतिहाव्यबुद्धि होती है। परन्तु इनमें से समस्त क्लेशों का मूलकारण देह-इन्द्रिय-मन तथा प्राणों (अनात्माओं)

---

१. 'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥'
(वात्स्यायनभाष्य सू० १, आ० १, अ० १)

२. 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चेति। तत्र नाममात्रेण पदार्थमात्रस्पाभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्प तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्प 'यथालक्षणमुपपद्यते नवा' इति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा।'
(वा० भा० प्रमाण प्र० [३–८])

३. 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभाच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' (न्याय सू० १, आ० १, अ० १)

४. 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' (न्या० सू० ३, आ० १, अ० १)

५ 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्'।
(न्या सू० ९, आ० १, अ० १)

में आत्मबुद्धि ही है। इसी लिए उसे देहादि के अनुकूल विषयों में राग, उनके प्रतिकूल विषयों में द्वेष होता है। इन्हीं राग तथा द्वेषों के कारण उसमें असूया, ईर्ष्या, माया, लोभ एवं मोहादि दोष उत्पन्न होते हैं। इन्हीं दोषों के कारण वह शरीर से हिंसा, स्तेय (चोरी) में प्रवृत्त होता है। वचन से वह मिथ्या भाषण करता है, कठोर वचन बोलता है, दूसरों की निन्दा करता है एवं असंबद्ध बात बोलता है। मनसे वह दूसरों से द्रोह, दूसरों के धन पर लोभ तथा नास्तिकत्व की भावना करता है। इसकी ये प्रवृत्तियाँ पापात्मिका हैं जिससे अधर्म की उत्पत्ति होती है। शरीर से दान, परित्राण, परिचर्या आदि, वचन से सत्य, हित तथा प्रिय बोलना और स्वाध्यायादि कार्य करना तथा मनसे दया करना, स्पृहा नहीं करना, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा रखना आदि प्रवृत्ति शुभात्मिका है। इससे धर्म का उदय होता है। यहाँ प्रवृत्ति शब्द का अर्थ प्रवृत्ति साधन धर्म तथा अधर्म है। ये ही धर्म तथा अधर्म शुभ एवं अशुभ जन्म के कारण हैं। जन्म शब्द का अर्थ है शरीरेन्द्रियादि के समुदाय विशिष्ट की उत्पत्ति।

जन्म से दुःख उत्पन्न होता है। वही दुःख प्रतिकूल होने कारण बाधना, पीड़ा तथा ताप शब्दों से कहा जाता है। ये ही मिथ्याज्ञान-दोष-प्रवृत्ति-जन्म तथा दुःखरूप धर्म निरन्तर प्रवर्तमान होकर संसार कहलाते हैं। जब उक्त सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है तो उससे मिथ्याज्ञान नष्ट होता है, मिथ्याज्ञान के नष्ट होने से राग तथा द्वेष मूलक दोषों की निवृत्ति होती है, उनकी निवृत्ति होने पर प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, उसके नष्ट होने पर जन्म की निवृत्ति होती है, उसकी निवृत्ति से दुःखों की निवृत्ति होती है। यही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति अपवर्ग कहलाती है[1]। यह पर मुक्ति का स्वरूप है। यह क्रमिक होती है जिसका स्वरूप ऊपर दिखलाया गया है। अपर मुक्ति जीवन्मुक्ति रूप है। यह तत्त्वज्ञान के अनन्तर होती है। इस अवस्था में मुक्त पुरुष अवधारित तत्त्वज्ञान के निरन्तर अभ्यास से मिथ्याज्ञान से रहित होकर अपने प्रारब्ध कर्म मात्र का भोग करता है।

वैशेषिक दर्शन

इस दर्शन के आद्य प्रवर्तक कणाद मुनि हैं। इन्हीं का दूसरा नाम उलूक भी था। इस दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। अतः यह दर्शन काणाद, औलूक्य एवं वैशेषिक नामों से प्रसिद्ध है।

कणाद मुनि (विक्रम पूर्व ३ य शतक) ने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। ये सूत्र १० अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निकों में। इसके ऊपर सबसे पुराना रावण भाष्य था, परन्तु इस समय वह लुप्तप्राय है। इस पर प्रशस्तपाद भाष्य

---

१. 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।'
(न्याय सू० २, आ० १, अ० १)

अत्यन्त मौलिक ग्रन्थ है। इस भाष्य के ऊपर व्योमशिवाचार्य की व्योमवती टीका सबसे प्राचीन है। मिथिला के अनुपम रत्न उदयनाचार्य ने इसके ऊपर 'किरणावली' व्याख्या लिखी। यह भाष्य श्रीधराचार्य (९९१ ई०) की 'न्यायकन्दली', श्रीवत्स की 'न्यायलीलावती', वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती, पद्मनाभ मिश्र की 'सेतु' शङ्कर मिश्र की 'कणाद रहस्य', आदि अनेक पाण्डित्यपूर्ण एवं मौलिक व्याख्याओं से अलंकृत है।

इस दर्शन में दो ही प्रमाण–प्रत्यक्ष तथा अनुमान माने गये हैं। पदार्थों के दो भेद हैं—भाव और अभाव। भाव पदार्थ के छः भेद हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष। द्रव्य के नव भेद हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। गुण के चौबीस भेद हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। कर्म के पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। सामान्य (जाति) के दो भेद हैं—परत्व तथा अपरत्व। विशेष (पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु और आकाशादि पाँच नित्य द्रव्यों में रहने वाला) के अनन्त भेद हैं। नित्य सम्बन्ध समवाय कहलाता है, वह एक ही प्रकार का है। अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव है। न्यायदर्शन के सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव इन्हीं सातों पदार्थों में है। न्यायदर्शन से इस दर्शन में कुछ ही अंशों में पार्थक्य है। परमाणुवाद की कल्पना इस दर्शन का मुख्य वैशिष्ट्य है। द्व्यणुकादिक्रम से परमाणु ही सृष्टि का मूल कारण है।

इस दर्शन में भी जीवों का परम पुरुषार्थ मोक्ष ही माना गया है। मोक्ष तत्त्वज्ञान से होता है और यह तत्त्वज्ञान द्रव्यादि छः पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य ज्ञान से होता है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इस सूत्र के द्वारा जिससे स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि हो उसे धर्म कहा गया है। यहाँ धर्म साक्षात् 'निःश्रेय' का साधन नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञान के द्वारा। बुद्धि के दो भेद हैं—विद्या तथा अविद्या। यथार्थज्ञान विद्या और मिथ्याज्ञान अविद्या कहलाते हैं। अविद्या के भी चार भेद हैं—संशय, अनध्यवसाय, स्वप्न और विपर्यय। संशय के दो भेद हैं—आन्तर तथा वाह्य। वाह्य संशय के भी दो भेद हैं—प्रत्यक्षविषयक तथा अप्रत्यक्षविषयक। अनध्यवसाय के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष-विषयक तथा अनुमानविषयक। दृढ़संस्कार, धातुदोष तथा अदृष्टरूप कारण के भेद से स्वप्न के तीन भेद हैं। अन्तिम अविद्या विपर्यय है। प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप विषय के भेद से यह भी दो प्रकार का है। देह, इन्द्रिय तथा मनोरूप अनात्म वस्तुओं में आत्मबुद्धि विषयरूप अविद्या है। उक्त तत्त्वज्ञान से इसकी निवृत्ति होती है। तब आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध छूट जाता है और उसके जन्म-मरण की परम्परा भी साथ ही साथ समाप्त हो जाती है जिससे उसके समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है। यही मुक्ति है।

मीमांसा दर्शन

किसी वस्तु के सच्चे स्वरूप का निर्णय मीमांसा है। वेद दो भागों में विभक्त है—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। प्रथम भाग पूर्वमीमांसा और द्वितीय भाग उत्तरमीमांसा नाम से प्रसिद्ध हैं। पूर्वमीमांसा के मुख्य विषय दो हैं—(१) यागविधियों में प्राप्त परस्पर विरोधों का परिहार तथा (२) कर्मकाण्ड के मूलभूत सिद्धान्तों को युक्ति एवं तर्क के आधार पर व्यवस्थित और प्रतिष्ठित करना। इनमें द्वितीय विषय ही दार्शनिक विचार कोटि में आता है।

महर्षि जैमिनि (३०० वि० पू०) ने मीमांसा दर्शन के सूत्रों की रचना की। ये सूत्र १६ अध्यायों में विभक्त हैं। प्रारम्भ से १२ अध्याय 'द्वादश लक्षणी' और शेष चार अध्याय देवता काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। शबर स्वामी (२०० ई०) ने बारहों अध्यायों की विस्तृत तथा प्रामाणिक व्याख्या लिखी जो शाबरभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। मीमांसा में तीन प्रधान मत प्राप्त होते हैं—भट्टमत, गुरुमत और मुरारिमत। क्रमशः इनके उद्भावक कुमारिलभट्ट, प्रभाकर तथा मुरारिमिश्र हैं। कुमारिलभट्ट ने शाबर भाष्य पर वृत्तिग्रन्थ लिखे—(१) 'श्लोकवार्तिक' प्रथम अध्याय के प्रथम (तर्क) पाद की व्याख्या, (२) 'तन्त्रवार्तिक' प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से तृतीय अध्याय तक की व्याख्या और (३) 'टुप्टीका' शेष नौ अध्यायों की संक्षिप्त टिप्पणी। ये ही ग्रन्थ मीमांसा दर्शन के आधार स्तम्भ हैं। मिथिला के पार्थसारथि मिश्र (१२ शतक) माधवाचार्य (१४ शतक) तथा खण्डदेव मिश्र (१७ शतक) आदि मूर्धन्य मीमांसकों ने अपनी कृतियों के द्वारा इस मत को और अधिक पल्लवित किया।

गुरुमत के संस्थापक प्रभाकर मिश्र हैं। ये कुमारिलभट्ट के शिष्य थे। अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण उन्होंने इनको 'गुरु' की उपाधि दी। शाबरभाष्य के ऊपर इनकी दो टीकायें हैं—बृहती या निबन्धन तथा लघ्वी या विवरण। इस मत के पोषक मिथिला के शालिकनाथ, भवनाथ, नन्दीश्वर तथा नवम शतक के आस-पास रामानुजाचार्य आदि हैं।

मिश्रमत के प्रवर्तक मुरारिमिश्र हैं। तत्त्वचिन्तामणि में इनके मत का उल्लेख है। वर्धमान उपाध्याय ने भी अपने ग्रन्थ में इस मत का उल्लेख किया है।

इस दर्शन के अनुसार अनधिगत एवं अबाधित विषयक ज्ञान प्रमा कहलाता है। प्रमा का करण प्रमाण होता है। इसके छः भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। प्रभाकर अनुपलब्धि प्रमाण नहीं मानते। ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है एवं स्वतः ज्ञात होता है, परन्तु अप्रामाण्य परतः उत्पन्न एवं परतः ज्ञात होता है। नैयायिकों का मत इससे भिन्न है। इनके मत में ज्ञान में अप्रामाण्य स्वतः उत्पन्न एवं ज्ञात होता है परन्तु प्रामाण्य परतः उत्पन्न तथा ज्ञात होता है।

प्रभाकर के मत में सभी ज्ञान यथार्थ ही हैं। कोई भी ज्ञान भ्रमात्मक नहीं है। ज्ञान में अपने विषय से व्यभिचार मानने पर कोई भी ज्ञान विश्वसनीय नहीं होगा। फलस्वरूप सभी प्रवृत्तियाँ रुक जायेंगी। 'इदं रजतम्' यह चाँदी है, यहाँ 'चाँदी' और 'यह' ये दो ज्ञान क्रमशः स्मृति और अनुभवरूप हैं। 'यह' इस ज्ञान से केवल पुरःस्थित द्रव्यमात्र गृहीत होता हे और दोषवश शुक्तिस्वरूप विशेष अंश गृहीत नहीं होता। गृहीत सामान्य अंश सादृश्य से उद्बुद्ध संस्कार के द्वारा रजतविषयक स्मरण करा देता है। यद्यपि स्मरण का स्वभाव यह है कि वह गृहीत का ही ग्रहण करता है तथापि दोषवश गृहीतत्व अंश का प्रमोष होता है और ग्रहण मात्र शेष रहता है। अनन्तर रजतस्मरण एवं पुरःस्थित द्रव्यमात्र के ग्रहणरूप दोनों ज्ञानों में स्वरूपतः तथा विषयतः भेदग्रह नहीं रहता। इसी लिये भिन्न होते हुए भी ये ग्रहणरूप तथा स्मरणरूप-ज्ञान सन्निकृष्ट विषयक ज्ञान की तरह 'इदं रजतम्' इस प्रकार व्यवहार और सामानाधिकरण्य प्रयोग कराते हैं। 'पीतः शङ्खः' इत्यादि स्थल में ग्रहणात्मक ज्ञानों में भेद के अग्रह से उक्त व्यवहार और सामानाधिरण्य प्रयोग होते हैं। भेद के अग्रह से प्रसक्त अभेदव्यवहार के बाध से 'नेदं रजतम्' इस बाधकज्ञान में यथार्थज्ञानबाधकत्व और पूर्वज्ञान (इदं रजतम्) में लोकसिद्ध भ्रमत्व भी सिद्ध होता है। इस प्रकार इनके मत में सभी ज्ञान यथार्थ ही हैं। यही अख्यातिवाद का स्वरूप है। कुमारिल का मत इससे विपरीत है। वे नैयायिकों की तरह अन्यथाख्याति या विवरीतख्याति मानते हैं।

प्रभाकर के मत में पदार्थ आठ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। परन्तु कुमारिल के अनुसार पदार्थों के दो भेद हैं—भाव और अभाव भाव पदार्थों के चार भेद हैं—द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य। इस प्रकार इस मत में पदार्थों की संख्या पाँच होती है। मुरारिमिश्र इस सम्बन्ध में दोनों से भिन्न हैं। इनके मत में एक ब्रह्म ही परमार्थ है। व्यवहार की सिद्धि के लिए और भी चार पदार्थ माने गये हैं—धर्मी, धर्म, आधार तथा प्रदेश।

कर्मों से ही समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति होती है। इसलिए कर्म ही सब कुछ है। इस प्रकार कर्म की ओर अत्यधिक झुकाव होने के कारण प्राचीन मीमांसकों ने ईश्वर का उपादेयत्व ही नहीं माना। परन्तु कर्म अचेतन, है वह स्वयं कर्मफल नहीं दे सकता, इस सिद्धान्त के अनुसार नवीन मीमांसकों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया।

आत्मा नित्य, व्यापक, कर्ता, भोक्ता एवं अनेक है। सुख तथा दुःख आदि इसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। आत्मा संसार के तीन प्रकार के बन्धनों से आबद्ध है—भोगायतन शरीर, भोग साधन इन्द्रिय और भोग-विषय वस्तु। काम्य एवं निषिद्ध कर्मों के परित्याग और नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से आत्मा का संसार से सम्बन्ध छूट जाता है। यही प्रपञ्चसम्बन्धविलय कहलाता है और यही मोक्ष है।

वेदान्त दर्शन

पूर्व में अद्वैत मत के विरोधी मतों के अनुसार संक्षिप्त प्रमाण तथा प्रमेयों का विचार प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि सभी दर्शनों का मुख्य लक्ष्य परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का प्रतिपादन ही है, तथापि अधिकारियों के भेद से मोक्ष के साधन एवं स्वरूपों में भेद होने के कारण उन (दर्शनों) में भेद तथा विरोध माने गये हैं। वस्तुतः सोपान-परम्परान्याय से उन सबों का वेदान्तप्रतिपाद्य मोक्ष में ही तात्पर्य है।[1] इसलिए वेदान्त दर्शन सब दर्शनों का शिरमौलि है। वेद का अन्त (सिद्धान्त) वेदान्त कहलाता है। वेद का अन्तिम भाग 'ज्ञानकाण्ड' शब्द से कहा जाता है। यही 'उपनिषत्' भी कहलाता है। उप-निपूर्वक विशरण-गति-अवसादनार्थक 'सद्' धातु से 'सत्सू-द्विष-द्रुह' इत्यादि पाणिनि सूत्र से क्विप्प्रत्यय करके उपनिषत् शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार उपनिषत् शब्द का अर्थ विद्या होता है। विद्या से ब्रह्मविद्या एवं अग्निविद्या दोनों लिए जाते हैं। अग्निविद्या स्वर्ग का साधन है। यह स्वर्ग के लिए प्रवृत्त व्यक्तियों के गर्भवास, जन्म एवं जरा आदि उपद्रवों के समुदाय का अवसादन (शिथिल) कर देती है। ब्रह्मविद्या मुमुक्षओं के कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप संसार के बीज अविद्यादि का विशरण (नाश) करती है। साथ ही वह मुमुक्षु व्यक्तियों को ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है। गति का अर्थ प्राप्ति है। इस प्रकार 'सद्' धातु के उक्त तीनों अर्थ इसमें समन्वित होते हैं। उपनिषत् शब्द का प्रयोग विद्या तथा ग्रंथ दोनों अर्थों में होता है। अभिधा (मुख्य) वृत्ति से उपनिषत् शब्द विद्यारूप अर्थ का और लक्षणावृत्ति से ग्रन्थरूप अर्थ का प्रतिपादन करता है।

उपनिषद्वाक्यों में जब विरोध भासित होने लगा एवं संशय उत्पन्न होने लगे तब उनकी निवृत्ति के लिए भगवान् व्यास ने उपनिषत् के प्रतिपाद्य समस्त अर्थों को सूत्ररूप में आबद्ध किया। ये सूत्र ब्रह्मसूत्र कहे जाते हैं। इसका रचनाकाल विक्रम पूर्व ६ष्ठ शतक आंका जाता है। ये सूत्र चार अध्यायों में विभक्त हैं—(१) समन्वयाध्याय, (२) विरोधपरिहाराध्याय, (३) साधनाध्याय तथा (४) फलाध्याय। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। समन्वयाध्याय में समस्त वेदान्त वाक्यों का साक्षात् या परम्परया तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म में ही है, यह दिखलाया गया है। जिस वाक्य का जिस अर्थ में तात्पर्य रहता है उस वाक्य का वही अर्थ माना जाता है। किस वाक्य का किस अर्थ में तात्पर्य है, इसका निश्चय छः प्रकार के हेतुओं से होता है—(१) उपक्रम तथा उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद तथा (६)

---

१. 'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वसि पयसामर्णव इव ॥' (पुष्पदन्ताचार्यकृत महिम्नः स्तोत्र)

उपपत्ति[1]। इन्हीं हेतुओं के द्वारा इस अध्याय में समस्त उपनिषद्वाक्यों का एक अद्वितीय ब्रह्म में समन्वय दिखलाया गया है। विरोधपरिहाराध्याय में सांख्यादि स्मृतियों का प्रमाणादि के द्वारा खण्डन किया गया है। बाद में सांख्य, वैशेषिक, जैन, बौद्ध, पाशुपत एवं पाञ्चरात्र मतों का सूक्ष्म, व्यापक एवं प्रबल तर्कों (युक्तियों) के ही द्वारा खण्डन करके वेदान्त मत में अविरोध दिखलाया गया है। इसके बाद महाभूतों की सृष्टि, जीव तथा इन्द्रियविषयक श्रुतियों में विरोध का परिहार किया गया है। साधनाध्याय में वेदान्तानुसारी मोक्ष के साधनों का विधान किया गया है। जीवों का परलोक गमनागमन, महावाक्यार्थ–परिशोधन, सगुण ब्रह्म विद्यानिरूपण और निर्गुण ब्रह्मविद्या के वहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधनों का निरूपण किया गया है। फलाध्याय में सगुणनिर्गुण ब्रह्मविधाओं के फलों की विस्तृत विवेचना की गयी है।

ब्रह्मसूत्र के रचयिता व्यास से भी पूर्व कुछ आचार्यों ने उपनिषद्तत्त्व की विवेचना की थी। जिन आचार्यों का उल्लेख सूत्रों में किया गया है वे निम्नलिखित हैं—आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि, वादरि आदि। इसी प्रकार भगवान् शंकराचार्य के पूर्ववर्ती कुछ आचार्यो ने वेदान्त विषय पर ग्रन्थों की रचना की है। इनसे भर्तृ-प्रपञ्च ने कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्य की रचना की है। इनका मत द्वैताद्वैत है। ये ज्ञान कर्मसमुच्चयवादी हैं। 'भर्तृमित्र' और 'भर्तृहरि' का 'सिद्धित्रय' में उल्लेख है। भर्तृहरि का सिद्धान्त शब्दाद्वैत है। 'उपवर्ष' का नाम ब्रह्मसूत्र (३।३।५३) के शांकर भाष्य में आया है। हो सकता ब्रह्मसूत्र के ऊपर इनका वृत्तिग्रन्थ रहा हो। 'द्रविडाचार्य' का उल्लेख भगवान् शंकराचार्य ने 'आगमवित्' शब्द से किया है। 'सुन्दर पाण्डय' के वार्तिक से कुछ श्लोकों का उद्धरण बृहदारण्यक-भाष्य में मिलता है। ये शैव वेदान्ती थे। ब्रह्मदत्त भी भगवान् शंकराचार्य से पूर्ववर्ती एक प्रसिद्ध वेदान्ती थे।

भगवान् शंकराचार्य (७८८ से ८२० ई०) ने थोड़े ही समय में अपने अलौकिक पाण्डित्य और तर्कनिपुणता आदि गुणों के द्वारा समस्त वैदिक धर्म के विरोधियों के मतों का खण्डन करके सनातन (वैदिक) धर्म की प्रतिष्ठा की जिससे संपूर्ण भारत में धार्मिक एकता स्थापित हुई। इसी अलौकिक कार्य से लोग इनको भगवान् शंकर का अवतार मानते हैं। उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों पर इन्होंने जो भाष्य लिखा वह प्रस्थानत्रयी भाष्य नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त भी इनके लिखे अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें कुछ भाष्य रूप में और कुछ स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध हैं। स्तोत्र साहित्य भी

---

१. 'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥'

इनका अनुपम है। इनकी रचना शैली अत्यन्त रोचक है। पूरी रचना प्रसादगुण से परिपूर्ण है जिसे पढ़ने से मन कभी अघाता नहीं। परन्तु जितना ही इस पर विचार किया जाता है उतना ही गम्भीर भाव मिलता है। इसीलिए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि 'भाष्यं प्रसन्नगम्भीरम्' इत्यादि। इनके गुरु 'भगवद्गोविन्दपाद' एवं परमगुरु 'भगवद्गौड़पादाचार्य' थे। इनकी माण्डूक्यकारिका अद्वैतमत का महत्त्वपूर्ण आधारग्रन्थ है जिसपर भगवान् शंकराचार्य का भाष्य भी है।

पद्मपादाचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य पर 'पञ्चपादिका' नाम की वृत्ति लिखी। इसमें आदि के चार सूत्रों का विस्तृत विवेचन है। प्रकाशात्मयति ने 'पञ्चपादिका' के ऊपर 'विवरण' नाम की महत्त्वपूर्ण टीका लिखी। 'विवरण' के ऊपर अखण्डानन्द मुनि ने 'तत्त्वदीपन' तथा विद्यारण्यमुनि ने 'विवरणप्रमेयसंग्रह' नाम की टीका लिखी। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में यह सम्प्रदाय 'विवरण प्रस्थान' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये जगद्गुरु भगवान् आद्य शंकराचार्य के प्रमुख शिष्यों में हैं।

आद्य शंकराचार्य के समकालीन विद्वान् मण्डन मिश्र अपने समय के मिथिला के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। पूर्व मीमांसा में इनके 'विधिविवेक' 'भावनाविवेक' 'विभ्रमविवेक' तथा 'मीमांसा सूत्रानुक्रमणी' आदि ग्रन्थ हैं। उत्तर मीमांसा (वेदान्त) में 'स्फोटसिद्धि' और 'ब्रह्मसिद्धि' इनके मुख्य ग्रन्थ हैं। ये भर्तृहरि के 'शब्दाद्वयवाद' के अनुयायी थे। भगवान् शंकराचार्य से शास्त्रविचार में पराजित होने के बाद इन्होंने उन्हीं से संन्यास दीक्षा ली और सुरेश्वराचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके बाद इन्होंने बृहदारण्यक भाष्य पर वार्तिक की रचना की। यह पाण्डित्य पूर्ण एवं विशाल ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त का अमूल्य रत्न है। 'नैष्कर्म्यसिद्धि' 'तैत्तरीयभाष्यवार्तिक' आदि इनके अनुपम ग्रन्थ हैं। इनके शिष्य सर्वज्ञातममुनि थे। इनका 'संक्षेप शारीरक' ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र मिथिला के सर्वशास्त्रपारंगत विद्वान् आचार्य मण्डनमिश्र के मतानुयायी थे। इनके सम्बन्ध में 'वाचस्पति र्मण्डनपृष्ठगामी' यह उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र भाष्य पर इनकी 'भामती' टीका संसार प्रसिद्ध है। इनकी विचार पद्धति अत्यन्त सूक्ष्म, पाण्डित्यपूर्ण मौलिक एवं अतलस्पर्शी है। इस पर अमलानन्द की 'कल्पतरु' तथा इसके ऊपर अप्पय दीक्षित की 'कल्पतरु परिमल' नाम की टीकाएँ अतिप्रसिद्ध हैं। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में यह सम्प्रदाय 'भामती प्रस्थान' नाम से प्रसिद्ध है। चतुःसूत्री भाष्य—भामती के ऊपर पं० लक्ष्मीनाथ झा की 'प्रकाश' तथा 'विकास' नाम की दो टीकाएँ हैं जो 'भामती' के रहस्योद्घाटन में सर्वथा सफल हैं।

इसके बाद विमुक्तात्मा (दशम शतक) की 'इष्टसिद्धि' वेदान्त दर्शन का गौरवपूर्ण ग्रन्थ है। अब अद्वैत वेदान्त में एक ऐसे दार्शनिक शिरोमणि का समय आता है जिससे एक नयी विचार पद्धति का प्रादुर्भाव होता है।

महाकवि श्रीहर्ष

श्रीहर्ष के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हमें इनके ग्रन्थों से मिलती है। इनके पिता का नाम महाकवि हीर और माता का नाम मामल्लदेवी था[१]। इनको कुछ लोग बङ्गाल, कुछ लोग मिथिला और कुछ लोग यू० पी० का बतलाते हैं। परन्तु इनकी अपनी उक्ति से मालूम पड़ता है कि ये कन्नौज के थे। इन्होंने लिखा है कि ये कन्नौज के महाराज से विशेष आसन एवं विशेष पानादि प्राप्त कर सम्मान प्राप्त किये थे। इस प्रकार अपने उत्कर्ष का ख्यापन करते हुए अपने ग्रन्थ की प्रशंसा की है[२]।

श्रीहर्ष का समय

श्रीहर्ष कन्नौज के महाराज गोविन्दचन्द्र के पुत्र महाराज विजयचन्द्र की पण्डितसभा के अध्यक्ष थे। महाराज विजयचन्द्र के पुत्र महाराज जयचन्द्र या महाराज जयच्चन्द्र थे। महाराज जयचन्द्र के दानपत्र से यह बात स्पष्ट है। दानपत्र का समय १२४३ शतक है। इससे महाराज विजयचन्द्र का समय उक्त समय से कुछ पहले सिद्ध होता है। श्रीहर्ष ने जो 'विजयप्रशस्ति' नाम का ग्रन्थ लिखा[३] वह इसी महाराज विजयचन्द्र की प्रशंसापरक है। इस प्रकार श्रीहर्ष का भी महाराज विजयचन्द्र का समकालीन होना सिद्ध होता है। यदि इन्हें महाराज जयचन्द्र का आश्रित माना जाय, तो इनका समय इन दोनों के बीच (महाराज विजयचन्द्र की वृद्धावस्था और महाराज जयचन्द्र की युवावस्था) का होगा। यह समय १२ वीं शताब्दी का निकट होगा। अहमदाबाद के समीप ढोलका गाँव के निवासी चाण्डू पण्डित ने १३५३ शताब्दी में श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' की व्याख्या लिखी है। इससे भी श्रीहर्ष का १२ वीं शताब्दी के निकटवर्ती होना ही सिद्ध होता है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपने 'न्यायसूचीनिबन्ध' के अन्त में लिखा है—

'न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥'

इसके अनुसार 'न्यायसूचीनिबन्ध' का रचनाकाल विक्रम संवत् ८९८ होता है। इस प्रकार आचार्य वाचस्पति मिश्र का समय नवम शतक का मध्यभाग सिद्ध होता है।

---

१. 'श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।'
(नैषधीयचरित, सर्ग १, श्लोक १४५)

२. 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्…।'
(खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ७५४, चौखम्बा)

३. 'तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य…।' (नैषधीयचरित, सर्ग ५, श्लोक १३८)

इनकी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के ऊपर उदयनाचार्य ने 'परिशुद्धि' नाम की टीका लिखी है। इन्होंने अपने 'लक्षणावली' ग्रन्थ का रचनाकाल इस प्रकार बताया है—

'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥'

इससे लक्षणावली के निर्माण का समय ९०६ शकाब्द (९८४ ई०) होता है। अतः उदयनाचार्य का समय दशम शतक सिद्ध होता है। श्रीहर्ष ने 'लक्षणावली' के लक्षणों का 'खण्डनखण्डखाद्य' में प्रधान रूप से खण्डन किया है। इसके अनुसार श्रीहर्ष उदयनाचार्य के परवर्ती सिद्ध होते हैं।

गङ्गेशोपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि' में 'खण्डनखण्डखाद्य' से कारिका का उद्धरण देकर कहा है—'एतेन खण्डनकारमतमप्यपास्तम्' अर्थात् इससे खण्डनकार (श्रीहर्ष) का मत भी खण्डित हो गया। इनका समय १३ शतक है, अतः श्रीहर्ष को इनसे पूर्ववर्ती ही मानना पड़ेगा। इस विवेचना से भी यही सिद्ध होता है कि श्रीहर्ष १२वीं शताब्दी के निकटवर्ती हैं।

उदयनाचार्य का श्रीहर्ष के पिता महाकवि हीर के साथ शास्त्रार्थ होना, हीर का उनसे पराजित होना, श्रीहर्ष का अपने पिता की आज्ञा से उनके अपमान के प्रतिशोध रूप में उदयनाचार्य के मत का खण्डन करना आदि बातें सङ्गत मालूम नहीं पड़तीं। क्योंकि दोनों के समय में बहुत अन्तर पड़ता है। हो सकता है वे उदयन कोई दूसरे हों। श्रीहर्ष को 'खण्डनखण्डखाद्य' में वेदान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना था। इसके प्रबल प्रतिपक्षी नैयायिक ही थे। उदयनाचार्य न्याय के अवतार माने जाते हैं। अतः इन्हीं के मतों का श्रीहर्ष ने मुख्य रूप से खण्डन किया। अतएव श्रीहर्ष का उपर्युक्त समय ही युक्तियुक्त है।

श्रीहर्ष के ग्रन्थ

श्रीहर्ष ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की—१. नैषधचरितम्, २. अर्णववर्णनम्, ३. शिवशक्तिसिद्धिः, ४. साहसाङ्कचम्पूः, ५. छन्दः प्रशस्तिः, ६. विजयप्रशस्तिः, ७. गौड़ोर्वीशकुलप्रशस्तिः, ८. ईश्वराभिसन्धिः, ९. स्थैर्यविचारणप्रकरणम्, १०. खण्डनखण्डखाद्यम् आदि। इनमें 'नैषधचरित' और 'खण्डनखण्डखाद्य' श्रीहर्ष के अनुपम ग्रन्थ हैं। खण्डनकार 'खण्डन' में 'नैषधचरित' का और 'नैषधचरित' में 'खण्डन' का उल्लेख करते हैं[1]। इसलिए इन दोनों ग्रन्थों की रचना एक ही समय में हुई, यह सिद्ध होता है। श्रीहर्ष

---

१. 'यथा च परिहृतचापलमात्मातत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसं तथाहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे' इत्यादि।

(खण्डनखण्डखाद्य, पृ० १२५, चौखम्बा)

'खण्डनखण्डतोऽपि सहजे' इत्यादि। (नैषधचरित)

की जिस प्रकार काव्य में लोकोत्तर प्रतिभा है उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी है।[२] पदलालित्य में नैषध महाकाव्य सब काव्यों में श्रेष्ठ माना जाता है। इसके सम्बन्ध में 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः' यह उक्ति अक्षरशः सत्य है।

श्रीहर्ष का पाण्डित्य

उपनिषत् में अद्वैतब्रह्म का प्रतिपादन दो प्रकारों से किया गया है— (१) विधि-रूप से और (२) निषेध रूप से। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के क्रमशः तटस्थलक्षण और स्वरूपलक्षण बतलाये गये हैं। 'सृष्टि के समय जिससे यह चराचरात्मक संसार उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिसमें स्थित रहता है और प्रलयकाल में जिसमें लीन होता है, वह ब्रह्म है' इससे ब्रह्म में जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्तृत्व सिद्ध होता है। यही ब्रह्म का तटस्थलक्षण भी है। 'ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है' इससे ब्रह्म का स्वरूपलक्षण सिद्ध होता है। यही उपनिषत् (वेदान्त) की विधिरूप से प्रवृत्ति कही जाती है। 'अस्थूलमनणु' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।' 'अदृश्यमव्यवहार्यम्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा इतर का निषेध कर के ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है। यही वेदान्त की निषेधरूप से प्रवृत्ति कही जाती है। खण्डनकार श्रीहर्ष की खण्डनपद्धति में यही दूसरा प्रकार मूल है। पहले माध्यमिक मत के सबसे प्रधान आचार्य नागार्जुन ने अपने मत की स्थापना में इस पद्धति को अपनाया। बाद में मीमांसकों ने परमतखण्डन में इसका उपयोग किया। आगे चलकर लगभग १२ वीं शताब्दी में श्रीहर्ष ने पूरा परि-मार्जित तथा परिवर्धितरूप देकर संसार के सामने एक नई सी चमत्कारकारी चीज प्रस्तुत की जो 'खण्डनखण्डखाद्य' नाम से प्रसिद्ध है। दर्शनशास्त्र में यह ग्रन्थ श्रीहर्ष के पाण्डित्य की कसौटी है। इसमें इन्होंने जो सूक्ष्मतम और गहनतम दार्शनिक तत्त्वों की विवेचना की वह संसार की पण्डितमंडली को मुग्ध कर रही है। दर्शनशास्त्र में खास कर वितण्डावाद में यह ग्रन्थ बेजोड़ है। श्रीहर्ष ने स्वयं इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा है कि जिन व्यक्तियों ने श्रद्धापूर्वक अपने आचार्य की मन, शरीर एवं वाणी के द्वारा अच्छी तरह सेवा करके उनसे विधिवत् अध्ययन किया है वे ही इस का रसास्वादन कर सकते हैं। परन्तु गुरु से अध्ययन किये बिना अपने को पण्डित मानने वाले व्यक्ति इसके रसानुभव के कभी भी अधिकारी नहीं हैं। क्योंकि इन्होंने जानबूझ कर इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर

---

२. 'साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥'

ऐसी गाँठें लगा दी हैं कि उनका भेदन करना असाध्य[1] है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना इस प्रकार का अलौकिक पाण्डित्य प्राप्त करना अत्यन्त असम्भव है। अतएव इन्होंने चिन्तामणि' मन्त्र के जप एवं वाग्देवी की निरन्तर आराधना से उनका अनुग्रह प्राप्त कर नैषधचरित जैसे महाकाव्य और 'खण्डन' जैसे अद्वितीय दार्शनिक ग्रन्थों की रचना कर संसार में अमर कीर्ति प्राप्त की।

वेदान्त में नया युग

शाङ्कर वेदान्त में दो प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१. प्रमेयप्रधान ग्रन्थ और २. प्रमाणप्रधान ग्रन्थ। श्रीहर्ष के पहले जो ग्रन्थ वेदान्त में उपलब्ध हैं वे प्रमेयप्रधान ग्रंथ हैं। इसमें उपनिषद्‌भाष्य, गीताभाष्य और ब्रह्मसूत्रभाष्य हैं जो प्रस्थानत्रयी भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके सब टीकाग्रन्थ भी इसी में सम्मिलित हैं। इन्हें प्राचीन वेदान्त कहते हैं। श्रीहर्ष ने 'खण्डन' में जो प्रमाणों की समालोचना की उससे परवर्ती आचार्यों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। परिणामस्वरूप चित्सुखाचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती आदि जैसे उद्‌भट विद्वानों ने 'चित्सुखी' एवं अद्वैतसिद्धि आदि जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के द्वारा इसके (वेदान्त के) भंडार को अत्यन्त समृद्ध तथा अक्षय बनाया। इस कोटि में 'खण्डन', चित्सुखी एवं अद्वैतसिद्धि आदि अनेक विशाल ग्रन्थरत्न हैं। 'खण्डन' में केवल परपक्ष का खण्डन ही बड़े ऊहोपोह के साथ है। परन्तु चित्सुखी आदि में जैसे परपक्ष खण्डन मार्मिक ढंग से किये गये हैं वैसे ही स्वपक्ष स्थापन भी श्रुति-युक्ति एवं अनुभवादि के आधार पर बड़े सुन्दर ढङ्ग से किये गये हैं। ये सब ग्रन्थ प्रमाणप्रधान हैं। ये नव्यवेदान्त शब्द से कहे जाते हैं। इसके आदि आचार्य कवि-तार्किकशिरोमणि श्रीहर्ष ही हैं।

खण्डनखण्डखाद्य

इस ग्रन्थ के 'खण्डनखण्डखाद्य' 'खण्डनखण्ड' 'खण्डनखाद्य' 'खाद्यखण्डन' तथा 'खण्डन' आदि नाम प्रचलित हैं। परन्तु पूरा नाम 'खण्डनखण्डखाद्य' ही है। इसके अर्थ निम्नलिखित हैं। 'खण्डनस्य = आकाशादि पदार्थखण्डनरूपस्य खण्डस्य = खण्डशर्करायाः खाद्यम् = भक्ष्यम् (स्वाद्यम्)' अर्थात् जिस ग्रन्थ के अध्ययन एवं अध्यापन करने वाले को पदार्थादि खण्डनरूप खाँड़ के समान माधुर्यरस का अनुभव हो वह 'खण्डनखण्डखाद्य' है।

---

१. 'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठितो मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुः श्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्तर्करसोर्मिमज्जनसुखेष्वासञ्जनं सज्जनः ॥'

(खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ७५४, चौखम्बा)

अथवा 'खण्डनेन = पदार्थादिखण्डनरूपेण खण्डाः = खण्डिताः खम् = आकाशम् आद्यम् येषां ते खाद्याः = गगनादयः पदार्थाः येन यस्मिन् वा तत्खण्डनखण्डखाद्यम्' अर्थात् पदार्थादिखण्डनरूप से जिसमें आकाशादि पदार्थों का खण्डन किया गया हो वह 'खण्डनखण्डखाद्य' है।

अथवा 'खण्डनरूपं यत्खण्डखाद्यं तत्खण्डनखण्डखाद्यं नाम ग्रन्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ निम्नलिखित है। वैद्यक शास्त्र में 'खण्डखाद्य' पाकविशेष का नाम है। यह जिस प्रकार रोगों को दूर करके रोगी में बल एवं पुष्ट्यादि का हेतु बनता है उसी प्रकार यह 'खण्डन' ग्रन्थ वादियों के मतों का अक्षरशः खण्डन करके अद्वैत ब्रह्मज्ञान में श्रद्धा की उत्पत्ति में हेतु होते हुए परमानन्द के स्वाद (अनुभव) लेने में समर्थ होने की योग्यता उत्पन्न करता है। इस ग्रन्थ का यथार्थ अर्थ यही है।

'खण्डन' के अनुबन्ध

भारतीय ग्रन्थकारों की एक अत्यन्त पुरानी परम्परा है। वे जब कोई ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ करते हैं तो पहले उस ग्रन्थ का 'अनुबन्ध' बतलाते हैं। इससे ग्रन्थ का आदर होता है। इसके बिना ग्रन्थ उपेक्षणीय होता है।[१] विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी ये चार अनुबन्ध कहलाते हैं। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय पदार्थों का खण्डन है। ग्रंथ के साथ इसका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। ग्रन्थ प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है। इसका भी मुख्य प्रयोजन मोक्ष ही है। इसके मुख्य अधिकारी मुमुक्षु हैं।

'कथा' का स्वरूप

खण्डन का प्रतिपाद्य विषय पदार्थ का खण्डन कहा गया है। परन्तु इसकी सिद्धि विचार की प्रवृत्ति में ही हो सकती है और विचार कथा में ही होगा। यद्यपि सभी ग्रन्थों में परपक्ष का खण्डन कर स्वपक्ष का स्थानरूप सिद्धान्त विचार के द्वारा कथा में ही होता है तथापि 'खण्डन' में इसका अत्यधिक महत्व है। अतः इसके सम्बन्ध में कुछ विचार करना आवश्यक है।

कथा उस वाक्यसमूह का नाम है जिसमें अनेक प्रवक्ताओं का विचार निहित हो। इसके तीन भेद हैं—वाद, जल्प और वितण्डा। वाद उस वाक्यसमूह को कहते हैं जो प्रमाणों एवं तर्कों के द्वारा स्वपक्षस्थापन तथा परपक्षखण्डन से युक्त, सिद्धान्तानुसारी, प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से युक्त, पक्ष तथा प्रतिपक्ष से युक्त हो[२]। जल्प उस वाक्य-

---

१. विना विषयसम्बन्धौ तथैवार्थाधिकारिणौ।
अव्याख्येयो भवेद्ग्रन्थस्तत्स्यादेतच्चतुष्टयम्॥

२. 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्ष परिग्रहो वादः।' (न्यायसू० १, आ० २.)

समुदाय का नाम है जो वाद के समस्तलक्षण से युक्त और छल, जाति तथा निग्रहस्थानों के द्वारा स्वपक्षस्थापन तथा परपक्षखण्डन से युक्त हो[1]। जल्प ही वितण्डा भी कहलाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि यह प्रति(स्व)पक्ष स्थापना से रहित होता है[2]। प्रतिवादी के अभिप्रेत विषय से विरुद्ध बिषय की कल्पना से वचनविघात होता है। इसी का नाम छल है। इसके तीन भेद हैं—वाक्छल, सामान्यच्छल तथा उपचारच्छल। साधर्म्य तथा वैधर्म्य के द्वारा हेतु का निराकरण जाति कहलाता है। विप्रतिपत्ति अथवा अप्रतिपत्ति का नाम निग्रहस्थान है। इसके भेद निम्नलिखित हैं–१. प्रतिज्ञाहानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञाविरोध, ४. प्रतिज्ञासंन्यास, ५. हेत्वन्तर, ६. अर्थान्तर, ७. निरर्थक, ८. अविज्ञातार्थ, ९. अपार्थक, १०. अप्राप्तकाल,, ११. न्यून, १२. अधिक, १३. पुनरुक्त, १४. अननुभाषण, १५. अज्ञान, १६. अप्रतिभा, १७. विक्षेप, १८. मतानुज्ञा, १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण, २०. निरनुयोज्यानुयोग, २१. अपसिद्धान्त, और २२. हेत्वाभास। हेत्वाभास के भी निम्नलिखित भेद माने गये हैं—१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत। यहाँ पर केवल कथा के स्वरूप एवं भेद-प्रभेद दिखलाये गये हैं। इनका सामान्य ज्ञान खण्डन के समझने में अत्यन्त उपकारी है। इसी दृष्टि से इनका दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया गया है।

सिद्धान्त का स्वरूप

कथा में वादी एवं प्रतिवादी के द्वारा 'इदम् इत्थमेव' यह ऐसा ही है, इस प्रकार निश्चित अर्थ सिद्धान्त कहलाता है। इसके भी निम्नलिखित भेद हैं—१. सर्वतन्त्रसिद्धान्त २. प्रतितन्त्रसिद्धान्त, ३. अधिकरणसिद्धान्त तथा ४. अभ्युपगमसिद्धान्त। अन्य शास्त्रों से सम्मत और स्वशास्त्र में प्रतिपादित अर्थ सर्वतन्त्रसिद्धान्त, स्वमतानुयायी शास्त्र में स्वीकृत और विरोधी शास्त्र (मत) में अस्वीकृत अर्थ प्रतितन्त्रसिद्धान्त, जिसके सिद्ध होने पर अन्य सम्बद्ध प्रकरण के अर्थ की स्वतःसिद्धि हो उसे अधिकरणसिद्धान्त और जो अर्थ सूत्रों से ज्ञात नहीं हो किन्तु शास्त्र में उसकी उपलब्धि हो उसे अभ्युपगमसिद्धान्त कहते हैं। यहाँ वादी और प्रतिवादी के सिद्धान्तों का स्वरूप आगे बतलाया जायगा।

खण्डन की शैली

'खण्डन' का प्रयोजन वीतराग मुमुक्षुओं लिए के तत्त्वज्ञान में साधनभूत मनन बतला कर ग्रन्थकार ने विजिगीषु रागी पुरुषों के लिए दिग्विजयरूप फल बतलाया है। इन्होंने

---

१. 'यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।' (न्यायसू० २. आ० २.)

२. स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।' (न्यायसू० ३. आ० २.)

प्रतिज्ञापूर्वक विद्वानों को सम्बोधन करके कहा है कि स्वयं ऊहापोह नहीं करके भी मेरी खण्डनपद्धति का तोते की तरह अभ्यास करके उसके द्वारा शब्द एवं अर्थ की व्याख्या का खण्डन करके बड़े से बड़े अभिमानी व्यक्तियों को कथा में चुप करके अपने दिग्विजय-कौतुक को संसार में फैलाओ[1]। इन्होंने आगे चल कर खण्डनयुक्तियों को तीन प्रकारों से उपयोग करने की विधि बतलाई है। यदि वादी किसी पदार्थ का लक्षण करे तो उसका खण्डन स्वयं ऊह करके करे। अथवा खण्डन करने की युक्तियों में से स्थानान्तर में स्थित किसी युक्ति को प्रकारान्तर से लाकर उससे खण्डन करे। अथवा खण्डन की युक्ति के समान युक्ति का ऊह करके उससे खण्डन करे। यदि वादी अन्य प्रकार की युक्ति से उसका खण्डन करे तो अपनी बुद्धि से उसका समाधान करे। यदि अपनी बुद्धि वहाँ काम नहीं करे तो वादी के द्वारा प्रयुक्त अनेक पदात्मक वाक्य में से किसी पद के अर्थ का खण्डन करने के लिए फिर उसी प्रकार खण्डनान्तर को अपनाये। यदि इसमें भी अपनी बुद्धि कुण्ठित मालूम पड़े तो प्रकरणान्तरस्थ विषय में खण्डनयुक्ति का उपयोग करे। प्रकृत पदार्थ के खण्डन के प्रसङ्ग में यदि अन्य पदार्थ का खण्डन किया जाय तो अर्थान्तर की आपत्ति नहीं की जा सकती। क्यों कि, वह भी प्रकृत पदार्थ के खण्डन में उपयोगी है। अनौचित्य की भी आपत्ति नहीं हो सकती। 'शब्द नित्य है या अनित्य' इस प्रकार विप्रतिपत्ति रहने पर यदि वादी अनुमान करे कि 'शब्द अनित्य है क्यों कि उसमें कृतकत्व है' तो कृतकत्व हेतु में फिर विप्रतिपत्ति होने पर अनौचित्य होगा। इससे शब्दमें अनित्यत्व और कृतकत्व इन दोनों में से किसी की भी सिद्धि नहीं होगी। परिणामस्वरूप उसका उक्त अनुमान का प्रयोग ही नहीं होगा। अतः प्रकृतार्थ साधन में अनौचित्य दोष की आपत्ति नहीं की जा सकती[2]।

कथा में खाण्डनिक की प्रवृत्ति

खण्डन में 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन' इत्यादि प्रथम न्यायसूत्र का ही खण्डन किया गया है। अतः इसमें वादी मुख्यरूप से नैयायिक हैं। ये लक्षण के द्वारा प्रमाण की सिद्धि और प्रमाण के द्वारा प्रमेय की सिद्धि मानते हैं। उपर्युक्त सूत्र के अनुसार १६ पदार्थ माने गये हैं। इन्हें ये परमार्थ सत् मानते हैं। अत एव ये 'प्रमाणादि पदार्थ हैं' इस प्रकार प्रमाणादि की सत्ता मान कर कथा में प्रवृत्त होते हैं।

---

१. 'शब्दार्थनिर्वचखण्डनया नयन्तः सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान्।
धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम्॥'
(खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ४, चौखम्बा)

२. 'तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे।
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया॥'
(खण्डखण्डखाद्य, पृ० ७५२, चौखम्बा)

इसमें प्रतिवादी खाण्डनिक (वैतण्डिक) हैं। ये प्रमाणादि की सत्ता नहीं मानते। इनका अपना कोई पक्ष नहीं होता। वादी के मतों का खण्डन मात्र करने के लिये ये कथा में प्रवृत्त होते हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में वादी के द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रतिवादी प्रमाणादि की सत्ता नहीं मानते, अतः वे कथा के अधिकारी नहीं हैं। इसका समाधान यह किया गया है कि प्रमाणादि की सत्ता का स्वीकार कथा में प्रवृत्ति का नियामक नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो देवगुरु बृहस्पति के द्वारा लोकायतिक सूत्रों की रचना, भगवान् बुद्ध के द्वारा शून्यवाद का उपदेश और भगवान् शंकराचार्य के द्वारा ब्रह्मसूत्रों के ऊपर भाष्य की रचना, ये सब अनुपपन्न हो जा जायेंगे। अतः तत्त्वनिर्णय या पर-पराजय रूप कथा के प्रयोजन की सिद्धि के लिये जितना नियम अपेक्षित है उतना ही नियम मानकर दोनों (वादी एवं प्रतिवादी) को वाग्व्यवहाररूप कथा में प्रवृत्त होना चाहिए। वादी प्रमाण के द्वारा अपने पक्ष का स्थापन करे और प्रतिवादी प्रतिज्ञाहान्यादि निग्रहस्थानों में से किसी निग्रहस्थान का उद्भावन करे। यही कथा का नियम है। यदि प्रतिवादी किसी निग्रहस्थान का उद्भावन करता है तो वह विजयी है। यदि वह कोई निग्रहस्थान नहीं दिखलाता तो वादी ही विजयी है। यदि कहा जाय कि नियम की सत्ता मानने पर प्रतिवादी के सिद्धान्त की हानि होगी, तो यह कहना अयुक्त है। क्योंकि प्रतिवादी उक्त व्यवहार के नियम की सत्ता को कथा में हेतु नहीं मानता, किन्तु उसके ज्ञान को हेतु मानता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वाग्व्यवहार में वाग्व्यवहार का नियम ही कारण है, प्रमाणादि की सत्ता का स्वीकार नहीं। अतः प्रतिवादी भी कथा में अधिकारी सिद्ध होता है।

लक्षण सामान्य-खण्डन

'खण्डन' में वितण्डा कथा में तो खण्डन करने की युक्तियां लगती ही हैं, परन्तु ये युक्तियां वाद एवं जल्प कथाओं में भी लग सकती हैं, यह प्रतिपादन करके लक्षण का खण्डन प्रारम्भ किया गया है। खण्डन इस प्रकार किया गया है। वादी लक्षण के द्वारा लक्ष्य की व्यवस्था करते हैं और लक्षण से लक्ष्य रूप अधिकरण के ज्ञात होने पर उसमें व्यवहाररूप या इतरभेदरूप साध्य की सिद्धि करते हैं। जैसे पृथिवीत्व पृथिवी का लक्षण हुआ। इस लक्षण से लक्ष्य पृथिवीरूप अधिकरण के ज्ञात होने पर उसमें 'यह पृथिवी है क्योंकि इसमें पृथिवीत्व है जिसमें पृथिवीत्व नहीं है वह पृथिवी नहीं है जैसे जलादि' इस अनुमान से उक्त व्यवहाररूप लक्षण का साध्य (प्रयोजन) सिद्ध होता है। इसी प्रकार पृथिवी इतर (जलादि) से भिन्न है, क्योंकि इसमें पृथिवीत्व है, जो इतर (जलादि) से भिन्न नहीं है, वह पृथिवी नहीं है, जैसे जलादि' इस अनुमान से लक्ष्यरूप पृथिवी में इतरभेदरूप साध्य (प्रयोजन) सिद्ध होता है।

अब प्रतिवादी इसका खण्डन करता है। वह कहता है कि लक्षण के ज्ञान से लक्ष्य में इतरभेद का ज्ञान और लक्ष्य में इतर भेद के ज्ञान से लक्षण का ज्ञान मानने पर आत्माश्रय दोष होगा। कारण यह है कि इतरलक्ष्य साधार लक्षणज्ञान मानने पर लक्षण करना व्यर्थ है। यदि इतर लक्ष्य से व्यावृत्तत्वरूप से लक्षण का ज्ञान मानें तो पहले उक्त व्यावृत्ति का ज्ञान अपेक्षित होगा और इस व्यावृत्ति का ज्ञान लक्षणज्ञान के विना हो ही नहीं सकता। अब प्रश्न उठता है कि इसी प्रथम लक्षण के द्वारा इतर-व्यावृत्ति का ज्ञान मानेंगे या लक्षणान्तर के द्वारा। यदि प्रथम लक्षण के द्वारा मानें तो स्व में स्व की अपेक्षारूप आत्माश्रय होगा। यदि लक्षणान्तर से मानें तो अन्योन्याश्रय होगा। यदि इस अन्योन्याश्रय की निवृत्ति के लिये तृतीय' लक्षण के द्वारा मानें तो चक्रक होगा। यदि इसकी निवृत्ति के लिये चतुर्थ लक्षण मानें तो इसकी विश्रान्ति ही नहीं होगी। इस प्रकार अप्रामाणिक अनन्त पदार्थ कल्पनारूप अनवस्था दोष लगेगा। इतना ही नहीं, यही दोष व्याप्तिज्ञान, साध्यज्ञान, साधनज्ञान एवं पक्षज्ञान आदि में भी लगेंगे क्योंकि वादी लक्षण के द्वारा ही इनका ज्ञान मानेंगे। अतः वादी के मत में लक्ष्यलक्षणादि की व्यवस्था अत्यन्त असम्भव है।[1]

प्रमाणसामान्य-खण्डन

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' प्रमा का करण प्रमाण है, यह वादी का प्रमाण का लक्षण है। इस लक्षण में दो पद हैं—'प्रमा' और करण। जब तक इनका ज्ञान नहीं होगा तब तक यह लक्षण सिद्ध नहीं होगा। अतः प्रतिवादी वादी से पूछता है कि प्रमा क्या है। इसका उत्तर वह 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' तत्व विषयक ज्ञान प्रमा है, देता है। प्रतिवादी इसका खण्डन करता है। वह कहता है कि 'तस्य भावो हि तत्त्वम्' तत् शब्द से भाव अर्थ में त्वप्रत्यय करके तत्त्व शब्द सिद्ध होता है। तत् शब्द से पूर्व-प्रक्रान्त विषय का ग्रहण होता है। प्रमा के विचार में यह लक्षण सबसे पहले आया है। वहाँ पूर्व प्रक्रान्त कोई अर्थ है ही नहीं जिसका तत् पद से ग्रहण हो। अतः तत्पदार्थ के अप्रसिद्ध होने से यह लक्षण नहीं होगा। वादी इसका समाधान इस प्रकार करता है। वह कहता है कि लक्षण में अनुभूति पद का निवेश है। उसका अर्थ ज्ञान है। ज्ञान का निरूपण विषय के बिना नहीं हो सकता, अतः उसी से विषय का आक्षेप होगा। तब लक्षण का आकार होगा—'विषयगतधर्मानुभूतिः प्रमा' विषयवृत्ती जो धर्म तद्विषयक अनुभूति प्रमा है।

प्रतिवादी इसका खण्डन करता है। वह कहता है कि 'इदं रजतम्' यह चाँदी है,

---

१. 'लक्षणाधीना तावल्लक्ष्यव्यवस्थितिर्लक्षणानि चाऽनुपपन्नानि, ज्ञाताधिकरणादिलक्षणनिरूपणद्वारेण चक्रकाद्यापत्तेः।' (खण्डनखण्डखाद्य, प्र० प०, पृ० १३०, चोखम्बा)

इस भ्रमज्ञान में भी उक्त लक्षण घटता है, क्योंकि जो रजत नहीं है वह भी इस भ्रमज्ञान का रजतत्वरूप से विषय बनता है। अतः यह लक्षण अतिव्याप्तिदोष से ग्रस्त है।

'घटः' इस प्रमात्मक ज्ञान का घटत्वविशिष्ट घट विषय है, यहाँ घटत्व (धर्म) रूप विशेषण ज्ञान में ही यह लक्षण घटेगा, परन्तु घटरूप विशेष्य धर्मी अंश में नहीं घटेगा। अतः इस अंश में अप्रमात्व की आपत्ति होने से उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से भी ग्रस्त है। अतएव यह लक्षण अयुक्त है।

वादी इसका समाधान करता है। वह कहता है कि तत्त्व शब्द स्वरूपमात्र का वाचक है। अतः लक्षण का आकार 'स्वरूपानुभूतिः प्रमा' स्वरूपविषयक अनुभूति प्रमा है, यही होगा। इस लक्षण में कोई दोष नहीं है।

प्रतिवादी इसका खण्डन करता है। वह कहता है कि लक्षण में प्रविष्ट स्वरूप पदार्थ स्वरूपत्व को जातिरूप या उपाधिरूप मानने पर यह विकल्प होगा कि स्वरूपत्व स्वरूपत्व में है या नहीं। प्रथम पक्ष में आत्माश्रय होगा। द्वितीय पक्ष में वहीं पर उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा। इतना ही नहीं, विषय के भेद से स्वरूप पदार्थ भी अनेक होंगे जिससे लक्षण में अननुगत्व दोष होगा। और भी, स्वरूप पद का निवेश विपर्ययादि के वारण के लिए किया गया है। परन्तु इसका वारण नहीं हो सकता, क्योंकि 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमात्मक ज्ञान में रजतत्वधर्म, पुरोवर्ती धर्मी एवं उनके भासमान सम्बन्ध सभी स्वरूप ही हैं। यहाँ उक्त लक्षण घटेगा ही। इस प्रकार लक्षण में स्वरूप पद के व्यर्थ होने से यह लक्षण असङ्गत है। अतः प्रमा के निर्वचन नहीं होने से उससे युक्त प्रमाण का भी लक्षण सिद्ध नहीं हुआ।

इस प्रकार बड़े विस्तार और मार्मिक ढङ्ग से प्रमा के लक्षणों का खण्डन किया गया है। निदर्शन मात्र के लिए मैंने थोड़ी-सी प्रक्रिया दिखलाई है।

करणलक्षण-खण्डन

प्रमाकरणरूप प्रमाण के लक्षण में करण पदार्थ के निर्वचन नहीं होने से भी प्रमाण का लक्षण असिद्ध है। यदि वादी कहे कि कर्ता, कर्म तथा अधिकरण करण में व्यापार का निष्पादन करते हैं, सम्प्रदान दान क्रिया का हेतु है और अपादान विभाग विशेष हेतु है अतः ये (सम्प्रदान तथा अपादान) सार्वत्रिक नहीं हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि जो कारकान्तर में चरितार्थ नहीं हो और सार्वत्रिक क्रियाजनक हो वह करण है, तो यह कथन अयुक्त है। क्योंकि लक्षण में प्रविष्ट अन्तर शब्द यदि विशेष मात्र का वाचक होगा तो उसका उपादान ही व्यर्थ होगा। कारक विशेष को छोड़कर कारक मात्र का कोई जनक नहीं होता जो उससे व्यवच्छेद्य हो। यदि अन्तर शब्द का अन्य अर्थ माना जाय तो, यह भी अयुक्त है। जैसे 'अन्य आत्मा, शरीरमन्यत्' इत्यादि स्थान में समभिव्याहार के बल से शरीर से अन्य आत्मा तथा आत्मा से अन्य शरीर, यह अर्थ होता

है, वैसे ही प्रकृत में भी किसी विशेष का निर्देश नहीं होने के कारण समभिव्याहार के बल से किससे अन्य, ऐसी जिज्ञासा होने पर करण से अन्य यही अर्थ होगा। परन्तु यह असङ्गत होगा, क्योंकि अभी तो करण का निरूपण ही नहीं हुआ है। करण के लक्षण में करण का निवेश करने से आत्माश्रय होगा। करण में लक्षण के नहीं घटने से अव्याप्ति और कर्ता एवं कर्म में लक्षण के घटने से अतिव्याप्ति भी होगी।

यदि कहें कि अन्तर शब्द कर्ता तथा कर्म से अन्यपरक है, इसलिए कर्ता तथा कर्म में लक्षण नहीं घटेगा। अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा, तो यह कहना भी असङ्गत है, क्योंकि 'कारक में अचरितार्थ' इतने अंश से ही उक्त अतिव्याप्ति का वारण हो जायगा। इस स्थिति में अन्तर पद का निवेश व्यर्थ है।

यदि कहें कि अधिकार्थ रहित अन्तर शब्द का प्रयोग लक्षण में नहीं करेंगे। अतः उसमें व्यर्थत्वापत्ति नहीं होगी, तो यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि व्यापारयुक्त कारण कारक होता है। जहाँ स्थाली में पाक होता है वहाँ स्थाली के साथ अग्नि का संयोगादि व्यापार रहता है। अतः अग्निकारक होता है। इसमें जो व्यापार होता है उसका जनक हस्तादि है। अतएव हस्तादि करण होता है। परन्तु अब करण का लक्षण इसमें नहीं घटेगा, क्योंकि यह कारक में अचरितार्थ नहीं है—चरितार्थ है। अतः इसका लक्षण करना अशक्य है।

इसका भी ग्रन्थ में बहुत विस्तार से खण्डन किया गया है। यह थोड़ा-सा विचार दिग्दर्शन मात्र है। इस प्रकार 'प्रमा' तथा 'करण' के लक्षणों का खण्डन करने से प्रमा-करण रूप प्रमाणसामान्य का खण्डन हुआ। आगे प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगमादिरूप विशेष-विशेष प्रमाणों का खण्डन किया गया है। इसके खण्डन से ही 'प्रमाणप्रमेय…' इत्यादि प्रथम न्यायसूत्रोक्त प्रमेयादि पदार्थों का खण्डन सुतरां सिद्ध होता है। इन्हीं सोलह पदार्थों का खण्डन 'खण्डन' के चारों परिच्छेदों में किया गया है।

खण्डन का निष्कर्ष

खण्डनकार की खण्डन में प्रवृत्ति का तात्पर्य प्रपंच में अनिर्वचनीयत्व सिद्ध करना था। यह तब तक सम्भव नहीं था जब तक प्रपंच को सत्य मानने वाले प्रबल द्वैती नैयायिकों द्वारा प्रमाण-प्रमेय की की गई व्यवस्था का खण्डन न हो। इसी लिए खण्डन को अनिर्वचनीयतासर्वस्व भी कहा जाता है। वेदान्त का अनिर्वचनीयतावाद ही मुख्य सिद्धान्त है। इसके बिना वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि गगनकुसुम के समान है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वेदान्त प्रपञ्च को शशविषाणादि के समान अलीक (तुच्छ) मानता है। हाँ, इसे वह मिथ्या अवश्य मानता है। तुच्छ में और मिथ्या में बहुत अन्तर है। तुच्छ तो वह कहलाता है जिसकी कहीं प्रतीति ही नहीं होती, जैसे गगनकुसुम, शशविषाण एवं वन्ध्यासुत आदि। प्रपंच ऐसा नहीं है, इसकी प्रतीति होती है। कालान्तर में बाध होने के कारण इसमें मिथ्यात्वज्ञान होता है। अन्तर इतना है कि

'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम का संसार दशा में ही बाध होता है और संसाररूप भ्रम का श्रवण-मनन एवं निदिध्यासनादि के द्वारा आत्मसाक्षात्कार के बाद। अतः संसार दशा में प्रपंच की सत्ता मानी जाती है। यह सत्ता तीन प्रकार की मानी गई है—व्यावहारिक, प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक। घटपटादि की सत्ता व्यावहारिक है, 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम स्थलीय रजतादि की सत्ता प्रातिभासिक है और एक अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म की सत्ता ही पारमार्थिक है। व्यवहार दशा में प्रमाण-प्रमेयादि की व्यावहारिक सत्ता मान कर ही समस्त श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण एवं शास्त्रों की प्रवृत्ति होती। द्वैती संसार को परमार्थ सत् मानते हैं। अद्वैती परमार्थ सत् नहीं मानते। इतना ही अन्तर दोनों में है। वास्तविकता तो यह है कि द्वैतियों का भी परम्परया वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैततत्त्व में ही तात्पर्य है। अधिकारियों के भेद से भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के निर्वाह के लिए तत्-तत् शास्त्र में भिन्न-भिन्न ढङ्ग से साध्य एवं साधनों का विचार किया गया है। यही खण्डन का निष्कर्ष है।

खण्डन की टीकायें

टीका	टीकाकार
१. खण्डनमण्डनम्	परमानन्द
२. खण्डनमण्डनम्	भवनाथ
३. दीधिति	रघुनाथ शिरोमणि
४. प्रकाश	वर्धमान
५. खण्डनटीका	बलभद्रमिश्रात्मज पद्मनाभ मिश्र
६. आनन्दवर्धनी (शाङ्करी)	शङ्कर मिश्र
७. खण्डन महातर्क	चरित्र सिंह
८. विद्याभरणी	विद्याभरण
९. विद्यासागरी	विद्यासागर
१०. दर्पण	शुभशङ्कर मिश्र
११. खण्डनखण्डन	प्रगल्भ मिश्र
१२. शिष्यहितैषिणी	पद्मनाभ
१३. खण्डनकुठार	गोकुलनाथ उपाध्याय
१४. खण्डनखाद्योद्धार	वाचस्पतिमिश्र (प्रसिद्ध वाचस्पतिमिश्र से भिन्न)

इनमें 'खण्डनकुमार' और 'खण्डनखाद्योद्धार' ये दो ग्रन्थ खण्डनकार द्वारा उद्भावित दोषों का खण्डन करने के लिये लिखे गये हैं, व्याख्या के लिए नहीं[1]। इसके बाद भी 'खण्डन के ऊपर कुछ संस्कृत और हिन्दी टीकाएँ लिखी गई हैं।

१. विद्यासागरी सहित खण्डनखण्डखाद्य की भूमिका।
(महामहोपाध्याय लक्ष्मणशास्त्री द्रविड़)

अब मैं 'शाङ्करी टीका के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। इसके भी पहले इसके टीकाकार के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है।

शङ्करमिश्र

शङ्करमिश्र मिथिला के उन विद्वानों में से एक हैं जिनका नाम दर्शन शास्त्र के इतिहास में सूर्य के समान प्रकाशमान है। इनका जन्म १५ शतक में दरभंगा जिला के सिद्ध विद्यापीठ 'सरिसव' नामक गाँव में श्रोत्रिय ब्राह्मण कुल में था। इनके पिता का नाम भवनाथ मिश्र था। ये (भवनाथ मिश्र) व्याकरण-न्याय-वेदान्त-मीमांसा आदि के पारंगत विद्वान् थे। मिथिला में अयाची मिश्र के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। शङ्कर मिश्र की माता का नाम भवानी था। इनके पितृव्य जीवनाथ मिश्र भी दर्शन के महापण्डित थे।

शङ्कर मिश्र के पाण्डित्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रसिद्ध उक्ति ही पर्याप्त है—

"बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्॥"

आगे भी इन के कुल में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् हुए और आज तक वह परम्परा कुछ अंश में जीवित है।

शङ्कर मिश्र के ग्रन्थ

१. उपस्कार (कणाद सूत्रों की टीका), २. कणादरहस्य (प्रशस्तापाद भाष्य की व्याख्या माने जाने पर भी स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ), ३. आमोद (कुसुमाञ्जलि की व्याख्या), ४. कल्पलता (आत्मतत्त्वविवेक की व्याख्या), आनन्दवर्धन (शाङ्करी)–खण्डनखण्डखाद्य की प्रसिद्ध व्याख्या, ६. कण्ठाभरण की न्याय लीलावती की व्याख्या), ७. मयूख (तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्या) इस का उल्लेख इन्होंने उपस्कार और वादिविनोद में किया है, ८. वादिविनोद (वादविषय के ऊपर मौलिक ग्रन्थ) ९. भेदरत्नप्रकाश (न्याय–वैशेषिक सिद्धान्त का प्रतिपादक और श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन करने वाला मौलिक ग्रन्थ[1])।

शाङ्करी व्याख्या

यह श्रीहर्ष के 'खण्डन' की अत्यन्त प्रसिद्ध टीका है। खण्डन की दृढ़ ग्रन्थियों के भेदन में यह टीका सर्वथा सफल है। इसके बिना खण्डन की पंक्तियों और भावों को समझना अत्यन्त कठिन था। इनकी व्याख्या की शैली अत्यन्त प्रौढ़, परिष्कृत एवं प्राञ्जल है। ये प्रतीक के अवतरण में ही वहाँ के भावों को अत्यन्त सूक्ष्म, स्पष्ट और सुबोध शैली में व्यक्त कर देते हैं और बाद में अक्षरार्थ की योजना भी कर देते हैं। जगह-जगह इन्होंने 'खण्डन' की पूरी समालोचना भी की है और अन्त में अनिर्वचनीयतावाद में पर्यवसान दिखलाया है। इसी कारण इस टीका की इतनी प्रसिद्धि है और पण्डित-

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० २७२ (पण्डित बलदेव उपाध्याय)

मंडली इसका आदर करती है। इनकी शास्त्रीय प्रतिभा व्यापक एवं विलक्षण है। यह बात इनकी उक्त कृतियां स्वयं बतला रही हैं। इसमें अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है।

हिन्दी व्याख्याकर दार्शनिकशिरोमणि
स्वा० श्री हनुमनादासजी षट्शास्त्री

आप दर्शनशास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। खास कर वेदान्त दर्शन के आप पारंगत हैं। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के ऊपर आपकी हिन्दी व्याख्या प्रसिद्ध है। 'खण्डन' के ऊपर प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या भी आज तक के प्रकाशित सभी हिन्दी व्याख्याओं में सर्वोत्कृष्ट है। इसमें आपने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है जिससे आधुनिक युग में वेदान्त पढ़ने वालों को बड़ी आसानी से 'खण्डन' समझने में आयेगा। इस युग में खण्डन की ऐसी टीका नितान्त अपेक्षित थी, जिसकी पूर्ति कर आपने राष्ट्रभाषा हिन्दी की भी श्रीवृद्धि कर संस्कृत विद्वान् का बड़ा ही उपकार किया है। जहाँ तक बन पड़ा है मैंने भी आप की पवित्र वाणी में अपनी वाणी को मिला कर आप के भावों को ही स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

शाङ्करी सहित खंडन का प्रकाशन

'खण्डन' पहले मूलमात्र कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। बाद में १८८८ ई० में शाङ्करी सहित इसका सम्पादन पण्डितप्रवर श्री मोहनलाल वेदान्ताचार्यजी ने अपनी मार्मिक टिप्पणी (यदि इसे खण्डन की टीका कहो जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी) देकर किया और इसका प्रकाशन 'लाजरस एण्ड को' बनारस से हुआ। फिर इसका दूसरा संस्करण वहीं से प्रकाशित हुआ। परन्तु इस संस्करण में कहीं-कहीं त्रुटियां थीं। जहाँ तक हो सका मैंने उसे ठीक करने का प्रयास किया है। संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित समस्त मूल ग्रन्थ के चारों परिच्छेदों में पढ़ने पढ़ाने में सुविधा की दृष्टि से विषयों का विभाग करके उसमें क्रमिक संख्या दे दी गई है। मेरे अग्रज पूज्यपाद पण्डितप्रवर श्री रामचन्द्र जी झा ने मुझे इस काम को करने का आदेश दिया और मार्गदर्शन भी कराया जिसके परिणाम-स्वरूप आज मैंने इसका संपादन पूरा किया। वैसे तो यह मूल ग्रंथ ही संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है, पर इसकी शाङ्करी टीका भी विशेष महत्त्व रखती है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि समय की गति के अनुसार इसकी प्रस्तुत हिन्दी टीका भी उपलब्ध टीकाओं में सर्वोत्तम है। प्राचीन दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थों के एकमात्र उद्धारक विश्वविख्यात चौखम्बा संस्कृत सीरीज के संचालक तथा प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशक महोदय ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन कर संस्कृत समाज का बड़ा उपकार किया है। इसलिए वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। इस दुरूह ग्रंथ के सम्पादन में संभव है कुछ त्रुटियाँ मुझ से भी रह गयी हों, अतः नीरक्षीरविवेकी विद्वान् मुझे क्षमा करेंगे।

अगहन शु० ७
वाराणसी
वि० सं० २०२६

—नविकान्त झा

प्रमुख विषयों का सूचीपत्र

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद





खण्डनखण्डखाद्यम्

'शाङ्करी' 'तत्त्वबोधिनी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः परिच्छेदः

अविकल्पविषय एकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु ।
ईश्वरमुमया न परं वन्देऽनुमयापि तदधिगतम् ॥ १ ॥

हरिशङ्करयोः सितासितं, भुजगारातिभुजङ्गलाञ्छनम् ।
वपुरस्तु मुदे विरुद्धयोरपि संसर्गि न भिन्नतां गतम् ॥ १ ॥
विरुद्धधर्मद्वयसन्निपातेऽप्यभेद एवेति विभावयन्तम् ।
पुनातु भेदप्रतिभासशून्यं स्त्रीपुंसरूपं शिवयोः शरीरम् ॥ २ ॥
भवनाथसूक्तिगुम्फनमिह खण्डनखाद्यटीकायाम् ।
श्रीशङ्करेण विदुषा विदुषामानन्दवर्द्धनं क्रियते ॥ ३ ॥

प्रारिप्सितप्रतिबन्धकदुरितनिवारणकारणेष्टदेवतानमस्काररूपं मङ्गलं कुर्वन्नेव प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गप्रयोजनाभिधेयसम्बन्धप्रतिपादनपरः परमतनिराकरणचिकीर्षया स्वमतं ब्रह्माद्वैतमास्थायुको वैतण्डिकोऽपि स्वप्रौढिप्रकटनाय सूचयन्नाह—अविकल्प इति । एकः पुरुष इति । अद्वितीयं ब्रह्मेत्यर्थः, श्रुतिषु तथा श्रुतत्वात्, यद्यथा श्रुतिषु श्रुतं तत्तथा; यथा ब्रह्मण आनन्दमयत्वं, तथा चाद्वितीय ब्रह्म इति स्थापनसूचना ।

तमीश्वरं वन्दे यः अविकल्पविषयः, विकल्पः-संशयस्तदविषय इत्यर्थः। विरुद्धनानाप्रकारकं हि ज्ञानं संशयः स चाद्वैते न संभवति न वा सर्वसिद्धे संशयावकाश इति भावः । यद्वा विकल्पः विशिष्टज्ञानं, तदविषय इत्यर्थः, अद्वैते प्रकाराभावात् सप्रकारकज्ञानानुत्पत्तेरिति भावः । यद्वा अविकल्पः निर्विकल्पकं तद्विषयः तन्मात्रविषय इत्यर्थः । अद्वैते प्रकाराभावेन सविकल्प(विषय)त्वाऽभावादिति भावः । यद्वा विकल्पस्य कल्पनायाः अविषयः पारमार्थिकत्वात् । यद्वा अविकल्पः निर्विकल्पकज्ञानं, तद्विषयो यस्येति बहुव्रीहिः, ब्रह्मणः स्वप्रकाशचिद्रूपत्वात् ।

एकः—अद्वितीय इत्यर्थः । स्थाणुरिति । स्थिर इत्यर्थः, कूटस्थनित्यत्वात् । यद्वा स्थाणुरिव स्थाणुः सुखदुःखाद्युपाधिसम्भेदरहित इत्यर्थः ।

पुरुषः—क्षेत्रज्ञः, तेन क्षेत्रज्ञाऽभेदो ध्वनितः। सर्वत्र प्रमाणमाह—श्रुत इति। 'श्रुतिषु' इति सर्वाः श्रुतीराह, तथा च कर्मकाण्डस्यापि ब्रह्मपरत्वमिति ध्वनितम्। 'अस्ति' इति स्वसाक्षिकविद्यमानैकरूपतामाह।

उमाया इव स्वस्यापि भगवदेकतानतामाह—उमया परमधिगतमेव न, किन्नाम श्रवणादनु पश्चान्मयापि श्रीहर्षेणाप्यधिगतमेवेति। नुशब्दः सम्बन्धने वा। अधिगमस्त्वत्र मननमेव। उमानुमे विद्याविद्ये वा। ताभ्यां स्वर्गिसंसारदशाविशेषेणाधिगतत्वाद्विषयीकृतत्वात्। यद्वा उमया=गौर्या, मया = च लक्ष्म्या, अधिगतम्=आश्लिष्टम्। तेन विष्णुगौरीश्वराभेद उक्तः, "मा मातरि च माने च, मा च लक्ष्मीः प्रकीर्तिता" इति कोशात्।

विरोधाभासश्चालङ्कारोऽयं, तथाहि—'एकः, स्थाणुः पुरुषश्च' इति विरुद्धं; स्थाणुः पुरुषः, संशयाविषयश्च' इति विरुद्धं; श्रुतिषु श्रुतश्च, विशिष्टज्ञानाऽविषयश्च' इति विरुद्धम्; उमयाऽधिगतस्याऽनुमाधिगतत्वं च विरुद्धम्; यथाच न विरोधस्तथा व्याख्यातमेव।

अत्र पुरुषसमभिव्याहृतस्यैकपदस्य कैवल्यार्थकतया पुरुषकैवल्यं परमप्रयोजनमुक्तं, सङ्ख्यार्थतया पुरुषस्य ब्रह्मण एकत्वमद्वैतमभिधेयमुक्तम्, अवान्तरप्रयोजनं चाऽनुमया मननेनाधिगतत्वमुक्तं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

स्मारं स्मारं स्थिरचरसमं भासया भासयन्तं
स्वान्ते स्थित्वा सकलतिमिरं सर्वथा त्रासयन्तम्।
ज्ञेयं वेदैः सुगुरुवचनैः साधुभिर्ध्याननिष्ठैः
वन्दे वेद्यं सकलकरणैर्नैव विद्यं तुरीयम् ॥ १ ॥

वन्देऽहं भुवनाधारं निराधारं निरञ्जनम्।
निर्गुणं निर्मलं रामं ज्योतिषां ज्योतिरव्ययम् ॥ २ ॥
गणेशं जगदीशं तं वाणीशं भास्करं शिवम्।
मायेशं मायिनं वन्दे शुद्धं बुद्धं महेश्वरम् ॥ ३ ॥
चराचरं विश्वमुदेति यस्मात् स्थित्वा च यस्मिंल्लयमेति यत्र।
सत्यं चिदानन्दघनं तदेकं ज्ञातं यतस्तं गुरुमानतोऽस्मि ॥ ४ ॥

शिष्टाचार से अनुमितश्रुतिबोधितप्रारब्धग्रन्थ के विघ्नविनाशार्थमङ्गलाचरण करते हुए, ग्रन्थ में प्रवृत्ति के हेतुरूप विषयप्रयोजनादि को समझाते हुए ग्रन्थारम्भ किया गया है— '**अविकल्पविषयः**, इत्यादि। अस्ति-नास्ति वा, इत्यादि विकल्प = संशयों का जो अविषय है, किन्तु सर्वात्मा होने के कारण, अस्ति, अहमस्मि, है, मैं हूँ, इत्यादि निश्चयों का ही विषय है, तथा विकल्प = भेद का जो अविषय है, त्रिविध भेद रहित निर्विशेष स्वरूप है, अतएव एक = अद्वैत, और स्थाणु = अचल = निष्क्रिय = कूटस्थ, पुरुष = पूर्णक्षेत्रज्ञात्मा, जो श्रुतियों में श्रुत है। (तदेव परं ब्रह्म ईश्वरश्च भवति-उमया अधिगतं सत्) वह पूर्ण = व्यापक पुरुष ही परब्रह्म है, और उमा = वितर्कविषय माया से अधिगत = युक्त हो कर वह ईश्वर होता है। उस ईश्वर रूप परब्रह्म की मैं वन्दना करता हूँ। यदि कहा जाय कि निर्गुण पर ब्रह्म या ईश्वर की वन्दना नहीं हो सकती, तो यह कहना असंगत है, क्योंकि वह मायायुक्त होने पर परं=केवल उमा से ही अधिगत नहीं रहता किन्तु कार्यलिङ्गक अनुमा=अनुमान से भी अधिगत=ज्ञात होता है। अतः वन्दना स्तुति आदि रूप उपासना का विषय होता है। निर्गुण ब्रह्म के विषय में उपास्योपासक भाव का निषेध

है (नेदं यदिदमुपासते) जिसकी इदं रूप से उपासना करते हैं, वह निर्गुण ब्रह्म नहीं है, इत्यादि। केवम पार्वती से ही ईश्वर=शिवजी अधिगत=प्राप्त हैं, यह नहीं कह सकते, क्योंकि वे अनुमान तथा मया=श्रीहर्ष कवि से भी गम्य (प्राप्य) हैं। तथा उमा= विद्या और अनुमा अविद्या का जो ज्ञानाज्ञानावस्था में विषय होता है उस ईश्वर की वन्दना करता हूँ। यहाँ स्थाणुः पुरुषः, स्थाणुपुरुषः संशयाविषयः, उमयाऽधिगतम्-अनुमयाधिगतम् इत्यादि विरोधाभासालंकार है। स्थाणु ठूंठ को भी कहते हैं, किन्तु वह पुरुष नहीं हो सकता है, ॥ १ ॥

मानापनोदनविनोदनते गिरीशे भासेव संकुचितयोरुचितं तदिन्दोः।
भेत्तुं भवानिशचितं दुरितं भवानि नम्रोभवानि घनमङ्घ्रिसरोजयोस्ते ॥२॥

शिवं नत्वा शक्तिं नमस्यति—"मानापनोदन" इति। हे भवानि! भवस्य पत्नि!, घनं निरन्तरं-यथा स्यादेवं, तवाङ्घ्रिसरोजयोश्चरणकमलयोर्नम्रीभवानि अवनतः स्याम्। किंविशिष्टयोरङ्घ्रिसरोजयोः? गिरीशे, महेशे मानापनोदनविनोदनते मनस्वितानिराकरणक्रीडानम्रे, तदिन्दो, तन्मौलिचन्द्रस्य, भासेव ज्योत्स्नयेव, उचितं यथा स्यादेवं सङ्कुचितयोः उपजातसङ्कोचयोः। भर्त्तरि प्रणिपाताय़ोद्यते लज्जया चरणसङ्कोचस्तावदुचितः तत्र तदिन्दोर्भासेवेत्युत्प्रेक्षा। दवीयस्यपि चन्द्रमसि सरोजसङ्कोचो नेदीयसि सुतरामित्युत्प्रेक्षोद्दीपनम्। किं कर्तुं? भवानिशचितं दुरितं-भेत्तुं; संसाराविश्रान्तसञ्चितकल्मषनिरासायेत्यर्थः। यद्वा हे भवानि! अहं त्वच्चरणयोर्नम्रीभवानि, त्वं पुनरनिशचितं दुरितं भेत्तुं भव प्रभवेत्यर्थः। एतेन जगद्वन्दनीयस्यापि गिरीशस्य वन्दनीययोर्भवानीचरणकमलयोरत्यन्तवन्द्यत्वमुक्तम्।

अथवा "हे ब्रह्माद्वैतोपदेशक! त्वं ममानिशचितं दुरितं भेत्तुं भव प्रभव, अहं तवाङ्घ्रिसरोजयोर्नम्रीभवानि" इति गिरीशे वादिनि मानापनोदनविनोदनते, वादित्वाभिमानखण्डनक्रीडानम्रे सति, अहं भवानि अर्थादनुगतवादिदुरितभेत्ता भवानि भविष्यामि; तथा तत्त्वमुपदिशानि यथाऽनुगतवादिनो दुरितं भङ्क्ष्यतीति ग्रन्थकृतः स्वं प्रत्याशंसा। तदिन्दोर्भासा सङ्कुचितयोः, स चासाविन्दुश्चेति तदिन्दुर्वादी पराजयकलङ्कवानित्यर्थः, तस्य भासा जितत्वेन मन्दया प्रभयेत्यर्थः, भवति हि स्वव्यवसायेनभङ्गिनं वादिनं दृष्ट्वा साधोः सङ्कोचः "विप्रं निर्जित्य वादत" इत्यादिनिन्दाश्रवणात् ॥ २ ॥

क्षेत्रज्ञाभिन्न वेदान्तविषय ईश्वर की वन्दना करके, उनकी शक्तिस्वरूप हैमवती उमा रूप से उपनिषद् में वर्णित विद्या-अधिष्ठात्री देवी की वन्दना ग्रन्थकार ने की है। वह देवी भवानी (ईश्वर की पत्नी) है, अतः वन्दना है कि हे भवानि! आप के मान (गर्व, ईर्ष्या) का अपनोदन (निवारण) रूप विनोद=क्रीडा के लिए गिरीश=शिव के अवनत=नम्र होने पर, उनके शिरोवर्ती चन्द्रमा के भास=प्रकाश से ही मानो उचित रूप में संकुचित=संकोच युक्त, आप के पद कमलों में मैं भव=संसार में अनिश=सदा संचित पाप को नष्ट करने के लिए, घन=अत्यन्त निरन्तर नम्र होता हूँ। अथवा मैं तेरे चरण कमलों को नमस्कार करता हूँ। तुम निरन्तर संचित मेरे पापों को नष्ट करने के लिए भव (प्रवृत होवो) यह प्रार्थना है। यद्यपि अनेक कठिन तपों से प्राप्त शिव के प्रति भवानी का ऐसा मान हो जिससे शिवको भवानी के चरणों पर अवनत होना पड़े, ऐसा सम्भव नहीं है, तथापि सहृदय कवि के भाव को कवि ही जान सकता है। भाव यह है कि ब्रह्मविद्या भवानी देवी है, और ब्रह्म बाह्य इन्द्रियों का विषय तो है ही नहीं,

किन्तु पूर्वश्लोक में वर्णित श्रुति रूप शब्द प्रमाण का तथा अनुमान का विषय है। वहाँ भी (अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः । अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति) ब्रह्मात्मा है, इस प्रकार परोक्षरूप से ही प्रथम शब्द प्रमाण से ब्रह्म ज्ञातव्य है और तत्त्वभाव=निजप्रत्यक्षात्मस्वरूप से भी ज्ञातव्य है। अस्तिरूप से जानने वाले को तत्त्वभाव=अपरोक्षात्मानुभव स्वयं होता है, अतः अपरोक्षात्मज्ञान के लिए शब्द या अनुमान भी समर्थ नहीं होता है। आत्मा स्वयं प्रकाश है, उसके प्रकाश के लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार उक्त विद्या भवानी के श्रवण मननात्मक श्रुति अनुमानरूपमान=प्रमाण के भी अपनोदन रूप विनोद में शङ्कराचार्य रूप गिरीश=वागीश के अवनत=प्रवृत्त होने पर उसके मानस प्रतीभा से संकुचित शब्द और अनुमान के होने पर श्रीहर्ष कवि उक्त देवी से पदकमल रूप श्रवण मनन (श्रुति, अनुमान) के ही प्रति सदा नम्र होते हैं, क्योंकि संसार में संशयभ्रमरूप संचित पाप का श्रवण मनन से ही नाश होता है। मनन का ही रूपान्तर निदिध्यासन भी है। और ब्रह्म के स्वयं प्रकाश होने पर भी अविद्या की निवृत्ति के लिए ब्रह्माकार वृत्ति की आवश्यकता है। उस वृत्ति की सिद्धि श्रुति और अनुमान से होती है। अस्तीत्यादि श्रुति का अन्य कोई अर्थ करते हैं कि अस्तिरूप से (शब्द प्रमाण से) और तत्त्वभाव से (तत्त्व की भावना के हेतु अन्तःकरण रूप मन से) ब्रह्म ज्ञातव्य है। शब्द से समझने पर तत्त्वभाव=अन्तःकरण, प्रसन्न=स्वच्छ होता है। इस पक्ष में मानों का अपनोदन के लिए प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती है ॥ २ ॥

शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान् ।
धीराः यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम् ॥३॥

वीतरागाणामेतद्ग्रन्थप्रवृत्त्यौपयिकं मननलक्षणं प्रयोजनं दर्शयित्वा रागिणामपि विजिगीषूणां विजयलक्षणं प्रयोजनमाह—"शब्दार्थ" इति। हे धीराः ! कीरवदेतद् अस्मदुक्तं खण्डनमुक्त्वा, लोकेषु भुवनेषु, दिग्विजयकौतुकमातनुध्वं विस्तारयत; किं कुर्वाणाः ? सर्वत्र विवादपदेषु शब्दार्थयोः शब्दतदर्थयोर्निर्वचनं निरुक्तिस्तत्खण्डनया तदनुपपन्नत्वव्यवस्थापनेन, निर्वचनभावं मूकत्वम् , अखर्वगर्वान् प्रौढाहङ्कारान् , नयन्तः प्रापयन्तः सन्त इत्यर्थः। मदुक्तस्य खण्डनस्य सर्ववादिविजयः फलमिति ध्वनितम् ॥ ३ ॥

वीतराग (विरक्त) के लिये इस ग्रन्थ द्वारा श्रवण मनन का वर्णन करके रागी के लिए दिग्विजय रूप प्रयोजन कहा गया है कि हे धीर ! शब्द और अर्थ के तत्त्व=सत्य रूप से निर्वचन=निरुक्ति=कथनों के खण्डन द्वारा अखण्ड=महान् गर्व वालों को सब वादों में निर्वचनभाव=निर्गतवचनता=मूकता प्राप्त कराते हुए, इस खण्डन को जिस प्रकार मैं कहता हूँ उस प्रकार कीरवत्=शुकवत् भी कह कर, ऊहापोह के बिना भी लोक में आप दिग्विजय रूप कौतुक को फैलावें। अर्थात् इसके द्वारा दिग्विजय रूप फल को प्राप्त करें। कथाओं में यह दिग्विजय रूप फल का हेतु है। भावार्थ है यहकि सत्यादिरूप से शब्दार्थ (नाम रूप) के निर्वचनों के खण्डन द्वारा सर्व वस्तु लोकादिविषयक अखण्ड=अनादि गर्वों=अभिमानों को निर्वचनभाव=सत्यस्वरूप से

निरुक्तियोग्य ब्रह्मभाव प्राप्त कराते हुए, अर्थात् लोकादिविषयक अहंकारादि को ब्रह्म परायण करते हुए यथोक्त मेरे कथनों को शुकदेव के समान कथन करके लोकविषयक शुकदेव तुल्य वैराग्यादिरूप दिग्विजय कौतुक का विस्तार करें ॥ ३ ॥

अथ कथायां वादिनो नियममेतादृशं मन्यन्ते "प्रमाणादयः सर्वतन्त्र-सिद्धान्ततया सिद्धाः पदार्थाः सन्तीति कथकाभ्यामभ्युपेयम्" ॥ १ ॥

नन्वद्वैतव्यवस्थापनं विजयो वा यत्फलद्वयमुक्तं तत् कथासाध्यं, कथायां च न वैतण्डिकस्य प्रवेशः, तस्याः प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमाधीनत्वात्, तस्य च प्रमाणाद्यनभ्युपगन्तृत्वात्, प्रमाणाद्यभ्युपगमे च नाद्वैतव्यवस्थापनं, न चाऽद्वैतलक्षणस्वपक्षरक्षणाधीनो विजयः इति प्रमाणाद्यभ्युपगमाधीनत्वं कथायाः खण्डयितुमुपक्रमते—"अथेति । अथेति मङ्गलम्, "ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ" इति स्मरणात् । कथायां कर्तव्यायां तत्पूर्वं 'प्रमाणादीनि सन्ति'–इति द्वाभ्यामपि वादिभ्यामवश्यमभ्युपगन्तव्यमिति भेदवादिनो मन्यन्ते ॥ १ ॥

विचारादि रूप श्रवणादि तथा दिग्विजयादि कथा[1] सत्सङ्गादि से सिद्ध होते हैं। और कथाआदि की सिद्धि गुरुशास्त्र प्रमाणादि से होती है, अतः शब्दार्थ के निर्वचन के खण्डन होने पर सत्य प्रमाणादि के अभाव से कथाओं के अभाव होने के कारण विचारादि नहीं सिद्ध हो सकते हैं, इत्यादि आशय से परमत का उल्लेखपूर्वक असत्य= अनिर्वचनीय प्रमाणादि द्वारा भी कथा की सिद्धि का वर्णन करते हैं—**'अथ'** इत्यादि ।

अथ शब्द उच्चारण और श्रवण मात्र से गुरु शिष्य के मङ्गलार्थक और आरम्भार्थक भी है। यहाँ से सत्यानात्मा के निषेध पूर्वक परमानन्द स्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म की सिद्धि=ज्ञान के लिए ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है। यहाँ न्याय भाष्यकारादि कथा में वादिप्रतिवादिसम्बन्धि इस वक्ष्यमाण रीति के नियम को मानते हैं कि—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम नामक चार प्रकार के सिद्धान्तों में से, सर्वतन्त्र सिद्धान्तरूप से सिद्ध जो प्रमाणादि पदार्थ हैं, वे सत्य हैं। इस प्रकार कथा=विचार करने वाले वादिप्रतिवादी को मानना चाहिये। अर्थात् प्रमाणादि को सत्य मानकर ही कथा करना चाहिये। भाव यह है कि (मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्) प्रमाण के अधीन प्रमेय वस्तु की सिद्धि होती है। और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि असाधारण धर्मरूप लक्षणों से होती है। अतः प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजनादि रूप पदार्थ सर्वतन्त्र=शास्त्र के सिद्धान्त=निर्णय से सिद्ध हैं। इनके बिना कथा आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। सर्वतन्त्र=शास्त्र से अविरुद्ध शास्त्र में निरूपित अर्थ को सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं, जैसे कि प्रमाणाधीन प्रमेय की सिद्धि है। और समान एक तन्त्र में सिद्ध परतन्त्र में असिद्ध अर्थ को प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहते हैं, जैसे कि मीमांसक के शब्द के नित्यत्व द्रव्यत्वादि हैं। और एक अर्थ की प्रमाण द्वारा सिद्धि से जो अन्यार्थ फलितार्थ रूप से सिद्ध होता है उसको अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं, जैसे कि ईश्वर में अनुमान द्वारा जगत् कर्तृत्व के साधन से सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वादि अधिकरण सिद्धान्त

1. वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा ।

से सिद्ध होते हैं। अन्य से स्वीकृत पदार्थ द्वारा स्वेष्ट के साधन को अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। यहाँ सर्वतन्त्र सिद्धान्तसिद्ध प्रमाणादि को सत्य मान करके ही कथा की प्रवृत्ति हो सकती है। अतः प्रमाणादि सत्य हैं। द्रव्य, गुण और कर्म सत्ता जाति वाले हैं। इन में समवाय सम्बन्ध से सत्ता जाति रहती है। अतः द्रव्यादि सत्य कहे जाते हैं। और सामान्य = जाति, विशेष तथा समवाय में सामानाधिकरण्य (स्वसमवायिसमवेतत्व) सम्बन्ध से सत्ता रहती है। इससे सामान्यादि भी सत्य कहे जाते हैं, इत्यादि न्याय भाष्यकारादि का कथन है ॥ १ ॥

तदपरे न क्षमन्ते तथा हि प्रमाणादीनां सत्त्वं यदभ्युपेयं कथकेन तत्कस्य हेतोः, (१) किं तदनभ्युपगच्छद्भ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां तदभ्युपगमसाहित्यनियतस्य वाग्व्यवहारस्य प्रवर्तयितुमशक्यत्वात्, (२) उत कथकाभ्यां प्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् (३) उत लोकसिद्धत्वात् (४) अथ वा तदनभ्युपगमस्य तत्त्वनिर्णयविजयफलातिप्रसञ्जकत्वात् ॥ २ ॥

तद् अपरेऽभेदवादिनो न सहन्ते इति, तत् इत्यवश्याभ्युपगन्तृत्वमर्थलभ्यं परामृशति। कथकेनेत्येकवचनं खाण्डनिकाभिप्रायेण, तदितस्य प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वसिद्धेः।

यो यः कथकः स प्रमाणाद्यभ्युपगन्ता, या या कथा सा प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृकर्तृका, यत्र वा कथकत्वं तत्र प्रमाणद्यभ्युपगमः, इति प्रथमविकल्पार्थः।

प्रमाणादीनामभ्युपफमः कथाकारणम्, इति द्वितीयविकल्पार्थः। "प्रमाणादीनामेव कथाकारणत्वं विकल्पितं न तु तदभ्युपगमस्यापि" इति केषाञ्चिदाक्षेपोऽसङ्गतः द्वितीयविकल्पदूषणावसरे प्रमाणाद्यभ्युपगमस्यैव कथाकारणत्वखण्डनात्।

लोकाः प्रमाणाद्यभ्युपगच्छन्तीति कथकाभ्यमभ्युपगन्तव्यम्? इति तृतीयविकल्पार्थः। अनतिप्रसक्ततत्त्वनिर्णयविजयफलाकाङ्क्षया कथकाभ्यां प्रमाणादिसत्त्वमवश्याभ्युपगन्तव्यमिति चतुर्थविकल्पार्थः ॥ २ ॥

उक्त प्रमाणादि के सत्त्व नियम स्वीकार को अपर = अद्वैतवादी नहीं स्वीकार करते हैं, वे अस्वीकार के प्रकार को इस प्रकार दर्शाते हैं कि प्रमाणादि के सत्यत्व को जो कथा करने वाले को मानना चाहिये सो किस हेतु=कारण से मानना चाहिए? (१) क्या उक्त नियम को नहीं मानने वाले वादी और प्रतिवादी, उस नियम के स्वीकार के साहित्य (सहचार) से नियत=व्याप्य, वाग्व्यवहार=कथा की प्रवृत्ति को नहीं कर सकते हैं? क्योंकि व्यापक के अभाव काल में व्याप्य का अभाव सिद्ध होता है। (२) अथवा व्याप्य-व्यापक भाव नहीं होने पर भी कथकों से प्रवृत्तियोग्य वाग्व्यवहार=कथा का हेतुरूप प्रमाणादि सत्त्व नियम का स्वीकार है? क्योंकि असत् कारण नहीं होता है। (३) अथवा कथा के हेतुरूप से लोक में सत्त्व नियम का स्वीकार प्रसिद्ध है? (४) अथवा उक्त प्रमाणादिसत्त्व नियम का अस्वीकार तत्त्वनिर्णय और विजयरूप कथाफल की अतिप्रसक्ति का हेतु है? असत् प्रमाणादि से नियत फल नहीं हो सकते, अतः प्रसक्ति रहित नियत फल के लिये प्रमाणादि के सत्यत्व स्वीकरणीय है ॥ २ ॥

उक्त सत्तानिमित्तक सत्यरूपता में तथा स्वरूप से सदा सर्वथा अबाधित सत्यरूपता में अनात्मस्वरूप कार्यकारण भाव विषयक कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। सर्वत्र मायिक संसार में सर्वाधिष्ठान ब्रह्म की ही सत्ता व्यवहार काल में प्रतीत होती है। उस प्रातीतिक या व्यावहारिक सत्त्व का स्वीकार भी कथारूप वाग्व्यवहार का हेतु व्यापक रूप से नहीं हो सकता है, क्योंकि असत्त्व रूप से स्वीकृत रज्जुसर्पादि विषयक भी बहुधा वाग्व्यवहार होता है, इत्यादि आशय से अद्वैतवादी कहता है कि—

न तावदाद्यः, तदनभ्युपगच्छतोऽपि चार्वाकमाध्यमिकादेर्वाग्विस्तराणां प्रतीयमानत्वात् तस्यैव वाऽनिष्पत्तौ भवत स्तन्निरासप्रयासानुपपत्तेः। सोऽयमपूर्वः प्रमाणादिसत्तानभ्युपगमात्मा वाक्स्तम्भनमन्त्रो भवताऽभ्यूहितो नूनं, यस्य प्रभावाद्भगवता सुरगुरुणा लोकायतकानि सूत्राणि न प्रणीतानि, तथागतेन वा मध्यमागमा नोपदिष्टाः, भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं नाभाषि ॥ ३ ॥

चार्वाकः—इति। यद्यपि चार्वाकस्य प्रत्यक्षाभ्युपगमोऽस्ति तथाप्यनुमानैकगम्यतत्प्रामाण्यस्यानुमानानभ्युपगमेऽनभ्युपगम इत्यभिप्रेत्य तद्वाग्व्यवहारे व्यभिचारो दर्शितः। अथवा यत्किञ्चित्प्रमाणाभ्युपगमः सकलप्रमाणाभ्युपगमो वा कथाव्यापकः? आद्ये माध्यमिककथायां व्यभिचारोऽन्त्ये चार्वाककथायाम्। यद्वा प्रमाणादीत्यादिपदेन तर्कादेः परिग्रहः, तथाच चार्वाकस्य प्रमाणाऽभ्युपगमेति तर्काभ्युपगमो नास्तीति व्यभिचारः। चार्वाकैकदेशी वा चार्वाकः।

ननु चार्वाकादेर्वाग्व्यवहार एव नास्ति कुत्र व्यभिचारः? इत्यत आह–तस्यैवेति। त्वद्दर्शने तदुक्तयुक्तिनिराकरणान्यथानुपपत्तिरेव तद्वाग्व्यवहारे प्रमाणमित्यर्थः। सोपहासमाह–सोयमिति। तथागतेन=बुद्धेन, मध्यमलक्षणा आगमा मध्यमागमा यदध्ययनान्माध्यमिक इत्युच्यते, भगवत्पादेन = शङ्कराचार्यपादेन, बादरायणो व्यासः, अत्र सर्वत्र त्वदुक्तव्याप्तेर्व्यभिचार इति भावः ॥ ३ ॥

उक्त चार विकल्पित पक्षों में आद्य=प्रथम पक्ष नहीं कहा जा सकता है, अर्थात् प्रमाणादि का सत्ताऽभ्युपगम का व्याप्य वाग्व्यवहार नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाणादि की सत्ता को न्याय सांख्य के अनुसार नहीं मानने वाले केवल प्रत्यक्षप्रमाणवादी चार्वाक और सर्वशून्यवादी माध्यमिकादि के वाग्व्यवहार के विस्तार सबसे प्रतीयमान=अनुभूयमान है। प्रत्यक्ष प्रमाण मानने पर भी सत्ता जाति से उसकी सत्ता को चार्वाक नहीं मानता है, न सांख्य के समान भूतभावी काल में भी प्रत्यक्षादि को स्वरूप से वर्तमान मानता है, और सर्वथा शून्य को ही सत्य मानकर माध्यमिक वाग्व्यवहार करता है। यदि प्रमाणादि को सत्य माने बिना चार्वाकादि के वाग्व्यवहार की ही अनिष्पत्ति=असिद्धि हो, तो नैयायिकादि के उसके निरास=खण्डन के प्रयास=यत्न की अनुपपत्ति=असिद्धि होगी। अतः प्रथमपक्ष अयुक्त है। क्योंकि खण्डन प्रयास ही उक्त वाग्व्यवहार में प्रमाण होता है। फिर सत्ता के अभ्युपगम को वाग्व्यवहार का व्यापक कहना उपहास का विषय है, इस आशय से उपहास रूप से कहा गया है कि प्रमाणादि की सत्ता के अनभ्युपगम=अस्वीकाररूप वाक्स्तम्भन=वाङ्निरोधक यह अपूर्व मन्त्र आपने अवश्य ऊहित=सिद्ध किया है जिसके प्रभाव=प्रताप से भगवान्

सुरगुरु = बृहस्पति ने लोकायत के सूत्रों का प्रणयन = रचना नहीं की है। और तथागत=बुद्ध ने सर्वशून्यता बोधक मध्यमागम का उपदेश नहीं किया है। और पूज्यपाद शङ्कराचार्य ने बादरायण रचित सूत्रों का भाष्य नहीं किया है। अर्थात् प्रमाणादि को सत्य नहीं मानकर भी लोकायत सूत्रादि के प्रणयनादि सिद्ध होने से प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम को वाग्व्यवहार के प्रति व्यापक मानना सर्वथा अनुचित है ॥ ३ ॥

प्रमाणाद्यनभ्युपगम्यापि प्रवर्तयन्तु नाम ते वाचोभङ्गीः, तास्तु साधनबाधनक्षमा न भवन्ति तावता इति ब्रूमः ? इति चेत् ।

न, प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं तदीयसाधनबाधनाक्षमतायां न नियामकं, किन्तु सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वमित्यवश्याभ्युपेयं भवता,

येनाभ्युपगम्यापि प्रमाणादीनि प्रवर्तिता मतान्तरानुसारिभिर्व्यवहारा अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वैर्मतान्तरव्यवहारिभिरपरैरतथाभूता इति कथ्यन्ते। यदि त्वस्मद्वचसि सद्वचनाभासलक्षणं न भवान् दर्शयितुमीष्टे, तदा 'ऽनभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार' इति शतकृत्वस्त्वयोच्यमानेऽपि नास्माकमादरः। अन्यथाभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तितोऽयं व्यवहार इत्येतावता भवदीयो व्यवहाराभास इत्यस्माभिरपि वक्तुं शक्यते एव ॥ ४ ॥

ननु चार्वाकादिव्यवहारो रथ्यापुरुषवाग्व्यवहारवदनुपादेय एव, प्रमाणाद्यभ्युपगमस्तु साधनबाधनक्षमवाग्व्यवहारव्यापकत्वेन मयोपन्यस्तस्तत्र च न व्यभिचारः? इत्याह—प्रमाणादीति। साधनबाधनयोः फलतः ऐक्येपि लोकप्रसिद्धिमनुरुध्य भेदेनोपन्यासः। एवमपि माध्यमिकादिवाग्व्यवहारे एव व्यभिचारस्तस्यापि साधनबाधनक्षमत्वात्। न च "माध्यमिकादिवाग्व्यवहारः साधनबाधनाक्षमः प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य कृतत्वात्, रथ्यापुरुषवाग्व्यवहारवत्" इत्यनुमानान्माध्यमिकादिवाग्व्यवहारस्य साधनबाधनाक्षमत्वसिद्धिः। तस्य सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वोपाधिकवलितत्वादित्याह—प्रमाणादीति। सद्वचनाभासः-स्फुटावभासो व्यभिचारादिस्तल्लक्षणं साध्याऽत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यादि, तद्योगित्वमित्यर्थः, तथाच-वाग्व्यवहारसाधनबाधनाक्षमत्वे साधनाभासत्वं दूषणाभासत्वं तन्त्रं; न तु प्रमाणाद्यनभ्युपगन्तृप्रणीतत्वमिति भावः। सद्वचनाभासं निग्रहस्थानं, तल्लक्षणं कथाङ्गतत्त्वज्ञानाभावलिङ्गं, तद्योगित्वमित्यन्ये ॥

प्रमाणाद्यनभ्युपगमस्य साधनाद्यक्षमत्वेऽप्रयोजकत्वमेव दर्शयितुमनभ्युपगमपूर्वकत्वसाधनासत्त्वेपि साधनाद्यक्षमत्वसाध्यसत्त्वमाह—येनेति। अन्यथा व्यापकव्यभिचारोपदर्शनमसङ्गतं स्यात्, नैयायिकमीमांसकयोः कथायां प्रमाणाद्यभ्युपगम्य प्रवर्तितायामपि साधनबाधनाक्षमत्वं तदेकतरेण व्यवस्थाप्यते तत्राभासत्वमेव तन्त्रं न तु प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वमिति न तुल्ययोगक्षेमत्वमपीत्यर्थः।

वैतण्डिकवाग्व्यवहारे पक्षे एव प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं साधनमस्ति, सद्वचनाभासलक्षणयोगित्वमुपाधिर्नास्तीत्युपाधेः साधनाव्यापकत्वमाह—यदि त्विति। यथा प्रमाणाद्यभ्युपगमपूर्वकत्वमतन्त्रं साधनबाधनक्षमत्वे तथा प्रमाणाद्यनभ्युपगमपूर्वकत्वमप्यतन्त्रमेवेत्यप्रयोजकत्वमेवानिष्टोपदर्शनमुखेन द्रढयति—अन्यथेति ॥ ४ ॥

यदि प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगमवादी नैयायिकादि कहें कि चार्वाकमाध्यमिकादि प्रमाणादि के सत्त्व (सत्ता) को नहीं मान कर भी (वाचोभङ्गीः) वाग्व्यवहार के प्रकारों को भले ही प्रवृत्त करें अर्थात् बहुधा वाग्व्यवहार भले ही करें, परन्तु प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम के बिना वे वाग्व्यवहार स्वपक्ष साधन और परपक्ष निषेध के लिए समर्थ नहीं होते हैं, अर्थात् कथागत विजयादि फल के हेतु नहीं होते हैं, तो यह नैयायिकादि का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणादि की सत्ता के अनभ्युपगम पूर्वक कथा की प्रवृत्ति साधन बाधन की अक्षमता=अयोग्यता का=हेतु नहीं है, किन्तु सद्वचनाभास लक्षण से युक्तत्व ही साधन बाधन की अक्षमता का हेतु है, अर्थात् व्यभिचारादि दोषयुक्त हेतु का कथन साध्य हेतु आदि की असिद्धि युक्त वाग्व्यवहार साधन बाधन में असमर्थ होता है, यह नियम नैयायिकादि को भी अवश्य मन्तव्य है। क्योंकि प्रमाणादि के सत्त्व को मानकर भी जहाँ नैयायिक और मीमांसकों की परस्पर कथा (वाग्व्यवहार) प्रवृत्त होती है, वहाँ सद्वचनाभास लक्षणयोगित्व (हेत्वाभासादियुक्तत्व) से ही एक मतवादी दूसरे मतवादी के वाग्व्यवहारों को अयथार्थ=साधन बाधन में असमर्थ कहते हैं। और यदि आप हमारे वचन में सद्वचनभास लक्षण (हेत्वाभासत्त्वयुक्त वचन लक्षण) को दर्शाने के लिए समर्थ नहीं हो, तो प्रमाणादि को नहीं मानकर आपने वाग्व्यवहार को प्रवृत्त किया है, इस प्रकार सौ बार भी आपके कहने पर आप के वचन में मेरा आदर नहीं हो सकता है। यदि सद्वचनाभासता के प्रदर्शन के बिना, प्रमाणादि के सत्त्वानभ्युदपगममात्र से आप मेरे वचनों को व्यवहारभास, साधनबाधनासमर्थ कहोगे, तो हम भी कह सकते हैं कि आपने प्रमाणादि के सत्त्व को मानकर वाग्व्यवहार आरम्भ किया है। अतः यह आप का व्यवहार व्यवहारभास=असत् कथा है ॥४॥

लोक में सब व्यवहार प्रमाणादि के अधीन होते हैं। कथा में भी स्वपक्ष साधन परपक्ष दूषणादि प्रमाणादि से ही हो सकते हैं। अतः उनके सत्त्व को माने बिना कथा की प्रवृत्ति का असम्भव है इत्यादि आशय से अभ्युपगमवादी का कहना है कि—

ननु यदि प्रमाणादीनि न सन्ति तदा व्यवहार एव धर्मो कथं सिद्ध्येत्, दूषणादिव्यवस्था वा कथं स्यात्, सर्वविधिनिषेधानां प्रमाणाधीनत्वात्।

मैवम्—न ब्रूमो वयं न सन्ति प्रमाणादीनीति स्वीकृत्य कथारभ्येति किं नाम सन्ति न सन्ति वा प्रमाणादीनीत्यस्यां चिन्तायामुदासीनैः यथा स्वीकृत्य तानि भवता व्यवह्रियते तथा व्यवहारिभिरेव कथा प्रवर्त्यतामिति। अन्यथा न सन्ति प्रमाणादीनीति मतमस्माकमारोप्य यदिदं भवता दूषणमुक्तं तदपि न वक्तुं शक्यम् ॥ ५ ॥

ननु प्रमाणादीनि न सन्तीत्यभिमानिनस्तव प्रमाणानभ्युपगम एव चेत्तदा प्रमाणमन्तरेण न कथासिद्धिर्न वा साधनदूषणनिष्ठा स्यादित्याह—ननु यदीति।

कथापूर्वकाले प्रमाणाभ्युपगस्याऽप्रयोजकत्वमाचक्ष्महे न तु प्रमाणादीनि न सन्तीति तदानीमेव वदामो येनेवं देश्यं स्यादित्याह—न ब्रम इति। अन्यथेति। यदि प्रमाणाद्यभ्युपगमन्तरेण कथाप्रवृत्तिर्न स्यात्तदेत्यर्थः। आरोप्येति। प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथाप्रवृत्तावतन्त्र-

मित्यस्माकं मतं, प्रमागादिकं विनापि कथाप्रवृत्तिरिति तत्र तवारोप इत्यर्थः। दूषण-
मिति ॥ ५ ॥

यदि प्रमाणादि असत् हैं=नहीं हैं, तो दूषणभूषण धर्म का आश्रय रूप धर्मी व्यवहार=(कथा) ही कैसे सिद्ध होगा ? अथवा प्रमाणादि के बिना दूषण भूषणादि की व्यवस्था कैसे होगी ? क्योंकि प्रमाणों से स्वपक्ष भूषण=विधान होता है, और परपक्ष का दूषण=निषेध होता है, अतः सब विधि और निषेधों को प्रमाणाधीनत्व प्रसिद्ध है। यहाँ प्रमाणादि के सत्त्वानभ्युपगमवादी का कहना है कि यह आप का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हम यह नहीं कहते हैं कि प्रमाणादि नहीं हैं। व्यावहारिक प्रमाणादि हैं ही। परन्तु प्रमाणादि सत् हैं या नहीं ? इस चिन्ता में उदासीन (कथकों)=के साथ भी कथा प्रवृत्त हो सकती है। भाव यह है कि प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम कथा के हेतु नहीं है, यह हम कहते हैं, प्रमाणादि का निषेध नहीं करते हैं, जिससे प्रमाणादि के अभाव से दूषणभूषणादि का असम्भव हो। अतः प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम बिना भी कथा की प्रवृत्ति हो सकने के कारण सत्त्वाभ्युपगम व्यर्थ है। यदि प्रमाणादि सत्त्वाभ्युपगम के बिना कथा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती हो, तो प्रमाणादि नहीं हैं, ऐसा मेरे मत का आरोप करके जो यह आप से दूषण कहा गया है, सो भी नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम कथा का अंग नहीं है, यह हमारा मत है। यहाँ प्रमाणादि के बिना भी कथा का आरोप करके प्रमाणादि के असत्त्व रहते दूषणभूषण का असम्भव रूप दोष कहा गया है, वह सत्त्वादि के अभ्युपगमरहित व्यवहार ही में कहा गया है, अतः आपके मतानुसार वह कथन अशक्य है ॥ ५ ॥

कीदृशीं मर्यादामालम्ब्य प्रवर्तितायां कथायामिदं दूषणमुक्तं ? किं प्रमाणादीनां सत्त्वमभ्युपगम्योभाभ्यां वादिभ्यां प्रवर्तितायां कथायाम् ? उतासत्त्वमभ्युपेत्य ? अथैकेन सत्त्वमपरेण चासत्त्वमङ्गीकृत्य ? नाद्यः, अभ्युपगतप्रमाणादिसत्त्वं प्रत्येतादृशपर्यनुयोगानवकाशात्। द्वितीये च स्वतोऽप्यापत्तेः। न तृतीयः, तथैव कथान्तरस्यापि प्रसक्तेः उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथानियमस्य। अन्यथा स्वाभिप्रायमालम्ब्य तेनापि त्वद्वचसि यत्किञ्चिद्वागात्मनि दूषणेऽभिहिते कस्य जयो व्यवतिष्ठतां ? प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुरेव यावन्नियमभरयन्त्रणा महती स्यात् ॥ ६ ॥

प्रमाणाद्यसत्त्वेपि तदधीनदूषणादिव्यवहारसत्त्वमित्यभ्युपगमे व्याघातलक्षणं दूषणमित्यर्थः। दूषणाभिधानस्याशक्यत्वं व्युत्पादयति—कीदृशीमिति। कथायामेव दूषणाभिधानध्रौव्यादयं विकल्पावसरः। एतादृशेति। यदि प्रमाणादीनि न सन्ति तदा व्यवहार एव धर्मी न सिद्ध्येदित्येतादृशपर्यनुयोगानवकाशादित्यर्थः। स्वतोऽपीति। त्वमपि प्रमाणादिसत्त्वमनङ्गीकृत्य प्रवृत्त इति तन्मूलको व्याघातस्तवापि तुल्य इत्यर्थः। तथैवेति। प्रकृतनिग्रहाधिकरणकथाप्रवृत्तिवत् कथान्तरप्रवृत्तिरपि न दुर्लभेत्यर्थः। नन्वेतावता कथाप्रवृत्तिः समाहिता व्याघातस्तु न समाहितः इत्यत आह—उभयेति। प्रमाणादिकमन्तरेण व्यवहारासिद्धिलक्षणो यो व्याघातस्त्वया दत्तः स मया नेष्यते इत्यर्थः। ननु त्वदनिष्टोप्ययं दोष एव, न हीष्टत्वमपि दोषत्वे तन्त्रमित्यत आह—अन्यथेति। वागात्मनि-वाङ्मात्ररूपे, त्वयापादितोपि व्याघातो वाङ्मात्रमेवेति भावः। किञ्च यद्युभयानु-

मतोपि दोषस्तदा प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुस्तव प्रामाणिकदोषानुसरणव्यग्रता स्यादुद्भावितदोषस्य प्रामाणिकत्वव्यवस्थापनप्रयासश्च भवेदस्माकं तु नेयं व्यापृतिरित्याह—प्रामाणाद्यभ्युपगन्तुरेवेति ॥ ६ ॥

उक्त कथन की अशक्यता का ही प्रदर्शन कराया गया है कि—कथा में ही दूषण का कथन किया जाता है। यहाँ कैसी मर्यादा = नियम का आलम्बन = स्वीकार करके प्रवर्तित = आरब्ध कथा में आप से यह दूषण दिया गया है कि यदि प्रमाणादि नहीं हैं, तो व्यवहार = कथा रूप धर्मी नहीं सिद्ध होगा। क्या प्रमाणादि के सत्त्व को मान कर दोनों वादी से प्रवर्तित कथा में यह दूषण कहा गया है ? अथवा प्रमाणादि के असत्त्व को मानकर दोनों वादी से प्रवर्तित कथा में कहा गया है ? या एक वादी से सत्त्व मानकर और अन्य से असत्त्व मानकर प्रवर्तित कथा में उक्त दूषण कहा गया है ? यहाँ प्रमाणादि सत्त्व मानकर दो से प्रवर्तित कथा में तो प्रमाणादि सत्त्व को मानने वालों के प्रति ऐसा अवसर नहीं है। प्रमाणादि के सत्त्व को मानने वालों के प्रति, यदि प्रमाणादि नहीं हैं, तो कथा नहीं सिद्ध होगी, यह कहना नहीं बन सकता है। और दूसरे कल्प में अर्थात् प्रमाणादि के असत्त्व स्वीकार पूर्वक दो से प्रवर्तित कथा में उक्त दोष के कहने पर और उस कथा में स्वयं ही प्रतिवादी रहने पर स्वयं भी उक्त दोष का भागी होना पड़ेगा। कथा में वादी प्रतिवादी को ही दोष गुणाभिधान का नियम रहता है। अतः स्वयं प्रतिपक्षी हुए बिना दोषभिधान नहीं हो सकता है। अतः स्वतः दोषापत्ति होती है, क्योंकि प्रतिवादी स्वयं भी प्रमाणादि के असत्त्व को मानकर कथा में प्रवृत्त हुआ है। एक वादी से प्रमाणादिसत्त्व और अन्य वादी से प्रमाणादि असत्त्व मानकर प्रवर्तित कथा में उक्त दूषण का कथन नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रतिवादी से प्रमाणादि सत्त्व स्वीकृति के बिना जैसे इस एक कथा की प्रवृत्ति हुई है, इसी प्रकार अन्य कथा की भी हो सकती है। यदि कहा जाय कि प्रमाणादि की स्वीकृति के बिना कथा में प्रवृत्ति ही असम्भव है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणादि के बिना कथा की प्रवृत्ति का असम्भव है, परन्तु उसके सत्त्वादि की स्वीकृति के बिना असम्भव (व्याघात) नहीं है, और न हम मानते ही हैं। कथा का नियम वादी तथा प्रतिवादी दोनों के अभ्युपगम के अनुसार होता है, अतः प्रमाणादि के सत्त्वानभ्युपगमवादी के अनुसार भी कथा का नियम हो सकता है। उभय मतानुसार नियम स्वीकार के बिना दोषाभिधान करने पर प्रतिवादी भी अपने अभिप्राय को लेकर वादी के निरर्थक वचन में दूषणाभिधान कर सकता है अर्थात् प्रमाणादि सत्त्वाभिधान को निरर्थक कह सकता है। फिर किसकी जय और किसकी पराजय व्यवस्थित होगी ? विचार दृष्टि से देखा जाय तो प्रमाणादि के सत्त्व को मानने वाले को ही प्रमाणादि के सत्त्वार्थक सब नियमभार की महती पीडा उपस्थित होती है। प्रमाणादि के सत्त्व के समान संख्या आदि विषयक भी विवाद उपस्थित होगा ॥ ६ ॥

तस्मात्प्रमाणादिसत्त्वासत्त्वाभ्युपगमौदासीन्येन व्यवहारनियमेन समयं बध्वा प्रवर्तितायां कथायां भवतेदं दूषणमुक्तमित्युचितमेव तथा सति

स्यात्। योऽयं भवान्स्वाभिप्रायमपि नावधारयितुं शक्नोति दूरतस्तस्मिन्पराभिसन्धानावधारणप्रत्याशा ॥ ७ ॥

कथातः पूर्वं प्रमाणाद्यभ्युपगमनियमोभयवाद्यननुमतदोषोद्भावनयोर-कर्त्तव्यतामुपसंहरति—तस्मादिति । उचितमेव तथा सति स्यादित्यत्र यद्युभयाभ्युपगतं स्यादिति शेषः। उपसंहृत्य परस्याहृदयज्ञत्वमुपपादयति—योऽयमिति। प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्त्तितायां कथायां व्याघातोऽयं दत्तः प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य कथायामप्रवृत्तिरिति चाभिधत्से, इति स्वाभिप्रायानवधारणम्, कथातः पूर्वं प्रमाणाद्यभ्युपगमो न तन्त्रमिति मयोक्तं प्रमाणादीनि न सन्तीति मदुक्तत्वेन त्वया गृहीतमिति पराभिसन्धानानवधारणम् इयमस्माकं पैतृकी व्याख्या। व्याख्यान्तरं तु—ननु मदीयस्तत्रापि प्रमाणाद्यभ्युपगमोऽस्त्येवेति प्रमाणाद्यभ्युपगमपूर्वकत्वं कथायां न व्यभिचरतीत्यत आह—उभयेति। तथा च नान्यतराभ्युपगमोपि तन्त्रं, न चान्यतरसिद्धदोषाभिधानमुचितमित्यर्थः। कथातः पूर्वमवश्यं समयबन्धः स्यात् अन्यथा तवेदमनिष्टं स्यादित्याह—अन्यथेति। उभयानभ्युपगतदूषणभावस्यापि यदि दूषणत्वं तदा जयपराजयादिव्यवस्था न स्यादित्यर्थः। प्रमाणादिसत्तानभ्युपगन्ता हि प्रमाणाभासेनाप्यभिदध्यात् तदभ्युपगन्ता हि प्रमाणत्वेन निश्चितेनैवेति तस्य महती यन्त्रणेत्याह—प्रमाणेति। 'एव'='यावत्'इति निपातद्वयमवधारणे, उचितमेवेति सोपहासम्। तदिदं व्याख्यानमसत्सन्दर्भमिव ॥ ७ ॥

उक्त हेतु से प्रमाणादि के सत्त्व या असत्त्व के स्वीकार के विषय में उपेक्षापूर्वक वाग्व्यवहार के नियम द्वारा नियम निश्चित् करके आरब्ध कथा में यदि उक्त दूषण कहा गया है, तो ऐसा होने पर यह दूषणाभिधान उचित होगा। परन्तु इसी कथा के समान अन्य कथा भी प्रमाणादि की सत्त्वाभ्युपगम बिना ही प्रवृत्ति होगी। अतः प्रमाणादि के सत्त्व का अभ्युपगम कहीं भी कथा का अंग नहीं होगा। यह आपके ही वचनाऽभिप्राय से सिद्ध होता है। परन्तु यदि आप अपने अभिप्राय का भी नहीं निश्चय कर सकते हैं, तब आप में अन्य के अभिप्राय के अवधारण की प्रत्याशा दूरापास्त है। अर्थात् प्रमाणादि की सत्ता के अभ्युपगमरहित प्रवर्तित कथा में व्याघातरूप दोष आप देते हैं, और सत्त्व अभ्युपगम रहित की कथा में अप्रवृत्ति भी कहते हैं। अतः स्वाभिप्रायानवबोध सिद्ध होता है। और प्रमाणादि की सत्ता को नहीं मानने वाला प्रमाणाभास से भी कथा कर सकता है। तथा कथा से पूर्व प्रमाणादि के सत्त्व का अभ्युपगम कथा का हेतु नहीं है, या प्रामाणादि नहीं हैं, इस प्रकार प्रतिवादी के कथन बिना उसकी उक्तिरूप से समझना, पराभिसंधान का अनवधारण रूप है। क्योंकि प्रतिवादी सत्वासत्व के अभ्युपगम के विषय में उदासीन होकर नियम बन्धन को कथा का हेतु मानता है, प्रमाणादि का निषेध नहीं करता है इत्यादि ॥ ७ ॥

अथ वादीकृत्य दुर्वैतण्डिकं तस्मिन्नुपाधौ बाधोऽभिधीयते इत्येव नेष्यते, शिष्यादयस्तु तस्य कथानधिकारं ज्ञाप्यन्ते, अत एव भाष्यकारः "स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते" इत्याह स्म न तु प्रतिपद्यसे इति।

मैवम्-शिष्यादीन्प्रत्यपि 'चार्वाकादेर्दोषोयमि'त्येवाभिधातव्यम्, कथं च तथा स्यात्, तस्य कथाप्रवेशनाऽप्रवेशनयोस्तद्बाधाक्षमत्वात् कथायामेव हि निग्रहः ॥ ८ ॥

ननु मया त्वयि व्याघातो नोक्तो येन तदनुरोधात्कथाऽभ्युपगमः, सा च कथा प्रमाणाद्यभ्युपगममन्तरेणैव प्रवृत्ता स्यादपि तु शिष्या एवं ज्ञाप्यन्ते यद्वैतण्डिकः कथानधिकारीत्याशङ्कते—"अथे"ति। यदि वैतण्डिकस्य जयाद्युद्देश्यं, तदा तदनुरोधात् प्रमाणाद्यभ्युपगन्तृत्वमपि, अथ किञ्चिदनुद्दिश्यैव कथायां प्रवर्तते तदोन्मत्त इवोपेक्षणीय इति शिष्यशिक्षा 'न तु प्रतिपद्यसे' इत्युपलक्षणं न तु त्वं प्रयोजनमनुयुक्त इत्यपि द्रष्टव्यम्। वादिनि सम्बोध्ये मध्यमपुरुषप्रयोग उचित इति भावः। शिष्योपि हि वैतण्डिकस्यायं दोष इति बोधनीयो, दोषश्च कथायामेवेति सा कथा प्रमाणाद्यभ्युपगममन्तरेणैवेति स्वीकार्य्यमित्याह—"शिष्यादीन्" इति। प्रयोजनसत्ता न प्रवर्त्तिका किन्तु तज्ज्ञानं, तच्च वैतण्डिकस्यापीति न तस्य कथानधिकारोऽपीति हृदयम्। "कथायामेव" इति अखण्डिताहङ्कारेण पराहङ्कारखण्डनस्य कथाकारणसम्यग्ज्ञानाभावस्य वा निग्रहत्वादिति भावः॥ ८॥

यदि प्रमाणादि की सत्ताऽभ्युपगमवादी कहे कि सत्ताऽभ्युपगम के बिना प्रवर्तित किसी कथा में किसी दुर्वैतण्डिक (सत्तानभ्युपगन्ता) को वादीस्वीकार करके, और उस कथारूप उपाधि = वाद के सिद्ध होने पर उसमें मैंने यह असम्भव=व्याघातरूप बाध नहीं कहा है कि जिससे प्रमाणादि की सत्ता के अभ्युपमम बिना भी कथा की सिद्धि हो सके, किन्तु शिष्य को समझाया गया है, कि उस दुर्वैतण्डिक को कथा में अधिकार नहीं है। अत एव न्यायभाष्यकार ने कहा है कि—यदि वह वैतण्डिक कथा का प्रयोजन पूछने पर प्रयोजन को स्वीकार करता है, तो वही उसका सिद्धान्त हो जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि शिष्यादि के प्रति उन्होंने कहा है, ऐसा नहीं कहा है कि प्रयोजन पूछने पर यदि मानते हो इत्यादि। प्रतिवादी के प्रति कहना होता तो (यदि प्रतिपद्यसे, ऐसा कहा जाता)। इस प्रकार भी प्रमाणादि के सत्त्ववादी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शिष्यादि के प्रति भी यही कहा जा सकता है कि प्रमाणादि को नहीं मानने वाले चार्वाकादि को बाधरूप यह दोष है। परन्तु शिष्यादि द्वारा भी चार्वाकादि के प्रति दोष का कथन कैसे हो सकता है? क्योंकि कथा में ही निग्रह = दोषाभिधान होता है। यहाँ सत्ताऽभ्युपगम के बिना चार्वाकादि के कथा में प्रवेश हो जाने पर यह बाध दोष नहीं कहा जा सकता है। और अप्रवेश काल में भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रवेश के बिना दोष गुण का कथन नहीं हो सकता है, और प्रवेश होने पर सत्त्वाभ्युपगम के बिना कथा की प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है॥ ८॥

प्रमाणादि सत्ताभ्युपगम का व्याप्य वाग्व्यवहार (कथा) प्रमाणादि सत्ताऽभ्युपगम के बिना नहीं हो सकता, इस प्रथम विकल्प का खण्डन करके, प्रमाणादि की की सत्ता के अभ्युपगम को वाग्व्यवहार के हेतुत्व रूप द्वितीय विकल्प का खण्डन किया जाता है कि—

नापि द्वितीयः, तथाहि स्यादप्येवं यदि कथकप्रवर्तनीयवाग्व्यवहारं प्रति प्रमाणादीनां हेतुता तत्सत्त्वानभ्युपगमे निवर्तेत, न त्वेवं सम्भवति तथा सति तत्सत्त्वानभ्युपगन्तॄणां वाग्व्यवहारस्वरूपमेव न निष्पद्येत हेत्वनुपपत्तेः, उक्तश्चायमर्थो यन्माध्यमिकादिवाग्व्यवहाराणां स्वरूपापलापो न शक्यते इति॥ ९॥

प्रमाणाद्यभ्युपगमो वाग्व्यवहारहेतुः इति, द्वितीयं पक्षं-निराचष्टे-नापि इति। वाग्व्यवहारं प्रति प्रमाणादीनां हेतुत्वं सम्भाव्येतापि न त्वभ्युपगमस्यापि,माध्यमिकादिवाग्व्यवहारे

व्यभिचारादित्यर्थः। ननु प्रमाणादीनां हेतुत्वं यदि मनुषे तदा तदभ्युपगमस्यापि हेतुत्वं मंस्यसे, यतो नियतपूर्वसत्त्वं त्वयाऽवश्याभ्युपेयमित्यवर्जनीयसिद्ध एव प्रमाणाद्यभ्युपगम इति शङ्कते=अथ इति। यद्यदा सत्तया ज्ञायते तत्तदाऽभ्युपगम्यते इति व्याप्तेरुभयसिद्धत्वादिति भावः। प्रमाणादीनि सन्ति हेतुत्वात् ब्रह्मवत्, प्रमाणादीन्यभ्युपगमविषयः सत्त्वात् ब्रह्मवत्, इति यस्यां कथायां त्वया साधनीयं तद्वदेव कथान्तरमपि स्यात्, अथ सापि प्रमाणाद्यभ्युपगमादेव प्रवृत्ता तदा तस्यां प्रमाणाद्यभ्युपगमहेतुत्वसाधनानर्थक्यम्, अथ तस्यामेव कथायां प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य हेतुत्वं प्रसाध्य तत्कथाप्रवृत्तिस्तदाऽन्योन्याश्रय इत्याह—कयापि इति। अग्रे वक्ष्यमाणयेत्यर्थः। नियमस्थितिः—समयबन्धः ॥ ९ ॥

प्रमाणादि की सत्ता का अभ्युपगम वाग्व्यवहार का हेतु है। अतः 'कथक को सत्ता का अभ्युपगम प्रथम करना चाहिये' यह द्वितीय कल्प भी ठीक नहीं है। यह तब ठीक होता यदि वादी प्रतिवादियों द्वारा प्रवर्तनीय कथा के प्रति जो प्रमाणादि की हेतुता है, सो उनकी सत्ता के अनभ्युपगम से निवृत्त हो जाती और अभ्युपगम से हेतुता स्थिर रहती। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि सत्त्व के अनभ्युपगम से प्रमाणादि की हेतुता निवृत्त हो जाय, क्योंकि ऐसा होने पर = सत्त्वानभ्युपगम मात्र से प्रमाणादिगत वाग्व्यवहार की हेतुता के निवृत्त होने पर तो प्रमाणादि की सत्ता को नहीं मानने वालों के वाग्व्यवहार=कथा का स्वरूप ही, हेतु की अनुपपत्ति से नहीं सिद्ध होगा। परन्तु बात ऐसी नहीं है। और यह प्रथम कहा गया है कि प्रमाणादि के सत्त्व को नहीं मानने वाले माध्यमिकादि के वाग्व्यवहार के स्वरूप का अपलाप=नहीं किया जा सकता है। अतः सत्ता का अभ्युपगम वाग्व्यवहार का हेतु नहीं है। और सत्त्व के अनभ्युपगम से हेतुता निवृत्त नहीं होती है। अतः सत्त्वाभ्युपगम निरर्थक है ॥ ९ ॥

सत्ता अभ्युपगम की सार्थकता के लिए द्वितीय कल्प के तात्पर्यविशेष का वर्णन है कि—

अथ मन्यसे कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं, सत्त्वाच्चाभ्युपगमो, यत्सत्तदभ्युपगम्यते इति स्थितेरिति।

मैवम् कयापि नियमस्थित्या प्रवृत्तायां कथायां कथकवाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं, सत्त्वाच्चाभ्युपगमो भवता प्रसाध्यः ॥ १० ॥

यदि यह मानते हो कि प्रमाणादि की वाग्व्यवहार के प्रति हेतुता को वादी प्रतिवादी दोनों अवश्य मानते हैं। और जो हेतु होता है, वह कार्य से अवश्य पूर्ववृत्ति सत्ता वाला होता है। अतः हेतुत्व से ही प्रमाणादि में ब्रह्म के समान सत्त्व की सिद्धि होती है और सत्त्व होने से उसका अभ्युपगम भी सिद्ध होता है, क्योंकि जो सत् होता है, उसका अभ्युपगम किया जाता है, ऐसी व्याप्ति है। जैसे ब्रह्म का सत्त्व माना जाता है, वैसे ही प्रमाणादि के सत्त्व का अभ्युपगम कर्तव्य है। इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि—यह तात्पर्य वर्णन भी ठीक नहीं है। क्योंकि किसी नियम की स्थापना द्वारा प्रवृत्त कथा में ही, कथक वाग्व्यवहार के प्रति हेतुता के कारण प्रमाणादि के सत्त्व को, और सत्त्व से सत्त्व के अभ्युपगम को आप प्रसाधन कर सकेंगे। अतः उस नियम स्थिति से ही कथान्तर की भी प्रवृत्ति हो सकती है। अतः प्रमाणादि में ब्रह्मतुल्य सत्त्वाभ्युपगम व्यर्थ है ॥ १० ॥

उक्त व्यर्थता को दर्शाते हुए, नियमस्थिति से ही कथा की प्रवृत्ति को दर्शाया गया है कि—

कथातः पूर्वं तत्त्वावधारणं वा परपराजयं वाऽभिलषद्भ्यां कथकाभ्यां यावता विना तदभिलषितं न पर्यवस्यति तावदनुरोद्धव्यं, तच्च व्यवहार-नियमसमयबन्धादेव द्वाभ्यामपि ताभ्यां सम्भाव्यते इति व्यवहारनियमस-मयमेव बध्नीतः ॥ ११ ॥

ननु प्रमाणाद्यभ्युपगमवत्समयबन्धोपि कथायामतन्त्रमेवेत्यत आह—कथातः पूर्व-मिति। ननु प्रमायादिसत्तापि तथैवानुरुद्ध्यतामित्यत आह=तच्चेति। समयबन्धस्यावश्य-कत्वात् तन्मात्रमनुरोध्यं नतु प्रमाणाद्यभ्युपगमोपीत्यर्थः ॥ ११ ॥

तत्त्व का अवधारण अथवा वादी की पराजय की इच्छा वाले कथकों का वह अभि-लषित=तत्त्वावधारण या परपराजय जितने साधनों के बिना नहीं सिद्ध होते हैं, उतने साधनों का कथा से पूर्व अस्तित्व मानना आवश्यक है। वह तत्त्व निर्णय या परपराजय नियमके संकेत बन्धन से ही वादी और प्रतिवादी द्वारा निश्चय किया जाता है। अतः वे दोनोंव्यवहार नियम के समय को ही मानते हैं। निरर्थक सत्ताभ्युपगम को नहीं स्वीकार करते हैं ॥ ११ ॥

स च 'प्रमाणेन तर्केण च व्यवहर्तव्यं वादिना, प्रतिवादिनाऽपि कथाङ्गतत्वज्ञानविपर्य्ययलिङ्गप्रतिज्ञाहान्याद्यन्यतमनिग्रहस्थानं तस्य दर्श-नीयं, तद्व्युत्पादने प्रथमस्य भङ्गो व्यवहर्त्तव्य, अन्यथा तु द्वितीयस्यैव, तादृशेतरौ च जेतृतया व्यवहर्त्तव्यौ, प्रमाणिकः पक्षस्तत्त्वतया व्यवहर्त्तव्यः' इत्यादिरूपः ॥ १२ ॥

अनुरोध्यं समयबन्धं दर्शयति–स चेति। कथाङ्गतत्वज्ञानविपर्ययोऽज्ञानमसम्यग्ज्ञानं वा। कथाव्यवस्थामुक्त्वा फलव्यवस्थामाह–तद्व्युत्पादने इति। उद्भावितनिग्रहस्थानव्यव-स्थापने प्रथमस्य भङ्गः, तदव्यवस्थापने निरनुयोज्यानुयोगात् द्वितीयस्यैव भङ्ग इत्यर्थः। तादृशेतराविति। समर्थितनिग्रहाशक्यसमर्थननिग्रहभङ्गप्रयोजकरूपरहिताविस्यर्थः [१]। जल्पे वितण्डायां च फलव्यवस्थामभिधाय वादे तामाह—प्रामाणिक इति। व्यवहारश्च वस्तुसत्त्वं विनापीति भावः ॥ १२ ॥

उक्त स्वीकार्य समय बन्धन को दर्शाया गया है कि—

जल्प और वितण्डा रूप कथा में उस समय बन्ध का स्वरूप निम्न प्रकार सेसमझना चाहिए। वादी को प्रमाण और तर्क = युक्ति द्वारा व्यवहार=कथा करना चाहिये। और प्रतिवादी को भी उस वादी के व्यवहार=वाक्य में कथा के अङ्गरूप तत्त्व ज्ञान के विपर्यय-रूप अज्ञान और भ्रम का प्रदर्शनरूप निग्रह स्थान (कथानधिकार) का प्रदर्शन कराना चाहिए। अर्थात् वादी के वाक्य को अज्ञान भ्रम मूलक ठहराना चाहिये, और लिङ्ग= हेतु प्रतिज्ञा आदि की हानि=असिद्धि आदि रूप अन्यतम=कोई निग्रहस्थान को वादी के प्रति प्रदर्शन करना चाहिये। यहाँ प्रदर्शित निग्रह स्थान को प्रमाण और तर्क से प्रति-वादी द्वारा प्रसाधन रूप व्युत्पादन करने पर वादी की पराजय होगा। और प्रदर्शित निग्रह स्थान के व्युत्पादन नहीं कर सकने पर प्रतिवादी रूप द्वितीय वक्ता की ही पराजय

कही जायगी। और उनसे अन्य अर्थात् कथा में निग्रह स्थान का व्युत्पादन करने वाले व्यक्ति विजेता कहाने योग्य हैं। कहीं व्युत्पादन के अभाव होने पर पूर्व वादी विजेता कहाते हैं। और वाद कथा में प्रामाणिक पक्ष यथार्थ रूप से व्यवहार के योग्य होगा, इत्यादि स्वरूप वाला वह समय बन्ध होता है, इसीसे कथा की प्रवृत्ति होती है। अतः प्रमाणादि का सत्त्वाभ्युपगम कथा में व्यर्थ है ॥ १२ ॥

अत एव व्यवहारनियमसमयबन्धेपि हेतुर्वक्तव्यः तथाच सोपि हेतुः कथायां प्रवृत्तायामभिधातुं युक्त' इति प्रमाणत्त्वाभ्युपगमहेत्वभिधानवत् प्रत्यवस्थानमनवकाशम्, द्वाभ्यामपि वादिभ्यां विचारप्रवृत्त्याभिलष्यमाणतत्त्वव्यवस्थाजयमूलत्वेन व्यवहारनियतस्य स्वेच्छयैव परिगृहीतत्वात् ॥ १३ ॥

ननु समयबन्धस्यापि कथाहेतुत्वे विप्रतिपन्नः कथायामेव प्रबोध्य इति तत्कथावत् कथान्तरमपि स्यादित्यत आह–अत एवेति। अत एवेत्यस्यातिदेश्यमाह—द्वाभ्यामपीति। यद्यपि समयबन्धस्येच्छापरिगृहीतत्वे विप्रतिपन्नः प्रबोध्यते इत्यत्रापि दोषस्तदवस्थ एव तथापि समयबन्ध-मात्रेण कथाप्रवृत्तौ प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य कथाङ्गत्वकल्पना गौरावपराहतेति भावः ॥ १३ ॥

'द्वाभ्यामपि', इत्यादि वक्ष्यमाण और उक्त हेतु से, यहाँ इस पूर्व पक्ष का अवकाश नहीं है कि जैसे प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम सम्बन्धी कथा हेतुत्व को कथा ही में वक्तव्य होने से अन्योन्याश्रय हो जाता है। क्योंकि सत्त्वाभ्युपगम होने पर कथा हो सकती है, और कथा प्रवृत्त होने पर सत्त्वाभ्युपगम हो सकता है। वैसे ही व्यावहार का नियम = अर्थात् प्रमाण और तर्क से ही कथा करने का नियम और जयपराजयादि सम्बन्धीसमय= संकेत बन्ध=निश्चय में भी हेतु वक्तव्य होगा और ऐसा होने पर उस हेतु का कथन कथा में ही हो सकेगा। इस तरह हेतु के कथन होने पर कथा की प्रवृत्ति और कथा की प्रवृत्ति होने पर हेतु का कथन होने से अन्योन्याश्रय की यहाँ भी प्राप्ति होती है। अतः समय सम्बन्ध भी कथा का अंग नहीं सिद्ध हो सकता है। परन्तु यह शंका यहाँ उचित नहीं है। क्योंकि कथारूप विचार की प्रवृत्ति के द्वारा इच्छित तत्त्व व्यवस्था=निश्चय, और जय के कारण रूप से व्यवहार नियम को कथा से पूर्व ही वादी और प्रतिवादी दोनों से निजेच्छा से ही परिगृहीत=स्वीकृत किया जाता है। नियम परिग्रह के बिना कथा की प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः यह व्यर्थ नहीं है, न अन्योन्याश्रय की प्राप्ति है ॥ १३ ॥

प्रमाणादि की सत्ता को माने बिना स्वेच्छा से गृहीत नियम मूलक विचार मानने पर उसमें अप्रामाणिकता के कारण प्रमित्यजनकत्वादिरूप विचारवित्लवादि की शंका करके उत्तर दिया गया है कि—

नचैवं प्रमाणानुपज्ञस्वेच्छामात्रगृहीतमूलत्वात् मूलापरिशुद्धिसम्भवेन सर्वविचारविचार्यफलविप्लवापत्तिः स्यात्। अविद्याविद्यमानादिपारम्पर्यायातस्य लोकव्युत्पत्तिगृहीतसंवादस्य च तस्यान्यथाभावासम्भाव्यतालक्षणस्वतः सिद्धिपरिशुद्धत्वात् ॥ १४ ॥

समयबन्धस्यावश्यहेतुत्वेऽनिष्टमाशङ्कते—नचैवमिति । विचारविप्लवः—साधनदूषणप्रयोगाव्यवस्था । विचार्यविप्लवः पक्षविपक्षाव्यवस्था, वादिप्रतिवाद्यव्यवस्था वा; तयोरपि विचार्यत्वात् । फलविप्लवः जयभङ्गाऽव्यवस्था, तत्त्वनिर्णयाऽव्यवस्था च । यद्वा विचारविप्लवः प्रमित्यजनकत्वं, विचार्यविप्लवः प्रमित्यविषयत्वं, फलविप्लवः जयाद्यभावः । अविद्याविद्यमानत्वाभिधानं समयबन्धस्याप्यपारमार्थिकत्वाय । अनादिपारम्पर्यायातस्येत्यवश्याभ्युपगन्तव्यत्वार्थम् । गृहीतसंवादस्येत्यप्रामाण्यशङ्कानिरासाय । ननु समयबन्धस्याज्ञानरूपतया स्वतः सिद्धत्वमनुपपन्नम्? अत उक्तमन्यथाभावासम्भाव्यता लक्षणेति । समयबन्धो न कर्तव्यः—इति सम्भावनाविरह एव तस्य स्वतःसिद्धत्वमिति भावः ॥ १४ ॥

यदि कहा जाय कि प्रमाणानुपज्ञप्रमाणरूप उपज्ञा = मूलभूत प्रमाणात्मक आदि ज्ञानरहित=प्रामाणिक ज्ञानशून्य, अत एव स्वेच्छामात्र से गृहीत जो नियम समयबन्ध तन्मूलक कथात्मक विचार के होने से मूलभूत समयबन्ध में अपरिशुद्धि के सम्भव द्वारा सब विचार और विचार्य=विचार के विषय वस्तु तथा विचार के फल जयादि की विप्लवापत्ति = अनिश्चय=अव्यवस्था की प्राप्ति होगी। तो ऐसा कहना=शंका करना यहाँ ठीक नहीं है। क्योंकि जिस सत्य मिथ्यादि सम्बन्धी विचार का आदि विद्यमान नहीं है, अर्थात् जो विचार अनादि काल से होता आ रहा है, अत एव परम्परा से गुरुशिष्यादि द्वारा प्राप्त है, और लोकव्युत्पत्ति=लौकिक वृद्ध व्यवहारादि द्वारा जिसका गृहीत=ज्ञात-संवाद (साफल्य) है, उस विचार के तथा उसके मूलभूत समयबन्ध के अन्यथाभाव= अशुद्धि=निष्फलत्व की असम्भाव्यतारूप स्वतःसिद्धि से वह परिशुद्ध रहता है। और अज्ञानस्वरूप समयबन्ध की स्वतःप्रकाशत्वरूप स्वतःसिद्धि नहीं रहते भी, निष्फलत्व की असंभाव्यतारूप स्वतःसिद्धि से वह परिशुद्ध रहता है, समयबन्ध नहीं करना चाहिये, ऐसी सम्भावना का अभाव ही उसकी स्वतःसिद्धि समझी जाती है ॥ १४ ॥

समय=नियमग्रहण–स्वीकार के समान प्रमाणादि के सत्त्व का भी कथा से पूर्वकाल में ग्रहण कर्तव्य है, ऐसी शंका करके उत्तर दिया गया है कि समयग्रहण के बिना कथा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है और प्रमाणादि के सत्त्वग्रहण बिना भी कथा की प्रवृत्ति होती है, अतः समता नहीं है—

न च प्रमाणादीनां सत्तापीत्थमेवोभाभ्यामङ्गीकर्तुमुचिता । तादृशव्यवहारनियममात्रेणैव कथाप्रवृत्त्युपपत्तेः । प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमेपि तथाविधव्यवहारनियमव्यतिरेके (कथाप्रवृत्तिं विना) तत्त्वनिर्णयस्य जयस्य वाऽभिलषितस्य कथकयोरपर्यवसानात् ॥ १५ ॥

इत्थमिति । समयबन्धाङ्गताङ्गीकारप्रकारेणैवेत्यर्थः । अन्यथासिद्धिमाह—तादृशेति । समयबन्धस्योपजीव्यत्वमाह—प्रमाणादीति ॥ १५ ॥

इत्थं = समयबन्ध को कथा की अङ्गता के स्वीकार के समान, प्रमाणादि की सत्ता भी वादी और प्रतिवादी दोनों को स्वीकार करना उचित है, यदि ऐसी शंका हो, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि उक्तरीति वाले व्यवहार=कथा के नियम मात्र से ही कथा की प्रवृत्ति उपपन्न = सिद्ध हो जाती है। और प्रमाणादि की सत्ता को मानने पर भी, उक्त रीति वाले व्यवहार नियम के व्यतिरेक=अभाव रहते कथा की प्रवृत्ति नहीं होने के कारण, कथक=वादी प्रतिवादी के अभिलषित तत्त्वनिर्णय वा विजय का पर्यवसान

(निर्णय) नहीं होता है। अतः अन्वयव्यतिरेक से समयबन्ध कथा का हेतु है, और अन्वयव्यतिरेक नियम के अभाव से प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगम कथा का अङ्ग नहीं है ॥ १५ ॥

प्रथम (पहले) प्रमाणादि के सत्त्वाऽभ्युपगमविषयक चार विकल्प किये गए हैं, उनमें सत्त्वाभ्युपगम के बिना वाग्व्यवहार की प्रवृत्ति की अशक्यता रूप, और सत्त्वाभ्युपगम की वाग्व्यवहार के प्रति हेतुतारूप विकल्प का निषेध हो चुका है। अब सत्त्वाभ्युपगम में लोकव्यवहार से वाग्व्यवहार के प्रति हेतुत्व सिद्ध है। अतः प्रमाणादि के सत्त्व को मानना चाहिये, इस तृतीय विकल्प का निषेध किया गया है कि—

नापि तृतीयः, लोकव्यवहारो हि प्रमाणव्यवहारो वा स्यात् ?, पामरादिसाधारणव्यवहारो वा ?। नाद्यः, विचारप्रवृत्तिमन्तरेण तस्य दुर्निरूपत्वात् तदर्थमेव च पूर्वं नियमस्य गवेषणात्। नापि द्वितीयः, शरीरात्मत्वादीनामपि तथा सति भवता स्वीकर्त्तव्यतापातात्। पश्चात् तद् विचारबाध्यतया नाभ्युपेयते ?—इति चेत्, तर्हि प्रमाणादयोपि यदि विचारबाध्या भविष्यन्ति तदा नाभ्युपेया एव, अन्यथा तूपगन्तव्याः, इति 'लोकव्यवहारसिद्धतया सत्त्वमभ्युपगम्यते'—इति तावन्न भवति ॥ १६ ॥

लोकेति। लोक्यते इति लोकः प्रमाणमित्यर्थः। प्रामाणिकलोकव्यवहार इति वाऽर्थः। तस्येति प्रमाणव्यवहारस्येत्यर्थः। तर्हि विचारप्रवृत्त्यैव तन्निरूप्यतामत आह—तदर्थमेवेति। विचारार्थमेवेत्यर्थः। तथाच—विचारप्रवृत्त्या प्रमाणाद्यभ्युपगमस्य प्रमाणसिद्धत्वं, तत्प्रमाणसिद्धत्वेन च तदधीनविचारप्रवृत्तिरित्यन्योन्याश्रय इति भावः। शरीरेति। 'अहं स्थूलः' इति प्रत्ययात् शरीरे एवात्मव्यवहारादित्यर्थः। विचाराऽबाध्यलोकव्यवहारसिद्धत्वमभ्युपगम्यतायां तन्त्रमित्याह—पश्चादिति। विचाराऽबाध्यलोकव्यहारसिद्धत्वं प्रमाणादीनामप्यसिद्धमित्याह—तर्हीति ॥ १६ ॥

तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, अर्थात् लोकव्यवहार से भी प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम में कथाङ्गत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि लोकव्यवहार शब्द से प्रामाणिक व्यवहार का ग्रहण करते हो, अथवा पामर चार्वाकादि के प्रामाणशून्य साधारण व्यवहार का ग्रहण करते हो। ये ही दो पक्ष हो सकते हैं। यहाँ प्रथम पक्ष का ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि विचार की प्रवृत्ति के (कथा के) बिना वह प्रामाणिकत्व = प्रमाणव्यवहारत्व ही दुर्ज्ञेय है। और नियमबन्ध के बिना विचार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः उस विचार की प्रवृत्ति ही के लिये प्रथम नियम का अन्वेषण किया जाता है। यदि प्रामाणिक लोकव्यवहार से विचार की प्रवृत्ति हो, और विचार की प्रवृत्ति से व्यवहार में प्रामाणिकता हो, तो अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है। और पामरादि साधारण के व्यवहाररूप दूसरे पक्ष का भी ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि पामरादि के व्यवहार से यदि प्रमाणादि में सत्त्व का अभ्युपगम किया जाय तो शरीरात्मत्व का भी आप को स्वीकार करना होगा। क्योंकि पामर चार्वाकादि शरीर को ही आत्मा कहते हैं। यदि कहा जाय कि विचार से अबाधित होता हुआ लोक व्यवहार से जो सिद्ध हो, उसको सत्य माना जाता है, और देहात्मत्व तो पीछे विचार से बाधित होता है, अतः देहात्मत्व को नहीं माना जाता है, तो इसका उत्तर यह है कि प्रमाणादि भी

यदि विचार से बाधित होंगे, तो सत्यतया अभ्युपगम योग्य नहीं होंगे। अन्यथा (अबाधित होने पर) अभ्युपगम योग्य होंगे, इसके पहले नहीं। अतः लोक व्यवहार से सिद्ध होने के कारण प्रमाणादि के सत्त्व अभ्युपगन्तव्य है, यह तृतीय विकल्प विचार से पूर्व नहीं सिद्ध हो सकता है ॥ १६ ॥

प्रमाणादि के सत्त्वानभ्युपगम से निर्णय विजयरूप फल की अतिप्रसक्तिरूप चतुर्थ विकल्प का निषेध किया गया है कि—

नापि चतुर्थः, यादृशो भवता प्रमाणादीन्यभ्युपगम्य व्यवहारनियमः कथायामालम्ब्यते तस्यैव प्रमाणादिसत्त्वाऽसत्त्वानुसरणोदासीनैरस्माभिरव्यवलम्बनात्, तस्य यदि मां प्रति फलातिप्रसञ्जकत्वं, तदा त्वां प्रत्यपि समानः प्रसङ्गः ॥ १७ ॥

यादृश इति। तत्त्वनिर्णयविजियातिप्रसङ्गभिया प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथातः पूर्वं त्वया क्रियते, यदि नियतसमयबन्धेनैव तद्द्वयं निवर्तेत तदा वृथा प्रमाणाद्यभ्युपगम इत्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रमाणादि के अनभ्युपगम विषयक, फलातिप्रसञ्जकत्वरूप चतुर्थ विकल्प भी युक्त नहीं है। क्योंकि प्रमाणादि की सत्ता को मानकर, जैसे व्यवहार के नियम को आप कथा में कारण मानते हैं प्रमाणादि के सत्त्व असत्त्व से उदासीन हम भी वैसे ही नियम को कथा में हेतु मानते हैं। क्योंकि नियम के स्वीकार बिना न कथा सिद्ध हो सकती है, और न उसका फल निश्चित हो सकता है। नियम के स्वीकार से ही फलातिप्रसक्ति का वारण हो जाता है। अतः प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम व्यर्थ है, और जैसा नियम आप से स्वीकृत है, वैसा ही मुझ से स्वीकृत होते भी यदि वह नियम मेरे प्रति फल का अतिप्रसञ्जक=अव्यवस्थापक होगा, तो आप के प्रति भी फल का अतिप्रसङ्ग तुल्य ही होगा। अतः चतुर्थ विकल्प अयुक्त है ॥ १७ ॥

उक्त रीति से नियमबन्ध के स्वीकार से ही प्रमाणादि सत्त्व की स्वीकृति भी नान्तरीयक (व्याप्य) तया हो जाती है। अतः द्वैतापत्ति के भय से प्रमाणादि के सत्त्व का अभ्युपगम व्यर्थ है, इस आशय से शंका है कि—

स्यादेतत्, नियतवाग्व्यवहारक्रियासमयबन्धेन कथां प्रवर्तयतापि व्यवहारसत्ताऽभ्युपगन्तव्या, न हि सत्तामनभ्युपगम्य व्यवहारक्रियाऽभिधातुं शक्या क्रिया हि निष्पादना, असतः सद्रूपताप्रापणमिति यावत्। 'प्रमाणैर्व्यवहर्त्तव्यम्' इति नियमबन्धनं प्रमाणकारणभावस्य नियमान्तर्भावात् नियतपूर्वसत्त्वं कारणत्वं प्रमाणानामनादाय न पर्यवस्यति। दूषणानां चास्तित्वेन भङ्गावधारणनियमबन्धने, साधनाङ्गव्याप्त्यादीनां सत्त्वेन तद्विषयस्य तत्त्वरूपताव्यवहारनियमनादौ च, कण्ठोक्तमेव तस्य तस्य सत्त्वमङ्गीकृतमिति रिक्तमिदमुच्यते—'प्रमाणादीनां सत्तामनभ्युपगम्य कथारम्भः शक्यते'—इति? ॥ १८ ॥

ननु द्वैतापत्तिभयेन प्रमाणादिसत्तां नाभ्युपैषि, तच्च व्यवहारसत्त्वाभ्युपगमेप्यविशिष्टं, किञ्च व्यवहारादिसत्ताभ्युपगमनान्तरीयक एव प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमोऽपीति कथायां

तद्धेतुत्वमवर्जनीयमिति शङ्कते—स्यादेतदिति । व्यवहारसत्ताभ्युपगममुपपादयति—नहीति। प्रमाणसत्ताभ्युपगममुपपादयति—प्रमाणैरिति। कण्ठोक्तमिति। 'दूषणानि सन्ति' 'व्याप्तिरस्ति'—इत्यादिवचनं तत्सत्ताभ्युपगमपरमेवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

स्यादेतत्=समयबन्ध=नियमग्रहण से ही कथा की सिद्धि हो, तथापि वाग्व्यवहार (कथा) रूप क्रिया के लिये वाग्व्यवहार क्रिया सम्बन्धी जो नियत समयबन्ध, उसके द्वारा कथा के आरम्भ करने वाले को व्यवहार की सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी। क्योंकि व्यवहार की सत्ता को नहीं मानकर, व्यवहाररूप क्रिया कही नहीं जा सकती है। क्योंकि क्रिया निष्पादना=असिद्ध की साधना को कहते हैं। अर्थात् पूर्व असत् की सत् रूपता की सिद्धि करने को क्रिया कहते हैं। अतः व्यवहार की सत्ता सिद्ध होती है। और प्रमाणों से प्रश्नोत्तरादि व्यवहार करना, इस प्रकार का जो कथा में नियमबन्धन होता है, उसमें प्रमाण के कथाकारणत्व नियम के अन्तर्गत होता है। अर्थात् उस नियम से भी प्रमाण कथा के कारण सिद्ध होते हैं, और नियत पूर्वसत्त्व (कार्य से अवश्य पूर्व वर्तमानत्व) रूप कारणत्व यदि प्रमाणों का नहीं माना जाय तो उक्त समयबन्ध ही नहीं सिद्ध हो सकता है। और दूषणों की सत्ता से भङ्ग=पराजय के नियमावधारण (निर्णय) में कण्ठ से (साक्षात्) ही दूषण की सत्ता मानी जाती है। तथा स्वपक्षसाधन के अङ्ग (हेतु) रूप व्याप्ति पक्षधर्मता आदि की सत्ता से उस साधन के विषय की तत्त्वरूपता (सत्यता) के व्यवहार के नियमन (व्यवस्था) आदि में भी व्याप्ति आदि को सत्ता कण्ठ से कही जाती है। अतः तत्तत् = दूषणादि व्याप्ति आदि का सत्त्व अङ्गीकृत होता है। फिर भी यह व्यर्थ (मिथ्या) ही कहा जाता है कि (प्रमाणादि की सत्ता को नहीं मान कर कथा का आरम्भ हो सकता है)। अर्थात् व्यवहार क्रिया को कर्तव्य मान कर उसकी सत्ता को नहीं मानना, तथा दूषण व्याप्ति आदि को तथा प्रमाणों को मान कर उनकी सत्ता को नहीं मानना व्याघातरूप है ॥ १८ ॥

उक्त शंका का चक्रकदोष से बारण किया गया है कि—

मैवम् , एभिरपि बाधकैः कथायामारब्धायामेवाभिमतस्य प्रसाधनीयत्वे पूर्वोक्तबाधाया अनिस्तारात् ॥ १९ ॥

प्रवृत्तायामेव कथायामयं बाधस्त्वया वाच्यः, तत्कथाप्रवृत्तिवत् कथान्तरप्रवृत्तिरपीति न किञ्चिदेतदिति परिहरति—एभिरपीति। यद्यपि सा कथा प्रमाणाद्यभ्युपगमपूर्विकैव, त्वं पुनरिदानीं तत्र विप्रतिपन्नः समयबन्धमङ्गीकुर्वन् प्रमाणादिसत्ताभ्युपगममङ्गीकार्यसे, इति नानुपपत्तिः, तथापि प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमेऽपि न प्रमाणादिसत्तासिद्धिः, अग्रे वक्ष्यमाणयुक्तेरिति हृदयम् ॥ १९ ॥

आरब्ध कथा में ही इन व्याघातरूप बाधकोंद्वारा अभिमत प्रमाणसत्त्वाभ्युपगम के साध्य होने के कारण पूर्वोक्त बाध से निस्तार=छुटकारा नहीं हो सकता है। अर्थात् जिस कथा में ये बाधक (व्याघात) कहे जाते हैं, उस कथा की जैसे प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम के बिना प्रवृत्ति होती है, वैसे ही अन्य कथा की प्रवृति भी हो सकती है। अतः सत्त्वाभ्युपगम की आवश्यकता नहीं है। अन्यथा प्रथम कथा ही नहीं प्रवृत्त होगी, यह प्रथम बाधा कही गई है, क्योंकि कथा में बाधकों के कथन से प्रमाणादि के सत्त्व का अभ्युपगम होगा, उससे कथा की सिद्धि होगी, कथा की सिद्धि से बाधकों का कथन

होगा, उससे प्रमाणादिसत्त्वसिद्धि की प्राप्ति होगी, तो इस चक्रक में एक भी नहीं सिद्ध हो सकेगा ॥ १९ ॥

उक्त बाधा (चक्रक) के परिहार = निवारण की शंका करके उसका निराकरण किया गया है कि—

नच व्यवहारनियमस्य स्वेच्छास्वीकृतस्यैव प्रमाणादिसत्तास्वीकारपर्य्यवसायितया नायं दोषः स्यात् । यतः सत्ताज्ञानस्य तत्राङ्गत्वं न तु सत्तायाः । तत्र किं सत्त्वावगममात्रात् सत्ताभ्युपगम्येति मन्यसे ?, अबाधितात्तदवगमाद्वा ? न तावदाद्यः, मरुमरीचिकादौ जलरूपतासद्भावाभ्युपगमप्रसङ्गात् । द्वितीयेपि किं वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य तस्यापि कथाकालमात्रे एव बाधितावगमाभावात् ?, अथवा कस्यचिदपि कालान्तरेपि च बाधितबोधविरहात् ? । नाद्योऽतिप्रसङ्गात् , पुरुषत्रयावगतस्यापि एकक्षणावगतस्य पुरुषान्तरेण, तेनापि क्षणान्तरे, बहुलं बाध्यत्वदर्शनात् । न चासावर्थोऽसन्नपि द्वित्रादिपुरुषमात्रपूर्वजाततत्प्रतीत्यनुरोधाद् , बाधदर्शने सत्यपि, तथैव सन्नित्यभ्युपगम्यते । तस्माद् , द्वितीयः पक्षः परिशिष्यते—यत्र सर्वप्रकारैर्बाधितत्वं नास्ति तत्सदित्यभ्युपगन्तव्यम् ॥ २० ॥

ननु कथायां कस्याश्चित्प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमो न मया त्वां प्रति साध्यते, किं तर्हि, स्वेच्छया यः समयबन्धः परिगृहीतः स प्रमाणादिसत्त्वाभ्युपगमपर्य्यवसन्नः—इति त्वं बोध्यसे ? इत्यत आह—नचेति । समयबन्धः प्रमाणादिसत्ताज्ञानमात्रमाक्षिपति, न तु प्रमाणादिसत्तामपि, येन द्वैतापत्तिरिति भावः । ननु प्रमाणादिसत्ताज्ञानं चेदायातं तदा तदभ्युगमोऽपि सिद्धः, तत्रैव च त्वं विप्रतिपन्नः ? इत्यत आह—तत्र किमिति । यद्वा 'नावगममात्रं कथाहेतुरपि न्तु प्रमाणादिसत्तावगमः इति विशिष्टकारणताग्राहकं मानं विशेषणमपि विषयीकरोतीति प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमोपि कथाहेतुः,—एवं तदवगमोपीत्यत आह—तत्र किमिति। अतिप्रसङ्गमेव दर्शयति—पुरुषत्रयेति। द्वितीय इति । द्वितीयपक्षस्य द्वितीयः पक्ष इत्यर्थः । तमेवाह—यत्र सर्वप्रकारेणेति ॥ २० ॥

यदि शंका हो कि कथा में प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम को सिद्ध करने से यद्यपि उक्त रीति से चक्रक की आपत्ति होती है, तथापि स्वेच्छा से स्वीकृत व्यवहारनियम के ही प्रमाणादि सत्ता के स्वीकार पर्यवसायी (स्वीकार साधक) होने से यह चक्रक दोष नहीं हो सकता है, तो यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि प्रमाणादि की सत्ता के ज्ञानमात्र को उस कथा में अङ्गत्व है। नियमबन्ध के स्वीकार से सिद्ध होता है कि "प्रमाणों से ही स्वपक्ष का साधन करना चाहिये" इत्यादि। प्रमाणादि की सत्ता को कथा के अङ्गत्व नहीं है। अतः नियम की स्वीकृति से सत्ताभ्युपगम की सिद्धि नहीं हो सकती है। फिर प्रमाण ज्ञान के कथा हेतुत्व होने पर, उस सत्ता के ज्ञानमात्र से ही सत्ता भी स्वीकार योग्य है, क्या ऐसा मानते हो ? अथवा अबाधित सत्ता ज्ञान से सत्ता को स्वीकार योग्य मानते हो ? यहाँ सत्ता के ज्ञानमात्र से सत्ता की स्वीकृति रूप प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता है। अन्यथा मरुमरीचिकादि में जल के ज्ञानमात्र से जल की सद्रूपता के अभ्युपगम की प्राप्ति होगी। अबाधित सत्ताज्ञानादिरूप दूसरे पक्ष में भी क्या वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थमात्र के अबाधित ज्ञान से सत्ताभ्युपगम मानते हो, उस वादी आदि के भी कथा-

कालमात्र में ही सत्ताज्ञान से सत्ताभ्युपगम मानते हो। किसी के कालान्तर में भी अथवा बाधित अवगम=ज्ञान के अभाव से सत्ताभ्युपगम मानते हो। उसमें वादी आदि के अबाधित ज्ञानमात्र से सत्ताभ्युपगमरूप प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि इस पक्ष में अतिव्याप्ति होती है। वादी आदि तीन पुरुष से अवगत वस्तु का भी पुरुषान्तर से बहुत स्थान में बाध देखा जाता है, तथा जिससे एक क्षण में अबाधित ज्ञात होता है, उससे भी क्षणान्तर में उस वस्तु का बाध (मिथ्यात्व निश्चय) देखा जाता है। और वह बाधित अर्थ (वस्तु) असत्य होते भी, तथा बाधज्ञान होने पर भी, दो तीन पुरुषमात्र के उस वस्तुविषयक ज्ञान के होने से उस ज्ञान के अनुसार वह पदार्थ सत्य नहीं माना जाता है। अतः किसी से कालान्तर में भी बाधितत्व ज्ञान के अभाव से वस्तु के सत्ताभ्युपगम रूप दूसरा पक्ष परिशेष रहता है कि जहाँ सब प्रकार से बाधितत्व का अभाव है, वह सत्य है, ऐसा मानना चाहिये ॥ २० ॥

उक्त रीति से सर्वथा अबाधितत्व को सत्ताभ्युपगम का हेतुरूप कहा गया है, और वादी आदि मात्र से कथा काल में सत्तावगममात्र से सर्वथा अबाधितत्व नहीं सिद्ध होता है। इसी आशय से कहा गया है कि—

तदित्थं यदि नाम वादिप्रतिवादिमध्यस्थमात्रस्य दूषणादिसत्त्वावगमः कथाकालमात्रे तैरबाध्यमानः कथाङ्गत्वेनाभ्युपेयते तदा किमायातं सर्वप्रकाराबाधिततत्तत्सत्त्वावगमायत्ततत्तत्सत्ताभ्युपगमकथाङ्गतानङ्गीकारस्य। कतिपयप्रतिपत्तृकतिपयकालतथात्वावगमादेव प्रायेण लौकिको व्यवहारः प्रतीयते, तादृशश्चायं सत्त्वावगमः कथाङ्गम्। एतत्तदुच्यते 'व्यावहारिकीं प्रमाणादिसत्तामादाय विचारारम्भः' इति ॥ २१ ॥

कथाव्यवहारे सर्वप्रकारबाधितत्वं नास्तीत्यत आह—तदित्थमिति। ननु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमे त्वं विप्रतिपद्यसे, स च त्वयैवाङ्गीकृतः इत्यत आह—किमायातमिति। सर्वप्रकारेणऽबाधितो यः प्रमाणादिसत्तावगमस्तदायत्तः प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमः कथाङ्गं न भवतीति मदीयः पक्षः, तत्र त्वया न किञ्चिदुक्तमिति भावः। ननु प्रतिज्ञान्तरमिदं यत् प्रमाणाद्यभ्युपगमः कथाङ्गं न भवतीति प्रतिज्ञाय सर्वप्रकाराबाधितप्रमाणादिसत्ताऽधिगमायत्तप्रमाणाद्यभ्युपगमः कथाङ्गं न भवतीति प्रतिज्ञायते–इति चेन्न, पूर्वमपि विशिष्टस्यैव प्रतिज्ञानात्, प्रतिज्ञान्तरस्यापि खण्डनीयत्वाच्चेति भावः। नन्वबाधित एव प्रमाणादिसत्ताभ्युपगमः कथाङ्गमस्त्वित्यत आह—कतिपयेति। त्रैकालिकसार्वलौकिकबाधवैधुर्याकलनमशक्यमिति कतिपयप्रतिपत्तृमात्रबाधविरह एव प्रवृत्त्यङ्गम्, इत्यवश्यं वाच्यं, नैतावता वस्तुस्थितिरिति भावः। एतत्तदुच्यते इति। तदेतदुच्यते इत्यर्थः। व्यावहारिकीमिति। परमार्थिकत्वस्य दुष्परिच्छेद्यत्वादिति भावः ॥ २१ ॥

वादी आदि के सत्ता विषयक व्यवहारों से यदि लोक प्रसिद्ध = दूषणादि की सत्ता का अवगम वादी आदि को कथाकाल में अबाधित और कथा के अङ्गरूप से स्वीकृत रहता है, तो सब प्रकार से अबाधित सत्ता के अभ्युपगम को कथा के अङ्गरूप नहीं मानना रूप सिद्धान्त में कोई हानि नहीं प्राप्त होती है। अर्थात् इसमें कोई दोष नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि कतिपय (कुछ) प्रतिपत्ता (ज्ञाता) कृत कुछ काल के तथात्व (सत्त्व) के ज्ञान से ही लौकिक व्यवहार प्रायः प्रतीत होता है। सर्वथा सदा सत्त्व (अबाधितत्व)

के ज्ञान से नहीं। और लौकिक सत्ता अवगम के सदृश ही यह दूषणादि की सत्ता का अवगम भी कथा का अङ्ग होता है पारमार्थिक नहीं। अतः विद्वानों से यह कहा जाता है कि (प्रमाणादि की व्यावहारिक सत्ता को मानकर कथा का आरम्भ होता है) इत्यादि ॥ २१ ॥

सर्वथा सर्वदा अबाधित रूप सत्त्व का ज्ञान दुर्लभ (अशक्य) है। और कतिपय प्रतिपत्ता के कतिपयकालपर्यन्त अबाधितत्त्व के ज्ञान से ही कथा की प्रवृत्ति होती है, सत्त्वाभ्युपगम से नहीं। अतः पूर्वोक्त कथाङ्गनियम का ही उपसंहार किया गया है कि—

तस्माद् 'यादृग्व्यवहारनियमः कृतस्तन्मर्यादाऽनेन नोल्लङ्घिता'—इति यद्वादिवाग्व्यवहारे मध्यस्थावगमः, स विजयते: यस्य तु वचसि नैवं तस्यावगमस्तस्य पराजयः ; यत्र वाद्युक्तनिग्रहसत्त्वावगमः, स निगृहीतः; तदितरस्तु न तथा इत्यादिनियम एव कथारम्भाय ग्राह्यः ॥ २२ ॥

नियम बन्ध के ही कथाङ्ग होने के कारण, जैसा व्यवहार का नियम किया गया, उस नियम का उल्लङ्घन इस वादी ने नहीं किया है, इस प्रकार के मध्यस्थ का अवगम जिस वादी के व्यवहार में होता है, वह विजय पाता है, और जिसके व्यवहार में मध्यस्थ का उक्त अवगम नहीं होता है, उसकी पराजय होती है। और जहाँ वादी से वर्णित निग्रहस्थान (प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर) आदि के सत्त्व (सत्ता) का अवगम होता है। वह कथा में निगृहीत होता है। उससे अन्यनिगृहीत नहीं होता है। और वह कथा का अनधिकारी नहीं समझा जाता है इत्यादि नियम ही कथा के आरम्भ के लिये ग्राह्य होता है, सर्वथा सत्त्व नहीं ॥ २२ ॥

शंका होती है कि द्वैतापत्ति के भय से प्रमाणादि के सत्त्वाभ्युपगम नहीं करके व्यवहार नियम के सत्त्व को मानने पर या व्यवहार के अवगम के सत्त्व को मानने पर भी द्वैतापत्ति तो होती ही है, तो प्रमाणादि के सत्त्व को ही क्यों न माना जाय? इसपर कहा गया है कि—

'अनेन नियमेन वक्तयम्'—इत्यस्य ह्ययमर्थः,—'अनेन नियमेनोक्तमनेने'ति मध्यस्थावगमस्य विषयीभवितव्यमिति। न च वाच्यमन्ततस्तदवगमस्यापि सत्ताभ्युपेयेति। तस्यापि सत्ताचिन्तायां तत्सत्तावगमान्तरस्यैव शरणत्वात्। नचैवमनवस्था। तदनुसरणाऽवश्यम्भावानङ्गीकारात्, "एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः"—इति न्यायात्। न चान्तिमासत्त्वे पूर्वपूर्वप्रवाहाऽसत्त्वापत्तिः, तथा चाऽवगममादायापि व्यवहरतो न निस्तारः इति वाच्यम्। अस्तु, एवं हि, तथापि त्रिचतुरज्ञानकक्षागवेषणमात्रविश्रान्तेन विचारेण ततः परमननुसरणरमणीयेनैव च समयं बद्ध्वा कथायां मिथः सम्प्रतिपत्त्या प्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

ननु प्रमाणादिसत्ता माभ्युपगम्यतां, नियमबन्धश्चेदङ्गीकृत एतावतैव द्वैतापत्तिरित्यत आह—अनेनेति। अवगमसत्तया द्वैतापत्तिं निरस्यति—नच वाच्यमिति। आपाततः सर्वशून्यतानयनगरप्रवेशे तात्पर्यम्। ननु ज्ञानमपि चेन्न परमार्थसत् किन्तु तज्ज्ञानात्तद्व्यवहा-

रसिद्धिरेवं तत्र तत्रापि मन्तव्यं तदाऽनवस्थया कोपि व्यवहारो न सिद्ध्येदित्यत आह—न चेति। भवेदेवं यदि ज्ञानमवश्यं स्वव्यवहारार्थं स्यात्, किं तर्हि विषयव्यवहारार्थमनुसृतस्य व्यवजिहीर्षायां ज्ञानान्तरमनुस्रियतां ननु तत्तज्ज्ञानव्यवहारपरम्पराध्रौव्यं, येनाऽनवस्था स्यादित्यर्थः अत्रार्थे भट्टाचार्यानुमतिमाह–एवमिति। प्राकट्यानुमेयज्ञानपक्षे तत्तज्ज्ञानपरम्परानुमानानवस्थापरिहारार्थं भट्टाचार्यचरणैरिदमुक्तमिति भावः। ननु ज्ञानस्यापि व्यावहारिकी सत्ता तथा चान्तिमज्ञानमव्यवह्रियमाणमसत्स्यात् तन्मात्राधीनसत्ताकं तत्पूर्वज्ञानमप्यसदापद्येत इत्याशङ्क्य सर्वशून्यताभिप्रायेणेष्टापत्त्या परिहरति—अस्त्विति। अस्त्वितीष्टापादनं, सर्वासत्त्वमस्त्वित्यर्थः। एवं हीति। एवमेव यतो विचारबलात् सेत्स्यतीत्यर्थः। हि शब्दः किलाऽर्थे वा। ननु प्रमाणादिसत्त्वमनभ्युपगम्यापि कथाप्रवृत्तिरितीदानीं तवोद्देश्यं, तच्च सर्वासत्त्वस्वीकारविरुद्धं प्रमाणाद्यसत्त्वे विचारप्रवृत्त्यनवकाशादत आह—तथापीति॥ २३॥

'इस नियम से वादी प्रतिवादी को कहना होगा, इस प्रकार मध्यस्थ के वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि यह नियम त्रिकालाबाध्य है। अतः इस नियम से स्वमन्तव्य वक्तव्य है। किन्तु इस मध्यस्थके कथन का यह अर्थ है कि 'इस वक्ता ने इस नियम से कहा' इस प्रकार मध्यस्थ केअवगम का विषय होना चाहिये। यदि कहा जाय कि इस प्रकार नियम के सत्त्व को नहीं मान कर अवगम की विषयता को मानने पर, और मिथ्या रज्जुसर्पादि भी अवगम का विषय होता है। अतः अवगम विषयतामात्र से नियम की सत्ता नहीं सिद्ध होने पर भी अवगम की सत्ता सिद्ध होती है, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अवगम में भी सत्ता की चिन्ता होने पर अवगमान्तर की विषयतारूप रज्जुसर्पतुल्य ही सताव्यवहार के लिये शरण (आश्रय) होती है। अवगम विषयक अवगमान्तर रूप सत्ता मानने पर अनवस्था होगी, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि जहाँ सत्त्व का संशयादि हो, वहाँ तद्विषयक अवगमरूप सत्ता मानने पर भी, सब अवगमविषयक अवगमान्तर के अनुसरण (स्वीकार) को अवश्यंभाव (नियतसत्ता) के अनङ्गीकार से अनवस्था की प्राप्ति नहीं होती है। यह भट्ट जी से वर्णित न्याय से भी सिद्ध होता है। उस न्याय का स्वरूप यह है कि "दो चार ज्ञान के जन्म से अधिक बुद्धि नहीं होती है" अर्थात् ज्ञातता = ज्ञानजन्यविषयप्राकट्य से ज्ञान की अनुमेयता पक्ष में ज्ञान भी स्वगत ज्ञातता से ही अनुमेय होता है। वहाँ सब ज्ञान का अनुमान मानने पर अनवस्था प्राप्त होती है। परन्तु दो चार ज्ञान से ही विषयव्यवहार की सिद्धि मानने पर अनवस्था नहीं होती है। यदि कहा जाय कि अन्तिम जिस ज्ञानविषयक ज्ञानान्तर नहीं होगा, उसमें अवगमाधीन सत्त्व के अभाव से उसके असत्त्व होने पर, ज्ञानप्रवाह में असत्ता की प्राप्ति होगी। और ऐसा होने पर अवगम को मानकर सत्ता आदि के व्यवहार करने वाले का निस्तार नहीं होगा। व्यवहार की सिद्धि सत्त्व के बिना नहीं होगी, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार मूलपर्यन्त असत्त्व होने पर भी ज्ञान के दो चार कोटिपर्यन्त अन्वेषण से विश्रान्त, और उससे परे अनुभव के अस्वीकार से रमणीय विचार द्वारा ही नियम बाँध कर, परस्पर की सम्प्रतिपत्ति (निश्चय) से कथा में प्रवृत्ति सिद्ध होती है। अतः सब ज्ञान में सत्त्व की आवश्यकता नहीं रहती है॥ २३॥

उक्त रीति से ज्ञानप्रवाह के असत्त्व होने पर भी द्वितीयज्ञानरूप व्यवहारादि ज्ञान की सत्ता से व्यावहारिक सत्ता की सिद्धि हो जाती है। और उस सत्तायुक्त व्यवहारनियम से कथा की प्रवृत्ति होती है, ऐसा नहीं माना जाय तो प्रमाणादि की सत्ता के स्वीकार से भी अनवस्था की निवृत्ति नहीं हो सकती है, इस आशय से कहा गया है कि—

अन्यथा प्रमाणादिसत्त्वाऽभ्युपगमेऽपि ज्ञानाऽनवस्थायाः दुष्परिहरत्वात्। न च वाच्यं–मत्पक्षे स्वरूपसता ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थयितुं शक्यत्वात् तज्ज्ञानपरम्पराऽननुसरणमुचितं, नत्वेवं त्वत्पक्षे स्वरूपसता ज्ञानेन व्यवहारस्य चरितार्थता, ज्ञानस्वरूपसत्त्वाङ्गीकारप्रसङ्गादिति। स्वरूपसत्त्वमादायापि परिहरतो ऽनवस्थाप्रसङ्गस्य स्वप्रकाशप्रस्तावे वक्तव्यत्वात्। यथा च त्वत्पक्षे स्वरूपसत्त्वाऽविशेषेपि विज्ञानस्वरूपसत्त्वैव परं व्यवहारोपपादिका, न घटादिसत्ता, एवमेव असत्त्वाविशेषेपि ज्ञानमेवासद् व्यवहारोवपादकं नान्यत्। असच्चोपपादकं च–इति व्याहतम्–इति चेन्न' 'सदुपपादकम्'–इति कुतो? न व्याहतम्। न हि सदुपपादकम्, असन्न,–इति क्वचिदावयोः सिद्धम्॥ २४॥

ननु प्रामाणादिसत्तैव कुतो नाभ्युपगम्यते इत्यत आह—अन्यथेति। त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तिरेव तत्रापि शरणमनवस्थाभयादित्यर्थः। ननु मत्पक्षे ज्ञानं स्वरूपसदेव विषयव्यवहारसमर्थं, त्वत्पक्षे स्वरूपासतो ज्ञानस्य ज्ञानान्तरमेव सत्त्वमिति तज्ज्ञानसत्त्वार्थमपरापरज्ञानानुसरणमवश्यमित्यनवस्थेति वैषम्यमाशङ्क्य परिहरति—न च वाच्यमिति। अज्ञायमानतायां–ज्ञानस्य स्वरूपसत्तापि न स्यात् "को ब्रूते सती साविक्तिः? असत्येव किं न स्यात्—"इत्यादेः स्वप्रकाशप्रस्तावे वक्ष्यमाणत्वात् न वैषम्यमित्यर्थः। ननु ज्ञानस्याऽसत्त्वे कथं तदधीनो व्यवहारः? अथाऽसदपि व्यवहारहेतुस्तदा सदैवासतो व्यवहारः स्यादविशेषादित्याशङ्क्याह—यथा चेति। असच्चेति। उपपत्तिकारणमुपपादकं, कारणं च नियतप्राक्कालसदिति व्याघातः॥ कारणं नियतप्राक्सदित्येव नास्ति, कुतो व्याघात इत्याह—सदिति॥ २४॥

उक्तरीति को नहीं मानकर प्रमाणादि की सत्ता को मानने पर भी, ज्ञान की अनवस्था अवश्य प्राप्त होती है। अर्थात् अज्ञात सत्ता के सत्त्व में प्रमाण के अभाव से सत्ता के ज्ञान, फिर उसकी सत्ता के ज्ञान की आवश्यकता से प्रमाणादि की सत्ता के अभ्युपगम से अनवस्था का निवारण नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय मेरे पक्ष में प्रमाणादि के स्वरूपसत्ता के ज्ञान से व्यवहार (कथा) की चरितार्थता (सफलता) की जा सकती है। अतः उस सत्ता के ज्ञान की परम्परा को नहीं मानना उचित है। और तुम्हारे पक्ष में इस प्रकार स्वरूपसत्ता के ज्ञान से व्यवहार की चरितार्थता नहीं हो सकती है, क्योंकि स्वरूप सत्ता को मानने पर ज्ञानस्वरूप सत्ता के अङ्गीकार की प्राप्ति होगी। उसमें अन्य ज्ञान विषयतारूप व्यावहारिक सत्त्ववाद सिद्धान्त भङ्ग होगा, तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि स्वरूप सत्ता मानकर अनवस्था के परिहार करने वाले के पक्ष में भी अनवस्था की प्राप्ति को स्वप्रकाशप्रकरण में आगे कहना है। ज्ञान के अविषय सत्ता के सत्त्व में प्रमाण के अभाव से उससे व्यवहार नहीं होगा। और

सत्ता के ज्ञान मानने पर अनवस्था होगी। यदि कहा जाय कि—ज्ञान स्वरूप से सत् नहीं है, किन्तु ज्ञानान्तर उसका सत्त्व है तो उससे व्यवगार कैसे होता है? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वरूपसत्ता ज्ञान और घटादि विषय में तुल्य रहते भी ज्ञान व्यवहार का हेतु होता है। अर्थात् केवल विज्ञान स्वरूप सत्ता व्यवहार का साधक होता है, घटादि सत्ता नहीं। इसी प्रकार ज्ञान और विषय में असत्त्व के तुल्य रहते भी ज्ञानगतव्यावहारिक सत्त्व से व्यवहार होता है, विषय से नहीं। यदि कहा जाय कि नियत पूर्ववृत्ति सत्य ही कारण होता है, अतः स्वरूप से असत् ज्ञान को उपपादक = कारण मानने पर व्याघात है। तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि असत् रज्जुसर्पादि भी भयादि का कारण होता है, और असत के उपपादकता के समान सत् को उपपादक मानने पर क्यों व्याघात नहीं है? कारण यह है कि वादी और प्रतिवादी दोनों से स्वीकृत सत् में उपपादकत्व और असत् में अनुपपादकत्व कहीं सिद्ध नहीं है। शशशृङ्गतुच्छ है, असत् नहीं॥ भाव यह है कि कारण का कार्य से पूर्वकाल में सम्बन्ध मात्र कार्यजनन का नियामक है। उसका अबाधित सत्त्व नहीं॥ २४॥

॥ इति रीति से कथा के आरम्भ में सत्त्वाभ्युपगम का निषेध सिद्ध हुआ॥ १॥

उक्तभाव के ज्ञान बिना शंका होती है, उसका वर्णन है कि—

ननु तदसत्त्वाविशेषात्कार्यस्याऽन्यदापि जन्मप्रसङ्गः। "न, कार्यस्याद्यसत्ताक्षणे इवान्यदापि सामग्र्यसत्त्वाऽविशेषात् तवापि किं नान्यदा कार्यजन्म। अथ न मम तदानीन्तनं सामग्रीसत्त्वं तदानीन्तनस्य कार्यजन्मनो नियामकं, किंतु ततः प्राक् सामग्रीसत्त्वं, तथादर्शनात्। तर्हि ममापि कालान्तरस्थमपि तदसत्त्वं तदातनकार्यजन्मनो नियामकं, तथादर्शनादेव। मम तु तदव्यवहितोत्तरत्वं तदा कार्यजन्मनो नियामकम्—इति चेत्, न, समसमयत्वादागन्तुकत्वाच्चाऽविशेषेण नियम्यनियामकव्यवस्थाऽनुपपत्तेः॥ २५॥

ननु यद्यसत्कारणं तद्तत्कालीनोत्पत्तिको घटः पूर्वमेव कथं नोत्पन्नः? इत्याह—नन्विति। एतद्घटोत्पत्तिक्षणभिन्नाः क्षणा यद्येतद्घटयावत्कारणाऽधिकरणक्षणाऽव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टाः स्युः, एतद् घटोत्पत्त्यधिकरणानि स्युरित्यापादनार्थः। यद्वा। एतद्घटोत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणो यद्य तद् घटसामग्र्यव्यवहितोत्तरक्षणः स्याद् एतद् घटोत्पत्तिक्षणः स्यादित्यापाद्यम्। कार्योत्पत्तिक्षणे सामग्री त्वयापि नेष्यते प्रागभावस्य तद्घटकस्याऽभावात्, तथाच यथा सामग्रीविरहिणि तस्मिन् क्षणे कार्यं, तथा क्षणान्तरेपि कथं न स्यादविशेषादित्याह—न कार्यस्येति। क्षणान्तराणां सामग्रीविनाकृतत्वात् त्वया घटोत्पत्त्यधिकरणत्वमापाद्यते तच्च तदा स्याद् यदि सामग्र्यसत्त्वं कार्योत्पत्तिनियामकमस्माभिरुक्तं भवेत्, न चैवं, किन्तु कार्याऽव्यवहितपूर्वक्षणसामग्रीसत्त्वमिति शङ्कते—अथेति। तस्मिन् क्षणे नियमतः कार्योत्पत्तिदर्शनात् यथा पूर्वक्षणसामग्रीसत्त्वं तव नियामकं, तथा ममापि नियतकालकार्यदर्शनात् पूर्वक्षणसामग्र्यसत्त्वमेव किं न नियामकं स्यादिति परिहरति–तर्हीति। सामग्रीसत्त्वं पूर्वक्षणमात्रे, तदसत्त्वं च सार्वत्रिकमिति महद्वैषम्यम्, तथापि कार्यमप्यसदेवेति हृदयम्। पूर्वापादनं तु तदा स्याद् यदि घटोत्पत्तिक्षणातिरिक्तानामपि क्षणानां यावद्घटप्रयोजकोत्तरत्वं मयाऽभ्युपगम्येत, न त्वेवं, किन्तु घटजन्मक्षणस्यैव, तत्पूर्वक्षणवर्त्तिसामग्र्यसत्त्वस्यैव घटप्रयोजकत्वेन मयाभ्युपगमात्। न वयं भिन्नकालीनं सामग्रीसत्त्वं कार्यजन्मनियामकं ब्रूमोऽपि तु कार्योत्प-

त्तिसमानकालीनमेव सामग्रीसत्त्वाव्यवहितोत्तरत्वं तथा च न साम्यमित्याह—मम त्विति। समसमयत्वादिति। यदेव कार्योत्पत्तिक्षणत्वं तदेव सामग्र्युत्तरक्षणत्वमिति कथमभेदेनैव नियम्यनियामकभावः, समयस्य—क्षणस्य, समत्वादेकत्वादित्यर्थः नचोपाधिभेदाद्भेदः। तथा सति दण्डित्वकुण्डलित्वाभ्यां देवदत्तो भिद्येत, देशकालौ कामं भिद्येयातां ननु तदुपरक्तस्वभावः पद्मरागो मणिः—इति च तत्रैव वाचस्पतेरभिधानादिति भावः। यद्वा तुल्यकालयोः सामग्र्युत्तरक्षणत्वकार्यक्षणत्वयोः सव्येतरविषाणवन्नियम्यनियामकभावाऽभावादित्यर्थः। यद्वा समयः—व्यवस्था, तेन समसमयत्वान्नियम्यनियामकयोः समव्यवस्थत्वात्, तथाच कार्यनियामकत्वेनाभिमतस्य सामग्र्युत्तरत्वस्य नियामकान्तरं वाच्यमित्यर्थः। एतदेवाग्रे "अन्यथा यद्विशेषान्तरं तदपि" इत्यादिना स्फुटयिष्यति। यद्वा समयः संकेतः तथाच कार्यक्षणसामग्र्युत्तरक्षणयोरेकार्थवाचकत्वेन तदुपस्थाप्ययोर्घटकलशपदोपस्थाप्ययोरिव न नियम्यनियामकभाव इत्यर्थः। आगन्तुकत्वादिति। अव्यवस्थितोपनिपातित्वात्, आकस्मिकोपनिपातिन्यतिथ्यादावागन्तुकपदप्रयोगात्, तथाचाऽऽगन्तुकास्मिकी सामग्री स्वोत्तरत्वेन कार्यजन्म कथं नियमयेदित्यर्थः यद्वा प्रागभावेतरयावत्कादाचित्ककारणप्रागभावाऽनाधारः कार्यप्रागभावाधारः क्षणः सामग्रीत्युच्यते, कार्यप्रागभावः कार्यानुत्पाद एव, तथाच—कार्यानुत्पादः कार्योत्पादं नियमयति इति पर्यवसितं, तच्चाऽनुपपन्नं, कार्यानुत्पादस्य कार्योत्पादं प्रति आगन्तुकत्वात्—उदासीनत्वात्, उदासीनो ह्यागन्तुक इत्युच्यते इत्यर्थः। तथा च समसमयत्वाऽऽगन्तुकत्वाभ्यामविशिष्टयोस्त्वदभिमतनियम्यनियामकयोर्न नियम्यनियामकभाव इति समुदायार्थः। अन्ये तु आगन्तुकत्वादन्यथासिद्धत्वादिति वा आगन्तुकत्वादक्लृप्तनियामकत्वादिति वाऽर्थः—इत्याहुः। यद्यपि समसमययोरप्यागन्तुकयोरपि रूपरसयोर्वह्निधूमयोरिव नियम्यनियामकभावो दृष्ट एव, तथापि कार्यस्याऽसत्त्वमेवेति हृदयम्॥ २५॥

कारण के असत् होने पर भी यदि कार्य की उत्पत्ति हो, तो कारण के असत्त्व के सदा तुल्य रहने से कार्य का जन्म किसी नियतकाल में नहीं होना चाहिये। अर्थात् अनियत काल में भी जन्म होना चाहिये। अतः पूर्वकाल में कारण की सत्ता ही नियत जन्म का नियामक है। परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि कारण सत्त्ववादी के मत में कार्य की आद्यसत्ताक्षण में अन्यकारण के रहने पर भी कारण सामग्री के अन्तर्गत प्रागभाव का अभाव = नाश हो जाता है, अतः सामग्री के असत्त्वक्षण में जैसे कार्य का जन्म होता है, वैसे अन्य द्वितीयादि सामग्री के असत्त्वक्षण में कार्य का जन्म क्यों नहीं होता है? यदि कहें कि कार्योत्पत्तिकालिक सामग्री का सत्त्व कार्यजन्म का नियामक मेरे मत में नहीं है किन्तु कार्य से पूर्वकालिक सामग्री का सत्त्व तदुत्तर कालिक कार्यजन्म का नियामक है। क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है। अतः अन्यकाल में कार्य नहीं होता है। तो कहा जा सकता है कि मेरे मत में भी अन्यकालिक भी कारणासत्त्व (असत्कारण) कार्यकाल में कार्य के जन्म का नियामक होता है सदा नहीं, क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है। यदि कहें कि सामग्री सत्त्व नहीं, किन्तु कारण सामग्री से अव्यवहित उत्तरत्व, कार्यजन्म के समकालिक सत् होने से वही कार्यजन्म का मेरे मत में नियामक (हेतु) है, तो यह कहना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि अव्यहितोत्तरत्व और कार्यजन्म दोनों के एक समय होने से सव्येतरविषाण = शृङ्ग के समान परस्पर नियम्यनियामक भाव नहीं हो सकता है, तथा सम 'तुल्य' समय (संकेत-व्यवस्था) होने से, कारणाव्यवहितोत्तरत्व, और कार्यजन्म ये दोनों एक वस्तु हैं, अतः घट कलश के समान शब्द

दो हैं, ईश्वरसंकेतरूप शक्ति एक है, अतः व्यवस्था (सिद्धि) आदि तुल्य है इसीसे इनमें नियम्यनियामकभाव नहीं हो सकता है। अत एव आगन्तुकत्व (समकालिक आकस्मिककार्यत्व = अस्वाभाविकत्व) के तुल्य होने से भी परस्पर नियम्य-नियामकभाव की व्यवस्था नहीं हो सकती है ॥ २५ ॥

तस्मात् 'अन्यदास्थाया एव सामग्र्यास्तदा कार्यजन्मनियमोऽभ्युपेयः, तथा दर्शनात्'–इत्येव मन्तव्यम्, तथाच समः समाधिः । तथापि कार्यजन्म-कालस्य को विशेषः । कार्यजन्मैव । अन्यथा यद्विशेषान्तरं तदपि विशेषान्तरवतः कालस्य स्यादित्यपर्य्यवसानमेव पर्य्यवस्येत् । तथापि तत्कालस्यानुगतं किं रूपम्, इति चेन्न, 'रूपान्तरवतोपि किं तद्' इत्यस्यापि पर्यनुयोगस्यानुवृत्तेः ॥ २६ ॥

तस्मादिति । सामग्र्युत्तरक्षणत्वस्य नियामकत्वे खण्डिते भिन्नकालापि त्वया सामग्र्येव नियामिका वाच्या, तथा च भिन्नकालसामग्र्यसत्त्वमेव किं न नियामकमिति समः समाधिरित्यर्थः । ननु क्षणान्तरेभ्यः कार्यजन्मक्षणस्य वैलक्षण्यमवश्यमभ्युपेयं, तच्च वैलक्षण्यं न तावत्सामग्र्यसत्त्वं, तस्य क्षणान्तरसाधारण्यात्, तथाच सामग्र्युत्तरक्षणत्वमेव तथा वाच्यम् क्षणान्तरव्यावृत्तत्वादिति तदेव नियामकमित्यनुशयानः पृच्छति । तथापीति । उत्तरम्—कार्येति । विनिगमकमाह—अन्यथेति । सामग्र्युत्तरत्वेपि विशेषान्तरमनुसरणीयम्, एवं तत्र तत्रापीत्यनवस्थेत्यर्थः । यद्यपि कार्यजन्मकाले सामग्र्युत्तरत्वं, तत्र च सामग्री, तस्यामपि तत्सामग्रीत्यपर्य्यवसानमेवेष्टं प्रामाणिकत्वात्, न च कार्यजन्मकालगता एव सर्वे विशेषा अभिमताः नच सामग्रीपरम्परायास्तथात्वमिति वाच्यम्, सामग्रीपरम्पराया अपि परम्परया कार्यजन्मकालस्यैव विशेषत्वात्; अन्यथा कार्यजन्मकालस्य कार्यजन्मैव विशेषः—इति त्वदुक्तमपि न निर्वहेत, तत्रापि विशेषान्तरानुसरणौचित्यात्, तथापि कार्यमप्यसदित्यत्रैव हृदयम् ॥ २६ ॥

तस्मात्–उक्तरीति से अव्यवहितोत्तरत्व में कार्यनियामकत्व के खण्डित होने के कारण अन्यकाल में स्थितिवाली सामग्री को ही तदा = सामग्री के उत्तरकाल में कार्यजन्म के नियामक वादी को मानना होगा, और ऐसा होने पर मेरा भी तुल्य समाधान है। अर्थात् भिन्नकालिक सामग्रीसत्त्व (सत्सामग्री) के समान, भिन्नकालिक सामग्र्यसत्त्व (असत्सामग्री) कार्यजन्म का नियामक होगा। यदि कहें कि सत्कारणस्वीकृत होने पर, तज्जन्यकार्य भी सत् होता है। अतः कारण सामग्री से अव्यवहित उत्तरत्व, तथा कार्यगत-सत्त्व, उस कार्यजन्मकाल का अन्यकाल से विशेष (भेद) होता है, और सामग्री के असत् होने पर कार्य भी असत् ही होगा, फिर उस कार्यकाल का अन्यकाल से विशेष क्या होगा ? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कार्य का जन्म ही जन्मकाल का विशेष होगा, क्योंकि यदि जन्म को स्वरूप से विशेष (भेद) रूप वा भेदक रूप नहीं मानकर विशेषान्तर को भेदक माना जायगा, तो वह विशेषान्तर = अव्यवहितोत्तरत्व, या कार्यसत्त्व भी स्वरूप से भेदक विशेष नहीं होगा फिर उसमें विशेषान्तर मानने पर अनवस्था होगी। और वे सब विशेषान्तर वाले एक जन्मकाल के विशेष प्रवाह होंगे। यदि कहें कि उस जन्मकाल का अनुगत-अन्य से व्यावर्तक कौन रूप होगा ? तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कारणोत्तरत्वादि को उस काल के अनुगतरूप को मान लेने पर भी उस

उत्तरत्वविशिष्ट का अनुगत कौन रूप होगा ? ऐसी भी शंका हो सकती है। अतः कार्योत्पत्तिकालत्व ही अनुगतरूप है, रूपान्तर की आवश्यकता नहीं है ॥ २६ ॥

उक्त रीति से असत् की कारणता सिद्ध करके सत् की कारणता के खण्डनद्वारा असत् कारणवाद ही स्वीकर्तव्य है यह आगे समझाया जाता है—

किञ्च—

अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत् ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत् ततः॥ ४॥ (२७)

असतः कारणत्वमुपपाद्य सतः कारणत्वं खण्डयति—किञ्च इति। कारणे सत्ता विशेषणम् ? उपलक्षणं वा ?। यदि विशेषणं, तदा सत्तायामपि कारणत्वमित्यायातं सत्तायां च न सत्तेत्यसदेव कारणं प्राप्तम्। तत इति। सत्ताविशिष्टे कारणत्वाऽभ्युपगमादित्यर्थः। उपलक्षणत्वे त्वसदपि कारणं प्राप्तं, सत्तायाः कारणकोटिबहिर्भावात्। तत इति। सत्ताया उपलक्षणत्वाऽभ्युपगमादित्यर्थः। यद्वा कारणमित्युभयत्र भावप्रधानो निर्देशः, तथा च सत्तायां कारणत्वं वर्त्तते ? नवा ? इति विकल्पार्थः। आद्ये असदपि कारणं, सत्तायाः सत्ताविरहेणाऽसत्त्वात्। द्वितीये सत्तया सदाकाराऽनुगतप्रत्ययोऽपि न जननीय इति तन्मात्रप्रमाणिकायाः सत्ताया विलोपे सर्वं कारणमसदेवेति प्राप्तम्। यद्वा कारणं—कारणत्वम्, अन्तर्भावितसत्त्वं—व्यापकीभूतसत्त्वं ? न वा ? इति विकल्पार्थः। आद्ये सत्तायां सत्तानिवृत्त्या कारणत्वमपि निवर्तते, इति अनुगतप्रत्ययजनकत्वाभावात् प्रमाणाऽभावेन सत्ताविलोपे सर्वकारणमसदेव प्राप्तम्। अन्त्ये सत्तामपहायापि कारणत्वं वर्तते इति त्वयैवासत्कारणमभ्युपेतमित्यर्थः॥ ४॥ २७॥

न्यायमत में द्रव्य गुण कर्म में सत्तानामक पराजाति समवायसम्बन्ध से रहती है। फिर वह सामान्य (जाति), विशेष और समवाय में सामानाधिकरण्य या स्व (सत्ता) समवायिसमवेतत्त्व सम्बन्ध से रहती है। समवायी (उपादान) कारण द्रव्य ही होता है। समवायादि सम्बन्ध से सत्ता (सत्त्व) के सम्बन्ध से ही सब पदार्थ सत्य कहाते हैं। अतः यह विकल्प होता है कि तन्तु आदि जो पट के कारण होते हैं, वे अन्तर्भावितसत्त्व (सत्त्वविशिष्ट) कारण होते हैं अथवा अनन्तर्भावित सत्त्व (सत्त्वरहित केवल तन्तु आदि) कारण होते हैं। यदि अन्तर्भावितसत्त्व कारण होगें तो, सत्ता के सम्बन्ध से तन्तु आदि रूप तो सत् कारण सिद्ध होगें, परन्तु सत्ता में सत्तान्तर के अभाव से तथा विशिष्ट में सत्ता के अभाव से असत् ही कारण सिद्ध होता है। कारण यह है कि सत्ता में वा विशिष्ट में सत्ता के मानने पर, आत्माश्रयादि की प्राप्ति होती है। और अनन्तर्भावितसत्त्वस्वरूप तन्तु आदि कारण होंगे तो भी कारण सत्तारहित असत् ही सिद्ध होता है। सत्ता को परा जाति नहीं मानकर, अन्यधर्म वा अबाधितत्त्व स्वरूप मानकर भी, कारण के विशेषण वा उपलक्षण मानने पर उक्तरीति से असत् कारणत्व की प्राप्ति होती है, अतः असत् ही कारण सिद्ध होता है॥ २७॥

उक्तार्थ का ही आगे प्रपञ्च (विस्तार) किया गया है कि—

तथा हि अन्तर्भूतसत्त्वं यदि कारणत्वं तदा स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरंशतः स्वाश्रयत्वमापादयति। विशिष्टस्यार्थान्तरत्वेऽपि च स्वस्मिन्स्ववृत्तिव्यतिरेकवत्स्वविशिष्टे स्ववृत्तिव्यतिरेकनियमदर्शनात् न सैव सत्ता तस्मिन्निति

अन्यस्या विशिष्टवृत्त्यभ्युपगमे तामनिवेश्य कारणत्वमभ्युपगन्तुः सर्वथैवासत्कारणं पर्यवस्यति, अपराऽपरसत्तानिवेशेन चाऽपर्यवसानमेव ॥ २८ ॥

वार्तिकार्थं प्रपञ्चयति—तथाहीति । ननु सत्ताविशिष्टे दण्डादौ कारणे सत्ता वर्तते चेत्कथमात्माश्रय इत्यत आह—विशिष्टस्येति । स्वस्मिन्स्वं वर्तते इति यथा विरुद्धं, तथा स्वविशिष्टे स्वं वर्तते इत्यपि विरुद्धमेव, विरोधप्रयोजकस्याऽदर्शनस्योभयत्राऽविशेषादित्यर्थः । ननु स्वविशिष्टे स्वं मावर्तिष्ट, स्वभिन्नया द्वितीयया सत्तया प्रथमसत्ताविशिष्टानां सत्त्वं, सत्त्वाच्च कारणत्वमुपपत्स्यते ? इत्यत आह—अन्यस्या इति । प्रथमसत्तायाः अकिञ्चित्करत्वेपि तत्तुल्यतया द्वितीयसत्तामप्यनिवेश्यैव त्वया कारणत्वं वाच्यम् तथा च न प्रथमया न वा द्वितीयया सत्तया सतां कारणत्वमिति सर्वथैवासत्कारणमिति भावः । ननु स्वविशिष्टे स्ववृत्तावात्माश्रयः, अन्योन्यविशिष्टेऽन्योन्यवृत्तावन्योन्याश्रयः, इति पूर्वपूर्वसत्ताविशिष्टापरापरसत्तया सत्स्यात्कारणं च स्यादिति कथमसत्कारणमित्यत आह—अपरापरेति । उत्तरोत्तरसत्तास्वप्यन्तर्भावितसत्त्वं चेदित्यादिविकल्पकदर्थनया क्वापि पर्यवसानं न स्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

असत्कारणत्व का प्रकार दर्शाया जाता है कि अन्तर्भूतसत्त्व रूप (सत्ताविशिष्टत्व) यदि कारणत्व है तो, इस विशिष्ट में सत्ता के अभाव से कारण असत् सिद्ध होता है । यदि सत्ता विशिष्ट में उसी सत्ता की वृत्तिता से विशिष्ट को सत् माना जाय तो विशेष्यांश में सत्ता की वृत्तिता बन सकती है । परन्तु सत्तांश में उस सत्ता की वृत्तिता की प्राप्ति से अंश में स्वाश्रयत्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि विशेषण विशेष्य और उनके सम्बन्ध से विशिष्ट वस्तु पदार्थान्तर नहीं होती है । अतः सत्ताविशिष्ट में सत्ता ही विशेषण रहता है, उसमें सत्ता की वृत्तिता हो नहीं सकती । यदि विशिष्ट को पदार्थान्तर (विशेषण विशेष्यादि से भिन्न) माना जाय तो, भी स्वरूप में स्ववृत्तिता के व्यतिरेक (अभाव) के समान, स्वविशिष्ट में स्ववृत्तिता के व्यतिरेक के नियम के देखने से, वह एक ही सत्ता, स्वविशिष्ट में नहीं रह सकती है । जैसे वही सत्ता अपने आपमें नहीं रहती है । और प्रथम सत्ताविशिष्ट में दूसरी सत्ता को मानने पर, तथा उस दूसरी सत्ता को कारण में नहीं प्रवेश करके प्रथम सत्ताविशिष्ट को कारण मानने वाले को सर्वथा ही असत्कारण सिद्ध होता है, क्योंकि प्रथम सत्ता से सत्कारण की नहीं सिद्धि होने पर, सत्कारण की सिद्धि के लिये द्वितीय सत्ता को मानने पर भी उसको कारण में प्रवेश किये बिना कारण सत् नहीं हो सकता है । यदि कहें कि स्वविशिष्ट में स्ववृत्तिता से आत्माश्रय होता है, और दो में परस्परवृत्तिता मानें तो अन्योन्याश्रय होता है, अतः पूर्व २ सत्ताविशिष्ट में अपर २ अन्य २ सत्ता के प्रवेश से सत् कारण होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार अपर्यवसान = (अनवस्था) की प्राप्ति होगी ॥ २८ ॥

यदि सत्कारणता के लोभ से अनवस्था को स्वीकार करें, तो वह नहीं बन सकता इस आशय से कहा जाता है कि—

न च सत्ताभेदानन्त्यमस्त्येवेत्यपि पादप्रसारिका निस्ताराय । सत्ताभेदे हि सद्बुद्धिव्यवहाराऽनुगमसमर्थनलङ्घिनः प्रथमापि सत्ता न स्याद् इति (सत्त्व) वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्टमिति हा ! कष्टतरम् । न च स्वरूपसत्तोपगमाय स्वस्ति । भिन्नानप्यनुगतबुद्ध्याद्याधानपदेऽभि-

षिश्चता त्वया हि जातिमात्राय जलाञ्जलिर्वितीर्येत। "माभूदनुगतिः स्वरूपसत्त्वस्य"–इति च वदन् तद्वर्मिणीं कारणतां कथमनुगमयितासीति ॥२९॥

ननु बीजाङ्कुरपरम्परावत्सत्तापरम्पराऽस्तु को दोषः? इत्यत आह–न चेति। यथा तावत्यः सत्ताः सत्तामन्तरेणैव सत्यस्तथा दण्डादयोपि सत्तामन्तरेणैव सन्तः सन्तु किमाश्रयापि सत्तया। न च तावतीषु सत्तास्वेका काचित्सत्ता वर्त्तते यया तासामनुगमः, तस्याः पुनरेकस्याः किमनुगमकेन सत्तान्तरेणेति वाच्यम्। तर्हि सा सती न स्यात्, तदसत्त्वे च तासामसत्त्वात् तदाश्रयपर्यन्तमसत्त्वमित्यसदेव कारणं पर्यवसन्नमिति भावः। यद्यपि स्वविशिष्टे स्वं वर्त्तते एव विरोधाभावात् नचादर्शनं सर्वत्र तथैव दृष्टत्वात्। न हि स्वाऽविशिष्टे क्वचित्स्ववृत्तिर्दृष्टा। यदि च स्वविशिष्टे स्वं न वर्त्तेत, तदा स्वविशिष्टमेव न स्यात्स्ववृत्त्यैव हि तत्स्वविशिष्टम्, अन्यथा दण्डिनि दण्डवत्कुण्डलिनि कुण्डलवत् कुण्डलिनि दण्डोपि स्यात्। एवं तर्हि दण्डेपि दण्डः स्यात्? न, आपादकाभावात्। विशिष्टवृत्तित्वमेवापादकम्? इति चेन्न, यद्विशिष्टवृत्ति तद्विशेषणवृत्तीति नियमाभावात्, व्यभिचारस्य दर्शितत्वात्। तत्र दण्डकुण्डलयोर्न विशेषणत्वं, किन्तूपलक्षणत्वम्? इति चेत्तर्हि सत्ताप्युपलक्षणमस्तु, यथा चोपलक्षणेनापि दण्डेन पुरुषो दण्डी, तथा सत्तयापि तादृश्या कारणं सदस्तु। वस्तुतो विशेषणत्वेपि न दोषः, न हि विशेष्यगतधर्मवत्त्वं विशेषणत्वं किन्तु स्वकालनियतव्यावृत्तिबोधजनकत्वं, प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वे सति व्यवच्छेदकत्वं वा, तच्च विशेष्यवृत्तिधर्मविरहेपि समानम्। यत्र संयोगलक्षणा वृत्तिर्दण्डादौ तत्र कथञ्चिद्विरोधोपसंहारेपि समवायलक्षणवृत्तौ स्वविशिष्टे एव स्ववृत्तिरभ्युपगन्तव्या, तत्र स्वाऽविशिष्टदशाया अभावात्, गोत्वाविशिष्टे महिषादौ गोत्ववृत्तिप्रसङ्गात्। तथाच तत्रावश्य स्वविशिष्टे स्ववृत्तिरङ्गीकर्त्तव्या। तत्र केवले वृत्तिः? इति चेन्न, केवलस्यापि स्वविशिष्टत्वात्। नहि तत्र स्वं न विशेषणम्। ननु सत्तायां सत्ताविरहात् कथं साऽनुगतप्रतीतिकारणम्? इति चेन्न, सत्तैव केवलमसती कारणमिति न, किन्तर्ह्यभावादिरप्यसन्नेव कारणम्। तर्हि सत्कारणं, नत्वसदिति कोऽयं तव सिद्धान्तः? इति चेत्, सोपाख्यं कारणम्, न तु निरुपाख्यमलीकमित्यवेहि। तर्हि सत्तास्थाने उपाख्यामावेश्य उपाख्याविशिष्टं निरुपाख्यमेवेति पूर्ववदावर्तनीयम्? इति चेन्न, आवर्तने क्रियमाणे एव व्याघातात्। नह्युपाख्याविशिष्टं निरुपाख्यं वक्तुमपि शक्यते, उपाख्याविशिष्टत्वेनैवोपाख्यातत्वात्, तत्रोपाख्या हि नाम, तथाचाऽभिधानानभिधानयोर्जितं नैयायिकैरिति, तथापि दण्डादौ सत्तापि कारणकोटौ न प्रविशतीति हृदयम्। ननु च सत्ताविरहिण्यपि सत्ता स्वरूपसत्यैव, दण्डादिरपि सत्ताबहिर्भावेण कारणमस्तु स्वरूपसत्तायाः स्वरूपमात्रनिबन्धनत्वात्, प्राभाकरादिभिस्तथैवाङ्गीकाराच्चेत्यत आह—न चेति। स्वरूपसत्त्वस्य प्रतिस्वं विश्रान्तत्वेनाऽननुगतत्वात् अनुगतसद्व्यवहारविलोपप्रसङ्गात्, अननुगतेनैव चाऽनुगतधीजनने गोत्वादिकमपि न स्यादित्यर्थः नन्वनुगमाभावेऽपि स्वरूपसत्तया सत्कारणमिति तावदायातं, तदेव च मया साधयितु मुपक्रान्तमित्यत आह–माभूदिति। कारणताया अनुगमः त्वदभ्युपगतो न स्यात् स्वरूपसत्तायास्तदनुगमकत्वेनाभ्युपेताया अननुगतत्वात्, सत्ताजातेश्च खण्डितत्वादित्यर्थः॥ २९॥

सब सत्ता भी सत्ता वाली है। अतः जैसे घटादि में सद् व्यवहार (शब्दप्रयोग) होता है, वैसे सत्ता में भी सद्व्यवहार है, इसीसे बीजाङ्कुर न्याय से अनन्तसत्ता सिद्ध होती है। यदि मान लिया जाय कि सत्ता भेद की अनन्तता है ही, तो भी इस प्रकार यह पादप्रसारिका (अनवस्था की स्वीकृति) भी निस्तार के लिये नहीं हो सकती है। अर्थात् असत् कारणता का वारण अनवस्था के स्वीकार से नहीं ही सकता है। क्योंकि प्रथम

की एक सत्ता घटादि में सद्बुद्धि और व्यवहार के अनुगम के लिये मानी जाती है। वहाँ अनन्त सत्ता मानने पर सद्बुद्धि और व्यवहार का अनुगम नहीं हो सकेगा। अर्थात् अनन्त सत्ता जैसे सब में अनुगत एक सत्ता के बिना अनुगत = व्यापक सद्बुद्धि और व्यवहार के हेतु होती हैं, वैसे घटादि भी अनुगत एक सत्ता के बिना ही स्वरूप से सद्बुद्धि और व्यवहार के हेतु होंगे। अतः सत्ता भेद को मानने पर प्रथम सत्तामूलक सद्बुद्धि और व्यवहार के अनुगम का उल्लंघन करने वाले के मत में प्रथम सत्ता भ. नहीं सिद्ध होगी, अतः अनवस्थारूप वृद्धि की इच्छा वाले वादी के मूलभूत सत्ता भी नष्ट हुई, अतः अतिकष्ट ही प्राप्त हुआ। और घटादि की तथा सत्ता की स्वरूपसत्ता उपगम (अनुगत बुद्धि व्यवहार) के लिए समर्थ नहीं हो सकती, अर्थात् स्वरूप सत्ता के स्वीकार से कल्याण नहीं है। क्योंकि भिन्न स्वरूपों को भी अनुगत बुद्धि आदि के साधक स्थान में स्वीकार करनेवाले वादी से जातिमात्र का त्याग स्वीकृत होगा। गोत्वादि के बिना ही गो व्यक्ति में स्वरूप से अनुगत गोबुद्धि प्राप्त होगी। यदि कहें कि जाति नहीं हो, और स्वरूपसत्व का भी अनुगम न हो तो भी स्वरूपसत्त्व से मेरा इष्ट सत्कारण-वाद तो सिद्ध ही हो जाता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार कहने वाले तुम सत्तागर्भ (अंश) वाली कारणता को कैसे अनुगम कर सकते हो, क्योंकि सत्ताजाति खंडित हो चुकी है, और स्वरूपसत्ता स्वयम् अननुगत होते कारणता को अनुगत नहीं कर सकती है। अतः सत्ताघटितकारणता के अनुगम के लिये अनुगत सत्ता स्वीकर्तव्य है ॥ २९ ॥

अनुगतसत्ता को नहीं मानने पर असत्कारणवाद की प्राप्ति दर्शाया गया है कि—

किञ्च, स्वरूपसत्त्वं स्वरूपात् घटाद्यात्मनो नाधिकमसतोपि स्वरूपं स्वरूपमेव, नह्यसन् घटादीर्न घटादिः, तथा सति घटादिर्न'—इत्यपि न स्यात्; असतोऽघटादित्वात्। अथ सदपि सत्तामनन्तर्भाव्य कारणं तदानीमसदपि तत्तथास्तु, सत्त्वासत्त्वयोः कारणकोट्यप्रवेशाऽविशेषात्। अथ "न सत्ता कारणकोटिनिविष्टा, किन्तु कारणत्वं सत्त्वं, नियतपूर्वसत्तां हि कारणतां मन्ये" ?—इति मन्यसे, तर्हि मत्पक्षेपि सैव कारणतास्तु। तर्हि कारणस्य सत्तामभ्युपगतवानसीति घट्टकुट्यां प्रभातम् ?—इति चेन्न, भावाऽनवबोधात् ॥ ३० ॥

घटस्य च निरूप्यमाणं घटस्वरूपसत्त्वं घट एव पर्यवस्यति, तथाच घटः कारणमित्याऽऽयातम्, असन्नपि घटो घट एव,—इति मत्पक्षात् त्वत्पक्षे न कश्चिद्विशेष, इत्याह—किञ्चेति। यद्यपि च स्वरूपं सदिति पारमार्थिकमभिमतम्। अयमेव च त्वत्पक्षाद्विशेषः, त्वया दण्डादीनामपारमार्थिकस्याङ्गीकारात्, तथापि परमार्थिकत्वखण्डने हृदयम्। श्लोकद्वितीयार्द्धं व्याचष्टे। अथेति। सत्ताया इवाऽसत्ताया अपि कारणकोट्यप्रवेशादसत्कारणवादित्वाद्वयमपि नोपालभ्याः, यतो दण्डादिः कारणमित्यावयोः समानोऽभ्युपगमः, सच सन्नसन्वेति क्रमेण विचारणीयमित्यर्थः। ननु सत्ताघटितं कारणत्वं न ब्रूमः, किन्तर्हि ? सत्तैव कारणत्वमिति, तथाच कारणत्वमभ्युपगच्छता त्वया सत्ताप्यङ्गीकर्त्तव्येति शङ्कते—अथ नेति। ममापि नियतपूर्वसत्त्वमेव कारणत्वमिति परिहरति—तर्हीति। ननु कारणत्वं कारणानां धर्मः, स चेत्सत्ता, तदा सन्त एव दण्डादयः कारणानि, नाऽसन्तः, इति पर्यवसितं विवादेनेत्यत आह—तर्हीति। भावमाविष्करोति ॥ ३० ॥

स्वरूप सत्ता घटादिरूप स्वरूप से भिन्न वस्तु नहीं है। और असत् घटादि का स्वरूप भी स्वरूप ही है, अतः वह भी स्वरूप सत् है, क्योंकि असत् = (व्यावहारिक) घटादि, घटादि नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यदि असत् घटादि खपुष्प समान नहीं हों तो, घटादि नहीं हैं, ऐसा व्यवहार भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव के व्यवहार में प्रतियोगी (निषेध्य) वस्तु की प्रसिद्धि हेतु होता है, और असत् में यदि अघटादित्व (घटादित्वाभाव) हैं, तो प्रतियोगी के बिना घटादि का निषेध कैसे हो सकता है ? तथा घटादि के विना घटत्वादि की अधिकरणता किसमें रहेगी ? अतः असत् भी घटादि प्रतियोगिक अधिकरण रूप से प्रसिद्ध होने से कारण हो सकते हैं ॥

उक्तरीति से सत्ताविशिष्ट के कारणतापक्ष में असत् कारणता का प्रतिपादन करके, सत्तोपलक्षित के कारणता पक्ष में श्लोक के उत्तरार्द्ध से असत् कारणता का प्रतिपादन किया गया है कि—सत् भी यदि सत्ता को कारण कोटि में अन्तर्भाव नहीं करके-सत्ता से उपलक्षित होकर कारण होता है, तो इस अवस्था में वह असत् भी असत्ता को उपलक्षण करके कारण हो सकता है, इस प्रकार सत्त्व और असत्त्व के कारण कोटि में प्रवेश नहीं होने से, दोनों में भेद नहीं रहता है। दोनों प्रकार से कारण का अङ्गीकार तुल्य होता है ॥

यदि मानें कि सत्कारणवाद में यद्यपि पृथक् सत्ता कारण कोटि में निविष्ट नहीं होती है, तथापि कारणत्व ही सत्त्व है, क्योंकि नियत पूर्वसत्ता ही की कारणता मानते हैं, तो मेरे मत में भी वही नियत पूर्ववृत्ति सत्ता कारणता हो। यदि कहें कि इस प्रकार कारणता मानने पर आपने कारण की सत्ता मान ली, इससे घट्टकुटी में प्रभात हुआ। अर्थात् मार्गशुल्क ग्राहक के भय से कोई पथिक रात्रि के समय कुमार्ग से गमन किया, परन्तु प्रातःकाल में शुल्क ग्राहक की कुटी ही पर पहुँच गया, वैसे ही कारण सत्त्वापत्ति के भय से असद्वाद की कथा करने पर भी सत् वाद ही सिद्ध हुआ, तो यह कथन, भाव = तात्पर्य के अज्ञान से है ॥ ३० ॥

कारणता रूप सत्ता के मानने पर भी उसके बाध होने से वह पारमार्थिक सत् नहीं है, इत्यादि अपने भाव को आगे प्रकट किया गया है कि—

सत्तामसतीमभ्युपगच्छतापि सत्ता मयाऽभ्युपगतैव, अन्यथा कासावसतीति। त्वमपि किं सत्तां तत्सत्तामन्तर्भाव्य कारणत्वमिच्छसि ? नत्वेवं, पूर्ववत्क्वापि सत्तात्यागो वा अनवस्थायां वा पर्यवसानं स्यात्। असत्त्वाविशेषात्कारणनियमः कथं स्यात् ?—इति चेन्न, सत्त्वाविशेषेपि तुल्यत्वात् ॥ सत्त्वेऽस्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधानं, तस्य, तज्जातीयस्य वा, त्वत्पक्षे त्वसत्त्वाऽविशेषाद्व्यतिरेकः परं, सोप्यनियतः, यदा करणाऽभावस्तदा कार्याभावावश्यम्भावानभ्युपगमात्, नित्याऽसतः कारणस्याऽसत्त्वे एव कदाचित्कार्योत्पादात्, अन्वयस्तु न क्वचिदपि ?—इति चेत्, न तुल्यत्वात् ॥ ३१ ॥

सत्तामिति। न वयमसतीमपि सत्तां नाभ्युपेमः, किन्तर्हि ? सतीम्, अन्यथा किमुद्दिश्याऽसत्त्वमपि मया विधेयमित्यर्थः त्वयापि या सत्ता कारणत्वेनाभ्युपेयते सा स्वान्तर्भावेणैव कारणत्वं वाच्यम्, स्वविशिष्टा च सा त्वन्मतेऽप्यसत्येव, यदि च स्वात्मानं

तटस्थीकृत्य सा सत्ता कारणत्वं तदा तया सत्तया तटस्थया कारणता सती निर्वहेत्, सत्तैव तु न सती, तस्याः सत्तान्तराभावात्, भावे वा पुनरपर्यवसानं स्यात्, नवा स्वस्य तटस्थीकरणे कारणत्वं सत्त्वमिति निर्वहेदित्याह—त्वमपीति। ननु यद्यसत्कारणं तदेदं कारणमिदमकारणमिति किंकृतो नियमः? इत्याह-असत्त्वेति। त्वन्मतेपि कारणाऽकारण-विभागोऽनुपपन्नः, सत्त्वाऽविशेषादित्याह—सत्त्वेति। ननु सतः कारणत्वे दण्डजातीये सति घटः, व्यतिरेके च तस्य घटजातीयस्य व्यतिरेकः,—इत्यन्वयव्यतिरेकौ कारणता-ग्राहकौ सम्भवतः, नासतः कारणत्वे ताविति शङ्कते-सत्त्वे इति। यथा सतोऽन्वय-व्यतिरेकौ तथैवासतोपि, परन्तु निरूप्यमाणौ तावप्यसन्तौ पर्यवस्यतः,-इत्यन्यदेत-दित्याह—तुल्यत्वादिति॥ ३१॥

सत्ता को असत् मानते हुए भी तन्तु आदि में व्यावहारिक सत्ता मुझसे स्वीकृत ही है। भाव यह है कि अनात्म स्वरूप कोई पदार्थ स्वरूप से या सत्ता जाति से सत्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उक्त रीति से आत्माश्रयादि, और अनन्त सत्ता मानने पर अननुगम की प्राप्ति होती है। प्रवाह रूप सत्ता में अनुगम के लिए एक पृथक् सत्ता मानी जाय तो, उस पृथक् सत्ता का अनुगम अन्य सत्ताओं के साथ नहीं होगा। अतः कारण के स्वरूप सत्त्व से कार्य का सत्त्व होता है। अतएव तन्तु का सत्त्व ही पट का सत्त्व है, तन्तु से भिन्न पट का स्वतन्त्र पारमार्थिक सत्त्व नहीं है, इस प्रकार तन्तु का भी अपने कारण से भिन्न पारमार्थिक सत्त्व नहीं है। इस रीति से सब मायिक जगत् का माया (प्रकृति) से पृथक् सत्त्व नहीं है, किन्तु मायिक सत्त्व है। यह मुझसे माना जाता है। परन्तु माया में भी स्वतः सत्त्व नहीं है ब्रह्म सत्त्व से माया सत्य होती है। वह सत्ता स्वरूप ब्रह्म सबका अधिष्ठान (आश्रय) है। अतः सत्ता स्वरूप में माया सहित जगत् है। जगत् में सत्ता स्वरूप ब्रह्म नहीं है, परन्तु भ्रम से विपरीत आधाराधेय भाव प्रतीत होता है, उस भ्रम सिद्ध को हम नहीं मानते हैं। किन्तु व्यावहारिक मायिक सत्त्व को मानते हैं, यदि सत्ता को नहीं मानें तो असत् किस को कहा जा सकता है। अतः तन्तु आदि में असत् सत्ता मुझे मान्य है। और तुम भी जो तन्तु आदि में कारणत्व रूप सत्ता मानते हो, वहाँ उस कारणत्व रूप सत्ता में अन्य सत्ता मानते हो या नहीं, यदि नहीं मानते हो, तो कारणत्व असत् होता है, और यदि मानते हो, और उसे कारण कोटि में प्रवेश करके कारणत्व मानते हो, तो वह सत्ता विशिष्ट कारणत्व इस प्रकार सत्य नहीं होगा, क्योंकि द्वितीय सत्ता के बिना जैसे प्रथम कारणत्व रूप सत्त्व असत् रहता है, वैसे तृतीय के बिना द्वितीय असत् रहता है, और तृतीय सत्ता भी मानो तो अनवस्था भय से कहीं सत्ता को त्यागने पर मूल पर्यन्त असत्ता की प्राप्ति होगी, और नहीं त्यागने पर पूर्वतुल्य अनवस्था में ही पर्यवसान होगा। अतः उक्त रीति से असत् कारणवाद ठीक है॥

अभिप्राय के अज्ञान से प्रश्न है कि घट से प्रति कारण दण्डादि और अकारण रासभादि के असत्त्व के अविशेष = तुल्य रहते कारण का नियम कैसे होगा? कि घट के दण्डादि कारण हैं, अन्य नहीं। उत्तर यह है कि आपके मत में भी भी कारणकारण में सत्त्व के तुल्य रहते कारण का नियम कैसे होगा? यह आपत्ति तुल्य है। अतः मेरे मत

में संशय करना युक्त नहीं है। यदि कहें कि सद्वाद में तो कारण व्यक्ति विशेष वा कारण जातीय के कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान=अनुसरण है कि कारण के रहते कार्य होता है, कारण के अभाव रहते कार्य का भी अभाव रहता है। और आपके कारण के असत्त्व पक्ष में तो असता को अविशेष = तुल्य सदा वर्तमानता, के कारण, केवल व्यतिरेक है, कारण का अभाव है। यह भी नियत नहीं है कि कारण के अभाव रहते कार्य का अभाव हो, क्योंकि कारण के असत्त्व रहने पर भी कभी कार्य की उत्पत्ति होती है, अतः जब कारण का अभाव हो, तब कार्य के अवश्य ही अभाव के अस्वीकार से नियत व्यतिरेक नहीं सिद्ध होता है। यद्यपि वेदान्त मत में जैसा कारण का असत्व सदा रहता है वैसा असत्त्व कार्य का भी सदा रहता है अतः नियत व्यतिरेक कहा जा सकता है। तथापि नैयायिक का भाव यह है कि असत् में सत्त्वापादन को ही कार्य कहा जाता है। अतः असत् कारण से भी सत् कार्य अवश्य होता है। इससे नियत व्यतिरेक नहीं रहता है, क्योंकि नित्यासत् = सदा असत् कारण के असत्त्व रहते ही कभी कार्य की उत्पत्ति होती है। और असत् कारण का अन्वय = सत्त्व तो कभी होता ही नहीं जिससे कारण के सत्त्व से कार्य का सत्त्व हो। इस रीति से सत्कारण वाद में अन्वय व्यतिरेक का नियम कारण का नियामक हो सकता है, असत् कारणवाद में कोई नियामक नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि कार्य से नियतपूर्वसत्त्व रूप व्यावहारिक (मायिक) सत्त्व के कारण मानने के कारण सद्वादी के समान असद्वादी के मत में अन्वय व्यतिरेक तुल्य होने से कारण का नियम सिद्ध होता है। तथा सत्ताविशिष्ट या सत्ता उपलक्षित में सत्त्व के अभाव से अन्वय व्यतिरेक का अभाव कारण मत में भी तुल्य है ॥ ३१ ॥

कैसे तुल्यता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा गया है कि—

अन्वयो नास्तीत्यभ्युपगच्छताप्यन्वयोपगमात् । अन्वयस्यापि सत्तान्तर्भावने कथितदोषापत्तेः । 'एतेन "आशामोदकतृप्ता ये, ये चोपार्जितमोदकाः । रसवीर्यविपाकादि, तुल्यं तेषां प्रसज्यते"—इत्यस्यापि बाधकत्वमाशामोदकायते, सत्तान्तर्भावाऽनन्तर्भावाभ्यां प्रत्यादेशात् , 'आशामोदकादिनापि च रसवीर्यविपाकादिजननात् । तदसत्कथं कार्यं स्यात् ?—इति चेन्न, सत्तामन्तर्भाव्य कार्यत्वोपगमे कारणवत्कार्येपि उक्तदोषस्य, अनन्तर्भावे वाऽविशेषस्य, पूर्ववदावृत्तेः ॥ ३२ ॥

किञ्च 'असतोऽन्वयो नास्ति'—इति वदता त्वयाप्यन्वयो निषेध्यत्वेनाभ्युपगम्यते एवेत्याह—अन्वय इति। ननु तथापि सन्नन्वयो नास्ति, स च प्रयोजकः ? इत्यत आह—अन्वयस्यापीति। "अन्तर्भावितसत्त्वश्चेदन्वयो न स संस्ततः। नान्तर्भावितसत्त्वश्चेदन्वयो न स संस्ततः" इति दोषापत्तेरित्यर्थः। ननु यद्यसत्कारणं तदा भोजनेऽभोजने च रसवीर्यादितौल्यं स्यादित्यत आह—एतेनेति । आशा प्रत्याशा, मनोरथ इति यावत्। उपार्जनं—भक्षणम्। रसः—आद्यो धातुः। वीर्यं—बलं, चरमधातुः। विपाकः—परिणामः लौहित्यमिति यावत्। 'रसो मधुरादि रि'त्यादि व्याख्यानमयुक्तं, तस्य भोजनाऽजन्यत्वात् । आदिपदादिन्द्रियपाटवादिग्रहणम्। एतेनेत्यस्याऽतिदेशमाह—सत्तेति। सतः कारणत्वमभिप्रेत्य बाधोऽयं भवताभिधीयते, तच्चान्तर्भावितसत्त्वं चेदित्यादिना पूर्व-

मेव निरस्तमित्यर्थः। भोजनाऽभोजनयोस्तुल्यत्वापादनमिष्टापरया निरस्यति—आशामोदकेति। भोजनेप्यसन् रसादिरभोजनेपि तथेति तौल्यमेवेत्यर्थः। सत्तामिति। "अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कार्यं स्यात्तदसत्ततः। नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कार्यं स्यात्तदसत्ततः" इति दोषापत्तेरित्यर्थः। दृष्टं च गुञ्जापुञ्जस्थले असता हुताशनेनाऽसतः शीतापनोदस्योत्पत्तिर्वानराणाम्, असत्यैव च मत्तकाशिन्या सम्भोगसुखमसदेव स्वप्ने सुप्तानामिति भावः। यद्वा ननु प्रागसतः सत्त्वं कार्यत्वम्, इति कार्यसत्तावश्यमङ्गीकार्येत्यत आह—सत्तामिति। यथानियतपूर्वसत्त्वं कारणत्वमित्यत्राऽसती सत्ताभ्युपगता, तथा कार्यसत्तामप्यसतीमङ्गीकृत्यैतन्मया समाधेयमित्यर्थः॥ ३२॥

असत् का अन्वय नहीं है ऐसा मानने वाले वादी से भी निषेध के प्रतियोगी (सम्बन्धी) रूप से असत् का अन्वय स्वीकृत होता है। इससे तुल्यता होती है। यदि कहा जाय कि सत् कारण का सत् अन्वय सत्वाद में कार्य कारण का नियामक होता है, और असत् वाद में सत् अन्वय नहीं है, यह भेद है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सत् अन्वय की भी यदि विशिष्ट को कारणत्व का नियामक (हेतु) मानेंगे, तो पूर्वोक्त असत् कारणवाद प्राप्त होगा, उपलक्षित को नियामक मानने पर भी पूर्व तुल्य असत् कारणवाद प्राप्त होगा। इससे वक्ष्यमाण भी आपका असत् कारणवाद में बाधक का कथन आशामोदक तुल्य मिथ्या है। आशामोदक (कल्पित प्रातिभासिक लड्डू) से और उपार्जित सत्यमोदक से जो तृप्त हैं, उन दोनों को प्रथम धातुरूप रस और मांसादि तथा अन्तिम धातुरूप वीर्य और पुष्टि आदि रूप विपाक फल तुल्य ही असत् कारणवाद में प्राप्त होता है, क्योंकि असत् कारणवादी जैसे न्यायाभ्युपगत सत् से कार्य की सिद्धि होती है, वैसे ही स्वाभ्युपगत असत् से भी कार्य की सिद्धि कहते हैं। यह बाधक इसलिये मिथ्या है कि सत्ता के कारण कोटि में अन्तर्भाव और अनन्तर्भाव रूप विकल्प द्वारा कारण के सत्त्व का प्रथम प्रत्यादेश = खण्डन किया गया है। इससे सत्कारणवादी के मत में भी असत् ही कारण से कार्य की सिद्धि होती है। और स्वप्नादि में आशामोदकादि से भी तात्कालिक रसवीर्यादि की उत्पत्ति होती है। अतः उक्त बाधक का अभाव है। यदि कहें कि उत्पत्ति से पूर्व असत् की सत्ता ही कार्यता है, तो स्वप्न के असत् रसादि में आशामोदकादि की कार्यता कैसे हो सकती है? अर्थात् असत् रसादि कार्य नहीं हो सकते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सत्ताविशिष्ट में कार्यता मानने पर कारण के समान कार्य भी असत् सिद्ध है। और सत्ता से उपलक्षित में कार्यता मानने पर भी कारण के समान असत् सिद्ध होता है, इत्यादि॥ ३२॥

उक्तरीति से सत्कारणवाद में भी असत्कारणता की प्राप्ति से इस सत् असत्कारणादि विषयक विचार को त्याग करके ही समयबन्ध पूर्वक कथा का आरम्भ युक्त होता है, इत्यादि आशय से कहा गया है कि—

तस्मात्—

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा॥ ५॥

आस्तां प्रतिबन्दिग्रहग्रहः, कथं पुनरसतः कारणत्वमवसेयम् प्राक्सत्त्व-

नियमस्य विशेषस्यानभ्युपगमात् , असत्त्वस्य चाऽविशेषात् ?-इति चेन्न "इदमस्मान्नियतप्राक्सद्" इति बुद्ध्याविशेषात् ॥ ३३ ॥

न सत्कारणं, नाप्यसत्कारणं, किन्तु नियतपूर्ववर्त्तिकारणं, तच्च यथा सत्, तथा असदपि, इति सदेव कारणमिति त्वत्कथावत् असदेव कारणमिति मत्कथाप्याऽऽपाततो वृथा, विचारस्तु करिष्यते इत्युपसंहरति-तस्मादिति ।

ननु, असत्त्वाविशेषात्कारणनियमः कथं स्यात्,—इति मदुक्ते 'सत्त्वाविशेषेपि तुल्यत्वात्'-इति तु त्वया प्रतिबन्दिः कृता, प्रतिबन्दिश्च न दूषणम्, इत्यसतः कारणत्वं प्रमापकाभावादनुपपन्नमेवेति शङ्कते-आस्तामिति । यद्वा पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ-इति साम्यमात्रं त्वयोक्तम् , तच्चानुपपन्नं, सत्त्वासत्त्वपक्षे ग्राहकसत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां विशेषादिति शङ्कते-आस्तामिति । प्राचि काले सत्त्वं कारणत्वं ग्राह्यं, तदस्मन्मतेस्ति, त्वन्मते तु सर्वदैवासत्त्वम् , इति प्राचिकाले सत्त्वं ग्राह्यं नास्त्येव किं गृह्येतेत्यर्थः । ग्राह्यानुपपत्त्या ग्राहकाऽनुपपत्तिर्न भवत्यसत्यपि दण्डादौ घटप्राक्सत्त्वबुद्धिसम्भवात् शुक्तौ रजतत्वबुद्धिवत् सा बुद्धिर्दण्डचक्रादावेव न तु रासभादावपि, येन तत्रापि घटकारणत्वं व्यवह्रियेतेति परिहरति-नेति ॥ ३३ ॥

तस्मात् = सत्त्व के कारण कोटि में नहीं निविष्ट होने से, हम दोनों वादी के हेतुत्व (कारणत्व) के कार्य से पूर्वकाल में सम्बन्ध के नियम स्वरूप तुल्य सिद्ध होने पर = पूर्वसम्बन्ध से ही हेतुत्व के सिद्ध होने पर, हेतु के स्वरूप से बहिर्भूत सत्त्वासत्त्व की कथा (विचार) व्यर्थ है ॥

स्वपक्ष में दोष आने पर, यथार्थ उत्तर न देकर, वादी के पक्ष में तुल्य दोष दिखा कर उसका खण्डन करना, प्रतिवन्दिग्रह = ग्रहण कहा जाता है । और प्रथम असत्त्व के अविशेष रहते कारण का नियम कैसे होगा ? ऐसा कहने पर कहा गया है कि सत्त्व के अविशेष रहते भी नियम कैसे होगा ? यह तुल्य है । वह प्रतिवन्दी है । अतः वादी कहता है कि प्रतिवन्दी के ग्रहण के आग्रह रहे, अर्थात् प्रतिवन्दी से असत् कारण माना जाय, सत्कारण वाद का निषेध हो, तो भी असत् के कारणत्व का ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि पूर्वकालिक सत्त्व से नियम रूप विशेष को मानते नहीं हैं । और असत्त्व में भेद = विशेष नहीं है । इसका यह उत्तर है कि कारण के असत् होने पर भी "यह कारण इस कार्य से नियम पूर्वक पूर्वकाल में सत् = वर्तमान रहता है" इस प्रकार की बुद्धि से ही अकारण से कारण में विशेष = भेद होता है, जिससे कारणत्व का ज्ञान होता है । इससे कारणत्व के निश्चयाऽभाव रूप दोष नहीं है (प्रथम असत् के कारणत्व की अनुपपत्ति का खण्डन करके यह कारणत्व के ज्ञान की अनुपत्ति की शंका करके उत्तर दिया गया है) ॥ ३३ ॥

बुद्धिमूलक सत्ता की प्राप्ति भ्रान्तिबुद्धि से भी होगी ऐसी शंका होती है कि—

भ्रान्तैवंबुद्धिगोचरेऽतिप्रसङ्गः ?-इति चेन्न "यादृश्या हि धिया त्रिचतुरकक्षाबाधाऽनवबोधविश्रान्तया वस्तुसत्त्वनिश्चयस्ते, तादृश्यैव विषयीकृतस्य ममापि कारणतानिश्चयः केवलं ततः परास्वपि कक्षासु बाधात्पूर्वपूर्वभ्रान्तिसम्भवेन न तावता सत्त्वावधारणं वयं मन्यामहे-इति विशेषः, 'परद-

र्शनसिद्धान्तस्य भूरिकक्षाधाविनोऽपि ततः परकक्षाबाध्यमानत्वेनाऽतथाभावोपगमात् अन्यथैकदर्शनपरिशेषः स्यात् ॥ ३४ ॥

रासभादावपि कदाचिदेवं बुद्धिसम्भवान्न हि भ्रान्तिहेतवोऽपि केनचिन्नियम्यन्ते, इति तस्यापि घटकारणत्वतद्व्यवहारयोः प्रसङ्ग इत्याह–भ्रान्तैवमिति। कारणाकारणयोरेवंबुद्धिसम्भवेऽपि कारणे झटिति बाधानवतारोऽकारणे तु झटित्येव बाधावतारः, इत्यवतीर्णबाधाऽनवतीर्णबाधबुद्धिकृतो विशेष इत्याह–यादृश्येति। ननु यद्यनवतीर्णबाधया धिया प्राक्सत्त्वं विषयीकृतं, तदा तत्पारमार्थिकमभ्युपगन्तव्यं त्वयेत्यत आह–केवलमिति। आपाततोऽबाधविशेषमात्रमाचक्ष्महे, पर्यन्ततस्तत्रापि बाधाऽवतार एवेति न वस्तुतत्त्वस्थितिरिति भावः। यद्यपि क्रमेणाऽपि बाधितया धियाऽबाधितया वा बाधः। आद्ये न क्षतिः, अन्त्ये तदबाधो वस्तुतत्त्वाधीन एव त्वया वाच्य इति सिद्धं वस्तुतत्त्वम्। न च तत्राप्यबाधितबुद्धिविषयत्वमेव शरणं तत्राप्येतद्विकल्पाऽवतारात्। किञ्चाऽन्यथात्वबोधनं बाधः? अन्यथात्वप्रमापणं वा। आद्ये बाध्यापि बुद्धिर्बाधिका स्यात्, अन्त्ये तत एव वस्तुव्यवस्थितिः, तथापि सर्वोऽयं विशेषो बुद्धिकृतो न वस्तुकृत इति भावः नन्वापाततश्चेद्बाधस्तदा तावता तत्र क्रमिकबाधाऽभावोऽप्युपनेष्यते–इत्यत आह–परदर्शनेति। शब्दनित्यत्वे मीमांसकाभिमते नैयायिकस्य त्रिचतुरकक्षाबाधाऽनवतारेऽपि क्रमबाध्यत्वस्वीकार इत्यर्थः, तथा च–यथा कतिपयकक्षायां बाधविरहाऽधीनोऽभ्युपगमोऽभ्युपगम्यमानो वार्थः सिद्धान्तस्तथा कारणत्वाकारणत्वव्यवस्थितिरपि तावतैव, न तु सर्वप्रकाराऽबाध्यतयेति भावः। ननु तथैव किं न स्यादित्यत आह–अन्यथेति। सर्वप्रकाराऽबाध्यत्वनिबन्धनश्चेत्सिद्धान्तस्तदैक एव सिद्धान्तो भवेत् सर्वेषां दर्शनानामिति सिद्धान्तभेदकृतो दर्शनभेदोऽपि न स्यादित्यर्थः। यद्वा त्रिचतुरकक्षाबाधवैधुर्यमात्राद्यदि पारमार्थिकत्वं मनुषे, तदा सर्वदर्शनसिद्धान्तः पारमार्थिक एवेति पारमार्थिकत्वाऽपारमार्थिकत्वदैमत्यनिबन्धनो दर्शनभेदो न भवेदित्यर्थः। ननु सर्वबाध्यत्वेऽपि दर्शनभेदोऽनुपपन्न एव, मैवम्, मद्दर्शनस्याऽबाध्यत्वात्, तथा च–वक्ष्यामः 'तत्त्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वेती'ति भावः ॥ ३४ ॥

यदि पूर्ववृत्तित्व की बुद्धि से कारण में बुद्धि विषयत्व ही विशेष रहता है, यह माना जाय तो भ्रान्त की जो घट के अकारण रासभादि में कारणत्व को विषय करने वाली बुद्धि होती है उस बुद्धि के विषय रासभादि में घट कारणत्व की अतिप्रसक्ति होगी। परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि भ्रान्त बुद्धि का शीघ्र बाध होता है। और तीन चार ज्ञान की कक्षा (अवस्था) अनुव्यवसायादि में बाध के अदर्शन से निश्चित बुद्धि से जैसे आपको वस्तु के तत्त्व का निश्चय होता है, वैसे ही दो चार कक्षा में अबाधितबुद्धि से विषय का अनुभव करके हमें कारणता का निश्चय होता है, शीघ्रबाधित बुद्धि से नहीं। केवल इतना ही भेद है कि उक्त तीन चार कक्षाओं के आगे की कक्षाओं में केवल अद्वैत ब्रह्म के बोध से कारणों के परम्पराविषयक बोधों के बोध देखने से पूर्व पूर्व में भ्रान्ति के सम्भव से, हम दो चार कक्षा के अबाध मात्र के दर्शन से कारण वस्तुके सत्त्व के निश्चय को नहीं मानते हैं ॥

यदि कहें कि तीन चार कक्षा में बाधाभाव के दर्शन से सदा अबाधितत्व के अनुमान द्वारा सत्यकारण वाद सिद्ध होता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दो चार कक्षा में अबाधित बुद्धानुयायिसम्मत शून्य, तथा पूर्वमीमांसक सम्मत शब्द नित्यत्व के पश्चात् बाध को आप भी स्वीकार करते हैं। अतः अन्य दर्शन के सिद्धान्त के दो चार या बहुत कक्षा में अबाधित होने पर भी उसको आगे की कक्षाओं में स्वमतानुसार

बाध्यत्व के स्वीकार से सदा अबाधितत्त्व का अनुमान नहीं हो सकता है। और यदि तीन चार कक्षा में बाध के अदर्शन से सदा अबाध का अनुमान हो, तो सब दर्शनों का सिद्धान्त दो चार कक्षा में अबाधित रहते हैं, अतः सर्वदा अबाधितत्व के अनुमान से सब के लिए सब मान्य होंगे, जिससे एक दर्शन ही परिशेष रहेगा, परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः सदा बाधाभाव का अनुमान नहीं हो सकता है ॥ ३४ ॥

एतेन 'असत्त्वाविशेषेपि कथं कस्यचित्पक्षस्य त्रिचतुरकक्षाधावित्वाऽधावित्वमास्ताम्'—इत्यपि निरस्तम्।

अनेवंबुद्धिविषयतादशायां को विशेषः? इति चेत्, 'यदा कदापि तादृशबुद्धिविषयतैव। अन्यथा कथय कथम् अन्यदातनतादृशबुद्धिविषयतयाऽन्यदा सत्त्वं स्यात्। तदासत्त्वमन्यदास्थेन गृह्यते?-इति चेत्, अन्यकालिकमेव तर्हि तत् तदातनकारणत्वोपयोगीति समानम्। तदेतत्संवृतिसत्त्वमिति गीयते ॥ ३५ ॥

ननु रासभे घटपाकसत्त्वज्ञानवद्दण्डेपि चेत्तद्बाध्यमेव तदा त्रिचतुरकक्षाबाधितत्वाऽबाधितत्वलक्षणोपि विशेषो न भवत्येवेत्यत आह–एतेनेति। शुक्तौ रजतत्वज्ञानस्य, शब्दे नित्यत्वज्ञानस्य च, बाध्यत्वाऽविशेषेपि त्वयाप्येतादृशस्यार्थनियमस्याऽभ्युपगमेनेत्यर्थः। यद्वा परकीयसर्वसिद्धान्तानां बाध्यत्वे बहुकक्षाधावित्वाऽधावित्वविशेषः किंनिबन्धन इत्यत आह–एतेनेति।

परसिद्धान्तस्थले रजतज्ञाने च त्वयाप्येतादृशस्य विशेषस्याऽभ्युपगमेनेत्यर्थः। ननु कारणाऽकारणयोः कार्यप्राक्कालसत्त्वासत्त्वे यदि न वस्तुनी, किंतु बुद्धिमात्रकृते, तदा तादृशबुद्ध्यभावकाले कारणस्याऽकारणाद्विशेषो न भवेदित्याशङ्कते–अनेवमिति। इदमस्मान्नियतप्राक्सदिति बहुकक्षाधाविनियतबुद्धिविषयत्वाऽत्यन्ताभावाऽनधिकरणत्वमेवाऽकारणात्कारणस्य विशेष इति परिहरति–यदा कदापीति। यद्यपि यस्य कस्यचिद्रासभेपि तादृशबुद्धिविषयत्वमिति सोप्येवं कारणं स्यात्, करणेपि च कस्यचित्प्रथमबुद्ध्यैव कारणत्वव्यवहारो, नाऽनेककक्षाधाविधिया अन्यस्याऽनेककक्षाधाविबुद्धिविषयत्वसत्त्वेप्यन्यस्य तद्ज्ञानात्कारणत्वव्यवहारो न स्यादिति कारणत्वं वस्तु स्वीकर्तुमर्हति, तथापि तादृशी बुद्धिः तद्व्यवस्थापिकेति तवापि दुर्घटमिति हृदयम्। अन्यथेति। यदा कदाचित्तादृशबुद्धेरतन्त्रत्वे तवापि तादृशबुद्धिविरहदशायां प्राक्सत्वस्य वस्तुनः कथं सिद्धिरित्यर्थः। तादृशबुद्ध्यभावदशायामपि कारणत्वमन्यदास्थेन तादृशबुद्धिविशेषेण गृह्यते इति शङ्कते—तदा सत्त्वमिति। यथाऽन्यकालीनं तादृशज्ञानमन्यकालीनमपि कारणत्वं व्यवस्थापयति तथाऽन्यकालीनमपि तादृशबुद्धिविषयत्वमन्यकालीनस्यापि कारणत्वं भविष्यतीति परिहरति—अन्यकालिकमेवेति। ननु तवैवेयं कल्पनेत्यत आह—तदेतदिति। संवृतिस्तावत्सती, तया स्वकीयेन सत्त्वेन स्वविषयस्याऽसत्त्वं संव्रियते इति संवृतिसत्त्वं परेपि मेनिरे, यदाहु–"पररूपं स्वरूपेण यथा संव्रियते धिये"ति भावः ॥ ३५ ॥

यहाँ शंका होती है कि अद्वैत मत के अनुसार आत्मभिन्न सब वस्तु में असत्त्व के तुल्य रहते भी शरीरात्मवाद पक्ष, शुक्तिरजत सत्त्व पक्ष का क्यों शीघ्र दो चार कक्षा में ही बाध होता है? तथा शुक्ति रजत का क्यों शीघ्र बाध होता है? इसी तरह भिन्न कर्ता भोक्ता आदि पक्ष का तथा सत् कारणवाद रूप पक्ष का तीन चार कक्षा में भी अबाध कैसे होता है? जिससे आगे की कक्षाओं में बाध के लिये दौड़ना पड़ता है, तो इस शंका का उत्तर दिया जाता है।

एतेन = उक्त दर्शन सिद्धान्त भेद से ही, असत्त्व के अविशेष रहते भी किसी के दो चार कक्षा धावित्व (स्थायित्व) किसी के अधावित्व (अस्थायित्व = शीघ्रबाध्यत्व) कैसे होता है ? यह शंका भी निरस्त हो गई। क्योंकि नैयायिक की दृष्टि से भी बुद्ध के शून्य तथा क्षणिकविज्ञान सिद्धान्त जैसे अस्थायो है, वैसे वैदिक शब्दनित्यत्वादि वाद सम्बन्धी सिद्धान्त अस्थायी नहीं है, अत एव नैयायिक को अपना सिद्धान्त सर्वथा अबाधित प्रतीत होता है, और अन्य सिद्धान्त में कहीं दो कक्षा तक कहीं चार कक्षा तक, और कहीं उससे भी अधिक कक्षा तक स्थायी प्रतीत होता है। परन्तु अन्य कोई सिद्धान्त सर्वथा अबाधित नहीं प्रतीत होता है। शुक्ति में रजतत्त्व ज्ञान के और शब्द में नित्यत्व ज्ञान के बाधित होने पर भी दोनों में तुल्यता नैयायिक भी नहीं मानते हैं॥

यदि यह कहा जाय कि कार्य से पूर्ववृत्तित्व और अवृत्तित्व के ज्ञान रूप ही कारण और अकारणमें भेद है, पूर्वकालिक सत्त्वासत्त्व कृत नहीं। परन्तु जिस काल में यह कारण बीजादि अमुक कार्य से नियत पूर्ववृत्ति है, ऐसा ज्ञान किसी का नहीं है, उस काल में उस बीजादि में कारणत्व रूप विशेष की सिद्धि कैसे होगी ? उत्तर यह है कि कदाचित् = कभी कारणत्व बुद्धिविषयता ही कारण के स्वरूप स्थिति कालपर्यन्त उसमें अकारण से भेद रहता है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो वर्तमान कालिक कारण विषयक सद्बुद्धि से भूतभाविकालिक कारण के सत्त्व की सिद्धि आपके मत में कैसे होगा ? यह कहें। यदि कहें कि मेरे मत में कारण के सत्त्व होने से, भूतभावि कालिक सत्त्व वर्तमानकालिक ज्ञान से अनुमित होता है, तो कहा जाता है कि इसी प्रकार अन्यकालिक ही वह कारणता का ज्ञान, तदातन (ज्ञानाभाव काल) में भी कारणत्व के उपयोगी है, अर्थात् कारणत्व का साधक है। और यह ज्ञान विषयता ही संवृत्तिसत्त्व कही जाती है। भाव यह है कि परमार्थ सत् एक ब्रह्म है और उससे भिन्न सब कार्य कारण असत् हैं। परन्तु कभी जीव को किसी कारण विषयक पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान होता है, वह ज्ञान उस कारणगत असत्त्व को सम्यक् आवरण करने वाला अविद्या रूप होता है। अतः पारमार्थिक सत्त्व भासता है, यह भासने वाला सांवृत्तिक सत्व कहा जाता है। तथा सृष्टिकाल में सर्व कालिक सब वस्तु को विषयक करने वाली ईश्वरीय बुद्धि विषयता से भी कारणों में मायिक सत्त्व सिद्ध होता है॥ ३५ ॥

असती सा न विशेषिका, सती सा नेष्टा,—इत्यभिसन्धानेन संवृतिरपि सती न वेति पृच्छन् प्रतिवक्तव्यः, विज्ञानं तावद्व्यवहारोपपादकतया द्वाभ्यामप्यनुमतं, तस्यापि जिज्ञासायां त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तगवेषणस्य यदि-सत्तोपपन्ना भविष्यति तदा सता तेनेदमुपपादितं भविष्यति, अथाऽसत्ता-तस्य पर्यवसास्यति तदाऽसतैव तेनेदमुपपाद्यते-इति स्वीकर्त्तव्यम् , भ्रम-विषयेणेव भ्रमे विशिष्टताव्यवहारः॥ ३६ ॥

इदमस्मान्नियतप्राक्सदिति बुद्ध्या विशेषात्''—इत्युक्तं, तत्राऽसती बुद्धिर्नविशेषिका, सती च नेष्टा, द्वैतापत्तेरिति वस्तुतत्त्वमेवाङ्गीक्रियतां किं संवृतिसत्त्वेनेत्यत आह—असतीति। प्रतिवचनमाह—विज्ञानमिति। यद्यपि विज्ञानमपि विषयाङ्कितमतस्तदभ्युपगमे एव विषयाऽभ्युपगमः, निर्विषयस्य विज्ञानस्याऽभावाद्व्यवहारानुपपादकत्वाच्च, तथाच—व्यवहाराऽनुरोधश्चेत्तदा ज्ञानविषययोस्तुल्ययोगक्षेमत्वमेव, तथापि व्यवहारानुरोधोपि

मया त्यज्यते एवेति हृदयम्। तेनेति। विज्ञानेनेत्यर्थः। भ्रमेति। यथाऽसदेव रजतं स्व-विषयं ज्ञानं विशेषयति रजतीयं ज्ञानम् इति, तथा बुद्धिरप्यसती विषयं विशेषयति—"इदमस्मान्नियतप्राक्सत्" इति बुद्धिविषयत्वमेव कारणत्वमित्यर्थः। यद्यपि भ्रमविषयोऽपि सन्नेव तथा च न दृष्टान्तः, तथाप्यसत्ख्यात्यभिप्रायेणैतद् द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

जिस कारणता बुद्धि से कारण का भेद माना गया है उसकी सत्ता एवं असत्ता के बारे में शंका करके उत्तर दिया जाता है कि कारण की विशेषता रूप कार्य से पूर्ववृत्तित्व विषयक बुद्धि यदि स्वयं असत् हो, तो वह भेदक नहीं हो सकती है। और द्वैतापत्ति के भय से संवृति रूप वह बुद्धि (वृत्तिरूप ज्ञान) सत्य भी इष्ट (मान्य) नहीं है। इस अनुसंधान (विचार) से, संवृति भी सत्य है या नहीं ? ऐसा पूछने वाला वादी उत्तर पाने योग्य है कि प्रथम विज्ञान = बुद्धि तो व्यवहार के उपपादक (कारण) रूप से वादी प्रतिवादी दोनों को सम्मत है। यदि उस विज्ञान विषयक सत्यत्व मिथ्यात्व की भी जिज्ञासा हो, तो तीन चार कक्षा में जिसके गवेषण (अन्वेषण = विचार) विश्रान्त हो, उस विज्ञान की यदि सत्ता सिद्ध होगी तो उस सत्य विज्ञान से यह कारणत्व उपपादित (सिद्ध) होगा, और यदि विचार से असत्ता निश्चित होगी तो असत् ही उस विज्ञान से यह कारणत्व रूप विशेष सिद्ध होता है, ऐसा स्वीकार करना होगा जैसे मिथ्या भ्रम के विषय रजतादि से रजतादि के ज्ञान रूप भ्रम में विषय विशिष्टता का व्यवहार होता है वैसे मिथ्या ज्ञान से कारण की विशेषता सिद्ध होती है ॥ ३६ ॥

उक्त रीति से किञ्चित्काल (दो चार कक्षा) तक अबाधितत्व रूप व्यावहारिक सत्त्व विशिष्ट ज्ञान से कारणादि विषयक विचार कर्तव्य है। अन्यथा ज्ञानविषयक सत्त्वासत्त्वादि के विचार में फँसने पर कारणादि के विचार का असम्भव होगा, इस आशय से कहा गया है कि—

अविचार्यैव तावत् तस्य सदसत्त्वं विचार आरब्धव्यः। अन्यथा प्रथममेव मतिकर्दमे कथारम्भणमशक्यमापद्येत। स्वीकृतं च भवतापि भविष्यदादिविषये विज्ञाने विशिष्टव्यवहारनिदानत्वमसतो विषयस्य कारणशक्तेश्च विशेषकमसदेव कार्यम् ॥ ३७ ॥

तस्येति। ज्ञानस्येत्यर्थः। यद्यपि विषयाऽसत्त्वं चेत्तदा ज्ञानसत्तासन्देहस्थितावपि न-विचारप्रयोजनं, तथापि ज्ञानसत्तासन्देहाऽऽवर्जितो विषयसत्तासन्देहोस्त्येवेति न विचार-वैयर्थ्यमिति भावः। अन्यथेति। यदि प्रथममेव ज्ञानसदसत्त्वं विचारणीयमित्यर्थः। यद्यपि-तवाऽयं मतिकर्दमः, न तु ममापि, ज्ञानविषययोर्द्वयोरपि सत्त्वेनैवाभ्युपगमात्, न वा-त्वया सह कथारम्भणमुद्देश्यमपि, तथापीयमेव कथा तथा सति न स्यादिति हृदयम्। भवतु वेदानीमेव संवृतेरसत्त्वपरिच्छेदः तथापि तस्या विषयविशेकत्वं स्यादेव, भवति-हीदानीमसत्त्वेनैव परिच्छिन्नेन भाविना पुत्रेण "मम पुत्रो भविष्यति" इति ज्ञानस्येदानींत-नस्य विशिष्टत्वव्यवहार इत्याह—स्वीकृतं चेति! असदन्तरस्य विशिष्टताव्यवहारहेतुत्व-मुदाहरति—कारणशक्तेरिति। कारणशक्तिः-कारणत्वं तच्चासदेव कार्यं विशेषयति, भवति-हि "घटकारणं दण्डः—इति विशिष्ट व्यवहार इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

पहले उस ज्ञान के सत्वासत्त्व का विचार नहीं करके कारण का विचार करना आवश्यक है। अन्यथा पहले ही मतिकर्दम = ज्ञान विषयक सत्त्वासत्व विवाद के होने

पर कथा का आरम्भ अशक्य हो जायगा। अर्थात् ज्ञान के सत्त्वासत्त्व के निर्णयाधीन यदि विचार का आरम्भ होगा, तो ज्ञान के सत्त्वासत्त्व का निर्णय भी तो विचाराधीन होगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रय से मतिकर्दम = कालुष्य होने पर विचार नहीं हो सकेगा। अतः ज्ञान के सत्त्वासत्त्व के विचार बिना विचारणीय का विचार कर्तव्य है। और आपने भी भूतभाविविषयकज्ञान में, विषयविशिष्ट व्यहार के कारणत्व, ज्ञान काल में असत् विषय को माना है। अर्थात् 'उष्मा जाता, वृष्टिर्भविष्यति' गरमी हो चुकी, वृष्टि होगी, इस बुद्धि काल में गरमी वृष्टि के नहीं रहते भी यह बुद्धि वृष्टि विषयक मानी जाती है, वैसे असत् ज्ञान से विषयकारण में विशेषता होगी। तथा कार्य की उत्पत्ति से प्रथम कारणगत कार्य विषयकशक्ति का असत्य (अविद्यमान) ही कार्य विशेषक (भेदक) होता है कि तन्तुओं में पटशक्ति है। इस प्रकार भी असत् ज्ञान कारणगत विशेष का हेतु होगा, अतः असत् में कारणता दोनों मत में तुल्य है ॥ ३७ ॥

उक्त दृष्टान्त की अनुपपत्ति की शंका करके समाधान किया गया है—

नच कालान्तरसम्बन्धिनी सत्ता तस्यैकत्र, अन्यत्र नाऽन्यदापि, इति वैधर्म्यमेतयोरपीति वक्तव्यम्। विशिष्टव्यवहारप्रवृत्तिसमये द्वयोरप्यसत्त्वाऽविशेषात्। प्रयोजनाऽनुपयुक्ते काले तस्य स्वरूपतोऽवस्थानं पाटच्चरलुण्ठिते वेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनुहरति॥ ३८॥

ननु भविष्यदादेः कार्यस्य स्वकाले सत्त्वमस्त्येव अतस्तयोर्विशेषणत्वमुचितं, ज्ञानविषययोस्तु सार्वदिकमसत्त्वमिति नाऽन्योन्यं विशेषणविशेष्यभाव इत्याशङ्क्याह—नचेति-। असता विशिष्टताव्यवहारस्त्वयाऽभ्युपगम्यते एव, तावतैव सिद्धं नः समीहितमित्याह— विशिष्टेति। द्वयोरिति। भविष्यदादिकार्ययोरित्यर्थः॥ ३८॥

यदि कहा जाय कि एकत्र = सद्वादी के मत में तो व्यवहार काल में उस भूतभावि विषय के नहीं रहने पर भी कालान्तर सम्बन्धी उस वस्तु की सत्ता रहती है, और अन्यत्र = असद् वाद में तो व्यवहार से अन्यकाल में भी कारणादि की सत्ता नहीं रहती है, और न ज्ञान की यह सत् असत् वाद में भेद है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वस्तु से विशिष्ट व्यवहार (ज्ञान कथन) की प्रवृत्ति के समय भूतादि वस्तु का असत्त्व दोनों मत में तुल्य रहता है। और व्यवहार रूप फल में अनुपयोगी भूतादिकाल में उस वस्तु की स्वरूप से स्थिति तो चोर से घर के लूट जाने पर पहरेदार के जागरण के वृत्तान्त का अनुकरण करता है। अर्थात् अन्यकाल की स्वरूप से स्थिति व्यर्थ है ॥ ३८ ॥

फिर अत्यन्तासत् में ज्ञान के विशेषणत्व (व्यावर्तकत्व) के असम्भव की शंका होता है—

तथापि कालान्तरस्थित्या घटादिकं स्वरूपतो विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नं तद्विज्ञानेन स्वभावबलात् स्वविशेषणत्वेनोपादीयते न त्वेवमत्यन्ताऽसद्भवितुमर्हति, तस्य स्वरूपतो विशेषणतश्च व्यवच्छिन्नतयाऽनङ्गीकारात्; कुत्र-स्वभावतो विज्ञानं सम्बन्धि निरूप्येत। न, उक्तमत्राऽसतोपि हि तदेव स्वरूपं,

तस्य नियतस्वरूपतैव नियतविशेषणस्यैवासत्त्वात् , अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । भ्रान्तिविषयेण दत्तोत्तरत्वाच्चेत्यलमतिप्रपञ्चेन ॥ ३९ ॥

ननु यस्याऽऽत्यन्तिकमसत्त्वं तस्य विशेषणत्वं विशेष्यत्वं चा न स्वीकुर्मः भविष्यत्पुत्रादेः काऽर्यस्य च नात्यन्तिकमसत्त्वं, स्वकाले तयोः सत्त्वादित्याह—तथापीति । स्वभावबलादिति । भविष्यदाद्याऽऽलम्बनमपि ज्ञानं शब्दलिङ्गमहिम्ना जायते इति तादृशो विशेषस्तद्विशिष्ट एवेत्यर्थः । स्वरूपत इति । विषयस्वरूपमपि त्वन्मतेऽत्यन्ताऽसद्विशेषणं, संवृतिरप्यत्यन्ताऽसतीत्यर्थः । उपसंहरति-कुत्रेति । स्वभावतोपि ज्ञानमत्यन्तासद्विषयसम्बन्धि कथं भवेत् तथा च त्वन्मतेऽत्यन्ताऽसतोर्ज्ञानविषययोर्न सर्वथा विशेषणविशेष्यभाव इति भावः । उक्तमत्रेति । "न त्वसन् घटो न घटः" इत्यादिनेत्यर्थः । यथा कम्बुग्रीवादिविशिष्टो घटस्त्वया सत्त्वेनाऽभ्युपगम्यते तथैव मयाप्यसत्त्वेन तादृशानङ्गीकारे तु स्यादतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। ननूक्तम् "अत्यन्तासतो न विशेषणत्वम्" अत आह—भ्रामन्तीति । यद्यपि घटज्ञानादीनामसत्त्वं न तावदभावप्रतियोगित्वम् , इष्टत्वात् नापि केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, स्वसमवायिनि स्वकाले च सत्त्वात् ; नापि सत्तासामान्यरहितत्वं सत्तावत्तयैव प्रतीयमानत्वात् ; नापि विधिनिषेधव्यवहाराऽभाजनत्वं, तदुभयभाजनत्वेन त्वयाऽभ्युपगमात् ; अन्यथाव्याघातात् ; नापि ब्रह्मभिन्नत्वम् , इष्टत्वात् ; नाप्यभावत्वं, विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वात् ; नापि मिथ्यात्वं, तद्यद्यप्रामाणिकत्वं, तदा प्रमाणविषयत्वव्यवस्थापनयैव निरस्यं; नापि मिथ्यापदाभिधेयत्वम् , यदि स्वतः तदा स्वसङ्केतेन ब्रह्मण्यपि गतत्वात् ; यदीश्वरसङ्केतेन, तदा न घटादावपीति; बाध्यत्वमसत्त्वम्–इति चेन्न, बाध्यत्वस्य बाध्यत्वाऽबाध्यत्वाभ्यामनुपपत्तेः; बाधस्य च विपरीतप्रमात्वेन घटादिनिरूपितवैपरीत्यस्य सिद्धौ, घटादिसिद्धेः; तदसिद्धौ बाधासिद्धेः विचारासहत्वम्–इति चेन्न विचारस्य निर्विषयत्वेन दुर्विचारत्वात् ; सविषयत्वेपि, विषयसिद्धेः; विचारविषयः सिद्ध एव किं त्वसन् इति चेन्न, असत्त्वस्यैव विचार्यमाणत्वात् ; व्यावहारिकत्वमेवासत्त्वम्–इति चेत् , तद्यदिज्ञानरूपव्यवहारविषयत्वं, तदेष्टापत्तिः, ब्रह्मणोप्येतादृशस्यासत्त्वस्य त्वयेष्यमाणत्वात् ;-अथ व्यवहारोऽभिलापस्तद्विषयत्वं, तदा सुतरामिष्टं, ब्रह्मसाधारणं च; अनिर्वचनीयत्वम्—इतिचेत्, अनिर्वचनीयतयैव निर्वचनीयत्वात्; घटत्वादिना निर्वचनात् , निर्वचनीयत्वस्य केवलान्वयित्वेनतदभावासिद्धेः; सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्व्यवस्थापनम्–इति चेत् , घटादेरुभाभ्यामपि व्यवस्थितत्वात् , घटादेस्सत्त्वासत्त्वयोर्द्वयोरभ्युपगनात् ; किञ्च असत्तया चेद्व्यवहारार्थक्रिययोर्यथाऽस्मदभ्युपगतयोरुपपत्तिस्तदा सत्तैव त्वयाऽसत्तेत्यभिधीयते, तथा च नाम्नि परं विवादः; तथापि सत्त्वेनापाततो व्यवस्थापयितुमशक्यत्वमसत्त्वमिति भावः ॥ ३९ ॥

तथापि = भूतादि विषय ज्ञानकाल में नहीं रहते भी, कालान्तर की स्थिति के कारण स्थूलादि स्वरूप और घटत्वादि विशेषण से युक्त घटादि, घटादि विषयक विज्ञान के द्वारा स्वभावबल से ज्ञान के विषयत्व रूप से गृहीत होता है, अर्थात् व्याप्ति ज्ञान शब्द शक्ति ज्ञान के बल से सत्य भूतभावी स्वरूप विशेषण वाले पदार्थों को ज्ञान विषयत्व हो सकता है। परन्तु अत्यन्त असत् पदार्थ इस प्रकार ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है । क्योंकि उस अत्यन्त असत् का नियत कोई स्वरूप और नियत विशेषण ही नहीं है । अतः उसे स्वरूप और विशेषण से युक्तरूप से असत् वादी अङ्गीकार नहीं करते हैं । स्वभाव से भी विज्ञान कहां सम्बन्धी समझा जा सकता है कि यह विज्ञान इस वस्तु का है इत्यादि । परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर प्रथम ही

कहा गया है कि जो आप सत् का स्वरूप मानते हैं, असत् का भी वहीं स्वरूप है। क्योंकि नियत स्वरूप और नियतविशेषण वाले में ही असत्त्व है, शशशृङ्गादि में नहीं। अन्यथा = यदि असत् स्वरूप और विशेषण से नहीं व्यावृत हों तो अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् सत् असत् का सांकर्य होगा, क्योंकि सत् विषय में (इदमसच्च) यह असत् नहीं है, ऐसी व्यावृत्ति स्वरूपादि के बिना नहीं होगी। न घट असत् है इत्यादि व्यवहार होगा। और भ्रान्ति के विषय द्वारा भी प्रथम उत्तर दिया गया है कि जैसे असत् रजतादि अपने ज्ञान में विशेषण होते हैं, वैसे ही असत् कारण घटादि भी ज्ञान के विषय विशेषणादि होते हैं। अतः अतिप्रपञ्च व्यर्थ है ॥ ३९ ॥

(इति शून्यवादिमतमाश्रित्य प्रमाणाद्यसत्त्वेऽपि व्यवहारनिरूपणम्।)

अथ विज्ञानवादिमतमाश्रित्य ज्ञानभिन्नासत्त्वसमर्थनम्।

अपरे पुनश्चेतसोऽपि शून्यताङ्गीकारे मनःप्रत्ययमनासादयन्तः 'सर्वमिदमसदेव विश्वम्'—इत्यभिधातुं सहसैवानुत्सहमानाः मन्यन्ते विज्ञानं तावत् स्वप्रकाशं, स्वत एव सिद्धस्वरूपं, न खलु विज्ञाने सति जिज्ञासोरपि कस्यचित् 'जानामि न वा'—इति संशयः, न जानामि' इति वा विपर्ययः,-व्यतिरेकप्रमा वा, तेन जिज्ञासितस्याऽतत्त्वज्ञानव्यतिरेकप्रमाणामभावसमुदायः स्वव्यापकं जिज्ञासितस्य प्रमितत्वमानयति। अन्यथा हि जिज्ञासितप्रमितत्वव्यतिरेकव्यापकं जिज्ञासितव्यतिरेकोल्लेखि ज्ञानमविघ्नितजिज्ञासस्य स्यात्। अतः सर्वजनस्वात्मसंवेदनासिद्धमेवास्य बोधस्य स्वरूपम् ॥ १ ॥

तदेवं माध्यमिकमतमाश्रित्य विश्वासत्त्वमुपपाद्य योगाचारमतमाश्रित्य ज्ञानाभिन्नस्याऽसत्त्वमुपपादयितुमाह—अपरे पुनरिति। चेतस इति। ज्ञानस्येत्यर्थः। मनः प्रत्ययः—विश्वासः : अविश्वासे तु युक्तिः,—यदि शून्यत्वं जगतो वास्तवं, तदा क्व शून्यत्वं, शून्यत्वस्यैव धर्मस्य सत्त्वात्, अथ शून्यत्वमवास्तवं, तदा पूर्णत्वमेव। शून्यतायाश्च स्वत एव सिद्धिः?' परतो वा?। आद्ये स्वप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपैव शून्यतेति; अन्त्ये शून्यतासाधकस्यैव सत्त्वान्न शून्यता। किञ्च, किं तच्छून्यं यस्य धर्मः शून्यता? मिथ्या वा? अलीकं वा? असद्वा? अनिर्वचनीयं वा? विचारासहं वा? प्रपञ्चो वा? बाध्यं वा' तच्च सर्वमनुभवार्थक्रियाविरोधादनुपपन्नमेव। स्वप्रकाशमिति। स्वस्य प्रकाशः—विषयीभावो यत्र तत्स्वप्रकाशं, स्वं वा प्रकाशो यस्य तत्स्वप्रकाशं, स्वस्मात् प्रकाशो यस्येति वा तदेव विवृणोति—स्वत एवेति। स्वप्रकाशत्वे प्रमाणमाह—न खल्विति। देवदत्तस्य घटज्ञानोत्पत्तिक्षणो घटज्ञानज्ञानवान्, जिज्ञासितघटज्ञानगोचरसंशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमाऽनाधारत्वात् घटानुव्यवसायक्षणवत् चैत्रवद्वेति मानार्थः। अयं ज्ञातघटज्ञानः, जिज्ञासुत्वे सति तद्विषयसंशयादिरहितत्वात्—इति व्यतिरेकी वा हेतुर्विवक्षितः। ज्ञानाभावदशायां व्यभिचारवारणाय जिज्ञासोरपीति। अतत्त्वज्ञाने च व्यतिरेकप्रमा च अतत्त्वज्ञानव्यतिरेकप्रमाः; तासामित्यर्थः। यद्यपि स्वप्रकाशे जिज्ञासैव नावतरति, जिज्ञासा हि ज्ञातुमिच्छा, न हि सा ज्ञाते एव ज्ञाने सम्भवति, तथा च ज्ञानस्य स्वप्रकाशतां जिज्ञासा न सहते—इति न तया लिङ्गं विशेष्टुमर्हति, तथापि व्याप्तिस्तावदीदृशीति हृदयम् ॥ १ ॥

उक्तरीति से असत्कारणवाद के स्वीकारपूर्वक सत्कारण वाद का निषेध किया गया है। वहां यदि मूलभूत ब्रह्मसत्त्व को भी नहीं माना जाय तो उक्तरीति से शून्यवाद ही सिद्ध होता है और ब्रह्म के स्वीकार से वेदान्त का अद्वैतवाद सिद्ध होता है।

अब स्वप्रकाशवाद का विचार किया जाता है। यदि स्वयं प्रकाश ज्ञान को नित्य एक साक्षी सर्वात्मा ब्रह्म स्वरूप माना जाय तो अद्वैतवाद सिद्ध होता है। क्षणिक बुद्धिरूप माना जाय तो क्षणिक विज्ञान वाद सिद्ध होता है।

शून्यवाद (असत्वाद) के खण्डन पूर्वक विज्ञान के सत्त्व और स्वयं प्रकाशत्वका प्रतिपादन किया जाता है। यद्यपि यह स्वमत सिद्ध होगा, तथापि योगाचार के मत से तुल्यता के कारण 'अपरे' इस शब्द से स्वप्रकाशवाद का आरम्भ किया गया है कि—

अन्य लोग (विज्ञान) की शून्यता के अङ्गीकार में मन में सन्तोष नहीं प्राप्त करते हुए तथा यह सब संसार असत् ही है' इस प्रकार सहसा कहने में उत्साह नहीं करते हुए मानते हैं कि विज्ञान तो स्वयं प्रकाश है। अतः स्वतः सिद्ध (प्रकाश) स्वरूप ही है। वही अन्य में भी प्रकाशित होता है। अन्यथा शून्यादि का भी प्रकाश (अनुभव) नहीं होगा। फिर सब व्यवहार का लोप प्राप्त होगा। और विज्ञान को इसलिये स्वयं प्रकाश मानना चाहिये कि घटादि के विज्ञान होने पर किसी विज्ञान के जिज्ञासु को भी संशय नहीं होता है कि मैं घटादि को जानता हूँ या नहीं अथवा घटादि को नहीं जानता हूँ घटादि का ज्ञान मुझे नहीं हुआ है, किन्तु इच्छा हुई है, इत्यादि विपर्यय = भ्रम भी नहीं होता है और न ज्ञान के व्यतिरेक = अभाव का प्रमा ज्ञान होता है कि ज्ञान हुआ ही नहीं है। अतः जिज्ञासित विज्ञान के अतत्त्व ज्ञान रूप संशय और भ्रम के व्यतिरेक = अभावप्रभा के अभाव का समुदाय ही अपने व्यापक जिज्ञासित ज्ञान के प्रमितत्व (प्रमाप्रकाशितत्व) का आक्षेप करता है। अर्थात् जिज्ञासित ज्ञान विषयक संशयादि के अभाव से ज्ञान प्रमित सिद्ध होता है। और अन्य प्रमा के अभाव से स्वयं प्रकाशता से प्रमित होता है। अन्यथा = ज्ञान के अप्रमित रहने पर, अविघ्नित जिज्ञासु को जिज्ञासित ज्ञान के प्रमितत्व के व्यतिरेक (अभाव) के व्यापक, जिज्ञासित विज्ञान के अभाव को विषय करने वाले संशयादि रूप ज्ञान अवश्य होना चाहिये। और संशयादि होते नहीं हैं। अतः समझना चाहिये कि यह ज्ञान का स्वरूप सब जन के स्वात्मस्वरूप संवेदन (ज्ञान) से ही सिद्ध (प्रकासित = प्रमित) स्वयं प्रकाश रहता है। अतः ज्ञान विषयक संशयादि नहीं होते हैं ॥ १ ॥

व्यवसायस्यानुव्यवसायनियमान्न तत्र संशयादिः—इति चेन्न, यत्रवानुव्यवसाये ज्ञेयता नोपेया तत्र जिज्ञासायाम् आत्मधर्मिकं तत्संशयमारभ्य-व्यवसायविषयपर्यन्तं संशयाक्रान्तेर्दुष्परिहरत्वात्; विषयिसद्भावसंशये-तद्विषयेपि संशयस्य सम्भवात्। एवंत्रिचतुरसंवेदनकक्षाज्ञानध्रौव्यनियमा-भ्युपगमेपीति ॥ २ ॥

संशयाद्यभावसमूहे हेतावन्यथासिद्धिमाशङ्कते–व्यवसायस्येति। अनुव्यवसायेन व्यवसायस्य प्रतीतत्वान्न तत्र संशयविपर्ययव्यतिरेकप्रमा इत्यर्थः। परिहरति–यत्रेति। यद्यनुव्यवसायाः प्रोच्यन्ते ? (ज्ञायन्ते) तदाऽनवस्था, विषयान्तरसञ्चाराभावः, अननुभवश्च;- तद्विरामे तु विषयपर्यन्तं संशयः इत्यागत्या ज्ञान स्वप्रकाशमेषितव्यमित्यर्थः। ननु ज्ञानं स्वप्रकाशमेषितव्यमित्यर्थः। ननु ज्ञानं ज्ञातं यदि, तदा न तत्र संशयो ज्ञातत्वात्; अथा-

ऽज्ञातं, तदापि न तत्र संशयोऽज्ञातत्वात्; नहि धर्म्यदर्शनेपि संशयः, तथा सति तत्र धर्मिनियमो न स्यादित्यत आह—आत्मधर्मिकमिति। अनुव्यवसायानन्तरम् 'अहं तृतीयज्ञानवान्न वा' 'अहं ज्ञानविषयतृतीयज्ञानवान्न वा' अहं ज्ञातघटज्ञानो न वा' इत्यात्मधर्मिकसंशयमुपक्रम्य विषयपर्यन्तं संशयः स्यात्, न चैतादृशी संशयधारानुभूयते, तन्नूनं स्वप्रकाशमेव ज्ञानमित्यर्थः। यद्वा, 'घटज्ञानजिज्ञासावानयं चैत्रो यदि ज्ञातघटज्ञानो न स्यात्, प्रमिततद्विरहस्स्यात्'—एवं द्वितीयतृतीयादिज्ञानपरम्परापूरणेन तत्तद्विरहप्रमामापाद्याऽर्थापत्त्या स्वप्रकाशता साधनीयेत्यर्थः। यद्यप्यनुव्यवसाये सति न तत्र जिज्ञासा ज्ञानधारया विच्छेदात्, नोत्तरकालीना, विषयाभावात्, तथाप्यनुपसञ्जातविरोधितया पूर्वजिज्ञासाया एव तथा सामर्थ्यमभिप्रेतम्। ननु 'ज्ञानगोचरसंशयेन तद्विषयसंशयोपि'—इति कथमेतदत आह—विषयीति। यद्यपि नायं नियमस्तथापि सम्भवमात्राभिप्रायेणैतदुक्तम्, अत एव सम्भवादित्युक्तम्। ननु व्यवसायवदनुव्यवसायोऽपि गृह्यते एव, तथाच कथं विषयपर्यन्तः संशय इत्यत आह—एवमिति। क्वचिद्विरामस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वेन विषयपर्यन्तसंशयधाराध्रौव्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

नैयायिक अयं घटः' यह घट है, इस प्रकार के ज्ञान विषयक ज्ञान को अनुव्यवसाय ज्ञान कहते हैं। जहां व्यवसाय ज्ञान होता है वहां अनुव्यवसाय ज्ञान (अवश्य) होता है। अतः उस अनुव्यवसाय से ही ज्ञान के निश्चित हो जाने से ज्ञान विषयक संशय भ्रमादि नहीं हो सकते हैं। अतः संशयादि के अभाव से ज्ञान की स्वप्रकाशता नहीं सिद्ध हो सकती है, ऐसी शंका होने पर स्वप्रकाशवादी कहते हैं कि अनुव्यवसाय से संशयादि का निवारण नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुव्यपसाय के भी स्वयं प्रकाश नहीं होने से उसका भी अनुव्यवसाय मानने पर अनुव्यवसाय के प्रवाह से अवकाश नहीं मिलेगा। प्रवाह (अनवस्था) के अभाव के लिये, जिस अनुव्यवसाय में अनुव्यवसायान्तर से ज्ञेयता नहीं मानी जायगी उस विषयक ज्ञातत्व की जिज्ञासा होने पर आत्मधर्मक (अनुव्यवसायधर्मक) उस अनुव्यवसाय विषयक संशय को आरम्भ करके अमुक अनुव्यवसाय विषयक ज्ञानवान् मैं हूँ या नहीं, इस प्रकार संशय करके, व्यवसाय के विषयपर्यन्त संशय की प्राप्ति दुष्परिहर होगी, क्योंकि विषयी (ज्ञान) के सद्भाव (सत्ता) विषयक संशय से उस ज्ञान के विषय के संशय की संभावना रहती है। इस प्रकार ज्ञान के तीन चार कक्षा (कोटि) के ज्ञान को अवश्य स्वीकार करने पर भी, उक्तरीति से कहीं संशय होने पर मूल पर्यन्त संशयाक्रान्त होगा। क्योंकि कहीं अनुव्यवसाय का अभाव अवश्य मानना होगा। जहां अनुव्यवसाय नहीं होगा, वहां से संशय शुरू होगा ॥ २ ॥

उक्तरीति से अनुव्यवसाय के निषेध द्वारा स्वप्रकाश ज्ञान को सिद्ध किया गया है, वहां संशय होता है कि स्वप्रकाश का अर्थ यह है कि ज्ञान अपने को आप प्रकाशता है। अतः एक ज्ञान में प्रकाश्य प्रकाशक भाव का विरोध होता है। अतः यह स्वप्रकात्व नहीं सिद्ध हो सकता है। और ज्ञानान्तर मानने पर इस मत में भी अनवस्थादि दोष प्राप्त होते हैं, तो इसका उत्तर कहा गया है कि—

स्वप्रकाशे तु मानमेयभावव्यवस्थाया अभावादेव तदाश्रया दोषा निरवकाशाः। अन्यथा तु बोधस्वरूपमेव न सिद्ध्येत्। यदि हि विज्ञानं

परतः सिद्ध्येत् तदाऽनवस्था स्यात्। नच वाच्यमवश्यवेद्यता वित्तेर्नाभ्युपेयते; स्वार्थे व्यवहारस्तु स्वरूपसत्तया प्रसूयते इति क्वाऽनवस्था— इति। यतः तस्यां प्रमाणानुपन्यासे स्वरूपसत्तापि कुतः, यया व्यवहारोपपत्तिः, को ब्रूते सती सा वित्तिः ?'; असत्येव न कुतः ॥ ३ ॥

ननु स्वप्रकाशनये तदेव ज्ञानं कर्म स्यात्, क्रिया च, नचैवं सम्भवति, क्रियाकर्मणोर्भेदगर्भत्वात् कथं वाऽत्यन्तमभिन्नतया विषयविषयिभावः ? इत्यत आह—स्वप्रकाशे त्विति। यदि भिन्नयोः क्रियाकर्मभावो वा विषयविषयिभावो वा क्वचिन्मयाङ्गीक्रियेतोपपन्नो वा स्यात् तदा विरोधो भवेत्, नत्वेवं, स्वप्रकाशज्ञानातिरिक्तवस्तुनो मयायोगाचारनयनगरप्रवेशादेवानभ्युपगमादित्यर्थः। यद्वा, ननु ज्ञानप्रामाण्यसंशयाधीनः संशयस्तवापि विषयपर्यन्त इत्यत आह—स्वप्रकाशे त्विति। यदि भेदेन विषयविषयिभावो भवेत्तदा बोधस्वरूपमेव न सिद्ध्येदित्याह—अन्यथेति। अस्तु वा भेदेन विषयविषयिभावस्तथापि ज्ञाने तथा नाङ्गीकर्त्तव्यमित्याह—यदि हीति। ननु ज्ञानस्यापि व्यवहारं न तदैव ज्ञानाधीनं ब्रूमो येनानवस्था दिश्येत, किन्तु घटादिसत्ताविलक्षणा ज्ञानसत्तैव स्वविषयव्यवहारायेत्याशङ्कते–नचेति। तद्गोचरं ज्ञानमङ्गीकृत्य ज्ञानसत्तैव त्वया दुरुपपादेत्याह—यत इति ॥ ३ ॥

स्वप्रकाश विज्ञान स्वरूप में तो मान = प्रमाण, मेय = प्रमेयभाव की व्यवस्था के अभाव से ही उन मानमेयाश्रित दोषों का अवकाश नहीं है। अर्थात् प्रकाश्य प्रकाशक भाव कर्म क्रियाभाव की दृष्टि से विज्ञान को स्वयं प्रकाश नहीं कहा जाता है, क्योंकि विज्ञान से भिन्न प्रमाणप्रमेय कुछ सत्य नहीं है जिसमें प्रमाणत्व हो। और उसका विषय विज्ञान हो। श्रुति भी ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को अप्रमेय, अदृश्य और अग्राह्य कहती है। अतः स्वप्रकाश शब्द का स्वतः प्रकाशस्वरूपत्व, स्वव्यवहार से प्रकाशान्तर निरपेक्षत्वस्वसत्त्व में संशयादि रहितत्त्व अर्थ है, अतः कोई दोष नहीं है। यदि विज्ञान से भिन्न सत्य विषय विषयी को मानें तो बोध = विज्ञान स्वरूप ही नहीं सिद्ध होगा। क्योंकि यदि विज्ञान अन्य विज्ञान से सिद्ध (ज्ञात) होगा, तो अनवस्था होगी। यदि कहा जाय कि संशयादि होने पर ज्ञान विषयक ज्ञान मानते हैं। परन्तु ज्ञान को स्वविषय व्यवहार के लिये अवश्य अन्य ज्ञान से वेद्य = ज्ञात होना चाहिये, इस प्रकार के ज्ञान की अवश्यवेद्यता को नहीं मानते हैं। और ज्ञान अपनी स्वरूपसत्ता से ही अपने विषय के व्यवहार को सिद्ध करता है। तो इस प्रकार अनवस्था कहाँ है ? अर्थात् कहीं अनवस्था नहीं है। तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि ज्ञान स्वयं प्रकाश नहीं है, और उसका ज्ञान भी जब नहीं है, तब उसमें प्रमाण के अनुपन्यास (अप्रदर्शन) काल में उसकी स्वरूपसत्ता भी कैसे सिद्ध होगी जिससे व्यवहार की सिद्धि होगी। प्रमाणाभाव काल में ज्ञान सत्य है, ऐसा कौन कहता है ? असत्य ही क्यों न कहा जाय ? क्योंकि जैसे अज्ञात वस्तु की सत्ता असिद्ध है, वैसे अज्ञात ज्ञान की सत्ता भी अनुव्यवसायवाद में असिद्ध ही है ॥ ३ ॥

ज्ञान के स्वरूप की सत्ता के ज्ञान की शङ्का करके आगे उत्तर दिया गया है कि—

सामान्यतो वित्तेस्तथात्वसिद्धावपेक्षितसिद्ध्या यत्र विशेषरूपायां प्रमाणाऽप्रवृत्तिस्तदा तत्र सत्त्वसाधनाऽसत्त्वेपि जिज्ञासायां सत्यां पश्चाद्व्य-

वहारसत्त्वैव वाऽन्यद्वा प्रमाणमस्त्येव ? इति चेन्न तस्यापि कथं सत्त्वमित्यनवस्था वा स्यात् शेषासिद्ध्या सर्वाऽसिद्धिर्वा प्रसज्येतेत्यर्थासिद्धिपर्यन्तस्य व्यसनस्य दुरुत्तरत्वात् "सेयमप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति" ॥ ४ ॥

व्यवहारमात्रात्तावद्विषयज्ञानमात्रं सिद्धमेव, घटादिप्रतिनियतविषयकज्ञानजिज्ञासा तु यदि स्यात्तदा प्रतिनियतविषयकव्यवहारेण वा, प्रतिनियतविषयस्मरणादिना वा, तदप्यनुमास्यते इत्याशङ्कते—सामान्यत इति। 'जानामि'–इति सामान्याकारेणाऽपेक्षितवित्तिविशेषसिद्धावपि घटज्ञानत्वादिना जिज्ञासायां वित्तिविशेषसिद्धिरिति वाऽर्थः। व्यवहारसामान्यसत्त्वस्य व्यवहारविशेषसत्त्वस्य च ज्ञानज्ञापकस्य सिद्धिर्ज्ञानान्तराधीना, एवं तत्सिद्धिरपीत्यनवस्थेत्याह—तस्यापीति। माभूद्विज्ञानपरम्परायास्तदानीमेव सिद्धिः, किमेतावता, त्रिचतुरज्ञानसिद्ध्यैव तद्विषयसिद्धेरित्यत आह—शेषेति। यद्यपि सर्वाऽसिद्धिप्रसञ्जनमनुपपन्नं, यत्पक्षीकृत्याऽसिद्धिरापाद्या तत्सिद्धौ बाधः, तदसिद्धावाश्रयासिद्धिः, शेषासिद्धेश्चापादकत्वेनाभिमताया असिद्धिः, शेषस्य चरमज्ञानस्यासिद्धौ तत्पूर्वज्ञानस्यासिद्धिः' इति विशिष्टापादने त्वद्वचनादेव तयोस्तदैव सिद्धौ सुतरामापाद्यापादकयोरसिद्धिः, तथाप्यनवस्थायामेव हृदयम्। सेयमिति। यस्य मते उपलम्भो न प्रत्यक्षः न स्वसंवेद्यः, तन्मते नाऽर्थदृष्टिः ज्ञानमात्रमेव न सिद्ध्यति–इति धर्मकीर्तिनाप्युक्तमित्यर्थः। यद्यपि प्राकट्यानुमेयज्ञानं भट्टं प्रति नैयायिकानामयमुपालम्भः, तथापि स्वप्रकाशानभ्युपगमेऽप्युक्तदोषबलेनोपालम्भः सम एवेति भावः॥ ४ ॥

यदि कहा जाय कि 'जानामि' जानता हूँ, इस सामान्य ज्ञान से या व्यवहार सामान्य मात्र से ज्ञान के तथात्व = ज्ञानत्व = वस्तुविषयत्व के सिद्ध होने पर अपेक्षित व्यवहार के भी उस ज्ञान से सिद्ध होने से, जहाँ विशेष घटज्ञानत्वादि रूप विशेष वित्ति में व्यवहार काल में प्रमाण की अप्रवृत्ति है, वहाँ उस व्यवहारकाल में विशेष ज्ञान के सत्त्व साधन के असत्त्व होने पर भी पश्चात् विशेष ज्ञान विषयक जिज्ञासा के होने पर, व्यवहार की सत्ता ही या अन्य स्मरणादि के ज्ञापक प्रमाण हैं ही जिनसे ज्ञान की स्वरूप सत्ता की सिद्धि होती है, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उस ज्ञापक व्यवहारादि की सिद्धि कैसे होगी ? यदि ज्ञानान्तर से सिद्धि कही जाय तो अनवस्था होगी। अथवा ज्ञानान्तर के नहीं मानने पर सामान्य विशेष ज्ञान की असिद्धि से सब ज्ञान की असिद्धि प्राप्त होगी और इस प्रकार अर्थ की असिद्धि पर्यन्त व्यसन-कष्ट के दुरुत्तरत्व (अनिवार्यत्व) से ज्ञान की सिद्धि नहीं होगी। अतः अप्रत्यक्ष अस्वप्रकाश, उपलम्भ (ज्ञान) को मानने वाले के मत में यह प्रत्यक्ष अर्थ का ज्ञान नहीं सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

ज्ञान के अस्वप्रकाशत्व (अनुव्यवसायज्ञेयत्व तथा ज्ञातता से अनुमेयत्व) बाद में अनवस्था या सर्वाऽसिद्धि कही गई है। उसी का उपपादन है कि—

घटसत्तां हि व्यवहरता प्रामाणिकेन तत्र प्रमाणसद्भावो वाच्यः। यदि प्रमाणमनुपन्यस्य सास्तीत्येवमङ्गीक्रियते तदा वैपरीत्यमेव किं न स्यात्। ततश्च घटसत्तायां प्रमाणसत्ता दर्शनीया, तथा च प्रमाणसत्तापि तत्प्रमाणसत्तामन्तरेण प्रामाणिकस्य नाङ्गीकारार्हा, सर्वप्रमाणसत्तानिवृत्तेर्वस्तुसत्तानिवृत्तिनियतत्वात् अन्यथा सतमरसादेरप्यापत्तेः—इति व्यक्तमनवस्थादौस्थ्यमस्वप्रकाशवादिनः स्यात् यदि हि विनैव प्रमाणसत्तां प्रमाण-

सत्तां परोऽङ्गीकारयेत्तदा घटसत्तामपि तथैवाङ्गीकारयतामिति घटेपि वृथा प्रमाणोपन्यासायासः ॥ ५ ॥

अनवस्थां सर्वासिद्धिं वाऽऽपादितां प्रपञ्चयति—घटसत्तामिति। यद्यपि प्रमाणोपन्यासो न सत्ताङ्गीकारबीजं किंतु प्रमाणं, तथापि तत्र विप्रतिपन्नं प्रतीदानीमेव तत्प्रमापणीयमिति भावः। सर्वप्रमाणेति। यद्यपि कदाचित्सर्वप्रमाणनिवृत्त्या न प्रमेयनिवृत्तिः, तथापि सार्वदिकसर्वप्रमाणनिवृत्त्यभिप्रायमेतत्। यद्यपि सर्वप्रमाणनिवृत्तिदुर्ग्रहा, तथापि प्रमाणान्तरं त्वयैवोपपादनीयमिति भावः। अन्यथेति। यदि प्रमाणनिवृत्तौ न प्रमेयनिवृत्तिरित्यर्थः। यद्यपि स्वप्रकाशत्वेपि प्रमाणापेक्षायामनवस्थैव स्वप्रकाशत्वस्यास्वप्रकाशत्वात् स्वप्रकाशत्वस्य प्रमाणान्तरेण त्वयैवेदानीमुपपादनीयत्वात् एवं तदुपपादकस्यापि प्रमाणस्य वाच्यम्, अनुपपादने च कथं तत्स्वप्रकाशं वैपरीत्यमेव कथं न स्यात्—इत्याद्यवकाशः, तथापि वैतण्डिकोहमिति हृदयम्। ननु घटस्तावत्प्रमाणसिद्धस्तत्प्रमाणेपि प्रमाणाभिधानमकिञ्चित्करमित्यत आह—यदीति ॥ ५ ॥

घट की सत्ता के व्यवहार (कथन) करने वाले प्रामाणिक को उस सत्ता में प्रमाण का सद्भाव (सत्ता) प्रतिवादी के प्रति अवश्य वक्तव्य होता है। क्योंकि जिन के यहाँ आत्मा और बुद्धि (ज्ञान) भी प्रमेय हैं, और प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होती है, वहाँ घटादि की सिद्धि तो प्रमाण के बिना नहीं हो सकती। यदि प्रमाण के कथन के बिना घटादि की सत्ता है ऐसा माना जाय तो प्रमाण के बिना वैपरीत्य (सत्ता का अभाव) ही क्यों न मान लें? अतः घटसता में प्रमाण की सत्ता दर्शाने योग्य होती है। और ऐसा होने पर उस प्रमाण की सत्ता भी उस प्रमाण विषयक प्रमाण की सत्ता के बिना प्रामाणिक से अङ्गीकार के योग्य नहीं रहती। क्योंकि सब प्रमाणों की सत्ता की निवृत्ति से (अभाव से) वस्तु की निवृत्ति (अभाव) नियत (व्याप्य) रहती है, अतः प्रमाण विषयक सब प्रमाणों के अभाव से प्रमाण का अभाव सिद्ध होगा, अन्यथा = यदि प्रमाण के बिना प्रमाण को मानें, तो छः रस से अतिरिक्त सप्तम रसादि की भी प्राप्ति होगी। इस प्रकार निष्प्रामाणिक अनन्त पदार्थ मानना होगा। और प्रमाण विषयक प्रमाण मानने पर उक्त रीति से अस्वप्रकाश बादी को अनवस्था (स्पष्ट) ही है। और यदि प्रमाण की सत्ता के बिना प्रमाण का अङ्गीकार प्रतिवादी से कराना चाहें, तो उसी प्रकार घट की सत्ता को भी प्रमाण के बिना अङ्गीकार कराना चाहिये। घटविषयक प्रमाण कथन के लिये आयास करना व्यर्थ है ॥ ५ ॥

उक्तरीति से अनवस्था होने पर एक वस्तु के ज्ञानपरम्परा में लगे रहने के कारण प्रामाणिक को विषयान्तर का ज्ञान नहीं हो सकता, इस प्रकार के दोष के प्राप्त होने पर, उसके परिहार की शंका करके फिर अनवस्था दोष का आगे प्रतिपादन है कि—

अथ नाव्यवधानलग्नवित्तितद्वित्तिधाराऽभ्युपगम्यते, किंनाम कदाचित्कुतश्चित्काचिद्वित्तिः प्रमीयते, इति सर्वा वित्तिः प्रमाणसिद्धैवेत्यभ्युपेयते—'इति चेत् न, स्यादप्येवं यदि घटः—इति, घटं जानामि—इत्यतोऽधिका घटवित्तितद्वित्तिधारया विषयभावेन प्रविष्टया तादृग्विषयशतभारमन्थरा वित्तिरस्मदादेरुत्पद्यमानाऽनुभूयेत ॥ ६ ॥

ननु वित्तीनां धारावहनवत् प्रवाहं नाभ्युपैमि येन विषयान्तरसञ्चारो न स्यात्, अपि तु सर्ववित्तीनां येदनमात्रमङ्गीकुर्मः इत्याह—अथेति। कालान्तरेप्यनुसन्धीयमाना या वित्तिपरम्परा सा स्वस्वविषयमन्तर्भाव्यैवानुसन्धीयेत न चैतादृशसंज्ञानमुत्पद्यमानमनुभूयते इत्याह—स्यादिति। विषयशतेति। यद्यपि शतमपि वित्तयो वित्तित्वेन घटश्च विषयो घटत्वेन भासते इति घटं जानामि घटज्ञानवानस्मि—इत्यनेनवाकारेण क्रमेणापि वित्तिशतवेदनं सम्भाव्यते इति न विषयशतभारसन्थरत्वम् नहि तावतीषु वित्तिषु प्रकारवैचित्र्यमस्ति येन तदुल्लेखध्रौव्येणानुभवविरोधः स्यात् तथापि कालान्तरीयस्य घटज्ञानवानहमिति ज्ञानस्य कालान्तरीयचरमवित्तिरपि विषय इत्यत्र न प्रमाणमिति हृदयम् ॥६॥

यदि कहा जाय कि विषयान्तर के ज्ञान के व्यवधान रहित, एक विषय के ही ज्ञान के ज्ञान फिर उस का ज्ञान होता है, इस प्रकार संलग्न ज्ञान विषय ज्ञान की धारा नहीं मानी जाती है जिससे विषयान्तर का ज्ञान ही नहीं हो, किन्तु जिज्ञासा होने पर कोई ज्ञान कभी किसी हेतु से प्रतीत (ज्ञात) होता है। इस प्रकार सामान्य लक्षण (स्वरूप) प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) द्वारा सब ज्ञान प्रमाण से सिद्ध ही हो जाते हैं, ऐसा माना जाता है। तो यह कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि उक्तरीति से भी आप अनन्त ज्ञान विषयक ज्ञान मानते हैं, और जिस अन्तिम ज्ञान से ज्ञानत्वेन सब ज्ञान सिद्ध होंगे, उस ज्ञान विषयक फिर ज्ञानान्तर के बिना कोई ज्ञान नहीं सिद्ध होगा। अतः फिर अनवस्था की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की अनवस्था मानी भी तभी जा सकती यदि उस का अनुभव हो। 'अयं घटः' यह घट है, 'घंट जानामि' घट को जानता हूँ, इन दो ज्ञान से अधिक भिन्न घट ज्ञान, फिर उस का ज्ञान की धारा जिससे विषय रूप से प्रविष्ट हो, अत एव सैकड़ों विषयभार से मन्थर (मन्दगामी) उत्पन्न होने वाला वैसा ज्ञान हम लोगों से अनुभूत नहीं होता है। अतः कालान्तरवर्ती सर्वज्ञान विषयक ज्ञान में प्रमाणाभाव से वह स्वीकार के योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

हम लोगों के ज्ञान के विषय कालान्तरवर्ती ज्ञान नहीं हो सकते, किन्तु योगज धर्मबल से योगी का ज्ञानभूत भावि सब ज्ञानादि विषयक हो सकता है। अतः योगी का ज्ञान उसमें प्रमाण है। इस आशय से यदि कहा जाय कि—

यद्यस्मदादिविलक्षणजन्मनि सा सम्भाव्यते तदापि यस्या वित्तेस्तावद्विषयगर्भिता धीर्विषयः साप्यन्यया कयाचिदुल्लेख्येत्यत्र प्रमाणाभावश्च—अनिर्मोक्षापत्तिश्च। न हि स्वमन्तर्भाव्य कयाचिद्धिया स प्रवाहो ग्राह्यः। तथा सति स्वप्रकाशतासिद्धेः। अत एव चाऽन्योन्यविषयता निरस्ता, सविषयकाऽन्योन्यग्रहे स्वग्रहापत्तेः॥ ७ ॥

ननु योगिदशायां पूर्वपूर्वव्यक्ताः सर्वा वित्तीरेकवारेण प्रतिसन्धास्यतीति सर्वासां प्रामाणिकत्वमित्यत आह—यद्यस्मदादीति। योगिधियां स्वातिरिक्तसकलग्रहसामर्थ्येपि स्वग्रहे सामर्थ्याभावान्नैतदपीत्यर्थः। अनिर्मोचेति। योगिनामुक्तक्रमेण ज्ञानपरम्पराऽनुच्छेदे सकलविशेषगुणोच्छेदो मोक्षो न स्यादित्यर्थः। ननु योगिनश्चरमा वित्तिः स्वात्मानमपि विषयीकृत्य निवर्त्तते इति नानिर्मोच इत्यत आह—नहीति। यद्यपि योगजधर्माऽजन्य-जन्यस्वविषयकसविकल्पकाऽजन्य-सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्यजन्यज्ञानस्यैव स्वप्रकाशत्वं नाभ्युपैमीति न स्वप्रकाशत्वापत्तिः, तथापि परिभाषामात्रमेतदिति हृदयम्। ननु योगिज्ञानपरम्परायामन्त्योपान्त्यज्ञानयोरन्योन्यविषयतायां न स्वप्रकाशता न वाऽन-

वस्था, न वा कस्या अपि वित्तेरसंवेदनमित्यत आह—अत एवेति। अन्त्यज्ञानं स्वविषयमुपान्त्यज्ञानं विषयीकुर्वदात्मानमपि विषयीकुर्यादेवमुपान्त्यमन्त्यं विषयीकुर्वत् स्वात्मानमपि विषयीकुर्यादिति स्वप्रकाशतापत्तिरेवेत्यर्थः। यद्यपि ज्ञानग्रहे विषयग्रहध्रौव्यम् न तु यावद्विषयग्रहनियमः तथा च स्वेतरविषयकज्ञानग्रहे कथं स्वप्रकाशत्वं भवेत् तथापि संयुक्तसमवेतविशेषणतया प्रत्यासत्त्या स्वेतरग्रहवत् स्वग्रहोपि स्यादेवेति भावः। यद्वाऽन्योन्यमात्रविषयकज्ञानस्थले दोषोयम्। यद्वा अन्त्योपान्त्यज्ञानयोरन्योन्यविषयत्वमिस्यपि ज्ञानान्तरग्राह्यमेवेति तदादाय पुनरनवस्थादौस्थ्यमेवेति भावः॥ ७॥

हम लोगों से विलक्षण जन्म वाले योगी में भूत अनेक ज्ञान विषयक ज्ञान की सम्भावना हो सकती है। फिर भी जिस योगी के ज्ञान का विषय अनेक ज्ञानात्मक-विषयगर्भित बुद्धि (ज्ञान) होती है, वह भी अस्वप्रकाशता के कारण किसी अन्य बुद्धि से उल्लेखित (प्रकाशित) होती है। परन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें आत्माश्रय से स्वविषयकता नहीं मानी जा सकती है। और यदि उसकी प्रामाणिकता के लिये उस बुद्धि विषयक भी अन्य बुद्धि योगी को मानी जाय, तो ज्ञानधारा के अनुच्छेद से सब विशेषगुण के उच्छेद (नाश) रूपमोक्ष की अभावापत्ति होती है। तथा ज्ञान-प्रवाह का अनिर्मोक्ष (अनिवृत्ति) प्राप्त होता है, जिससे योगी के ज्ञानान्तर का असम्भव प्राप्त होता है। क्योंकि किसी बुद्धि से अपने स्वरूप को प्रवाह के अन्तर्भूत करके प्रवाह का ग्रहण नहीं हो सकता है। ऐसा होने से स्वानिष्ट स्वप्रकाशता की प्राप्ति हो जायगी। यदि कहा जाय कि अन्त्य और उपान्त्य (अन्त्य समीपवर्ती) ज्ञानों में परस्पर की विषयता से स्वप्रकाशता और अनवस्था का निवारण हो सकता है। तो वह अन्योन्य (परस्पर) विषयता भी इस स्वप्रकाशता की प्राप्ति से ही निरस्त (खण्डित) हो जाती है। क्योंकि विषय सहित ही ज्ञान का ज्ञानान्तर से ग्रहण होता है, जैसे 'घटमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय से घट सहित घट ज्ञान का ग्रहण होता है, इसी प्रकार अन्त्य ज्ञान का विषय उपान्त्य ज्ञान और उपान्त्य ज्ञान का विषय अन्त्य ज्ञान भी उस ज्ञान के विषय सहित ही होगा और स्वयं ही दोनों विषय परस्पर हैं, अतः अन्योन्य ग्रहण में स्वग्रहण की आपत्ति से स्वप्रकाशता की प्राप्ति होती है। यदि अन्त्य ज्ञान का अन्य ज्ञान से अग्रहण माना जाय, तो अन्त्य की असिद्धि पूर्वक घटादि विषय पर्यन्त की असिद्धि प्राप्त होती है॥ ७॥

यदि कहा जाय कि विषयान्तर में प्रवृत्ति और मोक्ष की सिद्धि से योगी आदि के ज्ञान के प्रवाह का तो अन्त हो जाता है, परन्तु विषय पर्यन्त की असिद्धि नहीं होती है, क्योंकि पुरुषान्तर से उस अन्तिम ज्ञान का ग्रहण (ज्ञान) किया जाता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि—

नच पुरुषान्तरेण सा प्रमास्यते न तु तदभावः-इति प्रमा तेस्ति; तदर्थमपि प्रमाणान्तरसद्भावपरम्परापत्तेः। नचैवं घटसामग्रीतत्सामग्रीगवेषणेप्यनवस्था स्यात्। वैषम्यात्। यदि हि घटसामग्री तत्सामग्रीधारा कुत्रचिद्विच्छिद्येत तदा घटः सदातनः स्यात् इत्यर्थापत्त्यैव घटः सामग्रीपरम्पराविच्छेदरहित एव प्रमीयते॥ ८॥

नन्वेकस्य पुरुषस्य विश्रान्तापि वित्तिपरम्परा पुरुषान्तरेण प्रमास्यते इति न शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिरित्यत आह—नचेति। पुषान्तरेण प्रमास्यते—इति त्वयोपपादनीयमतस्तदुपपादनपरम्परा पुनरप्यापन्ना, किञ्च पुरुषान्तरेण सा वित्तिर्वेद्यते, न तु तदभावः, इत्यपि विशेषोपपादनप्रयासस्तवाधिक इत्यर्थः। ननु ज्ञानसिद्ध्यन्यथानुपपत्तिरेवापर्यवसन्ना ज्ञानधारामाक्षिपेत् अन्यथा घटकादाचित्कत्वाऽन्यथानुपपत्तिर्घटसामग्रीपरम्परामपि नाक्षिपेदित्यत्राह—नचैवमिति। वैषम्यमेव स्फुटयति—यदीति। घटसामग्रीविच्छेदे हि घटकादाचित्कत्वमनुपपन्नं स्यात्, तथाच स्यादेव न स्यादेव वा, नतु कदाचित्स्यादित्यापद्येत ज्ञानसिद्धिस्तु स्वस्मादपि भवन्ती न तत्परम्परामाक्षेप्तुमलमित्यन्यथासिद्ध्यनन्यथासिद्धिकृतवैषम्यमित्यर्थः। यद्वा घटसामग्रीपरम्पराङ्गीकारेऽनवस्थैव वरं, सा चान्यथानुपपत्तिप्रमाणिकेति न सापि दोषाय ज्ञानपरम्पराङ्गीकारे त्वनिर्मोक्षापत्तिरिति महद्वैषम्यमिति भावः ॥ ८ ॥

पुरुषान्तर से वह योगी आदि की अन्तिम बुद्धि (ज्ञान) प्रमित होगी, और उस अन्तिम बुद्धि का अभाव नहीं है, या अभाव प्रमित नहीं होता है, इस विषयक आपकी प्रमा (बुद्धि) नहीं है। यदि है, तो उस की सत्ता के लिये भी प्रमाणान्तर की सत्ता की परम्परा रूप अनवस्था प्राप्त होगी। यदि कहा जाय कि इस प्रकार घट सामग्री और सामग्री की सामग्री के अन्वेषण में अनादि अनवस्था की प्राप्ति होगी, क्योंकि साधारणासाधारणकारण समूह को सामग्री कहते हैं। अतः पूर्व २ क्षण रूप काल विशिष्ट पूर्व २ सामग्री अनादिकाल से प्रवाहित होकर घट से अव्यवहित पूर्व काल विशिष्ट सामग्रीं घट का कारण होती है। यद्यपि परमाणु या प्रकृति जन्य नहीं कहे जाते हैं, तथापि प्रलय कालिकक्षण अदृष्ट विशिष्ट प्रकृति परमाणु, प्रलय से पूर्वकालिकक्षणविशिष्ट ईश्वरीय इच्छा आदि रूपसामग्री से जन्य होते हैं, इसप्रकार घट सामग्री अनादि अनवस्थाग्रस्त मानी जाती है, वैसे ही ज्ञान की अनवस्था क्यों नहीं मानी जाय ? तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि घट सामग्री और ज्ञान में विषमता है। विषमता इस प्रकार है—घट की सामग्री और उसकी सामग्री का कहीं विच्छेद माना जाय तो घट सामग्री नित्यता से या परम्परा अभाव की सिद्धि से आकाशादि के समान घट में नित्यता की प्राप्ति होगी, सदा वर्तमान घट सिद्ध होगा, अतः अर्थापत्ति से ही सामग्री की परम्परा के विच्छेद से रहित ही घट प्रमित (ज्ञात) होता है, और ज्ञान में तो स्वप्रकाशता से निर्वाह होता है, अतः अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति की प्रवृत्ति नहीं होती है ॥

ज्ञानगत विषमता दर्शायी जाती है कि—

यदि तु ज्ञानेप्येवं स्यात्—तदा स्वस्य प्रवेशात्स्वप्रकाशापत्तिः, अप्रवेशादनवस्था, अवेदने शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिः,—इति व्यसनं दुरुत्तरमेव। ये च मानमेयभावाश्रया दोषाः कीर्तनीयास्तेपि प्रसज्येरन् ॥ ९ ॥

वैषम्यमेव ज्ञानपक्षे विशदयति—यदि त्विति। एवं स्यादिति। ज्ञानसिद्ध्यन्यथानुपपत्तिरेव यदि ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वाऽऽक्षेपिका स्यादित्यर्थः। अनवस्थेति। तथाचाऽनिर्मोक्षापत्तिरिति भावः। अवेदने इति। चरमवित्तेरवेदने इत्यर्थः। ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वे दोषान्तरमाह—ये चेति। 'नाऽत्यापत्त्या प्रमामात्रात्तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः। तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु' इत्यादिदोषा मानमेयभावाश्रिता अग्रेकीर्तनीया इत्यर्थः। यद्वा, प्रमाणखण्डनप्रकरणे दोषा ये कीर्तनीयास्तेपि स्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

यदि ज्ञान में भी ज्ञेयता की अनुपपत्ति से ज्ञान विषयक ज्ञान माना जाय, अर्थात् जैसे घट की अनित्यता की अनुपपत्ति से सामग्री की अनवस्था मानी जाती है, वैसे ही ज्ञान की अनवस्था के बिना विषयपर्यन्त ज्ञान की अनुपपत्ति से ज्ञान की अनवस्था (ज्ञान) मानी जाय तो कहीं भी स्व (ज्ञान) स्वरूप के विषय ज्ञान में प्रवेश मानने पर, स्वप्रकाशता की प्राप्ति होगी, अप्रवेश होने पर अनवस्था की प्राप्ति से विषयान्तर के ज्ञानादि नहीं होगें, किसी अन्त्य प्रवाही ज्ञान के 'अज्ञात रहने पर अन्य ज्ञानों की भी असिद्धि से सब की असिद्धि रूप दुरुतर व्यसन = कष्ट ही प्राप्त होगा। और स्वप्रकाशता से कोई अनुपपत्ति नहीं है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान विषयक ज्ञान मानने पर विषय विषयी रूप ज्ञान के द्रव्यत्वाऽभाव से संयोग संबन्ध परस्पर नहीं हो सकता। गुणगुणिभाव आदि के अभाव से समवाय नहीं हो सकता है, भेद होने से तादात्म्य नहीं हो सकता और विषयविषयिभाव सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता क्योंकि द्रव्यादि पदार्थों में उसका उल्लेख नहीं होने से बह है नहीं। यदि सन्बन्ध के बिना ज्ञान ज्ञानान्तर को प्रकाशित करे तो अन्य का भी प्रकाश प्राप्त होगा, इत्यादि आशय से कहा गया है कि प्रमाण प्रमेय के आश्रित जो आगे दोष कहना है, वे सब दोष ज्ञान को ज्ञानान्तर के विषय मानने पर प्राप्त होगें ॥ ९ ॥

नच तैर्दोषैर्नास्त्येव ज्ञानमित्यास्थेयम्। स्वतः सर्वसिद्धस्य दुरपह्नवत्वात्, स्वप्रकाशाङ्गीकारादेव चाऽनुभवस्य सर्वदोषहानेर्वक्ष्यमाणत्वात्। प्रकाशात्मतामात्रस्यैव स्वतःसिद्धिसम्भवे जडात्मनां धर्माणां केषामपि तदन्तर्भावानुपपत्तिः ॥ १० ॥

इदानीं स्वाभिमतां स्वप्रकाशब्रह्मसिद्धिंकटाक्षयितुमाह—नचेति। मानमेयखण्डनप्रकरणोक्तदोषैर्नाऽस्त्यापत्त्येत्याद्युक्तदोषैश्च विज्ञानस्वरूपमपि न सिद्ध्येत् तथाच सर्वशून्यतावाद एव पर्य्यवस्येत्, न तु 'ज्ञानं तावत्स्वप्रकाशंस्वत एव सिद्धस्वरूपम्'-इति प्रतिज्ञातोऽर्थोपि निर्वाहितः स्यादिति भावः। स्वत इति। परतः सिद्धिमपेक्ष्य मानमेयभावखण्डनयुक्तयो नतु स्वतः सिद्धिमपेक्ष्येत्यर्थः। तदेवाह—स्वप्रकाशेति। वक्ष्यमाणत्वादिति। 'तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा' इत्यादिनेत्यर्थः। ननु सर्वशून्यतावादादपरेषां पक्षे ज्ञानमात्राभ्युपगम एव विशेषः, स च न स्यात्, यतो ज्ञानाङ्गीकारे तद्धर्माणां सत्तागुणत्वादीनां तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धीनामभ्युपगमादित्यत आह—प्रकाशात्मतेति। मानमेयभावाश्रया दोषाः स्वतःसिद्धत्वमात्रमपनेतुमशक्ताः, पराधीनसिद्धीनां तु ज्ञानधर्माणां निरासे शक्ता एवेति भावः। पराधीनसिद्धिकत्वमेवामीषां कथमित्यत उक्तं—जडात्मनामिति ॥ १० ॥

यदि कहा जाय कि उक्त दोषों से ज्ञान नहीं है, ऐसा ही शून्यवादी के समान मानना चाहिये। क्योंकि ज्ञान से वस्तु की सिद्धि होती है। और ज्ञान के ज्ञान मानने पर उक्त दोष प्राप्त होते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्वतः प्रकाश रूप से सब को प्रसिद्ध (निश्चित) ज्ञान का अपह्नव = अपलाप = अस्वीकार नहीं हो सकता है, और अनुभव (ज्ञान) के स्वप्रकाशत्व के अङ्गीकार से ही अनवस्था असन्बन्धादि सब दोषों की हानि (निवृत्ति) हो जाती है। यह ('तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा २६') इत्यादि

वचनों से आगे कहना है। क्योंकि स्वप्रकाश शब्द का स्वप्रकाशक अर्थ नहीं है जिससे एक में कर्तृकर्मभावादि दोष की प्राप्ति हो। किन्तु स्वयं प्रकाश स्वरूपता अर्थ है। अत एव प्रकाशात्मता (प्रकाशस्वरूपता) मात्र की ही स्वतः सिद्धि के सम्भव होने पर जड़ स्वरूप किन्हीं धर्मों की उस ज्ञान के अन्तर्भावता (ज्ञान में वृत्तिता) की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती है। अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में ज्ञानत्व गुणत्व विभुत्वादि सत्य जड़ धर्म नहीं हैं जिनके ज्ञान के लिये (प्रकाश के लिये) ज्ञानान्तर की अपेक्षा हो, क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश नित्य होते हुए स्वाश्रित का कादाचित्क प्रकाश नहीं कर सकता ॥ १० ॥

और उक्त जड़ धर्मों के ज्ञान के अन्तर्भाव की अनुपपत्ति से ही सत्ता आदि का व्यवहार उस में नहीं हो सकता, यह दर्शाया गया है कि—

अत एव धर्मोपग्रहप्रवर्तिष्णुवाग्व्यवहाराऽविषयत्वं; कालानवच्छेदमादाय च नित्यतोपचारः; देशानवच्छेदमादाय विभुत्वव्यपदेशः, प्रकारावच्छेदविरहनिबन्धनश्च सर्वात्मत्वाद्वैतादिव्यवहारः; सौगतप्राभाकरादिवद्भावे, नैयायिकवच्चाभावेऽभावाऽनतिरेकस्वीकारादेव चाऽद्वैताव्याघातः । भ्रमविषयनिषेधवच्च प्रतियोगिनः सर्वथैवासिद्ध्यापि न काचित् क्षतिः ॥११॥

ननु स्वप्रकाशज्ञानस्य धर्म्मा अपि यदि न स्वीक्रियन्ते तदा स्वप्रकाशं ज्ञानम्'—इति वाग्व्यवहारोपि तत्र कथं स्यात्, धर्मोपग्रहेणैव तत्प्रवृत्तेरित्यत आह। अत एवेति। प्रकृतवाग्व्यवहारस्तु लक्षणया कथञ्चित्समर्थनीय इत्यर्थः। ननु यदि निर्द्धर्मकमेव तत्स्वप्रकाशं ज्ञानं, तदा "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिबोधितं तत्र नित्यत्वमपि न स्यादित्यत आह—कालानवच्छेदेति। कालतदवच्छेदयोः परमार्थसतोरभावात् कालविशेषोपरागनिबन्धनमनित्यत्वं ब्रह्मणो नास्ति इति तद्विरुद्धं नित्यत्वं तत्रोपचरितं; यथा तथैव 'नीलं तमः'—इत्यत्र नीलविरोधिरक्तत्वाद्यभावनिबन्धनो नीलत्वोपचार इत्यर्थः। ननु व्याप्नोतीति ब्रह्मेत्युच्यते, तथाच निरुक्तिबलाद्, उपनिषदि विभुत्वेन श्रवणाच्च, ब्रह्मणो वैभवमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यमिति न तन्निर्धर्मकम्, अत एव च नाद्वैतम् ? इत्यत आह—देशेति। देशतदवच्छेदयोः परमार्थसतोरभावाद्देशविशेषोपरागनिबन्धनमूर्तत्वविरहनिबन्धनो वैभवोपचारः पूर्ववदेवेत्यर्थः। तर्हि निर्धर्मके ब्रह्मणि कथं सर्वात्मकत्वव्यवहारः ? कथं चाऽद्वैतव्यवहारः ? तयोर्धर्मनिबन्धनत्वादत आह—प्रकारेति। घटादौ प्रतिनियतघटत्वादिप्रकारसंसर्गाधीनोऽसर्वात्मकत्वव्यवहार इति तद्विरहाद् ब्रह्मणि सर्वात्मकत्वव्यवहार इत्यर्थः। ननु द्वैताभावोऽद्वैतं, तस्य च ब्रह्माधिकरणं, न तु तदेव ब्रह्म, अभावस्याधिकरणभिन्नत्वात्तथाच तमादाय द्वैतमेवेत्यत आह—सौगतेति। सौगतैः प्राभाकरैश्चाधिकरणस्वरूपमेवाऽभावोभ्युपगम्यते नैयायिकैरपि 'घटाभावे पटो नास्ति' इत्यादिप्रतीतेरधिकरणस्वरूपमात्रालम्बनत्वाभ्युपगमाच्च प्रकृते ब्रह्मैव द्वैताभावोऽङ्गीक्रियते। ननु द्वैताभावश्चेदद्वैतं तदा प्रतियोगितया द्वैतमभ्युपगन्तव्यम्, तथाच कथमद्वैतं, द्वैतेनैव द्वैतादित्यत आह—भ्रमेति। नहि निषेधे प्रमितप्रतियोगिकत्वं तन्त्रम्, किं तर्हि, प्रतीतप्रतियोगिकत्वं लाघवादिति भावः। प्रमितप्रतियोगिकत्वमेव तन्त्रं निषेधे भ्रमविषयोपि ज्ञानान्तरेण प्रमित एव—इत्यादिविस्तरः यद्यपि भेदप्रकाशे, तथापि ज्ञानान्तरमप्यप्रमेति हृदयम् ॥ ११ ॥

जिससे सत्यत्वनित्यत्वविभुत्वादि जड़ धर्म ब्रह्म में नहीं हैं, किन्तु सत्यत्वादिचिद्ब्रह्मस्वरूप ही वक्ष्यमाण रीति से हैं अत एव जड़ कर्मों के उपग्रह (स्वीकार) द्वारा प्रवृत्ति-

शील वाग्व्यवहार का विषय ब्रह्म नहीं है यदि कहा जाय कि श्रुति ही सत्य ज्ञान-आनन्दादि स्वरूप ब्रह्म को कहती है, इससे ब्रह्म में सत्यत्वादि धर्म सिद्ध होते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनित्य पदार्थों का काल से अवच्छेद (व्यावृत्ति) भेद होता है, और नित्यब्रह्म का अवच्छेद नहीं होता है, अतः उस अवच्छेदाऽभाव के ग्रहण से नित्यत्व का गौण (मिथ्या) व्यवहार होता है। इसी प्रकार देशकृत अवच्छेद (भेद) के अभाव का ग्रहण करके विभुत्व का व्यवहार भी गौण ही होता है। जैसे आकाश में मिथ्या नीलता का व्यवहार होता है अर्थात् 'नित्ये कालिकाऽयोगः' इस नियम के अनुसार जैसे नित्य में कालिक सम्बन्ध (कालकृत भेद) का अभाव रहता है वैसे विभुसर्वात्मा में दैशिक सम्बन्ध का अभाव रहता है, तन्निमितक विभुत्व का व्यवहार होता है। विभुत्वरूप कोई भाव स्वरूप धर्म ब्रह्म में नहीं रहता है। और घटादि में घटत्वपटत्वादि रूप प्रकार (विशेषण) के भेद से घटादि परस्पर व्यावृत (भिन्न २) रहते हैं। निर्गुण ब्रह्म में प्रकार (विशेषणधर्म) रूप अवच्छेद (भेद) के अभाव निमित्तक ही सर्वात्मत्व अद्वैतादि व्यवहार होता है, सर्वधर्मनिमित्तक नहीं। यदि कहा जाय कि भावस्वरूप धर्म के नहीं रहने पर भी काल देश वस्तुकृत अवच्छेदाभाव तथा द्वैताभाव से भी द्वैतापत्ति होगी, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धानुयायी तथा प्रभाकर जैसे सब अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं, तथा नैयायिक जैसे अभावाधिकरणक अभाव को अधिकरणभूत अभाव रूप ही मानते हैं, वैसे ही अवच्छेदादि रूप द्वैत के अभाव के ब्रह्मस्वरूप होने से अद्वैत की हानि नहीं होती है। यदि कहा जाय की द्वैत का अभाव (निषेध) ब्रह्मस्वरूप है तो प्रतियोगी की प्रसिद्धि के बिना अभाव का ज्ञान नहीं होता है। अतः अभाव के प्रतियोगी रूप से पुनः सत्य द्वैत की प्राप्ति होती है। इसका उत्तर है यह कि निषेध का प्रतियोगी सत्य नहीं होता है। मिथ्या में ही निषेध का प्रतियोगित्व है, जैसे भ्रम के विषयरज्जुसर्पादि का निषेध होता है, और सत्यप्रतियोगी प्रसिद्धनहीं रहता है, वैसे ही द्वैत रूप सत्य प्रतियोगी की अप्रसिद्धि से निषेध में कोई क्षति नहीं है जिसका निषेध हो, उसके प्रमाज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है। साधारण ज्ञान से ही प्रतियोगी की प्रसिद्धि होती है ॥ ११ ॥

यहां शंका होती है कि यदि ब्रह्म वाग्व्यवहार का अविषय (अवाच्य) है, तो श्रुति से प्रतिपाद्य (श्रुतिप्रमाणक) कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि—

तदेतत्तु श्रुत्या प्रमाणेनोपलक्षणन्यायात् तात्पर्यतः प्रकाश्यते; तेन परमार्थतोऽभिधानाभिधेयभावविरहे तात्पर्यतः श्रुतिस्तस्मिन्नविद्यादशायां पराभ्युपगमरीत्या प्रमाणमित्युच्यते। वस्तुतस्तु स्वात्मसिद्धमेव चिद्रूपम् ॥ १२ ॥

ननु यदि ब्रह्मणो वाग्व्यवहाराऽविषयत्वंतदा तत्र श्रुतिरपि न प्रमाणं भवेदित्यत आह—तदेतदिति। उपनिषदां ब्रह्मणि तात्पर्याधीनमेव प्रामाण्यं, नतु ब्रह्म पदार्थः, वाक्यार्थो वा, धर्मोपग्रहं—विना शक्तेर्योग्यतादेश्चाऽनिरूपणात्। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति नित्यविज्ञानानन्दपदैराविद्यके एवार्थे प्रत्येकं गृहीतशक्तिभिः संभूयोच्चारणबलात् तात्पर्यबलाच्चाऽविद्यादशायां ब्रह्म बोध्यते इति तत्र श्रुतीनां प्रामाण्यमित्यर्थः।

उपलक्षणन्यायादिति। यथोक्तृणत्वादिकं काकादिपदैरवाच्यमपि बोध्यते तात्पर्य्यबलात्, यथा च "गच्छ गच्छसि चेत्कान्त ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः। ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्-" इत्यादावपदार्थोऽपि गमनाभावः प्रतीयते इति भावः। ननु सर्वथैवाऽवाच्ये तात्पर्य्यमपि दुर्घटमित्यत आह—तेन परमार्थत इति। पारमार्थिकं वाच्यवाचकभावं न मन्यामहे, न तु काल्पनिकमपि इति भावः। ननु तात्पर्य्यमपि तत्प्रतीतिप्रयोजकत्वं वा मीमांसकानामिव, तत्प्रतिपिपादयिषा वा नैयायिकानामिव स्यात्, तथा च तदादाय पुनर्द्वैतापत्तिरित्यत आह—पराभ्युपगमेति। ननु त्वन्मते परमार्थतः किमत्र प्रमाणमत आह—वस्तुतस्त्विति। यद्यपि चिद्रूपस्यात्मनः सिद्धत्वं त्वया दुरुपपादं, नहि प्रमाणमन्तरेण तदुपपादयितुं शक्यं, वैपरीत्यमेव तथासति किं न स्यात्, पारिशेष्यादिप्रमाणाभिधानं तव द्वैतापादकं, प्रमाणाभिधाने चापर्य्यवसानं समानं तथापि तदितरखण्डनयुक्त्यवष्टम्भादिदमुक्तम् ॥ १२ ॥

तदेतत्— = उक्त अवाच्य = अवाक्यार्थ रूप निर्धर्मा भी यह ब्रह्मश्रुति प्रमाण से उपलक्षण की रीति से तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित (बोधित) होता है, अर्थात् अवाचक शब्द से भी जैसे लक्षण द्वारा लक्ष्य का बोध होता है, 'कौवावाला देवदत्त का गृह है, इस वाक्य से गृह के अधर्मरूप कौवा द्वारा जैसे गृह का बोध होता है, वैसे ही सर्वनिषेधकादि वाक्यों की लक्षणावृत्ति से तथा काकतुल्य जगज्जन्मादि द्वारा उपलक्षणरूप से तत्परता द्वारा श्रुति ब्रह्म का बोधक होती है। और वस्तुतः सत्य वाच्यवाचक भाव नहीं रहते भी मिथ्या जगत् के समान मिथ्या वाच्यवाचकभाव कल्पित होता है। इससे परमार्थरूप से अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) भाव के अभाव रहते हुए भी अविद्या (व्यवहार) दशा में अन्य को अभ्युपगम की रीति से श्रुति उस ब्रह्म विषयक प्रमाण कही जाती है। वस्तुतः ब्रह्मस्वात्मसिद्ध (स्वयंप्रकाश) चिदानन्द स्वरूप ही हैं। अविद्यामात्र की निवृत्ति के लिये श्रुति की प्रवृत्ति होतीं हैं। ब्रह्म का प्रकाश के लिये नहीं ॥ १२ ॥

उक्तरीति से शब्दावाच्य स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूव ब्रह्मात्मा की सिद्धि का निरूपण करके आगे कर्तृकर्म भाव के विरोध का तथा कर्म के लक्षण का खण्डन करना है। वहाँ श्रुति के अनुसार विदित अविदित से अन्य ब्रह्मात्मा के स्वात्म सिद्ध कहने पर, स्वसंवेद्यत्व (स्वज्ञेयत्व) समझ कर वादी शंका करता है—

ननु च स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्येत्यनुपपन्नमिदं, क्रियाकर्मभावस्य भेदव्यतिरेकेणानुपपत्तेः। कार्या क्रिया हि कर्मणो भवति, कर्म च कारणं क्रियायाः, नच स्वेनैव स्वनिष्पादनं शक्यं, पूर्वापरभावविशेषस्य हेतुहेतुमद्भावरूपत्वात्, नच तस्मादेव तदेव पूर्वमपरं च सम्भवति 'तदनवच्छिन्नकालविशेषस्य तत्पूर्वशब्दार्थत्वात्, तदा च तस्य सद्भावस्वीकारे स एव कालस्तदवच्छिन्नस्तदनवच्छिन्नश्चेति विरोधात् ॥ १३ ॥

ननु स्वेन प्रकाश्यते इति स्वप्रकाशपदं कर्मव्युत्पन्नं, तच्चानुपपन्नं, क्रियाकर्मभावस्य भेदघटितत्वादित्याशङ्कते—ननु चेति। ननु क्रियाकर्मभावस्याऽभेदे को विरोधः? इत्यत आह—कार्य्येति। अभेदे जन्यजनकभावो विरुद्ध इत्यर्थः। एतदेव कथमत आह—पूर्वापरेति। विशेषः=नियमगर्भत्वं, तथाच नियतपूर्ववर्त्तित्वं हेतुत्वं, तन्निरूपितनियताऽनन्तर्यं हेतुमत्त्वं, तच्चाभेदे विरुद्धमित्यर्थः। एतदेव कथमत आह—तदनवच्छिन्नेति।

कार्य्यानवच्छिन्नो हि कालः कार्यपूर्वकालः, कार्यमेव च कारणम्, तथाच स्वानवच्छिन्ने काले स्वमित्येको विरोधः, स्वकाल एव स्वाऽकाल इत्यपरः, तदवच्छिन्न एव कालस्तत्प्रागभावावच्छिन्न इत्यर्थः॥ १३ ॥

ज्ञान में स्वप्रकाशत्व है, यह कथन अयुक्त है, क्योंकि क्रिया कर्मभाव भेद के बिना नहीं हो सकता अर्थात् जहां दीप से घट का प्रकाश होता है, वहाँ प्रकाशन क्रिया का दीप कर्ता होता है, घट कर्म होता है, और दोनों से प्रकाशन क्रिया उत्पन्न होती है। यदि घट नहीं हो, तो प्रकाशन भी घट का नहीं हो सकता। ऐसे ही वेदनक्रिया भी वेदिता (वेत्ता) और वेद्य वस्तु के भेद रहने से हो सकती है। अतः आत्मा-स्वसंवेद्य नहीं हो सकता है। क्योंकि उक्त रीति से वेदन = प्रकाशन रूप क्रिया कर्म कारक का कार्य रूप होती है, और कर्म उस क्रिया का कारण होता है, और अभेद रहते यह कार्यकारणभाव हो नहीं सकता। क्योंकि स्व (अपने) से अपना (निष्पादन) जनन (उत्पत्ति) हो नहीं सकता। इसमें यह कारण है कि पूर्वापरभाव विशेष (नियत पूर्व-परभाव) रूप, हेतु (कारण) और हेतुमद् (कार्य) भावस्वरूप होता है। और एक वस्तु में नियतपूर्व पर भाव हो नहीं सकता क्योंकि कोई आप ही उस अपने स्वरूप से पूर्व और उससे पर नहीं हो सकता जिससे उसके स्वरूप से अनवच्छिन्न (अवच्छेद रहित) काल विशेष उससे पूर्वशब्द का अर्थ होता है। और उस काल विशेष में भी कार्य मानने पर, वह एक ही काल कार्य से अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न इस विरुद्ध रूपता को प्राप्त होगा। अतः ज्ञानात्मा स्वसंवेद्य नहीं हो सकता॥ १३॥

स्वात्मसिद्ध पद का स्वसंवेद्य अर्थ नहीं है किन्तु स्वयं संवेदन स्वयं प्रकाश अर्थ है, जैसे दीप से घट प्रकाशित होता है, परन्तु दीप के प्रकाशन में दीपान्तरादि की अपेक्षा नहीं होती वैसे आत्मस्वरूप संवेदन में संवेदनान्तर की अपेक्षा नहीं होती है, इत्यादि आशय से कहा गया है कि—

मैवम्, क्रियायाः कर्मजन्यतानियमानङ्गीकारात्, सर्वथैवानागतविषयविज्ञाने तदसम्भवात्; क्वचिज्जनकतामादाय च कर्मणि कारकत्वव्यपदेशात्। करणव्यापारविषयत्वाद्वा परसमवेतक्रियाफलभागित्वाद्वा कर्मलक्षणाद् विनापि क्रियाजनकत्वेन कर्मव्यवहारोपपत्तेः। किञ्च तत् कर्मत्वं यत्स्वं प्रति विरुद्धयते? परसमवेतक्रियाफलभागित्वम्?–इति चेन्न, अपादानस्यापि व्याप्तेः। अपादानं कर्मापि?–इति चेन्न; वृक्षात्पतति पर्णम्'–इति वत् 'वृक्षं पर्णं पतति'–इत्यपि स्यात्॥ १४॥

स्यादयं विरोधो यदि कर्म कारकं भवेत्तदेव तु नास्तीत्याह—क्रियाया इति। ननु नियतपूर्ववर्त्तित्वे सत्यपि कथमस्याऽकारणत्वमत आह। सर्वथेति। भाविव्यक्तिविषयकज्ञानेच्छादौ व्यभिचारान्नियतपूर्ववर्तितैवास्य नास्तीत्यर्थः। ननु यद्येवं तदा पाणिनेः कारकमध्ये कर्मणः क्रियाजनकत्वमपि सम्भवतीति तथा परिगणनमित्यर्थः। ननु तथाप्यतीतादिसाधारणकर्मपदप्रवृत्तिनिमित्ताभावात्कथमनुगतः कर्मव्यवहारः? इत्यत आह—करणेति। अनागतादिकर्मणि करणस्य चक्षुरादेर्लिङ्गादेर्वा प्रत्यासत्त्यादि—लिङ्गपरामर्शादिलक्षणव्यापारविषयत्वात्तद्व्यवहार इत्यर्थः। अपिच त्वया निरुच्यमानं कर्मलक्षणं कथञ्चि-

दपि विचारं न सहिष्यते इत्याह—किञ्चेति। परपदं कर्मभिन्नपरं, तथाच परसमवेतायाः क्रियाया-यत्फलं तद्भागित्वमित्यर्थः। 'वृक्षात्पर्णं पतति' इत्यत्र वृक्षस्याऽपादानस्य पर्णगत-पतनक्रियाया यत्फलं विभागस्तच्छालिनः कर्मत्वं स्यादित्याह—अपादानस्येति। नन्व-पादानस्य कर्मत्वमपि स्यात् को दोष इत्याह—अपादानमिति। अपादानस्य कर्मत्वे कर्मणि द्वितीया इत्यनुशासनबलात् 'वृक्षं पर्णं पतति' इत्यपि प्रयुज्येतेत्याह—वृक्षा-दिति॥ १४॥

स्वरूपप्रकाशनादि क्रिया में कर्मजन्यता के नियम के अनङ्गीकार से उक्तशंका युक्त नहीं है। क्योंकि सर्वथा ही अनागत (भावी) वस्तु विषयक 'घटो भविष्यति' घट होगा इत्यादि ज्ञान में कर्मजन्यता असम्भव है। क्यों कि भावी घट इस ज्ञान से नियत पूर्ववृत्ति नहीं। परन्तु ज्ञान का कर्म होता है, क्यों कि मनुष्य कहता है कि ('अत्र मृत्पिण्डे भविष्यन्तं घटं जानामि') इस मृत्पिण्ड में होने वाले घट को अनुमान से जानता हूं, (ज्ञास्यामि) जानूंगा इत्यादि। शंका होती है कि यदि कर्म क्रिया का कारक (नियतपूर्ववृत्ति जनक) नहीं है, तो व्याकरण कर्ता आदि उस को कारक में क्यों गिनते हैं? उत्तर यह है कि ('आत्मानं जानामि') मैं आपने को जानता हूँ इत्यादि प्रत्यय किसी ज्ञान आदि क्रिया में कर्म जन्यता को ग्रहण करके क्रियासामान्य में कर्म जन्यता का व्यवहार होता है। भाव यह है कि अन्तःकरण की वृत्ति (परिणाम) रूप ज्ञान में कर्म जन्यता के अनुभव से विवेक के बिना स्वरूपभूत ज्ञान में कर्म जन्यता का भ्रम हो सकता है। परन्तु ब्रह्म स्वरूप अनुभव कर्म जन्य नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि क्रिया का अजनक और जनकरूप भूत भावी और वर्तमान कर्म में अनुगत धर्म (लक्षण) क्या है जिससे सब कर्म कहा जाता है। इसका उत्तर यह है कि करण के व्यापार की विषयता, या पर (कर्मान्य) मे समवेत (वर्तमान) क्रिया जन्य फल की आश्रयता ही कर्म का सामान्य लक्षण है, जिससे क्रिया के जनकत्व के विना भी (घटं ज्ञास्यति) घट को जानेगा इत्यादि स्थान में कर्मत्व का व्यवहार होता है॥ उक्त रीति से कहीं क्रिया को कर्म जन्य मान कर शंका का निवारण करके, कर्म के लक्षण को असम्भव दर्शाया गया है कि—

वह कर्मत्व ही क्या है जो स्वस्वरूप (एक) में विरुद्ध होता है। अर्थात् वस्तुतः कर्म का लक्षण दुर्निरूपणीय है। परसमवेत क्रियाफलाश्रय को यदि कर्म कहें तो (वृक्षात् पर्णं पतति) यहां अपादान को भी कर्मत्व प्राप्त होता है, क्योंकि पर्ण के पतन रूप क्रिया जन्य विभाग रूप फल का आश्रय वृक्ष होता है इससे लक्षण की अति व्याप्ति होती है। अपादान भी कर्म है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अपादन के कर्म होने पर ('वृक्षात्पर्णं पत्तति') वृक्ष से पत्र गिरता है। इस प्रयोग (शब्दो-च्चारण) के समान (वृक्षं पर्णं पतति) वृक्ष को पर्ण प्राप्त होता है, यह भी साधु प्रयोग होने लगेगा॥ १४॥

उक्त दोष के बारण की शंका करके कर्म लक्षण के असम्भव को दर्शाया गया है कि—

विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति तदविवक्षया नैवम्?—इति चेन्न, वस्तु-तः सतस्ताद्रूप्यस्य यदि विवक्षा स्यात्तदा तदपि स्याति। अपादानस्य

कर्मत्वं न विवक्ष्यते इति शाब्दिकसंप्रदायोऽयम् ?–इति चेत्, तर्हि तत्र निवृत्तसर्वकर्मव्यवहारेपि स्वकृतकर्मलक्षणानुरोधेन कर्मत्वमभ्युपगच्छता वस्तुमात्रं कर्मेत्याद्यपि लक्षणं सावकाशितं स्यात्। कथं च लोकोत्तरप्रज्ञेन निवृत्तसर्वकर्मव्यवहारेपि स्वकृतकर्मत्वमस्तीत्यधिगतम्॥ १५॥

ननु वृक्षस्य सत्यपि कर्मत्वेऽपादानत्वमेव विवक्षितमिति पञ्चम्येव भवति न द्वितीयापीत्याह—विवक्षात इति। वास्तवं यदि कर्मत्वं तदा विवक्षायाः (इच्छायाः) प्रयोक्तृमात्रतन्त्रत्वेन कदाचित्कर्मत्वविवक्षया प्रयोगोपि स्यादित्याह—वस्तुत इति। ननु भवेदेवं यदि प्रयोक्तृमात्राधीना विवक्षा स्यान्न त्वेवं, किंतु शाब्दिकसंप्रदायानुरुद्धा, तथाच ग्रामगमनादिवत् 'वृक्षं पर्णं पतती'त्यपि न प्रयुज्यते इत्याशङ्कते--अपादानस्येति। अपदानात् सकलकर्मव्यवहारविरहाद्व्यवहर्त्तव्यस्य कर्मत्वस्यापि निवृत्तिः, त्वया परं स्वलक्षणाऽनुरोधेन कर्मत्वं तत्रेष्यते तदा प्रमेयत्वमेव लक्षणं क्रियतां किं परसमवेतेत्यादिविशेषलक्षणभारेणेत्याह—तर्हीति। यद्यपि नेदं कर्मलक्षणं, किन्तु कर्मपदप्रवृत्तिनिमित्तमत्रं लक्षणं तु कारकाणामन्योन्यव्यावृत्तं नास्त्येव उपधेयसाङ्कर्यात्, तथापि पदार्थान्तरलक्षणप्रणयनप्रयासोपि तवानर्थक एव स्यादिति हृदयम्॥ १५॥

यदि कहा जाय कि कर्तृकर्मादि संज्ञा और विभक्तियां वक्ता की विवक्षा (वक्तुमिच्छा) के अधीन होती है। अतः 'वृक्षात्पर्णं पतति' यहां कर्मता और द्वितीया विभक्ति की विवक्षा नहीं होने के कारण (वृक्षं पर्णं पतति) ऐसा प्रयोग नही होता है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यदि अपादान कर्मलक्षण युक्त है और उसमें कर्मरूपता की विवक्षा होगी, तो वृक्षं पतति पर्णं ऐसा भी साधु प्रयोग प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि अपादान में कर्मत्व के रहते भी वह अपादान के कर्मत्व कभी विवक्षित (वक्तुमिष्ट) नहीं होता है, इस प्रकार का यह (शाब्दिक=वैयाकरण) का सम्प्रदाय (सिद्धान्त) है। तब जिस अपादान में कर्म के सब व्यवहार का अभाव है, उसमें भी निजकृत कर्म के लक्षण के अनुरोध (अनुसार) कर्मत्व को मानने वाले से (वस्तुमात्र कर्म हैं) ऐसा भी लक्षण सावकाशित (कथित स्वीकृत) हो सकता है। अर्थात् वस्तुत्व ही कर्म का लक्षण हो सकता है, फिर लक्षणान्तर करना व्यर्थ है। विवक्षा के अभाव से ही अनिष्ट विभक्ति का वारण होगा। और जिस में कर्म निमित्तक सब व्यवहार का अभाव है, उसमें भी स्वकृत कर्मत्व (कर्म लक्षण) है लोकोत्तर (अद्भुत) प्रज्ञा (बुद्धि) वाले आप ने यह कैसे समझा? अर्थात् व्यवहार से ही कर्मत्वादि का ज्ञान होता है। व्यवहार के विना कर्मत्वादि मानना अज्ञान है॥ १५॥

उक्त लक्षण के दोष निवारण के लिये शंका करके आगे उत्तर दिया गया है कि—

अपादानेतरदीदृशं कर्म ?—इति चेन्न, तत्रापि 'नदी वर्द्धते' = इत्यादौ तद्वृद्धेरप्राप्ततीरभागादिप्राप्तिफलायाः सकर्मकत्वापत्तेः। अपादानेतरदितिस्थाने क्रियानाशकेतिकरणेऽप्यस्य दोषस्य तादवस्थ्यात्, विनाशलक्षणायां वृद्धौ तदसम्भवाच्च, 'वृक्षं त्यजति' इत्यादावकर्मत्वप्रसङ्गाच्च, 'आत्मानं जानामि' इत्यत्र परत्वाभावादव्याप्तेः। तत्राप्युपाधिभेदात्परत्वं कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्युपहितस्यैवात्मनो ज्ञेयत्वाभ्युपगमात् ?—इति चेन्न, यतोऽस्तु

तावद्यथाकथञ्चिदेवं, तथाप्यध्यात्मविदो निरुपाधिमात्मानं जानतो ज्ञानं नात्मकर्मकं स्यात्, पच्यते फलं स्वयमेवेत्यादौ च कर्मकर्त्तरि का गतिः स्यात्? ॥ १६ ॥

ईदृशमिति। परसमवेतक्रियाफलभागीत्यर्थः। तत्रापीति। नदी वर्द्धते इत्यत्र, तीरस्य जलसमवेतक्रियाफलतीरसंयोगभागिनः कर्मत्वात् तथाच नदी तीरं वर्द्धते-इति प्रयोगः स्यादित्यर्थः। ननु क्रियानाशकपरसमवेतकियाफलभागित्वं कर्मत्वं नच वृक्षस्याऽपादानस्य यद्विभागलक्षणं पतनक्रियाफलं तत् क्रियानाशकं, किन्त्वधः संयोगस्तत्र कियानाशकं फलं तद्भागिभूम्यादेस्तत्र कर्मत्वमिष्यते एवेत्याशङ्क्य परिहरति—अपादानेति। अस्येति। नदी वर्द्धते-इत्यत्रातिव्याप्तिलक्षणस्येत्यर्थः। तादवस्थ्यादिति। तत्रापि तीरनीरसंयोगस्य-क्रियानाशकत्वादित्यर्थः। दोषान्तरमाह—वृक्षमिति। तत्रापि वृक्षपर्णविभागस्य क्रिया-नाशकत्वाभावादित्यर्थः। मूललक्षणेऽपादानातिव्याप्तिं समर्थ्याव्याप्तिमाह—आत्मान-मिति। परत्वाभावादिति। आत्मनः कर्मभिन्नत्वभावादित्यर्थः। योग्यविशेषगुणोपहितस्या-त्मनः कर्मत्वं, केवलस्य च तद्भिन्नत्वात्परत्वमिति विशिष्टाऽविशिष्टभेदेन प्रक्र-तेपि लक्षणसत्त्वान्नाव्याप्तिरित्याह—तत्रापीति। यथाकथञ्चिदित्यस्वरसात्। कर्म-भिन्नत्वमुपाधीनां, न तूपहितस्यात्मनोपि इति तदवस्थैवाव्याप्तिः = इत्यस्वरसबीजम्। अभ्युपेत्य दोषमाहतथापीति। युञ्जानस्य केवल एवात्मा ज्ञाता, ज्ञेयश्च, निरञ्जनादिश्रु-तिबलादित्यर्थः। कर्मकर्तरि परसमवेतक्रिया नास्तीति तत्राव्याप्तिरित्याह—पच्यते इति ॥ १६ ॥

यदि उक्त अतिव्याप्ति के निवारण के लिये, अपादान भिन्न ईदृश, परसमवेत क्रियाजन्य फलाश्रय को कर्म कहा जाय तो, उक्त अतिव्याप्ति के वारण होने पर भी, दोष (अतिव्याप्ति) का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि उक्त लक्षण करने पर भी ('नदी वर्द्धते') यहाँ नदीगत वृद्धि रूप क्रिया के संयोग रूप फल के आश्रय तीरादि में कर्मता की प्राप्ति होगी, क्योंकि नदी की वृद्धि से तीर वृक्षादि के साथ जल का संयोग रूप फल होता है। और ऐसा होने से अप्राप्त तीरभागादि की प्राप्ति रूप फल वाली उस वृद्धि रूप क्रिया में सकर्मकता की प्राप्ति होगी। अपादान भिन्न इसके स्थान में क्रियानाशक यह विशेषण दिया जाय, तो भी तीरादि में कर्मता की प्राप्ति से वृद्धि क्रिया की अकर्मकता नहीं रहती है। अर्थात् पर्ण के पतन क्रिया का नाशक भूमि का संयोग होता है। वृक्ष से विभाग पतन क्रिया का नाशक नहीं होता, अतः क्रिया नाशक फल के विशेषण रहने पर अपादान में तो अतिव्याप्ति नहीं होती किन्तु वृद्धि क्रिया के कर्मत्व की प्राप्ति तीरादि में पूर्ववत् रहती ही है, क्योंकि तीरसंयोग क्रिया का नाशक होता है। और (वृक्षं वर्द्धते वर्द्धकिः) बढ़ई वृक्ष को नष्ट करता है, इत्यादि स्थान में जहाँ नाश रूप ही वृद्धि (वृधु) धातु का अर्थ है, वहाँ नाश (ध्वंस) के अविनाशी होने से उसके नाशक फल के असम्भव से भी उक्त विशेषण युक्त लक्षण नहीं हो सकता। यदि विनाशानुकूल क्रिया को नाश कहा जाय और क्रिया होने से अन्यक्रिया के समान नाश का भी नाश माना जाय, तो भी 'वृक्षंत्यजति' वृक्ष को पत्र त्यागता है, इत्यादि में अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहां भी वृक्ष से विभाग रूप त्याग जनक क्रिया का वृक्ष या विभाग नाशक नहीं होता है। किन्तु भूमि का संयोग त्याग (विभाग) हेतु क्रिया का नाशक होता है। इसी प्रकार 'मैं आत्मा को जानता हुँ' यहाँ अव्याप्ति होगी,

क्योंकि ज्ञान क्रिया के आश्रय आत्मा से आत्मा में परत्व (भिन्नत्व) नहीं है, यदि कहा जाय कि वहाँ (आत्मा में) भी उपाधि के भेद से परत्व है, क्योंकि किसी योग्य विशेष गुणादि के विना केवल आत्मा न्यायमत में ज्ञान का विषय नहीं होता है, और कर्तृत्व भोक्तृत्वादि उपाधियुक्त ही आत्मा में ज्ञेयत्व माना जाता है, अतः सूक्ष्मशरीर युक्त आत्मा ज्ञेय है और स्थूल देह इन्द्रियादि युक्त आत्मा उसका ज्ञाता है। अथवा शुद्ध साक्षी उसका प्रकाशक है। वह उससे पर (भिन्न) है। अतः अव्याप्ति नहीं है। तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह कथन किसी प्रकार निर्वाह का सूचक है, जिससे इस प्रकार भी उपाधियों में भेद (परत्व) सिद्ध होता है। ज्ञाता और ज्ञेयस्वरूप आत्मा एक होने से वस्तुतः परत्व का अभाव ही रहता है। और व्यवहार दशा में इस प्रकार आत्मा के भेद मानने पर भी जो विविक्त निरूपाधि आत्मा को जानने वाले आध्यात्मवेत्ता ज्ञानी योगी हैं, उनका ज्ञान आत्मकर्मक नहीं होगा। वे लोग ज्ञेय आत्मा से अपने को पर (भिन्न) नहीं समझते हैं। और फल स्वयं पकता है, इत्यादि प्रयोग में जहाँ कर्म ही कर्ता रूप से विवक्षित रहता है, वहाँ कौन गति (उपाय) होगी, जिससे फल कर्म कहा जायगा। क्योंकि वहां पर समवेतक्रिया विवक्षित नहीं है। अतः कर्म के उक्त लक्षण अयुक्त है और कर्म अनिर्वाच्य है ॥ १६ ॥

तत्त्वज्ञ की दृष्टि से कर्म के लक्षण के निषेध करके अब साधारण दृष्टि से निषेध किया जाता है कि—

सर्वज्ञमीश्वरं मन्यमानेन च नित्यज्ञाने तस्मिन् भगवति फलनाशकत्व-स्यानभ्युपगमात्तं प्रत्येतल्लक्षणाऽसिद्धेः। तस्माद्व्याकरणकारैः शब्दसिद्ध्यर्थं नदीवृद्ध्यादिवत्कर्मापि परिभाषितमित्यलं तदनुगतलक्षणगवेषणया। करण-व्यापारविषयः कर्म ?–इति चेन्न, हस्तेन रामेण शरेण–इत्यादावतिप्रसङ्गात्। लक्षणं विनापि, क्रियाजनकत्वे सति व्यापारोद्देश्यत्वेन कर्मव्यवहारोपपत्तेः। शेषं चेश्वराभिसन्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः ॥ १७ ॥

ईश्वरज्ञानस्य हि विश्वमेव कर्म्म, नच सा ज्ञानक्रिया फलनाश्या, नित्यत्वादिति तत्राव्याप्तिरित्याह—सर्वज्ञमिति । फलनाशकत्वस्य इति बहुव्रीहिः। ननु कर्म्मादिप्र-सिद्धिः किंनिबन्धनेत्यत आह—तस्मादिति । ननु धात्वर्थतावच्छेदकपरसमवेतक्रिया-फलभागित्वं कर्मत्वं, तेन गमनस्योत्तरसंयोगो धात्वर्थतावच्छेदकस्तद्भागी ग्रामादिः कर्म; पतनस्याधः संयोगः फलं, नतु विभागः, तेन तद्भागिनोऽपादानस्य न कर्मत्वं; त्यजेश्च पूर्वदेशविभाग एव धात्वर्थतावच्छेदक इति तद्भागिनो वृक्षस्य कर्मत्वाद् वृक्षं पर्णं त्यजतीति भवत्येव; वृद्धेरवयवोपचयस्य नावच्छेदकं तादृशं फलं, येन तद्भागितया तीरादेः कर्मत्वं स्यादित्यत आह-शेषं चेति। ज्ञानादिक्रियाया अपि न तादृशं फलं, ज्ञाततादेर्निरा-करिष्यमाणत्वात्, संस्कारस्य चाऽनावश्यकत्वादकर्मकत्वापत्तेरिति भावः ॥ १७ ॥

सर्वज्ञ ईश्वर को मानने वाले नैयायिकादि से उस ईश्वर में वर्तमान नित्यज्ञान के फलनाशकत्व (फल जिसका नाशक होता हो) ऐसे स्वभाव को नहीं मानने से उनके प्रति इस लक्षण की प्रसिद्धि होगी, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान का समस्त संसार कर्म है। परन्तु नित्य होने से वह फल से नाश के योग्य नहीं है, अतः ईश्वर ज्ञान के सब कर्म में लक्षण की अव्याप्ति होगी। इसलिये दोष रहित कर्म लक्षण की असिद्धि से मानना

चाहिये कि व्याकरण के कर्ताओं ने शब्द की सिद्धि के लिये नदी और वृद्धि आदि संज्ञा जैसे परिभाषा (आधुनिक संकेत) रूप किया है, वैसे कर्म की भी परिभाषा (संकेत) उन्हों ने की है। अतः उसके अनुगत (अव्याप्ति रहित) लक्षण के अन्वेषण का कोई फल नहीं है। यदि कहा जाय कि (करण-व्यापार विषयत्व) करण के व्यापार का विषय होना, कर्म का अदुष्ट (दोषरहित) लक्षण है, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'रामेण हस्तेन शरेण हतो वाली' राम ने हाथ से शर द्वारा बालि को मारा। यहाँ हाथ रूप करण के व्यापार का विषय शररूप करण होता है। अतः अतिव्याप्ति दोष की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि लक्षण के बिना अनुगत कर्म व्यवहार (कथन) की अनुपपत्ति से कर्म और उसके लक्षण वक्तव्य हैं, तो कहा जाता है कि कर्म के लक्षण बिना भी, क्रिया के जनकत्व (कारणत्व) होता हुआ व्यापार की उद्देश्यता रूप सब कर्मवृत्ति अनुगत धर्म से ही कर्मव्यवहार की उपपत्ति (सिद्धि) हो जाने से लक्षण का अन्वेषण व्यर्थ है। यदि (धात्वर्थताऽवच्छेदक पर समवेत क्रिया फलभागित्व) कर्म का लक्षण किया जाय। और विभागादि के धात्वर्थतावच्छेदक रूप नहीं होने से 'वृक्षात् पतति' यहाँ दोषा भाव कहा जाय, तथा ईश्वरीय ज्ञान की विषयता = ज्ञानजन्य ज्ञातता, को ज्ञाधात्वर्थ के अवच्छेदक फल माना जाय, जिससे अव्याप्ति दोष का अभाव हो तो यह कहना भी नहीं बन सकता है। इस आशय से कहा गया है कि बाँकी वक्तव्य, ईश्वराभिसन्धिरूप ग्रन्थ के स्वप्रकाशवाद में आगे कहेंगे। अर्थात् वहाँ विषयता = ज्ञानजन्यज्ञातता का निषेध किया जायगा, जिससे अव्याप्ति का वारण अशक्य है ॥ १७ ॥

पूर्व प्रकरण में स्वप्रकाश एक ब्रह्मात्मा में कर्म क्रिया के विरोध के प्रसंग से कर्म के खण्डन करने पर, एक में विषयविषयिभाव रूप विरोध की शंका करके उस का खण्डन करना है, वहाँ प्रथम विरोध की शंका है कि—

ननु चाऽभेदे विषयविषयिभावस्यैवासङ्गतत्वं, विषयित्वं हि विषयसम्बन्धिता, 'सम्बन्धश्च भेदमन्तरेणासम्भवदस्थितिः, सम्बन्धमितेः सम्बन्धिस्वरूपभेदमितिव्यतिरेके वैपरीत्यावधारणात् ?। मैवम्। विषयविषयिभावो हि सम्बन्धो न सम्बन्धिस्वरूपाद्भिन्नः तथाभूतत्वेपि चान्ततस्तत्सम्बन्धस्यापि स्वाश्रयात्मकत्वमभ्युपगम्यमनवस्थाभयात्, तथा सति च सैव यथा सम्बन्धमितिः सम्बन्धस्वरूपात्सम्बन्धिनोर्भेदमनादायैव पर्यवस्यतीत्यभ्युपगन्तव्यम् स्वभावसम्बन्धस्येतरसम्बन्धमर्यादातिशायित्वात् तथा विनापि सम्बन्धिभेदं विषयविषयिभावात्माऽयं सम्बन्धः पर्यवसास्यति, तदवगमोपि तथावगमव्यतिरेकेणैव भविष्यति को विरोधः ? ॥ १८ ॥

ननु माभूत् स्वप्रकाशे कर्मक्रियाविरोधः विषयविषयिभावविरोधस्तु स्यादित्याह— नन्विति। विरोधमूलमाह—सम्बन्धश्चेति। तत्र हेतुमाह-सम्बन्धमितेरिति। यत्र सम्बन्धिनोः स्वरूपभेदप्रमा तत्रैव संबन्धप्रमा प्रकृते च सम्बन्धिभेदप्रमानिवृत्त्या सम्बन्धप्रमा निवर्तते तन्निवृत्तौ च प्रमेयस्य निवृत्तिरिति नाभेदे विषयविषयिभावसम्बन्ध इत्यर्थः। यद्वा भिन्नसम्बन्धिप्रमा सम्बन्धप्रमाकारणमतः कारणनिवृत्त्या कार्यनिवृत्तिरित्यर्थः। विषयविषयिभाव इति। त्वयापि विषयविषयिभावः सम्बन्धः सम्बन्धिभिन्नो नाऽभ्युप-

गम्यते, अन्यथा, तस्यापि सम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरमभ्युपेयमेवं पर्य्यवसानं न स्यादित्यर्थः। भिन्नसम्बन्धिभितेः सम्बन्धिमितिं प्रति न कारणत्वं, न वा व्यापकत्वं, व्यभिचारादित्याह–तथा सतीति। ननु सम्बन्धान्तरापेक्षया कथमिदं वैषम्यमत आह—स्वभावेति। परमते स्वरूपसम्बन्धस्य सम्बन्धिद्वयात्मकत्वमुपपाद्य तद्दृष्टान्तेन स्वमते एकसम्बन्धिमात्रात्मकत्वं स्वरूपसम्बन्धस्योपपादयति–तथा विनापीति ॥ १८ ॥

आत्मा स्वयं प्रकाश है ऐसा कहने से विषयविषयिभाव (विषयत्व और विषयित्व) की प्रतीति होती है। और अभेद (रहते एक आत्मा में उस की सङ्गति युक्तता) नहीं हो सकती हैं, क्योंकि विषयित्व=विषयसम्बन्धिता (विषयी के विषय के साथ सम्बन्ध) को कहते हैं। और सम्बन्ध जो होता है वह सम्बन्धी के भेद के बिना नहीं हो सकता है। अर्थात् भेद के बिना सम्बन्ध की स्थिति और उस का यथार्थ अनुभव नहीं हो सकता है। क्योंकि सम्बन्धी के स्वरूप के भेद की मिति (प्रमा=यथार्थनुभव) के अभाव रहने पर सम्बन्ध की मिति (प्रमिति) के वैपरीत्य (अभाव) का अवधारणा=निश्चय होता है। और स्वप्रकाश ज्ञान के स्थान में भी भेद का अभाव है। अतः सम्बन्ध की प्रमा नहीं हो सकती है। इस शंका का उत्तर है यह है कि ऐसी शंका युक्त नहीं है। क्योंकि जहां सम्बन्धी सम्बन्ध भिन्न हो वहाँ सम्बन्धी का भेद रहता है। परन्तु यहाँ आत्मा में तो विषयविषयिभाव सम्बन्धी के स्वरूप से भिन्न पदार्थ नहीं है। क्योंकि विषयविषयिभाव के तथाभूतत्व (सम्बन्धि स्वरूप से भिन्नत्व) होने पर भी अनवस्था के भय से विषयत्व विषयित्व के सम्बन्ध को अन्त में आपको आश्रय विषयत्व विषयित्व रूप मानना होगा। और ऐसा मानने पर वह विषयत्व विषयित्व के सम्बन्ध की प्रमिति जैसे सम्बन्ध के स्वरूप से सम्बन्धी के भेद के ग्रहण बिना भी सिद्ध होती है, ऐसा माना जाता है। क्योंकि स्वभाव (स्वरूप) सम्बन्ध को अन्य सम्बन्ध की मर्यादा से अतिशायित्व (भिन्नत्व) रहता है, और विषयत्व विषयित्व का स्वरूप सम्बन्ध ही होता है। इसी प्रकार सम्बन्धी के भेद के बिना भी विषयविषयिभाव स्वरूप भी यह सम्बन्ध सिद्ध हो सकता है। और उस का प्रमाज्ञान भी भेद के प्रमाज्ञान के बिना हो सकता है। इस में बिरोध क्या है? अर्थात् विरोध नहीं है। क्योंकि अतीत अनागत विषयक ज्ञान में भेद के बिना भी विषयविषयिभाव रहता है ॥ १८ ॥

वर्तमान घट और उसके ज्ञान में तथा घट और दीप में भेद रहते विषयविषयिभाव होता है। और स्वप्रकाश में अभेद रहते भी विषयविषयिभाव माना जाता है, वहाँ परस्पर विरूद्ध दोनों यथार्थ नहीं हो सकते, इस आशय से शंका होती है कि—

नचैवं घटतज्ज्ञानयोर्यादृग्विषयविषयिभावस्ततो मात्रयापि स्वप्रकाशे विषयविषयिभावाऽन्यत्वे बाध्यतैकत्र स्यात्। अस्त्येव ह्यविद्याविद्यमाने घटतज्ज्ञाने बाध्यत्वं, परमार्थसति तु स्वप्रकाशे पारमार्थिकत्वमिति द्वयोरननुगमेपि न दोषः। अथवा, स्वात्मना सह क्रियाकर्मभावो विषयविषयिभावो वा स्वप्रकाशार्थ इति नाभ्युपेयमेव, यथा तु भवतां सत्तासबन्धादितरत्र

सद्व्यवहारव्यवस्था सत्ता तु स्वयमेव सद्रूपा, नचैतावता स्वात्माश्रयता तस्याः तथा ज्ञानमपि स्वत एव सिद्धस्वरूपम् ॥ १९ ॥

ननु सम्बन्धान्तरापेक्षया स्वरूपसम्बन्धस्य वैषम्यस्तु, त्वया तु स्वरूपसम्बन्धापेक्षयापि वैषम्यमुच्यते, इत्येकस्याऽवास्तवत्वमत आह—नचेति। भेदे सति योयं विषयविषयिभावः स एव लोकसिद्धोपि बाध्यते, बाधस्याभिधास्यमानत्वात्; यथा सर्वलोकसिद्धः शरीरादावात्मव्यवहारो, यथा वा तमसि नीलव्यवहार इत्यर्थः। अननुगमेपीति। लोकसिद्धविषयविषयिभावस्य भेदघटितत्वं, स्वप्रकाशविषयविषयिभावस्य चाऽभेदघटितत्वम्,—इत्यननुगमो न दोषः, भेदघटितस्य बाध्यत्वेनेकरूपतामात्रपरिशेषादननुगमस्यैवापास्तत्वात्। यद्वा स्वरूपसम्बन्धः क्वचित्पारामर्थिकः क्वचिदपारमार्थिक इत्यननुगमेपि न दोष इष्टत्वादित्यर्थः। ननु सिद्धत्वेन कर्मत्वम् असिद्धत्वेन च क्रियात्वं, तदुभयं चैकदा विरुद्धम्; एवं 'विषयविषयिभावः सम्बन्धः संबन्धिद्वयादभिन्नः'—इति कथंचिदनवस्थादिभयेनाङ्गीकृतं 'य एव संबन्धी स एव चापरः संम्बन्धी'—इति तु सर्वथा दुर्घटं, केनानुरोधेनाभ्युपेयम्? कथं वा स्वपरिभाषामात्रेण व्यवहारसमर्थनम्? यदि लोकसिद्धो विषयविषयिभावो नाद्वैतं सहते तदा तदपि त्यज्यतामित्याशयेनाह-अथवेति। यथा तु भवतामिति। न च सत्ता न सद्व्यवहारहेतुः किन्तु सत्तासमवायः, स च यथा घटादौ तथा सत्तायामपि, तस्य सम्बन्धत्वेन द्विष्ठत्वात्; सामान्यसमवायविशेषेषु सत्तैकार्थसमवायात्; तदेकार्थसमवायोपि हि तत्समवाय एवेति वाच्यम्। तर्हि सत्तासमवायः स्वरूपतः एव सन्निति वक्तव्यम्, तथा च यथा सत्तायां वा तत्समवाये वा स्वरूपतः सद्रूपत्वमास्थेयं तथा परसिद्धिर्ज्ञानात् ज्ञानसिद्धिस्तु स्वत एवेत्यर्थः। ननु, ज्ञानं स्वत एव सिद्धमित्यनुपपन्नम् स्वत इति पञ्चम्या सिद्धिं प्रति स्वस्य हेतुत्वमभिधीयते, सिद्धिश्च द्वयी ज्ञप्तिरुत्पत्तिर्वा न त्वस्माद्भवितुमर्हति, हेतुहेतुमद्भावस्य ज्ञाप्यज्ञापकभावस्य वा सम्बन्धस्य भेदघटितत्वात् ॥ १९ ॥

उक्तरीति से अभिन्न (एक) में भी विषयविषयिभाव मानने पर, घट और उसके ज्ञान में जैसा विषयविषयिभाव होता है, उससे लेशमात्र भी स्वप्रकाश में विषय विषयिभाव के अन्दर अन्यत्व (भेद) होने पर एक में बाध्यता (मिथ्यात्व) होगी। सर्वलोक सिद्ध घट और ज्ञान के विषयविषयिभाव बाध्य नहीं हो सकता है। अतः स्वप्रकाश के ही बाध्य होगा, यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि अविद्या (माया) से विद्यमान सिद्ध घट और उसके ज्ञान में विद्या से बाध्यत्व है ही, इससे उनके विषय विषयिभाव में भी बाध्यत्व है। और पारमार्थिक सत्स्वरूपप्रकाश में तो पारमार्थिकत्व है, अतः उस का विषयविषयिभाव भी पारमार्थिक है। परन्तु इस प्रकार एक विषय विषयिभाव के मिथ्या और एक के सत्व होने से दोनों का अनुगम एक रूप से बोध, नहीं हो सकता, तो इससे कोई दोष नहीं है ॥

उक्तरीति से एक में भी क्रियाकर्मभाव विषयविषयिभाव का प्रतिपादन करके स्वसिद्धान्त की रीति से कहा जाता है कि अपनी आत्मा के साथ क्रियाकर्मभाव या विषयविषयिभाव स्वप्रकाश शब्द का अर्थ नहीं मानना चाहिए किन्तु जैसे आप (नैयायिक) के मत में सत्ता रूप परा जाति के सम्बन्ध से सत्ता से भिन्नपदार्थ में सत्यव्यवहार की व्यवस्था (नियम) होती है, अतः अभाव में सद्व्यवहार नहीं होता है, और सत्ता तो सत्तान्तर के बिना ही सत्स्वरूप मानी जाती है। परन्तु इससे उस सत्ता

को स्वात्माश्रयतारूप दोष की प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार (ज्ञानस्वरूप आत्मा) भी स्वतः सिद्धस्वरूप ही है। ज्ञानान्तर का विषय नहीं है। किन्तु अवेद्य होने पर भी स्वविषयक व्यवहार के जनक होने से स्वयंप्रकाश है ॥ १९ ॥

शंका होती है कि ज्ञानात्मा के स्वविषयक व्यवहारजनक होने पर स्वविषयकत्व भी होगा ही, क्योंकि ज्ञानविषयत्व के बिना अन्यत्र व्यवहार विषयत्व नहीं देखा जाता है, इस का समाधान कहा गया है कि—

अथवा, यथा बहुव्रीहिसमासे तद्गुणसंविज्ञाने गुणमादायैव प्रधानस्याऽन्यपदार्थस्य बहुव्रीहिसिद्धपदप्रतिपाद्यता तथा विज्ञानस्याऽविषयमपि स्वात्मानमादायैव स्वविषयव्यवहारप्रवर्तनं समर्थ्यताम्। सोयं गुरूणां सविषयकविज्ञानस्वप्रकाशतापक्षो न ब्रह्मस्वप्रकाशतापक्षः, तत्र विषयाभावात्। एतावन्मात्रेण तु स्यात्, यथा स्वाऽविषयेपि कुटादौ बहुव्रीहिवाक्यं व्यवहारं प्रवर्तयति इति, तथा ज्ञानमविषयेप्यात्मन्यविद्यादशायामिति ॥ २० ॥

सत्ता तु सत्तया नोत्पाद्यते ज्ञाप्यते वा; किन्तु विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वादिना सदन्तरगुणेन सत्ता सती इति गौणो व्यपदेश इति महद्वैषम्यमित्याशयेनाह—अथवेति। यथा लम्बकर्णादिपदं स्वविषये शक्त्या, लक्षणया वाऽन्यपदार्थे व्यवहारं प्रवर्तयदेव स्वाविषयेपि समस्यमानपदार्थे व्यवहारं प्रवर्तयति तथा ज्ञानं स्वविषये घटादौ व्यवहारं प्रवर्तयत्स्वाविषयेऽपि स्वस्मिन् व्यवहारं प्रवर्तयतीति, व्यवहारस्य ज्ञानसाध्यत्वात् स्वभिन्नज्ञानसाध्यत्वस्य गौरवेणापास्तत्वादित्यर्थः। ननु, स्वविषये ज्ञानं व्यवहारं प्रवर्तयत्स्वस्मिन्नपि व्यवहारं प्रवर्तयति' इति वेदान्तिनामनभिमतं, विषयाऽनभ्युपगमादित्यत आह—सोयमिति। गुरूणां—प्राभाकरगुरूणां, मान्यानां वा। अविषये व्यवहारप्रवर्तनं गुरूणामिव वेदान्तिनामपि तुल्यमिति तन्मात्रे तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिपदं दृष्टान्त इत्याह—एतावन्मात्रेणेति। कुटः—घटः, 'घटः कुटनिपावस्त्री' इति कोशात्। गाङ्कुटादिभ्यः इत्यादिसूत्रस्थकुटपदं वा दृष्टान्तः। कुटादौ—कुटादिस्थले, यद्बहुव्रीहिवाक्यं तत्स्वाविषयेपि व्यवहारं प्रयोजयतीति योजना; न तु सप्तम्योः सामानाधिकरण्यम्। ननु, स्वाविषये स्वस्मिन् ज्ञानं व्यवहारप्रवर्तकमित्यत्रापि तवाऽद्वैतवादिनो न दृष्टान्तोस्ति, दृष्टान्तस्य व्यवहारस्य च ब्रह्मगोचरस्याऽनभ्युपगमादित्यत आह—अविद्येति। ननु कुटादावपि तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहेरनुशासनबलाल्लक्षणया, शक्त्या वा, कुटोपि विषय एव; तथाच व्यवहारानुरोधात्स्वप्रकाशेपि कर्मक्रियाभावो विषयविषयिभावो वाऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्यः, स चाऽभेदे सर्वथानुपपन्न इति कथं स्वप्रकाशत्वम्? ॥ २० ॥

बहुव्रीहि समास समस्यमान पदों के अर्थों से अन्यार्थ को कहने वाला होता है। और तद्गुणसंविज्ञान, तथा अतद्गुणसंविज्ञान, दो उसके भेद होते हैं। वहाँ (दृष्टसागरमानय) अतद्गुणसंविज्ञान कहा जाता है। क्योंकि जिसने सागर को देखा है उसका आनयन हो सकता है। और वही बहुव्रीहि का प्रधान (मुख्य) अर्थ है। उस गुणभूत सागर का आनयन नहीं हो सकता है। परन्तु (लम्बकर्णमानय) यहाँ कर्णरहित का आनयन नहीं हो सकता। अतः यहाँ तद्गुणसंविज्ञान कहा जाता है। यहाँ लम्बे कान वाला प्रधान है। उस समास में जैसे गुणस्वरूप कर्ण का ग्रहणपूर्वक ही प्रधान अन्य पदार्थरूप पुरुष को बहुव्रीहि से सिद्ध पद द्वारा कहा जाता है वैसे ही विज्ञान के अविषय भी विज्ञान के स्वात्मा (स्वरूप) को ग्रहण करके ही (स्वविषय)

विज्ञान के विषय (घटादि) के व्यवहार की प्रवृत्ति की जा सकती है। परन्तु यह पूर्वोक्त सत्यस्वविषयसहित स्व (विज्ञान) का विज्ञान से प्रकाशरूप स्वप्रकाशतापक्ष (सिद्धान्त) गुरु (प्रभाकर) का है। ब्रह्मस्वप्रकाशतापक्ष ऐसा नहीं है। क्योंकि ब्रह्मस्वप्रकाशता पक्ष में सत्य विषय का अभाव माना जाता है। और विषय के बिना भी सुषुप्ति तथा मोक्ष में ब्रह्म स्वयं प्रकाश माना जाता है। किन्तु इतने ही से वेदान्त में भी दृष्टान्तरूप तद्गुण-संविधान हो सकता है कि जैसे अपने अविषय कुटादि में भी बहुब्रीहि वाक्य व्यवहार को प्रवृत्त करता है वैसे ही ज्ञान (अन्तःकरण का वृत्तिविशेष) भी अपने अविषय आत्मविषयक व्यवहार को अविद्या अवस्था में प्रवृत्त करता है ॥ २० ॥

फिर शंका होती है कि लोक में कहीं ज्ञान के अविषय में व्यहार की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है, और (गाङ्कुटादिभ्यः) इत्यादि व्याकरण सूत्र में तो शास्त्रबल से प्रयोग के अनुसार कुट धातु से अन्य के ग्रहणपूर्वक कुट का भी ग्रहण हो सकता है, यहाँ अविषय के व्यवहारादि में कोई प्रमाण नहीं है, तो इस शंका के उत्तररूप अर्थापत्ति प्रमाण को दर्शाया गया है कि—

तदेवं यद्यदन्यत्र दृष्टवैधर्म्यं स्वप्रकाशे पर्यवसास्यति तत्सर्वमन्यथानुपपत्तिरेव स्वप्रकाशसाधकतया प्रदर्शिता स्वीकारयिष्यति। तद्यथा आन्यो ज्ञाताऽन्यश्च ज्ञेय इत्यन्यत्र दृष्टमहमिति व्यवहारान्यथानुपपत्त्यात्याज्यं, तथाऽन्यजज्ञानमन्यजज्ञेयमिति जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या त्याज्यं, सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिस्तथादृष्टतामात्रबलमवलम्ब्य प्रवृत्तं तर्कशतमपि बाधते ॥ २१ ॥

न च दृष्टान्तमात्रादिष्टसिद्धिरिति प्रमाणं किंचिदावश्यकमत आह—तदेवमिति। ज्ञानस्य ज्ञानान्तरप्रकाश्यत्वेऽनवस्था, शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिरनिर्मोक्षापत्तिश्चेत्यन्यथानुपपत्त्या स्वप्रकाशताऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्या, सा च यावता विना न सिद्ध्यति तावदवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम्; अतो विषयविषयिभावं क्रियाकर्मभावं वा कथमद्वैतेप्यर्थापत्तिर्न साधयिष्यतीत्यर्थः। ननु यदन्यत्रादृष्टं तदप्यन्यथानुपपत्तिः साधयतीत्यप्यदृष्टमेवेत्यत आह—यद्यथेति ज्ञातुर्ज्ञेयत्वं, ज्ञानस्य च ज्ञेयत्वमन्यत्रादृष्टचरमप्यहमिति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या, जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्त्या च, त्वयाभ्युपेयते, तथा प्रकृतेपीत्यर्थः। नन्वन्यथानुपपत्तेः कथमयं महिमा ? कथं वाऽन्यथानुपपत्तिरेव दृष्टेन न बाध्यते ? इत्यत आह—सर्वत इति। यदि तज्ज्ञानं क्रिया स्यात् तदा कर्म न स्यात्, यदि विषयः स्यात्तदा विषयि न स्यात्, यदि स्वं न विषयीकुर्यात्तदा स्वस्मिन् व्यवहारं न प्रवर्तयेत्—इत्यादितर्कशतमप्यन्यथानुपपत्तिबाध्यमेव नतु तद्बाधकमित्यर्थः ॥ २१ ॥

अविद्याबल से व्यवहार की सिद्धि से, तथा ज्ञानविषयक ज्ञान के मानने पर अनवस्थादि की प्राप्ति से, ज्ञानात्मा के स्वप्रकाशता में जो अन्यत्र (घटादिज्ञान) में दृष्ट क्रियाकर्मभावादि से विषमता प्राप्त होती है, स्वप्रकाशता के साधक रूप से प्रदर्शित अन्यथानुपपत्ति (अर्थापत्तिरूप प्रमाण) ही उन सब वैषम्य का स्वीकार कराएगी। 'जैसे अन्यत्र देखा गया है कि ज्ञाता पुरुष अन्य होता है, और ज्ञेय घटादि उससे अन्य होता है, परन्तु (अन्यथा) एक में ज्ञातृज्ञेयभाव के बिना 'अहम्' इस व्यवहार की असिद्धि से ज्ञाता ज्ञेय के भेदनियम को त्यागा जाता है। इससे अन्यत्र दृष्ट से

विषमता का स्वीकार होता है। इसी प्रकार अन्यत्र अन्य ज्ञान और उससे अन्य ज्ञेय रहता है, परन्तु, जानामि, इस व्यवहार की एक में ज्ञानज्ञेयभाव विना अनुपपत्ति से भेद का नियम नहीं माना जाता है। अतः सब से बलवती अन्यथानुपपत्ति 'तथा' एक में ज्ञानज्ञेयभावादिमात्र की अदृष्टता (अप्रत्यक्षता) रूप बल का ग्रहण करके प्रवृत्त सैकड़ों तर्कों को बाधित करती है ॥ २१ ॥

अन्यत्र एक में ज्ञातृ ज्ञेयभावादि नहीं दृष्ट है, परन्तु (अहम्) इत्यादि ज्ञान से एक में भी ज्ञातृज्ञेयादिभाव नैयायिकादि भी मानते हैं, यह अन्यथाऽनुपपत्ति से मानना पड़ता है। यदि नहीं मानें तो अन्यथा उपपत्ति बताना चाहिये, और इसे कोई बता नहीं सकता, इसीसे तन्त्रवार्तिककारने जो कहा है, उसे कहते हैं कि—

तदिदमाहुः—'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि' इति।
तस्मात्—

अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्टि दृष्टवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका ॥ ६ ॥
वाच्यान्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताऽऽग्रहः।
नह्येकत्र समावेशश्छायाऽऽतपवदेतयोः ॥ ७ ॥

तदित्थं त्वदङ्गीकृतसद्विचारलक्षणोपपन्नैरेवं विधैर्विचारैः स्वप्रकाशता भवता सुप्रतिपदा, अस्माभिस्तु संवेदनबलादेव स्वतः सिद्धरूपं विज्ञानमास्थीयते इति ॥ २२ ॥

(इति स्वप्रकाशवादः।)

ननु, तवैवं प्रौढिमात्रं नतु प्रामाणिकानामिदमनुमतमत-आह—तदिदिमिति। यत्रादृष्टे प्रमाणं प्रवर्तते तददृष्टमपि "नित्यं ज्ञानम्; अशरीरी कर्त्ता; सुखदुःखात्यन्ताभाववानात्मा; निः स्पर्शं मूर्तं यथा मनः, जातमप्यविनाशि, यथा ध्वंसः, अनुत्पन्नमपि विनाशि यथा प्रागभावः; स्वयमेव स्ववृत्ति यथा प्रमेयत्वं" प्रामाणिकैरभ्युपगम्यते इत्यर्थः। अर्थापत्तेरन्यथोपपत्तिमात्रं बाधकं, प्रकृते तु सा नास्त्येवोक्तयुक्तेरित्यर्थः। उक्तमर्थं श्लोकद्वयेन संगृह्णाति—तस्मादिति। नन्वर्थापत्त्या स्वप्रकाशतासिद्धावपि द्वैतं तदवस्थमेव, स्वप्रकाशज्ञानभिन्नाया अर्थापत्तेर्विचारस्य चैतादृशस्य त्वयाप्यभ्युपगमादित्यत आह—तदित्थमिति। नेयमर्थापत्तिर्न चायं विचारो मयाभ्युपेयते किन्तु त्वदभ्युपगमेन त्वं बोध्यसे इति न द्वैतापत्तिरित्यर्थः। तर्हि स्वप्रकाशज्ञानसिद्धिरपि कथं तवेत्यत आह—अस्माभिरिति। यद्यपि तदेव ज्ञानं प्रकाशकं, प्रकाश्यम् , अभ्युपगन्तव्यम्, अभ्युपगमः, अभ्युपगन्तृ, स्वप्रकाशत्वेन परबोधनं, बोध्यश्च परः बोधकं वचनं चेति संकलयतो महासाहसिकत्वमसंकलयतश्च द्वैतापत्तिस्तथापि प्रपञ्चबाधाया वक्तव्यतया तथैव पर्यवसास्यतीति हृदयम्। यद्यपि यत्स्वप्रकाशं ज्ञानं त्वयाभ्युपगतं तस्य सर्वोऽयं प्रपञ्चः, स्वं च विषय इत्यस्तु तथाच तद्विषयतया न प्रपञ्चमिथ्यात्वं; नाप्यद्वैतं प्रपञ्चस्यैव सत्त्वात् ; नापि तादृशे तत्र प्रमाणान्तरापेक्षा, स्वतः सिद्धत्वात् , नाप्यस्माकमपसिद्धान्तः, ईश्वरज्ञानस्य तादृशस्यास्माभिरभ्युपगमात् ; नापि ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यतापत्त्योक्तदोषः, तेनैव सर्वविषयकेण सर्वदोषनिरासात् ; तथाच स्ववधाय कृत्योत्थापनमेतत्—स्वप्रकाशज्ञानसाधनम् । तस्य प्रपञ्चो विषय इत्यत्र किं प्रमाणम्—इति चेन्न, प्रपञ्चविषयतायामपि तस्यैव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात् ; त्वन्मते स्वप्रकाशतायामिव। अस्माकं तु तद्भिन्नमपि धर्मिग्राहकं

प्रमाणमस्ति, न च तज्ज्ञानविषयीकृतं प्रपञ्चं खण्डनयुक्त्योऽप्यपनेतुमीशते, सुदृढप्रमाण-सिद्धत्वात्। तस्मात् "त्वया निर्म्माय दत्तेऽस्मिन् स्वप्रकाशैकमन्दिरे। न्यासीकृतः प्रपञ्चोयं नापह्नोतुं तवार्हति। प्रकाशपाशबद्धानां प्रपञ्चानां विमोचने। प्रभवन्तु स्वयं बाध्याः कथं खण्डनयुक्तयः" तथापि प्रपञ्चखण्डनयुक्तयस्त्वया बाधितुमशक्या इति हृदयम् ॥ २२ ॥

प्रमाणवाले (प्रमाणिक) अत्यधिक भी अदृष्ट वस्तु कल्पनीय (अर्थापत्ति आदि से ज्ञेय) है। इससे वस्तु के प्रसाधक यदि अन्यथाऽनुपपत्ति है, तो सबसे बली प्रत्यक्ष प्रमाण से भी अधिक बलवाली वह अर्थापत्ति ही दृष्टवैमत्य (विरोध) को नष्ट करती है। अतः हो सके तो अन्यथा उपपत्ति (सिद्धि) कहना चाहिये, अथवा दृष्टता (दृष्ट विरोध) के आग्रह को छोड़ना चाहिये, क्योंकि छाया और आतप के समान विरुद्ध इन दोनों (दृश्यत्व स्वप्रकाशत्व—अन्यथोपपत्ति—अन्यथाऽनुपपत्ति) का एकत्र समावेश नहीं हो सकता है ॥ ६–७ ॥

इस पूर्व कही रीति से नैयायिकादि से स्वीकृत सद्विचार के लक्षणों से युक्त इस प्रकार के विचारों द्वारा उन से स्वप्रकाशता सुज्ञेय है। और हम तो अपने अनुभव के बल से स्वतःसिद्धस्वरूप ब्रह्मात्मस्वरूप विज्ञान को मानते हैं ॥ २२ ॥

॥ इति स्वप्रकाशवादः ॥

शून्यवाद और स्वयंप्रकाशवाद में भेद। विचार के अस्वीकार से शून्यवाद की प्राप्ति होने पर दोनों मतों में भेद दिखलाया जाता है—

एवं च सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे "बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते। अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः" इति विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते। तथाहि—नेदं सद्भवितुमर्हति, वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात्। नाप्यसदेव, तथा सति लौकिकविचारकाणां सर्वव्यवहारव्याहत्यापत्तेः ॥ १ ॥

ननु, यदि विचारोऽपि त्वया नाभ्युपेयते तदा माध्यमिकमतप्रवेशात्तवापि दर्शनमदर्शनमेवेत्यत आह—एवं चेति। आदिमः=सौगतः, भगवता बुद्धेन, "समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिन" इति कोशात्; लङ्कावतारस्तदागमग्रन्थः ॥ बुद्ध्येति। यथा बुद्ध्यतिरिक्तः पदार्थो बुद्ध्या विविच्यमानो विचारं न सहते तथा बुद्धिरपि विविच्यमाना विचराऽसहत्वान्निरभिलप्या—अनिर्वचनीया, निःस्वभावा—असतीत्यर्थः। सौगतदर्शनात् स्वदर्शनं भिनत्ति—विज्ञानव्यतिरिक्तमिति। भवितुमर्हति—इत्यधिकमपि लौकिकमनुरुद्ध्योक्तम् ॥१॥

उक्त रीति से ब्रह्म स्वरूप विज्ञान के स्वयंप्रकाश सत्य सिद्ध होने पर सौगत (बुद्ध) और ब्रह्मवादी के मतों में यह विशेष (भेद) सिद्ध होता है। आदिम (बुद्ध) आत्मा अनात्मा सबको अनिर्वचनीय (मिथ्या-असत्) वर्णन करते हैं। भगवान् (बुद्ध) ने लङ्कावतार नामक ग्रन्थ में कहा है कि बुद्धि से विविच्यमान वस्तुओं के स्वभाव (स्वसत्ता) अवधारित = निश्चित नहीं होते हैं। अतः वे ज्ञान ज्ञेयादि सब वस्तु निरभिलप्य = अनिर्वचनीय और स्वभाव (सत्ता) रहित देशित (उपदिष्ट) हैं।

अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय परस्पर सिद्ध होते हैं। अतः स्वतन्त्ररूप से दोनों असिद्ध होने से मिथ्या हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि विज्ञान स्वरूप ब्रह्म से भिन्न यह दृश्य सब संसार सद्ब्रह्म और असद् शशशृङ्गादि से विलक्षण (अनिर्वचनीय) है। यह जगत् सत् नहीं है, क्योंकि वस्तु की सिद्धि लक्षण से होती है, और वक्ष्यमाण युक्ति से सत् के लक्षण दूषणग्रस्त हैं। और यह जगत् सर्वथा असत् भी नहीं है, क्योंकि असत् होने पर लौकिक तथा विचारक (परीक्षकों) के सब व्यवहार के व्याघात (विरोध) दोष की प्राप्ति होगी। असत् शशशृङ्ग का कहीं व्यवहार में उपयोग नहीं होता है ॥ १ ॥

परोपालम्भपूर्वक अनिर्वाच्यता का निरूपण किया जाता है—

यदपि 'निर्वक्तुमसामर्थ्ये गुरव उपास्यन्तां येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते'— इत्युपालम्भवचनं तत्तदा शोभेत यदि मेयस्वभावाऽनुगामिनीयमनिर्वचनीयतेति न ब्रूयुः वक्तृदोषादिति च वदेयुः। यस्तु वादी निरुक्त्यभिमानं धत्ते स निर्वक्तुं नतु शक्ष्यति, वक्तव्यदोषात् ॥ २ ॥

मेयस्यायं स्वभावो यदस्य निर्वचनमशक्यं न तु निर्वक्तुः स च तदा स्याद्यदि कोपि शक्नुवान्निर्वक्तुं, येपि गुरव उपासनीयास्तेपि निर्वक्तुमकुशला एवेत्यर्थः त्वमपि गुरुभूत्वा मां शिक्षय यदि पारयसीत्याह—यस्त्विति ॥ २ ॥

'यदि निर्वचन (लक्षण = सत्यादि रूप से व्याख्यान) करने में असामर्थ्य है, तो वे गुरुजन की उपासना करें जिनसे निरुक्तियाँ (लक्षणादि) सीखे (समझे) जाते हैं, यह उपालम्भ वचन तब शोभता यदि इस अनिर्वचनीयता को प्रमेय से स्वभावानुगामिनी नहीं कही जाती, किन्तु वक्ता के दोष से अनिर्वचनीयता कही जाती। प्रमेय के स्वभावानुगामिनी अनिर्वाच्यता के होने ही के कारण जो वादी निर्वचन के अभिमान करते हैं, वे भी निर्वचन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वक्तव्य वस्तु में ही ऐसा दोष है कि उसका निर्वचन किसी से नहीं हो सकता है ॥ २ ॥

जिन अतिव्याप्ति आदि दोषों से लक्षणों का खण्डन किया जाता है, दृश्यत्व बाधितत्वादि दोषों से ब्रह्म भिन्न को अनिर्वाच्य कहा जाता है, उन दोषों के उन दोषों में भी रहने पर, अनिर्वाच्य उन दोषों से अन्य में अनिर्वाच्यता नहीं हो सकती। इस आशय से आगे शंका करके उस का उत्तर दिया जाता है—

नच ते दोषाः स्वकमपि घ्नन्तो जातयः कथं न स्युरिति वाच्यम्, यतो निर्वचनीयत्वं बाध्यते तैर्दोषैः स्वयमप्यनिर्वचनीयैरेव, अनिर्वचनीयैरेव च तैर्व्यवह्रियते एवेति कुतोऽस्मान् प्रति व्याघातः स्यात् तज्जातित्वस्य च निरुच्य योजयितुमशक्यत्वात् ॥ ३ ॥

ननु वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात्—इत्ययमपि हेतुर्वक्ष्यमाणदूषणग्रस्त एव, तथा च स्वव्याघातकतया जात्युत्तरमेतत् यथा नेदं साधकं, सर्वथाऽनुपलभ्यमानोपाधिशङ्काग्रस्तत्वात्—इत्यादि तद्यदि दोषाणामपि बाध्यत्वं, तदा प्रपञ्चः कथं बाध्यतां तैरित्याशङ्कते—नचेति। बाध्यैरेव दोषैर्जगद्बाध्यमित्यङ्गीकृत्य प्रवृत्तं मां प्रति न स्वव्याघातदोषावकाश इत्याह—यत इति। ननु स्वव्याघातकं दोषं प्रयुञ्जानस्त्वं जातिवादी निरनुयोज्यानुयोगेन निग्रहस्थानेन निगृहीत इति जितमस्माभिरित्यत आह—तज्जातित्वस्येति।

वक्ष्यमाणदोषैर्जातिलक्षणमपि निर्वक्तुमशक्यमेवेति जातित्वमव्यवस्थाप्याहं निग्रहीतुमशक्य इत्यर्थः ॥ ३ ॥

सत् एवं असत् आदि रूप से अनिर्वचनीयता रूप वे दोष सब अपने स्वरूप को भी बाधित करते हुए जाति (स्वबाधक असत् स्वरूप) क्यों नहीं होंगे ? और उन दोषों के असत् बाधित होने पर अनात्म पदार्थ अबाधित (सत्य) ही सिद्ध होंगे, ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि स्वयम् अनिर्वचनीय ही उन दोषों से ब्रह्म से भिन्न वस्तु में सत्त्वादि रूप से निर्वचनीयता बाधित होती है, और उन अनिर्वचनीय दोषों के द्वारा भी अनात्मा में दुष्टता का व्यवहार किया जाता है तथा अनिर्वचनीय वस्तु से लौकिक व्यवहार किया ही जाता है। इस स्थिति में हम अनिर्वचनीयवादी के प्रति व्याघात दोष कैसे हो सकता है, क्योंकि अनिर्वचनीय होते हुए भी पदार्थ का व्यावहारिक स्वरूप रहता है, जिससे व्यवहार की सिद्धि होती है। और जिन दोषों को आप जातिरूप कहते हैं, उनके जातित्व का भी निर्वचन करके उन दोषों में जातित्व का योजन (सम्बन्ध) करना अशक्य है, क्योंकि जाति का भी खण्डन करना है ॥ ३ ॥

जैसे शब्द के नित्यत्व अनित्यत्व दोनों पक्ष में दोष देखने से संशय होता है, वैसे ही अनात्मा के सत्त्वासत्पक्ष में दोष देखने में संशय होता है या सत्त्वासत्त्व से विलक्षण पक्ष का आश्रयण किया जाता है। इस आशय से वादी का विकल्प है—

ननु "सदसत्पक्षयोर्दोषदर्शनादनिर्वचनीयता" इति ब्रुवाणस्य किं सदसत्त्वसंशयः? किं वा सदसत्त्वपक्षबहिर्भावाऽभ्युपगमः? आद्ये भवितव्यं तावत्सदसत्त्वयोरन्यतरेणेत्येकपक्षदोषस्याभासत्वं, तच्च सत्त्वपक्षदोषस्यैवाऽभ्युपेयमावश्यकत्वात्। यदि तावत्सत्त्वपक्षस्तदा सत्त्वपक्षदोषः कथं सङ्गच्छेत, अथाऽसत्त्वपक्षस्तदा सर्वासत्त्वे तद्दोषः कथं सद्भाववान् भवितुं प्रभवेत्। द्वितीयस्तु व्याघातादेवाऽसम्भवी, परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः इति ? ॥ ४ ॥

यथा, शब्दे नित्यत्वानित्यत्वयोर्द्वयोरपि दोषदर्शनादुभयकोठिकः संशयस्तथा प्रपञ्चे सत्त्वासत्त्वयोर्दोषदर्शनात्संशयो वा कोऽप्यन्तराभ्युपगमो वा—इति विकल्प्य सत्त्वपक्षध्रौव्यं शङ्कते—नन्विति। आद्ये इति। परस्परविरहस्वभावकोटिकसंशयधर्मिण एककोट्यात्मकत्वावश्यकत्वात् तस्यां वास्तव्यां कोटौ दोषा नूनमाभासा इत्यर्थः। तच्चेति। आभासत्वमित्यर्थः। आवश्यकत्वमेवाह—यदि तावदिति। कथमिति पारमार्थिकत्वदुष्टत्वयोरेकत्रासम्भवादित्यर्थः। असत्त्वपक्षेपि सत्त्वपक्षदोषस्याभासत्वमुपपादयति—अथेति। तद्दोषः—सत्त्वपक्षदोषः। द्वितीय इति। सदसत्त्वपक्षबहिर्भाव इत्यर्थः॥ ४ ॥

प्रपञ्च के सत्त्व और असत्त्व दोनों पक्ष में दोष के देखने से प्रपञ्च में अनिर्वचनीयता कहने वाले को क्या सत्त्वासत्त्व का संशय होता है ? अथवा सदसत्त्व से बहिर्भूत (तृतीय कोटि) का स्वीकार किया जाता है ? आद्य = संशय पक्ष में तो सत्त्वासत्त्व दोनों में से एक पक्ष को अवश्य रहना चाहिए, क्योंकि संशय में प्रायः एक कोटि (पक्ष) सत्य ही रहता है। अतः जो पक्ष रहने वाला है उस एक पक्ष के दोष को आभासत्त्व (मिथ्यात्व) होगा और वह दोष के आभासत्त्व सत्त्वपक्ष के दोषों में स्वीकार करने योग्य है। क्योंकि सत्त्व की और सत्त्व के दोषों में आभासता की आवश्यकता है। सत्त्व के बिना

व्यवहार नहीं हो सकते हैं। यदि संशयगत असत् पक्ष (कोटि) सत्य है, तो सत्यपक्ष का दोष कैसे संगत (सत्य) हो सकता है ? मिथ्या दोष से पक्ष दूषित नहीं होता है और यदि असत् पक्ष हो, तब तो सब अनात्म वस्तु के असत् होने पर अनात्मस्वरूप दोष भी किस प्रकार सद्भाव (सत्ता) वाले हो सकेंगे ? फिर सब दोषों के भी अभाव से अनात्मा का भी सत्त्व ही सिद्ध होगा। और द्वितीय (सत्त्वासत्त्व से बहिर्भूत) तो व्याघात से ही असम्भव है, क्योंकि किसी पदार्थ में सत्त्वाऽसत्त्वादि के परस्पर विरोध होने पर उन सत्त्वासत्त्वादि में से ही एक प्रकार की स्थिति (निश्चय) होती है। उन दोनों से विलक्षण प्रकारान्तर की स्थिति नहीं होती है जिससे अनिर्वचनीयता हो ॥ ४ ॥

प्रथम ब्रह्म से अतिरिक्त को अनिर्वचनीय कहा गया है और ब्रह्म ही सर्वश्रुति-सिद्ध सत्य है, उससे विलक्षण जगत् प्रसिद्ध ही है। अतः सत् से विलक्षण शब्द का स्वरूप-रहित अर्थ नहीं है जिससे व्यवहार नहीं हो सके। असत् से विलक्षण का सत्य ब्रह्म अर्थ नहीं है, किन्तु निःस्वरूप से विलक्षण व्यवहारार्ह जगत् अर्थ है। इससे विरोध व्याघातादि नहीं है। इस आशय को समझे बिना उक्त दोषाभिधान है, इससे कहा गया है कि—

तदेतदनाकलितपराभिसन्धेः प्रत्यवस्थानम्। यो हि सर्वमनिर्वचनीयसदसत्त्वं ब्रूते स कथमनिर्वचनीयतासत्त्वव्यवस्थितौ पर्यनुयुज्येत, सापि हि कृत्स्नप्रपञ्चपरसर्वशब्दाभिधेयमध्यनिविष्टैव। परस्यैव व्यवस्थयैवं पर्यवस्यति—निर्वचनप्रतिक्षेपादनिर्वचनीयत्वं, विधिनिषेधयोरेकतरनिरासस्येतरपर्यवसायितायास्तेनाभ्युपगमात्। ततः परकीयरीत्येदमुच्यते,—अनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्यवस्यति इति ॥ ५ ॥

मदभिमतायामनिर्वचनीयतायां विकल्प्य दोषाभिधानं प्रकारान्तरेण निर्वचनीयतायाः सत्त्वव्यवस्थित्य त्वया कृतं, सोयं दोषाभिधानलक्षणः पर्य्यनुयोगो न मयि घटते, यतो ऽनिर्वचनीयताख्यस्यापि धर्मस्याऽनिर्वचनीयतैव मदभिमतेत्याह—यो हीति। ननु यद्यनिर्वचनीयता न त्वया व्यवस्थापनीया तदा कथं व्यवतिष्ठेतेत्यत आह-परस्येति। तेनेति। परेणेत्यर्थः। तत इति। अनिर्वचनीयत्वं मया न साध्यते किन्तु निर्वचनख...
पारिशेष्यादनिर्वचनीयत्वं सिद्ध्यति-इति ब्रूमः ॥ ५ ॥

पर (सत्याद्वैतवादी) के अभिसन्धि (तात्पर्य) के अवकलन (ज्ञान) नहीं प्राप्त करने वालों का यह पूर्वोक्त प्रत्यवस्थान (निषेध) है कि सदसत् विलक्षण (अनिर्वचनीय) की स्थिति (व्यवहारादि) नहीं हो सकती है। उनका भाव यह है कि जैसे सदसत् का समुच्चय (मेल) असम्भव है, वैसे सदसत् के निषेध का समुच्चय भी असम्भव है, क्योंकि परस्पर विरोधी में से एक के निषेध होने पर दूसरा अवश्य रहता है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि रात-दिन के परस्पर विरोधी होते भी संध्याकाल में दोनों के निषेधों का समुच्चय रहता है। इसी तरह सत्यब्रह्म और असत् शशशृङ्ग के निषेध का समुचय अनात्मा में रहता है। अतः जो ब्रह्मभिन्न सबको अनिर्वाच्य सत्त्वासत्त्व विलक्षण कहता है उसको अनिर्वचनीयता के सत्त्व की व्यवस्थिति (प्रतिपादन) में पर्यनुयोग (प्रेरणा) कैसे किया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न होने से जैसे जगत् अनिर्वचनीय सिद्ध होता है वैसे ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च की अयिर्वचनीयता भी अनिर्वचनीय

सिद्ध हो जाती है। रज्जु सर्प के मिथ्या होने से उसके गमनादि सत्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार अनिर्वाच्य जगत् की अनिर्वाच्यता सत्य नहीं हो सकती है। क्योंकि वह अनिर्वचनीयता भी सम्पूर्ण संसारपरक (बोधक) जो सर्वशब्द उसके अभिधेय (वाच्य) में ही निविष्ट (प्रविष्ट) है। वह भी संसारस्वरूप है। यदि यह कहा जाय कि अद्वैत ब्रह्मवादी अनिर्वचनीयता का व्यवस्थापन (प्रतिपादन) नहीं करेंगे, तो उसकी व्यवस्थिति कैसे होगी? तो इसका उत्तर यह है कि पर (प्रतिवादी) की व्यवस्था से ही इस प्रकार की अनिर्वाच्यता सिद्ध हो जाती है। क्योंकि उनके सत्त्व-असत्त्वविषयक निर्वचन (व्याख्यान लक्षण) के निषेध से अनिर्वाच्यता ही सिद्ध होती है। उन्होंने माना है कि विधिनिषेध (सत्यासत्य) में से एक के निषेध से अन्य सत्य सिद्ध होता है। अतः दोनों के निषेध से अनिर्वाच्य सिद्ध होगा। अतः अन्य की ही रीति से यह कहा जाता है कि संसार की अनिर्वचनीयता सिद्ध होगी, अर्थात् अन्य से कथित सत्त्व और असत्त्वपक्ष के नहीं सिद्ध हो सकने पर परिशेष से अनिर्वाच्यता सिद्ध होती है। उसकी सिद्धि के लिये अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती है ॥ ५ ॥

परिशेषरूप से सिद्ध अनिर्वचनीयता के फलरूप सुख शान्ति को दर्शाया गया है कि—

वस्तुतस्तु, वयं सर्वप्रपञ्चसत्त्वाऽसत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताः स्वतः सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे। ये तु स्वपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थया विचारमवतार्य तत्त्वं निर्णेतुमिच्छन्ति तान् प्रति ब्रूमः—न साध्वीयं भवतां विचारव्यवस्था, भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहतत्वात्। अत एवाऽस्मदुपन्यस्यमानदूषणस्थितिविषयाः पर्यनुयोगा निरवकाशाः, त्वद्व्यवस्थयैव त्वद्व्यवस्थाया व्याहत्युपन्यासात् ॥ ६ ॥

नन्वनिर्वचनीत्वं मा साध्यतां, परिशेषसिद्धानिर्वचनीयताभ्युपगमेनापि द्वैतापत्तिस्तदवस्थेत्यत आह—वस्तुतस्त्वित्वति। परिशेषसिद्धेप्यनिर्वचनीयत्वे मम नाभ्युपगमः, अपि तु त्वं तथा बोध्य से इत्यर्थः। भरम्—अध्यवसायम्। ननु तर्हि सदसत्त्वविचारेपि किमर्थं ते, प्रवृत्तिरित्यत आह—येत्विति। ब्रह्मभिन्नतत्त्वद्वेषमात्रेण विचारे त्वदभ्युपगतविचारमर्यादया प्रवर्तामहे इत्यर्थः। अत एवेति। यतः परपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थयैव प्रवर्तामहे नतु स्वयं साधनदूषणादिव्यवस्थामभ्युपगच्छामो येन तदाश्रिता अद्वैतव्याघातादयो दोषाः स्युरित्यर्थः। 'अत' इत्यस्यातिदेश्यमाह—त्वद्व्यवस्थयेति ॥ ६ ॥

वस्तुतः हमें ब्रह्म भिन्न में सत्त्व वा असत्त्व की व्यवस्था नहीं करना है। अनिर्वाच्यता परिशेष से स्वयं सिद्ध हो जाती है। अतः सब प्रपञ्च के सत्त्वासत्त्व व्यवस्थापन (प्रतिपादन) से अत्यन्त निवृत्त होकर प्रमाण निरपेक्ष स्वतःसिद्ध चिदात्मा केवल (अद्वैत) ब्रह्मतत्त्व (स्वरूप) में (भर) तात्पर्य = निश्चय का अवलम्बन करके चरितार्थ (कृतकृत्य) जीवन्मुक्त स्वरूप हम सुख से रहते हैं। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर आप ब्रह्म के सत्त्व अन्य के असत्त्व के विचारादि में भी कैसे प्रवृत्त होते हैं? इसका उत्तर यह है कि वह हमारी प्रवृत्ति स्वार्थसाधक नहीं है, किन्तु जो आप संसार सत्यवादी अपने से कल्पित स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण की व्यवस्था के द्वारा तत्त्व (सत्य) के

निर्णय करने की इच्छा करते हैं, उसके प्रति हम कहते हैं कि आप की यह विचार-विषयक व्यवस्था साध्वी (सत्य) नहीं है, क्योंकि आप से कल्पित व्यवस्था (नियम) से ही आप की व्यवस्था व्याहत (खंडित) हो जाती है । अतएव परपरिकल्पित व्यवस्था से ही हम पर मत में दोषाभिधान करते हैं । इसी कारण से हम से उपन्यस्यमान अतिव्याप्ति आदि दूषणविषयक पर्यनुयोग अनवकाश है, क्योंकि हम आपकी व्यवस्था ही से आपकी व्यवस्था के व्याघात का कथन करते हैं । दोषों को सत्य वा असत्य नहीं मानते हैं । अतः अनिर्वचनीय दोष भी व्यवस्था को अनिर्वचनीय सिद्ध कर देते हैं, फिर दोषविषयक सत्त्वासत्त्व के प्रश्न का अवकाश कहाँ रह जाता है ॥ ६ ॥

आगे वादी से वर्णित प्रश्नादि के अवकाश का वर्णन करके उसका खण्डन किया जाता है—

नचोपन्यास एव निर्बन्धकारणम्, विचारोपन्यासस्य सदसत्त्वोपगमादुदासीनैर्विचार्यमित्युपेत्यैव परं विचारप्रवर्तनायाः शक्यत्वमित्यावेदितत्वात् । यदि तु विचारस्य सत्त्वमनभ्युपेत्य न विचारयितुं शक्यम्—इत्युच्यते, तदा प्रमाणमव्यापार्य्य न तदीयसत्त्वाभ्युपगमोऽपि शक्यतेऽतिप्रसङ्गात्, इति विचारस्यापि विचार्यग्रहणेऽनवस्थया विचारारम्भ एवाऽशक्यः स्यात् ॥ ७ ॥

ननु विचारे व्याघातोपन्यासस्त्वया कर्त्तव्य इति विचारस्य, व्याघातोपन्यासस्य च, सत्त्वमभ्युपगतमिति द्वैतापत्तिरेवेत्यत आह—नचेति । 'प्रमाणदेरिव विचारव्याघातोपन्यासयोरपि सत्त्वमनभ्युपगम्यैव विचारे प्रवृत्तिः शक्या'—इत्युक्तत्वादित्यर्थः । प्रथमं मतिकर्दमेन विचारप्रवृत्तिरेव न स्यात्'—इत्युक्तं स्मारयति—यदित्विति ॥ ७ ॥

यदि वादी कहें कि मेरी व्यवस्था से भी मेरी व्यवस्था (विचार) में व्याघातादि दोषों के उपन्यास (कथन) करने पर, वह उपन्यास ही दोषों के निर्बन्ध (स्वीकार) का कारण है । अर्थात् दोषों के सत्यत्व के स्वीकार का कारण है, जिससे दोष के विचार और विचार के विषय जगत् के भी सत्य ही सिद्ध होने पर अद्वैत ब्रह्म में सुख से सोना नहीं बन सकता है, क्योंकि कोई गगनकुसुम का तो विचार नहीं करता है । अतः विचार का विषय सत्य ही सिद्ध होता है । परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विचार तथा तद्विषयक दोष का जो उपन्यास उसके प्रामाणादि के समान सत्त्वासत्त्वादि के स्वीकार से उदासीन ही वादी-प्रतिवादी द्वारा विचार कर्तव्य है । इस प्रकार केवल नियम को मान करके ही विचार (कथा) की प्रवृत्ति हो सकती है । यह बात पूर्व में कही जा चुकी है यदि कहा जाय कि विचार के सत्त्व को नहीं मानकर विचार किया ही नहीं जा सकता है क्योंकि प्रमाण की (प्रवृत्ति) के बिना विचार में सत्त्व की सिद्धि (स्वीकृति) नहीं हो सकती । यदि प्रमाण के विचार के बिना उसका सत्त्व माना जाय तो अति प्रसक्ति होगी (असत् शशशृङ्गादि की भी सिद्धि होगी) तथा प्रमेय वस्तु की भी मनमाना स्वीकृति होने लगेगी । इस कारण से विचार को भी विचार कर ग्रहण (स्वीकार) करने पर, अनवस्था से विचार का आरम्भ ही अशक्य हो जायगा । अतः विचारादि के

सत्त्वासत्त्वादि से उदासीन पुरुष विचार द्वारा जगत् को अनिर्वाच्य और ब्रह्म को सत्य समझ कर सुख से रहते हैं, यह कथन युक्त है ॥ ७ ॥

अनवस्था के वारण के लिये शंका करके उत्तर दिया गया है कि—

न च पूर्वपूर्वसिद्धत्वाद्विचारे विचारान्तरमिदानीमगवेषणीयम्। विचारस्य पूर्वसिद्धत्वे विचार्यरूपस्वविषयव्यवस्थितत्वात् तस्य, विचार्यमपि पूर्वमेव विचारितमित्यनारम्भ एव विचारस्य। अथ विचार्यविशेषस्य पूर्वमसिद्धत्वात् तदर्थं विचारारम्भः? तर्हि विचारविशेषस्यापि तद्विषयकस्य पूर्वमसिद्धिरेवेति वृथा शुष्कचर्वणम् ॥ ८ ॥

ननु, विचारस्यापि विचार्य ग्रहणे विचाराप्रवृत्तिः स्यात्, नत्वेवं, किं तर्हि पूर्वमेव विचारः सिद्धः इत्यत आह—नचेति। विचारसिद्धिर्विचार्यसिद्धिनान्तरीयकी, ज्ञानस्येव विचारस्यापि सविषयकत्वात्; तथाच किं विचारेण, विचार्यसिद्धेस्तत्फलस्य सम्पन्नत्वादित्याह—विचारस्येति। ननु विचारलक्षणस्य विचार्य्यस्य पूर्वसिद्धत्वेपि प्रपञ्चसत्त्वासत्त्वलक्षणस्य विचार्यविशेषस्य न पूर्वसिद्धत्वमिति तदर्थमग्रे विचारः स्यादेवेत्याह—अथेति। तर्हि स विचार्य्यवि- शेषो यस्य विचारस्य विषयः सोऽप्यसिद्ध एव, तत्सिद्धौ विचार्यविशेषस्यापि सिद्धत्वप्रसङ्गात्' एवं 'ततः पूर्वपूर्वसिद्धत्वाद्विचारे विचारान्तरमिदानीमगवेषणीयम्, इति यदुक्तं तच्छुष्कचर्वणमित्याह—तर्हीति ॥ ८ ॥

यदि कहा जाय कि अनादि लोक व्यवहारादि से बीजाङ्कुर के समान विचार के पूर्व सिद्धत्व से अनवस्था दोष रूप नहीं है, क्योंकि इस समय विचार विषयक विचारान्तर का अन्वेषण नहीं करना है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विचार के प्रथम सिद्ध होने पर ज्ञान के समान उस विचार के अपने विचार्य (विचारार्ह) विषय से व्यवस्थित (नियमित = युक्त = संघटित) होने से विचार्य विषय भी प्रथम ही विचारित सिद्ध होंगे। अतः विचार का अनारम्भ ही प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि सामान्य रूप से विचार और विचार्य संसार अनादि बिजाङ्कुरन्याय से सिद्ध है, परन्तु सत्त्वासत्त्व के विचार के विषय विचार्य विशेष सत्त्वासत्त्व प्रथम से सिद्ध (ज्ञात) नहीं हैं। अतः सत्त्वासत्त्वादि विशेष विचार्य के विचार का आरम्भ हो सकता है। परन्तु यह कहना भी ठक नहीं है, क्योंकि विशेष विचार्य के असिद्ध रहने पर उस विशेष विचार्य विषयक विचार की भी प्रथम से असिद्धि ही रहती है, और विचारविषयक विचारान्तर से उसकी सिद्धि मानी जाय तो अनवस्था की प्राप्ति होती है। इससे यह अनात्म सत्त्वासत्त्व का विचार व्यर्थ और शुष्क (निरस) आनन्दरहित है, इसे त्याग कर ब्रह्मानन्द में ही स्थिर होना चाहिये ॥ ८ ॥

पहले कहा गया है कि आप की व्यवस्था (स्वीकृत अव्याप्ति आदि दोष) से आपकी व्यवस्था (अनात्मसत्यत्व लक्षणादि) का खण्डन किया जाता है। इससे इस खण्डन का आप खण्डन नहीं कर सकते हैं। अब कहा जाता है कि यदि इस खण्डन का भी खण्डन करें तो हमारी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि किसी के नाशक को नष्ट कर देने से भी जैसे प्रथम नष्ट उज्जीवित नहीं होता है, वैसे ही खण्डन के खण्डित होने पर भी वह सत्य नहीं हो सकता, इत्यादि आशय से कहा गया है कि—

यदि च स्वदर्शनरीत्याभिधीयमानमस्माभिर्बाधं बाधसे तदा स्वाभ्युपग-

तरीतिबाधाभिधायितैव ते स्यात् अस्माभिर्निर्वाह्यमानस्य त्वया खण्डनयुक्त्यैव बाधेऽस्माकमेव जेतृता, "खण्डनयुक्तयो बाधिका, निर्वाह्यपक्षश्च बाध्यः"—इत्यस्याऽस्मदुक्तपक्षस्य त्वयैव निर्वाहात् । तस्मात्त्वया निर्वाह्यमस्माभिस्तु खण्डनीयमितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाह्यनिर्वाहे तव जयो नान्यथेति । तदेवं भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीयः, ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितम् ॥ ९ ॥

(अद्वैते प्रमाण प्रश्नानुपपत्तिः)

ननु, प्रवर्त्यतां विचारः, तत्र विचारे त्वदुक्ता दोषा मया युक्त्यन्तरेण बाधनीया इत्यपर्य्यवसानं स्यादित्यत आह—यदि चेति । ननु, दोषा अपि हेत्वाभासादयस्त्वया खण्डिता एव, तदेव खण्डनमादाय त्वयोद्भाव्यमाना दोषा मयापि खण्डनीया, इत्यहमेव जेष्यामीत्यत आह–अस्माभिरिति । यद्यपि तस्यां कथायां त्वदुपन्यस्तदोषाणां परेण खण्डनयुक्त्या बाधने परस्य जेतृता, न तव, उपन्यस्तदोषस्य त्वयाऽनिर्वाहात्, तथापि परेण खण्डनयुक्तीनां बलवत्त्वं तावदङ्गीकृतमित्येतावतैव मम जेतृतेति हृदयम् । कथं जेतृतेत्यत आह–खण्डनेति । ननु, ब्रह्माद्वैतं त्वया निर्वाह्यं, तन्मया खण्डनीयं, प्रपञ्चखण्डनमप्यन्ततस्त्वया निर्वाह्यं, तत्र प्रतिखण्डनं मया कर्त्तव्यमित्यपर्य्यवसानं तदवस्थमेवेत्याशङ्क्य कथासन्दर्भमुपसंहरति—तस्मादिति । यद्यपि "त्वया ब्रह्माद्वैतं स्थापनीयं, मया खण्डनीयम्, इतीदृश्यामेव कथायां मया वक्तव्यं, नान्यत्रे"ति परेणापि वक्तुं शक्यते, नचैवं कथैव न स्यादिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः, अनिष्टत्वे चास्योभयसमाधेयत्वात् । ब्रह्म स्वतः सिद्धमेव न तत्र साधनापेक्षा ? इति चेत् प्रपञ्चोपि सर्वजनसिद्ध एव न तत्र साधनापेक्षेति तुल्यम् । सर्वजनसिद्धत्वमपि त्वयोपपादनीयम् ? इति यदि, तदा स्वतः सिद्धत्वमपि त्वयोपपादनीयमिति तुल्यम् । तर्हि वितण्डा कथैव न स्यादुभयोरपि स्थापनाप्रसङ्गात् ? इति चेत्, शक्तिजिज्ञासया प्रपञ्चवादिनामप्यन्योन्यं तत्सम्भवात्, तथापि खण्डनयुक्तयो बलवत्य इत्यत्रैव हृदयम् । स्वपक्षमुपसंहरति । तदेवमिति ॥ ९ ॥

यदि आपकी ही रीति (व्यवस्था) के अनुसार मुझ से कहे गये सत्त्वादि साधन विषयक बाधों (अव्याप्ति आदि दोषों) को आप बाधते हैं (स्वीकार नहीं करते हैं) तो अपनी रीति की बाधा के अभिधायकता (वक्तृता) रूप दोष ही आपको होगा। इससे मेरे पक्ष में क्षति नहीं होगी। और हम से निर्वाह्यमान (स्वीकृत) अद्वैत ब्रह्म तथा जगत् मिथ्यात्व को, यदि मुझसे वर्णित खण्डन की युक्ति से बाध करें कि ब्रह्म यदि अद्वैत है, तो तद्विषयक सत्य प्रमाणों के अभाव से अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। और ब्रह्म से भिन्न जगत् के मिथ्या मानने पर, खण्डन की युक्तिरूप अव्याप्ति आदि भी मिथ्या ही सिद्ध होंगे, क्योंकि वे भी ब्रह्म से भिन्न हैं। अतः उन मिथ्यादोषों से न जगत् की सत्यता के लक्षणों का निषेध होगा न जगत् मिथ्या सिद्ध होगा, इत्यादि। तो इस प्रकार भी मेरी ही जेतृता होगी (मेरी ही विजय होगी) क्योंकि खण्डन की युक्ति बाधक होती है और निर्वाह्य (स्वीकृत) प्रतिवादी का पक्ष बाध्य होता है, यह मेरे ही पक्ष (सिद्धान्त) का आपने निर्वाह (स्वीकार) किया है। भाव यह है कि अद्वैत ब्रह्म स्वयं प्रकाश है। उसे सिद्ध करने के लिये सत्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। और ब्रह्मविषयक अविद्या की निवृत्ति के लिये अविद्या दशा में हम व्यवहारिक प्रमाण मानते ही हैं। उससे सत्य द्वैत की आपत्ति नहीं हो सकती है। एवं मिथ्या दोषों से भी जगत्

के सत्यत्वादि का खण्डन हो जाता है, क्योंकि यादृश देव हो वैसा ही उसका बलि उचित होता है इत्यादि। अतः अद्वैत ब्रह्म के स्वतःसिद्ध होने के कारण, आपको केवल जगत् सत्यत्वनिर्वाह्य (साध्य) है, और हमें खण्डनीय है। केवल अब ऐसी कथा में आपके निर्वाह्य (साध्य) के निर्वाह (सिद्ध) होने पर ही आपकी विजय होगी, अन्यथा नहीं। और पूर्वपरोक्त रीति से जगत् के सत्यत्व के निर्वाह नहीं होने के कारण भेदरूप प्रपञ्च अनिर्वचनीय है, और केवल ब्रह्म ही परमार्थसत्य है, अतएव अद्वितीय है। यह (निश्चित सिद्धान्त) है ॥ ९ ॥

(यहाँ अद्वैत स्वप्रकाशब्रह्मस्थापन सिद्ध हुआ)

आगे अद्वैत में प्रमाण का विचार किया जाता है, वहाँ प्रथम अद्वैतविषयक प्रमाण का प्रश्न की अयुक्तता का वर्णन है—

नन्वद्वैते किं प्रमाणम्। प्रश्न एव तावदद्वैतमनङ्गीकुर्वतो नोपपद्यते। प्रमाणं यत्राद्वैते पृच्छ्यते तस्याऽप्रतीतौ कथमेवम्भूतः प्रश्नः संगच्छते। नहि प्रमाणमात्रं भवता पृच्छ्यते, किंनाम विषयविशेषनियतम्, तच्च तदो पपद्यते यदि तादृशं ते प्रतीतिमारोहेत्, प्रश्नस्य वाग्व्यवहारविशेषत्वात्, व्यवहारस्य च स्वजनकज्ञानविषयनियतत्वात्। अन्यथा व्यवहाराणां विषयनियमप्रयोजकस्यान्यस्यासंभवेन व्यवहारविषयपारिप्लवापत्तेः ॥ १ ॥

ननु "ब्रह्मैव परमार्थसत्" इति त्वयोच्यते, तथाच प्रतिज्ञैवेयं तत्र प्रमाणमुपन्यस्तुमर्हसीत्याह—नन्विति। उत्तरमाह—प्रश्न एवेति। प्रश्न एव तावत् प्रमाणमिति विच्छिद्यापि योजयन्ति। प्रश्नान्यथानुपपत्तिरेवाद्वैतसाधिकेत्यर्थः। तामेवाह—प्रमाणमिति। अद्वैतज्ञानमन्तरेण तन्नियतविषयप्रमाणप्रश्न एवानुपपन्न इत्यर्थः। नन्वद्वैतमजानानस्यापि तत्प्रमाणप्रश्नः स्यादित्यत आह—प्रश्नस्येति। अद्वैते किं प्रमाणम्? इत्ययं वाग्व्यवहारस्तावज् ज्ञानजन्यः, तथा च तज्ज्ञानविषयविषयत्वध्रौव्यमेवास्य, अन्यथा स्वजनकज्ञानविषयाऽतिक्रमे व्यवहाराणां व्यवहर्त्तव्यनियमो न स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥

अब शंका होती है कि अद्वैत में क्या प्रमाण है? अर्थात् प्रथम प्रतिज्ञामात्र की गई है कि अद्वैत ब्रह्म सत्य है। परन्तु प्रतिज्ञामात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है, किन्तु प्रमाण से सिद्धि होती है। अतः उसमें प्रमाण क्या है? उत्तर यह है कि अद्वैत को नहीं अङ्गीकार करने वाले का प्रथम ऐसा प्रश्न ही नहीं हो सकता है। अतः प्रश्न की अनुपपत्ति ही प्रमाण का साधक है इसीसे इसमें प्रमाण सिद्ध होता है, क्योंकि जिस अद्वैतविषयक आप प्रमाण पूछते हैं, उस अद्वैत की अप्रतीति (ज्ञानाभाव) रहने पर इस प्रकार का प्रश्न कैसे सङ्गत हो सकता है। भाव यह है कि अनुपलब्धि से पदार्थ के अभाव का निश्चय होता है जैसे (नास्त्यत्र घटोनुपलब्धेः) अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) से यहाँ घट नहीं है। परन्तु इस प्रकार के निषेध में भी प्रतियोगी का ज्ञान हेतु होता है। इससे यदि ब्रह्म के ज्ञान आपको नहीं होता, तो कह सकते थे कि अनुपलब्धि से ब्रह्म नहीं है, न कि प्रमाण के सम्बन्ध में प्रश्न पूछते। वस्तुतः अद्वैत ब्रह्मरूप प्रतियोगी की प्रसिद्धि (ज्ञान) के बिना उसका निषेध नहीं कर सकते हैं। अतः जिससे उस ब्रह्म का आपको ज्ञान हुआ वहीं उसमें प्रमाण है। क्योंकि साधारण प्रमाण

मात्र तो आप पूछते नहीं हैं, किन्तु अद्वैत ब्रह्मरूप विषयविशेष से नियत (सम्बद्ध) अद्वैत में प्रमाण पूछते हैं। वह प्रश्न तभी उपपन्न (सिद्ध) हो सकता है जब कि तादृश (अद्वैत ब्रह्म तत्प्रमाणरूप) वस्तु आपकी प्रतीति (ज्ञान) में आरूढ (प्राप्त) हो। अर्थात् उस वस्तु का ज्ञान आपको हुआ हो। क्योंकि प्रश्न वाग्व्यवहार (वचन द्वारा व्यवहार) विशेषरूप होता है, वह व्यवहार्य वस्तु के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यवहार को व्यवहार के जनक ज्ञान के विषय से नियतत्व (व्याप्यत्व) रहता है। अर्थात् जिस विषय का पूछना आदि रूप व्यवहार होता है, उसका प्रथम ज्ञान अवश्य रहता है। अन्यथा (व्यवहारजनक ज्ञान के विषय के अतिक्रमण करने पर) व्यवहार्य वस्तु के ज्ञान के बिना व्यवहार के होने पर, विषय के नियम के हेतु ज्ञान के असम्भव (अभाव) से व्यवहार के विषय का पारिप्लव = अनियम की आपत्ति होगी। ज्ञान के बिना किस व्यवहार का कौन विषय है, यह निश्चय नहीं होगा। इससे जिसका व्यवहार होता है, उसका ज्ञान व्यवहर्ता को अवश्य रहता है। अतः अद्वैत के प्रमाण के व्यवहर्ता को भी अद्वैत तथा तत्प्रमाण का ज्ञान रहता ही है। अतः उसका प्रश्न निरर्थक है ॥ १ ॥

उक्त प्रश्न की निरर्थकता को आगे सिद्ध किया जाता है। यदि प्रतिवादी कहें कि उक्त रीति से प्रश्नकर्ता में अद्वैत वस्तु के ज्ञान की सिद्धि व्यवहार की अनुपपत्ति से प्राप्त होने पर भी प्रमाणविषयक प्रश्न का उत्तर तो अवश्य देना चाहिये, तो कहा गया है कि—

यदि चाद्वैतं प्रश्नविषयः प्रतीतमुच्यते तदा तत्प्रतीतिस्तेप्रमा वा स्यात्? अप्रमा वा?। आद्ये यदेव तस्याः प्रमायाः करणं तदेवाद्वैते प्रमाणं तवापि संप्रतिपन्नमिति वृथा तस्य प्रश्नः। नच वाच्यं सामान्यतोऽद्वैतप्रमाणसिद्धौ भूतायामपि विशेषतः प्रमाणप्रश्नः, यतः सामान्यसिद्धावेवाऽद्वैतसिद्धौ विशेषविचारः काकदन्तविचारवत्स्यात्, सामान्यसिद्धिरेव च विशेषमप्याक्षिप्यानयन्ती विशेषमपि ते कथितवती किमत्र प्रश्नेन, परिगणितेषु हि प्रमाणप्रकारेषु मध्ये यत्रैव दोषं न प्रमिणोषि तत्रैव विशेषे सामान्यस्य विश्रान्तेः। यदि च परिचितचरेषु प्रमाणप्रकारेषु सर्वेष्वेव दोषं प्रमिणोषि तदा प्रमाणान्तरमाक्षिप्यापि सामान्येन विश्रमणीयमेव ॥२॥

नन्वेतावताऽद्वैतप्रतिपत्तिरायाता, प्रमाणानुयोगस्तदवस्थ एवेत्यत आह—यदि चेति। अद्वैतमनुमाय, श्रुत्वा, दृष्ट्वा वा तवायं प्रश्नः, तथाचानुमानं, शब्दः, इन्द्रियं वा, तत्र प्रमाणमिति त्वयैव ज्ञायते किं प्रश्नेनेत्यर्थः॥ ननु, प्रश्नान्यथानुपपत्तिः प्रमाणसामान्यसाक्षिणी भवतु प्रमाणविशेषजिज्ञासा तद्विशेषाभिधानमन्तरेण कथं निवर्ततामित्याशङ्क्याह—न चेति। अद्वैतसिद्धिरस्मदपेक्षिता; त्वया चाऽनुमता, किमत्र विशेषजिज्ञासयेत्याह—यत इति। ननु, तथापि विशेषं पृच्छतः किमुत्तरमत आह—सामान्येति। नहि निर्विशेषं सामान्यमिति भावः। नन्वेतावता विशेषत्वेनैव विशेषः सिद्धो नत्वनुमानादिभावेन, तादृशी च सिद्धिरपेक्षितेत्यत आह—परिगणितेष्विति। ननु परितेषु सर्वत्र दोषं पश्यत एव ममायं प्रश्नः? इत्यत आह—यदि चेति ॥ २ ॥

विषय विप्लवापत्ति के वारण के लिये यदि कहा जाय (प्रश्नकर्ता कहे) कि प्रश्न का विषय अद्वैत प्रतीत (ज्ञात) है, तो वह प्रतीति (ज्ञान) आपका प्रमा है, अथवा

अप्रमा ? आद्य = प्रमा हो, तब तो जो ही प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द उस प्रमा का कारण है, वही अद्वैत में प्रमाण है। यह आपको भी संप्रतिपन्न (निश्चित) है कि वही प्रमा का कारण होता है। अतः वही प्रमाण होता है। फिर वृथा ही उस प्रमाण का प्रश्न है। यदि कहा जाय कि सामान्य रूप से अद्वैत प्रमाणसिद्ध (ज्ञात) है, परन्तु विशेष रूप से ज्ञात नहीं है कि प्रत्यक्षादि में से वह कौन प्रमाण है। अतः विशेष ज्ञान के लिये प्रश्न है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सामान्यरूप से प्रमाण की सिद्धि होने ही से अद्वैत की सिद्धि हो जाने पर विशेष प्रमाण का विचार (प्रश्नादि) काकदन्तविचार तुल्य निरर्थक होगा। क्योंकि विशेष के विना सामान्य नहीं होता है। अतः वह सामान्यसिद्धि ही विशेष प्रमाण का आक्षेप करके उसको आपके प्रति लाती हुई विशेष प्रमाण को मानो कह चुकी है। फिर यहाँ प्रश्न का क्या फल है ? यदि कहा जाय कि इस प्रकार आक्षेप से भी विशेषत्व रूप से विशेष की सिद्धि होने पर भी, अर्थात् सामान्य विशेष के बिना नहीं रहता है, अतः ज्ञान का कोई विशेष प्रमाण होगा, ऐसा ज्ञान होने पर भी, वह विशेष प्रत्यक्षादि में कौन है, इस ज्ञान के लिये प्रश्न है, तो इसका उत्तर यह है कि परिगणित प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ही जिसमें आपको दोष की प्रमा नहीं हो, उसी विशेष में सामान्य प्रमाण की विश्रान्ति (स्थिति = निश्चय) के स्वयं होने से फिर भी प्रश्न व्यर्थ ही सिद्ध होता है, और यदि आप परिचितचर (परिचित के अन्दर वर्तमान) सभी प्रमाणों के प्रकारों (विशेषों) भेदों में दोष की प्रमितिवाले हों, निर्दोष कोई विशेष प्रमाण आपको नहीं प्रतीत होता है, तो परिचित प्रमाणों से प्रमाणान्तर = अन्य प्रमाण का आक्षेप करके भी सामान्य की विश्रान्ति अवश्य होगी। अर्थात् अनादि सिद्ध सब दोष से रहित श्रुति ही अद्वैत में प्रमाण है, उसको आप जानते हो, और उसी के श्रवण से वा उसके ज्ञाता के वचन से आपको अद्वैत का ज्ञान हुआ है, परन्तु मोहादिवश उसमें विश्वास नहीं करते हो इत्यादि ॥ २ ॥

यदि च 'का प्रमाणव्यक्तिरसौ'? इति प्रश्नार्थः परिशिष्यते, तदा न सर्वा व्यक्तिर्विशेषतो निर्देष्टुं शक्यते इति तदनिर्देशेऽपि न नः किंचिदपचीयते। यदि च द्वितीयः, तदानीमद्वैतप्रतीतिमप्रमां मन्यमानस्य तव अप्रमाविषये किं प्रमाणम्? इति कथं न प्रश्नो व्याहन्यते। अथ अप्रमा सा मम मते, त्वन्मते तु प्रमैवेति तत्करणं प्रमाणं पृच्छ्यते? इति ब्रूषे, नैतदप्युपपद्यते, तवाद्वैते ज्ञानं यदुत्पद्यते तत्करणं मया प्रमाणरूपं वक्तव्यमित्यत्र ममाऽनियमात्। यदि नाम मया सदाऽद्वैतमभ्युपेयते तावता किं तावकीनस्य तज्ज्ञानस्य करणमवश्यं प्रमाणं स्यात्? वस्तुतो वह्निमत्यपि पर्वते यदि कश्चिद्बाष्पं धूमं प्रतीत्य ततो वह्निमनुमिनोत्येतावता किं वाष्पविषयं धूमज्ञानं करणं प्रमाणमेष्टव्यम्? इति ॥ ३ ॥

नन्वनुमानत्वादयोऽपि प्रमाणत्वविशेषाः सामान्यमेव, तेन तत्रापि विशेषजिज्ञासया प्रश्नः? इत्यत आह—यदि चेति। अद्वैतप्रतीतिरप्रमा—इति पक्षं दूषयति—यदि चेति। यद्यपि अप्रमाविषये किं प्रमाणम्? इत्याकारो न मम प्रश्नो येन व्याघातः स्यात्, नच तत्प्रकारप्रश्नेऽपि व्याघातः, नहि यदप्रमाविषयस्तत्कदापि न प्रमाणविषयः, तथाप्यापात-

स्फूर्तिको व्याघात इत्यर्थः। त्वदभिमानमनुरुद्ध्याऽयं प्रश्नो मम तु बाधितविषयतया सर्वत्राद्वैतज्ञानमप्रमैवेति न व्याघात इत्यत आह—अथेति। विषयाऽबाधेपि क्वचित्करणं दुष्टं दृष्टं, तथाच अद्वैतविषयं तवापि ज्ञानं प्रमैवदुष्टकरणजन्या—इति सम्भावनायां कथं तत्र मया प्रमाणं वक्तव्यमित्याह—वस्तुत इति। अत्र यद्यपि कति ते पुत्राः? इति प्रश्नमात्रप्रत्याशया पुत्रान् सम्भावयतो दारपरिग्रहेप्युदासीनस्य, सर्वजनप्रसिद्धप्रपञ्च-विद्वेषिणः शशशृङ्गकूर्मरोमगगनारविन्दादिप्रमाणप्रश्नबलायातमनन्तं प्रपञ्चं साधयतः, कस्तेऽतिमल्लः, कथं वा ब्रह्म नास्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? इत्यनेन प्रश्नेन ब्रह्मनास्तितैव न सिद्धयेत्। कथायां यस्य यस्य पदार्थस्याभावस्त्वया साध्यस्तस्य तस्य प्रमाणप्रश्नबलात् तत्तत्सत्ता तदानीमेव वाद्यन्तरेण साधनीया इति दुरुत्तरं व्यसनम् वस्तुतो ब्रह्माद्वैतं घटादिवृत्ति न वा—इति मध्यस्थविप्रतिपत्तौ ब्रह्माद्वैतं घटवृत्तीति विधिकोटिपरिग्रहे त्वया कृते तत्र प्रमाणप्रश्ने प्रमाणवचनमेवोचितं, कथासंप्रदायस्य तवापीष्टत्वात्, तद्विप्लवे पुनर्दुरुत्तरम्व्यसनमेव, तथापि वक्ष्यमाणप्रमाणावष्टम्भादेतदुक्तमिति हृदयम् ॥ ३ ॥

यदि कहा जाय कि अनुमानत्वादि विशेषरूप से प्रमाण के ज्ञान होने पर भी व्यक्ति की दृष्टि से अनुमानत्वादि भी प्रमाणत्व विशेष सामान्य ही हैं। अतः अद्वैत में वह कौन व्यक्ति प्रमाण है ? यह प्रश्न का अर्थ परिशिष्ट रहता है। इस तरह प्रमाणों की अनन्त व्यक्ति होने के कारण वे सब व्यक्ति विशेषरूप से कहे नहीं जा सकते हैं। अतः उनके अनिर्देश से हमारी कोई हानि नहीं होती है। और यदि द्वितीयपक्ष हो (अर्थात् अद्वैत विषयक प्रतीति अप्रमा हो) तब तो अद्वैत की प्रतीति को अप्रमा मानने वाले आपका अप्रमाविषयक प्रमाण कौन है यह प्रश्न व्याघात दोष युक्त कैसे नहीं होगा, क्योंकि प्रमा का जनक प्रमाण होता है, अप्रमा का नहीं। यदि कहा जाय कि वह अद्वैत-ज्ञान मेरे मत में अप्रमा है, परन्तु आपके मत में तो वह प्रमा ही है, अतः उस आपकी प्रमा के कारणरूप प्रमाण पूछा जाता है। अतः व्याघात दोष नहीं है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो आपको अद्वैत का ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह चाहे मेरे मत से प्रमा ही है, तो भी उसका प्रमाणरूप कारण हमें वक्तव्य हो, इसमें मुझे कोई नियम नहीं है। अर्थात् हमसे वर्णित प्रमाणों के द्वारा आप अपने अद्वैतज्ञान को हमारे ही सदृश प्रमारूप मान लें, इसमें कोई नियम नहीं है। क्योंकि यदि मैं सदा अद्वैत को मानता हूँ, इससे अबाधित अद्वैत की प्रमा मुझमें वर्तमान है, और उस प्रमा के करण को यदि आप जानते भी हो, तो भी क्या इससे आपके उस अप्रमारूप से स्वीकृत अद्वैत के ज्ञान का करण अवश्य प्रमाणरूप हो सकता है ? अर्थात् जिस श्रुति-रूप प्रमाण से मैं अद्वैत की प्रमा को प्राप्त करता हूँ, उसको जानते हुए भी आप तर्क (अनुमान) आदि से जानना चाहते हैं और अतर्क्य रूपादि रहित वह अद्वैत ब्रह्म तर्क और इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय नहीं है और न तर्क वा इन्द्रिय उसके ज्ञान के लिये प्रमाण ही है ॥ ३ ॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि अबाधित अर्थ का ज्ञान किसी प्रमाण से हो, तो वह ज्ञान प्रमा ही होना चाहिये, और उसका करण भी प्रमाण होना चाहिये, तो मेरा भी अद्वैत के अभाव का ज्ञान तर्कादि जन्य प्रमा होना चाहिये और तर्कादि को उसके लिये ही प्रमाण होने से अद्वैत का जो तर्कादि से ज्ञान हमें होता है वह अप्रमा होता है। अतः

अद्वैत ज्ञान के लिये प्रमाण नहीं होता है—इत्यादि शंका का उत्तर दिया गया है कि—

अस्तु वा प्रश्नोयं यथातथा, श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणमिति ब्रूमः। श्रूयते खलु 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि। श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते। सिद्धार्थानां श्रुतीनामन्यपरत्वमपि यदि स्यात्तथापि पदसमन्वयबलेन तासु प्रतीयमानमर्थमबाधितमादायैव तासामन्यपरिभवनात्, धियां स्वतःप्रामाण्यस्य बाधकैकापोद्यत्वात्॥ ४॥

एतेनैवाशयेनाह—अस्तुवेति। नन्वनृतव्याघातपुनरुक्तादिदोषेभ्यः श्रुतीनामेव न प्रामाण्यं, प्रामाण्ये वा सिद्धार्थश्रुतीनां न प्रामाण्यं, प्रामाण्ये वा सिद्धार्थश्रुतीनां न प्रामाण्यं विधिप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यस्यैव ज्ञानद्वारा व्यवहारजनकत्वेन प्रवर्तकज्ञानं प्रति सामर्थ्यावधारणात्, नचैं एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्यादिश्रुतीनां कार्योपरागस्तथा च न प्रामाण्यमित्यत आह—श्रुतीति। ननु यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, न त्वासां श्रुतीनां ब्रह्माद्वैतपरत्वं किं तर्हि, मुमुक्षुणा ब्रह्मैवैकमुपासनीयमित्यत्र तात्पर्यं, तथाचोपासनायामेवासां प्रमाणत्वं, नतु ब्रह्माद्वैतेपीत्यत आह—सिद्धार्थानामिति। विशेषणं चैतत् प्रकृतश्रुत्यपेक्षया। एकं, ब्रह्म इतिपदसमन्वयबलेन प्रतीयमानोर्थः सचोपासनापरत्वेप्यबाधित एव वाच्य इत्यर्थः। ननु आदित्यो यूपो यजमानः प्रस्तरः—इत्यादौ पदसमन्वयबललभ्यसमानाधिकरण्यश्रुतेरप्रामाण्यं यथा, तथाऽस्याः किं नेत्यत आह—धियामिति। तत्र तत्र बाधकात् प्रतीयमानोर्थस्त्यज्यतेऽत्र न बाधकमित्यर्थः॥ ४॥

वस्तुतः अग्नियुक्त पर्वत में भी यदि कोई बाष्प को धूम समझ कर और उस बाष्परूप हेतु से उसके द्वारा अग्नि का अनुमान करता है, तो वह अग्नि की विद्यमानता के कारण संवादी (सफल) प्रवृत्ति से अग्नि के ज्ञान में प्रमात्व के निश्चय होने पर भी, क्या इससे बाष्पविषय के धूम का ज्ञानरूप उस अग्नि ज्ञान का कारण प्रमाण माना जा सकता है? अर्थात् वह प्रमाण नहीं है। तो भी उससे अग्नि का ज्ञान यथार्थ ही दैवयोग से हो जाता है। इस प्रकार किसी तर्कादि से चाहे यथार्थ ही ज्ञान अद्वैत का हो तथापि तर्कादि अद्वैत ज्ञान के लिये मुख्य प्रमाण नहीं है॥ ४॥

ननु, नाऽद्वैतश्रुतीनामृजावर्थेप्रामाण्यं संभवति, प्रत्यक्षादिबाधात्, ततश्चान्यत्रैव क्वचित्तात्पर्यं कल्प्यामः। मैवम्। यदद्वैतश्रुतेर्बाधकं प्रत्यक्षादि मन्यसे तदात्मीये विषये घटपटादेर्भेदे नियत एवोत्पद्यते, नतु प्रत्यक्षादिकं भूतभाविवर्त्तमानसकलव्यक्तिभेदग्राहि जायमानमावयोः सम्प्रतिपन्नमस्ति, तादृशेन ज्ञानेन चोत्पद्यमानेन सर्वज्ञतां तदा तव श्रद्धध्यां यदि जानासि मम चेतसि किं वर्त्तते इति। यदि च प्रत्यक्षादि किंचिन्मात्रविषयं तदा तद्विषयादन्यत्रापि प्रवर्त्तमानाऽद्वैतश्रुतिस्तेन न बाधितुं शक्यते, स्वविषयमात्रे प्रमया विपरीतविषयज्ञानबाधनात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। मा हि भूदग्नीषोमीयपश्वालम्भनविधिना सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यम्॥ ५॥

ननु, प्रकृतेपि बाधकमस्तीति शङ्कते—नन्विति। अन्यत्रेति। ईश्वरैकत्वं वा ब्रह्मैकोपास्यत्वं वा प्रतिशरीरमेकैकात्मत्वं वा यद्बोध्यं तत्रैव च सामर्थ्यमित्यर्थः। ननु, घटपटमात्रभेदविषयकं प्रत्यक्षं श्रुतिबाधकमिति नोच्यते, किंतु सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या सकलपदार्थभेदविषयकमेकं प्रत्यक्षमिष्यते, तत्कुक्षिस्थितानां भेदार्भकाणां न किंचिद्भयं श्रुतिडाकिन्या इत्यत आह—नतु प्रत्यक्षादिकमिति। त्वयेष्यमाणत्वमतन्त्रमित्यर्थः।

स्फूर्तिको व्याघात इत्यर्थः। त्वदभिमानमनुरुद्ध्याऽयं प्रश्नो मम तु बाधितविषयतया सर्वत्राद्वैतज्ञानमप्रमैवेति न व्याघात इत्यत आह—अथेति। विषयाऽबाधेपि क्वचित्करणं दुष्टं दृष्टं, तथाच अद्वैतविषयं तवापि ज्ञानं प्रमैवदुष्टकरणजन्या—इति सम्भावनायां कथं तत्र मया प्रमाणं वक्तव्यमित्याह—वस्तुत इति। अत्र यद्यपि कति ते पुत्राः? इति प्रश्नमात्रप्रत्याशया पुत्रान् सम्भावयतो दारपरिग्रहेप्युदासीनस्य, सर्वजनप्रसिद्धप्रपञ्च-विद्वेषिणः शशश्रृङ्गकूर्मरोमगगनारविन्दादिप्रमाणप्रश्नबलायातमनन्तं प्रपञ्चं साधयतः, कस्तेऽतिमल्लः, कथं वा ब्रह्म नास्तीत्यत्र किं प्रमाणम्? इत्यनेन प्रश्नेन ब्रह्मनास्तितैव न सिद्ध्येत्। कथायां यस्य यस्य पदार्थस्याभावस्त्वया साध्यस्तस्य तस्य प्रमाणप्रश्नबलात् तत्तत्सत्ता तदानीमेव वाद्यन्तरेण साधनीया इति दुरुत्तरं व्यसनम् वस्तुतो ब्रह्माद्वैतं घटादिवृत्ति न वा—इति मध्यस्थविप्रतिपत्तौ ब्रह्माद्वैतं घटवृत्तीति विधिकोटिपरिग्रहे त्वया कृते तत्र प्रमाणप्रश्ने प्रमाणवचनमेवोचितं, कथासंप्रदायस्य तवापीष्टत्वात्, तद्विप्लवे पुनर्दुरुत्तरव्यसनमेव, तथापि वक्ष्यमाणप्रमाणावष्टम्भादेतदुक्तमिति हृदयम् ॥ ३ ॥

यदि कहा जाय कि अनुमानत्वादि विशेषरूप से प्रमाण के ज्ञान होने पर भी व्यक्ति की दृष्टि से अनुमानत्वादि भी प्रमाणत्व विशेष सामान्य ही हैं। अतः अद्वैत में वह कौन व्यक्ति प्रमाण है? यह प्रश्न का अर्थ परिशिष्ट रहता है। इस तरह प्रमाणों की अनन्त व्यक्ति होने के कारण वे सब व्यक्ति विशेषरूप से कहे नहीं जा सकते हैं। अतः उनके अनिर्देश से हमारी कोई हानि नहीं होती है। और यदि द्वितीय पक्ष हो (अर्थात् अद्वैतविषयक प्रतीति अप्रमा हो) तब तो अद्वैत की प्रतीति को अप्रमा मानने वाले आपका अप्रमाविषयक प्रमाण कौन है यह प्रश्न व्याघात दोषयुक्त कैसे नहीं होगा? क्योंकि प्रमा का जनक प्रमाण होता है, अप्रमा का नहीं। यदि कहा जाय कि वह अद्वैत-ज्ञान मेरे मत में अप्रमा है, परन्तु आपके मत में तो वह प्रमा ही है, अतः उस आपकी प्रमा के कारणरूप प्रमाण पूछा जाता है। अतः व्याघात दोष नहीं है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो आपको अद्वैत का ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह चाहे मेरे मत से प्रमा ही है, तो भी उसका प्रमाणरूप कारण हमें वक्तव्य हो, इसमें मुझे कोई नियम नहीं है। अर्थात् हमसे वर्णित प्रमाणों के द्वारा आप अपने अद्वैतज्ञान को हमारे ही सदृश प्रमारूप मान लें, इसमें कोई नियम नहीं है। क्योंकि यदि मैं सदा अद्वैत को मानता हूँ, इससे अबाधित अद्वैत की प्रमा मुझमें वर्तमान है, और उस प्रमा के करण को यदि आप जानते भी हों, तो भी क्या इससे आपके उस अप्रमारूप से स्वीकृत अद्वैत के ज्ञान का करण अवश्य प्रमाणरूप हो सकता है? अर्थात् जिस श्रुति-रूप प्रमाण से मैं अद्वैत की प्रमा को प्राप्त करता हूँ, उसको जानते हुए भी आप तर्क (अनुमान) आदि से जानना चाहते हैं और अतर्क्य रूपादि रहित वह अद्वैत ब्रह्म तर्क और इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय नहीं है और न तर्क वा इन्द्रिय उसके ज्ञान के लिये प्रमाण ही है॥

वस्तुतः अग्नियुक्त पर्वत में भी यदि कोई बाष्प को धूम समझ कर और उस बाष्प-रूप हेतु से उसके द्वारा अग्नि का अनुमान करता है, तो वह अग्नि की विद्यमानता के कारण संवादी (सफल) प्रवृत्ति से अग्नि के ज्ञान में प्रमात्व के निश्चय होने पर भी, क्या इससे बाष्पविषय के धूम का ज्ञानरूप उस अग्नि ज्ञान का कारण प्रमाण माना

जा सकता है ? अर्थात् वह प्रमाण नहीं है। तो भी उससे अग्नि का ज्ञान यथार्थ ही दैवयोग से हो जाता है। इस प्रकार किसी तर्कादि से चाहे यथार्थ ही ज्ञान अद्वैत का हो तथापि तर्कादि अद्वैत ज्ञान के लिये मुख्य प्रमाण नहीं है ॥ ३ ॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि अबाधित अर्थ का ज्ञान किसी प्रमाण से हो, तो वह ज्ञान प्रमा ही होना चाहिये, और उसका करण भी प्रमाण होना चाहिये. तो मेरा भी अद्वैत के अभाव का ज्ञान तर्कादिजन्य प्रमा होना चाहिये और तर्कादि को उसके लिये ही प्रमाण होने से अद्वैत का जो तर्कादि से ज्ञान हमें होता है वह अप्रमा होता है। अतः अद्वैत ज्ञान के लिये प्रमाण नहीं होता है—इत्यादि शंका का उत्तर दिया गया है कि—

अस्तु वा प्रश्नोयं यथातथा, श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणमिति ब्रूमः। श्रूयते खलु 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि। श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थ-प्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते। सिद्धार्थानां श्रुतीनामन्यपरत्वमपि यदि स्यात्तथापि पदसमन्वयबलेन तासु प्रतीयमानमर्थमबाधितमादायैव तासामन्यपरिभवनात्, धियां स्वतःप्रामाण्यस्य बाधकैकापोद्यत्वात् ॥ ४ ॥

एतेनैवाशयेनाह—अस्तुवेति। नन्वनृतव्याघातपुनरुक्तादिदोषेभ्यः श्रुतीनामेव न प्रामाण्यं, प्रामाण्ये वा सिद्धार्थश्रुतीनां न प्रामाण्यं, विधिप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यस्यैव ज्ञानद्वारा व्यवहारजनकत्वेन प्रवर्तकज्ञानं प्रति सामर्थ्यावधारणात्, नच एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्यादिश्रुतीनां कार्यपरागस्तथा च न प्रामाण्यमित्यत आह—श्रुतीति। ननु यत्परः शब्दः स शब्दार्थः, न त्वासां श्रुतीनां ब्रह्माद्वैतपरत्वं किं तर्हि, मुमुक्षुणा ब्रह्मैवैकमुपासनीय-मित्यत्र तात्पर्यं, तथाचोपासनायामेवासां प्रमाणत्वं, नतु ब्रह्माद्वैतेपीत्यत आह—सिद्धार्था-नामिति। विशेषणं चैतत् प्रकृतश्रुत्यपेक्षया। एकं, ब्रह्मइतिपदसमन्वयबलेन प्रतीयमानोर्थः सचोपासनापरत्वे प्यबाधित एव वाच्य इत्यर्थः। ननु आदित्यो यूपो यजमानः प्रस्तरः—इत्यादौ पदसमन्वयबललभ्यसमानाधिकरण्यश्रुतेरप्रामाण्यं यथा, तथाऽस्याः किं नेत्यत आह—धियामिति। तत्र तत्र बाधकात् प्रतीयमानोर्थस्त्यज्यतेऽत्र न बाधकमित्यर्थः ॥ ४ ॥

यदि कहा जाय कि उक्त रीति से तर्क और प्रत्यक्ष से अद्वैत के ज्ञान नहीं हो सकने के कारण जिस किसी प्रकार उक्त प्रश्न हो सकता है, परन्तु यह कथन असंगत है क्योंकि श्रुति ही अद्वैत में प्रमाण है। अतः तर्कादि मात्र से अद्वैत का प्रमाज्ञान नहीं होता है। श्रुति सुनी जाती है कि (एकमेवाद्वितीयम्। छां० ६।२।१। नेहनानास्ति किञ्चन। बृ० ४।७। १९) सृष्टि से प्रथम एक अद्वितीय ही सत् (ब्रह्म) था जो शुद्ध मन ही से प्राप्त (अनुभव) करने योग्य है। उस ब्रह्म में नाना (भेद = द्वैत) किञ्चित् मात्र भी नहीं है, इत्यादि। यहाँ शंका होती है कि (तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। न्यायसू० २।१।५७) उस श्रुति को अपने अर्थ में प्रमाणता नहीं है, क्योंकि उसमें अनृतता (मिथ्यात्व) व्याघात और पुनरुक्त दोषों से अप्रमाणता सिद्ध होती है। जैसे कि पुत्रेष्टि से पुत्र की प्राप्ति श्रुति कहती है, पुत्रेष्टि करने पर भी कभी पुत्र नहीं होता है, विहित उपासना के कर्ता की ब्रह्मरन्ध्र से गति नहीं देखी जाती, न होती है, सायंकालादि में अग्निहोत्र का विधान करके उसकी निष्फलता को श्रुति ही बताती है, और बृहदारण्यक अ० ३।४। और ५ में एक ही प्रश्न है। नव बार (तत्त्वमसि) का कथन है (विशेष न्याय-

भाष्य में अनृतादि दोषों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं) इससे श्रुति स्वार्थ में प्रमाण नहीं है। कथंचित्प्रमाण होने पर भी मीमांसकादि के अनुसार कर्मोपासनादि परत्वेन प्रमाण है। अर्थात् विधिनिषेधरूप से प्रमाण है। हेय एवं अनुपादेय सिद्ध ब्रह्म के बोधकरूप से प्रमाण नहीं है, ऐसी शंका होने पर न्यायसूत्र भाष्यादि में ही अनृतादि दोषों का निवारण किया गया है (तत्तु समन्वयात्। ब्र० १।१।४) इस सूत्र भाष्यादि में श्रुति की सिद्धार्थ में प्रमाणता का प्रतिपादन किया गया है। आशय यह है कि—श्रुति के सामान्य प्रामाण्य को और सिद्धार्थ विषयक प्रामाण्य को ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थ में सिद्ध करेंगे और सिद्धार्थक श्रुति को यदि अन्य (उपासनादि) परत्व भी होगा, तो भी 'एकम्, एव, अद्वितीयम्-सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्, ब्रह्म) इत्यादि पदों के सम्यक् अन्वय (सम्बन्ध) के बल से उन श्रुतियों में प्रतीयमान (प्रतीत होता हुआ) उनके अबाधित अर्थ को ग्रहण करके अन्य (भेद = अनात्मा) के परिभवन (तिरस्कार) से अद्वैत की सिद्धि (प्रमिति) होती है। अर्थात् एक अद्वैत ईश्वर के उपासनापरक भी श्रुति के होने पर उसके अबाधित वाच्य (बोध्य) अर्थ अद्वैत ही सिद्ध होगा, क्योंकि एक, एव (अवधारण) और अद्वैत के बोधन द्वारा त्रिविध भेद का निषेध हो जाता है। अतएव (आदित्यो यूपः) यूप (यज्ञस्तम्भ) सूर्य है, इत्यादि स्तुतिबोधक श्रुति में जैसे पदसमन्वय से यूप की सूर्यरूपता प्रतीत होती है, परन्तु उसको सत्य नहीं माना जाता है, वैसे ही पद समन्वय से प्रतीयमान अद्वैत मानने योग्य नहीं है, ऐसी शंका भी उचित नहीं है। क्योंकि प्रमाणजन्य बुद्धि (ज्ञान) में स्वतः (स्वाभाविक) प्रामाण्य होता है। अनुमान से साध्य प्रामाण्य नहीं होता है। वह प्रामाण्य एक बाधक प्रमाण से (अपोद्य) खण्डनीय होता है और आदित्य की यूपता के ज्ञान का प्रामाण्य भी प्रत्यक्ष प्रमाण से खण्डित है। अद्वैत ब्रह्म ज्ञान के प्रामाण्य का कोई बाधक नहीं है, क्योंकि यह बाह्यप्रत्यक्षादि का विषय नहीं है ॥ ४ ॥

श्रुति से सत् ब्रह्म को अद्वैत कहा गया है। और बाह्य प्रत्यक्षादिके मिथ्या मायिक वस्तु के भेद बिषय होते हैं। इससे समान विषयता के अभाव से इनमें परस्पर विरोध ही नहीं है जिससे बाध्यबाधकभाव हो। इस आशय के ज्ञान के बिना जो बाधकता की शंका होती है, उसका आगे वर्णन है—

ननु, नाऽद्वैतश्रुतीनामृजावर्थेप्रामाण्यं संभवति, प्रत्यक्षादिबाधात्, ततश्चान्यत्रैव कचित्तात्पर्यं कल्प्यम्। मैवम्। यदद्वैतश्रुतेर्बाधकं प्रत्यक्षादि मन्यसे तदात्मीये विषये घटपटादेर्भेदे नियत एवोत्पद्यते, ननु प्रत्यक्षादिकं भूतभाविवर्त्तमानसकलव्यक्तिभेदग्राहि जायमानमावयोः सम्प्रतिपन्नमस्ति, तादृशेन ज्ञानेन चोत्पद्यमानेन सर्वज्ञतां तदा तव श्रद्दध्यां यदि जानासि मम चेतसि किं वर्त्तते इति। यदि च प्रत्यक्षादि किंचिन्मात्रविषयं तदा तद्विषयादन्यत्रापि प्रवर्त्तमानाऽद्वैतश्रुतिस्तेन न बाधितुं शक्यते, स्वविषयमात्रे प्रमया विपरीतविषयज्ञानबाधनात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। मा हि भूदग्नीषोमीयपश्वालम्भनविधिना सर्वभूताहिंसाश्रुतेर्वैयर्थ्यम् ॥ ५ ॥

ननु, प्रकृतेपि बाधकमस्तीति शङ्कते—नन्विति। अन्यत्रेति। ईश्वरैकत्वं वा ब्रह्मैको-

पास्यत्वं वा प्रतिशरीरमेकैकात्मत्वं वा यद्बोध्यं तत्रैव च सामर्थ्यमित्यर्थः। ननु, घटपटमात्रभेदविषयकं प्रत्यक्षं श्रुतिबाधकमिति नोच्यते, किंतु सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या सकलपदार्थभेदविषयकमेकं प्रत्यक्षमिष्यते, तत्कुक्षिस्थितानां भेदार्भकाणां न किंचिद्भयं श्रुतिडाकिन्या इत्यत आह—ननु प्रत्यक्षादिकमिति। त्वयेष्यमाणत्वमतन्त्रमित्यर्थः। तादृशज्ञाने प्रमाणाभावमाह—तादृशेनेति। ननु, घटपटादिनियतविषयमेव प्रत्यक्षं श्रुतिबाधकमस्तु किमत्याहितमित्यत आह—यदीति। मा हि भूदिति। न हिंस्यात्सर्वा भूतानि—इत्येका श्रुतिः, अग्नीषोमीयं पशुमालभेत इत्यपरा, तत्र चानयाऽग्नीषोमीयपशावेवाऽहिंसाश्रुतिर्बाध्यते नत्वन्यत्रापि, विषयभेदादित्यर्थः॥ ५॥

अद्वैत श्रुतियों का ऋजु अर्थ (पद अन्वय से लभ्य सिद्ध वाच्यार्थ) में प्रामाण्य नहीं हो सकता है। क्योंकि द्वैत के ग्राहक (बोधक) प्रत्यक्षादि से अद्वैत का बाध होता है। अतः किसी अन्य अर्थ (ईश्वर की एकता, एक ब्रह्म की उपास्यता आदि) में ही उक्त श्रुतियों के तात्पर्य की कल्पना कर्तव्य है। इस शंका का उत्तर यह है कि जिस प्रत्यक्षादि को अद्वैतश्रुति का बाधक मानते हैं वह प्रत्यक्षादि अपने नियत विषय घटपटादि के मिथ्या भेद विषयक ही उत्पन्न होता है। सदद्वैत सर्वकारण ब्रह्मरूप से वर्तमान भूतभावविवर्तमान सकल व्यक्ति भेद को प्रत्यक्षादि नहीं ग्रहण करता है, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ भेद को नहीं ग्रहण कर सकता है। अत एव सब भेद के ग्राहक जायमान प्रत्यक्षादि हमें वा आपको निश्चित ज्ञात नहीं है। यदि कहा जाय कि सामान्य (जाति) लक्षण (स्वरूप) प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) द्वारा सब भेद का ज्ञान होता है। अर्थात् एक भेदरूप पदार्थ के ज्ञान काल में मनुष्य पदार्थत्व रूप से सब भेदादि को जानता है तो इसका उत्तर यह है कि जायमान उस ज्ञान से आपकी सर्वज्ञता में मैं तब श्रद्धा=विश्वास करूंगा जब आप समान्य लक्षण प्रत्यासत्ति से जानें कि मेरे चित्त में क्या है। अर्थात् सामान्यलक्षणा से यदि ज्ञान मानें भी तो वह ज्ञान सर्वसामान्य अद्वैत का ही होता है, मायिक व्यक्ति का नहीं। इससे प्रत्यक्षादि यदि किञ्चिद्विकारमात्र विषयक हैं तथा वे विकारों के भेदों का ग्रहण करते हैं और वाचारम्भण मात्र हैं, तो इस प्रत्याक्षादि के विषय असत्य वस्तु से अन्यत्र (सत्य) में ही वर्तमान (सत्याद्वैत को समझाने वाली) अद्वैत श्रुति उस प्रत्यक्षादि से बाधित नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्यक्षादि से इस श्रुति का विषय ही भिन्न है। और प्रमाज्ञान से अपने विषयमात्र में ही अपने विषय-विषयक विपरीत ज्ञान का बाध होता है, अन्य ज्ञान का नहीं। अन्यथा (ऐसा नहीं मानने पर) अतिप्रसङ्ग होगा (किसी एक विषय के प्रमा से अन्य सब ज्ञान का बाध प्राप्त होगा) और सामान्य विषय में ही बाध इसलिये भी मानना चाहिये कि जिससे (अग्नीषोमीयं पशुमालभेत) इस विशेष पशुविषयक हिंसा विधि से (मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि) इस सामान्य श्रुति का बाध नहीं हो, अन्यथा अहिंसा का ही सर्वथा बाध होगा, फिर अहिंसा विधायक श्रुति की व्यर्थता प्राप्त होगी॥ ५॥

यदा चैवं, तदा बाधिकायाः प्रत्यक्षधियो बाध्यायाश्चाऽद्वैतबोधने श्रुतिनिराबाधा सती तयोरैक्यं बोधयतीति तत् प्रत्यक्षादि कथं स्वात्मानमेव बाधेत। घटेन, पटेन तद्भेदेन च स्वविषयेण सह तस्या एव धियः श्रुत्या

सर्वस्याद्वैतं गोचरयन्त्या कथं नाभेदे प्रामाण्यमासादयितव्यम्, तत्राबाध्यमानत्वात्। नहि तस्या धियः स्वात्मा वा, स्वात्मना सह घटपटादेर्भेदोपि वा, विषयः। घटपटौ भिन्नावित्येवमाकारा हि सा जायते, नतु अहं घटात् पटाच्च भिन्नो, मत्तो वा तौ भिन्नौ इति। स्वप्रकाशतापि स्वमात्रे साक्षिणी, नतु यतो यतः प्रकाशो भिद्यते ततस्ततस्तस्य भेदेपि। अन्यथा तत्तदपि स्वप्रकाशकुक्षौ निक्षिपन्ती न कथमद्वैते एव पर्यवस्यति ॥ ६ ॥

ननु, समाने एव विषये बाध्यबाधकभावोऽस्तु किमेतावतेत्यत आह—यदा चेति। बाध्यबाधकधियोरैक्ये बाध्यबाधकभावाऽभाव एवेत्यर्थः। बाधकाभिमतप्रत्यक्षस्य विषयेण सहाभेदः श्रुतिविषय इत्याह—घटनेति। तदेवोपपादयति—नहीति। कथमेवमत आह—घटपटाविति। मीमांसकशङ्कामपनयति—स्वप्रकाशतेति। ननु, यतो यतः प्रकाशो भिद्यते तत्सर्वं स्वप्रकाशज्ञानविषय एवेत्यत आह—अन्यथेति। स्वप्रकाशबलेन तत्सर्वं तदा भासेत यदि तदपि स्वं भवेत् तथा च स्वभिन्नस्यापि सर्वस्य स्वप्रकाशज्ञानात्मत्वेपुनरद्वैतमेव पर्यवस्येदित्यर्थः ॥ ६ ॥

जब ऐसा निश्चय हुआ कि समान (एक) विषय में ही ज्ञानों में बाध्यबाधकभाव होता है तब बाधक प्रत्यक्षबुद्धि और बाध्य अद्वैतबुद्धि के सत्यस्वरूप के अद्वैतबोधन में बाधरहित अद्वैत श्रुति उन दोनों की एकता का बोध कराती है जिससे अद्वैतबुद्धि वस्तुतः प्रत्यक्षबुद्धिरूप ही सिद्ध होती है। ऐसा होने पर (बाध्यबाधक के एक होने पर) वह प्रत्यक्षादि ज्ञान अपनी आत्मा ही का बाध कैसे करेगा और इस प्रकार स्वविषय घट-पट के साथ तथा उस भेदबुद्धि के विषयभेदों के साथ उस बुद्धि के अभेदरूप सबके अद्वैत को विषय करने वाली श्रुति अद्वैतार्थ में प्रमाण्य को कैसे नहीं प्राप्त कर सकती है, क्योंकि इनके अभेदबोधन में श्रुति बाध रहित है। यदि घट-पटादि के भेद बुद्धि का विषय उसका अपना स्वरूप और उसके साथ घटादि का भेद भी होता, तो अभेदबोधक श्रुति बाधित होती, परन्तु उस भेदबुद्धि का विषय निजात्मा (स्वस्वरूप) नहीं होता है और न उस बुद्धि के स्वरूप के साथ घट पटादि का भेद, क्योंकि घट और पट परस्पर भिन्न हैं, ऐसी भेदबुद्धि उत्पन्न होती है। वह उनके व्यावहारिक (मिथ्या) भेद को विषय करती है। एवं अन्य व्यावहारिक भेद को भी विषय नहीं करती है। अतः मैं (बुद्धि) घट से भिन्न हूँ, पट से भिन्न हूँ और मुझ से वे घट-पट भिन्न हैं, इस प्रकार (घटपटौ भिन्नौ) यह बुद्धि विषय नहीं करती है। यदि बुद्धि को स्वप्रकाश माना जाय तो भी स्वप्रकाशता से अपने स्वरूप को बुद्धि प्रकाश कर सकती है। स्वरूपमात्र के लिये स्वप्रकाशता हो सकती है। जिस २ से वह प्रकाश (ज्ञान) भिन्न होता है, उस २ से निज स्वरूपनिष्ठ भेद को वह ज्ञान प्रकाश नहीं कर सकता क्योंकि ज्ञान में अनन्त वस्तु का भेद है, और प्रतियोगी के ज्ञान के विना किसी भी भेदादि रूप अभाव का ज्ञान नहीं होता है। यदि जिस २ से विज्ञान भिन्न रहता है, उन सबके ज्ञानवर्ती भेद को स्वप्रकाश ज्ञान से प्रकाश मानें तो अनन्त स्वरूप तत्तत्प्रतियोगी सहित सब भेद को अपने कुक्षि (अन्दर) में निक्षेप (प्रवेश) करती हुई बुद्धि (ज्ञप्ति) अपने प्रकाश से सबको स्वप्रकाश सिद्ध करती हुई अद्वैत में ही कैसे नहीं सिद्ध करेगी। अर्थात् प्रतियोगी भेदादि सहित सब संसार का अद्वैत स्वयं

प्रकाश ब्रह्म ही होता है। अतः ब्रह्म ही स्वयंप्रकाश है। बुद्धि (ज्ञान) रूप वृत्ति का भी साक्षी से प्रकाश होता है। यह न स्वयंप्रकाश है, न स्वगत भेदों का प्रकाशक है। अतः वह अद्वैत श्रुति का बाधक नहीं हो सकती है ॥ ६ ॥

बुद्धिगत घटपटादि के भेदों को बुद्धि से भिन्न मान कर उक्त दोष दिया गया है। अतः भेदों को बुद्धि रूप अधिकरण स्वरूप ही मानकर शंका पूर्वक आगे बुद्धि की स्वप्रकाशता में दोष दर्शाया जाता है—

न च तया धिया स्वस्य, स्वविषयस्य च स्वरूपावगाहने स्वरूपलक्षणो भेदः प्रकाशित एव स्यादिति वाच्यम्, 'पुरोवर्त्ति रजतमि'ति भ्रान्तौ पुरोवर्त्यात्मनो रजतात्मनश्च प्रकाशे भेदग्रहापत्तेः। धर्मविशेषमन्तर्भाव्य स्वरूपस्य भेदत्वे धियोपि तथा स्यादिति सैव धीर्न तत्प्रकाशस्तस्मिन्सन्निकर्षाद्यपेक्षायां धियः प्राक्तदसंभवात्। आत्मवदात्मधर्मोपि सन्निकर्षानपेक्षा सा ?—इति चेन्न, ग्रहणत्वस्मृतित्वप्रमात्वादावपि तथैव स्यादिति ॥ ७ ॥

ननु, स्वप्रकाशज्ञानस्य स्वं विषय इति विषयाद् घटपटादेः स्वस्य स्वरूपभेदः कथं न विषयो भवेदित्यत आह—नचेति। स्वरूपभेदग्रहस्याऽभेदग्रहपरिपन्थित्वे भ्रमः क्वापि न स्यात्तस्य ते आरोप्यारोपविषयग्रहपूर्वकत्वात्, तस्य चारोपपरिपन्थित्वादित्यर्थः। ननु, स्वरूपमात्रं न स्वरूपभेदः, किंतु परस्परवैधर्म्यविशिष्टं स्वरूपं तच्च शुक्तिरजतयोर्न गृहीतमिति नारोपानुपपत्तिरित्यत आह—धर्मेति। तर्हि धियोपि स्वरूपमात्रं न भेदः, किंतु वैधर्म्यालिङ्गितं स्वरूपं, वैधर्म्यं च स्वस्यप्रकाशत्वेपि न स्वविषयः, किंतु संयुक्तसमवेतसमवायेन प्रत्यासत्त्या मनसा तद्ग्रहो भवेत्, नच स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वघटितसंयुक्तसमवेतसमवायः प्रत्यासत्तिः संभाव्यते इत्यर्थः। ननु, यथा प्रत्यासत्तिमन्तरेणस्वग्रहस्तथा स्वधर्मग्रहः स्यात् को दोष इत्यत आह—आत्मवदिति। ग्रहणत्वेति। तथाच ग्रहणत्वस्मरणत्वसंशयो न स्यान्न स्याच्च प्राभाण्याऽप्रमाण्यसंशय इति भावः ॥ ७ ॥

उस स्वप्रकाश बुद्धि से अपने स्वरूप और अपने विषय के स्वरूप के अवगाहन (ग्रहण=प्रकाश) होने पर स्वरूप लक्षण (स्वरूपात्मक) स्वनिष्ठ घटादि का भेद प्रकाशित होगा। अतः अभेद श्रुति की बाधा हो सकती है, ऐसी शंका नहीं हो सकती क्योंकि जहां शुक्ति में (पुरोवर्ति रजतम्) पुरोवेर्ती रजत है ऐसा भ्रम होता है वहाँ पुरोवर्ती शुक्ति के सामान्य स्वरूप के ज्ञान और रजत के स्वरूप के ज्ञान में भ्रम होने पर शुक्ति और रजत के भेद के भी ज्ञानापत्ति से भ्रम मात्र की उच्छेदापत्ति होगी। क्योंकि भेदज्ञान अभेद ज्ञानरूप भ्रम का विरोधी होता है। और शुक्ति के ग्रहण रजत के स्मरण रूप ज्ञान पूर्वक (इदं रजतम्) यह भ्रम होता है। वहाँ ग्रहण और स्मरण रूप ज्ञान स्वयं प्रकाश से भेद के प्रकाशित होने से भ्रम असम्भव होगा। यदि कहा जाय कि भेदाधिकरण पदार्थ के धर्मविशेष को अन्तर्गत करके भेद के अधिकरण का स्वरूप भेदात्मक होता है। वैधर्म्ययुक्त स्वरूप भेद कहा जाता है, स्वरूप मात्र नहीं। और भ्रम स्थान में वैधर्म्ययुक्त शुक्ति रजतादि का ज्ञान नहीं रहता है। अतः भ्रम का असम्भव नहीं है। परन्तु ऐसा होने पर बुद्धि का स्वरूप भी भेद नहीं होगा किन्तु वैधर्म्ययुक्त स्वरूप भेद होगा। और ज्ञान के स्वप्रकाश होने पर वह वैधर्म्य, ज्ञान से सम्बन्धादि के द्वारा प्रकाशित होगा। वहाँ, संयुक्तसमवेतसमवायरूप सम्बन्ध से मन के द्वारा

ज्ञान गत वैधर्म्य का ज्ञान (प्रकाश) होगा, क्योंकि मन से संयुक्त (संयोग वाली) आत्मा में ज्ञान समवेत (समवाय से) रहता है, और उस में वैधर्म्य रहेगा और वह समवाय से रहेगा। एवं वह सम्बन्ध बुद्धि की उत्पत्ति से प्रथम रहता नहीं है जिससे बुद्धि उस को प्रकाश कर सके। क्योंकि इस सम्बन्ध में बुद्धि भी प्रविष्ट है, और बुद्धि की उत्पत्ति से प्रथम बुद्धि नहीं रहती है। अतः बुद्धि के साथ घटादि के भेद के प्रत्यक्ष बुद्धि से अगृहीत होने के कारण प्रत्यक्ष बुद्धि के साथ विरोधाभाव से श्रुति घटादि के साथ बुद्धि के अभेद ग्रहण करायेगी। यदि कहा जाय कि जैसे बुद्धि अपनी आत्मा (स्वरूप) के प्रकाश में सम्बन्धादि की अपेक्षा नहीं करती है वैसे ही स्वगतधर्म रूप वैधर्म्य के प्रकाश में भी सम्बन्धादि की अपेक्षा नहीं करती है, अतः वैधर्म्ययुक्त भेद स्वरूप बुद्धि के प्रकाश से श्रुति अभेद का बोध नहीं करा सकती। तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धि के समान बुद्धिगत धर्म को भी बुद्धि से प्रकाशित होने पर, ग्रहणत्व (प्रत्यक्षत्व) स्मरणत्व, प्रमात्वादि के भी गृहीत (प्रकाशित) हो जाने से ग्रहणत्वादि का तथा प्रमात्व का कहीं भी संशय नहीं होना चाहिये, और होता है। अतः बुद्धि से स्वगत वैधर्म्य का ग्रहण नहीं होता है ॥ ७ ॥

उक्त रीति से प्रत्यक्ष से श्रुति की बाधा नहीं होने पर अद्वैत में श्रुति की प्रमाणता कही जाती है—

तदेवं सा बुद्धिः श्रुत्या घटपटात्मतया व्यवस्थाप्यमाना कथमात्मनः स्वस्मादेव भेदे प्रमाणीभवितुं प्रभवतीति बाधिकायां बुद्धौ घटपटयोर्भेदे प्रमात्वाभावमासादयन्त्यां श्रुतिस्तत्र तत्राप्रतिद्वन्द्वित्वाऽसङ्कुचितस्वतः प्रामाण्यबललब्धतत्तदर्थैक्यान्यथानुपपत्तिसहायसम्पदजय्या तयोरप्यभेदं बोधयन्ती न प्रतिहन्तुं शक्येति न क्वचिदपि प्रतिहतप्रसरा सती सर्वाद्वैतप्रमापिकेति । भेदप्रमान्यथानुपपत्त्या च वैपरीत्यमशक्यम् । तत्राद्वैतश्रुत्या सन्दिह्यमानस्य प्रमात्वस्यैवासिद्धेः भेदधीमात्रस्य च द्विचन्द्रादिबोधवदन्यथाप्युपपत्तेः ॥ ८ ॥

ननु तया धिया स्वस्य स्वरूपभेदोपि मा गृह्यतां किमनिष्टमित्यत आह—तदेवमिति। घटपटभेदग्राहकं यत्प्रत्यक्षं तद्यदि श्रुत्या घटपटाभिन्नं कृतं तदा घटपटभेदग्राहकतैव तस्य न निर्वहेदित्यर्थः। ननु, घटपटयोर्भेदे सा धीः प्रमाणमतस्तद्भयेन श्रुतिस्तत्र कथं प्रवर्तेत तथाच घटपटौ विहायाऽन्यत्राद्वैतं सिद्ध्यति नतु तयोरपीत्यत आह—बाधिकायामिति। घटपटभेदग्राहिणी या बुद्धिस्तया सह घटपटयोरभेदं गृहीतवती श्रुतिः घटपटयोरभेदमन्तरेणानुपपद्यमाना तयोरप्यभेदमानयति। किंच, पटाभिन्नबुद्ध्यभिन्नत्वाद् घटोपि पटाऽभिन्नः साधयितुं पार्यते एवेति तदुपष्टम्भोपि श्रुतेः। न चास्याः परग्राह्यं प्रामाण्यं, येन तदादायापि द्वैतं निर्वहेदिति न किंचिदस्याः श्रुतेः परिपन्थीत्यर्थः। ननु, घटपटभेदप्रमैव तद्भेदमन्तरेणानुपपद्यमाना सर्वत्र श्रुतिमपसारयिष्यतीत्यत आह—भेदप्रमेति। श्रुतिप्रामाण्यमुभयसिद्धं, प्रत्यक्षप्रामाण्यं चान्यतरमात्रसिद्धमिति परिपन्थिश्रुतिदर्शनात्तत्रापि तत्र सन्देहः स्यादिति भेदप्रमान्यथानुपपत्तिर्दुर्बला न श्रुतिपरिपन्थिनीत्याह—तत्रेति। ननु सन्दिह्यतां प्रामाण्यं, भेदज्ञानमगृहीतप्रामाण्यमेव श्रुतिबाधकं स्यादित्यत आह—भेदेति। अन्यथासिद्धिशङ्काकलङ्कितस्य न विरोधिज्ञानप्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः। अत्र, यद्यपि सर्वभूताहिंसा-

श्रुतिरग्नीषोमीयपश्वालम्भनबोधिकया श्रुत्या सङ्कोच्यते नतु बाध्यते, प्रत्यक्षेण तु प्रवृत्तमात्रेणाद्वैतश्रुतिर्बाध्यत एवातो न क्वाप्यस्याः प्रसरः, नहि 'घटपटौ भिन्नौ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म—इति ज्ञाने संभवतो विरोधात्। दैक्षः पशुर्हिंस्यः, सर्वभूतमहिंस्यमित्यनुपपन्नम्? इति चेत्तत्र सर्वपदभूतपदयोर्विषयसङ्कोचन दैक्षपशुभिन्नं सर्वमहिंस्यमिति सामञ्जस्यसंभवात्, इह घटपटभिन्नं सर्वमेकमिति समञ्जसे क्रियमाणे महदसमञ्जसं, त्वदभ्युपगताद्वैतभङ्गात्। क्रमेण तयोरप्यभेदोर्थापत्त्या पर्यवस्येत्? इति चेत्तर्हि न श्रुतिरद्वैते प्रमाणं, बाधविषये कुण्ठितत्वात्। किंच, तत्तत्प्रत्यक्षशार्दूलमुखकुहरसंप्रविष्टं भेदमवलोक्य पलायमाना श्रुतिरियमबला प्रतीयमानं स्वार्थजातं सन्त्यजन्ती ब्रह्मानुचिन्तनमात्रपरैव स्यात्। किंच' बाधव्याधभयोद्विग्नतमाऽद्वैतश्रुतिमृगी, ब्रह्मारण्येपि विश्वासं कथमासादयिष्यति सर्वमभिन्नमिति श्रुत्यर्थः स्वस्मात्सर्वमभिन्नमेवेत्येतावताप्युपपद्यते एव। नेह नानास्ति किंचन—इत्यपि किंचन वस्तु न नानेत्येवमप्युपपद्यते। नहि किमपि वस्तु नाना, सर्वस्य वस्तुनः प्रत्येकमेकत्वात्। किंच, ब्रह्माद्वितीयमिति सकलानुमतमेव। किंच, यदि ब्रह्ममात्रावशेषं जगदिति बोध्यं, तदा ब्रह्मैवैकम्—इति स्यान्न तु एकमेव ब्रह्मेति। किंच यथा एक एव नरपतिरत्र, नतु नाना इति वाक्यं द्वितीयं नरपतिमेव निषेधति नतु पुरुषान्तरमपि नास्तीति ततः प्रतीयते। किंच, तात्पर्याधीनं श्रुतिप्रामाण्यमतः कुत्रार्थे तात्पर्यमित्यनिश्चयाद् दुर्बलायाः श्रुतेरेव सर्वत्र प्रत्यक्षेण बलवता बाधः। किंच, चैत्रस्य घटपटभेदज्ञानं, मैत्रस्य कटकुटभेदज्ञानं, देवदत्तस्य नटविटभेदज्ञानम्, इति तत्तदन्यसर्वाद्वैतार्थत्वे श्रुतेर्वाक्यभेदः। किंच, अभेदज्ञानस्य तानेव तित्तिरीन् तानेव शालीन्—इतिवदेकधर्मोपग्रहेणाप्युपपत्तिः, भेदग्रहस्तथा नान्यथोपपादयितुं शक्य इति प्रत्यक्षमेव बलीयः। किंच, सर्वमभिन्नं, घटपटौ भिन्नाविति बुद्ध्योः प्रामाण्ये संभवति क्व बाध्यबाधककल्पनापि, नहि प्रमेयत्वादिनापि सर्वमभिन्नं न मन्यामहे, तथापि आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम् इत्यादावेव तात्पर्यम्॥ ८॥

उक्त रीति से घटपटादि विषयक बुद्धि से निज भेद के ग्रहण नहीं होने पर और श्रुति द्वारा उस बुद्धि के घटपटादि स्वविषय रूप से व्यवस्थाप्यमान (प्रतिपादित) होने पर, फिर वह प्रत्यक्ष बुद्धि आप ही अपनी आत्मा घट से अपनी आत्मा पट के भेद में प्रमाणता के लिए कैसे समर्थ हो सकती है। अर्थात् बुद्धि से अभिन्न घट और पट के होने पर घटपट भी परस्पर भेद रहित हो जाते हैं। अतः उनके सत्य भेद को बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती है। यदि कहा जाय कि बुद्धि से घटपट के भेद के ग्रहण होने के कारण घट पट से अन्य के अभेद को श्रुति कह सकती है, परन्तु घटपट के अभेद को नहीं कह सकती, तो इस का उत्तर यह है कि श्रुति के बाधक घटादि के भेद बोधक प्रत्यक्ष बुद्धि के उक्त रीति से घटपट भेद रूप स्वविषय में अप्रमा होने पर, अभेद बोधक श्रुति, अपने विषय में प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) रहित और संकोच रहित जो स्वतः प्रामाण्य उस के बल से लब्ध (सिद्ध) जो तत्तदर्थ (ज्ञानज्ञेयार्थ) की एकता उसकी अन्यथा (भेदाभाव के बिना) अनुपपत्तिरूप सहाय के सम्पत् (सम्यक् प्राप्ति) से अजय्य होकर उस घट पट के अभेद को समझाती हुई प्रतिहत (बाधित) होने के योग्य नहीं होती है। अतः कहीं भी प्रतिहत प्रसर=गति वाली नहीं होती हुई सर्वत्र अप्रतिहत गति वाली श्रुति सर्वाद्वैत (सर्वाभेद) के प्रमापक (प्रबोधक) होती है। यदि कहा जाय कि घटपटादि के प्रत्यक्ष भेद प्रमा की ही अन्यथा (भेद के बिना) अनुपपत्ति से वैपरीत्य (प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध) क्यों नहीं होता?, तो इसका समाधान यह है कि ऐसा

वैपरीत्य होना अशक्य है, क्योंकि उस भेद में अद्वैत श्रुति से संदेहयुक्त प्रत्यक्ष के प्रमात्व ही असिद्ध रहता है, और प्रमात्व के बिना बाधकता नहीं हो सकती है। श्रुति की प्रमाणता सर्वसिद्ध है। अतः श्रुति से प्रत्यक्ष का बाध होता है। और यदि यह कहा जाय कि भेद बुद्धि अनेक प्रकार की होती है, वहाँ किसी से अद्वैत श्रुति का बाध होगा, तो इसका उत्तर यह है कि भेदधीमात्र (सबभेदबुद्धि) के द्विचन्द्रादि के बोध तुल्य अन्यथा (मिथ्याविषय से) भी उपपत्ति (सिद्धि) होने से कोई बुद्धि सत्यार्थ श्रुति का बाध नहीं कर सकती है। इससे यहां यही तात्पर्य है कि प्रत्यक्षादि मायिक मिथ्या भेद को विषय करने वाले हैं, और श्रुति सत्यार्थ के अभेद को समझाती है। अतः विषय के भेद से विरोध अर्थात् बाध्यबाधकभावादि नहीं है ॥ ८ ॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि अद्वैत श्रुति से प्रत्यक्षादि के बाध की अपेक्षा तो भेदाभेद माना जाय जिससे लोकसिद्ध प्रत्यक्षादि की भी प्रमाणता बनी रहे, तो कहा जाता है कि यह व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि—

'एकम्'-इत्युपादाय यद् एवकारमप्युपादत्ते श्रुतिः 'एकमेवेदम्'-इति रूपा, तदैकान्तिकमैक्यं बोधयतीति भेदाभेदेनाप्यशक्यसमर्थनं-घटपटादि-भेदग्राहिप्रत्यक्षादिप्रामाण्यमिति। बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात् कथमित्थम् ?-इतिचेन्न श्रुतितो द्रागेव जातायाः सर्वविषयाया अद्वैतधियोऽस्मद्बुद्ध्य एवं विधविचारसोपानपरम्परामारोहन्त्योनानाविषयेषु तत्प्रामाण्यविषयाः क्रमेण परिनितिष्ठन्तीत्युच्यमानत्वात् ॥ ९ ॥

ननु श्रुत्याऽभेदः, प्रत्यक्षेण च भेदो बोध्यते, द्वयं च प्रमाणमनुरोध्यं, ततो भेदाभेद एवास्त्वित्यतआह—एकमिति। यद्यपि ब्रह्मण एकत्वं प्रपञ्चाभावे प्रपञ्चाभेदे चोपपद्यते इति कथमियं श्रुतिरेकताऽवधारिका यद्यपि च प्रपञ्चमिथ्यात्वं शङ्कराचार्याद्यनुमतं ननु प्रपञ्चब्रह्मणोरभेद इत्यभेदबोधकतया श्रुतिव्याख्यानेऽपसिद्धान्तः, यद्यपि च घटाद्यभेदे ब्रह्मणोपि जडत्वमिति स्वप्रकाशानन्दरूपत्वविरोधस्तथाप्यापाततो यदिदमित्यादौ वक्ष्यमाणेऽर्थे एव तात्पर्यम्। ननु प्रत्यक्षविरोधादापाततः श्रुतिजबुद्धिः स्वस्मादेवाभेदं विषयाणां विषयीकृत्य क्रमेणार्थापत्त्यादिबलाद् विषयाणामन्योन्यमभेदं विषयीकरिष्यतीत्यनुपपन्नं शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावादित्याह—बुद्धेरिति। श्रुतित एकदैव जातायाः सर्वाभेदबुद्धेः सर्वविषये प्रामाण्यं प्रत्यक्षबाधेन प्रतिबन्धाज्झटिति दुर्ग्रहमिति तत्तद्विषयप्रत्यक्षबाधनिरासक्रमनिबन्धनः प्रामाण्यग्रहक्रमो ननु बुद्धेर्विरम्य व्यापारतेत्याह—श्रुतित इति। यद्यपि बाधोबुद्धिमेव प्रतिबध्नाति नतु तत्प्रामाण्यग्रहमिति कथं न बुद्धेः श्रुतिलक्षणस्य शब्दस्य वा विरम्य व्यापारता तथापि अत्यन्ताऽसत्यपिज्ञानमर्थे शब्दः करोतीत्यभिप्रेत्यैतदुक्तम् ॥९॥

एकमेवेदम् यह श्रुति एकम् इस पद का ग्रहण करके फिर जिससे 'एवकार' एव पद का ग्रहण करती है, इससे ऐकान्तिक केवल एकता का बोध कराती है। अतः भेदाभेद के द्वारा भी घटपटादि के भेद के ग्राहक प्रत्यक्षादि की प्रमाणता का समर्थन (साधन) करना अशक्य है। यदि कहा जाय कि (शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः) इस नियम के अनुसार शब्द ज्ञान और कर्म (क्रिया) एक बार ही शब्द ज्ञान, विषयप्रकाश और विभागादि रूप अपने कार्यों के जनक होते हैं, विराम पूर्वक अनेक-

वार अपने कार्यों के जनक नहीं होते, तो पूर्वोक्त रीति से श्रुतिजन्य ज्ञान द्वारा प्रथम प्रत्यक्ष के अविषय प्रत्यक्षबुद्धि और उस के विषय घटपट और भेद की एकता के प्रकाश होने पर, फिर उसी श्रुतिजन्य ज्ञान से घटपटादि सब के अभेद का प्रकाश (ग्रहण) यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् उक्त अर्थापत्ति से भी सर्वाभेद का ज्ञान श्रुति से नहीं हो सकता। तो इसका यह उत्तर है कि श्रुति से तो शीघ्र=एक वार ही सर्वविषयक अद्वैत बुद्धि होती है, परन्तु नाना वस्तु विषयक उस श्रुति जन्य बुद्धि की प्रमाणता को ग्रहण करने वाली हम लोगों की बुद्धि इस उक्त प्रश्नोत्तरादि रूप विचार के सोपान परम्परा पर आरूढ होती हुई क्रम से परिनिष्ठित होती है। अर्थात् श्रुति तो एक वार कहती है कि (इदं सर्वं ब्रह्मैव) परन्तु उस के बाधक अनेक विषयक प्रत्यक्षादि अनेक हैं। अतः तत्तत् विषयक प्रत्यक्षादि के बाध पूर्वक श्रुति की प्रमाणता का ग्रहण क्रम से होता है, यह उक्त क्रम कथन का तात्पर्य है विरम्य व्यापार का कथन नहीं है ॥ ९ ॥

आगे श्रुति की प्रमाणता तथा उसके ज्ञान के असम्भव का वर्णन करके समाधान किया गया है—

ननु, यदि नामप्रत्यक्षवित्त्या तया घटपटभेदोल्लेखिन्या स्वात्मना सह घटपटयोर्भेदो न गोचरीक्रियते तावता कथं तस्याः स्वविषयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमासादयितुमीष्टे' बुद्ध्यन्तरेण तया सार्द्धं घटपटयोरपि भेदमुल्लिखता तत्राद्वैतश्रुते र्बाधादेव। मैवम्, तर्हि तस्या अपि विषयमापाततः परित्यज्य ययैवापरया बुद्ध्या घटपटभेदबुद्धेर्घटाच्च पटाच्च भेदो विषयीक्रियते तस्याः स्वविषयेण सहाऽद्वैते श्रुतिः प्रामाण्यमवलम्ब्य लब्धपदा घटपटतद्भेदबुद्धिभिः सह द्वितीयाया बुद्धेरभेदे पर्यवस्यन्ती सर्वेषामेव तेषामभेदे विश्राम्यति ॥ १० ॥

घटपटभेदग्राहिप्रत्यक्षेण स्वात्मना सह घटपटयोर्भेदो न गृहीत इति तत्र श्रुतिर्लब्धपदा तयोरप्यभेदं विषयीकरिष्यतीति यदुक्तं तत्र शङ्कते—नन्विति। घटपटभेदग्राहिप्रत्यक्षं घटपटौ न भवत इति ज्ञानान्तरेण तद्भेदोपि सुग्रह एवेति तत्रापि श्रुतिर्न प्रभवतीति शङ्कार्थः। यावद्दूरं बाधबुद्धिपरम्परोदयस्तत्रापाततः कुण्ठापि श्रुतिर्बाधबुद्धिपरम्परानिवृत्तौ चरमबुद्धौ पदमारोप्य तद्विषयविषयिप्रवाहाद्वैतं बोधयिष्यतीति परिहरति—तर्हि तस्या अपीति। प्रमाण्यावलम्बनम्–अबाध्यत्वेन व्यवस्थितत्वं, पदलाभः=सहकारिसाचिव्यं, पर्यवसानमभेदबोधनं, विश्रामः=स्वजनितसकलाऽद्वैतधीप्रामाण्यासादनम् ॥ १० ॥

यदि घटपट के भेद को विषय करने वाली प्रत्यक्षवित्ति (ज्ञान) अपनी आत्मा (स्वरूप) के साथ घटपट के साथ घटपट के भेद को विषय नहीं करती है, तो भी उसके विषय घटपट के साथ उसके अद्वैत=अभेद अर्थ में श्रुति प्रमाणता को प्राप्तकरने के लिये कैसे समर्थ हो सकती है ? क्योंकि घटपटौ भिन्नौ' घटपट भिन्न हैं, यह एक बुद्धि जैसे घट पट के भेद को विषय करती है, वैसे (सा बुद्धिर्घटपटभिन्ना) वह प्रत्यक्ष बुद्धि घटपट से भिन्न है, इस प्रकार के बुद्ध्यन्तर (अन्य बुद्धि) से उसके साथ घटपट के ग्रहण होने से वहाँ अद्वैत (अभेद) में श्रुति का बाध ही हो जाता है, यदि ऐसी

शंका हो तो इसका समाधान यह है कि घघपटौ भिन्नौ, इस बुद्धि और उसके विषय को आपाततः (मानो प्रथम) त्याग कर, इन के अभेद को नहीं कह कर, उस अपर (अन्य) बुद्धि के साथ घटपट के भेद बुद्धि के अभेद का बोध कराती हुई श्रुति अद्वैत में प्रामाण्य प्राप्त करके आश्रय को पाकर फिर घटपट और उस की भेद-बुद्धि के साथ अभेद में पर्यवसान (स्थिरता) को प्राप्त करती हुई उन सब के अभेदरूप अद्वैत में विश्रान्त (प्रमाण) होती है । अर्थात् द्वितीय भेद-ग्राहक बुद्धि के होने पर प्रथम की बुद्धि को स्वविषय से अभेद नहीं ग्रहण कर के (घट पटभेदविषयकं प्रत्यक्षं घटपटात्मकं न भवति) घटपट का ज्ञान घटपटरूप नहीं होता है, इस द्वितीय बुद्धि का ही प्रत्यक्ष भेद बुद्धि के साथ अभेद के बोधन द्वारा सब के अभेद में श्रुति प्रमाण होती है, क्योंकि ज्ञानों के वास्तविक स्वरूप के अभिन्न होने पर उन में कल्पित विषयों में भेद सत्य नहीं रह सकता है ॥ १० ॥

उस द्वितीय बुद्धि का भी अपने विषय से भेद ग्रहण करने वाली तृतीय बुद्धि के होने से तृतीय के भेद को ग्रहण करने वाली चतुर्थादि बुद्धि के होने से अद्वैत श्रुति की प्रमाणता नहीं हो सकती ऐसी शंका होने पर कहा गया है कि—

एवं च सति यत्रैव गत्वा बाधबुद्धिपरम्पराविच्छेदो विषयान्तरसंचारोच्छेदभयादनवस्थाभयाच्चाभ्युपेयस्तस्यामेव बुद्धौ पदमारोप्याऽद्वैतश्रुतिः सर्वं तद्विषयविषयिप्रवाहमद्वैते स्थापयन्ती न केनापि प्रमाणेन क्वचिदपि विषये बाधितुं शक्या । तस्मात्—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा ।
निवृत्ताद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥ ११ ॥

ननु भवेदेवं यदि भेदबुद्धिधाराविश्रामः स्यान्न त्वेवमत आह—एवं चेति । विषयान्तरसंचारदर्शनेनाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गभयेन च विश्रामसिद्धेरित्यर्थः । सुदूरेति अद्वयाम्नायैः= अद्वैतश्रुतिभिः । पार्ष्णिग्राहैःपृष्ठतोवर्त्तिभिर्विपक्षैरित्यर्थः । यद्यपि चरमबुद्धिज्ञाने चरमत्वव्याघातः, तदज्ञाने च कुत्र श्रुतेः पादारोपणं; श्रुतिप्रवृत्त्यर्थं त्वयैव तदुपस्थापने पुनश्चरमत्वव्याघातः, तदेव तथापि समं भेदग्रहश्च; अनुपस्थापने श्रुतिप्रवृत्त्यव्युत्पादनम् , तथाच सुदूरधावनाऽश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्पराऽविनिवृत्ताऽद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्न जीयते-इति परेणापि पठितुमुचितं तथापि स्वप्रकाशसिद्धमेव ब्रह्माद्वैतमिति भावः ॥ ११ ॥

उक्त रीति से भेदबुद्धिरूप अद्वैत बुद्धि के बाधक बुद्धि का अविषय रहता है। वहाँ अद्वैत श्रुति प्रमाणता को प्राप्त करती है । अतः विषयान्तर में संचार (विषयान्तर के ज्ञान) के उच्छेद (अभाव) के भय से तथा अनवस्था के भय से जहाँ जाकर बाधबुद्धि (ज्ञान) के परम्परा के विच्छेद को माना जायगा, उसी अन्तिम बुद्धि में पद को स्थिर करके, प्रमाणता के लिये अवकाश पाकर, अद्वैतबोधक श्रुति, सभी बाधक बुद्धि और उसके विषयरूप विषयविषयी के (विषय ज्ञान के) प्रवाह को अद्वैत में स्थिर करती हुई, किसी प्रमाण से किसी भी विषय में बाध के योग्य नहीं होती है। भाव यह है कि जिस बुद्धि या विषय का प्रकाश कभी किसी को नहीं हो, उसके सत्त्व अथवा द्वैत या अद्वैत में भी प्रमाण के अभाव से उसका तो असत्त्व ही हो सकता है,

सत्त्व नहीं। अतः जिस अन्तिम बुद्धि विषयक बुद्ध्यन्तर न हो, उसकी सत्ता ही नहीं है, तो उसका अन्य के साथ अभेद का बोधन यद्यपि श्रुति भी नहीं करा सकती है, तथापि बुद्धि (अन्तःकरण की वृत्ति) से ही प्रकाशित वस्तु की सत्ता हो यह नियम नहीं है, वस्तुतः सब वस्तु की सत्ता और प्रकाश ब्रह्म स्वरूप है। और ब्रह्म से प्रकाशित अनात्म सब वस्तु की ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं है, इससे सब ज्ञान ज्ञेय के प्रवाह को अद्वैत ब्रह्म स्वरूप श्रुति कहती है। अतः बाध-बुद्धि की परम्परा अत्यन्त दूर तक धावन से परिश्रान्त होती है। और ब्रह्मस्वरूप तक पहुंच नहीं पाती है। अतः उसके निवृत्त होने पर पार्ष्णिग्राह (पीछे से धावा करने वाले शत्रु तुल्य) अद्वैत-बोधक वेद से बाध-बुद्धि जीती जाती है। अर्थात् प्रत्यक्षादि के अविषयस्वरूप अद्वैत को श्रुति समझाती है ॥ ११ ॥

उक्त रीति से एक पुरुष के बाध-बुद्धि के परम्परा मानने पर विषयान्तर संचाराभाव और अनवस्था की प्राप्ति से अन्तिम बुद्धि का विषय के साथ अभेदार्थ में श्रुति प्रमाण होती है, ऐसा कहने पर पुरुषान्तर की बुद्धि द्वारा उस पुरुष की बुद्धि के भेद ग्रहण की शंका करके आगे खण्डन किया गया है—

नच यत्र तस्य प्रतिपत्तुर्बुद्धिधाराविश्रान्तिस्तत्र पुरुषान्तरबुद्धिर्भेदे प्रमाणं स्यात्। तथापि पुरुषान्तरेण भिन्नतया सा प्रतीयते इत्यत्र प्रमाणं त्वया वाच्यम्। नहि तदपि पुरुषान्तरेणैव, न च संभाव्यमानम्, श्रौतेन निश्चयेन तन्निवर्तनात्, तथाप्यनवस्थानादिति। अथ ब्रूषे—यदा कियद्दूरं बुद्धिपरम्परया सा बाधिता भवत्यद्वैतश्रुतिस्तदा तन्न्यायाद् यापि बुद्धिःशेषं गत्वा नाऽनुव्यवसीयते तत्रापि तद्बाधोऽवगम्यते, यत्र सा बाध्यते तत्तुल्यन्यायत्वादन्तिमबुद्धेरपि—इति ॥ १२ ॥

ननु विषयान्तरसंचारदर्शनादनवस्थाभयाच्च बुद्धिधाराप्रवाहविच्छेदसिद्धावपि पुरुषान्तरबुद्ध्या तद्बुद्धिधाराविषयविषयिपर्यन्तभेदग्राहिण्या श्रुतेर्बाधोऽस्त्वित्यत आह। नचेति तथापीति। पुरुषान्तरेण चरमबुद्धेर्भेदो गृह्यते–इति यदि त्वया कथायामेव प्रमापणीयं तदा तत्रैव प्रमाणे श्रुतिप्रवृत्तिः, एवं तत्रतत्रेति पुनरनवस्था, प्रमाणानुपदर्शने च तव पराजय एवेत्यर्थः ॥ ननु न मया तत्र प्रमाणं वाच्यं, किं तर्हि, पुरुषान्तरेणैव वाच्यमतो नानवस्थेत्यत आह–नहीति। पूर्वदोषतादवस्थ्यादिति भावः ॥ ननु यद्यपि मदीयान्त्यबुद्धेः स्वविषयाद्भेदो मया न गृह्यते, यद्यपि च 'पुरुषान्तरेण गृह्यते—इति मया प्रमाणयितुं न शक्यते, तथापि संभाव्यते तावत्, संभावनापि च विरोधिन्येव विपरीतनिश्चयस्येति कथं तत्राप्यद्वयश्रुतिप्रवृत्तिरित्यत आह—नचेति। संभावनया प्रमाणाऽप्रवृत्तावनुमानादिकमपि न प्रवर्तेतेत्यर्थः। ननु तर्कादिना विपरीतशङ्कानिवृत्तावनुमानादि प्रवर्तते, ननु तस्य सत्यामेव, प्रकृते तु तथाविधतर्को नास्ति यः संभावनां विहन्यादत आह—तथाप्यनवस्थानादिति। यद्यपीयमनवस्था तुल्यैव, संभावनामनुपनयतस्तवापि श्रुतिविषयाऽनुपन्यासात्, तथाप्यापाततो यदिदमित्यादावेव तात्पर्यम्। या या बुद्धिः सा सा स्वविषयाद्भिन्ना, घटपटौ भिन्नाविति बुद्धिवदिति त्रिचतुः कक्षायां बुद्धिधाराया व्याप्त्यवधारणादन्तिमबुद्धावपि तद्बलात्स्वविषयभेदसिद्धौ क्व श्रुतेरवकाश इत्याशङ्कते—अथेति ॥ १२ ॥

यदि कहा जाय कि जहाँ उस भेदप्रतिपत्ता (ज्ञाता) पुरुष की बुद्धि धारा विश्रान्त

होती है, वहाँ अन्य पुरुष की बुद्धि उस प्रथम पुरुष की अन्तिम बुद्धि के भेदादि में प्रमाण होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि एक के अन्तिम बुद्धि के भेद विषयक पुरुषान्तर की बुद्धि प्रमाण के बिना सिद्ध नहीं हो सकती है। यदि फिर कहा जाय कि वह पुरुषान्तर की बुद्धि भी स्वविषयादि से भिन्न रूप से प्रमित (ज्ञात) होती है, तो इस में आप को प्रमाण कहना होगा और अन्य का बुद्धिविषयक प्रमाण कहना असम्भव है। यह पहले कहा गया है कि मेरे मन में क्या है, यह कहें इत्यादि। यदि कथञ्चित् प्रमाण कहेंगे, तो उस प्रमाण का ही पुरुषान्तर की बुद्धि के साथ श्रुति अद्वैत (अभेद) को कहती हुई, सब के अभेद में प्रमाण होगी। यदि कहा जाय कि पुरुषान्तर की भेदबुद्धि में हमें प्रमाण नहीं कहना है, किन्तु वह भी पुरुषान्तर को ही कहना होगा, तो इस प्रकार भी पुरुषान्तर से कथित प्रमाण का उसके विषय के साथ श्रुति अद्वैत में प्रमाण होगी। उस प्रमाण विषयक प्रमाणान्तर भेद बोधक मानेंगे तो अनवस्था होगी। यदि कहा जाय कि जिस अन्तिम बुद्धि का भेद गृहीत नहीं होता है, न ग्रहण विषयक प्रमाण कहा जा सकता है, वहाँ भी भेद ग्रहण की सम्भावना मात्र से अद्वैत श्रुति का बाध हो सकता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतिजन्य अद्वैत के निश्चय से सम्भावना की निवृत्ति हो जाती है। जैसे तर्क से हेतु के व्यभिचार शंका की निवृत्ति होती है, वैसे यहाँ तर्क से भी भेद की सम्भावना नहीं हो सकती है। यदि भेद सत्य होता, तो श्रुति अद्वैत का निरूपण नहीं करती, इत्यादि श्रुतिमूलक तर्क हो सकता है। यदि कहा जाय कि यह तर्क भेद की सम्भावना को निवृत्त नहीं कर सकता है, तो भी उस सम्भावित बुद्धिविषयक भी बुद्ध्यन्तर मानने पर अनवस्था की प्राप्ति होगी। बुद्ध्यन्तर के नहीं मानने पर उसके अभेद को उसके विषय के साथ अद्वैत श्रुति कहेगी, फिर मिथ्या भेद को छोड़ कर सबके सत्याद्वैत में प्रमाण होगी। यदि कहा जाय कि कुछ दो चार कक्षा दूर तक भेद के प्रत्यक्षादि से बाधित होती हुई अद्वैतश्रुति, उसी दृष्टान्त से अगृहीत विषय में सामान्यानुमान से बाधित होगी, अर्थात् जिस बुद्धि के स्वविषय से भेद का ज्ञान नहीं हो सकता है वहाँ भी अनुमान होगा कि सब भूत भावी तथा अन्तिम बुद्धि स्वविषय से भिन्न होती है, जैसे कि (घटपटौ भिन्नौ) घटपट भिन्न हैं, यह बुद्धि अपने विषय से भिन्न होती है, वैसी ही सब बुद्धि होती है, अन्तिबुद्धि भी घटादि भेद बुद्धि के तुल्य ही तो होती है ॥ १२ ॥

जहाँ घटादि बुद्धि में अद्वैत श्रुति प्रत्यक्षबुद्धि आदि से बाधित होती है वहाँ उस न्याय से अन्तिमबुद्धि के अभेद में भी बाधित होगी, इस शंका के उत्तर के लिये विकल्प है कि—

मैवम्। किं कियतीषु बुद्धिषु व्याप्यव्यापकौ कावप्यवलम्ब्य व्याप्तिग्रहरूपयैव धिया शेषबुद्धौ बाधं व्युत्पादयसीत्थमद्वैतश्रुतेः? किं वा बुद्ध्यन्तरदृष्टव्याप्तिसनाथया पक्षधर्महेतुमुल्लिखन्त्या बुद्ध्यान्तिमबुद्धिविषयया?। 'नाद्यः व्याप्तिबुद्धिर्यदि विषयविशेषेपि स्वातन्त्र्येण बाधात्मिकोपेयते तदा सैव विशेषबुद्धिरपि स्यादिति गतमनुमानकथया। अथानुमिति-

मभ्युपैषि, तदा सा नात्मानमपि धर्मीकृत्य प्रवर्त्तते इति तत्रैव दत्तपदा सर्वामद्वैतश्रुतिः परम्परामालम्बते–इत्युक्तमावर्त्तते ॥ १३ ॥

व्याप्तिधीरेव तत्र प्रमाणम् ? तदुपलम्भादनुमानं वा प्रमाणम् ? इति विकल्प्य दूषयति—नाद्य इति। व्याप्तिग्राहकप्रमाणस्यैव विशेषोपस्थितौ सामर्थ्येनुमानं प्रमाणमनवकाशमेव स्यादित्यर्थः। अन्तिमबुद्धिः स्वविषयाद्भिन्ना बुद्धित्वादाद्यादिबुद्धिवदित्यनुमानं तदुपस्थापकमिति द्वितीयमाशङ्क्य निराकरोति—तदेति। अनुमितावेव पदमारोप्याऽद्वैतश्रुतिः सर्वामेदबोधिका तर्हि स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

उक्त रीति से अन्तिम बुद्धि का भेद ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। क्या किसी दो चार कक्षा वाली बुद्धियों में किसी व्याप्य (भेद) और व्यापक (बुद्धित्व) का अवलम्बन (अनुभव) करके ही, व्याप्ति के ज्ञानरूप उसी बुद्धि (अनुभव) से ही शेष (अन्तिमादि) अज्ञात बुद्धियों में अद्वैत बुद्धि का बाध कहते हैं ? अर्थात् जो जो बुद्धि होती है, वह सब स्वविषय से भिन्न होती है, इस व्याप्तिज्ञान से ही उक्त रीति से अन्तिम बुद्धि में अद्वैत श्रुति बुद्धि के बाध को सिद्ध करते हैं ? अथवा अन्तिम बुद्धि से अन्य बुद्धियों में देखी गई व्याप्तिज्ञान से सहकृत, पक्षवृत्तिहेतु को विषय करने वाली अन्तिम बुद्धिविषय बुद्धि से श्रुति के बाधक को सिद्ध करते हैं ? यहाँ प्रथम पक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि सामान्यज्ञानरूप व्याप्तिज्ञान को पक्षधर्मताज्ञानादि के बिना ही स्वतन्त्र रूप से विषयविशेषरूप अन्तिमबुद्धिविषयक अद्वैतश्रुति का बाधक माना जायगा, तो वह व्याप्तिज्ञान ही विशेष (अन्तिम बुद्धिभेद) विषयक भी होगा, तो व्याप्तिग्राहक प्रमाण ही उस विशेष विषय के लिये प्रमाण होगा, फिर ऐसे स्थान में अनुमान कथा भी जाती रहेगी। और यदि उक्त रीति से अन्तिमबुद्धि विषयक भेद की अनुमिति मानें तो वह अनुमिति अपने से भिन्न अन्तिमबुद्धि के भेद को विषय करती हुई भी अपनी आत्मा (स्वरूप) को धर्मी (भेदाश्रय पक्ष) करके प्रवृत्त नहीं हो सकती है, क्योंकि अनुमिति से प्रथम सिद्ध साध्य हेतु का स्थान पक्ष होता है। और उस अनुमिति से प्रथम वह अनुमिति रहती नहीं है। अतः उस अनुमिति में ही दत्तपदा (साश्रया = बाधरहिता) होकर अद्वैतश्रुति सब बुद्धि के परम्परा को आश्रयण करेगी। अर्थात् (अन्तिम बुद्धि स्वविषय से बुद्धित्व हेतु से भिन्न है) इस अनुमिति को स्वविषय से अभिन्न बोधन द्वारा सब बुद्धि को स्वविषय से अभिन्न श्रुति कह सकेगी। इस प्रकार यह उक्त अर्थ की ही पुनरावृत्ति है ॥ १३ ॥

उक्त अनुमिति को भी सामान्यलक्षण सम्बन्ध द्वारा पक्ष बना कर अनुमिति द्वारा अद्वैत के बाध की शंका होती है, उसका आगे उत्तर दिया गया है कि—

अथ सर्वा विवादाध्यासिता बुद्धयः स्वविषयेभ्यो भिन्ना, बुद्धित्वाद्, घटपटबुद्धिवदिति सामान्याकारेणात्मानमपि धर्मीकृत्यात्मनोपि स्वविषयाद्भेदं साधयिष्यत्यनुमानम्—इति मन्यसे, मैवम्, एवमपि विषयिणो विषयस्याऽभेदं बोधयन्ती श्रुतिरनुमानमप्यनवकाशयति। विषयिविषययोर्मिथो भेदेपि साध्ये अस्तु हेत्वनुयोगः। परबुद्धिस्तद्विषयाँश्च प्रति निराबाधा सती श्रुतिरेकस्या बुद्धेर्विषयादपरामपरस्याश्च विषयात्परामभेदबोधाय धावन्ती सर्वाद्वैते एव पर्य्यवस्यतीति ॥ १४ ॥

नन्वनुमितिमपि पक्षेन्तर्भाव्य विषयाद्भेदः साधनीय इति तत्र श्रुतिप्रवृत्तिरनुपपन्नेत्याशङ्कते—अथेति। एतावता च विषयाद्बुद्धेर्भेदः सिद्धो नतु बुद्धेरपि विषयस्य, अप्रतिज्ञानात्, तथा च बुद्धितो विषयस्याभेदबोधने निष्परिपन्थिनी श्रुतिः सर्वाभेदबोधने पर्यवस्यतीति परिहरति—एवमपीति। ननु बुद्धिविषयौ मिथो भिन्नावित्येव प्रतिज्ञेयमिति न तत्रापि श्रुतिप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य निराकरोति—विपर्यीति। अत्र बुद्धित्वं न हेतुः, विषयभागेऽसिद्धेः; विषयत्वं न हेतुः, बुद्धिभागेऽसिद्धेः। उभयगतं प्रमेयत्वादिकं व्यभिचारीत्यर्थः। अभ्युपेत्य दूषयति—परेति। स्वस्वविषयान्मिथो भेदसिद्धावपि परविषयेण सह भेदाग्रहात्तत्रैव श्रुतिप्रवृत्तिः सर्वाद्वैतपर्यवसायिनीत्यर्थः॥ १४॥

भिन्न अभिन्न आदि विवाद के विषयभूत भावी आदि सब बुद्धियाँ (सब ज्ञान) अपने-अपने विषयों से भिन्न, बुद्धित्व के कारण रहती हैं। जैसे कि वर्तमान घटपट की बुद्धि घटपट से भिन्न रहती है। इसी प्रकार सामान्य (बुद्धित्व) आकार (स्वरूप) से अनुमितिरूप बुद्धि अपने स्वरूप को भी धर्मी (पक्ष) बना कर अपनी आत्मा को भी स्वविषय से भिन्न सिद्ध करेगी। अतः वहाँ भी अद्वैत श्रुति आश्रय नहीं पा सकती है। यदि वादी ऐसा मानता है, तो यह मानना युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त रीति से विषयी बुद्धियों को विषय से भेद की अनुमिति होने पर भी विषयों को बुद्धि से भेद की अनुमिति नहीं होने के कारण विषयों के बुद्धि के साथ अभेद का बोध कराती हुई श्रुति सर्वाभेद के बोध द्वारा उस अनुमान को भी निरवकाश करेगी। यदि कहा जाय कि विषयी (बुद्धि) और विषयों के मिथः (परस्पर) भेदरूप साध्यविषयक हेतु का भी पर्यनुयोग (अन्वेषण = विचार) किया जायगा जिससे श्रुति अनुमिति को अनवकाश नहीं कर सकती है। तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विषयी और विषय दोनों को पक्ष करके परस्पर भेद को साध्य मानने पर, विषयित्व (बुद्धित्व) को हेतु कहा जाय तो उसकी बुद्धि में असिद्धि होगी, विषयत्व को हेतु कहा जाय तो उसकी बुद्धि में असिद्धि होगी प्रमेयत्वादि व्यभिचारी होंगे, अतः यह अनुमिति नहीं हो सकती है। यदि बुद्धिविषयाऽन्यतरत्वादि उभयवृत्ति हेतु माना भी जाय तो भी तत्तत् बुद्धि और विषय की अनुमिति होने पर भी, अर्थात् अपने-अपने विषयिविषय के परस्पर भेद सिद्ध होने पर भी अन्य विषय के साथ बुद्धि-भेद के अनुमिति से गृहीत नहीं होने के कारण, अन्य बुद्धि और अन्य विषयों में बाधरहित श्रुति, एक बुद्धि के विषय के साथ अन्य बुद्धि के अभेद को, तथा अन्य बुद्धि के विषय के साथ एक (प्रथम) बुद्धि के अभेद को बोध कराने के लिये प्रवृत्त होती हुई सर्वाभेद में ही स्थिर होगी॥ १४॥

आगे प्रकारान्तर से भेद बुद्धि द्वारा अद्वैत श्रुति के बाध की शंका पूर्वक अद्वैत का निरूपण है कि—

नच शक्यमनुमातुं-सर्वस्या बुद्धेर्विषयात्सर्वा बुद्धिर्भिन्नेति, मा भूदन्यबुद्धिविषयादात्मनोपि बुद्धिर्भिन्नेति। नचात्मव्यतिरिक्तादित्युक्ते निस्तारः स्यात्, अद्वैतवादिनः सर्वाभेदमिच्छतः क्वचिदपि तदसिद्ध्या विशेषणाऽप्रसिद्धेरिति। एतेन सर्वं भिन्नम्—इति वाक्येन, विना बाधं स्वतः प्रमाणेन,

सत्प्रतिशब्दा सेयमद्वैतश्रुतिरित्यप्यनवकाशं प्रत्यवस्थानं मन्तव्यं, यस्मात् कस्मादपि भेदेमिथ्यातः सत्यभेदोपगमेन सिद्धसाधनात् ॥ १५ ॥

ननु सर्वा बुद्धयः सर्वबुद्धिविषयेभ्यो भिन्ना, बुद्धित्वात्, सर्वे विषयाः सर्वबुद्धिभ्यो भिन्ना, विषयत्वादिति परस्परं बुद्धिविषययोर्भेदसिद्धौ न श्रुतेरवकाश इत्यत आह—नचेति। तत्र किं स्वव्यतिरिक्ताद्विषयाद्भिन्नेति साध्यते? विषयमात्राद्वा—इति विकल्प्य द्वितीयं दूषयति—मा भूदिति। बाधं व्युदस्य सत्प्रतिपक्षं व्युदस्यति—एतेनेति। यद्यपि लौकिकवाक्यात् श्रुतेरेव बलवत्त्वमिति न तेन प्रतिरोधः तथापि वाक्यार्थे श्रुतितात्पर्यग्रहे सति तथा, नतु तात्पर्याग्रहदशायामपि तद्बलवत्तेति भावः। यस्मादिति। यद्यपि मिथ्यात् इत्यलीकं, तच्च न भेदप्रतियोगि, तथापि मिथ्यासत्यभेदव्यवहारस्त्वयाप्यनुरुध्यते इति भावः। सिद्धसाधनादिति। मिथ्याप्रतियोगिभेदबोधकलौकिकवाक्येन सत्यसकलाऽभेदबोधकश्रुतेः सामञ्जस्यादित्यर्थः॥ १५ ॥

सब बुद्धि के विषय से सब बुद्धि बुद्धित्व के कारण भिन्न है, ऐसा अनुमान किया जायगा जिससे एक बुद्धि के विषय के साथ बुद्ध्यन्तर के अभेद को भी श्रुति नहीं कह सकेगी, यदि ऐसी शंका हो तो इसका समाधान यह है कि उक्त अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुव्यवसायात्मक बुद्धि का विषय व्यवसायात्मक बुद्धि भी होता है। वहाँ बुद्धि के विषय सबसे बुद्धि को भिन्न मानने पर अनुव्यवसाय का विषय व्यवसाय अपनी आत्मा से भी भिन्नता को प्राप्त होगी, अर्थात् बुद्धि नहीं कही जायगी, तथा ईश्वर की बुद्धि के विषय हो कर सब बुद्धि बुद्धित्व से रहित हो जायगी; अतः उक्त अनुमान नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि बुद्धि अपनी आत्मा (स्वरूप) से भिन्न सब विषयों से बुद्धित्व के कारण भिन्न है, तो दोषों से निस्तार नहीं है, क्योंकि यदि यह आपका स्वार्थानुमान है तो सिद्धसाधन दोष है। और यदि अद्वैतवादी के प्रति परार्थानुमान है तो विशेषणासिद्धि दोष है, क्योंकि बुद्धि का आत्मा से व्यतिरेक (भेद) अद्वैतवादी नहीं मानता है।

उक्तरीति से अद्वैत श्रुति के बाध का निषेध करके सत्प्रतिपक्ष (विरोधीपक्ष) का निषेध किया गया है कि इस पूर्वोक्त सिद्धसाधनादि दोष से ही वक्ष्यमाण प्रत्यवस्थान (प्रतिपक्ष) का यहाँ अनवकाश समझना चाहिये। प्रत्यवस्थान यह है कि बाध के बिना (बाधरहित) सर्वं भिन्नम् , सब वस्तु भिन्न हैं, स्वतः प्रमाणरूप (श्रुतितुल्य) इस वाक्य से यह प्रसिद्ध अद्वैतश्रुति सत्प्रतिशब्दा सत्प्रतिपक्ष = विरोधी शब्द सहित है। अतः अद्वैत में प्रमाण नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि यदि जिस किसी से भी भेद में तात्पर्य हो तो सब मिथ्या से सत्यात्मा में भेद के स्वीकार से सिद्धसाधन दोष की प्राप्ति होने से यह प्रत्यवस्थान अयुक्त है। भाव यह है कि ब्रह्म मिथ्या नहीं है इस अनुभव से सिद्ध, मिथ्या घटादिप्रतियोगिक ब्रह्मनिष्ठ सत्य भेद प्रतीत होता है, और वह भेद शशशृङ्गादि अलीकप्रतियोगिक नहीं हो सकता, क्योंकि सत्यभेद की प्रतियोगिता अलीक में नहीं हो सकती है। अतः सर्वं भिन्नम् इसका यही अर्थ हो सकता है कि मायाशक्ति द्वारा सर्वस्वरूप भी ब्रह्म वस्तुतः सबसे भिन्न है। अद्वैतवादी का यह सिद्धान्त होने के कारण सिद्धसाधन होता है, प्रतिपक्ष नहीं। और ब्रह्म से सबको भिन्न सत्य कहा जाय तो उसका अद्वैत श्रुति से बाध होता है, और सत्याद्वैत बोधक श्रुति का

मिथ्या भेद से वा भेदबोधक वाक्य से विरोध नहीं हैं। अत एव तात्कालिक मिथ्याभेद बोधक प्रत्यक्षादि के विषय को प्रत्यक्षादि की चरितार्थता के लिये त्याग कर अन्यत्र त्रैकालिकाऽभेद को श्रुति समझाती है, यह तात्पर्य है ॥ १५ ॥

उक्त रीति से लौकिक वाक्य मूलक प्रतिपक्ष के समाधान करने पर, यदि फिर भी अनुमानमूलकप्रतिपक्ष हो कि 'सर्वस्मात् सर्वं भिन्नं पदार्थत्वात्' पदार्थ (पदवाच्य) होने से घटादि के समान सबसे भिन्न (सत्यभेदयुक्त) सब हैं, अतः श्रुति को अविरोध नहीं हो सकता है इत्यादि, तो इसका आगे समाधान किया गया है कि—

सर्वस्मादिति स्वतोऽप्यापत्तेः; स्वव्यतिरिक्तादिति चाद्वैतवादिन्यव्यवच्छेदकम्। तदेवम्—

हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारऽद्वयश्रुतेः ॥ ९ ॥

अत एव च—

आद्यधीवेद्यभेदीयाऽप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥ १० ॥ १६ ॥

ननु सर्वस्मात्सर्वं भिन्नमित्युक्ते क्व सामञ्जस्यमित्यत आह—सर्वस्मादिति। तस्यापि सर्वपदार्थान्तर्गतत्वादित्यर्थः। यद्यपि ब्रह्मणो यतः कुतश्चिदद्वैतसाधने स्वस्मादेव तत्सिद्धौ सिद्धसाधनं सर्वस्मादद्वैतसाधने मिथ्यातोऽप्यद्वैतसिद्धिप्रसङ्गः, तथापि स्वसाक्षिकमेव ब्रह्मेत्येव हृदयम्। हेत्वादीति। आदिपदेन दृष्टान्तोपग्रहः। सर्वपक्षीकरणं सार्वज्ञ्यमन्तरेणानुपपन्नमित्यर्थः। आस्थिते=स्वीकृते। एतद्दोषद्वयभयेन यदि पश्चात् किंचिद्बहिर्भाव्यं तदा श्रुतिप्रवेशे तदेव द्वारं स्यात्तत्रैव सावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वैतं बोधयिष्यतीत्यर्थः। आद्येति। आद्याधीः=घटपटौ भिन्नाविति भेदधीः, तद्वेद्यो यो भेदो=घटपटभेदः, तदीयान्यथानुपपन्नता=तदन्यथानुपपत्तिः, सापि शेषं गत्वा नाद्वयश्रुतिं बाधते, कुतः ? स्वज्ञानापेक्षणात्, तथाचानुपपत्तिज्ञाने सावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वैतपर्यवसन्ना स्यादित्यर्थः। यद्यप्यन्यथानुपपत्तिज्ञाने त्वयोपानीय दत्ते तदेव तद्भेदग्रह इति न श्रुतेरवकाशः, यदि सर्वं भिन्नं स्यात्तदा घटपटौ भिन्नाविति प्रत्यक्षेण गृहीतो घटपटयोरपि भेदो न स्यादित्यनुपपत्तिज्ञानेन सकृद्बाधिता श्रुतिस्तत्रापि न सावकाशा, तथापि 'तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वे'त्यत्र तात्पर्यम् ॥ १६ ॥

यदि सबसे सबके भेद का अनुमान किया जाय, सबसे सबका भेद कहा जाय, तो सब के अन्तर्गत सर्वात्मा (स्वरूप) के भी होने से स्वस्वरूप से भी भेद की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि स्वव्यतिरिक्त (आत्मभिन्न) सबसे सब भिन्न हैं, तो अद्वैतवादी के प्रति आत्मभिन्न किसी का व्यवच्छेदक (भिन्नरूप से बोधक) नहीं होगा, क्योंकि अद्वैतवाद में सर्वात्मा ब्रह्म से भिन्न सत्य वस्तु अप्रसिद्ध है। अतः उक्त रीति से सब को पक्ष करके भेद का अनुमान करने से पक्ष से भिन्न हेतु दृष्टान्त के अभाव की प्राप्ति होती है। और अनुमानकर्ता में सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है, क्योंकि सर्वपदार्थरूप पक्ष के ज्ञान बिना उसमें भेद प्रतियोगित्वानुयोगित्व को भी वह नहीं समझ सकता है। और प्रतियोगित्वादि के ज्ञान के बिना अनुमान नहीं हो सकता है। अतः सबको पक्षरूप से आस्थित = स्वीकार करने पर सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। और किसी को पक्ष के अन्तर्गत

नहीं करने पर, (पक्ष से भिन्न समझने पर) वही सर्वपद का अवाच्य त्यक्तवस्तु अद्वैतश्रुति को सर्वाद्वैतबोधन में द्वार दत्त (प्राप्त) होगी । अर्थात् सर्वपद का अवाच्य ब्रह्म ही सबका अद्वैत आत्मा सिद्ध होगा । अत एव, वाक्य, प्रत्यक्ष, तथा अनुमान से अद्वैतश्रुति का बाध नहीं होने से ही प्रत्यक्षादिमूलकअर्थापत्ति-रूप 'आद्यधी' घटपट भेदज्ञान का (वेद्य) विषय जो भेद उसकी अद्वैतश्रुति के बाध के बिना, अनुपपन्नता भी अद्वैतश्रुति को नहीं बाध ककती है । अर्थात् सर्वा-द्वैतबोधकअद्वैतश्रुति के बाध के बिना सर्वप्रत्यक्ष भेद की अनुपपत्ति से भी श्रुति स्वविषय में बाधित नहीं हो सकती है । क्योंकि वह अनुपपत्ति बाध में स्वज्ञान की अपेक्षा करती है अर्थात् अज्ञात रहने पर स्वरूप से अनुपपत्ति बाधक नहीं हो सकती है, किन्तु ज्ञात होकर बाधक हो सकती है । अतः घटपट के अभेद में अनुपत्ति से बाधित अद्वैतश्रुति. अनुपपत्ति और उसके ज्ञान के अभेद बोधन में अबाधित रहने के कारण अन्त में उन दोनों के अभेद के बोधन द्वारा सर्वाभेद का बोध करायगी ॥ १६ ॥

अद्वैतज्ञान के बाध का खण्डन करके अद्वैतश्रुति में अयोग्यता के ज्ञान से अद्वैत ज्ञान की अनुत्पत्ति की शंका करके उसका खण्डन किया जाता है कि—

न च संस्कारारूढदृढान्वयव्यतिरेकान्वयव्यतिरेकान्वयप्रतिपत्त्युत्पत्ति-प्रतिबन्धः शक्यशङ्कः । यत :—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥ ११ ॥
असंसर्गाग्रहस्यापि मन्ता शंसत्यबाधिते ।
अत्यन्ताऽसदसंसर्गाग्रहं संसर्गलग्नकम् ॥ १२ ॥ १७ ॥

उत्पन्नश्रौताद्वैतधीबाधं निरस्याऽयोग्यताज्ञानात्तदुत्पत्तिप्रतिबन्धं निरस्यति—नचेति । भूयोदर्शनप्रभवसंस्कारारूढोन्वयः=सत्त्वं, यस्य व्यतिरेकस्य=भेदस्य, तस्य यावन्वयव्यति-रेकौ, ताभ्यां योन्वयः=संबन्धो व्याप्तिलक्षणो--यो घटादिः स पटादेर्भिन्नो यः पटादिर्नासौ घटादिरित्येवमाकारः, तेन व्याप्तिप्रत्ययेन प्रतिपत्तेरद्वैतबुद्धेरूत्पत्तिप्रतिबन्धो न शक्यशङ्क इत्यर्थः । यद्वा, संस्कारारूढोऽत एव दृढान्वयो=दृढप्रदो, यो व्यतिरेको=भेदस्तस्यान्वयो भिन्नमिदमिति ज्ञानं, व्यतिरेकश्चाऽभिन्नमिति निश्चयस्ताभ्यामन्वयप्रतीतेः=श्रौतसंसर्ग-प्रतीतेरूत्पत्तिप्रतिबन्धो न शक्यशङ्क इत्यर्थः । सर्वलोकप्रसिद्धभेदप्रमाबलादद्वैतश्रुत्या संसर्गबोध एव न संभवत्ययोग्यतानिश्चयादिति भावः । यद्यपि यत्रकचिदुत्पन्नं भेदप्रत्य-क्षमेव सर्वाद्वैतप्रतिपादकश्रुतिबाधकमतोत्र श्रौतप्रतिपत्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धः शक्यशङ्क एव, तथाप्युत्पत्तिप्रतिरोधेपि स्वप्रकाशप्रामाण्यावष्टम्भादिदमुक्तम् । अङ्गुल्यग्रे करिशतं विहरति, मम कर्णकुहरं प्रविश्य सिंहः क्रीडतीत्यादिशब्दादुत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यानुभवसिद्धतया शाब्दज्ञाने योग्यताज्ञानस्यायोग्यताज्ञानविरहस्य वा न जनकत्वं, किंतु ज्ञानमुत्पद्यमानं विषयबाधादप्रमाणतया, तदबाधात् प्रमाणतया, व्यवहर्तुमुचितं, प्रकृते च विषयबाधो नास्त्यवेत्याशयवानाह—अत्यन्तेति । प्रमामत्र, करोतीत्यनुषज्यते । प्रत्यक्षादिबाधस्त्वा-शङ्क्य निरस्त एवेति भावः । ननु अयोग्यतास्थले संसर्गज्ञानं नोत्पद्यते, व्यवहारस्त्वसंस-र्गाग्रहमात्राधीन इत्यत आह—असंसर्गाग्रहस्येति । असंसर्गाग्रहस्य मन्ता मीमांसकः, स चात्यन्तमसन्नऽसंसर्गः सत्यस्थले, तस्याऽग्रहो यत्र तत्र तु संसर्गप्रामामेव मन्यते, तथाच तन्मतेऽप्यद्वैतश्रुत्या संसर्गप्रमैव जननीया, विषयाऽबाधादित्यर्थः । सदसंसर्गा-ग्रहस्तत्र नास्त्येव, विषयबाधस्य निरस्तत्वादिति भावः ॥ १७ ॥

घटपटादि के बार-बार भेददर्शन जन्य संस्कार में आरूढ़ (स्थिर) है दृढ़ अन्वय (सम्बन्ध) जिसका ऐसा जो व्यतिरेक (भेद) उसके अन्वय और व्यतिरेक (अभाव और भाव) उभय के सत्त्व से, सर्वत्र अन्वय (अभेद) की प्रतिपत्ति श्रुति से भी नहीं हो सकती है, क्योंकि जैसे (अग्निना सिंचति) अग्नि से वृक्ष का सेचन करता है, यह वाक्य स्वार्थ के बोधन में अयोग्य होता है, वैसे ही स्वरूप से अभिन्न पर से भिन्न तथा भाव अभाव सब को अभिन्न समझाने वाली श्रुति भी स्वार्थ के बोध कराने में अयोग्य है। और योग्यता भी वाक्यार्थ (संसर्ग) के बोध कराने में कारण होती है। इस प्रकार यदि कोई अन्वय प्रतिपत्ति, अभेदज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्ध (अभाव) की शंका करे, तो वह शंका करने योग्य नहीं है। अत्यन्त असत् शशशृङ्गादि अर्थ विषयक भी प्रथम शब्द ज्ञान को उत्पन्न कराता है। परन्तु पश्चात् बाध से वह ज्ञान भ्रम रूप सिद्ध होता है। और अबाध से तो यहाँ (अद्वैत विषयक) स्वतः प्रामाण्य से निश्चल प्रमा को शब्द उत्पन्न करता है। अर्थात् भेदाभेद भावा भावादि भेद के मिथ्या होने से सत्याद्वैत के बोधन में श्रुति अयोग्य नहीं है। इससे (सदेव) इत्यादि सदादि पदार्थों का अद्वितीय पद के साथ अभेद संसर्ग (सम्बन्ध) का श्रुति से बोध होता है ॥ ११ ॥ क्योंकि भ्रान्ति के स्थान में (इदं रजतम्) यहाँ इदं और रजत के असम्बन्ध के अज्ञान मूलक 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को मानने वाले मीमांसक भी अबाधितप्रमाज्ञान के स्थान में पदार्थों के संसर्ग का कथन करते हैं। अतः अत्यन्त असत् के असंसर्ग के अग्रहण को और संसर्गलग्नक (संसर्ग युक्त) को भी मीमांसक कहते हैं। इससे शाब्दबोध में वस्तुतः सर्वत्र योग्यताज्ञान हेतु नहीं होता है, न अयोग्यताज्ञान प्रतिबन्धक होता है। किन्तु शब्द से ज्ञान अवश्य होता है। वहाँ बाध से अप्रमा का व्यवहार होता है। और अबाध से प्रमा का व्यवहार होता है इत्यादि ॥ १२ ॥ १७ ॥

उक्त रीति से श्रुति की स्वतः प्रमाणता से अद्वैतप्रमा की उत्पत्ति के मानने पर अनौचिती (अयुक्तता) रूप तर्क से अद्वैतश्रुति की अप्रमाणता की शंका होती है। क्योंकि प्रमाण के सहकारी रूप से वादी प्रतिवादी सब का तर्क मान्य होता है। अतः तर्क सहकृत प्रत्यक्षादि के बली होने के कारण श्रुति से भेदविषयकप्रत्यक्ष का बाध नहीं हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि—

> **अनौचित्यापि तर्केण दुर्बाधैवाद्वयश्रुतिः ।**
> **अनारोपितमूलत्वाद् बलवत्त्वादतादृशा ॥ १३ ॥**
> **प्रवृत्तेनाप्यनौचित्यमूलं येन न लूयते ।**
> **तत्राऽनौचित्यसाम्राज्यं वैपरीत्यात्तु नात्र तत् ॥ १४ ॥ १९ ॥**

नन्वनौचित्यऽविनिगमककल्पनालाघवकल्पनागौरवाणां तर्काणां, तर्कप्रतिरूपकाणां वा, प्रमाणसहकारित्वमुभयवादिसिद्धं, तथाचाऽनौचितीतर्कस्य सकललोकसिद्धभेदतिरस्काराऽनर्हत्वलक्षणस्य प्रकृते सत्त्वाद्भेदग्राहिप्रत्यक्षमेव बलीयो, नत्वभेदविषया श्रुतिरित्यत आह—'अनौचित्ये'ति। तर्कस्याहार्यारोपरूपतया तदपेक्षया श्रुतेरनारोपितमूलाया बलवत्त्वमिति तर्कापष्टब्धप्रमाणापेक्षयापि तथेत्यर्थः। अतादृशा आरोपितमूले-

नेत्यर्थः । केचित्तूद्भावितनिग्रहस्यानेनैवोद्भावितनिग्रहस्यानपरिहारोऽनौचितीतर्कः श्रुतेर्बाधकः स्यादित्याशङ्काभाग इत्याहुः । तच्चिन्त्यम् । नन्वेवमनौचित्यतर्को नास्त्येव, तथाच 'दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने' इत्याद्यग्रे यदुक्तं तदनुपपन्नं स्यादित्यतः सदसदनौचित्ययोर्विषयं विवेचयति । प्रवृत्तेनापीति । अनौचित्यमूलं हि–भेदस्य सर्वजनसिद्धत्वं, तच्च श्रुत्या पारमार्थिकमद्वैतं बोधयन्त्या मूलं व्यावहारिकभेदपरं कृतं, तथाचापारमार्थिकभेदमादाय सर्वलोकसिद्धव्यवहारोपपत्तौ नाऽनौचित्यमिति भावः । 'अनौचित्यमूलं व्याप्यव्यापकभावः, तस्य खण्डनमद्वैतश्रुत्ये'त्यपव्याख्यानम्, अनौचित्यस्य व्याप्यव्यापकभावमादायाऽप्रवृत्तः, तत्प्रवृत्तौ वा तत्परत्वं सर्वानौचित्यखण्डने खण्डनकारस्याग्रे—'विषवृक्षोपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रत'मित्यादेरनवकाशापत्तेः । उद्भावितनिग्रहस्यानेने'त्यादिस्वोक्तविरोधाच्च ॥ १९ ॥

प्रत्यक्षादि सब लौकिक प्रमाणों से विरोधात्मक अनौचितीरूप तर्क से (तर्कसहकृत प्रत्यक्षादि) से भी अद्वैतश्रुति दुर्बाधा (बाध के अयोग्य) ही है । क्योंकि तर्क आरोपमूलक होता है । अर्थात् आहार्यारोपरूप (वस्तु के बाधकालिक कल्पनारूप) तर्क है । अतः अनारोपमूलकश्रुति के होने से, तर्क से और तर्कयुक्त प्रमाण से भी (अतादृश) आरोपमूलक से श्रुति बलवती है, अतः तर्क वा तर्कयुक्त प्रमाणों से श्रुति का बाध नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ यदि कहा जाय कि इस प्रकार तर्कयुक्त प्रमाण से भी श्रुति के बाध नहीं होने पर तर्क की व्यर्थता प्राप्त होगी और इसकी सार्थकता मानी गई है, उससे विरोध होगा, तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ अपने विषय में प्रवृत्त जिस प्रमाण से अनौचित्य के मूल (विरुद्ध व्याप्यव्यापकभाव) विनष्ट नहीं किया जाता है, वहाँ अनौचित्य तर्क का साम्राज्य रहता है । और अद्वैतश्रुति तो अनौचित्य के मूल को खण्डन करती हुई अद्वैत का बोधक होती है । अर्थात् भेद में सर्वजनसिद्धत्व अनौचित्य (अद्वैत से विरुद्ध) है । वहां पारमार्थिक सत्याद्वैत का बोध कराती हुई श्रुति, तर्कादि को व्यावहारिकभेदपरक सिद्ध कर देती है, जिससे व्यावहारिकभेद के द्वारा लोकव्यवहार की सिद्धि से अनुपपत्तिआदिरूप तर्क का मूल ही नहीं रह जाता है, ॥ १४ ॥ १८ ॥

बाध्य-बाधकबुद्धिगत भेद के, तथा बाधकबुद्धिगत स्वविषय भेद के किसी प्रमाण के द्वारा अग्रहण से उनके अभेद को समझाती हुई अद्वैतश्रुति सबके अभेद को समझा सकती है, इस वर्णित अर्थ को ही फिर विस्तार से वर्णन के लिये शंका की गई है कि—

ननु यद्यदेवोदाह्रियते त्वया–नैत इतोऽस्य भेदो गृहीत इति ततोऽस्याद्वैताम्नायैरभेदबोधने तद्द्वारा सर्वाभेदे पर्यवसातव्यम्–इति, ततस्ततस्तस्य भेदस्तदैव गृह्यते मया, तस्मादुदाह्रियमाणतायामनुदाह्रियमाणतायां च कस्यचिदेतत्प्रत्यवस्थानमस्थाने इति । मैवम् । अन्तिमबुद्धेरद्वैतश्रुतिजबुद्ध्यादेतो भेदो न त्वया प्रमित–इति मयोच्यमाने यस्तदीयस्ततो भेदः प्रमातव्यः स न तावत् प्रत्यक्षेण, तत्कालमन्तिमबुद्धेरनुपस्थितेः । यदि च केनचिद्धेतुना वा कयाचिदनुपपत्त्या वा तथा स्यात् तदानीमद्वैतवादिनं प्रति हेतोः

साध्याऽविशिष्टतया अनुपपत्तेश्च येन विना सा तद्विशिष्टतया, ततः कथमाभासात् प्रमोदयः स्यात् ॥ २० ॥

सिंहावलोकितन्यायेन शङ्कते—'नन्वि'ति । कस्यचिद्वस्तुनोऽनुदाह्रियमाणतायां श्रुतिव्यवस्थापनानवकाशः, उदाह्रियमाणतायां च भेदग्रहापत्तिरिति प्रत्यवस्थानं खण्डनमस्थानेऽयुक्तमित्यर्थः ॥ मयोदाह्रियमाणाया अन्तिमबुद्धेः प्रत्यक्षादिना केनापि प्रमाणेन कथायां भेदः साधयितुमशक्य इति परिहरति—'अन्तिमे'ति । यद्यप्यन्तिमबुद्धेरुदाहरणेऽन्तिमत्वव्याघातो, ऽनुदाहरणे श्रुत्यव्यवस्थापनं, मानसप्रत्यक्षेण ततो भेदग्रहश्च तदुदाहरणे, वाक्यजज्ञानसहकृतस्य मनसो बहिरपि प्रवृत्तेः, कविवाक्यवत्, तथापि तस्य प्रमाणान्तरत्वापत्तिः; न वा तादृशप्रत्यक्षे प्रमाणं, तादृशमानसप्रत्यक्षेण सह भेदाग्रहात्तत्रैव श्रुतिप्रवृत्तिरिति भावः । ननु प्रत्यक्षाभावेप्यनुमानमर्थापत्तिर्वा स्यादित्यत आह—'यदि चे'ति । हेतुना = बुद्धित्वादिना । अनुपपत्त्या = प्रथमगृहीतभेदान्यथानुपपत्त्या । अनुमानपक्षे—'हेतोरि'ति । अर्थापत्तिपक्षे—'येन विने'ति । अनुमानस्यार्थापत्तेर्वा भेदमादाय प्रवृत्तेरद्वैतवादिनं प्रति तदुपन्यासानवकाशादिति भावः ॥ २० ॥

आप अद्वैतवादी जो-जो उदाहरण (दृष्टान्त) देते हैं और कहते हैं कि घटपट भिन्न हैं, इस बुद्धि = (ज्ञान) का भेद इस बुद्धि से गृहीत (ज्ञात) नहीं होता है तथा अन्तिम बुद्धि का स्वविषय उपान्त्य बुद्धि से भेद अन्तिम बुद्धि द्वारा गृहीत नहीं होता है, अतः इस भेदग्राहक बुद्धि आदि के अपने विषयादि के साथ अभेद के बोधन द्वारा सबके अभेद के बोधन में अद्वैतबोधक श्रुतियाँ पर्यवसन्न (स्थिर) होंगी । परन्तु उन-उन उदाहृत भेद बुद्धि तथा अन्तिम बुद्धि से जो उनके विषयों में भेद हैं वे उनके उदाहरण देने काल में ही मुझ भेदवादी से गृहीत हो जाते हैं । अतः भेदाग्रहण का कोई उदाहरण देने पर वहाँ मुझसे भेद का ग्रहण होता है । और किसी वस्तु के उदाहरण नहीं देने (नहीं कहने) पर श्रुति का व्यवस्थापन (विषयप्रदर्शन) नहीं होता है । इसलिये यह प्रत्यवस्थान (भेद का खण्डन) अस्थाने (अयुक्त) है ।

उत्तर यह है कि यह शंका ही युक्त नहीं है, क्योंकि अन्तिम बुद्धि के साथ अद्वैतश्रुतिजन्य बुद्धि के भेद को आपने किसी प्रमाण से नहीं जाना है, इस प्रकार भेदाग्रह के उदाहरण मुझसे दिया जाय, तो जो तदीय अन्तिम बुद्धि का अद्वैतबुद्धि से भेद है, उसे आप को प्रमाण से समझना होगा । प्रतिज्ञा मात्र से भेद सिद्ध नहीं हो सकता है । और वह अन्तिम बुद्धि का भेद प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेय नहीं हो सकता, क्योंकि कथा के अन्त में होनेवाली अन्तिम बुद्धि कथा के प्रारम्भ काल में नहीं रहती है । और प्रत्यक्षप्रमाण वर्तमानविषयक होता है । और यदि किसी हेतु वा किसी अनुपपत्ति (अर्थापत्ति) प्रमाण से अन्तिम बुद्धि का भेद ज्ञात हो, तो अद्वैतवादी के प्रति उस हेतु के (साध्याविशिष्ट) साध्यतुल्य असिद्ध होने से, तथा अर्थापत्ति (व्यवहार) जिस भेद के बिना अनुपपन्न है, उसके तुल्य मिथ्या होने से, उस आभास (प्रमाणाभास) से प्रमा कैसे उत्पन्न होगी ? अनुमान वा अर्थापत्ति की प्रवृत्ति भेद को ग्रहण करके ही होती है, अतः अद्वैतवादी के प्रति अनुमानादि का कथन अयुक्त है इत्यादि भाव है ॥ २० ॥

फिर भेदवादी कहता है कि मैं अनुमान या अर्थापत्ति का कथन अद्वैतवादी के प्रति नहीं करता हूँ। किन्तु स्वयं ही अन्तिम बुद्धि के साथ अन्य के भेद का अनुमान करता हूँ इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि—

नच वाच्यं स्वयं मया स भेदो ज्ञायते इति नास्ति पाक्षिकोपि मां प्रत्यसिद्ध्यादिरिति, यतोऽस्य त्वद्वचनस्य वैयर्थ्यापत्तिः, वचनस्य परार्थत्वात्। मौनमवलम्ब्यावतिष्ठमानश्च भवानऽप्रतिभातो न मुच्यते। नच स्वयं मया प्रमितो भेदः परं प्रति वचसा केवलं बोध्यते इति वाच्यम्, त्वद्वचसि परस्याप्रत्ययात्। विजिगीषुं परं प्रति विजिगीष्वन्तरवचनं हि तत्रार्थे तज्जिज्ञासोत्पादनद्वारेण तस्य स्वतस्तदर्थप्रमित्युत्पादनपर्यवसायितयोपयुक्तम्, नचाद्वैतवादिनं प्रति तथा कर्तुं शक्यते, तं प्रत्यन्यतरासिद्धेरुक्तत्वात्। नच वाच्यं मम वचनात्सन्देहेनापि श्रुत्या तत्र सन्दिग्धबाधितभावया नाभेदप्रतिपादनं ते घटते इति, यस्मादद्वैतं मन्यमानेन भेदासिद्ध्या सर्वत्र साध्याऽविशेषादिदोषप्रतिसन्धायिना संशयस्याप्यनवकाशीकरणमेव स्यात्॥ २१॥

अनुमानमर्थापत्तिर्वा नाद्वैतवादिनं प्रत्युपन्यस्यते, किं तर्हि, स्वत एवान्तिमबुद्ध्या सहभेदोऽनुमीयते इति ब्रूम इत्याशङ्क्य परिहरति—'नच वाच्यमि'ति॥ 'अस्ये'ति। स्वयं मया स भेदो ज्ञेय इत्यस्येत्यर्थः॥ वैयर्थ्ये हेतुमाह। 'वचनस्ये'ति। परस्य चाद्वैतवादिनये ऽभावादिति भावः। यद्यपि यथाऽद्वैतवादिनं प्रत्यनुमानमनवकाशं तथा भेदवादिनं प्रति शतशः पठ्यमानाप्यद्वैतश्रुतिरनवकाशा, तेन सर्वत्र भेदग्रहात्। क्वचित्प्रत्यक्षतः, क्वचिदनुमानात्, क्वचिदागमाद्, अर्थापत्तेर्वा तस्य यथायथं भेदग्रहसंभवात्। 'मया तावदद्वैतश्रुतिभिरद्वैतं प्रतिपाद्यते'—इत्यपि त्वद्वचनं भेदवादिनं प्रत्यनवकाशमेव। नहि यस्य तादृशश्रुत्यर्थेऽश्रद्धा, तस्य त्वद्वचसि श्रद्धा। भेदप्रतिपादकप्रत्यक्षाद्याभासीकरणमपि तं प्रत्यतन्त्रं, तेन स्वनयेन सर्वसामञ्जस्यकरणात्; तथापि स्वप्रकाशेऽद्वैते तात्पर्यम्। ननु मद्वचनेन निर्णयस्तव मा भूत् संशयोपि स्यादेव, तावतैव श्रुतिरनवकाशेत्यत आह। नच वाच्यमि'ति। प्रत्यक्षादौ बाधकमाने खण्डिते श्रुतिलक्षणसाधकप्रमाणे च सति बाधकसाधकमानाभावलक्षणायां संशययोग्यतायां निरस्तायां संशय एव नास्ति, भवन्वा न स प्रमाणपरिपन्थीति भावः। यद्वा, श्रुतिपरिपन्थिना केनचित्प्रमाणाभासेनापि यदि द्वैतमुपस्थाप्येत तदा संशयः स्यात्, तच्च नास्त्येव, प्रत्यक्षस्य निरस्तत्वात्; अनुमानादेः साध्याऽविशेषादिदोषग्रस्तत्वात्; अन्ततो भेदाभावेन तद्घटितविरोधाभावेन विरुद्धनानाकोटिकस्य संशयस्याप्यद्वैतवादिनं प्रत्यनवकाशादित्यर्थः॥ २१॥

यदि कहा जाय कि मैं स्वयं दृश्यता में सत्यता की व्याप्ति आदि से भेद को सत्य समझता हूँ। अतः पारमार्थिक भेद के अनुमान में जैसे पाक्षिक असिद्धि आदि दोष होते हैं वैसे पाक्षिक भी असिद्धि आदि दोष मेरे प्रति नहीं प्राप्त हो सकते हैं। तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि स्वार्थानुमान में (स्वयं मुझे भेद समझना है) इत्यादि आप के वचन की व्यर्थता प्राप्त होगी। वचन परार्थ ही होते हैं। यदि कथाकाल में स्वयं भेद का अनुमान करके और मौन का आश्रयण करके स्थिर होंगे तो अप्रतिभारूप निग्रहस्थानात्मक दोष से मुक्त (रहित) आप नहीं होंगे। यदि कहा जाय कि मैं स्वयं भेद को प्रमाण से समझ लिया हूँ। दूसरे के प्रति केवल वचन से समझाता हूँ। परार्था-

नुमान का प्रयोग नहीं करता हूँ जिसमें हेतु आदि की असिद्धि प्राप्त हो तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आपके वचन में अन्य को विश्वास नहीं है। और श्रुति तो सब आस्तिक के लिये विश्वासार्ह है, और उससे बोधित अद्वैततत्त्व स्वयं प्रकाश है। यद्यपि किसी अन्य विजय की इच्छावाले के प्रति दूसरे विजिगीषु का वचन, उस वचनार्थ विषयक जिज्ञासा के उत्पादन द्वारा उस जिज्ञासु की स्वयं प्रमा की उत्पत्ति के हेतु होने से उपयुक्त (सार्थक वचन) होता है। जैसे नैयायिक के शब्दविषयक अनित्य वचन को सुन कर जिज्ञासापूर्वक विचार से मीमांसक शब्द को अनित्य समझता हो, वहाँ नैयायिक का वचन सार्थक होता है। तथापि अद्वैतवादी के प्रति वैसा भी नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वचन से भी हेतु आदि के बोधन द्वारा विजिगीषु समझाया जाता है। और उस अद्वैतवादी के प्रति हेतु आदि की अन्यतराऽसिद्धि कही जा चुकी है कि सर्वाद्वैतवादी के प्रति सत्य हेतु आदि असिद्ध हैं।

यदि कहा जाय कि मेरे वचन में विश्वासादि के अभाव से भेद का निश्चय नहीं होने पर भी वचन द्वारा संशय के होने पर उक्त अद्वैत अर्थ में संदिग्धबाधितभाव (तात्पर्य) वाली श्रुति द्वारा आपका अद्वैत का प्रतिपादन संघटित (युक्त) नहीं होगा, तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि अद्वैत को माननेवाले, और सब हेतुओं में साध्यतुल्यता आदि दोषों के चिन्तन करनेवाले मेरे लिये भेद की असिद्धि के कारण संशय का सर्वथा अभाव ही सिद्ध होगा, और है। अर्थात् श्रुति के विरोधी कोई प्रमाण हों तो संशय हो सकता है। और व्यावहारिक भेद में सब चरितार्थ हैं अतः पारमार्थिक अद्वैतबोधक श्रुति के विरोधी कोई प्रमाण नहीं है ॥ २१ ॥

सब प्रमाणों की अपेक्षा श्रुति की बलवत्ता से, तथा श्रुति के विषय की बलवत्ता से उनके वक्ता भी बलवान् होते हैं। इस आशय से कहते हैं कि—

तस्मात्—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥ १५ ॥

अपि च प्रतीयते तावदिदं सामान्यतो, यन्नाम किञ्चित्परश्चेतसा चिन्तयन्नस्तीति, किञ्चिद्वा विवक्षुरित्यादि; तत्र परस्य बुद्धिविषयो विवक्षाविषयो वा विशेषतो विनिगमनं विना नैव प्रतीयते, ततोन्तिमबुद्ध्यादिभेदो न भवता शक्यप्रमः, परेणतच्चिन्तनादेरपि संभवात्। स्वस्मात्स्वस्य भेदस्याभावात्। ततस्तत्र लब्धपदा कथमद्वैतश्रुतिर्विश्वाभेदे पर्यवस्यन्ती त्वया शक्यबाधा स्यात्। तस्मात्—

कथं सामान्यतो ज्ञाते नैव ज्ञाते विशेषतः।
पदरोधस्त्वया कर्तुं शक्यः स्याद्द्वयश्रुतेः ॥ १६ ॥ २२ ॥

सर्वप्रमाणापेक्षया श्रुतेर्बलवत्त्वेन तद्विषयस्य बलवत्त्वात्तद्वतो वादिनोपि बलवत्त्वमित्युपसंहरति। 'तस्मादि'ति। यत्र विषये प्रत्यक्षादिना भेदो दुर्ग्रहस्तत्र श्रुतेः प्रवृत्तिमाह। 'अपि चे'ति। परेण चिन्त्यमानस्य वस्तुनः (यतो भेदो ग्राह्यः) 'तदेव परेणेदानीं

चिन्त्यते' इति विशिष्यानवधारणाद्भेदो दुर्ग्रह इति तदेवश्रुतिविषय इत्यर्थः। यद्यप्यापाततस्ततो भेदाग्रहेपि अत्र क्रमेण भेदं गृहीत्वा श्रुतिरपसारणीया, नहि यदेकदा न गृह्यते तन्न कदापि गृह्यते, प्रवृत्तं वा प्रमाणं पश्चात्प्रवृत्तेन बलवता प्रमाणेन नाऽपसार्यते, परिचिन्त्यमानत्वावच्छेदेन) तत्रापि वा भेदः सुग्रह एव, वस्तुतस्तस्यान्त्यबुद्धित्वादित्यन्यदेतत्, तथापि श्रुतेरापाततस्तत्रावकाश इतिहृदयम् ॥ उक्तमर्थं संकलयति। 'कथमि'ति ॥ २२ ॥

उक्त हेतुओं से ब्रह्मरूप ही एक अस्त्र (परपक्षवारक) को लेकर, कहीं वाद, जल्प या वितण्डारूप कथा में अन्य वादी को नहीं गिनते हुए धीरवीर का युद्धरूप क्रीड़ाओं में भङ्ग (पराभव) नहीं होता है। जैसे एक ब्रह्मास्त्र को लेकर अश्वत्थामा आदि को नहीं गिननेवाले अर्जुन का भङ्ग नहीं हुआ ॥ १५ ॥

उक्त रीति से जहाँ भेद स्पष्ट भासता है, वहाँ बुद्धि और बुद्धिविषय के अभेद के बोधन द्वारा सर्वाभेद के बोधन में श्रुति की प्रवृत्ति कही गई है। जहाँ प्रत्यक्षादि से भेद का ग्रहण नहीं हो सकता है, वहाँ अद्वैत श्रुति की प्रवृत्ति कही जाती है। 'अपि च' इत्यादि से जहाँ सामान्यरूप से प्रथम यह प्रतीत होता है (मुख की प्रसन्नता आदि से समझा जाता है) कि जो यह अन्य मनुष्य मन से कुछ चिन्तन कर रहा है या कुछ कहना चाहता है, वहाँ उस परपुरुष के बुद्धि का विषय या विवक्षा का विषय पदार्थ विनिगमक (बोधक) हेतु के बिना विशेषरूप से समझा नहीं जा सकता है। और सर्वाऽभेदबोधकश्रुति अन्तिम बुद्धि आदि के उसके साथ अभेद का बोध करा सकती है। और आप उसके साथ अन्तिम बुद्धि आदि के भेद को नहीं समझ सकते हैं, क्योंकि वह अन्तिम बुद्धि आदि का भी चिन्तन कर सकता है, और अन्तिम बुद्धि आदि से अन्तिम बुद्धि आदि भिन्न नहीं हो सकते हैं। क्योंकि अपने से अपने भेद का अभाव रहता है। अतः वहाँ लब्ध (प्राप्त) स्थान (विषय) वाली अद्वैतश्रुति विश्व के अभेदबोधन में स्थिर होती हुई आप से बाध (निषेध) के योग्य कैसे हो सकती है ? अर्थात्—किसी प्रकार नहीं। उक्त अर्थ को ही श्लोक द्वारा संक्षेप से कहा गया है कि—सामान्यरूप से ज्ञात और विशेषरूप से अज्ञात (नहीं ज्ञात) परबुद्धि विषय में अद्वैतश्रुति के पद का निरोध (प्रवृत्ति का वारण) आप से कैसे किया जा सकता है ? किसी प्रकार नहीं ॥ १६ ॥ २२ ॥

जैसे साध्य साधनादि के भेदाधीन प्रवृत्त होनेवाले अनुमानादि की प्रवृत्ति अद्वैतवादी के प्रति नहीं हो सकती, वैसे ही पदपदार्थ की विचित्रता के अधीन होनेवाली श्रुति की प्रवृत्ति भी अद्वैतवाद में नहीं हो सकती, इस आशय से शंकापूर्वक समाधान है कि—

ननु भेदमनङ्गीकुर्वतो भवतः कथं तत्तत्पदपदार्थवैचित्रीव्यवहारो न व्याहन्यते। कथं व्याहन्यते, प्रतिवक्ष्यते हि तत्। किंच, योयं त्वया व्याघात आपादनीयः सोपि कस्माच्चिदापादकात्, नचापाद्यापादकमभिद्यमानमापत्त्यै प्रभवेदिति। तस्मात्—नानात्वमवलम्ब्यापि वदत्यद्वैतवादिनि।

असिद्धभेदाद्व्याघातः पतेदापादकात्कुतः ॥ १७ ॥ २३ ॥

ननु यथाऽनुमानादेः साध्यसाधनादिभेदाधीना प्रवृत्तिरित्यद्वैतवादिनं प्रति तदनवकाशस्तथा श्रुतेरपि पदपदार्थवैचित्र्यमुपजीव्यमिति तं प्रति तदनवकाशोऽपि, प्रत्युत तथा व्यवहरतो व्याघात एव तव, भेदव्यवहारान्यथानुपपत्त्या भेदसिद्धिरेवान्तत इत्याशङ्कते—'नन्वि'ति । परिहरति—'कथं व्याहन्यते' इति । आपाद्यापादकयोरभेदाद् व्याघातापादनं मां प्रत्यनवकाशमित्याह—'किंचे'ति । पदपदार्थनानात्वमवलम्ब्यापि श्रुतिं प्रमाणयतो मम व्याघातो नास्तीत्याह । 'नानात्वमि'ति । असिद्धभेदादापादकाव्याघातः कुतः पतेदित्यन्वयः ॥ २३ ॥

भेद को नहीं माननेवाले आप अद्वैतवादी को तत् तत् (भिन्न-भिन्न) पद और पदार्थों की विचित्रता (भेद) का व्यवहार (कथनादि) व्याघात (विरोधयुक्त) कैसे नहीं होगा ? अर्थात् भेदमूलकव्यवहार से भेद ही सिद्ध होगा, जिससे अभेद का व्याघात होगा । ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि व्यवहार की भेद के बिना अनुपपत्ति (असिद्धि) से व्यावहारिक भेद सिद्ध होता है, पारमार्थिक नहीं । अतः उससे पारमार्थिक अद्वैत (अभेद) (कथं व्याहन्यते) कैसे विरूद्ध (व्याहत) होता है, किसी प्रकार नहीं । और वह व्याघात आगे निराकृत (खण्डित) होगा । और जो यह व्याघात (विरोध=भावाभाव का समुच्चय) आप से अद्वैत वाद में आपादनीय (प्राप्त कराना) है । वह भी किसी आपादक (प्रापक) हेतु से हो सकता है, अन्यथा नहीं । और वह आपादक आपाद्य भेद से भिन्न हो, तो भेद को सिद्ध कर सकता है । भेद की सिद्धि बिना वह भिन्न नहीं हो सकता है । अभिन्नस्वरूप आपाद्य-आपादक आपत्ति के (दोष के) लिये नहीं हो सकते हैं । अभिन्न में आत्माश्रयता से आपाद्याऽऽपादक भाव नहीं हो सकता है । अतः व्यावहारिक नानात्व (भेद) का अवलम्बन (स्वीकार) करके वादादि व्यवहार करते हुए अद्वैतवादी में असिद्ध भेद वाले आपादक से व्याघात कैसे प्राप्त हो सकता है ? किसी प्रकार नहीं ॥ १७ ॥ २३ ॥

जिस भेद को विषय करता हुआ प्रत्यक्षादि प्रमाण श्रुति का बाधक समझा जाता है वह भेद ही पदार्थों से भिन्न सत्य वस्तु नहीं है । फिर बाध कैसे किससे हो सकता है, इत्यादि कहा जाता है कि—

इदमपि च विचारमर्हति, यदद्वैतश्रुतीनां बाधकमुपन्यस्यते प्रत्यक्षादि घटपटप्रभृतिभेदग्राहि तदपि कीदृश्यर्थे पर्यवस्यति ? तथाहि—प्रत्यक्षेण योऽसौ भेदो गृह्यते स किं स्वरूपभेदः किमन्योन्याभावः किं वैधर्म्यं किमन्यदेव वा । यदितावत् स्वरूपं भेदः, स नाम घटपटयोर्हि स्वरूपं यत्परस्परस्माद्भेदः तत्परस्परमनन्तर्भाव्य न संभवति, (भेदो हि भवन् कस्मादपिभवति अन्यथा 'स्वरूपं भेद'–इति पारिभाषिकं नाम स्यात्) यदा च घटाद्भेदः पटस्येत्येतावानेवार्थः पटादेः स्वरूपं प्रत्यक्षेण गृह्यते तदा घटोपि पटात्मन्येव प्रविष्ट इति घटपटयोरैक्यात्म्यमेव भेदग्राहिणा प्रत्यक्षेणावगाहितमिति विपरीतमापद्यते ॥ २४ ॥

यं भेदं विषयीकुर्वत् प्रत्यक्षादि श्रुतिबाधकं स्यात् स एव नास्ति कुतो बाध इत्याह । 'इदमि'ति ॥ 'यदि तावदि'ति । घटाद्भेदः स्वरूपं पटस्य, तत्र घटो विशेषणम् ? उप-

लक्षणं वा। आद्ये, घटभेदः पटस्वरूपं प्रत्यक्षेण गृहीतमिति घटाभेद एव प्रत्यक्षेण गृहीत इति वैपरीत्यमित्यर्थः॥ २४॥

यह वक्ष्यमाण वस्तु भी विचार के योग्य है कि घटपटादि के भेदग्राहक (बोधक) जो प्रत्यक्षादि प्रमाण अद्वैतश्रुतियों का बाधक कहा जाता है। वह प्रत्यक्षादि कैसे अर्थ-विषयक निश्चय कराता है। अर्थात् प्रत्यक्ष से जो वह भेद गृहीत (ज्ञात) होता है, वह क्या गुरु (प्राभाकर) मत के अनुसार वस्तु के स्वरुपात्मक ही रहता है, या नैयायिक के अनुसार अन्योन्याभावरूप भेद रहता है या किसी मीमांसक के अनुसार वैधर्म्य (विरोधी धर्म) रूप रहता है, या कोई अन्य (पृथक्त्व) गुणरूप रहता है। यदि प्रथम वर्णित पदार्थ के प्रसिद्ध स्वरूप को ही भेद माना जाय, तो घट पट का ही जो स्वरूप वह परस्पर से भेद सिद्ध होगा। वह परस्पर को अन्तर्भाव किये बिना सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि भेद होता हुआ किसी (प्रतियोगी) से ही सिद्ध होता है, 'अन्यथा' किसी अन्य (प्रतियोगी) के बिना स्वरूपमात्र भेद हो तो, स्वरूप, भेद, यह पारिभाषिक (संकेतसिद्ध) नाम होंगे। और जब घट से पट का भेद है, इतना ही अर्थ पटादि का स्वरूपात्मक भेद है। और वह प्रत्यक्ष से गृहीत (ज्ञात) होता है, तो घट भी पट के स्वरूप में ही प्रविष्ट हो गया। अतः घटपट की एकस्वरूपता ही भेदग्राहक प्रत्यक्ष से अनुभूत होने के कारण विपरीत ही प्राप्त होता है। भाव यह है कि विशेषणादि से भिन्न विशिष्ट पदार्थ नहीं होता है, किन्तु विशेषणादि स्वरूप ही विशिष्ट पदार्थ होता है। अतः घटानुयोगिक (घट का) भेदरूप पटात्मक वस्तु विशेषणात्मक घटस्वरूप ही सिद्ध होगा। अतः भेदग्राहक प्रत्यक्ष से भेद से विपरीत अभेद का ही ग्रहण होगा, भेद का नहीं॥ २४॥

घट से भेद ही पट का स्वरूप है, ऐसा कहने पर भी उक्त रीति से घट पट का अभेद प्रतीत नहीं होता है। यदि अभेद प्रतीत होता हो, तो भेदबोधक घट से, यह विशेषण व्यर्थ होगा। घटरूप ही पट है, ऐसा कहना उचित होगा इत्यादि आशय से प्रश्न है कि—

ननु यथेयं प्रतीतिरभेदोल्लेखितया व्याख्यायते तथा भेदोल्लेखित्वेपि दीयतामस्यां दृष्टिः, अभेदे हि 'घट' इत्येव, 'पट' इत्येव वा, बुद्धिः स्यात्, नतु 'घटाद्भिन्नः पट' इति चेत्, स्यादप्येष पर्यनुयोगो यद्यविद्याविद्यमानभावं भेदं पारमार्थिकमभेदमिच्छन्तोपि प्रत्यादिशामः। तस्मात्—

अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा।
तथाचाद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात्॥ १८॥ २५॥

ननु घटाद्भेदः स्वरूपं पटस्येत्युक्ते घटपटयोर्नाभेदः प्रतीयते, तथा सति 'घटादि'ति न स्यात्, किंतु 'घटः पट'—इति सामानाधिकरण्यं स्यादिति शङ्कते—'नन्वि'ति॥ अविद्याविद्यमानं भेदमादाय तथाप्रतीतिरिति परिहरति। 'स्यादि'ति॥ ननु भेदो न पारमार्थिकः, किंत्वभेदः,—इत्यत्र किं विनिगमकमत आह। 'अभेदमि'ति। घटपटस्वरूपमनुल्लिख्य तदुभयभेदोल्लेखो न संभवति, तदुभयभेदमनुल्लिख्यापि तदुभयस्वरूपोल्लेखः संभवतीत्यभेदग्रह उपजीव्यो भेदग्रहस्येत्यभेद एव पारमार्थिक इत्यर्थः। आद्ये=अभेदे,

सा धीः प्रमा, नान्त्ये = भेदे, स्वस्य = भेदग्रहस्यापेक्ष्य = उपजीव्योऽभेदग्रहस्तद्वैशसात्तद्विरोधादित्यर्थः । यद्यपि भेदाभेदपदाभ्यामुभयोपस्थितौ विपरीतएवोपजीव्योपजीवकभावः, स्वरूपस्यापि भेदत्वे सर्वधियां भेदोल्लेखित्वस्याऽऽवश्यकत्वे वैपरीत्यमेव, तथापि श्रुत्यवष्टम्भादिदमुक्तम् ॥ २५ ॥

जैसे यह भेदप्रतीति का अभेद के उल्लेख (प्रकाशक) रूप से व्याख्यान किया जाता है, वैसे भेदोल्लेखित्व (प्रकाशकत्व) में भी दृष्टि देना चाहिये । क्योंकि घटपट के अभेद रहते, घट ऐसी ही, या पट ऐसी ही बुद्धि होती, घट से भिन्न पट है, ऐसी बुद्धि नहीं होती । इस शंका का समाधान यह है कि यह शंका तब युक्त हो सकती जब पारमार्थिक अभेद को चाहनेवाले भी हम अविद्या से वर्तमानभाव (सत्त्व) वाले भेद को प्रत्यादेश (खण्डन) करते । अतः व्यावहारिकभेद के स्वीकार से यह शंका अयुक्त है । और अभेद अवश्य पारमार्थिक है क्योंकि—वस्तु के स्वरूपात्मक अभेद को प्रकाश नहीं करती हुई बुद्धि भेद के प्रकाशन में क्षम (समर्थ) नहीं होती है । वहाँ आद्य वस्तुस्वरूप अभेद में वह बुद्धि प्रमा होती है। और अन्त्यभेद प्रमा नहीं होती है। स्वापेक्षित उपजीव्य (हेतु) का वैशस (घात) करती है ॥ १८ ॥ २५ ॥

प्रतियोगी को भेद के विशेषणरूप मानने पर वैपरीत्यापत्ति प्रथम कहा गया है। अतः उपलक्षण मान कर शंका होती है तो उसका उत्तर यह है कि—

अथ 'भेदः'-इत्येतावन्मात्रं पटस्य स्वरूपं, 'घटादि'ति च तद् घटेन प्रतियोगिनाऽन्येनैव निरूप्यते तदपि नोपपद्यते । निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात् । नित्यं प्रतियोगिघटिते एव तस्मिन् प्रमाणप्रसरात् । का चेयं वाचोयुक्तिर्यदन्याऽसाकाङ्क्षं पटस्य स्वरूपमन्येन प्रतियोगिना निरूप्यमाणं ततो भेदो भवतीति । नहि यत्स्वरूपेणैव नीलं, तत् पीतेन निरूप्यमाणं नीलं भवति । यदपि चोक्तं प्रतियोगिना घटेन निरूप्यमाणं पटस्य स्वरूपं भेद इति, तत्रापि पटं प्रति प्रतियोगित्वं घटस्य किं स्वरूपं? किं वा धर्मः कश्चित् । यदि प्रथमः, तदा पटं प्रति प्रतियोगित्वमित्येतावानेवार्थो घटस्य स्वरूपं भवदात्मन्येव पटमपि प्रक्षिपतीति कथं नाद्वैतमेव पर्यवस्यति । तत्रापि यदि प्रतियोगित्वमात्रं घटस्यात्मा 'पटं प्रती'ति च पटापेक्षित्वमन्यदेव, तदप्यनुपपन्नम् । अकिञ्चिदपेक्षस्य प्रतियोगित्वस्य प्रमाणाऽविषयत्वात् । 'पटं प्रतीत्यत्रापि च स्वरूपतदन्यविकल्पे दोष एव ॥ २६ ॥

उपलक्षणपक्षं कक्षीकृत्याशङ्कते—'अथे'ति । यदि प्रतियोग्यपि भेदस्वरूपं स्यात्तदा तन्निरूपकमेव न स्यादिति भावः । नियमतो यावति यन्निरूपणं पर्याप्तं तावत्तस्वरूपान्तर्गतमेवेति प्रतियोग्यपि भेदस्वरूपं स्यादित्याह—'निष्प्रतियोगिकस्ये'ति ॥ ननु संयोगादिस्वरूपं प्रतियोगिनिरूपणीयमपि न तद्घटितमूर्तिकमित्यनुशयेनाह । 'का चेयमिति'। अन्याऽसाकाङ्क्षम् = अन्याऽनिरूपणमित्यर्थः। यद्यपि पटः स्वरूपतः पटः, प्रतियोगिना निरूप्यमाणो भेद, इति न दोषः, नीलमपि स्वरूपतो नीलं, पीतेन निरूप्यमाणं भेद एव, भेदत्वेन निरूप्यमाणेपि तत्र पटत्वमित्यन्यदेतत्, प्रकारयोस्तु भेद एव, तथापि स्वरूपभेदे निरूपकभेद एवानुपपन्न इति हृदयम् । भेदस्वरूपे प्रतियोगिनमन्तर्निवेश्य प्रतियोगिस्वरूपे भेदमन्तर्निवेशयति—'यदपी'ति । भेदवत् प्रतियोगित्वमप्यन्यसाकाङ्क्षमेवेति तदप्य-

न्यघटितमूर्ति स्यादित्यभेदे पर्यवसानमित्यर्थः। प्रतियोगिनो भेदस्य विशेषणतायां दोषमुक्त्वोपलक्षणतामाशङ्कयाह—'तत्रापी'ति। 'अकिञ्चिदि'ति। प्रतियोगित्वनिरूपणं नियमतो यावति परिसमाप्यते तावत्स्वरूपान्तर्गतमेवेत्यर्थः॥ 'पटं प्रति प्रतियोगित्वं घटस्ये'त्यनयोक्त्या घटाभेदं पटस्याभिधाय 'पटं प्रती'ति तदेकदेशेनापि तदभेदसिद्धि-रित्याह—'पटं प्रती'ति॥ २६॥

यदि पक्षान्तर माना जाय कि 'भेदः' इतना ही पट का स्वरूप (घट का भेदात्मक) है। और घटात्, इस पद के अर्थरूप अन्य (घट में अप्रविष्ट) प्रतियोगी स्वरूप घट से वह पटस्वरूप भेद निरूपित (उपलक्षित = बोधित) होता है। क्योंकि प्रतियोगी भी यदि भेदस्वरूप में प्रविष्ट हो जाय तो भेद का निरूपक (साधक) नहीं हो सकता है। तो यह पक्ष भी सिद्ध (युक्त) नहीं हो सकता है। क्योंकि काकादि उपलक्षण से रहित भी गृहादि जैसे प्रमाण का विषय होता है, वैसे निष्प्रतियोगिक भेद प्रमाण का विषय नहीं होता है। क्योंकि नित्य (सदा) प्रतियोगी से घटित (युक्त) ही उस भेद में प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जिसका अभाव, भेद, सम्बन्ध, या सादृश्य होता है, उसको प्रतियोगी कहते हैं। जिसमें अभावादि होते (रहते) हैं, उसको अनुयोगी कहते हैं। वहाँ प्रतियोगी एवं अनुयोगी के ज्ञानपूर्वक ही अभावादि का प्रमाण से ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। यदि कहा जाय कि प्रतियोगी से निरूपित संयोगादि का स्वरूप प्रतियोगी-युक्त नहीं रहता है, वैसे ही भेद का स्वरूप भी रहेगा। तो इसका उत्तर यह है कि यह कैसी वाचोयुक्ति (कहने की कुशलता) है कि, अन्य की आकांक्षा से रहित (स्वतः-सिद्ध) जो पट का स्वरूप है, वह अन्य (घट) प्रतियोगी से निरूपित (सिद्ध) होता हुआ, उस घट से भेदस्वरूप होता है। अर्थात् यह कुशलता नहीं है, क्योंकि जो स्वरूप से ही नील है, वह पीत से निरूपित होता हुआ नील नहीं होता है। और भेद के समान प्रतियोगित्व के भी अन्य साकांक्ष होने से वह भी अभेद का ही साधक होगा, इस आशय से कहा गया है कि जो आपने कहा है कि प्रतियोगीरूप घट से निरूपित पट का स्वरूप भेद है, वहाँ विचारणीय यह है कि पट के प्रति प्रतियोगित्वात्मक क्या घट का स्वरूप है? अथवा कोई घट में धर्म है? यदि प्रथम पक्ष माना जाय तो पट के प्रतियोगित्व, इतना ही स्वरूपवाला अर्थ (वस्तु) घट का स्वरूप होता हुआ, अपने स्वरूप में ही विशेषणरूप से पट का प्रक्षेप (अन्तर्भाव) करता है। अतः अद्वैत को ही कैसे सिद्ध नहीं करता है? अद्वैत को ही सिद्ध करता है। वहाँ (प्रतियोगित्व में) भी यदि प्रतियोगित्वमात्र घट की आत्मा (स्वरूप) हो, और पट के प्रति, इतना पट से अपेक्षितत्व, पट से अन्य (उपलक्षण) ही हो, विशेषण नहीं हो, तो वह भी अयुक्त ही है, क्योंकि कोई अपेक्षारहित = निरपेक्ष प्रतियोगित्व प्रमाण का विषय नहीं होता है। किन्तु अभाव भेदादि की अपेक्षा (ज्ञानादि) पूर्वक ही प्रतियोगित्व प्रमाण से समझा जाता है। और पट के प्रति घट की प्रतियोगिता है, इस पक्ष में पट की घट में प्रवेशापत्ति के भय से (पटं प्रति) पट के प्रति, इतना ही घटगत प्रतियोगित्व का स्वरूप कहें, तो भी स्वरूप और स्वरूपान्य विकल्प के होने पर दोष ही है, क्योंकि घटनिष्ठ प्रतियोगिता यदि घटस्वरूप हो, तो पटनिरूपित ही होगी; अतः पट का घट में प्रवेश प्राप्त होगा, यदि प्रतियोगिता घट का धर्म हो, तो पट भी प्रतियोगिता के निरूपक

होने से घट का धर्म होगा, धर्मधर्मी में अभेद से अद्वैततारूप दोष ही होगा ॥ २६ ॥

पटस्वरूप भेद के प्रति घटनिष्ठप्रतियोगित्व घट का कोई धर्म है, इस द्वितीय पक्ष में दोष कहा जाता है कि—

नापि द्वितीयः। योसौ धर्मः पटं प्रति प्रतियोगित्वं तस्यात्मनि पटोपि प्रविशतीति तेन सह पटस्याद्वैतं स्यात्, यदा च पटो घटस्य धर्मतामापन्नस्तदा घटोपि पटस्य धर्मतामनेनैव न्यायेन गच्छेत्। नहि पटप्रतियोगित्वस्य घटेन प्रतियोगिना निरूप्यमाणत्वे घटस्याऽन्या गतिरस्तीति परस्पराश्रितत्वमाश्रयत्वं च स्यात्; नच कस्यचित्प्रमाणस्य विषयो घटारूढः पटस्तत्पटारूढश्च स एव घट इति। किञ्च, धर्मस्य तस्य धर्मिणा सममसंबन्धेऽतिप्रसङ्गः, संबन्धानन्त्येऽनवस्था, प्रथमतोन्ततो गत्वा वा स्वभावसंबन्धाभ्युपगमे संबन्ध्यन्तरस्यापि तत्स्वभावप्रवेशादभेदे एव पर्यवसानं स्यादिति ॥ २७ ॥

'नापी'ति। प्रतियोगित्वं धर्मः कश्चिदिति द्वितीयपक्ष इत्यर्थः। घटप्रतियोगित्वस्य घटधर्मत्वे पटस्यापि घटधर्मत्वं, प्रतियोगित्वस्य पटघटितमूर्त्तिकत्वादित्याह—'योसावि'ति। यथा घटप्रतियोगित्वे पटो धर्मस्तद्वत्पटप्रतियोगित्वेपि घटो धर्मो वाच्यः, युक्तेस्तुल्यत्वादित्याह—'यदा चे'ति। कुत एवमत आह—'नही'ति। ततः किमित्यत आह—'परस्पराश्रितत्वमि'ति। अस्तूभयोरपि धर्मधर्मिभावः, एतावतापि भेद एवेत्यत आह—'किंचे'ति। घटप्रतियोगित्वस्य घटधर्मत्वे येन संबन्धेन तद्धर्मत्वं तस्यापि तदीयत्वे संबन्धान्तराङ्गीकारेऽनवस्था, स्वरूपसंबन्धस्यैव तत्राभ्युपगमे धर्मिस्वरूपसंबन्धो धर्मो, धर्मस्वरूपसंबन्धो धर्मीत्युभयमेकमेव पर्यवस्येदित्यर्थः॥ २७॥

प्रतियोगित्वविषयक दूसरा पक्ष भी भेदसाधक नहीं हो सकता है। क्योंकि जो पट के प्रति प्रहियोगित्वरूप घटगत धर्म है, उसके स्वरूप में उसका निरूपक पट भी विशेषणरूप से प्रविष्ट होता है, अतः उस धर्म के साथ पट का अभेद होगा, और धर्मधर्मी में अभेद होने से घटाभिन्न धर्म से पट के अभेद होने के कारण घट से भी पट का अभेद होगा ही। अतः पट को उस धर्मधर्मी के साथ अद्वैत (अभेद) होगा। जब पट घट के धर्म प्रतियोगिरूपता को प्राप्त हुआ तो परस्पर भेद होने से घट भी पट की धर्मता को इसी न्याय से (युक्ति से) प्राप्त होगा ही। क्योंकि पटप्रतियोगित्व के घटरूप प्रतियोगी से निरूपित होने पर भी घट की प्रतियोगित्व की अन्य गति नहीं है, किन्तु जैसे घट की प्रतियोगिता घट से निरूपित होती है, वैसे ही घट की प्रतियोगिता पट से निरूपित होती है। और निरूपक निरूपित के आश्रित सिद्ध होता है निरूपित आश्रय सिद्ध होता है। अतः परस्पर निरूपक-निरूप्यभाव होंने से परस्पर आश्रितत्व-आश्रयत्व की भी प्राप्ति होगी। और किसी प्रमाण का यह विषय नहीं है कि जिस घट के आश्रित जो पट है, उसी पट के आश्रित वही घट है। और धर्मधर्मी में भेद मानने पर भी उस धर्म का धर्मी के साथ यदि सम्बन्ध नहीं हो तो अतिप्रसंग होगा और धर्मधर्मी का नियम नहीं होगा। इसी का यह धर्म है, दूसरे का नहीं, यह नियम नहीं रहेगा। अर्थात् सब धर्मी के सब धर्म होंगे। और धर्मी के साथ धर्म के सम्बन्ध मानने पर सम्बन्ध के भी धर्म-

स्वरूप होने से अनन्त सम्बन्ध मानने पर अनवस्था होगी। प्रथम ही या अन्त में प्राप्त हो कर स्वभाव (स्वरूप) सम्बन्ध के स्वीकार करने पर, अन्य सम्बन्धों का भी उस स्वरूप में प्रवेश होने से अभेद में ही पर्यवसान (स्थिति) होगा। अर्थात् धर्म का सम्बन्ध स्वरूप धर्मी और धर्मी का सम्बन्ध धर्मस्वरूप होने पर धर्मधर्मी के अभेद से सर्वत्र अभेद होगा ॥ २७ ॥

उक्त रीति से घटत्वादिरूप धर्म के साथ भी धर्मी के अभेद को और काल्पनिक भेद को समझना चाहिये इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

एवमन्यस्मिन्नपि धर्मविकल्पे इति। तस्मात्स्वरूपभेदे प्रमाणं भवत्प्रत्यक्षमद्वैते एव प्रमाणं भवति। ननु, घटादिकमेव यदाऽन्यानपेक्षं वीक्ष्यते तदा घटादिकमित्येव प्रतीयते यदा पुनः पटादिना निरूप्यते तदा ततो भेद इति प्रतीयते। मैवम्। घटादिकमित्येवंभूतप्रतीतेस्तावद्भेदप्रतीतिर्विलक्षणा, सा च न घटादिमात्रेण स्वविषयेणाऽन्यथाकारा भवितुमर्हति, नच पटादिकमधिकं तदा प्रकाशते इति विशेषः स्यात्, घटपटविषयप्रतीतितोपि वैलक्षण्यात्। नहि 'घटः पटश्चे'ति 'घटात् पटोभिन्न' इति-प्रतीत्योरेकार्थकत्वं कश्चित्प्रत्येति। तत्कस्य हेतोः? पञ्चम्या प्रथमया च वैकल्पिकं निर्देशमसहमानयैव प्रतीतिकलहनिरासात् ॥ २८ ॥

एवं घटत्वादिनापि धर्मेण सह घटाद्यभेदो वाच्य इत्याह—'एवमि'ति। धर्मविकल्पे = धर्मभेदे। स्वरूपभेदग्राहिप्रत्यक्षमभेदविषयं पर्यवस्यतीत्युपसंहरति—'तस्मादि'ति। यदन्याऽसाकाङ्क्षं तदन्यसाकाङ्क्षमपि भविष्यति निरूपकभेदादिति शङ्कते—'नन्वि'ति। एक एव घटोऽन्येन निरूप्यमाणो भेद इति गृह्यते, अन्यथा तु घट एवेत्यर्थः। भेद-प्रतीतिघटप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यपरतन्त्रमिति तदभावात् प्रतीतिवैलक्षण्य-मेव न स्यादिति परिहारमाह—'घटादिकमि'ति। ननु प्रतियोगिप्रवेशाऽप्रवेशकृत-मेव प्रतीतिवैलक्षण्यमित्यत आह—'नचे'ति। 'घटाद्भिन्नः पट' इतिप्रतीति'र्घटः पटश्चे'ति-प्रतीतेर्विलक्षणा प्रतियोग्यनुप्रवेशमात्रेणानुपपन्नेति ततोपि विषयान्तरमनुसरणीय-मित्याह—'नही'ति ॥ २८ ॥

इस उक्त रीति से ही अन्य धर्मविकल्प (धर्मभेद) में भी सम्बन्ध की अनवस्था आदि को समझना चाहिये। और उक्त रीति से पदार्थ के स्वरूपात्मक भेद में प्रमाण होता हुआ प्रत्यक्ष भी अद्वैत में ही प्रमाण होता है, यह समझना चाहिये। यहाँ शंका होती है कि भाव वस्तुस्वरूप भेद की यद्यपि अन्य की अपेक्षा से उत्पत्ति नहीं होती है, तथापि प्रतीति अन्यापेक्षा से होती है, क्योंकि घटादिक ही जब अन्य की अपेक्षा के बिना समझा जाता है, तब घटादि वस्तुमात्र ही प्रतीत होता है। और जब वही पटादि अपेक्षापूर्वक निरुपित (ज्ञात) होता है, तब उस पटादि से भेदस्वरूप भासता है, परन्तु यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि घटादिक हैं, ऐसी प्रतीति से भेद की प्रतीति सर्वथा विलक्षण होती है। अतः वह घटादि के स्वरूपमात्र विषयक नहीं हो सकती है। वह घटादिमात्र अपने विषय से अन्य प्रकार के आकारवाली होने के योग्य नहीं है। अतः घटादि से अन्य भी विषय उसका होना चाहिये। यदि कहा जाय कि घटादिरूप भेद से अधिक (विशेष) पटादि उस भेद की प्रतीतिकाल भासता (प्रकाशता) है, तो

यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट-पटविषयक प्रतीति से भी भेद की प्रतीति में विलक्षणता रहती है। अत एव (घटः पटश्च) घट और पट हैं, घट से पट भिन्न है, इन दोनों ज्ञानों को कोई भी एकार्थक नहीं समझता है। उसमें क्या हेतु है, यह समझना चाहिये। उसमें हेतु यही है कि वैकल्पिक निर्देश (उच्चारण) को नहीं सहनेवाली (व्यवस्थित विषयवाली) पञ्चमी और प्रथमा विभक्ति से ही प्रतीति के कलह (विरोध) का निवारण हो जाता है। अर्थात् पञ्चमी से भेद की और प्रथमा से अभेद की भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है ॥ २८ ॥

यदि कहा जाय कि दोनों प्रतीति का विषय एक है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि—

नहि घटः पटश्चेति प्रत्येतव्ये कश्चिद् घटात्पटो भिन्न इति प्रत्येति। तस्माद् घटस्य न स्वरूपनिरूपणे पटप्रतीत्यपेक्षा। नच यत्प्रतीतिर्यत्प्रतीतेः कारणं स्यात् तत्र तस्याः कारणभूतायाः प्रतीतेर्योऽर्थः तस्माद् 'अयमि'ति कृत्वा कार्यभूतायाः प्रतीतेरर्थः प्रतीयते, मा भून्निर्विकल्पकार्थादेवं सविकल्पकार्थस्य प्रतीतिः, मा च सादृश्यादेरेवं स्मर्यमाणादेः स्यात्। तस्मात् 'पटो घटाद्भिन्न' इत्याद्याकारेण घटादेर्भेद एव भेदावधिभूतपटादिसङ्घटितः स्फुटं सर्वलोकसाक्षिकः प्रतीयमानो नैकप्रतीतेरन्यप्रतीत्यपेक्षामात्रेण समर्थयितुं शक्योऽतिप्रसङ्गादिति। अत एवान्योन्याभावं भेदमवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमित्यपि निरस्तम्। अन्योन्याभावोपि यस्माद्भेद एष्टव्यस्तमात्मन्येवान्तर्भावयेदुक्तयुक्तिभिः॥ २९॥

नन्वेक एव विषयः प्रतीतिभ्यामालम्ब्यतां को दोषः? इत्यत आह—'नही'ति। भवेदेवं, यदि पञ्चमीप्रथमयोरर्थाऽभेदो भवेत्, न त्वेवं, ततश्च प्रयोगवैलक्षण्यत् प्रतीतिवैलक्षण्यं ततश्च विषयवैलक्षण्यमित्यर्थः। ननु घटस्वरूपभाने कदाचित्प्रतियोगिनः पटस्य ज्ञानं हेतुरिति ज्ञानगतहेतुत्वं पटे आरोप्य व्यपदिश्यते 'पटाद्घट'—इति, यथा 'धूमादग्निरि'ति; तथाच न पञ्चमीनिर्देशबलाद्विषयवैलक्षण्यमत आह—'नचे'ति। तर्हि 'गोत्वाद्गौः' इत्यपि प्रतीतिः, 'अवयवाद्गौः' इत्यपि च स्याज्जनकज्ञानविषयेपि पञ्चमी निर्देशस्य त्वयेष्यमाणत्वादित्याह—'माभूदि'ति। 'सादृश्यादे'रित्यादिपदात्पदलिङ्गादिग्रहः। 'स्मर्यमाणादे'रित्यादिपदात्पदार्थलैङ्गिकादिसंग्रहः। तस्मात्स्वरूपभेदो नास्त्येव। यदि प्रतीतिबलादाऽऽस्थीयते तदाऽन्योन्याभावः स्यादपि, यदि तत्र बाधकं न भवेदित्युपसंहरन्नाह—'तस्मादि'ति। 'अत एवे'ति। प्रतियोग्यधिकरणयोरभेदपर्यवसानादित्यर्थः। एतदेवाह—'अन्योन्याभावोपी'ति। विश्वप्रतियोगिकान्योन्याभावस्य घटधर्मत्वे विश्वस्यापि घटधर्मत्वापत्तौ धर्मधर्मिणोरभेदपर्यवसानस्य स्वरूपभेदप्रस्तावे युक्तेरुक्तत्वादित्यर्थः॥ २९॥

घट और पट हैं, इस प्रकार के ज्ञातव्य (ज्ञान के विषय वस्तु) के रहते, कोई व्यक्ति घट से पट भिन्न है, इस प्रकार नहीं समझता है। यदि प्रथमा और पञ्चमी विभक्ति का अर्थ एक हो, तो (घटः पटः) इस प्रतीति के स्थान में भी (घटाद् भिन्नः पटः) ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, और नहीं होती है। अतः प्रतीति की विलक्षणता से विषय का भेद सिद्ध होता है। और इसीसे घट के स्वरूप के निरूपण (भेदरूप से ज्ञान) में पट की प्रतीति की अपेक्षा नहीं हो सकती है, क्योंकि घट का स्वरूपमात्र

भेदात्मक नहीं है। यदि कहा जाय कि जिस एक पदार्थ की प्रतीति (ज्ञान) जिस अन्य पदार्थ की प्रतीति का कारण होता है, जैसे पर्वत में धूम का ज्ञान अग्नि के ज्ञान का कारण होता है, वहाँ कारणस्वरूप ज्ञान का जो अर्थ (विषय) होता है, उससे यह कार्यरूप अग्नि का ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञानगत कारणता को विषय में मान कर कहा जाता है कि (धूमाद् वह्निमान्) धूम से वह्निवाला पर्वत है। इसी प्रकार प्रतियोगी पट के ज्ञान से कभी घटात्मक भेद का ज्ञान होता है। अतः (पटाद् भिन्नो घटः) कहा जाता है। घटस्वरूप भेद पट से निरूपित नहीं रहता है किन्तु पट के ज्ञान से ज्ञात होता है इत्यादि। यह कहना अयुक्त है, क्योंकि विषय की विलक्षणता के बिना ज्ञानजनकज्ञान के विषयता मात्र से (पटाद् भिन्नः घटः) यहाँ पट से पञ्चमी विभक्ति होती हो, तो निर्विकल्प गोत्व के ज्ञान से गोत्वविशिष्ट का ज्ञान होता है, तथा सदृश वस्तु के दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा स्मरण होता है, वहाँ भी (गोत्वाद् गौः, कमलाद्-मुखम्) इत्यादि प्रयोग होना चाहिए निर्विकल्पक अर्थादि से इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो, इसलिये उक्त कथा नहीं करनी चाहिये। और उक्त दोष से ही पट घट से भिन्न है, इस आकार (प्रकार) से घटादि का भेद ही भेद के अवधिरूप पटादि से संघटित (युक्त) हो कर (संघटित होता हुआ) सर्वलोकसाक्षिक (सबको प्रत्यक्ष) स्फुट प्रतीत होता है। इसलिए एक ज्ञान को अन्य ज्ञान का अपेक्षामात्र से समर्थन (स्वरूपमात्र सिद्ध) करने योग्य नहीं है। अतः पदार्थ का स्वरूपमात्र भेद नहीं है। अन्यथा निर्विकल्पादि ज्ञानजन्यज्ञानविषय में अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) होगा। वहाँ (अस्मादयम्) गोत्वाद् गौः, इत्यादि प्रयोग होने लगेगा, इत्यादि। यदि प्रतीति के बल से भेद माना जाय तो भी स्वरूपात्मक नहीं सिद्ध हो सकने से अन्योन्याभाव स्वरूप कथंचित् भेद हो सकता है, यदि उसमें बाधक नहीं हो। परन्तु उक्त प्रतियोगी अधिकरण (अनुयोगी) दोनों की एकतापत्ति से ही अन्योन्याभावरूप भेद को विषय करनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण अद्वैत श्रुति का बाधक (विरोधी) है। इस पक्ष का भी निरास (खण्डन) हो चुका है। क्योंकि जिससे भेद एष्टव्य (मन्तव्य) है, उस प्रतियोगी को विशेषणरूप से अपने स्वरूप में अन्योन्याभाव भी अन्तर्भाव करेगा तो फिर भेद ही नहीं रहेगा इत्यादि युक्ति से अन्योन्याभाव का भी निरास हो गया॥ २९॥

अन्योन्याभाव के प्रतियोगी की दुर्निरूपता से अन्योन्याभाव की दुर्निरूपता का आगे वर्णन किया जाता है—

किंच, घटपटयोस्तद्वदन्ययोश्च तादात्म्यमन्योन्याभावस्य प्रतियोगि मन्तव्यं, तद्यदि सर्वथा नेष्यते, तदा तद्विशिष्टस्तदुपलक्षितो वाऽन्योन्याभावोऽपि न प्रमाणेन प्रत्येतुं शक्यः। नहि शशविषाणविशिष्टस्तदुपलक्षितो वा कश्चित्प्रामाणिको भवितुमर्हति। तत्कस्य हेतोः। तस्मिंस्तद्विशिष्टरूपेऽर्थेतादृशि चोपलक्षणव्यवच्छिद्यमानात्मनि प्रमाणं निविशमानं विशेषणमपि तदीयं तदुपलक्षणमपि वा नानुल्लिखद्भवितुं प्रभवति, तस्मिँश्चात्यन्तमसत्येवावलम्बने न तत्प्रमाण्यं शक्यसमर्थनम्। नच वाच्यं पटप्रतियोगिको

घटमाश्रितोऽसावभावोऽभ्युपगम्यमानो नात्यन्ताऽसत्प्रतियोगिकतादोषमावहतीति। तथा सति संसर्गाभावादन्योन्याभावस्य को विशेषः स्यात्। नहि यथा घटाभावः पटसंसर्गीति घटसंसर्गाभावं पटे समर्थयसे तथा घटाभावः पटात्मक इति तत्तादात्म्याभावं पटस्य स्वीकरिष्यसि। तस्मात्तादात्म्यं संसर्गं च प्रतियोगिकोटावन्तर्भाव्याऽन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्वैलक्षण्यमभ्युपेयम्, तथा सति चात्यन्तासत्प्रतियोगिता दुर्वारा॥ ३०॥

'तादात्म्याभावः'—इतिव्यपदेशानुरोधेन तादात्म्यस्यैव प्रतियोगितामभ्युपगम्य दोषमाह—'किंचे'ति। घटपटयोस्तादात्म्यमत्यन्तासदिति तत्प्रतियोगिकाभावप्रतीतौ विशेषणत्वमुपलक्षणत्वं वा तस्यानुपपन्नमित्यन्योन्याभावप्रतीतिरेव न भवेद्, भवन्ती वा न प्रमा स्यादसद्विषयत्वादित्यर्थः। ननु न तादात्म्यं प्रतियोगि, किंतु पटादिरेव, तथाच नात्यन्तासद्विषयतान्योन्याभावप्रतीतेरत आह—नच वाच्यमिति। 'तथा सती'ति। एवं सति घटनिष्ठपटप्रतियोगिकाभावोऽत्यन्ताभाव एव स्यान्न तादात्म्याभाव इत्यर्थः। ननु घटनिष्ठः पटप्रतियोगिकोऽभावः संसर्गाभाव एव, अयं तु न घटनिष्ठः, किंतु घटात्मक एवेति महान्भेदोत आह—नहीति। एवमभ्युपगमे तवापसिद्धान्त इति भावः। ननु घटपटतादात्म्यमत्यन्तासदिति न घटतादात्म्यमपि, तथाच तदेव तादात्म्याभावप्रतियोगि स्यादिति नात्यन्ताऽसत्प्रतियोगिकता इति चेन्न, घटतादात्म्यस्य पटे निषेधः संसर्गाभाव एवेत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। नचेह तादात्म्यं प्रतियोगितावच्छेदकमिति संसर्गाभावाद्भेदः, घटमात्रतादात्म्यस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वे संसर्गाभावादविशेषात्; उभयतादात्म्यस्य तत्त्वेऽन्योन्याभावप्रतीतेरसद्विषयत्वापातात्॥ ३०॥

घट पट के तादात्म्य (अभेद) को और उसीके समान अन्य के तादात्म्य को अन्योन्याभाव (भेद) का प्रतियोगी मानना होगा, क्योंकि वह तादात्म्य यदि सर्वथा नहीं माना जाय, तो उस तादात्म्य से विशिष्ट (युक्त) या उससे उपलक्षित (दूर से बोधित) अन्योन्याभाव भी प्रमाण से समझने योग्य नहीं होगा। क्योंकि सर्वथा असत् शशशृङ्ग से युक्त या उपलक्षित कोई पदार्थ प्रमाण से जानने योग्य नहीं होता है। उसमें कारण क्या है, यह समझना चाहिये। उस अत्यन्त असत् विशेषण विशिष्ट स्वरूप अर्थ में और वैसे ही उपलक्षण से व्यावृत्त स्वरूपवाली वस्तु में प्रवृत्त होता हुआ प्रमाण, उसके विशेषण या उपलक्षण का भी उल्लेख (विषय-प्रकाश) नहीं करता हुआ प्रवृत्त होने के लिये समर्थ नहीं होता है। और उस अत्यन्त असत् स्वरूप तादात्म्यरूप विशेषण या उपलक्षणस्वरूप अवलम्बन (विषय) में वह प्रमाण प्रामाणिकतारूप प्रामाण्य का समर्थन (साधन) नहीं कर सकता है। और ऐसा आप नहीं कह सकते हैं कि घटरूप प्रतियोगी वाला और पट के आश्रित रहनेवाला वह अन्योन्याभाव माना गया है। अतः अत्यन्त असत् प्रतियोगितावत्त्व दोष नहीं होता है। क्योंकि ऐसा होने पर संसर्गाभाव (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव) से अन्योन्याभाव में विशेष (भेद) क्या होगा ? इस प्रकार पट में घट के संयोगादि संसर्गों का ही निषेध सिद्ध होगा। क्योंकि जैसे घटाभाव पटसम्बन्धी (पटनिष्ठ) होता है, अतः घट के संसर्गाभाव (अत्यन्ताभाव) को पट में समर्थन (प्रतिपादन) करते हैं, वैसे घटाभाव पटात्मक है, अतः पट के संसर्ग के अभाव को पटसम्बन्धी

स्वीकार नहीं करेंगे और यह कर भी नहीं सकते क्योंकि अन्योन्याभाववादी के मत में घटान्योभाव पटात्मक है नहीं। अतः तादात्म्य और संसर्ग को प्रतियोगी कोटि (स्वरूप) में अन्तर्भाव करके अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव की विलक्षणता को मानना होगा, और ऐसा होने पर अत्यन्त असत् प्रतियोगिता दुर्वार होगी ॥ ३० ॥

न च वाच्यं घटे पटत्वं नास्ति पटे च घटत्वं नास्तीत्येतावन्मात्रपर्यवसितैवान्योन्याभावस्य व्यवस्था मन्तव्येति, यतस्तथा सति घटत्वे पटत्वे च न कश्चित्तादृशो धर्मोऽभ्युपगम्यते योऽन्योन्यस्मिन्निषेद्धुं योग्य इति तयोस्तादात्म्यापत्तौ सत्यां घटे पटत्वं, पटे घटत्वं च निषेधात् प्रमाणं घटत्वपटत्वशून्यत्वं द्वयमप्यावेदयतीति वैधर्म्यस्य स्वरूपभेदस्य चासंभवेन किं प्रतियोगिनं, किं वालम्बनं, विधाय पटघटान्योन्याभावः प्रमाणपथमवतरेदिति। अत एव न वैधर्म्यमपि भेदमावेदयत् प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधकमुपपद्यते। वैधर्म्येऽपि हि घटत्वपटत्वादौ वैधर्म्यमन्यदस्तीत्यभ्युपगमे वैधर्म्ये वैधर्म्यविश्रान्त्यनवस्थयोरेकमननुभवश्च कथं प्रत्युत्तरणीयः ॥ ३१ ॥

'नच वाच्यमि'ति। घटत्वपटत्वयोरन्योन्यस्मिन्नभावोऽन्योन्याभावो यदि घटपटयोर्भेदः स्यात्तदा घटत्वपटत्वे परस्परं भिन्ने न स्यातां, तयोस्तादृशधर्माभावात्; तदुभयाऽभेदे च घटपटयोरपि भेदो दुर्लभः, प्रतियोगितावच्छेदकाधिकरणतावच्छेदकधर्माभावादित्यर्थः। किञ्चिद्वस्तु स्वत एव विलक्षणमिति तु परिभाषामात्रमिति भावः। ननु, घटनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मवत्त्वं पटस्य, पटनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मवत्त्वं घटस्य, यद्वैधर्म्यं, तदेव भेदस्तमालम्बमानं प्रत्यक्षादि श्रुतिबाधकं स्यादित्यत आह—'अत एवे'ति। तादृशो धर्मो घटत्वपटत्वादिकमेव वाच्यं, तत्र च तादृशधर्मान्तराभावादभेदसिद्धौ घटपटयोरप्यभेद एव पर्य्यवसन्न इत्यर्थः। 'एकमि'ति। वैधर्म्यविश्रान्तिरेकं दूषणम् अनवस्था वेत्यपरम् अनयोर्दूषणयोरेकमित्यर्थः। 'अननुभावश्चे'ति। नहि घटत्वे धर्मान्तरमनुभूयते इत्यर्थः। यद्यपि जातिव्यक्त्योरन्योन्यमेव धर्मधर्मिभाव इति नानवस्था, न वाऽननुभवः, नाप्यन्योन्याश्रयः, परस्परमपेक्ष्याऽज्ञानादनुत्पादादनवस्थितेः; परस्परभेदजिज्ञासायां तु परस्परविशेषणत्वविज्ञानात्तज्ज्ञानमिति, तथापि घटत्वपटत्वयोरेव वैधर्म्यं भेदकमिति तु दुर्वचमेवेति भावः ॥ ३१ ॥

और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि घट में पटत्व नहीं है और पट में घटत्व नहीं है। अतः इतने ही में पर्यवसित (निश्चित) अन्योन्याभाव की व्यवस्था (स्वरूप) मानने योग्य है। क्योंकि ऐसा होने पर घटत्व और पटत्व में वैसा धर्म कोई माना नहीं जाता है जो परस्पर के स्वरूप (घटत्व-पटत्व) में निषेध के योग्य हो। अतः उन दोनों के तादात्म्य (अभेद) प्राप्त होने पर, घट में पटत्व का और पट में घटत्व का निषेध करता हुआ प्रमाण, घटत्व पटत्व से शून्य (रहित) घट पट दोनों को आवेदित (सिद्ध) करता है। अतः वैधर्म्य (विरोधी धर्म) और स्वरूप भेद के असम्भव से किसको प्रतियोगी या आलम्बन आधार (विषय) बनाकर घट पट का अन्योन्याभाव प्रमाण का विषय होगा। और इस प्रकार घटत्व पटत्वादि रूप विरोधी धर्मों की एकता = अभेद होने पर इसी से वैधर्म्य को भी भेद समझाता हुआ प्रत्यक्ष अद्वैत श्रुति का बाधक नहीं हो सकता है। और वैधर्म्य में भेद की सिद्धि के लिये घटत्वपटत्वादिरूप

वैधर्म्य में भी अन्य वैधर्म्य है, ऐसा मानने पर किसी वैधर्म्य में वैधर्म्य की विश्रान्ति (अभाव) और अनवस्था में से एक का अननुभव का प्रत्युत्तर कैसे दिया जा सकता है ? अर्थात् अन्त में किसी वैधर्म्य में वैधर्म्य नहीं मानने पर उसके अभेद द्वारा सब का अभेद होगा, और सर्वत्र वैधर्म्य मानने पर अनवस्था होगी, और घटत्वादि में धर्मान्तर का अनुभव नहीं होता है, अतः अननुभव है ॥ ३१ ॥

वैधर्म्ये च वैधर्म्याऽस्वीकारे वैधर्म्ययोरैक्यापत्त्या कथमाऽऽत्माश्रयभेदत्वेन तयोः पर्यवसानं स्यात्। किंच, ये ते वैधर्म्ये भेदौ, ते किं घटादितो भिन्ने धर्मिणि निविशेते किमभिन्ने परस्परविरुद्धयोरनयोः पृथग्भूतस्य प्रकारस्यासंभवात्। आद्ये, येन भेदेन भिन्नत्वं वैधर्म्याश्रययोर्मन्तव्यं तत्रापि पर्यनुयोग इत्यनवस्थायां पर्यवसानं स्यात्। सन्त्वनन्ता एव भेदाः इति चेन्न, क्रमेण तेषामाश्रयसंबन्धे, सावधिसत्त्वे वस्तुनि तदन्वयासङ्गतिरेव। अथ जायमानं वस्तु युगपदेव ते भेदाः परिरभन्ते, तदा किंभेदविशेषिते किंभेदव्यवस्थितिरिति किं विनिगमकं विशेषाभावादन्योन्यकलहं तेषां कः समाधातुमीष्टे। चरमचरमस्वीकार्येण च भेदेन प्रथमप्रथमस्वीकृतभेदोपयोगसिद्धेरग्रे धावन् पश्चाल्लुप्यमानो, विस्मरणशीलश्रुतवत्, स भेदप्रवाहः किमालम्बेत। एवमेवंविधे विषयेऽन्यत्रापि ॥ ३२ ॥

नन्वस्तु वैधर्म्ये विश्रान्तिः किमेतावतेत्यत आह—'वैधर्म्ये चे'ति। 'आत्माश्रयभेदत्वेने'ति। घटत्वपटत्वयोरैक्ये कथं स्वाश्रयादेव स्वाश्रयस्य भेदौ ते स्यातामित्यर्थः। 'ये ते' इति। ये ते इति द्विवचनं विकल्पानुपयुक्तमपि भेदत्वस्फोरणाय। ननु भेदाभेदाभ्यां प्रकारान्तरमपि स्यादित्यत आह—'परस्परे'ति। 'क्रमेणे'ति। अनन्तानां यदि क्रामिकी वृत्तिस्तदा दिनद्वयस्थायिनि घटादौ न वर्तेरन्; किंच, कार्यमात्रे एव न वर्तेरन्नित्यर्थः। ननु, जातः, संबद्धश्चेत्येकः कालः, तथा च सर्वे भेदा युगपदेव वर्तन्तामित्याशङ्कते—अथेति। यद्यपि युगपदेव वर्तमानानामप्यन्योन्यकलहः कथं स्यात्, नहि घटत्वपृथिवीत्वद्रव्यत्वसत्त्वादीनां युगपद्वृत्तौ कलहः, तथापि भेदो भिन्ने वर्ततेऽभिन्नेवेति विकल्पे किमपि नोत्तरमेतावतेति भावः। चरमेति। यद्यपि युगपद्वृत्त्यभ्युपगमे चरमचरमस्वीकार्येणेत्यनुपपन्नं, तथापि भिन्ने वर्तते इत्याश्रयणे प्रथमविशिष्टे द्वितीयवृत्तिर्वाच्या, तत्र यौगपद्येपि प्रथमचरमभावसम्भव एवेति भावः। उपयोगेति। भिन्नत्वप्रतीतिरेवोपयोगः। एवमिति। गवि गोत्वं वर्तते अगवि वा इति विकल्प्य गोत्वादिकमपि निरसनीयमित्यर्थः॥ ३२ ॥

यदि प्रथम वैधर्म्य-स्वरूप घटत्वादि में ही वैधर्म्य की विश्रान्ति मानी जाय, तो वैधर्म्य में वैधर्म्य के अस्वीकार होने पर घटत्व-पटत्वरूप वैधर्म्य के भेदक के अभाव से उनकी एकता की प्राप्ति होने से उन घटत्व-पटत्व दोनों के आश्रय घट-पट के भेदरूप से उनका पर्यवसान (निश्चय) कैसे होगा ? अर्थात् उनका भेदरूप से निश्चय नहीं होगा, क्योंकि वे स्वयं भिन्न हुए बिना स्वाश्रय के भेदक नहीं हो सकते हैं। और जो घटत्व-पटत्व रूप वैधर्म्य घट-पट के भेद-स्वरूप हैं वे क्या घट से भिन्न पट और पट से भिन्न घट-रूप धर्मिस्वरूप में रहते हैं ? या अभिन्न-स्वरूप घट-पट में रहते हैं ? यदि कहा जाय कि न भिन्न में रहते हैं, और न अभिन्न किन्तु भिन्नाभिन्न में या स्वरूपमात्र में रहते

हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि (परस्परविरोधे हि नप्रकारान्तरस्थितिः) परस्पर विरोध रहते दो पक्षों में एक ही पक्ष की स्थिति होती है, प्रकारान्तर की नहीं। अतः परस्पर-विरुद्ध इन भिन्न और अभिन्न (भेद और अभेद) से पृथक् स्वरूपवाले (भिन्नाभिन्न) भेदाभेदादि प्रकार असम्भव है। और भिन्न तथा अभिन्न पक्ष में यदि प्रथम पक्ष माना जाय कि घट से भिन्न पट में तथा पट से भिन्न घट में पटत्व-घटत्व रहते हैं, तो जिस भेद से भिन्नतायुक्त वैधर्म्य (घटत्वादि) के आश्रय घटादि को मानना होगा, उस भेदविषयक भी पर्यनुयोग (प्रश्न) होगा, कि वे भिन्न या अभिन्न में रहते हैं? इस प्रकार आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक की प्राप्तिपूर्वक अनवस्था की प्राप्ति होगी। कार्य-कारण की परम्परा (प्रवाह) के समान भेद की परम्परा होने से भेदान्तर से भिन्न में ही भेद की स्थिति हो, इस दृष्टि से यदि कहा जाय कि अनन्त ही भेद हों, तो यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि क्रम से उन भेदों के आश्रय के साथ सम्बन्ध होने पर, अवधिसहित सत्तावाली कार्यात्मक वस्तु में उनके अन्वय (सम्बन्ध) की असङ्गति ही होगी। अनादि-अनन्त भेदों का सादि पदार्थों के साथ आधाराधेय-भाव नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि उत्पन्न हुए वस्तु को वे अनन्त भेद एक काल में प्ररिरम्भ (आश्रयण) करते हैं, तो भी किस भेद से विशेषित (युक्त) में किस भेद की व्यवस्थिति हो, इसमें क्या विनिगमक (हेतु) होगा, और विशेष (न्यूनाधिक्य) के अभाव से उन भेदों के कलह (विरोध) का समाधान कौन कर सकेगा? और चरम २ के स्वीकारयोग्य भेद से पूर्व-पूर्व के स्वीकृत भेदों के उपयोग भिन्नत्व-व्यवहारादि (व्यावृत्तिरूपफल) की सिद्धि से आगे बढ़ता हुआ, और पीछे लुप्त होता हुआ, विस्मरण-शील के अध्ययनतुल्य वह भेद का प्रवाह किस का आलम्बन करेगा? (कैसे स्थिर या सिद्ध होगा?) यद्यपि एक काल में सब भेदों की घटादि में वृत्तिता में कलह या पूर्व-चरमभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्वादि के समान सब भेद रह सकते हैं, तथापि ऐसा होने पर भिन्न में भेद रहता है, यह सिद्ध नहीं होगा, यह भाव है। इसी प्रकार सधर्मे धर्मः (धर्म सहित में धर्म रहता है,) या निर्धर्म में धर्म रहता है, संसृष्ट में संसर्ग रहता है, या असंसृष्ट में रहता है इत्यादि विकल्पपूर्वक धर्म (गोत्वादि जाति) संसर्गादि का खण्डन समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

उक्त अर्थ का संक्षेप से कथन है कि—

प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणाऽपगमैर्भवेत् ।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता ॥ १९ ॥ ३३ ॥

प्राग्लोपेति । अग्रिमाग्रिमभेदाङ्गीकारे तेनैवान्यथासिद्धौ पूर्वपूर्वभेदविलोपः, किंभेदभिन्ने को भेदो वर्तते इत्यविनिगमः, बहवो भेदा एकत्र घटे वर्तन्ते इत्यत्र प्रमाणापगमः, ते एते दोषा अनवस्थायां पतन्तीत्यर्थः। ननु भेदविशिष्टे एव भेदो वर्तते इति पक्षाभ्युपगमे क्व प्राग्लोपः, भेदप्रतीतेरेव तावद्भेदाभ्युपगममन्तरेणाऽनिर्वाहात्। अत एव नाऽविनिगम्यत्वमिति । अवश्यनिर्वाह्यभेदप्रतीत्युपपादककल्पनायां तत्प्रतीत्यैव भेदानां क्रमयौगपद्ययोरन्यतरस्याऽऽक्षेपात्। 'सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरि'ति त्वयोक्तत्वात्। अत एव न प्रमाणापगमो, भेदप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेरेव प्रमाणत्वात्। अन्यथा घटकादाचित्कत्वानुरोधेन तत्रापि सामग्रीपरम्पराभ्युपगमो न स्यात्। नचाऽनवस्थापि,

तद्भेदभिन्ने एव तद्भेदवृत्तेः। तद्वृत्तौ तद्भेदस्योपलक्षणत्वविशेषणत्वाभ्यामुपपाद्यत्वात्। न वा भिन्ने भेदेन वर्तितव्यमिति नियमः। 'कुत्र वर्त्तते—इतिप्रश्ने, यत्र प्रतीयते इत्युत्तरं, कुत्र प्रतीयते—इतिप्रश्ने, यत्र वर्तते' इति वार्त्तिककारदिशाप्युपपत्तेः। विप्रपञ्चितश्चायमुद्धारो भेदप्रकाशे। मैवम्। भेदप्रतीतेराविद्यकं भेदमादायोपपाद्यत्वात्। परमार्थे तु भेदे एते विकल्पा इति भावः। यत्तु "भेदप्रतीतिरनन्तभेदालम्बना? एकभेदालम्बना वा?"—इत्यादिना प्राग्लोपाऽविनिगम्यत्वादीनामुपपादनं केनचित् कृतं तदनुपपन्नम्, अनवस्थितिमास्थातुरित्यभिधानादनवस्थापक्षे एव दोषत्रयस्याभिधानादिति ॥ ३३ ॥

आगे-आगे भेद को मानने पर, उसीसे भिन्नता की प्रतीति आदि की सिद्धि से प्राक् पूर्व-पूर्व के भेदों का विलोप होगा। और किस भेदयुक्त में कौन भेद रहता है, इसमें अविनिगम्यत्व है। बहुत भेद परम्परा से एक में रहते हैं, इसमें प्रमाण का अपगम (अभाव) है। अनवस्था माननेवाले को यही तीन दोषों के समूह चिकित्सा के अयोग्य (किसी प्रकार से भी अनिवार्यस्वरूप) प्राप्त होगा। अतः यह स्वीकार के योग्य नहीं है। यद्यपि भेद की प्रतीति से ही कहा जा सकता है कि भेद न भिन्न में रहता है, न अभिन्न में रहता है, किन्तु जिसमें प्रतीत होता है उसी पदार्थ के स्वरूप में रहता है, यह प्रतीति के बल से सिद्ध होता है। तथापि तात्पर्य यह है कि प्रतीति के बल से मायामय ही भेद सिद्ध होता है, क्योंकि सत्य भेद को मानने पर ये दोष प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥ ३३ ॥

यदि उक्त अनवस्था दोष के निवारण के लिये कहा जाय कि स्वरूप-भेद से भिन्न घट-पट में ही घटत्वादि वैधर्म्य रहते हैं, अतः अनवस्था नहीं है, तो इस पर कहा जाता है कि—

यदि च क्वचिद् गत्वा स्वरूपमेवान्योन्यं व्यावर्तमानं भेद इष्यते तदा ययोः स्वरूपं तथैष्टव्यं तयोर्निःस्वरूपतापत्तिः; अथ न स्वरूपमात्रं मिथो व्यावर्तते किंनाम स्वरूपविशेषः इत्युच्यते, तर्हि स्वरूपविशेषमात्रव्यावृत्त्या स्वरूपमात्रं तयोः स्यादित्येकत्वापत्तिः ॥ ३४ ॥

ननु स्वरूपभेदभिन्नयोरेव वैधर्म्ये भेदौ वर्ततामिति नानवस्थेत्यत आह—यदि चेति। तथैष्टव्यमिति। व्यावर्तमानमेष्टव्यमित्यर्थः। तयोरिति। ययोर्घटपटयोः स्वरूपं व्यावर्तमानं तयोर्निःस्वरूपत्वापत्तिरित्यर्थः। ननु घटपटस्वरूपयोरन्योन्यव्यावृत्तावपि स्वरूपमात्रं न व्यावर्तते इति कुतो निःस्वरूपत्वापत्तिरित्याह—'अथे'ति। घटपटयोः स्वरूपं न परस्परं व्यावृत्तं, किंतु स्वरूपविशेषः परस्परव्यावृत्त इति तयोरैक्यमेव पर्यवसन्नमित्याह—'तर्ही'ति। नच विशेषव्यावृत्त्यैव तयोर्भेद इति वाच्यम्, स्वरूपाऽव्यावृत्तौ स्वरूपविशेस्य परस्परमव्यावृत्तेः, तद्व्यावृत्तौ वा स्वरूपव्यावृत्तेरावश्यकतया पुनः सैव निःस्वरूपतेति भावः ॥ ३४ ॥

यदि कहीं किसी स्वरूप में प्राप्त होकर (उसे वर्तमान समझकर) और परस्पर व्यावर्तमान (परस्पर तत्तद्रूपता से निवृत्त) उस स्वरूप को ही भेद मानें, तो जिन दोनों (घट-पट) के स्वरूप को व्यावर्तमान मानना है, उन दोनों को निःस्वरूपता (अभावरूपता) की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि स्वरूपमात्र परस्पर व्यावृत्त (निवृत्त) नहीं होते हैं, किन्तु उनके स्वरूप-विशेष घट-पटमात्र की व्यावृत्ति से उनका

स्वरूपमात्र रहेगा, उसका अभाव नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि विशेष और व्यावृत्तिरहित स्वरूपों की एकता की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि विशेष की व्यावृत्ति से स्वरूप की व्यावृत्ति होगी तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्वरूप की अव्यावृत्ति से विशेष की ही अव्यावृत्ति प्राप्त होगी क्योंकि स्वरूप से भिन्न विशेष नहीं होता है। अतः विशेष की व्यावृत्ति से स्वरूप की व्यावृत्ति प्राप्त होने पर फिर भी निःस्वरूपता की प्राप्ति होगी ॥ ३४ ॥

अथवा, वक्तव्योऽसौ स्वरूपमात्रादन्यो विशेषार्थः। अथ 'न स्वरूपं नाम किञ्चिदनुगतमिष्यते मया, विशेषरूपासु व्यक्तिष्वेव स्वरूपशब्दो नानार्थः सन्निविशते'—इत्यभिधत्से, तर्हि गतमनेनैव न्यायेन गोत्वादिसिद्धिप्रत्याशया, नच प्रतिव्यक्ति स्वरूपपदसमयग्रहोपपत्तिः। यदि च स्वरूपं भेदः स्यात् तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टमिति क्वचिन्न सन्देहः स्यादिति ॥ ३५ ॥

यद्वाऽनेनवाशयेनाह—'अथवे'ति। घटस्वरूपं घट एव, पटस्वरूपम्पट एव, नच ताभ्यां स्वरूपान्तरमस्ति तयोर्यद्विशेषपदवाच्यं स्यादित्यर्थः। स्वरूपविशेषव्यावृत्त्या स्वरूपमात्रं तयोः स्यादित्याशङ्कते—'अथे'ति। शङ्कितां स्वरूपपदशक्तिमुपपादयति। 'व्यक्तिष्वेवे'ति। 'इदं स्वरूपमिदंस्वरूपमि'त्यनुगतप्रतीत्यनुरोधाद्यद्येकं स्वरूपं न स्वीकरणीयं तदा गोत्वाद्यप्येकमनुगतं न स्यादित्याह—'तर्ही'ति। स्वरूपसामान्याभावे दोषान्तरमाह—'नचे'ति। शक्तिग्रहस्याप्यनुगतधर्मपुरस्कारेणैव संभवादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

उक्त रीति से विशेष की व्यावृत्ति से स्वरूप की व्यावृत्ति नहीं मानना हो तो वह घट-पट के स्वरूपमात्र से अन्य विशेष कहना चाहिये। और यदि कहें कि मैं विशेषों में अनुगतस्वरूपनामक कोई वस्तु नहीं मानता हूँ किन्तु विशेषरूप वाली व्यक्तियों में ही स्वरूपशब्द नानार्थक होता हुआ प्रवृत्त होता है। तो इसी न्याय (रीति) से गोत्वादि सामान्य (जाति) की सिद्धि की प्रत्याशा भी गई। अर्थात् (इदंस्वरूपमिदंस्वरूपम्) इस प्रकार की अनुगत-प्रतीति के अनुसार यदि अनुगत एक स्वरूप नहीं मानें, तो गोत्वादि भी अनुगत जाति सिद्ध नहीं होगी। और अनुगत स्वरूप के नहीं रहने पर प्रतिव्यक्ति में स्वरूप पद के समय (संकेत शक्ति) ग्रह (ज्ञान) की भी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती है, क्योंकि अनुगत धर्म द्वारा ही शक्ति-ज्ञान का सम्भव है। और यदि स्वरूप ही भेद (विशेष) हो तो किसी सामान्य धर्मी के दृष्ट (प्रत्यक्ष) होने पर विशेष स्वरूप भी दृष्ट हुआ। अतः कहीं संशय या भ्रम नहीं होना चाहिये। अर्थात् घट-पटादि विशेष ही यदि स्वरूप है, तो दूर से घट-पट विशेष को नहीं ग्रहण करनेवाले ज्ञान से स्वरूप का ग्रहण नहीं होना चाहिये, और स्वरूप के ग्रहण होने पर विशेष के भी तद्रूपता से ग्रहण होने के कारण संशय-भ्रम नहीं होना चाहिये और होता है। अतः स्वरूपविशेष एक नहीं हो सकते हैं, किन्तु स्वरूप में कल्पित विशेष भिन्न रहते हैं ॥३५॥

भिन्न घट-पट में भेद रहता है, इस पक्ष का निषेध करके अभिन्न में भेद रहता है इस पक्ष का निषेध करते हैं—

यदि चाऽभिन्ने भेदो निविशेत तदा याप्येका व्यक्तिः प्रतीयते घटादिः सापि तेनैव भेदेनाऽनेका स्यादित्येकाभावे नाऽनेकमपि व्यवतिष्ठते। एतेन

न भेदावच्छिन्ने नचाऽभेदावच्छिन्ने भेदो विनिविशते किंतूदासीने–इत्यपि निरस्तम्, अत एव च भेदो नाम स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्याऽनात्मको धर्मान्तरं पृथक्त्वाऽपरनामकमित्यपि परास्तम्। सोपि हि स्वाश्रये भिन्ने विनिविशेताऽभिन्ने वेत्यादियथोक्तदोषलङ्घनाऽजङ्घाल एव स्यात्, स्वाश्रयेण च स्वस्मिन्नभेदभयाद्यदि स एव भेदो निविशते तदात्माश्रयः, अन्यश्चेत्तस्मिन्नैवं तस्मिन्नप्यन्य इत्यनवस्था, क्वचिदपि गत्वा भेदभेदाश्रययोर्भेदस्याऽस्वीकारे च तदैक्यद्वारिका मूलपर्यन्तमेकता धावेत् ॥ ३६ ॥

यदि घटपटादिलक्षणो विशेष एव स्वरूपं स्यान्नत्वनुगतमन्यत् तदा दूराद् घटपटाविशेषाऽनवगाहिज्ञानं स्वरूपमात्रावगाह्यपि न स्यादित्याह—'यदि चे'ति। भेदः= विशेषः। संशयविपर्ययौ न स्यातामि'ति त्वपव्याख्यानम्। नन्वभिन्नयोरेव घटपटयोर्भेदो वर्तते इति द्वितीयः पक्षोऽस्त्वित्यत आह—'यदि चे'ति। यदि घटपटावभिन्नावेव भिन्नौ स्यातां तदा घटव्यक्तिरप्यभिन्ना भिन्ना स्यादित्येकं किमपि न भवेत्, तदभावाच्च तत्पर्युदासरूपमनेकमपि न स्यादित्यर्थः। ननु भेदवृत्तावाश्रयावच्छेदकतया भेदाभेदौ न वाच्यौ, किं तर्हि, कुत्र भेदो वर्तते? इति प्रश्ने, धर्मिणि भेदो वर्तते. भेदाभेदौदासीन्येन वर्तते इति वा वक्तव्यमिति न पूर्वदोष इत्यत आह—'एतेने'ति। स्वस्मादपि भेदप्रसङ्गेनेत्यर्थः। स्वस्याप्युदासीनत्वात् धर्मित्वाच्चेतिभावः। ननु स्वरूपवैधर्म्यान्योन्याभावरूपभेदत्रयखण्डनेपि पृथक्त्वस्य सत्त्वान्नाद्वैतमित्यत आह—'अत एवे'ति। अतिदेशमाह—'सोपी'ति। किंच, पृथक्त्वस्य गुणकर्मादावभावात्तदभेदे द्रव्याणामप्यभेदात्। किंच, पृथक्त्वस्यावधिनिरूप्यत्वाद्भेदस्य प्रतियोगिनिरूप्यत्वादिति भावः। अन्योन्याभवे वैधर्म्ये च दोषान्तरमाह—'स्वाश्रयेणे'ति। यद्यपि क्वचिद्गत्वा स्वरूपभेदे पर्यवसानमदुष्टमेव, नचाऽन्योन्याभाववैधर्म्याभ्युपगमानर्थक्यम्, अनुभवबलेन तयोरभ्युपगमात्; मूलपर्यन्तमेकताधावनं स्वरूपभेदप्रतिबद्धमेव, तथापि स्वरूपभेदस्यापि निरस्तत्वादिति भावः ॥३६॥

यदि अभिन्न में भेद रहेगा, तो जो एकव्यक्ति घटादि रूप से प्रतीत होती है, वह भी उस भेद से भिन्न-भिन्न अनेक हो जायगी और इस प्रकार एक के अभाव से अनेक भी व्यवस्थित (सिद्ध) नहीं होगा, क्योंकि एक के पर्युदास (एक से भिन्न एक-सदृश) ही करके एक का समुच्चय रूप अनेक होता है। अतः एक और अनेक के अभाव से शून्यता की प्राप्ति होगी। इस एक के अभाव रूप दोष से ही भेदयुक्त और अभेदयुक्त में भेद नहीं रहता है, किन्तु भेदाभेद से उदासीन धर्मी में भेद रहता है, यह पक्ष भी निषिद्ध हो गया। और इसीसे स्वरूप अन्योन्याभाव, वैधर्म्य, अनात्मक (स्वरूपादि से भिन्न) धर्मान्तर रूप पृथक्त्व अपर (अन्य) नामवाला भेद है। इस पक्ष का भी खण्डन हो गया, क्योंकि वह पृथक्त्व नामक भेद भी भिन्न अपने आश्रय में रहेगा, या अभिन्न में रहेगा, इत्यादि दोषों को लाँघने में अजङ्घाल (मन्दगामी) असमर्थ ही होगा। और पृथक्त्वरूप गुण के गुण कर्म में नहीं रहने से उनके अभेद से द्रव्यों का भी अभेद होगा इत्यादि। और अन्योन्याभावादि रूप सब प्रकार के भेदों को अपने आश्रय के साथ अपने स्वरूप में अभेदापत्ति के भय से यदि वह एक भेद ही अपने स्वरूप में भी रहता है, इस प्रकार माना जाय तो आत्माश्रय दोष होगा। अन्य भेद यदि उस भेद में माना जाय; तो उस अन्य भेद में भी इसी प्रकार से अन्य भेद सिद्ध होगा उस अन्य में भी अन्य होगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। और किसी कक्षा में

भी जाकर भेद और भेद के आश्रय के भेद को नहीं मानने पर, उनकी एकता रूप द्वार वाली एकता मूल पर्यन्त धावा करेगी ॥ ३६ ॥

तदद्वैतश्रुतेस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः।
नानुमानादि तं कर्तुं तवापि क्षमते मते ॥ २० ॥
अद्वैतागमनासीरे साधु सा धुन्वती परान्।
सेवामेवार्जयत्यर्थापत्तिपत्तिपरम्परा ॥ २१ ॥

नन्वद्वैतश्रुतयो वर्णपदविभक्तितदर्थादिभेदानुपजीव्यार्थं प्रतिपादयन्त्यः स्वोपजीव्याभिर्भेदबुद्धिभिर्न कथं बाध्यन्ताम्, उपजीवकस्योपजीव्याद् दुर्बलत्वात्। मैवम्। न वयं भेदस्य सर्वथैवासत्त्वमभ्युपगच्छामः; किंनाम, पारमार्थिकं सत्त्वम्। अविद्याविद्यमानत्वं तु तदीयमिष्यते एव, तदेव च कार्यकारणभावोपयोगि ॥ ३७ ॥

प्रत्यक्षविषयाभावात् प्रत्यक्षबाधो न संभवतीत्युपसंहरति—तदद्वैते'ति। 'नाऽनुमानादी'ति। अनुमानापेक्षयाऽऽगमस्य बलवत्त्वात्। अन्यथा नरशिरः कपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वादित्याद्यप्यवकाशमासादयेदिति भावः। अर्थापत्तेः स्वपक्षानुकूलत्वमुक्तं स्मारयति—अद्वैतेति। अद्वैतागमस्य नासीरे = पुरतः, सा = अर्थापत्तिः, परान् = विरोधिनः प्रमाणाभासान्, धुन्वती = निराकुर्वन्ती, सेवामानुकूल्यमर्जयति = भजते, अत एवार्थापत्तेः पत्तित्वेन निरूपणमुपपन्नमित्यर्थः। श्रुतिजबुद्धेः श्रौतानि नानापदानि कारणमिति नानात्वं विना कार्यकारणभावानुपपत्तिः, तमन्तरेण श्रौतबुद्धेरनुत्पत्तौ कुत्र बाध्यबाधकभावचिन्तेति शङ्कते—नन्विति। नानात्वमात्रस्योपजीव्यत्वं, ननु पारमार्थिकनानात्वस्य, येनोपजीव्यविरोधः स्यादिति परिहरति—न 'वयं भेदस्ये'ति। यद्यप्यद्वैतस्याविद्यकत्वमस्तु, श्रुतिविषयत्वेन तत्पारमार्थिकत्वे प्रत्यक्षविषयतया भेदस्यैव पारमार्थिकत्वं किं न स्यात्, अबाधितसकललोकव्यवहारे प्रतीयमानेष्व्याविद्यकत्वस्य परिभाषामात्रत्वात्, व्यवहारविषयत्वेनैव पारमार्थिकत्वसाधनात्, व्यवहाराऽविषयस्य ब्रह्माद्वैतस्यैवापारमार्थिकत्वसंभवात्; अद्वैतानुरोधाच्छ्रुतेस्त्वयैवोपपादनीयत्वात्, अन्यथा तयैव द्वैतापत्तेः; एवं तज्जनितबुद्धेरपि; यदि च स्वप्रकाशबलादद्वैतं, तदा तत एव द्वैतं किं न स्यात्? न हि स्वप्रकाशस्य न द्वैतं विषय इति प्रतिपादयितुं शक्यसि, तथाप्यहं खाण्डनिको ननु व्यवस्थापक इति भावः ॥ ३७ ॥

तत् (तस्मात्) प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय भेद के मिथ्या होने से, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अद्वैत श्रुति का बाध (विरोधादि) क्षत (नष्ट) तावत् (निश्चित) हो गया। और अनुमानादि की अपेक्षा आगम (श्रुति) की बलवत्ता से अनुमानादि तो उस अद्वैत श्रुति के बाध करने के लिये आप के मत में भी समर्थ नहीं हो सकते हैं। अन्यथा प्राणी के अङ्ग होने के कारण शंखादि के समान नरकपालादि में भी शुचिता का अनुमान होने लगेगा। और जिस श्रुति का सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध नहीं हो सकता है उसका प्रत्यक्षोपजीवी अनुमानादि से बाध की शंका भी युक्त नहीं है ॥ २० ॥

अर्थापत्ति तो अद्वैत श्रुति के अनुकूल ही है, क्योंकि वह अर्थापत्तिरूप पत्ति (पदाति सेना) की परम्परा तो अद्वैतागमरूप विजिगीषु के आगे रह कर, (पर) विरोधी प्रमाणों को साधु (सम्यक्) धुनन = कम्पन = निराकरण करती हुई, अद्वैत श्रुति की सेवा का ही अर्जन (सम्पादन) करती है ॥ २१ ॥

फिर शंका होती है कि वर्ण, पद, विभक्ति और उनके अर्थादि रूप भेदों (भिन्नपदार्थों) को उपजीव्य (कारण रूप से आश्रयण करके) अपने अर्थ का प्रतिपादन करती हुई अद्वैत-श्रुतियाँ अपने उपजीव्य (कारणस्वरूप) भेद बुद्धियों से कैसे बाधित नहीं होगी, अवश्य बाधित होगी, क्योंकि उपजीव्य (कारण) सापेक्ष उपजीवक (कार्य) उपजीव्य से दुर्बल होता है। अतः उपजीवक का बाध होगा, उपजीव्य का नहीं। परन्तु पारमार्थिक अद्वैत के स्वीकार होने पर भी व्यावहारिक भेद के स्वीकार से यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि हम भेद के सर्वथा ही असत्त्व (अभाव) को नहीं मानते किन्तु भेद के पारमार्थिक सत्त्व को नहीं मानते हैं। अविद्या से उस भेद की विद्यमानता (सत्ता) को तो मानते ही हैं। और वह अविद्याजन्य विद्यमानता (सत्त्व) ही कार्यकारणभाव (उपजीवको पजीव्यभाव) का उपयोगी है, पारमार्थिक नहीं। क्योंकि कारण के पारमार्थिकत्व (अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्) इत्यादि से निषिद्ध हो चुका है ॥ ३७ ॥

व्यावर्त्य (निषेध्य) वस्तु के सत्त्व ज्ञानादि के बिना निषेधात्मकश्रुति से ज्ञान नहीं हो सकता, और व्यावर्त्य वस्तु के सत्त्वादि मानने पर उससे श्रुति का बाध होगा इस आशय से शंका और समाधान है—

एतेन एकमेवेत्येवकारव्यवच्छेद्येना ऽद्वितीयमि'ति द्वितीयेन, 'न नाने'ति नानात्वेन, 'किञ्चने'त्यनेन बहुना विना नोपपद्यमानेन, व्याघातः—इत्यपि प्रत्यादिष्टम् । श्रुतिभिश्चाद्वैतार्थाभिः पारमार्थिकमद्वैतं प्रतिपाद्यते, नच पारमार्थिकमतिरपारमार्थिकधिया शक्यबाधा, माभूत्शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधः । यत्र त्वग्निरनुष्ण इतिबुद्धेरुष्णज्ञानोपजीवनादुष्णबोधेनाऽनुष्णबुद्धिबाधस्तत्र द्वयोरप्यविद्याविद्यमानत्वाद्बाधो युक्तः ॥ ३८ ॥

श्रौतपदवर्णनानात्वज्ञानस्योपजीव्यत्वमाशङ्क्य श्रौतपदानामर्थभेदप्रत्ययमन्तरेणाऽप्रतिपादकत्वात् तदुपजीव्यत्वमाशङ्क्याह—एतेनेति, आविद्यकभेदाभ्युपगमेनेत्यर्थः । पारमार्थिकविषयत्वेन श्रुतेरपारमार्थिकभेदविषयकप्रत्यक्षाद्यपेक्षया बलवत्त्वमाह । श्रुतिभिश्चेति । अत्राऽनुरूपं दृष्टान्तमाह—मा भूदिति । ननु यदि पारमार्थिकबुद्धिरपारमार्थिकधियं बाधते इति वस्तुगतिस्तदौष्ण्यग्राहिप्रत्यक्षमनुष्णताऽनुमानं तव मते न बाधेताऽपारमार्थिकधर्मविषयकत्वादित्यत आह—'यत्र त्वि'ति । वस्तुगतिरियं यत् पारमार्थिकविषययैव धियाऽपारमार्थिकधीर्बाध्यते, व्यवहारस्तु वस्तुगतिमननुरुद्ध्यापि, इति व्यवहारदशायां प्रत्यक्षस्यैव बलवत्त्वाद्बाधकत्वमुच्यते इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

एतेन = अविद्या से विद्यमान भेद के स्वीकार से, यह व्याघात (विरोध) भी प्रत्यादिष्ट (प्रत्याख्यात) हो गया। व्याघात भासता है कि (सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्) इस श्रुति में (एकमेव) इस एव शब्द से प्रलय में द्वैत का व्यवच्छेद (अभाव) कहा जाता है, और अद्वितीय पद से द्वितीय का अभाव कहा जाता है। वहाँ प्रतियोगी के बिना अभाव का कथन नहीं हो सकता है। इसी प्रकार (नेह नानास्ति किञ्चन) इस श्रुति में नानात्व और बहुत्व का अभाव कहा जाता है, वह भी प्रतियोगी के बिना नहीं कहा जा सकता है। अतः व्यवच्छेद्य द्वितीय नानात्व और बहुत्व के बिना अनुपपद्यमान (भेद के बिना असिद्ध) किञ्चन से अद्वैतश्रुति का व्याघात (विरोध) होता

है। अर्थात् व्यवच्छेद्य अनेक से, द्वितीय से, नानात्व से और बहुत्व के बिना अनुपपन्न इस किञ्चन से व्याघात होता है। परन्तु व्यावहारिक भेद के स्वीकार से उसका अभाव हो जाता है, क्योंकि अद्वैतार्थवाली श्रुतियों से पारमार्थिक अद्वैत का प्रतिपादन किया जाता है। और पारमार्थिक मति (ज्ञान) अपारमार्थिकबुद्धि (ज्ञान) से बाध के योग्य नहीं हो सकती है जिससे शुक्ति में रजतबुद्धि से परमार्थ शुक्तिमति का बाध नहीं हो, अन्यथा शुक्ति बुद्धि का रजत बुद्धि से बाध होगा। यदि कहा जाय कि पारमार्थिक बुद्धि से अपारमार्थिक बुद्धि का बाध होता है, तो उष्णत्वज्ञान के उपजीवन (आश्रयण) करने से उष्णत्व रूप प्रतियोगी के ज्ञान के बिना असिद्ध होने से) जो अग्नि की अनुष्णता की बुद्धि का उष्णता के ज्ञान से बाध होता है वह नहीं होना चाहिये। और यदि यहाँ उपजीव्यविरोध से बाध होता है, तो श्रुति का भी बाध होना चाहिये, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ उष्णत्व उपजीवन से अग्नि के अनुष्णत्व बुद्धि का उष्णत्व ज्ञान से बाध होता है, वहाँ दोनों ज्ञानों की अविद्या से विद्यमानता होने के कारण वहाँ बाध होना युक्त है। व्यावहारिक से प्रतिभासिक का वहाँ बाध है उपजीव्य विरोध मात्र से नहीं। अतः श्रुतिजन्य बोध का भी उपजीव्य विरोध से बाध नहीं होता है ॥ ३८ ॥

यदि कोई कहे कि जैसे अद्वैतश्रुति को परमार्थ विषयक मान कर प्रत्यक्ष विरोध का निरास किया जाता है, वैसे अग्नि की अनुष्णता के अनुमान को भी परमार्थ विषयक मान कर प्रत्यक्ष विरोध का निराकरण किया जा सकता है। इस पर कहते हैं कि—

ननु, तत्रापि तर्ह्यनुष्णतापि पारमार्थिक्येव साध्यतामबाधनाय। मैवम्। अनुष्णताया जलादिदृष्टान्तसजातीयायाः शीताद्यव्यावृत्तस्वरूपायाः प्रसाधनेनाविद्याविद्यमानत्वे एव विश्रामात्; तत्रैवंविधरूपतानङ्गीकारे चाद्वैतस्यैव नामान्तरकरणापत्तेः; ततस्तस्यां ज्ञेयज्ञानादिभेदावश्याभ्युपेयतयाजगद्बाधयुक्तिकवलाऽप्रवेशासंभवात्। अद्वैते च द्वैताश्रयस्य बाधस्य वास्तवस्यानवकाशादपारमार्थिकत्वसंभावनापि दूरत एवापसर्ततीति ॥३९॥

ननु परमार्थसदद्वैतगोचरा श्रुतिरित्यबाध्येति यथा त्वयोच्यते तथाऽनुष्णतानुमानवादिनापि तस्याः पारमार्थिकत्वमभ्युपगम्यैव तत्रापि प्रत्यक्षबाधोपि निरसनीय इत्याशङ्कते—नन्विति। जलादौ याऽनुष्णता सैव यदि वह्नौ साध्यते तदा तदितरप्रपञ्चबाध्यत्ववत्तद्बाध्यत्वमपि सुलभम्, अथ तद्विलक्षणमेवानुष्णत्वं साध्यते यत्र प्रपञ्चबाधकयुक्तयो न प्रभवन्ति तदा तदेवाऽद्वैतमिति सिद्धं नः समीहितमिति परिहरति—अनुष्णताया इति। ननु कथमद्वैतस्यापि न जगद्बाधकयुक्तिकवलनमत आह—अद्वैते चेति। बाधकयुक्तयो हि भेदगर्भाः, भेदः खण्डित इति वास्तवो बाधो नास्त्येवेति नाद्वैतस्य किञ्चिद्बाधकमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

यदि कहा जाय कि उस अग्नि में अनुष्णता भी बाध के अभाव के लिये पारमार्थिकी ही अनुमान से साध्य है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जलादिदृष्टान्त के सजातीय (तुल्य) शीतादि से अव्यावृत्त (शीतादिस्वरूप) अनुष्णता को अग्नि में प्रसाधन (अनुमान) करेंगे, तो उसकी अविद्या से जलादिदृष्टान्त तुल्य ही विद्यमानता अविद्या से ही होगी। अतः श्रुति से जलादितुल्य बाध्यता भी उसमें होगी, अबाध्यता रूप पारमार्थिकत्व नहीं। और उस अनुमित अनुष्णता में एवंविध (जलादि

दृष्टान्त तुल्य) स्वरूप के अस्वीकार करने पर उष्णता आदि के बाध स्वरूप अद्वैत का ही अनुष्ण, अशब्दादि के समान नामान्तरकरण की प्राप्ति होगी, पारमार्थिक अन्य अनुष्ण वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। और उस नामान्तर करण की प्राप्ति होने पर भी उस अनुष्णतारूप दशा अद्वैत में ज्ञेय ज्ञानादि भेद के अवश्य स्वीकार से जगत् बाधयुक्ति (दृश्य बन्ध खण्डन) के कवल (ग्रास) में उस के अप्रवेश के असम्भव से उसमें अविद्या से ही विद्यमानत्व होगा। और अद्वैत को जगत् बाध युक्ति से कवलितत्व नहीं होता है, क्योंकि अद्वैत में द्वैत जगत् के आश्रित रहने वाला वास्तव बाध का अवकाश नहीं है, क्योंकि वहाँ सत्य ज्ञान ज्ञेयादि का भेद नहीं, अद्वैत स्वयं प्रकाश है। अतः अद्वैत में अपारमार्थिकत्व की सम्भावना भी दूर से ही चली जाती है ॥ ३९ ॥

प्रथम उपजीव्य बाध के अभाव से अद्वैतश्रुति की प्रमाणता सिद्ध की गई है। व्यावहारिक द्वैत के स्वीकार से कार्यकारणभाव में विरोध नहीं है। अब अद्वैतज्ञान की अनुत्पत्ति विषयक शंका होती है कि परमार्थ बुद्धि अपरमार्थ बुद्धि से तब नहीं बाधित होती जब उपजीव्य भेद से अविरोधपूर्वक श्रुति से ज्ञान उत्पन्न होता। परन्तु यह बात नहीं है, ऐसी शंका है कि—

ननु किमद्वैतपरमार्थताभ्युपगमेन समाहितं भवति, यत उपजीव्यबाधादद्वैते प्रमां श्रुतिर्जनयितुं न शक्नोतीति ब्रूमः। मैवम् अद्वैतं हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत नत्वविद्याविद्यमानेन, तस्मादविद्याव्यवस्थितं भेदं तद्बोधं चोपजीवन्त्या न परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाधः। यदि श्रुतिजन्या भवन्त्यप्यद्वैतबुद्धिरविद्याविद्यमाना, तथापि तद्विषयस्तावत्परमार्थसदेवाद्वैतं, विरोधेन च तस्या बाध्यता, स च नास्तीति ॥ ४० ॥

ननु परमार्थमतिरपरमार्थधिया न शक्यबाधेति तदा स्यात् यदि पदार्थनानात्वस्योपजीव्यस्याविरोधादुपजीविकया श्रुत्या ज्ञानं जन्येत, तदेव नास्तीत्याशङ्कते। नन्विति। भेदो, भेदबुद्धिर्वा, नाद्वैतं प्रतिबद्धुमर्हति, अपारमार्थिकत्वादपरमार्थविषयत्वाच्चेति परिहरति—अद्वैतमिति। 'न परमार्थाद्वैतबुद्धेरुपजीव्यबाध इति। प्रतिबन्ध इत्यर्थः। ननु यद्यद्वैतबुद्धिः पारमार्थिकी, तदा तयैव द्वैतम्; अथाऽपारमार्थिकी, तदा बाध्यत्वान्नाद्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्याह—'यदी'ति। इतरप्रपञ्चबुद्धेरपारमार्थिकत्वेपि विषयस्याद्वैतस्य न बाध इति बुद्धेरपि न बाध्यत्वमित्यर्थः। बाधस्य विषयापहाररूपत्वाद्विषयस्य च प्रत्यक्षादिभिरप्यपहर्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥ ४० ॥

अद्वैत को परमार्थ मानने से क्या समाधान (विरोध वारण) होता है? अर्थात् नहीं होता है, क्योंकि उपजीव्य द्वैत के बाध से प्रमाणादि के साथ विरोध से अद्वैत विषयक प्रमाज्ञान को श्रुति उत्पन्न नहीं कर सकती है, ऐसा कहते हैं। परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि यह अद्वैत पारमार्थिक है, अतः पारमार्थिक भेद से बाध्य (विरुद्ध) होता है। और अविद्या से विद्यमान व्यावहारिक द्वैत से बाध्य नहीं होता है। अतः अविद्या से व्यवस्थित (सिद्ध) भेद और उसके ज्ञान को उपजीवन (आश्रयण)

करती हुई परमार्थअद्वैतबुद्धि से उपजीव्य का बाध नहीं होता है। फिर भी शंका होती है कि यदि अद्वैतबुद्धि पारमार्थिक सत्य होगी तो उसी से द्वैत की प्राप्ति होगी। यदि अपारमार्थिक होगी तो बाध्य होने से उससे अद्वैत की सिद्धि नहीं होगी। उत्तर यह है कि यद्यपि श्रुतिजन्य होती हुई भी अद्वैत बुद्धि अविद्या से विद्यमान स्वरूप वाली है, तथापि उसका विषय अद्वैत ब्रह्म परमार्थ सत्य ही है और विषय के विरोध (निरोध=अपहरण) से उस अद्वैत बुद्धि की बाध्यता होती, वह विषय निरोध नहीं है। अतः अद्वैत बुद्धि का अन्य बुद्धि के समान बाध नहीं होता है ॥ ४० ॥

तस्मात्—

पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः।
बाधनादुपजीव्येन बिभेति न मनागपि ॥ २३ ॥

श्रुतिरपि तदाह—'द्वितीयाद्वै भयं भवती'ति। तच्चाद्वैतं 'ब्रह्मैवेदं सर्वमि'ति श्रुत्यर्थेन सहैक्यमापन्नं ब्रह्मैव स्यात्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति च श्रुत्या ज्ञानानन्दात्मतया व्यवतिष्ठते। तेन यदिदमद्वैतज्ञानं श्रुत्या जनितं तद्विज्ञानाद्वैतात्मन्येव निविशते। ननु कथं तस्य श्रुत्या जन्यत्वमुपपद्यते। सत्यमेवं स्यात्, यदि तस्य पारमार्थिकी श्रुत्या जन्यतापि स्यादविद्याव्यवस्थिता तु तज्जन्यता न पारमार्थिकेनाजन्यत्वेन विरुद्ध्यते; अत एव श्रुत्येदमेकं साध्यते। यत्तु, तत्र यद्येकता भेदाभावो, यदि चैकत्वसङ्ख्या, यदि वा ज्ञानात्मकत्वं, यदि वाऽन्य एवैकत्वनामा कश्चिदभेदापरपर्यायो धर्मस्तद्वत्त्वं बोध्यते, तच्चाद्वैतव्याघातकत्वान्न सेद्धुं शक्नोति, तदा तदपि निष्पीडनमसहमानं तज्ज्ञानं श्रुतिजन्यत्वेन सहैव निवर्तताम्, यत्तु तादृशस्याद्वैतस्य धर्मस्य धर्मितया प्रमितं तन्मात्रमबाधादधिगतं परमार्थतो व्यवतिष्ठताम् ॥ ४१ ॥

'प्रविश्ये'ति। विषयीकृत्येत्यर्थः। 'उपजीव्येने'ति। पदपदार्थनानात्वेन तद्गोचरज्ञानेन चेत्यर्थः। ननु कयाचिदद्वैतं, कयाचिद्ब्रह्म, कयाचिद्विज्ञानं, कयाचिदानन्दः, श्रुत्या प्रतिपाद्यते इति श्रुतीनां विरोधे किमपि न सिद्ध्येत्; अविरोधे वा सर्वं सिद्ध्येदित्यद्वैतमनुपपन्नमेवेत्यत आह–'तच्चे'ति। यद्यपि 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मेति' प्रस्तुततयैव श्रुत्या ब्रह्मात्मकत्वसिद्धिः, तथापि श्रुत्यन्तरोपष्टम्भस्तत्राप्युक्तस्तस्यां श्रुतावद्वैतमात्रे तात्पर्यं, ननु ब्रह्मण्यपीति भावः। श्रुतीनां सामञ्जस्यफलमाह—तेनेति। जन्यजनकभावस्याद्वैतपरिपन्थित्वमाशङ्कते। नन्विति। अपारमार्थिको जन्यजनकभावो नाद्वैतविरोधीत्याह–'सत्यमिति'। श्रुतिविषयस्याप्येकत्वादेर्धर्मस्याद्वैतपरिपन्थितामाशङ्क्याह—'अत एवेति। यथाद्वैतज्ञानस्य श्रुतिजन्यत्वमपारमार्थिकत्वान्निवर्तते तथा श्रुतिबोध्यस्य ब्रह्मण एकत्वादिधर्मस्यापारमार्थिकत्वान्निवृत्तौ न नः किञ्चिदनिष्टमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

आविद्यक भेद को अद्वैत श्रुति उपजीव्य रूप से आश्रयण करती है। अतः पारमार्थिक अद्वैतरूप शरण (आश्रय = विषय) को प्रवेश = विषयरूप से आश्रयण करके उपजीव्य पदपदार्थादि रूप भेद और उनके ज्ञान द्वारा बाध से वह तनिक भी भयभीत नहीं होती है, क्योंकि पारमार्थिक अद्वैत अभय स्वरूप है। द्वैत ही भय स्वरूप है ॥ २३ ॥

द्वैत के उक्तभयरूपत्व (भय हेतुत्व) को श्रुति भी कहती है कि द्वितीय से ही भय होता है। यदि कहा जाय कि (एकं ब्रह्मास्त्रमादाय) इत्यादि से ब्रह्म की सत्यता की प्रतिज्ञा करके अद्वैत की सत्यता कहना विरुद्ध है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वह अद्वैत (ब्रह्मैव सर्वम्) सब के बाधाधिकरण सर्वात्मस्वरूप ब्रह्म ही है। इस श्रुति के अर्थ के साथ एकता प्राप्त कर ब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है। वही अद्वैत ब्रह्म (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म) इस श्रुति द्वारा ज्ञान और आनन्दरूप व्यवस्थित (निश्चित) होता है। अतः स्वतः प्रकाश पुरुषार्थरूपता ब्रह्म में सिद्ध होती है। उक्तरीति से सब श्रुतियों के अद्वैत में तात्पर्य अविरोध होने से यह जो अद्वैत ज्ञान श्रुति से उत्पन्न होता है, वह विज्ञानस्वरूप अद्वैतात्मा में ही स्थिर होता है। शंका होती है कि यदि ज्ञानस्वरूप अद्वैत ब्रह्म है, तो उस ज्ञान को श्रुति जन्यता कैसे होगी ? उत्तर यह है कि ऐसा कहना तब युक्त होता, जब उस ज्ञान को श्रुति से सत्य जन्यता (जन्म) भी होती, किन्तु अविद्या से ज्ञान की जन्यता व्यवस्थित है। वह पारमार्थिक अजन्यता से विरुद्ध नहीं होती है। अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति की उत्पत्ति होती है जो ज्ञान स्वरूप का अभिव्यञ्जक होती है। अतः ज्ञान में जन्यता का व्यवहार होता है। वह अविद्या (अविवेक) से होता है। अतः अद्वैत-स्वरूप में कोई विरोध नहीं है। इस पारमार्थिक एकस्वरूप में मिथ्या जनकादिभाव होने पर भी विरोध नहीं है। इसी से श्रुति से यह एक अद्वैत सिद्ध किया जाता है (अद्वैत का प्रतिपादन किया जाता है। यह जो कहा जाता है कि यदि उस ब्रह्म में एकता (एकत्व) भेद का अभावरूप है, अथवा एकत्व संख्यारूप है, यद्वा ज्ञानात्मत्व है, यद्वा इनसे अन्य ही एकत्व नामक, अभेद अन्य नाम वाला कोई धर्म है। उस एकत्व धर्मवत्ता को ब्रह्म में श्रुति से यदि समझाया जाता है और वह एक अद्वैत के व्याघातक (विरोधी) होने से ब्रह्म में सिद्ध नहीं हो सकता है तो इसका समाधान यह है कि वह एकत्व और उसका ज्ञान भो निष्पीडन (तर्काघात) को नहीं सहन करता हुआ ज्ञानगत श्रुतिजन्यत्व के साथ ही निवृत्त होता है। अर्थात् अद्वैतज्ञान के श्रुतिजन्यत्व जैसे अपारमार्थिक होने से निवृत्त होता है, वैसे एकत्वादि भी निवृत्त होते हैं, क्योंकि एकत्व, भेदाभावादि सब अपारमार्थिक हैं। जो तादृश (निवृत्त होने वाले) अद्वैत (एकत्व) धर्म का धर्मीरूप से श्रुति से प्रमित अबाध से परमार्थरूप से अधिगत (ज्ञात) होता है तावन् मात्र ही व्यवस्थित (निश्चित) होना चाहिये ॥ ४१ ॥

जन्यत्व एकत्वादि धर्म की निवृत्ति होने पर भी प्रमित (अधिगत) धर्मी की स्थिति के वर्णन को सुन कर शंका हुई कि धर्म की निवृत्ति के साथ धर्मी की भी निवृत्ति से अनिष्टापत्ति होगी, तो धर्म की निवृत्ति से धर्मी की अनिवृत्ति में दृष्टान्त देते हैं—

नहि परमार्थशुक्तौ रजततया प्रतीयते यदा, तदा बाधात्तत्र रजतत्वे व्यावर्त्तमाने धर्मिव्यक्तिरपि तदपराधान्निवर्तते। सेयमद्वैतबुद्धिर्न तर्कशतमवतार्य प्राज्ञैरपनेया, यद् आह श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति तस्मात्—

धीधना बाधनायाऽस्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥ ४२ ॥

नन्वेकयैव धियाऽद्वैतं विशिष्टमुपस्थापितं, तत्र विशेषणांशेऽयाथार्थ्येऽपि विशेष्यांशे का प्रत्याशा इत्याशङ्क्य निदर्शनमाह—नहीति। 'धर्मिणि सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय' इति भावः॥ ननु श्रुतिव्युत्पादनमेतावता षण्ढस्य मैथुनवदकिञ्चित्करमेव, तदुपस्थाप्यस्याद्वैतस्य स्वयैव निरसनात्; किंच, द्वैतमेव तदुपस्थाप्यं किं न व्युत्पादितं? धर्मत्वेन तन्निवृत्तेरप्यद्वैतवदेव संभवात्; कथं वा श्रुतेः प्रामाण्यं? तज्जनितज्ञानस्याप्रमात्वपर्यवसानात्; तदप्रामाण्ये वा कथमद्वैतं? कथं वा द्वैतादिसकलधर्मविनाकृतस्य ब्राह्मणः सिद्धिः स्वप्रकाशस्य ब्रह्ममात्रविषयत्वात्, धर्माभावे तस्याऽतन्त्रत्वात्, ब्रह्मणि चाऽविप्रतिपत्तेः; द्वैताऽद्वैतविचारस्य गर्दभीक्षीरमथनायमानत्वात्; ब्रह्म सर्वैः स्वीक्रियते, तदेकत्वं त्वयापि नाभ्युपगम्यते, तथाच सर्वमिदमाकुलमित्यत आह—'सेयमिति'। 'नैषेति'। यद्यपि श्रुतेस्तर्कासहत्वं दोष एव, अन्यथा मीमांसाप्युच्छिद्येत, मीमांसायास्तर्कत्वात्; यदाहुः 'मीमांसासञ्ज्ञकस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः। सोऽतोवेदोरुमाप्राप्तकाष्ठादिलवणात्मवत्', उक्तं च 'यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर'—इति, तथापि श्रुतिवाक्यानुरोधेन तर्कोऽनुसरणीयो नतु तद्विरोधेनापीति भावः। श्रुत्या यदद्वैतज्ञानमुत्पन्नं तदपवर्गानुकूलमिति नापवदितव्यमित्युपसंहरति 'तस्मादि'ति॥ ४२॥

लौकिक परमार्थता (सत्यता) से युक्त शुक्ति जब रजतरूप से प्रतीत होती है, तब बाध से वहाँ रजतत्व धर्म के निवृत्त होने पर भी उस आरोपित धर्म की निवृत्तिरूप अपराध (दोष) से धर्मीरूप शुक्ति व्यक्ति नहीं निवृत्त होती है। इसी प्रकार कल्पित एकत्वादि की निवृत्ति (बाध) से प्रमित सर्वात्मा धर्मी की निवृत्ति नहीं होती है। अतः श्रुतिसिद्ध यह अद्वैतात्मबुद्धि श्रुतिविरुद्धतर्कशत (सैकड़ों तर्क) के अवतार (सर्जन) करके बुद्धिमानों से त्याग-योग्य नहीं है कि धर्म के अभाव से धर्मी का भी अभाव होगा, असङ्गात्मा के साथ बुद्धि का सम्बन्ध कैसे होगा इत्यादि। क्योंकि मिथ्या धर्म सम्बन्धादि के रहने पर भी पारमार्थिक का अभाव सत्य में रहता है। यह उक्त दृष्टान्त से समझना चाहिये। श्रुति से जो अद्वैत ज्ञान होता है वह मोक्षार्थक होता है। अतः उसका तर्कादि से अपवादादि नहीं करना चाहिये। इस आशय से कहते हैं कि हे बुद्धिरूप-धनवाले पण्डितजन! इस अद्वैत के बाध (विरोध) के लिये अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) को तब प्रवृत्त करो जब हाथ में प्राप्त-स्थित चिन्तामणि को समुद्र में फेंकने की इच्छा करो। जब ऐसा दुर्भाग्य प्राप्त हो तो अद्वैत-बुद्धि का बाध करो अन्यथा प्राप्तचिन्तामणि के समान उसकी रक्षा करो॥ ४२॥

शंका होती है कि यह अद्वैतबुद्धि केवल अदृष्टार्थक है। अतः दृष्टादृष्ट फल के इच्छुक की इसके लिये प्रवृत्ति नहीं हो सकती है और प्रायः मनुष्य दृष्टादृष्ट उभय-फलेच्छुक होते हैं। अतः कहते हैं कि—

सेयमद्वैतदृष्टिर्दृष्टार्थापि, यदाहुः—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'। तस्मात्—

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते॥ २५॥

तस्मात्—

आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्
अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम्।

तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा
निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात् ॥ २६ ॥ ४३ ॥

ननु मुमुक्षुतादशायां मयाप्येकमेव ब्रह्म ध्येयमिति किमनेनोपदेशेनेत्यत आह—'सेयमि'ति । मोक्षान्यप्रयोजनकत्वं दृष्टार्थत्वम् ॥ 'स्वल्पमपी'ति । अद्वैतोपासनलक्षणस्य धर्मस्य स्वल्पमपि महतो भयाद्राजचौरव्याघ्रादिभयात्त्रायते इत्यर्थः । उत्पन्नमात्रेणाप्यद्वैतज्ञानेन विषयेष्वलंप्रत्ययवतोऽविचिकित्सस्य राजचौरादिभयं निवर्तते किं पुनर्गृहीतप्रामाण्येनेति भावः ॥ एतदेवोपसंहरति—'तस्मादि'ति । अद्वैतानुभवजनितः संस्कारः; यद्वाऽद्वैतं प्रति भावना, अद्वैतबुभुत्सेत्यर्थः । 'यदी'ति लोकोक्तिः ॥ ननु यद्यद्वैतज्ञानस्य श्रुतिजन्यत्वमपि निरस्तं, तदा तत्र किं प्रमाणं ? कथं वा 'श्रुतिस्तत्र प्रमाणमि'त्यभिधीयते ? इत्यत आह—'आपातत' इति । अविद्यादशायां वाच्यवाचकभावोपग्रहेणेत्यर्थः । पारमार्थिकी चित्= परमार्थचित् ॥ 'निष्पीडितादि'ति । 'ब्रह्मैवेदं सर्वमि'त्यादिश्रुत्यैकवाक्यतया 'परिशोधितादित्यर्थः । 'अहहे'ति स्वकीयतादशानुभवचमत्काराविष्कारः ॥ ४३ ॥

पूर्वोक्त अद्वैतदृष्टि दृष्टादृष्ट दोनों फलवाली है । अर्थात् विदेह मोक्ष से अन्य भय-निवृत्ति, शान्ति, जीवन्मुक्ति और सुखादि दृष्ट फल होते हैं । विदेह मुक्ति अदृष्ट फल होता है । भगवान् कहते हैं कि इस ईश्वरार्पित नित्यादि धर्म का अद्वैतोपासनारूप धर्म का स्वल्प अंश भी ज्ञान द्वारा महाभय संसारादि से रक्षा करता है । परन्तु यह अद्वैत-बुद्धि निष्काम शुभ कर्म भक्ति आदि द्वारा ईश्वरानुग्रह बिना नहीं होती है । अतः महाभय से त्राण (रक्षा) करने वाली यह अद्वैत-वासना (भावना संस्कार) यदि होती है, तो ईश्वर के अनुग्रह से दो-तीन पुरुषों को ही होती है, बहुतों को नहीं । अतः मुमुक्षुको ईश्वरानुग्रह के लिये यत्न कर्त्तव्य है ॥ २५ ॥

चिन्तामणि-तुल्य दुर्लभ ईश्वरानुग्रह से लभ्य होने ही से अद्वैतवादिनी श्रुतियों के अर्थरूप से जो अद्वैत ब्रह्म प्रथम अज्ञान दशा में आपाततः (सामान्य रूप से परोक्ष) मुझ से आकलित (अवगत = ज्ञात) हुआ वह स्वयंप्रकाश चित्स्वरूप ब्रह्म ही निष्पीडित (संशोधित) विचार से स्वप्रकाश परमार्थचित्-स्वरूपात्मा होकर स्वयं अनुभूत होता है । यह भारी चमत्कार (आश्चर्य) है ॥ ३५ ॥ ४३ ॥

(तदित्थं त्वदङ्गीकृतसद्विचारलक्षणोपपन्नैरेवंविधैर्विचारैः) यहाँ से आरम्भ करके वर्णित-प्रतिपादित अर्थ का उपसंहार करते हैं कि—

तदिदमेताभिरात्ममतसिद्धसद्युक्तिलक्षणोपपन्नाभिर्युक्तिभिरुपनीयमानमद्वैतमविद्याविलासलालसोपि श्रद्धातु तावद्भवान्, तदनुचानयैवोपनिषदर्थश्रद्धयाऽध्यात्मं जिज्ञासमानः परमार्थतत्त्वं क्रमाद्वृत्तिव्यावृत्तचेताः स्वप्रकाशसाक्षिकं माक्षिकरसातिशायि स्वात्मनैव साक्षात्करिष्यति । यथा च परिहृतचापलमात्मतत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसं तथाहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे—इत्येषा दिक् ॥ ४४ ॥

नन्वेतास्त्वदुक्तयो मह्यं न रोचन्ते, न वाऽद्वैतवासनाभिर्भरमथिताभिरद्वैतज्ञानं जनयितुं शक्यं, न वा जनिते तस्मिन्नस्माकमादरः शरीरात्मभेदसाक्षात्कारलक्षणतत्त्वज्ञान-परिपन्थित्वादित्यत आह—'तदिदमि'ति । उद्धृतकण्टकत्वादिना युक्तयः सद्युक्तय एव,

नचाऽद्वैतज्ञानस्य तत्त्वज्ञानविरोधित्वं, भेदज्ञानस्य तत्त्वज्ञानत्वाभावादिति भावः। 'क्रमादि'ति। तत्र बहिरिन्द्रियविषये स्पृहालेशश्चेतसो या वृत्तिस्तद्व्यावृत्तचेता युञ्जान इत्यर्थः। मनोवृत्तयः कामादयस्तद्व्यावृत्त इति वार्थः। ननु साक्षात्कार ब्रह्मणोविषय-विषयिभावे भेद एवेत्यत आह—'स्वप्रकाशे'ति। 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' इत्याद्युक्तमानन्दहेतुत्वं योगस्याह-'माक्षिकरसातिशायी'ति। ननु चेतसो वृत्तिव्या-वृतिरेवाशक्या, भोगस्पृहाया नित्यं जागरूकत्वादित्यत आह—'यथा चे'ति। 'दिगिति। पातञ्जलाद्युक्तयोगाद्युपायं सूचयति ॥ ४४ ॥

अतः अपने न्यायमत में सिद्ध बाधादिराहित्यरूप सत्ययुक्तियों के लक्षण से युक्त इन पूर्वोक्त युक्तियों से उपनीयमान इस पूर्ववर्णित अद्वैतक को अविद्या के विलास (कार्य) रूप भेद में लालसा (रुचि) वाले भी आप प्रथम श्रद्धा का विषय करो। अद्वैत में श्रुत्यर्थता के कारण विश्वास करो। फिर उसके बाद इस उपनिषदर्थ-विषयक श्रद्धा से अध्यात्म वस्तु जीवेश्वर के परमार्थ स्वरूप की जिज्ञासा (विचार) करते हुए क्रम से बाह्य वस्तुविषयक स्वाभाविकवृत्तियों से व्यावृत्त (रहित) चित्तवाले होकर, स्वप्रकाश-साक्षिक (वृत्तियों में स्वयमभिव्यक्त) माक्षिकरसातिशायि (अत्यन्त मधुर आनन्द-स्वरूप) परमार्थतत्त्व (अद्वैतब्रह्म) को अपने ही मन से साक्षात् अनुभव करोगे ॥

स्वाभाविक मनोवृत्ति के निरोध को अशक्य समझना उचित नहीं है, क्योंकि परित्यक्त चञ्चलतावाला मानस (मन) अनायास ही जिस प्रकार से आत्मतत्त्वामृत रूप सरोवर में निमग्न होकर, उसी में राग करता है, वह प्रकार मैंने नैषध-चरित के परमपुरुषस्तुति प्रकरणात्मक सर्ग में कहा है। वहाँ द्रष्टव्य है। अद्वैत साधन में यहाँ यह दिग्दर्शन कराया गया है ॥ ४४ ॥

शंका होती है कि अद्वैत साधनमात्र में यदि परपक्षखण्डनात्मक इस ग्रन्थ का तात्पर्य हो तो मुमुक्षुमात्र की इसके अध्ययन में प्रवृत्ति होगी। फिर (लोकेषु दिग्विजय-कौतुकमातनुध्वम्) इस उपक्रम से विरोध होगा। इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि अथवा पर-पक्ष-खण्डनमात्र में तात्पर्य होगा, तो मुमुक्षु की प्रवृत्ति नहीं होगी ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि—

अभीष्टसिद्धावपि खण्डनाना-
मखण्डिराज्ञामिव नैवमाज्ञा।
तत्तानि कस्मान्न यथाऽभिलाषं
सैद्धान्तिकेष्वप्यद्ध्वनि योजयध्वम् ॥ २७ ॥

तदेतादृशीषु सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु काममास्माकीनाः खण्डनयुक्तयः प्रगल्भन्ते, यासामीश्वरपरवशां विश्वव्यवस्थामनास्थाय निरसनमशक्यं तासामेवावतारणार्थमयं प्रावादुकप्रवादोपन्यासः। तथाहि—यदि शून्यवादा-निर्वचनीयपक्षयोराश्रणं, तदा तावदमूषां निराबाधैव सार्वपथीनता ॥ ४५ ॥

नन्वेवं मुमुक्षुमात्रोपासनीयता ग्रन्थस्य स्यात्, तथाच 'लोकेषु दिग्विजयकौतु-कमातनुध्वनि'त्युपक्रमविरोध इत्याशङ्क्य तदपि फलमन्वाचिनोति—'अभीष्टे'ति। नित्यानित्यविचारेपि खण्डनयुक्तीरवतार्य विजयादिकं फलमासादनीयमित्यर्थः। एतादृशी-ष्वपीति। रचनीयसिद्धान्तास्वपीत्यर्थः। प्रागल्भ्यमेवाह—'यासामिति'। 'इदमित्थमेवे'ति

यदीश्वरः कश्चिदाज्ञामात्रेण विश्वं व्यवस्थापयति तदा परसमूषां निरसनं नान्यथेत्यर्थः। यद्वा, ईश्वरः = ब्रह्म, तत्परवशामिति। यावद् ब्रह्मैवेदं सर्वमिति विश्व न व्यवस्थाप्यते तावन्नामूषां निरास इत्यर्थः॥ 'तासामिति'। खण्डनयुक्तीनामवतारणार्थम् अवतारस्थल-ज्ञापनार्थम्, अयम्=अग्रेतनः प्रावादुकानां माध्यमिकादीनां, प्रवादस्य दर्शनस्योपन्यास इत्यर्थः॥ विशेषदर्शनोपन्यासमेवाह—तथाहीति। दर्शनानि शून्यत्वाऽनिर्वचनीयत्वादीनि॥ ४५॥

एवम् (इस उक्त रीति) से अपने-अपने अभीष्ट की सिद्धि में भी खण्डनों की आज्ञा राजाओं की आज्ञा के समान मैंने खण्डित नहीं की है। अभीष्ट-सिद्धि से खण्डन की सामर्थ्य का निवारण नहीं किया है, जैसे राजा की आज्ञा का निवारण नहीं किया जाता है। अतः उन खण्डनों को सिद्धान्त-सम्बन्धी मार्ग में भी अपनी इच्छा के अनुसार क्यों नहीं लगाते? ॥ २७॥

जिससे नित्यानित्यादि के विचारादि में भी खण्डनयुक्ति की प्रवृत्ति होती है, अतः एतादृश = रक्षणीय, सब दर्शनस्थिति (सिद्धान्त) में यथेष्ट मेरी खण्डन-युक्तियाँ बलात् प्रवृत्त होती हैं। ईश्वरपरवश (ईश्वराधीन) विश्व की व्यवस्था को न मानकर खण्डन करना अशक्य है। किन्तु ईश्वराधीन जगत् को मानकर युक्तियों का खण्डन किया जाता है कि ईश्वर-रचित प्रमाण-प्रमेयादि व्यवस्था है। अतः इस व्यवस्था का खण्डन करनेवाली युक्ति नहीं है, इत्यादि। उन युक्तियों के अवतार-विषय (प्रदर्शन) के ही लिये यह वादियों के वाद का उपन्यास (कथन) किया जाता है। वह इस प्रकार का है—यदि शून्यत्वानिर्वचनीयत्वादि दर्शनों में शून्यवाद तथा अनिर्वचनीयवाद पक्ष का आश्रयण होता है, तो इन खण्डन-युक्तियों की सार्वपथीनता = (सर्वपथगामिता) निर्बाध ही रहती है, क्योंकि इन दोनों पक्षों में पदार्थ को साधने की आवश्यकता नहीं रहती है॥ ४५॥

शंका होती है कि क्या पदार्थों को साधनेवालों को युक्ति की आवश्यकता नहीं होती है तो कहते हैं कि—

यदि तु प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तृमतावलम्बनं, तदापि लक्षणखण्डनयुक्तीनां लक्षणविशेषखण्डने, लक्ष्यखण्डनयुक्तीनां च तद्विषयप्रमाणादिविशेषखण्डने, प्रत्येकं तात्पर्यम्। नच सौत्रादिलक्षणखण्डनेऽपसिद्धान्तापत्तिः तादृश्याः सूत्रादिव्याख्यायाः खण्ड्यमानत्वात्। न च वाच्यं लक्षणविशेषवस्तुव्यवस्थापकप्रमाणविशेषसूत्रादिव्याख्याविशेषखंडनपरत्वेन लक्षणान्तरं, प्रमाणान्तरं, व्याख्यान्तरं च, वाच्यं प्रसज्येत भवतोपीति, वितण्डाकथामालम्ब्य खण्डनानां वक्तव्यत्वात्, तत्र च व्यावृत्य स्वपक्षहिर्वाहं प्रति पर्यनुयोगानवकाशात्॥ ४६॥

नन्वनिर्वचनीयत्वादौ खण्डनयुक्त्यवतारेपि सैद्धान्तिकाध्वयोजनं न जातमत आह—'यदि त्वि'ति। प्रमाणादिसत्ताभ्युपगन्तारः—सिद्धान्तिनस्तेषामपि परस्परं कथायां लक्षणविशेषखण्डनार्थमवतारः संभवत्येवामूषामित्यर्थः। नन्वत्र न लक्षणमात्रखण्डने युक्तयः सन्ति, किंतु लक्ष्याण्यपि प्रमाणादीनि खण्डितान्येव, तथाच तद्युक्तीनां सिद्धान्तिभिरव-

तारणेऽपसिद्धान्तापत्तिरित्यत आह—'लक्ष्येति। येन प्रमाणेनैकस्तल्लक्ष्यं व्यवस्थापयति तत्खण्डनमेव लक्ष्यखण्डनं, नतु लक्ष्यस्य प्रमाणान्तरेणापि सिद्धिरनपेक्षिता येनापसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः। 'प्रत्येकमि'ति। कथकयोः प्रत्येकमित्यर्थः। ननु लक्षणविशेषोपि सौत्र एव, तथाच तन्मात्रमतानुसारिणा तत्खण्डने कथं नापसिद्धान्त इत्यत आह—'नचेति। तादृश्या इति। यादृश्याः प्रकृते खण्डनीयं लक्षणं पर्यवस्यतीत्यर्थः। 'नचे'ति। लक्षणसामान्यस्य, लक्ष्यस्वरूपस्य, सूत्रव्याख्यायाश्च, तन्मतानुसारिभिरवश्यं रक्षणीयत्वादिति भावः। 'वितण्डे'ति। वितण्डायाः प्रतिपक्षस्थापनाहीनत्वेन खण्डनानन्तरं तत्र लक्षणादीनां व्यवस्थापनीयत्वाभावादित्यर्थः॥ ४६॥

जब प्रमाणादि की सत्ता को मानने वाले के मत का अवलम्बन किया जाता है, तब भी लक्षण के खण्डन विषयक युक्तियों का अन्य के लक्षणविशेष के खण्डन में और लक्ष्य के खण्डन की युक्तियों का उक्त लक्षण के विषय प्रमाणादिविशेष के खण्डन में वादियों का भिन्न २ तात्पर्य रहता है। यदि कहा जाय कि प्रमाणादि को मानने वाले यदि प्रमाणादि के सौत्रादि लक्षणों का खण्डन करेंगे, तो अपसिद्धान्त (सिद्धान्तत्याग) को प्राप्ति होगी, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि तादृश (जैसे लक्षण का खण्डन हो सके उस के अनुकूल) सूत्रादि की व्याख्या का ही उन से खण्डन किया जाता है, सूत्रादि का नहीं। यदि कहा जाय कि लक्षणविशेष, वस्तु के व्यवस्थापक प्रमाणविशेष और सूत्रादि के व्याख्याविशेष के खण्डनपरत्व (खण्डनपरायणता) से आप को भी लक्षणान्तर, प्रमाणान्तर और व्याख्यान्तर कहना पड़ेगा, क्योंकि लक्षणादि के विना व्यवहार की तथा खण्डन स्वमत की सिद्धि नहीं हो सकती है, तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वितण्डानामक स्वपक्षस्थापनरहितकथा का अवलम्बन करके खण्डनों का प्रयोग किया जाता है, और उस वितण्डा में परपक्ष से व्यावृत्त हो कर स्वपक्ष के निर्वाह के प्रति प्रश्नरूप पर्यनुयोग (प्रेरणा) का अवकाश नहीं होता है॥ ४६॥

दर्शन के भेद रहते समान (तुल्य) लक्ष्यलक्षणवादियों के खण्डन अवसरों को कहकर अब एकदर्शनावलम्बियों के खण्डन प्रसङ्ग को कहते हैं कि—

एवं च सति वादिदर्शनमाश्रित्यापि खण्डनप्रयोगो निर्बाध एव, एकदेशिवत् प्रत्यवस्थातुं शक्यत्वात्। वैयाकरणानामिव च शब्दसिद्धिप्रश्नस्य परकीयतत्त्वज्ञाननिरूपणार्थं समानपक्षस्थित्यापि पर्यनुयोगसांव्यवहारिकतायाः संभवात्, वस्तुस्थितिं कुर्वाणेन च विचारकेणाऽवश्यमेता युक्तय उद्धरणीयाः अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति वादेपि प्रयोगः संभवत्येव खण्डनयुक्तीनाम्। जल्पस्त्वेकाकथा न संभवत्येवाऽसामयिकी वितण्डाद्वयशरीरत्वात्॥ ४७॥

दर्शनभेदेन समानलक्ष्यलक्षणयोर्वादिनोः खण्डनावसरमभिधाय दर्शनाभेदेनापि तदवतारमाह—'एवं चे'ति। स्वपक्षनिर्वाहं प्रति पर्यनुयोगानवकाशे सतीत्यर्थः। अभिन्नदर्शनयोः कथायां दृष्टान्तमाह—'वैयाकरणानामिवे'ति। ननु तत्रतत्रावतरन्तु नाम खण्डनयुक्तयः, स्थापनावादिना तु तासामुपेक्षैवोचिता, तथाच किमनेनावतारेणेत्यत आह—'वस्तुस्थितिमि'ति। वादे संभवमाह—'वादेपी'ति। वस्तुस्थितिमित्यत एकैवेयं फक्किका। ननु जल्पे स्वस्वपक्षस्थापनाया आवश्यकत्वात् कथममूषां स्वपक्षव्याघातपराहतानामवतार

इत्यत आह—'जल्पस्त्वि'ति। एकेन स्थापनायां कृतायामन्येन तद्दूषणाभिधानमित्येका वितण्डा, द्वितीयेन स्थापनायां कृतायां प्रथमेन दूषणाभिधानमित्यपरा वितण्डा, ताभ्यां वितण्डाभ्यां चैको जल्पः संपद्यते, इति तत्राभिधानमात्रमित्यर्थः। ननु स्वपक्षस्थापनाऽपरपक्षदूषणसामर्थ्यं यत्र द्वयोरपि निरूप्यं तत्र तथा जल्पः संभवत्येवेत्यत आह—'असामयिकी'ति। समयाधीनतया कथाप्रवृत्तौ खण्डनानवतारेपि न क्षतिः, प्रमाणसिद्धकथाप्रभेदे खण्डनप्रागल्भ्यस्यापेक्षितत्वादिति भावः॥ ४७॥

उक्तरीति से स्वपक्ष निर्वाह के लिये पर्यनुयोग के अनवकाश होने पर वादी के दर्शन का आश्रयण (स्वीकार) करके भी (एक दर्शनानुगामी होकर भी) खण्डन युक्ति का प्रयोग निर्बाध ही रहता है। क्योंकि दर्शन के एक देश को मानने वाला एक देशी जैसे अपने ही दर्शन के किसी अंश का खण्डन करता है वैसे एक दर्शन में भी प्रत्यवस्थान (प्रश्न) किया जा सकता है। जैसे कि वैयाकरणों के शब्द-सिद्धि विषयक प्रश्न का सम्भव होता है। अर्थात् गौः, आदि शब्द को साधु मान कर भी उस के साधनविषयक प्रश्न का सम्भव होता है। वह अन्य के तत्त्वज्ञान के निरूपण (परीक्षा) के लिये समान (एक) पक्ष (सिद्धान्त) में स्थिति द्वारा भी पर्यनुयोग (प्रश्न) के सांव्यवहारिकता (सम्यक् व्यवहारसम्बन्धिता) से सम्भव होता है। एक दर्शन पक्ष में भी तत्त्वार्थ की परीक्षा के लिये प्रश्न निर्बाध है। वादकथा में स्वपक्षसाधनमात्र कर्तव्य होता है, अतः वहाँ खण्डनयुक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता है, तो युक्ति को सार्वपथीनता कैसे हो सकती है? इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि वस्तुस्थिति (सत्य वस्तु के निर्णय) करने वाला विचारकर्ता को भी स्वपक्ष के खण्डन के लिये प्रयुक्त युक्तियाँ युक्तियों से ही उद्धरणीय होती हैं। अतः वादकथा में भी खण्डनयुक्तियों के प्रयोग का सम्भव ही है। क्योंकि, युक्ति के प्रयोगपूर्वक खण्डनयुक्तियों के उद्धार के बिना वस्तु की स्थिति का अभाव होगा। और असामयिक (अपारिभाषिक) संकेतविशेषरहित जल्पनामक कथा तो परस्पर की स्थापना के खण्डनात्मक दो वितण्डारूपशरीर (आकार) वाले होने के कारण एक कथा ही नहीं हो सकती है। अतः उसमें युक्तिप्रवेश का विचार भी नहीं किया जाता है, किन्तु संकेतपूर्वकप्रवृत्त न्याय सूत्र से सूत्रित लक्षण के अनुसार प्रवृत्त जल्प में युक्ति का प्रयोग होता ही है॥ ४७॥

अन्यथा जल्पद्वयेनापि किमित्येका कथा न कल्प्यते, अवोचाम च जल्पविचारप्रस्तावे विस्तरेणैतदिति, जल्पकथयापि चाभिधाने स्वपक्षे व्यावर्त्य सदोषस्यापि प्रमाणतयाभिधानं कृत्वा तद्दोषोद्भावनकारिकामपि खण्डनयुक्तिमवतार्य बाधनीय इति जल्पे नात्यन्तमनवकाशाः खण्डनयुक्तयः॥ ४८॥

ननु जल्पः कथं तृतीयकथा समयमन्तरेणैव न संभवतीत्यत आह—'अन्यथे'ति। स्वपक्षद्वयस्थापनपरपक्षद्वयखण्डनशक्तिनिरूपणार्थं जल्पद्वयेन कथान्तरसंभवादित्यर्थः। 'अवोचामे'ति। ईश्वराभिसन्धाविति शेषः। ननु दशरथदशाननतनययुद्धवत्काकोलूकयुद्धवच्च कृतविद्यकुमारद्वययुद्धमनुभवसिद्धमेव, तथैव स्वपक्षरक्षणपरपक्षखण्डनफलकं कथान्तरं जल्पः किं न स्यादत आह—जल्पकथयापी'ति। परपक्षदूषणाभिधानानन्तरं

स्वपक्षे सद्धेतोरपरिस्फूर्तौ सदोषमपि प्रमाणमुपन्यस्य तद्दोषनिरासाय खण्डनावतार-सम्भवात्, पुनः स्वपक्षस्थापनाव्यावृत्तेरभावादिति भावः॥ ४८॥

अन्यथा यदि दो वितण्डात्मक जल्प को स्वतन्त्र कथा मानी जाय तो प्रमाण छलादि से स्वपक्षस्थापन परपक्षनिषेध करने पर प्रतिवादी से स्वपक्षस्थापनवादी पक्ष के निषेध के बाद फिर वादी द्वारा उस के पक्ष के खण्डनपूर्वक स्वपक्ष के स्थापनादि रूप दो जल्प के द्वारा भी एक स्वतन्त्र कथा क्यों नहीं कल्पित होती है ? तो जैसे दो जल्प एक कथा नहीं होती है, वैसे ही दो वितण्डा भी एक कथा नहीं होती है। यह जल्पविचार के कारण में विस्तार से कहा गया है । और परमतसिद्ध सूत्रित-जल्पकथा के द्वारा भी कथन करने पर स्वपक्ष में प्रतिवादी से वर्णित दोष की व्यावृत्ति (निवारण) करके, और दोषसहितप्रमाण को निर्दोषप्रमाणरूप से कथन करके, उसमें दोष का उद्भावन (प्रकट = वर्णन) करने वाला प्रतिवादी, किसी भी युक्ति के अवतारण (प्रदर्शन) करके बाधनार्ह होता है। अतः जल्प में भी खण्डन युक्तियाँ अत्यन्त अनवकाश नहीं रहती हैं॥ ४८॥

॥ यहाँ तक अद्वैत के प्रमाणादि का निरूपण हुआ है॥

सामन्य लक्षणखण्डन के बाद अब प्रमालक्षण का खण्डन किया जाता है—

कीदृश्यः पुनस्ताः ? उच्यन्ते । तथाहि—लक्षणाधीना तावल्लक्ष्यव्यवस्थितिर्लक्षणानि चाऽनुपपन्नानि, ज्ञाताधिकरणादिलक्षणनिरूपणद्वारेण चक्रकाद्यापत्तेः। तेषु तावत् 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा'—इत्यप्ययुक्तं, तत्त्वशब्दार्थस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। तस्य भावो हि तत्त्वमुच्यते, प्रकृतं च तच्छब्दार्थः, नचात्र प्रकृतं किञ्चिदस्ति यत्तच्छब्देन परामृश्यते । अथ अनुभूत्या स्वसंबन्धिविषय आक्षेपाद्बुद्धिस्थः कार्यते, स तच्छब्देन परामृश्यते, वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थतायामेव प्रकरणपदार्थविश्रामात्; तेन यस्यार्थस्य यो भावस्तत्तस्य तत्त्वमुच्यते इति, न, अरजतादेरपि रजताद्यात्मनाऽनुभूतिविषयतासंभवादसत्यानुभूत्यव्यवच्छेदात्॥ ४९॥

तत्रादौ लक्षणसामान्यखण्डनयुक्तिमवतारयति—'लक्षणानि चे'ति । लक्षणेन हि गन्धवत्त्वादिना ज्ञाते लक्ष्ये पृथिवीस्वरूपेऽधिकरणे प्रतिबन्धबलेन व्यवहाररूपमितरभेदरूपं वा साध्यं साधनीयं तत्र लक्षणज्ञानमन्यलक्ष्यसाधारण्येन भवदप्यकिञ्चित्करमिति व्यावृत्ततया तज्ज्ञानमुपेयं, तद्यदि लक्षणव्यावृत्तिर्लक्ष्याधीना, तदाऽन्योन्याश्रयः, लक्ष्यपरतन्त्रलक्षणान्तराधीनत्वे चक्रकं, लक्षणे लक्षणान्तरं तत्रापि लक्षणान्तरमित्यपरावृत्तानवस्था; एवं भवदप्यकिञ्चित्करमिति। एवं जलादिसाधारण्येन ज्ञातायां पृथिव्यामितरभेदसाधनमकिञ्चित्करमिति व्यावृत्तायां तस्यां तत्साधनं वाच्यं, तद्व्यावृत्तिर्यदि प्रकृतलक्षणाधीना, तदाऽन्योन्याश्रयः; लक्षणान्तरेण चेत्तदा प्रकृतलक्षणानुपयोगः; तदपि लक्षणं व्यावृत्तायामेव तस्यामित्यधोऽधो धावन्त्यनवस्था। एवं प्रतिबन्धज्ञानसाध्यज्ञानादावप्यूह्यम्। ननु सर्वलक्षणखण्डनकृतः किमभिप्रेतं ? किं लक्षणसाध्यस्यार्थस्य व्यवहार एव नास्ति, सन्नपि वा निर्हेतुकः, सहेतुको वा लक्षणातिरिक्तहेतुकः, सर्वलोकसिद्धे लक्ष्यव्यवहारे लक्षणानुपयोगो वा, लक्ष्यलक्षणव्यवहाराणामनिर्वचनीयत्वं वेति तत्सर्वमनुपपन्नमनुभवविरोधात्? इति चेन्न, वादिनोर्लक्ष्यलक्षणव्यवस्थाभिधाननिवर्तनस्याभिप्रेतत्वात्। न्यायाचार्यकृतलक्षणमालाग्रन्थे प्राथमिकं प्रमालक्षणं खण्डयितुमुपक्रमते—'तत्त्वानुभूति-

रि'ति। प्रमाऽव्यवस्थितौ सर्वपदार्थव्यवस्थितिरिरिति तल्लक्षणप्राथम्यं न्यायाचार्यस्य; प्रमालक्षणाव्यवस्थितौ सर्वपदार्थाऽव्यवस्थितिरिरिति तत्खण्डनप्राथम्यं खण्डनकृतः। 'प्रकृतमि'ति। पूर्वोपक्रान्तमित्यर्थः। 'अत्रे'ति। आचार्यग्रन्थे प्रमालक्षणस्यैवादावभिधानमित्यर्थः। अनुभवस्य सविषयत्वनियमादनुभवपदेन विषयाक्षेपे अनुभवविषयगतधर्मानुभूतिः प्रमेति सिद्ध्यतीत्याशङ्कते—'अथे'ति। प्रमेऽतिव्याप्त्या प्रत्याचष्टे—'अरजतादेरि'ति॥ ४९॥

वे युक्तियाँ कैसी हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कही जाती है कि लक्षण के अधीन लक्ष्यवस्तु की व्यवस्थिति (पृथक् २ व्यवहारज्ञान) होती है, और वे लक्षण अनुपपन्न (अयुक्त) हैं। क्योंकि ज्ञात अधिकरण पृथिवी आदि में गन्धवत्त्वादि लक्षण के निरूपण द्वारा चक्रकादि दोष की प्राप्ति होती है। अर्थात् लक्षण द्वारा भिन्नरूप से ज्ञात लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति होती है, लक्षण की प्रवृत्ति से लक्ष्य भिन्न सिद्ध होता है। परन्तु इस में अन्योन्याश्रय होता है। लक्षण से भिन्नतायुक्त में गन्धादि के ज्ञान से गन्ध में भेद की व्याप्ति के ज्ञानपूर्वक फिर भेदव्यवहारादि साध्य को सिद्ध करने आदि से चक्रकादि दोष होते हैं। और लक्षण के भी लक्षणान्तर से अनवस्था दोष होता है, इसी प्रकार ज्ञानाधिकरणत्व आत्मा के, सुखाद्यवृत्ति = आत्मविशेष—गुणावृत्तिजातित्वज्ञान के, अनुगत ज्ञानासाधारणकारणत्व जाति के लक्षण करने पर चक्रक की प्राप्ति होती है। उन लक्षणविशेषों में प्रथम (तत्त्वानुभूतिः प्रमा) तत्त्व का अनुभव प्रमा का लक्षण किया गया है, यह भी अयुक्त है, क्योंकि तत्त्व शब्द के अर्थ का निर्वचन (कथन) करना अशक्य है। तस्य (उस प्रकृतवस्तु का) भाव (धर्म) तत्त्व कहा जाता है, और प्रकृतवस्तु तत् शब्द का अर्थ होता है। और जिस ग्रन्थ में यह लक्षण प्रमा का किया गया है, वहाँ प्रथम इस लक्षण के ही होने से यहाँ कुछ भी प्रकृत नहीं है जो तत् शब्द से परामृष्ट (ज्ञात) हो सके। यदि कहा जाय कि अनुभव द्वारा आक्षेप से अपनी बुद्धि सम्बन्धी विषय बुद्धिस्थ किया जाता है, और वह तत् शब्द से परामृष्ट (ज्ञात) होता है, क्योंकि वक्ता एवं श्रोता की बुद्धिस्थता में ही प्रकरण पदार्थ का विश्राम होता है। अर्थात् अनुभव अवश्य सविषयक होता है, उसी विषय को तत् शब्द कहता है, अतः बुद्धिस्थ जिस अर्थ का जो भाव है, वह उस अर्थ का तत्त्व कहा जाता है, तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि अरजतादि (शुक्ति आदि) को भी रजतादिरूप से अनुभव की विषयता के सम्भव से असत्य के अनुभव का व्यवच्छेद (निवारण) नहीं होगा। उसमें प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति होगी॥ ४९॥

आगे अव्याप्ति दोष का वर्णन है कि—

भवितुरतत्त्वशब्दार्थत्वप्रसङ्गेन धर्म्यंशे विशिष्टे च प्रमाया अप्रमात्वापातात्। अथोच्यते अवयवार्थचिन्तया दूषणाभिधानमिदं त्यज्यतां, यतोयं तत्त्वशब्दः स्वरूपमात्रवचनः—इति, एतदप्ययुक्तम्, स्वरूपत्वस्य जातेरुपाधेर्वा स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेः। स्वरूपशब्दार्थस्यैकस्यासंभवेन प्रतिविषयव्यावृत्त्या लक्षणस्याऽव्यापकत्वापातात्। कथं च 'तत्त्वे'तिविपर्यासादेर्निरासः। तथाहि—शुक्तौ यो रजतत्वप्रत्ययः सोपि स्वरूप-

बुद्धिर्भवत्येव; नहि धर्मी वा रजतत्वं वा न स्वरूपं, नापि तयोः प्रतिभासमानः संबन्धो न स्वरूपमिति युक्तम्। समवायो हि तयोः संबन्धः प्रतिभाति, स च स्वरूपमेव ॥ ५० ॥

धर्मांशानुभूतेः प्रमात्वेपि धर्म्यंशविशिष्टांशप्रमानुपग्रहमाह—'भवितुरि'ति। भविता धर्मी। ननु तत्त्वपदं स्वरूपे रूढं, तथाच धर्मधर्मितद्वतां सर्वेषां स्वरूपतया तत्त्वपदवाच्यतया नाव्याप्तिरित्याशङ्कते—'अथे'ति। स्वरूपत्वस्य स्वात्मनि वृत्त्यभ्युपगमे आत्माश्रयः, अनभ्युपगमे च तत्प्रमानुपग्रह इति प्रत्याचष्टे—'स्वरूपत्वस्ये'ति। यद्यपि स्वरूपत्वं प्रमेयत्वं, तच्च केवलान्वयित्वात् स्ववृत्त्यपि, नचात्माश्रयः, प्रमाणतस्तथा प्रतीतेः; तदुक्तं 'प्रमाणं शरणं वृत्तौ न भिन्नाभिन्नते यत इति; तथापि 'स्वरूपं प्रमेयमि'ति सहप्रयोगान्न तत्प्रमेयत्वं, तत्त्वे वा प्रमाविषयानुभूतिः प्रमेतिपर्यवसाने पुनरात्माश्रयः, आकाशात्यन्ताभाववत्त्वं च न प्रमेयत्वं, तदविदुषोपि तत्प्रत्ययात्; न वाऽभिधेयत्वं तत्त्वं, अमेतिव्याप्तेः, नच वस्तुत्वमेव तथा, तस्याऽर्थक्रियाकारित्वादिलक्षणस्याग्रे प्रत्याख्येयत्वात्; नच सत्तायोगित्वमेव स्वरूपत्वम्, अभावप्रमानुपग्रहप्रसङ्गादिति भावः ॥ ५० ॥

यदि वस्तु का भाव (धर्म) तत्त्व होगा, तो भविता (धर्मी) के अतत्त्वार्थता के प्रसङ्ग (प्राप्ति) से धर्मी अंश में और धर्मविशिष्ट में प्रमा को अप्रमात्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् घटत्वादिधर्ममात्र का ज्ञान प्रमा होगा। घट और घटत्वविशिष्टादि का ज्ञान प्रमा नहीं कहा जायगा। यदि कहा जाय कि तत्त्व शब्द के अवयवार्थ की चिन्ता=विचार द्वारा यह दोषकथन त्यागा जाय, क्योंकि यह तत्त्वशब्द स्वरूपमात्र का वाचक है। अतः धर्मी और विशिष्ट ज्ञान भी प्रमा कहा जाता है, अव्याप्ति नहीं है। तो यह कहना भी युक्त (उचित) नहीं है, क्योंकि स्वरूपत्त्व के आश्रय को स्वरूप कहा जाता है, और स्वरूपवृत्ति स्वरूपत्व को यदि जाति या उपाधिरूप माना जाय तो स्वरूपत्व धर्म के आश्रय स्वरूप का ज्ञान तो प्रमा होगा, परन्तु स्वरूपत्व को निजात्मा में भी वृत्तिता (स्थिति) मानें तो उस का ज्ञान प्रमा तो कहा जायगा, परन्तु आत्माश्रय दोष होगा। निजात्मा में स्थिति नहीं मानी जाय तो उस स्वरूपत्व का ज्ञान प्रमा नहीं होगा। इस प्रकार स्वरूपत्व की निजात्मा में वृत्ति एवं अवृत्ति द्वारा लक्षण की अनुपपत्ति होती है। और अनुगत स्वरूपत्व को नहीं मानने पर स्वरूपशब्द के एक अर्थ के असम्भव से प्रतिविषय की व्यावृत्ति (भिन्नता) द्वारा लक्षण की अव्यापकता की प्राप्ति होगी। किसी एक व्यक्ति के स्वरूपशब्द से ग्रहणकाल में अन्य व्यक्तियों का ग्रहण नहीं होगा। समूह के ग्रहण काल में प्रत्येक का ग्रहण नहीं होगा इत्यादि। और अनुभूतिः प्रमा, अनुभव प्रमा कहलाता है, ऐसा लक्षण करने पर भ्रम में अतिव्याप्ति वारण के लिए तत्त्व, यह विशेषण कहा गया है, परन्तु उससे विपर्यास (भ्रम संशय) का निवारण कैसे हो सकता है? अर्थात् किसी प्रकार नहीं। शुक्ति में रजतत्व का ज्ञान होता है, वह भी स्वरूप का ज्ञान होता ही है, क्योंकि वहाँ धर्मीरूप शुक्ति या रजतत्व, स्वरूप नहीं रहता है, यह बात नहीं है, अन्यथा शून्यादि के समान उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसी प्रकार उन धर्मी एवं धर्म दोनों का प्रतीयमान समवायसम्बन्ध स्वरूप नहीं है, यह कहना भी युक्त नहीं क्योंकि उन दोनों का समवायसम्बन्ध भासता है, वह स्वरूप ही है, समवायसम्बन्ध न्याय में माना गया है, वह निःस्वरूप नहीं है ॥ ५० ॥

रजतत्व, तथा रजतत्व का समवाय भी स्वरूप (तत्त्व) है, परन्तु शुक्ति में नहीं है, यह शंका होती है—

सत्यं, समवायः स्वरूपं, स एव तु शुक्तिव्यक्तौ रजतत्वस्य नास्ति—इति चेन् मैवम् तत्र नास्तित्वेपि स्वरूपताया अव्यावृत्तेः। नहि गेहे देवदत्तो नास्तीति स्वरूपं न स्यात्। न स्वरूपमात्रं तत्त्वमुच्यते, किंतुयद्देशकालसंबन्धि यत् स्वरूपं प्रतीतं तस्य तद्देशकालसंबन्धि स्वरूपं तत्त्वमुच्यते—इति मैवम्, देशकालसंबन्धांशे प्रमाया अप्रमात्वापातात्। तयोः स्वरूपमेव तत्त्वशब्दार्थः—इति चेन्न, तत्त्वपदस्यानेकार्थत्वेन लक्षणाव्यापकतापत्तेः। अथैवं ब्रूषे यद्यथाभूतं प्रतीयते तत्तथा परमार्थतो व्यवस्थितं तत्त्वमुच्यते। नैतदपि युक्तम्, यद्यथाभूतं प्रतीयते तद्यदि प्रतीतिसमयमपहाय कालान्तरे तथाभूतं स्यात्तदाप्येवं तत्त्वं स्यादेवेति भाविपाकजरागः कुम्भः श्यामतादशायामपि रक्तपित्तिना रक्ततयोपलभ्यमानस्तत्त्वं स्यादिति तद्बुद्धेः प्रमात्वापातः। 'यदातदे'तिविशेषणप्रक्षेपणे च कालविशिष्टताप्रतीतेरप्रमात्वापातः। नहि कालवैशिष्ट्येपि कालान्तरसंबन्धः संभवी ॥ ५१ ॥

ननु शक्तौ रजतत्वसमवायो न स्वरूपं, तत्राऽविद्यमानत्वादिति शङ्कते—'सत्यमि'ति। स्वरूपत्वे च तत्र विद्यमानत्वमतन्त्रमित्याह—'मैवमि'ति। ज्ञानोल्लिखितदेशकालसंबद्धं स्वरूपमिह तत्त्वपदार्थ इति न भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्याह—'न स्वरूपमात्रमि'ति। देशकालयोर्देशकालसंबन्धाभावात् तदंशप्रमानुपग्रहमाह—'देशे'ति। 'अनेकार्थत्वेने'ति। देशस्वरूपं, कालस्वरूपं, देशकालसम्बद्धं च स्वरूपं, प्रत्येकं तत्त्वमिति लक्षणाऽननुगमो दोष इत्यर्थः। ज्ञानोल्लिखितप्रकारवत्त्वं विषयस्य तत्त्वमित्याशङ्कते—'अथे'ति। भाविरक्तरूपस्य घटस्य पूर्वं दोषवशाद् यत्र रक्ततया ज्ञानं तदपि तथा सति प्रमा स्यादित्याह—'यद्यथाभूतमि'ति। ज्ञानकाले ज्ञानोल्लिखितप्रकारवत्त्वं तत्त्वमित्याशङ्क्याह—'यदे'ति। कालेकालवैशिष्ट्याभावेन तदंशप्रमाऽनुपग्रहापत्तिरिति भावः। यद्यपि पाकरागात् पूर्वं घटो रक्त'इति प्रतीतिः प्रमैव, विषयाऽबाधात्; तत्काले तद्बाध एव—इति चेन्न, इदानीं रक्तः' इत्यप्रतीतेः; तथापि प्रवृत्त्यनुरोधादनुमितौ वर्तमानकालभानावश्यकत्वेनाऽन्यत्रापि तत्कालभानमावश्यकम्। किञ्च, अयं रक्तः—इतिप्रतीतिः स्वविषयवर्तमानत्वविषया, अतीतानागताऽविषयत्वे सति प्रतीतित्वात्, घटोऽस्तीतिप्रतीतिवदित्यनुमानाच्च रक्तो घटः—इत्यादौ वर्तमानकालभानमावश्यकमित्यतिव्याप्तिरेवेति भवः ॥ ५१ ॥

समवाय भी स्वरूप है, यह बात सत्य है। परन्तु वही समवाय शुक्तिव्यक्ति में रजतत्त्व का (रजतप्रतियोगिक) नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है, परन्तु यह शंका युक्त नहीं है। क्योंकि उस शुक्ति में रजतत्वसमवाय के नहीं रहने पर भी उसका स्वरूप रहता ही है। अतः स्वरूप की व्यावृत्ति नहीं होने से उसके ज्ञान में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि गृह में देवदत्त नहीं है, इससे उसका स्वरूप नहीं हो, ऐसा नहीं होता है। यदि कहा जाय की पदार्थ का स्वरूप मात्र तत्त्व नहीं कहा जाता है, किन्तु जिस देश काल के सम्बन्ध वाला जो स्वरूप प्रतीत होता है, उस देश काल के सम्बन्ध सहितस्वरूप तत्त्व कहा जाता है और उस का ज्ञान प्रमा होता है। अतः रजतत्व के समवाय के शुक्ति देश में नहीं रहने के कारण वह स्वरूप शुक्ति में तत्त्व (सत्य) नहीं

होता है, और न उसका ज्ञान प्रमा ही होता है। परन्तु यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि देशकाल के सम्बन्धी अन्य स्वरूप का ज्ञान तो इस प्रकार प्रमा होगा, देश काल के सम्बन्धांश में प्रमाज्ञान में भी अप्रमात्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि देशकालान्तर के सम्बन्ध के विना देशकाल का भान प्रमा से होता है। देशादि के अन्य सम्बन्धी देशादि मानने पर अनवस्था और अनुभवाऽभावादि दोष होंगे। यदि कहा जाय कि उन देश और काल दोनों का स्वरूप ही तत्त्व शब्दार्थ है, उन्हें अन्य देश काल की अपेक्षा नहीं होती है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार देशकालसम्बन्धी घटादिधर्मी, उनके धर्म, धर्म और धर्मी का सम्बन्ध और स्वरूपमात्र ही तत्तत् देशकालार्थक-तत्त्वशब्द के होने से उसकी अनेकार्थता से लक्षण की अव्यापकता की प्राप्ति होगी, यह उचित नहीं है। और यदि ऐसा कहा जाय कि जो वस्तु जिस स्वरूप (जिस प्रकारवाला) प्रतीत होता है, वह उस प्रकारवाला व्यवस्थित (निश्चित = स्थिर) होता हुआ तत्त्व कहा जाता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि तथाभूतव्यवस्थिततत्त्व प्रमा के बिना नहीं हो सकता है। अतः प्रमा के लक्षण में प्रमा की आवश्यकता से आत्माश्रय तथा अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है, और जो जिस प्रकार वाला वर्तमान काल में प्रतीत होता है, परन्तु वर्तमान काल में वैसा नहीं रहने पर भी उस काल को त्याग कर, भावी (कालान्तर) में वैसा होता है, तो उस वर्तमान प्रतीति काल में भी वह इस प्रकार तत्त्व होगा ही। अतः भावी पाक से पाकज रक्तता वाला कुम्भ श्यामता दशा में भी रक्तपित्तनेत्रगत दोष वाला व्यक्ति से रक्तरूप से अनुभुत होने पर वह तत्त्व (सत्य) होगा, और उसका ज्ञान प्रमा होगा। जब जो यथाभूत प्रतीत हो, तब वह तथाभूत परमार्थ से व्यवस्थित तत्त्व है ऐसा कहा जाय तो कालयुक्तता प्रतीति को अप्रमात्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि काल में कालान्तर के अभाव से कलांश में वह ज्ञान प्रमा नहीं होगा। और काल की विशिष्टता अंश में कालान्तर के सम्बन्ध का सम्भव नहीं है ॥ ५१ ॥

अन्योपाध्यवच्छिन्नः सोऽन्योपाध्यवच्छिन्नेन संभन्त्स्यति—इति चेत्, तर्हि दण्ड्यपि देवदत्तः कुण्डलिनं स्वमारोक्ष्यत्येव। उपाधिभेदेऽप्युपधेयस्यैकत्वाऽनिवृत्तेर्नैवम्—इति चेत्तुल्यम्। एतेन कारणं तत्त्वमिति निरस्तम्, सर्वस्य तथात्वे प्रमित्यभावेनात्माश्रयेण च प्रतिक्षणविशिष्टविश्वावश्यकारणत्वोपगमे दुरपवादार्थक्रियाकारित्वस्वरूपसत्त्वलक्षणाङ्गीकारिजैनचरणशरणप्रवेशविडम्बनापादिदोषग्रासेन चेति ॥ ५२ ॥

ननु दिनस्य प्रहरो रात्रेर्यामो यामवती यामिनीत्यादिप्रतीतिदर्शनात् कालेऽपि कालवैशिष्ट्यमिति न तदंशप्रमानुग्रह इत्याशङ्कते—'अन्येति'। उपाध्यन्तरावच्छिन्नस्य कालस्योपाध्यान्तरावच्छिन्ने काले यदि वृत्तिस्तदा दोषमाह—'तर्ही'ति। कालोपाध्यन्तरस्य च कालोपाधिवृत्तौ किमायातं कालस्येति दोषः। एतेनेति। कालप्रमाऽनुपग्रहप्रसङ्गेनेत्यर्थः। कारणत्वस्य नियतप्राक्कालवृत्तित्वरूपत्वात् काले च तदभावादिति भावः। कारणतत्त्वे दोषान्तराण्यप्याह—'सर्वस्ये'ति। प्रमाणाभावाद्यदेव न कारणं तत्प्रमायामव्याप्तिः, पारिमाण्डिल्यादेश्चरमध्वंसादेश्च स्वस्यैवाऽकारणत्वाभ्युपगमात् तत्प्रमायामव्याप्तेः, कारणत्वे कारणत्वाभ्युपगमे त्वात्माश्रयत्वात्तदंशप्रमायामव्याप्तिः, कार्यं च वस्तूनामन्यत् प्रतिक्षणभावि नास्तीति पूर्वबीजादेरेवोत्तरबीजादिकारणत्वं वाच्यं, तथाच बौद्धमतप्रवेशादपसिद्धान्तरूप-

विडम्बनापादको दोषः, तद्ग्रासश्चेति दोषा इत्यर्थः। यदि च कारणत्वं कारणतावच्छेदक-रूपवत्त्वं, तच्च यदाकदाचित्कारणोपधानमात्रमतो नापसिद्धान्त इति, तदा भ्रमातिव्याप्तिः, भ्रमविषयाणामपि कारणत्वात्, कारणांशप्रमानुपग्रहश्च, यदि च तदनुभवकारणत्वमेव तत्त्वं, तदाऽनुमानाद्यसंग्रह इतिभावः। अत्र यद्यपि तत्त्व-मिथ्याज्ञान-विरूपादि शब्दाः पामरादिप्रसिद्धार्था न व्याख्यानमपेक्षन्ते, विवेचयन्ति हि पामरा अपि—इदं तत्त्वमिदमतत्त्वमिदं स्वरूपमिदमस्वरूपमिति तदर्थप्रश्नः प्रष्टुरेव जाड्यमावेदयति, प्रसिद्ध्यनुरोधाच्च धर्मिस्वरूपे विषयतासमानाधिकरणे च धर्मे तत्त्वपदप्रयोगः, विषयताव्यधिकरणो धर्मोऽतत्त्वं; तदेव हि रजतत्वं शुक्तावतत्त्वं, रजते तत्त्वं, विषयतावैयधिकरण्यसामानाधिकरण्याभ्यां व्यपदिश्यते; 'तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वदर्शनाद् अव्यभिचार'—इत्यादौ तत्त्वपदस्याव्युत्पन्नस्यैव दर्शनाद्धर्मिमात्रे समानाधिकरणे च धर्मे तत्त्वपदं रूढमिति तदंशेपि प्रामाण्यमिति नातिव्याप्तिर्न वा धर्म्यंशप्रमायामव्याप्तिः, एवं च स्वरूपपदस्यापि तत्रैव प्रयोग, इति न किञ्चिदनुपपन्नं, तथापि विचारकाणां न प्रसिद्धिमात्रानुरोध इति ॥ ५२ ॥

यदि कहा जाय कि किसी अन्य उपाधि से युक्त वह काल भी अन्य उपाधि वाले काल के साथ सम्बन्ध वाला हो सकता है, क्योंकि काल के एक होने पर भी उपाधि से उसमें भेद हो जाता है, अत एव अमुक मास का अमुक पक्ष है। अमुक पक्ष का अमुक दिन है इत्यादि व्यवहार होता है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उपाधि भेद से काल का भेद हो, और काल सम्बन्धी काल हो तो दण्डी (दण्ड वाला) देवदत्त भी कुण्डल वाले अपने स्वरुप से भिन्न होकर अपने कुण्डल वाले स्वरूप पर आरूढ होगा (चढेगा) परन्तु ऐसा होता नहीं है। यदि कहा जाय कि दण्ड और कुण्डलरूप उपाधि में भेद होने पर भी उपधेय (उपाधि वाले) देवदत्त के एकत्व की अनिवृत्ति से देवदत्त देवदत्त में आरूढ नहीं होता है, तो इसके समान ही समझना चाहिये कि काल का सम्बन्धी (विशेषण) सामान्य काल नहीं हो सकता है। उपाधियों का सम्बन्ध हो सकता है, वह काल में भी मिथ्या भास सकता है। और काल की उपाधि सूर्यचन्द्रादि की क्रियाएँ होती हैं। इस कालप्रमा में उक्त लक्षण की अव्याप्ति से ही (कारणं तत्त्वम्) कारण तत्त्व कहलाता है, और उसका ज्ञान प्रमा होता है, यह कथन भी खण्डित हो गया। क्योंकि कार्य से नियतपूर्वकालवृत्ति कारण कहा जाता है, और काल के नियत पूर्ववर्ती कालान्तर होता नहीं है। अतः काल में तत्त्व (कारणत्व) के अभाव से काल का ज्ञान प्रमा नहीं होगा। सब पदार्थ के कारण में (प्रमिति) प्रमाण के अभाव से भी उक्त कथन निरस्त होता है। पारिमाण्डल्य (परमाणु परिमाण) तथा महत् परिमाणादि को न्याय में कारण नहीं माना जाता है, तथा अन्त्य कार्य किसी का कारण नहीं होता है, उसके ज्ञान में प्रमात्व की अव्याप्ति होगी। कारणगत कारणत्व में कारणत्व के नहीं रहने पर उसके प्रमा में अव्याप्ति होगी, और कारणत्व में कारणत्व मानने पर आत्माश्रय दोष होगा, इससे भी उक्त कथन निषिद्ध है। प्रतिक्षणविशिष्ट (क्षणिक) विश्व (धर्मधर्मीकालादियुक्तसंसार) के अवश्य कारणत्व के मानने पर, तो दुरपवाद (अवश्यस्वीकार्य) अर्थक्रियाकारित्वस्वरूप सत्त्व के लक्षण को अङ्गीकार करने वाले जो बुद्ध उनके चरण के शरण में प्रवेश (प्राप्ति) रूप जो विडम्बना (विलास) उसके आपादान (सम्पादन) के स्वभाव वाले दोष से ग्रास के कारण भी

कारणत्वरूप तत्त्व निरस्त हुआ है। अतः काल की प्रमा में अव्याप्ति, अनवस्था, क्षणिकवाद की प्राप्ति, स्वसिद्धान्त का त्याग रूप चार दोषों से कारणत्वरूपतत्त्व का निरास (खण्डन) किया गया है। क्षणिक कार्यकारणवाद बुद्धविशेषरूप जैन का है, न्याय का नहीं। (यह तत्वशब्द के निर्वचन का खण्डन हुआ है) ॥ ५२ ॥

प्रथम तत्त्वानुभूति (तत्त्वानुभव) को प्रमा कहा गया है, वहाँ तत्वरूप विशेषण का खण्डन करके अनुभूतिरूप विशेष्य के खण्डन का आरम्भ किया जाता है कि—

किञ्चेदमनुभूतित्वं नाम, ज्ञानत्वावान्तरजातिभेदो वा स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानत्वं वा—स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वं वा तदऽविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियताऽसाधारणकारणकबुद्धित्वं वा ॥ ५३ ॥

अनुभूतिपदस्य स्मृतिव्यावर्तकत्वं तदा स्याद्यनुभूतित्वं स्मृतिव्यावृत्तं स्यात्तदेव तु नास्तीत्याह—'किञ्चे'ति। 'तदविदूरे'ति। तस्य = ज्ञानस्याऽविदूरोऽव्यवहितो यः प्राक्कालस्तन्नियता यदसाधारणकारणस्योत्पत्तिरित्यर्थः। अनुभवस्य यद् इन्द्रियसन्निकर्षलिङ्गज्ञान-शब्दज्ञान-सादृश्यज्ञानादि असाधारणकारणं तद् अव्यवहितप्राक्कालोत्पत्ति, स्मृतेस्तु चिरोत्पन्न एव संस्कारोऽसाधारणं कारणं; मनःसंयोगस्तु नासाधारणमिति भावः ॥ ५३ ॥

इस अनुभूतितत्व का क्या स्वरूप है? ज्ञानत्वरूप पर (व्यापक) सामान्य (जाति) के अवान्तर जाति (व्याप्य जाति) भेद (विशेष रूप) है?[1], या स्मृतिभिन्न ज्ञानत्वरूप अनुभूतित्व उपाधि है?[2], या स्मृति के लक्षण (केवल संस्कार जन्यत्व) से रहित ज्ञानत्व अनुभूतित्व है?[3], अथवा उस ज्ञान के अविदूर (अव्यवहित) जो पूर्वकाल उस काल में उत्पत्ति जिसका नियत (अवश्य) हो, ऐसे असाधारण कारण वाला ज्ञानत्व ही अनुभूतित्व है?[4], यहाँ लक्षण में अविदूरत्व विशेषण से स्मृति का वारण होता है, क्योंकि उसके असाधारण कारण विदूर उत्पन्न रहते हैं। और अनुभव के कारण इन्द्रियसम्बन्ध, व्याप्तियुक्त हेतुज्ञान, शब्दज्ञानादि अनुभव से अविदूर काल में उत्पन्न रहते हैं। अतः लक्षण समन्वित होता है। मन के संयोगादि असाधारण कारण नहीं हैं ॥ ५३ ॥

न तावदाद्यः। तथाहि–अनुभूतित्वं नाम जातिरेकाऽभ्युपगम्येति कुतः। अनुभवामी'तिप्रत्ययानुगमवशाद्—इति चेन्न, माघमासीयनिशावसाने सिताऽसितसरित्संभेदस्नायिनः सत्यपि शब्दबलाद्भाविस्वकीयस्वर्गसुखसंप्रत्यये 'सुखमनुभवामी'तिप्रतीत्यनुदयात्, प्रत्युत शीतसंभेदसंभूतवेदनासंवेदनादेव; परास्त्रियं संभुञ्जानस्यास्तिककामुकस्य शब्दाधीने सत्यपि भाविनरकगमनानुभवनाययातनाधिगमे 'दुःखमनुभवामी'तिमतेरनुत्पत्तेः, प्रत्युताऽमन्दमानन्दं संविदन् साम्प्रतमस्मीतिप्रत्ययात् ॥ ५४ ॥

स्मृतिभिन्नेषु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दप्रभवेषु 'अनुभवामी'त्यनुगतमति साक्षिकमनुभवत्वमिति शङ्कते—'अनुभवामी'ति। माघे सिताऽसितस्नानफलत्वेनानुमीयमाने सुखे तदनुमितावनुभवत्वजातिसत्त्वे 'सुखमनुभवामी'त्यनुगतमतेरुदयप्रसङ्गान्नैवमित्याह—माघमासये'ति। शीतदुःखस्यैव साक्षात्कारात्तत्र 'दुःखमनुभवामी'तिवैपरीत्यस्यैव

दर्शनादित्याह—'प्रत्युते'ति। पराङ्गनासङ्गमस्य फलं दुःखमित्यनुमितिरूपानुभवे 'दुःखमनुभवामी'त्यनुगतमतेरभावात् नैवमित्याह—'परस्त्रियं चे'ति। यद्यपि सितासितस्नायिनः सुखानुभवो नास्त्येव, न वा पराङ्गनां भुञ्जानस्य दुःखानुभवः, किंतु शब्दात् सुखसाधनताऽनुभवः, दुःखसाधनतानुभवश्च, तत्र सुखमनुभवामि 'दुःखमनुभवामी'ति वा कथमनुव्यवसायः स्यात्? व्यवसाये प्राधान्येन विषयीक्रियमाणस्यैवानुव्यवसाये ज्ञानविशेषणतयोल्लेखात्; 'सुखसाधनमनुभवामी'ति तु स्यादेव, यदि विषयान्तरसंचारो न स्यात्, तस्य च 'प्रत्युते'त्यादिना त्वयैवोपपादनात्; नचानुभवभानमावश्यकं, तद्भानेपि तद्गतजातिभानस्यानावश्यकत्वाद् अन्यथा सन्देहः क्वापि न स्यात्; तवैव वा कथं स्वर्गं जानामि 'नरकं जानामी'ति वा नानुभवः, ज्ञानस्य त्वयाप्यभ्युपगमात्। भवत्येव तत्र स्वर्गं जानामि'—इति चेत्तर्हि 'स्वर्गमनुभवामी'ति भवत्येवेत्यवेहि। किञ्च, तत्रानुव्यवसायसामग्र्यां 'सुखमनुमिनोमी'त्येवानुव्यवसायो विशेषोल्लेखतिरस्कृतत्वात् सामान्योल्लेखस्य, अन्यथा 'गौरि'तिज्ञाने सत्त्व-द्रव्यत्वपृथिवीत्वादीनामनुव्यवसायोल्लेखः स्यात्, एवं चैकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे दृष्टे तस्मिन्नदृष्टा ये तद्ग्रहे सकलग्रह इत्यप्यापद्येत। तथाप्यनुमित्यादावनुभवत्वे किं प्रमाणम्? इति चेत्, वह्न्याद्यनुमित्यादौ कदाचिद्वह्निमनुभवामीत्याद्यनुगतमतिरेव। निर्विकल्पके एवानुभवत्वेनाभ्युपगम्यमाने कथमनुगतमतिभङ्गो न दर्शितः किं 'माघमासीयनिशावसाने' इत्यादिकादम्बरीगद्येन, तथापि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेनैवानुभवत्वस्य खण्डितत्वादिति हृदयम्॥ ५४॥

उक्त चार पक्षों में आद्य (प्रथम) पक्ष नहीं हो सकता क्योंकि अनुभूतित्व नामक एक जाति मानना चाहिये; इस में हेतु क्या है ? यदि कहा जाय कि प्रत्यक्षादि सब अनुभव विषयक (अनुभवामि) इस अनुगत ज्ञान के अनुगम (अनुवृत्ति) के बल से अनुभवत्व जाति सिद्ध और मान्य होती है, तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि माघमास की रात्रि के अवसान (अन्त) काल में सितासित (गंगा यमुना) नदी के संभेद (संगम) त्रिवेणी में स्नान करने वाले को (सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति) इत्यादि शब्द (शास्त्र) बल से भावी अपने स्वर्गसुख के संप्रत्यय = (अनुमान = परोक्षज्ञान) होने पर भी सुख का अनुभव करता हूँ, ऐसी प्रतीति की अनुत्पत्ति से, तथा शीत के संभेदन (प्रवेश) जन्य वेदना के ज्ञानरूप वैपरीत्य से अनुभवामि, इस प्रकार का ज्ञान अनुभूतित्व में प्रमाण नहीं हो सकता। इसी प्रकार परस्त्रीगामी आस्तिक कामी को भावी नरकगमन द्वारा अनुभव योग्य यमयातना के शास्त्र द्वारा परोक्ष ज्ञान रहने पर भी, मैं दुःख का अनुभव करता हूँ, ऐसी बुद्धि की अनुत्पत्ति से, तथा उलटा अमन्द (अनल्प = बहुत) आनन्द का अनुभव करता हुआ मैं अभी हूँ, इस प्रतीति से भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सब सत्य ज्ञानों में एक अनुभवत्व जाति नहीं कही जा सकती। किन्तु प्रत्यक्षत्व तथा परोक्षत्व के भेद से द्विधा अनुभव के होने पर प्रबल प्रत्यक्षानुभव काल में परोक्ष अनुभवरूप से नहीं भासता है, जैसे सूर्योदय से तारे प्रकाशकरूप से नहीं भासते हैं, और प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से अनुभव के भेद होने पर एक अनुभवत्व जाति नहीं सिद्ध हो सकती, इत्यादि भाव है॥ ५४॥

यदि तु शब्दोपदर्शितव्याप्तिजमनुमानमनुभव एव स्यात् तर्हि सुखं दुःखं चानुभवामीति तयोः प्रत्ययः स्यात्। अथ मन्यसे—साक्षात्कारमनुभवार्थमनुरुद्ध्या तयोर्नैवमधिगमव्यवहारौ, शब्दजानुमानापेक्षौ तु विमर्शकस्य स्या-

तामेव तौ—इति । तर्हि साक्षात्कारिणि ज्ञानेऽनुभवप्रत्ययव्यवहारौ साक्षात्त्वनिबन्धनाविति तत्रानुभवत्वजातिकल्पनायां न प्रयोजनप्रमाणे, इत्यनुभूत्यर्थभेदाल्लक्षणाऽननुगमो दोषः ॥ ५५ ॥

पूर्वप्रघट्टकेनानुव्यवशायाभावं व्यवस्थाप्य संप्रत्यनुव्यवसायमापादयति—'यदि त्वि'ति । तथा च नेष्टापत्तिरिति भावः । यद्वा, ननु 'स्वर्गकामो माघे सितासिते स्नायादि'तिशब्देन सितासितस्नानं स्वर्गसाधनमितिमात्रं प्रतीतं, स्वसंबन्धिता च तस्याऽऽनुमानिकी; तथाहि सितासितस्नानं मम भाविस्वर्गजनकं, स्वर्गकाम्यैतादृशस्नानत्वादित्यनुमितेस्तत्सिद्धेः; तथा च 'सत्यपि शब्दबलाद्भाविस्वकीयस्वर्गसुखसंप्रत्यये'—इत्यसङ्गतमत आह—'यदि त्वि'ति । यत्र शब्दोपदर्शितपुमभिप्राये या व्याप्तिरिष्टसाधनत्वेन सह, सैव शब्दोपदर्शितव्याप्तिरित्यर्थः । 'अनुभवार्थमि'ति । अनुभवशब्दस्यार्थमित्यर्थः । यत्र सुखदुःखे साक्षात्क्रियमाणे तत्रैव तयोरनुभवामीतिप्रत्ययः सर्वसाधारणः, परीक्षकस्य तु तदनुमानयोरपि तादृशः प्रत्यय इष्ट एवेति शङ्कार्थः । 'तर्ही'ति । सत्यप्यनुभवत्वे व्यवहारार्थं साक्षात्त्वमवश्यापेक्षीयं चेत् किमनुभवत्वेन ? विमर्शकस्य तु साक्षात्त्वमन्तरेणाप्यनमानादौ तद्व्यवहाराभ्युपगमेऽननुगम एवेति परिहारार्थः ॥ ५५ ॥

यदि त्रिवेणी स्नान, शास्त्रविहित होने से दर्शपूर्णमासादि के समान स्वर्गसुख का हेतु है तथा परदारगमन शास्त्रनिषिद्ध होने से हिंसा चौर्यादि के समान नरक का हेतु है, इस प्रकार शब्द से (शास्त्र से) उपदर्शित सुखहेतुत्व तथा दुःखहेतुत्व के ज्ञान द्वारा सुख दुःख का ज्ञान अनुभव ही है, तो सुख और दुःख का अनुभव करता हूँ, इस प्रकार उन दोनों का ज्ञान होना चाहिये, और ऐसा ज्ञान होता नहीं है, क्योंकि वे परोक्ष सुख और दुख के ज्ञान अनुभव रूप नहीं होते । यदि मानें कि सुख दुःख का साक्षात्कार अनुभव शब्द का अर्थ है, ऐसा मानने से वे दोनों [स्नायी और कामी) सुख दुःख के अनुभव और व्यवहार (कथन) नहीं करते हैं । और विचार करने वाले को तो शब्दजन्य अनुमान की अपेक्षा पूर्वक 'अनुभवामी' इस प्रकार ज्ञान और व्यवहार होते ही हैं; होंगे ही । ऐसा मानने पर तो वस्तु के साक्षात्कार करने वाले ज्ञान में अनुभवरूपज्ञान और व्यवहार साक्षात्कारत्व निमित्तक सिद्ध होते हैं । अतः उन अनुमित सुखादिविषयक ज्ञान में अनुभवत्व जाति की कल्पना में प्रयोजन और प्रमाण के अभाव हैं । अनुभवत्व के रहने परभी व्यवहार यदि साक्षात्कारत्व के अधीन होता है, तो अनुभवत्व मानने का फल क्या होगा ? और विचार करने वाले यदि साक्षात्त्व के विना भी अनुमानादि में अनुभव का व्यवहार करते हैं, तो भी अनुभव के अर्थ के परोक्षादि भेद से लक्षण के अननुगम (एकरूपता का अभाव) रूप दोष तो है ही ॥ ५५ ॥

अनुभव का अनुगत व्यवहार होता है, वह अनुभवत्व के विना साक्षात्त्व से हो नहीं सकता, अतः प्रत्यक्ष तथा परोक्ष (स्मृतिभिन्न) सब ज्ञानों में अनुभवत्व जाति सिद्ध होती है; इस आशय से शंका है कि—

अथ स्मृतिव्यावृत्तेन रूपेण यः प्रत्यक्षादिष्वनुभव इत्यनुगतावगमः स साक्षात्कारित्वादनुपपन्नः, ततश्च साक्षात्कार्यसाक्षात्कारिविशेषेषु साधारणमनुभूतित्वमन्यदेवैष्टव्यम् इत्युच्यते, तदपि न युक्तं, 'पदार्थान्तरव्यावृत्तेन रूपेण यस्तदितरेष्वनुगतप्रत्ययस्तद्व्यवहारो वा तत्र तदेवरूपं निमित्तं, ननु

जातिः काचित्तदनुरोधात् कल्प्यते, तथा सत्यनक्षपदार्थेभ्यो घटादिभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विभीतकादिषु साम्यावगमादक्षत्वादिजातिकल्पना प्रसज्येत ॥ ५६ ॥

ननु साक्षात्त्वनिबन्धनमेव नानुभवामीतिव्यवहारं ब्रूमः, किंतु स्मृतिभिन्नेषु ज्ञानेष्वनुभवव्यवहारो न विना जातिमित्याचक्ष्महे; सुखदुःखानुभवयोस्त्वनुभवामीतिव्यवहारः साक्षात्त्वैकार्थसमवायाधीन इत्युक्तमिति शङ्कते–'अथे'ति। तर्हि स्मृतिभिन्नज्ञानत्वमेव तत्र-तत्र निमित्तमस्तु किमनुभवत्वेन ? अन्यथा पाशविभीतकेन्द्रियादावप्येकमक्षत्वसामान्यमभ्युपगम्येतेत्याह—'पदार्थान्तरे'ति ॥ ५६ ॥

स्मृति से व्यावृत्त (भिन्न) रूप से प्रत्यक्षादि में जो 'अनुभवः, इस आकार वाला अनुगत (व्यापक) अवगम (ज्ञान) होता है। वह साक्षात्कारित्व से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अनुमिति आदि में साक्षात्कारित्व नहीं रहता है। अतः साक्षात्कारी (प्रत्यक्ष) और असाक्षात्कारी (परोक्ष) सब विशेषों (भिन्न २ स्मृति भिन्न ज्ञानों) में साधारण अनुभूतित्वरूप साक्षात्कारित्व से अन्य ही मन्तव्य है, यदि ऐसा कहा जाय, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्मृति आदि पदार्थान्तर से व्यावृत्तरूप से जो पदार्थान्तर इतरवस्तु ज्ञान में अनुगत ज्ञान होता है, या अनुगत व्यवहार होता है, उस ज्ञान और व्यवहार में वह व्यावृत्तरूप = (स्मृतिभिन्नज्ञानत्व) ही निमित्त होता है। उस व्यवहार के अनुसार कोई जाति कल्पित नहीं होती है। यदि व्यावृत्त व्यवहार से जाति कल्पित हो तो अनक्षपदार्थ (अक्षपद के अर्थ, पाशा, हरड़, इन्द्रियादि से भिन्न) घटादि से व्यावृत्त पाशा हरड़ इन्द्रियादि में अक्षपदार्थत्वरूप समता के ज्ञान से उन में एक जाति की कल्पना की प्राप्ति होगी। और वहाँ एक अक्षत्व जाति की कल्पना नहीं होती है, वैसे ही प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञान में अनुभवत्व जाति की कल्पना नहीं होती है, और स्मृतिभिन्नज्ञानत्व से अनुगत बुद्धि और व्यवहार होते हैं ॥ ५६ ॥

परस्पर के अत्यन्ताभाव के अधिकरण में वृत्ति दो धर्मों की एकत्र वृत्तिता को सांकर्य कहते हैं, और वह जातित्व का बाधक माना जाता है, और नेत्रादि जन्य अभिज्ञा ज्ञान में अनुभूतित्व रहता है, केवल संस्कारजन्य ज्ञान में स्मृतित्व रहता है, परन्तु जहाँ संस्कार और इन्द्रिय दोनों के सम्बन्ध से जन्य (सोऽयम्) वह यह है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा (एक वस्तु के कालद्वय सम्बन्धोपलक्षित) ज्ञान होते हैं वहाँ अनुभवत्व जाति नहीं सिद्ध हो सकती, इस आशय से कहा जाता है कि—

इतोपि नानुभूतित्वं नाम स्मृतिव्यावृत्ता जातिः। तथाहि—'घटः स एवायमि'ति तावत्प्रत्यभिज्ञा जायते, सा किं स्मृत्यनुभवरूपं ज्ञानद्वयम्। एकमेव वा विज्ञानमंशे स्मृतिरंशे चानुभवः। उत स्मृतिरेव—आहोस्विदनुभव एव। आद्ये, य एष प्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टादिदन्ताविशिष्टस्याभेदः प्रकाशते स न स्मृतावन्तर्भावयितुं शक्यः, अननुभूतचरत्वेन संस्कारानुपनेयत्वात्। अत एव न तृतीयः। नाप्यनुभवेऽन्तर्भावयितुमसौ शक्यः, प्रत्यभिज्ञानकालेऽनुभवेन प्रागवस्थाया असंवेदनात्; संवेदने वा'ऽनुभव एवेति-शेषपक्षेऽन्तर्भावः स्यात्, स चाग्रे दूष्यते। अत एव न द्वितीयः। प्रागवस्था-

विशिष्टाऽभिन्नत्वांशे ऽनुभवत्वस्वीकारश्चेत् प्रागवस्थावैशिष्ट्यमप्यनुभवविषये एव निविष्टमिति चरमपक्षे प्रवेशः ॥ ५७ ॥

सङ्करभयादप्यनुभवत्वं न जातिरितिदर्शयितुं प्रत्यभिज्ञानखण्डनमवतारयति—'तथाही'ति। 'आद्ये'इति। तत्तावैशिष्ट्यमात्रे संस्कारसामर्थ्येऽपि तद्विशिष्टाभेदग्रहे तदसामर्थ्यादिन्द्रियस्यापीदन्ताविशिष्टमात्रग्रहसामर्थ्येऽपि प्रतियोगिनस्तत्ताविशिष्टस्यानुपस्थितौ 'सोयमि'त्युभयाभेदावगाहनं न स्यादित्यर्थः। अतिदेश्यसन्निधानसौकर्यान्मध्ये एव स्मृतिरेवेतितृतीयं पक्षं निरस्यति—'अत एवे'ति। अभेदांशज्ञानस्य स्मृतावन्तर्भावयितुमशक्यत्वादेवेत्यर्थः। 'संवेदने वे'ति। यदि तत्तेदन्ताविशिष्टस्यानुभवविषयत्वं, तदा 'अनुभव एवे'तिचतुर्थपक्षप्रवेश एवेत्यर्थः। नरसिंहाकारं प्रत्यभिज्ञानमितिप्राभाकरमतं निरस्यति—'अत एवे'ति। स्मृत्यंशानुभवांशाभ्यामभेदस्याऽसंस्पर्शादेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

वक्ष्यमाण हेतु से भी स्मृति से व्यावृत्त (स्मृति में नहीं रहने वाली) अनुभूतित्व नामक जाति नहीं है। 'वही घट यह है' इसप्रकार प्रत्यभिज्ञा नामक ज्ञान होता है। यह विचारणीय है कि क्या वह स्मृति और अनुभवरूप दो ज्ञान होता है? १, अथवा एक ही ज्ञान एक अंश में स्मृति और एक अंश में अनुभव? २, अथवा सर्वांश में स्मृति ही? ३, अथवा अनुभव ही? ४, इन में प्रथमपक्ष में जो प्रत्यभिज्ञा में पूर्वावस्थायुक्त वस्तु का इदन्ता (वर्तमानता) युक्त वस्तु के साथ अभेद भासता है, वह स्मृति के अन्तर्गत करने के योग्य नहीं है, क्योंकि वह अभेद प्रथम से अनुभूत (ज्ञात) नहीं होने के कारण संस्कार का विषय नहीं हो सकता है, और संस्कार का विषय ही स्मृति का विषय होता है। अभेद के संस्कारविषयत्वाभाव से ही तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता। और वह अभेद का ज्ञान अनुभव के अन्तर्गत करने के योग्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा काल में पूर्वावस्था का ज्ञान (अपरोक्ष अनुभव) नहीं होता है। पूर्वावस्था की अवर्तमामता से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। और यदि किसी प्रकार पूर्वावस्था का ज्ञान माना भी जाय, तो वह अनुभव ही होगा। अतः उसका शेष चतुर्थपक्ष में अन्तर्भाव होगा। उस पक्ष का आगे खण्डन किया जायगा। पूर्वस्थायुक्त स्मृतिविषय, वर्तमानतायुक्त प्रत्यक्ष विषय होने पर भी अभेद के उन दोनों के अविषय होने ही के कारण द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता। यदि पूर्वावस्थायुक्त के अभिन्नांश में प्रत्यभिज्ञा को अनुभव माना जाय और उस अंश में अनुभवत्वयुक्त प्रत्यभिज्ञा कहा जाय, तो पूर्वावस्था का वैशिष्ट्य (अभेद सम्बन्ध) भी अनुभव के विषय में हो निविष्ट (प्रविष्ट) हुआ इससे चरम पक्ष में प्रवेश हुआ ॥ ५७ ॥

वर्तमानतायुक्त अभिन्नत्व अनुभव का विषय होता है, पूर्वावस्थायुक्त अनुभव का विषय नहीं होता, अतः प्रत्यभिज्ञा अनुभव मात्र नहीं कही जा सकती, इस आशय से शंका है कि—

अथ 'प्रागवस्थाविशिष्टादभिन्नः' इत्ययमर्थोऽप्यनेकांशः, तत्र प्रागवस्थाविशिष्टः'—इत्यत्रांशे स्मृतित्वम्, 'अभिन्नः'—इत्यंशे चानुभवत्वम्—इत्युच्यते। एवं तर्हि प्रागवस्थाविशिष्टः स, इदन्ताविशिष्टो ऽभिन्नश्चायम्—इति स्मृत्यनुभूतिभ्यामावेदितं भवति, प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतया त्वभेदः

केनापि न प्रकाशित इति 'य एव प्रागवस्थाविशिष्टः, स एवायम्'—इति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्। अथानुभवेन योऽसावनुभूयमानधर्म्याश्रयतयाऽभेदो बोधितः स कोट्यन्तरमनालम्ब्य न पर्यवस्यतीति केनचित्खलु कस्यचिदभेदो भवति, ततः स्मृत्यंशोपनीतमेव सन्निधानात् कोट्यन्तरं प्रागवस्थाविशिष्टरूपमालम्बते, इत्यभेदस्य प्रागवस्थाविशिष्टाश्रयतया सिद्धिरिति॥ तदेतत्तुच्छतरम्। कोट्यन्तरमालम्बते इति किं कोट्यन्तराश्रितो भवति, उत कोट्यन्तराश्रिततया ज्ञायते इति। नाद्यः। अभेदस्येदानीं प्रागवस्थाविशिष्टधर्म्याश्रयेणोत्पत्तौ पूर्वप्रागवस्थाविशिष्टेदन्ताविशिष्टयोर्भेदः स्यात्। द्वितीये तु यदेव कोट्यन्तराश्रिततया इदन्तावच्छिन्नधर्म्यभेदस्य ज्ञानं तत् स्मृतौ नान्तर्भावयितुं शक्यं, नाप्यनुभवांशे, इत्युक्त एव दोषः॥ ५८॥

अभिन्नत्वमिदन्ताविशिष्टत्वं च द्वयमेवानुभवविषयो ननु प्रागवस्थाविशिष्टत्वमपीति नानुभवमात्रं प्रत्यभिज्ञेति शङ्कते—'अथे'ति। विशकलितमेव प्रत्यभिज्ञानं स्यादिति परिहरति—'एवमि'ति। तदेव विशदयति। 'प्रागवस्थे'ति। इदन्ताविशिष्टधर्मिण्यभेदोऽनुभूयमानः स्मर्यमाणतत्ताविशिष्टधर्मिप्रतियोगिक एव पर्यवस्यतीति न प्रत्यभिज्ञाया विशकलितत्वं, न वाऽनुभवमात्रत्वमिति शङ्कते—'अथेति। प्रत्यभिज्ञानकाले तत्तेदन्ताविशिष्टाऽभेदपर्यवसानाभिधानं पूर्वं तयोर्भेदमाक्षिपतीति तत्तुच्छमेव; अथ, प्रत्यभिज्ञाकाले तयोरभेदो भासते एवेत्युच्यते, तत्र स्मृत्यंशानुभवांशाभ्यां प्रत्येकं तज्ज्ञानमनुपपन्नमेवेत्युक्तमिति परिहरति—'कोट्यन्तरे'ति॥ ५८॥

प्रत्यभिज्ञा में पूर्वावस्थायुक्त से अभिन्न, इस प्रकार जो अर्थ प्रतीत होता है, वह भी अनेक अंश वाला रहता है। वहाँ पूर्वावस्थायुक्त इतने अंश में प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व है, और अभिन्न इतने अंश में अनुभवत्व रहता है। यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि उक्तरीति से भी तो पूर्वावस्थायुक्त वह था, और इदन्ता (वर्तमानत्व) युक्त यह है, यह स्मृति और अनुभव से प्रकाशित अर्थ होगा, अर्थात् वह पूर्वावस्थायुक्त है, यह इदन्तायुक्त है, और अभिन्न है, इस प्रकार स्मृति और अनुभव से समझा जायगा। पूर्वावस्थायुक्त के आश्रित रूप से अभेद तो किसी (स्मृति या अनुभव) से प्रकाशित नहीं होगा। अतः जो पूर्वावस्थायुक्त था वही यह है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा का शरीर नहीं होगा। यदि कहा जाय कि अनुभव से जो अनुभूयमान धर्मी के आश्रितरूप से अभेद बोधित होता है, वह सम्बन्ध होने के कारण कोट्यन्तर (सम्बन्ध्यन्तर) के आलम्बन (आश्रयण) किये विना पर्यवसन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता क्योंकि किसी के साथ ही किसी का अभेद होता है। अतः समीपता के कारण स्मृति अंश से उपनीत (प्राप्त) ही कोट्यन्तर (सम्बन्धी प्रतियोगी) पूर्वावस्थायुक्त स्वरूप का अभेद अवलम्बन करता है। इस प्रकार अभेद की सिद्धि पूर्वावस्थायुक्त की आश्रयता (आलम्बन) से होती है। तो यह कथन भी अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि अभेद कोट्यन्तर का आलम्बन करता है, इस कथन से क्या कोट्यन्तर के आश्रित अभेद उत्पन्न होता है? यह अर्थ विवक्षित है, अथवा कोट्यन्तराश्रित रूप से ज्ञात होता है, यह विवक्षित है? वहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अभेद की इस प्रत्यभिज्ञाकाल में पूर्वावस्थायुक्त धर्मी

के आश्रयण द्वारा उत्पत्ति होने पर, प्रथम पूर्वावस्थायुक्त और वर्तमानावस्थायुक्त एक धर्मी (वस्तु) में भेद प्राप्त होगा। और दूसरे पक्ष में जो कोट्यन्तर की आश्रितता द्वारा इदन्ता (वर्तमानता) युक्त धर्मी के अभेद का ज्ञान होगा, वह संस्कार से अजन्य होने के कारण स्मृति के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता, और न अनुभव के अन्तर्गत हो सकता है, क्योंकि उसके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नही रहता, यह दोष पहले दिया गया है ॥ ५८ ॥

किञ्च, यदा च प्रत्यभिज्ञानं 'स' इत्यंशे स्मृतिः, 'अयम्' इत्यंशे चानुभव, इत्येकं ज्ञानमभ्युपेयते तदा धर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वारः। तथाहि—संस्कारेण तत्तामात्रं चोपनीयते तत्ताविशिष्टो वा धर्मी। आद्ये 'स'—इति प्रत्यभिज्ञायाः शरीरं न स्यात्, तत्तायाः केवलायाः संस्कारेणोपनीतत्वात्। नापि द्वितीयः। तथा सति 'अयमि'—त्यनुभवांशेपि धर्मिप्रकाशो वक्तव्य एव, अन्यथा इदन्तामात्रप्रकाशे'ऽयमि'ति तच्छरीरं न स्यात् एवं च संस्कारस्य चेन्द्रियस्य च धर्मिप्रतीतिहेतोरुभयस्योपनिपाते किं विशेष्यांशे भिन्नाभ्यां ज्ञानाभ्यामुत्पत्तव्यम् उत कारणद्वयसम्भेदाद्भेदमात्रभाजा ज्ञानेन। प्रथमे प्रत्यभिज्ञानस्यैकज्ञानव्यक्तिताभ्युपगमव्याघातः, भेदपक्षोक्तदूषणापातश्च। द्वितीये धर्म्यंशे प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वमप्यनुभवत्वमपीत्यनुभूतिस्मरणसङ्कर इति विषयव्यवस्थयापि नियमो भग्नः ॥ ५९ ॥

नरसिंहाकारं प्रत्यभिज्ञानमित्यत्र दोषान्तरमाह—'किंचे'ति। प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्विषयांशावच्छेदभेदेन वृत्तिर्वाच्या,तत्रतत्तेदन्तयोर्विषययोरसाङ्कर्येण द्वाभ्यां कपिसंयोगं प्रति शाखामूलयोरिवावच्छेदकत्वमस्तु, तदुभयविशिष्टस्तु धर्मी स्मृत्यंशानुभवांशाभ्यां विषयीकर्त्तव्य, इति द्वयमप्यवच्छिन्द्यादिति धर्मिविषयतया स्मृतित्वानुभूतित्वसङ्करो दुर्वारः स्यादित्यर्थः। संयोगप्रतिबन्दी तु न भवति, तस्यापिखण्डयमानत्वादिति भाव;। भेदपक्षोक्तदूषणापात इति। अभेदस्योभयोरेकेनाप्यविषयीकरणम्—इति दूषणमित्यर्थः ॥ ५९ ॥

प्रत्यभिज्ञा को यदि (सोऽयम्) इस अनुभवगत (सः) इतने अंश में स्मृति और (अयम्) इतने अंश में अनुभव मानें, तो तत्ता (पूर्व देशकाल सम्बन्ध) अंश में केवल स्मृति और इदन्ता (सम्मुख वर्तमान देशकाल सम्बन्ध) अंश में केवल अनुभव होने पर भी तत्ता तथा इदन्ता के धर्मी (आश्रय) को भी विषयरूप से आदान (ग्रहण) करके स्मृति और अनुभव का संकर (संमिश्रण) दुर्वार दोष होगा। अर्थात् धर्मी अंश का ज्ञान स्मृति अनुभव उभयरूप प्राप्त होगा। संस्कार से क्या तत्ता मात्र स्मरण के विषय रूप से उपनीत (प्राप्त) किया जाता है ? या तत्तायुक्त धर्मी प्राप्त किया जाता है ? आद्य पक्ष में (सः) इस प्रकार वाला प्रत्यभिज्ञा का शरीर (स्वरूप) नहीं होगा, क्योंकि (सः) शब्द से तत्ता सहित धर्मी का ग्रहण = ज्ञान होता है, और संस्कार तो केवल तत्ता को उपनीत (प्राप्त) करता है। और संस्कारोपनीत से अन्य स्मरण का विषय हो नहीं सकता। दूसरे पक्ष (तत्तायुक्त धर्मी की संस्कार से प्राप्ति) का भी स्वीकार नहीं हो सकता क्योंकि धर्मी के संस्कार से प्राप्त

होने पर, अयम्, इस प्रत्यक्ष अनुभव अंश में भी धर्मी का ज्ञान कहना ही होगा, क्योंकि (अनुभव में धर्मी के प्रकाश के बिना) इदन्तामात्र के प्रकाश होने पर, अयम्—इस प्रकार का धर्मी का प्रकाश उस अनुभव का स्वरूप नहीं होगा। इस प्रकार, संस्कार और इन्द्रिय दोनों के प्रत्यभिज्ञा में कारण के होने पर क्या दोनों से भिन्न-भिन्न दो ज्ञान उत्पन्न होंगे ? अथवा दोनों के कारण के संमिश्रण से अभेदमात्र का भागी (अभिन्न) एक ज्ञान दोनों कारण से होंगे ? वहाँ प्रथम पक्ष में प्रत्यभिज्ञा को एक ज्ञानव्यक्तिरूपता के अभ्युपगम (सिद्धान्त) से व्याघात (विरोध) होगा, अर्थात् उस सिद्धान्त का त्याग होगा। और दूसरे पक्ष में पूर्व वर्णित अभेदांश का दोनों ज्ञान (स्मरण तथा अनुभव) से अप्रकाश रूप दोष भी प्राप्त होगा। दूसरे प्रत्यभिज्ञा के एकज्ञानरूपता पक्ष में धर्मी अंश में प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व और अनुभवत्व दोनों धर्म की प्राप्ति से अनुभव तथा स्मरण का संकर होगा। अतः तत्तायुक्त स्मृतिविषय और इदन्तायुक्त अनुभवविषय की व्यवस्था द्वारा भी स्मृति एवं अनुभव के नियम का नाश ही होता है। क्योंकि धर्मी अंश में सर्वथा संकर की प्राप्ति होती है ॥ ५९ ॥

अथोच्यते मा भूद्विषयोपाधिभेदाद्व्यवस्थानमुपाध्यन्तरात्तु भविष्यति, तद्यथा संस्कारजत्वमादाय स्मृतित्वव्यवस्थितिरिन्द्रियसन्निकर्षजत्वमादाय चानुभवत्वव्यवस्थानम्, इति विरोधपरिहारोस्तु। न। प्रमात्वसामान्यानङ्गीकारे प्रमारूपताया विषयव्यवस्थित्यैवोपगमेनोपाध्यन्तरोपन्यासेपि स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकस्मिन्नेव धर्मिण्यर्थे निवेशात् प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकविषयतैव (प्रसज्येत) ॥ ६० ॥

ननु स्मृतित्वानुभूतित्वयोरेकज्ञानसमावेशेपि संस्कारजत्वेन्द्रियजत्वाभ्यामवच्छेदकाभ्यामविरोधो भविष्यतीत्याह—अथोच्यते इति। न। प्रमात्वेति। साक्षात्त्वादिना परापरभावानुपपत्त्या प्रमात्वाप्रमात्वे न जाती, किं तर्हि ? विषयतथात्वातथात्वनिबन्धनावुपाधी, तद्यदि स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्विषयावच्छेदभेदेन वृत्तिर्न स्यात्तदा तयोः प्रमात्वाप्रमात्वयोरपि तथा न स्याद्, इत्येकस्मिन्नेव विषये तज्ज्ञानं प्रमा चाऽप्रमा च स्यात्; नहि स्मृतिश्च नाऽप्रमा, यथार्थानुभवश्च न प्रमेत्यर्थः ॥ ६० ॥

यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञान, और उसके विषय धर्मी के एक होने के कारण विषयरूप उपाधि के भेद से स्मृति तथा अनुभव की व्यवस्था (प्रत्यभिज्ञा में पृथक् स्वरूप से स्मृति तथा अनुभव की सिद्धि) नहीं हो, तथापि संस्कारजन्यत्व, इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वरूप भिन्नकारणमूलक उपाध्यन्तर (उपाधि भेद) से व्यवस्था होगी। संस्कारजन्यत्व के ग्रहण से स्मृतित्व की व्यवस्थिति होगी, और इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्व के ग्रहण से अनुभवत्व की व्यवस्थिति (पृथक् व्यवहृति) होगी। इस प्रकार स्मृतित्व तथा अनुभूतित्व के विरोध का निवारण हो सकता है। परन्तु यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि ज्ञानगत साक्षात्त्व (प्रत्यक्षत्व) का परोक्षत्व के साथ प्रमात्व के परत्व (विभुत्व) या अपरत्व (व्याप्यत्व) के अभाव से प्रमात्व को पर या अपर सामान्य (जाति) अङ्गीकार नहीं करने से, विषय की व्यवस्था (अनधिगत अबाधित विषयता) से प्रमारूपता (प्रमात्व)

के स्वीकार से उपाध्यन्तर के उपन्यास (कथन) करने पर भी स्मृतित्व तथा अनुभवत्व दोनों के प्रत्यभिज्ञा के विषय धर्मीरूप अर्थ में निवेश (प्राप्ति) से प्रमात्व और अप्रमात्व को एक विषयता ही प्राप्त होगी) अधिगतविषयवाली अप्रमारूप स्मृति और अनधिगतविषय वाला प्रमारूप अनुभव के समान अन्यत्र भी विरुद्ध प्रमा तथा अप्रमा का संकर होगा। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा के समान अन्य भी एक ही ज्ञान प्रमा और अप्रमा कहाने लगेगा ॥६०॥

विषयभेद के बिना स्मृतित्वादि धर्म के भेदमात्र से स्मृति तथा अनुभव की व्यवस्था मानने पर फिर दोष (संकर) देते हैं कि—

किंच, ज्ञानविकल्पानामध्यात्मं भावाभावसंवेदनात् स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्द्वयोरपि प्रत्यभिज्ञायां स्वतःप्रतिभासेन विषयनिरूपणव्यवस्थित्यनङ्गीकारे स्मृतित्वादेरिदन्तायामपि स्मृत्यवगमप्रसङ्गात्। यदि च संस्कारजत्वमेव स्मृतित्वं, तदा तस्यैव विरोधेऽभिधीयमाने स एव विरोधसामञ्जस्यायोपाधिरुपन्यस्यते—इति नान्यस्य चेतसि निविशते। अथाऽन्यत्स्मृतित्वं नाम; तदाप्यनुपपत्तिः। तथाहि-संस्कारजत्वं = संस्कारादनन्तरं नियमेन भावः, नियतत्वं च नानाव्यक्तिगतमेकं रूपं ग्राहकमक्रोडीकृत्यासंभवीति स्मृतित्वेनैव संस्कारजत्वं वक्तव्यं, तथाच संस्कारजत्वव्यवस्थितौ स्मृतित्वमुपाधिः, स्मृतित्वव्यवस्थितौ संस्कारजत्वम्,-इत्यन्योन्याश्रयः। तस्मात् स्मृत्यनुभवसङ्करो दुर्वार एव ॥ ६१ ॥

किंचेति। ज्ञानविकल्पानां ज्ञानवैचित्र्याणाम्, अध्यात्मम् आत्मन्यधिकरणे, भावाभावसंवेदनात् सदसत्त्वसंवेदनात्, मानसेन प्रत्यक्षेण समुत्पन्नमात्रे प्रत्यभिज्ञाने विषयव्यवस्थामनपेक्ष्यैव तत्तेदन्तासामानाधिकरण्येन स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्ग्रहणप्रसङ्ग इत्यर्थः। ननु स्मृतित्वं न संस्कारजन्यत्वादन्यत्, तथा च संस्कारातीन्द्रियत्वे तदप्यतीन्द्रियमेवेति न तत्तेदन्तासाधारण्येन स्मृतित्वानुभूतित्वयोर्ग्रहणप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—यदि चेति। प्रत्यभिज्ञायां केनावच्छेदेन संस्कारजत्वं, केन चेन्द्रियजत्वम्—इत्येव विचार्यते, तत्र च संस्कारजत्वावच्छेदेन संस्कारजत्वं व्यवस्थापयितुमशक्यमित्यर्थः। ननु स्मृतित्वं जातिर्वा, ततोल्लेखि ज्ञानत्वमुपाधिर्वा, तदवच्छेदेन संस्कारजत्वं स्यादित्याह—अथेति। स्मृतित्वावच्छेदेन संस्कारजत्वं, तदवच्छेदेन प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वम्, इत्यन्योन्याश्रयमाह—तथाहीति। तस्मादिति। तत्तांशेऽनुभवत्वमिदन्तांशेपि स्मृतित्वमिति कुतो नरसिंहाकारत्वमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

ज्ञान के विकल्पों (भेदों) के अध्यात्म (आत्मा में) स्वयं (अनुमानादि के बिना) भावाभाव के ज्ञान से अनुभूतित्व तथा स्मृतित्व के भी प्रत्यभिज्ञा में स्वतः प्रकाश होने से स्मृति आदि की विषय के निरूपण (विचार) के अधीन सिद्ध होने वाली व्यवस्था (भेद) को अङ्गीकार नहीं करने पर, इदन्ताविषयक भी स्मृति के अवगम (ज्ञान) का प्रसंग होगा और तत्ताविषयक अनुभव का प्रसंग होगा। यदि संस्कारजत्व ही स्मृतित्व है, तो उसी के प्रत्यभिज्ञा में विरोध (संकर) दोष देने पर फिर उसी के सामञ्जस्य (परिहार= निवृत्ति) के लिये उपाधि कहें तो आत्माश्रय से यह कथन अन्य के चित्त में प्रविष्ट नहीं होता। यदि संस्कारजन्यत्व से अन्य ही स्मृतित्व हो, और संस्कारजन्यत्व से संकर का वारण किया जाय जिससे आत्माश्रय नहीं हो तो भी अनुपपत्ति (सांकर्य वारण की

असिद्धि) ही है। क्योंकि संस्कार के अनन्तर नियम से होना संस्कारजत्व कहा जाता है। और वह नियमरूप नियतत्व, नानास्मृतिव्यक्तिगत एकरूपग्राहक (संग्राहक) धर्म को विषय किये बिना ज्ञात नहीं हो सकता। अतः स्मृतिमात्र में अनुगतधर्म स्मृतित्वरूप से ही संस्कारजन्यत्व कहना होगा। ऐसा होने पर संस्कारजन्यत्व की व्यवस्थिति (व्यावृत्तिज्ञान) में स्मृतित्वधर्म उपाधि (व्यावर्तक) होगा, और स्मृतित्व की व्यवस्थिति में संस्कारजन्यत्व उपाधि होगी। अतः अन्योन्याश्रय होगा। एवं अन्योन्याभाव से व्यावृत्ति के अभाव से उक्त संकर दुर्वार ही है॥ ६१॥

अपि च, स्मृत्यनुभवयोर्ये कारणसामग्र्यौ, ते प्रत्यभिज्ञायां मन्तव्ये? न वा?। न चेत्कथमंशतोपि स्मृतित्वमनुभवत्वं च प्रत्यभिज्ञानस्य?। एवमेव तथात्वेऽतिप्रसङ्गात्-स्मृत्यनुभूत्योः स एव सङ्करः। प्रथमे तु पृथगेव कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, प्रत्येकं स्वस्वकार्ये समर्थत्वात् सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुत्वेनावधारितत्वात्॥ ६२॥

सामग्रीभेदेन कार्यभेदमाह—अपिचेति। स एवेति। सामस्त्येनैव प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभवत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः॥ ६२॥

विचारणीय यह है कि स्मृति और अनुभव के जो कारण सामग्री (संस्कार और इन्द्रियसंयोग) हैं, प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति में मन्तव्य हैं, या नहीं? वहाँ यदि वे सामग्री नहीं माने जायें तो कारण सामग्री के बिना प्रत्यभिज्ञा के तत्ता अंश में स्मृतित्व और इदन्ता अंश में अनुभूतित्व भी कैसे होंगे? और साधनसामग्री के अभाव से, संस्कारजत्व तथा इन्द्रियसंप्रयोगजत्व के बिना ही स्मृतित्व तथा अनुभवत्व के होने (मानने) पर स्मृति एवं अनुभव में अतिप्रसंग होगा। अर्थात् स्मृति में अनुभत्व और अनुभव में स्मृतित्व की प्राप्ति होगी। इस तरह संकर दोष होगा ही। और प्रथम पक्ष में स्मृति और अनुभव के सामग्री को मानने पर उन दोनों सामग्रियों से पृथक्-पृथक् दो कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि प्रत्येक सामग्री अपने २ कार्य में समर्थ रहेगी। सामग्री का भेद कार्यभेद में हेतुरूप से अवधारित है, अतः दोनों से एक प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा॥ ६२॥

अथ यत्र ते पृथग्जायेते तत्र पृथगेव कार्यं प्रत्यभिज्ञायां-तु तयोर्युगपज्जातत्वेन सम्भूय जननात् करम्बितकार्योत्पत्तिः। यद्यपि घटपटादिसामग्र्योर्नैवं दृश्यते तथापि तद्विलक्षणस्वभावत्वाद् अनयोरीदृशत्वमुपपद्यते; नहि एकस्य, यादृक्, पदार्थस्य स्वभावस्तादृगऽन्यस्यापि सर्वस्य भवति, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गाद् इति। नैतदस्ति। यत्र हि मिलितत्वं तयोस्तत्र किं परस्परसहकारित्वमनयोरेष्टव्यं? न वा?। न चेत्, परस्परमेलनलक्षणो विशेषोऽनुपयोगी कार्यजननं प्रति, मिथः सहकारिभावविरहेणाऽप्रयोजकत्वात्; ततश्चाविशेषात्पृथगेव कार्यं प्रसज्येत। अथ परस्परसहकारित्वं तयोरिष्यते, तदाऽनुभवांशेपि संकारस्य व्यापारः, स्मरणांशेप्यक्षस्य, इति नियामकत्वाभिमतयोस्तयोरुभयांशे साधारण्यात् स्मृत्यंशेप्यनुभूतिरनुभूत्यंशेपि स्मरणमिति सुवज्रलेपायितं प्रत्यभिज्ञायामनुभूतित्वस्मृतित्वसङ्करेणेति।

नाप्यनुभव एवेतिपक्षः, तथा सति तत्तावच्छिन्नस्याभेदाश्रयतायां न संस्कारो, नेन्द्रियसन्निकर्षश्चेति तदविषयत्वापातः ॥ ६३ ॥

सामग्रीद्वयसमाजादेकमेव कार्यमित्याह—अथेति। अन्यत्रापि तथाप्रसङ्गं वारयति—यद्यपीति। अनयोरिति। स्मृत्यनुभवसामग्र्योरित्यर्थः। ईदृशत्वम् एककार्य्यजनकत्वम्। ननु कथमेवमित्यत आह—नहीति। परस्परनिरपेक्षयोः सामग्र्योः समाजे कार्यभेदः, सापेक्षयोः समाजे कार्यवैचित्र्यं, वैचित्र्ये वा सामग्र्यप्रत्यभिज्ञानं स्मृत्याकारमनुभवाकारं च भवेदित्याह—यत्र हीति। नैयायिकमतमास्कन्दति—नापीति। तथा सतीति। संस्कारेन्द्रियाभ्यां मिलित्वा प्रत्यभिज्ञालक्षणोऽनुभवो जन्यते, तत्र तत्तावैशिष्ट्यांशे संस्कार, इदन्तावैशिष्ट्यांशे चेन्द्रियमस्तु कारणं, तत्ताविशिष्टोपरक्ताभेदांशे नैकस्यापि सामर्थ्य, संस्कारस्य तदगोचरत्वादिन्द्रियस्य च तेन सममसन्निकर्षादित्यर्थः। अभेदो हि नात्र स्वरूपमात्रं, किं नाम तत्ताविशिष्टप्रतियोगिकान्योन्याभावात्यन्ताभाववत्त्वं, तच्च प्रतियोगिघटितमूर्तित्वेन तदसन्निकर्षादसन्निकृष्टमेवेति भावः ॥ ६३ ॥

यदि कहा जाय कि जहाँ स्मृति और अनुभव की सामग्रियाँ पृथक्-पृथक् उत्पन्न होती हैं, वहाँ उन के कार्य भी पृथक् २ ही स्मरण और अनुभव रूप होते हैं। परन्तु प्रत्यभिज्ञा में (प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति से पूर्व काल में) तो स्मृति और अनुभव दोनों की सामग्रियों के युगपत् (एक काल में) सिद्ध होने के कारण उनसे सम्भूय (परस्पर सापेक्ष) करम्बित (मिलित) कार्य की उत्पत्ति होती है। यद्यपि संस्कार प्रथम उत्पन्न रहता है, तथापि कार्योत्पादनयोग्य अभिव्यक्तरूप से इन्द्रिय के सम्बन्ध की उत्पत्ति काल में उत्पन्न होता है, यह भाव है। यद्यपि एक काल में साथ उत्पन्न होने वाली घटपटादि की सामग्रियों में ऐसी शक्ति नहीं देखी जाती है जिससे दो सामग्रियाँ मिल कर एक विचित्र कार्य को उत्पन्न करें, तथापि घटपटादि की सामग्रियों से स्मृति और अनुभव की सामग्रियों के विलक्षण-स्वभाव होने के कारण इन स्मरणानुभवसामग्रियों को ईदृशत्व (मिलित एक कार्य जनकत्व) सिद्ध होता है। क्योंकि किसी एक पदार्थ का जैसा स्वभाव रहता है वैसा ही अन्य सब पदार्थों का स्वभाव होता, ऐसा नियम नहीं है। अतः घटपटादि की सामग्री से स्मरणादि की सामग्री में विलक्षणस्वभाव होना दोष नहीं है, और यदि सब पदार्थों का एक सा स्वभाव हो तो जगत् की विचित्रता का भङ्ग (अभाव) होगा। यह पूर्वपक्ष है, परन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि जहाँ (प्रत्यभिज्ञा में) स्मरणानुभवसामग्री को मिलितत्व (सापेक्षत्व) है, वहाँ क्या इन दोनों सामग्रियों की परस्पर सहकारिता मानी जाती है या नहीं? यदि कार्य की उत्पत्ति (उत्पादन) में परस्पर सहकारित्व (सहायकत्व) नहीं माना जाता हो (इष्ट नहीं हो) तो परस्पर सम्मेलनरूप जो विशेष भेद है, वह कार्य के जनन (उत्पत्ति) में अनुपयोगी है, क्योंकि परस्पर सहकारित्व के अभाव से वह सम्मेलन कार्य की उत्पत्ति का प्रयोजक (हेतु) नहीं हो सकता और न है। अतः सम्मिलित सामग्री में अन्य सामग्री से विशेष (भेद) के अभाव से अन्य सामग्री जन्य कार्य के समान सम्मिलित सामग्री से पृथक्-पृथक् ही कार्य (स्मरण तथा अनुभवरूप) प्राप्त होगा, प्रत्यभिज्ञारूप एक ज्ञान नहीं होगा। और यदि सम्मिलित सामग्रियों को परस्पर सहकारित्व माना जाय तो अनुभव की उत्पत्ति अंश में भी संस्कार का व्यापार

होगा, और स्मरण की उत्पत्ति अंश में इन्द्रियों का व्यापार होगा। अर्थात् दोनों सामग्रियों के व्यापार से अनुभव तथा स्मरण दोनों उत्पन्न होंगे। अतः स्मृतित्व के नियामक संस्कार-जन्यत्व और अनुभूतित्व के नियामक इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्व जो दो अभिमत (मान्य) हैं, उन दोनों के स्मरण तथा अनुभव दोनों अंशों में प्रत्यभिज्ञा में साधारण (तुल्य) होने के कारण, स्मृति अंश में भी प्रत्यभिज्ञा अनुभूतिरूप, और अनुभव अंश में स्मृतिरूप, उभय साधन जन्यता से होगी जिससे अनुभूतित्व और स्मृतित्व का संकर प्रत्यभिज्ञा में अत्यन्त वज्रलेपरूप (दृढ) होगा। और प्रत्यभिज्ञा में अनुभवरूपता, यह चतुर्थ पक्ष भी नहीं माना जा सकता जिससे शंकर नहीं हो, क्योंकि अनुभवरूप में तत्तायुक्त के अभेद की आश्रयता जो प्रत्यभिज्ञा में भासती है, उस विषय का न संस्कार रहता है, और न इन्द्रियसन्निकर्ष (सम्बन्ध) ही। अतः संस्कारसहित इन्द्रियजन्य अनुभवरूप प्रत्यभिज्ञा मानने पर भी प्रत्यभिज्ञा को उक्त अभेदविषयत्व के अभाव की प्राप्ति होगी। कारण यह है कि सम्बन्ध का ज्ञान प्रतियोगी (सम्बन्धी) के ज्ञान पूर्वक होता है, और तत्ता का आश्रय अभेद का प्रतियोगी है उसके साथ नेत्र का सम्बन्ध नहीं है। तत्ताविशिष्ट का संस्कार होने पर भी तत्ताविशिष्ट अभेदविषयक संस्कार के अभाव से संस्कारद्वारा भी अभेद का भान प्रत्यभिज्ञा में नहीं हो सकता इत्यादि ॥ ६३ ॥

यहाँ शंका होती है कि जैसे लौकिक सम्बन्ध के बिना भी व्याप्तिग्रहण काल में सामान्य (जाति) रूप सम्बन्ध से सब धूम और अग्नि का ज्ञान होता है, तथा योगज धर्मरूप सम्बन्ध से योगी को परोक्षार्थ का ज्ञान होता है, वैसे ही इन्द्रियसंयुक्त-मनःसंयुक्त आत्मसमवेतसंस्कारविषयतत्ताविशिष्टाभेदरूपज्ञान (संस्कार) रूपसम्बन्ध से तत्तायुक्त का अभेद प्रत्यभिज्ञा रूप अनुभव में संस्कारसहित इन्द्रिय द्वारा भास सकता है, तो कहा जाता है कि—

नच संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या संबद्धविशेषणतया तद्ग्रहः। क्वचित् सोऽयं नवेति तर्हि संशयो न स्यात्। दोषवशात्तत्र तत्प्रकाशो, न संबद्ध-विशेषणत्वाद् इति चेन्न, विनापि संस्कारं दोषवशात्तदापत्तेः। वस्तुप्रकाशिनि च दोषवाचोयुक्त्यनिरुक्तेः। क्वापि तस्याऽवस्तुप्रकाशित्वाद्दोषत्वे कथमक्षादेरपि तन्न स्यात्। विशिष्टत्वेन तथात्वस्य प्रकृतेऽप्यपरिहारः ॥६४॥

नन्विन्द्रियेणैव संयुक्तसंयुक्तसमवेतविशेषणविशेषणतया प्रत्यासत्त्या तदुपरक्ताभेदश्च भासतां, तथाहि—इन्द्रियसंयुक्तं मनः, तत्संयुक्त आत्मा, तत्समवेतः संस्कारस्त, द्विशेषणं च घटः, तद्विशेषणं च तत्ताविशिष्टाभेद—इतिशङ्कां निरस्यति। नचेति। अनया प्रत्यासत्त्या सर्वत्र तत्तोपरक्ताभेदस्य प्रमैव स्यान्न तु संशय इत्याह—तर्हीति। पूर्वानुभूते प्रत्यासत्तेः सत्त्वान्निश्चय एव स्यादननुभूते तत्तोल्लेखानुपपत्तेरित्यर्थः। ननु दोषमाहात्म्यात्संशय एवोत्पद्यते, न निश्चय इत्याह—दोषेति। संस्कारनिरपेक्षस्य दोषस्य तथासंशयकारणत्वेऽतिप्रसङ्ग—इत्याह—विनापीति। दोषान्तरमाह—वस्त्विति। सोयं नवेतितत्तेदन्ताविशिष्टाभेदस्य वस्तुनो भानात् कथं दोषस्तत्कारणं स्यादित्यर्थः। ननु प्रकृतेन दोषेण यदि वस्तु प्रकाशितमेतावतैव कथमस्याऽदोषत्वं, यावता तेन पित्तादिना दोषेण पीतः शङ्खः—इत्यादाववस्त्वपि प्रकाशितं प्रकृतसंशयस्यैव वा कोट्यन्तरमवस्त्वेवेत्याशङ्क्याह—क्वापीति। क्वाचित्काऽवस्तुप्रकाशाधीनं यदि दोषत्वं तदेन्द्रियशब्दलिङ्गादीनामपि दोषत्वं भवेदित्यर्थः।

नतु पित्तादिविशिष्टस्येन्द्रियादेर्दोषत्वं, नतु केवलस्य, तथाच नागृहीतविशेषणा न्यायेन पित्तादिकमेव दोषो, नत्विन्द्रियादिकमपीत्याशङ्क्याह—विशिष्टत्वेनेति। एवं सतीन्द्रियादिविशिष्टस्यैव पित्तादेरपि भ्रमजनकत्वेन दोषत्वमिति नागृहीतविशेषणान्यायादिन्द्रियादेरेव दोषत्वमायातं, नतु पित्तादेरित्यर्थः। तथात्वस्य दोषत्वस्य, प्रकृतेपि—इन्द्रियादावपीत्यर्थः॥ ६४॥

संस्कार द्वारा जो प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) उससे सम्बद्ध (सम्बन्धवाला नेत्र सम्बन्धी) जो तत्तायुक्त व्यक्ति उस में विशेषणतारूप से उस अभेद का नेत्र से ग्रहण होगा, क्योंकि इन्द्रिय से संयुक्त मन और मन से संयुक्त आत्मा में ज्ञान (संस्कार) समवेत रहता है, उससे सम्बद्ध (विषय रूप से सम्बन्ध वाला) तत्ता युक्त घटादि रहता है। उस में विशेषणरूप से अभेद रहता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि यदि इन्द्रिय से अभेद का अपरोक्ष निश्चय हो तो कहीं जो संशय होता है कि यह वही दृष्ट घट है, या नहीं? इत्यादि नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि जैसे नेत्रगत दोष के बल से श्वेत शंख में पीतता भासती है, वैसे ही दोष से संशय होता है सम्बद्धविशेषणतारूप सम्बन्ध से नहीं। तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि दोष बल से संशय होता हो, तो संस्कार के बिना भी सर्वत्र अभेद का संशय प्राप्त होगा, और तत्ता तथा इदन्तायुक्त वस्तु भी संशय में विषयरूप से भासता है, वहाँ वस्तु के प्रकाशक में दोषवाक् की युक्ति की निरुक्ति (निर्वचन) नहीं हो सकती, अर्थात् वस्तु-प्रकाशक को दोष कहना युक्त नहीं है। यदि कहा जाय कि उभयकोटिक संशय में एक कोटि असत् अवश्य रहता है, और उस असत् का दोष से प्रकाश होता है, अतः उसे नेत्रगत पीततादि के तुल्य दोष कहना युक्त है। तो इसका उत्तर यह है कि कहीं किसी असत् (अवस्तु) के प्रकाशक होने से यदि संशयजनक को दोष कहा जाय, तो कहीं भ्रम के स्थान में असत् के प्रकाशक इन्द्रियादिरूप प्रमाणों को भी दोष क्यों नहीं कहा जाता? असत् प्रकाशक इन्द्रिय भी उक्त रीति से दोष ही सिद्ध होंगे। यदि कहा जाय कि विशिष्टत्वेन केवल इन्द्रियादिगत दोषत्व का परिहार (निवारण) होता है। अर्थात् दोषविशिष्ट इन्द्रियादि दोषरूप हो जाते हैं, केवल नहीं। अतः इन्द्रियादि को दोष नहीं कहा जाता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ संशय होता है वहाँ प्रकृत में भी दोष का अपरिहार रहता है। दोषयुक्त संस्कार से ही संशय होता है। ज्ञानलक्षण सम्बन्ध से निर्दोष इन्द्रिय द्वारा अभेद का ज्ञान हो तो ऐसा नहीं हो सकता। (अपरिहार) के स्थान में परिहार पाठ हो तो अर्थ सुगम होगा॥ ६४॥

यदि कहा जाय कि जैसे पित्तादि दोष, इन्द्रियादि के रहते उसके विना, स्वतः भ्रम का कारण होता है, इसी प्रकार संस्कार के बिना ही संस्कार के रहते भी दोष संशय कारण का प्रकृत में होता है, तो कहा जाता है कि—

नहि विनैव कुतोपि विशेषादस्याऽवस्तुप्रकाशिता, सत्यप्यर्थे दोषादवस्तुन एव प्रकाशे संशयात्प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यादेरसम्भवापत्तेः। वस्तुविषयत्वेपि दोषादनिश्चयता? इति चेन्न। वस्तुतस्तस्यासङ्कीर्णत्वात्तस्य प्रकाशे तदेव संशयैककोटौ प्रकाशितमिति कुतस्तदनिश्चयता। निश्चयार्थस्य च संशय-

कोटावखण्डने संशये तदभावाधिकग्राहित्वेपि निश्चयत्वस्याप्रत्यूहत्वादेव, अभावनिश्चयः कोट्यन्तरं केवलमधिकं स्यात् ॥ ६५ ॥

ननु भवेदेवं यदि पित्तादिकमिन्द्रियादिसाहित्येनैव भ्रमं जनयेदित्यत आह—नहीति। अस्य पित्तादेर्दोषस्य, कुतोपि विशेषादिन्द्रियादेर्विना नावस्तुप्रकाशकत्वमित्यर्थः। ननु संशये विपर्यये वा धर्मी वस्तुभूतोऽस्तु, तथापि ताभ्यां न स प्रकाश्यते, किंत्वलीकमेव किंचित्प्रकाश्यते, तथा चावस्तुभानात्तत्प्रकाशकयोस्तयोर्जनकः स कथं न दोषः स्यादित्याशङ्क्याह—सत्यप्यर्थे इति। वस्तुमात्रं संशयस्य विषय–इतिजानतां प्रेक्षावतां क्वचिदपि संशयात् प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्यातामित्यर्थः। यद्वा; वस्तुनो = धर्मिणोऽप्यभाने कुत्र संशयः प्रवर्तयेदित्यर्थः। ननु प्रवृत्त्यनुरोधात्संशयस्यास्तु वस्तुविषयता, यत्पुनरयमनिश्चयाकारस्तत्र दोष एव तन्त्रं, तथाच निश्चयप्रतिबन्धकत्वमेव दोषत्वमित्याह—वस्तुविषयत्वेपीति। धर्मी तावन्न सङ्कीर्णः = न स्थाणुपुरुषोभयात्मा, किंत्वेकरूप एव, तथा च वस्तुतो यद्रूपो धर्मी तत्र संशयो निश्चयरूप एवेति क्वायमनिश्चयो येन निश्चयप्रतिबन्धकतया तज्जनको दोषः स्यादित्याह—वस्तुत इति। ननु भवेदेवं निश्चयो यदि पुरुषे धर्मिणि पुरुषत्वमात्रमुल्लिखेदपितु स्थाणुत्वं पुरुषत्वाभावं वाऽवास्तवमधिकमुल्लिखन्न निश्चय इत्यत आह—निश्चयार्थस्येति। निश्चयस्य योऽर्थो विषयः–पुरुषत्वविशिष्टो धर्मी, स चेद्बाधकप्रत्ययेनाखण्डितस्तदा तत्र नायमनिश्चयोऽधिकं तु यद्भासते तत्राप्ययं विपर्ययरूपो निश्चय एवेत्यर्थ ॥ ६५ ॥

किसी भी विशेष (इन्द्रियादि) के बिना इस दोष में स्वतः अवस्तु (असत्य) प्रकाशकत्व नहीं हो सकता। अन्यथा केवल दोष से ही वस्तु के रहने पर भी असत्य के ही प्रकाश होने पर, दोष जन्य संशय से विचारक बुद्धिमान् की विचारादि के लिये प्रवृत्ति के असम्भव की प्राप्ति होगी, संशय के स्थान में दोष से दर्शित वस्तु के अभाव के निश्चय से विचारादि के लिये प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि कहा जाय कि (सोऽयं न वा) इस संशय के धर्मीरूप वस्तुविषयक होने पर भी दोष से अनिश्चयरूपता होती है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुतः (यथार्थरूप से) उस धर्मी के असंकीर्ण (विकल्पित उभयस्वरूपता से रहित) एकस्वरूप होने से और उसके प्रकाश होने पर संशय की एक कोटि (पक्ष) में वही एकस्वरूपधर्मी प्रकाशित होता है। अतः धर्मी को अनिश्चयता कैसे हो सकती ? और अनिश्चयता नहीं होने पर दोष अनिश्चय का जनक भी नहीं हो सकता और न वह निश्चय का प्रतिबन्धक हो सकता। यदि कहा जाय कि संशय में एक कोटि का ही प्रकाश हो, तो धर्मी की अनिश्चयता नहीं हो, परन्तु (न वा) इत्यादि द्वितीय कोटि के प्रकाश से अनिश्चयता होती है, तो इसका उत्तर यह है कि निश्चय का अर्थ (विषय) जो (सोऽयम्) यह एक अंश संशय कोटि में है, उसके अखण्डन (प्रमाणान्तर से अबाध) रहते, संशय में उसके अभाव के अधिकरूप से (न वा) इस पक्ष द्वारा ग्राहकत्व (प्रकाशकत्व) होने पर भी धर्मी के निश्चयत्व के निर्विघ्न होने से धर्मी अंश में दोष से अनिश्चयता संशय में नहीं हो सकती, किन्तु धर्मी के निश्चय होने पर भी प्रकार अंश में अभाव का निश्चयरूप केवल क्योट्यन्तर अधिक संशय में हो सकता है, अथवा वह नहीं है इत्यादि ॥ ६५ ॥

यहाँ शंका होती है कि संशय के भी उक्त रीति से निश्चयरूप होने पर भी एक कोटिक (घटोऽयम्) यह घट है इत्यादि निश्चय से (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) इत्यादि विरुद्ध

दो कोटि वाला निश्चय विजातीय (विलक्षण) मानने योग्य है। और वह विलक्षणता संशयत्वात्मक जाति रूप है, और उसका हेतु दोष है, इस पर कहा जाता है कि—

जातिः संशयत्वं, तत्प्रयोजकश्च दोषः ? इति चेद्, न इदं तद्वा न वेतिसंशयकोट्यर्थनिर्देशसमन्वयेन वाशब्दप्रतीतिव्यवहारयोरभावापत्तेः। प्रतीत्या सह वाकारार्थसंबन्धे, प्रत्येमि न वेतितदापत्तेः। वाकारार्थस्य प्रतीतिगतत्वेपि निश्चयत्ववत् स्थाणुमानय पुरुषं वेतिस्थाणुपुरुषगतपाक्षिकलोकव्यवहारानुपपत्तेः। तस्माद् वाकारार्थस्य ज्ञानधर्मत्वे साक्षात्कारित्वादिवद्विषयानन्वयापत्तिरेवेति ॥ ६६ ॥

नन्वेककोटिकनिश्चयाद्विरुद्धोभयकोटिकनिश्चयोप्ययं विजातीय एवाभ्युपगन्तव्यः, तथाच संशयत्वमेव तत्र जातिरिति तदवच्छिन्नज्ञानासाधारणकरणं दोष इत्याह—जातिरिति। संशयकोट्योरर्थौ स्थाणुत्वपुरुषत्वे, तयोर्निर्देशः = स्थाणुशब्दः, पुरुषशब्दश्च, तत्समन्वित एव वाशब्दः प्रतीयते व्यवह्रियते च, तेन स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरेवाऽव्यवस्थितत्वं वाशब्दार्थः, तथाच विषयवैलक्षण्यकृतमेव निश्चयात् संशयस्य वैलक्षण्यं, नतु जातिकृतमित्याह—इदं तद्वेति। ननु प्रतीतिगतमेवाऽव्यवस्थितत्वं वाशब्दार्थो, नतु विषयाव्यवस्थितत्वं वाशब्दार्थ इत्यत आह—प्रतीत्येति। अत्रैव दोषान्तरमाह—वाकारार्थस्येति। संशयाद्विषये पाक्षिको व्यवहार इति वाकारार्थः। पाक्षिकत्वम् = अव्यवस्थितत्वं विषयगतं, नतु ज्ञानगतमित्यर्थः। तस्मादिति। यद्यव्यवस्थितत्वं (वाकारार्थः) संशयगतं स्यात्तदा यथा विषये साक्षात्त्वं नानुभूयते तथा संशयविषयेप्यव्यवस्थितत्वं नानुभूयेतेत्यर्थः। यद्यपि ज्ञानगतेनापि ज्ञानत्वानुभवत्वसाक्षात्त्वादिना ज्ञातोऽनुभूतः, साक्षात्कृत, इति विषयोप्युपरक्तो गृह्यते, इति तद्वदेव संशयगतेनापि वाकारार्थेन विषयानुरञ्जनमस्तु, तथापि साक्षात्कृत इति यथा तद्विषये सर्वत्र तदुपरागस्तथा धर्म्यंशेपि वाशब्दार्थोपधानमिह स्यादिति भावः। अत्र प्रसङ्गतो दोषखण्डनं, संशयखण्डनं, वाकारार्थखण्डनं च कृतं; तत्र यद्यपि प्रमाऽप्रमयोर्वैलक्षण्यदर्शनात्कार्यवैलक्षण्यस्य च कारणवैलक्षण्यप्रयोज्यत्वात् प्रमाकारणविलक्षणं कारणमवश्यमप्रमायामवगन्तव्यं, तच्च नेन्द्रियादि, उभयसाधारणत्वादित्यसाधारणं पित्तादिरेव तथा वाच्यम्, तस्य चाऽननुगतस्यापि तत्तदप्रमाप्रयोजकत्वं गृहीत्वा दोषवाचोयुक्तिः; प्रमाप्रतिबन्धकत्वेनाऽप्रमात्वावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिककारणतावच्छेदकरूपवत्त्वेन वा दोषपदशक्तिग्रहात्; स्वप्रमां प्रति कारणत्वेपि पित्तादेर्विषयत्वातिरिक्तेन रूपेणाप्रमां प्रत्यसाधारण्यस्य विवक्षितत्वात्; एवं स्थाणुत्वेन पुरुषत्वेन वा न निश्चिनोमि धर्मिणं किंतु सन्दिहानोस्मीतिनिश्चयविलक्षणस्य सर्वलोकसिद्धस्य संशयस्य निश्चयत्वमापाद्योपप्लावयितुमशक्यत्वं; कारणस्यापि समानधर्मदर्शनासाधारणधर्मदर्शनविप्रतिपत्तीनामन्यतमस्य प्रतिस्वं निश्चयकारणविलक्षणस्याऽनुभवात्कार्ये च संशये विधिकोटिप्राधान्यं निषेधकोटिप्राधान्यं वाऽनुभूयमानमवश्यं वाच्यम्, वाकारार्थश्च विरोध एव, भवति हि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वेतिशब्दश्रवणानन्तरं स्थाणुपुरुषविरोधज्ञानं, विरोधप्रतिसन्धायिन एवैतादृशः शब्दप्रयोग इति; तथापि प्रपञ्चखण्डनयुक्तिरत्रापि गृहीतेति भावः ॥ ६६ ॥

संशयत्व जाति है, और उसका प्रयोजक (हेतु) दोष है, परन्तु यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि यह वह पुरुष है या नहीं ? इस प्रकार जो संशय के दो कोटि के अर्थ (तत्पुरुषत्व = तदन्यत्व स्थाणुत्व = पुरुषत्व) आदि रहते हैं, उनके निर्देश (वाचक) वही है या अन्य या स्थाणु या पुरुष इत्यादि शब्दों के साथ अन्वय (सम्बन्ध) पूर्वक वा शब्द की प्रतीति और व्यवहार (उच्चारण) संशयों के स्थान

में होता है, जिससे स्थाणुत्व, पुरुषत्व, तत्त्व, तथा इदन्त्वादि विषय का अव्यस्थित्व (विकल्पितत्व) वाशब्द से बोधित होता है । अतः विषय की विलक्षणता से संशय में निश्चय से विलक्षणता होती है, जाति की विलक्षणता से नहीं, अन्यथा उक्त निर्देश (वाचक शब्द) के साथ वा शब्द की प्रतीति और व्यवहार का अभाव होगा। यदि कहा जाय कि प्रतीति के साथ वा शब्द के अव्यवस्थितविषयत्वरूप अर्थ का सम्बन्ध होता है, अर्थ के साथ नहीं, तो यह विषय द्वारा ही कहा जा सकता है, साक्षात् नहीं। अन्यथा (स एव अन्यो वा स्थाणुर्वा पुरुषो वा) इत्यादि संशयाकार के स्थान में (प्रत्येमि न वा) जानता हूँ या नहीं, ऐसा संशयाकार की प्राप्ति होगी। और वाकार के अर्थ (विकल्प) के वा अनिश्चितत्व के, निश्चयत्व के समान ज्ञान (प्रतीति) गत होने पर भी (स्थाणु को लाओ या पुरुष को) इस स्थाणु और पुरुषगत पाक्षिक लोक व्यवहार की असिद्धि होगी। अतः वाकारार्थ (विकल्प) के ज्ञान के धर्म होने पर (साक्षात्कारित्व आदि के समान) उसका भी विषय के साथ सम्बन्धाभाव की प्राप्ति होगी ही। अतः संशयत्व अर्थगत रहता है, ज्ञानगत नहीं। इससे संशय को निश्चय से विषय द्वारा भेद होता है, जाति द्वारा नहीं, इत्यादि ॥ ६६ ॥

(सोऽयं न वा) यह वही है या नहीं ? इस संशय के स्थान में यद्यपि संस्कार द्वारा (ज्ञानलक्षण) सम्बद्धविशेषणतारूप सम्बन्ध रहता है, तथापि दोष से उस सम्बन्ध के तिरस्कृत (प्रतिबद्ध) होने से इन्द्रिय द्वारा अभेद का ज्ञान नहीं होता, किन्तु साधारण धर्म के ज्ञान रूप दोष से संशय ही होता है ऐसी शंका करके उत्तर दिया जाता है कि—

नच प्रत्यासत्तौ सत्यामपि प्रत्यासत्त्यपुरस्कारान्मनसा न ग्रहणं तत्र दोषवशादित्यस्तु । दोषे सत्यपि वस्तुनः संस्कारेण, संस्कारस्यात्मना, तस्य मनसा, तस्य च बाह्येन्द्रियेण, प्रत्यासत्त्यपेक्षणे एव तदर्थप्रकाशनियमोपपत्तेः कः प्रत्यासत्त्यपुरस्कारस्त्वन्मते स्यात् ? यदि तु संस्कारप्रत्यासत्तिमनपेक्ष्य तथा सन्दिह्यते तदाऽननुभूय प्रस्मृत्य वा तथा सन्दिह्येत । वस्तुतस्तु, मनसासंस्काराग्राहिणा, चक्षुरादिना चात्माऽग्राहिणा, तादृशप्रत्यासत्त्या ग्रहणानुपपत्तेः ॥ ६७ ॥

ननु प्रत्यासत्तौ सत्यामपि तत्तानिश्चयो न भवति, दोषेण प्रत्यासत्तेस्तिरस्कृतत्वात्; साधारणधर्मदर्शनात्सन्देह एवेत्याह—नचेति। वास्तवी प्रत्यासत्तिः कथं दोषेण तिरस्करणीया ? प्रत्युत तत्ताऽऽरोपार्थं पुरस्करणीयैव, स्मृताया एव तत्तायाः 'सोयं नवेत्यत्रारोपादित्यर्थः। यद्यपि 'इदं रजतमित्यारोपे शुक्तित्वेन सह सतोपि संयुक्तसमवायस्य दोषेण तिरस्कारो दृष्टः, तथापि तस्यापि खण्ड्यत्वादिति भावः। उक्तमेव द्रढ़यति—यदि त्विति। प्रस्मृत्येति। विस्मृत्येत्यर्थः। संस्कारद्वारा संबद्धविशेषणतया प्रत्यासत्त्या तत्ताभाने सोयं नवेतिसंशयानुपपत्तिमुक्त्वा प्रकृते संबद्धविशेषणताप्रत्यासत्तिरेव न भवतीत्याह—वस्तुतस्त्विति ॥ ६७ ॥

यदि कहा जाय कि स्वसंयुक्तमनःसंयुक्त-आत्मसमवेत-ज्ञान-विशेषणविशेषणतारूप इन्द्रिय के अभेद के साथ सम्बन्ध रहने पर भी उस सम्बन्ध के दोष से अपुरस्कार

(तिरस्कार = अहेतुत्व) के कारण मन से अभेद का ग्रहण (ज्ञान) निश्चय नहीं होता किन्तु दोष से संशय होता है। तो इसका उत्तर यह है कि दोष के रहने पर भी वस्तु की संस्कार के साथ, संस्कार की आत्मा के साथ, आत्मा की मन के साथ और मन की बाह्येन्द्रिय (नेत्र) के साथ प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) की अपेक्षा रहने पर ही उस सन्दिग्धार्थ के भी प्रकाश (ज्ञान) के नियम की उपपत्ति (सिद्धि = स्वीकार) से प्रत्यासत्ति का अपुरस्कार = तिरस्कार आप के मत में क्या होगा ? संशय काल में भी तो वह सम्बन्ध दोष से मिटने वाला नहीं है। और यदि संस्काररूप (संस्कार द्वारा) उक्त प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) की अपेक्षा के बिना (सोऽयं न वा) ऐसा संशय होता हो, तो सर्वथा प्रथम अनुभव किये बिना तथा (प्रस्मृत्य = विस्मृत्य) भूल कर या प्रकृष्ट स्मरण (वही यह है ऐसा निश्चय) कर लेने पर भी वैसा संदेह होना चाहिये, और होता नहीं है। वस्तुतः मन से संस्कार का ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता है। और नेत्रादि से आत्मा का ज्ञान नहीं होता है, अतः संकार के अग्राहक मन आत्मा के अग्राहक इन्द्रिय द्वारा उक्त प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से ग्रहण (ज्ञान) की अनुपपत्ति से उक्त सम्बन्ध द्वारा अभेदादि का ज्ञान नहीं हो सकता है ॥ ६७ ॥

नियमेन तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकेतरस्य ग्रहणे स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणतायाः प्रत्यासत्तित्वनियमात्। अन्यथाऽऽप्यपरमाण्वादौ पृथिवीत्वादेरन्यत्र ग्राह्यतया निरस्तस्वरूपायोग्यत्वस्याभावो दृगादिभिर्गृह्येत। नहीन्द्रियविहारदेशेषु निष्परमाणुकत्वनियमो युक्ताभ्युपगमः। शब्दाभावप्रत्यक्षतावादिनये श्रोत्रेन्द्रियविशेषणता सप्तमः सन्निकर्षः, ननु तत्र संबद्धविशेषणतेत्यतोपि न व्यभिचार इति ॥ ६८ ॥

नियमेन—इत्यन्तेयं फक्किका। ईदृशप्रत्यासत्त्या ग्रहणानुपपत्तिनियमादित्यर्थः, अत्र हेतुमाह—तदिन्द्रियेति। विशेषणताप्रत्यासत्तिः सर्वत्र स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणतारूपैव भवति नत्वन्येतिनियमादित्यर्थः। प्रकृते च संस्कारो नेन्द्रियग्राह्य इति तद्विशेषणतया तज्ज्ञानं न संभवतीत्यर्थ। ननु नेयं व्याप्तिः यद् विशेषणता स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणतारूपैव भवति, घ्राणरसनाभ्यां गन्धरसविशेषाभावस्य घ्राणरसनाऽग्राह्येपि द्रव्ये विशेषणतया ग्रहणाद्, अत एनां विशिनष्टि—तदिन्द्रियाग्राह्येति। प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्राह्य आश्रयो यस्य स तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयको गन्धरसादिः, स प्रतियोगी यस्य गन्धाद्यभावस्य, तदितरत् प्रमेयं यत्र विशेषणतया गृह्यते तत्रेयं व्याप्तिरिति न व्यभिचार इत्यर्थः। यद्वा, नियमेनेत्यग्रे योजनीयम्। तदिन्द्रियाऽग्राह्येत्यत्र नियतं तदिन्द्रियाग्राह्यत्वं विवक्षितं, नतु कादाचित्कम्। अन्यथा चक्षुषा कदाचिद्भूतलादि न गृह्यते इति तदाश्रयस्य घटादेरभावो विशेषणतया गृह्यमाणोपि तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकेतरो न भवतीति सहचारदर्शनस्थलाभावाद् व्याप्तिपरिच्छेदः कुत्र स्यात् ? तथाच तदिन्द्रियाऽग्राह्यत्वं तदिन्द्रियस्वरूपायोग्यत्वं विवक्षितं, तच्च नियमपदान्तर्भावेन निर्वहतीति भावः। प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्राह्येधिकरणे यः प्रतियोगी समारोप्य निषिध्यते स एव तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकः प्रतियोगी, तस्य योऽभावस्तदितरत्रायं नियमः, तेन वायौ रूपाभावस्य चाक्षुषत्वमुपपद्यते। अन्यथा घटादौ रूपाभावस्य रूपग्राहकेन्द्रियग्राह्याश्रयकप्रतियोगिकत्वेन तद्ग्रहोपि वायुविशेषणतया न स्यात्। वायौ रूपाभावप्रतीतिर्लिङ्गजा ? इत्यनुपपन्नमेव, सर्वत्र तथाभावप्रसङ्गात्। यदि अन्यत्र योग्यानुपलब्धिरिन्द्रियसहकारिणी, तदा प्रकृतेपि समानं, वायावपि रूपानुपलम्भस्य प्रतियोगिसत्त्वविरोधित्वात्। महतो रूपसमवाये ग्रहणावश्यम्भा-

वात्। केचित्तु नियमेन तदिन्द्रियाग्राह्यो यस्याश्रयः स्वेतरोलम्भकव्यतिरेकोपलम्भाविषयो, यथा परमाणौ पृथिवीत्वादि, नतु वायौ रूपादि, ततश्च तत्प्रतियोगीतरग्रहणे विशेषणतया व्याप्तिः—इत्याहुः। यद्यपि घटादौ विशेषणतया तत्ताभानमविरुद्धमेव, तथापि संस्कारविशेषणतया तावन्न भानमित्यर्थः॥ उक्तव्याप्तौ विपक्षबाधकमाह—अन्यथेति। यद्यप्यभावग्रहे प्रतियोगियोग्यतावदधिकरणयोग्यतापि तन्त्रमिति प्रत्यासत्तौ सत्यामपि तद्विरहादेव न परमाणौ पृथिवीत्वाभावग्रह इति, तथापि शब्दाभावप्रत्यक्षतावादिमते नैतदिति भावः। ननु पृथिवीत्वाभावेन संबद्धविशेषणतापि प्रकृते नास्तीत्यत आह—नहीति॥ तदिन्द्रियाग्राह्याश्रयकेत्यादिविशेषणव्युदस्तमपि व्यभिचारं प्रकारान्तरेणापि व्युदस्यति—शब्दाभावेति। व्यभिचारनिरासेऽयमपि प्रकार इत्यपेरर्थः। सप्तम—इति संबद्धविशेषणतापेक्षया, विशेषणतया षष्ठ एव; शब्दसाक्षात्कारानुरोधेन यथा शुद्धसमवायः प्रत्यासत्तिरेवं शब्दाभावसाक्षात्कारानुरोधेन विशेषणताया अपि शुद्धायाः प्रत्यासत्तित्वोपगमात्। संबद्धविशेषणताया एव यत्र ग्राहकत्वं तत्परं व्याप्त्युपदर्शनमिति भावः॥ ६८॥

उक्त प्रत्यासत्ति की अनुपपत्ति में हेतु कहा जाता है कि नियम से तदिन्द्रिय (रसना तथा घ्राण) से अग्राह्य आश्रय (फलपुष्पादि) वाला प्रतियोगी है जिसका ऐसा जो रसाभाव एवं गन्धाभाव उससे इतर (अन्य) के विशेषणता (सम्बन्ध) द्वारा (ग्रहण) ज्ञान में स्वग्राह्यसम्बद्धविशेषणता को ही प्रत्यासत्तित्व का नियम है, जैसे नेत्र से ग्राह्यभूतल संबन्धी अभाव की विशेषणता घटादि के अभाव के ज्ञान के कारणरूप सम्बन्ध है, और रसना तथा घ्राण से फलपुष्पादि में रसादि के अभाव के ज्ञान में आश्रय के ग्रहण रसनादि से नहीं होने पर भी अन्य इन्द्रिय से गृहीत आश्रय में रसादि के अभाव का ज्ञान होता है। अतः नेत्र तथा मनसे अग्राह्य संस्कार विशेषणतारूप प्रत्यासत्ति अभेदादि के ज्ञान का हेतु नहीं हो सकती है। अन्यथा (यदि इन्द्रिय से अग्राह्य में भी सम्बद्धविशेषणता मात्र से ज्ञान हो) तो जलादि के परमाणु आदि नेत्रादि से अग्राह्य वस्तु में नेत्रादि से पृथिवीत्वादि के अभाव का ज्ञान होना चाहिये। यदि कहा जाय कि उस पृथिवीत्व के अभाव प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है, अतः जल परमाणु आदि में उसका नेत्रादि से ज्ञान नहीं होता है (यदि स्यादुपलभ्येत) यदि होता तो उपलब्ध होता, इस प्रकार जिसका आपादन किया जाय, वही अभाव प्रत्यक्ष के योग्य होता है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जल परमाणु आदि से अन्यत्र (स्थूल जलादि) में नेत्रादि द्वारा ग्राह्यता (प्रत्यक्षविषयता) से उसके स्वरूप की प्रत्यक्षाऽयोग्यता (निरस्त) खण्डित होने से, वह प्रत्यक्ष योग्य है। परन्तु जलादिपरमाणु के ही इन्द्रियाग्राह्य होने से उसका प्रत्यक्ष वहाँ इन्द्रिय से नहीं होता है। यदि कहा जाय कि इन्द्रियसम्बद्धता के ही अभाव से जलपरमाणु आदि में पृथिवीत्वाभाव का नेत्रादि से ज्ञान नहीं होता है, तो यह कहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि इन्द्रियों (नेत्रादि) के विहार (गति) प्रदेशों में निष्परमाणुकत्व (परमाणुरहितत्व) का नियम-मानने योग्य नहीं है, किन्तु जलादि के परमाणु प्रायः इन्द्रियगमन प्रदेश में मानने ही योग्य है, उन्हें इन्द्रियों से सम्बद्ध रहने पर भी इन्द्रियों से अग्राह्य होने से उनमें नेत्रादि से पृथित्वाभाव का ज्ञान नहीं होता है, इसीप्रकार आत्मसंस्कारसम्बद्धविशेषणतामात्र से अभेद का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रिय और मन से आत्मा और संस्कार ग्राह्य (प्रत्यक्ष) नहीं होते हैं। यदि कहा जाय कि जैसे श्रोत्र से अग्राह्य होने पर भी आकाश में श्रोत्रसम्बद्धविशेषणतामात्र से शब्दाभाव का

श्रोत्र से ज्ञान होता है, वैसे सम्बद्धविशेषणतामात्र से अभेद का ज्ञान होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्दाभाव के प्रत्यक्षत्ववादी नैयायिक के सिद्धान्त में, संयोग,[१] संयुक्तसमवाय,[२] संयुक्तसमवेतसमवाय,[३] समवाय,[४] समवेतसमवाय,[५] और विशेषण-विशेष्यता,[६] इन छः सम्बन्धों से भिन्न, श्रोत्रेन्द्रियविशेषणतारूप सप्तम सम्बन्ध शब्दाभाव के ज्ञान के लिये माना गया है। वहां सम्बद्धविशेषणता नहीं माना गया है, अतः इससे भी ग्राह्य सम्बद्धविशेषणता में ऐन्द्रियकज्ञानजनकतानियम का कहीं व्यभिचार (अभाव) नहीं हो सकता। यद्यपि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी की योग्यता के समान अधिकरण की योग्यता भी अपेक्षित होती है, परन्तु वह अन्योन्याभाव में अपेक्षित है संसर्गाभाव में नहीं। अतः वृक्ष में देव का अन्योन्याभाव प्रत्यक्ष होता है, अत्यन्ताभाव नहीं। संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की योग्यता अपेक्षित होती है। अतः शब्दाभाव को विशेषणता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष के अयोग्य आकाश में प्रत्यक्ष माना जाता है ॥ ६८ ॥

शंका होती है कि तत्ता और अभेद के साथ, स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कार-विशेषणता (विषयता) रूप नेत्र का सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकने पर भी जैसे घट के साथ नेत्र का संयोग सम्बन्ध होता है, वैसे मन का तत्ता के साथ संस्काररूप सम्बन्ध हो, और जैसे इन्द्रिय सम्बन्ध को भी अतीन्द्रिय माना जाता है, वैसे संस्कार या सम्बन्धगत आत्मा में अतीन्द्रियता से हानि नहीं हो सकती, इत्यादि—इस पर कहा जाता है कि—

नचात्मसंयुक्तमनः प्रति पूर्वानुभूतार्थात्मप्रत्यासत्तिरेव संस्कार इति तदतीन्द्रियत्वं न दोषाय, प्रत्यासत्तेरतीन्द्रियाया इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्योपगमादितिस्वीकृते निस्तारः, तथा सति स इत्यंशे चक्षुरादेः प्रत्यासत्त्यभावात्प्रत्यभिज्ञाया अचाक्षुषत्वापातात्। अयमित्यंशो दृगादिना, तदंशस्तु मनसा, गृह्यतां, तदेतदभेदस्तु केनेत्युक्तमप्यावर्तते इति। एतेन संस्कारः सहकारिमात्रम् इन्द्रियस्यातिप्रसङ्गनिवारकः प्रत्यभिज्ञायां, तदर्थ इन्द्रियेणासन्निकृष्ट एवोल्लिख्यते विभ्रमार्थवत्, सन्निकृष्टग्राहिता चेन्द्रियस्य सन्निकर्षसहकार्यवश्यम्भावमात्रं, तच्चेदमंशसन्निकर्षादेव स्यात्, ननु सर्वग्राह्यसन्निकर्षसहकारिता इत्यपि निरस्तम्, सोयं न वेतिसंशयाभावापत्तेरेवेति ॥६९॥

ननु मा भूच्चक्षुषस्तत्तया सह संयुक्तमनः संयुक्तात्मसमवेतसंस्कारविशेषणताप्रत्यासत्तिरपितु यथा घटेन सह चक्षुषः संयोगस्तथा मनसस्संस्कार एव प्रत्यासत्तिरस्त्वित्यत आह—नचेति। संस्कारोऽसंबद्धः कथं मनःप्रत्यासत्तिः स्यादित्यत उक्तम्—आत्मसंयुक्तमनः प्रतीति। तथाच मनःसंयुक्तात्मसमवेतः संस्कारो मनःप्रत्यासत्तिरिति ॥ संस्कारग्राहकासत्तिमभिधाय ग्राह्यासत्तिमाह—पूर्वानुभूतेति ॥ एवं शङ्कायां परिहारमाह—तथा सतीति। एतावतापि चक्षुषा समं प्रत्यासत्तिर्नोपपादितेति प्रत्यभिज्ञायाश्चाक्षुषत्वं न स्यात्, प्रत्युत मानसत्वं स्यात्, तथाच विरोध इत्यर्थः ॥ ननु तत्तांशे मानसत्वमिदन्तांशे च चाक्षुषत्वमस्तुको विरोधः? इत्यत आह—अयमिति। ननु यावत्प्रत्येतव्येन्द्रियसन्निकर्षो न तन्त्रं, किंतु प्रत्येतव्येन्द्रियसन्निकर्षमात्रं, स चेदमंशेनैव, तदंशस्त्वऽसन्निकृष्ट एवभासते, तत्रातिप्रसङ्गः सहकारिणा संस्कारेण वारणीय इत्याशङ्कयाह—एतेनेति। सोयमिति। उक्तसामग्रीसत्त्वे निश्चय एव स्याद्, दोषस्य खण्डितत्वादिति भावः ॥ ६९ ॥

आत्मसंयुक्तमन के प्रति संबन्धरूप पूर्व अनुभूत अर्थ के साथ आत्मा की प्रत्यासत्ति ही संस्कार होता है, अतः आत्मा मन द्वारा पूर्वानुभूततत्तायुक्त संस्कार के विषयरूप अर्थ

को जानती है, वहां उस संस्काररूप सम्बन्ध में अतीन्द्रियत्व दोष के लिये नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियार्थ के सम्बन्धरूप अतीन्द्रिय सम्बन्ध को भी चाक्षुषादिज्ञान का हेतु माना जाता है, परन्तु ऐसा मानने पर भी दोष से निस्तार नहीं है, क्योंकि ऐसा मन के सम्बन्ध मानने पर भी 'स' इस परोक्ष अंश में नेत्रादि के सम्बन्ध के अभाव से उस अंश में प्रत्यभिज्ञा को अचाक्षुषज्ञानत्व की प्राप्ति होगी। (अयम्) इतना अंश नेत्रादि से गृहीत हो, तथा तत्ता अंश मनसे उक्त संस्काररूप सम्बन्ध से गृहीत हो, तो भी तत्ता तथा इदन्तायुक्त का अभेद तो किसी से नहीं गृहीत होगा, यह उक्त ही दोष फिर प्राप्त होता है। और इस अभेद के अग्रहणरूप दोष से यह भी निरस्त हो गया कि जो कोई कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रिय के अतिप्रसंग का वारक सहकारी (सहायक) मात्र संस्कार होता है जिससे संस्कार के विषय से अतिरिक्त अपने असम्बन्धियों का इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो, परन्तु तदर्थ (संस्कार के विषय) तो इन्द्रिय से असन्निकृष्ट (असम्बद्ध) होते हुए भी इन्द्रिय से उल्लिखित (प्रकाशित) होते हैं, जैसे कि विभ्रम का विषय पदार्थ (रज्जुसर्पादि) नेत्र से सन्निकृष्ट नहीं रहते हैं, किन्तु संस्कार की सहायता से उनका नेत्र से अन्यथाख्यातिरूप ज्ञान होता है, वैसे ही असन्निकृष्ट अर्थ विषयक भी संस्कारसहित इन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञा होती है, और इन्द्रियों को जो सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) अर्थग्राहकत्व है, वह सर्वार्थांश में नहीं, किन्तु किसी अंश में सन्निकर्षरूप सहकारी का अवश्यंभाव (सत्त्व) मात्र इन्द्रियार्थ का सन्निकर्ष अर्थग्राहक होता है। वह इदमर्थ के साथ नेत्र के सम्बन्ध से ही सिद्ध हो जाता है। और सब इन्द्रियग्राह्य (ज्ञेय) के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध इन्द्रिय का सहकारी नहीं होता है। अतः असम्बद्ध संस्कार के विषय का प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रिय से प्रकाश होता है। परन्तु अभेद के ज्ञानाभाव से यह उक्ति भी अयुक्त है, और उक्तरीति से यदि तत्तायुक्त ऐन्द्रियक अपरोक्ष ज्ञान हो, तो (सोऽयं नवा) इस संशय के अभावापत्ति से भी निरस्त है। आत्मसंयुक्तमनःप्रति का अर्थ किया गया है कि पूर्वानुभूत अर्थ के साथ आत्मा का प्रत्यासत्तिरूप ही संस्कार मन के प्रति भी अर्थ के साथ प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) रूप है। अर्थात् आत्मा में समवेत संस्कार का विषय अनुभूत अर्थ रहता है। अतः स्वसमवेतविषयतारूप सम्बन्ध अर्थ के साथ आत्मा को प्रत्यक्ष ही रहता है, परन्तु आत्मसंयुक्तमन का न संस्कार से साक्षात्सम्बन्ध रहता है, और न अनुभूत विषय से तो भी आत्मा द्वारा संस्कार से आत्मा तथा संस्कार दोनों द्वारा अनुभूतविषय से, मनःसंयुक्त आत्मसमवेतसंस्कारविषयतारूप सम्बन्ध के हेतुरूप संस्कार अर्थ के साथ आत्मा का प्रत्यासत्तिरूप होता हुआ भी मन के प्रति भी प्रत्यासत्तिरूप होता है।

यहाँ आत्मसंयुक्त मन के प्रति, मनःसंयुक्तात्मसमवेत संस्काररूप, और मनः संयुक्तात्मसमवेतसंस्कारविषयत्वरूप प्रत्यासत्ति संस्कारात्मक है, एक से (सोऽहम्) और दूसरे से (सोऽयम्) यह प्रत्यभिज्ञा होती है, इत्यादि भी विद्वान् व्याख्यान करते हैं॥ ६९॥

यदि संस्कार को प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान जनन में इन्द्रिय को सहकारी या सम्बन्ध माना जाय, तो वहां अन्य दोष आगे कहते हैं कि—

तदद्राक्षमित्यादिस्मृतिरपि चैवमनुभवः स्यात्, मनस आत्मसंयोगसहकृतादर्थात्मसन्निकर्षात्संस्काराज्जायमानायास्तस्या इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादेव; मनसात्मसंयोगादात्मसमवायेन प्रत्यक्षीक्रियमाणैर्ज्ञानादिभिः स्मर्यमाणस्यार्थस्याविशेषादिति। एतेन तत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकान्योन्याभावविरहः स्वरूपाभेदो वाऽयं भातीत्यपि निरस्तम्। अन्योन्याभावव्यतिरेकोऽन्योन्यमेव तत्तेदन्तोपाध्यवच्छिन्नयोः स्यात्, न च तन्मिलितमेकेन सुग्रहम्। एवं स्वरूपाभेदोपि तयोरैक्यं तदनवगाहिना दुरवगममेव। संस्कारोपनीते च विषये यदि ज्ञानमनुभवः स्यात् स्मृतिरपि कुतो नानुभूतिः? अथ न संस्काराधीनत्वमात्रेण स्मृतित्वं, किंत्वनुभवकारणासंपृक्तसंस्कारजत्वेन, ततश्चाधिकार्थाक्षसन्निकर्षापेक्षं प्रत्यभिज्ञानमनुभव एव भवति, नतु स्मृतिः? इति चेन्न ॥ ७० ॥

संस्कारस्य प्रत्यासत्तित्वपक्षे सहकारित्वपक्षे च दोषान्तरमाह—तदद्राक्षमिति। यथा जानामीत्यनुभवः संयुक्तसमवायान्मानसस्तथा 'अद्राक्षमितिस्मृतिरपि संस्कारलक्षणात्सन्निकर्षान्मानसोनुभवः स्यादित्यर्थः॥ एतेनेति। यथा सोयं ननु तद्विधर्मैतितद्वैधर्म्याभावः संस्कारेन्द्रियाभ्यां प्रत्येकं मिलित्वा चोपनेतुमशक्य एवं सोयं न तदन्योन्याभाववान् एवं न स्वरूपभिन्न इत्यत्राप्यन्योन्याभावात्यन्ताभाववत्त्वं तत्स्वरूपाभेदो वा न ताभ्यामुपनेतुं शक्यमित्यर्थः॥ संस्कारजत्वेपि यथा प्रत्यभिज्ञाऽनुभव एवं स्मृतिरप्यनुभव एव स्यादित्याह—संस्कारेति। एतच्चाचार्यमतेन; वार्तिककारमते तु प्रत्यभिज्ञापि स्मृतिजन्या, न संस्कारजन्येति॥ ननु संस्कारजन्यत्वमात्रं न स्मृतित्वप्रयोजकं येन प्रत्यभिज्ञापि स्मृतिः स्यादपित्विन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वं, तच्च प्रत्यभिज्ञायां नास्तीति न तस्याः स्मृतित्वमित्याह—अथेति ॥ ७० ॥

यदि प्रत्यभिज्ञा में संस्कार को सहकारी या सम्बन्ध माना जाय तो (तदद्राक्षम्) उसको देखा था, यह स्मृति भी इस प्रकार अनुभव ही होगी। क्योंकि आत्मसंयोगसहित मनरूप (अन्तरिन्द्रिय) से अर्थ (अनुभूतवस्तु) के साथ आत्मा के सम्बन्धरूप संस्कार द्वारा उस स्मृति के उत्पन्न होने से वह भी इन्द्रियजन्य ही होती है। मनःसंयुक्त आत्मसमवेतसंस्कारविषयत्वरूप सम्बन्ध मन का स्मृत वस्तु के साथ रहता है। अतः मन के साथ आत्मा के संयोग से आत्मा में समवायसम्बन्ध द्वारा प्रत्यक्ष किये गये (जानामि = इच्छामि इत्यादि अनुव्यवसाय के विषय किये गये) ज्ञान तथा इच्छा आदि के साथ स्मर्यमाण (स्मृत) अर्थ को अविशेषता (तुल्यता) रहती है। मनःसंयुक्त आत्मसमवाय सम्बन्ध से ज्ञानादि का प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय होता है, और मनःसंयुक्तात्मसमवेतसंस्कारविषयत्वसंबन्ध से स्मरण होता है अतः मनोजन्यता से ज्ञानादि के अनुभव के समान स्मृतार्थ का अनुभव ही होना चाहिये। परन्तु यह होता नहीं है। ऐसे ही प्रत्यभिज्ञा में भी संस्कार द्वारा तत्तायुक्त अनुभव नहीं हो सकता। इस प्रकार तत्तायुक्त के अनुभव के निषेध से ही, यह कथन भी निरस्त हुआ कि जो कोई कहते हैं कि (सोऽयम्) में तत्त्वा (तत्ता) वच्छिन्न (युक्त) प्रतियोगी (सम्बन्धी) वाला अन्योन्याभाव (भेद) का विरह (अभाव) से 'अयं' का अभेद या स्वरूप का अभेद, 'सोऽयम्' से भासता है, क्योंकि अन्योन्याभावका अभाव अन्योन्य

स्वरूप ही होता है। वह तत्ता तथा इदन्तारूप उपाधि (भेदक) युक्त का स्वरूप ही होगा। और तत्ता तथा इदन्तामिलितस्वरूप एक मन या नेत्रादि से ग्रहण के योग्य नहीं है। इसी प्रकार 'तत् तथा इदम्' स्वरूसात्मक भी तत्ता और इदन्ता के अभेद उन दोनों की एकतारूप है। वह तत्ता तथा इदन्ता के एक अवगाही (अनुभव) कारण के बिना दुरवगम ही है। और संस्कार से उपनीत (प्राप्त) विषय (तत्ता युक्त) की प्रत्यभिज्ञा यदि अनुभव रूप होती है, तो स्मृति भी अनुभव क्यों नहीं होगी ? यदि कहा जाय कि संस्काराधीनत्व (संस्कारजन्यत्व) मात्र से स्मृतित्व नहीं होता किन्तु अनुभवकारणासम्बद्ध (केवल) संस्कारजन्यत्व स्मृतित्व होता है। अतः संस्कार से अधिक अर्थ और इन्द्रिय के सम्बन्ध की अपेक्षा वाला प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान अनुभव रूप होता है, स्मरण रूप नही ॥ ७० ॥

परन्तु यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि—

संस्काराऽसम्पृक्तानुभवकारणजत्वेनानुभवत्वं भवति प्रत्यभिज्ञानं तु संस्कारसहितानुभवकारणजं स्मृतिरेवेति वैपरीत्यं किं न स्यात् ? अन्यत्र न स्मृतिरनुभवकारणसम्पृक्तसंस्कारजन्या-इति तु नान्यत्रानुभवोपि संस्कारसम्पृक्तार्थेन्द्रियसंप्रयोगजन्य-इति साम्यादेवाबाधकम्। तदेवंविनिगमनायां प्रमाणाभावात्, स्वयंकल्पितव्यवस्थावैपरीत्येनापि कल्पनासंभवात्, प्रत्यभिज्ञानमुभयकारणसंभवात् स्मृतिश्चानुभवश्चेति मन्तव्यम्। तथा च स्मृतिव्यावृत्तमनुभवत्वं जातिरस्तीति प्रत्याशा निरवकाशा। नच विषयांशे स्मृतित्वानुभवत्वयोर्व्यवस्था कर्तुं शक्यते, तन्निरासस्य निवेदितत्वात्। ततश्च तदेव ज्ञानं तस्मिन्नेवांशे स्मृतिश्चानुभवश्चेत्यापतितेति यदि न विरोधबुद्धिर्भवतस्तदा तदधीने तत्रैवार्थे प्रमात्वाप्रमात्वापाते सा तेऽस्तु ॥ ७१ ॥

तर्हीन्द्रियजन्यत्वेन प्रत्यभिज्ञाऽनुभवोपि न स्यात्, संस्काराजन्यत्वे सतीन्द्रियजन्यत्वस्यानुभवत्वप्रयोजकत्वात्, प्रत्यभिज्ञायां च तदभावाद् इत्यपि स्यादित्याह-संस्कारेति। नन्वनुभवसामग्रीजन्यत्वेपि संस्कारमात्राधीनत्वेन कुत्र स्मृतित्वं दृष्टं येन प्रत्यभिज्ञायां तदापादनीयमित्यत आह—अन्यत्रेति। तर्हि संस्कारजन्यत्वेपि कुत्रेन्द्रियजन्यत्वमात्रेणानुभवत्वं दृष्टं येन प्रत्यभिज्ञायां तत्कल्पनीयमित्यपि तुल्यमित्यर्थः॥ प्रकृतमुपसंहरति—'तदेवमि'ति। संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वमिन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वं, नचात्रावच्छेदकभेदेन द्वयोर्वृत्तिस्तस्या निरस्तत्वादिति स्मृतित्वसाङ्कर्यादनुभवत्वं न जातिरित्यर्थः। यद्यपि प्रत्यभिज्ञानमेकं ज्ञानं साक्षात्कार्यनुभवरूपतयाऽनुव्यवसायसिद्धं, तस्य च विषयस्तत्तेदन्तावच्छिन्नान्योन्याभावात्यन्ताभावः, स च स्वरूपमेव, तयोस्तद्गताऽसाधारणधर्मो वा कश्चिदित्यन्यदेव, तत्तदनुभवस्य दुरपह्नवत्वात्, तच्च संस्कारेन्द्रियाभ्यां जन्यते, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वयोरपि कारणत्वावधारणात्, अन्यथा कार्यस्याकस्मिकत्वेनाहेतुकत्वेन परप्रतिपादनार्थं तवापि वाग्व्यवहारो न स्यात्, प्रतिनियतविषययोरपि संस्कारेन्द्रिययोः संभूयकारित्वं प्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्त्यैव, तत्र मोपपद्यतां प्रत्यभिज्ञानं, मा च तत्तेदन्ताविशिष्टाभेदस्तद्विषयोस्त्विति त्वयापि वक्तुमशक्यम्, अनुभवविरोधात्; क्षणभङ्गापत्तेश्च। योहमद्राक्षं सोहं स्मरामीत्यभेदप्रतिसन्धानस्य सर्वतैर्थिकसिद्धत्वात्। तत्ताऽभेदश्चेन्द्रियसंबद्धविशेषणतयैव भासते, घटादेश्च प्रत्यभिज्ञायमानस्य ग्राह्यत्वेन स्वग्राह्यसंबद्धविशेषणताया एव सत्त्वात्। तत्तांशमात्रे संस्कारेणापि तदवच्छिन्नाभेदांशोपि विशेषणतया कथं

भासेत ? इति चेन्न, संस्कारानुपनीतस्यापि विशेषणताभ्युपगमात्। भूतले घटाभावस्येव-विशेषणतयैव तत्ताभाने किं संस्कारेण ? इति चेन्न, अननुभूते प्रत्यभिज्ञाया अदर्शनाद् अनुभवस्यापि तत्कारणत्वसिद्धौ तस्य च चिरध्वस्तस्य व्यापारापेक्षायां संस्कारकारणत्व-कल्पनात्। अतीतापि तत्ता विशेषणमेव, द्वे द्रव्ये–इत्यत्र द्वित्वमिव, तत्ता च पूर्वानुभव-वैशिष्ट्यं, तदसत्त्वकाले तज्ज्ञानं न भ्रमः। कथम् ? इति चेन्न सोयमिति तदभिन्नोयमिति प्रतीयते, नतु तदवच्छिन्न इदानीमिति प्रत्यभिज्ञाविषयो येन भ्रमः स्यात्, संस्कार-जन्यत्वेन च न स्मृतित्वमिन्द्रियाजन्यत्वस्योपाधित्वात्। नचेन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वे मध्ये संस्काराजन्यत्वमुपाधिः। अनुभवत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेनोपाधिव्यतिरेकेण तद्व्यति-रेकस्य साधयितुमशक्यत्वेनोपाधेर्बाधितविपर्ययत्वेनाऽऽभासत्वात्। अस्तु वा प्रत्यभिज्ञानं स्मृतिजन्यं, तथा च संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वापादनमिन्द्रियजन्यत्वेन चानुभवत्वसाधने संस्काराऽजन्यत्वमुपाधिश्चानवकाशः। स्मृत्युपनीतैव तत्ता भासते भ्रमे इव रजतत्वमिति-प्रत्यभिज्ञाखण्डनमनवकाशः, तथापि हस्तसमावरणमात्रमेतत्सर्वमिति हृदयम् ॥ तदधीने-इति। स्मृतित्वेनाप्रमात्वं, यथार्थानुभवत्वेन प्रमात्वम्, अवच्छेदभेदं विनैव प्रत्यभिज्ञायां स्यादिदं च तवानिष्टमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

(अयं घटोऽस्ति) यह घट है, इत्यादि ज्ञान में संस्काररहित अनुभवकारण इन्द्रियार्थसम्बन्धजन्यत्व से अनुभवत्व होता है और प्रत्यभिज्ञा तो संस्कारसहित अनुभवकारण इन्द्रियार्थसम्बन्ध से उत्पन्न होती है अतः वह स्मृति होती है, इस प्रकार विपरीतता क्यों नहीं होती ? यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र कहीं भी स्मृति, अनुभव के कारणसहित संस्कार से नहीं होती है, और प्रत्यभिज्ञा अनुभव कारणसहित संस्कार से होती है, अतः वह स्मृति नहीं, किन्तु अनुभव कही जाती है, तो इसका उत्तर यह है कि प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र कहीं भी अनुभव भी संस्कार सहित इन्द्रियसन्बन्धजन्य नहीं होता और प्रत्यभिज्ञा संस्कार-सहित इन्द्रियार्थसम्बन्ध से होती है, अतः यह अनुभव नहीं कही जा सकती इस प्रकार प्रत्युत्तर की समता से आप का कथन प्रत्यभिज्ञा के स्मृतित्व का बाधक नहीं हो सकता । उस रीति से प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व के निषेध होने पर, और संस्कारजन्य होने से प्रत्यभिज्ञा स्मृति होती है, या इन्द्रिकार्थसम्बन्धजन्य होने से अनुभूति रूप होती है, इन दोनों पक्षों में से एक पक्ष का विनिगमन (निश्चितरूप से बोधन) में प्रमाण के अभाव से प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभव दोनों स्वरूप होती है। क्योंकि स्वयं कल्पित जो संस्कारजन्यत्वादिव्यवस्था है कि संस्कारमात्रजन्यत्व स्मृतितत्व होता है, उसके विपरीत कल्पना के भी संभव से व्यवस्था बनती नहीं है, संस्कारमात्र-जन्य नहीं होने पर भी केवल इन्द्रियसंसर्गजन्य अनुभव से भिन्न होने से प्रत्यभिज्ञा में संस्कारजन्यत्व से स्मृतित्व की प्राप्ति होने पर कल्पित व्यवस्था नहीं रहती। और प्रत्यभिज्ञा के स्मृति तथा अनुभव उभयरूप होने पर स्मृतिसे व्यावृत्त (स्मृति में अवृत्ति) अनुभवत्व जाति है, ऐसी प्रत्याशा भी निरवकाश हो जाती है । क्योंकि तत्ता अंश में स्मृतित्व और इदन्ता अंश में अनुभवत्व के होने से और धर्मीरूप विषयांश में स्मृतित्व औरअनुभवत्व की व्यवस्था करने के अशक्य होने से उस व्यवस्था का निरा-करण प्रथम किया गया है (तदाधर्मिणमादायापि स्मृत्यनुभवसंकरोदुर्वारः) इत्यादि । उक्त रीति से व्यवस्था के अभाव से प्रत्यभिज्ञारूप एक वस्तुविषयक एक ज्ञान में स्मृतित्व तथा

अनुभवत्व की प्राप्ति से वही प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान एक अपने ही विषयांश में स्मृति और अनुभवरूप भी होता है, ऐसा प्राप्त होने पर भी यदि आपको विरोध का ज्ञान नहीं होता है, तो उस स्मृतित्वानुभवत्व के अधीन प्रमात्व तथा अप्रमात्व की भी प्राप्ति उसी एक प्रतिज्ञा में एक ही विषयांश में होती है यह भी आपको अविरोधबुद्धिरूप ही हो। परन्तु अनुभवरूपता से प्रमात्व और स्मृतिरूपता से अप्रमात्व प्रत्यभिज्ञा में प्राप्त होता है। और प्रमात्वाप्रमात्व अन्यत्र विरुद्ध समझे जाते हैं। अतः इन्हें विरुद्ध समझना चाहिये ॥ ७० ॥

घटपटादि आरम्भवाद की रीति से अनुभव के अनुसार स्वतन्त्र सत्तायुक्त पृथक् पदार्थान्तरत्व माना जाता है। परन्तु कार्यमात्र की अपने कारण से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती यह अन्यत्र प्रसिद्ध है। वैसे 'अनुभवामि' इस अनुभव के बल से अनुभवत्व जाति के साधन का प्रथम खण्डन किया गया है कि भावी सुखादि के ज्ञान में अनुभवत्व के रहने पर भी 'अनुभवामि' ऐसा ज्ञान के अभाव से ज्ञान (अनुभव) बल से अनुभवत्व जाति नहीं सिद्ध होती है। उसका फिर भी संक्षेप से अनुवाद किया जाता है कि—

एतेन विरोधापत्त्याऽनुभवत्वस्वीकारे बाधकेन स्मृतित्वव्यतिरिक्तमनुभवत्वं नामानुगतं साक्षात्कारिज्ञानानुमित्यादिसाधारणमनुभवबलादेव व्यवस्थापनीयमिति प्रतीतिकलहोऽपि निरस्तः। ननु चाऽनुभव एव शरणमिह, प्रत्यभिज्ञाने ह्यनुभवत्वमेवानुभूयते नतु स्मृतित्वं, तेन संस्कारजत्वेऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षाधिकापेक्षयाऽनुभवत्वमेवेति विनिगमनायामपीदमेव प्रमाणम्। अन्यथा प्रत्यभिज्ञानेऽनुभवप्रत्ययो न स्यादिति प्रतीतिकलहेन प्रत्यवस्थेयमिति। न इदन्तातत्तावभासयोरनुभवस्मरणभागयोः सत्त्वेनानुभवस्यैकपक्षेऽसाधारणीकृत्य प्रमाणयितुमिहाऽशक्यत्वात् ॥ ७१ ॥

अनुगतप्रतीत्यभावादनुभवत्वं न जातिरित्युक्तमिदानीं जातिसाङ्कर्यादपि न तदित्याह—एतेनेति। यद्वा, प्रघट्टकनिर्व्यूढमर्थं संक्षेपतोऽनुवदति—एतेनेति। नन्वनुगतानुभवत्वजातौ प्रतीतिकलहः प्रत्यभिज्ञायां स्मृतित्वानुभवत्वविरोधात्तदाहूतप्रमात्वविरोधाद्वा निरसनीयः, स एव नास्ति, अनुभवत्वेनैव सर्वप्रतीतिसिद्धत्वादित्याह—ननु चेति। यथेदन्तांशेऽनुभवामीत्यनुभवः तथा तत्तांशे स्मरामीत्यनुभव इति न सकलांशानुभवत्वानुभव इत्याह—इदन्तेति। यद्वा, तत्तांशे स्मृतित्वध्रौव्येणानुभवत्वेनानुभवोऽयं कूटसाक्षीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

अनुभवत्व को जातिरूप से स्वीकार करने पर प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व तथा स्मृतित्व का संकर द्वारा इस प्रमात्व तथा अप्रमात्वरूप विरोध का प्राप्तिरूप बाधक से प्रतीतिरूप कलह भी निरस्त हो गया। कलह यह है कि स्मृतिभिन्न अनुभवत्व प्रसिद्ध है। वह प्रत्यक्ष अनुमिति आदि स्मृति भिन्न ज्ञानों में साधारणरूप से सब में अनुगत (अनुभवामि) इस अनुभव के बल से ही व्यवस्थापनार्ह (अवश्य मन्तव्य) है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व तथा स्मृतित्व के संकर से अनुभवत्व जाति नहीं मानी जा सकती है। शंका होती है कि प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व नहीं है। यदि कहा जाय कि उसमें संस्कारजन्यत्व होने पर भी स्मृतित्व के अभाव में प्रमाण क्या है ? इस पर कहा जाता है कि इस में अनुभव ही शरण

(प्रमाण) है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व का अनुभव होता है, स्मृतित्व का नहीं। अतः प्रत्यभिज्ञा के संस्कारजन्य होने पर भी इन्द्रियार्थसम्बन्धरूप अधिक साधन की अपेक्षा होने से प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व ही सिद्ध होता है। और विनिगमना (अनुभूतित्व रूप एकपक्ष के साधन) में भी यह अनुभव ही प्रमाण है। अन्यथा (प्रत्यभिज्ञा में अनुभवत्व के नहीं रहने पर) प्रत्यभिज्ञा में अनुभवरूपता का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः अनुभवत्व का प्रतीतिरूप कलह (विरोध) से प्रत्यवस्थान कर्तव्य है। अर्थात् प्रतिपक्षरूप से अनुभवत्व साध्य है। परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि तत्ता तथा इदन्ता के प्रकाशरूप स्मरण एवं अनुभव भाग (अंश) के प्रत्यभिज्ञा में सत्ता से अनुभव को ही एक पक्ष में असाधारण (मुख्य) करके उसको प्रामाणिक करना अशक्य है ॥ ७१ ॥

यद्यपि (तत्त्वानुभूतिः प्रमा) यथार्थानुभव प्रमा कहा जाता है, इस लक्षण के खण्डन का प्रकरण है, तथापि उसके उपयोगी होने से प्रत्यभिज्ञा का खण्डन किया जाता है। इस आशय से कहते हैं कि—

एतेन स्मृत्यनुभवसङ्करप्रसङ्गेनानुभूतिपदव्यवच्छेद्यं परिप्लुतं मन्तव्यम्। नच वाच्यं प्रत्यभिज्ञानं व्यवच्छेद्यं मा भूत् स्मृत्यन्तरं तु भविष्यतीति, तस्याप्यनुभूतित्वेन भवताऽवश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वात्। तथाहि—'घटस्तत्रासी-दि'त्यादिस्मृतौ पूर्वकालविशिष्टो घटः स्फुरति, नचासौ पूर्वमनुभूता भूतता या संस्कारेणोपनीयेत, प्रत्युत पूर्वं वर्तमानताया एवानुभूत्या ग्रहणं, तस्मादिदानीं पूर्वताग्रहणसामग्रीसंभेदात् 'सोयमि'तिप्रत्यभिज्ञानवद्विशिष्टावगमोप्यसौ स्मृत्यनुभवात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः। एतेनानुभवसामग्रीसहितः संस्कारोनुभवकारणमितिपक्षे पूर्वमाशङ्किते इदमपि दूषणं द्रष्टव्यम्। तथा सति स्मृत्युच्छेदापत्तेः। नच तदस्ति स्मरणं यत्र सा न प्रकाशते, ततश्च व्यवच्छेद्यानुपपत्तिः ॥ ७२ ॥

ननु तत्त्वानुभूतिः प्रमेतिलक्षणखण्डनमुपक्रान्तं, तत्र किमप्रस्तुतेन प्रत्यभिज्ञाखण्डनेनेत्यत आह—एतेनेति। अत एव खण्डनोद्धारे यदेतस्य प्रकरणस्याऽप्रस्तुतत्वमुक्तं, तदपि प्रत्युक्तम्। नच वाच्यमिति। यद्यपि प्रत्यभिज्ञानमनुभूतिपदव्यवच्छेद्यत्वेन नोपक्रान्तं, न वा तद्व्यवच्छेदः सिद्धान्त्यभिमतः, शङ्क्यो वा, तथापि स्मृतीनामनुभवत्वापादनाय प्रस्तावनामात्रपरमेतत्। तथाहीति। यद्यपि पूर्वानुभवकालीना विद्यमानतैव तत्ता, पूर्वकालवैशिष्ट्यं वा, पूर्वानुभववैशिष्ट्यं वा, पूर्वदेशसम्बन्धो वा, यत्किञ्चित्कालीनसम्बन्धो वा, सर्वत्र पूर्वानुभवविषयतायाः सत्वात्; पूर्वानुभवविषयत्वस्य तत्तात्वे य एवानुभवेन पूर्वं गृहीतस्तद्विषये एव स्मरणाभ्युपगमात् न तत्तांशेनुभवप्रसङ्गः, तथापि स्मरणस्य मानसानुभवत्वे किं बाधकमिति हृदयम्। तस्मादिति। स्मृतावतीतताभाने संस्कारस्यासामर्थ्यादिन्द्रियमेव कारणं वाच्यम्, धर्म्यंशे च संस्कारः, इति सर्वस्मृतीनां स्मृत्यनुभवसाङ्कर्यमित्यर्थः। इदमपीति। सर्वस्मृतिषु स्मृत्यनुभवसाङ्कर्यमित्यर्थः। स्मृत्युच्छेदापत्तेरिति। अनुभूतिपदव्यवच्छेद्यस्मृत्युच्छेदापत्तेरित्यर्थः। ननु प्रमुष्टतत्तांशमेव स्मरणमनुभूतिपदव्यवच्छेद्यमस्त्वित्यत आह—नचेति ॥ ७२ ॥

प्रत्यभिज्ञा में इस स्मृति और अनुभव के संकर (मेल) के प्रसंग (प्राप्ति) से (तत्त्वानुभूतिः प्रमा) इस लक्षणगत अनुभूतिपद से व्यवच्छेद्य (व्यावर्तनीय) परिप्लुत

(लुप्त) समझना चाहिए, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा तो स्मरण मात्र है नहीं, जिसकी अनुभूतिपद से व्यावृत्ति हो। यदि कोई कहे कि प्रत्यभिज्ञा अनुभूतिपद से व्यावर्तनीय नहीं हो, किन्तु अन्य स्मृति तो व्यावर्तनीय होगी, जो केवल संस्कारजन्य होती है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि, आप जिसको केवल संस्कारजन्य कहते हैं उसको भी अनुभूतिरूप अवश्य मानना पड़ेगा। केवल संस्कारजन्य कोई स्मृति नहीं होती है। 'तथाहि' इत्यादि वाक्य के द्वारा इसका प्रतिपादन किया जाता है। 'घटस्तत्रासीत्' घट वहाँ था, इत्यादि पूर्वकालयुक्त घट भासता है। यहाँ घट में जो भूतता (तत्ता) अभी भासती है, वह प्रथम अनुभूत नहीं है जो संस्कार से उपनीत (प्राप्त) हो, और अनुभूत का ही संस्कार द्वारा स्मरण होता है, अन्य का नहीं। इसके उल्टा प्रथम घट में वर्तमानता का ही अनुभव से ग्रहण (प्रकाश) होता है। अतः इदानीं (स्मरण काल में) स्मरण की सामग्री संस्कारादि के साथ तत्ता के अनुभव की सामग्री मन आदि के सम्भेद (मेल) होने से (सोऽयम्) इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के समान तत्ताविशिष्ट का भी वह संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति और अनुभव स्वरूप ही मानने योग्य है, शुद्ध स्मृतिरूप नहीं। इस तरह सभी स्मृति में तत्ता अंश मानस अनुभवता और धर्मीमात्र अंश में स्मृतित्व से, अनुभवसामग्री सहित संस्कार अनुभव का कारण होता है जिसमें संस्कारजन्य भी प्रत्यभिज्ञा अनुभवरूप होती है। इस प्रथम आशंकित पक्ष में, यह सब स्मृति में स्मृत्यनुभव की संकरतारूप दोष भी जानने योग्य है, क्योंकि सब स्मृति अनुभवसामग्री सहित संस्कार से जन्य होने से शुद्ध स्मृतिमात्र के उच्छेद की प्राप्ति होगी। उक्त रीति से ऐसा कोई स्मरण नहीं है, जहाँ वह भूतता (तत्ता) नहीं भासती हो और उसका प्रकाश संस्कार से हो नहीं सकता, अतः उस अंश में मानस अनुभव मन्तव्य होगा ॥ ७२ ॥

यद्यपि तत्त्वानुभूतिः प्रमा, यह नैयायिक के लक्षणों के खण्डन का प्रकरण है, तथापि मीमांसक के आख्यातिवाद को प्रसङ्ग से आगे खण्डन किया जाता है कि—

यदपि कैश्चिदुच्यते—'दोषवशात्प्रमुष्टतत्तांशं स्मरणं भवती'ति, तदपि नोपपन्नं, तदीयस्मरणत्वे प्रमाणाभावात्। नचानुभवसामग्र्यभावात् पारिशेष्येण स्मृतित्वम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षव्यावृत्त्यानुभवसामग्र्यभावात् पारिशेष्येणानुमित्यादेरपि स्मृतित्वापत्तेः। सर्वानुभवसामग्र्यभावात्, इति चेत्, कथं पुनस्तत्तांशशून्यरजतादिज्ञानहेतुसामग्री नानुभवसामग्रीत्यवधारितमायुष्मता। पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यसंभवात्, इति चेन्न, चतुष्प्रमाणीजनकसामग्र्यसंभवात् पञ्चमी प्रमा किं न पारिशेष्यात्स्मरणं त्वया व्यवास्थापि?। कुत्र च प्रतिपन्नं पञ्चप्रमाणीकारणसामग्र्यभावे जायमानं ज्ञानं स्मृतिर्भवतीति?, 'घटस्तत्रासीदि'त्यादिज्ञानानामनुभवत्वोपन्यासस्य कृतत्वात्। अथ मन्यसे प्रत्यक्षादिकारणसामग्र्यनुपपत्त्या रजतमात्रस्य च पूर्वमनुभूतत्वेन तद्विषयसंस्कारसंभवात् संस्कारस्यैव हेतुताङ्गीक्रियते, न त्वन्यत्कारणत्वेन कल्प्यते, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यसंभवे जायमानस्य त्वनुमानादेरननुभूतविषयत्वेन तस्मान्नोत्पत्तिसंभव इति तत्कारणं लिङ्गादिकमङ्गीक्रियते,

ततः प्रमाणान्तरासहकृतसंस्कारजत्वं, तद्व्यङ्ग्यो वा जातिविशेष एव, स्मृतित्वम् इति ॥ ७३ ॥

केचिदिति । इदं रजतमितिभ्रमस्थले ग्रहणस्मरणरूपज्ञानद्वयभेदाग्रहवादिभिरित्यर्थः । ननु रजतेन सममिन्द्रियसन्निकर्षाभावादगत्यैव तज्ज्ञानं स्मरणमभ्युपेयमित्यत आह—नचेति । गूढाभिसन्धिराह—इन्द्रियार्थेति । अनुभवत्वावच्छिन्नसामग्र्यभावात् तत्र स्मृतित्वम्, अनुमित्यादौ तु न तदवच्छिन्नसामग्र्यभावो लिङ्गपरामर्शादेरनुभवसामग्र्या एव सत्त्वादिति शङ्कते—सर्वेति । गूढाभिसन्धिः पुनराह—कथमिति । नन्वर्थापत्तिमादाय प्रत्यक्षादीनि मीमांसकमते पञ्चैवानुभूतयः प्रमाणानि, प्रमुष्टतत्तांशे च स्मरणे तत्कारणव्यतिरेकादेव स्मृतित्वमिति शङ्कते—पञ्चेति । प्रमाणपदं भावसाधनं, पञ्चपदं च यथादर्शनप्रमाणसङ्ख्योपलक्षणपरम्, एवमग्रेऽपि । स्वाभिप्रायमुद्घाटयति—चतुरिति । चतस्र एव प्रमास्त्वदभ्युपगताः, पञ्चमी प्रमा स्मृतिरेव भवेदित्यपि सुवचमित्यर्थः । प्रमुष्टतत्तांशस्मरणस्य स्मरणान्तरदृष्टान्तेन पञ्चप्रमाणीसामग्रीविरहे जायमानत्वात् स्मृतित्वं साधनीयं, तदेव तु नास्ति, सर्वेषामेव स्मरणानामनुभवत्वस्योक्तत्वादित्याह—कुत्र चेति । ननु प्रमुष्ट तत्तांशस्मरणे परिशेषात्संस्कारमात्रं कारणम्, अनुमित्यादौ तु लिङ्गपरामर्शादीनां कारणानां सत्त्वादपूर्वसाध्यादिसंसर्गे पूर्वाननुभूते च संस्काराभावात् संस्काराजन्यत्वेन चानुमित्यादेरनुभवत्वस्यैव व्यवस्थापनान्न प्रतिबन्दिरिति शङ्कते—अथेति ॥ ७३ ॥

जो कोई भ्रमस्थल में जहाँ शुक्ति में रज का ज्ञान होता है वहां (इदं रजतम्) इस ज्ञान को 'इदम्' अंश में प्रत्यक्ष और रजत अंश में स्मरणरूप दो ज्ञान मानने वाले, और दोष बल से विषय और ज्ञानगत भेद के अग्रहण (अज्ञान) को मानने वाले कहते हैं, कि भ्रम से अन्यत्र तो तत्ता युक्त का संस्कार से स्मरण होता है। परन्तु भ्रमस्थान में सादृश्यादि दोष बल से प्रमुष्ट (लुप्त) तत्तांश वाला स्मरण केवल संस्कार से होता है। इसी स्मरण की व्यावृत्ति प्रमालक्षणगत अनुभवपद से होती है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि तत्तारहित रजत ज्ञान की स्मरणरूपता में प्रमाण का अभाव है। तत्ता के सम्बन्ध से ही स्मरणत्व प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि रजत के अनुभव की सामग्री के अभाव से परिशेषरूपता से स्मृतित्व सिद्ध होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार तो इन्द्रिय अर्थ (पर्वत अग्नि) के सम्बन्ध के अभाव द्वारा प्रत्यक्षानुभव की सामग्री के अभाव से परिशेषता से अनुमिति आदि को भी स्मृतित्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि अनुभव की सब सामग्री के अभाव से शुक्ति में रजत का ज्ञान स्मरणरूप होता है, व्याप्ति ज्ञानादि अनुभव की सामग्री के रहने से अनुमिति आदि स्मरणरूप नहीं हो सकते, तो फिर कहा जाता (पूछा जाता) है कि तत्तांश से रहित रजतादि ज्ञान के हेतुरूप सामग्री अनुभव ज्ञान की सामग्रीरूप नहीं है, यह निश्चय चिरजीवी आपने कैसे कर लिया है ? यदि कहें कि प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द, तथा अर्थापत्ति, इन पाँचो प्रमाणों (प्रमिति) के कारण रूपसामग्रियों के असम्भव से, उक्त रजत ज्ञान के स्थान में अनुभव की सामग्री के अभाव का निश्चय किया है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा निश्चय करना है, तो प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, और शाब्दप्रमा के जनक सामग्री के असम्भव से पञ्चमी प्रमा अर्थापत्ति परिशेषता से स्मरणरूप आपसे क्यों नहीं मानी जाती है ? आपने कहाँ निश्चय (अनुभव) किया है कि जहाँ पाँच प्रकार की प्रमिति की कारण-

सामग्री के अभाव रहने पर जायमान (उत्पन्न) ज्ञान स्मृति होती है, ऐसा कोई दृष्टान्त आप नहीं बता सकते, क्योंकि (घटस्तत्रासीत्) इत्यादि ज्ञानों को भी तत्तांश में अनुभवत्व का कथन किया जा चुका है। और यदि मानें कि शुक्ति में रजत ज्ञान के स्थान में प्रत्यक्षादि ज्ञान के कारण सामग्री की अनुपपत्ति (असिद्धि) से, और रजतमात्र के प्रथम अनुभूत होने के कारण, उस रजत विषयक संस्कार के सम्भव (वर्तमानता) से संस्कार की ही रजत ज्ञान में हेतुता मानी जाती है, अन्य मन इन्द्रियादि कारणरूप नहीं माने जाते हैं। अतः रजत ज्ञान स्मरणरूप होता है। और पूर्ववर्णित इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि के असंभव (अभाव) रहने पर जायमान अनुमानादि तो अननुभूत विषयक होते हैं, अतः उनकी उत्पत्ति उस संस्कार से नहीं हो सकती क्योंकि प्रथम से अज्ञात का संस्कार ही नहीं होता । अतः उन अनुमिति आदि के कारणरूप लिङ्गादि (हेतुआदि) को माना जाता है। अत एव प्रमाणान्तर की सहायता से रहित (केवल) संस्कारजन्यज्ञानत्व या संस्कार से व्यंग्य जातिविशेष ही स्मृतित्व है ॥ ७३ ॥

रजतभ्रम के स्थल में रजतज्ञान के प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्य नहीं होने से वह भी संस्कारजन्य स्मृति परिशेषात् है। यह कथन अयुक्त है। यह आगे कहा जाता है कि—

मैवम्। तत्र कारणत्वं किमिति नाक्षस्यैव ? येन संस्कारजत्वं व्यवस्थाप्यते। तेनार्थेन सह तदाऽक्षस्य सन्निकर्षाभावादसन्निकृष्टस्य च तस्य ज्ञानजनकत्वेऽतिप्रसङ्गाद् नेन्द्रियजत्वं तस्य ? इति चेन्न, संस्कारस्यापि केवलस्य तज्जननेऽतिप्रसङ्गतादवस्थ्यात्। सहचरितधर्मदर्शनादिना सहकारिणा युक्तस्य संस्कारस्य तज्जनने नास्त्यतिप्रसङ्गः ? इति चेत्, तेनैव सहकारिणा सहितस्येन्द्रियस्यापि तज्ज्ञानजननेऽतिप्रसङ्गाभावात्। अननुभूतेपि भ्रमात्मकं प्रत्यक्षं स्यादिति तर्हि प्रसङ्गः, इति चेन्न, तवापि तद्धर्मतानधिगते तद्धर्मवत्यधिगते तस्य संस्कारवतः स्मृत्यापत्त्या समाधिसाम्यात्। लुप्ततत्साहचर्यदर्शनजसंस्कारस्यापि तथा सति सहचरितरजताद्यक्षजप्रतीतिप्रसङ्गः ? इति चेन्न, तवापि मते तादृशस्य रजतादिसंस्कारवतो रजतादिस्मृतिप्रसङ्गसाम्यात्। तस्माद्यतस्ते कालव्यवधानादितः संस्कारलोपस्तदनुपनिपातस्यापि हेतुत्वोपगमेऽनतिप्रसङ्गात् ॥ ७४ ॥

परिशेषं प्रत्याचष्टे—तत्रेति। रजतादिना सन्निकर्षाभावान्नाक्षजत्वमिति शङ्कते—तेनेति। यथाऽनुपपत्त्या नाक्षजत्वं, तथैव न संस्कारजत्वमपीत्याह—संस्कारस्यापीति। सदृशादृष्टचिन्ताद्युद्बोधितसंस्कारः स्मृतिकारणमतो नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते—सहचरितेति। संस्कारसहकारित्वेन यदपेक्षितं तदक्षसहकार्येवास्तु, सन्निकर्षसंस्कारौ तु न तन्त्रमित्याह—तेनैवेति। यदि संस्कारं विनेन्द्रियमात्रात् सदृशादिदर्शनसहायाद् प्रमुष्टतत्तांशं स्मरणं तदातिप्रसङ्गमाह—अननुभूतेपीति। यत्र रजतधर्मतया चाकचिक्यं नानुभूतं, रजतं धर्मि पुनरनुभूतमेव, तत्र चाकचिक्यवति शुक्त्यादौ दृष्टे च रजतगोचरसंस्कारसत्त्वेपि यद्विलम्बात् स्मृतिविलम्बस्तद्विलम्बादननुभूते ममापि स्मृतिविलम्बो ननु संस्कारविलम्बादित्याह—तवापीति। ननु रजतादिस्मरणमिन्द्रियजमेव चेत्तदा लुप्तसंस्कारस्यापि रजतादेर्ज्ञानप्रसङ्गः; किंच; तयोर्धर्मधर्मिणोर्यत्साहचर्यं सम्बन्धस्तस्य दर्शनाद्यः संस्कारो जातः स यस्य लुप्तस्त-

स्यापि सहचरितं यद्रजतादि धर्मिभूतं तद्विषया त्वन्मतेऽज्ञजा प्रतीतिः स्यादित्याह— लुप्तेति । गूढाभिसन्धेरुत्तरम्—तवापीति । तादृशस्य = लुप्तसाहचर्यदर्शनजसंस्कारस्य पुंसः, केवलधर्मिगोचरसंस्कारवतः स्मृतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अभिसन्धिमाह—तस्मादिति । त्वन्मते यत्संस्कारलोपकारणं तदभावविशिष्टादिन्द्रियादेव स्मरणोपपत्तेः किं संस्कारेणेत्यर्थः ॥७४॥

उक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त शुक्ति में रजतज्ञान के कारणत्व नेत्र ही को क्यों नहीं हो, जिससे संस्कारजन्यत्व स्मृतित्व का प्रतिपादन करना पड़े। यदि कहा जाय कि उस रजतरूप अर्थ (विषय) के साथ उस ज्ञान काल में नेत्र के सम्बन्ध के अभाव से वह ज्ञान नेत्रजन्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन्द्रिय के संबन्धजन्य ही प्रत्यक्षज्ञान होता है। और सम्बन्ध के बिना नेत्रादि से ज्ञान हो तो अतिप्रसङ्ग होगा (नेत्रादि से जानने योग्य सब वस्तु का ज्ञान सदा प्राप्त होगा) अतः सम्बन्धाभाव से उस रजतज्ञान को इन्द्रियजन्यता नहीं हो सकती है। परन्तु यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि केवल संस्कार को भी रजतस्मृति के कारण (उसकी उत्पत्ति में हेतु) मानने पर अतिप्रसंग (तदवस्थ) पूर्व तुल्य ही होगा। अर्थात् सादृश्यदर्शनादिजन्य संस्कार की अभिव्यक्ति के बिना भी सदा रजत की स्मृति प्राप्त होगी। यदि कहा जाय कि सहचरित (रजतत्व के साथ वृत्तितुल्य) सादृश्यधर्म (चाकचिक्यादि) आदि के दर्शनादिरूप सहकारीयुक्त (उद्बुद्ध) संस्कार से रजतस्मृति की उत्पत्ति होने से अतिप्रसङ्ग (सदास्मृति) नहीं हो सकता, तो उन सहकारियों सहित ही इन्द्रिय को भी वहाँ रजतज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से अतिप्रसङ्ग नहीं होता है। यदि शंका हो कि सादृश्यदर्शनादिसहित इन्द्रिय को भी रजतभ्रम के हेतु मानने पर, पूर्वानुभवजन्य संस्कार के रहते ही भ्रम हो सकता है, और सादृश्यदर्शनादि से उस संस्कार के उद्बुद्ध होने पर स्मृति होना उचित है, यदि संस्काररहित केवल इन्द्रिय से रजतज्ञान की उत्पत्ति (भ्रान्ति) मानी जाय तो, प्रथम के अननुभूत (अज्ञात) रजतादि की भी भ्रान्ति होनी चाहिये, और ऐसी भ्रान्ति होती नहीं है। परन्तु यह शंका भी युक्त नहीं है, क्योंकि संस्कार से स्मरण वाले आपके मत में भी जहाँ तद्धर्मता (चाकचिक्यादि में शुक्तितुल्य रजतधर्मता) के अज्ञान रहते, और उस धर्मवाली शुक्ति आदि धर्मी के ज्ञान होने पर साधर्म्यरहित रजतज्ञानजसंस्कार वाले को स्मृति की प्राप्ति होती है। वहाँ जो आपके यहाँ उस प्राप्ति के निवारण के लिये समाधान होगा, वही हमारे मत में भी समाधान होगा। अर्थात् जहाँ चाकचिक्यादि धर्मवाला रजत का प्रथम अनुभव हुआ हो, और वैसी शुक्ति के साथ नेत्र संयोगादि से अनुभवजन्य संस्कार उद्बुद्ध हो, वहाँ संस्कार से स्मृति होती है। तो इसी प्रकार पूर्वानुभवजन्य रजतविषयकसंस्कारसहितसादृश्यदर्शनयुक्तइन्द्रिय भ्रम का कारण होता है, अर्थात् रजतज्ञान साक्षात्संस्कारजन्य नहीं होता है, तो भी उसकी भ्रान्ति में पूर्व ज्ञान की अपेक्षा होती है। अतः अननुभूत का भ्रम नहीं होता है। यदि कहा जाय कि यदि रजत का शुक्ति में ज्ञान इन्द्रियजन्य ही पूर्वानुभव के बाद होता है, तो रजतानुभव के तथा सादृश्य ज्ञान के प्रथम होने पर भी बहुत काल के व्यवधानादि से जिस पुरुष के सादृश्यदर्शनजन्य रजतदर्शनजन्य संस्कार लुप्त (नष्ट) हो गये हों, उसको उस अवस्था में

भी सहचरित (शुक्त्यादि तुल्य) रजतादि का नेत्रजन्य शुक्ति में ज्ञान होना चाहिये। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार से आपके मत में भी तादृश (लुप्त सादृश्य दर्शनजन्य संस्कार वाले) रजतादि धर्मी मात्र के ज्ञानज संस्कार वाले को रजतादि की स्मृति की प्राप्ति तुल्य ही है। अतः जिस कालव्यवधानादि से संस्कार का लोप होता है, और आपके मत में वे मान्य हैं, उन काल के व्यवधानादि का अनुपनिपात, अभाव को भी भ्रम के कारण मानने से अतिप्रसंग (दोष) नहीं है, संस्कार के कारण नहीं रहते उसके द्वारा इन्द्रियजन्य भ्रम होते हैं ॥ ७४ ॥

तदेवम्—

तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं यत्ते संस्कारबोधकम्।
सहकारि तदेवास्तामक्षस्याऽतिप्रसक्तिनुत् ॥ २८ ॥

तत्सदृगिति। तस्य = रजतादेः, सदृशं = शुक्त्यादि, तस्य प्रत्यभिज्ञानं = ज्ञानं, तथाच सदृशाऽदृष्टचिन्तासहकृतमिन्द्रियमेव स्मृतिजनकम्, अतः स्मृतेरनुभवत्वमित्यर्थः।

उक्त अर्थ को इस प्रकार संक्षेप से समझना चाहिये कि उस अनुभूत रजतादि के सदृश शुक्ति के जो प्रत्यभिज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) आपके मत में संस्कार के समुद्बोधक = अभिव्यञ्जक होकर स्मरण के कारण होते हैं, वे ही ज्ञान अतिप्रसंग के वारण करने वाले इन्द्रिय के सहायक होते हैं, अतः सदृशदर्शनादि सहित इन्द्रिय ही के कारण होने से रजतज्ञान भ्रमात्मक अनुभवरूप होता है, स्मरणरूप नहीं ॥ २८ ॥

'तत्सदृशप्रत्यभिज्ञानं तु स्मर्त्तव्यस्मरणपूर्वकम्'-इत्येतदपि सममेव। तथाऽप्यन्यत्रार्थसन्निकर्षमन्तरेणेन्द्रियस्य ज्ञानकरणत्वं नोपलब्धचरम्? इति चेन्न, विशिष्टरूपेण भ्रमविषये मया तदुपगमात्, सहकारिभूतदोषशक्तेर्वा प्रत्यासत्तित्वेनेष्टत्वात्। किंच, संस्कारस्यापि प्रमाणान्तराऽसहकृतस्य नान्यत्र ज्ञानजनकत्वं दृष्टमिति तदपि कथं कल्प्यते। प्रत्यभिज्ञाने एव संस्कारस्य सदृशदर्शनादि सहकारि कल्पितं नत्विन्द्रियस्य? इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञाने संस्कारेन्द्रिययोर्द्वयोरपि कारणत्वात्, सदृशदर्शनादिसहकृतत्व-दर्शनाविशेषात् ॥ ७५ ॥

दृष्टान्वयव्यतिरेकस्य सन्निकर्षस्याभावाद् रजतस्मरणं नाक्षजमित्याह—तथापीति। विशिष्टेति। भ्रमविषयरजतस्मरणमक्षजं नेन्द्रियसन्निकर्षमपेक्षते-इत्युच्यते, नत्वनुभवमात्रमित्यर्थः, धर्मीन्द्रियसन्निकर्षस्य प्रत्यभिज्ञाने इव प्रकृतेपि सत्त्वादिति भावः। येन दोषेण तत्तामोषस्त्वया वाच्यः स एवेन्द्रियप्रत्यासत्तिरित्याह—सहकारीति। विवादपदं रजतस्मरणं तवापि संस्कारमात्रजं कथं स्यात्? संस्कारस्य प्रमाणसाहित्येनैव प्रत्यभिज्ञानादौ जनकत्वावधारणादित्याह—किंचेति। प्रत्यभिज्ञादिदृष्टान्तानुरोधेन चेत्तत्कल्पना तदा तत्र संस्कारस्य सदृशदर्शनादि सहकारी इत्यन्यत्रापि तथैवेति शङ्कते—प्रत्यभिज्ञाने इति। तत्रापीन्द्रियसहकारित्वमेव वक्तव्यमित्याह—नेति ॥ ७५ ॥

यदि कहा जाय कि तादृश (सदृश) का जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, वह भी तो स्मर्तव्य (पूर्वानुभूत) रजत के स्मरणपूर्वक ही होता है। अतः आवश्यक होने से रजत ज्ञान को स्मरण ही मानना उचित है। तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि

जैसे आपके मत में अनुभूत के सामान्य स्मरणपूर्वक सादृश्यज्ञान से फिर स्मरण होता है, प्रथम का स्मरण संस्कार का सहायक मात्र होता है, वैसे ही हमारे मत में वह इन्द्रिय का सहायक होता है जिससे भ्रमरूप अनुभव होता है। इस प्रकार से तुल्यता के कारण कोई लाघव या गौरव नहीं कहा जा सकता। फिर भी शंका हो कि भ्रम से अन्यत्र विषय (अर्थ) के साथ सम्बन्ध के बिना ज्ञान के कारणत्व (साधनत्व) इन्द्रिय को नहीं देखा गया है। अतः सम्बन्ध के बिना इन्द्रिय से रजत का ज्ञान कैसे हो सकता ? इसका उत्तर यह है कि प्रमा ज्ञान के स्थान में ही इन्द्रिय सम्बन्ध को कारणता निश्चित है। अतः प्रमा से विलक्षण भ्रम में विशिष्ट (विलक्षण) रूप से (संस्कार सहित रूप से) उस इन्द्रिय के कारणत्व मुझसे स्वीकृत होने से, अथवा सहकारी रूप दोषात्मक शक्ति को ही सम्बन्ध मानने से, अन्य सम्बन्ध के बिना भी इन्द्रिय से भ्रम होता है। और संस्कार को भी अन्य स्थान में प्रमाणान्तर की सहायता के बिना ज्ञानजनकत्व नहीं देखा गया है, वह भी रजत ज्ञान में केवल संस्कार में कैसे मानते हैं ? यदि कहा जाय कि प्रत्याभिज्ञा में ही सदृशदर्शनादि संस्कार का सहकारी कल्पित (सिद्ध) है; और सहकारीयुक्त संस्कार इन्द्रियादि के बिना स्मरण का कारण देखा गया है, इन्द्रिय नहीं। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में संस्कार और इन्द्रिय दोनों कारण होते हैं, और सदृशदर्शनादि संस्कार तथा इन्द्रिय दोनों के सहकारी तुल्य ही देखे जाते हैं, किन्तु सदृशदर्शन से उद्बुद्ध संस्कार तत्तांश के स्मरण का हेतु होता है। और इन्द्रिय इदन्ता के ज्ञान में हेतु होता है, वहाँ अभेद के बोध में सादृश्यदर्शन की अपेक्षा करता है, अन्यत्र नहीं ॥ ७५ ॥

अत्र सदृशदर्शनसहकारित्वे संस्कारसहकारित्वस्यापि प्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञानवत् ? इति चेन्न, तथा सति तद्वदेव तत्तोल्लेखापत्तेः, सदृशदर्शनादिसहकृतत्वेन च तत्तांशप्रसञ्जने संस्कारजत्वस्योपाधित्वम् ॥ नच सदृशदर्शनसहकारितैव तत्ताप्रयोजिकेति त्यज्यतां, न संस्कारः-इति युक्तम्, सदृशदर्शनं परित्यज्य संस्कारे सत्यप्यतथाबोधात्। तथापि सदर्थे प्राप्यकारित्वमिन्द्रियस्य दृष्टं न हातुं शक्यम् ? इति चेन्न। उक्तमत्र यथेन्द्रियस्य प्राप्तिसहकृतस्य ज्ञापकत्वं दृष्टं तथैव संस्कारस्यापि प्रमाणान्तरसहकृतस्य ज्ञापकत्वमुपलब्धमिति तदपि हातुं न युक्तमिति ॥ ७६ ॥

यथा प्रत्यभिज्ञाने सदृशदर्शनमिन्द्रियसहकारि दृष्टं तथा संस्कारोपि तत्रेन्द्रियसहकार्येवेति कथं रजतस्मृतौ संस्कारस्तिरस्कृतः ? इत्याह—अत्रेति। संस्कारजत्वे प्रमुष्टतत्ताकं स्मरणमेव न स्यादित्याह—तथा सतीति। ननु संस्कारवत् सदृशदर्शनादेरपि तत्तोल्लेखसामर्थ्यमविशिष्टमित्यत आह—सदृशेति। संस्कारजत्वनिवृत्त्या तत्र तत्तोल्लेखनिवृत्तिरित्यर्थः। संस्कारजत्वोपाधेः पक्षवृत्तित्वमाशङ्क्याह—नचेति। विवादपदे रजतज्ञाने तत्तोल्लेखो नास्ति, तथाच तन्निवृत्त्या तद्व्याप्यस्य सदृशदर्शनजत्वस्य निवृत्तिरस्तु संस्कारजत्वं च तत्र स्यादेव, तथाच स्मरणमेव प्रमुष्टतत्ताकमिति शङ्कार्थः। सदृशदर्शनादिविनाकृतस्य संस्कारस्य स्मृतिजनकत्वं न दृष्टमिति तन्निवृत्त्या संस्कारजत्वमपि निवर्तते इति कथं तत्स्मरणं भवेदिति परिहरति—सदृशदर्शनमिति। नन्वसन्निकृष्टरजतविषयकं प्रत्यक्षं कथं स्यादिन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वात्तथा चागत्यैव तत् स्मरणं मन्तव्यमिति शङ्कते—

तथापीति। प्राप्त्यभावाद् यथा नेन्द्रियं तत्र रजते प्रवर्तते तथा प्रमाणान्तराभावात् संस्कारोऽपि न प्रवर्तते, प्रत्यभिज्ञानादौ मानान्तरसहकृतस्यैव जनकत्वनिर्णयादिति प्रतिबन्दिमाह—उक्तमिति ॥ ७६ ॥

शंका होती है कि प्रत्यभिज्ञा में जैसे सदृशदर्शन इन्द्रिय का सहकारी देखा गया है, वहाँ संस्कार भी सहकारी रहता ही है, वैसे ही इस रजतादि के भ्रम में सदृशज्ञान के इन्द्रिय के सहकारी होने पर संस्कार भी सदृशदर्शन से उद्बुद्ध होकर सहकारित्व को प्राप्त होगा ही फिर इन्द्रिय और संस्कार दोनों से उत्पन्न होने के कारण भ्रमज्ञान स्मरणरूप भी प्राप्त होगा। परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के समान रजतज्ञान को संस्कारजन्य मानने पर भी प्रत्यभिज्ञा के समान ही रजत ज्ञान से भी तत्ता का उल्लेख (प्रकाश) होने लगेगा। यदि सदृशदर्शनादिसहित इन्द्रियजन्य होने से प्रत्यभिज्ञा के समानरजत ज्ञान से भी तत्ता के प्रकाश की प्राप्ति कही जाय अर्थात् भ्रमज्ञान में तत्ता का प्रकाश होता है, क्योंकि वह सदृशदर्शनादिजन्य होता है तो यह कहना ठीक नहीं। कारण यह है कि तत्ता के प्रकाशकत्व में संस्कारजन्यत्व उपाधि (हेतु) होता है। अर्थात् जहाँ-जहाँ तत्ता का प्रकाश होता है, वहाँ-वहाँ संस्कारजन्यत्व अवश्य रहता है, और सदृशज्ञानजन्यत्व का नियम नहीं रहता है, क्योंकि स्मृति के हेतु संस्कार का उद्बोध केवल सदृश दर्शन से ही नहीं होता, किन्तु अदृष्टचिन्तनादि से भी होता है इत्यादि। यदि यह कहा जाय कि सदृशदर्शन की सहकारिता (सहायता) भ्रम में तत्ता ज्ञान का प्रयोजक (हेतु) रूप प्राप्त होता है। अतः उस सदृशज्ञान को त्यागें (भ्रम का हेतु-इन्द्रिय का सहकारी नहीं मानें) और संस्कार को नहीं त्यागें, उसको सहकारी मानें जिससे लुप्त तत्ताकस्मृति ही सिद्ध होगी। तो यह कथन युक्त नहीं है। क्योंकि सदृशदर्शन को त्याग कर संस्कार के रहने पर भी तथा बोध (स्मृतिरूप ज्ञान) नहीं होता है। अर्थात् संस्कार के रहने पर भी उसके उद्बोधक के अभाव से संस्कार उद्बुद्ध नहीं हो तो स्मरण नहीं हो सकता। फिर भी यदि शंका हो कि सदर्थविषयक इन्द्रियजन्य ज्ञान में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता (विषय देश में प्राप्त होकर ज्ञानजनकता) देखी गई है, वह भ्रमस्थान में त्यागने के योग्य नहीं है। अतः इन्द्रिय से असम्बद्ध रजत का स्मरण ही मानना ठीक है। लेकिन यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम कहा गया है कि जैसे इन्द्रिय विषयदेश में प्राप्तिसहित होकर विषय का ज्ञापक (बोधक) देखा गया है, वैसे ही संस्कार को प्रमाणान्तरसहित को ज्ञापकत्व देखा गया है। अतः केवल संस्कार से स्मरण नहीं हो सकता। इसीसे वह अन्य प्रमाण की सहकारिता भी संस्कार में त्यागने के योग्य नहीं है। अन्य प्रमाण की सहकारिता के बिना संस्कार से लुप्त तत्ताक स्मृति भ्रमस्थान में मानना अयुक्त है ॥ ७६ ॥

संस्कारस्यापि चेन्द्रियप्रत्यासत्तित्वस्वीकारेण तद्विरहासिद्धेः। तत्तांशमोषकल्पनं च स्वतन्त्रसंस्कारजत्वपक्ष एव यावदधिकम्। कुतश्चायं तत्तांशमोषः? इति विचारमधिकरोति, पूर्वं वर्तमानादिकालविशेषविशिष्टस्य रजतादेरेकस्मिन्ननुभवे प्रकाशिततया तज्जन्येन संस्कारेणापि तथैवोपनेतुमु-

चितत्वात्; प्रत्यभिज्ञायां तथैव फलदर्शनात्। दोषवशात्तत्तांशमोषः ?, इति चेन्न, विषयसंबन्धस्य स्वभावत्वेन संस्कारे तदलोपात्॥ ७७॥

ननु प्रतिबन्दिरदूषणमित्यत आह—संस्कारस्यापीति। संस्कार एव मनसः प्रत्यासत्तिरिति मानसमेव रजतज्ञानमित्यर्थः। अक्षनिरपेक्षसंस्कारजत्वे तत्तोल्लेखध्रौव्यमिति दोषान्तरमाह—तत्तांशेति। यद्यप्यक्षापेक्षसंस्कारजत्वेपि प्रत्यभिज्ञायां तत्तोल्लेखो दृष्टः तथापि संस्कारजत्वे तत्तांशमोषकल्पनमिह त्वया कर्त्तव्यमिति कल्पनागौरवमित्यर्थः। कल्पयितुमपि न शक्यमित्याह—कुत इति। सामग्रीबलात्तथाभानध्रौव्यमित्याह—पूर्वमिति। अनुभवे यो वर्त्तमानकालो विशेषणतया भासते स एव स्मरणे तत्तया भासते—इति वस्तुगतिः, तथाच विशेष्यमात्रं स्मर्यते नतु विशेषणमपि—इदं कथं स्यादित्यर्थः। यदि दोषस्तत्तया सह प्रत्यासत्तिं विलुप्यति तत्राह—विषयेति। संस्कारेण सह तत्तायाः स्वभावः प्रत्यासत्तिः, सच संस्काररूपमेव, नच तल्लोपः, तल्लोपे वा विशेष्यस्मृतिरपि न स्यादित्यर्थः॥ ७७॥

संस्कार को भी इन्द्रिय की अर्थ के साथ प्रत्यासति (सम्बन्ध) रूप स्वीकार करने से सम्बन्धाभाव असिद्ध है। अर्थात् संस्कार ही मन को विषय के साथ सम्बन्धस्वरूप रहता है जिससे नेत्रज इदन्ता सादृश्य के ज्ञानपूर्वक रजतादि का मानस भ्रमरूप ज्ञान होता है, स्मृति नहीं। क्योंकि रजतज्ञान को इन्द्रियजन्य उक्त रीति से मानने पर तत्ताज्ञान की प्रसक्ति नहीं होती है, और स्वतन्त्र संस्कारजन्य स्मृतिरूप रजतज्ञान को मानने वाले के पक्ष (सिद्धान्त) में ही तत्ताज्ञान की प्राप्ति होती है और उसके मोष (लोप) की जो कल्पना की जाती है, वह अधिक (गौरव) है। तत्ता की मोषकल्पना भी अशक्य है, क्योंकि यह तत्ता का मोष किससे होता है, स्मरण में स्वभावसिद्ध तत्ता का मोष निर्हेतुक हो नहीं सकता है, अतः यह विचारणीय होता है, कि प्रथम संस्कारजनक अनुभव काल में वर्तमानादि कालविशेषयुक्त रजतादि एक अनुभव का विषय होता है, अतः उस अनुभव से जन्य संस्कार से भी स्मरण काल में (तथैव) कालविशेषयुक्त रजतादि का उपनय (प्राप्ति) उचित है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में वैसा ही संस्कार का फल (उपनयन) देखा जाता है। अर्थात् अनुभव का विषय वर्तमान काल ही संस्कार द्वारा स्मरण में तत्तारूप से भासता है, उसका प्रत्यभिज्ञा के समान रजत स्मरण में भासना ही उचित है, लोप नहीं। अतः तत्तारहित रजत ज्ञान स्मरणरूप नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि रजत ज्ञान स्मरणरूप ही है, परन्तु संस्कार के कालादियुक्तविषय होने पर भी स्मरण काल में अविवेकजनक दोषरूप प्रतिबन्धक से तत्तांश का मोष होता है। तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संस्कार में तत्तायुक्त विषय सम्बन्ध के स्वभावरूप से रहने से उसका लोप संस्कार के रहते हो नहीं सकता। विषय के बिना संस्कार स्मरण का स्वरूप ही नहीं हो सकता है, जैसे उष्णतादि स्वभाव से रहित अग्नि नहीं हो सकता॥ ७७॥

दोष संस्कार के स्वभाव को नष्ट (लुप्त) नहीं करता, किन्तु उसके कार्यरूप स्मृति का तत्ता अंश में प्रतिबन्धक होता है, इस आशय से शंका तथा समाधान है कि—

दोषात् स्मृतौ तथा ?, इति चेत्, कः पुनरसौ दोषः ? यस्माद् भ्रान्त्युत्पत्तिः परेषाम्, इति चेत्, तर्हि 'तद्रजताविशिष्टमिदं रजतमि'त्यत्र, 'सैव

रजतव्यक्तिरियमि'त्यत्र वा, 'पुनस्तदेव रजतमुपस्थितमि'तीह वा सामान्यत एव रजतस्य तदापि परामृष्टस्य भ्रान्तौ तत्तांशमोषः स्यात्, दोषस्य विद्यमानत्वात्। अन्यथा इदं रजतमित्यंशेपि तस्मिन् ज्ञाने तत्तांशमोषो न स्यादित्यास्तामियं प्रसक्तानुप्रसक्तिः ॥ ७८ ॥

ननु दोषः संस्कारं न विलुम्पति, किंतु तत्तांशे स्मृतिलक्षणं कार्यं प्रतिबध्नातीत्याह—दोषादिति। तथेति। लोप इत्यर्थः। भवेदेवं यदि दोष एव व्यवस्थितः स्यात्, नचैवमित्याह—कः पुनरिति। अन्यथाख्यातिजनकत्वं दोषत्वमित्याशङ्कते—यस्मादिति। यदपि कैश्चिदुच्यते—इत्यारभ्य प्राभाकरो वादी, नचासावन्यथाख्यातिं मन्यते, इत्यत उक्तम्—परेषामिति। तर्हीति। रजतव्यक्त्यन्तरे, शुक्तौ वा, यत्रैवं प्रकारो भ्रमस्तत्रापि तत्तामोषः स्यादित्यर्थः। ननु तच्छब्देन वणिग्वीथ्यादिदृष्टरजतविशेषपरामर्शे विशेषदर्शनान्नायमाकारो भ्रमस्येति कुतस्तत्तामोष आपाद्यते, इत्यत उक्तम्—सामान्यत एवेति। तदा=तच्छब्देन सामान्याकारेणैवोपस्थितं रजतं परामृश्यते ननु पुरोवर्तिविलक्षणाकारेणेत्यर्थः। ननु तत्तांशे स्मृतेरप्रतिबन्धात् त्वदुदाहृतज्ञानस्थले दोष एव नास्तीत्यत आह—अन्यथेति। तदेवेदं रजतमितिज्ञानं तदेवेदमितिप्रत्यभिज्ञानं नरसिंहाकारं, रजतमित्याकारस्तु स्मरणमेव; अन्यथारजताभेदग्रहेऽन्यथाख्यात्यापत्तेः, तथाच यदि दोषो नास्ति तदा रजतांशेपि तत्तामोषो न स्यादित्यर्थः। प्रसक्तेति। प्रमाखण्डनमुपक्रान्तं, तत्प्रसक्तं प्रत्यभिज्ञानखण्डनं, तदनुप्रसक्तं दोषखण्डनमित्यर्थः ॥ ७८ ॥

दोष से संस्कार के लोप नहीं होने पर भी स्मृति में तत्ता का लोप दोष से होता है, ऐसा यदि कहा जाय, तो पूछा जा सकता है कि वह दोष क्या है ? क्योंकि यदि रजत का स्मरण अख्यातिवाद में यथार्थ ही होता है, तो स्मरण का हेतु तो दोषरूप हो नहीं सकता। यदि अख्यातिवादी कहें कि मेरे मत में भ्रम का स्वीकार नहीं है, तथापि जिन दोषों से (परेषाम्) नैयायिकादि के मत में अन्यथाख्याति आदि रूप भ्रान्ति होती है, उन प्रमाणप्रमेयगत दोषों से ही मेरे मत में तत्ता का मोष होता है। तो यह कहना सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि यदि उक्त दोष से स्मरण में तत्ता का लोप हो तो जहाँ शुक्ति में दोष से भ्रम होता है उस (अन्यत्र दृष्ट) रजत से अविशिष्य (तुल्य) यह (सम्मुख स्थिर) रजत है, इस प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम में तथा वही रजत व्यक्ति यह है, इस प्रत्यभिज्ञा भ्रम में, या वही रजत यहाँ फिर उपस्थित हुआ (मिला) इस प्रत्यभिज्ञा भ्रम में भी जब रजत का पूर्व पर काल में तत् शब्द से सामान्यरूप से परामर्श (ज्ञान स्मरण) होता है, तो उस समय भी परामृष्ट (स्मृत) रजत की भ्रान्ति में तत्तांश का लोप होना चाहिये, क्योंकि भ्रमजनक दोष वहाँ रहते ही हैं, जो आपके मत में तत्तालोप के जनक हैं (अन्यथा) तत् शब्द से परामृष्ट रजतांश में यदि दोष रहने पर भी तत्तांश का मोष नहीं हो, तो उसी प्रत्यभिज्ञा में भासित (इदं रजतम्) इस अंश में तत्ता अंश का मोष नहीं हो सकता है, क्योंकि तत् शब्द से भासित का इदं शब्द से भासित के साथ अभेद भासता। इसी प्रकार दोष के रहते भी अभिज्ञा (इदं रजतम्) रूप भ्रम में तत्ता का लोप दोष से नहीं हो सकता है। इस प्रकार प्रमालक्षण के खण्डन के प्रसंग में प्रत्यभिज्ञाखण्डन के प्रसंग से अनुप्रसक्त (प्राप्त) तत्तांशमोषदोष खण्डन अब यहाँ तक ही रहे ॥ ७८ ॥

प्रत्यभिज्ञा में स्मृतित्व अनुभवत्व के संकर से अनुभूतित्व जाति का खण्डन किया गया है वहाँ संकर के वारणादि के लिये स्मृति तथा अनुभव से विलक्षणत्व चित्ररूप तुल्यत्व की शंका हो उसका निषेध किया जाता है—

नच प्रत्यभिज्ञा नाम स्मरणानुभवाभ्यामन्य एव प्रकार—इति वाच्यम्, अननुभवत्वेनाप्रमात्वापातात्। नचैवमस्त्वित्यपि वाच्यम्, अक्षणिकत्ववादिना स्थिरसिद्धौ प्रमात्वेनोपन्यस्तत्वात्; ईदृशप्रसिद्धलक्ष्यत्यागेन च लक्षणोपपादनेऽनियमः प्रसज्येतेति। तस्माज्जातिवाचिनोऽनुभवपदस्य स्मृतितो व्यवच्छेदार्थमुपादानम् इति सर्वथानुपपन्नमिति। नापि स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः, नापि स्मृतिलक्षणरहितत्वम्, उक्तक्रमेण स्मृत्यनुभूतिसङ्करस्य दर्शितत्वेन व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। इतोपि न स्मृत्यन्यत्वमनुभवार्थः॥७१॥

चित्ररूपमिव प्रत्यभिज्ञानं स्मरणानुभवविलक्षणमेवेत्यपि नेत्याह—नचेति। तत्त्वानुभूतिः प्रमेतिप्रमालक्षणादननुभवत्वेनाप्रमात्वापात इत्याह—अननुभवत्वेनेति। ननु स्मृतिवत् प्रत्यभिज्ञानमपि यथार्थमात्रं नतु प्रमापीत्यत आह—नचैवमिति। अक्षणिकत्ववादिनेति। योहमन्वभूवं सोहं स्मरामीत्यादिप्रतिसन्धानस्यात्मादिस्थैर्यसाधनत्वेन त्वयोपन्यस्तत्वादित्यर्थः। यत्र यत्रातिव्याप्तिस्तत्तद्यदि त्याज्यमेव तदा परमार्थव्यवस्थैव न स्यादित्याह—ईदृशेति। अनुभवत्वस्य स्मृतिव्यावृत्तजातेरनुपपत्तौ तत्त्वानुभूतिः प्रमेतिलक्षणेनुभूतिपदमव्यावर्तकमेवेत्युपसंहरति—तस्मादिति। अनुभवत्वं जातिर्मास्तु, स्मृत्यन्यज्ञानत्वलक्षणमुपाधिरस्तु, नहि तत्रापि जातिसाङ्कर्यभयमित्यत आह—नापीति। तत्सदृक्प्रत्यभिज्ञानं यत्ते संस्कारबोधकम्—इत्यादिना सर्वासां स्मृतीनामनुभवत्वव्युत्पादनेन ज्ञानमात्रमनुभव इति प्रमालक्षणेऽनुभवपदव्यवच्छेदकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। यद्वा, स्मृतीनामनुभवत्वव्युत्पादनेन स्मृत्यन्यत्वमित्यत्र स्मृतिपदव्यवच्छेद्यानुपपत्तिरित्यर्थः॥ ७१॥

प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभव से अन्य ही प्रकार की है अतः उसमें संकर नहीं हो सकता। प्रमालक्षण में अनुभूति पद से उसकी व्यावृत्ति होती है अर्थात् अनुभवपद से प्रत्यभिज्ञा व्यावर्त्य होती है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर प्रत्यभिज्ञा के अनुभव से भिन्न होने से उसमें अप्रमात्व की प्राप्ति होगी और (तत्त्वानुभूतिः प्रमा) इस लक्षण का लक्ष्यत्व प्रत्यभिज्ञा में नहीं होगा। यदि कहा जाय कि ऐसा ही हो, अर्थात् स्मृतितुल्य प्रत्यभिज्ञा प्रमा लक्षण का लक्ष्य नहीं हो तो क्या हानि है? तो यह कथन भी अनुचित है, क्योंकि संसार, बुद्धि, आत्मा आदि के अक्षणिकत्व (स्थायित्व) वादी नैयायिकादिकों ने स्थिर वस्तु की सिद्धि में (तदेवेदम्—सोऽहम्) इत्यादि प्रत्यभिज्ञा को ही प्रमात्वरूप से कथन किया है, वह असंगत होगा। और ईदृश (स्थिरता के साधक) प्रसिद्ध प्रमालक्षण के लक्ष्य (प्रत्यभिज्ञा) के त्याग द्वारा लक्षण के उपपादन (वर्णन) करने पर अनियम की प्राप्ति होगी। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा आदि में जहाँ २ प्रमा लक्षण की अव्याप्ति हो उस लक्ष्य (प्रमा) को भी त्यागने पर लक्षण का नियम नहीं रहेगा। लक्षण का नियम यह है कि उसे अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभवरूप दोष से रहित होना चाहिये, लक्ष्य को त्यागना नहीं चाहिये। अतः उक्त रीति से स्मृति से व्यावृत्त अनुभूतित्व जाति की सिद्धि नहीं होने पर, स्मृति में भी अनुभवत्व के सिद्ध होने पर जातिवाचक अनुभव (अनुभूति) पद को (तत्त्वानुभूतिः प्रमा) इस

लक्षण में स्मृति की व्यावृत्ति के लिये कहना सर्वथा अयुक्त है। यदि कहा जाय कि अनुभवत्व के जातिरूप नहीं होने पर भी, स्मृति से अन्य ज्ञानत्व, या स्मृति लक्षण (संस्कारजत्व) रहितज्ञानत्व, अनुभव पद का अर्थ है। अर्थात् अनुभवत्व उपाधि है, जाति नहीं, तो यह कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि उक्त रीति से स्मृति और अनुभव के संकर के प्रदर्शित होने से (स्मृति में अनुभवत्व होने से) अनुभव के लक्षण में स्मृति का व्यवच्छेद नहीं किया जा सकता और वक्ष्यमाण रीति से भी स्मृति से अन्य अनुभव पद का अर्थ नहीं हो सकता ॥ ७९ ॥

स्मृत्यन्यत्वं यत्किञ्चित्स्मरणान्यता वा? सर्वस्मृतिव्यक्त्यन्यता वा? स्मृतित्वरहितत्वं वा? अभिप्रेतम्। प्रथमे तु स्मृत्यन्तरव्यतिरेकात्स्मृत्यन्तरमप्यनुभूतिः स्यात्, नहि यतो व्यतिरिक्ता स्मरणव्यक्त्यन्तरादेका स्मृतिव्यक्तिस्तत् स्मरणमेव न भवति येन तदन्यत्वं न स्मृत्यन्यत्वं स्यात्। नापि द्वितीयः। मदीयादिस्मृतिव्यक्तिभ्यो हि भवता कथङ्कारं व्यतिरिक्तत्वमवधारणीयं प्रमायाः ?, तासां भवता प्रत्येतुमशक्यत्वात्। तथाहि, न तावत् परकीयज्ञाने परस्याऽस्मादृशोऽध्यक्षसम्भवः, नाप्यनुमानार्थापत्ती, लिङ्गानुपपद्यमानयोः, सर्वत्रार्वाग्दृशा प्रत्येतुमशक्यत्वात्, नापि शब्दः, सर्वत्र तस्यासम्भवात्। उपमानाद्यसम्भवोपि स्फुट एव, ततः कथं सर्वाभ्यः स्मृतिव्यक्तिभ्यो व्यतिरेको निरूप्यः प्रमायाः? इत्यबोधादसिद्धिर्लक्षणस्य॥८०॥

यत्किञ्चिदिति। स्मृतिविशेषान्योन्याभाववत्त्वमित्यर्थः। प्रथमे इति। स्मृतिविशेषान्योन्याभाववत्त्वं स्मृतिविशेषे गतमिति सोप्यनुभवः स्यादित्यर्थः। अस्मादृश इति। अयोगिन इत्यर्थः। यद्यपि सर्वस्मृत्यनुपस्थितौ तासां सर्वासामिति तवाप्यभिधानमनुपपन्नम्, उपस्थितौ वा ममापि तदुपस्थितिः स्यात्, तथापि विशिष्य प्रतियोगितावच्छेदकेन प्रकारेण तदुपस्थितिरशक्येत्यर्थः। सर्वत्रेति। नहि स्मृत्यन्यत्वग्रहदशायामवश्यं तादृशः शब्दोस्तीत्यर्थः। उपमानेति। उपमानस्य सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धमात्रपरिच्छेदफलकत्वेन सर्वस्मृत्युपस्थापकत्वायोगात्। आदिपदादैतिह्यादिसङ्ग्रहः, सर्वमतखण्डनस्योपक्रान्तत्वात्॥ ८० ॥

जैसे—स्मृति से अन्यत्व, यत्किञ्चित् (एक दो) स्मृति से अन्यता = अभिप्रेत (मान्य) है। या सब स्मृति व्यक्ति से अन्यता अभिप्रेत है, अथवा स्मृतित्व धर्मरहित मान्य है। यहाँ प्रथम पक्ष में तो किसी एक दो अन्य स्मृति से भिन्न स्मृति भी भिन्न होने के कारण अनुभूति होगी। क्योंकि जिस एक स्मृति से दूसरी स्मृति अन्य है, वह स्मृति नहीं है, ऐसी बात तो नहीं है जिससे उसमें प्रथम स्मृति से अन्यत्वरूप दूसरी स्मृति से अन्यत्व नहीं हो। सर्वस्मृति व्यक्ति से अन्यत्वरूप अनुभवत्व है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि हम लोगों की सभी स्मृतियों से भिन्नत्वरूप प्रमात्व का आप कैसे निश्चय (विवेक) करेंगे ? उन अन्य के सब स्मृतियों के ज्ञान को प्राप्त करना आपके लिये अशक्य है, और स्मृतिरूप प्रत्येक प्रतियोगी के ज्ञान के बिना प्रमा में उनके भेद का ज्ञान नहीं हो सकता। इसे इस प्रकार समझना चाहिये कि अस्मादृश (हमलोगों के समान = अयोगी) मनुष्य को किसी अन्य मनुष्य के ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और अनुमान (अनुमिति) तथा अर्थापत्ति (दृष्टादि अर्थ की अनु-

पपत्ति से परोक्षार्थ की कल्पना) भी अन्य के ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकती है, क्योंकि बाह्यदृष्टि वाले से सर्वत्र (सर्वज्ञान विषयक) हेतु का अनुपपत्ति का ज्ञान भी अशक्य है। शब्दरूप प्रमाण भी अन्य सब स्मृतियों का बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि सब स्मृतियों के भेद के ज्ञान काल में तादृश शब्द नहीं रहता है, जिससे जहाँ प्रमा में स्मृति से अन्यत्व का ज्ञान हो, वहाँ शब्द प्रमाण अवश्य वर्तमान हो। संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध का निश्चय मात्र उपमानप्रमाण का फल होता है। स्मृति से अन्यत्व का ज्ञान संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञानरूप नहीं होता है। अतः उपमान, ऐतिह्य, संभव नामक सब प्रमाण का सर्वस्मृति और उससे अन्यत्व के ज्ञान में असम्भव है। फिर ऐसी अवस्था में = सब प्रमाण के अभाव रहते सब स्मृतियों से प्रमा का भेद कैसे जाना जा सकता ? इस प्रकार से, स्मृति से अन्यत्वरूप प्रमालक्षण के विशेषणरूप स्मृति के अबोध (अज्ञान) से प्रमा के लक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ८० ॥

(उक्त रीति से लौकिक सम्बन्ध द्वारा प्रमाणों से सब स्मृति व्यक्ति के ज्ञान नहीं होने पर भी ज्ञानलक्षण (ज्ञानस्वरूप) तथा योगजधर्मस्वरूप अलौकिक सम्बन्ध तुल्य सामान्य (जाति) लक्षण (स्वरूप) अलौकिक सम्बन्ध द्वारा सब स्मृति का मानस-ज्ञान हो सकता है, क्योंकि सब को अपनी स्मृतियों का संयुक्त समवायसम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है, और उस स्मृति में समवेत स्मृतित्ववत्तारूप सम्बन्ध सबके मन को रहता है, इस आशय से शंका तथा समाधान है कि)—

नच वाच्यम्, स्मृतित्वेन सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः सर्वकालसर्वपुरुषसंबन्धिन्यः स्वात्मीयां स्मृतिव्यक्तिं प्रत्यक्षयता प्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते सामान्यलक्षणयेन्द्रियप्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले इव व्याप्यव्यापकव्यक्तय इति, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दोषग्रस्तत्वात्। तथा सत्येकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमेयत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्, एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्धीमहि ते सार्वज्ञ्यमिदं यदि जानासि किमस्मच्चेतसि विपरिवर्तते इति। नापि तृतीयः। स्मृतित्वरहितत्वं हि स्मृतित्वाभाववत्त्वं वा स्यात् ? स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं वा ? तज्ज्ञानं वा ? न तावदाद्यः। तथाहि, स्मृतित्वान्योन्याभावोऽपि स्मृतित्वाभावो भवत्येव; तद्वत्त्वं स्मृतिष्वप्यस्ति ॥८१॥

ननु स्मृतित्वं यत्सामान्यं तद्विशेषणतया सर्वैः सर्वाः स्मृतयो ग्रहीतुं मनसैव शक्याः, कथमन्यथा धूमत्वविशेषणतयाऽतीतानागतसकलधूमव्यक्तयो भासन्तां, दृश्यते हि पक्षवर्तिनो धूमादनुमितिः, सा च सामान्यलक्षणामन्तरेण न स्यादित्याह—नचेति। सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तेरतिप्रसञ्जकतया प्रमाणबाधितत्वाद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकावनुपपन्नावित्याह—दृष्टान्तेति। अतिप्रसङ्गमेवाह—तथा सतीति। ननु प्रमेयत्वसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या विश्वं प्रत्यक्षमेवेत्यत आह—एवमिति। प्रमेयत्वेन यदि विश्वमेव प्रत्यक्षं तदा सर्वस्य हृदि स्थितं परेण ज्ञायेत; नच तदपि प्रमेयत्वेन ज्ञायते एवेति वाच्यम्, घटत्वादिनापि ज्ञानप्रसङ्गात्, घटघटत्वतद्वैशिष्ट्यानां प्रमेयत्वलक्षणप्रत्यासत्त्या सन्निकृष्टत्वात्; सामान्यलक्षणायाः प्रत्यासत्तेरयं महिमा—यदेव सामान्यं प्रत्यासत्तिस्तत्प्रकारकमेव ज्ञानं तया जन्यते इति प्रमेयत्वेन परहृदयगतज्ञानं, नतु घटत्वेन—इति चेत्तर्हि यदि घटत्वमिन्द्रियसन्निकृष्टं, परस्यापि हृदि घट एव, तदा घटं जानामीत्युत्तरापत्तेः, परमनोगतस्यापि घटस्य तत्र घटत्वेन ज्ञान-

मस्त्येव तन्मनोगतत्वेन तु तत्र ज्ञानं नास्ति तन्मनोगतत्वस्य सामान्यस्याप्रत्यासत्तित्वात्, इति चेन्न, नियामकाभावात्; नहि भासमानत्वे सत्यपि प्रकारं प्रति विशेषः कश्चिदस्ति, नचानागतपाकप्रवृत्तेर्ज्ञानसाध्यतया तत्र च प्रमाणान्तरस्य तदानीमभावादगत्या सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्, ज्ञानेच्छाप्रयत्नानां समानविषयतामन्तरेणापि समानप्रकारकतयैवोपपत्तेः; नच व्यभिचारशङ्कार्थं सामान्यलक्षणा, नह्यनुपस्थितधूमे वह्निवैयधिकरण्यं शङ्कितुं शक्यमित्यनागतधूमज्ञाने सति व्यभिचारशङ्कायाः संभवादिति वाच्यम्, अयं धूमो वह्निजन्यो न वेति वह्निजन्यत्वसन्देहस्यैव व्यभिचारशङ्कात्वात्, तस्य चोपस्थितधूमे एव संभवात्, नहि सामानाधिकरण्यमात्रं कार्यकारणभाव इति भावः ॥ ८१ ॥

अपनी स्मृति व्यक्ति को प्रत्यक्ष करने वाला, उस मानस प्रत्यक्ष काल में, सब काल और सब पुरुष सम्बन्धिनी सब स्मृति व्यक्ति को सामान्य स्वरूप इन्द्रिय (मन) के सम्बन्ध से स्मृति स्वरूप से साक्षात् (प्रत्यक्ष) ही जानता है, जैसे कि धूमादि में अग्नि आदि की व्याप्ति (अव्यभिचरित सहचार) के ग्रहण काल में सब व्याप्य व्यापक व्यक्ति को सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण से ग्रहण करता है। अन्यथा सब धूम में सब अग्नि की व्याप्ति के ज्ञान के नहीं होने से पर्वतीय धूम ज्ञान से अग्नि का ज्ञान नहीं होगा। परन्तु वादी का यह कथन अयुक्त है। क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों दोषग्रस्त हैं। सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति से यदि प्रत्यक्षज्ञान हो तो सब में सर्वज्ञता की प्राप्ति से दृष्टान्त ही दुष्ट है। अतः वह दार्ष्टान्त को कैसे सिद्ध कर सकता है? इसी को स्पष्ट करते हैं—(तथा सति) सामान्य लक्षण सम्बन्ध से प्रत्यक्ष मानने पर, एक किसी प्रमेय के प्रत्यक्षज्ञान की प्राप्ति कर लेने पर प्रमेयत्वरूप सामान्य सम्बन्ध के द्वारा उस प्रत्यक्ष करने वाले को सब संसार ही प्रत्यक्ष अनुभूत हो जाना चाहिये। यदि कहा जाय कि एक प्रमेय के प्रत्यक्ष वाले को प्रमेयत्वेन संसार का प्रत्यक्ष ज्ञान हो ही जाता है, तो कहा जाता है कि इस प्रकार मानने वाले आप की इस सर्वज्ञता को हम तब विश्वास करेंगे (मानेंगे) यदि हमारे चित्त में क्या विशेषरूप से है, उसको आप विशेष रूप से जानेंगे, क्योंकि सामान्य विशेष दोनों रूप ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है, अन्यथा नहीं। स्मृतित्वरहितत्वरूप स्मृत्यन्यत्व तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्मृतित्व रहितत्व क्या है? प्रथम यह विचारणीय है, क्या स्मृतित्व का अभाव स्मृतित्वरहितत्व है? अथवा स्मृतित्वरूप प्रतियोगी (सम्बन्धी) वाला सम्बन्धाश्रय का स्वरूप ही स्मृतित्वरहितत्व है? (अर्थात् प्रभाकर मत के अनुसार क्या स्मृतित्व प्रतियोगिक आश्रय (प्रमा-अनुभव का स्वरूप ही स्मृतित्व का अभाव है) अथवा स्मृतित्व प्रतियोगिक अधिकरण के स्वरूप का ज्ञान अन्यत्व है? इनमें स्मृतित्वाभाव स्मृतित्वरहितत्व यह प्रथम पक्ष युक्त नहीं है। क्योंकि स्मृतित्व का अन्योभाव (भेद) भी स्मृतित्वाभाव ही होता है, और उस स्मृतित्व की भेदवत्ता स्मृति में भी रहती है, स्मृति धर्मी स्वधर्म स्मृतित्व रूप नहीं हो सकती ॥ ८१ ॥

ततश्च स्मृतेरपि तथात्वापत्तेः, तदव्यवच्छेदाद् विशेषणवैयर्थ्यं च; विना विशेष्यमिच्छादावपि प्रसङ्गात्। स्मृतित्वस्य संसर्गाभावस्तत्र विवक्षितः इति चेन्न, तथाहि 'स्मृतित्वस्य संसर्गाभावः' इति किमुच्यते?, किं स्मृति-

त्वस्य संसर्गाभावः ? उत संसर्गविशिष्टस्य स्मृतित्वस्य ? अथान्यदेव वा किञ्चिदनया वाग्भङ्ग्या विवक्षितम् ? । आद्ये स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावः स्मृतावस्तीति स एव प्रसङ्गः, नहि स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतिः । अत एव न द्वितीयोऽपि, नहि संसर्गविशिष्टं यत् स्मृतित्वं तदेव स्मृतिव्यक्तिः, ततश्च संसर्गविशिष्टस्मृतित्वेन सह स्मृतिव्यक्तेरन्योन्याभावमादायोक्तदोषाऽनिवृत्तिः ॥ ८२ ॥

तथात्वापत्तेरिति । अनुभवत्वापत्तेरित्यर्थः । विशेषणवैयर्थ्यं चेति । स्मृत्यन्यज्ञानत्वमनुभवत्वमुक्तं तत्र ज्ञाने स्मृत्यन्यत्वविशेषणस्य वैयर्थ्यं, विशेषणे सत्यपि स्मृतावतिव्याप्तेर्दुर्वारत्वादित्यर्थः । यद्वा, प्रमालक्षणेऽनुभवत्वस्य विशेषणस्य वैयर्थ्यं, स्मृत्यनुभवविवेकाभावादित्यर्थः । ननु तत्त्वविषयत्वमेवास्तु प्रमालक्षणं किमनुभवेन विशेष्येणेत्यत आह—विनेति । एवं सति न केवलं स्मृतावतिव्याप्तिः, किं तर्हि ? इच्छादावप्यतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः । यद्वा, ननु स्मृत्यन्यज्ञानत्वमित्यत्र ज्ञानमपि विशेष्यं त्यज्यतामित्यत आह—विनेति । नहीति । संसर्गविशिष्टस्मृतित्वस्यान्योन्याभावः सर्वस्मृतिव्यक्तिष्वनुगत इति विशेषणवैयर्थ्यं तदवस्थमेवेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

स्मृतित्व के अन्योन्याभाव के स्मृति में भी रहने से स्मृति को भी तथात्व (अनुभवत्व) की प्राप्ति होगी, और स्मृत्यन्यत्व रूप विशेषण से उस स्मृति के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) उक्तरीति से नहीं होने से लक्षण में स्मृत्यन्यत्व इस विशेषण की व्यर्थता होगी । यदि कहा जाय कि विशेषण रूप स्मृत्यन्यत्व त्यागकर (तत्त्वविषया प्रमा) (तत्त्वविषयक प्रमा कही जाती है), ऐसा माना जाय, तो अनुभूति के लक्षण में विशेष्य स्वरूप है, उसके बिना तत्त्व वस्तु विषयक इच्छा आदि में भी प्रमात्व की प्राप्ति होगी । यदि कहा जाय कि स्मृतित्व का अन्योन्याभावस्मृति में रहता है । संसर्गाभाव नहीं रहता, क्योंकि स्मृतित्व जाति स्मृति में समवायसम्बन्ध रहती है । अतः स्मृतित्वाभाव इस वाक्य में स्मृतित्व का संसर्गाभाव विवक्षित है, परन्तु यह कथन अयुक्त है । 'स्मृतित्व का संसर्गाभाव' इस वाक्य से क्याकहा जाता है । क्या स्मृतित्व के संसर्ग का अभाव (स्मृतित्वविशिष्टसंसर्ग का अभाव) कहा जाता है ? अथवा संसर्गयुक्त स्मृतित्व का अभाव कहा जाता है, या इस वाग्भङ्गी (युक्ति) से अन्य ही कुछ विवक्षित है ? यहां प्रथम पक्ष में स्मृतित्व के समवायरूपसंसर्ग का अन्योन्याभाव स्मृति में है ही, अतः उसी स्मृति में प्रमात्वापत्ति दोष है । क्योंकि स्मृतित्व का समवायसम्बन्ध स्मृति रूप नहीं है । इसी से दूसरा पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जो संसर्गयुक्त स्मृतित्व है, तत्स्वरूप ही स्मृतिरूप व्यक्ति नहीं रहती, जाति से व्यक्ति का भेद रहता है, अतः संसर्गयुक्तस्मृतित्व के साथ स्मृति व्यक्ति के भेद के ग्रहण द्वारा उक्त दोष की निवृत्ति नहीं होती अर्थात् स्मृति में अनुभवत्व रूप प्रमात्व की प्राप्ति होती ही है ॥ ८२ ॥

एवं तत्र तत्रापि संसर्गविशेषणप्रक्षेपे दोषाऽनिवृत्तिरेव, अनवस्थायां वा पर्यवसानं विशेषणप्रक्षेपपरम्परायाः । नच वाच्यं स्मृतित्वसंसर्गस्य न संसर्गान्तरेण संबन्धित्वं किंतु स्वभाव एव, तत् कुतः परम्परागवेषणं कार्यमिति, स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय कृतस्य प्रसङ्गस्य परिहर्तुं तदानीं सुतरामशक्यत्वात्, संसर्गान्तरविशेषणवचनस्याधिकार्थापर्यवसायित्वात् ।

किञ्च, तदुभयस्वरूपातिरेकं तत्संसर्गस्यामन्यमानेन स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतित्वधर्मिस्वरूपं चेत्येतयोः संसर्गात्मकत्वे व्यवस्थाप्यमानेऽनुभूतौ कथं तादृशस्य संसर्गस्य निषेधः? किमनुभूतेः स्वरूपं नास्ति? उत स्मृतित्वसंसर्गस्य? ततः कस्य निषेधः ॥ ८३ ॥

ननु स्मृतित्वसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय स्मृतिषु प्रसङ्गो न भवति, यतः स्मृतित्वसंसर्गस्यापि संसर्गाभाव एव स्मृतित्वरहितत्वं, तच्च न स्मृतिषु, तत्र स्मृतित्वसंसर्गस्य विद्यमानत्वादित्यत आह—एवमिति। अपरापरसंसर्गप्रक्षेपे चरमसंसर्गस्यान्योन्याभावमादाय स्मृतौ प्रसङ्गतादवस्थ्यमविश्रान्तौ चानवस्थैवेत्यर्थः। ननु स्मृतित्वसंसर्गे संसर्गान्तरं नास्ति, किंतु स्वरूपसम्बन्धेनैवाऽसौ संसृष्टः, तथाच नानवस्थेत्यत आह—नच वाच्यमिति। स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावात्संसर्गाभावस्य संसर्गान्तरविशेषणद्वारा कथञ्चिद्भेदो भवेत्तदभावे तु भेदकाभावात्तदन्योन्याभावमादाय सुतरां प्रसङ्ग इत्यर्थः। तदेवाह—संसर्गान्तरेति। किञ्च, स्मृतित्वरहितत्वं—स्मृतित्वसंसर्गनिषेधः, स्मृतित्वसंसर्गश्च तव स्मृतित्वं धर्मिस्वरूपं चेत्यत्र पर्यवसन्नं, तादृशश्च स्मृतित्वसंसर्गोऽनुभवस्याप्यस्तीति न तन्निषेधस्तत्र संभवतीति पुनरपि विशेषणवैयर्थ्यादिकमेवेत्याह—किञ्चेति ॥ ८३ ॥

यदि कहा जाय कि स्मृतित्वसंसर्ग के अन्योन्याभाव के ग्रहण से उक्त दोष होता है। अतः स्मृतित्व के समवायसंसर्ग के संसर्गाभाव को स्मृतित्वरहितत्व कहा जाता है और स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) का संसर्ग स्मृति में रहता है, अनुभव में नहीं, अतः अतिव्याप्ति तथा अव्याप्तिरूप दोष नहीं है, तो यह कहना भी असंगत है। क्योंकि, स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) का जो स्मृति में संसर्ग होगा, वह भी तो स्मृतिस्वरूप नहीं होगा, अतः उस संसर्ग के अन्योन्याभाव की स्मृति में वर्तमानता से फिर भी स्मृतित्व का अभाव स्मृति में प्राप्त होगा और यदि स्मृतित्व के संसर्ग के संसर्गाभाव मानें, तो इस प्रकार आगे-आगे संसर्गरूप विशेषण का प्रक्षेप (प्रवेश) करने पर अनवस्था की प्राप्ति होगी क्योंकि विशेषण (संसर्ग) के प्रक्षेप परंपरा का कहीं पर्यवसान (समाप्ति) नहीं होगा, या उसी के अन्योन्याभाव को स्मृति में मान कर फिर अतिव्याप्ति ही होगी॥

यदि कहा जाय कि स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) को स्मृति के साथ किसी अन्य सम्बन्ध द्वारा सम्बन्धित्व नहीं होता, किन्तु स्वभाव (स्वरूप) ही सम्बन्ध समवाय का स्मृति के साथ रहता है, अतः संसर्ग परम्परा के गवेषण (अन्वेषण) की वह कर्तव्यता (अनवस्था) कैसे हो सकती ? अनवस्था का इस प्रकार कोई कारण नहीं है। परन्तु वादी का यह समाधान भी असंगत ही है। क्योंकि स्मृतित्वसंसर्ग (समवाय) स्वभाव (स्वरूप) ही यदि स्मृति के साथ सम्बन्ध है, तो स्मृतित्वसंसर्ग के संसर्गाभावशब्द का अर्थ, स्मृतित्व के संसर्ग के स्वरूप का अभाव ही होगा, अतः स्मृतित्व के समवाय के स्वरूप के अन्योन्याभाव की स्मृति में वर्तमानता से पूर्ववर्णित अतिव्याप्ति का अब परिहार करना अत्यन्त अशक्य है। और समवाय के स्वरूप को संसर्ग मानने पर समवाय के संसर्गान्तररूप विशेषण के वाचक शब्द का कोई अधिक अर्थ निश्चित नहीं होगा। वह विशेषण व्यर्थ ही होगा, अतः उक्त कथन युक्त नहीं हो सकता। और स्मृतित्वसंसर्ग तथा स्मृति इन दोनों के या स्मृतित्व का संसर्ग और स्मृतित्वयुक्तस्मृति, इन दोनों के स्वरूप से भिन्न उन दोनों के सम्बन्ध को नहीं मानने

वालों से, स्मृतित्व के संसर्गस्वरूप को स्मृतित्व के धर्मी (स्मृति) और स्मृतित्व को उन दोनों के संसर्गरूप से व्यवस्थित (निश्चित) करने पर, अनुभूति में वैसे संसर्ग का निषेध कैसे हो सकता ? क्या अनुभूति का स्वरूप नहीं है ? अथवा स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) का स्वरूप नहीं है ? जिससे वह अनुभूति में नहीं रह सकता, अतः स्मृतित्वसमवाय के प्रत्यभिज्ञास्वरूप अनुभूति में रहने से, दोनों के स्वरूप के सत्व से निषेध किसका होगा ? ॥ ८३ ॥

शंका हो सकती है कि स्मृतित्व के संसर्ग का निषेध अनुभूति में नहीं किया जाता, किन्तु स्मृतित्व के संसर्ग का संसर्गस्वरूप अर्थान्तर का निषेध अनुभव में किया जाता है। इस प्रकार स्मृतित्वरहितत्व स्मृति में नहीं है किन्तु अनुभव में है। इसका उत्तर यह है कि—

अर्थान्तरभूतस्य च संसर्गस्य निषेधे स्मृतावपि प्रसङ्गस्तदवस्थः, स्मृतौ तस्यार्थान्तरभूतस्य भवतानभ्युपगमात्। स्वरूपमेव तयोः संबन्ध इति हि तत्र भवतोऽभ्युपगमः। अथोच्यते, अनुभूतिस्मृतित्वसंसर्गयोः स्वरूपसंभवेपि न परस्परसंबद्धबुद्धिजनकत्वं तयोः, तादृक्त्वं च यत्र तयोस्तत्र संबन्धात्मकत्वं स्वरूपयोरुच्यते—इति. मैवम्, विशेषोपसंग्राहकासिद्धौ तस्याप्यनुपपत्तेः ॥ ८४ ॥

ननु स्मृतित्वसंसर्गो न निषिध्यते किंतु स्मृतित्वसंसर्गस्यार्थान्तरभूतः संसर्गोनुभवे निषिध्यते। तथाच स्मृतित्वरहितत्वं न स्मृतौ किंत्वनुभवे तदस्तीत्यत आह—अर्थान्तरभूतस्येति। त्वदभ्युपगमरीत्या स्मृतावप्यर्थान्तरभूतः स्मृतित्वसंसर्गस्य संसर्गो नास्तीति पुनरपि स्मृतौ प्रसङ्गो दुर्वार इत्यर्थः। स्मृतौ स्मृतित्वमस्त्यनुभूतौ च तदत्यन्ताभावः ? इति चेत्, स्मृत्यनुभवयोर्विशेषाभिधानमतन्त्रमेव, यतः स्मृतित्वस्याप्यनुभूतित्ववदुपप्लावनीयत्वात्; अत्यन्ताभावः—इति च यद्यात्यन्तिकोऽभावस्तदा स्मृतावपि स्मृतित्वस्यात्यन्तिक एवान्योन्याभावोऽस्तीति प्रसङ्गतादवस्थ्यं, यदि च नित्यः संसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः, तदा संसर्गान्योन्याभावमादाय कृतस्य प्रसङ्गस्यापरिहार एवेति भावः॥ नन्वनुभूतेः स्वरूपं स्वरूपमेव, स्मृतित्वसंसर्गस्यापि स्वरूपं स्वरूपमेव, नच तदुभयं स्वरूपं संबन्धात्मकं, परस्परोपश्लिष्टप्रत्ययजनकयोरेव स्वरूपयोः स्वसंबन्धात्मकत्वाद्, उपश्लिष्टप्रत्ययश्च स्मृत्यैव समं स्मृतित्वसंसर्गस्य न त्वनुभूत्यापीति शङ्कते—अथोच्यते इति। स्वरूपविशेषस्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गेण सह यदुपश्लिष्टप्रत्ययजनकत्वं तदुपग्राहकमवच्छेदकं चेन्नास्ति तदा तस्यापि (=उपश्लिष्टप्रत्ययजनकत्वस्यापि) अनुपपत्तिरित्याह—विशेषेति ॥ ८४ ॥

अर्थान्तरस्वरूप संसर्ग का अनुभव से निषेध करने पर स्मरण में भी उसका निषेध प्राप्त होगा ही। क्योंकि, स्मृति में उस अर्थान्तरस्वरूप संसर्ग को आप नहीं मानते हैं। स्मृति और स्मृतित्व का स्वरूप ही उन दोनों का सम्बन्ध है। यहाँ आपका यही सिद्धान्त है। यदि कहा जाय कि अनुभूति और स्मृतित्वस्वरूप संसर्ग के स्वरूप होने पर भी उन दोनों को परस्पर सम्बन्धवत्त्वज्ञान का जनकत्व नहीं होता है और परस्पर सम्बद्धबुद्धिजनकत्व जहाँ उन दोनों को है, वहाँ उन दोनों के स्वरूप को सम्बन्धात्मक कहा जाता है। अर्थात् अनुभूति एवं स्मृतित्व को परस्पर सम्बद्धबुद्धिजनकत्व

नहीं है, अतः उनका स्वरूप परस्पर सम्बन्धस्वरूप भी नहीं है। स्मृति के साथ ही स्मृतित्वसंसर्ग का परस्पर सम्बद्धबुद्धिजनकत्व है, अतः ये दोनों परस्पर सम्बन्धस्वरूप हैं। परन्तु यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्मृति और स्मृतित्व में परस्परसम्बद्ध—बुद्धिजनकता भी उसके अनुगत अवच्छेदक के ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं हो सकती। स्मृतित्व कारणतावच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि वह अभी सिद्ध नहीं है और स्मृति तथा स्मृतित्व दोनों स्वरूपविशेष का वह उपसंग्राहक भी नहीं हो सकता ॥ ८४ ॥

उपसङ्ग्राहकान्तरोक्तौ तत्सम्बन्धेपि प्रसङ्गेनापरापरोपसङ्ग्राहकगवेषणायामनवस्थापातात्, एतावतापि चानुभूतिस्वरूपे कस्य निषेधो वर्णितः स्यात्। 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे'—इत्येवंरूपबुद्धिजनकत्वस्य इति चेन्न, भ्रान्त्यात्मिकाया ईदृशबुद्धेर्जनकत्वस्य वारयितुमशक्यत्वात्। यथार्थायाः—इति चेत्, ईदृशबुद्धेर्यथार्थाया यदि सत्त्वमभ्युपैषि तदानुभूतौ स्मृतित्वप्रसङ्गः, अथ नाभ्युपैषि, किं प्रति तस्या जनकत्वाभावो निरूप्यः॥

यदि स्मृतौ तदुपश्लिष्टप्रत्ययजनकत्वं प्रति किंचिदवच्छेदकमनुगतं वाच्यं, तदा तेनापि संबन्धः स्वरूपमेव वाच्यं, तत्रापि तदुपग्राहकपरम्परानुसरणेऽनवस्थेत्याह—उपसङ्ग्राहकेति। अनुभूतौ स्मृतित्वसंसर्गो नास्तीत्यत्रान्योन्याभावमादाय कृतः प्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्याह—एतावतापीति। स्मृतित्वसंसर्गनिषेधस्य वर्णयितुमशक्यत्वादिति भावः। ननु स्मृतित्वसंसर्गस्मृती संबद्धे—इति बुद्धिरस्ति, 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे'—इति बुद्धिर्नास्ति, तथाचैतादृशबुद्धिजनकत्वस्यैव निषेधोनुभवे क्रियते, इति शङ्कते—स्मृतित्वेति। अनुभवेऽपि स्मृतिरेवेतिभ्राम्यतः 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे'-इति बुद्धिः संभवत्येवेति तज्जनकत्वस्यानुभवे निषेद्धुमशक्यत्वमिति परिहरति—भ्रान्तीति। 'स्मृतित्वसंसर्गानुभूती संबद्धे'-इतीदृशप्रमाजनकत्वमनुभवे यदि निषिध्यते तदा निषेध्यस्य क्वचिदपि सिद्धौ स्मृतित्वसंसर्गोनुभवे सिद्ध एवेत्याह—ईदृशेति ॥ ८५ ॥

स्मृतित्व से भिन्न उपसंग्राहक मानने पर भी उसके सम्बन्ध में भी शंका होगी कि उसका स्वाश्रय के साथ स्वरूप सम्बन्ध है? या अन्य? उसके भी संश्लिष्टबुद्धिजनकता के अवच्छेदक के अन्वेषण की प्राप्ति होने पर अनवस्था होगी। इस प्रकार संग्राहक (कारणतावच्छेदक) के अभाव से, स्मृति एवं स्मृतित्व संसर्ग की सम्बद्धबुद्धिजनकता नहीं हो सकती यह सिद्ध हुआ और यदि जनकता सिद्ध भी हो, तो इससे भी अनुभूति के स्वरूप में किस का निषेध वर्णित होगा? अनुभूति और स्मृतित्व का स्वरूपात्मक सम्बन्ध तो रहेगा ही फिर स्मृतित्वरहितत्व अनुभूति का लक्षण कैसे सिद्ध होगा? यदि कहा जाय कि अनुभूति और स्मृतित्व के स्वरूप के रहने से तदात्मक स्वरूपसम्ब का तो स्मृतित्वरहित के कथन से निषेध नहीं हो सकता, किन्तु स्मृतित्वसंसर्ग (समवाय) और अनुभूति परस्पर (सम्बद्ध) सम्बन्ध वाले हैं, इस प्रकार की बुद्धि के जनकत्व का निषेध स्मृतित्वरहितत्व, कथन से किया जाता है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि—जैसे स्मृतित्वसंसर्ग और स्मृति परस्पर सम्बद्ध हैं ऐसी प्रमा बुद्धि होती है, वैसे ही स्मृतित्व संसर्ग और अनुभूति परस्पर सम्बद्ध हैं, इस भ्रमात्मक बुद्धि का वारण नहीं किया जा सकता अतः उसके जनकत्व का निषेध नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि स्मृतित्वसंसर्ग औरअनुभूति सम्बद्ध हैं, ऐसी यथार्थ बुद्धि की जनकता

का निषेध स्मृतित्वरहितत्व से किया जाता है। तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि यदि (स्मृतित्वसंसर्ग तथा अनुभूति सम्बद्ध हैं) इस प्रकार की यथार्थ बुद्धि की सत्ता को मानें तो अनुभूति में स्मृतित्व का संसर्ग प्राप्त होगा, जिससे उसमें स्मृतित्व की प्राप्ति होगी, निषेध नहीं सिद्ध होगा, और न प्रमा का लक्षण ही सिद्ध होगा और यदि उक्त यथार्थबुद्धि की सत्ता को नहीं मानें तो किस बुद्धि के प्रति उसकी जनकता का अभाव निरूपणीय होगा ? उक्त बुद्धि के अभाव से उसकी जनकता की अप्रसिद्धि से अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव का निरूपण नहीं हो सकता ॥ ८५ ॥

अथात्यन्तासतीमेतादृशबुद्धिं प्रति जनकत्वाभावावधारणमनुभूतेरभ्युपैषि तदा स्मृतावपि प्रसङ्गः, यावत्यस्तद्बुद्धयस्तत्र जायन्ते तदधिकां तादृशबुद्धिमत्यन्तासतीं प्रत्यजनकत्वस्य स्मृतावपि संभवात्। सर्वामेव तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वमनुभूतेर्न त्वेवं स्मृतेः—इति चेन्न, सर्वतद्व्यक्तिप्रमित्यसम्भवात्। किंच, सर्वामि'ति कोऽर्थः? किमसतीं सर्वाम्?, उत सतीम्, उत सतीमसतीं चेत्युभयीं प्रत्यजनकत्वम्? आद्ये द्वितीये च स्मृतावपि तदजनकत्वमस्त्येव, नहि 'स्मृतित्वसंसर्गस्मृती संबद्धे'—इति यावत्यः स्मृतिव्यक्तिषु बुद्धय उत्पद्यन्ते ताः प्रति प्रत्येकं स्मृतिव्यक्तिषु जनकत्वमस्ति ॥ ८६ ॥

नन्वेतादृशी बुद्धिः क्वचिदपि नास्त्यत एवानुभूतौ तादृशबुद्धिजनकत्वं निषिध्यते इति शङ्कते—अथेति। अत्यन्तासत्यास्तादृशबुद्धेर्जनकत्वं स्मृतावपि नास्तीति स एव प्रसङ्ग इति परिहरति—तदेति। ननु यथाऽनुभूतौ स्मृतित्वसंसर्गज्ञानमसत् न तथा स्मृतौ, तथाच कथमत्यन्तासत्तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वं स्मृतावपीत्यत आह—यावत्य इति। स्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गबुद्धयः सत्यो भवन्तु तेनैवासतीं तादृशबुद्धिं प्रत्यजनकत्वं स्मृतौ सुलभमित्यर्थः। ननु बुद्धौ सत्त्वमसत्त्वं वा विशेषणमतन्त्रं, किन्तु सर्वाः स्मृतित्वसंसर्गोपश्लिष्टबुद्धीः प्रति जनकत्वमनुभूतौ निषेधाम इत्याह—सर्वामिति। सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या सर्वतादृशबुद्धिजनकत्वनिषेधः प्रतीयेत, सैव नास्तीत्याह—सर्वतद्व्यक्तीति। ननु सामान्यलक्षणायां त्वदनभ्युपगममात्रमतन्त्रमित्यनुशयेनाह—किंचेति। एकैकस्याः स्मृतिव्यक्तेः सतीमसतीं वा तादृशबुद्धिं सर्वां प्रति जनकत्वं न सम्भवतीति स्मृतिरपि न स्मृतिः स्यादित्याह—आद्ये द्वितीये चेति ॥ ८६ ॥

यदि अत्यन्त असत् ही स्मृतित्वसंसर्ग तथा अनुभूति सम्बद्ध हैं, ऐसी बुद्धि के प्रति अनुभूति के जनकत्वाभाव के अवधारण (निश्चय) रूप निषेध को मानें, जैसे अत्यन्त असत् शशशृङ्गादि का निषेध किया जाता है, तो स्मृति में भी वैसी अत्यन्त असत् बुद्धि की जनकता का निषेध हो सकता है, अतः अनुभूति के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। स्मृति में जितनी स्मृतित्वसंसर्गविषयक बुद्धियाँ होती हैं, उनसे अधिक (अन्य) अत्यन्त असत् वैसी बुद्धियों के प्रति जनकता का निषेध स्मृति में भी सम्भव है, जो वैसी बुद्धि स्मृति में नहीं होने वाली है, उसका हेतु स्मृति नहीं है। यदि कहा जाय कि स्मृतित्वसंसर्ग एवं अनुभूतिसम्बन्धविषयक सब बुद्धियों के प्रति अजनकत्व अनुभूति का लक्षण है, वह अनुभूति में है, परन्तु स्मृतित्वसंसर्ग तथा स्मृतिसम्बन्धविषयक सब बुद्धियों के प्रति अजनकत्व स्मृति को नहीं है, जायमान वैसी बुद्धि के प्रति जनकत्व तो है ही, संभावित

के प्रति नहीं। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सब तादृशबुद्धिव्यक्ति का ज्ञान असम्भव है। सामान्यलक्षणसम्बन्ध का खण्डन किया गया है। अतः अयोगी को सब बुद्धिव्यक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि आप भले ही सामान्यलक्षणा का खण्डन करें परन्तु व्याप्तिज्ञानादि के लिये वह अवश्य मन्तव्य है। अतः कहा जाता है कि 'किञ्च सर्वामितिकोऽर्थः।' अर्थात् सब के प्रति अजनकत्व इसका विवक्षितार्थ क्या है ? क्या सब असत् (भ्रम) तादृशबुद्धि के प्रति अजनकत्व विवक्षित है ? या सत् (प्रमा) तादृशबुद्धि के प्रति ? या सत् असत् (यथार्थायथार्थ) दोनों के प्रति अजनकत्व विवक्षित है ? यहाँ प्रथम और द्वितीय पक्ष में स्मृति में भी सब भ्रम या प्रमा तादृशबुद्धि के प्रति अजनकत्व है ही, क्योंकि स्मृतित्वसंसर्ग और स्मृति सम्बन्ध वाले हैं, ऐसी जितनी भ्रम या प्रमा बुद्धियां होती हैं, उन सब के प्रत्येक स्मृति बुद्धिविषयरूप से कारण नहीं होती है, क्योंकि चैत्र की तादृशबुद्धि के प्रति चैत्र की स्मृति कारण हो सकती है, मैत्र की बुद्धि के प्रति नहीं। अतः स्मृतिव्यक्तिविषयक जितनी तादृश बुद्धियाँ होती हैं, उन सब के प्रति प्रत्येक स्मृतियों में अजनकत्व रहता ही है जिससे स्मृति भी स्मृति नहीं कही जायगी ॥ ८६ ॥

शंका होती है कि एक-एक स्मृति व्यक्ति को सब तादृश भ्रम या प्रमा बुद्धि के प्रति हेतुत्व नहीं होने पर भी किसी तादृश बुद्धि के प्रति हेतुत्व स्मृति को है ही। और अनुभूति को किसी भी तादृश प्रमाबुद्धि के प्रति जनकत्व नहीं है अतः तादृशबुद्ध्यजनकत्व अनुभूति प्रमा का लक्षण सिद्ध हो जाता है, तो कहते हैं कि—

काञ्चित्सतीं प्रति च तदजनकत्वं प्रागेव दूषितं, तृतीये च नानुभूतावपि तदजनकत्वं, सत्यासत्यतादृशबुद्धेर्भावेनाभावेन च सतीमसतीं प्रत्यजनकत्वस्यासम्भवादिति। स्यादेतत्, स्मृतित्वस्यान्योन्याभावमादाय याऽतिप्रसक्तिर्दर्शिता सा नोपपद्यते, भेदाभेदवादिमते स्मृतित्वभेदाभेदस्य स्मृत्या सहाऽभ्युपगमात्, ययोर्भेदाभेदस्तत्रान्योन्याभावानभ्युपगमात्। न॥

नन्वेकैकस्याः स्मृतिव्यक्तेः सर्वां प्रति जनकत्वं मास्तु काञ्चिन्मतिं सतीं प्रति तु तदस्तीत्यत आह—काञ्चिदिति। अनुभूतौ यथार्थतादृशबुद्धिसिद्धौ स्मृतित्वापत्तिदोषस्य प्रागभिधानादित्यर्थः। तृतीये इति। जनकत्वनिरूपकतादृशबुद्धेः सत्त्वे क्वानुभूतौ तदजनकत्वम् ? असत्त्वे च निरूपकाप्रसिद्ध्या तदजनकत्वमशक्यग्रहमित्यर्थः। प्रत्येकमजनकत्वमादाय स्मृतौ प्रसङ्गे सत्येव दोषान्तरमेतत्। यद्यपि स्मृतित्वसंसर्गानुभूती न सम्बद्धे, इत्येवं प्रतीयमानाभावप्रतियोगिनः सम्बन्धस्य निषेधोऽनुभूतौ, नतु स्मृतावपीत्यनुभवसिद्धमेतत्, स च सम्बन्धः स्वरूपं वा सम्बन्धान्तरं वेत्यन्यदेतत्; किंच स्मृतित्वं स्मृतौ, स्मृतित्वसमवायः स्मृतौ, स्मृतित्वसंसर्गः स्मृतावित्यादिप्रतीतिविषयीक्रियमाणः स्मृतित्वसंसर्गोऽनुभूतौ निषिध्यतेः; यद्वा, स्मृतिस्मृतित्वसंसर्गस्वरूपं नानुभव इति निषेधः सम्भवत्येव, तथापि विचार्यमाणमिदमपि हस्तसमावरणमेवेति भावः। भट्टमतेनोपपत्तिं शङ्कते—स्यादेतदिति। स्मृतित्वरहितत्वमित्यत्र स्मृतित्वाभाववत्त्वं विवक्षितं, तच्च स्मृतित्वान्योन्याभाववत्यां स्मृतावपि गतम्—इति यदुक्तं तन्नोपपद्यते, यतः स्मृतित्वस्य स्मृत्यभिन्नतया तदन्योन्याभावस्य तत्राभावादिति शङ्कार्थः॥ ८७ ॥

किसी भी सती (यथार्थ) तादृशबुद्धि के प्रति प्रमा बुद्धि (अनुभूति) में अजनकत्व

को तो पहले ही दूषित (खण्डित) किया गया है कि यदि स्मृति में यथार्थ तादृश बुद्धि होती हो, तो उसका जनक होने से उसे स्मृतित्व की प्राप्ति होगी, यदि नहीं होती हो, तो प्रतियोगी की प्रसिद्धि बिना निषेध नहीं हो सकता। और सती तथा असती दोनों के प्रति अजनकत्वरूप तृतीय पक्ष में अनुभूति में भी उक्त बुद्धि के अजनकत्व की सिद्धि नहीं कही जा सकती, क्योंकि सत्य या असत्य तादृशबुद्धि (स्मृतित्वस्मृती-सम्बद्धे,) के प्रत्यभिज्ञा में अंशतः रहने से और अन्यत्र अनुभूति में नहीं रहने से उस सत्य या असत्य के प्रति अनुभव में अजनकत्व का असम्भव है। सत्य के प्रति जनकत्व से अजनकत्व का असम्भव है। असत् की अप्रसिद्धि से उसके प्रति जनकता के निषेध का असम्भव है (स्मृतित्वानुभूती सम्बन्धे) यह बुद्धि प्रत्यभिज्ञा में सत्य हो सकती है, अन्यानुभूति में नहीं, किन्तु असत्य बुद्धि अन्यत्र भी हो सकती है, उसके जनकत्व का भी अनुभव में निषेध नहीं हो सकता। फिर शंका होती है कि स्मृतित्व के अन्योन्याभाव (अन्यन्त भेद) को स्मृति में भी मान कर स्मृति में अनुभव-लक्षण की अतिव्याप्ति कही गई है, परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि धर्म का धर्मी के साथ न्याय के अनुसार समवाय सम्बन्ध मानने पर उक्त रीति से स्मृतित्व का स्मृति में अन्यन्त भेद माना जा सकता है। भट्टमत के अनुसार धर्म का धर्मी के साथ तादात्म्य (भेदाभेद) सम्बन्ध मानने पर स्मृतित्व के अत्यन्त भेद के स्मृति में अभाव से अति-व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भेदाभेदवादियों के मत में स्मृतित्व के भेदाभेद को स्मृति में माना जाता है, और जिन का भेदाभेद रहता है उन दोनों का वहाँ अन्योन्याभाव (अत्यन्त भेद) नहीं माना जाता ॥ ८७ ॥

परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृति के समान अनुभूति का भी स्मृतित्व धर्म क्यों नहीं है, जिससे वहाँ स्मृतित्व का भेदाभेद नहीं मान कर केवल भेद मना जाय इस आशय से कहते हैं कि—

कथं ह्यवधार्यं स्मृतितित्वस्य भेदाभेदः स्मृत्या, नानुभूत्या—इति। अनुभूत्या सह तद्विशिष्टप्रमाया अभावाद्—इति चेन्न, किं सत्या वा? किमसत्या वा इत्याद्युक्तविकल्पदोषात्। प्रागभावप्रतियोगिन्याः? इति चेन्न, अनुभूतौ तादृश्याः स्वीकारेणानुभूतेस्तथात्वापातात्। स्मृतिस्मृतित्वयोरन्योन्याभावाभावाश्चान्योन्यात्माऽनुभूतावपि तुल्यः, नहि स्मृतित्वान्योन्याभावोऽनुभूतिः, इत्युक्तमावर्तते ॥ ८८ ॥

स्मृतेरिवानुभूतेरपि धर्मः स्मृतित्वं कुतो न भवति? तथाचानुभूत्यभिन्नमपि स्मृतित्वमिति व्याप्यवृत्तेस्तदन्योन्याभावस्य तत्राप्यभावादिति परिहारमाह—कथं हीति। अनुभूतौ स्मृतित्वरहितत्वस्योपपादयितुमशक्यत्वादिति भावः। नन्वनुभूतिमादाय स्मृतित्वविशिष्टप्रमा नास्तीति न स्मृतित्वमनुभूतेरपि धर्म इति न भेदाऽभेद इति शङ्कामाह—अनुभूत्येति। स्मृतित्वानुभूत्योर्वैशिष्ट्यप्रमा यदि सती निषिध्यते तदा तत्सिद्धावनुभूतौ स्मृतित्वं सिद्धम्, अथासती निषिध्यते तदा स्मृतावपि न स्मृतित्ववैशिष्ट्यं, तत्राप्यसत्याः प्रमाया अभावात्–इति परिहारमाह—किं सत्या इति। ननु सत्यसती वा प्रमेति न ब्रूमः, किन्त्वनुभूतिस्मृतित्वयोर्वैशिष्ट्यप्रमा प्रागभावप्रतियोगिनी नास्ति यथा स्मृतिस्मृतित्वयोरिति शङ्कामाह—प्रागभावेति। प्रागभावप्रतियोगिनी या तादृशी प्रमा सा नास्तीति

यद्यर्थस्तदा प्रागभावप्रतियोगित्वं तादृशप्रमायाः सिद्धमेवेति तदुत्पाद आवश्यक इति सिद्धमनुभूतौ स्मृतित्ववैशिष्ट्यम्, अथ तादृशी प्रमा प्रागभावप्रतियोगिनी न भवतीत्यर्थः तथापि प्रमायाः सिद्धावनुभूतौ स्मृतित्वं सिद्धमेवेतिपरिहारमाह—अनुभूताविति। दूषणान्तरमाह—स्मृतीति। स्मृतिस्मृतित्वयोरन्योन्याभावविरहो भेदाभेदवादे यथाऽभ्युपगम्यते तथाऽनुभूतावपि स्मृतित्वान्योन्याभावविरहोऽस्त्येव, स्मृतित्वान्योन्याभावविरहो हि तदन्योन्याभावान्योन्याभावरूपः, सोनुभूतावपि समानः, नहि स्मृतित्वान्योन्याभाव एवानुभूतिरित्यर्थः। उक्तमिति। यथा स्मृतित्वराहित्यं तदन्योन्याभाव इत्युक्तं तथा स्मृतित्वान्योन्याभावराहित्यमपि तथैव वक्तव्यमन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदस्य त्वयाऽव्याप्यनुपपादनादित्यर्थः॥ ८८॥

यह कैसे अवधारण (निश्चय) किया जा सकता है कि स्मृतित्व का स्मृति के साथ ही भेदाभेद है, अन्योन्याभाव नहीं और अनुभूति के साथ भेदाभेद नहीं है, किन्तु अन्योन्याभाव। यदि कहा जाय कि अनुभूति के साथ उस स्मृतित्वविशिष्ट (स्मृतित्वयुक्ता) अनुभूति ऐसी प्रमा नहीं होती है, अतः समझा जाता है कि स्मृतित्व का भेदाभेद अनुभूति के साथ नहीं है, किन्तु अन्योन्याभाव है। तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि (स्मृतित्व युक्ता अनुभूतिः) ऐसी सती (सत्य-विद्यमान) प्रमा का या असती (अविद्यमान) का आप अभाव कहते हैं? इस प्रकार पूछने पर यदि प्रत्यभिज्ञा में विद्यमान (सत्य) प्रमा का अभाव कहें तो यह कहना असंगत है क्योंकि स्मृति—विशिष्ट अनुभूति सिद्ध हो जाती है तथा उसके प्रमा के करण से वह प्रमा सिद्ध होती है। अतः उसका निषेध नहीं हो सकता। यदि असत् का निषेध करें, तो स्मृति में भी असत् विशिष्ट प्रमा के अभाव होने से उस में अनुभूति की प्राप्ति होगी इत्यादि पूर्वोक्त विकल्प (दोष) की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि (स्मृतित्वयुक्ता अनुभूतिः) ऐसी सती या असती प्रमा का अनुभूति में निषेध नहीं किया जाता, किन्तु (अनुभूतिः स्मृतित्वयुक्ता) ऐसी प्रमा में प्रागभाव के प्रतियोगित्व का निषेध किया जाता है, क्योंकि जिसका प्रागभाव रहता है वह कभी उत्पन्न होता है, जैसे (स्मृतिः स्मृतित्वयुक्ता) ऐसी प्रमा होती हैं, और (अनुभूतिः स्मृतित्वयुक्ता) ऐसी प्रमा कभी नहीं होती, अतः प्रागभाव—प्रतियोगी वैसी प्रमा का अभाव कहा जाता है। इसीसे अनुभूति में स्मृतित्व युक्ताबुद्धि प्रमा नहीं होती है और प्रागभाव के बल से स्मृति में स्मृतित्व युक्ताबुद्धि प्रमा होती है। परन्तु यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञारूप अनुभूति में (अनुभूतिः स्मृतित्व विशिष्टा) ऐसी प्रमा की प्रागभाव की प्रतियोगिता को मानने पर कभी वैसी प्रमा अवश्य होगी, क्योंकि 'जिसका प्रागभाव रहता है वह अवश्य होता है' यह आप मानते हैं। यदि ऐसी बात है तो अन्यानुभूति को भी स्मृतित्व की प्राप्ति होगी और यदि उक्त वाक्य का यह भाव हो कि प्रागभाव का प्रतियोगी (अनुभूतिः स्मृतित्वविशिष्टा) ऐसी प्रमा नहीं होती है, तो उक्त प्रमा के प्रागभाव के प्रतियोगित्व का ही निषेध सिद्ध होगा प्रमा का नहीं। अतः उक्त प्रमा से अनुभूति में स्मृतित्व की प्राप्ति होगी ही। और जो यह कहा था कि स्मृतित्व का स्मृति में अन्योन्याऽभाव नहीं है किन्तु भेदाभेद है, वहाँ कहा जाता है कि अनवस्था आदि के भय से अभावाभाव को प्रतियोगी स्वरूप माना जाता है। अतः स्मृति और स्मृतित्व के अन्योन्याभावाभाव जैसे अन्योन्य (स्मृति एवं स्मृतित्व) स्वरूप

होते हैं, वैसे ही स्मृतित्व तथा अनुभूति के अन्योन्याभावाव अन्योन्य स्वरूप हैं, क्योंकि स्मृतित्व का अन्योन्याभावरूप ही स्मृति नहीं है। इसलिए स्मृति में जैसे स्मृतित्व का भेदाभेद माना जाता है, वैसे, अनुभूति में भी भेदाभेद भी माना जा सकता है, जिससे अनुभूति में स्मृतित्व की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि स्मृतित्वादि धर्म का जहाँ समवाय सम्बन्ध न्यायमत से माना जाता है, वहाँ ही भट्ट मत से भेद सहिष्णु अभेद (तादात्म्य = भेदाभेद) माना जाता है, अतः स्मृति का स्मृति में भेदाभेद रहता है, अनुभूति में नहीं, क्योंकि स्मृति में समवाय सम्बन्ध से स्मृतित्व रहता है। अतः स्मृतित्व के भेद के स्मृति में रहने पर भी स्मृतित्व के संसर्गाभाव का अभाव रहता है, और अनुभूति में स्मृतित्व का संसर्गाभाव रहता है इसका उत्तर यह है कि स्मृतित्व एवं अनुभूतित्व के संसर्ग (समवाय) के एक-एक होने से, तथा स्मृतित्व एवं अनुभूतित्वप्रतियोगिनिरूपितत्व मूलक भेद के अकिञ्चित्कर होने से और संसर्गाभाव अन्योन्याभाव के भेद के अभी अनिरूपित होने से, जैसे स्मृति में स्मृतित्व के भेदाभेद के रहने से अन्योभाव का अत्यन्ताभाव माना जाता है, वैसे अनुभूति में माना जा सकता है इत्यादि उक्त की ही आवृत्ति समझना चाहिये ॥ ८८ ॥

अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव में भेद का खण्डन—

अथ मा भूद् भेदाभेदमादाय परिहारस्तथापि 'इदं तन्न भवति' 'इह तन्नास्तीति प्रतीतिसाक्षिक एवान्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदः—इति चेन्न, प्रतियोगिरूपोपाध्यवैचित्र्यादभावे जात्यादिभेदानभ्युपगमाच्चानयोर्भेदबुद्धिरेव प्रामाण्यमनश्नुवाना कूटसाक्षिणीति तदनादरणात्। नच स्वप्रतियोगिसमानकालसमानाधिकरणोऽभावोऽन्योन्याभावः, तदन्योन्याभाववाँश्च तदभावः संसर्गाभावः, यथासंभवमात्माश्रयाद्यऽननुभव-स्वभेदाऽननुगम-तत्तदवगमानभ्युपगमानामनुत्तरणीयत्वप्रसङ्गात् ॥ ८९ ॥

अन्योन्याभावसंसर्गाभावयोः प्रतीतिवैलक्षण्याद् वैलक्षण्यमिति शङ्कते—अथेति। प्रतियोगीति। प्रतियोगिभेद, उपाध्यन्तरभेदो, जातिभेदो वा, यदि अत्येतव्यभेदको नास्ति तदा प्रतीतिवैलक्षण्यमतन्त्रमित्यर्थः। प्रतीतिवैलक्षण्यबलादायातमुपाधिवैलक्षण्यमाशङ्क्य निराकरोति—नचेति। प्रागभावप्रध्वंसाभावाभ्यामतिव्याप्तिवारणायाह—समानकालेति। अत्यन्ताभावेऽतिव्याप्तिवारणायोक्तं—समानाधिकरणेति, आकाशाद्यन्योन्याभावोपग्रहश्च यथाकथञ्चित्तदधिकरणविवक्षया, बदरसंयोगस्य स्वप्रतियोगिना बदरेण कुण्डे सामानाधिकरण्यमत उक्तम्—अभाव इति, प्रतियोगिपदस्य निरूपकपरत्वात्; स्वाभावविरहात्मपरतायान्त्वभावपदमतिरिच्यते, यत्किञ्चित्प्रतियोगिसमानकालसमानदेशत्वमत्यन्ताभावस्यापीत्यत उक्तं—स्वेति। तदन्योन्याभाववानिति। तद्भिन्न इत्यर्थः। यथासम्भवमिति। अभावत्वं हि भावभिन्नत्वं, तच्च भावान्योन्याभाववत्त्वमित्यन्योन्याभावेनैवान्योन्याभावनिरूपणादात्माश्रयः; अथाभावत्वं भावत्वात्यन्ताऽभाववत्त्वं, तदाऽत्यन्ताभावस्य संसर्गाभावत्वात् तस्य चान्योन्याभावाभाववत्त्वेन त्वयाऽभिधानादन्योन्याभावनिरूप्यः संसर्गाभावस्तन्निरूप्यश्च पुनरन्योन्याभावः—इत्यन्योन्याश्रयः; अथाभावत्वं, भावभिन्नत्वं तच्च भाववैधर्म्यं, तच्च तदन्यवृत्तिधर्मात्यन्ताभाववत्त्वं, तदन्यत्वं च तदन्योन्याभाववत्त्वमिति स्वापेक्षाऽपेक्षित्वेन चक्रकम्; अथाभावत्वं भावविरोधित्वं, विरोधित्वं च धर्मो धर्मिभिन्नः,

स च येन भेदेन भिन्नः सोऽन्योन्याभावो वाच्यः, स यदि स्ववृत्तिस्तदात्माश्रयोऽन्योन्यवृत्तिस्तदान्योन्याश्रयोऽपरापराभ्युपगमे चानवस्था; यद्वा अन्योन्याभावस्यान्योन्याभावोस्ति ? न वा ? आद्ये, स यदि स्वरूपमेव, तदा स्वनिरूप्यत्वादात्माश्रयः अथापरस्तदा तस्याप्यन्योन्याभावो यदि पूर्व एव, तदान्योन्यनिरूप्यत्वेऽन्योन्याश्रयः; अथ प्रथमान्योन्याभावादन्य एव द्वितीयान्योन्याभावस्तदा तस्यापि यदि प्रथम एव, तदा चक्रकं; यदि प्रथमादन्यः, तदा पञ्चषष्ठाद्यभ्युपगमे यदि परावृत्तिस्तदा चक्रकम्; अपरावृत्तौ, चानवस्था; तदुक्तरान्योन्याभावाननुभवश्च; स्वप्रतियोगीत्यत्र स्वपदेन विशिष्य तत्तदन्योन्याभावाभिधानेऽननुगमः; तस्य तस्याऽन्योन्याभावस्याऽसर्वज्ञेनावगमो नाभ्युपगम्यते इत्यर्थः। यदा स्वशब्देनान्योन्वाभावाभिधानं तदा तेनैव तन्निरूपणे आत्माश्रयः; प्रतियोगिपदेन च यद्यन्योन्याभावविरोध्यभिधीयते तदात्माश्रयः—इत्याद्युन्नेयम्। यद्यपि प्रतीतिवैलक्षण्यं प्रत्येतव्यवैलक्षण्याऽविनाभूतं, तदेव चात्रोद्देश्यं, विशिष्य वैलक्षण्यानभिधानेपि न किञ्चिदनिष्टं, नहीक्षुक्षीरगुडादिमाधुर्याणां विशिष्यानभिधानमात्रेण निवृत्तिः। किञ्च, प्रतीतिविशेष एव लक्षणमुभयोः संभवति, संभवति च तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वं संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वमुभयोः प्रत्येकं वैचित्र्ये प्रतीतिवैचित्र्याहतं, तथापि हस्तसमावरणमेतत्, संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्—इत्यस्यापि मयोपप्लावनीयत्वात्; तथा च वक्ष्यते—नाऽस्त्यापत्त्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः—इत्यादीति भावः॥ ८९॥

शंका होती है कि उक्त रीति से स्मृतित्व के स्मृति में भेदाभेद को ग्रहण करके, अन्योन्याभाव (अत्यन्तभेद) को नहीं मान कर भी यद्यपि दोष का परिहार नहीं होता है, क्योंकि अनुभूति में भी स्मृतित्व के भेदाभेद की प्राप्ति से उस अनुभूति में भी स्मृतित्व के अन्योन्याभाव को नहीं मानने से स्मृतिभिन्न अनुभूतित्व प्रमा का लक्षण नहीं सिद्ध हो सकता, तथा स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) का अभाव स्मृति में नहीं हो, और अनुभूति में हो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव का अभी भेद निरूपित नहीं हुआ है, और स्मृतित्व का भेद (अन्योन्याभाव) स्मृति एवं अनुभूति में तुल्य ही रहता है। अतः स्मृतित्वरहितत्व अनुभूति मे नहीं हो सकता। तथापि प्रतीति की विलक्षणता से अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव का भेद सिद्ध होता है, क्योंकि इदं (यह घटरूप वस्तु) तत् (भूतल) न (नहीं) है इस प्रकार अन्योन्याभाव की प्रतीति होती है और 'इह (भूतल में) तत् (घट) नहीं है, इस प्रकार संसर्गाभाव की प्रतीति होती है। लक्षण में संसर्गाभाव के स्वीकार करने से स्मृतित्व के भेद के स्मृति मे रहने पर भी ससर्गाभाव के नहीं रहने से अनुभूति में स्मृतित्व के भेद तथा संसर्गाभाव (स्मृतित्व के अत्यन्ताऽभाव) दोनों के रहने से स्मृतित्वविशिष्ट स्मृति से भिन्नत्व अनुभूति में सिद्ध हो जाता है, जिससे प्रमा लक्षणगत दोष (स्मृति में प्रमात्व की प्राप्ति) का परिहार हो जाता है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी के भेद से या जाति तथा उपाधि आदिरूप धर्म के भेद से संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव का भेद हो सकता था परन्तु यह माना नहीं जाता है, एक घट का ही पृथिवी में भेद, और समवायादि सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव माना जाता है तथा जाति आदि के भेद को अभाव में नहीं माना जाता है। अतः उपाधि आदि के भेदादि के बिना उनमें सत्य भेद की असिद्धि से उनमें विलक्षण (भेद) बुद्धि ही प्रमाणता को प्राप्त नहीं

करती हुई (कूट साक्षिणी) मिथ्याबुद्धिरूप सिद्ध होती है। अतः वह विलक्षणबुद्धि संसर्गाभावान्योन्याभाव के भेद की सिद्धि के लिए आदरणीय नहीं होती है। यदि प्रतीति की विलक्षणता से उपाधि (लक्षण) की विलक्षणता मानी जाय कि प्रतियोगी के समान (एक) काल और समान अधिकरण (देश) वृत्ति अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। क्योंकि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव प्रतियोगी से पूर्व एवं परकाल में रहता है और अत्यन्ताभाव प्रतियोगी के अधिकरण से अन्याधिकरण में रहता है। अतः उनसे भी अन्योन्याभाव सिद्ध होता है और (तदन्योन्याभाववान्) उस अन्योन्याभाव से भिन्न (तदभावः) घटादि प्रतियोगी का अभाव संसर्गाभाव होता है। अतः दोनों अभावों के भेद की सिद्धि से उनमें भेद बुद्धि भी प्रमा होती है।

परन्तु यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त लक्षण के अनुसार यथासम्भव आत्माश्रयादि दोष की प्राप्ति होती है। ये दोष इस प्रकार होते हैं (प्रतियोगिसमान देशकालवृत्ति अभाव अन्योन्याभाव होता है इस अन्योन्याभव के लक्षणगत अभावपद का यदि भावभिन्न अर्थ हो तो अन्योन्याभाव के लक्षण में अन्योन्याभाव के प्रवेश से आत्माश्रय होता है। अभाव पद का भाव का अत्यन्ताभाव अर्थ हो तो अन्योन्याभाव के लक्षण में अत्यन्ताभावरूप संसर्गाभाव के निवेश से तथा उक्तरीति से संसर्गाभाव के लक्षण में अन्योन्याभाब के निवेश से अन्योन्याभाव की प्राप्ति होगी। यदि भावभिन्नत्व-रूप अभावत्व का वैधर्म्य भाव में और उसका अभाव फिर भावरूप मानें तो चक्रक होगा। और यदि अभाव के अन्य-अन्य अभावों को मानें तो अनवस्था होगी और (स्वप्रतियोगी) यहाँ स्वपद से विशेषरूपसे तदन्योन्याभाव के कथन करने पर अनन्त अन्योन्याभाव के ज्ञान के बिना उनके प्रतियोगित्व का भी ज्ञान नहीं होगा और अनन्त स्वशब्दार्थरूप भेद का किसी धर्म के बिना अननुगम = एक स्वरूप से बोध नहीं होगा। इस प्रकार तत्तत् भेद के अज्ञान को भी मानना ही पड़ेगा। एवं सर्वथा अज्ञान की सत्ता से प्रमाणाभावरूप दोष का उद्धार नहीं हो सकेगा। अतः ये अभाव के भेद के लक्षण युक्त नहीं हैं॥ ८९॥

फिर लक्षणान्तर के द्वारा संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के भेद की शंका करके खण्डन किया गया है। यहाँ शंका होती है कि—

ननु 'संसर्गप्रतियोगिको निषेधः संसर्गाभावः, तादात्म्यप्रतियोगिकश्च तादात्म्याभावः—इत्युक्ते एव भिन्नता तयोः, यो हि संसर्गतादात्म्यस्य निषेधः स संसर्गनिषेध एव न भवति, तादात्म्यप्रतियोगिकत्वात्—इति मैवम् , द्रव्यगुणकर्मणां समवायिकारणेषु हि तेषां प्रध्वंसाः नैवं संसर्गाभावाः स्युः, संसर्गप्रतियोगित्वे तु संसर्गस्य समवायस्वरूपतया समवायाऽनित्यत्वप्रसङ्गात्। किंच, तर्हि संसर्गान्योन्याभावौ द्वावपि न घटादिप्रतियोगिकाविति घटादेः कालादिवन्निरवधित्वापातः, संसर्गतादात्म्ययोश्चाविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदः स्यात्। एवं यद्यदेव प्रतियोगि वाच्यं तत्तत्स्वरूपत एव न स्यात्॥ ९०॥

उक्तिसम्भवमात्रेण शङ्कते—नन्विति। उक्ते एवेति। उक्ते सत्येवेत्यर्थः। मिश्रता= एकत्वम्। यो हीति। स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय स्मृतौ यः प्रसङ्गः कृतः स तदा भवेद् यदि स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावः संसर्गाभावो भवेदपितु तादात्म्याभाव एवासौ, स्मृतित्वसंसर्गतादात्म्यप्रतियोगित्वादित्यर्थः। यदि संसर्गप्रतियोगिकोऽभावः संसर्गाभावः स्यात्तदा द्रव्यादीनां समवायिकारणगतौ ध्वंसप्रागभावौ संसर्गाभावौ न स्यातामित्याह—द्रव्येति। यद्यपि समवायनित्यत्वेपि रूपादिनिरूपितत्वावच्छिन्नस्य समवायस्यानित्यत्वमेव, विशिष्टस्यान्यत्वात्; तथाच रूपसमवायो ध्वंसते एव, अत एव वायौ स्पर्शसमवाये सत्यपि रूपसमवायो नास्तीति, तथापि नित्यमपि विशेषणान्तरावच्छिन्नं ध्वंसते इत्यनुपपन्नमेवेति भावः। यदि च संसर्गप्रतियोगिक एवाभावः संसर्गाभावस्तदा घटादयो नाभावप्रतियोगिन इति देशभेदेन तेषामनिषेधे वैभवं, कालभेदेन तेषामनिषेधे नित्यत्वमपि, इति पदार्थवैचित्र्यं साधु त्वया व्युत्पादितमित्याह—किंचेति। दोषान्तरमाह—संसर्गेति। घटादीनां प्रतियोगिकोटावप्रवेशे संसर्गमात्रं तादात्म्यमात्रं च निषिध्येतेति ते क्वचिदपि देशे काले वा न स्यातामित्यर्थः। घटादीनामपि स्वरूपेण प्रतियोगित्वे समानमिदं दूषणमित्याह—एवमिति॥ ९०॥

संसर्गरूप प्रतियोगी वाला अभाव (निषेध) संसर्गाभाव कहा जाता है और तादात्म्य (अभेद) रूप प्रतियोगी वाला अभाव तादात्म्याभाव (भेद = अन्योन्याभाव) कहा जाता है, ऐसा कहने ही पर संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव की मिश्रिता (एकता) नहीं प्राप्त होती है। इस प्रकार स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) के अन्योन्याभाव को स्मृति में मान कर जो स्मृति में दोष (स्मृतित्वाभाव) कहा गया है वह दोष भी नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि जो स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) के तादात्म्य का निषेधरूप संसर्ग का अन्योन्याभाव होता है वह संसर्ग का निषेध (अन्योन्याभावरूप) ही नहीं होता है। क्योंकि उस निषेध का तादात्म्य प्रतियोगी रहता है, अतः स्मृतित्वसंसर्ग के तादात्म्य के स्मृति में अभाव होने पर भी स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) के स्मृति में रहने से स्मृतित्वाभाववाली स्मृति से भिन्नानुभूतित्वरूप प्रमा का लक्षण सिद्ध होता है परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त रीति से अनित्य द्रव्य-गुण और कर्म (क्रिया) के जो अपने-अपने समवायिकारणों में ध्वस होते हैं वे संसर्गाभाव नहीं होंगे, क्योंकि उनके समवाय सम्बन्ध के नित्य होने से संसर्ग निषेध का प्रतियोगी नहीं हो सकता, किन्तु अनित्य द्रव्यादि ही निषेध (अभाव) में प्रतियोगी हो सकते हैं। प्रतियोगि-विशेषित रूप से भी वस्तुतः समवाय में अनित्यता न्यायमत में नहीं हो सकती है। अतः समवाय अभाव का प्रतियोगी नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि समवाय के प्रतियोगी होने पर उसमें अनित्यत्व की प्राप्ति होगी, परन्तु न्यायमत में यह अनिष्ट है। संसर्ग तथा तादात्म्य के ही अभाव के प्रतियोगी होने पर घटादि निषेध के प्रतियोगी नहीं होंगे। इस स्थिति में किसी देश या काल में उनके निषेध (अभाव) के नहीं होने से उनमें विभुत्व और नित्यत्व की प्राप्ति होगी। जैसे कालादि विभु एवं नित्य पदार्थ हैं, उनका किसी देश तथा काल में निषेध नहीं होता, अतः वे निरवधि हैं, वैसे घटादि को भी निरवधित्व की प्राप्ति होगी। घटादि से अविशेषित = केवल संसर्ग तथा तादात्म्य के सामान्यरूप से निषेध करने पर, सामान्यरूप से उन संसर्ग तथा तादात्म्य दोनों का उच्छेद (अभाव) सिद्ध होगा। इसी प्रकार जिस-जिस पदार्थ का सामान्यरूप से निषेध किया जायगा,

उसके उच्छेद (सब देश तथा काल में अभाव) की प्राप्ति होगी। अतः संसर्ग तादात्म्यादि का सामान्यरूप से निषेध नहीं हो सकता, किन्तु घटादिविशेषितरूप से निषेध हो सकता है। घटादिविशेषितरूप से संसर्ग के निषेध होने पर घटादि ही निषेध के प्रतियोगी होंगे। इसी प्रकार स्मृतित्वसंसर्गविशेषित तादात्म्य के निषेध का संसर्ग प्रतियोगी होगा ॥ ९० ॥

संसर्ग या तादात्म्य के स्वरूप का निषेध नहीं किया जाता है (सामान्य रूप से उनका अभाव नहीं कहा जाता है) जिससे उनके स्वरूप के उच्छेद की प्राप्ति हो, किन्तु उनके (संसर्ग और तादात्म्य के) संसर्ग का ही निषेध किया जाता है। अतः उनके स्वरूप के उच्छेद की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसी शंका का करके खण्डन किया जाता है कि-

तस्यापि संसर्ग प्रति धावने च तदक्षतं, संसर्गानवस्था, शेषोच्छेदात्पूर्वपूर्वोच्छेदो वा स्यात् ॥ ९१ ॥

ननु स्यादेव यदि संसर्गः स्वरूपत एव निषिध्येत, किन्तु संसर्गस्यापि संसर्ग एव निषिध्यते, तथाच न संसर्गस्वरूपविलोप इत्यत आह—तस्यापीति। यथा घटस्य संसर्गो निषिध्यते इति घटस्वरूपं देशतः कालतश्चाक्षतं तथा संसर्गस्य संसर्गे निषिद्धे प्रथमसंसर्गस्वरूपमक्षतं स्यात्, तथाच घटवत् तत्संसर्गोपि निरवधिः स्यादित्यर्थः। दोषान्तरमाह—संसर्गानवस्थेति। पूर्वपूर्वसंसर्गनिषेधार्थमुत्तरोत्तरसंसर्गापेक्षणे संसर्गानवस्था स्यादित्यर्थः। अथ क्वचिद्गत्वा संसर्ग एव निषेध्यो नतु तस्यापि संसर्गान्तरमिति नानवस्था, तदा यः संसर्गो निषेध्यः स स्वरूपत एव न स्यात्तन्निषेधे च तत्पूर्वः, एवं तत्पूर्वः, संसर्गो न भवेदिति पुनरपि संसर्गमात्रविलोप इत्याह—शेषेति। यद्यपि संसृष्टो घटो यत्र निषिद्ध्यते स संसर्गाभावः, संसृष्टनिषेधश्च घटतत्संसर्गयोर्निषेधः, तथाच घटसंसर्गनिषेधनान्तरीयको घटनिषेधः संसर्गाभावः, तदनान्तरीयकघटनिषेधोऽन्योन्याभावः—इति वैषम्यं, तथापि संसर्गप्रतियोगिकसंसर्गाभावे संसर्गाऽऽनन्त्यापत्तिरिति भावः ॥ ९१ ॥

यदि संसर्ग और तादात्म्य के संसर्ग का अर्थात् संसर्ग के संसर्ग का और तादात्म्य के तादात्म्य का निषेध किया जाय तो वह पूर्वोक्त दोष वर्तमान ही रहता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घट संसर्ग के निषेध से घट में विभुत्वनित्यत्व प्राप्त होता है वैसे ही संसर्ग के संसर्ग का निषेध होने पर भी प्रथम संसर्ग अविनाशी सिद्ध होगा, और निरवधि घट के समान उसका संसर्ग भी निरवधि होगा। संसर्ग के संसर्गों को आगे-आगे मानने पर अनवस्था होगी। क्योंकि एक संसर्ग के निषेध के लिये दूसरे संसर्ग को मानने पर वैसे ही तत्तत् संसर्ग के निषेध के लिये संसर्गान्तर का स्वीकार करना पड़ेगा और अनवस्था के भय से दश बीस कक्षा के बाद संसर्गान्तर को नहीं मान कर संसर्ग के स्वरूप के निषेध करने पर उसके स्वरूप के उच्छेद से मूल पर्यन्त के स्वरूप का उच्छेद होगा। अन्तिम के स्वरूप के अभाव से शेष सब सम्बन्धों के रूप का अभाव प्राप्त होगा क्योंकि सब का स्वरूप से ही निषेध सिद्ध होगा। अतः उक्त शंका अयुक्त है ॥ ९१ ॥

पहले कहा गया है कि अविशेषितसंसर्ग तादात्म्य के निषेध से उनके स्वरूप के उच्छेदापत्ति होगी। परन्तु उस उच्छेद की प्राप्ति तब हो सकती है जब प्रतियोगी घटादि और अनुयोगी (उसके सम्बन्धि घटादि का अभाव) इन दोनों का परस्पर निषेध्यनिषेधकरूप से सर्वथा सब देश एवं काल में विरोध हो परन्तु ऐसी बात नहीं है। किसी

देश तथा काल में जिसका निषेध (अभाव) होता है, उसका अन्य देश एवं काल में सत्त्व रहता है। जैसे घट के देश से अन्य देश में घट के अभाव का सत्त्व रहता है तथा घट से अन्य काल में उसके प्रागभाव और ध्वंस रहते हैं, अतः घटाभाव से घट का उच्छेद नहीं होता वैसे ही तादात्म्य और संसर्ग के स्वरूप का निषेध से उच्छेद नहीं हो सकता, किन्तु अभाव और प्रतियोगी का सहानवस्थान (साथ स्थिति का अभाव) रूप विरोध है। अतः जहाँ संसर्ग या तादात्म्य का अभाव रहेगा, वहाँ संसर्ग और तादात्म्य नहीं रहेंगे, अन्यत्र तो रहेंगे ही इस आशय से शंका है कि—

अथ न प्रतियोग्यनुयोगिनोस्तथात्वं विरोधः, किन्तु सहभावाभावोऽतः तन्मात्रं न स्यात्, नतु तन्मात्रमेव न स्याद् ?, इति चेन्न, अनुयोगिनि प्रतियोग्यापत्तेः। तथाप्रमाऽभावात्कथं तथाऽऽस्ताम् ?—इति चेन्न। तथाप्रमाऽभावमूलकस्य विरोधस्य सहानवस्थानस्य नियमनभङ्गात्-प्रतियोग्यनुयोगिभावादन्यः कस्तयोर्विरोधः स्यात्। तथा न प्रमीयमाणत्वमेव सः— इति चेन्न, अतिप्रसङ्गात्। नियमेन ? इति चेन्न, जात्या नियमाभ्युपगमाद् व्यक्त्योरविरोधापत्तेः॥ ९२॥

ननु संसर्गतादात्म्ययोरविशेषितयोर्निषेधे सामान्यत एव तयोरुच्छेदस्तदा स्याद्यदि निषेधेन सह प्रतियोग्यनुयोगिभावो विरोधो भवेत्, किन्तु सहानवस्थानं विरोधः तथाच यत्र संसर्गस्य तादात्म्यस्य वाऽभावस्तत्र ते न स्यातामन्यत्र तु स्यातामेवेति शङ्कते—न प्रतियोग्यनुयोगिनोरिति। तन्मात्रमिति। सहभावमात्रमित्यर्थः। नतु तन्मात्रमिति। प्रतियोगिमात्रमित्यर्थः। यदि प्रतियोग्यनुयोगिभावो विरोधः प्रतियोगिना सहाभावस्य नेष्टस्तदाऽनुयोगिन्यभावे प्रतियोगिनो घटादेरापत्तिरित्याह—अनुयोगिनीति। यद्यपि प्रतियोग्यापत्तिर्न तदुत्पत्तिः, घटाभावे घटोत्पत्तिसामग्रीविरहात्; नापि प्रतियोगिप्रमोत्पत्तिः, अभावे प्रतियोगिमत्तया प्रमाकारणाभावात्; नापि प्रतियोगिनो वृत्तिरापत्तिः, अभावस्य संयोगसमवाययोरभावात्; अन्यथा रूपरसावविरुद्धाविति तयोरन्योऽन्यस्मिन्नुत्पत्तिस्थितिज्ञप्तयः स्युः, तथापि प्रतियोग्यनुयोगिभावो यदि न विरोधः तदा परस्परविरहरूपत्वं तयोर्न स्याद् गोत्वाश्वत्वयोरिवेति भावः। अनुयोगिनः प्रतियोगिमत्तया प्रमा नास्तीति कथमनुयोगिनि प्रतियोग्यापद्यतामित्याह—तथेति। अनुयोगिनि प्रतियोगी कदाचिन्न प्रमीयते न वा कदाचिदनुयोगिसामानाधिकरण्येन प्रतियोगी प्रमीयते तत्र सहभावप्रमाविरहः सहानवस्थाननियमलक्षणेन विरोधेनोपपाद्यतामनुयोगिवृत्तिताप्रमाविरहोपपादनार्थं तु प्रतियोग्यनुयोगिभावलक्षण एव विरोधोनुसरणीयः, सहानवस्थानलक्षणस्य तत्राकिञ्चित्करत्वात्, तस्मिन्सत्यपि तादृशप्रमायाः प्रसक्तत्वेन तन्नियमभङ्गादित्याह—तथा प्रमाऽभावेति। नहि यस्मिन्सति यदापद्यते तदभावे तन्नियामकमिति भावः। ननु प्रतियोग्यनुयोगिनोः साहित्येनाधाराधेयभावेन चाऽप्रमीयमाणत्वमेव विरोधो, नतु प्रतियोग्यनुयोगिभाव इति शङ्कते—तथा नेति। तथा न प्रमीयमाणत्वं कदाचित्पटमहारजनयोरपीति तयोरपि विरोधः स्यादित्याह—अतिप्रसङ्गादिति। ननु यज्जातीययोः कदापि तथा न प्रमीयमाणत्वं तयोर्विरोधः, पटमहारजनयोस्तु कदाचिद्विशिष्टतया प्रमीयमाणत्वमेवेति नातिप्रसङ्ग इत्याह—नियमेनेति। तर्हि ययोर्व्यक्त्योर्नित्यत्वानित्यत्वयोर्भावत्वाभावत्वयोर्वा जात्युपग्रहो नास्ति तयोर्विरोधलक्षणविरहापत्तिरित्याह—व्यक्त्योरिति। नियमो यदि देशगर्भस्तदा विरुद्धयोरपि देशव्यक्त्योर्यदि कालगर्भस्तदा व्यक्त्योरतीतत्वानागतत्वयोर्विरोधो न स्याद्देशे देशाभावात्काले कालाभावादिति वार्थः। यद्वा, जात्यवच्छेदेन विरोधोपसंहारे च जात्योरेव विरोधः स्यान्नतु व्यक्त्योरित्यर्थः॥ ९२॥

प्रतियोगी और अनुयोगी (भाव और अभाव) को स्वरूपात्मक (स्वरूपतः) विरोध नहीं है, अर्थात् निषेध्यस्वरूपत्व और निषेधकस्वरूपत्व नहीं है। किन्तु सहभावाभाव (सहानवस्थान) सहस्थिति का अभावरूप विरोध है। अतः तन्मात्र (सहभाव= सहस्थिति मात्र) भावाभाव का नहीं हो सकता, और तन्मात्रमेव (स्वरूप मात्र ही) प्रतियोगी और अभाव का निषेध्यनिषेधकभाव के कारण नहीं हो, ऐसी आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अन्यत्र विद्यमान रहने पर स्वस्थान से अन्यत्र वृत्ति अभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगी में होती है। इस प्रकार अन्यत्र वर्तमान अभाव प्रतियोगी का अनुयोगी होता है। यद्यपि (यस्य = अभावः स प्रतियोगी, यस्मिन्नभावः स अनुयोगी। यस्य सम्बन्धः स प्रतियोगी, यस्मिन् सम्बन्धः स अनुयोगी। यस्य सादृश्यं स प्रतियोगी, यस्मिन् सादृश्यं स अनुयोगी) इत्यादि परिभाषा = नियम के अनुसार अभाव के अधिकरण को अनुयोगी कहा जाता है। तथापि अभाव में अधिकरणरूपता की दृष्टि से यहाँ अभाव को अनुयोगी मान कर प्रतियोगी एवं अनुयोगी का अविरोध कहा गया है और सहभावाभावरूप विरोध कहा गया है। परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि यदि अनुयोगी तथा प्रतियोगी में विरोध नहीं हो, तो अनुयोगी (अधिकरणरूप अभाव) में प्रतियोगी की अभेदापत्ति होगी, विरोध से ही एकता नहीं होती है और प्रतियोग्यनुयोगिभावरूप विरोध के नहीं रहने पर, परस्पर अभावरूपता भी नहीं हो सकने से अभेदापत्ति होती है, और सहानवस्थान मात्र विरोध के रहने पर अनुयोगी में प्रगियोगी तथा प्रतियोगी में अनुयोगी रहेंगे जिससे यह स्थिति तो नहीं प्राप्त होगी, किन्तु घट में घटाभाव, और घटाभाव में घट, यह विरुद्धार्थ की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि प्रमाणमूलक प्रमा से पदार्थ की सिद्धि में मान्यता होती है और अनुयोगी में प्रतियोगी के वृत्तित्व या अभेद की प्रमा नहीं होती है, अतः अभेद या परस्पर आधाराधेयभाव कैसे हो सकता? अर्थात् प्राप्त नहीं होता। तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे प्रतियोगी एवं अनुयोगी के परस्पर आधाराधेयभाव के प्रमा के अभाव मूलक आधाराधेयभाव को नहीं मानते, वैसे सहस्थिति के प्रमा के अभावमूलक विरोधरूप सहानवस्थाननियमन (नियम) के भङ्ग (अभाव) से (भूतलादि में अभाव और प्रतियोगी की सहप्रमा से॰) प्रतियोग्यनुयोगिभाव से अन्य उनका विरोध ही क्या होगा? अर्थात् भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट के रहने पर भी वह समवायसम्बन्ध से अपने अवयवों में रहता है, भूतल में नहीं, अतः घट और घटाभाव की साथ स्थिति और प्रमा होती है। इसी लिए सहप्रमा के अभावमूलक सहानवस्थान का नियम नहीं हो सकता, किन्तु प्रतियोगी तथा अनुयोगी मूलक विरोध (परस्पर अभाव रूपत्व) होता है जिससे अनुयोगी (अभाव) में प्रतियोगी अभिन्न (एक) रूप से नहीं रहता। फिर यदि कहा जाय कि प्रतियोगी एवं अनुयोगी का उक्त रीति से सहानवस्थानरूप विरोध नहीं होने पर भी साथ= एक देशकाल में सहप्रतीतिविषयत्वाभाव ही विरोध है। परस्पर निषेधरूपता विरोध नहीं है। लेकिन यह कथन भी असंगत है, क्योंकि यदि कहीं सहाप्रतीयमानत्व को विरोध माना जाय तो वायु में रूप और स्पर्श के सहाप्रतीयमान होने से तेज-जल-पृथिवी में भी रूप एवं स्पर्श का परस्पर विरोध = सहानवस्थान का प्रसंग होगा। यदि नियमेन सहाऽप्रतीय-

मानत्व कहा जाय तो यद्यपि रूप एवं स्पर्श का नियम से (सर्वत्र) विरोध नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वायु में रूप तथा स्पर्श के साथ प्रतीति नहीं होने पर भी तेज-जल-भूमि में साथ प्रतीति होने से उनमें विरोध का वारण होता है, तथापि जातिद्वारा नियम के स्वीकार से व्यक्तियों में अविरोध की प्राप्ति होगी। अर्थात् अभावत्वेन भाव की और भावत्वेन अभाव की प्रमा नहीं होती। अतः अभावत्वेन तथा भावत्वेन प्रमीयमाणत्व रूप से भावाभाव के विरोध होने पर भी समवाय से घटाभाव के स्थान में घट एवं पट के प्रमीयमाण होने से अभावव्यक्ति और भावव्यक्ति का विरोध, सहाप्रतीयमानत्वरूप से नहीं हो सकता, अतः नियमेन यह कथन भी युक्त नहीं है ॥ ९२ ॥

सहस्थिति के प्रमा का अभाव विरोध का स्वरूप नहीं है, किन्तु सहप्रमा की अयोग्यता ही प्रतियोगी एवं अनुयोगी का विरोध है, इत्यादिरूप से फिर शंका होती है कि—

तथा न प्रमातुमनौपाधिकी योग्यता—इति चेत्, सैव मेयगता योग्यता-ऽनुयोगिप्रतियोगित्वादन्या का समर्थिता स्यात्। स्वरूपमेव?—इति चेन्न, मिथः संभेदाभ्युपगन्त्रापि तयोः स्वरूपोपगमात्। तथाभूतं स्वरूपम्—इति चेन्न, तस्यैव निर्वाच्यत्वापत्तेः ॥ ९३ ॥

ननु साहित्येनाधाराधेयभावेन च या प्रमा तां प्रति स्वरूपायोग्यत्वमेव भावाभावयोर्विरोध इति शङ्कते—तथा न प्रमातुमिति। अनौपाधिकीति, कादाचित्कीं सहकार्ययोग्यतां पटकुङ्कुमयोर्व्यवच्छिनत्ति। तथा प्रमातुं स्वरूपायोग्यता भावाभावयोर्नतु पटकुङ्कुमयोरिति प्रतियोग्यनुयोगिभाव एव विरोधः पर्यवसन्न इत्याह—सैवेति। प्रमातुमयोग्यता, प्रमातुं वा योग्यता, मितिमातृगता न वक्तव्या, किन्तु मेयगता, सा च नोक्तरूपादन्येति भावः। ननु भावाभावयोः स्वरूपमेव विरोधो, नतु प्रतियोग्यनुयोगिभाव इति शङ्कते—स्वरूपमिति। येनापि प्रतियोग्यनुयोगिनोः साहित्यमाधाराधेयभावो वा संभेद इष्यते तेनापि तयोः स्वरूपोपगमादित्याह—मिथ इति। यद्वा, संयोगतदभावयोः संभेदमिच्छतापि तदुभयस्वरूपोपगमात्तन्मात्रं न विरोध इत्यर्थः। तथाभूतमिति। यथाभूतयोः स्वरूपयोः संभेदाभावस्तथाभूतं स्वरूपं विरोध इत्यर्थः। किंभूतयोः स्वरूपयोः संभेदाभावः—इत्येव दुर्वचमित्याह—तस्यैवेति ॥ ९३ ॥

सहप्रमा की अनौपाधिक (स्वाभाविक) अयोग्यता विरोध है। अतः वायु में सहप्रतीति के अयोग्य रूप एवं स्पर्श का विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी अयोग्यता नित्य नहीं है, तेज आदि में उसका अभाव रहता है। परन्तु यह शंका भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह योग्यता या अयोग्यता ज्ञानगत तो हो नहीं सकती, मेयगत (विषय में) मानने पर, अनुयोगित्व एवं प्रतियोगित्व से अन्य वह क्या सिद्ध होगी? अर्थात् निषेध्यनिषेधकरूप ही विरोध सिद्ध होगा, क्योंकि भावाभाव विरोधमूलक ही अन्यत्र भी विरोध होता है। यदि कहा जाय कि भावभाव का स्वरूप ही विरोधरूप है। प्रतियोगित्व एवं अनुयोगित्वरूप = निषेध्यनिषेधकभावरूप नहीं, तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि यदि स्वरूपमात्र को विरोध कहा जाय तो जो जैनादिपदार्थमात्र को परस्पर संभिन्न (सत्त्वासत्त्वादिरूप से मिश्रित) मानते हैं, तथा जो कोई घट में

घटाभावत्व और घटत्व का संभेद (मिश्रण) मानते है, वे भी तो उनके स्वरूप को मानते हैं, परन्तु संयोग एवं संयोगाभाव, सत् एवं असत् भाव एवं अभाव के विरोध को नहीं मानते हैं। अतः उनके मतानुसार भावाभाव के स्वरूपमात्र विरोधस्वरूप नहीं हो सकता, और प्रतियोगित्व तथा अनुयोगित्वरूप से विरोध होता है। यदि कहा जाय कि सह-स्थिति से अयुक्त, सहप्रमा के अयोग्य, संभेदाभावयुक्त स्वरूप विरोधात्मक हैं, तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि वैसे स्वरूप की ही निर्वाच्यता (निर्णय) की प्राप्ति होगी और निर्णय हो नहीं सकता, क्योंकि प्रतियोगित्व से अन्य विरोध का स्वरूप असंभव है ॥ ९३ ॥

सहानवस्थान, सहाप्रतीयमानत्व और तद्योग्यत्वरूप विरोध का निषेध करके साधारण दोषों को दिखाते हुए, प्रतियोग्यनुयोगिभावविरोध को नहीं मान कर सहानवस्थानरूप विरोध पक्ष में दोष देते हैं कि—

कश्च गोत्वाश्वत्वाभ्यां भावाभावयोरेवंविधविरोधे विशेषः स्यात्? सत्यां च तयोः साहित्यप्रमायां प्रकारभेदेन व्यवस्थापना किमिति कार्या? प्रमयैवाप्रमानुपगमादिति ॥ ९४ ॥

यदि सहानवस्थानमेव विरोधो ननु प्रतियोग्यनुयोगिभावस्तदाह—कश्चेति। यदि च तथा न प्रमीयमाणत्वमेव विरोधस्तदा संयोगतदभावयोरवच्छेदभेदव्युत्पादनमफलं, तथा प्रमीयमाणत्वेनैव तथा न प्रमीयमाणत्वस्य विरोधस्य प्रतिक्षेपादित्याह—सत्यां चेति। यद्यपि तत्रावच्छेदभेदकथनमविरोधप्रतिपादनार्थं, ननु विरोधभञ्जनार्थं, तथापि फलतो न विशेष इति भावः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार सहस्थिति के या प्रतीति के अभावरूप प्रतियोगी और अनुयोगी के विरोध रहने पर, गोत्व एवं अश्वत्व के विरोध से भावाभाव के विरोध में विशेष क्या होगा? अर्थात् उक्त विरोध लक्षण की गोत्वाश्वत्वरूपभावात्मक वस्तु के विरोध से अतिव्याप्ति होने से यह लक्षण अयुक्त है। अतिव्याप्ति दिखा कर अव्याप्ति दिखाई गई है कि वृक्षादि में कपि आदि के संयोग और संयोगाभाव साथ रहते हैं और प्रतीत होते हैं। वहाँ प्रतियोगी एवं अभाव में सहानवस्थान (सहाप्रीति) रूप विरोध के नहीं रहने से अव्याप्ति है, और साहित्य (संयोग तदभाव की सहवृत्तिता) की वृक्ष में प्रमा (अबाधित ज्ञान) के रहते, मूलशाखा आदि रूप प्रकार के भेद से संयोग एवं तदभाव की व्यवस्था (भिन्न-देश वृत्तित्व की सिद्धि) क्यों की जाती है? यह भी कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि साहित्य की प्रमा से ही साहित्यज्ञान को अप्रमा नहीं माना जाता। अतः अप्रमात्व के वारण के लिये भी अवच्छेदकरूप प्रकार के भेद से यहाँ व्यवस्था अपेक्षित नहीं है ॥ ९४ ॥

पहले संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के संसर्ग और तादात्म्य को प्रतियोगी कहने पर दोष बताया गया है कि संसर्ग और तादात्म्य के अभाव के प्रतियोगी होने पर, घटादि का निषेध कहीं भी नहीं होगा, अतः घटादि एवं अनादि अनन्त सर्वात्मक होंगे, इत्यादि उस दोष के निवारण के लिये शंका होती है और उसका खण्डन किया जाता है कि—

अथ घटादिविशेषितयोस्तयोर्निषेधौ तौ, सविशेषणौ च विधिनिषेधौ न कथञ्चिद्विशेषणमनुपसंक्रम्य स्याताम् ,—इति ब्रूषे, तदपि न तर्हि विशिष्टस्य निषेधो विशेषणस्यापि भवतीति संसर्गान्योन्यनिषेधोपि संसर्गनिषेधः स्यादेवेति पुनः स प्रसङ्गो वज्रलेपायते। अन्योन्याप्रतियोगिकसंसर्गप्रतिषेधस्तथा विवक्षितः, एवमन्योन्यनिषेधोपि संसर्गाप्रतियोगित्वेन निर्वाच्यः?—इति चेन्न। एवं तर्ह्यन्योन्यसंसर्गाभावः संसर्गान्योन्याभावश्चापरा कोटिः स्यात् ॥ ९५ ॥

संसर्गाभावान्योन्याभावौ यदि संसर्गान्योन्यप्रतियोगिकौ तदा घटादिनिषेधो न स्यादिति यदुक्तं तत्राशङ्कते—अथेति। संसर्गमात्रं तादात्म्यमात्रं वा न प्रतियोगि, किंतु घटविशेषितमुभयं प्रतियोगि, तथाच विशिष्टनिषेधो विशेषणनिषेधपर्यवसन्न एवेति कथं घटादितादवस्थ्यमिति शङ्कार्थः। तर्हि स्मृतित्वसंसर्गाभावोनुभूताविति त्वयोक्ते स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावमादाय स्मृतावेव प्रसङ्गः कृतो मया, स सुतरां लग्नः, स्मृतित्वसंसर्गान्योन्याभावस्य संसर्गाभावत्वध्रौव्यादिति परिहारमाह—तर्हीति। यः स्मृतित्वसंसर्गाभावः स्मृतावापादितः सोन्योन्यप्रतियोगिकोपि भवतीति नासौ संसर्गाभाव इति न स्मृतौ प्रसङ्ग इत्याह—अन्योन्येति। यद्यन्योन्यप्रतियोगिकः संसर्गाभावो न संसर्गाभावस्तदान्योन्यसंसर्गाभावो न तादात्म्याभावो नापि संसर्गाभाव इति तृतीया कोटिः स्यादेवं संसर्गान्योन्याभावोपीत्याह—एवमिति ॥ ९५ ॥

केवल संसर्ग और तादात्म्य निषेध के प्रतियोगी नहीं होते, किन्तु घटादिविशेषित (घटादिविशिष्ट) संसर्ग और तादात्म्य का वह निषेध होता है, अतः घटादि—विशिष्ट संसर्ग और तादात्म्य निषेध के प्रतियोगी होते हैं, और विशिष्ट की विधि और निषेध विशेषण के विधि एवं निषेध को ग्रहण किये बिना सिद्ध नहीं होते, अतः विशिष्ट के निषेध से ही घटादि विशेषणों के निषेध हो जाने से उनमें अनादि अनन्तत्वादि की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु वादी का यह समाधान संगत नहीं है। कारण यह है कि इस प्रकार विशिष्ट के निषेध को विशेषण के निषेधरूप होने से भी जहाँ आप स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) के अभाव को अनुभूति में मानते हैं, वहाँ स्मृतित्व के संसर्ग के अन्योन्याभाव को स्मृति में भी ग्रहण करके स्मृति में अनुभूति के लक्षण का अतिव्याप्तिरूप वह पूर्वोक्त प्रसंग वज्रलेप (दृढ) हो जाता है, क्योंकि स्मृतित्वविशिष्टसंसर्ग का अन्योन्याभावरूप निषेध, संसर्ग के विशेषणरूप स्मृतित्व का निषेध रूप भी होता ही है। यदि कहा जाय कि जो स्मृतित्व के संसर्ग (समवाय) का अभाव स्मृति में कहा गया है कि स्मृतित्वविशिष्टसंसर्ग का स्मृति में अन्योन्याभाव रहता है, अतः विशेषण—रूप स्मृतित्व का भी स्मृति में अभाव सिद्ध होता है, वहाँ विशेषणरूप से स्मृतित्व प्रतियोगी होता है और अन्योन्याभाव के संसर्ग और स्मृति प्रतियोगी होते हैं। प्रकृत में अन्योन्य जिसके प्रतियोगी नहीं हो, ऐसा संसर्ग का निषेध (अभाव) संसर्गाभावरूप विवक्षित है। इसी प्रकार संसर्ग जिसका प्रतियोगी नहीं हो, ऐसा अन्योन्य का निषेध (अभाव) अन्योन्याभाव निर्वाच्य (वक्तव्य) है। अतः स्मृतित्वसंसर्ग का अन्योन्याभाव संसर्गाभाव यहाँ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह विशेषणरूप से स्मृतित्व-प्रतियोगिक और विशिष्टप्रतियोगिक होते हुए भी अन्योन्यप्रतियोगिक भी है। इस

प्रकार संसर्ग के अन्योन्याभाव को ग्रहण करके स्मृति में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। परन्तु ऐसा मानने पर अन्योन्य का संसर्गाभाव, और संसर्ग का अन्योन्याभाव, अन्योन्यप्रतियोगिक और संसर्गप्रतियोगिक होने से, ये संसर्गाभाव और अन्योन्याभावरूप नहीं होंगे, क्योंकि अन्योन्य के अप्रतियोगी वाले संसर्गाभाव को, और संसर्ग के अप्रतियोगीवाले अन्योन्याभाव को ही आप स्वीकार करते हैं, अतः (इह = घटपटयोरन्योन्यं = तादात्म्यं नास्ति) इस घट एवं पट में अभेद नहीं है, इस प्रकार के अन्योन्यप्रतियोगिक संसर्गाभाव, संसर्गाभाव नहीं कहा जायगा तथा (संसर्गो घटो न भवति) सम्बन्ध घटाभिन्न नहीं होता है, इस प्रकार के संसर्गप्रतियोगिक अन्योन्याभाव, अन्योन्याभाव नहीं कहा जायगा। अतः इन की अपर (भिन्न) तृतीय कोटि होगी। अर्थात् प्रसिद्ध इन दोनों लक्ष्यों में उक्त लक्षणों की अव्याप्ति होगी। अतः उक्त लक्षण समीचीन नहीं हैं ॥ ९५ ॥

उक्तरीति से अव्याप्ति दिखा कर, व्यर्थविशेषणतारूप दोष दिखलाते हैं—

किंच, एवं सति 'संसर्गाभावोऽन्योन्याभावो यो न भवति स संसर्गाभावतया विवक्षितः, इत्युक्तं स्यात्, तथाच संसर्गविशेषणं व्यर्थमिति संसर्गाभावमर्थमधिकमाकाङ्क्षता त्वयाऽन्वर्थः संसर्गाभावशब्दोपि हारितः स्यात्, यतोन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभाव इत्युक्तम्। किंचानयापि वाचाऽन्योन्याभावनिषेधोऽभिधीयमानोन्योन्याभावेपि प्रसज्यते; न ह्यन्योन्याभावोऽन्याभावो भवतीति शक्यं प्रमातुं, सामानाधिकरण्यं हि प्रकारभेदे सति भवति, यथा नीलमुत्पलमित्यादि, ततस्तदभावादेव न तथेत्यतिप्रसङ्गः। अन्यश्चान्योन्याभावेष्वेव तिष्ठन्नेव कः प्रमेयो यद्वति तथा कथ्यते ? अभावमात्रे त्वतिप्रसङ्गात्। व्यक्तिविशेषे च शेषेष्वन्योन्याभावेषु संसर्गाभावत्वापत्तेः ॥ ९६ ॥

अन्योन्याप्रतियोगिकः संसर्गनिषेधस्तथा विवक्षित—इति वाक्यस्यान्योन्याभावान्यः संसर्गाभावः संसर्गाभाव इति पर्यवसितोर्थस्तत्र संसर्गपदवैयर्थ्यमाह—किंचेति। अन्योन्याभावो यो न भवति स संसर्गाभावः—इत्यनयोक्त्यान्योन्याभावस्तदा व्यवच्छिद्येत यद्यन्योन्याभावोऽन्योन्याभाव इति वक्तुं शक्यं, नचैवं सम्भवति, उद्देश्यविधेयभावस्य प्रकारभेदनियतत्वादित्याह—किंचेति। सामानाधिकरण्यमिति। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यं, प्रकृते च शब्दाभेदान्न समानाधिकरण्यम्, अत एव नोद्देश्यविधेयभावोपीति भावः। तदभावादेव न तथेति। प्रकारभेदाभावान्न सामानाधिकरण्यमुद्देश्यविधेयभावो वेत्यर्थः। ननु सकलान्योन्याभाववृत्तिना केनचिद्धर्मेणावच्छिन्नस्योद्देश्यत्वं स्यादित्यत आह—अन्य इति। तन्मात्रवृत्तेरुपाधेरव्याप्यनिरूपणात्। नन्वभावत्वेनैवोद्देश्यतास्तु को दोषः ? इत्यत आह—अभावमात्रे इति। अभावोऽन्योन्याभावः—इत्यभिधाने संसर्गाभावस्याप्यन्योन्याभावत्वापत्तिः। यद्यपि नीलमुत्पलमित्यभिधाने नीलमात्रस्य नोत्पलत्वं प्रसज्यते, तथाप्युत्पलपदव्युत्पित्सुं प्रति तथाभिधाने तत्राप्यतिप्रसङ्ग एवेति भावः॥ ननु गुणान्योन्याभावत्वादिना प्रकारेणोद्दिश्यान्योन्याभावत्वं विधीयतां, भवति हि गुणान्योन्याभावोऽन्योन्याभाव इति तत्राह—व्यक्तिविशेषे इति। तथाच द्रव्यान्योन्याभावो नान्योन्याभावः स्यादित्यर्थः। एतदपि व्युत्पित्सुं प्रति, अन्यथा घटो द्रव्यमित्युक्ते पटो न द्रव्यं स्यात्॥ ९६॥

(किञ्च एवं सति) 'अन्योन्याप्रतियोगिकसंसर्ग का अभाव, संसर्गाभाव विवक्षित है ऐसा मानने पर जो अन्योन्याभाव (अन्योन्यप्रतियोगिक अभाव) नहीं होता है वह संसर्गाभाव ही संसर्गाभावरूप विवक्षित है, यह फलितार्थ होता है। यहां स्मृतित्व के संसर्ग के अन्योन्याभाव के द्वारा स्मृति में अनुभवत्व की अतिव्याप्ति के वारण के लिये अन्योन्याभाव से भिन्नत्व कहा जाता है। परन्तु इस प्रकार एक संसर्गपदरूप विशेषण व्यर्थ होता है। क्योंकि अन्योन्याभाब से भिन्न अभाव संसर्गाभाव होता है, इतना कहने से ही उक्त अतिव्याप्ति का वारण होता है। यदि कहा जाय कि विशेषण के व्यर्थ होने से उक्त विशेषण रहित ही संसर्गाभाव का लक्षण किया जाय, तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि इस प्रकार तो अधिक (अन्योन्याभाव से अन्य) अर्थरूप संसर्गाभाव को चाहने वाले आप से अन्वर्थक-संसर्गाभाव शब्द ही त्यक्त हो जायगा। क्योंकि संसर्ग के अभवार्थक संसर्गाभावशब्द नहीं रहेगा, किन्तु अन्योन्याभाव से भिन्न अभावार्थक संसर्गाभाव शब्द होगा, परन्तु यह शब्द यौगिकार्थक लोकप्रसिद्ध है, उसका त्याग होना उचित नहीं है, और जिससे जो अन्योन्याभाव नहीं होता है उस (अभाव) संसर्गाभाव को आपने संसर्गाभाव पहले कहा है इससे भी फिर संसर्गरहित संसर्गाप्रतियोगिक अभाव को संसर्गाभाव कहना अनुचित है। और अन्योन्याभाव जो नहीं हो वह अभाव संसर्गाभाव है, इस कथन से भी कहा गया अन्योन्याभाव का निषेध अन्योन्याभाव में प्राप्त होता है, क्योंकि अन्योन्याभाव = अन्योन्याभाव होता है, इस प्रकार कथन या ज्ञान नहीं कर सकते। सामानाधिकरण्य[1] (अभेद-बोधनार्थक समान विभक्ति वाले अनेक शब्दों का प्रयोग) प्रकार (विशेषण) के भेद रहने पर होता है। विशेषणविशेष्यभाव (उद्‌देश्यविधेयभाव) के रहने से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, जैसे नील कमल है, यहाँ नीलत्व एवं कमलत्वरूप प्रकार के भेद से नीलाऽभिन्नकमल का ज्ञान होता है। 'अन्योन्याभावोऽन्योन्याभावः' यहाँ उस प्रकार भेद के अभाव से ही सामानाधिकरण्य-उद्‌देश्यविधेयभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार जब अन्योन्याभाव अन्योन्याभाव नहीं हो सकता, तब उसमें संसर्गाभावत्व की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि अन्योन्याभावमात्र में कोई धर्म मान कर उस धर्मविशिष्ट के साथ अन्योन्याभाव के अभेद का ज्ञान (अन्योन्याभावोऽन्योन्याभावः) इस वाक्य से हो सकता है, तो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि अन्योन्याभावत्व से अन्य अन्योन्याभावों में ही रहता हुआ कौन प्रमेय (धर्म) है जिस धर्मवाले के साथ अन्योन्याभाव के अभेदादि का ज्ञान होगा, अर्थात् वैसे धर्म या उपाधि में कोई प्रमाण नहीं हैं। यदि प्रथम अन्योन्याभावपद की अभावमात्र में लक्षणावृत्ति मानें, तो (अन्योन्याभावोऽन्योन्याभावः) इस कथन से संसर्गाभाव में भी अन्योन्याऽभावत्व की प्राप्ति होगी। यदि घटान्योन्याभावादिरूपव्यक्तिविशेष में प्रथमान्योन्याभावपद की लक्षणा मानें तो अन्य अन्योन्याभावों में संसर्गाभावत्व की प्राप्ति होगी ॥ ९६ ॥

---

१. भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।
प्रवृत्तिनिमित्तत्वं च वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारत्वम् ॥

संसर्गाभावो न भवति (संसर्गाभाव नहीं हो) ऐसा जो अभाव वह अन्योन्याभाव है ऐसा अन्योन्याभाव के लक्षण करने पर भी संसर्गाभाव में अतिव्याप्ति दिखलाते हैं—

एवञ्च सर्वत्र तदन्यत्वेन व्यवच्छेद्यमाने द्रष्टव्यः । तथाहि—

नाऽतत्तन्मन्यसे तावन्न तत्तदपि मंस्यसे ।
सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षते ॥ २९ ॥
रूपान्तरेण निर्दिश्य तच्चेत्तदभिधीयते ।
ताद्रूप्येण तथापि स्यात् सैव सव्यभिचारिता ॥ ३० ॥

अपि चान्योन्याभावस्य संसर्गाभावोप्येवं व्यवच्छिन्नः स्यात् , तस्याप्यन्योन्यप्रतियोगिकत्वात् । अथान्योन्याभावस्य संसर्गाभावो नामाधिको नोपेयते एव यमादाय तथा स्याद् ?—इति चेन्न ॥ ९७ ॥

एवं यत्रयत्र लक्षणं तदन्यत्वेन विशेष्यं तत्र तदन्तर्भावध्रौव्यमित्याह—एवञ्चेति। उक्तमर्थं कारिकाभ्यां संगृह्णाति—नातत्तदिति। अघटो घट—इति यथोक्तिविरोधाद्दुर्घटवचनं तथा घटो घट—इत्यपि प्रकारभेदाभावाद्दुर्घटवचनमेव। दार्ष्टान्तिके युक्तिमाह—सामानाधिकरण्यमिति। रूपान्तरेणेति। अधिकवृत्तिना धर्मान्तरेण तदुद्दिश्य विधानेऽतिव्याप्तिर्न्यूनवृत्तिना चाऽव्याप्तिरित्यर्थः। किंवाऽन्योन्याप्रतियोगिको योऽभावः स संसर्गाभाव—इत्यभिधानेऽन्योन्याभावस्य संसर्गाभावो न स्यादन्योन्यप्रतियोगिकत्वादित्याह—अपिचेति। यद्यप्यन्योन्याभावस्य संसर्गाभावोऽन्योन्यं न प्रतियोगि, किंतु तदभावः, सचान्योन्यस्मादन्य एव, तथापि विशिष्टस्य प्रतियोगित्वे विशेषणस्याप्यन्तर्भाव इति भावः। नन्वन्योन्याभावप्रतियोगिकः संसर्गाभावो यदि भवेत्तदा तदनुपग्रहो दोषः स्यात् स एव तु नास्ति, अभावस्याप्यभावान्तराङ्गीकारेऽनवस्थानादिति शङ्कते—अथेति ॥ ९७ ॥

उक्तरीति से तदन्यत्व (अलक्ष्यान्यत्व) रूप से जहाँ-जहाँ कोई वस्तु व्यवच्छिद्यमान (निवारित) हो, उन सब लक्षणों में अतिव्याप्ति आदि दोष समझना चाहिये। उक्त अर्थ को ही संक्षेपरूप से श्लोक द्वारा कहा गया है कि जैसे अघटरूप अतत् (घटभिन्न) को तत् (घट) नहीं मानते (अघटो घटः) ऐसा नहीं कह सकते, इसी तरह तत् (घट) तत् (घट) है ऐसा भी नहीं मान सकते अर्थात् (घटोघटः) ऐसा नहीं कह सकते । इसी प्रकार अतत् (अन्योन्याभावत्वरहित, संसर्गाभावत्वयुक्त) अभाव को तत् (अन्योन्याभावत्वयुक्त) जैसे नहीं मानते, वैसे ही तत् (अन्योन्याभावत्वयुक्त) को तत् (अन्योन्याभावत्वयुक्त) 'अन्योन्याभावोऽन्योन्याभावः' इस प्रकार न माना जाता है और न ऐसा शब्द प्रयोग किया जाता है, क्योंकि समानाधिकरणतारूप (प्रकार = विशेषण) के भेदों की अपेक्षा करता है, समानविभक्ति वाले भिन्न प्रकारार्थक पदों का सामानाधिकरण्य होता है, अन्यथा नहीं ॥ २९ ॥ रूपान्तर (नीलघटत्वादितुल्य प्रमेयत्वादिरूप) से निर्देश करके यदि तत् को तत् कहा जाय, अर्थात् (नीलघटो घटः) इस प्रयोग के समान, प्रकृत में अधिकवृत्ति प्रमेयत्वादिरूप से तत् को (संसर्गाभाव को) उद्देश्य करके संसर्गाभावत्व का विधान करें कि (प्रमेयः संसर्गाभावः) प्रमेयरूप ससगाभाव है तो प्रमेयरूप अन्य वस्तु में

संसर्गाभावत्व की प्राप्ति होगी, 'अभावः संसर्गाभावः' कहें, तो अन्योन्याभाव में अतिव्याप्ति होगी, 'घटसंसर्गाभावः संसर्गाभावः' कहें, तो पटाभावादि में अव्याप्ति होगी, अतः ताद्रूप्य (विशेषरूप) से सामानाधिकरण्य के वेही अतिव्याप्ति एवं अव्याप्तिरूप व्यभिचारिता ही प्राप्त होती है ॥ ३० ॥ अन्योन्यप्रतियोगित्वरहित संसर्ग का निषेध संसर्गाभाव होता है, इस लक्षण में अतिव्याप्ति दिखा कर अव्याप्ति दोष दिखाया गया है— अन्योन्याप्रतियोगिक (अन्योन्यप्रतियोगी वाले से भिन्न) जो अभाव वह यदि संसर्गाभाव हो, तो इस प्रकार अन्योन्याभाव का संसर्गाभाव (अन्योन्याभावो नास्ति) यह भी व्यवच्छिन्न (व्यावृत्त) होगा, संसर्गाभाव नहीं कहा जायगा, क्योंकि उस प्रतीतिविषय अभाव को भी अन्योन्यप्रतियोगिवत्त्व है (वह अन्योन्यप्रतियोगी वाला है) अन्योन्य-प्रतियोगीरहित नहीं। क्योंकि अन्योन्यविशिष्ट अन्योन्याभाव (अन्योन्याभावो नास्ति, इस प्रतीति से सिद्ध प्रतियोगी) के अन्दर अन्योन्य प्रविष्ट है ॥ ९७ ॥

यदि कहा जाय कि अनवस्था के भय से अन्योन्याभाव का संसर्गाभाव, अन्योन्याभाव से अधिक (भिन्न) नहीं माना जाता जिसको ग्रहण करके (मानकर) उक्त रीति से अव्याप्ति दोष हो। तो यह कहना युक्त नहीं है। क्योंकि—

एवं तर्ह्यन्योन्योभावस्यान्योन्याभावोपि नाधिकोभ्युपगन्तव्यः स्यादित्य-न्योन्याप्रतियोगित्वेन व्यवच्छेदोपि संसर्गाभावस्य त्वदभिमतस्य कथं स्यात्? व्यवच्छेदस्य निषेधार्थत्वात्। अथ माभूदधिकोसौ स्वरूपमेव तु तथेष्यते इति तदादायैव व्यवहार एव निर्दोषः?—इति चेत्, तर्ह्यन्योन्या-भावसंसर्गव्यतिरेकेपि तुल्यमेतत् ॥ ९८ ॥

अन्योन्याभावस्याभावान्तरानभ्युपगमे संसर्गाभावलक्षणे तद्व्यवच्छेदार्थमुपात्तस्या-न्योन्याप्रतियोगित्वस्य विशेषणस्य फलाभावाद्वैयर्थ्यम्, अन्योन्याभावव्यवच्छेदस्यान्यो-न्याभावात्मकत्वात्, तस्य च त्वयाऽनभ्युपगमादिति परिहरति—एवं तर्हीति। नन्वन्यो-न्याभावव्यवच्छेदकेन संसर्गाभावलक्षणे विशेषणेनान्योन्याभावानात्मा व्यवच्छेदो न क्रियते, किंतु व्यवच्छेद्यो व्यवच्छेदश्च स एवान्योन्याभाव इति न वैयर्थ्यमित्याशङ्कते—अथेति। तर्हि अन्योन्याभावसंसर्गाभावोप्यन्योन्याभावस्वरूपमेवेति तदात्मकसंसर्गाभा-वानुपग्रहो दोषस्तदवस्थ एव व्यवच्छेद्याभावो वा अन्योन्याभावस्यापि स्वप्रतियोगि-संसर्गाभावरूपत्वादिति परिहरति—तर्हीति ॥ ९८ ॥

अन्योन्याभाव के अभावान्तर (संसर्गाभाव) को अधिक नहीं मानने पर अन्योन्याभाव का अधिक अन्योन्याभाव भी मन्तव्य नहीं होगा फिर अन्योन्यप्रतियो-गित्वरूप से आप से माना गया, ससर्गाभाव का व्यवच्छेद (भेद) भी कैसे होगा? अर्थात संसर्गाभाव के लक्षण में अन्योन्याप्रतियोगित्व यह विशेषण अन्योन्याभावके अभाव की व्यावृत्ति के लिये है। यदि वहाँ अन्योन्याभाव का अभावान्तर होता ही नहीं तो वह विशेषण व्यर्थ होगा। क्योंकि अन्योन्याभाव के अभाव की व्यावृत्ति (व्यवच्छेद) भी अन्योन्याभाव (भेद) स्वरूप होता है, परन्तु आप उसको मानते नहीं हैं और व्यच्छेद का निषेध (अन्योन्याभाव) अर्थ होता है। अतः अन्योन्याभाव के अधिक अभाव के नहीं मानने पर अन्योन्याप्रतियोगित्व संसर्गाभाव के लक्षण में

कहना युक्त नहीं है। यदि कहा जाय कि संसर्गाभाव के लक्षणादि में अन्योन्भाभाव का अन्योन्याभाव से अधिक (भिन्न) वह अन्योन्याभाव नहीं हो, तो भी एक ही अन्योन्याभाव व्यवच्छेद्य और और व्यच्छेदरूप इष्ट है, अर्थात् अन्योन्याप्रतियोगित्व विशेपण द्वारा अन्योन्याभावस्वरूप ही अन्योन्याभाव अन्योन्याभाव की व्यावृत्ति (व्यवच्छेद) रूप होता है, अतः वह विशेषण व्यर्थ नहीं है। और उस स्वरूपात्मक अभाव के अभाव को ग्रहण करके, यह संसर्गाभावाभाव, अन्योन्याभावाभाव इत्यादि निर्दोष व्यवहार होता है, किन्तु किसी भी अभाव का अभावान्तर नहीं होता, अन्यथा अनवस्था होगी। तो ऐसा मानने पर अन्योन्याभाव के (संसर्गव्यतिरेक) संसर्गाभाव में भी तुल्य मन्तव्य होगा। अन्योन्याभाव के (अन्योन्याभावो नास्ति,) इस प्रतीति के विषय संसर्गाभाव को अन्योभावस्वरूप मानना होगा। और इस संसर्गाभाव के अन्योन्याभावरूप होने पर, अन्योन्याप्रतियोगित्व के नहीं रहने से इस लक्षण में अव्याप्तिरूप दोष होगा, और संसर्गाभाव का अन्योन्याभाव भी संसर्गाभावरूप होगा, अतः अन्योन्याप्रतियोगित्व विशेषण से उसकी व्यावृत्ति नहीं होने से उसमें संसर्गाभावलक्षण की अतिव्याप्ति होगी ॥ ९८ ॥

उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष का वर्णन करके अतिव्याप्तिदोष का वर्णन किया जाता है-

अपिच, अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो यः स संसर्गाभावः'— इतिवदताऽन्योन्यप्रतियोगिकेऽभावे निषिध्यमानेऽन्योन्यात्मकोऽसावभावोऽभ्युपगतः स्यात्, द्वयोर्निषेधयोः सुन्दोपसुन्दतयान्योन्यस्यैव स्थैर्यापत्तेः; तथा च सत्यन्योन्यस्मिन्निर्विशेषणे जगदेव प्रविष्टमिति संसर्गाभावत्वेन विवक्षितस्य जगदात्मतायां सिध्यन्त्यामन्योन्याभावात्मतापि स्यादिति व्यर्थो विशेषणप्रयासो हासायेति सविशेषणेऽप्यविशेषणवत् प्रसङ्ग इति महत्कौतुकम्। ननु 'घटाभावो न भवति स्तम्भः'-इत्युक्ते किं स्तम्भो घटात्मा विहितो भवति तत्कस्य हेतोः? तदा हि तथा स्यात् यदि घटस्तदभावश्चेत्येव जगत्स्यात्, यदा तु स्तम्भादिरप्यपरा कोटिरस्ति तदा कथं स्याद् इत्युक्तप्रसङ्गानवकाश इति ॥ ९९ ॥

अन्योन्याभावो न भवत्यभावो य इतिवाक्ये नञ्द्वयश्रवणादन्योन्यं यद्भवति स संसर्गाभाव इत्यर्थपर्यवसाने जगत एवान्योन्यत्वात् संसर्गाभावत्वं प्रसक्तं, जगदन्तर्गतस्यान्योन्याभावस्यापि च संसर्गाभावत्वमिति यद्व्यवच्छेदाय विशेषणमुपात्तं तस्यैव सङ्ग्रह इति कौतुकमित्याह—अपिचेति। यद्यपि अन्योन्यप्रतियोगिको न भवत्यभावो य इतिवाक्याद्यत्राभावेऽन्योन्यप्रतियोगिकत्वं धर्मो नास्ति स संसर्गाभाव इत्यर्थः प्रतीयते, तथाच, भवत्येवान्योन्याभावव्यवच्छेदः, तस्यान्योन्यप्रतियोगिकत्वात्, सुन्दोपसुन्दन्यायस्तु समानाधिकरणयोरेव निषेधयोः, तथाच प्रतीयमानार्थखण्डनमपि कौतुकमेव, तथापि लक्षणवाक्यस्य यद्ययमर्थस्तदैवं खण्डनमिति भावः। एवम् अन्योन्याभावो न भवत्यभावो यः स संसर्गाभाव—इत्यत्रापि यत्राभावेऽन्योन्याभावत्वं नास्तीत्यर्थः, इति नैतत् खण्डनमुचितं, तथाप्यन्योन्याभावो न भवतीत्यन्योन्याभावानात्मा भवतीत्यर्थस्तथाचान्योन्यात्मत्वपर्यवसानमेवेत्यर्थः। अत्रैव शङ्कते—नन्विति। घटाभावो न भवति स्तम्भ इत्यत्र यथा स्तम्भस्य न घटात्मत्वं तथाऽन्योन्याभावो न भवति संसर्गाभाव इत्य-

त्रापि संसर्गाभावस्य नान्योन्यात्मत्वं, किंतु संसर्गाभावत्वमेव, केवलमन्योन्याभावानात्मकत्वमात्रं तत्र प्रतीयते इति शङ्कार्थः ॥ ९९ ॥

अन्योन्यप्रतियोगिक जो अभाव नहीं होता, वह संसर्गाभाव है, इस प्रकार कहने वाले आप से अन्योन्यप्रतियोगिक अभाव के निषिध्यमान (निषेधविषय) होने पर अन्योन्य के अभाव के अभाव अन्योन्यस्वरूप ही वह संसर्गाभाव अभ्युगत (सिद्ध) होगा, क्योंकि दो निषेध (अभाव) की सुन्दोपसुन्दता (विरोध) से, जैसे परस्पर विरोधी सुन्द और उपसुन्द दोनों का अभाव हुआ, वैसे अन्योन्याभाव का अभाव इन दोनों का अभाव होगा तो अन्योन्य की स्थिरता की प्राप्ति होगी, क्योंकि अभाव का अभाव, प्रथमाभावका प्रतियोगी स्वरूप होता है, अतः जैसे घटाभावाभाव घटस्वरूप होता है, वैसे ही अन्योन्याभावाभाव अन्योन्यस्वरूप (भेदात्मक जगत्स्वरूप) होता है। ऐसा होने पर निर्विशेषण (सामान्य) अन्योन्य में सम्पूर्ण जगत् ही प्रविष्ट है (सब जगत् अन्योन्यस्वरूप है। अतः संसर्गाभावरूप से विवक्षित (मान्य) अभाव के जगत्स्वरूप सिद्ध होने पर जगदन्तर्गत अन्योन्याभावस्वरूपता भी संसर्गाभाव में होगी, तब अन्योन्याप्रतियोगित्वरूप विशेषण का लक्षण में प्रवेशरूप प्रयास निष्फल होता हुआ हास्यास्पद होगा। अत एव सविशेषण लक्षण में भी निर्विशेषण (अभावः संसर्गाभाव इत्यादि) के समान प्रसंग (अतिव्याप्ति) होता है, यह महान् कौतुक (आश्चर्य) है। शंका होती है कि (घटाभाव स्तम्भ नहीं हैं) ऐसा कहने पर क्या घटाभावाभावघटात्मकस्तम्भ विहित (कथित) होता है ? अर्थात् ऐसा नहीं होता, इसमें क्या कारण है कि ऐसा नहीं होता, यह समझना चाहिये। इसमें कारण यह है कि वैसा (स्तम्भघटात्मक विहित) तब होता जब घट और घटाभाव मात्र ही जगत् होता। जब घट और घटाभाव इन दोनो से अपरकोटि (भिन्न) वस्तु भी हैं, तो घटाभावाभावात्मक घटस्वरूप स्तम्भ कैसे हो सकता ? इसी प्रकार अन्योन्याभावाभाव को अन्योन्यरूपत्व नहीं होता, किन्तु अभावरूपत्व रहता है। अतः उक्त अतिव्याप्ति की प्राप्ति नहीं होती ॥ ९९ ॥

मैवम्। यथा घटतदभावाभ्यामन्या वस्त्रादिकमप्यस्ति कोटिस्तथान्योन्यतदभावाभ्यां नान्याकोटिः संभवति, निर्विशेषणान्योन्यमध्ये जगत एव प्रवेशात्; तदात्मनोपि निषिध्यमानत्वे तन्निषेधात्मके तदात्मनि जगत्प्रवेशात्। न हि घटः पटात्मेत्यनेन घटस्वरूपादन्यस्तदात्मा विहितः स्यात्। यदि तु तादात्म्यं नामाभेदाख्यो धर्मः कश्चिदिष्यते, स घटपटाद्यधिकरणतया निषिध्यते, तदा संसर्गाभाव एव स्यात्। तस्मान्निर्विशेषणतादात्म्यान्तर्भूतं जगदिति कोऽस्त्यन्तराभाव इति ॥ १०० ॥

मैवमिति। यत्र प्रतियोगितदभावाभ्यां तृतीया कोटिस्तत्राभावाभावो न प्रतियोगी, इह तु न तथेत्यन्योन्याभावनिषेधोन्योन्यमेवेति परिहारार्थः। नन्वन्योन्याभाव इति सञ्ज्ञामात्रं, नत्वस्यान्योन्यं प्रतियोगि येन तदभावनिषेधेन्योन्यपर्यवसानं स्यात्' किंतु तादात्म्यं तस्य प्रतियोगीति नोक्तदोष इत्यत आह—तदात्मन इति। तादात्म्याभावो न भवति योऽभावः स संसर्गाभाव इतिकृतेपि पूर्ववन्निर्विशेषिततादात्म्यसम्मग्नजगदन्तर्गततादात्म्याभावरूपत्वं संसर्गाभावस्य पतितमिति तदेव कौतुकमित्यर्थः। तदात्मनोपि

निषिध्यमानत्वे इति, घटः पटात्मा न भवतीत्यनेनैव प्रकारेणान्योन्याभावस्य प्रतीयमानत्वे इत्यत्तरार्थः। ननु तादात्म्याभावो न भवति संसर्गाभाव इत्युक्ते तादात्म्यस्वरूपं कथं संसर्गाभावःस्यादित्यत आह—नहीति। सुन्दोपसुन्दन्यायेन नञ्द्वयागते तादात्म्यं संसर्गाभाव इति पर्यवसाने निर्विशेषिततच्छब्दस्य जगत्परत्वे संसर्गाभावस्य जगदात्मत्वमेव स्यात् यथा घटः पटात्मेत्यत्र पटस्य घटात्मत्वमित्यर्थः। ननु तादात्म्यनिषेधो नान्योन्याभावो येन तन्निषेधस्तदात्मा स्यात्, किंतु तादात्म्यस्य घटादिनिष्ठधर्मस्य निषेधस्तथाच तन्निषेधो जगद्धर्मो भवेन्नतु जगदिति न तदन्तर्गतान्योन्याभावात्मत्वं संसर्गाभावस्येत्यत आह—यदि त्विति ॥ १०० ॥

उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे घट और घटाभाव से अन्य कोटि (प्रकार वाले) वस्त्रादि भी हैं, वैसे अन्योन्य वस्तु और उसके अभाव (अन्योन्याभाव) से अन्य कोटि नहीं हो सकती, क्योंकि घटपटादिविशेष अन्योन्य से अन्य कोटि हो सकती है। परन्तु निर्विशेषण (सामान्य) अन्योन्य के मध्य जगत् का ही प्रवेश है, अतः भिन्न कोटि का अभाव है। यदि कहा जाय कि अन्योन्याभाव यह नाममात्र है। अन्योन्य का अभाव, इस प्रकार यौगिक शब्द नहीं है, जिससे अन्योन्य का अभावाभाव अन्योन्यस्वरूप होने से अतिव्याप्ति हो, किन्तु अन्योन्याभाव शब्द से तादात्म्याभाव कहा जाता है। अर्थात् = तत् = अन्योन्य स्वरूप जगत् आत्मा = स्वरूप जिसका है, उसके निषेध को अन्योन्याभाव कहते हैं। तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि तदात्मा = तादात्म्य के भी निषिध्यमान होने पर (अन्योन्याभाव पद से कहने पर) उस अन्योन्याभाव के निषेधरूप तदात्मा (अन्योन्य) में जगत् का प्रवेश सिद्ध होता है। अतः जगदात्मकत्व पूर्वतुल्य संसर्गाभाव को प्राप्त होता ही है, क्योंकि (घटः पटात्मा) इस वाक्य से घट के स्वरूप से अन्य उस पट की आत्मा (तादात्म्य) विहित नहीं होती, किन्तु पट में घटात्मत्व विहित होता है। वैसे ही तादात्म्याभावरूप संसर्गाभाव नहीं है, किन्तु तादात्म्यरूप है। इस तरह तादात्म्य (अन्योन्य) रूप संसर्गाभाव में विहित होता है। यदि कहा जाय कि अभेदनामक तादात्म्यरूप कोई धर्म घटादि जगत् में रहता है, उसके निषेध को अन्योन्याभाव कहते हैं। अतः अन्योन्याभाव का निषेधरूप संसर्गाभाव भी तादृश धर्मरूप होगा, जगत् = अन्योन्यरूप नहीं है। पर यह कहना असंगत है, क्योंकि इस प्रकार उस धर्म का निषेध संसर्गाभाव ही होगा, फिर अन्योन्याभाव का ही लोप हो जायगा। अतः अन्योन्यप्रतियोगिक अन्योन्याभाव मानना ही पड़ेगा। और निर्विशेषण तादात्म्य (अन्योन्य) के अन्तर्गत जगत् के होने से कोटयन्तर (अन्यकोटि) का अभाव है। अतः अन्योन्याभावरूप सर्वात्मसंसर्गाभाव भी प्राप्त होता है ॥ १०० ॥

घटाभाव स्तम्भ नहीं होता ऐसा कहने पर, कोटयन्तर के रहने से स्तम्भ के घटानात्मत्व को मानकर, अन्योन्याभाव के निषेध में उससे विलक्षणता कही गई है। अब घटनिषेध में घटाभावत्व, घट निषेध के निषेध में घटत्व को मानने वाले को स्तम्भ के कुम्भाभावात्मत्व के निषेध करने पर स्तम्भ को कुम्भात्मक (घटस्वरूप) मानना चाहिये, इस अर्थ के प्रतिपादन के लिये कहते हैं—

अपिच, एवं तर्हि घटे निषिध्यमाने घटाभावो विधीयते, घटाभावे च

निषिध्यमाने घटः-इत्यपि न स्यात्, तृतीयस्य विद्यमानत्वात्; भवन्वा घटाभावः स्तम्भो न भवतीत्यत्रापि घटाभावत्वाविशेषाद्विशेषान्तरानिर्वचनात् घटः स्तम्भात्मेत्येवोक्तं स्यादिति त्वत्प्रसङ्गस्त्वयि निपतेत्। संसर्गान्योन्याभाववैचित्र्यमादाय हि स परिहार्यः स एव च नाद्यापि व्यवतिष्ठते। अत एव प्रतीतिबलादेव वैधर्म्यमनयोरुपेयमित्यपि निरस्तम्। प्रतिषेधप्रतिषेध्यविरोधे प्रकारविशेषव्यवस्थानिरुक्त्यशक्तेरविशेषेणैकनिषेधेऽन्यविधिध्रौव्यं भवदन्योन्याभावनिषेधोऽप्यन्योन्यविधये स्यात् ॥ १०१ ॥

किंच, घटात्यन्ताभावाभावो यथा घट एव पर्यवस्यति तथा घटान्योन्याभावनिषेधोपि पर्यवस्येत्, वस्त्रादिकोटिस्तृतीया यथान्योन्याभावे तथात्यन्ताभावेपीत्याह—अपिचेति। विशेषान्तरेति। अत्यन्ताभावे एवेयं रीतिर्नत्वन्योन्याभावे इति विशेषस्त्वया निर्वक्तुमशक्य इत्यर्थः। त्वत्प्रसङ्ग इति। घटाभावो न भवति स्तम्भ इत्युक्ते स्तम्भोपि घटात्माविहितः स्यादिति यः प्रसङ्गस्त्वया कृतः स त्वय्येवापतित इत्यर्थः। अत एवेति। कस्यचिद्भावस्य प्रतिषेधः प्रतियोगिपर्यवसन्नः कस्यचिच्च प्रतिषेधः प्रतियोग्यपेक्षयान्य एव प्रतीयते इति प्रतीतिबलादन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्वैधर्म्यमभ्युपगम्यतामिति निरस्तमित्यर्थः। ननु प्रतियोग्यभावयोर्यत्र विरोधस्तत्रैकनिषेधेऽन्यविधिरित्यस्तु, तादात्म्याभावे तु प्रतियोग्यभावयोः सामानाधिकरण्याद्विरोध एव नास्तीति नैकनिषेधेऽन्यविधिरित्यत आह। प्रतिषेधप्रतिषेध्येति। अत्यन्ताभावस्थले विरोधो नत्वन्योन्याभावस्थलेपि, इति तदा स्याद्यद्यनयोः प्रकारविशेषव्यवस्था स्यात्, सैव तु नास्तीत्यर्थः ॥१०१॥

और भी विचार कर्तव्य है कि पूर्व कही रीति से यदि तृतीय के रहने से (घटाभावः स्तम्भो न भवति) ऐसा कहने पर भी घटाभावरूप स्तम्भ नहीं होता, किन्तु घटरूप स्तम्भ होता है, इस प्रकार स्तम्भ को घटरूपता की प्राप्ति नहीं होती, तो घट के (घटो नास्ति) इस प्रकार निषिध्यमान होने पर घटाभाव विहित होता, घट नहीं, किन्तु घटाभाव है। तथा घटाभाव के निषिध्यमान होने पर (घटाभावो नास्ति) ऐसा कहने पर घटविहित होता है घटाभाव नहीं, किन्तु घट है, यह भी अब नहीं होगा। क्योंकि यहाँ भी घट और घटाभाव से तृतीय पटादि विद्यमान हैं। अथवा तृतीय के रहने पर भी (घटोनास्ति = घटाभावो नास्ति) ऐसा कहने पर घटाभाव और घट का विधान होता हुआ (घटाभावः स्तम्भो न भवति) यहाँ भी घटाभाव का निषेध घट ही होगा, क्योंकि घटाऽभावत्व (घटाभावो नास्ति = घटाभावः स्तम्भो नास्ति) इन दोनों स्थानों में तुल्य है। अत्यन्ताभाव में ही यह रीति है कि अभावाभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है, अन्योन्याभाव में नहीं, इस विशेषान्तर का निर्वचन आप से नहीं हो सकता। अतः घटाभावस्तम्भ नहीं होता, किन्तु घटस्तम्भस्वरूप होता है, यही विहित होगा। और, घटाभावारूप घटविवित होगा, क्योंकि अभावत्व अन्योन्याभाव में है इससे जो आपने अतिप्रसंग कहा था कि 'घटाभाव स्तम्भ नहीं होता' ऐसा कहने पर घट भी स्तम्भस्वरूपविहित होगा, यह अतिप्रसंग आप के ही मत में प्राप्त होता है। इस अर्थ की विचित्रता के निषेध से ही प्रतीति की विचित्रता के निषेध से प्रतीति के बल से इन संसर्गाभावाभाव और अन्योन्याभाव में (घटाभावोनास्ति = घटाभावः स्तम्भो न भवति—इत्यादि में) वैधर्म्य मानना चाहिसे यह भी खण्डित

हो गया। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अत्यन्ताभावाभावप्रतियोगी स्वरूप होता है, अन्योन्याभावाभाव नहीं। यदि कहा जाय कि भावाभाव का जहाँ विरोध हो, वहाँ अभाव का निषेध प्रतियोगी रूप होता है। अन्योन्याभाव में ऐसा नहीं होता। तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिषेध और प्रतिषेध्य (अभावप्रतियोगी) के विरोध होने पर प्रकार विशेष (अन्योन्याभावत्वादि) की व्यवस्था की निरुक्ति (कथन) के असामर्थ्य (अशक्ति) से अविशेष (सामान्य) रूप से एक के निषेध होने पर अन्य की विधि ध्रुव (अवश्य) होता हुआ, अन्योन्याभाव का निषेध भी अन्योन्य की विधि के लिये होगा। क्योंकि अत्यन्ताभाव के स्थान में प्रतियोगी और अभाव में विरोध होता है, अन्योन्याभावस्थान में नहीं। परन्तु यह नियम तब होगा जब दोनों में प्रकार भेद की व्यवस्था (नियम) हो, लेकिन यह व्यवस्था ही नहीं है (परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः) इस न्याय से अन्योन्याभाव का निषेध अन्योन्यस्वरूप होगा, अतः अन्योन्याभाव का निषेधरूप संसर्गाभाव भी अन्योन्यस्वरूप होगा ॥ १०१ ॥

शंका होती है कि संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव के व्यवहारादि आप को भी करना ही होता है, अतः उनके लक्षणादि द्वारा व्यवस्था आप को भी कर्तव्य है। परन्तु इसमें कथित दोष आप के मत में प्राप्त होंगे, ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि—

मम चानिर्वचनीयतैव प्रतीतिव्यवहारव्यवस्थापर्य्यनुयोगबाणवारणाय वज्रवारबाणायमाना विजयते। मम ह्येवं दर्शनं–प्रतीतिसिद्धत्वात् अत्यन्तासद्विलक्षणं भवदपि जगत्तथा सत्त्वोपगमेपि बाध्यमानत्वादनिर्वचनीयमिति। अत एव प्रतीयमानत्वाद्वैचित्र्यमनयोर्घुष्यमाणमतिदूरनिरस्तम्। उक्तप्रतियोग्यादिवैचित्र्यानुपपत्तितः प्रतीयमानस्यैव बाध्यताया एव कथनात्। तस्मात्—

अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदव्यवस्थितौ।
सत्यां स्यात्तद्व्यवस्थेति स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ ३१ ॥

अभाव एव यत्रेतिसावधारणं च वक्तव्यम्? इति चेन्न ॥ १०२ ॥

नन्विदं प्रतीतिवैलक्षण्यमन्योन्यात्यन्ताभावयोस्त्वयाप्युपपादनीयमेवेत्यत आह—मम चेति। पर्यनुयोगलक्षणो बाणस्तस्यवारणाय वज्रस्य = लोहस्य, वारबाणः = कञ्चुकः (सन्नाहविशेषः) कञ्चुको वारबाणोस्त्रीत्यमरः। ननु प्रतीतिसिद्धमपि वैलक्षण्यमपह्नूयते इति महत्साहसमित्यत आह—मम हीति। प्रतीतिर्नापह्नूयते, किंतु विचारं न सहते इत्युच्यते इत्यर्थः। अत एवेति। बाध्यत्वादेवेत्यर्थः। ननु बाधमनभिधाय बाध्यत्वाभिधानं सर्वत्र सुलभमित्यत आह—उक्तप्रतियोग्यादीति। त्वदुक्तवैचित्र्येनुपपत्तिदर्शनं यत्कृतं तदेव बाधाभिधानमित्यर्थः। उपसंहरति—तस्मादिति। अन्योन्याभावो यो न भवत्यभावः स संसर्गाभाव इति संसर्गाभावस्यान्योन्याभावान्यत्वमादाय तदा व्यवस्था स्याद्यद्यन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदः स्यात्, स एव तु नाद्यापि सिद्धः, इति तदुभयभेदव्यवस्थयैव तदुभयव्यवस्थेत्यात्माश्रय इत्यर्थः। यद्वाप्रतीतिवैलक्षण्याद्विषयवैलक्षण्यं ततश्च प्रतीतिवैलक्षण्यमित्यन्योन्याश्रयएवात्माश्रय इत्यर्थः। ननु स्मृतित्वस्याभाव एव यत्र ज्ञाने तदनुभव—इत्युक्ते स्मृतौ न प्रसङ्गो, यतस्तत्र भावोपि स्मृतित्वस्येत्याशङ्कते—अभाव एवेति ॥ १०२ ॥

मेरे मत में तो अभाव की प्रतीति उसके व्यवहार का व्यवस्थाविषयक पर्यनुयोग (प्रश्न) रूप बाण का वारण (निवारण) के लिये अनिर्वचनीयता = सदसद्विलक्षणता= ब्रह्मभिन्नता ही वज्रतुल्य (दृढ) वारबाण (कवच) के समान आचरण करती हुई विराजती है, विजयलक्ष्मी (मुक्ति) को प्राप्त कराती है। अतः लक्षणादि के बिना आपके मत में अभाव के भेदादि के ज्ञान और व्यवहार कैसे होते हैं ? यह प्रश्न मेरे प्रति नहीं हो सकता, क्योंकि मेरा वक्ष्यमाण प्रकारवाला दर्शन (सिद्धान्त) है कि प्रतीति से सिद्ध होने के कारण अत्यन्त असत् (शशशृङ्गादि) विलक्षण होता हुआ भी भावाऽभावादिरूप जगत्, बाध्यमान (मिथ्यात्वेन अनुभूत) होने से सत्त्व के उपगम (प्रतीति) होने पर भी तथा (सदसत् से विलक्षण) अनिर्वचनीय है। अतएव (जगन्मध्यपाती होने से बाध्य होने से ही) इस संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव के प्रतीयमानता के कारण कथित विचित्रता भी अत्यन्त दूर से निरस्त (मिथ्या) सिद्ध हो जाता है। और पूर्वोक्त रीति से अभाव के प्रतियोगी लक्षणादि की विचित्रता को असिद्धि के कथन द्वारा प्रतीयमान की भी बाध्यता ही कही गई है जिससे विषय के बाध से प्रतीति भी बाधित (भ्रमरूप) सिद्ध हो जाती है। तस्मात् = लक्षणादि की विचित्रता की सिद्धि नहीं होने से, अन्योभाव और संसर्गाभाव के भेद की व्यवस्था होने पर (तद्व्यवस्था) अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वरूप संसर्गाभाव के लक्षण की व्यवस्था हो सकती है। और संसर्गाभाव के लक्षण व्यवस्थित होने पर उससे भिन्न अन्योन्याभावसिद्ध होता है। अतः अन्योन्याभाव की सिद्धि में भेदरूप अन्योन्याभाव के आश्रयण से स्वाश्रय (आत्माश्रय) दोष की कौन चिकित्सा (निवारण) कर सकता है ? प्रथम स्मृतित्वाभाववत्त्व अनुभूति के लक्षण करने पर स्मृतित्व के अन्यो्याभाव की स्मृति में भो सत्ता से स्मृति में अनुभवत्वापत्ति दोष कहा गया है, फिर अन्योन्याभाव के प्रसंग से यहाँ तक अभाव का विचार हुआ है। अब फिर शंका होती है कि (स्मृतित्वाभावती अनुभूतिः, इसके स्थान में (यत्र स्मृतित्वाभाव एव साऽनुभूतिः) जिसमें स्मृतित्व का अभाव ही हो भाव नहीं वह अनुभूति कही जाती है, ऐसा सावधारण लक्षण करने से स्मृति में अनुभूतित्व की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि उसमें स्मृतित्व के अन्योन्याभाव के रहने पर भी समवाय सम्बन्ध से स्मृतित्व रहता है, अनुभूति में स्मृतित्व का अभाव ही रहता है, परन्तु एवकारार्थ के अनिरूपण से यह शंका युक्त नहीं है ॥ १०२ ॥

एवकार से भाव का निषेध कहा जाता है। वह अभाव पद का ही अर्थ है। अतः एवकार का निवेश व्यर्थ है, इस आशय से कहते है कि—

एवकारेण किमधिकमभिधीयते ? । भावो निषिध्यते ? इति चेन्न, तस्याभावपदेनैव लब्धत्वात्; भावनिषेधोऽभाव इत्यनर्थान्तरमिदम्। भावसामानाधिकरण्यनिषेध एवकारार्थः ? इति चेत्, उक्तेनैव गतार्थत्वात्, अन्योन्याभावस्य च स्मृतावपि सम्भवात्, न हि भावसामानाधिकरण्यं स्मृतिः। स्मृतौ च भावमभावं चैकत्र मन्यमानेन तस्याप्येष्टव्यत्वात्, तयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वात्, न हि रूपरसयोरेकत्राभावे न तत्सामानाधिकरण्याभावः स्यात् ॥ १०३ ॥

अभाव एव यत्रेत्यवधारणेन भावनिषेधोभिप्रेतः, स चाभावपदलभ्य एवेत्यवधारण-वैयर्थ्यमिति परिहरति—एवकारेणेति। अभावपदेन भावनिषेधमात्रं लभ्यते भावसामाना-धिकरण्यनिषेधस्त्वेवकारलभ्यः इत्याशङ्कते—भावसामानाधिकरण्यनिषेध इति। स्मृतित्व-स्याभावो यत्रेत्युक्त्यैव भावसामानाधिकरण्यनिषेधोपि लभ्यते एव यतस्तस्मिन्नधिकरणे भावश्चेद्भावपदेन निषिद्धस्तदा भावसामानाधिकरण्यस्यापि निषेधः पर्यवसन्न एवेति परिहरति—उक्तेनैवेति। किंच, भावसामानाधिकरण्यनिषेधस्यान्योन्याभावरूपस्य स्मृतावपि सत्त्वादेवकारेणापि स दोषो न परास्त इत्याह—अन्योन्येति। किंच, भाव-सामानाधिकरण्यनिषेधः=भावेन सहासामानाधिकरण्यं, तच्च यथानुभूतौ, तथा स्मृता-वप्यगत्या त्वयाभ्युपेयं, यतो भावाभावयोः परस्परप्रतिक्षेपात्मकतया स्मृतित्वाभावे स्मृतौ स्वीकृते स्मृतित्वं तत्र नेष्टव्यमन्यथा परस्परप्रतिक्षेपात्मकतैव भावाभावयोर्भज्येत, तथाच स्मृतावपि भावसामानाधिकरण्यनिषेध एवकारार्थस्तुल्य एवेत्याह—स्मृतौ चेति। तस्यापीति। सामानाधिकरण्याभावस्यापीत्यर्थः। ननु समानाधिकरणयोरव्यसामाना-धिकरण्यमिति दुर्घटमित्यत आह—नहीति। पृथिव्यां समानाधिकरणयोरेव रूपरसयो-रेकत्र=तेजसि, रसाभावे सति तयोः सामानाधिकरण्याभावो न स्यादेवं न, किन्तु स्यादेवेत्यर्थः॥ १०३॥

(अभाव एव यत्र) यहाँ एवकार से क्या कहा जाता है? क्योंकि यदि स्मृतिरूप भाव का निषेध किया जाता है, ऐसा कहा जाय तो युक्त नहीं, वह भाव का निषेध तो अभाव पद से ही सिद्ध हो जाता है। भाव का निषेध और अभाव, ये दोनों (अनर्थान्तर) एकार्थक हैं। यदि कहा जाय कि अभाव पद से भाव (स्मृतित्व) का निषेध होता है, और उस निषेध (अभाव) का भाव के साथ (स्मृति के) सामाना-धिकरण्य (एक स्थान में स्थिति) का निषेध एवकार का अर्थ है, तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एवकाररहित (यत्र स्मृतित्वाभावः) जहां स्मृतित्व का अभाव हो, इतना ही कहने से भावसामानाधिकरण्य का निषेध सिद्ध हो जाता है। जहाँ अभाव पद से भाव का निषेध किया गया, वहाँ भाव का सामानाधिकरण्य अर्थतः (स्वयं) निषिद्ध हो जाता है अतः निषिद्ध का निषेध शब्दतः या अर्थतः पुनरुक्ति रूप होता है। और उस स्मृतित्व के अन्योन्याभाव का स्मृति में भी सम्भव होने से वह सामानाधिकरण्य का निषेध रूप है। अतः एवकार से सामानाधिकरण्य के निषेध करने पर भी दोष की निवृत्ति नहीं होने से एवशब्द का निवेश व्यर्थ प्रयास है। अर्थात् एक स्मृति में स्मृतित्व और स्मृतित्व के अन्योन्याभाव दोनों को मानने पर, स्मृतित्व के अन्योन्याभाव, और भाव के साथ निषेध का सामानाधिकरण्य दोनों स्मृति में प्राप्त होते हैं, क्योंकि स्मृति सामानाधिकरण्यरूप नहीं है, किन्तु भावसामानाधिकरण्य और अन्योन्याभाव का आश्रय उक्त रीति से स्मृतिसिद्ध होती है, और स्मृति में भाव (स्मृतित्व) तथा अभाव (स्मृतित्व का अन्योन्याभाव) इन दोनों को एक स्मृति में मानने वाले आप को इन दोनों का वह सामानाधिकरण्य का अभाव भी मन्तव्य ही होना चाहिये, क्योंकि उनका परस्पर (प्रतिषेधात्मक) प्रतिक्षेपस्वरूप होता है। यदि कहा जाय कि एक स्मृति में रहने वालों के सामानाधिकरण्य का अभाव कैसे माना जा सकता? तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि एक तेज में रूप और रस के एकत्र नहीं रहने पर भी पृथिवी में सामानाधिकरण्य होता है, अतः एकत्र तेज में रूप एवं रस के अभाव रहने पर भी

पृथिवी में रूप एवं रस का सामानाधिकरण्याभाव का अभाव नहीं होगा ऐसा नहीं। वैसे ही एक-एक स्मृति में रहने वालों का सामानाधिकरण्य और तदभाव किसी प्रकार हो सकता है! वस्तुतः एकत्राभावेन, इस प्रकार पाठ ही सत्य प्रतीत होता है ॥ १०३ ॥

शंका होती है कि—

समाविष्टयोर्भावाभावयोः परस्परम्प्रतिक्षेपात्मकतैव न सिद्धा? इति चेत्, तर्हि तथाविधयोर्भावाभावपदसङ्केतो ननु रूपरसयोरिति रुचिस्ते प्रमाणम्। रूपरसयोः परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वात् तदभावे तयोः सामानाधिकरण्याभाव आस्ताम् अत्र तु नैवम्? इति चेत्, तथात्वस्यासामानाधिकरण्यप्रयोजकत्वे तद्व्यतिरेकः सामानाधिकरण्यप्रयोजकः स्यादिति रूपरसादीनामसामानाधिकरण्यापत्तिः, भावाभावयोरसामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्च ॥ १०४ ॥

ननु परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वे सति स्मृतित्वतदन्योन्याभावयोः सामानाधिकरण्यप्रतिषेधः स्मृतौ सिद्ध्येत् परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वमनयोर्नास्ति समावेशदर्शनादिति शङ्कते—समाविष्टयोरिति। तर्हि प्रतियोगिना सह समाविष्टस्यापि कथमस्याभावपदवाच्यत्वं स्यात्, संसर्गाभावस्थले सर्वत्र प्रतियोग्यसमावेशस्यैव दर्शनात्, संसर्गाभावान्योन्याभावयोर्वैचित्र्यस्य त्वयाप्यसमर्थनात्, इति परिहरति—तर्हीति। ननु समानाधिकरणयोरपि रूपरसयोर्यदसामानाधिकरण्यं तत्र परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वं तन्त्रं, भावाभावयोस्तु परस्परप्रतिक्षेपात्मनोः सामानाधिकरण्ये कथमसामानाधिकरण्यं भवेदिति शङ्कते—रूपरसयोरिति। तदभावे इति। तदेकैकाभावे इत्यर्थः। अत्र त्विति। भावाभावयोरित्यर्थः। तथात्वस्येति। परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वस्येत्यर्थः। परस्परप्रतिक्षेपानात्मकत्वेन यदि रूपरसयोरसामानाधिकरण्यमुपपाद्यते तदा क्वचिदपि तयोः सामानाधिकरण्यं न स्यात्, न स्याच्च भावाभावयोर्वैयधिकरण्यमित्यर्थः। तदेवं स्मृतित्वतदन्योन्याभावयोः स्मृतावनुभवबलात् सामानाधिकरण्ये सत्येवाभावस्वरूपपर्यालोचनबलात् सामानाधिकरण्यनिषेधोऽप्युपपादित इत्यनुभवलक्षणं स्मृतावतिव्यापकमित्युक्तम्। न चैकत्रैव सामानाधिकरण्यमसामानाधिकरण्यं च भावाभावयोरनुपपन्नमिति वाच्यम्, यथा त्वयैकत्रैव भावाभावौ स्वीक्रियेते तथा सामानाधिकरण्यासामानाधिकरण्ये अपि स्यातामित्युक्तत्वात्। अन्योन्याभावस्यायमेव महिमा? इति तु न युक्तम्, अभाववैचित्र्यानुपपादनादिति भावः ॥ १०४ ॥

समाविष्ट (साथ में एकत्र स्थित) भाव (स्मृतित्व) और तदन्योन्याभाव को परस्पर प्रतिक्षेप (निषेध) रूपता ही नहीं सिद्ध हुई जिससे स्मृति में स्मृतित्व के अभाव से अनुभूतित्व की प्राप्ति हो। उत्तर यह है कि (तथाविध) परस्पर प्रतिक्षेपरहित एकाधिकरणवृत्तिस्मृतित्व और तदन्योन्याभाव में भावाभावपद का संकेत (शक्ति) हो, और एकत्रवृत्तिरूप रस में भावाभाव पद का संकेत नहीं हो, इसमें आप की रुचि ही प्रमाण है (स्वपक्ष में राग मात्र है) अर्थात् कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि रूप और रस को परस्पर प्रतिक्षेपानात्मकत्व है, प्रतिक्षेपात्मकत्व नहीं, अतः पृथिवी में उन दोनों के रहने पर भी तेज आदि में (तदभाव) एक-एक के अभाव रहते उन दोनों के सामानाधिकरण्य का अभाव भी हो सकता है, परन्तु इस भावाभाव में ऐसा नहीं हो

सकता। अतः परस्पर प्रतिक्षेपात्मक होने पर भी प्रतियोगी अन्योन्याभाव को सामानाधिकरण्य रहता है, केवल संसर्गाभाव में परस्पर प्रतिक्षेपात्मकता से भावाभाव में सामानाधिकरण्य नहीं होता। तो यह कथन युक्त नहीं है। क्योंकि तथात्व (परस्पर प्रतिक्षेपानात्मकत्व) यदि रूप एवं रस के तेज आदि में असामानाधिकरण्य का प्रयोजक (हेतु) होगा, तो उस परस्पर प्रतिक्षेपात्मकत्व का व्यतिरेक (अभाव) परस्पर प्रतिक्षेपात्मकत्व सामानाधिकरण्य का हेतु होगा। अतः परस्पर प्रतिक्षेपानात्मकत्व के तेज आदि में रूपादि के असमानाधिकरण होने पर उनका पृथिवी आदि में भी उनके असामानाधिकरण्य की प्राप्ति होगी, और परस्पर प्रतिक्षेपात्मक होने से सब भावाभावों में असामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति होगी। अतः अनुभव के बल से स्मृतित्व और उसके अन्योन्याभाव के स्मृति में सामानाधिकरण्य रहने पर भी अभावस्वरूपता के विचार से सामानाधिकरण्य का निषेध भी उपपादित होने से अनुभव लक्षण की स्मृति में अतिव्याप्ति कही गई है। और एक स्मृति में स्मृतित्व तदन्योन्याभाव के सामानाधिकरण्य और असामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे एक स्मृति में भावाभाव (स्मृतित्व एवं तदन्याभाव) को जैसे मानते हैं वैसे ही सामानाधिकरण्य और असमानाधिकरण्य भी हो सकते हैं इत्यादि ॥ १०४ ॥

फिर यहाँ शंका होती है कि—

असामानाधिकरण्यमेव यत्रेति विवक्षितम् ? इति चेन्न, एवकारार्थदौस्थ्यतादवस्थ्यात्, एतेन विलक्षण एवायमभावो भावसहासनानुपवेशी य एवकारसमभिव्याहारेणोच्यते-इति निरस्तम्, तस्यापि वैलक्षण्यं प्रतियोग्याश्रयनिषेधता साम्येपि सामानाधिकरण्यविरहादुन्नेयं, तच्च तुल्यम् अभावान्तरेण। सामानाधिकरण्याभावप्रत्ययेन इति चेन्न, प्रत्ययविशेषकस्यार्थस्य स्मृतावपि भावात्। अन्योन्याभावव्यतिरिक्तः स्मृतित्वाभावः, इत्युक्तौ स्मृतिव्यतिरिक्तपक्षोक्त एव दोषः। तदास्तां विस्तरः ॥ १०५ ॥

अत्र शङ्कते—असामानाधिकरण्यमेवेति। स्मृतौ तु सामानाधिकरण्यमपीति नातिव्याप्तिरित्यर्थः। एवकारेति। सामानाधिकरण्यनिषेधस्यैवकारार्थस्यात्रैवलब्धत्वात्पौनरुक्त्यमित्यर्थः। अथाभावस्य संसर्गाभावरूपत्वमेवकारलब्धमतो नान्योन्याभावमादायातिव्याप्तिरिति तु तयोर्वैचित्र्ये सति स्यादिति भावः। एवकारसमभिव्याहारमहिम्ना स्मृतित्वात्यन्ताभाव एव प्रतीयते इत्याशङ्क्याभाववैचित्र्ये सति तथा स्यात् तदेव तु नास्तीति परिहरति—एतेनेति। अभावान्तरेणेति। अन्योन्याभावेनेत्यर्थः। ननु सामानाधिकरण्याभावप्रत्ययेनैव एवकारसमभिव्याहारलभ्याभाववैलक्षण्यं सिध्यतीति शङ्कते—सामानाधिकरण्येति। सामानाधिकरण्याभावप्रत्यये सामानाधिकरण्याभाव एव विशेषकः, स चोक्तरीत्या स्मृतावपि मयोपपादित इति परिहरति—प्रत्ययेति। अन्योन्याभावव्यतिरिक्तः स्मृतित्वाभावः—इत्यत्र सकलतद्व्यतिरिक्तत्वं ? यत्किंचिद्व्यतिरिक्तत्वं वा विवक्षितम् ? इति विकल्पकदर्थितत्वमेवेत्याह—अन्योन्येति ॥ १०५ ॥

उक्तरीति से स्मृति में भावाभाव (स्मृतित्व एवं तदन्योन्याभाव) के सामानाधिकरण्य और असामानाधिकरण्य दोनों की सिद्धि होने पर, जहाँ भावाभाव का असामानाधिकरण्य ही हो वह ज्ञान अनुभव कहा जाता है, ऐसा अनुभूति का लक्षण होगा, तो स्मृति में

अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसका उत्तर यह है कि (असामानाधिकरण्यमेव) असामानाधिकरण्य ही इस लक्षण में भी एवकार के अर्थ के दौस्थ्य (पुनरुक्ति आदि) पूर्व के समान ही है। क्योंकि असामानाधिकरण्य शब्द से ही सामानाधिकरण्य के निषेध की सिद्धि हो जाती है। यदि कहा जाय कि भाव के साथ आसन (आश्रय) में अनुपवेश (अस्थिति) स्वभाववाला विलक्षण जो यह अत्यन्ताभाव है, वह एवकार के समभिव्याहार (साथ कथन) द्वारा कहा जाता है जिससे स्मृति के अत्यन्ताऽभाव वाला अनुभव सिद्ध होता है और स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं होती, तो यह कथन भी दौस्थ्य (दुर्निरूपणता) से हीं खण्डित है, क्योंकि प्रतियोगी, आश्रय, निषेधरूपता की अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव में साम्य (तुल्यता) रहने पर भी प्रतियोगी के साथ सामानाधिकरण्य के अभाव से उस अत्यन्ताभाव की अन्योन्याभाव से विलक्षणता अनुमेय होगी और वह प्रतियोगी के साथ सामानाधिकरण्य का अभाव, अभावान्तर (अन्योन्याभाव) के समान अत्यन्ताभाव में है। अतः विलक्षणता ही नहीं है। कारण यह है कि परस्पर प्रतिक्षेपरूपता से अन्योन्याभाव में भी प्रतियोगी के साथ सामानाधिकरण्य का अभाव कहा गया है। स्मृतित्व का अन्योन्याभाव स्मृतित्व जैसे स्मृति में रहता है वैसे स्मृतित्व और सामानाधिकरण्य स्मृति में रहते हैं, स्मृति सामानाधिकरण्यरूप नहीं है, इत्यादि कहा गया है। यदि कहा जाय कि अन्योन्याभाव में कथञ्चित् प्रतियोगी के साथ असामानाधिकरण्य होने पर भी उसकी प्रतीति नहीं होती है और अत्यन्ताभाव में प्रतीति होती है, अतः उस सामानाधिकरण्याभाव की प्रतीति से वैलक्षण्य (विलक्षणता) की अनुमिति हो सकती है। तो यह कहना भी समीचीन नहीं है क्योंकि उक्त असामानाधिकरण्य की प्रतीति का विशेषक (भेदक = वैलक्षण्यसाधक) अर्थ (असामानाधिकरण्य) के स्मृति में भी रहने से उसकी प्रतीति की भी प्राप्ति से प्रतीति की विलक्षणता से भी विषयवैलक्षण्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अन्योन्याभाव से भिन्न स्मृतित्वाभाव वाले ज्ञान को अनुभूति कहना भी असंगत है। क्योंकि ऐसा कहने पर स्मृतिव्यतिरिक्त पक्ष में पूर्वोक्त दोषों की प्राप्ति होती है। सब अन्योन्याभाव से भिन्नत्व का ज्ञान अशक्य है और अन्योन्याभाव एवं संसर्गाभाव के भेद की सिद्धि के बिना अन्योन्याभाव से भिन्नत्व का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः विस्तार यहाँ तक ही रहे, अन्य का फल नहीं है ॥ १०५ ॥

अब प्राभाकर मत में भी अनुभूति का लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता इसका प्रतिपादन किया जाता है—

नापि स्मृतित्वप्रतियोगिकमाश्रयस्य स्वरूपं तद्धीर्वेतिपक्षः, अन्योन्याभावेपि भवतामभावव्यवस्थायास्तादृशत्वेनोक्तप्रसङ्गस्य समानत्वात्। अथान्यदेव किंचित्संसर्गाभावनिर्वचनं क्रियते, तथाहि, स्मृतित्वस्य यत्र संसर्गितया निषेधस्तत्र तदभावस्य संसर्गाभावत्वं, यत्र तु तदात्मत्वेन तत्र तदभावस्य न संसर्गाभावता, किंत्वन्योन्याभावत्वमेव, सचेह न विवक्षितः, पूर्वक एव तु संसर्गाभावोऽभिधित्सितः? इति नैतद्विचारसहं, संसर्गितया निषेध-इति येयं तृतीया सा किं लक्षणे वा? सहयोगे वा? कारकभेदे वा करणादौ इति नाद्यः, संसर्गितया लक्षितस्यैवान्योन्याभावमादाय प्रस-

ज्ञात्। नापि द्वितीयः, तत्सहितस्यैवान्योन्यनिषेधस्य प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्॥ १०६॥

प्राभाकरमतेऽप्यनुभूतिलक्षणमनुपपन्नमित्याह—नापीति। स्मृतित्वे स्मर्यमाणे ज्ञानस्वरूपं ज्ञानस्वरूपज्ञानं वाऽनुभव इत्यपि नेत्यर्थः। अन्योन्याभावोऽपि त्वन्मतेऽधिकरणस्वरूपं तज्ज्ञानं वेति तमादाय स्मृतौ कृतस्य प्रसङ्गस्यापरिहार इत्याह—अन्योन्याभावेऽपीति। स्मृतित्वस्य संसर्गाभावो यत्रेत्येवानुभवलक्षणं संसर्गाभावनिरुक्त्योपस्कुरुते—तथाहीति। सचेहेति। अनुभवलक्षणे स न विवक्षित इत्यर्थः। संसर्गितयेति। संसर्गितया लक्षितं यत् स्मृतित्वं तत्स्मृतिर्न—इतिप्रतीतेरन्योन्याभावस्यापि तादूप्यात्तमादाय स्मृतावतिप्रसङ्गतादवस्थ्यमित्यर्थः। तत्सहितस्यैवेति। संसर्गितया सहितं स्मृतित्वं न स्मृतिरिति तदन्योन्याभावमादाय प्रसङ्गसत्त्वादित्यर्थः। न च संसर्गितायाः स्मृतित्वस्य च निषेधो यत्रेत्यर्थस्तथा च स्मृतौ स्मृतित्वसंसर्गितायाः निषेधो नास्तीति तत्साहित्याभावान्न प्रसङ्ग इति वाच्यम्, संसर्गितान्योन्याभावस्मृतित्वान्योन्याभावयोः साहित्यस्य स्मृतावपि भावादिति भावः॥ १०६॥

'भावान्तरस्वरूप ही अभाव होता है' प्राभाकर के इस मत के अनुसार स्मृतित्वप्रतियोगिक (स्मृतित्वसापेक्ष) पदार्थान्तर (अनुभव) रूप आश्रय (अभाव प्रतीति के विषय) का स्वरूप या उसका ज्ञान स्मृतित्व का अभाव होता है, यह पक्ष भी अयुक्त है। क्योंकि अन्योन्याभाव में भी अभाव की व्यवस्था (स्वरूप की सिद्धि) के उसी रीति से होने के कारण उक्त अतिव्याप्ति तुल्य ही रहेगी। अर्थात् स्मृतित्व का अन्योन्याभाव स्मृति स्वरूप होगा जिससे अनुभवत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि उक्त रीति से तो संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव (भेद) दोनों प्रतियोगी से अन्याश्रय का स्वरूप हो जाता है। अतः अन्य ही कुछ संसर्गाभाव का निर्वचन (लक्षण-व्याख्यान) किया जायगा, जहाँ स्मृतित्व का संसर्गितया (पदार्थान्तर के सम्बन्धिरूप से) निषेध हो, वहाँ अत्यन्ताभाव रहता है, और जहाँ तादात्म्यरूप से निषेध हो, वहाँ संसर्गाभावरूपता नहीं रहती, किन्तु अन्योन्याभावरूपता ही रहती है, अतः अनुभूति में स्मृतित्व की संसर्गाभावरूपता है, स्मृति में नहीं। क्योंकि अनुभव के इस लक्षण में, वह दूसरा विवक्षित नहीं है, पूर्ववृत्ति संसर्गाभाव ही विवक्षित है (अभिधान = कथन की इच्छा का विषय है)। परन्तु यह पक्ष भी विचार सह (सत्य) नहीं है। क्योंकि यहाँ विचारना चाहिये कि (संसर्गितया निषेध हो) इस वाक्य में यह जो तृतीया विभक्ति है, वह क्या लक्षण अर्थ में? या सह के योग (सम्बन्ध) अर्थ में? या करणादि कारक (क्रिया जनक) के भेदार्थ में है। अर्थात् संसर्गिता से लक्षित स्मृतित्व के अभाव को, या संसर्गिता सहित स्मृतित्व के अभाव को, या संसर्गिताकृत स्मृतित्व के अभाव को कहना है, यह विचारणीय है। यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति में संसर्गिरूप से लक्षित (ज्ञात) स्मृतित्व के ही अन्योन्याभाव को ग्रहण करके स्मृति में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि कि तत्सहित (संसर्गितासहितस्मृतित्व) के ही अन्योन्य निषेध (स्मृति में अन्योन्याभाव) का निषेध करना अशक्य है, संसर्गितासहितस्मृतित्व और स्मृति भी भिन्न ही है। अतः तत्सहित (भेद = अन्योन्याभावसहित) को ही निषेध करना अशक्य है॥ १०६॥

तृतीयस्तु न संभवति, अत्यन्तनिषेधस्यानुत्पत्तिधर्मकत्वात्, तस्य च प्रकृतोदाहरणत्वात्। प्रकारवाचिनीयं तृतीया? इति चेन्न, प्रकारशब्दार्थस्याधिकस्य निर्वक्तव्यत्वापातात्। प्रकारः प्रकार एव? इति चेन्न, अविदितलक्ष्यस्य लक्षणमनभिधायेतरव्यवच्छेदेन तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्; अन्यथा सर्वत्र प्रष्टारं प्रति लक्षणानभिधानापातात्। को घटः? इत्यादिपृष्टे 'घट एव घटः'-इत्याद्येवोत्तरं सङ्गच्छेत। प्रकार इति पक्षो नोपपन्नः, सदोषत्वाद्-इति वक्ता 'को दोषः'? इत्यनुयुक्तो 'दोष एव दोषः'-इत्यभिधायैव निर्वृत्तो भवेद् इति ॥ १०७ ॥

अत्यन्तेति। स्मृतित्वात्यन्ताभाववत्त्वं तव लक्षणत्वेनाभिमतं, तच्च नित्यमेवेति न संसर्गितया करणेन क्रियते॥ ननु संसर्गित्वेन प्रकारेण यो निषेधः स संसर्गाभावः, भवति हि नेह घटः संसृष्ट इति, तादात्म्याभावे तु नायं प्रकारः, पटसंसृष्टेपि घटे नायं पटात्मा घट इति प्रतीतेरिति शङ्कते—प्रकारेति॥ प्रकारशब्दार्थस्येति। 'संसर्गितां विहाय नान्यः प्रकारशब्दार्थः, संसर्गितासमभिव्याहृततायाश्च तृतीयायाः संसर्गितैव नार्थ इत्यर्थः। ननु प्रसिद्धार्थः प्रकारशब्दः किमत्र प्रश्नेनेत्याह—प्रकारः प्रकार इति। प्रसिद्धेप्यर्थे विप्रतिपन्नं प्रति प्रसिद्धिमात्रमतन्त्रमित्याह—अविदितेति। यद्वा, प्रकारस्य लक्षणप्रश्ने स्वरूपाभिधानमतन्त्रमित्याह—अविदितेति। ननु स्वरूपकथनेनैव लक्षणमुक्तमित्यत आह—अन्यथेति। अनिष्टान्तरमाह—प्रकार इति पक्ष इति। यद्यपि प्रकारवाचिनीयं तृतीयेति न युक्तं, सदोषत्वाद्-इत्युक्ते को दोषः? इतिपृच्छतो दोषविशेषस्वरूपाभिधानमावश्यकं, नह्यत्रापि लक्षणप्रश्नो, येन प्रकारलक्षणप्रश्नसमानन्यायता स्यात्, यद्यत्र विशिष्य दोषविशेषाभिधानं न भवेत्तदा सदोषत्वादिति हेतुरेव नोपपादितः स्यात्, तथापि दोषलक्षणप्रष्टारं प्रतीदमुक्तमिति भावः॥ १०७॥

तृतीय पक्ष तो नहीं हो सकता, क्योंकि अत्यन्तनिषेध (अत्यन्ताभाव) में नित्यत्व है, अतः उसमें अनुत्पत्तिधर्मकत्व (उत्पत्तिरहितत्व) है। उसकी संसर्गिता कर्ता या करण नहीं हो सकता। स्मृतित्वात्यन्ताभाववत्त्व अनुभूति का लक्षण आपका अभिमत है। अतः उस अत्यन्ताभाव को ही प्रकृत में उदाहरणत्व (लक्षणत्व) है उसका कर्ता या करण कोई नहीं हो सकता जिसका निषेध हो। यदि कहा जाय कि संसर्गित्वकरणत्वेन या कर्तृत्वेन अत्यन्ताभाव का निषेध नहीं होने पर भी संसर्गित्वेन प्रकारेण (संसर्गित्वरूप प्रकार से) जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है। अतः प्रकार वाचक यह तृतीया है। परन्तु यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि ऐसा मानने पर यदि संसर्गिता प्रकार हो, तब तो उस रूप से स्मृतित्व के स्मृति में भी रहने से अतिव्याप्ति है, और यदि उससे अधिक (अन्य) प्रकार हो, तो उसके लक्षण की वक्तव्यता प्राप्त होती है। अर्थात् संसर्गिता से अन्य उसमें प्रकार का अभाव है। यदि कहा जाय कि प्रसिद्ध होने से प्रकार रही है, उसके निर्वचन = लक्षण की आवश्यकता नहीं है। तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार तो (अविदितलक्ष्य) लक्ष्य को नहीं जानने वाले के प्रति लक्षण को नहीं कह कर उत्तर (अलक्ष्य) से व्यवच्छेद (भेद) पूर्वक उस लक्ष्य को दिखाना अशक्य है। अन्यथा (यदि लक्षण के बिना लक्ष्य दर्शाया जाय) तो सर्वत्र लक्षणादि पूछने वाले के प्रति लक्षण के अकथन की प्राप्ति होगी। लक्षण का कथन व्यर्थ होगा। और घट क्या है, ऐसा पूछने पर, उसके लक्षण को नहीं बता कर घट ही घट

है, इस प्रकार का ही उत्तर संगत होगा। और (दोष सहित होने से उक्त प्रकार पक्ष उपपन्न=सिद्ध नहीं हो सकता) ऐसा कहने वाला, क्या दोष है, इस प्रकार पूछे जाने पर, दोष ही दोष है, ऐसा कह कर ही निर्वृत्त (कृतकार्य = सुखी) होगा। परन्तु ऐसा नहीं होने से प्रकार अभावादि को मान कर उनके लक्षणों को कहे बिना सुखी नहीं बन सकता। अतः इन्हें सत्य नहीं मान कर, किन्तु अनिर्वाच्य मान कर और एक अद्वैत सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मात्मा को मान कर तत्स्वरूप से स्थिरतापूर्वक निर्वृत (कृतकृत्य = सुखी प्रसन्न) होना चाहिये, इत्यादि संसर्गाभाव और अन्योभाव के भेद के निराकरण का तात्पर्य है ॥ १०७ ॥

स्मृतिलक्षणरहित ज्ञान अनुभव है, इस तृतीय पक्ष में स्मृतित्वरहित ज्ञानपक्ष में उक्त दोष पहले दिखाते हैं—

स्मृतित्ववत् 'स्मृतेर्लक्षणान्तरेण रहितत्वमनुभूतित्वमिति प्रत्युक्तं वेदितव्यम्। 'गृहीतस्य ज्ञानं स्मृतिः' इति च स्मृतिलक्षणे धारावाहिकज्ञानेऽतिप्रसक्तिः। सापेक्षज्ञानं स्मृतिः, सापेक्षता च स्वविषयनियमे समानविषयज्ञानापेक्षा ? इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञायास्तत्ताभागस्य स्मृतित्वापत्तेः। एवमस्तु ? इति चेन्न, तर्हि प्रत्यभिज्ञायां स्मृत्यनुभवभागयोर्भिन्नविषयत्वव्यवस्थितौ तदभेदः केन गृह्येत ? इति पूर्वदोष आवर्त्तते। संस्कारमात्रजं ज्ञानं स्मृतिः इत्यपि न, सामग्रीतः सर्वसम्भवेन लक्षणस्याऽसम्भवात् ॥ १०८ ॥

संस्कारासाधारणकारणत्वरहितज्ञानत्वमनुभवत्वमित्याद्यनुभवलक्षणमनुपपन्नमित्याह—स्मृतित्ववदिति॥ गृहीतग्राहिज्ञानान्यज्ञानत्वमनुभवत्वमित्यपि न भवति, स्मृतिलक्षणभागस्य धारावहनातिव्याप्तेः अत एवानुभवलक्षणस्य धारावहनाव्याप्तिरित्याह—गृहीतस्येति। ननु गृहीतग्राहित्वेन जनकज्ञानविषयताप्रयुक्तविषयताकत्वं विवक्षितं, तच्च न धारावाहिकज्ञाने, येन तत्र स्मृतिलक्षणमतिव्याप्तं स्यादित्याह—सापेक्षज्ञानमिति। धारावहने विषयनियमो यद्यपि न पूर्वज्ञानाधीनस्तथापि प्रत्यभिज्ञाभागे पूर्वानुभवाधीन एवेति तत्रातिव्याप्तिरित्याह—प्रत्यभिज्ञाया इति। तदभेद इति। तत्ताविशिष्टाभेद इत्यर्थः। असम्भवादिति। आत्ममनसोरपि तत्कारणत्वादित्यर्थः ॥ १०८ ॥

स्मृतित्ववत् (स्मृतित्वरहितज्ञानत्वमनुभूतित्वम्) इस लक्षण पक्ष में जैसे स्मृतित्व के अन्योन्याभाव को ग्रहण करके स्मृति में अतिव्याप्ति कही गई, उसी तरह समवाय-सम्बन्ध से स्मृतित्ववत्तारूप स्मृति के लक्षण की अपेक्षा अन्य स्मृति के लक्षण से रहितत्वरूप अनुभूतित्व को खण्डित समझना चाहिये, अर्थात् अन्य स्मृतिलक्षण के भी स्मृति में अन्योन्याभाव के ग्रहण द्वारा अतिव्याप्ति होगी। और स्मृतिलक्षण की दुर्निरूपणता से भी स्मृतिलक्षणरहितत्व अनुभव का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि गृहीत (पूर्वज्ञात) के ज्ञान को स्मृति कहें या ज्ञातज्ञानत्व स्मृति का लक्षण कहें, तो धारावाहिक (एक वस्तु के ज्ञानप्रवाह) ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी। कारण यह है कि पूर्व-पूर्व ज्ञान से गृहीत का ही वहाँ उत्तर-उत्तर ज्ञान से ग्रहण होता है। सापेक्ष (अन्य ज्ञान संस्कारजनक की अपेक्षा युक्त) ज्ञान को स्मृति कहें, और स्मृति को अपने विषय के नियम में समान विषय वाला संस्कारजनक पूर्वज्ञान की अपेक्षा से ही सापेक्षता कहें, तो प्रत्यभिज्ञा के तत्ता अंश को स्मृतित्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि (सोऽयम्) वही यह है,

इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के (सः) वही, इस तत्ता अंश में समानविषयवाला पूर्वज्ञान की अपेक्षा रहती है। यदि कहा जाय कि (एवमस्तु) तत्तांश में प्रत्यभिज्ञा स्मरण ही हो तो प्रत्यभिज्ञा में तत्तांश में स्मृतिरूप और इदम् (अयम्) अनुभवरूप होने से उन स्मृति एवं अनुभव दोनों को भिन्नविषयकत्व व्यवस्थित (निश्चित) होने पर तदभेद (तत्तायुक्त का अभेद) किससे गृहीत (ज्ञात) होगा? अर्थात् (उसके ज्ञानाभाव की प्राप्ति होगी) यह पूर्वोक्त दोष यहाँ भी प्राप्त होता है। संस्कारमात्रजन्यज्ञानत्वम्, ऐसा स्मृति का लक्षण करें, तो मात्र पद से प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति नहीं होती है, तथा संस्कारजन्यभयादि में ज्ञानपद से अतिव्याप्ति नहीं होती है, तथापि साधारणासाधारण कारण की सामग्री (समूह) से सब कार्य के सम्भव (जन्म) से स्मृति भी आत्ममनः संयोग, देश एवं कालादि से जन्य होती है, अतः संस्कारमात्रजन्यत्वरूप लक्षण असम्भव है॥ १०८॥

असाधारणतद्धेतुकधीत्वम्? इति चेन्न, आत्मप्रत्यभिज्ञानेऽप्यापत्तेः आत्ममनोयोगस्य साधारण्यात्; कार्यैक्यानवधारणे च कारणत्वानवधारणात्; तदैक्ये च तदेव लक्षणं स्यात्। येन ज्ञानेनार्थो ज्ञाततात्मकः क्रियते तदनुभवः, येन तु ज्ञातमेव ज्ञाततात्मकत्वेन क्रियते तत्स्मरणम्? इति चेन्न, 'ज्ञातो ज्ञास्यते चे'त्यनुमानादावप्यापत्तेः॥ १०९॥

असाधारणेति। संस्कारासाधारणकारणकत्वमित्यर्थः। असाधारण्यं यदि तदितराजनकत्वे सति तज्जनकत्वं तदा तत्रासिद्धं, संस्कारेण स्वध्वंसस्यापि जननात्, संस्कारेण स्वविषयाभ्यासबुद्धिसहितेन संस्कारान्तरजननाच्च; यदि च स्मृतित्वावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिककारणतावच्छेदकरूपवत्त्वं तदाऽग्रे दूष्यमिति दोषान्तरमाह—आत्मेति। आत्ममनसोस्तत्रापि साधारणत्वादसाधारण्यं संस्कारमात्रस्यैवेत्यर्थः। यद्यपि मनोपीन्द्रियत्वेनासाधारणम्, एवमात्मापि विषयत्वेन, तथाच न संस्कारमात्रासाधारणकारणत्वं, तथापि स्वपरिभाषामात्रमेतदिति भावः। संस्कारस्य स्मृतिं प्रत्यसाधारणकारणत्वं स्मृतित्वावच्छेदेन निर्वहेत्, स्मृतित्वमेवानुगतं नाद्यापि सिद्धं, सिद्धौ च तदेव लक्षणमित्याह—कार्यैक्येति। भाट्ट स्मृत्यनुभवविभागं दूषयितुं शङ्कते—येनेति। अनुभवेनार्थे ज्ञातताल्क्षणो धर्म आधीयते, स च धर्मो धर्मधर्मितादात्म्यवादिनो भट्टस्य मते धर्म्यात्मक एव इति येनार्थो ज्ञाततात्मकः क्रियते इत्युक्तं, स्मृत्या तु ज्ञात एवार्थो ज्ञायते इति ज्ञाततैव ज्ञाततात्मिका क्रियते इत्युक्तम्। अनुमानेनापि ज्ञातता ज्ञाततात्मिका क्रियते इति स्मृतिलक्षणं तत्रातिव्याप्तमित्याह—ज्ञात इति। अतीतानागतस्थले ज्ञातताऽऽधानमशक्यं, वर्तमानेपि विषये ज्ञातो घटः—इति ज्ञानवैशिष्ट्यमात्रग्रहो, नतु ज्ञाततावैशिष्ट्यग्रहः, अन्यथा कृततेष्टतादिधर्माऽऽधानप्रसङ्गः इति भावः॥ १०९॥

संस्कार जिसका असाधारण कारण हो, वह स्मृति है ऐसा लक्षण करने पर आत्मा के (सोऽहम्) इस प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसका भी असाधारण कारण संस्कार ही होता है। आत्मा और मन का संयोग तो ज्ञानमात्र (सब ज्ञान) का हेतु होता है। अतः वह आत्मप्रत्यभिज्ञा का असाधारण हेतु नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि स्मृति का भी कारण होने से संस्कार (सोऽहम्) इस प्रत्यभिज्ञा का असाधारण कारण नहीं है। तो इसका प्रत्युत्तर यह है कि इस प्रत्यभिज्ञा का कारण

होने से स्मृति का असाधारण नहीं है, अतः लक्षण सिद्ध नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि (कार्यैक्य) स्मृतिनिष्ठ एककार्यता का अवच्छेदक (स्मृतिमात्रनिष्ठ कार्यता का संग्राहक = बोधक) धर्म के अवधारण के बिना संस्कार में कारणत्व का भी अवधारण नहीं हो सकता। और स्मृतित्व का अभी अवधारण ही नहीं हुआ है। यदि एक स्मृतित्वजातिरूप धर्म सिद्ध हो जाय तो वही स्मृति का लक्षण होगा, तब अन्य लक्षण का अन्वेषण ही व्यर्थ है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा में अनुभूतित्व के साथ सांकर्य से स्मृति-जाति की सिद्धि का सम्भव नहीं है। धर्म को धर्मीस्वरूप मानने के कारण विषय में ज्ञान-जन्य ज्ञातता को भी विषयरूप मानने वाले भट्ट के मतानुसार लक्षण किया जाय कि जिस ज्ञान से अर्थ = विषय ज्ञाततात्मक = ज्ञातस्वरूप किया जाता है, वह ज्ञान अनुभव-रूप होता है। और जिस ज्ञान से ज्ञात (अनुभूत) ही विषय ज्ञाततात्मकत्व (ज्ञातता स्वरूप) से विषय किया जाता है (ज्ञातता ज्ञातता युक्त की जाती है) वह ज्ञान स्मृति रूप होता है। परन्तु यह लक्षण भी असंगत है। अमुक वस्तु मुझे ज्ञात है, क्योंकि उसका मैं व्यवहार करता हूँ, अमुक का विचार करता हूँ अतः वह ज्ञात होगा। इस प्रकार (ज्ञातो ज्ञास्यते) इत्यादि भूतभावी के अनुमानादि में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि उससे भी ज्ञात में ही वस्तुतः ज्ञातात्मत्व ज्ञानविषयत्व (ज्ञाततायुक्तत्व) की सिद्धि होती है। वस्तुतः जहाँ प्रतीतानागत का अनुमान होता है, वहाँ विषय की अवर्त-मानता से उसमें ज्ञातता नहीं होने पर भी उस अनुमित के स्मरण में अव्याप्ति होगी। एवं वर्तमान विषय की अनुमिति आदि में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि व्याप्तिग्रहणकाल में कथञ्चित् ज्ञात विषय को ग्रहण करती है। अतः (ज्ञातो घटः) इस अनुव्यवसाय से विषय के साथ ज्ञान का सम्बन्धमात्र भासता है, ज्ञाततारूप अपूर्व धर्म में कोई प्रमाण नहीं है। इससे ज्ञातताघटित स्मृति का लक्षण अयुक्त है और भूत एवं भावी विषय में ज्ञातता मानने पर उक्त अनुमिति में अतिव्याप्ति स्पष्ट ही है ॥ १०९ ॥

ततश्च विषयतः स्मृतिविवेचनम्, अन्ततो वाक्येनाप्यनुभाव्यत्वात्, कार्यकारणाभ्यां चानुगतरूपस्य प्रागसिद्धेर्जातितश्च सङ्करप्रसङ्गादशक्य-मिति ॥ ११० ॥

सर्वप्रकारेण स्मृतिलक्षणानुपपत्तिमुपसंहरति—ततश्चेति। स्मृतिविवेचनमशक्यमिति योजना। विषयत इति। गृहीतविषयग्राहित्वम्-इत्यादिना विषयतः स्मृतिलक्षणमेतल्ल-क्षणवाक्यजन्यानुभवातिव्यापकं, लक्षणवाक्येन तत्रानुभवोवश्यं जन्यः इति अन्ततः इत्यस्य स्वरसः। कार्यद्वारा कारणद्वारा च स्मृतिलक्षणं तदा स्याद्यदि कारणतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकं वाऽनुगतं निर्वहेत्, तच्चन स्मृतित्वाद्येव, तस्य खण्डितत्वात्; नच स्मृ-तित्वं जातिरेवलक्षणं, प्रत्यभिज्ञायामनुभवत्वसाङ्कर्येण तन्निरासादित्यर्थः ॥ ११० ॥

उक्त हेतु से अतिव्याप्ति आदि दोष से विषय द्वारा स्मृति का विवेचन (लक्षण) अशक्य है। ज्ञातताविषयकस्मरण के समान अनुमिति आदि तो होते ही हैं तथा धारा-वाही ज्ञान का विषय भी ज्ञात रहता है। अतः ज्ञातविषयकत्वरूप से स्मृति का विवेचन अशक्य है। अन्ततः (स्वभाव से ही) गृहीतविषयग्राहिणी स्मृतिः इत्यादि लक्षण वाक्य से भी स्मृति का विषय अनुभाव्य (अनुभव का विषय) होता है। क्योंकि ज्ञात का

हो अन्य को समझाने के लिये लक्षणवाक्य का प्रयोग होता है। अतः वाक्य का प्रयोग-कर्ता और श्रोता को ज्ञात विषय का ही ज्ञान होता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति होने से लक्षण अयुक्त है। कार्यकारण द्वारा भी स्मृतिविवेचन अशक्य है, क्योंकि अनुगत (स्मृतित्वादि) रूप धर्म की पूर्व से असिद्धि है और उक्त रीति से प्रत्यभिज्ञा में संकर की प्राप्ति से जाति द्वारा भी स्मृति का विवेचन असंभव है। वस्तुतः भेद का स्मरण भी दुःख का हेतु और दुःखरूप है। अतः उसकी चिन्ता को त्याग कर अद्वैतात्मा चिन्तनीय है॥ ११०॥

पूर्व में अनुभव के लक्षणविषयक चार विकल्प किये गये थे, उनमें तीन का खण्डन हो चुका। पूर्वप्रसंग में 'स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वमनुभूतित्वम्' इस तृतीय कल्प (पक्ष) का खण्डन करते हुए स्मृतिलक्षण का भी खण्डन किया गया है। अब (तदविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधारणबुद्धित्वमनुभवत्वम्) इस चतुर्थ पक्ष का खण्डन किया जाता है-

नापि चतुर्थः, यतः कार्यगतवैलक्षण्यानवगमे क्व कारणता? क्वाऽसाधारण्यं वा ज्ञेयम्? इति न केवलं प्रत्येकं पदार्थस्य तद्व्यवच्छेदकत्वस्य चानुपपत्तिर्मिलितेप्यस्मिन् लक्षणे दूषणमुच्यते तथाहि तत्त्वानुभूतिः प्रमा इत्यनेन काकतालीयमपि यथार्थज्ञानं व्याप्यते। तद्यथा पाणौ पञ्च वराटकान् पिधाय कश्चित् पृच्छति कति वराटकाः? इति पृष्टश्चाऽजाकृपाणीयन्यायेन ब्रवीति पञ्चेति ततः पञ्चेति ज्ञानमस्ति वक्तुः श्रोतुश्च, दृश्यन्ते तावदेवंविधान्युदाहरणानि, तच्च ज्ञानं न तत्त्वपदेन व्यवच्छेत्तुं शक्यं, वस्तुतस्तस्य पञ्चसङ्ख्यावच्छिन्नत्वेनाऽतथाभूतत्वाभावात्। नाप्यनुभवशब्दव्यवच्छेद्यम्, अननुभूतचरत्वेन स्मरणलक्षणोपेक्षणात्। नच वक्तुः संशय एव निश्चायकाभावात् एकतरकोटिव्यवहारस्तु कृष्यादिप्रवृत्तिवद् इति युक्तं, तत्राप्याहाररूपैककोटिनिश्चयाऽऽस्थानात्, अन्यथा संशयस्य कोटिद्वयनिश्चयसमुच्चयतापत्तेः॥ १११॥

तदनेन स्मृतिलक्षणरहितज्ञानत्वमिति तृतीयं कल्पं खण्डयता स्मृतिलक्षणमपि खण्डितम्, इदानीं तदविदूरप्राक्कालोत्पत्तिनियतासाधारणकारणबुद्धित्वमनुभवत्वम् इति चतुर्थं विकल्पं खण्डयति—नापि चतुर्थ इति। अनुभवं प्रत्यसाधारणं कारणमिन्द्रियसन्निकर्षलिङ्गपरामर्शपदज्ञान—सादृश्यज्ञानरूपमव्यवहितप्राक्कालोत्पत्तिकं वाच्यं, तस्य च कारणता अनुभवं प्रत्यनुभवत्वजातिमन्तरेण दुर्ग्रहेत्यर्थः। तत्त्वानुभूतिः प्रमा इति लक्षणे प्रातिभे ज्ञानेतिव्याप्तिमापादयितुं भूमिमारचयति—न केवलमिति। एतेन श्वो मे भ्राता समागमिष्यतीति, शालिवाहननृपतिरिदानीं श्रृङ्गारसरसीतीरे देव्या लीलावत्या सह ललितमधुरं सङ्गीतकमनुतिष्ठतीत्यादिप्रातिभज्ञानातिव्याप्तिरूहनीया। तदेवाह—दृश्यन्त इति। नच वक्तुरिति। तथाच संशयत्वेनाऽतत्त्वकोटिप्रवेशात्तत्त्वपदेनैव तादृशज्ञानव्यवच्छेद इति भावः। ननु संशये क्वचिदपि नैककोटिव्यवहार इत्यत आह—कृष्यादीति। कृषौ फलं भविष्यति नवेतिसंशये भविष्यत्येव फलमित्येकतरामेव कोटिं यथा कृषीवला व्यवहरन्तीत्यर्थः। सहकारिसम्पत्तौ कृषेरवश्यं फलमिति ज्ञानमाहारः। अन्यथेति। एककोटिकनिश्चयस्यापि संशयत्वेऽन्योपि संशयो निश्चयसमुदायरूपः स्यादित्यर्थः। यद्वा, यदि संशयोपि निश्चयव्यवहारजनकः स्यात्तदा कोटिद्वयनिश्चयात्मक एव स्यादित्यर्थः॥ १११॥

चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि कार्यरूप अनुभूतिगत वैलक्षण्य (विलक्षणता = कार्यतावच्छेदक अनुभवत्व धर्म) जब तक ज्ञात नहीं हो तब तक किसके प्रति नियत पूर्ववर्त्ती प्रत्यक्षादि प्रमाणों की कारणता और कहाँ असाधारणता होगी ? लक्षण की सिद्धि के बिना वह धर्म सिद्ध ही नहीं हो सकता। यदि लक्षण के बिना धर्म सिद्ध हो तो अन्य लक्षण की आवश्यकता ही समाप्त हो जायगी। तादृश धर्म के कथन मात्र से ही प्रयोजन सिद्ध हो जायगा। तत्त्वानुभूति, इस लक्षण में केवल तत्त्व और अनुभूति पद के अर्थ की ही अनुपपत्ति अर्थात् उनके व्यवच्छेदक (व्यावृत्तिजनकत्व) की अनुपपत्ति इस लक्षण में नहीं कही जाती है। किन्तु इस मिलित (सम्पूर्ण) लक्षण में भी दूषण (अप्रमा में अतिव्याप्ति) दिया जाता है। (तत्त्वानुभूतिः प्रमा) इस लक्षण से काकतालीय (यादृच्छिक = प्रमाणाजन्य) भी यथार्थज्ञान व्याप्त (गृहीत) होता है। जहाँ ताल वृक्ष पर काक के गमनकाल में परिपक्व तालफल गिरे, वहां काकतालीयन्याय कहा जाता है। उक्त दोष निम्नप्रकार का है—कोई मनुष्य पांच वराटका (कौड़ियों) को हाथ में छिपाकर किसी से पूछा कि मेरे हाथ में कितनी कौड़ियां हैं, फिर जिससे पूछा गया वह अजाकृपाणीयन्याय से (दैवयोग से) कहा कि पांच हैं। उससे वक्ता और श्रोता दोनों को 'पांच' यह ज्ञान है, यह निश्चय होता है। कहीं शिथिल बन्धनयुक्त तलवार लटकाया हो, और बकरा वहां शरीर खुजलाने जाय, उसी समय तलवार के गिरने से यदि बकरा कट जाय तो उसको अजाकृपाणीयन्याय (दृष्टान्त) कहा जाता है। इसी प्रकार श्रोता को दैवयोग से पांच का ज्ञान होता है वक्ता तो जान करके ही पूछता है। और इस प्रकार के अन्य भी उदाहरण अवश्य देखे जाते हैं, जैसे कि वाष्प में धूमज्ञान से प्रवृत्त होने पर दैवयोग से आग मिलती है इत्यादि यहां अग्निज्ञान यथार्थ होता है। इस प्रकार यादृच्छिक यथार्थ ज्ञान लक्षणगत तत्त्वपद से व्यावृत्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि वस्तुतः उस ज्ञान के पञ्चत्व संख्या से अवच्छिन्नतव (पञ्चत्व संख्यायुक्तविषयकत्व) होने के कारण अतथाभूतत्त्व (भ्रमत्त्व) का अभाव है और तत्त्व पद से भ्रम की ही व्यावृत्ति होती है। अनुभवपद से भी ज्ञान की व्यावृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि अनुभवपद से स्मृति की व्यावृत्ति होती है। वह यादृच्छिक ज्ञान, अननुभूतचरत्व (अज्ञातविषयकत्व) से स्मरण के लक्षण का उपेक्षण (उपेक्षा=त्याग) करता है। यदि कहा जाय कि 'पञ्च' इस प्रकार वक्ता द्वारा उक्त वाक्यजन्य ज्ञान संशयरूप ही रहता है, क्योंकि निश्चायक (निश्चय के हेतु) प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अभाव है। अतः अतत्त्वज्ञान होने से लक्षणगत तत्त्वपद से उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि संशय रूप होने से एक कोटिक (पांच है) ऐसा व्यवहार (कथन) नहीं होना चाहिये, किन्तु (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) ठूठ है या पुरुष, इस संशय के समान (पांच या सात) इत्यादि दो कोटिक व्यवहार होना चाहिये, तथापि कृषि आदि में प्रवृत्त पुरुष फल के संशय रहने पर भी संभावनामात्र से जैसे एक कोटिक व्यवहार करता है कि फल (अन्नादि) होगा, वैसे ही उत्तर देने वाला एक कोटिक (पांच) व्यवहार करता है। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि कृषि आदि की प्रवृत्ति (व्यवहार) में भी आहार (उत्प्रेक्षा = सहकारीसाधनों के रहने पर फल की अवश्य प्राप्ति का ज्ञान)

रूप एक कोटिक निश्चय के स्वीकार से दृष्टान्त असिद्ध है जैसे कृषि में संशय से प्रवृत्ति नहीं होती है वैसे ही (पांच है) यह व्यवहार संशय से नहीं होता है, अतः तत्त्व पद से इस ज्ञान की व्यावृत्ति नहीं होगी। (अन्यथा) एककोटिक (पांच) इत्यादि निश्चय को भी संशय मानने पर, उभय कोटिक संशय को भी कोटिद्वय के निश्चय के समुच्चयता (समूहरूपता) की प्राप्ति होगी, अर्थात् दो निश्चय का समुच्चय का संशय नाम होगा। अतः उत्प्रेक्षा ज्ञान संशय नहीं कहा जा सकता और न तत्त्वपद से उसकी व्यावृत्ति हो सकती है ॥ १११ ॥

यादृच्छिक ज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि वह भी लक्ष्य ही है, इस आशय से शंका करके उत्तर देते हैं—

नच प्रमैव तदित्युररीकरणीयं, मध्येऽध्यक्षादि दुरन्तर्भावत्वात्। अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सतीति विशेषणीयम्? इति चेत्, न, तत्त्वपदवैयर्थ्यापातात्। नच काकतालीयसंवादमपि ज्ञानं व्यभिचारिकारणसामग्रीजन्यमास्थातुमीशिषे व्यभिचारिणोपि करणविशेषाद्यथार्थत्वप्रसङ्गात्, न ह्यहेतुकमेवाऽस्य यथार्थत्वं, नियामकाभावेनातिप्रसङ्गापाताद्। अवश्यमस्याव्यभिचारित्वे अव्यभिचारिनियतमेव करणं वक्तव्यम्। किं तद्? इति चेत्, स्वात्मनैवात्र प्रश्ने दीयतामुत्तरं भवता, येन नियतेषु प्रमाराशिष्वेवेदं ज्ञानमन्तर्भाव्यम् प्रमासामान्यलक्षणेन वा व्यवच्छेत्तव्यम् ॥ ११२ ॥

मध्ये इति। प्रत्यक्षादिविजातीयकरणजन्यतया प्रत्यक्षादिप्रमासु तदनन्तर्भावादित्यर्थः। अव्यभिचारीति। प्रमालक्षणमव्यभिचारिकरणजन्यत्वेन विशेषणीयम्, इदं तु ज्ञानं व्यभिचारिलिङ्गजन्यमिति नातिव्याप्तिरित्यर्थः। तत्त्वेति। अव्यभिचारिकरणजन्यानुभूतिः प्रमेतिलक्षणादेव भ्रमव्यावृत्तेरित्यर्थः। प्रकृतज्ञानमव्यभिचारीत्यव्यभिचारिकरणजन्यमभ्युपेयमित्याह—काकतालीयेति। अत्रानिष्टप्रसङ्गमाह—व्यभिचारिणोपीति। यदि यथार्थज्ञानस्याव्यभिचारिकरणजन्यत्वं न मन्तव्यं तदा दुष्टेन्द्रियलिङ्गादेरपि प्रमोत्पद्येतेत्यर्थः। अस्येति। काकतालीयसंवादिज्ञानस्येत्यर्थः। अव्यभिचारिकरणमनुपलम्भबाधितमित्याशयेनाह—किमिति। कार्यबलादायातं नाऽनुपलम्भबाधितमित्याह। स्वात्मनैवेति। प्रमासामान्येति। यथार्थत्वे तदशक्यमिति भावः ॥ ११२ ॥

वह यादृच्छिक यथार्थ ज्ञान प्रमा ही है, इस प्रकार स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) आदि (प्रमा) प्रमाणों के मध्य में इसका दुरन्तर्भाव (अन्तर्गतत्व का अभाव) है। यदि प्रमा के लक्षण में 'अव्यभिचारिकरणजन्यत्वे सति' यह विशेषण दिया जाय और यादृच्छिक ज्ञान को व्यभिचारिकरणजन्य मानने से उसमें अतिव्याप्ति का अभाव स्वीकार किया जाय तो यह युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर लक्षणगततत्त्व में व्यर्थता की प्राप्ति होगी। उक्त विशेषण से ही व्यभिचारिदोषकरण जन्य भ्रम का निवारण हो जायगा। वस्तुतः उक्त विशेषण से भी यादृच्छिक यथार्थ ज्ञान का व्यवच्छेद नहीं किया जा सकता क्योंकि काकतालीय = सम्वादि (सफलप्रवृत्तिजनक) यथार्थ ज्ञान को भी व्यभिचारिकरण सामग्रीजन्य स्वीकार नहीं कर सकते। अन्यथा = व्यभिचारी भी करणविशेष (भ्रमज्ञान के साधनों) से ज्ञान को यथार्थता की प्राप्ति होगी इस स्थिति में भ्रम ज्ञान का लोप हो जायगा। कारण यह है कि

व्यभिचारी (भ्रमज्ञान) को भी दुष्टेन्द्रियादिरूप साधन विशेष से यथार्थता की प्राप्ति होगी। इस काकतालीय यथार्थ ज्ञान को निर्हेतुक (यथार्थत्व के हेतु के बिना ही) यथार्थत्व नहीं हो सकता। अर्थात् व्यभिचारिसाधनजन्य ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता क्योंकि यथार्थता के नियामक (हेतु) के अभाव से अतिप्रसंग होगा, व्यभिचारी एवं अव्यभिचारी से भ्रम होने लगेगा। अतः इस काकतालीय ज्ञान के अव्यभिचारित्व (यथार्थत्व) अव्यभिचारिनियत ही कारण अवश्य वक्तव्य है। यदि यह कहा जाय कि वह कारण क्या है? अर्थात् उससे कोई प्रत्यक्ष ज्ञान ही नहीं होता है। अतः वह कारण नही है। तो इसका उत्तर यह है कि आप अपनी आत्मा से ही उत्तर दें, अर्थात् प्रत्यक्ष-ज्ञान के अभाव मात्र से वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं है, अतः यथार्थ काकतालीय ज्ञान-रूप कार्य से उसका व्यभिचारी कारण अनुमेय है, जिससे नियत प्रत्यक्षादि प्रमाओं के समूह में ही यह ज्ञान अन्तर्भूत किया जा सके। या प्रमा के सामान्यलक्षण द्वारा प्रमाणनिर्वचनवादी से ही यह ज्ञान प्रमा से व्यवच्छेतव्य (पृथक् कर्तव्य)। अनिर्वचनीय-वादी का यह कर्तव्य नहीं है ॥ ११२ ॥

एवं लिङ्गाभासादिभ्योऽपि जातं लिङ्गिज्ञानं दैवगत्या स्थितलिङ्गलिङ्गिनि लिङ्गिमत्येव वा यत् स्यात् तत्तु यद्यपि लिङ्गाभासे न प्रमा, न वा तद्वति लिङ्गिस्वरूपे, तथापि विशिष्टं तथाविधं गोचरयन्त्यास्तस्या बुद्धेर्लिङ्गान्तरवति केवले वा लिङ्गिनि वह्न्यादावप्यंशे विषये प्रामाण्यस्वीकारेणोक्तदोषापरिहारादिति। आभासकरणजत्वात्तद्विषयस्य वस्तुभूतलिङ्ग्यादेरन्यत्वमेव इति चेन्न, विशेषस्यान्यत्वेऽपि तज्जातीयमात्रवत्तावभासांशे दोषापरिहारात्। सामान्यसम्बन्धकोटिनिविष्टत्वाद्विशेषस्य। तस्य च तत्रानवस्थितस्यैव स्फुरणान्नैष दोषः इति चेन्न, विशेषाप्रतिभासे सामान्यतस्तन्मात्रवत्ताप्रतिभासस्याप्यभ्युपेयत्वात्, देवदत्तयज्ञदत्तसम्बन्धितासंशयेऽपि पुरुषसम्बन्धितया निश्चयवत्। सम्बन्धिविशेषस्य निर्लुण्ठितविशेषरूपतया च प्रवेशे व्याप्त्यादेरननुगमप्रसङ्गात् ॥ ११३ ॥

धूलीपटले धूलभ्रमाजातायां च वन्ह्यंशे यथार्थानुमितौ तत्त्वानुभूतित्वं लक्षणमति-व्यापकमित्याह—एवमिति। अनुमितिविषयो वह्निस्तत्र नास्तीत्ययाथार्थ्यमेव तत्रेति शङ्कते—आभासेति। तथापि वह्निमत्त्वं तत्राबाधितमेवेत्याह—विशेषस्येति। प्रत्युतानुमितवह्नेः प्रत्यभिज्ञानाद्व्यक्तिविषयत्वेऽपि प्रामाण्यमेवेति भावः। विशेषाभाने सामान्य-मपि भासमानमन्यदेव वक्तव्यम्; अन्यथा तत्सामान्यसम्बन्धाकृष्टस्य विशेषस्यापि भानं स्यादिति शङ्कते—सामान्येति। विशेषभानमन्तरेणापि सामान्यभानं दृष्टं, यथा मालादौ चैत्रमैत्रादिविशेषनिर्मितत्वाज्ञानेऽपि पुरुषनिर्मितत्वभानमित्याह—विशेषाप्रतिभासे इति। यदि च सामान्यमात्रप्रकारकं ज्ञानं नाभ्युपेयं तदाऽनिष्टमाह। सम्बन्धीति। निर्लुण्ठितत्वं = केवलत्वं, विशेषमात्रप्रकारप्रवृत्तं व्याप्तिज्ञानमनुमित्यौपयिकं न सम्भवतीत्यर्थः॥११३॥

उक्त रीति से ही लिङ्गाभास = धूलि वाष्पसमूह आदि को धूमरूप से जानकर उससे उत्पन्न लिङ्गी (अग्नि) का जो ज्ञान दैवयोग से जहाँ लिङ्ग लिङ्गी (धूम अग्नि) स्थिर हों, या केवल अग्नि ही हो, होता है उस पर्वतादि में जो वह असत् हेतु के ज्ञान से अग्नि की अनुमिति होती है वह ज्ञान यद्यपि लिङ्गाभास (लिङ्ग के ज्ञान) अंश में प्रमा नहीं है और न

उसअसत् लिङ्गयुक्तलिङ्गी के स्वरूपविषयता अंश में प्रमा है, तथापि वास्तविक धूमविशिष्ट को तथाविध (धूमविशिष्ट) रूप से विषय करने वाली उस बुद्धि (ज्ञान) की वहाँ वर्तमान सत्यलिङ्गान्तर वाली या केवल लिङ्गी अग्नि आदि भी अंशरूप विषय में प्रमाणता के स्वीकार से उक्त दोष का परिहार नहीं हो सकता। अर्थात् प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि आभास (मिथ्या=भ्रम) रूप कारण जन्य होने से उस अनुमिति का विषय कोई सत्य अग्नि आदि से भिन्न ही है, जैसे अन्य भ्रम का सत्य से अन्य विषयत्व होता है, वैसे ही समझना चाहिये जिससे अतिव्याप्ति नहीं हो। तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि उक्त उदाहरण में सत्य वह्नि के रहने पर भी यदि अग्नि का ज्ञान अन्य (मिथ्या) अग्निविषयक हो, तो सत्य हेतुजन्य अनुमिति अन्य विषयक क्यों नहीं होगी? और अन्यविषयक मानने पर भी अनेकव्यक्तिकसाध्य के स्थान में भ्रम के विषय अग्नि आदि व्यक्तिविशेष के अन्य होने पर भी अग्नि आदि सजातीयसत्ता के अवभास (ज्ञान) अंश में दोष का निवारण नहीं हो सकता। अग्नित्वजाति वाला का ज्ञान वहाँ प्रमा ही होगा। यदि कहा जाय कि धूमत्व एवं वह्नित्वादिरूप जो सामान्य (जाति) उस के समवायरूप सम्बन्ध कोटि में सब विशेष (व्यक्ति) के निविष्ट (प्रविष्ट = सम्बद्ध) होने से, वहाँ अनुपस्थित (अवर्तमान) ही विशेष के स्फुरण होने के कारण अवर्तमान ही सामान्य भी भासता है क्योंकि सब विशेष से भिन्न सामान्य कोई वस्तु नहीं है, और सम्बन्ध दो का होता है, जहाँ सम्बन्ध का एक कोटिरूप सामान्य है, एक विशेष है, वहाँ असत् विषय के भासित होने पर सामान्य भी असत् ही भासेगा, अतः प्रमात्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि विशेष के ज्ञान नहीं रहने पर भी सामान्यरूप से केवल अग्नित्व आदि की प्रतीति मानी जाती है, जैसे किसी क्षेत्र एवं माला आदि में देवदत्त तथा यज्ञदत्त की विशेष सम्बन्धिता के संशय रहने पर भी उसका पुरुष सम्बन्धीरूप से निश्चय होता है कि यह किसी पुरुष का है। यदि विशेष ज्ञान के बिना सामान्य का ज्ञान नहीं माना जाय तो व्यक्तिविशेष के निर्लुण्ठित (केवल) विशेषरूप से ही व्याप्ति ज्ञानादि में प्रवेश होने पर व्याप्ति शब्दशक्ति आदि का अननुगम (सार्वत्रिक ज्ञानाभाव) प्राप्त होगा॥ ११३॥

कथंचित् नानाव्यक्तिरूप साध्यस्थल में व्यक्त्यन्तर के अभाव की कल्पना हो सकती है अर्थात् जिसका वहां अभाव है उसका अनुमान होता है। परन्तु शृङ्गित्वरूप व्यभिचारी हेतु से अथवा गाय के गले में बंधे हुए पट में सास्ना (गलकम्बल) बुद्धि से जहाँ गोत्व का अनुमान होता है, वहाँ उक्त कल्पना नहीं हो सकती, इस आशय से अन्य उदाहरण देते हैं—

सामान्यानुमानाभासे च संवादिनि विशेषान्यवत्ताकल्पनानवकाशात्। सामान्यसमवाययोरप्यन्ययोरेव प्रतिभासे अन्यथाख्यातिं विहायाऽसत्ख्यातिप्रवेशापातात्। तत्रत्यधर्मान्तरस्य जात्या तादात्म्यारोपस्तत्र इति चेन्न, तथापि धर्मिणि जातौ च प्रमात्वतादवस्थ्यात्, संसर्गारोपनिमित्ताच्च तादात्म्यारोपानुपपत्तेः, परार्थानुमानाभासे हि प्रतिपादितपदार्थसंसर्गारोपकार-

णसम्भवात्, तथापि तत्र तादात्म्यतयारोपकल्पने च तथाभ्रमनियमस्य निष्कारणत्वात् ॥ ११४ ॥

किंच, नानाव्यक्तिस्थले व्यक्त्यन्तरभानकल्पनेपि गोगलबद्धपटादौ सास्नादिबुद्ध्या गोत्वानुमाने कथमुक्ता गतिरित्युदाहरणान्तरमाह—सामान्यानुमानाभासे इति। नन्वत्राप्यन्यदेव गोत्वं भासतामित्यत आह—सामान्येति। तस्यालीकतया तज्ज्ञानकल्पनायामसत्ख्यातिः स्यादित्यर्थः। ननु गोनिष्ठरूपादौ गोत्वतादात्म्यारोपस्तत्रेति भ्रान्तैव सानुमितिरिति शङ्कते—तत्रत्येति। तादात्म्यमात्रे तर्हि भ्रान्तिर्नत्वारोपविषययोरपीति परिहरति—तथापीति। प्रत्यक्षभ्रमेपि धर्म्यंश इहोदाहरणं द्रष्टव्यम्। किंच, संसर्गारोपसामग्री कथं तादात्म्यारोपं जनयेदित्याह—संसर्गेति। स्वार्थानुमाने क्वचित्तादात्म्यारोपसम्भवेपि परार्थानुमाने पदोपस्थापितसमस्तरूपोपेतलिङ्गभ्रमात्पक्षसाध्यसंसर्ग एव सेद्धुमर्हतीत्यर्थः। यदि संसर्गारोपसामग्र्यपि तादात्म्यारोपं जनयेत्तदाऽऽरोपद्वैविध्यं न स्यादित्याह—तथापीति ॥ ११४ ॥

असत् हेतु से जहाँ सामान्य (जाति) का अनुमानाभास सम्वादी हो, (गौ में ही गोत्व का अनुमान हो) वहाँ गोत्व के एक होने के कारण विशेषान्तर की कल्पना नहीं हो सकती, अतः उसमें प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि वहाँ भी गो में वर्तमान गोत्व या समवाय से अन्य गोत्व की कल्पना हो सकती है और उस अन्य विषयक अनुमिति होती है, अतः सम्वादी नहीं होती है, तो इस प्रकार अन्य गोत्वरूप सामान्य और उसके समवाय के अभाव से यह अनुमिति असत् विषयक माननी पड़ेगी जिससे अन्यथाख्याति को त्याग कर असत्ख्याति का आपके सिद्धान्त में प्रवेश होगा, जिससे स्वसिद्धान्त का त्याग होगा। यदि कहा जाय कि (अयं गौः शृङ्गित्वात्) इत्यादि अनुमान के स्थान में उस गोव्यक्ति में रहने वाले रूपादि धर्मान्तर का गोत्व जाति के साथ तादात्म्य (अभेद) का आरोप भासता है, वह सत्य गोत्व से अन्य है तो इस प्रकार असत्ख्याति की प्राप्ति नहीं होती है। तो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि इस प्रकार भी तादात्म्य अंश में आरोप (भ्रम) होने पर भी गोरूप धर्मी और गोत्व-जाति अंश में प्रमात्व पूर्वतुल्य रहता है। और दूसरी बात यह है कि गोत्वजाति के संसर्ग (समवाय) के आरोप के निमित्त (कारण) रूप अनुमान से तादात्म्य का आरोप नहीं हो सकता है। यद्यपिस्वार्थानुमान में अपनी इच्छा आदि के अनुसार तादात्म्यारोप हो सकता है। परन्तु परार्थानुमानाभास (मिथ्यानुमान) में तो पदों से प्रतिपादित (कथित) पदार्थों के ही (गोत्वादि के ही) संसर्गारोप का सम्भव है, अन्य का नहीं। यदि संसर्गारोप के निमित्त (सामग्री) के रहने पर तादात्म्य रूप से आरोप की कल्पना हो तो तादृश भ्रमनियम में निष्कारणत्व (व्यर्थत्व) होगा। अर्थात् सादृश्यादि से शुक्ति में रजतत्व के संसर्ग का आरोप होता है एवं दूरत्वादि से दूरस्थ वृक्षादि में तादात्म्य का आरोप होता है। अतः नियम है कि संसर्गारोप निमित्त से संसर्ग का आरोप होता है, तादात्म्यारोप के निमित्त से तादात्म्य का आरोप होता है। यहाँ संसर्गारोप के निमित्त से तादात्म्यारोप (भ्रम) मानने पर इस नियम में निष्कारणत्व (अप्रमाणत्व) प्राप्त होगा, अर्थात् नियम नहीं रहेगा ॥ ११४ ॥

कभी संसर्गारोप के निमित्त से तादात्म्यारोप को मानकर भी कहते हैं कि—

कस्यचित्तत्र जातसंवादजातिसंसर्गभ्रमस्य मितौ का गतिः? का वा गतिः सिद्धसाधने? तत्राप्यन्यत्वकल्पनायां सिद्धत्वव्याघातात्, तथात्वे च हेत्वाभासस्यापि यथार्थग्राहितयोक्तनिमित्तस्य व्यभिचारेणान्यत्राप्याभासेऽन्यप्रतिभासकल्पनाया निर्निमित्तत्वात्। सिद्धसाधनमितेरेव वाऽव्यवच्छेदात्॥ ११५॥

इह मया गोत्वसंसर्गोऽनुमितो नूनं गौरेवायमित्यनुव्यवसायेन संसर्गारोपत्वव्यवस्थितेरित्याह—कस्यचिदिति। सिद्धसाधनेन हेत्वाभासतां गतेन लिङ्गेनानुमितिर्व्यभिचारिकरणजन्यापि यथार्थैव वक्तव्येति दोषान्तरमाह—का वेति। ननु तत्राप्यन्य एव रसादिर्भासते इति क याथार्थ्यमित्यत आह—तत्रापीति। ननु सिद्धसाधने यथार्थैवानुमितिरस्तु को दोषः? इत्यत आह—तथात्वे चेति। यदि सिद्धसाधने यथार्थैवानुमितिस्तदा धूलीपटले धूमभ्रमादपि यथार्थैवानुमितिरस्तु किं व्यक्त्यन्तरभानकल्पनया? हेत्वाभासत्वेनाविशेषादित्यर्थः। अस्तु वा तत्र व्यक्त्यन्तरकल्पना, सिद्धसाधनस्थलेनुमितियाथार्थ्यमावश्यकमित्याह—सिद्धसाधनमितेरेवेति। यद्यपि सिद्धसाधनेऽनुमितिरेव नोदेति कुत्र याथार्थ्यापत्तिः? धारावहने सिद्धेः सिद्ध्यन्तराप्रतिबन्धकतया प्रकृतेपि न प्रतिबन्धकत्वम्? इति चेन्न, तत्र प्रत्यक्षसामग्र्या अप्रतिहतत्वादिह पक्षधर्मताविघटनेन तत्प्रतिघातात्। बाधोपि तर्हि स्वरूपसन्नेव प्रतिबन्धकः स्यात् इति चेन्न, इष्टत्वात्। हेत्वाभासत्वं तस्य भज्येत, ज्ञायमानं सद्यदनुमितिप्रतिबन्धकं स हेत्वाभास—इति तल्लक्षणात्? इति चेन्न, सदनुमितिप्रतिबन्धकत्वमात्रस्य तल्लक्षणत्वात्। तर्हि श्रुतस्यात्मनो मननं न स्यात्? इति चेन्न, श्रुतातिरिक्तप्रकारेणासिद्धेन तत्र मननात्, तथापि यन्मते सिद्ध्यन्तरं न सिद्ध्यन्तरविरोधि तन्मतमाश्रित्य खण्डनावतारः॥ ११५॥

जहाँ किसी को (अयं गौः शृङ्गित्वात्) इस अनुमिति के बाद (मया गोत्वसंसर्गोऽनुमितः) मैं अनुमान से गोत्वसम्बन्ध को समझ लिया हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय के साथ विरोध से तादात्म्यविषयत्व की कल्पना अनुमिति में नहीं हो सकती, वहाँ उत्पन्न सम्वाद (यथार्थ) जाति संसर्गभ्रम वाले की मिति (ज्ञान) में क्या गति होगी? अर्थात् उस यथार्थ अनुमिति में प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ही। इसी प्रकार जहाँ कोई तर्करसिक सिद्धसाध्य को अनुमान से सिद्ध करता है, उस सिद्धसाधन में क्या गति होगी? सिद्धसाधन के यथार्थ विषयक होने से उसमें अतिव्याप्ति होगी। यदि वहाँ अनुमिति के विषय में सिद्धसाध्य से अन्यत्व की कल्पना करें तो ज्ञान के अयथार्थ होने से अतिव्याप्ति तो नहीं होगी, किन्तु सिद्धत्व (सिद्धसाधनत्व) का व्याघात (अभाव) होगा। यदि सिद्धसाधन के यथार्थविषयक होने से उसको यथार्थ अनुमिति और प्रमालक्षण का लक्ष्य ही माना जाय तो उसके यथार्थस्वरूप प्रमात्व होने पर अन्यहेत्वाभास (व्यभिचारादियुक्तहेतु) के भी यथार्थग्राहिता से (उक्त नियम) अव्यभिचारिसाधनजन्यत्व नियम के व्यभिचार (अभाव) से, अन्य आभास (असत् हेतु से अग्नि का अनुमान) में सत्य अग्नि से अन्य अग्नि की पूर्वोक्त कल्पना निर्निमित्तक (व्यर्थ) होगी। अतः सिद्धसाधनरूप मिति (ज्ञान) का ही तत्त्वानुभूतिलक्षणगत तत्त्व पद से अव्यवच्छेद (अव्यावृत्ति) होने के कारण अन्य असद्धेतुक यथार्थ अनुमिति की भी व्यावृत्ति नहीं हो सकती॥ ११५॥

प्रमा के लक्षणान्तर का विचार—

यथार्थानुभवः प्रमेत्यप्यलक्षणम्। यथार्थत्वं हि तत्त्वविषयत्वं वा? अर्थसदृशता वा स्यात्? नाद्यः, पूर्वं निरस्तत्वात्। नापि द्वितीयः, व्यभिचारिणोपि प्रमेयत्वादिनाऽर्थसादृश्येन प्रमात्वापातात्। ननु ज्ञानविषयीकृतेन रूपेण सादृश्यं विवक्षितम्। नच प्रमेयत्वादिरूपस्य व्यभिचारिण्यपि प्रकाशसम्भवेन तथाप्यतिप्रसङ्गः, इति वाच्यम्, प्रमेयत्वाद्यंशे प्रकाशमाने विषयीभूतधर्मान्तरापेक्षया व्यभिचारिणोपि प्रमात्वाभ्युपगमात्, इति नैतद्युक्तम्। प्रकाशमानेन रूपादिसमवायित्वेन रूपेण ज्ञानस्यार्थसादृश्यानभ्युपगमेपि तत्र तदीयप्रमात्वाङ्गीकारादिति॥ ११६॥

यथाशब्दस्य पदार्थानतिवृत्तिपरतामादायाह—तत्त्वविषयत्वं वेति। व्यभिचारिणोपीति। यद्यपि भ्रमविषयस्यासतो रजतत्ववैशिष्ट्यादेः प्रमेयत्वं नास्तीति न सादृश्यं तथापि सन्मात्रविषयतायाः पक्षमाश्रित्य यत्किञ्चिद्व्यभिचारिज्ञानार्थसादृश्यं चाश्रित्य खण्डनम्। ननु ज्ञानार्थयोः प्रमेयत्वेन सादृश्येपि न प्रमेतिव्याप्तिर्यतो ज्ञानविषयीकृतेन रूपेणार्थसादृश्यस्य विवक्षेत्याह—नन्विति। इदं रजतं प्रमेयमित्यादिभ्रमे तथाप्यतिव्याप्तिरित्याशङ्क्य परिहरति-नचेति। विषयीक्रियमाणे प्रमेयत्वाद्यंशे प्रमात्वान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। एवं सति रूपसमवायी घटः इत्यादिप्रमायामव्याप्तिरित्याह—प्रकाशमानेनेति॥ ११६॥

यथार्थ अनुभव प्रमा कहा जाता है, ऐसा लक्षण भी अलक्षण (दोषयुक्त) है, क्योंकि योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति, सादृश्य, यथाशब्द के अर्थ होते हैं, वहाँ यदि (पदार्थमनतिक्रम्य यः वर्तते स यथार्थः) या (अर्थेन सदृशो यथार्थः) अर्थ समझा जाय तो, तत्त्वविषयत्व या अर्थसदृशता ही यथार्थत्व होगा, यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व में तत्त्वार्थादि के खण्डन से वह खण्डित हो चुका है। दूसरा पक्ष भी असिद्ध है। क्योंकि व्यभिचारी (भ्रमज्ञान) को भी सत्त्व प्रमेयत्व तथा ज्ञेयत्वादिरूप से अपने विषय के सादृश्य होने से उसमें अतिव्याप्ति होगी। शंका होती है कि ज्ञान के विषय किये गये स्वरूप से विषय के साथ ज्ञान का सादृश्य विवक्षित है, और शुक्ति को रजतरूप से विषय करने वाला भ्रमज्ञान स्वविषयशुक्तिरूप से सदृश नहीं होता है, अतः अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि जहाँ शुक्ति में (इद रजतं सत्यं प्रमेयम्) ऐसा भ्रम हो वहाँ भ्रमज्ञान को रजतांश में विषयसदृशता नहीं रहने पर भी सत्यत्व तथा प्रमेयत्वांश विषयके सदृश ही हैं, क्योंकि इदमाकारांश में उस ज्ञान को शुक्तिविषयत्व रहता है एवं रजतत्वेन रजत में भी सत्यत्वादि है तो प्रमेयत्वादिरूप के व्यभिचारी ज्ञान में भी प्रकाश के सम्भव से (ज्ञानविषयीकृतरूप की विवक्षा करने पर भी) अतिव्याप्ति है। परन्तु यह दोष युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रमज्ञान को भी उसके विषय स्वरूप धर्मान्तर (रजतत्वादि) की अपेक्षा से प्रकाशमान (भासित) प्रमेयत्वादि अंश में प्रमा माना जाता है, अर्थात् रजतत्वादि अंश में उस ज्ञान को भ्रमात्मक होने पर भी प्रमेयत्वादि अंश में प्रमात्व रहता है, अतः उस अंश में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। क्योंकि वह भी उसका लक्ष्य ही है। परन्तु शंकारूप यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त रीति से अतिव्याप्ति के वारण होने पर भी दो घट शुक्ल है एवं रूप का समवाय घट में है इत्यादि ज्ञान से जहाँ रूपादिगुण के समवायित्व आदि विषय में भासते

हैं, वहाँ ज्ञान के गुण होने के कारण गुण में गुण के अनंगीकार से, प्रकाशमानरूपादि-समवायित्वरूप से ज्ञान के अर्थ के साथ सादृश्य का अस्वीकार होने पर भी वहाँ उस ज्ञान के प्रमात्व का स्वीकार किया जाता है, अतः यहाँ लक्षण की अव्याप्ति होती है, ॥ ११६ ॥

उक्त उदाहरणों में भी ज्ञान में विषयतारूप से रूपवत्ता रहती ही है, अतः अव्याप्ति नहीं है, इस आशय से शंका है—

प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणभावादर्थसादृश्यमनुभवस्य विवक्षितम्, अर्थस्य च यथा समवायाद्रूपं विशेषणीभवति तथा विषयभावात् ज्ञानस्यापि तद् विशेषणं भवत्येव? इति चेन्न; एवं हि पुरोवर्तित्वादिना रूपेण तथा-भावसम्भवात्पुरोवर्तिनीं शुक्तिं रजततयाऽवगाहमानं ज्ञानं प्रमा स्यात्। न च वाच्यमिष्यत एव सा प्रमापीति न व्यभिचारचोदनेयं युक्तिमतीति, यथा-र्थताविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अनुभूतिः प्रमा इत्युक्ते एव हि तावन्नास्त्य-तिप्रसङ्गः, सर्वस्य व्यभिचार्यनुभवस्य 'अन्ततोऽन्यथाख्यातिवादिनये' धर्मि-ण्यपि प्रमात्वसम्भवेन प्रमायामेवानुभवत्वस्य स्थैर्यात् ॥ ११७ ॥

तत्रापि रूपवत्त्वं विषयतया ज्ञानेप्यस्तीति नाव्याप्तिरिति शङ्कते—प्रकाशमानेनेति। असद्रजतत्वादिवैशिष्ट्यं विषयतया भ्रमेप्यस्ति विशेषणमिति तत्रातिव्याप्तिः इति न वाच्यम्, असत्त्वे तस्यार्थविशेषणत्वाभावादुभयविशेषणत्वाभावाद्वेति भावः। एवं हीति। यदि विषयतया विशेषणेन सादृश्यं विवक्षितमित्यर्थः। अलक्ष्ये लक्षणगमनादतिव्याप्तिः, प्रकृते च न तथा भ्रमस्याप्यंशभेदेन प्रमात्वादित्याह—नच वाच्यमिति। विशेषणवैयर्थ्यं स्फुटयति—अनुभूतिरिति। प्रमायामेवानुभवत्वस्य स्थैर्यादिति। अनुभवे प्रमात्वस्य स्थैर्यादित्यर्थः ॥ ११७ ॥

अनुभव में प्रकाशमानरूप द्वारा विशेषणत्वरूप से अर्थ के साथ सादृश्य विवक्षित है और जैसे अर्थ का समवायसम्बन्ध से रूप विशेषण होता है, वैसे ही विषयत्वरूप से वह ज्ञान का विशेषण होता ही है। अतः अव्याप्ति नहीं है। परन्तु यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि इदं 'रजतं' इस भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जैसे पुरोवर्तित्व समवाय या स्वरूप सम्बन्ध से शुक्ति आदि का विशेषण होता है, वैसे ही विषयता सम्बन्ध से ज्ञान का विशेषण होता है, अतः अग्रवर्ती शुक्ति को रजतरूप से ग्रहण करता हुआ ज्ञान प्रमा होगा। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि उस ज्ञान को इदमंश में प्रमा होना इष्ट ही है, अतः यह व्यभिचार (अतिव्याप्ति) की शंका युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर लक्षण में यथार्थ विशेषण व्यर्थ होगा, सब व्यभिचारी (भ्रमरूप) अनुभव को अन्यथाख्यातिवादी के सिद्धान्त में अन्ततः धर्मी अंश में भी प्रमात्व के सम्भव से प्रमा में ही अनुभव की स्थिरता होती है (सब अनुभव प्रमा ही सिद्ध होते हैं) ॥११७॥

यदि त्वंशतोपि व्यभिचारिण्यां मा लक्षणं गमदितिचेतसि निधाय यथार्थत्वविशेषणं प्रयुक्तं तदा न युक्तम्, उक्तदोषात्। अथोच्येत प्रकाश-मानरूपेण सर्वेण विशेषणभावाद् यस्यानुभवस्यार्थसादृश्यं सा प्रमा, न च तावता धर्मिणो धर्म्यविशेषणतया दोषः, तस्यापि तद्विषयान्तरव्यवच्छेद-

कत्वाद् इति, तर्हिव्यभिचारिज्ञानं धर्मिण्यपि प्रमा न स्यात् सर्वात्मना साद्दश्याभावात्, अव्यभिचारिणं चांशमननुरुद्ध्य तदीयाऽप्रमितिकोटिनिक्षेपसाहसिक्याद्बिभ्यता किमव्यभिचार्यंशानुरोधेन व्यभिचार्यंशस्यापि प्रमाकोटिनिवेशनमेव नाध्यवसीयते भवता, शक्यन्ते ह्यनुभूतित्वज्ञानत्वादयः तादृगभिप्रायेण लक्षणीकर्तुम् ॥ ११८ ॥

भ्रमस्योभयरूपतया व्यभिचार्यंशव्यवच्छेदाय यथार्थमिति विशेषणं यदि, तदोक्तदोषबलेन न तद्व्यवच्छेद इत्याह—यदि त्विति। यावदर्थविशेषणं तावद्विषयतया तत्र ज्ञाने विशेषणं तत् प्रमा, भ्रमस्तु नैवं, तत्र विषयतया ज्ञानविशेषणस्य रजतत्वादेरर्थविशेषणत्वाभावादिति शङ्कते—अथेति। ननु धर्मी ज्ञानविशेषणमपि न स्वविशेषणमतः सर्वेण प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणभावाभावात्तत्राव्याप्तिरित्यत आह—नचेति। धर्मिणः स्वाविशेषणत्वेपि स्वगतधर्मविशेषणतया नाव्याप्तिरित्यर्थः। परिहरति—तर्हीति। भ्रमव्यावर्तनाय यद्विशेषणं तद्भ्रमप्रमांशव्यावर्तकमपि स्यादेवेत्यर्थः। भ्रमज्ञानस्य सामस्त्येनैवाप्रमात्वात्तदंशानुपग्रहो न दोषमावहतीति यदि, तत्राह—अव्यभिचारिणमिति। स्मृतिप्रामाण्यपक्षे ज्ञानत्वमपि प्रमालक्षणमुक्तम्, आदिपदाद्विशिष्टज्ञानत्वपरिग्रहः। तादृगभिप्रायेणेति। व्यभिचार्यंशस्यापि प्रमाकोटिनिवेशनाभिप्रायानुरोधेनेत्यर्थः ॥ ११८ ॥

यदि कहा जाय कि किसी अंशमात्र से भी व्यभिचारिणी बुद्धि (भ्रान्ति) में लक्षण नहीं जाय, इसलिये यथार्थत्व विशेषण दिया गया है। तो यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि विशेषण देने पर भी उक्त दोष है, पुरोवर्तित्वरूप से अर्थ की सदृशता भ्रम ज्ञान में रहने से अतिव्याप्ति है। यदि कहा जाय कि प्रकाशमान सब रूप के द्वारा विशेषणत्वरूप से जिस अनुभव को अर्थ का सादृश्य रहता है, वह ज्ञान प्रमा होता है और इदंरूप से प्रकाशमान शुक्तिरूप अर्थ में विशेषणरूप से शुक्तित्व के रहने पर भी शुक्तित्व द्वारा विषयत्वरूप से भ्रमज्ञान (इदं रजतम्) को सादृश्य नहीं रहता। सादृश्यज्ञान में भासमान रजतत्व विषय में नहीं रहता किन्तु केवल इदन्तामात्र में रहता है, धर्मी विशेष्यरूप से अर्थात् ज्ञान की विषयतारूप से ज्ञान का विशेषण होता है परन्तु आत्माश्रयता से धर्मी धर्मी का विशेषण नहीं होता, अतः ज्ञान में भासमान सब रूप द्वारा विषय के साथ सादृश्य नहीं हो सकता, तथापि धर्मी को धर्मी के विशेषण नहीं होने पर भी धर्मी को धर्मीगतरूपादि ज्ञान के विषय को विषयान्तर से व्यवच्छेदक (व्यावर्तक) होने से (यह घट का रूप है पट का नहीं, इस प्रकार भेदक होने से) दोष नहीं है, परन्तु ऐसा मानने पर व्यभिचारी (भ्रम) ज्ञान धर्मी (इदं) अंश में भी प्रमा नहीं होगा, क्योंकि वहां विषय के साथ सर्वस्वरूप से ज्ञान में सदृशता का अभाव रहता है। और इस प्रकार भ्रमज्ञानगत अव्यभिचारी (प्रमा) अंश का अनुरोध (उसकी रक्षा) नहीं करके, उसको अप्रमिति (भ्रम) कोटि में निक्षेप (प्रक्षेप) रूप साहस से नहीं डरने वाले आप, भ्रमगत अव्यभिचारी (यथार्थ) अंश के अनुरोध से (उसकी रक्षा के लिये) व्यभिचारी अंश को भी प्रमाकोटि में निवेशन (प्रवेश) का अध्यवसाय (निश्चय) ही क्यों नहीं करते, क्योंकि भ्रम को प्रमा कोटि में प्रवेश के अभिप्राय से अनुभूतित्वज्ञानत्वादि प्रमा के लक्षण किये जा सकते हैं ॥ ११८ ॥

यदि च बाध्यार्थांशा धीरबाध्यार्थांशेऽप्यप्रमैव तदा सौधाग्रकुम्भादिवत् दूरत्वात्तुहिनद्युतिविद्युदादिपरभागाग्रहणाद् अवयविनं च तावत्परिमाणाग्रहणात् अल्पपरिमाणमुल्लिखत्प्रत्यक्षं प्रमात्वेन लोकप्रसिद्धमप्रमा स्यात्। क्व च लभ्यं देशकालालोकादिव्यक्तिसहितजलादिज्ञानस्य समस्ततावदर्थप्रवृत्तिसामर्थ्योदाहरणं? येन तत् प्रामाण्यं मन्यसे। यदि चांशे बाधाद्बाध्येऽप्यंशे तद्बोधमिथ्यात्वं समर्थयसे तदा यदर्थजातीयं बाध्यं तदर्थजातीयमबाध्यमपि मिथ्येति मन्यमाने किमुत्तरं ते स्याद्? अन्यत्र लोकप्रसिद्धप्रमोदाहरणत्यागात् ॥ ११९ ॥

विनिगमनाविरहमुक्त्वा लोकविरोधमाह—यदीति। प्रकाशमानाल्पपरिमाणत्वादेश्चन्द्राद्यर्थविशेषणत्वाभावात्तत्र प्रमाणलक्षणपरिहाराच्चन्द्राद्यंशेऽपि प्रमात्वं न स्यादित्यर्थः। यावज्ज्ञानविषयविशेषणकार्थकत्वं यथार्थत्वलक्षणं, तत्रासंभवमाह—क्व च लभ्यमिति। यावाननुभवस्य विषयस्तावानर्थस्य विशेषणमिति तदा स्याद्यदि ज्ञानोल्लिखितसकलप्रकाराबाधः स्यात्, स च प्रवृत्तिसंवादगम्यो, न सर्वत्रप्रकारे क्वापि ज्ञाने प्रवृत्तिसंवाद, इत्यसम्भव इत्यर्थः। अंशबाधमात्रेण सकलज्ञानबाध्यत्वाभ्युपगमे दोषान्तरमाह—यदि चेति। प्रमाज्ञानं बाध्यं, बाध्यांशकत्वादितिवत् सत्यत्वेनाभिमतं रजतज्ञानं बाध्यं, शुक्तिस्थलबाध्यरजतजातीयविषयत्वादित्यपि स्यादित्यर्थः। यद्वा, रजतं सर्वज्ञाने बाध्यं, शुक्तिज्ञाने बाध्यत्वादित्यपि स्यात्, विपक्षबाधकाभावस्योभयत्रापि तुल्यत्वादिति भावः ॥११९॥

उक्त अर्थ का ही उपपादन किया गया है कि जिस बुद्धि (ज्ञान) में कुछ बाध्यांश (मिथ्या) है, वह यदि अबाध्यार्थांश (सत्यविषयांश) में अप्रमा ही है, तो प्रमा ज्ञान का ही अभाव सिद्ध होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर जैसे उच्च सौध (प्रासाद) पर स्थिर कुम्भादि नीचे से सर्वावयवादियुक्त नहीं दीखते हैं, वैसे ही तुहिनद्युति (चन्द्र) विद्युत् आदि अवयवीका दूरता के कारण उनके पर (अन्य) भाग के अग्रहण से, जितने उनके परिमाण हैं, उनके भी ग्रहण नहीं होने से उनके अल्पपरिमाण का उल्लेख (प्रकाश) करता हुआ प्रत्यक्षज्ञान जो लोक में प्रमारूप से प्रसिद्ध है, वह अप्रमा सिद्ध होगा। और देश, काल एवं आलोक (प्रकाश) आदि के व्यक्तियों के सहित (तत्तत् देशकालादि से युक्त) जलादि का ज्ञान होता है, वहाँ जितने देशादि के अंश अर्थ के विशेषण ज्ञान से प्रकाशित होते हैं, उनमें अबाध्यता सफलप्रवृत्ति से निश्चित हो सकती है, परन्तु उस जलादिज्ञान के समस्त उन अर्थों में प्रवृत्तिसामर्थ्य (अबाध्यता) का उदाहरण कहाँ लभ्य (प्राप्य) है? जिससे उनके प्रमाणता को मानेंगे, अर्थात् ऐसे उदाहरणों का अभाव है, जो विषय में विशेषण रहते हैं, वे सब दूरता आदि के कारण ज्ञान से प्रकाशित नहीं होते हैं। जितने प्रकाशित होते हैं, उतने में भी प्रवृत्ति नहीं होती है। और यदि चन्द्रादि के अल्पपरिमाणादि के ज्ञानांश में शास्त्रानुमिति आदि द्वारा बाध से चन्द्रादि अबाध्य अंश में भी उस ज्ञान को मिथ्यात्व सिद्ध करेंगे, तो यदर्थजातीय (जिस अर्थ के जातिविषयक) शुक्ति में रजत ज्ञान बाध्य (मिथ्या) है, तदर्थ जातीय (रजत में रजत) ज्ञान अबाध्य भी मिथ्या है, ऐसा किसी के मानने पर लोकप्रसिद्ध प्रमाके उदाहरण के त्याग से आपका अन्य क्या उत्तर होगा? अर्थात् यही कहेंगे कि शुक्ति में रजतत्व का ज्ञान और रजत में रजतत्व का ज्ञान, लोकप्रसिद्ध अप्रमा एवं प्रमा के उदाहरण हैं,

अतः उक्त रीति से मानने पर उदाहरण का त्याग होगा। कोई सत्य उत्तर नहीं दे सकेंगे ॥ ११९ ॥

जो अर्थ का विशेषण हो, वही जिस ज्ञान का विषय हो, वह ज्ञान उस अर्थविषयक प्रमा होता है, और रजतत्व तो शुक्ति में विशेषण नही हैं, अतः उस अंश में उक्त भ्रमरूप रजतज्ञान प्रमा नहीं होता है, किन्तु इदमंश में तो प्रमा ही होता है, ऐसी शंका है—

अथोच्यते प्रकाशमानेन रूपेण विशेषणतया यदर्थसाम्यमनुभवस्य तत्र तस्य प्रमात्वमिति विषयविशेषनियमेनैव प्रमात्वं लक्षणीयमित्येतदर्थमेव यथार्थविशेषणोपादानम् इति। मैवम्। विशेष्यांशेनुभूतिरेवं प्रमा न स्यात्। व्यवच्छेदकत्वं विशेषणत्वमभिमतं, धर्म्यपि च स्वसम्बद्धान् धर्मान्विशिनष्टीति नोक्तदोष इत्युक्तमेव ? इति चेन्न, विशिष्टे प्रमात्वाभावापत्तेः। अपि च, एवं तर्हि रजतत्वादिकमपि व्यवच्छिनत्त्येव शुक्तिकां, रजततया प्रकाशिता या शुक्तिव्यक्तिः सेयमिति। ननु साक्षाद्विशेषणत्वं विवक्षितं, रजतत्वं तु ज्ञानद्वारा शुक्तिविशेषणमिति नातिप्रसङ्गः ? इति मैवम्। तर्हि 'दीर्घदण्डः पुरुषः' इत्यादौ ह्रस्वदण्डादिभ्यो वैलक्षण्ये विशेष्यस्यानुभूयमानेनुभूतेर्न प्रमात्वं स्यात्, दीर्घत्वादेर्दण्डादिद्वारा विशेषणत्वादिति ॥ १२० ॥

यदर्थविशेषणं, तद् यस्य ज्ञानस्य विषयस्तज्ज्ञानं तत्रार्थे प्रमा, रजतत्वं तु शुक्तौ न विशेषणं, तेन तत्रार्थे भ्रमो, न प्रमा, पुरोवर्तित्वं तु प्रमैवेति शङ्कते—अथेति। परिहरति—विशेष्येति। विशेष्यस्याविशेषणत्वात्तदंशे क्वापि प्रमा न स्यादित्यर्थः। नन्वयं गौरित्यादौ ज्ञाने यथा गोत्वं गवि विशेषणं तथा पिण्डोपि गोत्वस्येत्यवश्यं वक्तव्यमन्यथा सर्वज्ञानानां प्रकारे निर्विकल्पकत्वं स्यादित्याह—विशेषणत्वमिति। विशिष्टस्यापि विशेषणविशेष्योभयात्मकतया तत्रापि प्रमात्वस्योक्तरीत्या सुलभत्वादित्यनुशयेनाह—अपिचेति। ननु रजतत्वं प्रकाशे, प्रकाशश्च शुक्तौ, विशेषणम् इति परम्परा न विवक्षिता, किन्तु साक्षादेव यत्र विशेषणत्वं तद्विवक्षितमित्याह—नन्विति ॥ १२० ॥

विशेषणरूप से प्रकाशमान रूप द्वारा जिस अर्थ के साथ अनुभव को सादृश्य रहता है उस अर्थ में उस अनुभव को प्रमात्व होता है, इस प्रकार विषयविशेष के नियम द्वारा ही प्रमात्व लक्षणीय (लक्षण द्वारा ज्ञातव्य) है, इसीलिये लक्षण में यथार्थ विशेषण का ग्रहण किया गया है, यदि ऐसा कहा जाय तो यह युक्त नहीं है। क्योंकि इस प्रकार यह विशेष्यांश में अनुभूति प्रमा नहीं होगी, उसके साथ अनुभव को विशेषणरूप सादृश्य नहीं रहता, कारण यह है कि वह विशेष्यरूप से अनुभव में भासता है। यदि कहा जाय कि व्यवच्छेदकत्व (व्यावर्तकत्व) विशेषणत्व अभिमत है। इस स्थिति में धर्मी भी स्वसम्बद्ध (स्वसम्बन्धी) धर्मों को विशिष्ट (व्यावृत्त) करता है, विशेष्य-विशेषणभाव के नियत नहीं होने से (घटे रूपं घटस्य रूपं) इत्यादि स्थान में अन्यत्र विशेष्यरूप से भासित घट भी घटरूप में विशेषण रूप से भासता है अतः उक्त दोष नहीं है, यह पहले भी कहा ही गया है। तो यह कथन असंगत है, क्योंकि इस प्रकार मानने पर भी विशिष्ट में प्रमात्व के अभाव की प्राप्ति होगी। विशेषण एवं विशेष्य में कथ-ञ्चित् परस्पर विशेषणभाव विपरीत से होने पर भी विशिष्टवस्तु विशेषण विशेष्य और

सम्बन्धत्रितयात्मक होता हुआ विशेषणादि का विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी। इतना ही नहीं यदि विशिष्ट को विशेषण एवं विशेष्य से भिन्न नहीं माना जाय तो भी उक्त रीति से रजतत्वादि भी शुक्ति को व्यवच्छिन्न (व्यावृत्त) करते ही हैं। जो शुक्ति रजतरूप से प्रकाशित हुई थी वह यह है, ऐसा ज्ञान द्वारा रजतत्व में शुक्ति के व्यावर्तकत्व सिद्ध होता है, अतः भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति होती ही है। अब शंका होती है कि साक्षात्रूप से अर्थविशेषणत्व विवक्षित है, और रजतत्व तो उक्त रीति से ज्ञान द्वारा शुक्ति का विशेषण होता है साक्षात् नहीं। अतः अतिव्याप्ति नहीं है। परन्तु यह शंका भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार (दीर्घदण्डः पुरुषः) दीर्घदण्डवाला पुरुष है, इत्यादि अनुभव में ह्रस्वदण्डादिवालों से विशेष्य दण्डी की विलक्षणता के अनुभूयमान रहने पर भी इस यथार्थ अनुभूति को प्रमात्व नहीं होगा, क्योंकि दीर्घत्वादि को दण्डादि द्वारा विशेषणत्व है, अतः अव्याप्ति होगी॥ १२०॥

ज्ञानरूपद्वाराऽनपेक्षतया विशेषणत्वमिष्टम्? इति चेन्न, साक्षात्कृत इत्याद्यवगमानामप्रमात्वापातात्। तज्ज्ञानप्रकाशितरूपेण विशेषणत्वम्, इति तु दूरं तुच्छं, रूपादेः समवायेन तज्ज्ञानाविशेषकत्वात्। अर्थविशेषणत्वेऽयं नियमः यत् तज्ज्ञानप्रकाशितेन रूपेणेति, नतु ज्ञानेपि? इति चेत् न, तज्ज्ञानव्यक्तेरन्यत्रासंभवेनासाधारण्याद्व्यापकत्वादित्यलम्॥ १२१॥

साक्षात्कृत इति। साक्षात्वादिजातीनां ज्ञानद्वाराऽर्थविशेषणत्वात्तत्राव्याप्तेरित्यर्थः। ननु भ्रमे रजतत्वस्य शुक्तिसमवायितया विशेषणत्वं भासते, नच तत्तथा तत्रास्तीति वैषम्यमित्याह—तज्ज्ञानेति। तुच्छत्वे हेतुमाह—रूपादेरिति। रूपं समवायितया घटे विशेषणं, न तु ताद्रूप्येण ज्ञानेपीत्यर्थः। ननु यज्ज्ञानोल्लिखितप्रकारेण यदर्थे यद्विशेषणं तज्ज्ञानं तत्रार्थे प्रमेति शङ्कते—अर्थविशेषणत्वे इति। यत्तद्भ्यां विशेषणेन च लक्षणेऽननुगमो दोष इति परिहरति—नेति॥ १२१॥

(दीर्घदण्डः) आदि ज्ञान में अव्याप्ति का वारण करने के लिये यदि कहा जाय कि ज्ञानरूप द्वारा किसी की अपेक्षा के बिना विशेषणत्व इष्ट है, अतः ज्ञान द्वारा शुक्ति के व्यवच्छेदक रजतत्वविशिष्ट शुक्ति ज्ञान में अतिव्याप्ति भी नहीं होगी, तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि (साक्षात्कृतो घटः) मैंने घट को प्रत्यक्ष समझा, इत्यादि प्रमा में साक्षात्त्व (प्रत्यक्षत्व) जाति को ज्ञान द्वारा अर्थविशेषणत्व होता है, अतः अव्याप्ति होगी। यदि भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति वारण के लिये उस वस्तु के ज्ञान में प्रकाशितरूप से विशेषणत्व का लक्षण में प्रवेश करें जिससे समवायसम्बन्ध से रजतत्व को शुक्ति में प्रकाशित होने पर भी शुक्ति में रजतत्व के समवाय सम्बन्ध से विशेषणत्व के अभाव से अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो यह कथन तो अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि जिस रूप से विषय में विशेषण प्रकाशित होता हो, उस रूप से ज्ञान में भी तो उस विशेषण को रहना चाहिये, परन्तु (रूपवान् घटः) रूपवाला घट है, यहाँ समवाय सम्बन्ध से रूप घट में विशेषण होता है, ज्ञान में नहीं। अतः रूपादि के ज्ञान का समवाय सम्बन्ध से रूपादि विशेषक (भेदक=व्यवच्छेदक) नहीं होता है, किन्तु विषयता सम्बन्ध से व्यवच्छेदक होता है। यदि कहा जाय कि तज्ज्ञानप्रकाशितरूप से यह नियम अर्थ विशेषणत्व में है, ज्ञान में

नहीं, तो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि जो जिस ज्ञान में प्रकाशितरूप से जिस अर्थ में विशेषण हो, वह ज्ञान उस अर्थ का प्रमारूप होता है, ऐसा स्वीकार करने पर उस यत्तत् शब्द से गृहीत ज्ञान व्यक्ति के अन्यत्र असम्भव होने से इस लक्षण में असाधारणता से अव्यापकत्व की प्राप्ति होती है, अर्थात् यत्तत् शब्द से विशेषज्ञानव्यक्ति के ग्रहण होने पर, घटज्ञान व्यक्ति के ग्रहण काल में पटज्ञान व्यक्ति के अग्रहण से लक्षण अव्यापक होगा। और यत्तत् शब्द से ज्ञान मात्र का ग्रहण करने पर अतिव्याप्ति होगी क्योंकि रजतत्व को भी पूर्वोक्तरीति से ज्ञानप्रकाशितरूप से शुक्ति के विशेषणत्व (व्यवच्छेदकत्व) होता है ॥ १२१ ॥

प्रमा के अन्य लक्षण का खण्डन—

सम्यक्परिच्छित्तिः प्रमा इत्यपि न युक्तम्। न खलु सम्यक्त्वं तत्त्वविषयता याथार्थ्यं वा संभवति, उक्तदोषात्। ननु सामस्त्यं सम्यक्त्वमिष्टम् अभिधीयते हि लोके न मया सम्यग्दृष्टं, सामान्याकारेण तूपलब्धमिति, तदिह समीचोऽर्थस्य परिच्छेदः=सम्यक्परिच्छेदः, सम्यगर्थविषयत्वाद्वा सम्यक्शब्दः परिच्छेदसमानाधिकरण एवायम्? इति ॥ १२२ ॥

मितिः सम्यक्परिच्छित्तिरित्याचार्यलक्षणखण्डनमुपक्रमते—सम्यगिति। सम्यक्परिच्छेदपदयोरसमासं समासे कर्मधारयमाक्षिपति—न खल्विति। षष्ठीतत्पुरुषं शङ्कते—नन्विति। सम्यक्पदस्यार्थद्वारा परिच्छेदविशेषणतया विशेषणसमासं शङ्कते—सम्यगर्थेति ॥ १२२ ॥

'सम्यक् परिच्छेद' यह भी प्रमा का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि न्यायसम्मत या वृत्तिरूप ज्ञान में सत्यत्वरूप सम्यकत्व तो नहीं कहा जा सकता। इस तरह तत्त्वविषयता या यथार्थतारूप सम्यकृत्व भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें पीछे दोष दिखलाया गया है। अब शंका होती है कि इस लक्षण में, विषयगतसामस्त्यरूप सम्यक्त्व विवक्षित है। लोक में भी कहा जाता है कि मुझ से सम्यक्=समस्त रूप से नहीं देखा गया किन्तु सामान्याकार से मुझे उपलब्ध=ज्ञात हुआ। अतः यहाँ समीचीन=सत्य अर्थ का जो परिच्छेद (ज्ञान) अथवा सम्यक् जो परिच्छेद वह सम्यकपरिच्छेद शब्द से कहा जाता है, परन्तु ज्ञान में सम्यकृत्व विषय के सम्यकृत्व से ही सिद्ध होता है। उसे मानकर यह सम्यक् शब्द परिच्छेद शब्द के समानाधिकरण (एकार्थ का बोधक) 'नीलोघटः' इत्यादि के समान होता है ॥ १२२ ॥

मैवम् सामस्त्यमर्थस्य किं सर्वावयवसहितत्वम्? अथवा सर्वधर्मसहितत्वं? नाद्यः, अनवयवपदार्थपरिच्छेदस्य (सावयवपदार्थपरिच्छेदस्यापि मध्यभागाद्यविषयस्य) अप्रमात्वापातात्। नापि द्वितीयः, असर्ववित्परिच्छित्तीनां सर्वासामप्रमात्वापत्तेः। अथ मन्यसे सम्यक्शब्दः सविशेषार्थः, यदपि लोकेऽभिधीयते न मया सम्यग्दृष्टं तस्यापि मया न विशेषतो दृष्टमित्यर्थः। तस्माद् विशेषसहितधर्मिपरिच्छित्तिः प्रमेत्युक्तं भवति, विभ्रमादयो हि विशेषमपश्यतो जायन्ते इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमिदं, विशेषाणां च सर्वेषां विशेषान्तरानभ्युपगमेपि स्वरूपमेव केषाञ्चिद्विशेषः, इति

नैतद्युक्तं, विशेषमात्राभिधाने रजतत्वादिना विशेषेण सहैव शुक्तिव्यक्त्यादेर्भ्रमेणावगाहनात्तस्यापि प्रमात्वं स्यात्, प्रत्यर्थं व्यावृत्ताकाराणां च विशेषाणामुपादानेऽननुगमप्रसङ्गात्, सामान्यतश्चातिप्रसङ्गादिति उभयथाप्यसङ्गततापत्तेः ॥ १२३ ॥

परिच्छेदकर्मतयार्थसामग्र्यविवक्षां दूषयति—सामस्त्यमर्थस्येति। असर्वविदपरिच्छित्तीनामिति, प्रमेयत्वादिसामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिजमपि ज्ञानं विवक्षितम्। अपदार्थतामाशङ्क्याह—यदपि लोके इति। विशेषमिति, कालपृष्ठत्वादिकं सामस्त्यादिकं च। केषाञ्चिदिति। अन्त्यविशेषाणामित्यर्थः। अनवस्थापत्तेरिति भावः। विशेषमात्रेति। सामान्यत एव विशेषाभिधाने इत्यर्थः। प्रत्यर्थमिति। यत्र यो विशेषस्तत्र तत्सहितोपलम्भ इत्यर्थः। सङ्कलय्याभिधानार्थमुक्तं स्मारयति—सामान्यत इति। सङ्कलयति—उभयथेति। सामान्यविशेषाभ्यामतिप्रसङ्गाननुगमदोषावित्यर्थः ॥ १२३ ॥

उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि अर्थ की समस्तता (समग्रता) क्या सर्वावयव सहितता है ? या सर्वधर्मसहितता ? इनमें प्रथम पक्ष असंगत है, क्योंकि निरवयव आकाशादि के ज्ञानों में तथा मध्यभागादि को विषय नहीं करने वाले सावयव पदार्थों के ज्ञानों में भी अप्रमात्व की प्राप्ति होगी। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वरादि से अन्य कोई किसी पदार्थ को सर्वधर्मसहित नहीं जान सकता। एक घट में कितने परमाणुजन्यत्व कितने क्षणवृत्तित्वादि हैं इत्यादि अर्थधर्म को असर्वज्ञ नहीं जान सकता। अतः असर्ववित्=असर्वज्ञ के सब ज्ञानों में अप्रमात्व की प्राप्ति होगी। सामान्यधर्मलक्षण प्रत्यासत्ति से (प्रमेयत्वादिरूप से) सब वस्तु के ज्ञान को मान भी लें तो भी सर्वविशेषधर्मसहित का ज्ञान असर्वज्ञ को नहीं हो सकता। यदि मानें कि सम्यक् शब्द का सविशेष (प्रकार=विशेषण सहित) अर्थ है। लोक में भी कहा जाता है कि मुझसे सम्यक् नहीं देखा गया। इस कथन का भी (मुझसे विशेषरूप से नहीं देखा गया) यही अर्थ होता है। अतः उक्त लक्षण से विशेषसहितधर्मी का ज्ञान प्रमा होता है, यह कथित (प्रतिपादित) होता है। भ्रमसंशयादि विशेष को नहीं देखने (जानने) वाले को होते हैं। अतः उन भ्रमादि की व्यावृत्ति के लिये लक्षण में सम्यक् विशेषण है। यद्यपि (रूपवान् घटः) यहाँ घट में रूप विशेष होता है। रूप में रूपत्व रहता है। उन विशेषों सहित घट और रूप धर्मी का ज्ञान प्रमा होता है, तथापि रूपत्व विशेष में विशेषान्तर के अभाव से उसके ज्ञान में अप्रमात्व की प्राप्ति होगी। यदि उसमें जातिविशेष मानें तो उसमें भी विशेष के अन्वेषण करने पर अनवस्था आदि दोष प्राप्त होंगे। अतः सब विशेषों के विशेषान्तर को नहीं मानने पर भी किन्हीं अन्तिम विशेषों का स्वरूप ही विशेष होता है। रूपत्ववद्रूपविशिष्ट घट का ज्ञान प्रमा होता है इत्यादि मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि विशेषपद से सामान्यविशेषमात्र के ग्रहण होने पर रजतत्वादिविशेषसहित ही शुक्ति आदि के भ्रम द्वारा अवगाहन (ग्रहण) होने से उस भ्रम को भी प्रमात्व की प्राप्ति होगी। तत्तत् अर्थों के प्रति व्यावृत्त आकार वाले विशेषों का ग्रहण करें अर्थात् ऐसा लक्षण किया जाय कि जहाँ जो विशेष रहता हो, वहाँ उस विशेष सहित का ज्ञान प्रमा होता है, तो यद्यपि भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तथापि यत्तत् शब्द का लक्षण में निवेश करने से लक्षण का अननुगम (लक्ष्य मात्र में

एकस्वरूपत्व का अभाव) प्राप्त होगा और सामान्यरूप से विशेषमात्र के ग्रहण करने पर पूर्वोक्तरीति से रजतादिभ्रम में अतिव्याप्ति होगी। अतः दोनों प्रकार से असङ्गति स्पष्ट है ॥ १२३ ॥

विशेषस्य च भवतु स्वरूपमेव विशेषः तथाप्यभेदादेव विशेषसहितत्वं नास्तीत्यव्याप्तेरपरिहारात्। यत्तु कश्चिदवोचत् विशेषशब्देन तेऽभिधीयन्ते यददर्शनेन भ्रमसंशयावकाशो, यद्दर्शने च बाधाऽबाधव्यवस्था, तदनभ्युपगमे तत्त्वातत्त्वविभागो न स्यात्, भवितव्यं च तेन। अन्यथा व्याघातादिति, तदयुक्तम्। न तावदेवंविधोविशेषोऽभिधातुं शक्यः यदवगमस्य न भ्रान्तित्वादिसम्भवः, स्वप्नदशः सर्वविशेषोपलम्भात्। नच व्याघातदण्डभयमात्रादसावुपपादयितुमशक्योऽप्यभ्युपगन्तव्यः इति युक्तम्। तदुपदर्शनाशक्यत्वेन व्याघातपरिहार एव कश्चिदन्यो निर्वक्तुमशक्योऽप्यस्तीत्येव तदा किं न व्यवस्थाप्यते ? नहि परिदृश्यमानपदार्थगोचरं तदस्ति किञ्चिदनुभूयमानं यत्स्वप्ने वा वाक्याभासे वा प्रतिपत्तुमशक्यम् इति प्रतिपत्त्यारूढतया येयमप्रतीयमानकल्पना ततो वरमनुपलभ्यमानस्य व्याघातपरिहारस्यैव कल्पना भद्रा। बहुशश्च व्याघातोद्भावनविभीषिकामिमामुन्मूलयिष्यामः ॥ १२४ ॥

विशेषे विशेषसाहित्याभावात्तत्प्रमायामव्याप्तिरित्याह—विशेषस्येति। तदनभ्युपगमे इति। बाधाबाधव्यवस्थानभ्युपगमे इत्यर्थः। अन्यथेति। सर्वाप्रामाण्ये तद्ग्राहकप्रमात्वाप्रमात्वयोर्व्याघातः, प्रामाण्याप्रतीतौ तन्निषेधव्याघातः; प्रामाण्यनिषेधवाक्ये प्रामाण्याप्रामाण्यव्याघातः; अप्रामाण्यमात्रपरिशेषे स्वप्रवृत्तिव्याघातः, स्वप्रवृत्तौ सामर्थ्यासामर्थ्यव्याघातश्चेत्यर्थः। स्वप्नेति। निद्रादिमहिम्नाविशेषसाहित्येनापि स्वप्नसम्भवादित्यर्थः। ननूक्तव्याघातभयादवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यमित्यत आह—न चेति। तदुपदर्शनेति। दुर्वचस्यापि विशेषस्य व्याघातभयादभ्युपगमः इति यदि, तदा दुर्वचेनैव केनचित्प्रकारेण व्याघातपरिहार एवाभ्युपगम्यतामलं विशेषस्वीकारेणेत्यर्थः। ननु किमत्र विनिगमकमत आह—नहीति। भ्रमविषयत्वं बाधितमिति विशेषकल्पनया व्याघातपरिहारस्वीकारादनुपलभ्यमानहेतुकव्याघातपरिहार एव श्रेयानित्यर्थः। व्याघातश्च सर्वविरोधखण्डनप्रस्तावे निरसनीय एवेत्याह—बहुश इति ॥ १२४ ॥

नित्यद्रव्यवृत्ति स्वयंव्यावृत्त माने गये विशेषों का स्वरूप ही विशेष (व्यावृत्त) माना गया है उनमें अभेद होने पर भी विशेषसहित नहीं हो सकते, अतः उनकी प्रमा में लक्षण की अव्याप्ति का परिहार नहीं है। किसी का मत है कि विशेष शब्द से वे ही पदार्थ कहे जाते हैं जिनके अदर्शन (प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव) से भ्रम एवं संशय को अवकाश (अवसर) मिलता है, अर्थात् जिनके ज्ञान के बिना भ्रम तथा संशय होते हैं, और जिनके दर्शन से बाध और अबाध (मिथ्या एवं सत्य ज्ञान) की व्यवस्था (निर्णय) होती है। वह अवश्य मन्तव्य है, क्योंकि उसके अनभ्युपगम (अस्वीकार) करने पर तत्त्वाऽतत्त्व (सत्यमिथ्या) का विभाग नहीं होगा। यह विभाग मानना आवश्यक है तत्त्वाऽतत्त्व विभाग नहीं मानने पर व्याघात होगा। क्योंकि सब ज्ञान को तत्त्वविषयक होने पर वे प्रमा ही माने जायेंगे और उन्हें प्रमा मानकर निषेध काल में भ्रम ज्ञान को

अप्रमा कहना असंगत होगा, यदि सब ज्ञान को अप्रमा माना जाय तो निषेधकर्त्ताका ज्ञान भी अप्रमा सिद्ध होगा। अप्रमा से अप्रमा का निषेध नहीं होगा। यदि किसी ज्ञान को प्रमा और किसी को अप्रमा मानें तो विभाग का अभाव सिद्ध नहीं होगा, परन्तु यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि प्रथम तो इस प्रकार का विशेष निरूपण योग्य नहीं है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होगा जिसका ज्ञान कभी भ्रम या संशय रूप न हो। स्वप्नद्रष्टा को स्वप्न में दृष्ट वस्तु के सब विशेषों का उपलम्भ (ज्ञान) होता है, परन्तु उस दर्शन से स्वप्नरूप भ्रम निवृत्त नहीं होता और न उन विशेषविषयक सत्यादि का भ्रम स्वप्न-काल में निवृत्त होता है। ऐसा ही जाग्रत् में समझना चाहिये। व्याघात (विरोध) रूप दण्ड (अनिष्ट) के भय से उपदर्शन (प्रत्यक्ष) कराने में अशक्य (समझने एवं समझाने के अयोग्य) भी वह विशेष अभ्युपगन्तव्य (मन्तव्य) है, ऐसा मानना भी युक्त नहीं है (समर्थन के अयोग्य विशेष को मानना उचित नहीं है) किन्तु उस विशेष के उपदर्शन (ज्ञान) की अशक्यता से उक्त व्याघात का परिहार (निवारण) हो निर्वचन के अयोग्य कोई अन्य है, ऐसा ही उस अवस्था में क्यों न व्यवस्थापित (निश्चित) कराते? यही निश्चित करना तथा कराना उचित है। यदि कहा जाय कि जो विशेष स्वप्न में नहीं दीखता है, वही मन्तव्य है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि परिदृश्यमान पदार्थ जिसका विषय है, ऐसा अनुभूयमान कोई ज्ञान नहीं जो स्वप्न में और वाक्याभास में विशेषविषयसहित जानने में अशक्य हो, अर्थात् ब्रह्म भिन्न सब विशेष विषयक ज्ञान का स्वप्न में तथा वाक्याभास (मिथ्या वाक्य) में ज्ञान होता है, परन्तु उससे भ्रम की निवृत्ति नहीं होती, अतः प्रतीति के विषयरूप से जो यह स्वप्न में अप्रतीयमान विशेष की कल्पना करना है, उससे श्रेष्ठ अनुपलभ्यमान व्याघातपरिहार (अनिर्वाच्यत्व) ही की कल्पना भद्रा (शुभ) है। व्याघात की उद्भावना (रूप) विभीषिका का अनेक प्रकार से आगे निराकरण करेंगे ॥ १२४ ॥

ननु न ब्रूमो विशेषेण सहोपलम्भो विशेषसहितोपलम्भः, किंनाम विशेषेण सहितस्य पदार्थस्योपलम्भः, तथाच न शुक्तौ रजतत्वं विशेषोऽस्ति तत्कथं रजतभ्रमेऽतिप्रसङ्गः? इति, न उक्तदोषेणैव निरस्तात्। यदि हि विशेषस्य सामान्यतोऽभिधानं तदा पुरोवर्तित्वादेः सत्त्वान्न प्रसङ्गनिवारणं, विशेषेण तदभिधाने त्वननुगमः, इति। बाधाबाधव्यवस्थाहेतुरस्ति विशेषः इति पक्षं यस्तु जडतरो न जहाति स आप्तानाप्तवाक्याभ्यां नदीतीरे फलानि सन्तीत्येवंरूपाभ्यां प्रतिपाद्यमानेऽर्थे स्थितं कं विशेषमेकत्र पश्यसि यमपरत्र न पश्यसि? इति पृष्ट्वा प्रतिबोधनीयः, तथाप्यजातबोधस्तु जडतमः कश्चिद्यदि स्यात् स एवं प्रबोध्यः, ये ते विशेषान्तरप्रवाहस्वीकारेऽनन्तविशेषापत्तिभयात्त्वया स्वत एव विशेषरूपा इति स्वीकृताः तेषां स्वरूपं तावत्परस्परव्यावृत्तमतोऽनुगतैकरूपाभावादव्यापकत्वं स्यादिति। बाधव्यवस्थाहेतुत्वादेवानुगतिः? इति चेन्न, काचित्कबाधव्यवस्थाहेतोर्भ्रमेपि प्रकाशात्। तत्र तस्य, इति चेन्न, व्यावृत्तेः ॥ १२५ ॥

विषये विशेषसाहित्यमपेक्षितं, ननु ज्ञाने, भ्रमश्च न विशेषरजतत्वादिसहितशुक्त्यादि-

विषयक इति नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—नन्विति। उक्तं दोषं विशदयति—यदि हीति। जडतरत्वम् = उक्तखण्डनाऽविवेचकत्वं, जडतमत्वम्=असकृदुक्ताग्राहकत्वम्। क्वाचित्केति। रजते बाधव्यवस्थाहेतोरेव रजतत्वस्य भ्रमेपि भानादित्यर्थः। यत्र यद्बाधव्यवस्थापकं तत्र तस्य विशेषत्वमित्याह—तत्र तस्येति। यत्त्वतत्त्वयोरननुगमादिदमलक्षणमित्याह—व्यावृत्तेरिति॥ १२५॥

फिर शंका होती है कि विशेषयुक्त उपलम्भ (ज्ञान) को विशेषसहित उपलम्भ नहीं कहते हैं किन्तु विशेषसहित पदार्थ के उपलम्भ को विशेषसहित उपलम्भ कहते हैं। अर्थात् विशेषपद ज्ञान का विशेषण नहीं है, किन्तु विषय का विशेषण है। शुक्तिरूपविषय में रजतत्वरूप विशेष नहीं है। इस स्थिति में रजतभ्रम में अतिव्याप्ति कैसे हो सकती? इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त दोष से ही यह शंका युक्त नहीं है। यदि सामान्यरूप से विशेष का कथन हो, तो पुरोवर्तित्व (इदन्त्व), चाकचिक्यादिविशेष सहित ही शुक्ति का भ्रमरूप उपलम्भ होता है। अतः अतिव्याप्ति का निवारण नहीं हो सकता। यदि विशेषरूप से विशेष का ग्रहण किया जाय अर्थात् ज्ञान जिस विशेषधर्मयुक्तधर्मी का प्रकाश करता है, उस विशेषधर्मयुक्त धर्मी अंश में वह ज्ञानप्रमा है, तो यत् तत् शब्द का लक्षण में प्रवेश होने से लक्षण अनुगत नहीं होगा। उक्त रीति से विशेष के खण्डन होने पर भी जो जडतर (उक्त खण्डन के विवेकादिशून्य) मनुष्य बाधाऽबाध की व्यवस्था का हेतु विशेष है, इस पक्ष को नहीं छोड़ता है वह इस तरह पूछकर समझाने योग्य है कि जहाँ आप्त (सत्यवक्ता) तथा अनाप्त (असत्यवक्ता) से नदी तीर पर फल हैं, इस प्रकार फलरूप अर्थ प्रतिपादित होते हैं वहाँ एकत्र (आप्त कथित) अर्थ में स्थिर किस विशेष को देखते हैं जिसे अपरत्र (अनाप्तकथित) अर्थ में नहीं देखते। फल, फलत्व एवं उनके सम्बन्धादि दोनों वाक्यार्थ में तुल्य भासते हैं। फिर भी अनुपजात (अनुपपन्न) बोध वाला यदि कोई हो, तो वह इस प्रकार प्रबोधनीय है जिन अन्तिम विशेषों में विशेषान्तर के स्वीकार करने पर अनन्त विशेष की प्राप्ति के भय से आपने उन्हें स्वयं ही विशेषरूप से स्वीकार किया है (स्वतः व्यावृत माना है) उनका स्वरूप तो परस्पर व्यावृत्त रहता है। अतः अनुगत एकरूप के अभाव से उनमें अव्यापकत्व होगा, जैसे गोत्व गोमात्र में व्यापक होकर अपने आश्रय का अन्य से व्यावर्तक होता है, वैसे किसी का व्यावर्तक विशेष नहीं होगा। यदि बाध की व्यवस्था के हेतुत्व रूप से उनकी अनुगति (व्यापकता = एकता) मानी जाय तो यह भी संगत नहीं है क्योंकि कहीं (सत्यरजत में) होने वाला बाधव्यवस्था का हेतु रजतत्व को ही रजतभ्रम में भी प्रकाश होता है। अतः सत्यरजतस्थल में बाधव्यवस्था का हेतु (बाधनिवारक) जो रजतत्व है, उसे भ्रमज्ञान में भी रहने से वह बाधव्यवस्थापक नहीं हो सकता, अतः सर्वत्र बाधव्यवस्था के हेतुत्वरूप से विशेषों का संग्रह होना दुर्लभ है। यदि विशेषरूप से कहें कि—जहाँ जो बाधव्यवस्थापक होता है, वहाँ वह विशेष कहलाता है, तो व्यावृत्ति (प्रतिलक्ष्य में लक्षण की भिन्नता) से लक्षण का अननुगम होगा॥ १२५॥

बाध भी भ्रम से विपरीतप्रमा मात्र को नहीं कह सकते, किन्तु समानविषयक प्रमा भ्रम का बाधक होता है, अन्यथा (पर्वतो वह्निमान् यह ज्ञान ह्रदो वह्निमान्' इस भ्रम

का भी बाधक होगा फिर, ह्रदो वह्न्यभाववान्, इस बाध की आवश्यकता नहीं होगी। अतः जहाँ जिस बाध्य वस्तु का ज्ञान हो, वहाँ उस बाध्यविपरीतवस्तु की प्रमा उस पूर्व ज्ञान का बाधक होता है, इस आशय से कहते हैं—

बाधस्य च तद्विपरीतार्थप्रमात्वेन तदर्थाननुगमात्, प्रमायाश्चाद्याप्य-व्यवस्थापनादिति। शङ्कान्तराणि चातः पराणि याथार्थ्यविशेषणदूषणदूषि-तान्येवोपनिपतन्तीतीह द्विरभिधानभयान्नोक्तानि। किंच, तर्कज्ञानमाहार्यौ च संशयविपर्ययौ परिदृश्यमाने एव विशेषे भवन्तीति तैरतिप्रसङ्गः स्यात्। नचाहार्यौ तौ नाभ्युपगन्तव्याविति युक्तम्, विप्रलम्भकस्य वाक्यप्रयोग-मूलतया आहार्यभ्रमस्य ज्ञाततत्त्वस्य च गुरोः शिष्यप्रबोधार्थं विचारं प्रवर्तयत आहार्यसंशयानां भवत एव शास्त्रेऽनुमतत्वात्, परिच्छेदशब्दश्चानुभूति-पर्यायोऽनुभूतिदूषणं नातिक्रामतीत्यलम्॥ १२६॥

किंच, बाधो न विपरीतप्रमामात्रमपि तु बाध्यं यत्र यत्तद्विपरीतप्रमा, तथाच यत्त्व-तत्त्वाननुगमादननुगतेन बाधेन बाधव्यवस्थाहेतुत्वं विशेषणं नानुगमकमित्याह—बाधस्य चेति। किंच, सविशेषज्ञानं प्रमा, विशेषश्च बाधव्यवस्थाहेतुर्बाधश्च विपरीतप्रमैवेति चक्रकमित्याह—प्रमायाश्चेति। यद्विशेषसहितो धर्मी तेन रूपेणानुभवः प्रमा, साक्षाद्विशे-षसाहित्यं सम्यक्परिच्छेदो विवक्षितः, भासमानयावद्विशेषविशेषणविषयकज्ञानं वा प्रमेत्याद्यपि प्रमालक्षणं दूषितमेवेत्याह—शङ्कान्तराणीति। विशेषसहितधर्मिपरिच्छित्तिः प्रमेत्यत्र दूषणान्तरमाह—किंचेति। ताविति, संशयविपर्ययौ। विप्रलम्भकस्येत्याद्युपलक्षणम् आरोप्य निषिध्यते इतिमते आहार्यारोपस्यैव निषेधधीहेतुत्वाभ्युपगमादित्यपि द्रष्टव्यम्। अनुभूतिदूषणमिति। अनुभूतित्वस्य जातेः स्मृत्यन्यज्ञानत्वाद्युपाधेश्च खण्डितत्वादित्यर्थः। तत्त्वविषयत्वादीत्यादिपदाद्यथार्थत्वसम्यक्त्वादिसङ्ग्रहः॥ १२६॥

बाध के तत् (बाध्य) से विपरीत तत्तत् प्रमारूप होने से उसके अननुगम होने पर बाधव्यवस्थापक विशेष का भी अननुगम होगा। सविशेष ज्ञान प्रमा कहलाता है, बाधव्यवस्था का हेतु विशेष कहलाता है और विपरीत प्रमा ही बाध होता है, अतः बाध के लक्षण में प्रमा की और प्रमा के लक्षण में विशेष की, फिर उसको बाध की अपेक्षा होने से चक्रक दोष होता है। अतः कहा गया है कि अभी भी प्रमा के व्यव-स्थित (निरूपित) नहीं होने से, बाध्यविपरीतप्रमात्व बाध का लक्षण नहीं हो सकता इन शंकाओं से अन्य जो शंकाएँ हैं, वे (यथार्थानुभूतिः प्रमा) इस लक्षण के यथार्थतारूपविशेषण के दूषणों से दूषित होते हैं। अतः द्विरभिधान (पुनरुक्ति) के भय से यहाँ नहीं कहे गये हैं। अर्थात् धर्मी जिस विशेष धर्म से युक्त हो उस धर्मसहित का अनुभव प्रमा होता है। भासमान सब धर्मसहितधर्मी का ज्ञान प्रमा होता है, इत्यादि प्रमा के लक्षण दूषित हो चुके हैं। व्याप्तिपक्षधर्मता आदि से पर्वत में अग्नि के ज्ञान रहने पर भी (यद्यग्निर्नस्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यात्) यदि अग्नि न होती तो धूम भी नहीं रहता, इस रीति से अग्नि धूम के अभाव की कल्पनारूप तर्क होता है, तथा विशेष दर्शन से बाध काल में भी कल्पना द्वारा संशय और आहार्य ज्ञान होते हैं, परन्तु वे प्रमा नहीं हैं और विशेष ज्ञानसहित ज्ञान से बाधित भी नहीं हैं। अतः उनके द्वारा लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होगा। क्योंकि वे भी प्रमा के लक्ष्य होंगे। यदि

कहा जाय कि आहार्य स्वरूप संशय और भ्रम मानने योग्य ही नहीं हैं, जहाँ अतिव्याप्ति होगी, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विप्रलम्भक (वञ्चक) मनुष्य के वाक्योच्चारण (मिथ्याभाषण) के मूल (कारण) रूप से आहार्य भ्रम को आपके शास्त्र में ही स्वीकार किया गया है। तथा शिष्य के प्रबोधन के लिए विचार प्रारम्भ (प्रवृत्त) करते हुए तत्त्वज्ञ गुरु के आहार्य संशयों का स्वीकार आपके शास्त्र में किया गया है। अतः ये सब अमन्तव्य नहीं हो सकते इन्हें मानने पर यहाँ अतिव्याप्ति अनिवार्य है। परिच्छेद-शब्द अनुभूति का पर्याय (वाचक) है, अतः अनुभूति के दूषणों का त्याग नहीं कर सकता। अर्थात् अनुभूतित्वजाति, और स्मृतिभिन्नज्ञानत्वादि उपाधि खंडित हो चुके हैं ॥

(अव्यभिचारित्वादिविचारः)

नापि अव्यभिचार्यनुभवः प्रमेति युक्तम्, अव्यभिचारिपदस्य यदि तत्त्वविषयत्वाद्यर्थत्वं तदा दूषणान्युक्तान्येवावर्तन्ते। अथैवमुच्यते अव्यभिचारित्वमर्थाविनाभूतत्वं, तदा प्रष्टव्यं कोऽस्यार्थः? किं यदाऽर्थस्तदैव ज्ञानम्? उत यत्रार्थस्तत्रैव देशे ज्ञानम्? अथ यादृगर्थस्तादृगेव ज्ञानं यत्तत्प्रमितिरिति? नाद्यः, अतीतानागतानुमित्यव्यापनात्। न द्वितीयः, ज्ञानासमानदेशार्थप्रमितीनामव्यापनात्, ज्ञानसमानदेशमर्थमन्यत्रारोपयतोऽप्यनुभवस्य प्रमात्वापत्तेः। नापि तृतीयः, ज्ञानार्थभेदवादे सर्वाकारेण तत्सारूप्यानुपपत्तेः; अभेदवादे भ्रमस्यापि तथाभ्युपगन्तव्यत्वप्रसङ्गेन विशेषणवैयर्थ्यापातात्, तैस्तैश्च विशेषैः सादृश्यस्य विवक्षितत्वे यथार्थताप्रस्तावोक्तदूषणान्यावर्तन्ते इति ॥ १२७ ॥

अथ यादृगर्थ इति। यद्यपि नेयमव्यभिचारनिरुक्तिस्तथापि विवक्षाधीनो विकल्प इति मन्तव्यम्। अनुमितीत्युपलक्षणं शाब्दज्ञानमपि तादृशं द्रष्टव्यम्। ज्ञानसमानदेशमिति। शरीरादावात्मत्वारोपोऽपि प्रमा स्यादित्यर्थः। सर्वाकारेणेति। यत्किञ्चिदाकारेण तु भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। अभेदवादो वेदान्तियोगाचाराद्यनुमतः। नाप्यव्यभिचारिणोऽर्थस्यानुभवः प्रमा, अर्थाव्यभिचारश्च यत्रार्थे ज्ञानं तत्रैव योऽर्थ इति वाच्यम्, एवं च धर्मिण्यप्रमात्वापत्तेः। तथोल्लिख्यमानत्वं = पूर्वज्ञानप्रकारेणोल्लिख्यमानत्वम् ॥१२७॥

अव्यभिचारी अनुभव प्रमा है, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि अव्यभिचारी पद के यदि तत्त्वविषयत्वादि अर्थ हों, तो पूर्वोक्तदूषण ही प्राप्त होते हैं। यदि कहा जाय कि अर्थ के साथ ज्ञान का अविनाभूतत्व (ज्ञान का अर्थ के बिना अवर्तमानत्व) अव्यभिचारित्व है, तो प्रष्टव्य है कि इस अविनाभाव शब्द का अर्थ क्या है? क्या चन्द्रोदयकालिक समुद्र वृद्धि के समान जिस समय अर्थ हो, उसी समय ज्ञान का होना, अर्थ है? या धूम अग्नि के समान जिस देश में अर्थ हो उसी देश में ज्ञान का होना, अर्थ है? अथवा जिस प्रकार वाला अर्थ हों उस प्रकार वाला ज्ञान होना अर्थ है और वह जो ज्ञान है, वह प्रमिति (प्रमा) है? यहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि अतीत एवं अनागत वस्तु की अनुमिति में अव्याप्ति होगी। दूसरा पक्ष भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान के समान (एक) देश में नहीं रहने वाले घटादिरूप अर्थ की प्रमितियों में अव्याप्ति होगी। ज्ञान समवायसम्बन्ध से आत्मा में रहता है,

और घटादि बाहर रहते हैं। अतः सुखादिज्ञानमात्र इस लक्षण के लक्ष्य होंगे, और ज्ञान के साथ समान (एक) देश में वृत्ति आत्मत्व एवं सुखादि का शरीर तथा इन्द्रियादि में आरोप करने वालों के भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि आत्मत्वादि का शरीरादि में आरोप होने पर भी ज्ञान के साथ एक आत्मा में न्यायमत के अनुसार समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान का अर्थ के साथ कोई भेद मानते हैं, और विज्ञानवादी ज्ञान का ही अर्थाकारपरिणाम मानते हैं अतः अर्थ एवं ज्ञान में अभेद मानते हैं। भेद पक्ष में ज्ञान एवं अर्थ में सर्वथा सादृश्य असंभव है, क्योंकि उनमें घटत्व, ज्ञानत्व, द्रव्यत्व तथा गुणत्वादिरूप विलणता अनिवार्य है। जिस किसी रूप से सादृश्य मानने पर प्रमेयत्वादिरूप सादृश्य से भ्रम में अतिव्याप्ति होगी और अभेदवाद में भ्रमज्ञान में भी (अर्थसदृशत्व) का प्राप्ति होने से अव्यभिचारी विशेषण की व्यर्थता होगी। प्रकाशमान तत्तत् विशेषों के द्वारा सादृश्य के विवक्षित होने पर यथार्थता के के प्रकरण में उक्त दोष ही यहाँ प्राप्त होंगे। अर्थात विशेषमात्र के कथन करने पर अतिव्याप्ति होगी, और तत्तत्विशेषव्यक्ति के ग्रहण करने पर अननुगम होगा ॥ १२७ ॥

अविसंवाद्यनुभवः प्रमा, इत्यपि, न युक्तम्। अविसंवादित्वं हि ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानार्थत्वं वा ? ज्ञानान्तरेण विपरीततयाऽप्रतीयमानार्थत्वं वा ? प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वं वा ? अन्यदेव वा किंचित् ? न प्रथमः, धारावाहिनो भ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गात्। नच प्रमाभूतं ज्ञानान्तरं विवक्षितमिति वाच्यम्, प्रमाया एव लक्ष्यमाणत्वात्। नापि द्वितीयः, अनुपजातबाधभ्रमव्यापनात्; स्वस्थदशोत्पन्नस्य शुक्लशङ्खादिज्ञानादेर्दुष्टेन्द्रियदशोत्पन्नतत्पीतिमज्ञानाद्युल्लिखितविषयवैपरीत्यस्याप्रमात्वप्रसङ्गाच्च। प्रमित्यानुल्लिखितार्थवैपरीत्यभावविवक्षायां तु प्रमाया लक्ष्यमाणत्वादित्युक्तमनुषज्जति। अदुष्टकरणजज्ञानेनाबाधितत्वं विवक्षितम्, इति चेन्न, तदेव तर्हि प्रमालक्षणमस्तु। किंच, दुष्टत्वनिरूपणमन्तरेणादुष्टत्वस्य दुर्निरूपत्वात्। ननु किमेतावता, दुष्टत्वं विपरीतज्ञानप्रयोजकस्तद्धेतुगतो विशेष इति सुवचमेवेति। न, विपरीतपदव्यवच्छेद्याऽप्रमितौ तदुपादानवैयर्थ्यात्, तदनुपादाने च ज्ञानजनकत्वमात्रं दुष्टत्वमित्यदुष्टकरणजं ज्ञानं नास्त्येवेति स्यात्। विपरीतपदव्यवच्छेद्या प्रमैव, इति चेन्न, तस्या एव लक्ष्यमाणत्वात् ॥ १२८ ॥

अनुपजातबाधेति। यद्यपि पुरुषान्तरेण विपरीततया प्रतीयमानत्वं तत्राप्यस्ति, तथापि तत्र न संवादोक्तिरिति भावः। भ्रमेण ज्ञानान्तरेण विपरीततया प्रतीयमानतया प्रमायामव्याप्तिरित्याह—स्वस्थदशेति। ननु तत्र भ्रमेण वैपरीत्यमुल्लिखितम्, प्रमायां च तथाऽनुल्लिख्यमानत्वं विवक्षितं, तच्च शङ्खज्ञानेऽस्त्येवेति नाव्याप्तिरित्यत आह—प्रमित्येति। ननु प्रमित्येत्युक्तेरात्माश्रयोऽदुष्टकरणजन्यज्ञानाबाध्यत्वविवक्षायां न दोष इत्याह—अदुष्टेति। तदेवेति। तन्निरूपितलक्षणान्तरे गौरवं स्यादित्यर्थः। किंचेति। प्रतियोगिनिरूप्यत्वात्तदभावस्येति भावः। सामान्यत आह—विपरीतेति ॥ १२८ ॥

अविसंवादी अनुभव प्रमा है, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि अविसंवादित्व क्या है ? यह बताना असम्भव है। ज्ञानान्तर से पूर्वज्ञानतुल्य ही उल्लिख्यान (प्रकाश्य-

मान) अर्थवत्ता पूर्वज्ञान में अविसंवादित्व है ? (१), या ज्ञानान्तर से विपरीतरूप से अप्रतीयमान अर्थवत्ता (विपरीतरूप से प्रतीति के अविषय अर्थवत्ता) ? (२), अथवा प्रतीयमान ज्ञानव्याप्यविषय जिसका हो वह ज्ञान अविसंवादी ? (३), अथवा अन्य ही कुछ = अर्थक्रियाकारिवस्तुविषयकत्वादि = अविसंवादित्व है ? (४), धारावाही भ्रम में प्रमात्व की अतिव्याप्ति से प्रथम पक्ष युक्त नहीं है। यह धारावाही वही कहलाता है जहाँ पूर्वज्ञान के तुल्यविषय वाले अनेकज्ञानप्रवाहरूप से चलता हो। यदि कहा जाय कि प्रमारूपज्ञानान्तर से पूर्वतुल्य प्रकाश्यमान अर्थवत्त्व-विवक्षित है, अतः प्रवाहरूप भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रमा ही लक्ष्यमाण है (लक्षण द्वारा ज्ञातव्य है) और अभी प्रमा का लक्षण सिद्ध नहीं हुआ है। अतः प्रमा के ही लक्षण में प्रमा के प्रवेश से आत्माश्रयता होगी, तथा प्रमा ज्ञान से अविसंवादित्व के ज्ञान और अविसंवादित्व ज्ञान से प्रमा के ज्ञान के होने से परस्परसापेक्ष लक्षण होने से अन्योन्याश्रय होगा जिससे एक भी सिद्ध नहीं होगा। ज्ञानान्तर द्वारा विपरीतरूप से अप्रतीयमान अर्थवत्तारूप दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुपजात (अनुत्पन्न) बाध वाला भ्रम में अतिव्याप्ति होगी। किसी को भ्रम के बाद उसके बाधरूप विपरीत ज्ञान के बिना ही विषयान्तर के ज्ञानादि में प्रवृत्ति मृत्यु आदि होते हैं। उसका भ्रम ज्ञान भी विपरीतज्ञान से अबाधित रह कर ही लीन हो जाता है, या सस्काररूप से बहुकाल तक वर्तमान रहता है, इस में अतिव्याप्ति होगी। और स्वस्थावस्था में उत्पन्न शुक्लशङ्खादि के (शुक्लः शङ्खः) शंख शुक्ल होता है, इत्यादि यथार्थ ज्ञानादि को, पित्तादिरोग से दुष्टेन्द्रियाऽवस्था में उत्पन्न पीतिमा के ज्ञानादि से प्रकाशितविषय की विपरीतता के कारण अप्रमात्व की प्राप्ति होगी. अतः यहाँ अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि प्रमा से अप्रकाशित विषय विवरीतवत्त्व विवक्षित है, अतः अप्रमा से विषयविपरीतता के प्रकाश होने पर भी अव्याप्ति नहीं है तो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि 'अभी प्रमा का लक्षण ही सिद्ध नहीं है' यही पूर्वोक्त दोष यहां भी लगेगा। यदि कहा जाय कि अदुष्ट (दोषरहित) करण (इन्द्रियादि) से जन्य ज्ञान से अबाधितत्व विवक्षित है, अतः उक्त उदाहरण में दुष्टकरण से जन्यज्ञान से बाधित होने के कारण अव्याप्ति नहीं होगी, और न आत्माश्रयादि होंगे, तो इस अदुष्ट-करणजन्य ज्ञानान्तर से अबाधितविषयकत्वरूप अविसंवादित्व द्वारा लक्षणान्तर के कथन में गौरव से लाघव के कारण वह अदुष्टकरणजन्यज्ञानत्व, ही प्रमा का लक्षण मन्तव्य है, किन्तु दुष्टत्व के निरूपण (निर्वचन = लक्षण) के विना अदुष्टत्व दुर्निरूप्य (दुर्ज्ञेय) है। अतः यह लघु लक्षण नहीं हो सकता। शका होती है कि इतने से क्या ? (दुष्टता के निरूपण के बिना अदुष्टता के अनिरूपण से क्या दोष है ?) विपरीतज्ञान का हेतुरूप करणगतपित्तादिदोष विशेष ही दुष्टत्व है, अतः सुबच ही है, दुर्वच नहीं. किन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि (विपरीत ज्ञानप्रयोजक) विपरीतज्ञान का हेतु, इस वाक्य में विपरीत पद से व्यवच्छेद्य का ज्ञान न हो, तो उसका ग्रहण व्यर्थ होगा। और बिपरीत पद के ग्रहण नहीं करने पर ज्ञानजनकत्वमात्र दुष्टत्व होगा, जिससे अदुष्टकरणजन्यज्ञान का अभाव ही सिद्ध होगा। यदि कहा जाय कि विपरीत पद से व्यवच्छेद्य प्रमा ही है,

अतः उसका ग्रहण व्यर्थ नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वह प्रमा ही लक्ष्यमाण है, उसका लक्षण सिद्ध नहीं हुआ है ॥ १२८ ॥

तदीयस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्याद्याप्यप्रतीतेः कुतो व्यवच्छेदः प्रत्येतव्यः, इति व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमन्तरेण व्यवच्छिन्नतज्ज्ञानमशक्यमित्यात्माश्रयान्योन्याश्रयावनवस्था वा ।

एकोऽनेकविशेषेऽर्थे विशेषो यत्र लक्ष्यते ।
तद्विशेषान्तरान्यत्वाद्दोषस्तत्रैव धावति ॥ ३२ ॥ १२९ ॥

विशिष्याह—व्यवच्छिन्नेति । व्यावृत्तप्रमाज्ञानाधीनं व्यावृत्तप्रमाज्ञानमित्यात्माश्रयः, अप्रमाव्यावृत्तत्वेन प्रमाज्ञानं, प्रमाव्यावृत्तत्वेन चाऽप्रमाज्ञानमित्यन्योन्याश्रयः, अप्रमाव्यावृत्तत्वेनादुष्टकरणकज्ञानत्वनिरूपणं, तेन च प्रमानिरूपणं, तेन चाप्रमानिरूपणमेवमान्तरालिकापरापरापेक्षणे चक्रकम्; अनिवृत्तौ त्वनवस्थेत्यर्थः । एक इति । अनेको विशेषोऽनुभवत्वस्मृतित्वादयो यत्र ज्ञानादौ तत्रैको विशेषोऽनुभवो वा स्मरणं वा यत्र लक्ष्यते तत्रैवाऽऽत्माश्रयादिरापतति, यतः स्मरणान्यत्वेनानुभवस्यानुभवान्यत्वेन स्मरणस्य वा लक्षणात्, एवं द्रव्यान्यत्वेन गुणस्य गुणान्यत्वेन द्रव्यस्येत्यादावपीत्यर्थः ॥ १२९ ॥

उक्त प्रमा के लक्ष्यमाण होने से = उसके लक्षण की असिद्धि से (इतर = अप्रमा) से व्यावृत्त (भिन्न) उस प्रमा के स्वरूप की अभी असिद्धि है । अतः किससे दुष्ट करणजन्य का व्यवच्छेद (भेद) ज्ञातव्य हो सकता है ? व्यवच्छिन्न (व्यावृत्त) उस प्रमा के ज्ञान के बिना लक्षण द्वारा भी उस व्यवच्छिन्न प्रमा का ज्ञान अशक्य है । इस रीति से आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक और अनवस्था की प्राप्ति होती है । अर्थात् उत्तर व्यावृत्तप्रमाज्ञान के अधीन, व्यावृत्त प्रमाज्ञान को मानने पर आत्माश्रय होगा । दुष्टकरणजन्य अप्रमाभिन्नत्व से प्रमाज्ञान, प्रमाभिन्नत्व से अप्रमाज्ञान के होने पर अन्योन्याश्रय होगा, अप्रमाभिन्नत्व से अदुष्टकरणजन्यज्ञाननिरूपण, उससे प्रमानिरूपण, फिर प्रमान्यत्व से अप्रमा निरूपणादि से चक्रक होगा । और प्रमा की सिद्धि से लक्षण की सिद्धि हो, लक्षण की सिद्धि से प्रमा की सिद्धि हो और लक्षणान्तर से लक्षण की सिद्धि हो तो अन्य अन्य लक्षण के अन्वेषण से अनवस्था होगी । उक्त खण्डन को ही व्यापकरूप से दर्शाने के लिये उक्त अर्थ का श्लोक से संग्रह किया गया है कि (यत्र) जिस, अनेक विशेषवाले ज्ञानादि रूप अर्थ में (अनुभूतित्व = स्मरणत्व = ज्ञानत्वरूप विशेष वाले जिस ज्ञान में) उस ज्ञानगत एक विशेष (अनुभवत्व) को जब उस ज्ञानगत विशेषान्तर (स्मृतित्व) से अन्यत्वेन लक्षित (लक्षणाद्वाराबोधित) किया जाता है, तो वहाँ ही आत्माश्रयादि दोष प्राप्त होते हैं । क्योंकि स्मृति से अन्यत्व अनुभवत्व को, और अनुभवत्व से अन्यत्व स्मृतित्व को कहने पर किसी की सिद्धि नहीं होती है ॥ १२९ ॥

(प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वम्-अविसम्बादित्वम्) इस तृतीय पक्ष का खण्डन है—

नापि तृतीयः, व्याप्यशब्देन व्याप्यमात्रम् ? तद्विशेषो वा कश्चिदभिप्रेतः स्यात् । आद्ये, सधूमाग्निविषयस्य स्वप्नज्ञानस्यानाप्तवाक्यजबोधस्य वा नाप्रमात्वं स्यात् । नापि द्वितीयः, स ह्यर्थक्रिया वा ? सामग्री वा ? उभयत्रापि पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । एकदा च सर्वत्र प्रमाणासम्भवेन क्रमाश्रयणे तत्तदर्थ-

क्रियातत्तत्सामग्रीपरम्पराऽवगमनियमाभ्युपगमे एकस्मिन्नेव विषये पुरुषायुषः पर्यवसानप्रसङ्गात्, विच्छेदाभ्युपगमे त्वन्तिमावगमस्याप्रामाण्याद्आऽऽप्रथममप्रमात्वापत्तेः। वास्तवतदर्थक्रियात्वस्य च दुर्निरूपत्वेन व्यवहारानर्हत्वात्, तथा प्रतीतिमात्रस्याप्रमासाधारण्यात् ॥ १३० ॥

प्रतीयमानव्याप्यविषयत्वं वा अविसंवादित्वमिति दूषयति—नापीति। पूर्वोक्तेति। स्वप्नादावर्थक्रियासाहित्येन भानसंभवादित्यर्थः। दोषान्तरमाह—एकदा चेति। वह्निज्ञानस्याविसंवादित्वं तदर्थक्रियागोचरं ज्ञानान्तरमेव, तस्याप्यविसंवादित्वं तदन्यदित्यविच्छेदेऽनवस्थेत्यर्थः। ननु स्वप्नज्ञानादौ वास्तवार्थक्रियाविषयत्वं संवादित्वं नास्तीत्यत आह—वास्तवेति ॥ १३० ॥

प्रतीयमान व्याप्य जिसका विषय हो, वह अविसंवादिज्ञान है, यह तृतीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि व्याप्य शब्द से व्याप्यमात्र कहा जाता है ? या उस व्याप्य का कोई विशेष अभिप्रेत है ? शब्द के सामान्य और विशेष दो प्रकार के अर्थ होते हैं। यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि इस रीति से धूम सहित अग्नि के स्वप्न ज्ञान को तथा 'कार्यत्व से आत्मा अनित्य है' इत्यादि अनाप्तवाक्यजन्यबोध को अप्रमात्व नहीं होगा। अग्नि का व्याप्य धूम और अनित्यत्व के व्याप्य कार्यत्व यहाँ ज्ञान के विषय हैं। व्याप्यविशेषरूप द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि विशेष अर्थ साधक क्रिया (कार्य = दाह पाकादि) रूप या कार्य की सामग्री रूप हो सकता है, जो अवश्यंभावी फल का व्याप्य माना जाता है, अतः धूमरूप फल (कार्य) के साधक अग्नि काष्ठतृणादिक ही व्याप्यविशेष हो सकते हैं। अतः उभयत्र (अर्थ क्रिया और सामग्री रूप दोनों) पक्षों में पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नहीं हो सकती। स्वप्नज्ञान भी अर्थक्रिया और सामग्री विषयक होता है। अतः उसमें अतिव्याप्ति होगी, तथा अनाप्तवाक्यजन्य ज्ञान में भी अतिव्याप्ति होगी, और (युगपज्ज्ञानाऽनुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्) इत्यादि वचन के अनुसार एक काल में व्याप्य एवं व्यापक अर्थक्रिया और सामग्री की प्रतीति नहीं हो सकने के कारण सर्वत्र एक काल में प्रमाण के असम्भव से प्रमाण के क्रम को मानने पर, तत्तत् अर्थ क्रिया (कार्य) और सामग्री के परम्परा विषयक ज्ञान के नियम को मानने पर एक ही विषय में पुरुष की आयु की समाप्ति होगी; अर्थात् अर्थक्रियारूप के ज्ञान से अग्नि ज्ञान में प्रमात्व होगा या सामग्रीरूप विशेष ज्ञान से अविसंम्वादित्वरूप प्रमात्व होगा, तो उस ज्ञान में भी विशेषान्तर के ज्ञान ही से प्रमात्व होगा, तो इस तरह अनवस्था की प्राप्ति होगी। ज्ञानधारा की उत्पत्ति करने में ही आयु की समाप्ति होगी। अन्त में किसी ज्ञानगत विशेषविषयक ज्ञान के नहीं होने पर (ज्ञान को नहीं मानने पर) उसकी अप्रमाणता से मूलज्ञान पर्यन्त में अप्रमाणता की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि स्वप्नज्ञानादि में वास्तव अर्थक्रियाविषयत्व नहीं रहता है, और यहाँ वास्तवार्थक्रियाविषयत्वविवक्षित है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। तो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि वास्तवार्थक्रियात्व के दुर्निरूप्य होने से वह व्यवहार के योग्य नहीं है। तथा (प्रतीयमान अर्थक्रियात्व) की प्रतीति की अप्रमाज्ञानविषय में भी साधारण रूप से विषयता रहती है। भाव यह है कि प्रमाज्ञानविषयत्व ही वस्तु में वास्तवत्व है, परन्तु वह प्रमा ही अभी निश्चित नहीं हुई है। अतः वास्तव की सिद्धि नहीं होने से उक्त कथन ठीक नहीं है ॥ १३० ॥

अन्यद् इस पक्ष का विशेषरूप से वर्णन करके खण्डन करते हैं—

नन्वेवं चतुर्थः पक्षोस्तु, तथाहि, अर्थक्रियाकारिविषयत्वं वाऽविसंवादित्वमिति, यथाह, "प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिश्चाविसंवादः" इति। न, सामान्यतो विवक्षायां भ्रान्तावपि प्रसङ्गात्। प्रतीयमानरूपेणार्थक्रियाकारित्वमर्थस्य विवक्षितम्, इति चेन्न, दुरवधारणत्वात्। तदर्थक्रियादर्शनात्तदवधारणम्, इति चेन्न, विनाप्यर्थक्रियां तद्दर्शनसंभवात्। अर्थक्रिया प्रमितिरभिधित्सिता इति तु दूषितमेव, प्रमाया एव निरूप्यमाणत्वात्। अभिप्रायाविसंवादात् प्रमाणं सर्वमुच्यते, इति चेन्न, तदा अभिप्रायाविसंवादस्य स्वप्नादिप्रत्ययेपि संभवात्, कालान्तराविसंवादस्य च दुरवधारणत्वात्॥ १३१॥

अन्यद्वेति पक्षं कीर्तिदिशापरिष्कृत्य खण्डयति—नन्वेवमिति। सामान्यत इति। भ्रमेपि शुक्त्यादेरर्थक्रियाकारित्वादित्यर्थः। ननु तत्र शुक्तित्वेनार्थक्रियाकारित्वं, नतु प्रतीयमानेन रजतत्वादिनापि, तथा च विवक्षितमित्याह—प्रतीयमानेति। दुरवधारणत्वादिति। दृष्टाप्यर्थक्रियाऽङ्गुलीयकादिः किं रजतत्वादिनाऽन्येन वा रूपेणेति दुरवधारणमित्यर्थः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव रजतत्वादिरूपेण तदवधारणीयमित्याह—तदर्थेति। अर्थक्रियादर्शनस्यापि भ्रान्तित्वसम्भवाद् दुरवधारणमित्याह—विनापीति। यद्वाऽर्थक्रियाकारिविषयकमपि ज्ञानं भ्रमः सम्भवतीति नायं संवाद इत्यर्थः। अर्थक्रियाकारित्वप्रमाविवक्षायामात्माश्रयादिरित्याह—अर्थक्रियेति। अभिप्रायेति। ज्ञानोल्लिखितप्रकारावच्छेदेनेच्छाप्रवृत्ती अभिप्रायस्तदविसंवाद इत्यर्थः। तदेति। यदा ज्ञानं तदाऽभिप्रायाविसंवादः स्वप्नज्ञानेपीत्यर्थः, भवति हि पायसज्ञानं, बुभुक्षाभोजनज्ञानं, तृप्तिज्ञानं च स्वप्नरूपमिति भावः। स्वप्नदृष्टस्य जागरावस्थायां विसंवाद एवेति कालान्तराविसंवादो विवक्षित इत्यत आह—कालान्तरेति। कदाप्यत्र विसंवादो न भविष्यतीति दुरवधारणं, प्रत्युत जागरावस्थादृष्टस्य स्वप्ने विसंवादानुभवादिति भावः॥ १३१॥

उक्त रीति से तीनों पक्षों के खण्डित होने पर और व्याप्य शब्द से अर्थक्रिया (कार्य) के ग्रहण से दोष की निवृत्ति नहीं होने पर (अन्यदेव वा किञ्चित्) इस चतुर्थ पक्ष का खण्डन किया जाता है। सार्थकक्रिया = अर्थसाधक क्रिया को उत्पन्न करने वाला ज्ञान अविसम्वादी कहा जाता है, धर्मकीर्तिनामक विद्वान् ने भी कहा है कि (अविसम्बादी ज्ञान प्रमाण होता है और अर्थक्रिया की स्थिति (सत्यता ही) अविसम्वाद होता है। यद्यपि यह कल्प = प्रकार तृतीय कल्प के अन्तर्गत है, तथापि तृतीय कल्प में व्याप्यरूप से अर्थक्रिया का कथन किया गया है और यहाँ स्वतन्त्ररूप से कथन है दोषान्तर को कहने की इच्छा से कल्पान्तर किया गया है। अतः कहा जाता है कि यह पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि जिस किसी सामान्यरूप से अर्थक्रिया की विवक्षा करने पर भ्रमज्ञान में अतिव्याप्ति होगी। शुक्ति में रजतज्ञान भी इदमंश में अर्थ क्रियाकारी रहता ही है। यदि कहा जाय कि प्रतीयमानस्वरूप से अर्थक्रियाकारित्व विवक्षित है। भ्रमज्ञान में प्रतीयमानरजतत्वरूप से शुक्ति अर्थक्रियाकारी नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व दुरवधारण (दुर्ज्ञेय) है। अर्थक्रियाकारित्व यदि अर्थक्रियाशक्तिमत्स्वरूप हो, तो शक्ति के अतीन्द्रिय होने

से उसका ज्ञान दुर्लभ है। यदि कहा जाय कि, अर्थक्रियाकारी के अर्थात् कार्यरूप अर्थक्रिया के ज्ञान से अनुमान द्वारा अर्थक्रियाकारित्व का अवधारण (निश्चय) हो सकता है। तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थक्रिया के बिना भी उसके भ्रमरूप दर्शन (ज्ञान) का सम्भव है। तथा अर्थक्रिया के विना भी उस अर्थक्रियाकारी का भ्रमरूप ज्ञान हो सकता है, अतः अनुमान से भो अवधारण दुर्लभ है। यदि तदर्थक्रियादर्शनशब्द से तदर्थक्रियाप्रमिति अभिधित्सित हो, तो यह दूषित ही हो चुका है। प्रमा ही अभी दुर्निरुप्य है। यदि कहा जाय कि ज्ञानविषयीकृतवस्तु के आकार वाली इच्छा और प्रवृत्तिरूप अभिप्राय के अविसंवाद (सफलता) से सब ज्ञान प्रमाण कहा जाता है। अर्थात् इच्छा आदि के अबाधित होने से तत्समानविषयकज्ञान भी अबाधित ही समझा जाता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि यदि वर्तमानकाल में अभिप्राय के अविसम्वाद को प्रमारूप मानें, तो उस अविसंवाद के स्वप्नादिज्ञान में सम्भव होने से अतिव्याप्ति होगी। कालान्तर के अविसंवाद से दुःरवधारणत्व है। भावी काल में अमुक ज्ञान का बाध नहीं होगा इसमें कोई प्रमाण नहीं होने से दुर्ज्ञेयता है ॥ १३१ ॥

एतेन प्राप्त्यादियोग्यता संवादार्थः इत्यपि निरस्तम्, दुराबाध इवचार्यं धर्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति। अबाधितानुभूतिः प्रमेत्यपि निरस्तम्, तदानीं बाधविरहस्यातिप्रसञ्जकत्वात्, कालान्तरेपि बाधविरहस्य च दुर्निरूपत्वात्; स्वतोबाधविरहस्यातिप्रसञ्जकत्वात्; सर्वजनबाधविरहस्य च दुरवधारणत्वादिति। तर्कसंशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्ता प्रतीतिः प्रमा इत्यपि न, स्मृतिव्यरितिक्तत्वखण्डनन्यायेन निरस्तत्वादिति, जातिसङ्करमिच्छतश्च प्रमात्वलक्षणजात्यभिसंबन्धात् प्रमेत्यपि दुर्लक्षणम्, अस्याज्ञातस्य तद्व्यवहारजनकत्वे प्रमायामप्रमाभ्रमसंशयौ न स्याताम् ॥ १३२ ॥

एतेनेति। कालान्तरप्राप्त्यादियोग्यतातत्कालप्राप्त्यादियोग्यताविकल्पखण्डनेनेत्यर्थः। उत्पादविशेषः प्राप्तियोग्यता अविसंवादः इति यदि धर्मकीर्तिः, समाधत्ते तदा क्षणभङ्गभङ्गभ्रमोन्मूलनीयोयं पन्न इत्याह—दुराबाध इवेति। तदानीमिति। ज्ञानकाले बाधाभावो भ्रमस्यापीत्यर्थः। स्वतः इति। शुक्तौ रजतत्वज्ञानवतो बाधनैयत्याभावाद्भ्रमातिव्याप्तिरित्यर्थः। सर्वजनेति। योग्यानुपलम्भेनाभावपरिच्छेदे सर्वजनबाधविरहस्य सुग्रहत्वेपि सर्वत्र न तथात्वमिति भावः। जातिसङ्करमिति। साक्षात्त्वं प्रमात्वपरिहारेण साक्षात्कारिणिभ्रमे, प्रमात्वं च तत्परिहारेणानुमितौ, प्रत्यक्षप्रमायां तु साङ्कर्यमित्यर्थः ॥ १३२ ॥

एतेन (उक्तरीति से) प्राप्तिप्रवृत्ति की योग्यता अविसम्वाद का अर्थ है, यह कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि वर्तमानकाल में स्वप्नभ्रमज्ञान के स्थान में भी प्राप्ति आदि की योग्यता रहती है और कालान्तर में प्राप्ति आदि की योग्यता दुर्ज्ञेय है। उत्पत्तिविशेष प्राप्तियोग्यता अविसंवाद है, इस प्रकार यदि धर्मकीर्ति समाधान करें तो क्षणभङ्गवाद की भङ्गापत्ति द्वारा वह भी खण्डनीय है इत्यादि आशय से कहा गया है कि धर्मकीर्ति का यह मार्ग (दुराबाध) दुःख से बाध जिस का हो ऐसा मन्दबुद्धि वालों को भासता है। अतः यहाँ सावधान रहना चाहिये। निश्चयपूर्वक यह मार्ग परिहर्तव्य

है। उक्त रीति से ही अबाधित अनुभूति प्रमा है, यह कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि वर्तमान काल में बाध का अभाव भ्रम में भी अतिव्याप्ति का हेतु होता है। और कालान्तर में बाध का अभाव दुर्ज्ञेय है। जिसको अभी प्रमा समझते हैं, उसका भी कालान्तर में बाध हो सकता है। और अनुभवकर्ता के बाध का अभाव विवक्षित हो तो वह अतिव्याप्ति का हेतु है, सम्भव है कि भ्रान्त पुरुष को अपने भ्रम का कभी बाध नहीं हो। सर्वजन के बाध का अभाव दुर्ज्ञेय है, क्योंकि कौन कह सकता है कि जिसको मैं सत्य समझता हूँ, उसको सब जन सत्य ही समझेंगे और सत्य ही समझते हैं, विपरीत नहीं। तर्क, संशय, विपर्यय, भ्रम और स्मृति से भिन्न प्रतीति (ज्ञान) प्रमा कही जाती है, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह स्मृतिभिन्नत्व के खण्डन की युक्तियों से निरस्त है। यत् किञ्चित् तर्कादि से भिन्नत्व कहने (मानने) पर अन्यतर्कादि में अतिव्याप्ति होती है, और सब तर्कादि से भिन्नत्व का ज्ञान सब तर्कादि के ज्ञानपूर्वक हो सकता है। परन्तु असर्वज्ञ से सब तर्कादि नहीं जाने जा सकते। जातिसंकर को जातित्व बाधक मानने वाले के मत में प्रमात्वरूप जाति के सर्वथा सम्बन्ध से ज्ञानप्रमा है, यह भी दोषयुक्त लक्षण है, क्योंकि प्रमात्व के बिना साक्षात्‌रजतादिभ्रम में साक्षात्व रहता है और साक्षात्व के बिना यथार्थानुमिति में प्रमात्व रहता है, साक्षात् प्रमा में संकर होता है। अतः प्रमात्वजातिमत्त्वलक्षण युक्त नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि "संस्कारमात्र से भिन्न अदुष्टकरणजन्यज्ञानत्व प्रमात्व का व्यञ्जक है, और इन्द्रियाऽजन्यज्ञानत्व परोक्षत्व का व्यञ्जक है" इस प्रकार व्यञ्जकरूप उपाधि के भेद से जैसे प्रमात्व और परोक्षत्व में संकर का वारण हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियजन्यत्व, या ज्ञानकरणजन्यत्वरूप व्यञ्जक उपाधि के भेद से साक्षात्व (प्रत्यक्षत्व) के साथ प्रमात्व का संकर नहीं होगा, तो ऐसा मानने पर भी यह लक्षण निर्दुष्ट नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं कि (प्रमात्वजातिमत्त्वं प्रमात्वं) इस लक्षणवाक्यगत यह प्रमात्वजातिरूप प्रमा का लक्षण ज्ञात होकर प्रमा व्यवहार का जनक होता है ? या अज्ञात होकर व्यवहार का जनक होता है ? यदि ज्ञात लक्षण को प्रमा व्यवहार का हेतु माना जाय तो प्रमात्व के ज्ञानाभाव काल में प्रमात्व के संशय भ्रम में भी हो सकते हैं कि यह मेरा ज्ञान प्रमा है, या अप्रमा ? अथवा अप्रमा ही है। परन्तु अज्ञात इस प्रमात्व के स्वरूप से ही व्यवहार के जनक होनेपर प्रमा में अप्रमात्व के भ्रमसंशय नहीं होंगे, प्रमा व्यवहार ही होगा परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता ॥ १३२ ॥

दोषाभावसहकृतस्य तथात्वे चाऽजायमानभ्रमसंशयादिप्रमाव्यवहारे ज्ञानमात्रावगमोदाहरणेपि तदापत्तेः। ज्ञातेनानेन लक्षणेन व्यवहारे च कथमिदमेव ज्ञातव्यमिति वक्तव्यम्। न तावत्प्रत्यक्षेण मानसेन, तथा सति क्वचिज्ज्ञातायां प्रमायामप्रमाविपर्ययसंशयानवकाशादिः स्यात्, धर्मिवन्मनसैव निर्णीतत्वात्। चिह्नान्तरसापेक्षेण मनसा संवेदनं, चिह्नेनैव वा तेन लक्षणीभूय ज्ञापनम् इत्यपि प्रत्याशामात्रम्, तच्चिह्नेनैव प्रमात्वजातिकल्पनाप्रतिक्षेपापत्तेः; तेषां नानात्वे च कानि तानीति वक्तव्यं स्यात्, तच्चिह्नानां यथोपन्यासं सर्वेषामेव दूषितत्वात्, प्रामाण्यपरतस्त्वव्युदस्तिप्रस्तावे च

विस्तरेण दूषयिष्यामः। एतेन शक्तिविशेषः प्रमात्वं, तद्योगः प्रमालक्षणमित्यपास्तम्, दुरवधारणत्वात्॥ १३३॥

ननु दोषाभावसहकृतं स्वरूपसदेव प्रमात्वं तद्व्यवहारजनकमास्तामित्यत आह—दोषाभावेति। एवं सति भ्रमसंशयभिन्नं सर्वं ज्ञानं प्रमात्वेनैव गृह्येतेत्यर्थः। धर्मिवदिति। ज्ञानवदित्यर्थः। चिह्नान्तरेति। यथार्थानुभवत्वादिनेत्यर्थः। तच्चिह्नं प्रत्यक्षसहकारि प्रमात्वज्ञापकं लिङ्गीभूय वाऽनुमापकमिति कल्पनार्थः। चिन्हेनैवानुगमादौ सिद्धे किं प्रमात्वजात्येत्याह—तच्चिन्हेनैवेति। ननु चिन्हस्यैक्ये तेनानुगमः, प्रकृते तु बहून्यननुगतानि प्रमात्वचिह्नानीति नान्यथासिद्धिरित्यत आह—तेषामिति। यच्च प्रमात्वं वाच्यं तत्परतो वेद्यमित्यनवस्थापीत्याह—प्रामाण्येति। शक्तिविशेष इति। समर्थप्रवृत्तिजननशक्तिरित्यर्थः। तद्योग इति। समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमित्यर्थः। दुरवधारणत्वादिति। अनुगतरूपापरिचये जनकत्वं दुर्ग्रहम्, अनुगतरूपपरिचये वा तदेव लक्षणमित्यर्थः। यद्वा शक्तिविशेषः=आत्मानात्मप्रकाशनशक्तिरिति परमताभिप्रायम्॥ १३३॥

यदि कहा जाय कि दोषों के अभावसहित अज्ञातप्रमात्व प्रमाव्यबहार का हेतु है। अतः जहां दोष रहता है वहाँ प्रमा का व्यवहार नहीं होता, किन्तु दोष से संशय तथा भ्रम ही होते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दोषाभावसहकृत स्वरूप से वर्तमान लक्षण (प्रमात्व) के ही तथात्व (प्रमाव्यवहारजनकत्व) होने पर जहाँ भ्रमसंशयादि के व्यवहार अजायमान है (नहीं हुए हैं) ऐसे ज्ञानमात्र के अवगमरूप वस्तुतः प्रमाव्यवहार में भी उस प्रमात्वव्यवहार की प्राप्ति होगी। अर्थात् भ्रमसंशयादि के अभाव से दोषाभाव सिद्ध है और स्वरूप से प्रमात्व भी वहाँ रहता ही है। ज्ञात इस प्रमात्वरूप लक्षण से प्रमात्व का व्यवहार माना जाय तो यह प्रमात्वजातिरूपलक्षण किस प्रमाण से ज्ञातव्य (जानने योग्य) है यह कहना पड़ेगा। मानस प्रत्यक्ष से तो यह ज्ञातव्य नहीं है, क्योंकि लक्षण के मानस प्रत्यक्ष मानने पर जहाँ कहीं (उत्पन्न) प्रमा में अप्रमात्व का भ्रम या संशय होता है उसका अनवकाश होगा (वे नहीं हो सकेंगे) कारण यह है कि धर्मी (ज्ञान) के समान प्रमात्व भी मन से निर्णीत (निश्चित) हो जायगा, अतः भ्रमसंशय का स्थान नहीं रहेगा। यदि यथार्थनुभवत्वादि चिह्नान्तर (लक्षणान्तर) सापेक्ष (सहित) मनसे प्रमात्व का संवेदन (ज्ञान) मान्य हो, या लक्षणारूपता को प्राप्त उस लक्षण से प्रमात्व का ज्ञापन (अनुमिति) मान्य हो, तो यह उस प्रमात्व के प्रति (प्रमात्वविषयक) आशामात्र है। क्योंकि उस चिह्न से ही प्रमा व्यवहार की सिद्धि होने के कारण उससे ही प्रमात्व जाति की कल्पना के प्रतिक्षेप (अनादर = निषेध) की प्राप्ति होगी और उन चिन्हों के नानात्व होने पर वे कौन हैं? यह जिज्ञासा होगी। पहले भी उन सब चिन्हों को उपन्यास (कथन) क्रम से खण्डन किया जाचुका है प्रामाण्य के परतस्त्व (परतोग्राह्यत्व) के खण्डन के प्रकरण में चिन्हसहित मन से प्रमात्वज्ञान होता है, इत्यादि का विस्तार से खण्डन करेंगे। (एतेन) इस ज्ञात एवं अज्ञात पक्ष के खण्डन से शक्तिविशेष, (सार्थकप्रवृत्तिजनन (उत्पादनशक्ति) प्रमात्व है और उस शक्ति का योग (उत्पादनशक्तिमत्व समर्थप्रवृत्तिजनकत्व) प्रमा का लक्षण है, यह भी अपास्त (खण्डित) हो गया। क्योंकि शक्ति यदि अज्ञातरूप से व्यवहारजनक हो तो भ्रम एवं संशय नहीं होना चाहिये। ज्ञात होकर

व्यवहारजनक हो तो जिस चिह्न से ज्ञात होगी, वही प्रमा का लक्षण होगा और अनुगत-रूप से ज्ञानके बिना कारणत्व का ज्ञान नहीं हो सकता, और अनुगतरूप के ज्ञान होने पर वही लक्षण होगा, शक्ति नहीं। अतः दुरवधारणत्व से यह लक्षण अपास्त हो गया ॥ १३३ ॥

यच्च किञ्चित् प्रमाया लक्षणमुच्यते तदज्ञातं ज्ञातमात्रं वा यदि तत्त्वव्यवहारकं तदाऽत्याप्तिः, प्रमितं चेत्प्रमानवधारणे तस्य दुरवधारणता। मावधारि, वस्तुतस्तथा? इति चेन्न, 'वस्तुतो न तथैव किं न' इतिवादिन्यनुत्तरापत्तेः, प्रमात्वनिरूपणवैयर्थ्यापाताच्च, वस्तुतस्तु प्रमयैव घटादितत्त्वव्यवहारोऽपि तर्ह्यस्त्वित्यास्तां विस्तरप्रसङ्गः ॥ १३४ ॥

ज्ञातमात्रमिति। भ्रमप्रमासाधारणज्ञानविषय इत्यर्थः। अत्यापत्तिरिति। भ्रमेपि प्रमाव्यवहारापत्तिरित्यर्थः। वस्तुत इति। प्रमितमेव प्रमालक्षणं प्रमाव्यवहारजनकं, नतु प्रमितत्वेन ज्ञातमपि, येन दुरवधारणं स्यादित्यर्थः। नेति। प्रमालक्षणं न प्रमितमिति वादिनि 'स्वरूपतः प्रमितं तदिति' वक्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। यदि च वास्तवं प्रमितत्वमादाय व्यवहारस्तदा प्रमात्वनिरूपणमफलमित्याह—प्रमात्वेति। वैयर्थ्यमेवाह—वस्तुतस्तु इति ॥ १३४ ॥

(अज्ञातार्थपरिच्छितिः प्रमा) इत्यादि प्रत्येक लक्षण के पृथक् पृथक् खण्डन के असम्भव से सब लक्षणों का साधारण दोष बतलाया गया है। जो प्रमा का लक्षण कहा जायगा, वह अज्ञात हो कर या ज्ञातमात्र (भ्रमप्रमासाधारण ज्ञानविषय) हो कर यदि तत्त्व व्यवहार (प्रमात्वव्यवहार) का जनक हो तो अप्रमा में भी प्रमात्वव्यवहार की प्राप्ति होगी। अज्ञात या सामान्यरूप से ज्ञातप्रमा प्रमात्वव्यवहार का अप्रमा में भी जनक हो सकता है। प्रमित (प्रमाज्ञान से ज्ञात) लक्षण यदि प्रमात्वव्यवहार का जनक हो, तो प्रमा के अज्ञात रहने पर उस प्रमितत्व की दुरवधारणता (अनिश्चितता) से वह व्यवहार का कारण नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि प्रमितत्वेन रूपेण ज्ञात लक्षण प्रमात्व का निश्चायक न हो फिर भी प्रमित लक्षण ही प्रमात्वव्यवहार का निर्णायक होता है प्रमितरूप से ज्ञात होकर नहीं। अतः प्रमितत्व के अवधारण की व्यवहार के लिये आवश्यकता ही नहीं है जिससे दुरवधारणता दोष हो। परन्तु यह कहना युक्त नहीं क्योंकि इस अवस्था में यदि प्रतिवादी कहे कि वस्तुतः प्रमाव्यवहार का हेतु-रूप लक्षण प्रमित ही नहीं है, ऐसा क्यों न माना जाय, अर्थात् प्रमालक्षण वस्तुतः अप्रमित ही व्यवहार का जनक होता है। इस प्रकार कहने वाले के प्रति अनुत्तरता की प्राप्ति होगी। क्योंकि प्रमित के ज्ञान को नहीं मानने पर उसकी सत्ता में प्रमाण के अभाव से उत्तर नहीं दिया जा सकता। प्रमितत्व यदि स्वरूप से ही प्रमाव्यवहार का हेतु होता है, तो प्रमात्व के निरूपण (प्रमा के लक्षण निरूपण) में व्यर्थता की प्राप्ति होती है। अतः वास्तविक प्रमा से ही घटादि तत्त्व (वस्तु) का व्यवहार हो, लक्षण निरूपण की आवश्यकता नहीं है, अतः यह प्रमालक्षविषयक विस्तररूप प्रसङ्ग यहां तक ही रहे ॥ १३४ ॥

एवं प्रमितेरनिरुक्त्या 'प्रमाकरणं प्रमाणमि'त्यप्ययुक्तम्, करणार्थानिरुक्तेश्च। ननु कारकान्तरेऽचरितार्थस्य हेतुत्वं करणत्वम्; कर्तुर्हि करणं

निष्पादयतः कारकान्तरे चरितार्थत्वं, स्वरूपतोऽनिष्पादनेपि व्यापारवत्तया निष्पादनात्, तादृशस्य च तस्य करणत्वात्। एवं कर्मापि करणनिष्पादने चरितार्थम्, करणव्यापारो हि कर्मविषयो भवति, कर्माभावे विषयाभावात्करणव्यापार एव न निष्पद्यते, इति तन्निर्वाहे तस्यापि चरितार्थत्वम्। एवमधिकरणस्यापि करणव्यापारनिर्वाहकत्वं, सम्प्रदानापादानयोश्चासार्वत्रिकत्वं, करणं तु सार्वत्रिकमेवेति-कारकान्तरेऽचरितार्थः सार्वत्रिको हेतुः करणम्? इति मैवम्॥ १३५॥

एवमिति। क्रियोपहितमर्यादस्य क्रियानिरूपणमन्तरेणाशक्यनिरूपणत्वादित्यर्थः। करणार्थेति। करणपदार्थानिरुक्तेरित्यर्थः। सिद्धे कुठारादौ कर्तुश्चरितार्थत्वमाह। 'स्वरूपत' इति। ननु तथापि करणव्यापारे चरितार्थत्वं, नतु करणे, इत्यत आह—'तादृशस्येति।' व्यापारवत इत्यर्थः। करणव्यापारो हीति। उद्यमननिपातनादेश्छेद्यविषयत्वादित्यर्थः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चरितार्थत्वमेवाह—कर्माभावे इति। एवमिति। कर्तृकर्मणोः स्थितिं सम्पादयद्देशकालरूपमधिकरणं कारकान्तरे चरितार्थं, स्थाल्यादिरूपमधिकरणं कर्ममात्रस्थितिद्वारेणेत्यर्थः। एतावता यन्निर्व्यूढं तदाह—कारकान्तरेति। सार्वत्रिकपदं सम्प्रदानापादानव्यावर्तकं, तयोर्दानक्रियाविभागादिविशेषहेतुत्वादसार्वत्रिकत्वम्। अजनके गगनादावतिव्याप्तिनिरासायाह—हेतुरिति॥ १३५॥

उक्त रीति से प्रमिति (प्रमा) की अनिरुक्ति (लक्षण के अनिरूपण) से (प्रमाकरणं प्रमाणम्) प्रमा का करण (व्यापार वाला असाधारण कारण) प्रमाण होता है, यह प्रमाण का लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि प्रमाकरण पद में प्रमा विशेषणरूप से प्रविष्ट है और विशेषणार्थ प्रमा के ज्ञान बिना विशिष्ट (विशेषणयुक्त) का ज्ञान नहीं हो सकता, और करणपद के अर्थ की अनिरुक्ति से भी प्रमाकरण शब्दार्थ के अज्ञान से लक्षण अयुक्त है। शंका यह है कि करणार्थ की निरुक्ति हो सकती है, क्योंकि कारकान्तर (कर्ता आदि) में अचरिचार्थ (अनुपयुक्त) की क्रियाहेतुता करणत्व है। अतः कारकान्तर में अचरितार्थ क्रिया हेतु को करण कहा जाता है। करण का निष्पादन करता हुआ कर्ता कारकान्तर (करण) में चरितार्थ होता है। जहाँ सिद्ध कुठारादि से छेदनादि क्रिया कर्त्ता करता है, वहाँ यद्यपि करण के स्वरूप का निष्पादन (साधन) नहीं करता, तथापि व्यापारवत्तारूप से सिद्ध करता है, और तादृश (व्यापारवान्) करण को करणत्व (क्रियासाधनत्व) होता है, स्वरूपमात्र को नहीं। इसी प्रकार कर्म भी करण के निष्पादन में चरितार्थ (उपयुक्त) होता है, क्योंकि कुठारादि करण का व्यापार छेद्य काष्ठादि कर्मविषयक होता है, कर्म के नहीं रहने पर विषय के अभाव से करण का व्यापार ही नहीं सिद्ध हो सकता, अतः उस करण के निर्वाह (व्यापार द्वारा सम्पादन) में वह कर्म भी चरितार्थ है। इसी तरह अधिकरण को भी करण व्यापार निर्वाहकत्व है, क्योंकि करण के निर्वाहक कर्ता और कर्म की स्थिति के सम्पादन द्वारा देशकालरूप अधिकरण कारकान्तर (करण) में चरितार्थ होता है। किसी देशकाल रूप अधिकरण में करण का व्यापार होता है और सम्प्रदान तथा अपादान को असार्वत्रिक क्रिया हेतुत्व है। अर्थात् दानक्रिया का सम्प्रदान और विभाग क्रिया का अपादान हेतु होता है। परन्तु करण तो सार्वत्रिक हेतु (क्रिया-

जनक) है। अतः कारकान्तर में अचरितार्थ सार्वत्रिक क्रिया हेतु करण होता है, यह करण की निरुक्ति है ॥ १३५ ॥

इस शंका का उत्तर यह है कि इस प्रकार की निरुक्ति युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि—

अस्तु तावदविचारितरमणीयमिदं व्याख्यानम्, अन्तरशब्दो यदि विशेषमात्रवचनस्तदा न व्यवच्छेदकः, नहि विशेषमपास्य कारकमात्रं केनचिज्जन्यते यद्व्यवच्छिद्येत, नापि चान्तरशब्दोऽन्यवचनस्तथा सति कस्मादन्यदिति विशेषानिर्देशे करणादिति समभिव्याहाराल्लभ्येत; यथान्य आत्मा, शरीरमन्यदित्यादौ; तथा सति करणव्यतिरिक्तकारकाभिप्रायेण प्रयुक्तः स्यात्, तच्च न, करणस्यैवाद्यापि निरूप्यमाणत्वात्, अतिव्याप्तेश्च। नापि कर्तृकर्मणोः स्वरूपोपादानपरोयमन्तरशब्दः, ताभ्यामेवातिव्याप्त्यापत्तेः। नापि कर्त्तृकर्मणी अपेक्ष्यान्यदन्तरशब्दार्थः, वैयर्थ्यापातात्;—कारकेऽचरितार्थ इत्येवोच्यताम् ॥ १३६ ॥

कारकान्तरपदं करणपरमित्यात्माश्रयः, यथा च विषयतया करणे कर्म चरितार्थं तथा कर्तृव्यापारविषयतया करणमपि कर्त्तरि चरितार्थमित्यसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—अस्तु तावदिति। सार्वत्रिकत्वं च करणस्य न व्यक्त्यभिप्रायेण, न वा करणत्वेन, तदनिरुक्तेः, एवं हेतुत्वमपीति भावः। समभिव्याहारात्=लक्ष्योपस्थापककरणपदसमभिव्याहारादित्यर्थः। अन्य आत्मेत्यत्रान्यत्वं समभिव्याहृतशरीरापेक्षया, अन्यच्छरीरमित्यत्र च यथात्मापेक्षयेत्यर्थः। एवं सत्यात्माश्रय इत्याह—तच्च नेति। करणान्यकारकाचरितार्थत्वं कर्तृकर्मणोरपीत्यतिव्याप्तिमाह—अतिव्याप्तेरिति। कर्तृकर्माचरितार्थत्वविवक्षायां ताभ्यामतिव्याप्तिमाह—नापीति। नचानेनोपाधिना कर्तृकर्मणोरपि करणत्वमिति वाच्यम्, एवं लक्षणप्रणयनानर्थक्यप्रसङ्गादिति वक्ष्यते इति भावः। ननु कर्तृकर्मान्याचरितार्थत्वमित्युक्तौ करणे चरितार्थाभ्यां ताभ्यां नातिव्याप्तिरित्यत आह—नापीति। वैयर्थ्यापातादिति। कारकाचरितार्थत्वोक्त्यैव ताभ्यामतिव्याप्तिनिरासादित्यर्थः ॥ १३६ ॥

इस करणपद का व्याख्यान अविचारित दशा में ही रमणीय है, क्योंकि उक्त रीति से कारकान्तर पद के करणपरक होने से करण के लक्षण में करण के प्रवेश होने के कारण आत्माश्रय होता है, और जैसे विषयत्वरूप से करण में कर्म को चरितार्थ कहा गया है, वैसे कर्ता के व्यापार के विषयत्वरूप से करण कर्ता में चरितार्थ है, जिससे लक्षणा की असिद्धि होती है, और अन्तर शब्द के अर्थ का विचार करने पर भी लक्षण रमणीय नहीं प्रतीत होता क्योंकि अन्तर शब्द विशेष (भेद) अन्य (भिन्न) आदि अर्थ का प्रसङ्ग के अनुसार बोधक होता है। (अनयोरन्तरं महत्) इन दोनों भाइयों में महान् अन्तर (विशेष=भेद) है, इत्यादि के समान यदि यहाँ अन्तर शब्द विशेष का वाचक हो, तो यह किसी कारक का व्यवच्छेदक (भेद बोधक) नहीं होगा, क्योंकि अन्तर शब्द के विशेषार्थक होने पर लक्षण का अर्थ यह होगा कि जो कारक विशेष में अचरितार्थ (कारक विशेष का अहेतु) होकर सबका हेतु हो वह करण है। परन्तु कारक विशेष को छोड़ कर (विशेष का हेतु नहीं हो कर) सब का हेतु कोई होता ही नहीं है, जो इस लक्षण से व्यवच्छेद्य सिद्ध हो, और न करण ही सब का हेतु होता है। यह अन्तर शब्द अन्य अर्थ का भी वाचक नहीं हो सकता।

क्योंकि वैसा होने पर अन्यार्थ के सापेक्ष होने से किससे अन्य ऐसी जिज्ञासा होने पर और प्रकृत में विशेष अन्यार्थ के अनिर्देश (अकथन) रहने पर करण शब्द के समभिहार (साथ उच्चारित) रहने के कारण, करण से अन्य यही अर्थ लब्ध (ज्ञात) होगा। जैसे आत्मा अन्य है, शरीर अन्य है इत्यादि में शरीर से अन्य आत्मा की प्रतीति समभिहार से होती है, वैसे यहाँ भी होगा, और ऐसा होने पर कारकान्तर शब्द का प्रयोग करण से अन्य कारक के अभिप्राय से होगा, परन्तु यह नहीं हो सकता, क्योंकि अभी करण ही निरूप्यमाण है, अर्थात् उसका लक्षण ही सिद्ध नहीं हुआ है। यदि अन्तर पद को स्वरूपेण कर्तृकर्मपरक मानें तो वहीं लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, साथ ही लक्ष्य में नहीं जाने से अव्याप्ति भी होगी। तात्पर्य यह है कि कारक में अचरितार्थ कर्ता कर्ता में चरितार्थ नहीं होता और न कर्म कर्म में चरितार्थ होता है, फिर भी क्रिया के हेतु दोनों होते हैं, अतः उनमें लक्षण की प्रवृत्ति होगी। कर्ता एवं कर्म की अपेक्षा से अन्य भी अन्तर शब्द का अर्थ नहीं हो सकता, अर्थात् 'कर्त्ता कर्म से अन्य कारक में अचरितार्थ एवं सर्वों का हेतु करण है' यह नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा कहने पर अन्तर शब्द का प्रयोग व्यर्थ होगा। कारक (करण) में अचरितार्थ एक सर्व हेतु कहने ही से कर्ता एवं कर्म का वारण हो जाता है। अतः कारक में अचरितार्थ इतना ही कहना चाहिये ॥ १३६ ॥

नाप्यनधिकार्थ एवायमिति न प्रयोक्तव्योऽन्तरशब्दः, तथा सति कारकजनकं हस्तादि करणं न स्यात्; व्यापारवद्धि कारणं कारकमुच्यते, अस्ति च स्थालीसंयोगादिव्यापारवतो वह्न्यादेस्तथात्वम्, अस्ति च हस्तादेस्तजनकत्वम्। न च हस्ताद्यकरणमेवाभ्युपेयम्, व्यापारवतः कारणत्वेन तत्कारकत्वस्यावश्याभ्युपेयत्वात्, कर्त्रादिषु दुरन्तभावत्वात्, सप्तमकारकस्वीकारापत्तेः। नच व्यवधानात्तत्राहेतुत्वमेव तेषां, किंनाम हेतुहेतुत्वमिति, कर्तुरप्येवं प्रसङ्गात्, पुंव्यापाराद्देहस्पन्दादिस्ततः कुठारक्रियादिस्ततश्छिदेति परम्पराव्यवधानात्। सर्वेयं कर्तृव्यापारपरम्परा न तस्य हेतुतां हन्ति? इति चेत्, तुल्यम्। तस्मात्कारणत्वेनाऽवश्याभ्युपगन्तव्यहस्ताद्यव्यापकत्वादलक्षणमिदम् ॥ १३७ ॥

हस्ते करणत्वं व्यवस्थापयति—व्यापारवदिति। कर्त्तुरव्यवधानमाह—पुंव्यापारेति। कर्तुः प्रथमं कारणत्वं गृहीतं, तत्सम्पादनायान्तराले व्यापारकल्पनमिति न तेनान्यथासिद्धिरित्याह—सर्वेयमिति। तुल्यमिति। हस्तादेरपि प्रथमगृहीतं कारणत्वं व्यापारपरम्पराकल्पनमन्तरेणानुपपन्नमिति न तयाऽन्यथासिद्धिरित्यर्थः ॥ १३७ ॥

उक्त व्यर्थता की प्राप्ति से यह भी नहीं कहा जा सकता कि अधिकार्थ रहित ही यह अन्तर शब्द है। अतः इसका लक्षण में प्रयोग नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अन्तर शब्द के प्रयोग के बिना (कारक में अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु) को यदि करण कहा जायगा, तो अग्नि आदि करण कारक के जनक (करण में चरितार्थ) हस्त आदि करण लक्षण के लक्ष्य नहीं होंगे, अतः अव्याप्ति होगी। व्यापार वाला कारण करण कहा जाता है। स्थाली (बटुली आदि) के संयोगादि रूप

व्यापार वाले अग्नि आदि में व्यापारवत् करणत्व है। अतः अग्नि आदि करण हैं। और हस्तादि में व्यापार पूर्वक अग्नि आदि के प्रति जनकत्व है, और अग्नि द्वारा अग्नि आदि से साध्य पाकादिक्रिया का जनकत्व (करणत्व) हस्तादि में अवश्य मानना पड़ेगा अतः यहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी। हस्तादि को करण ही नहीं मानना चाहिये, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कर्ता आदि में उनके अन्तर्भाव के असम्भव से सप्तमकारक के स्वीकार की प्राप्ति होगी। परन्तु यह अनिष्ट तथा अप्रसिद्ध है। यदि कहा जाय कि काष्ठ एवं अग्नि के व्यापार से हस्त व्यापार व्यवहित है, अतः कुलालपिता को जैसे घट के प्रति अहेतुत्व होता है, वैसे हस्तादि को पाकादिप्रधान क्रिया के प्रति अहेतुत्व (अकारणत्व) ही है, अतः कारणविशेषरूप करणत्व भी नहीं है। दूसरे शब्दों में काष्ठ अग्नि के प्रधान व्यापार दाहपाकादि का हेतु हस्तादि होता है। अतः (हस्तेनाऽग्निना पचति) प्रयोग होता है। परन्तु इस प्रकार कर्ता देवदत्तादि में भी प्रधान क्रिया के प्रति अहेतुत्व की प्राप्ति होगी, इसका विश्लेषण निम्न प्रकार से है— कर्ता पुरुष जीवात्मा के मानसयत्न रूप व्यापार से देह की स्पन्दादि रूप चेष्टा होती है। उससे कुठारादि के उद्यमनादि रूप क्रियाएँ होती हैं, उसका छेदनरूप फल होता है, इसी प्रकार पाकादि में भी परम्परया कर्ता के व्यापार का करणादि के व्यापार से व्यवधान रहता है। यदि कहा जाय कि हस्त कुठरादि के ये सब व्यापार परम्पर कर्ता के ही हैं। अतः वह कर्ता की हेतुता को नष्ट नहीं करता तो इसका उत्तर यह है कि कुठारादि के व्यापार हस्तादि के ही हैं, क्योंकि ये भी हस्तादि के अधीन हैं। अतः जैसे व्यापार के परम्परा से कर्ता का हेतुत्व नष्ट नहीं होता, वैसे हस्तादि का हेतुत्व भी नहीं नष्ट हो सकता। फिर भी इस हस्तादिरूप करण में करणत्व मानना ही पड़ेगा जिससे लक्षण में अव्याप्ति होगी। अतः करण का उक्त लक्षण युक्त नहीं है ॥ १३७ ॥

एतेनापि 'कारकान्तरशब्दः कर्तृकर्मव्यतिरिक्तवचनः'-इति पक्षो व्युदास्यः। कर्तृव्यापारविषयः करणम् ? इत्यपि न, शरीरचालनाय प्रयतमानस्य शरीरचलनक्रिया, क्रियाविशिष्टं वा शरीरं, प्रयत्नलक्षणकर्तृव्यापारविषयीभवतीति तस्यां क्रियायां करणं स्यात्, न चैतच्छक्याङ्गीकारं, भविष्यतः स्वं प्रति च कारकत्वानुपपत्तेः। न च साक्षात्कर्तृव्यापारविषय'-इति विशेषोपादानेऽप्यस्य परिहारः, साक्षाद् व्यापार्यं मनःप्रभृतिक्रियायां प्रसङ्गतादवस्थ्यात्, अव्यापकत्वाच्च ॥ १३८ ॥

एतेनेति। हस्तादावव्यापकत्वेनेत्यर्थः। कर्तृकर्मभ्यामन्यस्मिन् करण एव हस्तादेश्चरितार्थत्वादिति भावः। कर्तृव्यापारेति। कर्तृव्यापार—उद्यमननिपातनादिस्तद्विषयः करणमित्यर्थः। कर्तृव्यापारविषयः फलमपीति तत्रातिव्याप्तिं प्रपञ्चयति—शरीरेति। क्रियाविशिष्टमिति मतान्तरे भविष्यत इति, क्रियाविशिष्टस्य च शरीरस्यासत्त्वात् कारणत्वमेवानुपपन्नं, दूरे करणत्वं, नचाभेदे जन्यजनकभाव इत्यर्थः। नचेति। आत्मव्यापारस्य तु न साक्षाच्छरीरं विषयो मनोव्यापारव्यवहितत्वादिति भावः। प्रभृतिपदं प्राणमनोवहनाड्यादिपरम्। अव्यापकत्वादिति। परम्परया व्यापार्ये कुठारादावव्यापकत्वादिति भावः॥ १३८ ॥

"रामो हस्तेन वाणेन बालिं जघान। देवदत्तो हस्तेनाग्निना पचति" इत्यादि उदाहरणों में हस्तादि-करणों में लक्षण की अव्याप्ति से भी कारकान्तर शब्द कर्ता एवं कर्म से भिन्न का वाचक है, यह पक्ष त्याज्य है। क्योंकि कर्ता तथा कर्म से भिन्न बाण तथा अग्नि में हस्त चरितार्थ है। 'कर्ता के व्यापार का विषय करण होता है' यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार हस्त, अग्नि या वाणादि में मानस एवं शारीरिक व्यापार विषयता से अव्याप्ति तो नहीं है तथा उद्यमननिपातनादि कर्तृ-व्यार की विषयता से कुठारादि में भी लक्षण का समन्वय होता है। तथापि फल भी कर्ता के व्यापार का विषय होता है, अतः उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। शरीर के चालन (गमनार्थक प्रेरणा) के लिये मानस व्यापारयुक्त पुरुष के शरीर की क्रिया या क्रियायुक्त शरीर, प्रयत्नरूप कर्तृव्यापार का विषय होता है। उसी क्रिया-रूप फल के लिये पुरुष यत्न करता है, अतः कर्ता के व्यापार के विषय होने से उसी क्रिया में वही क्रिया करण होगी, या क्रियायुक्त शरीर करण होगा। यदि क्रिया या क्रिया-विशिष्ट शरीर को उस क्रिया में कारण मान लिया जाय, तो वह कारण मानने के योग्य नहीं है, क्योंकि कार्य से अव्यवहितपूर्ववृत्ति कारण होता है और कारणविशेष ही करण होता है, अतः यत्न का फलरूप क्रिया पूर्व प्रसिद्ध रहने के कारण करण नहीं हो सकती, तथा क्रियाविशिष्ट शरीर भी क्रिया की सिद्धि से होगा, अतः क्रियायुक्त भावी शरीर को पूर्ववृत्ति होनेवाली क्रियाके प्रति करणत्व की अनुपपत्ति है। जब पूर्ववृत्तित्व के अभाव से कारण ही नहीं हो सकता, तब करण कैसे होगा ? और अभिन्न (एक) क्रिया में जन्यजनक (क्रियाकरण) भाव नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि साक्षात् (व्यबधानरहित) कर्तृव्यापार का विषय करण होता है और शरीर तो मानस व्यापार द्वारा कर्ता के व्यापार का विषय होता है, अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार भी कर्ता से साक्षात् व्यापार्य अर्थात् साक्षात् कर्ता के व्यापार संकल्प का विषय मन प्राणादि क्रिया में करणत्व की प्राप्ति होगी। तथा क्रियायुक्त मन आदि में करणत्व की प्राप्ति स्वक्रिया ही में होगी। और कुठारादि में करण लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वह मन शरीर के द्वारा कर्ता के व्यापार का विषय होता है, साक्षात् नहीं, अतः मनःप्राणादिक्रियान्यत्व के निवेश करने पर अतिव्याप्ति का वारण हो सकता है, अव्याप्ति का नहीं ॥ १६८ ॥

उक्त अतिव्याप्ति का बारण के लिये उक्त लक्षण का ही प्रकारान्तर से स्थापन है कि—

अथ तत्क्रियाहेतुस्तत्क्रियाकर्तृव्यापारस्य विषयस्तत्क्रियायां करणम्, इति मन्यसे, मैवम्, अनीश्वरवादे अङ्कुरादीनामकरणकत्वप्रसङ्गात्, सुषुप्त्यनन्तरभाविन्याः प्रमायाः परिगणितकरणोपाधिभेदपरिसंख्यातेषु प्रमाराशिषु बहिर्भावप्रसङ्गात्, अचेतनस्यापि कर्तृत्वे चातिप्रसङ्गात्। सेश्वरवादे त्वीश्वरव्यापारविषयः सर्वं कारणमिति नाऽकरणं कारणं स्यात्। ओमित्यभिधाने चाकारणमात्रं व्यवच्छेद्यमिति 'कारणं करणमित्येवोच्यतां' वृथा विशेषणपूरणप्रयासः॥ १३९॥

ननु मनःशरीरादिव्यापारस्य न तत्क्रियाहेतुत्वमिति कुतोऽतिव्याप्तिरिति शङ्कते—अथेति। क्षित्यङ्कुरादिकार्यं प्रति यत्करणं तस्य कर्तृव्यापाराविषयत्वेनाकरणत्वप्रसङ्गः, यच्च सुषुप्तस्य प्रबोधज्ञानकरणं तदपि न करणं स्यात्, चैतन्योपहितस्य कर्तृत्वस्य तत्रासत्त्वात् कर्तृव्यापारविषयत्वाभावादिति परिहरति—अनीश्वरेति। ननुपाधीनामसाङ्कर्यं नः सिद्धान्तो, नतूपधेयासाङ्कर्यमपि, तथाच कर्तृकर्मादेरपि करणत्वमनेनोपाधिनाभिमतमेवेत्याशङ्क्य परिहरति—ओमिति ॥ १३९ ॥

जो जिस क्रिया का हेतु होता हुआ, उस क्रिया के कर्ता के व्यापार का विषय होता है वह उस क्रिया का करण होता है। अतः शरीरक्रिया शरीरक्रिया का हेतु नहीं है, न मन आदि की क्रिया मन आदि की क्रिया का हेतु है, इससे अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। यहाँ करण के व्यापारविषय कर्मादि में अतिव्याप्ति वारण के लिये कर्तृव्यापारादिविशेष का निवेश है। परन्तु यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि कार्य होने से अंकुरादि के करण अवश्य हैं, परन्तु वे किसी जीवरूप कर्ता के व्यापार के विषय तो नहीं हो सकते, क्योंकि अल्पज्ञ जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता, और सर्वज्ञ ईश्वर का भी अनीश्वरवाद में अकरणकत्व की (करणरहितत्व की) प्राप्ति होती है। यदि उन्हें करणरहित मानें तो कारण कार्यपूर्वक होता है, इस नियम के अनुसार, रूपादि के ज्ञानरूप लिङ्ग से इन्द्रियरूप करण का अनुमान (अनुमिति) नहीं होगा। और सुषुप्ति के प्रथम अनन्तर उत्पन्न होने वाली प्रमा में भी अकरणकत्व की प्राप्ति होगी। क्योंकि चेतनता रहित सोयी हुई आत्मा में संकल्पादि के अभाव से मन एवं अदृष्टादि उस प्रमा का हेतु कर्ता के व्यापार का विषय नहीं होने के कारण करण नहीं हो सकता। यदि करणरहित ही वह प्रमा मानें, तो श्रावण, स्पार्शन, चाक्षुष, रासन, घ्राणज, और मानस, ये परिगणित करणरूप उपाधि (विशेषण) के भेद से परिसंख्यात (गिने हुए) जो छः प्रकार के प्रमा के समूह हैं उनमें सुषुप्त्यन्तरभावी प्रमा का बहिर्भाव की (भिन्नभाव = अनन्तर्गतता की) प्राप्ति होगी, अतः वह प्रमा षड्विध प्रमा के अन्तर्गत हो, इसलिए करणजन्य मन्तव्य है उसके करण में कर्तृव्यापारविषयत्व के अभाव से करण लक्षण की अव्याप्ति होती है। यदि अनीश्वरवादी कहें कि जागृति के प्रथम क्षण में होने वाली प्रमा का अचेतन आत्मा या शरीर ही कर्ता है, प्रमा के करण के धारणादिरूप व्यापारविषयता करण में है, अतः करण लक्षण की अव्याप्ति उक्त प्रमाकरण में नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अचेतन को भी कर्ता मानने पर अतिप्रसङ्ग होगा। घटपटादि कपाल तन्तुमात्र से होने लगेंगे। चेतन कुलालादि की आवश्यकता नहीं होगी। एवं उस अचेतन आत्मा ही को अङ्कुरादि के कर्तृत्व की प्राप्ति होगी फिर उस मत में अङ्कुरादि को अकर्तृक (कतृरहित) मानना असंगत है। यदि ईश्वरवादी कहें कि सुषुप्ति की प्रमा का करण जगदीश्वररूप कर्ता के व्यापार के विषय होने से तथा अङ्कुर करणविषयक होने से अव्याप्ति नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि सेश्वरवाद में तो सब कारण ईश्वरव्यापार का विषय है। अतः कोई कारण अकरण नहीं होगा। सब कारण करण हो, क्या हानि है? पर ऐसा मानने पर अकारणमात्र करण से व्यवच्छेद्य (व्यावर्त्य) होगा, कोई कारण नहीं। लेकिन इस स्थिति में कारण करण होता है, इतना ही कहना पर्याप्त है फिर विशेषण के पूरण के लिये प्रयास व्यर्थ है ॥ १३९ ॥

अथ मन्यसे, न धर्म्यन्तरव्यवच्छेदाय विशेषणानि, किं त्वेकस्यापि धर्मिणो रूपभेदेन करणपदाभिधेयतोपदर्शनाय, इति, एवं तर्ह्येतद्रूपालिङ्गितस्य करणत्वाल्लक्षणोक्तिप्रवृत्तेन त्वया लक्ष्यमात्रमुक्तं भवेत्। नच लक्ष्यपदप्रवृत्तिनिमित्तमेव लक्षणार्थः, गन्धवत्त्वादेः पृथिव्याद्यलक्षणत्वापत्तेः। अपि चैवं वस्तुमात्रं करणमित्यभिधायैव किं न करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमुपादर्शि ? स्यादेवं यदि सर्वत्र वस्तुनि करणव्यवहारः स्यात्? इति चेत्तर्हि त्वदुक्तलक्षणमपि भवेद् यदि सर्वत्र कारणे करणव्यवहारः स्यादित्यपि पश्य। नहि कर्त्तरि कर्मणि वा कस्यचित्करणव्यवहारः। कर्तरि तावदस्ति लोके 'प्रमाणमिह देवदत्तः' इति, "शास्त्रेपि मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्!" इति चेन्न। किमयं माणवकेऽग्निव्यवहार इव गौणो? मुख्य एव वा? इति संशये यदि त्वत्परिकल्पितान्निमित्तान्मुख्यः स्यात् ततः कर्मण्यपि स्यात् तत एव निमित्तादिति। बाधदर्शनेन पारिशेष्याद् गौणतयैव तद्व्यवस्थापनाया युक्तत्वात्॥ १४०॥

ननु कारणमात्रस्य करणत्वेपि न कारणत्वं करणपदप्रवृत्तिनिमित्तमपि तूक्तं लक्षणमेव तथेति शङ्कते—अथेति। लक्षणगवेषणायां प्रवृत्तिनिमित्ताभिधानं न प्रस्तुतमिति परिहरति—एवं तर्हीति। प्रवृत्तिनिमित्तमपि लक्षणमेव, तथाच नाप्रस्तुतत्वमित्यत आह—नचेति। यदि प्रवृत्तिनिमित्तमेव लक्षणं तदा गन्धवत्त्वं न पृथिवीलक्षणं स्यात्तस्योपाधितया गुरुत्वेन पृथिवीत्वजातेरेव तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्यर्थः। अथ तदपि लक्षणं, तदाऽतिव्याप्तिरुक्तैवेति भावः। किंच, यदि प्रवृत्तिनिमित्तमात्रमलक्षणभूतमपि वक्तव्यं तदा वस्तुत्वाद्येव तदस्त्वित्याह—अपि चेति। प्रवृत्तिनिमित्तमपि व्यवहाराऽऽयत्तं वक्तव्यं ननु यत्किञ्चिदिति शङ्कते—स्यादेवमिति। त्वदुक्तलक्षणमपीत्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तमात्रमपीति शेषः। तत एवेति। कारणत्वादेवेत्यर्थः। आत्मानमात्मार्थं जानामीत्यादौ गौण एव कर्मव्यवहारः, परसमवेतक्रियाफलशालित्वलक्षणाभावादिति भावः॥ १४०॥

उक्त रीति से कारणमात्र में करण लक्षण की अतिव्याप्ति से लक्षण के विशेषणों की व्यर्थता की प्राप्ति होने पर यदि मानें कि कर्ता कर्मादिरूप धर्मी की व्यावृत्ति के लिये लक्षणगत विशेषण नहीं हैं, जिससे उनकी व्यावृत्ति नहीं होने से उनकी व्यर्थता हो, किन्तु एक ही कर्ता कर्मादिरूप धर्मी में तत्क्रियाहेतुत्वयुक्त तत्क्रियाकर्तृव्यापारविषयस्वरूप से तत्क्रिया में करणपदवाच्यता का (प्रदर्शन) कराने के लिये विशेषण है। परन्तु यह मानना उचित नहीं है, क्योंकि लक्षण का प्रयोजन तो वस्तुतः सजातीय तथा विजातीय से व्यावृत्त लक्ष्यस्वरूप का प्रदर्शनरूप होता है, प्रकृत में उक्त लक्षण से लक्ष्यमात्र उक्त होगा, सजातीय एवं विजातीय से व्यावृत्ति नहीं। लेकिन व्यावृत्तिस्वरूप ही लक्षण होता है, और लक्ष्यमात्र (धर्मीमात्र) तो धर्म एवं धर्मी के अभेद होने से पद की प्रवृत्ति का निमित्त होता है। अर्थात् लक्ष्यमात्र का इतर से व्यावर्तक होता है, यदि कहें कि लक्ष्यपद (करण पद) का प्रवृत्तिनिमित्त ही करणत्वरूप करण का लक्षण हो, तो यह कहना अयुक्त है क्योंकि लक्ष्यपदप्रवृत्तिनिमित्त ही लक्षणशब्द का अर्थ नहीं होता, अन्यथा गन्धवत्त्वादि को पृथिवी आदि के लक्षणत्व का अभाव होगा। अभाव और उपाधिरूपगन्धवत्त्व की अपेक्षा लघुस्वरूपपृथिवीत्व ही पृथिवी का लक्षण होगा। यदि पदप्रवृत्तिनिमित्त भी लक्षण

हो और ईश्वरीयव्यापारविषय होने से कर्ता एवं कर्मादि को भी करणपदवाच्यत्व हो तो इस प्रकार वस्तु मात्र करण है, ऐसा कह करके ही करणपद का प्रवृत्तिनिमित्त क्यों नहीं दिखाया ? यदि कहें कि ऐसा भी होता, यदि सब वस्तु में करणत्व का व्यवहार होता । अतः व्यवहाराभाव से वैसा नहीं किया गया । तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि तब आपसे कथितलक्षण भी होता यदि सब कारण में करणत्व का व्यवहार होता । कर्ता या कर्म में किसी का करणत्वव्यवहार नहीं होता है (कर्ता एवं कर्म को कोई करण नहीं कहता) यदि कहें कि कर्ता में लोक और शास्त्र में भी करण का व्यवहार होता है, क्योंकि जहाँ किसी दो व्यक्तियों में किसी अर्थविषयक विवाद होता है वह न्यायालय में जाकर न्यायाधीश के प्रति अपने विवाद को प्रस्तुत (पेश) करता है, तो न्यायधीश एक से पूछते हैं कि तुम्हारे इस वक्तव्य अर्थ में प्रमाण (गवाही) क्या (कौन) है ? तो वह प्रस्तुत कर्ता कहता है कि (प्रमाणमिह देवदत्तः) इस मेरे वक्तव्य अर्थ में देवदत्त प्रमाण है । यहाँ कर्ता देवदत्त है जो प्रमाणरूप में उपस्थित किया जाता है । तथा वह जो न्यायाधीश को अपना वक्तव्य सुनाता है—जिससे न्यायधीश को उससे शाब्दी परोक्ष ज्ञान होता है उस ज्ञान का वह शब्द द्वारा कर्ता है, शब्दयुक्त शब्द का जो न्यायाधीश को ज्ञान होगा वह परोक्ष ज्ञान करण है । प्रश्नकर्ता न्यायधीश भी पूछता है कि प्रमाण क्या है ? यद कर्ता के अभिप्राय से पूछता है उत्तरदाता भी कर्ता के अभिप्राय से उत्तर देता है । परन्तु (प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्) इस विग्रह के (व्याख्यान के) अनुसार प्रमाण शब्द करणवाचक है, अतः कर्ता में करण शब्द का प्रयोग सिद्ध होता है । और न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय प्रथमाह्निक के सूत्र ५७ द्वारा कतिपय हेतुओं से शब्द (वेद) में अप्रमाणता की शंका करके, उन शंकाओं के हेतुओं का खण्डनपूर्वक शब्द (वेद) की प्रमाणता की स्थापना की गई है (मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । न्या० २।१।६८) आप्त (यथार्थ वक्ता) के निर्हेतुक दयामूलक उपदेशरूपप्रमाणता से प्रत्यक्षफलप्रदमन्त्र आयुर्वेद के प्रामाण्यतुल्य उस अदृष्ट फलप्रद में अनुमेयप्रमाणता अवश्य है । यहाँ आप्तकर्ता से शब्द प्रमाण द्वारा प्रमा होती है, और आप्त में प्रमाणशब्द का प्रयोग हुआ है । आप्त की प्रमाणता प्रमाणरूपता से है इत्यादि । इससे शास्त्र में कर्तृविषयक करण का व्यवहार है यह सिद्ध होता है। परन्तु यह कहना उचित नहीं, क्योंकि यह लोक एवं शास्त्र में कर्तृविषय करण का व्यवहार माणवक (वटु = ब्रह्मचारी) में (अग्निर्माणवकः) अग्निरूप तेजस्वी ब्रह्मचारी है, इत्यादि के समान गौण है या मुख्य ? ऐसा संशय होने पर, यदि आपसे परिकल्पित (वर्णित) निमित्त (लक्षण) से व्यवहार होगा, तो कर्म में भी प्रयोग होगा । फिर जैसे कारण होने से कर्ता करण होगा वैसे कारणत्व से ही कर्म करण होगा । और यह नहीं हो सकता, क्योंकि करणत्व का उसमें बाध देखा जाता है । कर्म करण नहीं है इस ज्ञान के होने से, परिशेषात् गौणरूप से ही उक्त व्यवहार की व्यवस्था उचित है ॥ १४० ॥

अस्त्येव कर्मण्यपि तेन रूपेण ? इति चेत्, न तावदयं शक्योपदर्शनोदाहरणः शास्त्रलोकयोः; क्व दृश्यते घटं पश्यतीत्यर्थे घटेन पश्यतीति ? यदि तु त्वच्चेतसि केवलं स्यात् तत्र च नादरं विधातुमुत्सहामहे । 'प्रमेय-

मात्रं करणमि'ति वदतो वामबुद्धेर्मनसि परिवर्तमानं प्रमेयमात्रे एव करण-व्यवहारास्तित्वमेवमनुरोद्धव्यं स्यादिति। घटेन पश्यतीत्याद्यनभिधान-वशान्न प्रयोगो, न हि सर्वं लाक्षणिकं प्रयुज्यते ? इति चेन्न। माऽस्तु, तद-भावे कोन्योस्ति तेषु करणव्यवहारः ? इति वक्तव्यः स्यात् , नचासौ शक्य-दर्शन इति ॥ १४१ ॥

तेनेति। कारणत्वेनेत्यर्थः। अयमिति। करणत्वमात्रनिबन्धनः करणव्यवहार इत्यर्थः। क्वेति। साधकतमत्वविवक्षायां घटेन पश्यतीत्यपि भवत्येवेति वाङ्मात्रमिति भावः। एतदेवाह—यदि त्विति। यदृच्छया व्यवहारोपपादकत्वं वामबुद्धित्वम्। कर्माण्युक्तो-पाधिना करणं भवति, तृतीया तु तत्र न भवति, तथाप्रयोगाभावादित्याह—घटेनेति। नहीति। यद्यपि करणपदप्रवृत्तिनिमित्तवत्तायां न लाक्षणिकत्वं तथापि तथाप्रयोगाविषये प्रयुज्यमानत्वमेव लाक्षणिकत्वं विवक्षितम्। तदभावे इति। प्रयोगाभावे कर्मणि करण-व्यवहारो नान्यो वक्तुं शक्यते, प्रयोगरूपव्यवहारस्तु त्वयैवानभिधानान्निरस्तस्तथा च प्रवृत्तिनिमित्तं तत्रातिप्रसक्तमेवेत्यर्थः॥ १४१॥

यदि यह कहें कि करणत्वरूप कर्तृव्यापारविषयत्वरूप से कर्म में भी करणत्व का व्यवहार होता है, अतः करणत्व भी कर्म में सिद्ध है, तो यह युक्त नहीं है क्योंकि कर्म में करणार्थक विभक्ति का प्रयोग नहीं देखा जाता है। अतएव करणत्व का व्यवहार कर्म में नहीं माना जा सकता। शास्त्र और लोक में कर्मार्थक करण विभक्ति का उदाहरण नहीं है। (घटं पश्यति) घट को देखता है, इस अर्थ में (घटेन पश्यति) घट से देखता है या घट द्वारा देखता है, ऐसा प्रयोग कहीं नहीं देखा गया है। अतः साधकतमता की विवक्षा दशा में 'घटेन पश्यति' इस प्रयोग की सत्ता केवल कथनमात्र है। यदि केवल आपके चित्त में कर्म में करणार्थक विभक्ति की भावना हो, तो हम उसमें आदर नहीं करते और उक्त रीति से ईश्वरव्यापार के विषय होने से प्रमेयमात्र करण है, इस प्रकार कहते हुए चतुरबुद्धिवाले आप या किसी के मन में निश्चित प्रमेयमात्र में ही करणत्व का व्यवहार मन्तव्य होगा। परन्तु हम यह नहीं मानते। यदि कहा जाय कि कर्म के करण होने पर भी पूर्व से 'घटं पश्यति' इस प्रयोग के स्थान में (घटेन पश्यति) इत्यादि प्रयोगों का अभिधान नहीं है। अर्थात् वृद्धों ने कहीं ऐसा प्रयोग नहीं किया है। सब जगह लाक्षणिक पदों या वाक्यों का प्रयोग नहीं होता। परम्परा से जिसका प्रयोग होता रहा है उसी का प्रयोग प्रायः होता है। परन्तु यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि उक्त रीति से कर्म के करण होने पर भी यदि वहाँ करणविभक्ति का प्रयोग नहीं होता है तो नहीं हो। परन्तु वैसे प्रयोग के अभावमें कर्म आदि में उस प्रयोग से अन्य कौन करणत्व का व्यवहार होता है, यह कहना पड़ेगा। परन्तु आप यह नहीं कह सकते अर्थात् कर्म की करणता में कोई प्रमाण नहीं है। अतएव लक्षण दुष्ट है ॥ १४१ ॥

क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन संबन्धिकरणम्, इत्यपि न। तथाहि, अयोग-व्यवच्छेदो योग एव पर्यवस्येदिति संबन्धेन संबन्धीत्युक्तं स्यादिति पौन-रुक्त्यम्। यदा सम्बन्धीत्यनेन कालविशेषनियतसम्बन्धिताभिधीयते ततोऽ-न्यस्मिन्नपि काले सम्बन्धिता अयोगव्यवच्छेदपदेन विवक्षिता ? इति

चेन्मैवम्। सम्बन्धीत्यनेन न कालविशेषनियता संबन्धिताभिहिता येन कालान्तरेऽलब्धसम्बन्धिताऽभिधानाय पदान्तरमुपादीयेत। अथोच्यते सम्बन्धीत्यस्य सामान्यतोभिधायिनः कालविशेषनियतसंबन्धमादायापि पर्यवसाने सार्थकत्वं भवत्येवेति कालान्तरे असंबन्धितया व्यवतिष्ठमानं कर्त्राद्यपि करणं प्रसज्येत, तद्व्यवच्छेदाय कालान्तरे संबन्धिता पदान्तरेणाभिधीयते इति, मैवम्। तर्हि तेनापि क्वचिदेव कालान्तरे यदि संबन्धिताभिधीयते तदापि तस्य सार्थकता संबन्धिपदन्यायेन सामान्याभिधायिनो भवेदिति ततोपि कालान्तरेऽसम्बन्धव्यवच्छेदाय विशेषणान्तरमपि निवेशनीयं स्यात् ॥ १४२ ॥

क्रिययेति। प्रधानक्रिययाऽयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि करणं, नहि कुठारादौ सव्यापारे सति न छिदा, कर्तृकर्मणोस्तु सव्यापारयोरपि सतोः कदाचिन्न क्रियेत्यर्थः। तथाहीति। द्वौ निषेधौ प्रकृतमर्थं गमयत इति भावः। निषेधद्वयसमभिव्याहारात् सार्वदिकसम्बन्धो लभ्यते इति शङ्कते—यदेति। संबन्धीति सामान्याभिधानसामर्थ्यादेव विवक्षितार्थसिद्धिरिति परिहरति—सम्बन्धीति। सामान्यं किञ्चिद्विशेषमादायैव चरितार्थं, निषेधद्वयसमभिव्याहारस्तु नैवमिति शङ्कते—अथेति। अयोगव्यवच्छेद इति योगसामान्यनिषेधोपि यं कञ्चन विशेषमादायेति परिहरति—तर्हीति ॥ १४२ ॥

क्रिया के साथ अयोग (असम्बन्ध) व्यवच्छेद (अभाव द्वारा = अभावपूर्वक) सम्बन्धवाला करण होता है, यह करणलक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि अयोग का व्यवच्छेद (अभाव) योग (सम्बन्ध) ही सिद्ध होगा। अतः सम्बन्धद्वारा सम्बन्ध वाला, इस वाक्य से लक्षण में पुनरुक्ति दोष है। सम्बन्धवाला कहने ही से जो अर्थ लब्ध हो जाता है उसे फिर 'सम्बन्धद्वारा' इस शब्द से कहने का कोई फल नहीं है जैसे (गच्छ गच्छ) इत्यादि में शीघ्र चलो, इत्यादि अधिक अर्थ की प्रतीति होती है वैसे प्रकृत में नहीं होगा। यदि कहा जाय कि यहां भी पुनरुक्ति से अधिक अर्थ की प्रतीति होती है। क्योंकि 'सम्बन्धी' इस पद से यदा कदाचित् कालविशेष में क्रिया के साथ नियतसम्बन्धिता (सम्बन्ध) कहा जाता है और उससे अन्य काल में क्रिया के साथ सम्बन्धिता अयोगव्यवच्छेदपद से कहा जाता है। अतः पुनरुक्ति सफल है। तो यह कथन असंगत है, क्योंकि सम्बन्धी इस पद से कालविशेष में नियतसम्बन्धिता (सम्बन्ध) नहीं कही जाती जिससे कालान्तर में सम्बन्धिता कहने के लिये पदान्तर (अन्य पद) अयोगव्यवच्छेद, का ग्रहण किया जाय। कारण यह है कि सम्बन्धी पद सामान्यसम्बन्ध का वाचक है। प्रकरणादि से भले ही वह विशेष का बोधक हो अन्यथा नहीं। यदि कहा जाय कि जैसे (ब्राह्मणमानय) इस प्रकार सामान्य ब्राह्मण के कहने पर भी प्रसङ्गादि से विशेष ब्राह्मण का बोध होता है, वैसे सर्वत्र सामान्यार्थक शब्द का विशेषार्थ में पर्यवसान (तात्पर्य) रहता है, अतः 'सम्बन्धी' यह सामान्यवाचक शब्द भी कालविशेष (क्षण घटिकादि) में नियतसम्बन्ध का ग्रहण करके उपरत होने पर वह सार्थक होता है। अतः करण के समान कालान्तर में क्रिया के साथ असम्बन्धी रूप से व्यवस्थित कर्ता आदि भी करण होंगे।

उसकी व्यावृत्ति के लिये कालान्तर में भी करण की सम्बन्धिता पदान्तर से कही जाती है, जिससे सदा क्रिया के सम्बन्धी करण में लक्षण की प्रवृत्ति हो। कर्ता के व्यापार के उपरत होने पर भी करण के व्यापार से क्रिया की सिद्धि होती है। धनुषधारी बाण चला कर निवृत्त हो जाता है फिर भी वेगयुक्त बाण लक्ष्य पर पहुँचकर लक्ष्य का भेदन करता है। अतः करण सदा क्रिया सम्बन्धी होता है, कर्ता आदि नहीं। परन्तु यह कहना भी असंगत है, क्योंकि जैसे एक सम्बन्धी पद सामान्य सम्बन्ध का वाचक होता हुआ भी विशेष काल में सम्बन्ध को ग्रहण करके उपरत हो जाता है, उसी रीति से दूसरा भी सामान्यसम्बन्धवाचक शब्द दूसरे क्षणादिरूप कालविशेष में ही यदि करण की सम्बन्धिता को कहेगा, तो भी उसकी सार्थकता प्रथम सम्बन्धी पद के दृष्टान्त से समान हो जायगी, अतः सामान्य सम्बन्ध अनुक्त ही रहेगा। यदि कालान्तर में करण के असम्बन्ध के व्यवच्छेद (निवारण) के लिये अन्य विशेषण (सम्बन्धवाचक शब्द) का लक्षण में निवेश करेंगे तो अनवस्था होगी ॥ १४२ ॥

अब अयोगव्यवच्छेद पद के सम्बन्धी पद के समान यत्किञ्चित्कालिक सम्बन्धनिष्ठ होने पर भी सार्वदिक अयोग व्यावृत्ति की विवक्षा से कर्ता आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है, यह शंका होती है—

अथ यदा कदाचिदपि योऽयोगस्तस्य सर्वस्य व्यवच्छेदो विवक्षितः इति, तर्हि सम्बन्धिपदे एवैषा विवक्षास्तु, कृतमधिकमुपादाय तद्विवक्षया। निषेधव्यवच्छेदेन सार्वत्रिकत्वलाभः? इति चेन्न, निषेधव्यवच्छेदस्य विध्यनतिरेकार्थत्वेनाविशेषात्। तद्धर्मिकं संबन्धस्यासंबन्धासामानाधिकरण्यम्'अयोगव्यवच्छेदेने'त्यनेनोच्यते? इति चेन्न, तस्यापि सम्बन्धकाले तत्रासत्त्वोपगमात्। सर्वदा? इति चेन्न, यद्येवं तत्किं करणासत्त्वकालेपि योग एव करणेन क्रियायाः? यावत्सत्त्वम् इति चेत्तर्हि संबन्धीति व्यर्थं, यावत्सत्त्वमयोगव्यवच्छेदेन यद्विशिष्टमुपलक्षितं वा तत्करणमित्येवास्तु, संबन्धीत्येव वा तथा विवक्ष्यतामित्युक्तमेव। अयमेवार्थः कयापि कुसृष्ट्या संबन्धिपदसार्थकतामुपपाद्य यदि विवक्षितस्तदाप्युच्यते ॥ १४३ ॥

अयोगेति सर्वायोगविवक्षा, अत्र तन्निषेध इति सर्वयोगलाभ इति शङ्कते—अथेति। शङ्किता स्वाभिप्रायमिदानीं विशदयति—निषेधेति। खाण्डनिकोपि स्वाभिप्रायमाविष्करोति—निषेधेति। यत्र धर्मिणि प्रधानक्रियासम्बन्धस्य तदसंबन्धसामानाधिकरण्यं नास्ति तत् करणं, कर्त्रादौ तु नैवमिति शङ्कते—तद्धर्मिकमिति। कर्मादेरपि प्रधानक्रियासंबन्धसत्त्वकाले तदसंबन्धसामानाधिकरण्यासत्त्वोपगमादिति परिहरति—तस्यापीति। कर्त्रादौ क्रियासत्त्वकालमात्रेऽयोगसामानाधिकरण्यासत्त्वं, करणे तु सर्वदेति शङ्कते—सर्वदेति। करणेप्यसम्भवः सार्वदिकक्रियायोगस्येत्याह—यद्येवमिति। व्यर्थमिति। तर्हि क्रियया अयोगव्यवच्छिन्नमित्येव लक्षणमित्यर्थः। संबन्धीत्येव वेति। नित्ययोगे मत्वर्थीयविवक्षास्त्वित्यर्थः। अयमिति। निषेधद्वयसमभिव्याहारबलाऽलभ्येप्यर्थे समभिव्याहारलभ्यत्वाभिमानरूपया कुसृष्ट्येदृशार्थलाभेपि दोषान्तरदुष्टमिदं लक्षणमित्यर्थः ॥१४३॥

यदि यह कहा जाय कि जब कभी अन्य काल में जो अयोग, उस सब का व्यवच्छेद (अभाव) अयोगव्यवच्छेदपद से विवक्षित है। कुठारादि करण का सदा क्रिया

के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता ही है। यदि ऐसी बात है, तो सम्बन्धी पद में ही विवक्षा होनी चाहिये। अधिक (अयोगव्यवछेद) पद का ग्रहण करके उस विवक्षा से कोई अधिक फल नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि सम्बन्धी पद से करण में क्रिया के साथ सम्बन्ध का बोध होता है। और निषेध व्यवच्छेद (अयोगाभाव) के कथन से दो निषेध के सामर्थ्य से उस सम्बन्ध में सार्वत्रिकत्व = सर्वत्र क्रिया के साथ करण सम्बन्ध की विद्यमानता का बोध होता है जिससे सार्वत्रिक सम्बन्धरहित कर्ता आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि निषेधव्यवच्छेद (अभाव के अभाव) को विधि (भाव) से अनतिरेक (अभिन्न) अर्थ वाले होने से सम्बन्धी पद से अयोगव्यवच्छेद पद में अर्थ द्वारा विशेष (भेद) नहीं है। अतः अयोगव्यवच्छेद पद से सम्बन्ध में सार्वत्रिकत्व का लाभ नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि एकार्थक दो पद के रहने से पुनरुक्ति होती है, यहाँ सम्बन्धी पद करण के क्रिया के साथ सम्बन्ध को कहता है, और अयोगव्यवच्छेद इस पद से उस करण (कुठारादि) में वर्तमान, उस सम्बन्ध के असंबन्ध = अभाव के साथ असमानाधिकरणता कही जाती है, इससे क्रिया के सम्बन्ध और सम्बन्धाभाव वाले कर्ता आदि में करण लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि उस कर्ता आदि को भी प्रधान क्रिया के साथ सम्बन्ध काल में उस क्रिया में उस के असम्बन्ध के अभाव को माना जाता है। क्रिया के साथ सम्बन्धकाल में उस कर्ता में असंबन्ध का अभाव ही रहता है, अतः अतिव्याप्तिदुर्वार है। यदि कहा जाय कि कर्ता आदि में क्रिया के साथ सम्बन्ध काल में क्रिया के साथ अयोग (असम्बन्ध) का व्यवच्छेद रहता है, और करण में सदा अयोगव्यवच्छेद विवक्षित है जिसमें क्रिया सम्बन्ध हो, परन्तु उस का अभाव कभी न हो वह करण है, परन्तु यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या करण के असत्त्व काल में, या क्रिया के ही अभाव काल में करण के साथ क्रिया का सम्बन्ध रहता ही है? अर्थात् प्रतियोगी एवं अनुयोगी उभय से सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतः क्रिया के क्षणभङ्गुर होने से करण के विनश्वर होने से यह करण की कथा अयुक्त है। यदि यह कहा जाय कि वही कारण करण कहलाता है जब तक उसमें क्रिया का सम्बन्ध रहता है' यहां अयोगव्यवच्छेद पद से विवक्षित है। परन्तु ऐसा मानने पर सम्बन्धी पद व्यर्थ हो जायगा। क्रिया के साथ सदा अयोगरहित करण होता है, इतना ही लक्षण उचित है। अतः अपनी सत्ता काल में जो अयोगव्यवच्छेद (क्रियासम्बन्ध) से विशिष्ट या उपलक्षित रहता है, वह करण होता है इतना ही लक्षण रहे। अथवा क्रियासम्बन्धी इतना ही लक्षण हो, उसी में सदा क्रियासम्बन्ध की विवक्षा की जाय कि स्वसत्त्व काल में जो सदा प्रधान क्रिया का सम्बन्धी होता है, अर्थात् सम्बन्धी पद में नित्ययोगार्थक इनि प्रत्यय की विवक्षा हो। केवल सम्बन्धी पद से लब्ध यही अर्थ आपसे किसी कुदृष्टि (कुतर्क) अशब्दार्थ की कल्पना से सम्बन्धी पद की सार्थकता को विशेषार्थ में सिद्ध करके अयोगव्यवच्छेद पद से यदि विवक्षित है तो भी अतिव्याप्ति दोष अपरिहार्य है ॥ १४३ ॥

कृत्तिकोदयक्रियायां रोहिण्यासत्तिरप्येवं करणं स्यात्, अनन्तरभावि-

नक्षत्रचतुर्दशस्य नक्षत्रस्योदयं प्रति पूर्वभाविचतुर्दशसङ्ख्यनक्षत्रास्तमयस्य च करणत्वं स्यात्। नचैवमेव युक्तम्, यौगपद्येन कारणत्वानुपपत्त्या कारकत्वस्य दूरनिरस्तत्वेन करणत्वस्य सम्भावनाऽनारोहात्। न च तत्र संबन्ध एव नास्ति, व्याप्तेः स्वभावसम्बन्धात्मिकाया दुरपह्नवत्वात्। अथ कार्यकारणभावः सम्बन्धो विवक्षितः, न सामग्र्याः करणत्वापत्तेः। ओम्? इति चेत्, तत् किमोमित्यभिधायैव निर्वृत्तोभवान्? आकलितं किलास्माभिः सामग्र्यपि करणमित्यत्र न श्रद्दधतः प्रणवपूर्विकां श्रुतिमेव काञ्चित्पठित्वा श्रद्धापयिष्यति भवानस्मानिति। न सामग्री कारणं, किंतु तदेकदेशो नानाभूतः प्रत्येकं तथा, सामग्री तु यदनन्तरं कार्यं भवत्येवेत्येतावन्मात्ररूपा? इति चेन्न, एतादृशस्य सामग्रीलक्षणस्य करणेपि सत्त्वात् करणस्यापि सामग्रीत्वापातात्॥ १४४॥

तदेवाह—कृत्तिकेति। ज्योतिःशास्त्रादेतदध्यवसेयम्। कारणत्वव्याप्यं कारकत्व, तद्व्याप्यं च करणत्वं, तथाच प्रकृते व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरावश्यकीत्याह—यौगपद्येनेति। व्याप्तेरिति। कृत्तिकोदयरोहिण्यासत्त्योर्भाविचतुर्दशनक्षत्रोदयातीतचतुर्दशनक्षत्रास्तमययोश्च व्याप्तिलक्षणसंबन्धसत्त्वादित्यर्थः। अथेति। सामान्यशब्दस्य विशेषपरतयेत्यर्थः। अभ्युपगममात्रेण नार्थतथात्वमित्याह—किमोमिति। विवक्षितलक्षणं सामग्र्यां नागतमिति नातिव्याप्तिरित्याह—न सामग्रीति। सामग्रीलक्षणं तदेकदेशे करणे व्यभिचारयति—एतादृशेति॥ १४४॥

उक्त रीति से क्रियासम्बन्धी अयोगव्यवच्छेदवाला यदि करण हो तो कृत्तिका की उदयक्रिया में रोहिणी की आसत्ति (सामीप्य = सम्बन्ध) भी करण होगी, क्योंकि वह आसत्ति कृतिकोदय के सम्बन्धी और अयोगव्यवच्छेदवाली होती है। इसी प्रकार अनन्तर भावी चौदह नक्षत्र की उदयक्रिया के प्रति पूर्व होने वाले चौदह नक्षत्र का अस्तमय में करणत्व होगा। उक्त लक्षण के अनुसार इन दोनों अकरणों में करणत्व की प्राप्तिरूप अतिव्याप्ति है। यदि कहें कि अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि वे भी करण हैं। अतः ऐसा ही (लक्षण की प्राप्ति ही) युक्त है। तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कृत्तिकोदय और रोहिणी की आसत्ति ये दोनों समकाल में होते हैं। इसी प्रकार पूर्व चतुर्दशनक्षत्र का अस्तमय और उत्तर चतुर्दश का उदय समकाल में युगपत् (साथ) होता है। अतः उक्त आसत्ति और अस्तमय उक्त क्रियाओं के कारण नहीं हो सकते, कारण कार्य से अव्यवहित पूर्व काल में रहने वाला होता है। अतः कारणत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) से कारणत्व के व्याप्य कारकत्व के दूर निरस्त होने के कारण कारकत्व के व्याप्य करणत्व की सम्भावना भी चित्त में नहीं आ सकती। यदि कहा जाय कि रोहिणी की आसत्ति को कृतिका की उदयक्रिया के साथ सम्बन्ध ही नहीं है, न उक्त अस्तमय को उक्त क्रिया के साथ सम्बन्ध है, अत क्रियासम्बन्धी में अयोगव्यवच्छेदरूप करण लक्षण के अभाव से अतिव्याप्ति नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं। कारण यह है कि समकालिकता आदि से स्वाभाविकसम्बन्धरूप व्याप्ति दुरपह्नव (अनिवार्य) है। यदि कहा जाय कि उक्त स्थानों में युगपद् भाव से ही

कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध नहीं है, और करण लक्षण में क्रिया के साथ कार्यकारणभाव सम्बन्धवाला अयोगव्यवच्छेदयुक्त को करणत्व विवक्षित है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है, तो भी क्रिया की सामग्री में करण लक्षण की अतिव्याप्ति से उक्त लक्षण युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि सामग्री को क्रिया के साथ कार्यकारणभावयुक्त अयोगव्यवच्छेद रहता ही है। यदि स्वीकार किया जाय कि सामग्री करण ही है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है। तो क्या स्वीकृति मात्र से आप कृती होंगे? ऐसे आपके वचन में श्रद्धा नहीं करने वाले हम लोगों को, केवल ओम् ही नहीं, किन्तु ओंकारपूर्वक कोई श्रुति भी पढ़कर (प्रमाणरूप से सुना कर) श्रद्धालु नहीं बना सकते, अर्थात् सामग्री की करणता में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि सामग्री करण नहीं हैं, किन्तु सामग्री का एक देश निमित्त उपादानादि प्रत्येक कारणस्वरूप हैं। जिसके अनन्तर कार्य अवश्य होता है उस कारण समूह को सामग्री कहते हैं। परन्तु यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार सामग्री के लक्षण के कारण में रहने से करण में अतिव्याप्ति होती है। करण के व्यापार होने पर भी कार्य अवश्य माना जाता है, अतः करण को सामग्रीत्व प्राप्त होता है ॥ १४४ ॥

आगे भी अतिव्याप्ति के उदाहरण देते हैं—

क्रियाया विभागादौ विभागस्य च संयोगनाशादि प्रति तथात्वापत्तेः। यच्च प्रति सामग्र्येकदेशं नियतप्राग्भावादिकारणलक्षणमिष्यते तत्सामग्र्यामपीति कथं तदकारणता? प्राक्कालमन्तर्भाव्य सामग्री, तादृश्याश्च तस्याः प्राक् सत्त्वमेव नास्ति? इति चेन्न, अत एव प्राक्कालस्याकारणत्वात् कारणसामग्र्यां तदनिवेशात्। अपि चैवं विवक्षितमपि करणं न स्यात्। नहि यावत्सत्त्वं व्यापारवतोपि तस्य क्रियाजनकत्वं, क्रियाऽकाले-क्षणमपि तदनुवृत्तिनिषेधे प्रमाणस्य दुरुपन्यासतया संशयेनापि लक्षणाऽसिद्धेः; प्रत्युत चिरस्थिरकरसंयोगे स्पृश्ये स्पर्शप्रमाकरणस्पर्शनेन्द्रियसंयोगस्थैर्यस्य मन्तुमुचितत्वात् ॥ १४५ ॥

अतिव्याप्त्यन्तरमाह—क्रियेति। विभागं प्रति कर्मणः सामग्रीत्वापत्तिः, एवं चरमकारणे सर्वत्रेत्यर्थः। प्रतीति। सामग्र्येकदेशं प्रतीति योजना। प्रागिति। प्राक्कालस्यापि कारणतया तद्घटितमेलनस्य (सामग्र्याः) प्राक्काले वृत्तिर्नास्तीति न सामग्री कारणमित्यर्थः। अत एवेति। प्राक्कालावृत्तित्वादेवेत्यर्थः। क्रिययाऽयोगव्यवच्छेदतया यावत्सत्त्वं संबन्धित्वं कुठारादावपि नास्तीत्यसम्भवमाह—अपि चेति। उद्यमननिपातनादिविशिष्टकुठारादौ प्रथमक्षणेपि छिदाऽसम्बन्धो नास्तीत्यत्र प्रमाणाभावात्सन्देह इत्यर्थः। क्रियाकाले इति। नञोत्र प्रश्लेषः। प्रत्युतेति, व्यासङ्गस्थले द्रष्टव्यम्। मन्तुमुचितत्वादिति। मनोणुत्वकल्पनानुरोधेनेत्यर्थः ॥ १४५ ॥

क्रिया से अव्यवहित उत्तर काल में होने वाले विभागादि के प्रति क्रिया में सामग्रीत्व की प्राप्ति होगी। विभागानन्तर पूर्वसंयोग का नाश तथा उत्तरसंयोग की उत्पत्ति होती है। यहाँ भी विभाग में संयोगनाशादि के प्रति सामग्रीत्व की प्राप्ति होगी। और यद्यपि पहले सामग्री को अकारण मानकर दोष दिया गया है, तथापि सामग्री में वस्तुतः

करणत्व होने से उसमें करण लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। नियतपूर्ववृत्तित्व, पूर्व-सम्बन्धित्व आदि कारण के लक्षण सामग्री के एक अंश में है अतः उसमें भी अकारणता कैसे हो सकती? और कारण होने पर करणत्व की भी प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि कार्य से पूर्वकालवृत्तित्वयुक्त कारण समूह के सामग्रीरूप होने से काल को अपने अन्तर्गत करके सामग्री सिद्ध होती है, पूर्वकाल स्वयं पूर्वकाल से पूर्व नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार आत्माश्रय होता है, अतः (तादृश) कालविशिष्ट सामग्री भी पूर्ववृत्तित्व के अभाव से कारण नहीं होती है, किन्तु उसके एक देश ही कारण होते हैं। तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि प्राक् काल के अकारण होने से कारण-सामग्री में उस काल का निवेश नहीं होता है और काल रहित सामग्री में करण लक्षण की अतिव्याप्ति होती ही है। 'वह वस्तु जो जब तक करण के स्वरूप में विद्यमान हो तब तक अयोगव्यवच्छिन्न रूप से क्रिया सम्बन्धी हो, करण है' यह भी करण का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि कुठारादि करण में यह लक्षण नहीं घटेगा। उसके उद्यमनादि व्यापार-युक्त होने पर भी प्रथमादि क्षण में ही उससे छेदनादि क्रिया नहीं होती। इससे उसमें क्रियाजनकत्व उस समय सिद्ध नहीं होता। अतः फलस्वरूप छेदनादि से पूर्व क्रियाकाल में क्षणमात्र भी उस उद्यमनादि से युक्त करण की अनुवृत्ति (सत्ता) के निषेध में प्रमाण के दुरुपन्यास से करण के सत्त्व का निश्चय न होने पर भी सत्त्व का संशय तो होता ही है। और क्रिया का सदा सम्बन्ध नहीं रहता है। इससे इस लक्षण की असिद्धि होती है। यावत् सत्त्व क्रियाजनकत्व से विपरीतता करण में है। जहाँ चिरकाल तक स्थिर हस्त-संयोग वाला स्पर्शयोग्य पदार्थ हो, वहाँ स्पर्श प्रमा के करण त्वगिन्द्रिय के संयोग की स्थिरता के मन्तव्य होने से अव्याप्ति है। अर्थात् त्वगिन्द्रियरूप करण और उसके संयोगरूप व्यापार के स्थिर रहने पर भी मन के अन्यत्र सम्बन्ध से प्रमिति नहीं होती है। अतः करण के यावत् सत्त्व क्रिया के साथ जन्यजनकभावरूप से अयोगव्यवच्छेद रूप लक्षण की यहाँ अव्याप्ति होती है ॥ १४५ ॥

अब अव्याप्ति दोष दिखलाकर असम्भव दोष दिखलाते हैं—

यावत्सत्त्वं च करणमिति भाषायां सर्वस्मिन् तत्सत्त्वकाले कारणत्वमित्यर्थः, न च कारणत्वस्य नियतपूर्वकालसंबन्धात्मकस्य कश्चित्काले सत्त्वं, कालं प्रति कालान्तराभावादिति। अथ 'क्रियायाऽयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धी'-त्यस्यायमर्थो यस्मिन्सति भवत्येव क्रियेति। कोऽस्यार्थः? किं यस्मादनन्तरं क्रियोत्पद्यते एव? अत यस्मिन्वर्त्तमाने क्रियोत्पद्यते एव? उत यस्मादनन्तरं क्रिया तिष्ठत्येव? उत यस्मिन्वर्त्तमाने क्रिया तिष्ठत्येव? नाद्यः, सामग्र्याः करणत्वप्रसङ्गात्, हस्तादीनामकरणत्वप्रसङ्गात्, सुखदुःखादेः प्रमेयस्यापि प्रमाकरणत्वप्रसङ्गाच्च। नच प्रमेयमपि प्रमायाः करणं स्यादेवेति वाच्यम्, तत्र तथाव्यवहारस्य कस्यचिदप्यसिद्धेः। नापि द्वितीयः, स्पृश्येन सह स्थिरसंयोगस्य स्पर्शनेन्द्रियस्याव्यापनात्, तत्सत्त्वेपि व्यासक्तौ तेन प्रमाऽनुत्पादात्। नापि तृतीयः, सामग्र्यादेः करणत्वप्रसङ्गात्, उत्पत्तेः स्थिरे करणत्वप्रसङ्गाच्च। नापि चतुर्थः, सहस्थायिनां करणत्वप्रसङ्गात् ॥ १४६ ॥

प्रकारान्तरेणासम्भवमाह—यावदिति। यावत्सत्त्वं क्रियाऽयोगव्यवच्छेदेन यत्कारणं तत्सम्बन्धि तत् करणमिति वाक्यस्य सर्वत्र स्वसत्ताकाले यत्कारणं तत्र तत्करणमित्यर्थः पर्यवस्यति, काले च कालघटितं कारणत्वमसम्भवीत्यर्थः। हस्तादीनामिति। हस्ते सव्यापारे सत्यपि क्वचित्पाकानुत्पत्तेरयोगव्यवच्छेदाभावादित्यर्थः। सुखेति। सुखदुःखयोरवश्यसंवेद्यतया तदनन्तरं प्रमोत्पत्तेरावश्यकत्वादित्यर्थः। आदिपदात् ज्ञानव्यक्तिविशेषग्रहः। सामग्र्यादेरित्यादिपदात् कर्मशब्दादिपरिग्रहः। स्थिरे इति। स्थैर्यपक्षे घटोत्पत्तेरनन्तरमपि घटसत्त्वात्तदुत्पत्तावतिव्याप्तिरित्यर्थः। सहस्थायिनामिति। व्यापारविशिष्टकुठारादिरूपादीनामित्यर्थः। कारणत्वेन विशेषणे पूर्वदोषानुवृत्तिरिति भावः॥ १४६॥

जब तक करण का सत्त्व हो, तब तक अयोगव्यवच्छेदयुक्त वह जिस क्रिया का कारण हो उस क्रिया का करण होता है, इस का अर्थ होता है कि क्रियासम्बन्धी सब काल में कारणरूप करण में करणत्व (व्यापारवत्त्व) रहता है। परन्तु नियतपूर्वकालसम्बन्धस्वरूप जो कारणत्व है, उसका आत्माश्रयता से किसी काल में सत्त्व नहीं होता है। काल के कालान्तर का अभाव है। दूसरा काल हो तो कालात्मक कारण उसमें रहे। अतः यह असम्भवग्रस्त लक्षण है। यदि दोष निवारण के लिये कहा जाय कि 'क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद द्वारा सम्बन्धी' इस का यह फलितार्थ है कि जिसके रहने पर क्रिया होती हो है, वह करण है, वहाँ पूछा जाता है कि इस फलितार्थ बोधक आप के वाक्य का क्या अर्थ है? क्या जिसके अनन्तर क्रिया अवश्य उत्पन्न हो, यह अर्थ है? १, या जिसके रहने पर अवश्य उत्पन्न हो? २, अथवा जिसके अनन्तर क्रिया रहती ही है, ३, अथवा जिसके वर्तमान रहने पर क्रिया रहती है? ये अर्थ हैं, यहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि—क्रिया की सामग्री के अनन्तर अवश्य क्रिया की उत्पत्ति होती है, अतः उसमें करणत्व की प्राप्ति होती है, और हस्तादि में अकरणता की प्राप्ति होती है, क्योंकि हस्तादि के रहने पर भी कर्ता के यत्नादि के बिना हस्तादि से क्रिया नहीं होती है। तथा व्यापारयुक्त हस्तादि से कहीं पाकादिक्रिया सिद्ध नहीं होती और सुखदुःखादि प्रमेय में भी स्वविषयक प्रमा के प्रति करणत्व की प्राप्ति होती हैं, क्योंकि सुखदुःखादि के उत्पन्न होने पर उन का ज्ञान प्रमारूप अवश्य होता है। सुखादिप्रमेय भी स्वप्रमा के करण होते ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रमेय में प्रमाकरणव्यवहार किसी का भी सिद्ध नहीं है। कोई भी प्रमा के कर्मरूप सुखादि को प्रमा का करण नहीं कहता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्पर्शयोग्य के साथ स्थिर सम्बन्ध वाले त्वगिन्द्रिय को यह पक्ष संग्रह नहीं करता। क्योंकि संयोगरूप व्यापारसहितत्वगिन्द्रिय के रहने पर भी मन के अन्यत्र आसक्त रहने पर त्वक् से प्रमा नहीं उत्पन्न होती है। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामग्री में करणत्व की प्राप्ति होती है, सामग्री के अनन्तर कार्य घटादिरूप क्रिया स्थिर होती है। इसी तरह शब्द के अनन्तर शब्दप्रवाह स्थिर होता है, उसके प्रति प्रथम शब्द करण होगा, और उत्पत्ति के अनन्तर स्थिर रहने वाले घटादि में उनको उत्तर कालिक सत्ता के प्रति करणत्व की प्राप्ति होगी। तथा घट की उत्पत्ति के अनन्तर स्थिर घट का करणता उत्पत्ति क्रिया में प्राप्त होगी। सहस्थितिवालों के करणत्व की प्राप्ति से चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं है। अर्थात् व्यापारयुक्त कुठा-

रादि के रूपरसादि कुठारादि के साथ रहने पर ही कुठारादिजन्यकार्य क्रिया स्थिर होती है, अतः कुठारादि के रूपादि में अतिव्याप्ति होगी। तथा रूपरसादि सहस्थिति-वालों में परस्पर करणत्व की प्राप्ति होगी ॥ १४६ ॥

अथ क्रिययाऽयोगव्यवच्छेदेन संबन्धित्वं करणत्वमित्यस्यायमर्थः व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वमिति। मैवम्, हस्ताद्यव्यापनात्। कश्चायं तद्व्यापारो नाम? किं तज्जन्यं कारणम्? उत तदाश्रयं कारणं? नाद्यः, लिङ्गपरामर्शे तदसम्भवात्। पक्षे प्रथमधूमादिदर्शनस्य व्याप्तिस्मृतिद्वारा द्वितीयलिङ्गपरामर्शं व्यापारं जनयतः करणत्वमेष्टव्यम्, एवं च परमार्थतो व्याप्यस्य स्वरूपेण प्रमितिर्द्वितीयव्याप्ततत्परामर्शव्यापारिकाऽनुमानमिष्यते? इति चेन्न, अन्यतो जाताग्निधूमादिव्याप्तिस्मृतौ सत्यां पक्षगतप्रथमधूमादि-दर्शनस्य तद्व्यापारकत्वासिद्धेः। तत्राप्युभयकर्मजसंयोगवत् तदपि कारणम् इति चेन्न ॥ १४७ ॥

हस्तादीति हस्ते सव्यापारे सत्यपि कदाचित्पाकानुत्पत्तेरित्यर्थः। लिङ्गेति। तृतीय-लिङ्गपरामर्शाव्यवहितोत्तरक्षणे एवानुमित्युत्पत्तेरित्यर्थः। ननु प्रथमलिङ्गदर्शनमेव तृतीय-लिङ्गपरामर्शव्यापारकमनुमितिकरणमतो नाव्याप्तिरिति शङ्कते। पक्षेइति। व्याप्तिग्रहकाले प्रथमलिङ्गदर्शनं महानसादौ, पक्षे तु द्वितीयमत उक्तं "पक्षे" इति। व्याप्तिग्रहकाले प्रथमलिङ्गदर्शनं महानसादौ, पक्षे तु द्वितीयमत उक्तं "पक्षे" इति। एतदेव विविच्याह— एवं चेति। स्वरूपेणेति। व्याप्त्यनुपधानेनेत्यर्थः। अनुमानम्=अनुमितिकरणम्। यत्र प्रथमं व्याप्तिविशिष्टधूमस्य पक्षीयतया परामर्शस्तत्र स एवानुमितिकरणं, तस्य च निर्व्यापारतया तत्र लक्षणमव्याप्तमेवेत्याह—अन्यत इति=दैवादेः, नतु पक्षे धूमदर्शनात्। एकस्यापि कर्मणः संयोगजनकत्वाभ्युपगमे यत्रोभयकर्मसन्निपातस्तत्र यथोभयस्यापि हेतुत्वं तथा दैवाधीनव्याप्तिस्मृतेः प्रथमधूमदर्शनजन्यव्याप्तिस्मृतेश्च मिलित्वा तृतीय-लिङ्गपरामर्शजनकत्वमिति प्रथमलिङ्गदर्शनस्य तद्व्यापारकस्यानुमितिकरणत्वमिति नाव्याप्तिरित्याशयाऽविद्वत्तयाशङ्कते—तत्रापीति ॥ १४७ ॥

यदि कहा जाय कि—क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेदयुक्तसम्बन्धित्व करणत्व है' इस का यह अर्थ है कि व्यापारवाले में फलाव्यभिचारित्व (अवश्यफलवत्त्व) करणत्व है जैसे नेत्रादि के सव्यापार रहने पर रूपादिज्ञानजननरूप फलवत्त्व है तो यह अर्थ युक्त नहीं है, क्योंकि हस्तादि में लक्षण की अव्याप्ति है। हस्तादि के सव्यापार रहने पर भी कभी पाकादिक्रियारूप फल सिद्ध नहीं होता तथा अन्यमनस्कतावस्था में सव्यापार नेत्र से रूपादि का ज्ञान नहीं होता। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि व्यापार वाले का यह व्यापार क्या है? क्या (तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः) करणजन्य होता हुआ करणजन्य क्रिया का जनक व्यापार होता है? जैसे कर्ता द्वारा कुठारजन्य उद्यमननिपातन छेदन का जनक होता है। अथवा व्यापारवाले का आश्रित होता हुआ क्रिया का कारण व्यापार होता है? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि महानसादि में सहचारदर्शन से धूम में अग्नि की व्याप्ति के निश्चय के बाद पर्वतादि में धूम को देखने से व्याप्ति की स्मृति होने पर (वन्हिव्याप्यधूमवानयम्) अग्नि का व्याप्तियुक्त धूम वाला

यह पर्वत है, ऐसा लिङ्गपरामर्श, धूमरूपलिङ्गस्मरण होता है, उसके बाद (वह्निमानयम्) यह अग्निवाला है, ऐसी अनुमिति होती है, यहाँ लिङ्गपरामर्श करण होता है और उससे जन्य कोई व्यापार नहीं होता अतः लिङ्गपरामर्शरूप करण में उक्त व्यापार असम्भव है। शंका होती है कि महानसादि में व्याप्तिग्रहण के बाद प्रथम स्वरूप से धूमादि का पक्ष (पर्वतादि) में दर्शन ही व्याप्ति की स्मृति द्वारा द्वितीय लिङ्गपरामर्श (वह्निव्याप्यधूमवानयम्) रूप व्यापार को उत्पन्न करता हुआ करण होता है, अतः प्राथमिक पक्ष में हेतु दर्शन को ही करण मानना चाहिये, द्वितीय को नहीं। इस प्रकार वस्तुतः व्याप्य धूमादि का जो स्वरूप से (व्याप्ति के चिन्तन बिना) प्रमिति (ज्ञान) होती है, वह दसरी व्याप्ति युक्त उस हेतु के परामर्शरूप व्यापारवाली होती हुई अनुमानप्रमाणरूप करण होती है। अतः अव्याप्ति नहीं है, परन्तु यह शंका युक्त नहीं क्योंकि पर्वतादि पक्ष में प्राथमिक धूमादि व्याप्य के दर्शन जन्य लिङ्गपरामर्श न हो, किन्तु अदृष्टचिन्तनादिजन्य परामर्श से ही अनुमिति होती है, वहाँ लिङ्गपरामर्श के ही करण होने से पक्षगत धूमदर्शन के व्यापारत्व उसमें असिद्ध है, अतः धूमदर्शन भी परामर्श व्यापार वाला करण सिद्ध नहीं होता। तथा अन्य हेतु से परामर्श के स्थान में पर्वत में प्राथमिक धूमदर्शन भी करण हो, तौ भी उसको परामर्थरूप व्यापारवत्ता असिद्ध है, क्योंकि परामर्श उससे जन्य नहीं है। फिर भी शंका होती है कि जैसे उभय (दो) की किया से जन्य संयोग में दोनों हेतु होते हैं, वैसे अदृष्टादि से जहाँ परामर्श होता है, वहाँ धूम दर्शन की विद्यमानता से धूमदर्शन भी उस परामर्श का हेतु होता है, अतः धूमदर्शन को परामर्शरूप व्यापारवत्ता सिद्ध होता है, अव्याप्ति नहीं है ॥ १४७ ॥

परन्तु यह शंका भी युक्त नहीं—क्योंकि

अभावादिसापेक्षविशिष्टप्रतिपत्तिवत्प्रागुपजातवह्निव्याप्तधूमस्मृतेः प्रथममपि योसौ वह्निव्याप्तः सोयं धूम इति परामर्शोपपत्तेः। नित्यसापेक्षेर्थेस्तु तथा, नान्यत्र प्रथमं तथा ? इति चेन्न, प्रागुक्ततत्कारणोपपत्तौ नान्यत्रैवमिति नियमे प्रमाणस्याभावात्। तस्य व्यापाराभावात् नानुमित्युत्पादकत्वमेव इति चेत्, स्यादप्येवं यदि व्यापारवतः करणत्वमित्येव सिद्धं स्यात्। तत्र धूमादिनिर्विकल्पकस्य तद्व्यापारकस्य करणत्वम् ? इति चेन्न। नित्यसङ्घटितार्थवह्निनापि निर्विकल्पकं सविकल्पकोत्पत्तेरविरोधेन त्वदुक्तप्रक्रियानियमे प्रमाणाभावात् ॥ १४८ ॥

आशयमुद्घाटयति—अभावादीति। प्रतियोगिस्मृत्यैव यथाऽभावविशिष्टज्ञानं तथा दैवाधीनव्याप्तिस्मृतिलक्षणविशेषणज्ञानमहिम्ना व्याप्तिविशिष्टपर्वतीयधूमपरामर्श एव प्रथमं जायते इति न तत; पश्चादपि धूमदर्शनजं द्वितीयस्मरणं मन्तव्यमित्यर्थः। अभावादयो ये सापेक्षाः सप्रतियोगिकास्तद्विशिष्टप्रतिपत्तिवत्। नन्वभावादिसापेक्षविशिष्टप्रतिपत्तिवत् धूमत्वविशिष्टे स्मृतव्याप्तिवैशिष्ट्यभानं प्रथमधूमज्ञानं विना न सम्भवति, तत्राभावत्वप्रतियोगित्वयोः पूर्वागृहीतयोरप्यवच्छेदग्रहध्रौव्याज्ज्ञानमिति वैषम्यं शङ्कते—नित्येति। धूमविशेष्यकव्याप्तिविशेषणकज्ञानस्य तृतीयलिङ्गपरामर्शरूपस्य प्रथममपि सम्भवान्न वैषम्यमित्याह—प्रागिति। ननु धूमनिर्विकल्पकं तत् सविकल्पकव्यापारकं तत्र करणमिति शङ्कते—तत्रेति। विशेषणज्ञानान्तराभावे निर्विकल्पककल्पना, प्रकृते व्याप्ति-

स्मृतिरेव विशेषणज्ञानमिति किं निर्विकल्पककल्पनयेति परिहरति—नित्येति । नित्यसङ्घटितोऽर्थोऽभावसमवायादिः ॥ १४८ ॥

अभाव सादृश्यादिरूप प्रतियोगी सापेक्ष वस्तु के विशिष्ट ज्ञान के समान, कारणान्तर से जिसको प्रथम ही वह्निव्याप्य धूम की स्मृति होती है, उसको केवल धूम के ज्ञान बिना भी, जो वह वह्नि से व्याप्त धूम था सो यह है, ऐसे परामर्श के सम्भव होने से परामर्शरूप व्यापार द्वारा केवल धूम ज्ञान को यहाँ करणता सिद्ध नहीं होती । यदि कहा जाय कि नित्य (सदा) प्रतियोगी सापेक्ष अभावादि का प्रथम ही प्रतियोगी विशिष्टरूप से ज्ञान होता है, परन्तु (अन्यत्र) अनुमान में व्याप्तिविशिष्ट का प्रथम ही पक्ष में ज्ञान नहीं होता किन्तु केवल हेतु के दर्शन से व्याप्ति के स्मरणपूर्वक व्याप्ति विशिष्ट का ज्ञान परामर्श होता है, तब अनुमिति होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रथम केवल धूम के ज्ञान बिना भी कारणान्तर से व्याप्ति के स्मरण सहित धूमेन्द्रिय के सम्बन्धरूप व्याप्तिविशिष्ट धूमपरामर्श के पूर्वोक्त कारण को सिद्धि होते (नित्य सापेक्ष से अन्यत्र नित्यसापेक्ष के समान प्रथम विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता है, इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है । यदि कहा जाय कि प्रथम केवल हेतु ज्ञान के बिना जो व्याप्ति विशिष्ट हेतु का प्रथम ही पक्ष में परामर्श होता है, उसके व्यापार के अभाव से वह अनुमिति का उत्पादक (करण) भी नहीं होता क्योंकि व्यापारवत् असाधारण कारण को करण कहा जाता है तो ऐसा कहना भी तब संगत होता जब व्यापारवाले कारणों को ही करणत्व सिद्ध (निश्चित) हो, ऐसा निश्चय हुए बिना उक्त कथन युक्त नहीं है । यदि कहा जाय कि जहाँ व्याप्तिविशिष्ट धूम के पक्ष में परामर्श से अनुमिति होती है, वहाँ उस परामर्शरूप व्यापार वाला धूम का निर्विकल्पक (विशेष्य विशेषण भावरहित) ज्ञान ही करण होता है, तो यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि नित्यसंघटित = प्रतियोगीयुक्त अभाव सम्बन्धादि अर्थ के ज्ञान के समान, प्रकृत में भी निर्विकल्पक के बिना सविकल्पक (व्याप्ति विशिष्ट के ज्ञान) को उत्पत्ति से विरोध के अभाव रहते, आप से वर्णित प्रक्रिया के नियम में प्रमाण नहीं है । अर्थात् सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक पूर्वक ही होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, और विशेषण ज्ञान पूर्वक विशिष्ट ज्ञान होता है, यह व्याप्ति स्मृतिरूप विशेषण ज्ञान के रहने से धूम के निर्विकल्पक ज्ञान की अपेक्षा नहीं है ॥ १४८ ॥

नित्यसङ्घटितेष्वपि निर्विकल्पकं मंस्यते ? इति चेन्न, कारणान्तरादेव तदुपपत्तौ तत्र निर्विकल्पककल्पनायां प्रमाणाभावात्; प्रत्युत तत्सङ्घटनस्य स्वभावानतिरेकोपगमात् । तथापि यत्किञ्चित्तज्जनकं तदेव तत्रानुमितिकरणमास्ताम् ? इति चेन्न, तथेन्द्रियादेरनुमितिकरणत्वापत्तिरित्यलमतिविस्तरेणेति । शब्दश्रोत्रसन्निकर्षस्य च श्रोत्राव्यापारत्वप्रसङ्गात्, तथाच श्रोत्रस्य शब्दप्रतिपत्तावकरणत्वप्रसङ्गात्, सन्निकर्षो हीन्द्रियव्यापार उच्यते इति, व्यापारान्तरं च तस्य क्षणिकमसिद्धम्, स्थिरे चोक्त एव दोषः । शब्द एव तद्व्यापारः किं न स्यात्? इति चेन्न, तस्य कर्मत्वेन करणकोटिवहिर्भावात् ॥ १४९ ॥

अभावादिविशिष्टज्ञानेपि निर्विकल्पकापेक्षेति मतमालम्ब्य शङ्कते—नित्येति। उक्तं चाचार्यैरपि—अवच्छेदग्रहध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसाधनात्, प्राप्त्यन्तरेनवस्थानान्नो चेदन्योपि दुर्नयः इति। प्रत्युतेति। अभावादीनामिदमेव स्वाभाव्यं यद्विशिष्टज्ञानमात्रविषयत्वमिति त्वयाऽभ्युपगमादित्यर्थः। ननु परामर्शजनकतया तत्र व्याप्तिस्मृतिरेव करणं स्यादित्याह—यत्किञ्चिदिति। तथा सतीन्द्रियस्यापि करणत्वसम्भवादनुमितित्वप्रत्यक्षत्वसङ्करापत्तिरित्याह—तथेन्द्रियादेरिति। तज्जन्यं तज्जन्यकारणं व्यापार इति यद्व्यापारलक्षणमुक्तं तत्राव्याप्तिमाह—शब्देति। तत्सन्निकर्षस्य समवायस्याजन्यत्वादित्यर्थः। मास्तु सन्निकर्षो व्यापार इत्यत आह—तथाचेति। व्यापारान्तरमेव श्रोत्रजन्यमस्त्वित्यत आह—व्यापारान्तरमिति। स्थिरे इति। सन्निकर्षरूपे इत्यर्थः। शब्द एवेति। श्रोत्रजन्यत्वात् श्रोत्रजन्यशब्दसाक्षात्कारजनकत्वाच्छब्द एवात्र व्यापार इत्यर्थः॥ १४९॥

नित्यसंघटित अभावादि के विशिष्टज्ञानों में निर्विकल्पक ज्ञान को हेतु मानें तो यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रतियोगी आदि के स्मरणादिरूप कारणान्तर से ही अभावादि के विशिष्टज्ञान की कल्पना में अनुपपत्ति आदि प्रमाणों का अभाव है। प्रत्युत उस संघटन (प्रतियोगी आदि विशिष्ट अभावादि) के स्वभाव को अनतिरेक (सदा एकरस अभिन्न) माना गया है। अर्थात् विशिष्टज्ञानविषयत्वरूप उनका स्वभाव माना गया है। अतः उनका निर्विकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता। तो भी उक्त परामर्श के अनन्तर होने वाली अनुमिति के स्थान में जो कुछ व्याप्ति के स्मरणादि उस परामर्श का जनक होता है, वही वहाँ अनुमिति का करण हो, और परामर्श उस का व्यापार हो, ऐसा क्यों न माना जाय जैसे व्याप्ति की स्मृति परामर्श का जनक है, वैसे इन्द्रिय अदृष्टादि भी परामर्श के जनक हैं (वह्निव्याप्यधूमवानयम्) इत्यादि परामर्श इन्द्रिय से होता है, अतः इन्द्रियादि को अनुमिति के करणत्व की प्राप्ति से अनुमिति में अनुमितित्व एवं प्रत्यक्षत्व का संकर होगा। लिङ्ग को करण नहीं मान सकते, वह परामर्श का कर्म रूप से हेतु है। यदि लिङ्गकरण हो और उसका ज्ञानरूप परामर्श उसका व्यापार हो, तो घटज्ञान भी घट का व्यापार कहा जायगा, अतः अतिविस्तार की अब आवश्यकता नहीं है। तज्जन्यत्वयुक्त तज्जन्य का जनकत्व व्यापार का लक्षण कहा गया है, उसकी अव्याप्ति दर्शाते हैं कि—श्रोत्र और शब्द के सम्बन्ध को श्रोत्र के अव्यापारत्व की प्राप्ति से यह लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि अकाशात्मक श्रोत्र के साथ शब्द का समवायसम्बन्ध न्याय के अनुसार है, और समवाय नित्य है, अतः उसमें श्रोत्रजन्यत्व के अभाव से वह श्रोत्र का व्यापार नहीं हो सकता। शब्द के साथ श्रोत्रजन्य सम्बन्ध के बिना श्रोत्र को शब्दज्ञान में अकरणता की प्राप्ति होगी, क्योंकि विषय के साथ सम्बन्ध ही इन्द्रियों का व्यापार कहा जाता है जिससे करणता होती है। और समवाय से भिन्न क्षणिक उस श्रोत्र का सम्बन्ध असिद्ध है, और स्थिर समवाय में अजन्यत्व दोष कहा ही गया है। शब्द आकाशात्मक श्रोत्र से जन्य है, और श्रोत्रजन्य शब्दापरोक्षज्ञान का हेतु भी है तो शब्द ही श्रोत्र क्यों नहीं माना जाता है? यदि ऐसी शंका हो तो इसका उत्तर यह है कि शब्द को श्रोत्रज ज्ञान के कर्म होने से वह उस ज्ञान में करण कोटि (अवस्था) से बहिर्भूत (पृथक्) हो गया है, अतः करण नहीं हो सकता॥ १४९॥

क्वचित्तयोरेकत्वेपि का क्षतिः ? इति चेन्न, शब्दबुद्धौ कार्यायामुपधायकत्वेन प्रविष्टस्य शब्दस्य करणव्यापारतया करणकोटावपि प्रवेशनेंऽशतोपि नियम्यनियामकत्वविरोधापत्तेः। घटादिबुद्धौ चक्षुरादेश्चक्षुर्घटादिसंसर्गव्यापारवत्त्वेपि सममिदम् ? इति चेत्, किं न स्यात्। तथाच—

बाधेऽदृढेन्यसाम्यात् किं, दृढेन्यदपि बाध्यताम्।
क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम् ॥ ३३ ॥
तथाहि मिथिलानाथो मुमुक्षुर्निर्ममः पुरा।
आहेदं मिथिलादाहे न मे किञ्चन दह्यते ॥ ३४ ॥ इति।

नापि द्वितीयः, लिङ्गपरामर्शस्यानुमितावकरणत्वप्रसङ्गात्, निर्विकल्पकस्यापि तस्योपगमे सविकल्पकानाश्रयत्वात् ॥ १५० ॥

क्वचिदिति। निमित्तसमावेशादित्यर्थः। शब्देति। एकस्यैव शब्दस्य कार्यबुद्धिविशेषकतया कार्यत्वं करणव्यापारतया च कारणत्वं विरुद्धमित्यर्थः। शब्दप्रध्वंसग्रहे यथाकथञ्चिदुपपत्तावपि शब्दप्रागभावग्रहे नैवमपीति हृदयम्। ननु नियम्यनियामकत्वविरोधः, (जन्यजनकत्वविरोधः) घटादिबुद्धावपि, यतो घटबुद्धिर्जन्या घटेन्द्रियसन्निकर्षो जनक इति घटस्यैव जन्यजनककोटावन्तर्भावादित्याह—घटादीति। अनेन विरोधेन सर्वं निवर्ततां नाऽद्वैतवादिनः किञ्चिदनिष्टमित्याह—किन्नेति। एतदेव स्पष्टयति—बाध इति। तदाश्रयं कारणं व्यापार इति दूषयति—नापीति। लिङ्गेति। परामर्शाश्रितस्य व्यापारस्याभावादित्यर्थः। लिङ्गनिर्विकल्पकमपि न करणं, परामर्शस्य तद्व्यापारत्वेनाभिमतस्य तदनाश्रितत्वादित्याह—निर्विकल्पकस्यापीति ॥ १५० ॥

शंका होती है कि अन्यत्र कर्म से करण भिन्न ही होता है, परन्तु कहीं (शब्द प्रमा में) कर्म एवं करण दोनों के निमित्त के समावेश होने से कर्म एवं करण के एकत्व होने से क्या हानि है ? उत्तर यह है कि कार्यरूप शब्दप्रमा में उपधायक (स्वाकारसमर्पक विषय) प्रविष्ट शब्द को करण (श्रोत्र) के व्यापाररूप से करण कोटि में निवेश होने पर, शब्दांश में विरुद्ध नियम्यनियामकत्व (कार्यत्वकारणत्व) की प्राप्ति होगी, क्योंकि बुद्धि(ज्ञान) कार्य होती है, उसमें विषयरूप से प्रविष्ट शब्द में कार्यत्व ही प्राप्ति होगी, और करण कारण होता है, उसके व्यापार रूप से प्रविष्ट शब्द में करणता प्राप्त होगी, विशिष्ट—वृत्तिधर्म विशेषण में भी रहता है, अतः शब्द श्रोत्रव्यापार नहीं हो सकता। फिर शंका होती है कि इस प्रकार के नियम्यनियामकभाव (कार्यकारणभाव) रूप विरोध से यदि शब्द व्याहार नहीं होता है, तो ऐसा विरोध घटादि के ज्ञान में भी है, क्योंकि घट—ज्ञान में विषयरूप से प्रविष्ट घट कार्यत्व को प्राप्त होता है, और घटसंयुक्त इन्द्रिय में ज्ञानकरणता होने से करण कोटि में भी घट प्रविष्ट होता है, क्योंकि घटसंयोगविशिष्ट—इन्द्रियवृत्तिकरणत्व विशेषण रूप घट में रहेगा ही। अतः घट में कार्यत्व एवं कारणत्वरूप दोष शब्दतुल्य ही प्राप्त होता है। उत्तर यह है कि इस प्रकार और भी दोष हो सकते हैं, और जहाँ दोष हो उसको बाधित (मिथ्या) समझें, यह मेरे लिये अनिष्ट नहीं है, अतः यदि घठादि कार्यकारणभाव विरोध की प्राप्तिरूप नेत्रादि के करणत्व के बाध अदृढ़ हों, तो श्रोत्र की समता से क्या मतलब है ? और यदि बाध (खण्डन युक्ति) दृढ़ हो, नेत्रादि के करणत्व बाधित हो, और श्रोत्र के करणत्व भी

बाधित हो, तो इसमें अनिर्वचनीयवादी मुमुक्षु की क्या ममता ? जिसके बाध की निवृत्ति की चिन्ता हो। मिथिला नगरी के राजा मुमुक्षु ममतारहित जनक ने प्रथम यह कहा है कि मिथिला के दाह से मेरा कुछ नहीं जलता है, वेदान्तश्रवण की योग्यता की परीक्षा के लिये श्रीयाज्ञवल्क्य जी ने मायामय अग्नि को मिथिला में प्रज्वलित किया था, तब राजा जनक ने उक्त वचन कहा था। करण के आश्रित रहने वाली क्रिया का कारण व्यापार होता है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि लिङ्गपरामर्शरूप अनुमिति करण के आश्रित कोई व्यापार नहीं रहने के कारण उसको अनुमिति में अकरणता की प्राप्ति होती है। यदि लिङ्ग के निर्विकल्पज्ञान को अनुमिति का करण मानें, तो भी सविकल्प लिङ्गपरामर्श के उसके आश्रित नहीं रहने से, किन्तु आत्मा में परामर्श के समवाय सम्बन्ध से रहने से परामर्श व्यापार नहीं हो सकता ॥ १५० ॥

यदि आत्मा में रहने वाले परामर्श को अनुमितिकरण लिङ्ग निर्विकल्पक ज्ञान का व्यापार माना जाय तो दोष का वर्णन किया जाता है कि—

अतद्धेत्वाश्रयस्य तद्धेतुव्यापारत्वे चात्यापत्तेः। किंच, फलाव्यभिचारित्वं किं तस्मिन्नेव काले फलसत्त्वनियमः उत तदनन्तरं फलसत्त्वनियमः नाद्यः, कारणस्य पूर्वभाविताया अवश्यं वक्तव्यत्वात्। न द्वितीयः, आनन्तर्यं यद्यव्यवहितानन्तर्यं विवक्षितं तदा यत्किञ्चिद्व्यापारवतः करणत्वपक्षे हस्तादेरकरणत्वापातः, आफलव्यापारवतस्तु तथात्वे कर्त्रादिष्वतिव्याप्तिः। अथ व्यवहितस्याप्यानन्तर्यं विवक्षितं, तथापि यत्किञ्चिद्व्यापाराभिप्रायेन्तरायसम्भवाद्धस्ताद्यव्याप्तिः, आफलव्यापाराभिप्राये च व्यवधानासम्भवात् कारकमात्रं करणमित्युक्तं स्यात्। व्यापारवतश्च तत्फलाव्यभिचारः इति किं तद्व्यापारस्य फलाव्यभिचारित्वं ? व्यापारविशिष्टस्य वा ? नाद्यः, हस्ताद्यकरणत्वापातात्। अत एव न द्वितीयः ॥ १५१ ॥

नन्वात्मनिष्ठ एव परामर्शो निर्विकल्पकस्यानुमितिकरणस्य व्यापारः स्यादित्यत आह—अतदिति। करणाश्रितस्यैव करणव्यापारत्वमुचितं, नतु तत्क्रियाकारणान्तराश्रितस्यापि, तथा सति सहकारिमात्रं करणव्यापारः स्यादित्यर्थः। स चासौ हेतुश्चेति तद्धेतुः। किं तस्मिन्निति। यदा करणं तदा फलमित्यव्यभिचार इत्यर्थः। कारणस्येति। समकालयोः कार्यकारणभावाऽभावादित्यर्थः। तदेति। नहि प्राथमिकहस्तव्यापारानन्तरमेव पाकरूपं फलमित्यर्थः। आफलेति। कर्त्तुरपि फलपर्यन्तं व्यापारानुवृत्तेरित्यर्थः। तथापीति। हस्तव्यापारे सत्यपि कदाचित् फलानुत्पादाद्व्यवधानेप्यव्यभिचाराभावादित्यर्थः। कारकमात्रमिति। आफलव्यापारानुवृत्त्या कारकमात्रस्यैव फलाव्यभिचारिव्यापारवत्त्वादित्यर्थः ॥ १५१ ॥

अतद्धेतु (अनुमिति का अकरण अहेतु) आत्मा जिसका जिस परामर्श का, आश्रय है, उसको तद्धेतु (अनुमितिहेतु) निर्विकल्पक ज्ञान के व्यापार होने पर, सहकारी मात्र में करणव्यापारत्व की प्राप्ति होगी, करणवृत्ति करणव्यापार को होना चाहिये, अन्यथा सब का सब व्यापार होगा। व्यापारवाले को फलाव्यभिचारित्व करणत्व कहा गया था, वहाँ व्यापार का निरूपण तो नहीं हो सका। यह फलाऽव्यभिचारित्व क्या है ? क्या उस करणरूप कारण काल में ही प्रधानक्रियाकार्यरूप फल

का सत्त्व (सिद्धि वर्तमानता) का नियम फलाव्यभिचार है ? अथवा कारण के अनन्तर उत्तर पक्ष में फल के सत्त्व का नियम फलाव्यभिचार है ? यहाँ प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि कार्य से कारण को पूर्वकालभाविता (सत्ता) अवश्य (स्वीकार्य) है। समकालिक में कार्यकारणभाव हो नहीं सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि कारण से कार्य की अनन्तरता, यदि अव्यवहित अनन्तरतारूप विवक्षित हो तो यत्किञ्चित् व्यापारवाले के करणत्व पक्ष में हस्तादि को पाकादि क्रिया में अकरणत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि यत्किञ्चित् पाकसाधनसंचयरूप व्यापार वाले हस्तादि से अव्यवहित उत्तर काल में पाकादि क्रिया सिद्ध नहीं होती है। फल की सिद्धि पर्यन्त व्यापारवाले को करणत्व हो, तो यद्यपि हस्तादि में अव्याप्ति नहीं है, क्योंकि पाकादि सिद्धि पर्यन्त हस्तादि का कुछ व्यपार रहता ही है, तथापि फलपर्यन्त व्यापार वाले कर्ता आदि में करणत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि फलपर्यन्त कर्ता का भी व्यापार रहता है। अन्यथा कर्ता ही नहीं हो सकता है। यदि व्यवहित पूर्ववर्ती की अनन्तरता भी विवक्षित हो, तो यद्यपि यत्किञ्चित् हस्तव्यापार के व्यवहित काल में जहाँ फल की सिद्धि होती है, वहाँ पूर्वोक्त अव्याप्ति तो नहीं है, तथापि यत्किञ्चित् व्यापार के अभिप्राय रहने पर (यत्किञ्चित् व्यापार वाले को करण मानने पर) यत् किञ्चित् व्यापार वाले को अनन्तर फलवत्ता के प्रति करणत्व सिद्ध होगा। अतः जहाँ हस्तादि के कुछ व्यपार होने पर (अन्तराय) विघ्न का सम्भव हो जिससे फल को सिद्धि नहीं हो, वहाँ हस्तादि में करण लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि फलपर्यन्त व्यापार का अभिप्राय हो, तो फलपर्यन्त व्यापार वाले के साथ फल में व्यवधान के असम्भव होने से फलाव्यवधान सहित कारकमात्र करण हैं, यही उक्त होगा। और व्यापारवाले को फल के साथ अव्यभिचारित्व हो, इस कथन से, क्या उस करण के व्यापार की फलाव्यभिचारिता कही जाती है ? या व्यापारयुक्त करण की अव्यभिचारिता कही जाती है ? यहाँ प्रथमपक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हस्त के व्यापार होने पर भी जहाँ विघ्न से फल नहीं हुआ, वहाँ हस्तादि में करणत्व की अव्याप्ति होगी। तथा (हस्तेन रामेण शरेण मृगो विद्धः) यहाँ भी हस्त में करणत्व नहीं होगा, क्योंकि हस्त का व्यापार वाण के व्यापार से फल के साथ व्यवधान युक्त हो जाता है। उक्त हेतु से ही द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं ॥ १५१ ॥

व्यपारविशिष्टपक्ष में और मी अव्याप्ति का उदाहरण देते हैं—

यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वापाताच्च, अपूर्ववाक्यार्थत्ववादिनापि चरमयागस्य फलकरणत्वाभ्युपगमादिति। अथोच्यते यद्वानेव करोति तत् करणम्, यद्वानेव प्रमिमीते तत् प्रमाणम्। मैवम्, आत्मधर्मप्रध्वंसादीनामकरणानां प्रमाणत्वप्रसङ्गात्। येन क्रियाकारणेन युक्त एव प्रमिमीते ? इति चेन्न, सुखादिप्रमितौ तत्करणव्यापारस्यापि करणत्वप्रसङ्गात्। ओम् ? इति चेन्न, अव्यापारतयाऽकारकत्वेन तद्विशेषकरणभावानुपपत्तेः। व्यापारवतापि इति चेन्न, एवं हि व्यापारवत एव करणत्वं न स्यात्, नहि व्यापारवतस्तस्य व्यापारान्तरवत्तास्ति ॥ १५२ ॥

यागादेरिति। यागादेश्चिरनष्टत्वेनापूर्वविशिष्टस्य फलाव्यभिचाराभावादित्यर्थः॥ ननु मा भूत् यागः करणं, नहि यजेतेतिलिङा यागसाधनत्वं बोध्यते किन्त्वपूर्वकार्य्यत्वमिति नाव्याप्तिरित्यत आह—अपूर्वेति। कार्यत्वान्वयान्यथानुपपत्त्या यागसाधनत्वस्यौपादानिकस्य गुरुणापि स्वीकारात्, अन्यथा नियोज्यान्वययोग्यता न स्यादिति तन्मते यागस्याकरणत्वप्रसङ्गस्तुल्य इत्यर्थः॥ चरमं कार्यत्वोपस्थित्यनन्तरमुद्योतकरः करणलक्षणं शङ्कते—अथेति॥ सुखादीति। मनस्तत्र करणं न तु तदात्मसंयोगः, त्वल्लक्षणेन तस्यापि करणत्वप्रसंग इत्यर्थः॥ व्यापारवतापीति। येन क्रियाकारणेन व्यापारवता युक्तः प्रमिमीते तत् करणमिति लक्षणमित्यर्थ॥ एवं हीति। व्यापारविशिष्टस्यैव करणत्वात्तस्य व्यापारान्तराभावादकरणत्वं स्यादित्यर्थः॥ १५२॥

यदि व्यापारयुक्त को फलाव्यभिचारित्वरूप करणत्व हो, तो क्षणिक क्रियारूपयागादि को व्यापाररूप अदृष्टाविष्ट (अदृष्ट युक्त) रूप से स्वर्गादि फल के पूर्वकाल तक नहीं रहने से उसमें स्वर्गादि के अकरणत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि यागादि करण न हो तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि (दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः) इत्यादि में लिङ को जब यागगत इष्टसाधन का बोधक माना जाता है, तब याग करण रूप से प्रतीत होता है, लिङ्ग को अपूर्वार्थक मानने पर अपूर्व (अदृष्ट) ही स्वर्गादि का करण प्रतीत होता है। और वह फलाव्यभिचारी होता है, यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार भी अपूर्व करण नहीं हो सकता क्योंकि वह व्यापार रहित है, याग का स्वयं व्यापाररूप है, और दूसरी बात यह है कि अपूर्व को वाक्यार्थ मानने वाले आचार्यों ने भी साधनादि (प्रधानयज्ञाङ्गादि) के अनुष्ठान द्वारा उनके अदृष्टों सहित चरम (अन्तिम) यज्ञ को करण माना है। अतः उस मत में भी यज्ञ को अकरणत्व की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि जिस साधन वाला हो करके ही कर्ता कर्म करता है, वह करण है, जिस साधन वाला ही प्रमाता प्रमिति (ज्ञान) प्राप्त करता है वह प्रमाण है तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार जो आत्मा के धर्म सुख ज्ञानादि के ध्वंस सदा आत्मा में रहते हैं, उन अकरणों को प्रमाणत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि ध्वंस तो क्रिया के कारण नहीं हैं। और यहाँ विवक्षित यह है कि जो जिस क्रिया का कारण हो करके ही प्रमिति करता है, वह प्रमाण है। तो यह विवक्षा भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुखादि की प्रामिति में मन करण होता है आत्ममनःसंयोग व्यापार होता है। अतः उस संयोग सहित ही आत्मा सुखादि की प्रमिति करती है, वहाँ इस करणव्यापार में भी करणत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि उस व्यापार में भी करणत्व हो, तो यह कहना युक्त नहीं, व्यापार के व्यापाररहित होने के कारण उसमें कारकत्व के अभाव से कारकत्व के व्याप्य करणत्व की अनुपपत्ति है। यदि कहा जाय कि व्यापारवाले जिस साधन से युक्त प्रमाता प्रमिति करता है, वह प्रमाण है, तो यह युक्त नहीं, ऐसा होने पर व्यापारवाले को ही करणत्व नहीं होगा, क्योंकि व्यापारवाले उस करण में व्यावारान्तरवत्ता नहीं है। आत्माश्रयता से उसी व्यापार से युक्त में वह व्यापार नहीं रह सकता। अन्य व्यापार प्रसिद्ध नहीं हैं॥ १५२॥

व्यापारवत्ताविशेषण नहीं किन्तु उपलक्षण है, इस आशय से शंका है कि—

अथ व्यापारवतो व्यापारांशमपहाय करणत्वं, तत्र चास्त्येवेदं लक्षणं

यस्य करणत्वमस्ति तस्य व्यापारवत्त्वमप्यस्तीति व्यापारवत्करणमुच्यते इति। न। पटमुद्यम्य निपात्य च प्रक्षालयतः स कर्मैव हि करणं स्यात्। किंच, किं तस्य करणत्वम्? इति लक्ष्यीभूतस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् यद्युक्तलक्षणवत्त्वमेव तत् स्यात्तदात्माश्रयापातः स्यात्। स्वरूपम्? इति चेत्, स्वरूपस्य प्रतिकरणं भिन्नतया एकपरित्यागेनापरत्र लक्षणं गतमित्यतिव्यापकं स्यात्, न हि चक्षुषः स्वरूपं श्रोत्रस्येति। किंचैवमिन्द्रियादेः प्रमाणत्वं न स्यात्, अतद्वतोप्यनुमात्रादेः प्रमातृत्वात्। नासौ प्रत्यक्षम्? इति चेन्न, नेदमपि हि प्रत्यक्षमात्रस्य लक्षणं भवता क्रियते ॥ १५३ ॥

व्यापारवत्ता न विशेषणं, किन्तूपलक्षणमिति शङ्कते—अथेति ॥ पटमिति। यद्वानेव करोतीति लक्षणेन प्रक्षालनक्रियायां पटस्य करणत्वापत्तिः; पटवत एव प्रक्षालनक्रियाकर्तृत्वात्। उद्यम्य निपात्येत्यनेन पटवत्ता कर्तुरुक्ता ॥ स कर्म्मैवेति। स=पटः कर्म्म वस्तुगत्या भवति त्वल्लक्षणेन करणं स्यादित्यर्थः ॥ लक्ष्यतावच्छेदकापरिचये लक्षणमतन्त्रमित्याह—किञ्चेति ॥ स्वरूपमिति। स्वरूपं यदि लक्ष्यं तदा श्रोत्रेऽतिव्याप्तिः, लक्ष्यीभूतस्वरूपातिरिक्ते गतत्वादित्यर्थः ॥ यद्वानेव प्रमिमीते इत्यत्र दोषान्तरमाह—किंचेति। अनुमितिलक्षणप्रमायां प्रमातुरिन्द्रियवत्त्वनियमाभावादित्यर्थः ॥ प्रत्यक्षप्रमायामिन्द्रियवत्त्वनैयत्यमेवेति न व्यभिचार इति शङ्कते—नासाविति ॥ प्रमामात्रे यदव्यभिचारस्तत् प्रमाणमिति भवतो विवक्षितं, नचेन्द्रियलिङ्गादौ क्वापि तथाऽस्तीति तदसङ्ग्रह एवेति परिहरति—नेदमिति ॥ १५३ ॥

व्यापार वाले हस्त कुठारादि के व्यापारांश को त्याग कर हस्त आदि को ही करणत्व है, और उसमें व्यापाररूप लक्षण रहता ही है। अतः जिसको करणत्व है, उसको व्यापारवत्ता भी अवश्य है, इससे व्यापारवाला करण कहा जाता है, यह कहना अयुक्त है। क्योंकि इस प्रकार जहाँ कोई अपने पट (वस्त्र) को उठा पटक कर धोता हो, वहाँ उस धोना (प्रक्षालन) रूप क्रिया में पटरूप कर्म को ही करणत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि (यद्वानेव करोति) जिस साधन वाला ही कर्ता कर्म करता हो, इस लक्षण के अनुसार पट वाला ही प्रक्षालन करता है। अतः वह पट वस्तुतः कर्म होते भी लक्षण के अनुसार करण होगा। और जिस करण का लक्षण आप करते हैं, उसका (उसमें रहने वाला) करणत्व क्या है? (करणतावच्छेदक क्या है) लक्ष्यस्वरूप वस्तु लक्ष्यतावच्छेदकरूप से अवश्य वक्तव्य होता है। अर्थात् लक्ष्यतावच्छेचकयुक्त लक्षण का धर्मी अवश्य वक्तव्य होता है, अन्यथा लक्षण कहाँ समझा जायगा। यदि उक्त लक्षणवत्त्व (लक्षण) ही करणत्व (करणतावच्छेदक) हो, तो करणत्वविशिष्ट में लक्षण के रहने से आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी। यदि करण का स्वरूपमात्र लक्ष्य हो, सर्वकरणवृत्ति अनुगत लक्ष्यतावच्छेदक नहीं हो, तो प्रत्येक करण के स्वरूपों के भिन्न होने से, एक करण को लक्षण उसके स्वरूप को त्याग कर दूसरे करण में गया तो अतिव्याप्ति होगी, और प्रत्येक का पृथक्-पृथक् लक्षण सम्भव नहीं है। और चक्षु का जो स्वरूप है, वही श्रोत्र का नहीं है, अतः जिस लक्षण का लक्ष्य चक्षु का स्वरूपमात्र हो, उस लक्षण को श्रोत्र में नहीं जाना चाहिये। उक्त लक्षण के अनुसार इन्द्रियादि में प्रमाणता भी नहीं होगी, लिंगपरामर्श आदि से अनुमिति आदि करने वाला प्रमाता

इन्द्रियों की अपेक्षा बिना भी अनुमिति करता है, तथा अन्धवधिरादि भी अनुमिति करते हैं। अतः अतद्वान् (इन्द्रियकरणासहायवान्) को भी प्रमातृत्व (प्रमाकर्तृत्व) होता है। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय के बिना प्रत्यक्ष तो नहीं होता प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय वाला को ही होता है, अतः अव्याप्ति नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह लक्षण भी प्रत्यक्षमात्र का आप नहीं करते जिस साधन वाले को ही प्रत्यक्ष प्रमा हो, किन्तु सामान्यप्रमा के लक्षण में निवेश होने से सामान्य करण के ग्रहण से इन्द्रिय में अव्याप्ति उक्तरीति से अवश्य होती है ॥ १५३ ॥

ननु यद्यपीन्द्रियादेर्विशेषतो व्यावृत्तिस्तदापि तज्जातीयकरणमात्रतया तज्जातीयमात्रस्याव्यावृत्तिरेव, नह्यनुमित्यादावप्यकरणजातीयवान् प्रमिमीते इति ? न। करणतया साधारणभावस्याद्यापि निर्णेतुमशक्यत्वात्। अथ यां प्रमां यद्वानेव जनयति तस्यां तत्करणम् इति; मैवम्, कौपीनाच्छादनादेरपि करणत्वप्रसङ्गात्। यज्जातिकाम्? इति चेन्मैवम्, परोक्षजातीयां प्रमां लिङ्गवानेव शब्दवानेव वा जनयतीतिनियमाभावात्तस्याऽकरणत्वप्रसङ्गात्। साक्षात्कारित्वानुमितित्वादयो जातिभेदा विवक्षिताः? इति चेन्न, प्रत्येकमुपादाने भागाव्याप्तेः, सम्भूयोपादाने सर्वाव्याप्तेः॥ १५४॥

ननु यद्यप्यानुमानिक्यां प्रमायां न चक्षुरादिनैयत्यं तथापि करणजातीयवत्ता कर्तुस्तत्राप्यस्त्येवेति शङ्कते—नन्वति॥ एतदेव स्फुटयति—नहीति॥ करणत्वासिद्धौ तज्जातीयवत्ता दुर्ग्रहेति परिहरति—करणतयेति॥ प्रमाव्यक्तौ यद्वत्त्वनियमं शङ्कते-अथेति॥ यज्जातिकानिति। प्रत्यक्षत्वादिप्रमाजातीयजनने कर्तुः कौपीनवत्तानियमो नास्तीति न तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः॥ एवं सति शब्दलिङ्गयोरकरणत्वप्रसङ्गः, नहि परोक्षजातीयप्रमाणजनने कर्तुस्तदुभयवत्तानियम इत्याह। परोक्षे'ति। परोक्षत्वं न जातिः किंतु साक्षात्त्वानुमितित्वादय इति ते एव विवक्षिता इत्याह। 'साक्षादि'ति। 'यद्वानेव साक्षात्कारिणीं प्रमां जनयती'तिलक्षणे लिङ्गाद्यव्याप्तिः, यद्वानेव सर्वां प्रमां जनयतीतिलक्षणे सर्वाऽव्याप्तिरित्याह। 'प्रत्येकमि'ति॥ १५४॥

शंका होती है कि यद्वानेव,जिस साधन वाला ही प्रमा करता है, इस प्रकार विशेष रूप से कहने पर अनुमिति के स्थान में इन्द्रिय की व्यावृत्ति होती है, प्रत्यक्ष के स्थान में लिङ्ग शब्दादि की व्यावृत्ति है, तो भी जिस जातीय वाला ही जिस प्रमा का प्रमाता होता है, उस जाति वाला उस प्रमा का करण होता है, इस प्रकार तज्जातीय (इन्द्रिय जातीय) की अनुमिति में अव्याप्ति ही रहती है, क्योंकि करणजातीय परामर्श मन लिङ्गादि अनुमिति आदि में भी वर्तमान रहता है। अनुमिति आदि में करण जातीय से रहित प्रमाता प्रमिति नहीं करता है। परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि लिङ्ग परामर्श को इन्द्रिय के साथ करणत्वरूप से ही सजातीयता हो सकती है। करणता रूप से उस साधारणभाव (साजात्य) का ही अभी निर्णय करना अशक्य है। अर्थात् करणत्व का अभी कहीं निर्णय नहीं हुआ है, अतः करणत्वजातियुक्त प्रमाण का लक्षण नहीं हो सकता। यदि प्रमाकरण का विशेषरूप से लक्षण किया जाय कि जिस प्रमा को जिस साधन वाला प्रमाता उत्पन्न करता है, उस प्रमा में वह साधन करण होता है, तो जहाँ,

कौपीनाच्छादन साधन वाला ही प्रमा को उत्पन्न करता है, वहाँ कौपीनाच्छादनादिको करणत्व प्राप्त होगा। कौपीनाच्छादन पट भी आच्छादन क्रिया का साधन ही है। यदि कहा जाय कि कौपीनाच्छादन वाला किसी एक प्रमा का जनक ही हो सकता है, प्रकृत में जिस जातीय प्रमा को जिस साधन युक्त ही प्रमाता उत्पन्न करे, उस जाति वाली प्रमा में वह साधन करण विवक्षित है, तो भी लक्षण नहीं बन सकता, क्योंकि परोक्षत्वजाति-वाली अनुमिति शाब्दी आदि प्रमा को लिङ्ग (परामर्श) वान्, वा शब्द (शक्ति के ज्ञान) वान् ही उत्पन्न करता है, इस नियम के अभाव से उस लिङ्गादि की अकरणता की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि परोक्षत्वजाति नहीं है। अतः साक्षात्कारित्व, अनुमितित्व, शाब्दित्वादिजातिभेद विवक्षित है, और अनुमितित्वजाति वाली प्रमिति को लिङ्गपरामर्श वाला प्रमाता उत्पन्न करता है, अतः अव्याप्ति नहीं है। परन्तु यह लक्षण कथन भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्येक के ग्रहण करने पर करण (प्रमाण) के भाग में अव्याप्ति होगी, और सम्मिलित के ग्रहण करने पर असम्भव होगा। अर्थात् प्रत्यक्षत्वजाति वाला प्रमा को जिस साधन वाली प्रमाता उत्पन्न करता है, वह प्रमाण है, इस लक्षण की अनुमान आदि में अव्याप्ति रहेगी, अनुमान के लक्षण की अन्य में अव्याप्ति होगी। और प्रत्यक्ष तथा अनुमिति आदि सब प्रमा को जिस साधनवाला प्रमाता उत्पन्न करता है, वह प्रमाण है, इस प्रकार प्रमासमूह को ग्रहण करके प्रमाण का लक्षण करें कि सब प्रमा को जिस साधन वाला प्रमाता उत्पन्न करता है, वह प्रमाण है, तो असम्भव होगा, क्योंकि सब प्रमा को किसी एक साधन वाला प्रमाता उत्पन्न नहीं करता ॥ १५४ ॥

अनियमेनोपादाने च लक्षणाननुगमापातादिति। यदभावात् कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतस्तत्करणम्, तेन यदभावात्प्रमातृप्रमेये प्रमां न जनयतस्त-त्प्रमाणमिति लक्षणम्? इत्यपि न युक्तम्। किं प्रमातृप्रमेये सती यत्र न जनयतः? उतासती अपि? आद्येऽतीतानागतानुमानादिकरणाव्याप्तिः। नापि द्वितीयः, प्रमातृप्रमेययोरपि प्रसङ्गात्; यथा हि चक्षुराद्यभावात् प्रमा न जायते तथा प्रमातृप्रमेययोरप्यभावात्, अन्यथा तयोः कारणत्वमेव न स्यात्। एतेन सामान्यतोभिधानं प्रत्युक्तम्, अस्मदादिकर्तृसापेक्षेश्वरकर्तृके चास्मदादिज्ञाने अस्मदादिकर्तृकरणत्वापत्तेः। एवं च सति प्रकारभेदेनापि प्रमाणप्रमात्रादिव्यवस्थासमर्थना कृता न स्यात् ॥ १५५ ॥

यस्यकस्यचिदुपादानेननुगम इत्याह। 'अनियमेने'ति ॥ आद्ये इति। अतीतादिस्थले प्रमेयासत्त्वादित्यर्थः। यथा हीति। कारणमात्रव्यतिरेकस्यैव कार्यव्यतिरेकप्रयोजकतया कारणमात्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। ननु यदभावात् प्रमातृप्रमेये प्रमां न जनयत इत्येव लक्षणं, न तु तयोः सत्त्वमसत्त्वं वा विवक्षितमित्यत आह। एतेनेति। कारणमात्रातिव्याप्त्यै-वेत्यर्थः ॥ ईश्वरस्य कर्तुरस्मदादिव्यतिरेकेण प्रमानुत्पादकत्वादस्मदादीनामपि करणत्वं स्यादित्याह। अस्मदादीति। एवं च प्रवृत्तिनिमित्तभेदादपि करणत्वादिव्यवस्था न स्या-देतेनैव प्रकारेण तदुपपत्तेरित्याह एवं चेति ॥ १५५ ॥

अनियम से ग्रहण करने पर (किसी जाति का लक्षण में ग्रहण नहीं करने पर) लक्षण का अननुगम होगा। अर्थात् जिस प्रमा को जिस साधन वाला प्रमाता

उत्पन्न करता है, उस प्रमा का वह प्रमाण होता है, इस प्रकार अनुगम होगा। जिसके अभाव से कर्ता और कर्म क्रिया को नहीं उत्पन्न कर सकें, वह करण होता है, और करणविशेषरूप ही प्रमाण के होने से, जिसके अभाव से प्रमाता और प्रमेय प्रमा को नहीं उत्पन्न करें, वह प्रमाण होता है। यह प्रमाण का लक्षण है, परन्तु यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्या प्रमाता एवंप्रनेय स्वयं वर्तमान रहते जिसके अभाव से प्रमा को उत्पन्न नहीं करते, यह तात्पर्य है? या प्रमाता एवं प्रमेय भी स्वयं (असत्) अवर्तमान रहते भी जिसके अभाव से प्रमा को नहीं उत्पन्न करते, यह तात्पर्य है? प्रथम पक्ष में अतीतएवं अनागत (भावी) के अनुमिति आदि के करणों में लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहां प्रमेय वर्तमान रह कर अनुमितिप्रमा का जनक नहीं होता। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाता एवं प्रमेय में भी लक्षग की अतिव्याप्ति होती है जिससे जैसे चक्षु आदि साधनों के अभाव से चाक्षुषादि प्रमा नहीं होती है वैसे प्रमाता तथा प्रमेय के अभाव से भी प्रमा नहीं होती, अन्यथा = यदि उनके बिना प्रमा हो तो वे प्रमा के कारण ही नहीं होंगे, वस्तुतः कारणमात्र का अभाव कार्याभाव का हेतु होता है, अतः कारणमात्र में अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि प्रमाता एवं प्रमेय के सत्त्व वा असत्त्व की विवक्षा नहीं करके, जिसके अभाव से प्रमाता और प्रमेय प्रमा को नहीं उत्पन्न करे, वह प्रमाण है, तो यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि सामान्यरूप से कहने पर कारण मात्र में अतिव्याप्ति होती है, इससे सामान्यमात्र का कथन खण्डित हो चुका है। अस्मदादि (हम सब जीव) सापेक्ष अन्तर्यामी ईश्वरकर्तृक (ईश्वररूप कर्ता से जन्य) हम लोगों के ज्ञान में हम कर्ताओं को भी करणत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि हम लोगों के अभाव रहते, ईश्वर भी हमारे ज्ञान को नहीं उत्पन्न करता। और प्रमा की आश्रयता से कर्तृस्वरूप हम लोगों में करणत्व होना विरुद्ध है, अतः ऐसा विरोध होने पर द्विकर्तृक उस ज्ञान में कर्तृत्व-करणत्व-रूप प्रकार भेद से प्रमातृत्व-प्रमाणत्वादि की व्यवस्था नहीं की जा सकती। तथा प्रमाता आदि सब के अभाव में प्रमा की असिद्धि तुल्य होने से इस प्रमाजनकत्वादि प्रकार के भेद से भी व्यवस्था नहीं होने से उक्त अतिव्याप्ति है ही ॥ १५५ ॥

यदि कहा जाय कि उक्त ज्ञान क्रिया में स्वतन्त्ररूप से हम लोगों को कर्तृत्व हो, स्वाभाव द्वारा ज्ञानाभावहेतुत्वरूप से हम लोगों को ही करणत्व भी हो तो क्या विरोध है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि—

येनैव रूपेण (कर्तृत्वादिना) तस्य प्रमायामन्वयस्तेनैव तद्व्यतिरेकस्य प्रमानुत्पत्तौ प्रयोजकत्वादिति। चरमव्यापारवत्त्वं करणत्वम्? इत्यपि न, व्यापाराभावाल्लिङ्गपरामर्शस्याकरणत्वापातात्। नच सविकल्पकव्यापारवतो निर्विकल्पकस्य तत्र प्रामाण्यं, केवलविकल्पनीयलिङ्गविषये तदनुपपत्तेः, संस्कारादिपर्यन्तानुसरणे चानुमितेस्तज्जन्यत्वे प्रमाणाभावात्, कार्याहेतोश्च कारकाव्यापारत्वात्। अपि चाज्ञातकरणत्वापातात्। नच लिङ्गमेव परामर्शव्यापारवत्तया करणम् इति युक्तम्, अनुमितानुमानादौ परामर्शस्यालिङ्गजत्वेन तद्व्यापारवत्त्वानुपपत्तेः॥ १५६ ॥

ननु स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं कर्तृनिष्ठप्रमाव्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्वं च करणत्वमिति कथं नोपाधिभेद इत्यत आह। येनैवेति। कार्यव्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्य सर्वकारणसाधारणत्वादिति भावः। कर्त्रादिव्यापारापेक्षया चरमत्वं विवक्षितं, लिङ्गपरामर्शे व्यापारवत्त्वैव नास्ति कुत्र चरमत्वमिति तदव्याप्तिरित्याह। व्यापाराभावादि'ति। केवलेति। अभावसमवायादिः केवलसविकल्पकमात्रवेद्यः केवलविकल्पनीयस्तत्र निर्विकल्पकाभावादित्यर्थः। ननु संस्कार एव ध्वंसो वा परामर्शव्यापारः स्यादित्यत आह। संस्कारेति। नहि तज्जन्यत्वमात्रं व्यापारलक्षणं, किंतु तज्जन्यजनकत्वपर्यन्तमित्यर्थः। लिङ्गपरामर्शस्य करणत्वेनुमितेरज्ञातकरणतया प्रत्यक्षत्वापत्तिरित्याह। अपिचेति। नच लिङ्गमेवेति। तच्चज्ञातमेव करणमित्यर्थः। अनुमितेति। आकाशादौ परममहत्त्वादिना सर्वगतत्वाद्यनुमानादौ लिङ्गपरामर्शस्य लिङ्गाजन्यत्वान्न तद्व्यापारकतया लिङ्गस्य करणत्वमित्यर्थः॥ १५६ ॥

जिस कर्तृत्वादिरूप से उस कर्ता आदि को प्रमा में (प्रमा के साथ) सम्बन्ध होता है, उस कर्तृत्वादिरूप से ही कर्ता आदि के प्रमा की अनुत्पत्ति में प्रयोजकत्व (हेतुत्व) होता है, अतः एकरूप से कर्ता आदि में करण लक्षण की प्राप्ति होती है, यह विरुद्ध है। मुख्य क्रिया की सिद्धि में चरम (अन्तिम) व्यापारवत्ता करणत्व है, यह भी करण का लक्षण नहीं बन सकता। क्योंकि लिङ्गपरामर्श में व्यापार के अभाव से उसको अकरणता की प्राप्ति होगी, व्यापार के अभाव से चरम व्यापारवत्ता नहीं होगी। लिङ्गपरामर्शरूप सविकल्पक ज्ञानात्मक व्यापार वाला निर्विकल्पक लिङ्गज्ञान को अनुमिति में प्रमाणत्व हो, तो अव्याप्ति नहीं होगी, यह कहना भी नहीं बन सकता। क्योंकि केवल विकल्प (सविकल्प) ज्ञान का विषय (अभाव समवायादि) रूप लिङ्ग—ही जिस परामर्श का विषय हो, निर्विकल्पकज्ञानपूर्वक जो परामर्श नहीं हुआ हो, उस परामर्श में उक्त करण लक्षण की अनुपपत्ति होगी, अभावादिसप्रतियोगिक वस्तु का निर्विकल्पक ज्ञाननहीं होता है (भूतलं घटाभाववत्तदनुपलब्धेः) इत्यादि में सविकल्पक ही परामर्श होता है। यदि कहा जाय कि परामर्शजन्यसंस्कार या उसका ध्वंस ही उसका व्यापार है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि संस्कारादिपर्यन्त के अनुसरण (स्वीकार) करने पर भी अनुमिति के सस्कारजन्यत्व में कोई प्रमाण नहीं है। और करण जन्य होने मात्र से ही करण का व्यापार नहीं होता, किन्तु करणजन्य होता हुआ करणजन्य प्रधानक्रिया का जनक होने पर करण का व्यापार होता है, अतः कार्य का अहेतुस्वरूप किसी कारक का व्यापार नहीं होता। और यदि संस्कार परामर्श का व्यापार हो तो उसके अतीन्द्रिय होने से संस्कारयुक्त परामर्श भी अतीन्द्रिय होगा। अतः अनुमिति को अज्ञातकरणकत्व से प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी। ज्ञातकर्ता के लिये परामर्शरूप व्यापार वाला लिङ्ग ही करण हो, यह कहना भी नहीं बन सकता क्योंकि अनुमित (अनुमान से ज्ञात) हेतु से जहाँ फिर अनुमिति होती है, वहां लिङ्ग जन्य परामर्श नहीं होता (अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान ही वर्तमानविषयजन्य होता है, अनुमान नहीं) अतः अनुमानरूप परामर्शलिङ्गजन्यता के अभाव से लिङ्ग का व्यापार नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए (महत्व कहीं प्राप्त काष्ठा = सीमा वाला है, धर्म होने से, ज्ञानादिवत्) इस प्रकार अनुमित परममहत्वरूप हेतु से फिर अनुमान किया जाता है

(आकाशः सर्वगतः = विभुः परममहत्त्ववत्त्वात् = आत्मवत्) यहां परममहत्त्व-रूप हेतु का परामर्श अनुमितिरूप होने से लिङ्गजन्य नहीं रहता और दूसरी बात यह है कि परमाणुमात्रवृत्ति पारिमाण्डल्य नामक परिमाण और आत्मा में अवृत्ति परमहत्व से भिन्न ही में कारणत्व वैशेषिक के अनुसार माना जाता है। अतः आकाश-वृत्ति परममहत्व अपने परामर्श का कारण नहीं हो सकता जिससे उसका परामर्श व्यापार हो सके, अतः व्यापाररहित परामर्श ही यहां अनुमिति का करण होता है, उसमें व्यापारवत्त्व लक्षण की अव्याप्ति होती है ॥ १५६ ॥

अनुमित अनुमानादि में आदिशब्द से गृहीत का आगे वर्णन करते हैं कि—

आप्तोक्त्यादिभिस्तत्रासीद् धूम इति प्रतीत्या तदा तत्र वह्निरप्यासीदिति यदनुमानं तत्रासत्त्वाद् धूमस्य परामर्शव्यापारवत्तया करणताया दूरनिरस्तत्वात्। किंच, यत्किञ्चिदपेक्षया चरमव्यापारवत्त्वस्य सर्वकारकसाधारण्यात्, सर्वकारकापेक्षया चरमव्यापारवत्त्वस्य स्वापेक्षया चरमत्वानुपपत्त्या सर्वत्रासिद्धेः। कर्त्रपेक्षया ? इति चेन्न, कर्तृधर्मिमात्रापेक्षया विवक्षितत्वे कर्त्तरि प्रसङ्गतादवस्थ्यात्; व्यापारवत्कर्त्रपेक्षाभिप्राये च कर्त्तरि स एव प्रसङ्गः, एकव्यापारवत्कर्त्रपेक्षयाऽपराऽपरकर्तृव्यापारस्य चरमव्यापारत्वात्। यावद्व्यापारवत्कर्त्रपेक्षापक्षे तु विवक्षितमपि करणं न स्यात्, आफलसिद्धेः कर्तृव्यापाराविरामात् ॥ १५७ ॥

आदिपदग्राह्यमाह। आप्तेति। आप्तवाक्यात् स्मरणाद्वा अतीतधूमादिपरामर्शेनातीतवह्न्याद्यनुमाने लिङ्गस्य व्यापाराभावात् करणत्वमनुपपन्नमित्यर्थः। स्वापेक्षयेति। यद्यपि स्वापेक्षयापि स्वव्यापारस्य चरमत्वं सम्भवति तथापि व्यापारविशिष्टस्यैव करणत्वमिति विवक्षित्वेदमुक्तम्। कर्तृधर्मीति। कर्तृव्यापारस्यापि कर्त्रपेक्षया चरमत्वादित्यर्थः। प्रसङ्गमेव स्फोरयति। एकेति। यावत्कर्तृव्यापारापेक्षया चरमत्वं विवक्षितमतो न कर्त्तरि प्रसङ्ग इत्यत आह। यावदिति। फलाव्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तं कर्तृव्यापारसत्त्वात्तदपेक्षयाचरमत्वं करणव्यापारस्य नास्तीत्यसंभव इत्यर्थः ॥ १५७ ॥

जहाँ आप्त (सत्यवक्ता) के कथन से वा स्मरण से अतीत धूम का ज्ञान हो कि वहाँ धूम था, और ऐसे ज्ञान से अनुमिति हो कि उस धूम काल में वहाँ अग्नि भी थी। वहाँ अनुमिति काल में धूम के असत्त्व से परामर्शरूप व्यापारवत्ता रूप से धूम की करणता दूर से निरस्त हो जाती है, अतः वह परामर्शरूप व्यापारवाला अनुमिति का करण नहीं हो सकता। उक्तरीति से व्यापारवत्त्व खण्डित हुआ, व्यापार में चरमत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि यत्किंचित् व्यापार की अपेक्षा से चरमव्यापारवत्त्व को सब कारक में साधारणता (तुल्यता) है। सब कारक का व्यापार किसी की अपेक्षा से अन्त में होता है। सब कारक के व्यापार की अपेक्षा से करण व्यापार में चरमव्यापारत्व कहें, तो सर्वान्तर्गत स्वव्यापार की अपेक्षा से व्यापार में चरमत्व की अनुपपत्ति से सर्वत्र असिद्धि से असम्भव होगा। कर्ता की अपेक्षा से भी करणव्यापार को चरम नहीं कहा जा सकता क्योंकि कर्तृरूप धर्मी मात्र की अपेक्षा से चरमत्व विवक्षित हो तो कर्ता ही में करणत्व की प्राप्ति पूर्वतुल्य है, कर्ता का व्यापार कर्ता से

पीछे होता है, उस 'चरम उत्तर' व्यापार से ही उसमें कर्तृत्व होता है। और व्यापार-युक्तकर्ता की अपेक्षा से चरमत्व का अभिप्राय हो, तो भी कर्ता में ही वह अतिव्याप्ति-रूप प्रसंग (दोष) है। क्योंकि एक किसी व्यापारवाले कर्ता की अपेक्षा से उस कर्ता के ही अन्य अन्य व्यापार को चरम (उत्तर अन्तिम) व्यापारत्व हो जाता है। यदि यावत् (सब व्यापार वाले कर्ता की अपेक्षा से करणव्यापार में चरमत्व की विवक्षा करें तो विवक्षित करण भी नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि फल की सिद्धि पर्यन्त कर्ता के व्यापार का विराम (अभाव) नहीं होता अतः असम्भवग्रस्त यह लक्षण है ॥१५७॥

यदि कहा जाय कि कारकान्तर (करण) में क्रिया को उत्पन्न करके कर्ता व्यापार रहित हो जाता है, और व्यापारयुक्त करण अन्त में क्रिया को सिद्ध करता है, अतः असम्भव नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं इस आशय से कहते हैं कि—

व्यापारस्य विच्छेदे तद्धेतुलक्षणप्रक्षीणतापत्तेः। यद्व्यापारानन्तरं कारकान्तरं न व्याप्रियते तच्चरमव्यापारमिष्टम् ? इति चेन्न, सेश्वरपक्षे कर्तृव्यापाराविरमात् तदाऽऽनन्तर्यासिद्धेस्तत्करणत्वापातात्, अनीश्वरपक्षे चाक्षयोगादिभिरेव सव्यापारे कर्मण्यपि प्रसङ्गात्। छेद्यादेर्हि करणसंयोगादिव्यापारश्चरम एवेति कुतस्तद्व्यवच्छेदो, हस्ताद्यव्याप्तेश्चेति। अनन्तरफलं करणम् ? इत्यपि न, अविशेषिताऽऽनन्तर्यस्य सर्वकारणसाधारण्यात्, अव्यवहितानन्तर्यस्य व्यापार्यपेक्षस्य च यागाद्यव्यापनात्, व्यापारापेक्षस्य च हस्ताद्यव्यापनात् ॥ १५८ ॥

ननु कारकान्तरव्यापारमुत्पाद्य कर्तृव्यापारविच्छेदे सम्भवत्येव कर्तृव्यापार इति नासम्भवदोष इत्यत आह। व्यापारस्येति। तर्हि तद्व्यापारजननोपक्षीणव्यापारः कर्ता कारणमेव न स्यादन्यथासिद्धत्वादित्यर्थः। सेश्वरेति। अन्त्यतन्तुसंयोगादिलक्षणचरमव्यापारस्यापीश्वरजन्यतया तदीयत्वं, तदनन्तरं च कारकान्तरं न व्याप्रियते इतीश्वरकरणत्वापत्तिरित्यर्थः। अनीश्वरेति। इन्द्रियसन्निकर्षलक्षणकरणव्यापारस्य कर्मसाधारणतया कर्मण्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। न केवलं ज्ञानकर्मणि, किंतु छिदादिक्रियाकर्मण्यपीत्याह। छेद्यादेरिति। हस्तेति। तद्व्यापारस्याचरमत्वादित्यर्थः। अव्यवहितेति। अव्यवहितोत्तरक्षणवर्त्तिफलकत्वम् ? अव्यवहितोत्तरक्षणवर्त्तिफलव्यापारवत्वं वा तद्विवक्षितम् ? आद्ये—यागादीति। अन्त्ये 'हस्तादी'ति ॥ १५८ ॥

उक्त रीति से यदि कर्ता के व्यापार का विच्छेद (विराम) हो तो कार्य के हेतु के लक्षण (कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्व) की क्षीणता (क्षय) की प्राप्ति होगी, अर्थात् करण के व्यापार को उत्पन्न करके व्यापाररहित कर्ता कुलालपिता के समान अन्यथा सिद्ध हो जाने से क्रिया का कारण ही नहीं होगा। कर्तृत्व तो दूर रह जायगा, अतः उक्त असम्भव नहीं मिट सकता। जिसके व्यापार के अनन्तर कारकान्तर व्यापारित नहीं हो, वह चरम व्यापार वाला करण मान्य है, यह कहना भी युक्त नहीं क्योंकि सेश्वरवाद में कर्तारूप ईश्वर के यत्नरूप व्यापार का कभी विराम ही नहीं होता तथा अन्तिम तन्तुसंयोगादिरूपव्यापार ईश्वर से होता है, अतः ईश्वर के व्यापार के अनन्तर किसी कारक के व्यापार नहीं होने से ईश्वर में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। और अनीश्वरवाद में इन्द्रियसंयोगादिद्वारा ही संयोगादिरूप व्यापारयुक्त कर्म में

अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है, अतः इन्द्रियरूप ज्ञानकरण का व्यापार संयोगादि कर्म में भी रहता ही है। और छेद्य (छेदनयोग्य) काष्ठादि का करण (कुठारादि) के साथ संयोगादिरूप व्यापार भी चरम ही रहता है, फिर उस कर्म का व्यवच्छेद किस हेतु से होगा, चरम व्यापारवत्ता से तो उसकी व्यावृत्ति हो नहीं सकती और हाथ के व्यापार के अनन्तर काष्ठादि के व्यापार अग्नि आदि से पाकादि के स्थान में हस्तादि में लक्षण की अव्याप्ति होगी, हस्तादि का व्यापार वहां चरम नहीं रहता। अनन्तर फलवाला करण होता है, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि अविशेषित (आनन्तर्यविशेषणरहित) साधारण अनन्तरता के सब कारक में साधारण (तुल्य) रहने से सब में अतिव्याप्ति होगी। अव्यवहित अनन्तरता भी व्यापारी (व्यापार वाले) की या व्यापार की अथवा परम्परा स्वरूप हो सकती है। वहां व्यापारी के आनन्तर्य का यागादि में अभाव रहता है। यागादि के अनन्तर स्वर्गादि फल नहीं होते किन्तु उसके व्यापार अदृष्ट के अनन्तर फल होता है, और यदि व्यापार के आनन्तर्य माना जाय तो हस्तादि में अव्याप्ति होगी। हस्तव्यापार के अनन्तर ही लक्ष्य के वेधनादिरूपफल नहीं होते किन्तु बाणादि के व्यापार के अनन्तर फल होते हैं ॥ १५८ ॥

व्यापारपरम्परापेक्षस्य सर्वकारकव्यापनात्। किंच, तत्कार्य्यो यदि क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इष्टस्तदेन्द्रियकार्यो लिङ्गपरामर्शोऽनुमितिक्रियाहेतुरितीन्द्रियकरणिकानुमितिः प्राप्ता। अथ हेतोः सतः कार्यः क्रियाहेतुस्तद्व्यापारः, तथा सति चानुमित्यहेतोरिन्द्रियस्य कुतः करणत्वं स्यात् इति, मैवम्। किं तद्धेतुत्वं यन्नास्त्यनुमिताविन्द्रियस्य? नियतपूर्वभावित्वम्? इति चेत्, अस्ति तावत्पूर्वभावित्वं, नियतत्वमपि यदि कारणतायां प्रयोजकमिच्छसि तदा भवतैव यतितव्यं केनचिद्रूपेणेन्द्रियादेर्नियतत्वं प्रति, अन्यथा लिङ्गेन्द्रियादेः परस्परव्यभिचारादकरणिकैव प्रमा स्यात् ॥ १५९ ॥

ननु हस्तस्यापि पाकाव्यवहिततेजःसंयोगादिव्यापार एवेति नाव्याप्तिरित्यत आह—व्यापारेति। कर्तृकर्मणोरपि परम्परया तद्व्यापारकत्वादित्यर्थः। अव्यवहितानन्तरफलकव्यापारवत्त्वे करणलक्षणे दोषान्तरमाह। किंचेति। तज्जन्यस्तद्व्यापारः? तज्जन्यः सँस्तज्जन्यजनको वा? उभयथापीन्द्रियस्य परामर्शव्यापारकतयाऽनुमितिकरणत्वापत्तिरित्यर्थः। नन्विन्द्रियस्य परामर्शस्तदा व्यापारः स्याद्यदीन्द्रियमनुमितिजनकं स्यान्नचैवमित्याशङ्कते—अथेति। केनचिदिति। प्रमात्वावच्छिन्नकार्य्यं प्रति प्रमाणत्वेन कारणतायां प्रमाणजातीयस्येन्द्रियस्यापि प्रमानियतपूर्ववर्तित्वस्य त्वयैवेष्टव्यत्वादित्यर्थः। ननु प्रमामात्रं प्रति प्रमाणत्वेन न कारणता, किं नामेन्द्रियत्वलिङ्गत्वादिनेति नोक्तदोष इत्यत आह। अन्यथेति। समान्यावच्छिन्नं प्रति विशेषेण कारणता व्यभिचारान्न सम्भवतीत्यर्थः ॥१५९॥

उक्त हस्तादि में अव्याप्ति वारण के लिये यदि कहा जाय कि हस्तादि के व्यापारजन्य बाणादि के व्यापार के अनन्तर फल होता है अतः परम्परा की अपेक्षा वाले हस्तादि में अव्याप्ति नहीं है, तो इस प्रकार सब कर्ता कर्मरूप कारकपरम्परा की अपेक्षा करण के व्यापार द्वारा व्यापारानन्तरभावी फलवाले रहते हैं। अतः सब में करणलक्षण

की अतिव्याप्ति होगी। यदि अव्यवहित फलहेतु व्यापार वाले को करण मानें और वहाँ यदि तत्कार्य (करण कार्य) प्रधान क्रिया का हेतु करण का व्यापार इष्ट (मान्य) हो, तो इन्द्रिय का कार्य लिङ्गपरामर्श अनुमिति का हेतु होता है। अतः इन्द्रियरूप करण वाली अनुमिति सिद्ध होगी। यदि कहा जाय कि, सत् हेतु (प्रधान क्रिया के हेतु) का कार्य होता हुआ प्रधान क्रिया हेतु व्यापार होता है और ऐसा होने पर अनुमिति के अहेतु इन्द्रिय को अनुमितिकरणत्व किस कारण से हो सकता है, यदि इन्द्रिय अनुमितिजनक सिद्ध हो (तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वव्यापारत्वरूप) इन्द्रियजन्य होता हुआ इन्द्रियजन्यजनकतारूप व्यापारत्व परामर्श में हो, वहाँ इन्द्रिय में अनुमितिजनकता ही नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तद्धेतुत्व (अनुमिति-जनकत्व) क्या है ? जो इन्द्रिय को अनुमिति में नहीं है, यदि कहें कि अनुमिति आदि कार्यों से नियत (अवश्य) पूर्ववृत्तित्व हेतुत्व है, तो इन्द्रिय को पूर्ववृत्तित्व है ही, प्रत्यक्ष-हेतुपक्ष के स्थान में इन्द्रिय से परामर्श होता है—वह्निव्याप्यधूम वाला है। नियतत्व को भी यदि कारणता में आप हेतु मानें, तो किसी रूप से इन्द्रियादि के नियतत्व के लिये आप ही को यत्न कर्त्तव्य है। अर्थात् प्रमात्वयुक्त कार्य के प्रति प्रमाणत्वरूप से कारणता प्रमाणत्व वाला इन्द्रिय को भी प्रमा से नियतपूर्ववृत्तित्व आपको मानना चाहिये। अन्यथा (प्रमाणत्वेन प्रमा के प्रति इन्द्रियादि को कारण नहीं मानने पर) किन्तु इन्द्रियत्व लिङ्गत्वादि रूप से कारण मानने पर, लिङ्गेन्द्रियादि के परस्पर व्यभिचार से (एक के नहीं रहते दूसरे से प्रमा होने से) सामान्य प्रमा करणरहित होगी। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियादि वा सम्मिलित इन्द्रियादि प्रमात्वावच्छिन्न के प्रति करण नहीं हो सकते, और प्रमाणत्वेन प्रमात्वावच्छिन्न के प्रति सब कारण करण होते हैं ॥ १५९ ॥

यदि कहा जाय कि प्रमाणत्वेन सामान्य प्रमा के प्रति इन्द्रियादि को प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आत्ममनःसंयोग तथा अदृष्टादि प्रमामात्र के कारण हो सकते हैं, तो कहते हैं कि—

मनःसंयोगादेरेव तथात्वे चाप्रमासाधारण्यम् ? अपिचाक्षादेरकरणत्वापातः, यत्सामान्ये यत्सामान्यं प्रयोजकं तद्विशेषस्यैव तद्विशेषे प्रयोजकत्वनियमदर्शनात् ; ततो येन केनापि रूपेणेन्द्रियस्य प्रमायां नियतत्वमुपपाद्यते तेनैव रूपेण प्रसङ्गोपपत्तिः। अथ प्रमात्वे तत् प्रयोजकं, नानुमितित्वादाविति चेन्न, निरुपाधिकत्वाविशेषेणोक्तार्थानाधिक्यात्, सामान्यप्रयोजकत्वेन विशेषत्यागानवकाशात् ; अन्यथा व्यक्तेरकरणत्वापत्तेः ॥१६०॥

ननु तथापि नेन्द्रियस्याऽनुमितिकरणत्वं, यतः प्रमात्वावच्छेदेन व्यापकस्य मनःसंयोगस्यैव करणत्वकल्पनादित्यत आह—मन इति। प्रमात्वावच्छेदेन मनःसंयोगस्य न कारणत्वं किंतु ज्ञानत्वावच्छेदेनैवेति न तस्य प्रमाणत्वं, प्रमां प्रत्यासाधारणस्य प्रमाणत्वौचित्यादित्यर्थः। अपि चेति। इन्द्रियलिङ्गादिसाधारणरूपेण प्रमां प्रतीन्द्रियादेरकरणत्वे साक्षात्कारादिकारणतापि न स्यादिति सामान्येन प्रयोजकतायामिन्द्रियस्यापि तेन रूपेणानुमितिनियतपूर्ववर्तितयाऽनुमितिकारणत्वं स्यादेवेत्यर्थः। सामान्येन रूपेण सामान्यं प्रति कारणता न विशेषकारणताऽऽपादिकेति शङ्कते—अथ प्रमात्वे इति। कार्यसामान्यकारणसामान्ययोश्चेन्निरुपाधिः सम्बन्धस्तदा विशेषयोरपि स वाच्य एवेत्युक्तमावर्तते, इति

परिहरति—निरुपाधिकत्वेति। अत्र विपक्षे बाधकमाह—अन्यथेति। सामान्यावच्छेदेन यत्कारणत्वं तद्यदि विशेषे न स्यात्तदा व्यक्तिः करणं न स्यादित्यर्थः ॥ १६० ॥

आत्ममनः संयोगादि को ही तथात्व (प्रमाकरणत्व) होने पर, प्रमा को अप्रमा के प्रति साधारणता (तुल्यता) होगी, प्रमा एवं अप्रमा के हेतु के तुल्य होने से हेतुमूलक प्रमा तथा अप्रमा का विभाग नहीं होगा। मनःसंयोगादि को प्रमामात्र के ही प्रति कारणत्व नहीं है। किन्तु ज्ञानमात्र के प्रति कारणत्व है। अतः उसमें प्रमाणत्व नहीं है, किन्तु इन्द्रियादि में प्रमाणता है और यदि मनःसंयोगादिक ही प्रमा के हेतु हों, तो इन्द्रियादि को प्रमा के प्रति अकरणत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि मनःसंयोगादि को सामान्य प्रमा के हेतुत्व हो, और इन्द्रिय एवं लिङ्गादि को प्रत्यक्षादिविशेष प्रमा के हेतुत्व हो, तो भी इन्द्रियादि को प्रमा के प्रति करणत्व होगा ही अकरणत्व नहीं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्यों कि जिस सामान्य कार्य में जो सामान्य साधन प्रयोजक (हेतु) होता है, उस सामान्य हेतुगतविशेष को उस कार्यविशेष में हेतुत्व का नियम देखा जाता है, अतः सामान्य प्रमा का हेतु यदि मनःसंयोगादि हों, तो विशेष के हेतु भी वे ही होंगे इन्द्रियादि नहीं, अतः इन्द्रिय के प्रमाकरणत्व की रक्षा के लिये जिस किसी सामान्य रूप से इन्द्रिय के नियतत्व (हेतुत्व) को प्रमा में सिद्ध करेंगे, उसी प्रमाणत्वादि रूप से अनुमिति प्रमा में इन्द्रिय को करणत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि ज्ञानगत प्रमात्व में प्रमाणत्वरूप से इन्द्रिय हेतु है, परन्तु अनुमितित्वादि आदि में हेतु नहीं है, अनुमिति का करण इन्द्रिय नहीं होता है। तो यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि सामान्य कार्य (प्रमा) के साथ सामान्य कारण (प्रमाण) के निरुपाधिक (नियतपूर्ववृत्तित्व) रूप सम्बन्ध के विशेष कार्य के साथ विशेष कारण-के सम्बन्ध के भी तुल्य होने से, सामान्य कार्य एवं कारण में उक्त सम्बन्ध (कार्यकारण भाव) रूप अर्थ से विशेष में अधिकता का अभाव रहता है। अतः इन्द्रिय को सामान्य प्रमात्व के प्रयोजक होने पर, वह प्रमाणत्वेन अनुमितित्वादि विशेष का प्रयोजक होगा ही। अतएव इन्द्रिय में सामान्यप्रमितित्व की प्रयोजकता (हेतुता) विशेष (अनुमितित्व) की प्रयोजकता के त्याग का अवकाश (प्रसंग) नहीं हो सकता। अन्यथा, सामान्य-रूप से कारण को विशेषरूप से कारण नहीं होने पर, सामान्य करण को विशेष व्यक्तियों को अकरणता की प्राप्ति होगी, सामान्यरूप से चक्र-चीवर-दण्डादि घट के करण होते भी व्यक्तिरूप से करण नहीं होंगे ॥ १६० ॥

प्रमाविचार के अनन्तर प्रमाण का ही विचार प्रस्तुत हुआ था, उसमें प्रमाकरण-रूप प्रमाण के होने से करण का विचार एवं व्यापारादि का विचार हुआ है। अतः फिर उपसंहाररूप से प्रमाणविषयक विचार ही कर्त्तव्य है, इस आशय से शंका है कि—

अथाऽन्यत्रास्तु यद्वा तद्वा करणं, प्रमाविवक्षितजातिविशेषव्यपदेशकं प्रमाणम्। चतस्रः खल्विमाः प्रत्यक्षादिप्रमितयो भिन्नबुद्धिव्यपदेशभाजः, नच प्रमाता प्रमेयं वा तद्भेदहेतुः, प्रमाणानि तु यथायथं चतसृष्वसाधारणानीति भिन्नबुद्धिव्यपदेशनिबन्धनानीति। मैवम्। विवक्षितपदं तावल्लक्षणे भाण्डालेख्यमिव, पुरुषेच्छानामनियतविषयत्वात् अर्थजत्वस्य साक्षात्का-

रित्वं प्रतीन्द्रियजत्वाविशिष्टतयाऽर्थस्यापि करणत्वप्रसङ्गात् । आप्तोक्तौ कर्तुरपिशाब्दप्रमाजातिविशेषकत्वेनातिप्रसङ्गात् ॥ १६१ ॥

ननु करणानिरुक्तावपि प्रमाणं सुवचमेवेत्याह—अन्यत्रेति ॥ प्रमाजातिविशेषव्यपदेशजत्वमेव स्फुटयति—चतस्र इति । तथा च तादृशासाधारणजातिव्यपदेशासाधारणत्वं प्रमाणत्वं, भवति हि 'लैङ्गिकी प्रमा' 'शाब्दी प्रमे'ति व्यपदेश इति भावः । भाण्डालेख्यमिवेति । यथालेख्यं=रेखोपरेखादिसर्वभाण्डसाधारणं, न भाण्डविशेषलक्षणं, तथा पुरुषाधीनविवक्षितापि न विशेषिकेत्यर्थः । ननु विवक्षितप्रमाजातीयत्वं साक्षात्कारित्वादिजात्यैव विवक्षितं, तथाच तत्तदसाधारणकारणत्वेन लक्षणं न भाण्डालेख्यन्यायमनुहरतीत्यत आह—अर्थजत्वस्येति । अर्थः = कर्म, तदपि साक्षात्कारिज्ञाने करणं स्यात्, तस्यापि व्यपदेशकत्वादित्यर्थः । कर्मण्यतिव्याप्तिमुक्त्वा कर्त्तरि चाह = आप्तेति । आप्तः = कर्त्ता, शाब्दीं प्रमां प्रत्यसाधारण्येन विशेषक एवेत्यर्थः ॥ १६१ ॥

प्रमा से अन्यत्र यद्वा तद्वा (जो कोई) करण हो वह हो । किन्तु प्रमा के विवक्षित जातिविशेष (प्रत्यक्षत्वादि) के व्यपदेश (व्यवहार) का हेतु प्रमाण होता है । क्योंकि भिन्न बुद्धि (ज्ञान) और व्यवहारवाली (बुद्धिव्यवहार के विषय) चार प्रकार की ये (प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, और शाब्दी) प्रमितियाँ (प्रमायें) होती हैं । वहाँ प्रमाता वा प्रमेय उनके भेद का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही प्रमाता एक ही प्रमेय को कालादि के भेद से प्रत्यक्षादि द्वारा समझ सकता है । किन्तु प्रमाण तो चारों प्रत्यक्षादि प्रमाओं में यथायोग्य भिन्न-भिन्न साधन होते हैं। अतः प्रत्यक्ष एवं अनुमिति आदि भिन्न-भिन्न बुद्धि और व्यपदेश (व्यवहार=नाम) के निबन्धन (हेतु) होते हैं । वहाँ इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, अनुमानजन्य अनुमिति इत्यादि व्यवहारादि के हेतु प्रमाण होते हैं, यदि इन्द्रिय भी परामर्श द्वारा अनुमिति का करण हो तो यह प्रमाण निमित्तक व्यवस्थित व्यवहारादि नहीं होंगे, अतः इन्द्रिय अनुमिति के करणरूप विवक्षित नहीं हैं। उत्तर यह है कि यह उक्त व्यवस्था ऐसी ही नहीं है कि प्रमेय और प्रमाता द्वारा प्रमा का विभाग नहीं हो, अतः यह लक्षणगत विवक्षापद भाण्डगत आलेख्य के समान किसी का व्यावर्तक नहीं है । अर्थात् अनेक भाण्डगत चित्र जैसे किसी का व्यावर्तक नहीं होता है, सब भाण्ड में साधारणरूप से रहता है । वैसे ही पुरुष की इच्छारूप विवक्षाओं के अनियतविषयक होने से वह विवक्षा किसी का व्यावर्तक (प्रमेय एवं प्रमाता द्वारा प्रमितिभेद का निवारक) नहीं हो सकती । क्योंकि प्रमा के विवक्षित जातिविशेष के व्यपदेश का हेतु अर्थ (प्रमेयरूप कर्म) भी होता है । जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रत्यक्षत्व माना जाता है वहाँ प्रतीन्द्रियजत्व सब इन्द्रियजत्व के साथ में अविशिष्ट (तुल्य) रूप से अर्थजत्व (कर्मप्रमेयजन्यत्व) को साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षप्रमात्व) है । अतः अर्थ में भी प्रमाकरणत्व की प्राप्ति होती है और आप्तवचन में आप्तवक्तारूप कर्ता (प्रमाता) शाब्दप्रमाजाति में विशेषक होने से प्रमाता में भी शब्द प्रमा में करणत्व की प्राप्ति होती है, अर्थात् आप्त वचन से शाब्दी प्रमा होती है, अतः आप्त भी शब्द प्रमा के भेदक होते हैं, अतः करणत्व की प्राप्ति होती है, इससे यह लक्षण अयुक्त है ॥ १६१ ॥

(यदि कहा जाय कि जहाँ प्रमेय और प्रमाता में करण का लक्षण हो, उन्हें

प्रमाण ही मान लेना चाहिये । मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्) इस सूत्र में कर्ता में प्रमाणत्व का व्यवहार किया भी गया है, तो कहते हैं कि—

ओमित्युत्तरे च पूर्वोक्तमिति । विवक्षितजातिभेदौपयिकत्वेन प्रमित्यसमवायिकारणविशेषकं प्रमाणमि'त्यप्यत एव प्रत्युक्तम् । इति प्रमाकरणनिरुक्तिदूषणानि ॥ १६२ ॥

नन्वाप्तोपि प्रमाणमेव, कथमन्यथा मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति पारमर्षं सूत्रमित्यत आह—ओमिति । किमोमित्यभिधायैव निर्वृतो भवानित्यादिना पूर्वमेव बाधकस्योक्तत्वात् । नह्यभ्युपगमाधीनमर्थतथात्वमित्यर्थः । नन्वात्ममनःसंयोगः प्रमित्यसमवायिकारणं, तद्विशेषकं लिङ्गशब्दादिप्रमाणं, तथा च प्रमित्यसमवायिकारणव्यपदेशकं प्रमाणमिति लक्षणमास्तामित्यत आह—विवक्षितेति । विवक्षान्तर्भावेणैव तदपि भाण्डालेख्यमिव, किञ्च, अर्थस्य=कर्मणः कर्तुश्चाप्तस्य करणत्वप्रसञ्जकमित्यर्थः ॥ १६२ ॥

प्रमेय एवं प्रमाता में करण लक्षण की प्राप्ति होने पर (ओम्—अस्तु) ऐसा उत्तर दें, तो इस के विषय में प्रथम कहा जा चुका है कि लोक वा शास्त्र में अकरण में जो करण का व्यवहार किया जाता है, वह गौण है, अतः प्रमेय और प्रमाता में लक्षण की अतिव्याप्ति है, वे दोनों लक्ष्य नहीं हैं । विवक्षितप्रमिति के जातिभेद (प्रत्यक्षत्वादि) के उपाय (हेतु) रूप से प्रमिति के असमवायिकारण (आत्मनःसंयोग) का विशेषक (भेदक) इन्द्रिय लिङ्ग तथा शब्दादि प्रमाण कहे जाते हैं । अर्थात् प्रमाज्ञान में आत्मा समवायिकारण होता है, आत्ममनःसंयोग असमवायिकारण होता है, वहाँ समवायिकारण एवं असमवायिकारण के तुल्य रहते प्रत्यक्षादि प्रमाणों के भेद से ही प्रमा में भेद होता है । वहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाण असमवायिकारण में विशेषता द्वारा प्रमा में भेद सिद्ध करते हैं, अतः पृथक्-पृथक् प्रमाण कहते हैं, परन्तु उक्त रीति से प्रमेय और प्रमाता भी असमवायिकारण का भेदक होता है, अतः यह लक्षण भी युक्त नहीं है, यहाँ विवक्षित भाण्डालेख्य के समान है । भण्डालेख्य पाठ भी है, वहाँ भण्ड धूर्त्त को कहते हैं । धूर्त्त से कोई पूछे कि अमुक को पुत्र होगा कि पुत्री तो यदि वह लिख देता है कि (पुत्रो न पुत्री) तो न को पूर्वोत्तर चाहे जहाँ अन्वय करें, कोई निश्चय नहीं रहता, ऐसी हालत विवक्षापद की है, वह किसी का व्यावर्तक नहीं होने से व्यर्थ है ॥ १६२ ॥

सामान्यप्रमाणविचार को समाप्त करके अब विशेष प्रमाणों का विचार किया जाता है, वहाँ प्रथम प्रत्यक्षप्रमाण का विचार है—

एवं विशेषतोपि प्रमाणलक्षणानि प्रतिवक्तव्यानि । तथाहि—'प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारी'त्याहुः । किमर्थमिदमुच्यते ? किं सजातीयविजातीयव्यवच्छिन्नतत्प्रतीत्यर्थं ? उत साक्षात्कारित्वप्रतीतये तच्चिह्नोपदर्शनमिदम् ? उत व्यवहारार्थम् ? उत प्रत्यक्षादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थम् । उतान्यत्किञ्चिदर्थमेव । नाद्यः । तथाहि, किं 'सजातीये'ति प्रत्यक्षत्वेन साजात्यमपेक्षितं ? रूपान्तरेण वा ? नाद्यः, तस्माद्व्य-

वच्छेदावधेः सजातीयादव्यावृत्तत्वे व्यवच्छेदकत्वानुपपत्त्या व्यावृत्तत्व-स्वीकारेणाव्यापकत्वात्। नापि द्वितीयः, विजातीयपदोपादानवैयर्थ्यात्। अस्ति हि प्रमेयत्वादिना सर्वसाजात्यम्। अथ प्रमाणत्वादिना विशेषेण साजात्यं विवक्षितवेदमुच्यते, तर्हि लक्ष्यस्यापि प्रमाणत्वेन साजात्यात् व्यवच्छेद्यकोटिप्रविष्टतया सङ्ग्राह्यताऽभावप्रसङ्गः ॥ १६३ ॥

एवमिति। प्रामाण्यसामान्यलक्षणदूषणानि कियन्तिचिद्विशेषलक्षणेपि बोद्धव्यानीत्यर्थः यद्वा। एवमिति खण्डनीयत्वमात्रमतिदिशति, तेन तथाहीत्यस्य सङ्गतिः। लक्षणस्य व्यतिरेक्यनुमानत्वेन पराभिमतस्य प्रयोजनं खण्डयितुं विकल्पयति—किमर्थमिति। तत् प्रतीत्यर्थं=लक्ष्यप्रतीत्यर्थम्। लक्ष्यलक्षणमात्रखण्डनमपीदं प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणमूलत्वादिहैव प्रस्तौति। तस्मादिति। यतः प्रत्यक्षात्प्रत्यक्षं व्यावर्तनीयं तत्रैव लक्षणसत्त्वे व्यावृत्तेरनुपपत्तिः, असत्त्वे तदव्याप्तिर्लक्षणदोष इत्यर्थः। रूपान्तरेण साजात्यमभिमतमिति खण्डयति—नापीति। प्रमेयत्वादिना सर्वं सजातीयमेव, तथा च कस्योपग्रहाय विजातीयपदमित्यर्थः। ननु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीतिसूत्रेण प्रमाणसामान्यं विभक्तं, तथा च प्रमाणत्वेन सजातीयेभ्योऽनुमानादिभ्यो विजातीयेभ्यः प्रमेयसंशयादिभ्यः प्रत्यक्षमनेन लक्षणेन व्यावृत्तं बोध्यते, इति शङ्कते—अथेति। प्रमाणत्वेन सजातीयाद्व्यवच्छेदो यदि लक्षणफलं तथा स्वस्मादपि व्यवच्छेद एव स्यादिति परिहरति—तर्हीति ॥ १६३ ॥

एवम् (उक्त रीति से) विशेषरूप से प्रमाणों के लक्षण प्रतिवक्तव्य (प्रतिषेध्य = खण्डनीय) हैं। यहाँ यह रीति है कि (इन्द्रिय के विषय के साथ सम्बन्ध से उत्पन्न अव्यभिचारी (बाधरहित = वर्तमान सत्य विषयवाला) ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण होता है। यह न्यायाचार्य गोतम महर्षि कहते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि किसी प्रयोजन (फल) के लिये लक्षण कहते हैं, निरर्थक व्यवहार तो कोई सत्पुरुष करता नहीं है। क्या सजातीय (अनुमानादि) विजातीय (प्रमेयादि) से व्यवच्छिन्न (भिन्न) उस प्रत्यक्षरूप लक्ष्य के ज्ञान के लिये कहते हैं? अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय के साक्षात्कारित्व (अपरोक्षकारित्व) धर्म की प्रतीति (अनुमिति) के उस प्रत्यक्षकारित्व के चिह्न (लिङ्ग) का उपदर्शन (प्रदर्शन) रूप यह लक्षणोक्ति है? अथवा इस लक्षण वाले को प्रत्यक्ष कहना चाहिये, इस प्रकार व्यवहार के लिये कहते हैं? अथवा प्रत्यक्ष = अपरोक्षादि शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त (वाच्यवृत्ति वाच्यरूप विशेष-धर्म) के अवधारण के लिये कहते हैं? या अन्य किसी प्रयोजन के लिये कहते हैं? यहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि सजातीय इस कथन से प्रत्यक्षत्वेन मुख्य सजातीयता अपेक्षित है? या रूपान्तर से अपेक्षित है? वहाँ आद्य (प्रत्यक्षत्वेन साजात्य) तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि जिस व्यवच्छेदक की अवधि से प्रत्यक्ष को व्यावृत्त करना है, उसमें भी लक्षण के रहने से उस सजातीय व्यवच्छेदावधि से लक्ष्य के अव्यावृत्त होने के कारण लक्षण को व्यवच्छेदकत्व की अनुपपत्ति से लक्षण को लक्ष्य से व्यावृत्तत्व के स्वीकार द्वारा लक्षण को लक्ष्य में अव्यापकत्व सिद्ध होता है। अर्थात् व्यवच्छेद्य में लक्षण रहने पर उसकी व्यावृत्ति नहीं होगी और लक्षण के नहीं रहने पर लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा। प्रथम पक्ष का दूसरा विकल्प भी नहीं बन सकता (रूपान्तर से साजात्य नहीं माना जा सकता), क्योंकि रूपान्तर से

साजात्य की विवक्षा करने पर लक्षण में विजातीय पद का ग्रहण व्यर्थ होगा। प्रमेयत्व एवं वाच्यत्वादिरूप से सब के साथ प्रत्यक्ष को साजात्य ही है, फिर किसकी व्यावृत्ति के द्वारा विजातीय पद सार्थक होगा? यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण कहे जाते हैं, आत्मा आदि प्रमेय कहे जाते हैं, अतः प्रमाणत्वेन सजातीय अनुमानादि से और विजातीय प्रमेय संशयादि से व्यावृत्ति, विवक्षित है वहाँ प्रमेयादि की व्यावृत्ति के लिये यह विजातीय पद कहा जाता है, तो इस प्रकार भी लक्ष्य (प्रत्यक्ष) को भी प्रमाणत्वरूप से साजात्य होने से वह व्यवच्छेद्य (व्यावर्त्य) कोटि में प्रविष्ट हो जाता है, अतः उसमें संग्राह्यता (लक्ष्यता) का अभाव प्राप्त होता है। अर्थात् प्रत्यक्ष के प्रमाणात्वयुक्त से भिन्न नहीं होने से लक्षण का लक्ष्य (आश्रय) नहीं होता है ॥१६३॥

साजात्य स्वभिन्न में होता है, स्वस्वरूप में नहीं, इस आशय से शंका है कि—

लक्ष्यस्य यत्प्रमाणत्वादिभिः सजातीयं तद्व्यवच्छेद्यं, न च लक्ष्यस्य लक्ष्यं सजातीयं, षष्ठ्यर्थस्य भेदव्यवहितत्वात्? इति चेत्, एवं तर्हि लक्ष्यापेक्षया भिन्नाद्व्यवच्छेद इत्येवोच्यतां, कृतं प्रमाणत्वादिना साजात्येन प्रकृतानुपयोगिना वर्णितेन, यदा च लक्ष्यादन्यत्वं परेषामवगतं तदा परस्मादन्यत्वमपि लक्ष्यस्यार्थादवगम्यते इति सिद्धमग्रत एव लक्षणप्रयोजनमिति वैयर्थ्यमेव स्यात् लक्षणाख्यानस्येति ॥ १६४ ॥

ननु स्वयमेव न स्वसजातीयं, किंत्वनुमानादि तथेति नोक्तदोष इत्याह—लक्ष्यस्येति। एवं सति लक्ष्यभिन्नव्यवच्छेदफलकं लक्षणमित्येवोच्यतां सजातीयव्यवच्छेदफलकत्वोक्तिरतन्त्रमिति परिहरति—एवमिति। ननु तथैवास्तु, तावतापि लक्षणं सफलमेवेत्यत आह—यदा चेति। परेभ्यः प्रत्यक्षस्य भेदं विना परेषां प्रत्यक्षाद्भिन्नत्वमनुपपन्नमित्यर्थवशसिद्धमेवेतरभिन्नत्वमित्यर्थः ॥ १६४ ॥

लक्ष्य (प्रत्यक्ष) के जो प्रमाणत्व द्वारा अनुमानादि सजातीय हैं, वे व्यवच्छेद्य हैं। लक्ष्य व्यवच्छेद्य नहीं है, क्योंकि लक्ष्य का लक्ष्य सजातीय नहीं होता है, किसी का कोई अन्य सजातीय होता है, क्योंकि षष्ठी विभक्ति का अर्थरूप सम्बन्ध को भेद व्यवहितत्व (भेदापेक्षितत्त्व) होता है। उत्तर यह है कि यदि ऐसी बात है, तो लक्ष्य (प्रत्यक्ष) की अपेक्षा से (लक्ष्य से) भिन्न से भेद (व्यवच्छेद) रूप ही प्रत्यक्ष का लक्षण कहना चाहिये, प्रकृत में (भेद ज्ञान में) अनुपयोगी प्रमाणत्वादि द्वारा वर्णित साजात्य से कोई फल नहीं होता और यदि लक्षण के ज्ञान से प्रथम ही लक्ष्य से अन्यता लक्ष्य से भिन्न में अवगत (ज्ञात) हो गई (लक्ष्य से अन्य को अलक्ष्य समझा गया) तो लक्ष्य अर्थ को भी अन्य से भिन्नत्व अर्थात् (स्वभावतः) ज्ञात हो जाता है, इस प्रकार लक्षण ज्ञान से प्रथम ही लक्षण के प्रयोजन (व्यावृत्ति ज्ञान) के सिद्ध होते, लक्षण कथन को व्यर्थता ही होगी ॥ १६४ ॥

अस्तु वा विवक्षावैचित्रीवशात्कथमपीदृशमभिधानं, तथापि न तावदनेन लक्षणेनानवगतेनैव व्यवच्छिन्नप्रतीतिसम्भवः, अतिप्रसङ्गात्। नापि ज्ञातेन, दुरवधारणत्वात्। न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पत्तिः प्रत्यक्षा, अप्रत्यक्षविशेषणत्वात्। नापि कार्येण लिङ्गेन, तदनुपपत्त्या वा तदवगमः,

ताभ्यां सामान्यतः कारणमात्राक्षेपेण कारणगतानुगतरूपासिद्धावेकरूपलक्षणाऽसिद्धेः। 'कार्यस्यैकजात्यादेकजातीयकारणसिद्धिः? इति चेत्, तर्हि कार्यगतैकजात्यस्य पूर्वमवश्यप्रत्येतव्यत्वाङ्गीकारे तत एव सजातीयविजातीयव्यवच्छेदप्रतीतिरस्तु, कृतमनया पारम्पर्यकुसृष्ट्या ॥ १६५ ॥

विवक्षावैचित्र्यं='लक्ष्यभिन्नव्यवच्छेदकफलकत्वं समानाऽसमानजातीयव्यवच्छेदफलकत्वं वा लक्षणस्ये'त्यभिधानवैचित्र्यमित्यर्थः। दुरवधारणत्वमेवाह—न तावदिति। अप्रत्यक्षेति। इन्द्रियस्य तत्सन्निकर्षस्य वाऽप्रत्यक्षतया प्रत्यक्षेण तद्विशिष्टप्रतीत्यनुपपत्तेरित्यर्थः। ननु प्रत्यक्षस्येतरभिन्नत्वेन ज्ञानं लक्षणसाध्यमिति तदेव लक्षणे लिङ्गं, तदन्यथानुपपत्तिर्वा लक्षणज्ञापिकेत्यत आह—नापीति। यद्वा, साक्षात्कारिजातीयं ज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षं स्वकारणमनुमापयिष्यतीत्यत आह—नापीति। ताभ्यामिति। लिङ्गानुपपत्तिभ्यामित्यर्थः। साक्षात्त्वावच्छिन्नकार्यं प्रतीन्द्रियार्थसन्निकर्षत्वेनैव कारणतेति तदेव तेनानुमेयमिति शङ्कते—कार्यस्येति। तर्हि साक्षात्कारिज्ञानत्वमेव प्रत्यक्षलक्षणमस्तु, कृतमनुमितलक्षणेनेति परिहरति। तर्हीति ॥ १६५ ॥

या, घट से अन्यत्वरूप से अज्ञात पटादि से भी वस्तुतः भिन्न घट को जैसे घट का प्रत्यक्ष बोध कराता है, वैसे ही लक्ष्य से अन्यत्वरूप से अज्ञात भी अलक्ष्य से वस्तुतः भिन्न लक्ष्य का लक्षण बोधक होता है, इस प्रकार की विवक्षा की विचित्रता के बल से किसी प्रकार ऐसा कथन हो, अर्थात् लक्ष्यभिन्न से व्यावृत्ति = सजातीय एवं विजातीय से व्यावृत्तिरूपफल लक्षणकथन का हो। तो भी अज्ञात इस लक्षण से ही अलक्ष्य से व्यवच्छिन्न (व्यावृत्त) रूप से लक्ष्य की प्रतीति का सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान के बिना लक्षण व्यवच्छेदक हो (व्यावृत्त रूप से लक्ष्य का बोधक हो) तो सदा सब के प्रति सब का व्यवच्छेदक होगा, अतः इस अतिप्रसङ्ग से अनवगत लक्षण से व्यवच्छिन्न लक्ष्य की प्रतीति नहीं हो सकती है और ज्ञात उक्त लक्षण से भी प्रत्यक्ष लक्ष्य की व्यवच्छिन्न प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि वह लक्षण दुरवधारण (दुर्ज्ञेय) है, दुर्ज्ञेयता में कारण यह है कि गोलक से भिन्न इन्द्रिय और उस का अर्थ (विषय) के साथ सम्बन्ध की उत्पत्ति प्रत्यक्ष नहीं हो सकती, और प्रत्यक्ष का लक्षण इन्द्रियार्थसम्बन्धघटित (युक्त) है। लक्षणगत विशेषणरूप इन्द्रियार्थसम्बन्ध के अप्रत्यक्ष रहते विशिष्ट का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि लक्षण के कार्यरूप लिङ्ग से या उसकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से लक्षण का ज्ञान माना जाय, तो भी लक्षण का विशेषरूप से ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान और अर्थापत्ति से सामान्यरूप से कारणमात्र के आक्षेप (ज्ञान) होने से कारणगत अनुगत स्वरूप की असिद्धि रहते एकस्वरूप = लक्ष्यमात्र में व्यापक लक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष के लक्षण के कार्यरूप प्रत्यक्ष के ज्ञानगत एक जातीयतारूप अनुगत स्वरूप से एकजातीय कारण की सिद्धि (ज्ञान) होगी, तो कारणगत एक जातीयता के ज्ञान के लिए कार्यगत एक जातीयता के अवश्य ज्ञातव्यत्व के अङ्गीकार करने पर, उस लक्षण के कार्यगत एकजातियता के ज्ञान से ही सजातीय एवं विजातीय की व्यावृत्ति होने पर परम्परा की कुसृष्टि का कोई फल नहीं है। अर्थात् कार्यरूप प्रत्यक्ष ज्ञानगत साजात्य से कारणरूप लक्षणगत साजात्य की

अनुमिति और उससे लक्ष्य की सिद्धिरूप परम्परा कुसृष्टि (दुरुक्ति) का कोई फल नहीं है ॥ १६५ ॥

नन्वेतावतापि न प्रकृतलक्षणखण्डनं भवत्यव्याप्तेरतिव्याप्तेर्वाऽनुद्भावनात्। मैवम्, प्रथमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयतया वा लघोरुपायात्साध्यसिद्धौ भवन्त्यां चरमभावितयाऽवश्यानुष्ठेयत्वाभावेन च गुरावुपाये प्रवर्तमानस्य तवैवेदं दोषोद्भावनं प्रदीपे प्रदीपं प्रज्वाल्य तमोनाशाय यतमानस्येव पुंसः। नहि तस्य दीपान्तरस्य कश्चिद्दोषः, किन्तु तथाकारी पुरुष एव पर्यनुयोज्यः। सर्वसाधनसाधारणोऽयं दोषः यत्सम्भवदेवंविधलघूपायत्वं नाम, स्वरूपासिद्धिरिव सर्वप्रमाणानाम्। तस्मान्मा नाम भूदतिव्याप्त्यादिदोषः, सामान्यदोषादेवेदं लक्षणं दुष्टमिति ॥ १६६ ॥

लक्षणदूषणाय प्रवृत्तस्यान्याभिधानमप्रस्तुतमिति शङ्कते। 'नन्वि'ति। प्रथमभावित्वं = लक्षणात् पूर्वमेवोपस्थितत्वम्। अवश्यानुष्ठेयत्वं = लक्षणज्ञानार्थमवश्यानुसरणीयत्वम्। लक्षणदोष एवायं यत्सम्भवल्लघूपायत्वं त्वदकौशलस्थापनमुखेनोद्भाव्यते इति परिहारार्थः ॥ १६६ ॥

शंका है कि—इस पूर्वकथन से भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वरूप प्रकृत लक्षण का खण्डन नहीं होता है और आप लक्षण खण्डन के लिये प्रवृत्त हुए थे क्योंकि अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति आदि दोष के उद्भावन (प्रदर्शन) से लक्षण का खण्डन होता है, और आपने अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का उद्भावन नहीं किया है। उत्तर यह है कि कार्यगत एकरूपता की (साक्षात्कारित्वगत एकरूपता की) सिद्धि के विना लक्षणरूप कारणगत एकरूपता (अनुगत स्वरूपता) नहीं सिद्ध होती है, अतः लक्षण से पूर्वभाविता (वर्तमानता) से वा लक्षण के ज्ञान के लिए अवश्य अनुष्ठेय (स्वीकार्य) होने से लघु उपायरूप लक्षण के कार्यसाक्षात्कारित्व वैरूप्य के ज्ञान से प्रत्यक्ष की अन्य से व्यावृत्तिरूप कार्य की सिद्धि होते पीछे होने के कारण और अवश्य अनुष्ठेयत्व (स्वीकार्यता) के अभाव से गुरु उपाय में प्रवृत्त होने वाले आप से ही दोष का यह उद्भावन किया गया है। जैसे प्रदीप को प्रज्वलित करके प्रदीपविषयक तम के नाश के लिये यत्न करने वाले पुरुष के दोष का उद्भावन किया जाता है, वैसे लघु उपाय से सिद्ध व्यावृत्ति के लिये आपका यत्न (लक्षणकरण) है। वहाँ दीपान्तर का कोई दोष नहीं रहता है, किन्तु दीप से दीपान्तर को रचनेवाला पुरुष का दोष रहता है, अतः वही पर्यनुयोज्य, प्रष्टव्य होता है कि तुम क्यों ऐसा निरर्थक व्यवहार करते हो? और स्वरूपासिद्धि दोष के समान सब प्रमाणों का सर्वसाधारण यह दोष है, जो इस प्रकार के लघु उपाय के सम्भव रहते गुरु उपाय का स्वीकाररूप है। अर्थात् जहाँ लघु उपाय का सम्भव हो, वहाँ गुरु उपाय का ग्रहण सर्वत्र दोषरूप है। अतः अतिव्याप्ति आदि दोष नहीं हो, तो भी सामान्यदोष से यह लक्षण दुष्ट है ॥ १६६ ॥

एतेन द्वितीयोपि निरस्तः, साक्षात्कारित्वावगममन्तरेण तदवगमानुपपत्तेः; तदवगमाच्चास्य प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गः। अस्तु वाऽन्यदपि किञ्चिदिन्द्रियजत्वे लिङ्गं तथापि तदेव साक्षात्कारित्वाविनाभूततया प्रत्यक्षलक्षण-

मुपन्यस्यतां, सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वात्। नच तदवश्यं व्यापकं वक्तव्यं, लिङ्गस्य तद्व्याप्यत्वेनैवोपपत्तेः? इति चेन्न ॥ १६७ ॥

'साक्षात्त्वचिह्नोपदर्शनमि ति पक्षं दूषयति । 'एतेने'ति । साक्षात्कारित्वेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वमनुमेयं, तच्च ज्ञातं सत्साक्षात्कारित्वव्यञ्जकमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। यद्यपि साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षमेव तथापीन्द्रियजन्यत्वव्यङ्ग्यमेवेति भावः । नन्वर्थजत्वेनेन्द्रियजन्यत्वमनुमाय तेन साक्षात्त्वमनुमास्यते, इति नान्योन्याश्रय इत्यत आह । 'अस्तु वे ति। तथाचार्थजत्वमेव प्रत्यक्षत्वे लिङ्गमस्तु, व्याप्यव्याप्यस्य सुतरां व्याप्यत्वादिति किमिन्द्रियजन्यत्वेनेत्यर्थः। सन्निहितप्रतिपत्तिकत्वं = प्रथमोपस्थितत्वम्। अर्थजत्वस्येन्द्रियजत्वेनाविनाभावो गृहीतो, न तु साक्षात्त्वेनेति न वाच्यं, तुल्यसामग्रीकत्वादिति भावः। नन्विन्द्रियजत्वं सकलप्रत्यक्षव्यापकमिति तदेव साक्षात्कारित्वस्य लक्षणं, नत्विन्द्रियजत्वानुमापकं यल्लिङ्गं तल्लक्षणीभवितुमर्हति, लिङ्गस्य तद्व्याप्यमात्रस्यापि सम्भवेन प्रत्यक्षस्य लक्ष्यस्याव्यापकत्वादिति शङ्कते। नच तदवश्यमिति ॥ १६७ ॥

पूर्वोक्त खण्डनरीति से ही द्वितीय पक्ष भी निरस्त हो गया। द्वितीय पक्ष का स्वरूप यह है—साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) की अनुमिति के लिये लिङ्गप्रदर्शनार्थक इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादिरूप लक्षण है। यहाँ लिङ्ग भी ज्ञात होकर अनुमिति का हेतु होता है, और लक्षणगत इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्षयोग्य नहीं है, यह प्रथम कहा गया है। यदि साक्षात्कारित्वरूप कार्यात्मक हेतु (लिङ्ग) से इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्मक कारणरूप लक्षण का अनुमान ज्ञात करें, और ज्ञात लक्षण से साक्षात्कारित्व समझें तो अन्योन्याश्रय हो जाता है, क्योंकि साक्षात्कारित्व के ज्ञान बिना उस लक्षण का ज्ञान असिद्ध है, और उस लक्षण के ज्ञान से यदि साक्षात्कारित्व का ज्ञान होगा तो अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि इन्द्रियार्थसंयोगजत्व में प्रत्यक्ष के अयोग्य इन्द्रिय और उसके संयोग के होने से तद्विशिष्ट लक्षण का प्रत्यक्ष नहीं होता है, परन्तु प्रत्यक्षज्ञानगत (घटज्ञान) इत्यादि रूप अर्थजत्व प्रत्यक्ष रहता है, अतः अर्थजत्व से अपरोक्षव्यवहारहेतुज्ञानत्व से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व की अनुमिति करके उससे साक्षात्कारित्व की अनुमिति करने पर अन्योन्याश्रय नहीं हो सकता, तो कहा जाता है कि इस प्रकार अन्योन्याश्रय के वारण के लिये साक्षात्कारित्व से अर्थजत्व वा अपरोक्षव्यवहारहेतुज्ञानत्व कोई लिङ्ग इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व के ज्ञान के लिये हो, तो भी साक्षात्कारित्व के अविनाभूत (व्याप्य) होने के कारण साक्षात्कारित्व का वही सन्निहित (प्रथम) प्रतीतिवाला लक्षण कथन योग्य है, उस अर्थजत्व आदि को ही प्रत्यक्ष का लक्षण कहना चाहिये पश्चात् ज्ञात होने वाले को नहीं। यदि कहा जाय कि वह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व साक्षात्कारित्व का व्यापक लक्षण अवश्य वक्तव्य है। लक्षण लक्ष्य का व्यापक ही होता है, और साक्षात्कारित्व का व्याप्य अर्थजत्व वा अपरोक्षव्यवहारहेतुज्ञानत्व, तो इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व को व्याप्य साक्षात्कारित्व का व्याप्य होने से वह व्यापक लक्षणरूप से वक्तव्य नहीं है, किन्तु अनुमिति के हेतुरूप से वक्तव्य है, क्योंकि हेतु व्याप्य होता है, अतः वह अर्थजत्वादि व्यापक (लक्षण) अवश्य वक्तव्य नहीं है, और लिङ्ग (अर्थजत्वादि) की तो उस इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्व के व्याप्यत्व से ही सिद्धि होती है, यह कहना भी युक्त नहीं है ॥ १६७ ॥

यत्र लिङ्गमव्यापकत्वान्नास्ति, तत्रेन्द्रियजत्वस्य प्रमाणाभावात् प्रत्येतुमशक्यत्वेन कथं ततः साक्षात्कारित्वावगमः ?। यदा तु क्वचित्प्रत्यक्षजातीये एव प्रमाणाभावादिन्द्रियजत्वमनवधारणीयतया साक्षात्कारित्वव्यापकत्वेनानवगतमपि लक्षणं, तदा किमपराद्धं लिङ्गान्तरेणाव्यापकेन। अथ यत्र तदिन्द्रियजत्वे लिङ्गं नास्ति तत्र लिङ्गान्तरात्प्रत्येतव्यम् ?। तथापि तदेवास्तां साक्षात्कारित्वे लिङ्ग, कृतमिन्द्रियजत्वानुमानपूर्वकं तदनुमानकल्पनया। अथ तथालिङ्गद्वयं तत्प्रत्येकमव्यापकतया न लक्षणमिन्द्रियजत्वं तु तथात्वाल्लक्षणम् ? इति चेन्न, साक्षात्कारित्वानुमानस्य लक्षणप्रयोजनस्योभाभ्यामेव सिद्धेः, कृतं व्यापकेन तेन ॥ १६८ ॥

यत्र प्रत्यक्षभागे व्याप्यैकरूपेण तेन लिङ्गेन नेन्द्रियजत्वमनुमेयं तत्राव्याप्तिः स्यादिति परिहरति—'यत्रे'ति। तत्रापि प्रत्यक्षभागे लिङ्गान्तरेणेन्द्रियजत्वमनुमितमिति नाव्याप्तिरिति। शङ्कते 'अथेति। ताभ्यां लिङ्गाभ्यामाहत्य साक्षात्त्वमेवानुमीयतां किमिन्द्रियजत्वेनेति परिहरति। 'तथापी'ति। अनुगमाननुगमयोर्विनिगमकत्वमिहेति शङ्कते। 'अथेति। इदानीमाशयं स्फुटयति—'साक्षात्कारित्वे'ति। साक्षात्त्वप्रतीतिमात्रं लक्षणस्योद्देश्यं, तच्च जातमेवेत्यलमिन्द्रियजत्वानुमानेनेत्यर्थः॥ १६८ ॥

क्योंकि—लिङ्ग में व्याप्यत्व अवश्य रहता है व्यापकत्व नहीं, अतः पक्ष के एकदेशवृत्ति भी धूम अग्नि की अनुमिति का हेतु होता है। इसी प्रकार जहाँ अव्यापक होने से उपेक्षारूप तृणस्पर्शादि अर्थज ज्ञान में अपरोक्षव्यवहारहेतुज्ञानत्वरूप लिङ्ग नहीं है, वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व के प्रमाणाभाव से ज्ञान के अशक्य होने से (लिङ्गरूपप्रमाण के अभाव से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व के ज्ञान नहीं होने से) अज्ञात उस हेतु से साक्षात्कारित्व का ज्ञान कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा, और जब लिङ्गाभाव से जहाँ प्रत्यक्ष में ही इन्द्रियजत्व अज्ञात होते भी साक्षात्कारित्व के व्यापकरूप से अज्ञात होता हुआ भी साक्षात्कारित्व का लक्षण होता है, तो अव्यापक लिङ्ग (अर्थजत्व) ने क्या अपराध किया है कि वह लक्षण नहीं होगा। अर्थात् इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजत्व के ज्ञान का हेतुरूप से ज्ञात प्रथमोपस्थित व्याप्य भी अर्थजत्व ही लक्षण होगा, उससे अनुमेय नहीं। यदि कहा जाय कि अर्थजत्वादि रूप लिङ्ग जहाँ इन्द्रियजत्व में नहीं है वहाँ सविशेषार्थप्रधानत्वरूप लिङ्गान्तर से इन्द्रियजत्व प्रत्येतव्य है (अनुमेय है) और उससे साक्षात्कारित्व अनुमेय है। तो भी वह लिङ्गान्तर ही साक्षात्कारित्व का ही लिङ्ग हो, लिङ्गान्तर से इन्द्रियजत्व के अनुमानपूर्वक उस साक्षात्कारित्व के अनुमान की कल्पना का कोई फल नहीं है। यदि कहा जाय कि वे लिङ्ग दोनों अव्यापक होने से प्रत्येक (भिन्न २) लक्षण नहीं हो सकते हैं, और इन्द्रियजत्व तो तथात्व (व्यापकत्व) से लक्षण होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, प्रत्येक के अव्यापक होते भी प्रत्यक्ष व्यवहारहेतुज्ञानत्व (अर्थजत्व) और सविशेषार्थप्रधानत्व इन दोनों लिङ्गों से ही साक्षात्कारित्व के अनुमानरूप प्रयोजन की सिद्धि हो जाने से, उस व्यापक इन्द्रियजत्व के अनुमान का कोई फल नहीं है, लक्षण का लक्ष्यज्ञान ही फल होता है, वह प्रथम उपस्थित से हो जाने पर पश्चाद्भावी की आकाङ्क्षा नहीं करता॥ १६८ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान अव्यभिचारी होता हुआ प्रत्यक्ष होता है, इस लक्षण का व्यवहार फल है, इस तृतीय पक्ष का विचार है कि—

नापि तृतीयः। स ह्येवंरूपः, यद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजनितं तत् 'प्रत्यक्ष-मि'ति व्यवहर्त्तव्यमिति। अयमप्यर्थोऽनुपपन्नः, लक्षणस्य ज्ञातुमशक्य-त्वात्। साक्षात्कारित्वमेवास्तु व्यवहारनियमनिदानम्, अव्यवहितप्रतिपत्ति-कत्वादित्यावेदितम्। अत एव न चतुर्थः, कल्पनागौरवदोषश्चाधिकः। नापि पञ्चमः, तादृशस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्॥ १६९॥

व्यवहारसाधकं व्यतिरेकिलक्षणमिति खण्डयति—'नापी'ति। 'अव्यवहिते'ति। साक्षात्त्वेनेन्द्रियजत्वानुमानं, तेन च व्यवहारानुमानमिति परम्परा गौरवमित्यर्थः। अत-एवेति। अव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वादेवेत्यर्थः। कल्पनेति। साक्षात्कारित्वजात्यपेक्षया सखण्डस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वकल्पनायां गौरवमित्यर्थः। 'तादृश-स्ये'ति। तादृशस्य लक्षणफलस्य दर्शयितुमशक्यत्वादित्यर्थः॥ १६९॥

तृतीय पक्ष भी नहीं बन सकता है, इसका स्वरूप यह है कि यह जो इन्द्रियार्थसम्बन्ध-जन्य ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष शब्द से व्यवहार (कथन) के योग्य होता है, यहाँ यह अर्थ भी अनुपपन्न (अयुक्त) है क्योंकि इन्द्रियार्थसन्निकर्षयुक्त इस लक्षण के भी होने से पूर्वोक्त रीति से इसका ज्ञान होना अशक्य है। यदि साक्षात्कारित्वरूप अनुगत कार्य से इन्द्रियजत्व को समझें, और उसको व्यवहार का हेतु मानें, तो उससे उत्तम है कि प्रथम उपस्थित लघु स्वरूप वाला साक्षात्कारित्व ही प्रत्यक्षव्यवहार के नियम का हेतु माना जाय, क्योंकि उसमें अव्यवहित (सन्निहित) प्रतिपत्ति (ज्ञान) विषयत्व है, प्रथम ज्ञानविषयत्व से लघुत्व है, और अनुमेय इन्द्रियजत्व में गुरुत्व है। अतएव लक्षण के अज्ञान तथा अव्यवहितज्ञानविषयत्व के प्रत्यक्षकारित्व में होने ही से (प्रत्यक्षा-दिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थकत्व) भी इन्द्रियसन्निकर्षजत्वलक्षण को नहीं हो सकता, अतः चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं है, साक्षात्कारित्व से ही प्रत्यक्षादि शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त (प्रत्यक्षता) का ज्ञान होता है, और इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व में अनेक विशेषणयुक्तता पश्चात् उपस्थिति से कल्पनागौरव दोष अधिक है। पञ्चमकल्प दिखाने के अयोग्य होने से अयुक्त (अन्य किसी प्रयोजन के लिये लक्षण है) इतना कहने से लक्षण की सार्थकता नहीं सिद्ध हो सकती॥ १६९॥

एतेन 'भासमानाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजं प्रत्यक्षम'पि निरस्तम्। किञ्च, प्रमाणलक्षणोपसङ्गृहीतस्य कियतः सङ्ग्राहकं कियतश्च प्रतिक्षेपकं वक्त-व्यम्? प्रमाणलक्षणेन च व्यभिचारिणो निवृत्तिः प्रदर्श्यते, तथा सति यथा-श्रुतमिदमलक्षणं, व्यभिचार्यपि हि भासमानस्य सत्तादेराकारस्येन्द्रियसंयो-गादुत्पद्यते। अथ विशेषाभिप्रायेणेदं लक्षणं वाच्यं, तथाप्यसङ्गतिः। तथा-हि, किं कियन्मात्रभासमानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वं विवक्षितम्? उत यावद्भा-समानेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वम् आद्ये व्यभिचार्यव्यवच्छेदः, निर्विकल्पका-सङ्ग्रहश्च॥ १७०॥

एतेनेति। लक्षणफलानिर्देशेनेत्यर्थः। यद्वेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वस्य दुरवधारणत्वनेत्यर्थः। भ्रमे रजताद्याकारेण सम्प्रयोगाभावात्तद्व्यावृत्त्यर्थं 'भासमानेति। 'इदं सद्रजतमि'ति भ्रमस्यापि भासमानसत्ताकारेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वादतिव्याप्तिमाह—'किंचे'ति। ननु

सत्तादिर्भासमानोऽप्याकारो न विशेषस्तेन चाकारेणभासमानाकारेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वं विवक्षितमिति नातिव्याप्तिरित्याह । अथे'ति । विशेषाकारमेवादाय विकल्पयति— 'तथाही'ति । 'व्यभिचारी'ति । इदन्त्वलक्षणं विशेषाकारमादाय तथापि भ्रमेऽतिव्याप्तेः, संशये च वास्तवं प्रकारमादायातिव्याप्तेरित्यर्थः । निर्विकल्पके'ति । तत्र निष्प्रकारकतया भासमानस्याकारस्याभावादित्यर्थः । यद्वासविकल्पकोत्पत्तिकाले इव निर्विकल्पोत्पत्ति-काले प्रकारस्य भासमानत्वाभावादित्यर्थः ॥ १७० ॥

(एतेन) उक्त रीति से लक्षण के फल के अभाव से, तथा इन्द्रियसम्बन्धजन्यत्व के दुरवगमत्व से (भासमानाकार और इन्द्रिय के संप्रयोग (सम्बन्ध) जन्यज्ञान प्रत्यक्ष होता है) यह भी लक्षण निरस्त हो गया और प्रमाण के सामान्य लक्षण (यथार्थानुभवप्रमा और उसका करण प्रमाण होता है) से उपसंगृहीत (लक्षित) प्रत्यक्ष तथा अनुमिति आदि के ही कुछ प्रत्यक्ष अंश का संग्राहक (प्रत्यक्षप्रमामात्र का बोधक) कुछ अनुमिति आदि अंश का प्रतिक्षेपक (निवारक) यह प्रमाणविशेष का लक्षण वक्तव्य है। यहां प्रमाण के सामान्य लक्षण से व्यभिचारी (भ्रमज्ञान) की निवृत्ति प्रदर्शित कराई जाती है, अतः विशेष लक्षणों से भी व्यभिचारी ज्ञान की निवृत्ति अवश्य कर्तव्य होता है, क्योंकि सामान्य से अगृहीत विशेष नहीं होता है, उससे न्यून वृत्ति उसके अनुसार ही विशेष होता है। ऐसा नियम होने से यह अलक्षण (दुष्ट लक्षण) है, क्योंकि (यह सत् रजत है) इस प्रकार का व्यभिचारी ज्ञान भी सत्तायुक्त शुक्ति के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध जहाँ उत्पन्न होता है वहां भासमान सत्ता आकार के इन्द्रिय संयोग से उत्पन्न होता है, अतः इस लक्षण से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि सत्ता इदन्त्वादि सामा-न्याकार होते हैं और वे भ्रम में भी भासते ही हैं, और यह लक्षण विशेषाकार के अभिप्राय से वक्तव्य है, अतः शुक्ति में भासमान रजताकार के साथ संप्रयोगजन्यत्व भ्रमज्ञान के नहीं होने से उसकी व्यावृत्ति और प्रमा सत्यरजतादि ज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसा कहने पर लक्षण की असङ्गति (अयुक्तता) है। उसे दर्शाया जाता है कि— क्या कियत् (किञ्चित्) मात्रभासमान के साथ इन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्व विवक्षित है? अथवा यावत् (सम्पूर्ण) भासमान के साथ इन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्व विवक्षित है? यहां प्रथमपक्ष में व्यभिचारी ज्ञान की व्यावृत्ति नहीं होगी, क्योंकि यत्किञ्चित् भ्रम से भास-मान विशेष इदन्त्वांश के साथ इन्द्रिय संबन्ध से ही व्यभिचारी ज्ञान भी होता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति होगी और संशय में भी एक सत्यांश कोटि के ग्रहण द्वारा अतिव्याप्ति होगी और निर्विकल्पकज्ञान का असंग्रह होगा, क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान में वस्तुमात्र की प्रतीति होती है, और निर्विकल्प विभागरहित रहता है, अतः निर्विकल्प ज्ञान भासमान सर्वाकार के साथ इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न होता है, किञ्चि-दंश के साथ सम्बन्ध से नहीं, अतः असंग्रह होगा (अव्याप्ति होगी)। वस्तुतः भासमान आकार के अभाव से अव्याप्ति होगी, क्योंकि प्रकाररहित होने से आकर नहीं भासता है, यदि निष्प्रकारत्व ही आकार माना जाय तो भी निर्विकिल्पक ज्ञान की उत्पत्ति काल में सविकल्पक के समान प्रकार के नहीं भासने से अव्याप्ति होगी ॥ १७० ॥

नापि द्वितीयः, विकल्पासहत्वात् । तथाहि, किं भासमानताविशिष्टस्ये-न्द्रियसम्प्रयोगः ? उत भासमानतोपलक्षितस्य ? नाद्यः, पूर्वं भासमानत्वा-

भावात् कारणस्य च पूर्वभावित्वात्। द्वितीये लटोऽविवक्षितार्थत्वं वा? नाद्यः। तथाहि, 'यावद्भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजमपि भवति 'घटोयमि'ति विज्ञानं, न चात्मनि प्रत्यक्षम्, आत्मनस्तदीयाविषयत्वात्, प्रमाणस्य च विषयनियतत्वात्, यत्र प्रामाण्यं तत्रैव विषये तद्विशेषस्य प्रत्यक्षत्वस्य वक्तव्यत्वात्। अन्यथा पटास्तित्वे 'घटोऽयमि'ति प्रत्यक्षं प्रमाणयतः किमुत्तरम्? नन्विदमुत्तरं घटविज्ञानं न पटे प्रत्यक्षं, न हि तदिन्द्रियसन्निकर्षेणोत्पन्नमिति। तत्किमात्मेन्द्रियसन्निकर्षजं घटविज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षमेव॥ १७१॥

निर्विकल्पकमेवाधिकृत्याह। पूर्वमिति। ननु तत्रापि निर्विकल्पकेनैवभासमानतावैशिष्ट्यमस्तीत्यत आह। कारणस्येति। 'लट' इति। शानच्स्थानस्येत्यर्थः। यस्य भासमानस्येन्द्रियेण सन्निकर्षाद्यज्ज्ञानं जायते तत्तत्र प्रत्यक्षमिति विशेषपर्यवसानाय सामान्योक्तावनिष्टं तावदाह। 'यावदि'ति। ननु नेदमनिष्टमित्यत आह। 'आत्मन' इति। नन्वन्यविषयस्याप्यन्यत्र प्रत्यक्षत्वं स्यादित्यत आह—'अन्यथेतिघटप्रत्यक्षस्यात्मप्रत्यक्षतापादनाय लक्षणस्य विशेषपरतां पूर्वपक्षिणमङ्गीकारयति—'नन्विति। एवं स्थिते स्वाभिमतमापादनमाह। 'तत्किमि'ति॥ १७१॥

विकल्प (विचार) को नहीं सह सकने से दूसरा पक्ष (यावद् भासमानेन्द्रियसंप्रयोगजत्व पक्ष) भी नहीं बन सकता है। विकल्प यह है कि—क्या भासमानताविशिष्ट (युक्त) विषय का इन्द्रिय के साथ संप्रयोग (संबन्ध) विवक्षित है? या भासमानता से उपलक्षित का सम्बन्ध विवक्षित है? यहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता। क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति से प्रथम भासमानत्व का अभाव रहता है, और ज्ञानकारणरूप इन्द्रियसम्बन्ध को पूर्वकाल में सत्त्व रहता है। अतः भासमानता विशिष्ट से सम्बन्ध हो नहीं सकता। भासमानता से उपलक्षित विषय का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध कहें, तो अवर्तमान भी भासमानता उपलक्षण तो हो सकती है, परन्तु उपलक्षणरूप द्वितीय पक्ष में विचारना है कि भासमान इस पद में वर्तमानकालार्थक लट् स्थानीय शानच् का वर्तमानत्व अर्थ अविवक्षित है या विवक्षित? अर्थात् भासमानता वर्तमान जिसमें हो, उसी के साथ इन्द्रियसम्बन्ध से उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमारूप होता है, या वर्तमान नहीं रहते उससे उपलक्षित का ज्ञान प्रमा होता है। यहाँ अविवक्षितार्थतारूप आद्य पक्ष नहीं बन सकता। क्योंकि यावद् भासमानाकार के साथ इन्द्रियसंयोग से जायमान (उत्पन्न हुआ) भी (घटोऽयम्) यह घट है, ऐसा प्रत्यक्षज्ञान, भासमानाकार से उपलक्षित भी आत्मविषयक प्रत्यक्षस्वरूप नहीं होता। आत्मा ही को वह ज्ञान होता है, अतः आत्मा उस ज्ञान के विषय आकार से उपलक्षित है, इसलिये उसे आत्मविषयक होना चाहिये। यदि आत्मविषयक प्रत्यक्ष न हो तो घटविषयक प्रत्यक्ष नही होना चाहिये, परन्तु घट का प्रत्यक्ष होता हुआ आत्मा का प्रत्यक्षरूप वह ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि आत्मा उस ज्ञान का विषय नहीं होता है, प्रमाण को नियत विषयत्व रहता है, आत्मज्ञान के लिये मन प्रमाण है। जिस विषय में सामान्य प्रमाण की प्रमाणता रहती है, उसी विषय में प्रमाणविशेष प्रत्यक्ष की

प्रत्यक्षता वक्तव्य है, अन्यथा (घटविषयक ज्ञान को आत्मज्ञानरूप यदि माना जाय) तो घट की सत्ता में (घटोऽयम्) इस ज्ञान को यदि प्रमाण कहें, तो क्या उत्तर दिया जायगा ? यदि कहा जाय कि यह उत्तर दिया जा सकता है कि घटविज्ञान पटविषयक प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि पट के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध से वह ज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ है। परन्तु यह उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि वह आत्मा और इन्द्रिय (मन) के सम्बन्ध से उत्पन्न घटविज्ञान आत्मविषयक प्रत्यक्ष ही होता है ॥ १७१ ॥

अतः केवल इन्द्रियसन्निकर्षजन्यता के अभाव से उस घटविषयक ज्ञान के पटविषयताऽपादन का उत्तर उपलक्षण पक्ष में नहीं हो सकता और आकार की भासमानता में वर्तमानता भी अविवक्षा से कभी भासमान आकारवाला अन्य काल में ज्ञानान्तर का विषय हो सकता है, इत्यादि आशय के व्यञ्जन के लिये आगे कहा है कि—

कथमेवं स्यात्, आत्मेन्द्रियसन्निकर्षाद् घटज्ञानस्योत्पादेऽप्यात्मनोऽनवभासमानत्वाद्—इति चेन्न, 'भासमाने'त्यत्र लटोऽविवक्षितार्थत्वपक्षमाश्रित्येदं भवतोच्यते, इति स्मर्त्तव्यम्। अस्ति ह्यात्मनो भासमानत्वं कदाचित्केनचित्, अन्यथाऽप्रमेयत्वप्रसङ्गात्। उक्तलक्षणकं स्वविषये प्रत्यक्षं, न त्वन्यत्रापि ? इति चेन्न। स्वशब्देन यदि ज्ञानमात्रं विवक्षितं तदा स दोषस्तदवस्थः। अथ ज्ञानव्यक्तिरपेक्षिता तदा लक्ष्यस्वरूपस्यासाधारणतया तत्परित्यागेन लक्षणस्याऽन्यत्रापि गतत्वादतिव्याप्तिः, व्यक्त्यन्तरस्य लक्षणाश्रयस्यैकव्यक्त्यभिहितलक्ष्यीभूतासाधारणरूपत्वाभावात्। व्यक्त्यन्तरमपि लक्ष्यमेव, अलक्ष्ये च लक्षणस्य गमनादतिव्याप्तिः ? इति चेन्न ॥ १७२ ॥

भासमानत्वं विशेषणमपश्यतस्तवेदमापादनमिति शङ्कते—कथमेवमि'ति। लडर्थाऽविवक्षया भासमानत्वं विशेषणं त्वयैवापास्तमिति परिहरति। भासमानेति एतदनिष्टभयेनयल्लक्षणं विधेयं तत्रातिव्याप्तिरिति परिहाररहस्यम्। वस्तुतोऽन्यविषयकप्रत्यक्षस्यान्यत्र प्रामाण्यापादनमेव प्रघट्टकार्थः। आत्मप्रत्यक्षत्वस्य घटप्रत्यक्षेतिव्याप्तिर्घटानुमित्यादौ प्रत्यक्षलक्षणातिव्याप्तिर्वा न प्रघट्टकार्थः, उपसंहारविरोधात्। ननु स्वविषयकप्रत्यक्षस्यैव तल्लक्षणं, तथाचान्यविषयकप्रत्यक्षस्यान्यत्र प्रामाण्यापादनं न सम्भवतीत्याशङ्कते। उक्तलक्षणकमिति। स दोष इति। घटोऽयमिति ज्ञानमात्मनि प्रत्यक्षं स्यादित्ययं दोष इत्यर्थः। एकैक व्यक्तिर्यदि लक्ष्यते तदा व्यक्त्यन्तरातिव्याप्तिरित्याह—तदेति। अतिव्याप्तिमेव स्फुटयति—व्यक्त्यन्तरस्येति ॥ १७२ ॥

एवं (इस प्रकार) घटज्ञान आत्मप्रत्यक्ष कैसे होगा ? आत्मा और इन्द्रिय (मन) के सम्बन्ध से घटज्ञान के उत्पन्न होने पर भी आत्मा उस ज्ञान से भासता नहीं है, ऐसा कहना नहीं बन सकता, क्योंकि भासमान इस पद में लट् के अविवक्षितार्थत्वपक्ष का आश्रयण करके आप यह लक्षण कहते हैं। अतः वर्तमान प्रकाशमानता की आवश्यकता नहीं, कभी प्रकाशमानता होनी चाहिये, यह आपको याद रखना चाहिये, भूलना नहीं चाहिये, और आत्मा को कभी किसी से भासमानता (प्रकाशमानता) है ही, यदि सर्वथा अज्ञेय आत्मा हो, तो उसको अप्रमेयता की प्राप्ति होगी, और आत्मा

प्रमेय माना गया है। यदि कहा जाय कि उक्त लक्षणवाला (भासमानाकारेन्द्रियसंबन्ध-जन्य) ज्ञानस्वविषयविषयक प्रत्यक्ष होता है, अन्य विषयक नहीं, अतः घटज्ञान आत्म-विषयक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। तो यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि स्वशब्द से यदि ज्ञानमात्र विवक्षित होगा, तो आत्मा भी ज्ञान का विषय होता है, अतः घटज्ञान आत्मा का प्रत्यक्षरूप भी होगा। यदि स्वशब्द से ज्ञान व्यक्तिविशेष (अपेक्षित) विवक्षित है, तो प्रत्यक्षलक्षण को लक्ष्यस्वरूप व्यक्ति की असाधारणता से वह व्यक्तित्व किसी एक में रहेगा, और प्रत्यक्ष का लक्षण उस व्यक्तिमात्र में नहीं रह कर उसे त्याग कर अन्यत्र जायगा, तो अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जिस व्यक्त्यन्तर में लक्षण की प्राप्ति होगी उस लक्षणाश्रय व्यक्त्यन्तर को किसी एक व्यक्ति में कथित लक्ष्यस्वरूप असाधारण स्वरूपता के अभाव से वह प्राप्ति अतिव्याप्ति ही कही जायगी। यदि कहा जाय कि वह व्यक्त्यन्तर भी लक्ष्य ही है, वहाँ लक्षण की प्राप्ति अतिव्याप्ति नहीं कही जा सकती, अलक्ष्य में लक्षण के गमन से अतिव्याप्ति कही जाती है। परन्तु यह कथन युक्तियुक्त नहीं है ॥ १७२ ॥

यदेकत्रासाधारणस्वरूपं लक्ष्यत्वेन निरूप्यते भवता न तदन्यस्वरूपम्, अतः कथं 'तदपि लक्ष्यमि'त्यपिशब्देनानेकं साधारणीकृत्य समुच्चेतुं शक्यं, यदपि साधारणं रूपं तद्व्यक्त्यन्तरव्यवच्छेदकं स्वविषयपदं विशेषणं प्रक्षिपता भवतैवाऽसाधारणीकृतम्। स्वशब्दस्य ज्ञानमात्रार्थत्वे दोषस्योक्तत्वात्, स्वत्वस्य चानुगतस्वरूपस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अन्यथाऽन्यव्यक्तिविषयस्यान्यत्र तथात्वापत्तेः ॥ १७३ ॥

यदेकत्रेति। स्वपदमहिम्ना व्यक्तिविशेषमात्रोपस्थितौ 'व्यक्त्यन्तरमपि लक्ष्यमेवेति त्वदभिधानमतन्त्रमेवेत्यर्थः। दोषस्येति—घटप्रत्यक्षस्यात्मनि प्रामाण्यापादनं लक्षणस्येत्यर्थः। स्वत्वस्यचेति। स्वत्वमपि हि स्वमेव, अन्यथा तत्प्रत्यक्षानुग्रहस्तथाच स्वत्वे यदि तदेव स्वत्वं तदात्माश्रयः। स्वत्वान्तरं चेत्तदानवस्था, स्वत्वाख्यं च धर्मान्तरं नास्त्येवेत्यर्थः। ननु मा भूत्स्वत्वमनुगतं, किमत, इत्यत आह। अन्यथेति ॥ १७३ ॥

क्योंकि—जो एक व्यक्ति में असाधारणस्वरूप (तद्व्यक्ति-स्वविषयविषयकत्व) आप लक्ष्यरूप से निरूपित करते हैं, वह अन्य व्यक्ति का स्वरूप नहीं हो सकता, तो (तदपि लक्ष्यम्) इस प्रकार अपि शब्द से अनेक को साधारण (सामन्य लक्ष्य) बना कर कैसे समुच्चय (लक्ष्यरूप से संग्रह) कर सकते हैं? अर्थात् स्वपद के बल से व्यक्तिविशेषमात्र के ज्ञान होते, व्यक्त्यन्तर भी लक्ष्य हो सकता है, इस कथन से कुछ नहीं हो सकता। और जो भी प्रत्यक्ष ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व साधारणस्वरूप था उसको व्यक्त्यन्तर का व्यावर्तक (स्वविषयपद) रूप विशेषण का प्रक्षेप (प्रदान) करने वाले आपने ही असाधारण कर दिया है, अर्थात् विशेषयुक्त प्रत्यक्ष को लक्ष्य कहा है, अतः लक्ष्यतावच्छेदक प्रत्यक्षत्व नहीं रह गया है जिससे सब प्रत्यक्षव्यक्ति लक्ष्य हो सके। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिये स्वशब्द को ज्ञानमात्र अर्थवाला मानें तो प्रथम ही दोष कहा गया है कि घटज्ञान को आत्मविषय प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी, और स्वत्व को अनुगत मान कर अतिव्याप्ति कही गई है, वस्तुतः जाति वा उपाधिरूप अनुगत-

स्वत्व का निर्वचन करना अशक्य है, क्योंकि स्वत्व यदि जाति हो, तो न्यायमत में द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही जाति रहती है सामान्यादि में नहीं, अतः सामान्यादि प्रत्यक्ष के स्वविषय नहीं होने से उनमें अप्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी, और यदि स्वत्व उपाधिरूप हो, तो स्वत्वोपाधि से घटादि का प्रत्यक्ष होगा, इसी प्रकार स्वत्व का प्रत्यक्ष-स्वविषयत्व से होगा, तो स्वत्व में स्वत्व मानने पर आत्माश्रयादि प्राप्त होंगे, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में स्वत्व का अनुगतरूप से निर्वचन अशक्य है। और यदि स्वत्व ज्ञानमात्र का तत्तत् विषय अनुगत नहीं सिद्ध होता है, तो घट ज्ञानरूप अन्यव्यक्ति विषय के ज्ञान को अन्यत्र (आत्मा में) तथात्व (प्रत्यक्षप्रमात्व) प्राप्त होता है। घटज्ञान के विषय घट, घटत्व और तत् संसर्ग में अनुगत स्वत्व से आत्मत्वादिगत स्वत्व अन्य हो, तो स्वविषयविषयकज्ञान आत्मविषयक प्रत्यक्ष नहीं होगा, अन्यथा नहीं ॥ १७३ ॥

नापि द्वितीयः पक्षः, विकल्पासहत्वात्। किं सम्प्रयोगापेक्षया वर्त्तमानत्वम्? अथ यत्किञ्चिदपेक्षया। प्रथमे विशेषणत्वपक्षान्न विशेष इत्युक्तदोषापत्तिः। द्वितीये तु लटोऽविवक्षितार्थत्वमेव स्यात्, व्यवच्छेद्ययोर्भासितभासिष्यमाणयोरपि तदा भासमानत्वस्वीकारात्। इन्द्रियसंयोगानन्तरं भासमानत्वमपेक्षितम्, अतो विवक्षितार्थत्वम्? इति चेन्न। आत्मनोपीन्द्रियसंयोगानन्तरं भासमानत्वमस्ति। नहि स यदा मनसा गृह्यते तदा नेन्द्रियसंयोगानन्तरम्। नेन्द्रियसंयोगमात्रं विवक्षितं, किं नाम यदनन्तरं भासमानतोत्पत्तिः? इति चेन्न, तदनन्तरमपि भासमानतोत्पत्तेः। भासमानतान्तरं तत्, नत्विदं भासमानत्वम्? इति चेत् न, अव्याप्तिप्रसङ्गात्, एकभासनमात्रव्यवस्थितत्वाल्लक्षणस्य ॥ १७४ ॥

भासमानेत्यत्र लडर्थ विवक्षापक्षं दूषयति—नापीति। प्रथमे इति। निर्विकल्पके भासमानताविशिष्टेनेन्द्रियसंयोगजत्वाभावात् तदनुपग्रह इत्यर्थः। व्यवच्छेद्ययोरिति। ज्ञानान्तरे भासितस्य भासिष्यमाणस्यात्मन इन्द्रियसंयोगजे घटोयमिति ज्ञानेप्यात्मप्रत्यक्षत्वापत्तिरित्यर्थः। इन्द्रियेति। तच्च निर्विकल्पकेप्यस्तीति न तदनुग्रह इत्यर्थः। अविशेषितेन्द्रियसंयोगानन्तरं भासमानतया पूर्वदोषानुवृत्तिरित्याह—आत्मन इति। ननु भासमानतोत्पत्तिप्राक्कालत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षो विशेष्य इति शङ्कते—नेन्द्रियेति। विशेषकत्वेन यदभिमतं तदपि साधारणमेवेति परिहरति—तदनन्तरमिति। इदन्तया विशिष्यमाणं भासनं न साधारणमिति शङ्कते—'भासमानेति। इदन्तागर्भलक्षणमेकव्यक्तिविश्रान्तमित्यव्याप्तिरिति परिहरतिनेति ॥ १७४ ॥

भासमान इस पद में लट् का अर्थ (वर्तमानत्व) विवक्षित है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह भी विकल्प को नहीं सह सकता। विकल्प यह है कि क्या इन्द्रियसंयोग की अपेक्षा से वर्तमानत्व भासमानता में विवक्षित है? या इन्द्रिय सम्बन्धकाल में भासमानता रहनी चाहिये? अथवा यत्किञ्चित् (जिस किसी) की अपेक्षा से विवक्षित है? यहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, इन्द्रियसंयोग के काल में निर्विकल्पक ज्ञान नहीं रहने से कारणरूप संयोग के कार्यरूप ज्ञान से पूर्व वर्तमान होने

से उस समय ज्ञानमूलकभासमानता नहीं रहती है, अतः इस पक्ष के विशेषणपक्ष से विशेष (विलक्षण = भिन्न) नहीं होने से विशेषणपक्ष में उक्त ही दोष प्राप्त होगा। निर्विकल्पज्ञान भासमानतायुक्त इण्द्रियसम्बन्ध से नहीं होता है, अतः उसमें अव्याप्ति होगी। और दूसरे पक्ष में लट को अविवक्षितार्थवत्ता ही होगी, क्योंकि यत्किञ्चित् की अपेक्षा से वर्तमानत्व मानने पर, प्रत्यक्षज्ञान से प्रथम भासित (ज्ञात) और भासिष्यमाण (आगे भासित होने वाले) जो भासमान पद से व्यवच्छेद्य हैं, वे भी किसी की अपेक्षा से वर्तमान ही रहते हैं, अतः उनका व्यवच्छेद नहीं होगा, और भासित भासमानविषयक अनुमिति आदि में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। और उन्हें पूर्व पर काल में भासमानत्व का स्वीकार किया ही जाता है, अतः व्यवच्छेद्य नहीं हो सकते हैं। यदि कहा जाय की इन्द्रियसंयोग के अनन्तर भासमानत्व विवक्षित है, और भासित भासिष्यमाण इन्द्रियसंयोग के अनन्तर भासमान नहीं होते हैं, अतः उनकी व्यावृत्ति हो जायगी। क्योंकि प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रिय से प्रयोगान्तर ही अपेक्षित है, इसीसे लट् विवक्षितार्थत्व भी सिद्ध होता है, तो भी अतिप्रसङ्ग नहीं निवृत्त हो सकता। क्योंकि घटज्ञान के स्थान में आत्मा को इन्द्रिय (मन) के संयोग के अनन्तर भासमानता रहती है, जब मन से आत्मा गृहीत (ज्ञात) होती है, तब इन्द्रिय संयोग के अनन्तर नहीं गृहीत हो ऐसा नहीं कहा जा सकता, अतः घटज्ञान को आत्मप्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् सामान्यरूप से संयोगानन्तरता आत्मज्ञान में भी है। यदि कहा जाय कि इन्द्रियसंयोगमात्र नहीं विवक्षित है कि भासमान के साथ इन्द्रियसंप्रयोगजन्यज्ञान प्रत्यक्ष होता है किन्तु जिस इन्द्रिय के संप्रयोगान्तर भासमानता की उत्पत्ति होती है उससे इस इन्द्रिय के भासमानाकार के साथ सम्बन्धजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, ऐसी विवक्षा है, तो भी उक्त दोष ही है, क्योंकि घटभासमानता की उत्पत्ति के अनन्तर भी मनःसंयोग से अहमित्यादि ज्ञान से आत्मा में भासमानता की उत्पत्ति होती है, अतः भासमानता के बाद मनोजन्यघटज्ञान में आत्मप्रत्यक्षता की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि मन के सम्बन्ध से जो भासमानता उत्पन्न होती है, वह दूसरी होती है, चक्षुर्जन्य जो घट में भासमानता होती है, ऐसी वह नहीं होती, और घट की अपरोक्षता में घट की भासमानता अपेक्षित है। तब तो जिस इन्द्रिय संप्रयोगजन्य भासमानता उत्पन्न होती है तदनन्तर उस इन्द्रियसंप्रयोगजन्य उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण होगा, उसमें अव्याप्ति दोष प्राप्त होगा, क्योंकि एक भासमानमात्र से व्यवस्थितत्व लक्षण को सिद्ध होता है, अतः निर्विकल्पक से भासमान के बाद उत्पन्न सविकल्पक में प्रत्यक्षता होगी निर्विकल्पक में नहीं। तथा घटभासमानताजनक इन्द्रियसम्बन्धजन्य घटज्ञान में प्रत्यक्षता होगी पटज्ञान में नहीं, अर्थात् प्रतिज्ञानव्यक्ति भिन्न-भिन्न लक्षण होगा, प्रत्यक्षमात्र का अनुगत लक्षण नहीं होगा, और लक्षण अनुगम के लिये होता है, व्यक्तिमात्र के लिये नहीं ॥ १७४ ॥

अथ मन्यसे-यद्भानं यस्य विषयस्येन्द्रियसंयोगादुत्पन्नं तत्तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमिति निरुक्तौ न दोषः ? इति, मैवम्। यद्भासनं 'घटोऽयमिति' यस्य

विषयस्यात्मन इन्द्रियेण सह सन्निकर्षादुत्पन्नं तद्भासनं तस्मिन्नात्मनि प्रमाणं स्यात्। नात्मा तस्य विषयः, तत्कथमेवं स्यात्? इति चेत्, नहि भवता तदीयविषयस्येत्युक्तं, किन्तु सामान्यतो विषयस्येति, तेनेदमभिहितम्। यदि तु तदीयताविशेषणमुपादत्ते भवान् तदा यदि तच्छब्देन ज्ञानजातीयमात्रपरामर्शस्तदा स दोषस्तदवस्थः यदि तु ज्ञानव्यक्तिविशेषपरामर्शस्तदाऽव्यापकत्वं, प्रतिज्ञानं तच्छब्दार्थस्य भेदात्। नहि यत्त्वं तत्त्वं वा किञ्चिदनुगतं रूपमस्ति। अत एवात्मविषयत्वानुयोगवत् त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनि घटज्ञानस्य घटादौ प्रत्यक्षतया प्रामाण्यानुयोगो द्रष्टव्यः। तदर्थं यदिन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नमिति विशेषणप्रक्षेपेयत्तच्छब्दस्यासाधारण्यादव्याप्त्यापत्तेः। यदि तु यच्छब्दतच्छब्दार्थोनुगतः स्यात्, पुनरप्यन्यत्र घटोयामिति ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन प्रमाणता प्रसज्येत ॥ १७५ ॥

यत्तद्विषयशब्दानां साधारण्यात् पूर्वद्दोषानतिवृत्तिरेवेत्याह—मैवमिति। ननु घटप्रत्यक्षमात्मनि प्रमाणमेव, तस्य मितिमातृमेयात्मकपुटत्रयगोचरत्वादिति नेदमनिष्टं प्राभाकरनये, इत्यत आह अत एवेति। यत्तदादिसाधारणशब्दबलेन घटप्रत्यक्षस्य घटादौ प्रामाण्यं तन्मतेपि प्रसक्तमेवेत्यर्थः ॥ १७५ ॥

यदि मानें कि जो ज्ञान जिस विषय इन्द्रिय के संबन्ध से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। घटज्ञान आत्मेन्द्रिय सम्बन्ध से नहीं उत्पन्न होता है, अतः वह आत्मप्रत्यक्ष नहीं होता है, अत एव इस निर्वचन में दोष नहीं है। तो भी यह मन्तव्य दोषरहित नहीं है, क्योंकि (घटोऽयम्) यह घट है, ऐसा जो ज्ञान जिस आत्मरूप विषय और मनोरूप इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान आत्मा में प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होगा। यदि शंका हो कि (घटोऽयम्) इस ज्ञान का आत्मा विषय नहीं है तो वह इस प्रकार (आत्मा का प्रत्यक्षस्वरूप) कैसे होगा, तो उत्तर यह है कि (जो ज्ञान जिस ज्ञान के विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है) इस प्रकार ज्ञान के बिषय का निवेश आपने नहीं किया है, सामान्य विषय का निवेश किया है, अतः उक्त अतिव्याप्ति दोष होगा, यह कहा गया है। और यदि उस विशेषरूप ज्ञान विषयता का आप ग्रहण करते हैं कि (जो ज्ञान जिस ज्ञान के विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है इत्यादि) तो यदि तत् शब्द से ज्ञानजातीय (सामान्यज्ञान) मात्र का परामर्श (ग्रहण) रोता है, तो वह घटज्ञान को आत्मप्रत्यक्षत्वापत्ति पूर्वोक्त दोष ही ज्यों का त्यों है, क्योंकि सामान्य यत्तत् शब्द से आत्मज्ञान का भी ग्रहण हो सकता है। यदि यत्तत् शब्द से विशेषज्ञानव्यक्ति का परामर्श (ज्ञान) हो तो जिस व्यक्ति का परामर्श होगा, उसमें लक्षण की प्रवृत्ति स्थिति होगी, अन्य ज्ञानव्यक्ति में अव्याप्ति होगी, क्योंकि ज्ञान में तत् शब्द के अर्थ का भेद (तत्तद्व्यक्तिरूप) रहेगा। यदि यत्व वा तत्व कोई अनुगतधर्म हो, तो ज्ञानव्यक्तियों का उसधर्म से अनुगम (संग्रह) हो परन्तु वह यत्व तत्व कोई अनुगतरूप (आकार) नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष सब प्रत्यक्षज्ञान को, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीन की त्रिपुटी (समूह) विषयक मानने वाले प्रभाकरानुजायी घटज्ञान को आत्मप्रत्यक्षरूप मानते ही हैं, अतः

उनके मत में यह अनिष्ट नहीं है, तो कहा जाता है कि (अत एव) यत्तदादि साधारण शब्द के बल से ही घटज्ञान को नैयायिकादि मत में आत्मविषयकत्व का जैसे अनुयोग (संबन्ध) प्राप्त होता है, वैसे त्रिपुटी प्रत्यक्षवादी के मत में पटज्ञान को घटादि में प्रत्यक्षरूप से प्रामाण्य का अनुयोग (संबन्ध-अतिव्याप्ति) समझना चाहिये। क्योंकि भासमानेन्द्रियसंप्रयोगजत्व तुल्य है, परन्तु घटज्ञान जिस चक्षुसंबन्ध से उत्पन्न होता है उस सम्बन्ध का घट में अभाव रहता है, अतः पटज्ञानविषय घट को होना प्रकार मत में भी इष्ट नहीं है, घट पट दोनों के साथ नेत्र सम्बन्ध-जन्य पटज्ञानविषयत्व घट में होना तो इष्ट ही है। और यदि (तदर्थ) पटज्ञान को घटादिविषयकप्रामाण्य की अतिव्याप्ति का वारण के लिये (यदिन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्न) यह विशेषण दें कि (जिस इन्द्रिय के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उस विषय का प्रत्यक्षरूप होता है। और पटज्ञान घट का प्रत्यक्षरूप नहीं हो सकता है, घट और इन्द्रिय के सम्बन्ध से जो ज्ञान होगा वह घट का प्रत्यक्षस्वरूप होगा, अन्य नहीं। तो इस प्रकार यत् तत् शब्द के असाधारणार्थक होने से अव्याप्ति की प्राप्ति होगी और यदि यत् तत् शब्द का अर्थ अनुगत (साधारण) होगा, तो फिर घटज्ञान को अन्य विषय में प्रत्यक्षरूप से प्रमाणता की प्राप्ति होगी ॥ १७५ ॥

अथात्मव्यक्तिरिक्ते इति विशेषणं प्रक्षिपसि, आत्मविषयस्य प्रत्यक्षता न स्यात्। तच्चब्देनानुगतार्थाभिधाने व्यवच्छेदकत्वाभावाद् घटज्ञानस्य पटे प्रत्यक्षतया प्रामाण्यं प्रसज्येत। एतेन इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारि प्रत्यक्षमित्यत्रापि दोषोऽयमुक्तो द्रष्टव्यः, तादृशस्यापि ज्ञानस्य विषयान्तरे प्रत्यक्षत्वेन प्रामाण्यप्रसङ्गात् यस्यार्थस्य सन्निकर्षाद्यदुत्पद्यते तत्तत्र प्रत्यक्षतया प्रमाणम्? इत्यभिधाने तु यच्छब्दतच्छब्दसाधारणासाधारणार्थाभिधानविकल्पोक्तदोषप्रसङ्गः। अव्यभिचारिपदं च व्यर्थं, न हि शुक्तौ रजतज्ञानं रजतेन्द्रियसन्निकर्षादुत्पन्नम्। संस्कारलक्षणप्रत्यासत्ती रजतेप्यस्ति? इति चेन्न, रजतत्ववैशिष्ट्ये पुरोवर्तिनस्तदभावात् तस्मिन्नेवांशेऽप्रामाण्यं, नतु रजतत्वमात्रे, तस्यान्यत्र सत्त्वात् ॥ १७६ ॥

ननु यज्ज्ञानं यस्यात्मव्यतिरिक्तस्येन्द्रियेण संयोगादुत्पन्नं तज्ज्ञानं तत्र प्रत्यक्षमिति विवक्षिते न्यायमतेपि न दोष इत्याशङ्क्याह—अथेति। तदात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रत्यक्षमिति वा शङ्का। उभयमतसाधारणं परिहारान्तरमाह—तच्छब्देनेति। दोषोयमिति। अन्यप्रत्यक्षस्यान्यत्र प्रामाण्यापादनरूप इत्यर्थः। विकल्पेति। साधारण्येऽन्यप्रत्यक्षस्यान्यत्र प्रामाण्यम्। असाधारण्ये प्रत्यक्षान्तराननुग्रह इत्यर्थः। यत्पदतत्पदपूरणे दोषान्तरमाह। अव्यभिचारीति। संस्कारेति। अत एव नानुभूतमारोप्यते इत्यर्थः—यदारोप्यं न तत्र संस्कारो यत्र संस्कारो न तदारोप्यमिति न संस्कारस्तत्र प्रत्यासत्तिरिति परिहारार्थः ॥ १७६ ॥

यदि कहा जाय (जो ज्ञान जिस आत्मभिन्न के इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उस आत्मभिन्न का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार आत्मव्यतिरिक्त विशेषण देने से घटज्ञान को आत्मप्रत्यक्षता की प्राप्ति न्याय मत में भी

नहीं होगी, तो इस रीति से आत्मविषयक ज्ञान को भी प्रत्यक्षता नहीं होगी, और तत् शब्द से अनुगत (सामान्य) अर्थ को कहने पर व्यवच्छेदकत्व के अभाव से घटज्ञान को पटविषयकप्रत्यक्षरूप से प्रमाणता की प्राप्ति होगी। इस पूर्वोक्त रीति से (इन्द्रियार्थ-सम्बन्ध से उत्पन्न अव्यभिचारी (सत्यार्थविषयक) ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा होता है। इस लक्षण में भी उक्त दोष समझना चाहिये, क्योंकि इस लक्षणयुक्तज्ञान को भी विषयान्तर में प्रत्यक्षरूपसे प्रमाणता की प्राप्ति होती है। और जिस अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उस अर्थ में प्रत्यक्षरूप से प्रमाण होता है, ऐसा कहने पर तो यत्तत् शब्द से साधारण अर्थ असाधारण अर्थ के कथनरूप विकल्प द्वारा जो प्रथम दोष कहा गया है, उस उक्त दोष की प्राप्ति होती है, अर्थात् साधारण पक्ष में अतिव्याप्ति और असाधारण पक्ष में अव्याप्ति होती है। और अव्यभिचारिपद पद व्यर्थ है, शुक्ति में रजत का ज्ञान, रजत के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध से नहीं उत्पन्न होता है। अतः इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष विशेषण से ही उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। यदि कहा जाय कि (नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसंवेतपूर्वज्ञानजसंस्कारविषयत्व) रूप नेत्र का सम्बन्ध शुक्ति के साथ भ्रम की उत्पत्ति काल में रहता ही है, अतः सन्निकर्ष विशेषण से उक्त ज्ञान का वारण नहीं हो सकता, इसलिये अव्यभिचारिपद सार्थक है। तो यह कहना ठीक नहीं, रजत के साथ कथञ्चित् संस्कारात्मक ज्ञान लक्षणसम्बन्ध मान भी लिया जाय तो भी भ्रम काल में जो पुरोवर्ती (आगेस्थित) शुक्ति में रजतत्व की विशिष्टता (सम्बन्ध) भासती है, उस विषयक प्रथम के अनुभव के अभाव से संस्कार का भी अभाव रहता है। अतः उसी अंश में रजत भ्रम में अप्रमाणता रहती है, उसका सन्निकर्षविशेषण से ही वारण हो जाता है। और गुरुमत में रजतांश की स्मृति रहती है, अतः रजतत्वमात्र में अप्रमाणता नहीं रहती है, क्योंकि स्मृतिविषय रजत की अन्यत्र सत्ता रहती है। अन्यथा ख्यातिमत से भी अन्यत्र रजतत्व की सता रहती है, रजतत्व के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) मात्र ही मिथ्या भासता है ॥ १७६ ॥

अथ साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमुच्यते तदा साक्षात्कारिविभ्रमेपि प्रसङ्गः अथाऽव्यभिचारित्वविशेषितं तल्लक्षणमिति वा भेदाग्रहव्यतिरिक्त-विभ्रमाभावो वा इति चेन्न, विकल्पासहत्वात्। किमवगतमिदं लक्षणं फलहेतुः ? अनवगतं वा ? न तावच्चरमः, तदभिधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ; अभिधानस्य ज्ञानोत्पादोपयोगित्वात्, तस्य चानवगतस्यैव फलसाधकत्वाभ्युपगमात्। आद्ये किमन्यस्मादवगमः ? उत त्वदीयाल्लक्षणवाक्यात् ? यद्यन्यस्मात्, कृतममुना लक्षणाभिधानप्रयासेन, अभिधानस्यास्य ज्ञानोत्पादातिरिक्तप्रयोजनाभावात्, तस्य चान्यत एव सिद्धेः। अन्त्ये किं त्वदभिधानमाप्तोपदेशतया साक्षात्कारित्वं बोधयति ? उत लिङ्गादिभावेन ? न तावच्चरमः, त्वद्वचनस्य साक्षात्कारित्वाविनाभावादेर्दर्शयितुमशक्यत्वात्। नापि प्रथमः, वादिनं प्रति भवत आप्तत्वासिद्धेः। सिद्धौ हि प्रतिज्ञामात्रादेव साध्यसिद्धेर्हेत्वाद्यभिधानमनर्थकं सर्वत्र स्यात् ॥ १७७ ॥

योग्यव्यक्तिवृत्तितया सुग्रहं साधरणं च साक्षात्त्वमिति तदेव प्रत्यक्षलक्षणमिति

शङ्कते—अथेति । विभ्रमेप्यनुव्यवसायेन साक्षात्त्वप्रतीतेस्तत्रातिव्याप्तिमाह—तदेति । न्यायमते अप्रमात्वेन विशेष्यं, गुरुमतुते सर्वयाथार्थ्यादविशिष्टमेव लक्षणमिति शङ्कते—अथेति । फलेति । इतरव्यवच्छेदो व्यवहारो वा यत्फलं तद्धेतुरित्यर्थः । त्वद्वचनस्येति । त्वद्वचनं न साक्षात्कारित्वाविनाभूतं, न वा पक्षधर्म, इति तेन तदनुमानमनुपपन्नमित्यर्थः । भवत इति । लक्षणवादिन इत्यर्थः ॥ १७७ ॥

यदि साक्षात्कारित्व (वर्तमानरूप से विषयप्रकाशत्व) प्रत्यक्ष का लक्षण कहा जाय, तो प्रत्यक्ष भ्रम में अतिव्याप्ति होगी। यदि अव्यभिचारित्व विशेषण युक्त लक्षण किया जाय तो प्रमाकार मत में भेदाग्रह से अतिरिक्त भ्रम का अभाव ही है। अतः सब ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। इस मतमें अव्यभिचारी विशेषण की भी आवश्यकता नहीं है, और भी, यह लक्षण विकल्प को नहीं सह सकता, विकल्प (तर्क-प्रश्न) है कि क्या यह लक्षण (अवगत) ज्ञात होकर लक्ष्य का बोध और व्यवहाररूप फल का हेतु होता है ? या अनवगत (अज्ञात) रहते सत्ता मात्र से बोध एवं लक्ष्य की अलक्ष्य से व्यावृत्ति आदि फल का हेतु होता है। चरम (अन्तिम) अनवतलक्षण फल का हेतु हो यह पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि यदि अनवगत फल का हेतु हो, तो उसके अभिधान = कथन में व्यर्थता की प्राप्ति होगी। लक्षणादि कथन में ज्ञानोत्पादन से ही उपयोगिता (सफलता) होती है, और आप उस अनवगत लक्षण में ही फल साधकत्व मानते हैं, अतः उसका कथन व्यर्थ ही होगा। अवगत लक्षण फल का हेतु होता है, यह प्रथम पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि उस आद्य पक्ष में प्रश्न यह है कि वह लक्षण का ज्ञान अन्य किसी साधन से होता है ? या आप के लक्षणात्मक वाक्य से होता है ? यदि अन्य किसी से लक्षण का ज्ञान होता है, तो इस लक्षणवर्णनरूप प्रयास (यत्न) का कोई फल नहीं है। क्योंकि इस लक्षण वर्णन का ज्ञान की उत्पत्ति से अन्य फल है नहीं, और उस ज्ञान की अन्य से ही सिद्धि मानते हैं, अतः लक्षण वर्णन व्यर्थ होता है। यदि अन्त्य पक्ष मानें कि मेरे लक्षण वाक्य से लक्षण का ज्ञान होता है, तो आप से पूछा जाता है कि आपका वचन क्या आप्तोपदेशरूप से साक्षात्कारित्व का बोधक होता है ? या लिङ्ग, अर्थापत्ति आदि रूप से बोधक होता है ? यहाँ चरम (लिङ्गादिरूप से बोधकत्व) पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि आपके वचन को साक्षात्कारित्व के साथ अविनाभाव (सहचारनियम) साक्षात्कारित्व के बिना अनुपपत्ति आदि को दर्शाना अशक्य है, और इसके बिना अनुमिति आदि प्रमिति होती नहीं है। प्रथम पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि वादी के प्रति आप का असत्व सिद्ध (मान्य) नहीं है। और यदि वादी के प्रति लक्षणादि वक्ता के असत्व की सिद्धि हो, तो. इदमस्ति, इत्यादिप्रतिज्ञामात्र से सर्वत्र साध्य की सिद्धि होने से हेतु आदि का कथन अनर्थक ही होगा ॥ १७७ ॥

अथ मन्यसे यः साक्षात्कारित्वमन्यतो जानाति प्रत्यक्षव्यवहारनिदानतया च न जानातीति तं प्रति प्रत्यक्षव्यवहारनिदानत्वमस्य ज्ञाप्यते लक्षणवादिना, तच्चानुमानभावेनैव, नाप्तोपदेशतया, अत एव च लक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानमाचक्ष्महे; तद्यथा श्रावणादिप्रमितयः साक्षात्कारिप्रमितयो वा प्रत्यक्षत्वेन व्यवहर्त्तव्याः, साक्षात्कारिप्रमितित्वात् , न यत् प्रत्यक्षतया व्यव-

ह्रियते न तत् साक्षात्कारि यथाऽनुमितिः, तथा चैताः, तस्मात्तथा। एतदनुमानप्रतिपादकं च वाक्यं नाप्तवाक्यत्वेन प्रयुज्यते वादिना, किन्तु व्याप्त्यादेः प्रतिपन्नस्यैव स्मारकं पूर्वाप्रतिपन्नस्य वा जिज्ञासोत्पादनद्वारेणेदानीमेव वादिनि प्रमाणोत्पादकमित्युक्तदोषानवकाशः इति। न प्रत्यक्षतया व्यवहर्त्तव्याः इति व्यवहारस्य किं विषयभेदो विशेषः? उत शब्दभेदः? आद्ये, यद्यसौ विषयविशिष्टव्यवहारं नाज्ञासीत्, कथं साक्षात्कारिणि तस्य स्वकर्त्तव्यतां लक्षणवाक्यादध्यवगच्छेत्। नह्यविदिताग्निरनुमानादप्यग्निसंबन्धं बोधयितुं शक्यः॥ १७८॥

ननु लक्षणवाक्यमाप्तवाक्यत्वेन नोपयुज्यते, किन्तु परार्थानुमानत्वेन, तस्य च पूर्वानुभूतव्याप्तिस्मारकत्वं जिज्ञासोत्पादकत्वमात्रं वा फलं, तथा च नोक्तदोष इति शङ्कते—अथेति। विषयभेद इति। प्रत्यक्षत्वलक्षणो व्यवहारविषयः? प्रत्यक्षणशब्दाभिधेयत्वमात्रं वा व्यवहारविशेषः? इति विकल्पार्थः। व्यवहर्त्तव्या इतिप्रैषात् व्यवहारविशेषं तदा स्वकर्त्तव्यतयानुमापयेद्यसौ प्रतीतचरः स्यादन्यथा साध्याऽसिद्ध्या व्याप्त्यग्रह एवेत्याह—यद्यसाविति॥ १७८॥

यदि आप मानते हैं कि जो कोई साक्षात्कारित्व को अन्य हेतु (अनुव्यवसायादि) से जानता है, किन्तु प्रत्यक्षव्यवहार के निदान (कारण) रूप से नहीं जानता है, अतः उसके प्रति प्रत्यक्षव्यवहार के कारणत्वरूप से लक्षणवादी साक्षात्कारित्व को समझाता है, और इसे वह अनुमान द्वारा समझाता है, आप्तोपदेशद्वारा नहीं। और इसी से लक्षण को केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं, क्योंकि हेतु एवं साध्य कहीं ज्ञात नहीं रहते हैं। वह अनुमान ऐसा है कि—श्रावण त्वाच एवं चाक्षुषादि प्रमितियाँ, या साक्षात्कारिप्रमितियाँ, प्रत्यक्षरूप से व्यवहार के योग्य हैं, साक्षात्कारिप्रमितित्व से व्यवहार के योग्य है, जो प्रत्यक्षरूप से व्यवहृत नहीं होता है, वह साक्षात्कारिप्रमिति भी नहीं है, जैसे कि अनुमिति और ये साक्षात्कारिप्रमितियाँ तो साक्षात्कारिप्रमितित्वरूप हेतु युक्त हैं, अतः प्रत्यक्षरूप से व्यवहार के योग्य हैं। ये पांच—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनरूप अवयवयुक्त अनुमानप्रतिपादक वाक्य वादी से आप्त वाक्य (शब्द प्रमाण) रूप से प्रयुक्त (उच्चारित) नहीं हैं, किन्तु प्रथम से प्रतिपन्न (ज्ञात ही विस्मृत) व्याप्ति आदि का स्मारक, या प्रथम के अज्ञात व्याप्ति आदि की जिज्ञासा (ज्ञानेच्छा) के उत्पादन द्वारा इस वाक्य के प्रयोग काल में ही श्रोता वादि में व्याप्तिज्ञानरूप प्रमाण का उत्पादक वाक्य का प्रयोग किया जाता है। अतः उक्त दोष का अवकाश नहीं है। परन्तु यह नहीं माना जा सकता। क्योंकि व्यवहार शब्द का विषय ज्ञान और शब्द प्रयोग दोनों अर्थों में होता है, वहाँ व्यवहर्तव्य इस विधि से सामान्य व्यवहार का तो विधान नहीं है, क्योंकि साक्षात्कारिप्रमिति के व्यवहार का विधान है। वहाँ व्यवहार का विषयभेद (प्रत्यक्षत्वरूप व्यवहार का विषय ज्ञानभेद) विशेष (भेदक) है? अथवा शब्दभेद (प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वमात्र) विशेष है? अर्थात् प्रत्यक्षरूप से व्यवहर्तव्य है, इसे प्रत्यक्ष रूप से जानना चाहिये या प्रत्यक्ष शब्द से कहना चाहिये, इन दोनों में से किस की विधि है? यहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता,

क्योंकि यदि वह पुरुष प्रत्यक्षत्वयुक्त ज्ञान व्यवहार को प्रथम से नहीं जानता है, तो साक्षात्कारी ज्ञान में प्रत्यक्षत्वेन अप्रसिद्ध व्यवहार कर्तव्यता को लक्षणवाक्य से उक्त अनुमान द्वारा भी कैसे समझेगा ? क्योंकि जो प्रथम से अग्नि को नहीं जानता है, उसको परार्थ अनुमान से भी पक्ष में अग्नि सम्बन्ध को नहीं समझाया जा सकता है ॥ १७८ ॥

अथाऽज्ञासीत्, तदा ज्ञातज्ञापनवैयर्थ्यात् लक्षणरूपमनुमानं निष्प्रयोजनम्। अथ सामान्यतो जानात्यस्ति कश्चिद्विषयः प्रत्यक्षव्यवहारस्य, विशेषतस्तु न जानाति, तं प्रतीदमुच्यते ? न किं सामान्यतो निमित्तवत्तां व्यवहारमात्रस्य जानाति ? उत व्यवहारविशेषस्य ? आद्ये प्रकृतानुपयोगः, व्यवहारविशेषस्य चिन्त्यमानत्वात्। द्वितीये किंकृतोयं व्यवहारस्य विशेषः ? इति विकल्पितपक्षानुप्रवेशमन्तरेण न निस्तारः। एतेन सर्वस्यैव। लक्षणस्य स्वीकारः परासनीयः। तथाहि—

नाऽस्त्यापत्त्या प्रमामात्रात्ते तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः।
तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥ १७९ ॥

सिद्धसाधनमाह—तदेति। विषयविशेषाङ्कितव्यवहारकर्त्तव्यत्वे साध्ये सामान्यज्ञानम तन्त्रमित्याह—प्रकृतेति। अत्यापत्तिः अतिप्रसङ्गः, पटप्रमातोपि घटप्रसिद्धिलक्षणा। घटविशेषितप्रमातो घटसिद्धौ विशिष्टप्रविष्टात् घटादपि घटसिद्धिरित्यात्माश्रय इत्याह—तद्धिय इति ॥ १७९ ॥

यदि वह श्रोता प्रथम से ही प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वयुक्त व्यवहार को अन्य प्रमाण से जानता है कि अमुक शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान का वाचक है, या यह शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो ज्ञात को लक्षणरूप अनुमान से समझाना व्यर्थ है, उसके लिये लक्षण रूप अनुमान निष्फल है। यदि कहा जाय कि जो मनुष्य सामान्यरूप से जानता है कि प्रत्यक्ष व्यवहार (शब्द प्रयोग) का कोई विषय (अर्थ) है, परन्तु विशेषरूप से नहीं जानता है कि अमुक इसका विषय है, उसके प्रति यह अनुमान (लक्षण) कहा जाता है कि साक्षात्कारिप्रमितियाँ प्रत्यक्ष व्यवहार के विषय हैं, यह कथन भी नहीं बनता, क्योंकि श्रोता क्या व्यवहारमात्र को सामान्यरूप निमित्त (विषय) वाला जानता है ? अथवा व्यवहारविशेष (प्रत्यक्ष व्यवहार) को निमित्त वाला जानता है ? यहाँ प्रथम पक्ष में तो सामान्य व्यवहार की निमित्तवत्ता ज्ञान का प्रकृत में उपयोग (फल) नहीं है, क्योंकि व्यवहारविशेष (प्रत्यक्षव्यवहार) का विचार चल रहा है। द्वितीय पक्ष में व्यवहारविशेष को सामान्यरूप से यदि निमित्तवाला जानता है, तो उस व्यवहार में जो यह विशेष (भेद) है, वह किससे सिद्ध होता है ? किसी शब्द से ? या अर्थ से ही ? इस विकल्पित पक्ष के अनुप्रवेश के बिना निस्तार नही है। यहाँ प्रत्यक्ष व्यवहार का विशेष सहित ज्ञानविषयरूप विशेष (विशेषण) के ज्ञान के बिना हो नहीं सकता, अतः विषय सहित प्रत्यक्षव्यवहार को जानने वाले के प्रति उसके ज्ञान के लिये लक्षणरूप अनुमान निरर्थक है।

और इस वक्ष्यमाण रीति से सब लक्षण की स्वीकृति खण्डनीय है। यह देखिये—अत्यापत्ति (अतिव्याप्ति) होने के कारण लक्षणमूलक प्रमामात्र से तत्तदर्थस्वीकार के

योग्य नहीं है, क्योंकि प्रथम कहा गया है कि घटप्रमा को आत्मप्रत्यक्षत्वापत्ति होती है, तथा घटप्रमा को पटप्रत्यक्षत्वापत्ति होती है, यह अतिव्याप्ति है। और लक्षण द्वारा तद्बुद्धि (घट आदि लक्ष्य ज्ञान) से घट आदि की सिद्धि मानने पर घट आदि की सिद्धि में घट आदि के प्रवेश से आत्माश्रय की चिकित्सा (निवृत्ति) कौन करेगा ? भाव यह है कि लक्षण से जायमान प्रमामात्र से अर्थ के स्वीकार करने पर अतिव्याप्ति होती है, और लक्ष्यविशिष्ट प्रमा से अर्थ के स्वीकार से आत्माश्रय होता है, अतः लक्षण से प्रमा असाध्य है ॥ १७९ ॥

यदि कहा जाय कि तद्बुद्धित्व (लक्ष्यविशिष्टप्रमात्व) इसमें लक्ष्यविशेषण नहीं रहता है जिससे आत्माश्रय हो, किन्तु लक्ष्येन्द्रिय संयोगजन्य प्रमा ज्ञान में ही कोई धर्म रहता है, और उसका ज्ञान में अन्तर्भाव नहीं होने से आत्माश्रय नहीं होता है। ऐसी शंका करके उत्तर देते हैं कि—

अथान्यः स विशेषश्चेत्तद्धीत्वं कश्चिदिष्यते।
दत्तः साकारवादाय विष्टरः स्पष्टमेव तत् ॥ १८० ॥

ननु घटधीत्वमित्यत्र घटो न विशेषणं येनात्माश्रयः स्यादपि तु घटेन्द्रियसन्निकर्षजे ज्ञाने घटधीत्वं नाम स कश्चिद्विशेषो येन घटसिद्धिरिति शङ्कते—अथान्य इति। एवं सति घटोपि ज्ञानाकारप्रविष्टः स्यादिति वा, घटाकारकादाचित्कत्वाद्घटलक्षणविषयसिद्धिरिति वा, साकारवादाभ्युपगमः स्यादिति परिहरति—दत्त इति। तथाचापसिद्धान्त इति भावः ॥ १८० ॥

यदि वह तद्धित्व अन्य किसी विशेषरूप माना जाय, तो ज्ञान को ज्ञेय के साथ सम्बन्ध से तद्बुद्धित्व होता है, इस सिद्धान्त का त्याग होगा, और ज्ञान में ही विषयाकारता रूप धर्म होगा, इससे ज्ञान के साकारवाद बुद्धमत के लिये वह स्पष्ट ही आसन दिया जायगा। भाव यह है कि लक्ष्येन्द्रिय संयोगजन्यत्व यदि ज्ञान का धर्म होगा तो वह लक्ष्य ही ज्ञान में प्रविष्ट होकर ज्ञान का आकार बनेगा, और अभेद होने से ज्ञान अर्थाकार कहलायगा, फिर (अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतयाधियः) बुद्धि के निराकार होने से अर्थ से ही बुद्धि में भेद होता है, इस स्वसिद्धान्त का त्याग हो जायगा। और (सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः) साथ उपलब्धि के नियम से नील और उसके ज्ञान में अभेद है, इसमें बुद्धमत की प्राप्ति होगी ॥ १८० ॥

यदि कहा जाय कि ज्ञान का प्रकाशमात्र स्वभाव है, अतः तत्तत् बुद्धित्व उसमें स्वाभाविक नहीं है, किन्तु अर्थसम्बन्धाधीन औपाधिक तत्तत् बुद्धित्व ज्ञान में होता है, जैसे स्फटिक में लालिमा होती है, अतः ज्ञानगत विशेषधर्म के उत्पादन के लिये बाह्य वस्तु की आवश्यकता से बुद्धमत की प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि—

अर्थादुत्थास्नवोधर्म्मा नानुमात्वादयो यथा।
तद्धीत्वमपि तद्वत् स्यादित्यर्थोऽनर्थमाविशेत् ॥ १८१ ॥

ननु नार्थाधीनं घटधीत्वं, किन्त्वनुमितित्वादिवत्कारणान्तराधीनं, तथा च नाकारकादाचित्कत्वात् घटसिद्धिरिति न साकारवाद इत्याह—अर्थादिति। इति शब्दानन्तरं

'यदा, तदे'त्यध्याहार्यम् । अर्थो घटादिरनर्थं=सङ्कटं प्रविशेन्न सिद्ध्येदित्यर्थः । अर्थानधीनघटधीत्वस्यार्थं प्रत्यतन्त्रत्वादिति भावः ॥ १८१ ॥

जैसे अनुमितित्वादि परोक्ष ज्ञान के धर्म प्रत्यक्षार्थ से उत्पन्न होने वाले नहीं होते हैं, भूतभावी दूर वस्तु का भी ज्ञान परामर्शादि से होता है, वैसे ही यदि ज्ञानगत धर्म के उत्पादन मात्र के लिये बाह्यवस्तु की अपेक्षा है, तत्तत् बुद्धि की उत्पत्ति के लिये वस्तु की अपेक्षा नहीं है, तो घटादि अनर्थ संकट में प्राप्त होगा, तत्तत् प्रत्यक्ष ज्ञान से वर्तमान अर्थ नहीं सिद्ध होगा, लक्षण से वर्तमान लक्ष्य नहीं सिद्ध होगा, परामर्शादि से अनुमितित्वादि के समान इन्द्रियजन्यता से तद्बुद्धित्व, प्रत्यक्षत्वादि धर्म ज्ञान में होंगे, अर्थाधीन ज्ञान के नहीं होने से ज्ञान अर्थ का बोधक नहीं होगा ॥ १८१ ॥

सोऽपि वा धीविशेषः किं स्वीकार्य्यस्तद्धियं विना ?
एवं च सोपि सोपीति नान्तः सोपानधावने ॥ १८२ ॥

यद्यपि घटप्रमातोऽन्या न घटसिद्धिः, किन्तु घटप्रमैव स्वरूपमती घटसिद्धिस्तथापि विशेषाभावात्स, पटसिद्धिरेव किं न स्यादिति हृदयम् । यद्वा, अनेनैवाशुयेनाह—सोपीति । घटधीर्घटसिद्धिरिति तद्गोचरज्ञानान्तरनिर्वाह्यमिति तत्रतत्र प्रसङ्गेऽनवस्थेत्यर्थः॥ १८२ ॥

जिनके मत में ज्ञान स्वतः प्रकाश नहीं है, किन्तु अनुव्यवसाय से ज्ञान की सिद्धि होती है, उनके मत में वह बुद्धि विशेष भी तद्विषयक बुद्धयन्तर के बिना स्वीकार के योग्य नहीं है, फिर उस बुद्धि विषयक बुद्धि भी अन्य बुद्धि से स्वीकार योग्य होगी, इस प्रकार सोपानधावन (बुद्धिपरन्परा) में अन्त नहीं है (अनवस्था है)। तथा घटबुद्धि को प्रथम पटविषयकप्रत्यक्षत्व की प्राप्ति कही गई है, अतः घटबुद्धि मात्र से घट की ही सिद्धि नहीं हो सकती, अतः उसको घटमात्र विषयकत्व सिद्ध करने के लिये अन्य बुद्धि की (अनुमान का) अपेक्षा हो, तो वह भी अज्ञात होते साधक नहीं होगा, अन्य की अपेक्षा होने पर अनवस्था होगी इत्यादि ॥ १८२ ॥

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदस्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ? ॥ ३९ ॥ १८३ ॥

वस्तुगोचरधीव्यवहारयोः सर्वेषां लोकानां शास्त्राणां च सम्प्रतिपत्तिमात्रं विचारतस्तयोरुपपादनमशक्यमित्याह—समस्तेति ॥ १८३ ॥

शंका है कि—यदि उक्त रीति से लक्षण से बाह्यार्थबुद्धित्वादि की सिद्धि नहीं होती है, तो समस्त लोक लक्षणादि के बोधक शास्त्र के ऐकमत्य (सम्मति) को आश्रयण करके नाचते हुए (सदा प्रवृत्त भासमान) तत्तद् वस्तु की बुद्धि और व्यवहार की क्या गति (आश्रय) होगी ?) अयं घटः, घटमानय इत्यादि ज्ञान एवंव्यवहार लक्षणादि के बिना कैसे सिद्ध होंगे ॥ १८३ ॥

उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशकनीययोः ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवागतिस्तयोः ॥ ४० ॥ १८४ ॥

उत्तर यह है कि—तत्तत् मतों के द्वारा उपपादन (साधन) में अशक्य उन तत्तत् बुद्धि और व्यवहारों को अनिर्वचनीयवाद के पाद की सेवा गति है । अर्थात् खण्डित

(बाधित) होने से लक्षण बाह्यवस्तु उनकी बुद्धि एवं व्यवहारादि सर्वथा सत्य नहीं हैं, और प्रतीत होने से सर्वथा असत्यखपुष्पादि के समान नहीं है, अतः अनिर्वचनीय लक्षण प्रमाण प्रमेयादि से अनिर्वचनीय ही बुद्धि तथा व्यवहार भी होते हैं। इसी अभिप्राय से लक्षणादि का खण्डन किया जाता है, वस्तुतः लक्षणादि के स्वरूपाभाव बोधन के लिये नहीं ॥ १८४ ॥

प्रथम विकल्प यह था कि (साक्षात्कारिप्रमितयः प्रत्यक्षत्वेन व्यवहर्तव्याः) इस विधिवाक्यगत व्यवहार का विषय भेद विशेष है ? या शब्दभेदविशेष ? यहां प्रथम कल्प का खण्डन करके दूसरे कल्प का खण्डन करते हैं कि—

नापि द्वितीयः। तथाहि—अयमनुमानार्थः स्यात्, श्रावणादिप्रतिपत्तयः प्रत्यक्षशब्दाभिधेयाः साक्षात्कारित्वादिः, सोपि न। यद्यसाक्षात्कारिण्यनुमानादौ तच्छब्दाप्रयोगमात्रात् साक्षात्कारिणि तच्छब्दप्रयोगः क्रियते तर्हि शशविषाणजबगडदशादिशब्दप्रयोगोपि साक्षात्कारिणि कर्त्तव्य एवाविशेषात्। अथ जबगडदशादिशब्दाः सामान्यतोर्थवत्तया न प्रसिद्धाः, क्वचिद्प्रयोगात्; शशविषाणादिशब्दा असद्विषया एवेति प्रसिद्धाः, प्रत्यक्षादिशब्दास्तु सद्विषयवत्तया सामान्यतः सिद्धाः, प्रत्यक्षमस्तीत्यादिप्रयोगदर्शनाद्; इत्यस्तिविशेषः, इति चेन् मैवम्, एतेनापि विशेषेण चाक्षुषादिशब्दानामव्यवच्छेदात् तेषामपि साक्षात्कारिप्रमामात्रे प्रयोगप्रसङ्गः। साक्षात्कारित्वे सत्यपि श्रावणादौ चाक्षुषादिशब्दानामप्रयोगो, न त्वेवं प्रत्यक्षादिशब्दानामिति विशेषः? इति चेत् एवं तर्हि 'यत्र साक्षात्कारित्वं नास्ति तत्र प्रत्यक्षशब्दप्रयोगो नास्ति, यत्र साक्षात्कारित्वमस्ति तत्र सर्वत्रास्ती'ति यो जानीते तं प्रति लक्षणाभिधानमिति स्यात्। स च व्यवहारान्तरवदन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव वाच्यवाचकभावमवधारितवानिति व्यर्थं लक्षणम् ॥ १८५ ॥

अनुमानाद्यवाचकत्वं यदि प्रत्यक्षवाचकत्वे तन्त्रं, तत्राह—'तर्हीति। अथ सद्वाचकत्वे सत्यनुमानाद्यवाचकत्वं, तत्राह—एतेनापीति—चाक्षुषादिशब्दानामनुमानाद्यवाचकत्वे सति सद्वाचकत्वमस्तीति तेषामपि साक्षात्कारित्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन प्रत्यक्षवाचकत्वं स्यादित्यर्थः। चाक्षुषादिशब्दे साक्षात्वं न प्रवृत्तिनिमित्तं तस्मिन्सत्यपि श्रावणादिप्रतिपत्तौ तदप्रतिपत्तेरिति शङ्कते—साक्षादिति। एवं सत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तत्पदाभिधेयत्वसिद्धिरिति लक्षणोपन्यासप्रयासवैफल्यमिति परिहरति—एवमिति ॥ १८५ ॥

प्रत्यक्ष शब्द का वाच्यत्वमात्र व्यवहार का विशेष है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए—इस पक्ष में उक्त अनुमान का यह अर्थ (आकार) होगा कि—श्रावण, त्वाच एवं चाक्षुषादि प्रमितियाँ प्रत्यक्ष शब्द के वाच्य हैं, साक्षात्कारी होने से, जो प्रत्यक्ष शब्द का वाच्य नहीं है, वह साक्षात्कारी भी नहीं है, जैसे कि अनुमिति आदि। परन्तु यह अर्थ भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि असाक्षात्कारी अनुमानादि में (तत् शब्द) प्रत्यक्षशब्द के अप्रयोग मात्र से साक्षात्कारी श्रावणादि अर्थ में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो शशविषाण (शशशृङ्ग) जबगडदशआदि (अनर्थक) शब्दों का भी साक्षात्कारी अर्थ में प्रयोग कर्तव्य ही होगा, क्योंकि अनु-

मिति आदि में अप्रयोगरूपता तुल्य है, विशेष (भेद) नहीं है। यदि कहा जाय कि जबगड-दश आदि शब्द सामान्याकार से अर्थवत्ता स्वरूप से प्रसिद्ध नहीं हैं, क्योंकि इनका कहीं किसी अर्थ में वाचकरूप से प्रयोग नहीं होता है। और शशविषाणादि शब्द तो असत् (पदार्थाभाव) विषयक प्रसिद्ध ही हैं। और प्रत्यक्षादि शब्द तो सामान्यरूप से सद्-वस्तु विषयवत्ता (सद्वस्तु वाचक) रूप से सिद्ध है, क्योंकि (प्रत्यक्षमस्ति) प्रत्यक्ष है, इत्यादि प्रयोग देखा जाता है। अतः प्रत्यक्ष शब्द और उन शब्दों में यह विशेष है। अर्थात् सत् का वाचक होते अनुमानादि का वाचक नहीं होने से प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग साक्षात्कारीं अर्थ में होता है, असदर्थक अनर्थक का नहीं। तो यह कहना भी नहीं बनता क्योंकि इस विशेष से भी चाक्षुषादि शब्दों का व्यवच्छेद नहीं होता है, प्रत्यक्ष के प्रयोग स्थान में चाक्षुवादि शब्दों के प्रयोग की प्राप्ति होती है, निवृत्ति नहीं, क्योंकि ये भी सदर्थ के वाचक होते अनुमिति आदि के अवाचक हैं। अतः उनका भी साक्षात्कारी प्रमामात्र में प्रयोग प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि साक्षात्कारित्व होते भी श्रावणादि में चाक्षुषादि शब्दों का प्रयोग नहीं होता है (प्रयोग का अभाव रहता है) परन्तु प्रत्यक्षादि शब्दों का श्रावणादि में नहीं प्रयोग हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु श्रावणचाक्षु-षादि सब में प्रत्यक्षादि शब्दों का प्रयोग होता है, अतः प्रत्यक्षादि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त साक्षात्कारित्व है, चाक्षुषादि शब्दों का नहीं, यह विशेष (भेद) है। तब तो यह नियम सिद्ध हुआ कि जहाँ साक्षात्कारित्व नहीं है, वहाँ प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग नहीं होता है, और जहाँ साक्षात्कारित्व है, वहाँ सर्वत्र प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग होता है, इस अर्थ को जो जानता है, उसके प्रति लक्षण कहा जाता है, परन्तु वह जानने वाला तो घट पटादि शब्दों के समान (उनके व्यवहार के समान) अन्वय व्यतिरेक से ही वाच्य वाचकभाव के अवधारण (ज्ञान) वाला, वृद्धव्यवहारादि से सिद्ध रहता है। अतः उसके लिये लक्षण व्यर्थ है ॥ १८५ ॥

एतेनानुमित्यादिव्यवच्छिन्नतया व्यवहर्त्तव्यमित्युक्तानुमानसाध्यतया-भिधीयमानमपास्तं वेदितव्यम्। पूर्वप्रतिपन्नमेव वाच्यवाचकभावं लक्षणाभि-धानेन स्मार्यते? इति चेन्न, अवगतसमयस्य प्रत्यक्षशब्दादेव तत्स्मरण-सम्भवात् व्यर्थता लक्षणाभिधानस्य स्यात्। अवगतशब्दार्थसंबन्धः शब्दादेव स्मरन् यदि लक्षणेन स्मार्यते, तदा लक्षणवाक्यगतपदकदम्बार्थ-स्मरणार्थमपि लक्षणमभिधानीयमविशेषाद्, एवं तल्लक्षणवाक्येपीत्यपर्य-वसानं स्यात् ॥ १८६ ॥

एतेनेति। अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वेनेत्यर्थः। अवगतेति। शब्दान्तरवदित्यर्थः। ननु लक्षणाधीनं वाचकत्वस्मरणं प्रयोजकम्, नत्वन्यदित्यत आह—अवगतेति ॥ १८६ ॥

(एतेन) उक्त अन्वय व्यतिरेक से ही विधि निषेध सबका ज्ञान लोकव्यवहार द्वारा सिद्ध होने से, साक्षात्कारी ज्ञान अनुमिति आदि से व्यवच्छिन्न (भिन्न) रूप से व्यवहर्तव्य है (साक्षात्कारित्वात) साक्षात्कारित्वधर्मवत्ता से; यह अर्थ जो उक्त अनुमान से साध्यरूप से कहा जाता है, उसे भी निरस्त (खण्डित) समझना चाहिये। यदि

कहा जाय कि वृद्ध व्यवहारादि द्वारा प्रथम के प्रतिपन्न (ज्ञात) ही वाच्यवाचकभाव का लक्षण कथन के द्वारा पुरुष को स्मरण कराया जाता है, तो यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि जिसको वाच्यवाचकभाव संबन्ध रूप समय (संकेत) प्रथम से अवगत (ज्ञात) है, उसको प्रत्यक्ष, शब्दरूप सन्बन्धी के ज्ञान से ही प्रत्यक्षार्थ के स्मरण के सम्भव होने से उसके लिये लक्षण कथन की व्यर्थता होगी। शब्दार्थ के सम्बन्ध को जानने वाला वाचक शब्द से ही अर्थ का स्मरण करता हुआ, यदि लक्षण से स्मरण कराया जाता है, तो लक्षणवाक्यगत पदसमूह के अर्थों के स्मरण के लिये भी अविशेषता के कारण लक्षण वक्तव्य होंगे, फिर उनके लक्षण वाक्यगतपदों के अर्थों के लक्षण वक्तव्य होंगे, इस प्रकार से कहीं लक्षणाभिधान का पर्यवसान (अन्त) नहीं होगा (अनवस्था होगी) ॥ १८६ ॥

ननु प्रतिवादिनं प्रति लक्षणाभिधानं नार्थवत् , तेन वाद्याप्तभावानङ्गीकारात् , किन्तु शिष्यार्थं लक्षणमुच्यते शास्त्रे, स हि शास्त्रस्य कर्त्तारमाप्तमेव मन्यते, तस्माच्छिष्यं प्रत्याप्तवचनत्वेनैव लक्षणवाक्यमर्थं प्रतिपादयिष्यति गुरुणा गीयमानं, यस्त्वया साक्षात्कारिशब्दार्थः प्रतीतः स एव प्रत्यक्षशब्दार्थः ? इति चेन्मैवम् । यदि वादिनं प्रति न शास्त्रं किन्तु शिष्यं प्रति, तदा प्रतिज्ञामात्रादेवाप्तवचनात् शिष्यस्यार्थनिश्चयोत्पत्तेर्हेत्वाद्यभिधानमनर्थकमापन्नं शास्त्रे। अथ भवतु तत्प्रतिवादिनमपि प्रति शास्त्रे वाक्यं यत्र हेत्वाद्युपात्तं लक्षणवाक्यं तु शिष्यमेव प्रति प्रयोजकं, प्रतिपन्न शास्त्रकाराप्तभावम् इति मन्यसे, तदप्यनुपपन्नम् , शास्त्रान्तरसाध्यत्वाद स्यार्थस्य ॥ १८७ ॥

वादिनं प्रति भवत आप्तत्वासिद्धेरिति पूर्वोक्तं शङ्कते—नन्विति। शिष्यं प्रति लक्षणाभिधानप्रकारमाह—यस्त्वयेति। किन्त्विति। उपनिषन्न्यायेनोपदेशमात्रं शास्त्रमस्तु, किं लिङ्गाद्युपदर्शनेनेत्यर्थः। अस्यार्थस्येति। वाच्यवाचकत्वव्युत्पादनस्येत्यर्थः ॥ १८७ ॥

प्रथम कहा गया था कि वादी के प्रति आप का आप्तत्व असिद्ध है, अतः प्रकारान्तर से शंका है कि प्रतिवादी के प्रति यद्यपि लक्षण का वर्णन सार्थक नहीं है, क्योंकि वह वादी के आप्तत्व का अङ्गीकार नहीं करता है, तथापि शिष्य के लिये शास्त्र में लक्षण कहा जाता है, क्योंकि वह शिष्य तो शास्त्र कर्ता को आप्त (सत्य हित वक्ता) ही मानता है, अतः गुरु से गीयमान (वर्णित) लक्षणरूप वाक्य शिष्य के प्रति आप्तवचनरूप से अर्थ का ही प्रतिपादन करेगा कि जो आपने साक्षात्कारी शब्द का अर्थ समझा है, वही प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ है, परन्तु यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि यदि वादी के प्रति प्रतिवादरूप शास्त्र नहीं है। किन्तु शिष्यमात्र के प्रति उपदेशरूप है, तो आप्तवचनरूप प्रतिज्ञामात्र से ही शिष्य को अर्थ के निश्चय हो जाने से शास्त्र में हेतु दृष्टान्तादि का कथन अनर्थक ही सिद्ध) होगा। यदि मानें कि जहाँ शास्त्र में हेतु आदि उपात्त (गृहीत = वर्णित) है, वह वाक्य वादी के प्रति भी प्रतिवाद (उत्तर) रूप हो सकता है, परन्तु लक्षणरूप वाक्य तो उस शिष्य के ही प्रति प्रयोजक (बोधक) है। जो शास्त्रकार में

आप्तभाव (आप्तत्व) को प्रतिपन्न (निश्चय किया) है। तो यह मानना भी नहीं बन सकता। क्योंकि शिष्य के प्रति जो अर्थ आपका शास्त्र कहता है, वह शास्त्रान्तर (कोश) से साध्य है। यह दर्शन का विषय नहीं है। लक्षण से आप वाच्यवाचकभाव ही उक्त रीति से सिद्ध करते हैं और प्रत्यक्ष आदि शब्द के शक्ति को समझाते हैं, वह कोश व्याकरण का विषय है ॥ १८७ ॥

इसका प्रतिपादन इस प्रकार है—

अस्ति शास्त्रं समयस्य ग्राहकं मुनिभिः प्रणीतं नामलिङ्गानुशासन-व्याकरणादि। यदि च शास्त्रान्तरसाध्योऽर्थो भवदीयशास्त्रस्य, विषयस्तर्हि प्रकृतिप्रत्ययविभागेन साधनमपि शब्दानां कुतो न व्युत्पाद्य व्यवस्थाप्यते? लिङ्गं वा शब्दानां कुतो नाभिधीयते? तदज्ञानेऽपि पराजयो जायत एव। अथवाऽस्तु व्याकरणादिविषयं विहाय नामव्युत्पादनं कथमपि भवच्छास्त्र-विषयः, तदापि न्यूनतरत्वमस्मिन्विषये भवदीयशास्त्रस्य। बहूनि नामानि विद्यन्ते कोशान्तरवर्तीनि, कुतो न व्युत्पादितानीति। अथास्मिन् शास्त्रे येषांशब्दानामुपयोगस्तेषामनेन व्युत्पादनं, न सर्वेषाम्—इत्युच्यते तथापि यथैकवाक्यगतस्य पदस्य लक्षणव्युत्पादनम् एवं तल्लक्षणवाक्यगतपदस्या-पीत्यपर्यवसानमापतितं शास्त्रस्य, तत्तल्लक्षणवाक्यप्रयोगे एव तेषां पदानां शास्त्रे जातोपयोगत्वात् ॥ १८८ ॥

तदेवाह—अस्तीति ॥ १८८ ॥

नाम और लिङ्ग के अनुशासन (उपदेश) रूप व्याकरणादि शक्ति के ग्राहक मुनियों से प्रणीत शास्त्र प्रथम से विद्यमान हैं। यदि शास्त्रान्तर से साध्य (प्रतिपाद्य) ही अर्थ आप के शास्त्र का भी विषय (प्रतिपाद्य) है, तो शब्दों के प्रकृति (मूल स्वरूप) और प्रत्यय (आगन्तुक स्वरूप) के विभाग द्वारा उनके साधन का व्युत्पादन करके (रीति-बताकर) क्यों नहीं व्यवस्थित (निश्चय) कराते हैं? वा शब्दों के लिङ्गों का कथन क्यों नहीं करते हैं? क्योंकि प्रकृतिप्रत्ययलिङ्गादि के अज्ञान रहते भी शिष्य की वाद में पराजय होती ही है। अथवा प्रकृतिप्रत्यय के विभागादिरूप व्याकरणादि के विषय को छोड़ कर किसी प्रकार प्रत्यक्षादि नाम का ही व्युत्पादन (उनके शक्यार्थ का बोधन) आप के शास्त्र का विषय हो तो भी आपके शास्त्र की इस विषय में अतिन्यूनता ही है। क्योंकि कोशान्तर में वर्तमान बहुत नाम हैं, उनका व्युत्पादन आपने क्यों नहीं किया? यदि आप कहें कि इस न्यायशास्त्र में जिन शब्दों का उपयोग (फल) है, उनका ही व्युत्पादन इस शास्त्र से किया गया है, सब शब्द का नहीं, तो भी (अव्यभिचारि साक्षात्कारि ज्ञानं प्रत्यक्षम्) इस एकवाक्यगत प्रत्यक्ष एक पद के लक्षण का व्युत्पादन (अर्थनिर्वचन) करते हैं। इस प्रकार उस लक्षणगत साक्षात्कारी पद के लक्षण का व्युत्पादन (अर्थनिर्वचन) करना होगा। फिर उस निर्वचनगतपदों के अर्थ का निर्वचन आदि करना होगा, तो इस प्रकार शास्त्र का अपर्यवसान प्राप्त होगा (अनवस्था प्राप्त होगी)। यदि कहें कि पदान्तर के उपपादन का कोई उपयोग (फल) नहीं है, तो यह

नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तत्तत् लक्षणरूप वाक्यों के प्रयोग में ही उन उन पदों का शास्त्र में उपयोग हो चुका है ॥ ॥ १८८ ॥

सन्दिग्धवस्तु का ही निर्णय कर्तव्य होता है, जिससे संशय की निवृत्तिरूप फल होता है। प्रकृत (शास्त्र) में वादियों की विप्रतिपत्ति (विरुद्धवचनादि) से प्रत्यक्षादि पदार्थ ही सन्दिग्ध हैं। अतः उन्हीं का व्युत्पादन किया जाता है, अन्य का नहीं, इस आशय से शंका करके उसका वर्णन करते हैं कि—

अथ नानालक्षणप्रणेतॄणां वादिनां विप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिशब्दार्थ एव व्युत्पाद्यते संशयनिरासाय नान्योऽसंशयत्वात् इति मन्यसे, तथाप्यनुपपत्तिः। अस्ति हि वादीनामर्थे वाच्यताद्योत्यताविवादः, अस्ति च छिदुरादिपदानामर्थे कर्मकर्तृत्वाकर्मकर्तृत्वे विवादः, अस्ति च भावशब्दस्य स्वरूपसत्त्वसत्तासामान्याद्यर्थत्वे, अस्ति चाऽधिकरणशब्दार्थस्य पतनप्रतिबन्धकत्वसमवायित्यादौ, एवमन्यस्मिन्नपि बहौ पदार्थे जाग्रति विप्रतिपत्तयः तत्तल्लक्षणानि कस्मान्नोक्तानि? तदास्ताम् एकत्र विस्तराभिनिवेशः ॥१८९॥

वादिनामिति। वाशब्दादीनामित्यर्थः। अस्तीति। विदिभिदिच्छिदेः कुरजितिसूत्रविहितकुरच्प्रत्ययस्य कर्मकर्त्तरि कर्तरि मात्रे वाऽनुशासनमिति सन्देहः, प्रयोगद्वैविध्यदर्शनादित्यर्थः। यद्यपि यावतां पदार्थानां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुस्ते एव लक्षणतः परीज्ञातश्च शास्त्रे निरूपणीयाः, इति नायमुपालम्भो घटते, तथापि तदप्येतावतामेवेति न नियामकमिति भावः। एकत्रेति। प्रत्यक्षादिलक्षणमात्रे इत्यर्थः ॥ १८९ ॥

यदि मानें कि नाना लक्षणों के प्रणेता (रचयिता) वादियों की विप्रतिपत्ति से (प्रत्यक्षादि के लक्षणविषयक विवाद से) प्रत्यक्षादि के अर्थविषयकसंजातसंशयों की निवृत्ति के लिये प्रत्यक्षादि शब्दों के अर्थ का ही व्युत्पादन (निर्णय) किया जाता है, अन्य का नहीं, तो भी अनुपपत्ति है, क्योंकि प्रत्यक्षादि शब्द ही सन्दिग्धार्थक नहीं हैं, किन्तु च, वा, ह इत्यादि निपातों के अर्थों में भी वाच्यत्व एवं द्योतकत्व का विवाद है। छिदुर, भिदुर, विदुरादि पदों के अर्थ में भी कर्मकर्तृत्व एवं अकर्मकर्तृत्वविषयक विवाद है और भाव शब्द के (भवतीति भावः भवनं भावः) इस प्रकार वस्तु के स्वरूपसत्ता, या सत्तासामान्यादि अर्थविषयक विवाद है। और अधिकरणशब्दार्थ के पतनप्रतिबन्धकत्व, समवायित्व, संयोगित्व, आश्रयत्वादि अर्थविषयक विवाद है। इस प्रकार अन्य बहुत पदार्थ विषयक विप्रतिपत्तियों के प्रत्यक्ष वर्तमान रहते, उनके तत्तत् लक्षणों को आपने क्यों नहीं कहा? अतः उनके लक्षणों के बिना एक प्रत्यक्ष लक्षण के विस्तार में अभिनिवेश समाप्त हो (इसका कोई फल नहीं है) ॥ १८९ ॥

किञ्च तत्साक्षात्कारित्वम्। सविशेषार्थप्रकाशकत्वम्? इति चेन्न। सविशेषत्वस्योपलक्षणत्वेऽनुमानादिव्याप्तिः। विशेषणत्वे च यदि विशेषशृङ्खलाया विश्रान्तिस्तदाशेषविशेषस्य बोधे प्रत्यक्षलक्षणक्षीणत्वेनाऽऽमूलमप्रत्यक्षत्वापातः। यद्यविश्रान्तिस्तदा तादृशस्यैव व्याप्तिग्रहादनुमायामपि तादृशसिद्धिरिति साक्षात्कारित्वापत्तिः। अथाननुगमात्तत्र न तदनुमा, तर्हि तदनुगतप्रतीत्याद्यनुपपत्तिः। व्यक्तेरनुमानादसिद्ध्यापत्तेश्च ॥ १९० ॥

सविशेषत्वस्येति । सह विशेषेण रूपित्वादिना तार्णत्वाऽतार्णत्वादिना वा वर्त्तमानस्य वह्न्यादेरनुमानादिनापि प्रतीतेरतिव्याप्तिरित्यर्थः । विशेषेण सहैव भानं यदि विवक्षितं, तत्राह—विशेषणत्वे चेति। अनवस्थाभयेन यस्य विशेषस्य सविशेषत्वभानं नाभ्युपेयं तत्राप्रत्यक्षतया मूलपर्यन्तमप्रत्यक्षत्वं स्यात्, विशेषसाहित्येनाऽज्ञानादित्यर्थः । विश्रान्तिरिति । कश्चिद्विशेषो विशेषं विनाकृतोपि गृह्यते इत्यर्थः । अविश्रान्तिरिति । सर्वे विशेषाः स्वविशेषसाहित्येनैव भासन्ते इत्यभ्युपगमे व्याप्तिग्राहकप्रत्यक्षे यावद्विशेषभानम् इत्यनुमानेपि तज्ज्ञानादनुमितेः प्रत्यक्षत्वापत्तिरित्यर्थः । ननु तावतामनन्तविशेषाणां व्यापकतावच्छेदकैकरूपाभावादनुमितौ भानमनुपपन्नमिति न तत्रातिव्याप्तिरिति शङ्कते—अथेति । तर्हि तावतामनन्तविशेषाणामनुगतप्रतीतिव्यवहारौ न स्यातामेकरूपाभावादिति परिहरति—तर्हीति । किंच सामान्योपग्रहेण व्याप्तिग्रह इत्यनुमितौ सामान्यं भासमानं व्यक्तिमादायैव यथा भासते, तथा वह्निरप्यनुमितौ भासमानस्तावदनन्तविशेषमादायैवानुमितिःपर्यवस्येद्व्यक्तिभानं क्वापि न स्यादित्याह—व्यक्तेरिति ॥ १९० ॥

वस्तुतः साक्षात्कार, अपरोक्ष और प्रत्यक्ष इत्यादि शब्द एकारार्थ के वाचक हैं, परन्तु आप जो लक्षण में साक्षात्कारित्व का निवेश करते हैं, वह क्या है ? यदि घट के वर्तुलत्वादि, अग्नि के तृणजन्यत्वादि विशेषसहित घट, अग्नि आदि अर्थों के प्रकाशकत्व रूप साक्षात्कारित्व कहा जाय तो नहीं बन सकता क्योंकि विशेष को उपलक्षण (स्वरूपसत्ता मात्र से व्यावर्तक ज्ञान में अभासमान) मानें तो अनुमानादि में अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि स्वरूप से विद्यमान विशेष सहित अर्थ का ही अनुमिति आदि से भी प्रकाश होता है । यदि विशेषण हों तो जैसे विशेषसहित घटादि का प्रत्यक्ष साक्षात्कारी होता है, वैसे ही विशेषसहित ही विशेष का प्रत्यक्ष भी साक्षात्कारी होगा, फिर उस विशेष का साक्षात्कार भी ऐसा ही होगा, वहाँ इस प्रकार की शृङ्खला (प्रवाह-परम्परा) की यदि कहीं चल कर विश्रान्ति होगी, तो जिसमें विशेषान्तर नहीं होगा, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होगा, फिर उस विशेष के आश्रय पूर्वपूर्व विशेष के ज्ञान में प्रत्यक्षलक्षण के अभाव से मूल प्रत्यक्षपर्यन्त में अप्रत्यक्षता की प्राप्ति होगी । यदि विशेष की विश्रान्ति को नहीं मानें तो अनवस्था होगी ही और अनुमिति में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि अविश्रान्ति पक्ष में अन्य प्रत्यक्ष के समान व्याप्तिग्रहण काल में तादृश सब विशेषसहित ही साध्य की साधन (हेतु) में व्याप्ति गृहीत होगी, अतः सबविशेषसहित हेतु के पक्ष में दर्शन से सबविशेषसहित ही साध्य को अनुमिति होगी । अनुमिति में तादृश (सब विशेष सहित ही सिद्धि) होगी । यदि कहा जाय कि अनन्त विशेषों में व्यापक अनुगमक (अवच्छेदक) एक धर्म के अभाव से उस अनुमिति में उन विशेषों की अनुमिति नहीं होती है, अतः प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति भी नहीं होती, तो उन अनन्त विशेषों में एक रूप के अभाव से उनके अनुगत प्रतीति और व्यवहार भी नहीं होंगे । तथा अननुगम से यदि विशेषों का अनुमिति में प्रकाश नहीं होता, तो विशेषवाले व्यापक अग्नि आदि की प्रतीति एवं अग्नि के अर्थी की प्रवृत्ति भी नहीं होगी । और अनुमान से अग्नि आदि व्यक्ति की सिद्धि भी नहीं होगी, क्योंकि व्यक्ति अनेक विशेषयुक्त हैं, व्याप्तिज्ञान विशेषयुक्त में प्रत्यक्ष से गृहीत हुआ है, और विशेषयुक्त का यदि अनुमिति से प्रकाश नहीं होता, तो विशेष की सिद्धि के बिना व्यक्ति की सिद्धि

भी नहीं होगी, जिस ज्ञान में जो प्रकाशता है, उस ज्ञान से उस अर्थ की सिद्धि कही जाति है, अन्य की नहीं॥ १९० ॥

यद्यपि अनुमान से सामान्य अग्नि आदि का ही प्रकाश होता है, तथापि विशेष के बिना सामान्य की अनुपपत्ति (असिद्धि) से अनुमान से सिद्ध होता हुआ सामान्य ही विशेष व्यक्ति का आक्षेप करता है जिससे व्यक्ति की सिद्धि होती है, अतः व्यक्ति का असिद्धिरूप दोष नहीं है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि—

यथा हि व्यक्तिं विना सामान्यस्य, तथा तावन्तं विशेषं विना व्यक्तेरप्यनुपपत्तावविशेषात् । यदि च प्रतीत्यपर्यवसानाभावात्पक्षधर्मतया नानन्तविशेषसिद्धिरिति मन्यसे, तदा प्रतीतापर्यवसानात्तद्बुद्धिः साक्षात्प्रकाशः स्यात् । अप्रतिपद्यमानानन्तविशेषप्रकाशकल्पनाच्चैकाकिसाक्षात्त्वनामकविशेषकल्पनैवाल्पत्वाच्छ्रेयसितरा, साक्षात्कारित्वव्यवहारानुपपत्तेः (कल्पनाबीजस्य) तावतापि चरितार्थत्वात् , इति कृत्वा तत्कल्पनापि नाऽत एव । विस्तरश्चात्र वक्ष्यते ॥ १९१ ॥

एतदेवाह—यथा हीति । सामान्यस्यानुपपत्तिरिति संबन्धः । व्यक्तेरिति । अनुमितौ भासमानाया वह्न्यादिव्यक्तेरित्यर्थः । ननु व्यक्तिमनादाय सामान्यबुद्धेर्यथाऽपर्यवसानं न तथा तावदनन्तविशेषमनादाय वह्न्यादिव्यक्तिबुद्धेरपर्य्यवसानं, तावद्विशेषमनादायापि व्यक्तिबुद्धेर्दर्शनादित्यत आह—यदि चेति । एवमपि प्रतीता वह्निव्यक्तिस्तावदनन्तविशेषमन्तरेण न पर्यवस्यतीति तदनुमित्यनन्तरभाविन्यर्थबलायाते ज्ञानान्तरे प्रत्यक्षलक्षणातिव्याप्तिः स्यादित्यर्थः । किञ्च, तावदनन्तविशेषभानमनुपलब्धिबाधितमित्यवश्यनिर्वाह्यसाक्षात्त्वव्यवहारानुरोधाद्विषयगतं साक्षात्त्वसामान्यमभ्युपगम्यतां, यद्विषयीकुर्वद्विज्ञानं साक्षात्कारि व्यवह्रियते इत्याह—अप्रतिपद्यमानेति । एकाकित्वमल्पत्वं च लाघवानुरोधादुक्तम् । नन्वस्तु तथा को दोषः ? इत्यत आह—तत्कल्पनापीति । अत एवेति । विषयगतसाक्षात्त्वविषयकानुमितावतिव्याप्तिदोषादेवेत्यर्थः । ननु ज्ञानगतमेव साक्षात्त्वमस्तु, तदेव च लक्षणमित्यत आह—विस्तरश्चेति ॥ १९१ ॥

जैसे व्यक्ति की प्रतीति के बिना सामान्य की प्रतीति की अनुपपत्ति है, वैसे यदि व्यक्ति अनन्त विशेष वाली है, अनन्त विशेषवाली व्यक्ति में ही व्याप्ति गृहीत हुई है, तो तावत् विशेष के बिना (अनन्त) व्यक्तिज्ञान की अनुपपत्ति में अविशेष (तुल्यता) है, अतः विशेष के बिना सामान्य की अनुमिति से व्यक्ति का जैसे आक्षेप होगा, वैसे व्यक्ति से विशेषों के आक्षेप होने से अनुमिति में प्रत्यक्षत्वापत्ति होगी । यदि कहा जाय कि व्यक्ति विशेष के बिना सामान्य ज्ञान का पर्यवसान (अन्त = पूर्णता) नहीं होता है, अतः सामान्य से विशेषव्यक्ति का आक्षेप होता है । और व्यक्तिज्ञान को अनन्त विशेष के बिना पर्यवसान (अन्त) का अभाव नहीं रहता है, अनन्त विशेष के बिना भी पक्ष में साध्य व्यक्ति का पूर्ण ज्ञान होता है । अतः पक्षधर्मता (पक्षवृत्तित्व) रूप से विशेष की सिद्धि (अनुमिति) नहीं होने से अनुमिति में प्रत्यक्षत्वापत्ति नहीं होती, तो यह कहना (मानना) भी नहीं बन सकता क्योंकि इस प्रकार भी अनुमिति के व्यक्तिविषयक होने पर भी व्यक्ति के अनन्त विशेष के बिना पर्यवसान (पूर्ण) नहीं होने से अर्थापत्ति से अनन्त विशेषसहित व्यक्ति का ज्ञान होगा और उसमें

प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् अनुमिति में प्रतीत (भासित) व्यक्ति के अपर्यवसान से, व्यक्ति प्रतीति के अपर्यवसान के अभाव रहते भी अनुपपत्ति से अनन्त विशेष का प्रकाश होगा, जिससे अनुमिति भी साक्षात्कारस्वरूप हो जायगी। और वस्तुतः अनुपलभ्यमान अनन्तविशेष के प्रकाश (ज्ञान) की वस्तुप्रत्यक्षता के लिये कल्पना करने की अपेक्षा व्यवहार के अनुसार वस्तुगत एक साक्षात्त्व नामक विशेष की कल्पना ही अल्प (लघु) होने से श्रेयस्कर (अतिशुभ) है। यदि कहा जाय कि साक्षात्कारित्वव्यवहारानुपपत्ति से विशेष की कल्पना की जाती है, तो कहा जाता है कि साक्षात्कारित्वव्यवहार की अनुपपत्तिरूप जो विशेष की कल्पना का बीज (हेतु) है, वह भी तावता (साक्षात्त्व की कल्पना) से ही चरितार्थ (सफल) हो जाता है, परन्तु विषयगत साक्षात्त्व की भी कल्पना करने पर, और तद्विषयक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर, पूर्वरीति से व्याप्तिग्रहण काल में साक्षात्त्वधर्मयुक्त साध्य की हेतु में व्याप्तिग्रहण के कारण पक्ष में साक्षात्त्व युक्त साध्य की अनुमिति में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी। विषयगत साक्षात्त्वविषयक अनुमिति में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति से, निश्चय करके साक्षात्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, किन्तु अनिर्वाच्य साक्षात्त्व का व्यवहार होता है। इस विषय में आगे विस्तार से कहेंगे—अर्थात् ज्ञानगत साक्षात्त्व की मानसवेद्यता आदि के असम्भवादि को दर्शायेंगे ॥ १९१ ॥

(सविशेषार्थप्रकाशकत्व) इस लक्षण की अतिव्याप्ति को दर्शा कर, अव्याप्तिदर्शाने के लिये भूमिका रचते हैं कि—

विशेषश्च यदिव्यवच्छेदस्तदा निर्विकल्पकाऽव्याप्तिः। यदि च तदितरविश्वव्यावृत्तस्वरूपप्रकाशः, सोपि तथा तदा दूरात्सामान्यप्रत्यक्षस्याप्रत्यक्षत्वापत्तिः। तन्न, जगद्वैलक्षण्यप्रकाशे संशयाद्यनुपपत्तेः। यदि च तत्रापि प्रतिपत्त्रादिव्यवच्छेदमात्रप्रकाशाद्विशेषप्रकाशत्वमेव, तदाऽनुमित्यादिव्याप्तिः। अथेन्द्रियकरणकानुभवत्वं, तत्र 'साक्षात्कारिधीकरणत्वस्यैवेन्द्रियत्वेनान्योन्याश्रयत्वापत्तिरिति केचित्। तन्न, अज्ञातप्रमाकरणत्वस्य भावत्वविशेषितस्य चेन्द्रियत्वनिरुक्तेः सम्भवात्। विना कार्यगतविशेषसिद्धिं, किं प्रति करणत्वमेव ज्ञेयमिति तु बाधः साधीयान्। एतेन 'ज्ञातता काचिद्विलक्षणा, तज्जनकत्वं ज्ञानस्य साक्षात्त्वम्'—इत्यपि निरस्तम् ॥ १९२ ॥

सविशेषार्थप्रकाशत्वमित्यत्र विशेषपदं विकल्प्य दोषमाह—विशेषश्चेति। निर्विकल्पके विशेषस्यातद्व्यावृत्तेरभानात्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। ननु व्यवच्छिन्नभानमभिमतं, न तु व्यवच्छित्तिभानमित्यत आह—यदि चेति। सोपीति। निर्विकल्पकविषयोपीत्यर्थः। तदा दूरादिति। यदि धर्मिमात्रमपि विशेषो वस्तुमात्रं वा विशेषस्तदा धर्मिदर्शनं विशेषदर्शनम्, अतस्तत्र संशयो न स्यादित्यर्थः। ननु सकलव्यवच्छिन्नप्रकाशो न लक्षणं, किन्तु व्यवच्छिन्नप्रकाशमात्रं, तच्च दूरप्रत्यक्षेप्यस्तीत्याह—यदि चेति। भट्टमतेऽनुपलब्धिव्यावर्तनायाह—भावत्वेति। स्वयं खण्डनमाह—विनेति। एतेनेति। कारणत्वस्याशक्यग्रहत्वेनेत्यर्थः। ज्ञाततावैलक्षण्यं—यतः साक्षात्कृतोयमिति व्यवहार इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

विशेष यदि व्यवच्छेद (स्वभिन्न से भेद) है, तो निर्विकल्पक ज्ञान में अव्याप्ति होगी, क्योंकि निर्विकल्पक वस्तुमात्र को प्रकाशता है, भेद को नहीं। यदि कहा जाय कि निर्विकल्पक वा सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान के विषय से इतर (अन्य) विश्व से व्यावृत्त उस विषय का स्वरूप ही विशेष है, और उस विशेषस्वरूप का प्रकाश (प्रकाशक ज्ञान) प्रत्यक्ष होता है, और वह निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी (तथा) विश्वव्यावृत्त है, अतः अव्याप्ति नहीं है, परन्तु इस प्रकार अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति तो होगी ही, जहाँ दूर में वृक्षादि का सामान्य ज्ञान होता है, वहां अनेक वृक्षादि एक सा भासते हैं, उनके ज्ञान में अव्याप्ति होगी। वहाँ सामान्य ज्ञान से जगद् विलक्षणतारूप विशेष का प्रकाश हो, तो विशेषविषयक संशय की अनुपपत्ति होगी। सामान्य ज्ञान के वाद विशेष-विषयक संशय भ्रम कहीं नहीं होगा, और होता है, अतः व्यावृत्ति के अभाव से वहाँ लक्षण की अव्याप्ति है। यदि वहाँ भी प्रतिपत्ता (ज्ञाता) इन्द्रियादि से व्यावृत्ति (भेद) मात्र के प्रकाश से विशेष का प्रकाशकत्व सामान्य ज्ञान है ही, अतः अव्याप्ति नहीं है। तो इस प्रकार प्रतिपत्ता आदि से व्यावृत्त के ज्ञानरूप अनुमिति आदि में प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी।

(इन्द्रियकरणकत्वं साक्षात्त्वम्) इन्द्रिय जिस का कारण हो, उस ज्ञान को साक्षात्-कार (प्रत्यक्ष) कहते है। इस लक्षण में प्रत्यक्षज्ञानकरणत्व के ही इन्द्रियत्व होने से कोई अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंक भावविशेषित अज्ञातकरणत्व (भावरूप और अज्ञात होते ज्ञानकरणत्व) इन्द्रिय का लक्षण हो सकता है जिसमें अन्योन्याश्रय भी नहीं होता और अनुपलब्धि एवं अनुमानादि की व्यावृत्ति हो जाती है। किन्तु दोष यह है कि (इन्दियकरणकानुभूतित्व) रूप लक्षण में अनुभूतिरूप कार्यात्मक प्रमाप्रविष्ट है, उस कार्यगत विशेष (व्यावर्तक धर्म) को सिद्धि के बिना इन्द्रियों के करणत्व किसके प्रति समझा जायगा? यह तो समीचीन बाध (दोष) है। यदि किसी अन्य धर्म द्वारा अनुगतरूप से प्रमा समझी जायगी, तो वही उसका लक्षण होगा, यह लक्षण व्यर्थ होगा, और यदि अनुगतरूप से प्रमा का ज्ञान नहीं है, तो प्रमायुक्त लक्षण की सिद्धि साक्षात्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। और उक्तरीति से कार्यगत एक-रूपता के बिना कारणत्व ज्ञान के अशक्य होने से, अनुमिति आदि ज्ञानजनित विषयनिष्ठ-ज्ञातता से विलक्षण जो कोई अपरोक्षव्यवहारजनक ज्ञातता, उस ज्ञातता का जनकत्व ही ज्ञान का अपरोक्षत्व धर्म है, यह भी निरस्त हो गया। क्योंकि (जनकत्व) कारणत्व इस लक्षण में प्रविष्ट है, और पूर्वरीति से कारण का ज्ञान अशक्य है॥ १९२॥

ऐकरूप्याऽव्यवस्थितौ कारणत्वानवधारणात्। नच ज्ञाततावैलक्षण्यान्यथानुपपत्तेरेव तत्सिद्धिः, कारणान्तरवैलक्षण्यादेव तदुपपत्तेः। नापि मेयजनितत्वमतिप्रसङ्गात्। स्वमेयजन्यत्वं च स्वार्थऽव्यावृत्त्यानुगमात् पूर्वदोषानिवृत्तेश्च। अथ येन प्रमिते सति न प्रमित्सा पुनर्भवति तज्ज्ञानं साक्षात्कारि इति, तन्न, प्रत्यक्षावगतेपीष्टे तनयादौ प्रमित्सादर्शनात्। अथ यदनन्तरं न विजातीयप्रमित्सा तद्भावस्तथात्वं, तन्न, तत्साजात्यानवगतौ

तद्विजातीयत्वानवगतेः, अरिसम्पद्यनुमानादिविषयायां प्रत्यक्षयितुमनिष्टेश्च। प्रत्यक्षावगतेपि दहने रक्ताऽशोकस्तवकसन्देहे धूमदर्शनेन वह्नेरनुमीयमानत्वादित्यप्येके ॥ १९३ ॥

ऐकरूप्येति। साक्षात्कृतताऽऽधायकं किं ज्ञानम्? इति नाद्यापि निरूपितमित्यर्थः। तत्सिद्धिरिति। ज्ञानगतैकरूपसिद्धिरित्यर्थः॥ ज्ञानभिन्नकारणेनापि ज्ञाततावैलक्षण्यमन्यथोपपन्नमित्याह—कारणान्तरेति। अतिप्रसङ्गादिति। आत्मना मेयेन सर्वज्ञानजननादित्यर्थः। प्रत्यक्षज्ञानस्य यन्मेयं (घटादि) तत्तज्जन्यत्वं न लक्षणं, स्वपदार्थाननुगमादित्याह—स्वमेयजन्यत्वमिति। आत्मप्रत्यक्षे भवत्यात्मा मेय इति तज्जनितत्वं सर्वज्ञानानामित्याह—पूर्वेति॥ १९३॥

प्रथम, एतेन, इस पद से उक्त हेतु को ही स्पष्ट किया गया है कि कार्यगत एकरूपता की व्यवस्थिति (निश्चय) के बिना, कारणत्व का अवधारण नहीं हो सकता। और साक्षात्कृततारूप ज्ञातता का कौन ज्ञान हेतु है, यह निश्चय जब तक नहीं हुआ है, तब तक उसकी जनकता का ज्ञान भी नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि अनुमेयादिगत ज्ञातता से प्रत्यक्ष घटादिगतज्ञातता बिलक्षण अनुभूत होती है, वह ज्ञातताजनकज्ञान की विलक्षणता बिना हो नहीं सकती। अतः विलक्षणज्ञातता की अनुपपत्ति से उसके जनक ज्ञान में साक्षात्त्व की सिद्धि होती है, तो यह कहना नहीं बन सकता, क्योंकि ज्ञानजनक इन्द्रियलिङ्गपरामर्शादि कारण की विलक्षणता से ही ज्ञातता की सिद्धि हो जाने से साक्षात्त्व के बिना ज्ञातता की विलक्षणता की अनुपपत्ति ही नहीं है। मेय (प्रमेय) रूप अर्थजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि घटरूप कर्मजन्य ज्ञानको पटविषयक अपरोक्षत्व (प्रत्यक्षत्व) की प्राप्ति से अतिप्रसंग होता है, तथा सामान्य मेय जन्य को प्रत्यक्ष कहें, तो आत्मारूप मेय से सब ज्ञान होते हैं, अतः सब ज्ञानों में अतिव्याप्ति होगी। यदि घटादि ज्ञान के जो अपने-अपने मेय हैं, तत्तत् जन्यत्व प्रत्यक्षत्व कहें, घटादि ज्ञान के तत्तत् विषयों के व्यावृत्त अननुगत होने से सामान्य प्रत्यक्ष का लक्षण सिद्ध नहीं होगा। और आत्मज्ञान आत्मारूप मेय से होता है, अतः उस आत्मज्ञान के विषय आत्मा से जन्य सब अनुमिति आदि में अतिव्याप्तिरूप पूर्वदोष की निवृत्ति नहीं होगी। जिस ज्ञान से वस्तु के प्रमित (ज्ञात) होने पर फिर उस वस्तु की प्रमित्सा (प्रमा ज्ञान की इच्छा) नहीं होती है, वह ज्ञान साक्षात्कारी (प्रत्यक्ष) होता है, यह लक्षण युक्त नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञात भी इष्ट पुत्रादिविषयक प्रमित्सा देखी जाती है, अतः उसमें अव्याप्ति होगी। अनुमानादि से सामान्यरूप से ज्ञात की विशेषरूप से जानने की इच्छा होती है। प्रत्यक्ष इष्ट सुन्दरादि वस्तु की प्रेमादि से बार-बार देखने आदि की इच्छा होती है। यदि कहा जाय कि जिस ज्ञान से प्रमित होने के अनन्तर विजातीय प्रमित्सा नहीं हो, तादृश ज्ञानत्व प्रत्यक्षत्व है, तो अनुमिति आदि के बाद प्रत्यक्ष की इच्छा होने से उसकी व्यावृत्ति हो जायगी, और इष्ट की प्रमित्सा होती है, वहाँ विजातीयता के अभाव से अव्याप्ति नहीं होगी। परन्तु यह कथन भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानगत सजायीयता (एकजाति) के अज्ञान रहते, उसके विजातीय के भी ज्ञान नहीं होने से लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि लक्षण से साजात्य का

ज्ञान हो, साजात्य से लक्षण हो तो अनोन्याश्रय होगा। अन्य किसी धर्म से साजात्य का ज्ञान हो तो वही लक्षण होगा, अन्य लक्षण का विचार व्यर्थ होगा। और शत्रु की सम्पत्ति में अनुमानादि की विषयता होने पर भी उसे प्रत्यक्ष करने की इच्छा नहीं होती है, अतः उस अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति होगी। और प्रत्यक्षज्ञात भी दूर की अग्नि में जहाँ रक्त अशोकस्तवक (पुष्पसमूह) के संशय होने पर वहाँ धूम के दर्शन से अनुमिति होती है, वहाँ अव्याप्ति होगी ऐसा कोई कहते हैं ॥ १९३ ॥

अज्ञायमानासाधारणकारणकाऽनुभवत्वं, कारणविशेषणीकृतभावत्वं वा साक्षात्त्वम्—इति चेन्न, दीर्घादिप्रत्यक्षाऽव्यापनात्। तत्राऽवधिप्रभृतेः प्रतीयमानस्यापेक्षणात्। नावधिस्तत्र ज्ञायमानस्तथा, अवधिज्ञानं तु स्यात्, अतीतादावप्यवधौ तथा प्रत्ययात् इति चेत्, तुल्यं लिङ्गे धूमादावपि, धूमदर्शनात्तत्राग्निरासीदिति पश्चादप्यनुमानात्। ज्ञानविशेषणतया तु ज्ञेयहेतुता तुल्यैवेति। असाधारणकारणगिरा करणमभिमतम्—इति चेन्न, अनुमितभावि लिङ्गकभाविलिङ्गयनुमितावसतो लिङ्गस्य करणत्वाऽसम्भवेन ज्ञायमानकरणकत्वाभावात्। लिङ्गज्ञानं तावत् करणं, तच्च स्वप्रकाशवादिनो मम ज्ञायमानमेव तत्र—इति चेन्न, तस्यापि ज्ञायमानतया करणकोटिप्रवेशे प्रमाणाभावात् उक्तप्रत्ययानां तथात्वाभावात् ॥ १९४ ॥

विशेषणतया लिङ्गस्यापि करणत्वमित्यत आह—ज्ञानेति। तथाचावधावपि तुल्यमित्यर्थः। यद्यपि विशेष्यस्य ज्ञानस्य करणत्वेऽनुमितावज्ञायमानकरणत्वं गतमेव, तथापि तौल्यमेवेति भावः। ननु तत्र लिङ्गं करणं, तज्ज्ञानं तु व्यापारः, इति नाज्ञायमानकरणत्वमिति शङ्कते—असाधारणेति। अवधिज्ञानस्य व्यापाराभावान्न करणत्वमिति वा शङ्कार्थः। भाविनो व्यापारद्वाराऽपि न लिङ्गस्य करणत्वमित्येतदर्थं भावीति। स्वप्रकाशेन ज्ञायमानकरणत्वमनुमानेऽनुपपन्नं, तस्यान्यथासिद्धत्वादित्याह—तस्यापीति ॥ १९४ ॥

अज्ञायमान असाधारण कारण वाला अनुभव प्रत्यक्ष कहा जाता है, अथवा अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने वालों के मत में अभाव के प्रमा में अव्याप्ति के वारण के लिये, भावस्वरूप विशेषणयुक्त अज्ञात असाधारणकारण वाला अनुभव प्रत्यक्ष होता है अर्थात् (अज्ञात) भावासाधारण कारण वाला अनुभव प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञात अनुपलब्धिरूप असाधारण कारण वाला अभावप्रमा का वारण नहीं होता है और अनुमिति आदि का वारण हो जाता है, अतः यह लक्षण निर्दोष है। परन्तु यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि (अयं ह्रस्वः, अयं दीर्घः, अयं ज्येष्ठः, अयं कनिष्ठः) यह छोटा है, यह बड़ा है, इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि दीर्घत्वादि के ज्ञान में ज्ञात अवधि आदि असाधारण कारण की अपेक्षा होती है कि किससे ह्रस्व है इत्यादि और उस अवधिरूप प्रतियोगी और अनुयोगी के ज्ञान होने पर ह्रस्व दीर्घादि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि ह्रस्व दीर्घादि के अपरोक्ष ज्ञान में ज्ञात अवधि (तथा) असाधारण कारण नहीं होता किन्तु अवधि का ज्ञान असाधारण कारण होता है। अतएव अतीत (भूत) भावी एवं दूर अवधि के भी रहते अनुमान शब्दादि से ज्ञान होने पर (तथा प्रत्यय) यह उससे ह्रस्व है या दीर्घ ऐसा

ज्ञान होता है, और अवधि का ज्ञान अज्ञात ही रहते दीर्घादि के प्रत्यक्ष का हेतु होता है, अतः अव्याप्ति नहीं है। परन्तु ऐसा मानने पर अनुमिति में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जहाँ भूत एवं भावी धूमादि हेतु के ज्ञान से अनुमिति होती है, वहां ज्ञायमान असाधारण कारण लिङ्गादि नहीं रहते हैं, किन्तु अज्ञात उनके ज्ञान से ही पीछे अनुमिति होती है वहां धूम देखा था। अतः अग्नि भी वहां थी 'इत्यादि। यदि कहा जाय कि भूत एवं भावी धूम भी ज्ञान का विशेषणरूप से ज्ञात होकर वही कारण होता है, ज्ञानमात्र नहीं। अतः अनुमिति में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो कहा जा सकता है कि अवधिज्ञान का भी विशेषण होकर ज्ञात अवधि ही दीर्घादि ज्ञान का कारण होता है, अतः ज्ञेय (ज्ञात) हेतुता से अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि असाधरण कारण इस शब्द से करण अभिमत (स्वीकृत) है। और दीर्घादिज्ञान में अवधिकरण नहीं है, किन्तु इन्द्रिय करण है, वह अज्ञात ही ज्ञान का हेतु है, अतः ह्स्वदीर्घादिज्ञान में अव्याप्ति नहीं है। तो भी भावी लिङ्ग वाली अनुमिति में अतिव्याप्ति तो है ही, क्योंकि जहाँ वायु विशेष से भावी मेघ के अनुमान पूर्वक भावी वृष्टि की अनुमिति होती है, या यज्ञशाला में धूमसामग्री से धूम के अनुमान करके भावी अग्नि की अनुमिति होती है, वहाँ अनुमित (अनुमान से ज्ञात) भावी लिङ्ग वाले भावीलिङ्गी (साध्य) की अनुमिति में वर्तमान काल में असत् (अवर्तमान) लिङ्ग के कारणत्व के असम्भव से ज्ञात लिङ्ग वाली अनुमिति के अभाव से अज्ञात लिङ्गज्ञानरूप करण वाली अनुमिति में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि वहाँ भी लिङ्ग का ज्ञान करण है और ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानने वाले मेरे मत में ज्ञात ही ज्ञान रहता है अतः ज्ञात करणवाली अनुमिति में अतिव्याप्ति नहीं है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि लिङ्गज्ञान को भी ज्ञायमानरूप से करण कोटि में प्रवेश (करण मानने) में प्रमाण का अभाव है, केवलव्यतिरेकी आदि प्रमाण नहीं हैं। और उक्त भावी लिङ्गप्रत्यय (अनुमितियों) को तथात्व (ज्ञायमानत्व) का अभाव है। उन्हें ज्ञायमान होकर करण मानने पर, अनुमिति ज्ञान और उस ज्ञान का ज्ञान इन दोनों में करणत्वापत्ति होगी इत्यादि। स्वप्रकाशरूप से जो ज्ञायमानत्व है, वह अन्यथा सिद्ध है। वह करण कोटि में प्रविष्ट नहीं हो सकता, अन्यथा दण्डत्व एवं दण्डरूपादि भी घट के करण होंगे॥ १९४॥

अन्यथासिद्धस्यापि ज्ञायमानत्वस्यावर्जने चक्षुराद्यनुमित्यनन्तरं दैवोपजातघटादिप्रत्यक्षाव्यापनात्। नियमेन—इति चेन्न, विधौ वैयर्थ्यात्। नियमेन निषेधस्य विशेषणे दैवागतेन्द्रियज्ञानानन्तरजप्रत्यक्षसम्भवादसिद्धिः। विधौ करणत्वप्रविष्ट एवायं नियमो निरुच्यते?—इति चेन्न, तथापि वैयर्थ्यादेव। अन्यथातिप्रसक्तेरवैयर्थ्यम्—इति चेन्न, तथाप्यतिप्रसक्तेरेव। नहि रसादिसाक्षात्कारे रूपादिर्हेतुः। अन्यथासिद्धेर्न—इति चेन्न, तुल्यत्वादनुमानेऽपि॥ १९५॥

अवर्जनीयसिद्धस्य कारणकोटौ प्रवेशेऽनिष्टमाह—अन्यथेति। तथाचाज्ञायमानकरणत्वं प्रत्यक्षेऽपि स्यादित्यर्थः। अनुमानं नियमेन ज्ञायमानकरणकं, ननु तथा प्रत्यक्षमित्याह—नियमेनेति। नियमेन ज्ञायमानकरणकमनुमानमिति वा विवक्षितं? नियमेना-

ज्ञायमानकरणकं प्रत्यक्षमिति वा ? आद्ये आह—विधाविति। नियमांशस्य कारणोक्तिलभ्यत्वात्, नियतपूर्ववर्तिन एव कारणत्वादित्यर्थः। द्वितीये त्वाह—निषेधस्येति। नियमेनाज्ञायमानकरणत्वस्य प्रत्यक्षविशेषाव्यापकत्वमित्यर्थः। ज्ञायमानत्वं करणे विशेषणं, नतूपलक्षणमिति नियमेनेति पूरणाल्लभ्यते, इत्याह—विधौ करणत्वेति। 'ज्ञायमानकरणकमि'त्यभिधानादेव ज्ञानस्य विशेषणत्वमपि लभ्यते—इति नियमेनेत्यस्य वैयर्थ्यमेवेत्याह—तथापीति। ज्ञायमानकरणत्वं तु काकतालीयज्ञानमादाय प्रत्यक्षेऽतिप्रसक्तमिति तद्वारणार्थमयं प्राप्तानुवाद इत्याह—अन्यथेति। अवर्जनीयसिद्धमप्यादाय यद्यतिप्रसक्तिस्तदाऽन्यथासिद्धमन्यदपि करणं स्यादिति सुतरामतिप्रसक्तिरित्याह—तथापीति। 'ईश्वरज्ञानमादाय ज्ञायमानकरणकत्वं प्रत्यक्षेऽपीत्यपव्याख्यानम् अग्रिमफक्किकाऽनन्वयात्। ननु भवत्यन्यथासिद्धमपि करणमित्यत आह—नहीति। अन्यथासिद्धेर्न ज्ञानेन ज्ञायमानकरणत्वं प्रत्यक्षे, नत्वेवमनुमाने इत्यज्ञायमानकरणकानुभवत्वं नानुमानगामीत्याह—अन्यथासिद्धेर्नेति। लिङ्गज्ञानमपि स्वप्रकाशतया स्वविषयेऽन्यथासिद्धमेव, इत्यनुमानेऽप्यज्ञायमानकरणकत्वमतिव्याप्तमेवेत्याह—तुल्यत्वादिति ॥ १९५ ॥

स्वप्रकाशरूप से ज्ञायमानत्वरूप अन्यथा सिद्ध को भी यदि नहीं त्यागें उसे करणकोटि में प्रवेश करें, तो जहाँ (रूपज्ञानं सकरणकं, कार्यत्वात्, घटवत्) इस प्रकार चक्षु आदि की अनुमिति के अनन्तर दैवयोग से उत्पन्न घटादि के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहाँ ज्ञायमान करण वाला प्रत्यक्ष होता है, अतः अज्ञायमान करणजन्यत्व नहीं रहता। अतः अनन्यथासिद्ध ज्ञानाविषयकरणवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने पर, स्वप्रकाशत्वरूप अन्यथासिद्ध ज्ञान के विषय लिङ्गज्ञान के होते भी अनन्यथा सिद्ध ज्ञान के विषय नहीं होने से उक्त अनुमिति में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ही। यदि कहा जाय कि अनुमिति सर्वत्र ज्ञायमान करण वाली होती है और प्रत्यक्ष में दैव योग से कहीं करण की अनुमिति होने पर भी सर्वत्र अज्ञात करण वाला प्रत्यक्ष होता है, अतः (नियम से अज्ञात करण वाला प्रत्यक्ष होता है) ऐसा लक्षण दोष रहित होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति द्वारा अनुमिति और प्रत्यक्ष दोनों का प्रसंग है, वहाँ, ज्ञायमानकरणक अनुमान में ज्ञान की विधि है, अज्ञायमानकरणक प्रत्यक्ष में ज्ञान का निषेध है, नियमेन, इस विशेषण का दोनों ओर सम्बन्ध हो सकता है। वहाँ यदि नियम से ज्ञायमान करण वाली अनुमिति होती है, इस प्रकार नियमपद को विधि में सम्बद्ध किया जाता है, तो उस की व्यर्थता की प्राप्ति होती है, क्योंकि नियमांश का करणरूप कारण कथन से ही लाभ (ज्ञान) हो जाता है, नियम से पूर्ववर्ती को ही कारण कहा जाता है। यदि नियमेन, इस को निषेध का विशेषण करते हैं कि नियम से अज्ञायमान करण वाला प्रत्यक्ष होता है, तो उक्त रीति से दैवयोग से अनुमिति से आगत (प्राप्त) इन्द्रियज्ञान के अनन्तर जायमान प्रत्यक्ष के सम्भव से वहाँ लक्षण की असिद्धि होगी। यदि कहा जाय कि ज्ञायमानत्व विधिरूप करण से निविष्ट (विशेषण) है, उपलक्षण नहीं, यह नियमपद से लब्ध (ज्ञात) होता है। अर्थात् निषेध का विशेषण नहीं किन्तु अज्ञात करणजन्यत्वरूप विधि का विशेषण है। वह विशेषण नियम पद के बिना भी भासता है, परन्तु स्पष्ट करने के लिये नियमपद का प्रवेश किया जाता है। तो भी व्यर्थ ही है,

क्योंकि ज्ञायमान करणक कहने ही से वर्तमानार्थक ज्ञायमानत्व करण का विशेषण स्पष्ट भासता है, तथा अज्ञायमान करणजन्यत्व कहने से भी ज्ञायमान करण का विशेषण होता है, उस का नञ् के साथ सम्बन्ध होता है। यदि कहा जाय कि दैवयोग से चाक्षुषादि ज्ञान के करणरूप से अनुमित चक्षुआदि से जहाँ प्रत्यक्ष होता है, वहाँ ज्ञात करण जन्यता से अव्याप्ति होगी, उस के निवारण के लिये नियम पद है तथा भावीलिङ्ग वाली अज्ञायमान (अवर्तमान) लिङ्ग वाली अनुमिति में अतिव्याप्ति वारण के लिये है। तो इस प्रकार अन्यथा सिद्ध को हेतुमान कर अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति मानने पर तो अतिव्याप्ति है ही, नियमपद से भी अतिव्याप्ति का वारण नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वर ज्ञान से ज्ञायमान ही सब प्रत्यक्ष का करण रहता है, उस में अनुमितिकरणत्व की प्राप्ति होगी। और वस्तुतः अन्यथा (अवर्जनीय) को कारण मानें, तो रस तथा गन्ध के साक्षात्कार में रूप एवं स्पर्श हेतु नहीं हैं वे हेतु होंगे। यदि कहा जाय कि घट के प्रति दण्डरूपादि के समान रस एवं गन्ध के साक्षात्कार में रूप तथा स्पर्श अन्यथा सिद्ध (कारणता रहितस्वभाव से वर्तमान) रहते हैं, अतः हेतु नहीं होते हैं, तो उसकी तुल्यता से अनुमान में भी लिङ्ग ज्ञान की स्वप्रकाशता अन्यथा सिद्ध है, अज्ञायमान लिङ्गज्ञानकरणक पूर्वोक्त अनुमिति में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति है ही ॥ १९५ ॥

नियम के विधि विशेषण पक्ष में दोष दिखाकर निषेध विशेषण पक्ष में आगे दोष-दर्शाना है। अतः कहते हैं कि—

किञ्च, यत्र निषेधस्तद्गतमैकरूप्यं निरूप्यम्, अन्यथा किमादाय नियमो निरूप्येत, इति कार्यगतैकरूप्यमनभिधाय न निस्तारः। विनापि च नियमपदप्रवेशं कार्यगतैकरूप्यमनिरूप्याऽनिस्तार एव। 'ज्ञायमानं नात्र करणमि'ति हि यदि कार्यव्यक्तिमभिसन्धाय, तदा तत्पूर्वं प्रतीतानां तत्राकरणत्वं दुरवधारणं, ततस्तज्जातीये तज्जातीयव्यभिचारप्रतिसन्धानेऽवश्यं यतनीयमिति। अथाव्यवहितार्थप्रमात्वं तथा, तर्हि किमपेक्ष्याव्यवधानं? किञ्च तत् इति वाच्यम्। इन्द्रियमपेक्ष्य तत् असन्निकर्षश्च तदिति चेत्, तर्हीन्द्रियसन्निकृष्टप्रकाशत्वमिति कुटिलिकार्थः, सचानुपपन्नः, स्वविलोचनगोलकानुमानव्याप्तेः। ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं तत्? इति चेन्न; सविकल्पकविशेषाऽव्यापनात् ॥ १९६ ॥

यज्जात्यवच्छेदेन नियमेन ज्ञायमानकरणकत्वं निषेध्यं तस्याऽप्रसिद्धौ नियमो दुर्ग्रहः, प्रसिद्धौ च तदेव लक्षणमित्याह—किञ्चेति। अज्ञायमानकरणत्वमप्यवच्छेदकमन्तरेण प्रत्यक्षे दुर्ग्रहमित्याह—विनापीति। यद्वा, ज्ञायमानकरणकत्वनिषेधो यत्र स्यात्तत्रानुगतरूपं वक्तव्यमित्यर्थः। व्यक्तिविशेषे ज्ञायमानकरणकत्वं निषेद्धुं न शक्यते, यतो ज्ञायमानेनैव केनचित्करणेन तज्जननसम्भवात्, अत एतज्जातीयं न ज्ञायमानकरणकमेतज्जातीयं च तथा-इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां ग्राह्यमित्याह—ज्ञायमानमिति। प्रत्यक्षलक्षणान्तरं शङ्कते—अथेति। इन्द्रियसन्निकृष्टार्थप्रकाशत्वं साक्षात्त्वमित्यर्थः। एतदेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति—तर्हीति। तदिति। व्यवधानमित्यर्थः। कुटिलिकार्थ इति। वक्रगत्या पर्यवसन्नोऽर्थ इत्यर्थः। स्वविलोचनेति। इन्द्रियाधिष्ठानत्वेन गोलकस्येन्द्रियसन्निकृष्टत्वादित्यर्थः। स्वपदं स्पष्टार्थम्। सविकल्पकेति। ज्ञानपदं यदि सामान्यपरं, तदा निर्विकल्प-

कानन्तरभाविसविकल्पकेऽभावादिसविकल्पके चाऽव्याप्तिः। अथ सविकल्पकपरं, तदाऽभावसमवायादिसविकल्पकाव्याप्तिरित्यर्थः॥ १९६॥

नियम से अज्ञात करण वाला प्रत्यक्ष होता है, इस कथन से जिस प्रत्यक्ष ज्ञान के करण में ज्ञातता का निषेध किया जाता है, उस निषेध के अनुयोगीरूप ज्ञान में एकरूपता निरूपणीय है। अन्यथा एक रूप से निषेधाधिकरण के ज्ञान के बिना किस का ग्रहण करके (किस को उद्देश्य) करके निषेध का नियम निरूपित (प्रतिपादित) किया जायगा। अतः कार्यरूप ज्ञानगत उद्देश्यता का अवच्छेदक एक रूपता के निरूपण (प्रतिपादन) के बिना निस्तार नहीं है (लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता) और यदि प्रत्यक्षज्ञानगत एकरूपता का निरूपण हो जाय तो वही लक्षण सिद्ध हो जायगा अन्य लक्षण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। और नियम पद का लक्षण में प्रवेश के बिना भी (नहीं प्रवेश करने पर भी) कार्य (प्रत्यक्षज्ञान) गत एकरूपता के निरूपण के बिना अनिस्तार ही है। क्योंकि, अनुमानादि से ज्ञायमान चक्षु जन्य किसी कार्य व्यक्ति-प्रत्यक्ष का 'अनुसंधान' ग्रहण करके यदि कहें कि इसमें ज्ञायमान करण नहीं है, तो उससे पूर्व काल में प्रतीत (ज्ञात) उस ज्ञान के करणों में अकरणत्व दुरवधारण होगा, अर्थात् अकरणत्व नहीं समझा जा सकता किन्तु ज्ञातकरणजत्व होने से लक्षण की अव्याप्ति होगी। अतः व्यक्ति का ग्रहण नहीं करके तज्जातीय (प्रत्यक्षत्व जातिवाले) के प्रति तज्जातीय (ज्ञातकरण जातिवाले) के व्यभिचार (करणत्वाभाव) के प्रतिसंधान (विचार) में अवश्य यत्न करना होगा जिससे प्रत्यक्षत्वावच्छिन्न (प्रत्यक्षमात्र) के प्रति ज्ञातत्वावच्छिन्न (ज्ञातमात्र) के करणत्व के अभाव (निषेध) का अवधारण हो सके, परन्तु एक स्थान में भी ज्ञात करण वाले प्रत्यक्ष के होने पर यह अवधारण भी अशक्य है (जिस जातिवाले के अज्ञात जाति वाले करण हों, वह प्रत्यक्ष होता है) यह उक्त लक्षण का उपसंहार हुआ। लक्षणान्तर है कि अव्यवहित जिस का अर्थ हो ऐसी जो प्रमा वह प्रत्यक्ष है अर्थात् अनुमानादि से दूर भूत एवं भावी का भी ज्ञान होता है, इन्द्रिय से वर्तमान सन्निकृष्ट का ही ज्ञान होता है, अतः (अक्षमक्षं प्रति प्रत्यक्षम्) इन्द्रिय के सन्निधि में प्राप्त का ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है। वहाँ व्यवधान सहित को व्यवहित कहा जाता है, व्यवधान किसी की अपेक्षा से होता है, अतः प्रश्न यह है कि किस की अपेक्षा से व्यवधान न होना चाहिये? और वह व्यवधान क्या है? यदि कहा जाय कि इन्द्रिय की अपेक्षा से व्यवधान नहीं होना चाहिये, और इन्द्रिय का अर्थ के साथ असम्बन्ध ही व्यवधान होता है। तब तो (इन्द्रियसंन्निकृष्ट = सम्बद्ध वस्तु का प्रकाश = अनुभव प्रत्यक्ष होता है) यह कुटिलिका (वक्रोक्ति) का अर्थ है, यह अनुपपन्न (अयुक्त) है, क्योंकि अपने नेत्रगोलक के अनुमिति में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। नेत्र के आश्रय होने से नेत्रगोलक नेत्र से सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) है (मच्चक्षुः साश्रयमिन्द्रियत्वादन्येन्द्रियवत्) इस प्रकार गोलक की अनुमिति होती है। यदि ज्ञान से अजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहें, तो यह भी नहीं बन सकता क्योंकि निर्विकल्पक जन्य सविकल्प ज्ञान विशेष में अव्याप्ति होगी, तथा सप्रतियोगिक अभाव सम्बन्ध के ज्ञान में अव्याप्ति होगी, प्रथम ज्ञान पद से सामान्य के ग्रहण करने पर ये दोष होंगे।

यदि सविकल्प ज्ञान का ग्रहण करें, तो भी अभाव सम्बन्धादि के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होगी ही ॥ १९६ ॥

एतेन 'विषयान्तरज्ञानाजन्यज्ञानत्वं तदि'ति प्रत्युक्तं, सविकल्पकस्याधिकव्यवच्छेदरूपविषयत्वात्, तदवधिज्ञानजन्यत्वात्। स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यधीत्वं तत्। न च सप्रतियोगिकार्थप्रत्यक्षाव्याप्तिः, 'प्रतियोगिनोऽपिस्वविशिष्टार्थप्रविष्टस्य तत्ताया इव प्रत्यभिज्ञायां प्रत्यक्षविषयत्वोपगमात्; अप्रतियोगित्वेन विशेषणाद्वा इति चेत्तन्न, स्वपदेनैव क्षारीकृतत्वात्। कार्यव्यक्तावजन्यताया दुरवधारणत्वात्, तज्जातीये तज्जातीयव्यभिचारशङ्काग्रहणे च कार्यैकजात्ये पूर्ववत्पतनमिति। स्वकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं साक्षात्त्वम्—इत्यपि न, स्वार्थाविवेचनात्। कथं चानुमानादिव्यवच्छेदः? तत्र व्याप्त्यादिप्रविष्टकालनियतार्थत्वं, यत्रापि चन्द्रोदयसमुद्रवृद्ध्यादौ स्वकालार्थत्वं तत्रापि व्याप्तिप्रविष्टतैव तादृशत्वस्य प्रयोजिका इति चेन्न, कथमप्यस्तु तथापि स्वकालावच्छिन्नार्थत्वस्य सम्भवात् ॥१९७॥

एतेनेति। सविकल्पकाव्यापकत्वेनेत्यर्थः। लिङ्गादिज्ञानेन विषयान्तरेऽनुमित्यादिजननं निर्विकल्पकेन तु स्वविषये एव सविकल्पकजननमिति लक्षणकर्त्तुरभिमानः। अतद्व्यावृत्तिस्वरूपस्य वैशिष्ट्यस्य निर्विकल्पकविषयापेक्षया विषयान्तरत्वादेतदनुपग्रह इत्यर्थः। यद्वा, ऽवधिज्ञानजन्यदीर्घादिप्रत्यक्षे ह्रस्वादिव्यवच्छेद एवाधिको भासते इति, तदनुपग्रह इत्यर्थः। एतदेवाह—तदवधीति। स्वविषयेति। प्रत्यक्षं प्रत्यक्षाविषयविषयकज्ञानेन न जन्यते लिङ्गानुपधानपक्षे ऽनुमित्यादिकं च तथेति तद्व्यवच्छेद इत्यर्थः। प्रतियोगिनोऽप्यभावज्ञाने भानमस्त्येवेति नाभावप्रत्यक्षाव्याप्तिरित्याह। प्रतियोगिनोऽपीति। प्रतियोगिताटस्थ्यमते त्वाह—अप्रतियोगित्वेनेति। स्वपदेनेति। स्वपदार्थस्याननुगमादित्यर्थः। वैजात्यमन्तरेण जन्यजनकभावो दुर्ग्रह इति पूर्वदूषणमतिदिशति—कार्येति। स्वकालेति। बोधकालावच्छिन्नस्यार्थस्य प्रकाशत्वमित्यर्थः। व्यवच्छेदप्रकारमाह—तत्रेति। यदा धूमस्तदा वह्निरित्याकारव्याप्तिग्रहबलायातं स्वकालावच्छिन्नत्वं, नतु विषयस्वभावाधीनमित्यर्थः। बोधकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं चन्द्रोदयादिस्थले गतमेवेत्यतिव्याप्तिरित्याह—तथापीति ॥ १९७ ॥

(एतेन) निर्विकल्पकजन्य सविकल्पक में अव्याप्ति से ही, विषयान्तर के ज्ञान से अजन्य ज्ञानत्व प्रत्यक्षत्व है, यह लक्षण भी निरस्त है। यदि कहा जाय कि अनुमिति में लिङ्गादि विषयान्तर के ज्ञान से जन्यत्व रहता है, और सविकल्पक विषयक ही निर्विकल्पक से सविकल्पक की उत्पत्ति होने से विषयान्तर ज्ञानजन्य ज्ञानत्व के अभाव से अव्याप्ति नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि निर्विकल्पक स्वरूप मात्र का ग्रहण करता है, स्वविषय से अधिक के व्यवच्छेद (स्वविषय से भिन्न के भेद) को नहीं और सविकल्पक को अधिक व्यवच्छेदरूप विषयवत्ता रहती है, अतः विषयान्तर (स्वरूपमात्र) के ज्ञान से जन्य सविल्पक में अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि अधिक व्यावृत्तिविशिष्ट वस्तु स्वरूपमात्र से भिन्न नहीं है, तो भी सविकल्पक ज्ञान अधिक की व्यावृत्ति के उस अवधि (भेद प्रतियोगी) के ज्ञान से भी जन्य होता है, क्योंकि भेदज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान बिना हो नहीं सकता अतः अव्याप्ति होगी। इसी

प्रकार ह्रस्वादिरूप विषयान्तर के ज्ञानजन्य दीर्घादिज्ञान में अव्याप्ति होगी, क्योंकि दीर्घत्व की अवधि जो ह्रस्वत्व उसके ज्ञान से अधिक ही दीर्घज्ञान में भासता है। (स्वविषय के अनन्तर्गत) जिसका विषय हो, उस ज्ञान से अजन्यत्व प्रत्यक्षत्व है। अनुमिति के अनन्तर्गतविषयक धूमव्याप्तिज्ञानादिजन्यत्व अनुमिति को है। और सविकल्पक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही विषय निर्विकल्पक का रहता है, अतः अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति नहीं है, बाकी रहा सविकल्पक अभावादि का ज्ञान जहाँ अभावादि का ज्ञान स्वविषय से विषयान्तर प्रतियोगी के ज्ञान से होता है। परन्तु वहाँ भी जैसे प्रत्यभिज्ञा में तत्ता भासती है, वैसे अभावादि सप्रतियोगिक ज्ञान में प्रतियोगी अवश्य प्रविष्ट होकर भासता है, अतः प्रतियोगी विषयान्तर नहीं कहा जा सकता। यदि प्रतियोगी को स्वविशिष्ट अभावादि अर्थ में प्रविष्ट नहीं माना जाय, तो प्रतियोगिभिन्नतारूप से विशेषण देना होगा, कि 'स्वविषयानन्तर्गत प्रतियोगिभिन्नार्थ के ज्ञान से अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। यह लक्षण भी स्वपद से क्षार कर दिया गया है, अतः युक्त नहीं है। क्योंकि स्वपद से ज्ञानमात्र के ग्रहण करने पर अनुमानादि में अतिव्याप्ति होगी, एवं व्यक्ति विशेष का ग्रहण करने पर अव्याप्ति होगी। प्रत्यक्ष मात्र में अनुगतधर्म का निश्चय नहीं हुआ है जिससे तद्धर्मावच्छिन्न का अविषय विषयान्तर विषयक ज्ञान से अजन्यत्व सिद्ध हो। तत्तत् कार्यरूप अनन्त प्रत्यक्ष व्यक्ति में विषयान्तर के ज्ञान से अजन्यता का अवधारण अशक्य है। अन्वय एवं व्यतिरेक से कार्यकारणभाव का ज्ञान होता है। उस अन्वयव्यतिरेक के अभाव से कार्यकारणभाव के अभाव का निश्चय होता है और प्रति व्यक्ति में अन्वयव्यतिरेक का ज्ञान होना असम्भव है। यदि तज्जतीय (प्रत्यक्षजातीय) के प्रति विषयान्तरज्ञानजातीय के व्यभिचार (अभाव) रूप शस्त्र का ग्रहण करें (इसके द्वारा अनुगमन करना चाहें) तो कार्य की एकजातियता में पूर्व के समान प्राप्त होना होगा, अर्थात् प्रथम कार्य (प्रत्यक्ष ज्ञान) गत एकरूपता का निरूपण करना होगा, और उसके निरूपण होने पर वही प्रत्यक्ष का लक्षण होगा। स्वकालावच्छिन्न (ज्ञानकाल में वर्तमान) अर्थ का बोधक (प्रकाशक) ज्ञान प्रत्यक्ष होता है यह लक्षण भी नहीं बन सकता है, क्योंकि यहाँ भी पूर्व के समान स्वशब्द के अर्थ का विवेचन नहीं हो सकता। और अनुमानादि का व्यवच्छेद (निवारण) भी कैसे होगा? भूत एवं भावी से अतिरिक्त वस्तु की अनुमिति तथा शाब्दादि ज्ञान भी वर्तमानार्थ के बोधक होते हैं। यदि कहा जाय कि उस अनुमानादि में व्याप्ति आदि में प्रविष्ट जो काल उस काल में नियतार्थत्व रहता है कि 'यत्र यदा धूमस्तत्र, तदा वह्निः' इत्यादि। और उस व्याप्तिकाल के नियतत्व से ही अनुमिति काल में नियम से अग्नि भासती है, वस्तु स्वभाव से नहीं। इसी प्रकार जहाँ पूर्ण चन्द्रोदय से समुद्रवृद्धि का अनुमान होता है (पूर्णचन्द्रोदय, स्वकालिक समुद्रवृद्धि वाला है, गतचन्द्रोदयवत्) वहाँ भी व्याप्ति में प्रविष्टता ही तादृशत्व (अनुमिति में अर्थकालिकत्व) का प्रयोजक है। अर्थात् जब-जब पूर्ण चन्द्रोदय होता है, तब-तब समुद्रवृद्धि होती है, इस व्याप्तिज्ञान मूलक ही चन्द्रोदय काल में समुद्र की वृद्धि के अनुमान करने पर, वृद्धिरूप अनुमिति विषय की वर्तमानता सिद्ध होती है, प्रत्यक्ष के समान विषय के स्वभाव

से नहीं (सम्मुख उपस्थित रूप से नहीं) यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि किसी प्रकार विषय की वर्तमानता हो, तो स्वकाल (ज्ञान काल) से अवच्छिन्न (युक्त) अर्थवाली अनुमिति हो जाती है, अतः उसमें अतिव्याप्ति होती है। स्वकालावच्छिन्न अर्थबोधकत्व मात्र प्रत्यक्ष का लक्षण है, वह उसमें अवश्य है ॥ १९७ ॥

नच यज्जातीयमेवेति विशेषः। साजात्यस्य वैलक्षण्यस्याग्रतः सिद्धौ किमनेन, न च तदपीति वक्ष्यते। व्याप्त्यादिकमन्तरेण—इति चेन्न, तस्यैव समर्थत्वेन स्वकालकथावैयर्थ्यात्। यथा च न तदपि तथा वक्ष्यते। यत्तु कश्चिदाह—'स्वप्रकाशनिषेधात्स्वकालावच्छिन्नार्थप्रकाशत्वासंभव' इति, तदयुक्तम्, वस्तुतो यः स्वकालस्तस्य विवक्षितत्वात्, वर्तमानप्रकाशस्तथेति निरुक्तिपर्यवसानात्, वर्तमानार्थस्य च सर्वनिर्वचनीयत्वात्। तथाचोक्तं—'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'। तस्मादस्मदुक्तमेव युक्तम्। षोढासन्निकर्षेतराऽप्रयुक्तविषयनियमजं ज्ञानं तथा इति चेन्न, दोषवशजातसाक्षाद्बोधे तदसम्भवात्। प्रमासाक्षात्कारस्तथा इति चेत् न, साक्षात्त्वेन प्रमेतरयोरविशिष्टतया साक्षात्त्वस्य साधारणस्यैव निर्वक्तव्यत्वात् ॥ १९८ ॥

ननु तथाऽप्यनुमितिमात्रे न तथा, यथा प्रत्यक्षे, इत्यत आह—नचेति। व्याप्त्यादिव्यतिरेकेण बोधकालावच्छिन्नार्थबोधत्वं विवक्षितमिति शङ्कते—व्याप्त्यादीति। व्याप्त्यादिकमन्तरेण जायमानबोधत्वमेव तर्हि लक्षणमस्त्विति परिहरति—तस्यैवेति। प्रकृतलक्षणे खण्डनान्तरमुपन्यस्य दूषयति—यत्त्विति। स्वकालावच्छिन्नत्वेनार्थबोधत्वं स्वप्रकाशपक्षे सम्भवति, तस्य च निषेधादित्यर्थः। स्वकालावच्छेदोऽपि न प्रकारत्वेन विवक्षित इत्याह। वस्तुत इति। ननु वर्तमानत्वमपि दुर्वचमित्यत आह—वर्तमानेति। यत्तु खण्डितं मया तदेव युक्तमित्याह—तस्मादिति। षोढेति। षोढासन्निकर्षेतरेण व्याप्त्यादिना अप्रयुक्तो यो विषयनियमस्तज्जं ज्ञानमित्यर्थः। दोषवशेति। साक्षात्कारिभ्रमे दोषस्यैव षोढासन्निकर्षेतरस्य विषयनियामकत्वेन तदव्याप्तिरित्यर्थः। साक्षात्कारसामान्यस्यैव लक्षणमुपक्रान्तमित्याह—नेति ॥ १९८ ॥

जिस जातिवाला ज्ञान स्वकालावच्छिन्न अर्थ का ही बोधक होता है, वह प्रत्यक्ष है, यह अनुमान से विशेष (भेद) है, क्योंकि अनुमान कहीं स्वकालावच्छिन्न अर्थविषयक होता है, परन्तु भूतभाविविषयक स्वकालानवच्छिन्न अर्थविषयक होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में साजात्यरूप विलक्षणता यदि लक्षण से प्रथम ही सिद्ध हो, तो इस लक्षण प्रणयन का क्या फल होगा ? और वह प्रत्यक्षत्व (साक्षात्त्व) रूप साजात्य भी सिद्ध नहीं हो सकता, यह आगे कहेंगे। व्याप्ति शब्दादि के बिना जो ज्ञान स्वकालावच्छिन्न (वर्तमान) अर्थविषयक हो, वह प्रत्यक्ष होता है, ऐसा मानने से अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी, ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि व्याप्ति आदि अजन्यत्व के लक्षण में प्रवेश करने पर, व्याप्ति आदि अजन्य अनुभव प्रत्यक्ष होता है, इतनी ही की आवश्यकता है, स्वकालावच्छिन्नार्थबोधकत्व का कोई फल नहीं है। यदि कहा जाय कि व्याप्ति आदि के बिना अर्थबोधकत्वरूप लक्षण समर्थ है अतः वही स्थिर रहे, तो कहते हैं कि जिस प्रकार वह भी स्थिर नहीं रह सकता, यह प्रकार आगे कहेंगे। और जो कोई इस लक्षण में दोष देते

हैं कि यदि ज्ञान स्वप्रकाश होता, तो ज्ञानयुक्तकालयुक्त अर्थसहित समुदाय का प्रकाशक होता, किन्तु स्वयंप्रकाश ज्ञान के निषेध से स्वविशिष्ट (ज्ञानयुक्त) काल से युक्त अर्थ के प्रकाशकत्व का ज्ञान में असम्भव है, परन्तु यह कथन अयुक्त है, क्योंकि ज्ञानविशिष्ट कालविशेषणरूप से विवक्षित नहीं है, किन्तु वस्तुतः जो स्वकाल ज्ञानाधार काल है, वह उपाधि या उपलक्षणरूप से अर्थ का व्यावर्त्तक है, उस व्यावर्तित अर्थ का अस्वप्रकाश ज्ञान से भी प्रकाश में कोई दोष नहीं है, ज्ञान भी काल का उपलक्षण है विशेषण नहीं। इससे यह विवर्चन सिद्ध होता है कि वर्तमान अर्थ का वर्तमान प्रकाश प्रत्यक्ष होता है। और प्रत्यक्ष के विषय वर्तमान अर्थ का निर्वचन (कथन) सब को कर्त्तव्य (मन्तव्य) है। श्री भट्टपाद ने कहा है कि (चक्षु आदि इन्द्रियों से सम्बन्ध वाले वर्तमान अर्थ गृहीत होते हैं) अतः मुझ से वर्णित ही दोष युक्त है। लक्षणान्तर है कि, संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणता नामक छः प्रकार के सम्बन्ध से इतर व्याप्ति आदि से अप्रयुक्त (असिद्ध) अजन्य विषयनियमजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् इन छः सम्बन्धों से ही जिस ज्ञान के विषय के नियम होते हैं, उस नियम से जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे प्रत्यक्ष होते हैं, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि दोष वश उत्पन्न शुक्ति आदि में रजतादि के प्रत्यक्ष में इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। रजतादि के साथ सम्बन्ध के विना ही दोष से भ्रमरूपसाक्षात्कार होता है। यदि कहा जाय कि प्रमा साक्षात्कार षड्विध संसर्ग से नियमित विषयवाला होता है, अतः दोष नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि साक्षात्व स्वरूप से प्रमा और इतर (अप्रमा) दोनों के अविशिष्ट (तुल्य) होने के कारण साधारण का ही लक्षण निर्वक्तव्य, तथा प्रत्यक्षमात्र का प्रकरण है, और साधारण पूर्वक विशेष के निर्वचन का सम्भव होता है, अतः सामान्य लक्षण की अव्याप्ति है ॥ १९८ ॥

अनिष्टभ्रमबुद्धिमते षोढासन्निकर्षस्यप्रत्येकमिलितविकल्पानुपपत्तेः। साक्षाद्धीः स्वरूपधीः स्वेन रूपेण वस्तुनो भानम् ? इति चेन्न, अनुमानादिव्यापनात्। अनुमानादौ लिङ्गाद्यपेक्षत्वात् तदवच्छिन्नकालसम्बद्धबोधत्वं, नत्वध्यक्षे इति चेन्न, व्यभिचारात्। यत्रलिङ्गादि भाव्यादिबोधकं तत्र तत्कालताव्यभिचारात्। एतेन 'यदि न लिङ्गकालावच्छिन्नव्यापकप्रतिभासोऽनुमानं तदा कूटव्याप्यानुमितस्य व्यापकस्य दैववशात्सत्यव्याप्यव्यक्त्यन्तरवतः प्राप्तौ व्याप्तिकालावच्छिन्नव्यापकप्राप्त्या तावत्यंशे प्रमात्वं प्रमाविशेषान्तर्भावाऽनिर्वाह्यमापद्येतेति निरस्तम्, भूतादिव्यापकानुमाने व्याप्यकालत्वाऽसम्भवात् ॥ १९९ ॥

अनिष्टेति। अनिष्टा भ्रमबुद्धिर्यस्य मीमांसकस्य तन्मते इत्यर्थः। प्रत्येकमिति। षण्णां सन्निकर्षाणां प्रत्येकमन्योन्याभावे। विवक्षितो ? मिलितान्योन्याभावो वा ? उभयथापि सन्निकर्षस्यापि कस्यचित् षोढासन्निकर्षेतरत्वं भवतीति तदप्रयुक्तविषयनियमजत्वं तज्जन्यसाक्षात्काराव्यापकमित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशाव्याप्तिर्न दोषस्तन्मते तत्तांशस्य स्मृतित्वात्। नरसिंहाकारं हि तज्ज्ञानं मीमांसकमते। स्वरूपधीरिति लक्षणम्। तदेव विभजते—स्वेनेति। नतु लिङ्गाद्युपधानेनेत्यर्थः। यत्रेति। मेघोन्नत्यनुमितभाविवृष्टौ लिङ्ग-

कालानुपधानात् स्वरूपेणैव भानमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । लिङ्गकालोपधानमावश्यकम् अन्यथा धूलीपटलाद्वह्निमति वह्न्यनुमितिः प्रमा स्यात्तत्प्रमात्वे च प्रमाचतुष्टये क्व सान्तर्भवेल्लिङ्गकालोपधानांशस्यासत्यत्वात्तदप्रामाण्य प्रमाचतुष्टयान्तर्भावव्यावृतिर्भवतीति कस्यचिन्मतमुपन्यस्य दूषयति । एतेनेति । व्याप्तकालेति । व्याप्तिकालावच्छिन्नव्यापक प्राप्त्या तदुपधानस्य नाऽप्रमात्वप्रयोजकत्वमित्यर्थः । एतदनुरोधेन व्याप्यकालावच्छेदः स्वीक्रियेत, यदि तन्निर्वहेन्नत्वेवमित्याह—भूतादीति । अतीतानागतस्थलेऽनुमितौ यत्कालोपधानासम्भवात्सम्भवे वा तदप्रमात्वं स्यादित्यर्थः ॥ १९९ ॥

अन्यथाख्यातिरूप भ्रम को मानने वालों के मत में भ्रम में लक्षण की अव्याप्ति कहने पर, यदि कहा जाय कि भ्रम को नहीं मानने वाले, अख्यातिवादी प्रभाकर के मत में यह अव्याप्ति दोष नहीं होगा, तो कहा गया है कि जिन को भ्रमबुद्धि अनिष्ट (अमान्य) है, उनके मत में भी छवों सम्बन्ध के प्रत्येक वा मिलित के विकल्प की अनुपपत्ति से अव्याप्ति दोष है, क्योंकि छः सम्बन्ध के प्रत्येक के इतर से अनियमित विषयवत्त्व प्रत्यक्ष में कहें तो समवाय से इतर संयोग से नियमित विषयवत्त्व घटप्रत्यक्ष में होने से अव्याप्ति होगी। यदि छः के समूह से इतर से अप्रयुक्त छः के समूह से प्रयुक्त नियमवत्त्व कहें तो असम्भव होगा, मिलित षड्विध संसर्ग से कोई प्रत्यक्ष होता ही नहीं है।

उक्त लक्षण में दोष से लक्षणान्तर कहते हैं कि पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान (स्वधर्म युक्त पदार्थ का ज्ञान) प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् स्वरूप से वस्तु का ज्ञान हो, किसी उपाधियुक्त का भान नहीं हो, वह प्रत्यक्ष होता हैं, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमानादि में अतिव्याप्ति होती है, स्वरूप का भान अनुमिति में भी होता है, स्वधर्मयुक्त धर्मी अनुमिति में भासता है। यदि कहा जाय कि अनुमिति आदि में अनुमेय वस्तु के स्वरूप से भिन्न लिङ्गादि की अपेक्षा होती है, अतः उस लिङ्गादि से अवच्छिन्न (युक्त) काल से सम्बन्ध वाली वस्तु के बोधत्व (ज्ञानत्व) अनुमिति में रहता है, प्रत्यक्ष में नहीं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि लिङ्गकाल से सम्बन्धवत्त्व का व्यभिचार (अभाव) भी रहता है। जहाँ विलक्षण मेघ की उन्नति (वृद्धि) देख कर भावी वृष्टि की अनुमिति होती है, वहाँ लिङ्ग शब्दादि भावी आदि अर्थ के बोधक होते हैं, अनुमेय आदि को लिङ्गादियुक्त काल में वृत्तिता के अभाव से स्वरूप का ही भान होता है, अतः अतिव्याप्ति होगी ही। (एतेन) इस भूतादि कालिक व्यापक (वृष्टि आदि) के अनुमान से यह वक्ष्यमाण कथन निरस्त हो जाता है। कोई कहते हैं कि लिङ्गकालसम्बन्धयुक्त साध्यविषयत्व अनुमिति को अवश्य होना चाहिये, अन्यथा जहाँ धूलिसमूह को देख कर अनुमिति अग्नि की होगी, और दैवयोग से अग्नि वहाँ वर्तमान भी रहेगी, तो वह अनुमिति प्रमा होगी। यदि लिङ्ग काल युक्त व्यापक के अनुभवरूप अनुमान को न मानें, तो कूट = मिथ्या = असत् लिङ्गरूप उक्त व्याप्य से अनुमित व्यापक वस्तुतः सत्यव्याप्य धूमरूप लिङ्गवाली अग्नि के वहाँ दैववश प्राप्त होने पर, व्याप्तिग्रहण काल में रहने वाला व्यापक अग्नि के वहाँ प्राप्त होने से अग्नि अंश में वह ज्ञान प्रमा होगी, परन्तु असत् हेतु जन्य होने से अनुमिति प्रमा नहीं होगी, न प्रत्यक्षादि विशेष प्रमा के अन्तर्भावरूप से उसका निर्वाह हो सकेगा, अतः पञ्चम प्रमा स्वीकार करना पड़ेगा। और हेतुका-

लावच्छिन्न साध्यविषयक अनुमिति को ही प्रमा मानने पर उसमें प्रमात्व की प्राप्ति नहीं होती है, यह कथन भूतादि व्यापक के अनुमान में व्याप्यकालत्व के असम्भव से निरस्त है उक्त असत् हेतु जन्य अनुमिति साध्यांश में प्रमा ही है ॥ १९९ ॥

अबाधितांश में भी भ्रम कहना अनुचित है, सो कहते हैं कि—

तथापिचाग्न्यादिमदंशमात्रे प्रमात्वापातस्य दुष्परिहरत्वस्योक्तत्वात्। अनुपहितप्रतीतिः साक्षाद्धीः ? इति चेन्न, विशिष्टप्रविष्टविशेष्यप्रत्यक्षाव्यापनात् करणानुपहितत्वं विवक्षितम् इति चेन्न, परकरणोपहिताऽव्यापनात् । स्वकरणोपहितत्वस्य च स्वपदकुक्षिनिक्षिप्तत्वात्। व्याप्त्याद्युपहितत्वानां व्यतिरेकस्य यत्र समुच्चयः सा धीः साक्षाद्धीः ? इति चेन्न, व्याप्त्यादिप्रत्यक्षाव्यापनात् असिद्धत्वाच्च पर्वतोऽग्निमानित्येव प्रतिज्ञानात्, शब्देन च स्वाप्रतिपादनात्, साध्यादिमितेश्च प्रत्यक्षत्वापादनात्। अथाऽव्यवहितधीत्वं साक्षाद्धीत्वम् इति चेन्न, व्यवधानविकल्पानुपपत्तेः। यदि द्रव्यविशेषान्तरस्थितिर्व्यवधिस्तदानीमप्रत्यक्षविभुधियां साक्षात्त्वापत्तिः। अथ ज्ञापकज्ञानस्य पूर्वसत्ता व्यवधानं तदा परत्वाद्यप्रत्यक्षतापत्तिरिति। विशिष्टवैशिष्ट्यं व्यवधानम्—इति चेन्न, धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्यमिति स्वरूपस्थितौ तथात्वे कार्यकारणभावविरोधः ॥ २०० ॥

दोषान्तरमाह—तथापीति। अनुपहितेति । अनुमित्यादौ लिङ्गशब्दसादृश्योपधानातद्व्यवच्छेद इत्यर्थः। अनुपहितत्वमात्रमादाय दूषयति—विशिष्टेति। करणेति। प्रत्यक्षे तु नेन्द्रियोपधानमित्यर्थः। 'दण्डी पुरुषः' इत्यत्र घटकरणदण्डोपधानादव्याप्तिरित्याह—परेति। अनुमित्यादावपि व्याप्तत्वाद्युपधानमसिद्धमित्याह—असिद्धत्वादिति। तत्रानुमितौ तावदाह—पर्वत इति। शाब्दज्ञाने शब्दोपधानासिद्धत्वमाह—शब्देनेति। विकल्पानुपपत्तिमेवाह—यदीति । कालाकाशाद्यनुमितावतिव्याप्तिस्तेषां द्रव्यान्तरानवस्थितत्वेनाव्यवहितत्वादित्यर्थः। अथेति। ज्ञापकं यल्लिङ्गादितज्ज्ञानपूर्वसत्ता; तथाच ज्ञानाजन्यं ज्ञानमित्यर्थः। तदेति । परत्वादिज्ञानानामवधिज्ञानजन्यत्वादव्याप्तिरित्यर्थः। धूमविशिष्टे वह्निवैशिष्ट्यमिति यदि वस्तुगतिस्तदा वह्नौ धूमस्य कारणत्वापत्तिरित्याह—धूमेति ॥ २०० ॥

(तथापि च) लिङ्ग कालयुक्त लिङ्गी (साध्य) के भान को मानने पर भी असत् हेतु जन्य उक्त अनुमिति को अग्निमान् पर्वतः, इतने अंश में प्रमात्वप्राप्ति के दुर्निवारत्व का प्रथम प्रमा प्रकरण में वर्णन हुआ है। अनुपहित (उपाधिरहित) वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है, यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे अनुमिति में साध्योपहित पक्ष भासता है, वैसे विशेषण से विशिष्ट में विशेष्यरूप से प्रविष्ट विशेष्य के प्रत्यक्ष में विशेषणरूप उपाधि (गुण धर्मादि) वाला विशेष्य का भान होता है, अतः वहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि करणानुपहित (करणरूप उपाधिरहित) वस्तु की प्रतीति को प्रत्यक्ष कहें, तो (दण्डी पुरुषः) इस प्रतीति में घट के करणरूप दण्डात्मक उपाधि (विशेषण) वाला पुरुष भासता है, अतः पर (अन्य घट) के करणोपहितदण्डी पुरुष के प्रत्यक्ष में लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि स्वकरणानुपहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहें,

तो स्वकरणोपहितत्व के स्वपद के कुक्षि में निक्षिप्त होने से अव्याप्ति होगी, क्योंकि स्वपद से यदि विशेष करण का ग्रहण करेंगे तो एक करण की अपेक्षा अन्य करण से व्यवहित अनुमिति आदि में भी प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। और सामान्य करण का स्वपद से ग्रहण करने पर दण्ड के करण से व्यवहित दण्डी पुरुष के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि व्याप्ति, शब्दसङ्गति एवं सादृश्य से उपहितत्व के अभाव का जहाँ समुच्चय (समूह) हो, वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, तो (वह्निव्याप्यो धूमः, घटपदं घटे शक्तम्) इत्यादि प्रत्यक्षों में अव्याप्ति होगी, ये प्रत्यक्ष व्याप्ति आदि उपाधि वाले होते हैं। और अनुमिति आदि में भी व्याप्ति आदि उपहितत्व के असिद्ध होने से लक्षण अयुक्त है, क्योंकि (पर्वतोऽग्निमान्) ऐसी ही प्रतिज्ञा होती है (व्याप्यधूमव्यापकवान्) ऐसी प्रतिज्ञा नहीं होती है, अतः प्रतिज्ञा के अनुसार व्याप्तिरहित अग्निवाला पर्वत अनुमिति में भासता है। और शब्द से भी (स्व) शब्द के प्रतिपादन नहीं होने के कारण शब्द की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु प्रतिपादित अर्थमात्र की प्रतीति होती है। इस प्रकार व्याप्ति आदि उपाधिरहित साध्यादि की प्रतीति से उनमें प्रत्यक्षत्व का आपादन होता है (प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति होती है) और यदि अव्यवहित के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहें, तो वहाँ व्यवधान के विकल्प की अनुपपत्ति से यह लक्षण भी नहीं बन सकता क्योंकि अव्यवहित का ज्ञान व्यवहित सापेक्ष हो सकता है, वहाँ व्यवधान में विकल्प संशय होता है कि व्यवधान क्या है? वहाँ यदि प्रमाण प्रमेय के मध्य में, द्रव्यविशेषान्तर की स्थिति को व्यवधि (व्यवधान) कहें, तो विभुपदार्थों के अप्रत्यक्ष ज्ञानों को प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी, अर्थात् 'नभो द्रव्यं, शब्दगुणवत्त्वात्। आत्मा नित्यः, अणुसावयवेभ्यो भिन्नत्वात्। आत्मा न सावयवः, अनित्यत्वापातात्। आत्मा नाऽनित्यः, कृतहानाकृताभ्यागमादिदोषप्रसंगात् इत्यादि न्यायानुसारी अनुमान से तथा शास्त्र से शब्दाश्रयत्व नित्यत्वादिरूप से आकाश और आत्मा के परोक्ष ज्ञान में भी प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि विभुआकाशादि को किसी के साथ द्रव्यान्तर से व्यवधान नहीं हो सकता। और यदि पर्वतीय अग्नि आदि के ज्ञापक जो लिङ्गादि (धूमादि) उसके ज्ञान की जो अनुमिति आदि से पूर्व काल में सत्ता (वर्तमानता) उसको व्यवधान कहें, तो ज्ञानाजन्यज्ञानत्वप्रत्यक्ष का लक्षण होगा, अतः अवधिज्ञानजन्य परत्व, अपरत्व, ह्रस्वत्व तथा दीर्घत्वादि के प्रत्यक्ष ज्ञान में लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि किसी विशेषण से विशिष्ट (युक्त) के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) को व्यवधान कहें, और उससे रहित के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहें, तो मानो धूमविशिष्ट में अग्निविशिष्ट सिद्ध होता है, अनुमितिस्थान में ऐसा वस्तु स्वरूप की स्थिति होगी, तभी धूम विशिष्ट का अनुमिति जनन में अग्निविशिष्ट व्यवधानरूप सिद्ध होगा। परन्तु ऐसी स्वरूप स्थिति होने पर धर्म के पूर्ववृत्तित्व से व्यवधान होने पर कार्यकारणभाव का विरोध होगा, अर्थात् अग्नि की कारणता धूम में प्राप्त होगी ॥ २०० ॥

प्रतीतौ धूमवैशिष्ट्यस्य धर्मिविशेषणत्वे हेतोरंशतः स्ववृत्तिः। साध्यविशेषणत्वे व्याप्तिग्राहिप्रत्यक्षे व्यवधानान्न साक्षात्त्वं स्यात्। अथ ज्ञानस्य जातिभेदः कश्चित्साक्षात्त्वं, तत्रानुभवत्वेन परापरभावानुपपत्तेः, स्मृतेरपि

साक्षात्कारित्वादिति केचित्। तन्न, स्मृतेस्तथात्वानभ्युपगमात्, स्वप्नस्य तावत्स्मृतित्वाऽसिद्धेः, सिद्धौ वा तत्र साक्षात्त्वारोपोपगमात्। भावनाबलजस्य च क्वचिदालोकादिधर्मिकप्रियाद्याश्रयधर्म्मारोपत्वं शुक्तिरजतभ्रमवत्, निमीलितनयनादेश्च स्वप्नवदेव गतिरवगन्तव्येति ॥ २०१ ॥

ननु धूमविशिष्टो धर्म्मी वह्निविशिष्टत्वेन प्रतीयते इति क्वकार्यकारणविरोध इत्यत आह—प्रतीताविति। तर्हि धूमविशिष्टो धर्मी वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यनुमानं स्यात्तथाच धूमविशिष्टस्य धूमवत्त्वे सत्यात्माश्रय इत्यर्थः। अथ धूमविशिष्टस्य वह्नेर्धर्मिणि वैशिष्ट्यमिति वैशिष्ट्यं वैशिष्ट्यव्यवधानं, तदा व्याप्तिप्रत्यक्षेऽपिधूमविशिष्टवह्निज्ञानादव्यवहितधीत्वं लक्षणमव्यापकमित्याह—साध्येति। अथेति। स्मृतेरपीति। अज्ञातकरणजत्वादित्यर्थः। तन्नेति। साक्षात्त्वजातिवादिना नैयायिकेन स्मृतिसाक्षात्त्वानभ्युपगमात्, ज्ञानाकरणकज्ञानत्वस्य साक्षात्त्वव्यवस्थापकस्यानुभवकरणिकायां स्मृतावभावादित्यर्थः। ननु स्मृतिविपर्य्यासः स्वप्नः, स च साक्षात्कारीति कथं न स्मृतौ साक्षात्त्वमित्यत आह—स्वप्नस्येति। स्मृतिविपर्य्यासो हि स्मृतिविषये विपर्यासो नतु स्मृतिर्विपर्यस्तेत्यर्थः। ननु तथैव किं न स्यादत आह—सिद्धौ वेति। यदि स्वप्नस्य स्मृतित्वमेव, तदा न साक्षात्त्वं, रात्रौ मया कामिनीसाक्षात्कृतेत्यनुव्यवसायस्य साक्षात्त्वारोपरूपत्वादित्यर्थः। ननु कामातुरकामिनीसाक्षात्कारः स्मृतिरेव विषयासन्निकर्षेण तदनुभवत्वाभावादत आह। भावनाबलजस्येति। ननु निमीलितनयनस्य यः कामिनीसाक्षात्कारः स स्मृतिरेव धर्म्यग्रहेणारोपानुपपत्तेरतस्तत्र साङ्कर्यं स्यादित्यत आह—निमीलितेति ॥ २०१ ॥

उक्त रीति से वस्तु के स्वरूपस्थिति में विशिष्टवैशिष्ट्यरूप व्यवधान के नहीं सिद्ध हो सकने पर यदि प्रतीति में विशिष्टवैशिष्ट्य मानें कि धूमविशिष्ट के ग्रहण के बाद अग्निवैशिष्ट्य का ग्रहणरूप व्यवधान होता है। यहाँ विचारना होगा कि धूमवैशिष्ट्य धर्मी (पक्ष) का विशेषणरूप से गृहीत होता है ? अथवा साध्य (अग्नि) के विशेषणरूप से ? प्रथम पक्ष में (धूमवाला पर्वत अग्निवाला है, धूम वाला होने से) ऐसी अनुमिति होगी, तो हेतु (धूम) को अंश में स्ववृत्तिता (आत्माश्रयता) की प्राप्ति होगी, धूम वाले में धूम ऐसा कहने से विशेषणरूप धूम में भी धूम की आश्रयता भासती है। यदि धूमविशिष्टता का साध्य के साथ सम्बन्ध मानें, तो धूमविशिष्ट अग्नि का पर्वत में वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) व्यवधान होगा, और (धूम का व्यापक अग्नि वाला पर्वत है) इत्यादि अनुमान का आकार होगा, परन्तु इस पक्ष में (जो धूम वाला है वह अग्निवाला है) इस प्रकार के व्याप्ति के प्रत्यक्षमें धूमविशिष्ट वह्निवैशिष्ट्यरूप व्यवधान के भान से अप्रत्यक्षता की प्राप्ति होगी।

प्रत्यक्ष के लक्षणान्तर का वर्णन है कि ज्ञान का कोई जातिभेद = जातिविशेष साक्षात्त्व है, वही प्रत्यक्ष का लक्षण है यहाँ कोई प्रभाकरानुयायी कहते हैं कि साक्षात्त्व अनुभवत्व के साथ परापरत्व की अनुपपत्ति से (संकर हो जाने से) साक्षात्त्व जाति ही नहीं है, क्योंकि स्मृति को भी साक्षात्कारित्व है। अतः अनुभवत्वरहित स्मृति में साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) रहता है। और प्रत्यक्षत्वरहित अनुमिति आदि में अनुभवत्व रहता है, एवं चाक्षुषादि प्रत्यक्ष में अनुभवत्व साक्षात्त्व दोनों के रहने से जाति संकर हो जाता है। यह जातित्व का बाधक है, अतः अज्ञातकरणजत्व से स्मृति में साक्षात्त्व होते

भी जातित्व नहीं सिद्ध हो सकता। परन्तु यह कथन नहीं बन सकता, क्योंकि साक्षात्त्व को जाति मानने वाले नैयायिक स्मृति के साक्षात्त्व को नहीं मानते हैं। अतः उनके मत में साक्षात्त्व अपर जाति है और अनुभवत्व उससे पर (अधिक देश वृत्ति) है, संकर नहीं है। और ज्ञानाकरणकज्ञानत्वरूप प्रत्यक्षत्व स्मृति में नहीं है, क्योंकि वह अनुभवरूप ज्ञानकरणक ही होती है। यदि कहा जाय कि स्वप्नज्ञान संस्कारजन्य होने से स्मृतिरूप होता है, और वहाँ जाग्रत्प्रत्यक्ष के समान, अयं घटः, इत्यादि प्रतीति होती है, अतः अनुभवत्व के बिना स्वप्नस्मृति में साक्षात्त्व के रहने से साक्षात्त्व से पर अनुभवत्व नहीं हो सकता, तो कहा जाता है कि स्वप्न को तो प्रथम स्मृतित्व ही असिद्ध है, क्योंकि केवल संस्कारजन्य स्मृति में पदार्थ सन्मुख नहीं भासता, तत्तायुक्त भासता है, और स्वप्न में तत्ता के बिना वह सन्मुख भासता है, अतः निद्रादोषजन्य भ्रमरूप स्वप्न होता है और भ्रम में भी तो सहकारी संस्कार होता ही है। अतः संस्कारजन्यत्व मात्र से स्वप्न स्मृतिरूप नहीं हो सकता। यदि स्वप्न को स्मृतिरूपता कथञ्चित् सिद्ध हो तो भी साक्षात्त्व नहीं हो सकता है किन्तु उसमें सक्षात्त्व का आरोप (भ्रम) माना गया है, जैसे भावना (वासना) के बल से जायमान को आलोकादि धर्मी (आश्रय) में प्रिया (स्त्री) आदि में रहने वाले सौन्दर्यधर्मों का अरोप होता है तथा शुक्ति में रजत का भ्रम होता है, वैसे ही स्वप्न में प्रत्यक्षत्व का अरोप होता है। निमीलित नेत्र वाले को भी जो साक्षात्कारतुल्य ज्ञान होता है, वह भी स्मृतिरूप प्रत्यक्ष नहीं होता जिससे सांकार्य हो सके, किन्तु उसकी भी स्वप्नतुल्य ही गति (रीति) अगन्तव्य है, अर्थात् मनोनिरोधयुक्त आत्ममनःसंयोग से वह ज्ञान स्वप्नतुल्य ही होता है ॥ २०१ ॥

इदं तु स्यात्, परमाण्वादिबुद्धावनुव्यवस्यमानायां परमाणुप्रतीत्यंशेऽपि साक्षात्त्वमनुभूयते इत्यत्र न नः सम्प्रतिपत्तिः। अन्यथा लिङ्गबुद्धिलक्षणया प्रत्यासत्त्या वह्निरपि मानसप्रत्यक्ष एव, न लैङ्गिकः, इति परेण सुवचत्वात्। एवं प्रत्यभिज्ञायां पूर्वदेशकालस्थितिमस्य पश्यामीति कस्यानुभवो ? यद्बलात् तथाभ्युपेयम्। तस्मात्प्रतीतिकलहोऽयम्। यदि च साक्षात्त्वजातिरध्यक्षमानिका, तदा प्रतीतौ कस्याञ्चिदध्यक्षानध्यक्षविवादो न स्यात्। नहि घटादिप्रत्यक्षत्वे विवदन्ते। क्वचिदस्फुटत्वाद्विवादः इति चेन्मैवम्। निरंशे वस्तुनि कः स्फुटत्वावभासः ॥ २०२ ॥

टी० तत्किं साक्षात्त्वं जातिरेव ? तथा च तदेव लक्षणं प्रत्यक्षस्येत्यत आह—इदमिति। साक्षात्त्वमिव परोक्षत्वमपि जातिः स्यात्तथाच तयोः संकरोऽत्र दोष इति वक्तुं पीठमारचयति—परमाण्वादीति। अनुव्यवस्यमानायामित्यत्राऽनुव्यवसीयमानायामिति युक्तः पाठः, साधातोर्वा गणपाठसिद्धस्यायं प्रयोगः। ननु तत्र परमाण्वंशेऽपि साक्षात्त्वमनुभूयते एवेत्यत आह—न नः सम्प्रतिपत्तिरिति। नन्वसम्प्रतिपत्तिमात्रेण न वस्तुनिवृत्तिरित्यत आह—अन्यथेति। यद्यप्यन्यबुद्धिर्नान्यत्र प्रत्यासत्तिस्तथापि लक्षणदूषकस्य परस्यायमभिप्राय इत्यर्थः। यद्वा, लिङ्गबुद्धिपदेन व्याप्तिस्मृतिरुक्ता, तथाच स्मृत्युपनीतवह्निवैशिष्ट्यं पर्वते प्रत्यक्षेणैव भासते इति सुवचमित्यर्थः। तथाभ्युपेयमिति। प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशस्य साक्षात्त्वमभ्युपेयमित्यर्थः। तस्मादिति। प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशे परोक्षत्वमिदन्तांशे साक्षात्त्वमिति साङ्कर्यम्। एवं परमाण्वनुव्यव-

सायेऽपीत्यर्थः । दूषणान्तरमाह—यदि चेति । साक्षात्त्वसंशयः क्वापि न स्यादित्यर्थः । यद्वा, अभावज्ञाने भाट्टनैयायिकयोर्वाय्वादिज्ञाने वा साक्षात्त्वाऽसाक्षात्त्वविवादो न स्यादित्यर्थः । निरंशे इति । अखण्डजातावित्यर्थः । उपाधौ घटकाद्यनिश्चये क्वचिदस्फुटत्वमपि संभाव्यते इति भावः । गोत्वादेर्दूरत्वादिदोषादग्रहे सन्देहोऽपि स्यादान्तरे तु ज्ञाने सोऽपि नास्तीति हृदयम् ॥ २०२ ॥

साक्षात्त्व जाति के खण्डनविषयक अन्योक्ति का खण्डन करके स्वयं खण्डन करते हैं, जिससे यह न समझा जाय कि उक्त लक्षण स्थिर ही हो गया । अब कहते हैं कि वक्ष्यमाण प्रत्यक्षत्व एवं परोक्षत्व का सांकर्यरूप दोष तो होगा, क्योंकि द्व्यणुक स्वपरिमाणापेक्षया अल्पपरिमाण वाले से आरब्ध है, कार्य होने से पट के समान इस अनुमिति के बाद 'मैं अनुमान से परमाणु को जानता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय (अनुमितिज्ञान का ज्ञान) होता है । कोई ज्ञान अपने विषय के बिना अनुव्यवसाय का विषय नहीं होता, अतः परमाणु की अनुमिति भी स्वविषयपरमाणुसहित अनुव्यवसाय का विषय होती है । यहां आत्मा के विशेषगुणरूप अनुमितिज्ञान तो संयुक्तसमवायसम्बन्ध से अनुव्यसाय में प्रत्यक्ष भासने योग्य है, अतः उस ज्ञान अंश में अनुव्यवसाय प्रत्यक्ष होता है और परमाणु अंश में परमाणु की प्रत्यक्षाऽयोग्यता से अनुव्यवसाय परोक्ष होता है, अतः संकर हो जाता है । यदि कहा जाय कि लौकिक सम्बन्ध से यद्यपि परमाणु प्रत्यक्ष योग्य नहीं है, तथापि मनःसंयुक्त आत्मसमवेत अनुमितिज्ञानविषयतारूप अलौकिकसम्बन्ध से परमाणु भी प्रत्यक्ष के योग्य है, अतः अनुव्यवसाय से प्रत्यक्ष ही परमाणु भासता है, तो कहा जा सकता है कि परमाणु आदि की अनुमितिरूप बुद्धि के अनुव्यवस्यमान (अनुव्यवसाय से प्रतीयमान) होने पर परमाणु के प्रतीति अंश में प्रत्यक्षत्व का अनुभव होता है, इसमें मेरी सम्प्रतिपत्ति (मेरा अनुभव) नहीं है । अन्यथा (अनुभव के विना भी यदि ज्ञानरूप अलौकिक सम्बन्ध से प्रत्यक्ष माना जाय) तो व्याप्तिग्रहणादिकाल में जो लिङ्ग में व्याप्तिज्ञान होता है, वह संस्काररूप से मनःसंयुक्त आत्मा में समवेत रहता है, तद्विषयता सम्बन्ध से अग्नि का मानस प्रत्यक्ष ही होगा, क्योंकि लिङ्गबुद्धि (व्याप्तिबुद्धि) रूपसम्बन्ध से होने से लैङ्गिक (लिङ्गज्ञान जन्य) अनुमिति नहीं हो सकेगी । प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री अनुमितिसामग्री से बलवती होती है, इत्यादि । इस प्रकार अन्य से सुवच है । इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा में, अस्य (इस प्रत्यभिज्ञा के विषय) वस्तु के पूर्व देश एवं काल की स्थिति को मैं देखता हूँ, ऐसा किस को अनुभव होता है जिस अनुभव के बल से नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्त आत्मसमवेत ज्ञानविषयता से देशकाल को प्रत्यक्ष माना जाय । अतः यह प्रतीति का कलह है, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा में तत्तांश में परोक्षत्व (स्मृतित्व) और इदन्तांश में प्रत्यक्षत्व के होने से सांकर्य है । इसी प्रकार परमाणु के अनुव्यवसाय में सांकर्य है । और उक्त प्रत्यक्षत्व जाति यदि प्रत्यक्षप्रमाण का विषय हो, तो प्रत्यक्ष प्रतीतिरूप उक्त अनुव्यवसायादि में प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्व का विवाद किसी को नहीं होना चाहिये । एवं वायुज्ञान और अभावज्ञान में प्रत्यक्षत्व तथा अप्रत्यक्षत्व का विवाद नहीं होना चाहिये, क्योंकि घटादि के प्रत्यक्षत्व में किसी को विवाद करते नहीं देखा जाता । यदि कहा जाय कि कहीं

जाति स्फुट नहीं रहने से विवाद होता है, तो यह युक्त नहीं, क्योंकि निरंश (अखंड) वस्तु जाति में स्फुटत्व की प्रतीति क्या हो सकती है ? दूरता दोष से गोत्वादि में अस्फुटत्व भास भी सकता है, आत्मवृत्ति ज्ञान में नहीं ॥ २०२ ॥

सांश वस्तु के किसी अंश के ज्ञात किसी के अज्ञात रहते उसके ज्ञान में अस्फुटता हो सकती है, निरंश जाति के ज्ञान में नहीं, तथापि जातिवादी प्रकारान्तर से अस्फुटता का प्रतिपादन करता है। वह कहता है कि—

यद्येकार्थसमवायिभिर्भूयोभिःसहोपलम्भः, स ज्ञानत्वादिवत्साक्षात्त्वेऽपि तर्हीति ज्ञानादित्वे न विवादः साक्षात्त्वेत्विति विशेषो वाच्यः। दर्शनकृतो हि विवादो न मात्सर्येण वाङ्मात्रेण वा, किन्तु तत्त्वाभिमानादेव। प्रत्यक्षार्थधर्म्मिकायां चाऽनुमायां साक्षात्त्वपरोक्षत्वसङ्करो दुर्वारः। परोक्षत्वं न जातिः किन्तु साक्षात्त्वमेव तथा केवलं साक्षात्त्वाभावः परोक्षत्वम् इति चेन्न, अस्यार्थस्य विनिगन्तव्यत्वापत्तेः। सर्वज्ञमनुमन्यमानस्य च मते दृष्टलिङ्गादेरीशस्य लिङ्गयादिकबुद्धावपरोक्षत्वेनापि विरोधः। लिङ्गादिधीजन्यत्वमनुमित्यादौ प्रयोजकम् इति चेन्न, साक्षात्त्वेऽपि तर्हीन्द्रियसन्निकर्षादिजत्वमिति साक्षादपि सा न स्यात्। व्यञ्जकोपाधिनियता च जातिरिष्यते, न च तदत्र, उक्तप्रकारबाधात्। न च व्यञ्जकनियमानभ्युपगत्या न तदत्रोपगम्यमिति वाच्यम् ॥ २०३ ॥

दर्शनकृत इति। शास्त्रकृतोऽनुभवकृतो वा। तथाच शास्त्रकाराणां साक्षात्त्वेन वैमत्यं-प्रतीतिकलहो वेत्यर्थः। साक्षात्त्वपरोक्षत्वयोः साङ्कर्ये स्थानान्तरमाह—प्रत्यक्षेति। परोक्षत्वसङ्कर-इत्युपलक्षणम्, अनुमितित्वसङ्करोऽपि द्रष्टव्यः। दृष्टलिङ्गस्येश्वरस्य ज्ञानं परोक्षं भवितुमर्हति नत्वपरोक्षमिति तत्र परोक्षापरोक्षत्वविरोध इत्याह सर्वज्ञमिति। धर्मिग्राहकमानाद्यदि तत्र साक्षात्त्वं तदा तत एवानुमितित्वमपि किं न स्यात्? प्रवृत्तेरुपादानगोचरापरोक्षज्ञानजन्यत्ववदिष्टसाधनतानुमितिजन्यत्वव्याप्तत्वादिति भावः। उक्तप्रकारेति। इन्द्रियजत्वादिप्रकारेत्यर्थः। नचेति। जातौ व्यञ्जकनियमानभ्युपगमात्प्रकृतेऽपि स नाभ्युपगम्यते इति नच वाच्यमित्यर्थः ॥ २०३ ॥

यदि एक ज्ञानरूप अर्थ में समवायी (समवाय संबन्ध से रहने वाले) ज्ञानत्व, अनुभवत्व और प्रत्यक्षत्व बहुत धर्मों के साथ उपलम्भ (ज्ञान) अस्फुट 'उपलम्भ है, तब तो वह साक्षात् उपलम्भ ज्ञानत्वादि के समान ही साक्षात्त्व में भी है, तो भी ज्ञानत्व में विवाद नहीं होता है, और प्रत्यक्षत्व में विवाद होता है, अतः इसमें विशेष कहना चाहिये। यह नहीं कह सकते कि यह मात्सर्य (परोत्कर्षासहिष्णुता) के कहने मात्र का विवाद है, इसमें विशेष क्या वक्तव्य है, क्योंकि यह दर्शनकारों (शास्त्रकारों अनुभवियों) का विवाद है, मात्सर्य या वाङ्मात्र से नहीं किन्तु स्वस्व निश्चय वचन में तत्त्व (सत्यत्व) के अभिमान से ही विवाद है। अतः आप को विशेष वक्तव्य है। और प्रत्यक्षधर्मी (पक्ष) में जहाँ अनुमिति होती है, वहां भी साक्षात्त्व एवं परोक्षत्व का संकर दुर्वार है, क्योंकि पक्ष अंश में प्रत्यक्ष और साध्य अंश में परोक्षरूप वह अनुमिति होती है। यदि कहा जाय कि परोक्षत्व जाति नहीं है, किन्तु साक्षात्त्व ही जातिरूप है। परोक्षत्व

तो केवल साक्षात्त्व का अभाव रूप है, तो इस अर्थ को विनिगम्यत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् कहने मात्र से यह अर्थ नहीं सिद्ध हो सकता, नहीं तो वादी विपरीत ही कह सकता है कि 'साक्षात्त्वं न जातिः' इत्यादि। और विनिगमक (स्वपक्षसाधक) हेतु आप दर्शा नहीं सकते, अतः यह कथन अयुक्त है। और सर्वज्ञ ईश्वर मानने वाले (अनुमान से सिद्धकरने वाले) के मत में लिङ्गज्ञानवाले ईश्वर को लिङ्गी आदि के ज्ञान में भी अपरोक्षत्व के साथ परोक्षत्व का विरोध (संकर) होगा, क्योंकि लिङ्गदर्शनजन्य होने से अनुमितिरूप होगा, सर्वज्ञता से वही ज्ञान प्रत्यक्षरूप भी होगा। यदि कहा जाय कि लिङ्गशब्दादि ज्ञानजन्यत्व अनुमितित्वादि का प्रयोजक (हेतु) होता है, ईश्वर का नित्यज्ञान अनुमिति आदिरूप नहीं होता, तो कहा जा सकता है कि साक्षात्त्व में भी इन्द्रियसन्निकर्षादिजन्यत्व प्रयोजक (हेतु) होता है, अतः वह नित्य ईश्वर की बुद्धि (ज्ञान) साक्षात् (अपरोक्ष) भी नहीं होगी, जो आप के लिये अनिष्ट है। और व्यञ्जक उपाधि से नियत (सम्बद्ध) जाति रहती है, जैसे शृङ्गसास्नादि से नियत गोत्व जाति रहती है। प्रकृत में नियत व्यञ्जक का अभाव है, क्योंकि सविशेषार्थप्रकाशकत्वादि, इन्द्रियजन्यत्वादि व्यञ्जक प्रकारों का पूर्वोक्तरीति से बाध हो चुका है। यदि कहा जाय कि जातिव्यञ्जक नियम के नहीं मानने से इस प्रत्यक्षत्व जाति में भी व्यञ्जक मन्तव्य नहीं है, तो यह कहना नहीं बन सकता॥ २०३॥

किं मया दृष्टं तथा किं वा केनचित्कथितमिति संशयानुपपत्तेः। प्राग्भूतायां स्मर्यमाणायां तद्बुद्धौ त्वन्मते मनसा ज्ञानरूपया प्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षीक्रियमाणायां साक्षात्त्वाऽग्रहो विना व्यञ्जकाभावं कथं स्यात्। अर्थधर्मश्च साक्षात्त्वमिति स्वप्रकाशवादे निरास्यम्। तथाप्यबाधितसाक्षात्त्वबुद्धिव्यवहारबलादन्ततः पदार्थान्तरमपि साक्षात्त्वमननुमत्य न निस्तारोऽस्ति, भ्रान्तेरप्यभ्रान्तिपूर्वकत्वात् इति चेन्न; तस्यापि साक्षाद्ग्रहे क्वचिदपि तद्विवादो न स्यादित्यादिदोषसाम्यात्। अनुमानादिवेद्यत्वे च लिङ्गाद्यनुपपत्तिः; क्व च व्याप्त्यादिग्रह इत्यादिदुरुत्तरपरम्परैव स्यात्। सप्तपदार्थीनियमसाधनानि च कथं परिपन्थीनि न स्युरिति। लिङ्गादिजत्वाभावसमुदायवती धीः साक्षात् इति चेन्न, परोक्षविषयसंशयादावतिव्याप्तेः। 'ईदृशी प्रमा तथा' इति चेत्, प्रत्यक्षभ्रमाऽव्याप्तेः॥ २०४॥

किं मयेति। धर्मिदर्शनमात्रादेव साक्षात्त्वादर्शनात्संशयो न स्यादुत्पन्नो वा संशयो न निवर्तेतेत्यर्थः। एतदेव स्पष्टयति—प्रागिति। अनुगतसाक्षात्त्वकल्पनैव श्रेयसितरेति यदुक्तं तत्राह—अर्थधर्म इति। तथापीति। नहि वस्त्वन्तरेण प्रतीतिव्यवहारावित्यर्थः। प्रतीतिबलायातस्यापि दोषदर्शनात्त्याग एवेत्याह—तस्यापीति। लिङ्गादीत्यादिपदात्सङ्केतादिसङ्ग्रहः। क्वचेति। अनिर्णीताश्रयत्वात्साक्षात्त्वस्येत्यर्थः। साक्षात्त्वस्य परिगणितपदार्थानन्तर्भावे दोषमाह सप्तेति। नियमसाधनानि परिशेषानुमानानि। लिङ्गादीति। यत्र लिङ्गशब्दसादृश्यजत्वं नास्ति तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यर्थः। अपरोक्षे इष्टापत्तिमाशङ्क्य परोक्षेति। ईदृशीति। लिङ्गादिजत्वाभाववतीत्यर्थः। साक्षात्कारिज्ञानलक्षणमभिप्रेत्याह। प्रत्यक्षेति। अनुमानादि च तद्व्यवच्छेद्यं चेति कर्मधारयः। तेनानुमानादेर्व्यवच्छेद्यस्य यदसाधारणं लिङ्गादिकारणं तदजनिता धीः साक्षाद्धीरित्यर्थः॥ २०४॥

क्योंकि जातिव्यञ्जक के नियम को नहीं मानने पर, किसी वस्तु को प्रथम देखने के बाद, कभी संशय होता है कि अमुक वस्तु को मैंने देखा था, या किसी ने कहा था यह संशय नहीं हो सकेगा, क्योंकि पूर्वकाल में उत्पन्न उस बुद्धि (ज्ञान) के स्मरण या आप के मतानुसार संस्कारात्मक ज्ञानरूप सम्बन्ध से मानस प्रत्यक्ष कर लेने पर साक्षात्त्व का अग्रहण व्यञ्जक के अभाव के बिना कैसे हो सकता । अर्थात् जो नियत व्यञ्जक मानते हैं, उनके मत में तो व्यञ्जक के ज्ञानाभाव से प्रत्यक्षत्व का संशय हो सकता है, आप के मत में प्रत्यक्षज्ञान व्यक्ति के स्मरण या मानस ज्ञान होने पर तद्गत प्रत्यक्षत्व का भी अवश्य ही ज्ञान या स्मरण होगा, जिससे संशय नहीं हो सकेगा । और व्यञ्जकाभाव रहते संशय हो तो उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती । और उक्तरीति से विवाद के कारण साक्षात्त्व नियत व्यञ्जक रहित होने से जाति नहीं है । और अर्थ का धर्मरूप साक्षात्त्व है, ज्ञान का नहीं, किन्तु साक्षात् वस्तुविषयक होने से ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है, यह पक्ष आगे स्वप्रकाशवाद में निरसनीय है । प्रथम कर्मलक्षण के खण्डनप्रसंग में खण्डित हुआ है । शंका होती है कि सांकर्य से साक्षात्त्व में जातित्व नहीं होने पर भी अबाधित साक्षात्त्व की बुद्धि और व्यवहार (शब्द प्रयोग) के बल से अन्ततः (अगत्या) पदार्थान्तर (सप्तपदार्थातिरिक्तपदार्थ) रूप भी साक्षात्त्व को नहीं मानने पर निस्तार ही नहीं है, अर्थात् बुद्धि एवं व्यवहार के बल से पदार्थान्तर-रूप साक्षात्त्व मन्तव्य है । यदि कहा जाय कि साक्षात्त्व की बुद्धि और व्यवहार भ्रमरूप और भ्रम मूलक होते हैं, उनसे पदार्थान्तर की सिद्धि नहीं हो सकती, तो कहा जाता है कि भ्रान्ति भी अभ्रान्तिपूर्वक होती है, अतः भ्रान्ति के मूलभूत अभ्रान्त बुद्धि एवं व्यवहार से पदार्थान्तर की सिद्धि होगी । उत्तर यह है कि उस पदान्तररूप साक्षात्त्व का यदि प्रत्यक्षज्ञान से ग्रहण होता हो तो उस विषय में कहीं भी विवाद नहीं होना चाहिये, इत्यादि पूर्वोक्त दोष यहाँ भी तुल्य है । अनुमानादि से साक्षात्त्व पदार्थ को वेद्य (ज्ञेय) मानें तो लिङ्ग (हेतु) शास्त्रादि की अनुपपत्ति (असिद्धि) है, क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रसिद्धि के बिना व्याप्ति आदि का ग्रहण कहाँ हो सकता, इत्यादि दुरुत्तर परम्परा ही होगा । अर्थात् साक्षात्त्व के साक्षात्कार में मानाभाव, लिङ्गाभाव, व्याप्ति ग्रहाभावादि के प्रश्न दुरुत्तर हैं । और सात पदार्थ के समूह के नियम को सिद्ध करने वाले साधन (प्रमाण) क्यों न विरोधी होंगे ? अर्थात् साक्षात्त्व को अष्टम पदार्थ मानने पर सात ही पदार्थ को सिद्ध करवे वाले प्रमाणों से विरोध होगा, क्योंकि उन सातों के अन्तर्गत भी यह नहीं हो सकता है । जब जातिरूप नहीं हो सकता तो यह द्रव्यादि रूप तो हो ही नही सकता, किन्तु बुद्धि एवं व्यवहार बल से अनिर्वाच्य प्रत्यक्षत्व सिद्ध होता है इत्यादि । लिङ्गजन्यत्व, शब्दजत्व सादृश्यजन्यत्व के अभाव समुदाय बाली बुद्धि (ज्ञान) प्रत्यक्ष होती है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि परमाणु जगत् का कारण है या प्रधान (प्रकृति) या काल स्वभावादि इत्यादि परोक्षवस्तु विषयक संशय और परोक्षविषयक भ्रम तथा स्मृति में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है । यदि कहें कि लिङ्गादिजन्यत्वाभाववाली प्रमा प्रत्यक्ष है, तो अतिव्याप्ति के वारण होने पर प्रत्यक्ष भ्रम में अव्याप्ति होगी, क्योंकि भ्रम प्रमासाधारण प्रत्यक्ष का लक्षण कर्तव्य है ॥ २०४ ॥

उक्त अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति के परिहार के लिये प्रकारान्तर से लक्षण करते हैं—

अनुमानादिव्यवच्छेद्यतत्तदसाधारणकारणाऽजनितधीः साक्षात् इति चेन्न। एवं हि प्रत्यक्षतत्तदपरव्यतिरिक्ताधीरनुमानादिरिति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यादित्यविनिगम्यत्वं स्यात्। तेषु व्यवच्छेद्येष्वेकद्व्यादिपरिहाराय व्यवच्छेद्यहेत्वजनितत्वेनापि साक्षात्त्ववत्तत्रतत्रानुगतबुद्ध्यन्तरापत्तेः। व्यवहारे सति निमित्तानुसरणं, नतु निमित्तानुसारेण व्यवहारः इति चेन्न, निमित्तस्यानत्यापत्तिद्वारस्यैव कल्प्यत्वात्। तज्जनितत्वाभावो हि तेनैव रूपेणानुगतव्यवहारानुगतप्रत्ययावाद्ध्यान्न त्वन्येनापि। तथात्वे यावत्परिदृष्टव्यक्तिविशेषान्यत्वेन व्यवहारोपपत्तौ गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गः। तस्मात्।

विधिजः प्रत्ययोऽन्योयं व्यतिरेकासमर्थनः।
नैवं चेदपराद्धं ते किमन्यापोहवादिना॥ २०५॥

एवं हीति। प्रकारान्तरेण तदशक्यनिर्वचनमनुमानाद्यपि प्रत्यक्षादिकारणाजन्यत्वेन निर्वाच्यमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। दोषान्तरमाह तेष्विति। इन्द्रियाद्यजन्यतयाऽनुमित्यादिषु लिङ्गाद्यजन्यतयोपमित्यादिषु साक्षात्त्ववत्तत्तदुपाधिकल्पनाप्रसङ्ग इत्यर्थः। ननु यथा साक्षात्त्वं व्यवह्रियते तथैव नानुमानादिगत एको धर्मस्तत्कथं कल्पनीयः स्यादित्याह। व्यवहारे इति। यथा साक्षात्त्वकल्पनानिमित्तमनुमानादिकारणाजन्यत्वमनतिप्रसक्तं तथानुमानादाविन्द्रियाद्यजन्यत्वमपीति निमित्तसाम्यात्कल्पना स्यादेवेत्याह— निमित्तस्येति। दोषान्तरमाह। तज्जनितत्वेति। लिङ्गाद्यजन्यत्वेनैव साक्षात्कारिविज्ञानेष्वनुगतप्रत्ययः स्यान्न तु साक्षात्त्वेनापीत्यर्थः। तथात्वे इति। गवाकारानुगतप्रत्ययोपि केसरादिमद्व्यक्तिविशेषान्यत्वेनैव स्यादित्यर्थः। यद्यपीत एवानिष्टप्रसङ्गात्साक्षात्त्वमनुभूयमानं दुरपलापं तथापि व्यतिरेकस्य न विधिव्यवहारनिर्वाहकत्वमिति भावः। एतदेवाह। विधिज इति। व्यतिरेकेणासमर्थनं यस्येत्यर्थः। नैवमिति। तथाचाऽगोव्यावृत्यैव गवाकारानुगतधीरस्तु किं गोत्वेनेत्यर्थः॥ २०५॥

अनुमानादि, उक्तपरोक्ष, संशय, भ्रम, स्मृति आदि जो प्रत्यक्षसे व्यवच्छेद्य (व्यवर्त्य= भिन्न) हैं, उनके तत्तत् असाधारण कारणों से अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, यह लक्षण युक्त नहीं। इस प्रकार तो प्रत्यक्ष और तत्तत् अपर (अनुमिति से भिन्न) के असाधारण कारणों से अजन्य बुद्धि अनुमिति होती है, या अनुमिति से भिन्न जो प्रत्यक्ष और अन्य तत्तत् ज्ञानादि उन सबसे भिन्न अनुमिति होती है, इसी प्रकार सबके लक्षण प्राप्त होंगे, अतः वैपरीत्य ही क्यों न होगा? अर्थात् इस प्रकार परस्पर व्यवच्छेद्य की व्यावृत्तिरूप से लक्षण करने पर अन्योन्याश्रय की प्राप्ति से यदि कहा जाय कि उन सब का ऐसा लक्षण नहीं हो सकता, किन्तु परामर्शजन्यत्व आदि ही उनके लक्षण हो सकते हैं, जिससे अन्योन्याश्रय नहीं होगा तो कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षादि असाधारणसाधनाजन्यत्वादि अनुमिति आदि का ही लक्षण होना चाहिये, प्रत्यक्ष का ही इन्द्रियजन्यत्वादि लक्षण कर्तव्य है जिससे अन्योन्याश्रय न हो, इस प्रकार अविनिगम्यता होगी। और जैसे आप व्यवच्छेद्य (प्रत्यक्षभिन्न) के हेतु से अजन्यत्व द्वारा प्रत्यक्ष में किसी अनुगत धर्म के बिना प्रत्यक्षत्वाकार अनुगत बुद्धि मानते हैं, वैसे व्यवच्छेद्यों में भी एक दो या तीन

को छोड़कर उनके हेतुओं से अजन्य में अनुगत बुद्धि होगी, अर्थात् एक प्रत्यक्ष को छोड़ कर उसके हेतु से अजन्य अनुमानादि सब में अनुगत बुद्धि होगी, इसी प्रकार लिङ्गसादृश्याजन्य में अनुमिति से उपमिति को छोड़कर अनुगतधर्म के बिना ही अनुगतबुद्धि एवं व्यवहार की प्राप्ति होगी। शंका होती है कि व्यवहार के रहने पर निमित्त का अनुसरण (स्वीकार) किया जाता है, अतः प्रत्यक्षता के व्यवहार से अनुमिति आदि के असाधारण हेतु से अजन्यत्वरूप निमित्त का स्वीकार प्रत्यक्ष में करना पड़ता है, और निमित्त के रहने मात्र से निमित्त के अनुसार व्यवहार का स्वीकार नहीं किया जाता है। घट को देखकर कुम्भकार को कर्ता माना जाता है, परन्तु यह नियम नहीं है कि जाति से यह कुम्भकार है, तो अवश्य घट बनाता है। इसी प्रकार एक दो तीन से भिन्नतारूप अनुगत बुद्धि एवं व्यवहार के निमित्त रहते भी अनुगत बुद्धि एवं व्यवहार नहीं होता। उत्तर यह है कि व्यवहार के अनुसार निमित्त की कल्पना होती है, यह ठीक है, परन्तु लक्षणरूप निमित्त ऐसा होना चाहिये जो अत्यापत्ति (अतिव्याप्ति) का द्वाररूप नहीं हो, अतिव्याप्ति के द्वार से भिन्न ही निमित्त कल्पनीय होता है और आप का लक्षण अतिव्याप्ति को द्वार देने वाला है। और दूसरी बात यह है कि व्यवच्छेद्यासाधारणकारणाजन्यत्वरूप प्रत्यक्षत्व, असाधारणजनितत्वाभावरूप से अनुगतज्ञान और व्यवहार को सिद्ध करेगा, अन्य प्रत्यक्षत्व-साक्षात्त्वादिरूप से नहीं। और उक्त जनितत्वाभाव को ही यदि प्रत्यक्षत्वादिभावरूप से व्यवहारादि का हेतुत्व हो तो गोत्वादि जाति की उच्छेदापत्ति होगी, क्योंकि गोव्यक्ति से इतर यावत्परिदृश्यमान व्यक्तिविशेष से गोगत अन्यत्व (भेद) से ही गवादि के अनुगतगोत्वरूप से व्यवहार की सिद्धि होने पर जाति की आवश्यकता हीं नहीं रहेगी। तस्मात् विधिजन्य (अयं गौः, इदं प्रत्यक्षम् , इत्यादिभावरूप से बोधक शब्दजन्य) यह प्रत्यय (ज्ञान) अन्य होता है, व्यतिरेक (अभाव) से इसका समर्थन (साधन) नहीं हो सकता, यदि ऐसा नहीं मानें, तो अगौ का व्यावृत्तिरूप ही गौ इस अनुगतबुद्धि का विषय मानें, परन्तु इस अवस्था में अन्य का अपोह अभावरूप ही पदार्थ है, घट से इतर का अभावरूप घट है, इस प्रकार मानने वाला बुद्धानुयायिवादी ने क्या अपराध किया है कि उसकी बात को नहीं मानी जाय। अर्थात् उक्तरीति से बुद्धमत की प्राप्ति होगी॥ २०५॥

प्रमितिप्रतीत्यन्तर से भिन्नत्वयुक्त प्रमितिप्रतीतित्वभावरूप ही है, अभाव नहीं, इस आशय से लक्षणान्तर के कथन पूर्वक खण्डन है कि—

शब्दानुमानोपमानजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वं प्रत्यक्षलक्षणमभिधाय यः कोपि न त्रपते स प्रष्टव्यः, किं प्रत्येकमिदं लक्षणं? मिलितं वा। नाद्यः, प्रत्येकं व्यभिचारात्। द्वितीये, किं मिलितानां निषेधः उत निषेधानां मिलितत्वम्। नाद्यः, प्रत्येकमेव व्यभिचारात्। नहि प्रत्येकमनुमित्यादौ मिलिततद्रूपसम्भवः। नापि द्वितीयः, मिलितास्वनुमित्यादिषु निषेधमेलकसंभवेपि प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमात्। न वह्वाश्रयाणामुक्तनिषेधानां लक्षणत्वमपि त्वेकाश्रयाणाम्? इति चेन्न, समुदायिभेदेऽपि समुदायस्यानु-

मित्यादिवदेकतोपचारबीजाविशेषाभ्युपगम इति हि वक्ष्यते। असमुदायत्वेसतीत्यपि विवक्षितम् इति चेन्न, समुदायत्वविशिष्टे एवांशतः स्वात्मनि वृत्तिविरोधभयेनासमुदायत्वस्यैष्टव्यत्वेन तादृशि प्रसङ्गो दुर्वारः। ज्ञानस्यैवं विवक्षितम् इति चेन्न, विशिष्टस्यापि ज्ञानस्य ज्ञानत्वादेव ॥ २०६ ॥

ननु प्रतीतित्वं प्रतीत्यन्तरभिन्नत्वविशिष्टं साक्षात्त्वव्यवहारहेतुरिति विधित्वमेवेत्याशङ्क्याह—शब्देति। प्रत्येकमिलितदोषाऽज्ञानमेव त्रपाहेतुः, व्यतिरेकविशिष्टस्योपाधेर्विधित्वाभिमानो वा। प्रत्येकमिति। अनुमित्यादिप्रत्येकान्योन्याभाववत्त्वे सति प्रतीतित्वस्यानुमित्यादिप्रत्येकातिव्यापकत्वमित्यर्थः। नहीति अनुमित्यादिसमुदायान्योन्याभावस्य प्रत्येकगतत्वेनातिव्याप्तिरित्यर्थः। मिलितेति। अनुमित्यादित्रयमेलके त्रितयान्योन्याभावमेलकसत्त्वेनातिव्याप्तिरित्यर्थः। न बह्वाश्रयाणामिति। मिलिता अप्यनुमित्यादयो बहवः प्रत्यक्षं त्वेकोपाधिसङ्गृहीतमेकम्, एकनिष्ठत्वं लक्षणस्य विवक्षितमित्यर्थः। समुदायीति। समुदायिनोऽनुमित्यादयो यद्यपि बहवस्तथापि तत्समुदाय एक एवेत्येकाश्रयत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। अनुमितिषु यथा लिङ्गादिजत्वमेकमुपचारबीजमेवमनुमित्यादित्रये प्रत्यक्षभिन्नत्वमैक्यनिबन्धनमस्त्येवेति भावः। असमुदायत्वे इति। तथा च नानुमित्यादिमेलकेऽतिव्याप्तिस्तस्य समुदायत्वादित्यर्थः। समुदायत्वेति। एवमप्यनुमित्यादिमेलकेऽतिव्याप्तिस्तस्य समुदायत्वविशिष्टस्यासमुदायस्यात्माश्रयभयेन स्वीकार्यत्वादित्यर्थः। ज्ञानस्येति। अनुमित्यादिमेलकस्य ज्ञानत्वान्नातिव्याप्तिरित्यर्थः। विशिष्टस्येति। समुदायत्वविशिष्टानुमित्यादेरपि ज्ञानत्वादतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः ॥ २०६ ॥

शब्द अनुमान और उपमान प्रमाण से जन्य प्रमितियों से भिन्न प्रमितित्वरूप प्रत्यक्ष के लक्षण कह कर जो कोई लज्जित नहीं होता, उससे पूछना चाहिये कि क्या यह प्रत्येक लक्षण है ? या मिलित ? अर्थात् ऐसा लक्षण सर्वत्र कहा जा सकता है तथा यह लक्षण भी अभावघटित है, यह नहीं समझना निर्लज्जता का कारण है, तो भी प्रष्टव्य है कि शाब्दीप्रमाभिन्न प्रमितित्व अनुमितिप्रमाभिन्न प्रमितित्व और उपमितिप्रमाभिन्न प्रमितित्व ये तीनों प्रत्येक लक्षण है ? या शाब्द अनुमिति और उपमिति इन तीनों के समुदाय से भिन्न प्रमितित्वरूप एक लक्षण है ? यहां प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्येक में लक्षण का व्यभिचार होता है। अर्थात् अतिव्याप्ति होती है। शाब्दप्रमा से भिन्न होते भी प्रमितित्व अनुमिति तथा उपमितिरूप प्रमा में प्राप्त होता है। इसी प्रकार अनुमिति भिन्न प्रमितित्व शाब्दी और उपमितिप्रमा में भी रहता है, इत्यादि। द्वितीय पक्ष में भी क्या शाब्दी आदि तीनों मिलित प्रमितियों का निषेध (भेद) प्रत्यक्ष प्रमिति में कहते है ? या तीनों के निषेधों के मिलितत्व प्रत्यक्ष प्रमिति में कहते हैं। यहाँ प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक में फिर व्यभिचार है, अर्थात् प्रत्येक शाब्दी प्रमिति आदि में तीनों के समूह का भेद रहता है। और प्रत्येक समूहरूप नहीं कहा जाता है। अतः प्रत्येक में समूह से भिन्नत्व होते प्रमितित्वरूप प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि प्रत्येक अनुमिति आदि में मिलित तद्रूपता (अनुमिति आदिरूपता) नहीं रहती है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि मिलित (समूह) रूप अनुमिति आदि में प्रत्येक अनुमिति आदि के निषेध (भेद) के मेलक (मेलन) के सम्भव रहते भी उन्हें प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है, अतः अलक्ष्य में लक्षण के गमनरूप अतिव्याप्ति

है। यदि कहा जाय कि प्रत्येक अनुमिति आदि के भेद का सम्मेलन यद्यपि अनुमिति आदि के समुदाय में है, तथापि समुदाय में त्रित्व संख्या है, और लक्षण में शाब्दी आदि तीनों प्रमितियों के भेद संघयुक्त एक प्रमितित्व विवक्षित है, अतः बहुत्व के आश्रित उक्त प्रमितिनिषेधों में प्रत्यक्षलक्षणत्व नहीं है, किन्तु एकाश्रितनिषेधत्रय को लक्षणत्व है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि समुदायी (समुदाय के एक-एक अंश) में भेद रहते भी समुदाय में एकत्व का अभ्युपगम उपचार (गौण व्यवहार) के बीज (कारण) विशेष के रहते होता है, जैसे गोव्यक्ति के अनेक रहते भी गोत्व से एकत्व का अभ्युपगम (स्वीकार) होता है और अनेक अनुमिति में लिङ्गजन्यत्व से एकत्व का व्यवहार होता है, वैसे ही अनुमिति आदि तीनों में प्रत्यक्षभिन्नत्व परोक्षत्व एकत्व उपचार का बीज है, यह आगे भी कहेंगे। यदि कहें कि प्रमात्रय से भिन्न होते समुदाय भिन्न एक प्रमिति प्रत्यक्ष कही जाती है, ऐसी विवक्षा है, तो भी समुदायत्वयुक्त में ही असमुदायत्व भी मन्तव्य है, क्योंकि समुदायत्वविशिष्ट में समुदायत्व मानने पर अंशतः आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी (समुदायत्व में समुदायत्व की प्राप्ति होगी) अतः स्वात्मवृत्तित्वरूप विरोध के भय से समुदायत्वविशिष्ट में असमुदायत्व के होने पर तादृशविशिष्ट में अतिव्याप्ति दुर्वार है। यदि कहें कि अनुमिति आदि तीनों से भिन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है और अनुमिति आदि से भिन्न होते भी समूह में ज्ञानत्व नहीं होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि समुदायत्वविशिष्ट ज्ञान (अनुमिति आदि) में भी ज्ञानत्व के रहने से अतिव्याप्ति रहेगी ही ॥ २०६ ॥

प्रथम अनुमिति आदि तीनों के निषेध (भेद) का एक प्रमिति में सम्मेलन को प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है, वहाँ एकत्व में विकल्प करते है कि—

'एके'ति च किमाश्रयव्यक्त्यभेदो विवक्षितः १ उताऽभिन्नजातीयता २ उतैकोपाधिकता ३ उतैकसङ्ख्या योगिता ४ उत द्व्यादिसङ्ख्यायोगाभावः ५। आद्ये तद्विशिष्टस्याव्यापकतादोषः, व्यक्त्यात्मनोऽभेदस्य व्यावृत्तत्वात्। धर्मिणा च लक्षणस्य विशेषणेऽलक्ष्यधर्म्मत्वं धर्मस्य स्यात्, स्वस्यैवस्वधर्मत्वानुपपत्तेः। आश्रयाभेदस्योपलक्षणत्वे प्रागुक्तदोषः। द्वितीये तदेवाभिन्नजातीयत्वं लक्षणमस्तु, अवश्यन्तया प्राथम्येन प्रतीयमानत्वात्। न तृतीयः, परोक्षप्रमितित्वस्यानुमित्यादिषु मिलितास्वपि भावात्। नापि चतुर्थः, वैशेषिकपक्षे गुणतया तदभावात्। भावे वाऽनुमित्यादित्रयवृत्तीनां त्रयाणामप्यभावानामेकत्वसङ्ख्यासामानाधिकरण्यसम्भवात्, मिलितानामेकसमुदायापेक्षया तथात्वात् ॥ २०७ ॥

एकाश्रितोनुमित्यादिनिषेधमेलको लक्षणमिति यदुक्तं तत्रैकत्वं विकल्पयति—एकेति चेति। आद्ये इति। एवं सत्येकस्या एव प्रत्यक्षव्यक्तेः सङ्ग्रहे लक्षणस्य व्यक्त्यन्तराव्यापकत्वमित्यर्थः। व्यक्त्यात्मन इति। एकत्वस्य व्यक्तिस्वरूपाभेदस्य व्यावृत्तत्वादित्यर्थः। एकलक्ष्याश्रयत्वं च लक्षणविशेषणं चेत्तदा लक्ष्यवृत्तिता लक्षणस्य न स्यादित्याह—धर्मिणेति। एकाश्रयत्वं लक्षणे न विशेषणं येनालक्ष्यधर्म्मता स्यात् किन्तूपलक्षणमिति न स्ववृत्तितेत्याशङ्क्याह। आश्रयेति—अनुमित्यादयोप्याश्रयाभेदोपलक्षिता इति प्रागु-

क्तातिव्याप्तिरित्यर्थः। एकोपाध्यवच्छिन्नाश्रयत्वं यदि लक्षणे विशेषणं तदा परोक्षप्रमितित्वरूपैकोपाध्यवच्छिन्नानुमित्यादिमेलकातिव्याप्तिरेवेत्याह। परोक्षेति—प्रत्यक्षमात्रवृत्त्युपाधिविवक्षायां तेनैवान्यथासिद्धिरिति भावः। गुणतयेति। अनुमित्यादिव्यतिरेकमेलकस्यैकत्वसङ्ख्यासामानाधिकरण्यं प्रत्यक्षे गुणे न सम्भवतीत्यर्थः। अभ्युपेत्याह—भावे वेति अनुमित्यादिसमुदायस्यैकतया तत्राप्यभावमेलकसत्त्वाल्लक्षणमतिव्यापकमेवेत्यर्थः॥ २०७॥

'एक' इस शब्द से क्या अनुमिति आदि के भेद का आश्रय व्यक्ति का अभेद विवक्षित है? अथवा अभिन्नजातियता विवक्षित है? या एक उपाधिवत्ता विवक्षित है? या एक संख्यावत्ता? अथवा द्वित्वादिसम्बन्धाभाव? यहाँ आद्य पक्ष में तद्विशिष्ट (आश्रयव्यक्ति अभेदयुक्त) लक्षण में अव्यापकत्व (अव्याप्ति) दोष प्राप्त होता है, क्योंकि एक व्यक्तिस्वरूप जो अभेद है, उसको अन्य प्रत्यक्ष व्यक्ति से भी व्यावृत्तत्व (भिन्नत्व) से अन्यप्रत्यक्ष व्यक्ति में लक्षण का अभाव सिद्ध होगा। और आश्रय व्यक्ति अभेद को धर्मी द्वारा लक्षण का विशेषण कहें (एकलक्ष्याश्रयत्व को लक्षण का विशेषण मानें), तो लक्षण को लक्ष्यवृत्तिता नहीं होगी, किन्तु धर्म (लक्षण) को अलक्ष्यवृत्तिता होगी, क्योंकि अपने में अपना धर्मत्व अनुपन्न है। भाव यह है कि एकलक्ष्याश्रयत्वयुक्तलक्षण में विशेषणरूप से एक व्यक्तिरूप लक्ष्य का भी प्रवेश से फिर उस लक्षण में लक्ष्यवृत्तिता नहीं होगी, स्ववृत्तिता की अनुपपत्ति है। और आश्रयाभेद को उपलक्षण मानें तो पूर्वोक्त दोष प्राप्त होगा, क्योंकि उपलक्षण पृथक् रहता है। अनुमिति आदि के भी आश्रयाभेद से उपलक्षित भेद त्रय वाले हो सकते हैं, अतः अतिव्याप्ति होगी। दूसरे पक्ष में वह अभिन्न जातीयता ही प्रथम अवश्य प्रतीयमान होने से लक्षण हो, तद्युक्त अन्यलक्षण व्यर्थ है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है। इस पक्ष में भी अर्थजत्वादिरूप उपाधिवत्त्व प्रत्यक्ष का लक्षण हो सकता है, अन्य-लक्षण की आवश्यकता नहीं है। तथा यत्किञ्चित् एकोपाधिकता यदि विवक्षित हो, तो परोक्षप्रमितित्व के भी मिलित अनुमिति आदि में रहने से उसमें अतिव्याप्ति होगी। और चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष ज्ञानरूप गुण में एकत्वसंख्यारूप गुण का योग नहीं हो सकता। अतः गुणता से ही संख्या का अभाव है। गुण में द्रव्यमात्रवृत्तित्व का नियम है। यदि मतान्तर से ज्ञान में संख्या का भाव (सत्त्व) माना जाय तो भी अनुमिति आदि तीनों में परस्पर तीनों के तीन अभावों के समुदाय की दृष्टि से एकत्व संख्या के साथ समानाधिकरणता के सम्भव से समुदाय में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि लक्षण के निमित्त तीनों अभावों को एक समुदाय की अपेक्षा से एकत्व संख्या सामानाधिकरण्य सिद्ध हो जाता है॥ २०७॥

नापि पञ्चमः, वैशेषिकमतानुसारेणानुमित्यादित्रयेपि तदभावस्य तुल्यत्वात्। अतदनुसारेण प्रत्यक्षव्यक्तिष्वपि द्व्यादिसङ्ख्यायोगात्। तथापि नैकस्यां प्रत्यक्षव्यक्तौ द्व्यादिसङ्ख्यापरिसमाप्तिः, द्व्यादिसङ्ख्यापरिसमाप्त्यभावश्च तदभावशब्देन विवक्षितः इति चेन्न, का हि परिसमाप्तिर्यैकस्यां व्यक्तौ नास्तीत्युच्यते। तत्रैव वृत्तिर्द्व्यादेः परिसमाप्तिः, सैकस्यां व्यक्तौ नास्ति। इति चेन्न, एवमेकत्वस्यापि न कचित्परिसमाप्तिः स्यात्। नहि

तस्य तत्रैव वृत्तिरन्यत्रैकत्वाभावप्रसङ्गात्। अत एकत्वसङ्ख्यावत्यामेव व्यक्तौ द्व्यादिपरिसमाप्तिरित्यविशेष एव। एकव्यक्तिगतैकत्वसङ्ख्याव्यक्तिर्नान्यत्र? इति चेन्न, सत्ताव्यक्तेरप्येवम्भावप्रसङ्गात्, अननुगतत्वापत्तेश्च। सत्तैकैव जातिरूपा, एकत्वं तु प्रतिव्यक्ति भिन्नं गुणपदार्थः इति चेन्नूनं वैशेषिकैर्विप्रलब्धोसि। कथमन्यथा सदेकप्रत्यययोरनुभवव्यवहारविशेषमपश्यन्नपि कानिचित्कानिचिदसम्बद्धान्यक्षराणि प्रलपसि। सत्तैकत्वयोः परापरत्वानुपपत्तेर्नैवंस्यात् इति चेन्न, साम्यात् ॥ २०८ ॥

वैशेषिकेति। द्व्यादिसङ्ख्याविरहिण्यनुमित्यादावतिव्याप्तितादवस्थ्यादित्यर्थः। अतदिति। सङ्ख्यायाः पदार्थान्तरत्वाभ्युपगमे इत्यर्थः। यथाऽनुमानादित्रये द्वित्वं त्रित्वं वा परिसमाप्यते तथा नैकस्यां प्रत्यक्षव्यक्तावित्यपरिसमाप्तद्वित्वादिप्रत्यक्षमेकमेवेत्याशङ्कते— तथापीति। धीव्यवहारयोस्तन्मात्रगतत्वं तत्र परिसमाप्तिः, तच्च नैकत्वस्यापीत्याह— एवमिति। अत इति। यदेकं तद्द्वयमपीत्यविशेषाल्लक्षणे विशेषणोपादानमनर्थकमेवेत्यर्थः। अननुगतत्वेति। एव सत्येकव्यक्तिमात्रवृत्तिता लक्षणस्य स्यादित्यर्थः। साम्यादिति। सत्ताया एवं गुणत्वमुभयोर्वा गुणत्वं स्याद्विनिगमनाऽभावादित्यर्थः ॥ २०८ ॥

द्वित्वादि संख्या का अभावरूप एकत्वात्मक पञ्चम पक्ष भी नहीं बन सकता क्योंकि वैशेषिक मत के अनुसार प्रत्यक्ष भिन्न अनुमिति आदि तीनों प्रमारूप गुण में द्वित्वादि संख्यारूप गुण का अभाव प्रत्यक्ष के समान ही रहता है। अतः लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। वैशेषिक भिन्न मतानुसार संख्या को पदार्थान्तर मानने पर भी प्रत्यक्ष व्यक्तियों में भी (घटप्रत्यक्ष, पटप्रत्यक्षादि में भी) द्वित्वत्रित्वादि संख्या के योग (सम्बन्ध) से लक्षण में असम्भव होगा। शंका यह है कि दो तीन प्रत्यक्षव्यक्तियों में द्वित्वादि के रहते भी एक प्रत्यक्षव्यक्ति में द्वित्व या त्रित्वा की परिसमाप्ति (पर्याप्ति) नहीं है, और अनुमिति आदि तीनों व्यक्तियों में त्रित्व संख्या की परिसमाप्ति है। और द्वित्वत्रित्वादि की परिसमाप्ति का अभाव ही द्वित्वादि का अभाव शब्द से विवक्षित है। अतः असम्भव नहीं है। उत्तर यह है कि प्रथम द्वित्वादि की परिसमाप्ति क्या है? जो एक व्यक्ति मे नहीं रहती, यह कहना होगा। यदि कहा जाय कि दो व्यक्तियों में ही रहना यह द्वित्व की परिसमाप्ति है, तीनव्यक्तियों में ही रहना अर्थात् न्यूनाधिक में नहीं रहना यह त्रित्व की परिसमाप्ति है, यह एक प्रत्यक्षव्यक्ति में नहीं है। तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जो दो में रहे वह दो से न्यूनाधिक में नहीं रहे तब उस की परिसमाप्ति (पूर्णता) होती है, तो ऐसे ही एकत्व की परिसमाप्ति हो सकती है वह एक प्रत्यक्षव्यक्ति मात्र ही में रहे, अन्यत्र नहीं, परन्तु ऐसी व्यवस्था है नहीं। जहाँ द्वित्वादि रहते हैं, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति में एकत्व वर्तमान रहता है। अतः आप के कथनानुसार एकत्व की कहीं परिसमाप्ति नहीं है। एकत्व की एक प्रत्यक्ष व्यक्ति ही में वृत्तिता नहीं है, अन्यथा अन्यत्र एकत्व के अभाव की प्राप्ति होगी। अतः एकत्वसंख्यावाली प्रत्यक्ष व्यक्ति में द्वित्वादि के पूर्ण रहने से लक्षण में असम्भव होगा ही (प्रत्यक्ष अनुमानादि से भिन्न विशेष लक्षण वाला नहीं सिद्ध होगा)। यदि कहा जाय कि एक व्यक्तिगत एकत्व संख्या अन्यत्र नहीं रहती है, अतः उसकी एक व्यक्ति में ही परिसमाप्ति रहती है, तो एक व्यक्तिगत सत्ता

की भी ऐसी स्थिति प्राप्त होगी। एक व्यक्तिगत एकत्व अन्यत्र नहीं मानने पर अनेक एकत्व व्यक्ति मानना होगा, एक एकत्व नहीं सिद्ध होगा, तो इसी प्रकार अनेक सत्ता व्यक्ति के होने से एक सत्ताव्यक्ति का अन्यत्र अभाव होगा। इस प्रकार अनेक सत्ता मान लें, तो उसमें अननुगतत्व की प्राप्ति होगी जिससे (सन्घटः सन्पटः) इत्यादि अनुगत प्रतीति भी नहीं होगी। ऐसे ही एकत्व भी यदि नाना हो तो इदमेकमिदमेकम्, इत्यादि अनुगत प्रतीति नहीं होगी। तथा अनेक एकत्व मानने पर किसी एक एकत्व से युक्त एक प्रत्यक्ष व्यक्ति से अन्य प्रत्यक्षव्यक्ति में लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि जातिरूप सत्ता एक ही है और एकत्व तो प्रतिव्यक्ति में भिन्न गुणरूप पदार्थ है, साजात्यमात्र से अनुगत व्यवहारादि होते हैं, तो कहा जा सकता है कि नूनं (अवश्य) आप वैशेषिकों से विप्रलब्ध (प्रवञ्चित) हैं अन्यथा सत्ता और एकत्व के ज्ञान विषयक अनुभव और व्यवहार को अविशेष (तुल्य) देखते (समझते) हुए भी कोई-कोई असम्बद्ध अक्षर (युक्ति एवं अनुभव से विरुद्ध गुण जाति की बात) कैसे बोलते हैं? यदि कहें कि सत्ता और द्रव्यत्वादि के परस्पर परत्व एवं अपरत्व सम्बन्ध के समान सत्ता और एकत्व के परत्वापरत्व की अनुपपत्ति से सत्ता को जाति और एकत्व को गुण मानना उचित है। सत्ता में सत्ता के नहीं रहते भी एकत्व रहता है, अतः एकत्व से सत्ता पर नहीं हो सकती, और एकत्व में एकत्व के नहीं रहते सत्ता रहती है, अतः एकत्व भी पर नहीं हो सकता है। इस प्रकार परस्पर के अभावाधिकरण में रहते अन्यत्र दोनों को समानाधिकरण में रहने से संकर की प्राप्ति होती है, और एकत्व गुण मानने पर जाति संकर नहीं होता है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि यदि उक्तरीति से सांकर्य के निवारण के लिये एकत्व गुण मानना है, तो सत्ता और एकत्व में समता से एकत्व जाति और सत्ता को गुण मानकर करके ही सांकर्य का निवारण क्यों न किया जाय? यहाँ एक पक्ष का साधक कोई प्रमाण नहीं है ॥ २०८ ॥

जातिपरापरत्वध्रौव्यमेव च क्वाप्येकस्य न्यूनवृत्तित्वे प्रमाणं स्यात्। क्व तथा इति चेन्न, शैलेऽनलस्यानुमायामपि क्व हस्तवितस्त्यादौ तदंशे इत्यनिश्चयवददोषत्वात्। अथास्तु मावासीदेकत्वमनुगतं किमनेनात्र निरूपितेन द्वित्वादिर्यत्र न समाप्यतेऽभिहिताभावत्रयं चास्ति तत्प्रत्यक्षमिति। मैवम्, अनुमित्यादित्रयेऽपि न त्रित्वं परिसमाप्तम्। एवं सत्यन्यानि त्रीणि न स्युः। अन्या सा त्रित्वव्यक्ति र्याऽन्यत्र इति चेन्न, त्रित्वव्यक्तेः कस्याश्चिदनुमित्यादित्रये परिसमाप्त्यभावात्। काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यते इति चेन्न अव्यापकत्वात्। प्रत्यक्षत्वस्य त्रित्वव्यक्तेश्चावश्यं सामानाधिकरण्यस्य वैशेषिकमताभ्युत्थितेन भवताऽभ्युपगन्तव्यत्वात्। अन्यथा प्रत्यक्षव्यक्तयस्तिस्रो न स्युः। तदेव हि त्रिरित्यभिधीयते यत्र त्रित्वं परिसमाप्यते ॥ २०९ ॥

एकस्यां कस्याञ्चिद्व्यक्तौ सत्तापरिहारेणैकत्ववृत्तौ स्यादेव पराऽपरभाव इत्याह—जातीति। विशेषानिश्चयस्य प्रमाणादोषत्वमाह—शैले इति। त्रित्वव्यक्तेरिति। एकस्या

अपि त्रित्वव्यक्तेरपरिसमाप्तौ त्रित्वापरिसमाप्तेः सत्त्वादित्यर्थः। अव्याप्तिमुपपादयति—प्रत्यक्षत्वस्येति। वैशेषिकमतमुपेत्य प्रतीतिबलात्प्रत्यक्षप्रतीतिषु गुणभूतास्वपि त्रित्वमभ्युपेयमित्यर्थः। प्रतीतिमेवाह—'अन्यथेति ॥ २०९ ॥

और सत्ता तथा एकत्व दोनों को जाति मानने में परापरभाव का अभाव बाधक हो, तथा जाति के परत्व एवं अपरत्व का ध्रौव्य (नियत) ही हो, तो कहीं एक के न्यूनवृत्तित्व में अनुमान प्रमाण होगा कि (सत्ता और एकत्व परस्पर अभाव वाले हैं सत्ता और द्रव्यत्व के समान जाति होने से)। यदि पूछा जाय कि दोनों में से किसमें परत्व है ? और किस में अपरत्व ? वहाँ जो पर है उसका कौन अधिक देश है, यह तो इस सामान्यानुमान से नहीं सिद्ध होता तो कहा जाता है कि अनुमान का यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि पर्वत में अग्नि की अनुमिति होने पर भी उस पर्वत के किस अंश में अग्नि है, हस्त परिमित अंश में है ? या वितस्ति (बित्ते) परिमित देश में ? इत्यादि निश्चय नहीं होने पर भी अनुमान में दोष नहीं माना जाता। शंका होती है कि एकत्व की कथा तो प्रसंग से आ गई। प्रकृत में कथा प्रत्यक्ष की है, अतः एक अनुगत सत्ता तुल्य एकत्व हो या नहीं, इस निरूपण से क्या प्रयोजन ?। जहाँ द्वित्वादि समाप्त (पर्याप्त) नहीं हो, और उक्त अनुमितित्वादि तीनों के अभावत्रय हो, वह प्रयक्ष का लक्षण है। उत्तर यह है कि अनुमिति आदि तीनों में भी त्रित्व मात्र परिसमाप्त नहीं होता है, यदि अनुमिति आदि में त्रित्व की परिसमाप्ति हो, तो अन्य कोई त्रित्वसंख्यायुक्त नहीं होगा (ब्रह्मा, विष्णु और महेश त्रिदेव नहीं कहे जायेंगे) इत्यादि। यदि कहा जाय कि प्रमाणादिवृत्ति त्रित्वव्यक्ति (स्वरूप) से अन्य में रहता है, अर्थात् अनेक त्रित्व हैं। लक्षणगतत्रित्वव्यक्ति अनुमिति आदि में ही परिसमाप्त है प्रत्यक्ष में उसकी प्राप्ति नहीं होती है, अतः दोष नहीं है, तो इस प्रकार भी जिस किसी त्रित्वव्यक्ति की अनुमिति आदि तीन में परिसमाप्ति नहीं होती है, जो कि अनुमिति आदि से अन्यत्र रहती है। एक त्रित्वव्यक्ति की अपरिसमाप्ति से त्रित्व की परिसमाप्ति नहीं हो सकती। शंका है कि कोई भी त्रित्वव्यक्ति जहाँ नहीं परिसमाप्त हो वह प्रत्यक्ष है, ऐसी विवक्षा है, अतः अन्यगत त्रित्व की अनुमिति आदि में परिसमाप्ति नहीं होने पर भी स्वगत त्रित्व की परिसमाप्ति से अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। उत्तर यह है कि ऐसा मानने से लक्षण में अव्यापकत्व (असिद्धत्व) दोष होगा, क्योंकि अनुमिति आदि तीन गुणरूप ज्ञानव्यक्ति में त्रित्व संख्यारूप गुण की परिसमाप्ति मानने से वैशेषिक मत से अभ्युत्थित (उपरत) आपको प्रत्यक्षत्व और त्रित्वव्यक्ति के सामानाधिकरण्य को अवश्य मानना होगा, अन्यथा यदि प्रत्यक्षत्व के समानाधिकरण वृत्ति त्रित्व को नहीं मानें, तो देव, गुरु एवं मनुष्यविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान की तीन व्यक्तियाँ नहीं होंगी। क्योंकि वहीं 'तीन' इस शब्द से कहा जाता है जहाँ त्रित्व संख्या परिसमाप्त (पूर्ण) होती है, अतः प्रत्यक्ष में सब त्रित्व के अभाव नहीं होने से लक्षण में असम्भव होगा ॥ २०९ ॥

किञ्च, तथापि स एवातिव्यापकतादोषः। त्रित्वेनावच्छिन्नास्वनुमित्यादिव्यक्तिषु त्वदभिमतमभावत्रयमस्तीति तत्र प्रत्यक्षलक्षणं गतमित्यतिव्या-

त्तिरुक्ता, तद्व्यावर्तनाय भवताऽभिधीयते काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न समाप्यते इति, नचैवमुक्तेऽसावतिव्याप्तिर्निवर्तते तत्राप्युक्तविशेषणस्य विद्यमानत्वात। नहि त्रित्वावच्छिन्ने तस्मिँस्त्रित्वव्यक्तिः काचिदपि समाप्यते। त्रित्वलक्षणैकोपाध्यवच्छिन्ने तस्मिँस्त्रित्वव्यक्त्यन्तरं भवदप्याश्रयान्तरमादाय वर्तते, न तु तत्रैव परिसमाप्यते। यत्र चोक्तमुपाधिभूतं त्रित्वं, तेषु यदि त्रित्वसमाप्तिर्धर्मिषु दृश्यते, तदा तद्दर्शनेन तत्र धर्मिमात्रे लक्षणव्यावृत्तिः सिध्येत्, नतु त्रित्वविशिष्टे धर्मिणि। तस्मादतिव्यापकत्वं तदवस्थमेव। अभावत्रयं च त्रित्वोपाध्यवच्छेदेन समुदिततामुपगतवति विशिष्टे धर्मिणि वर्तते, नत्वविशिष्टे, प्रत्येकमभावत्रयावस्थानस्य तेषु वक्तुमशक्यत्वात् ॥ २१० ॥

'काचिदपि त्रित्वव्यक्तिर्यत्र न परिसमाप्यते'—इति विशेषणदानेप्यनुमित्यादित्रये त्रित्वावच्छिन्ने स्वविशिष्टे स्ववृत्तिभयात्प्रथमत्रित्वविशिष्टे त्रित्वान्तरस्य च त्रित्वत्वेनैकीकृते परिसमाप्त्यनुपपत्तेरतिव्यापकत्वं तदवस्थमेवेति किञ्चेत्यादिनाऽतिव्यापकत्वं तदवस्थमेवेत्यन्तेन विशदयन्नाह—किञ्चेति। नन्वनुमित्यादिषु परिसमाप्तमेव प्रथमत्रित्वमिति कुतोऽतिव्याप्तिरित्यत आह—यत्र चेति। धर्मिमात्रेतिव्याप्तिर्नोक्ता, किन्तु त्रित्वावच्छिन्ने, तत्र च त्रित्वापरिसमाप्तिरेवेत्यर्थः। प्रत्येकं धर्मिणि नानुमित्याद्यन्योन्याभावत्रयमिति विशिष्टे तत्सत्त्वेन प्रागपि तत्रैवातिव्याप्तिरुक्ता, सा चाद्यापि न परिहृतेत्याह—अभावेति प्रत्येकमिति। अनुमितावनुमित्यन्योन्याभावाभावादित्यर्थः ॥२१०॥

किञ्च तथापि, जहाँ कोई त्रित्वव्यक्ति नहीं परिसमाप्त हो, ऐसा विशेषण देने पर भी वही अतिव्यापकता (अतिव्याप्ति) रूप दोष है, क्योंकि त्रित्व (तीन संख्या) से युक्त अनुमिति आदि तीनों व्यक्तियों में आपके अभिमत अनुमिति आदि के अभावत्रय हैं। अतः प्रत्यक्षता की प्राप्ति होती है, क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष का लक्षण प्राप्त हो गया है और उस की व्यावृत्ति के लिये ही आप कहते हैं कि जिस में कोई त्रित्वव्यक्ति परिसमाप्त न हो, परन्तु ऐसा कहने पर भी वह अतिव्याप्ति निवृत्त नहीं होती है। क्योंकि त्रित्वयुक्त उस अनुमिति आदि में भी उक्त विशेषण (त्रित्व की असमाप्तिरूप विशेषण) की विद्यमानता है। केवल अनुमिति, उपमिति और शाब्दी प्रमा में एक त्रित्वव्यक्ति की परिसमाप्ति है, परन्तु त्रित्वावच्छिन्न (त्रित्वविशिष्ट = युक्त) में किसी त्रित्व व्यक्ति की परिसमाप्ति नहीं है, क्योंकि अनुमिति आदि व्यक्तियों में जो त्रित्व है वह अंशत आत्माश्रयता से त्रित्वविशिष्ट में नहीं रह सकता। त्रित्वरूप एक उपाधियुक्त (धर्मयुक्त) उस अनुमिति आदि में यदि त्रित्वरूप व्यक्त्यन्तर (अन्य त्रित्व) रहेगा भी तो आश्रयान्तर को ग्रहण करके ही रहेगा। केवल एक त्रित्व में दूसरा त्रित्व भी नहीं रह सकता। किन्तु अनुमितिगत त्रित्व, (१) त्रिदेवगतत्रित्व, (२) गुणगत त्रित्व, (३) इस प्रकार तीन त्रित्वगत एक अपर (अन्य) त्रित्व रह सकता है, या एक त्रित्व, घट एवं पट दो उपाधि को ग्रहण करके त्रित्व वाला हो सकता है, अन्यथा नहीं, अतः त्रित्वावच्छिन्नाऽनुमिति आदि मात्र में त्रित्व की समाप्ति नहीं होने से त्रित्वावच्छिन्न अनुमिति आदि का वहाँ अभाव है। और जिस केवल अनुमिति आदि व्यक्ति में उपाधिरूप त्रित्व कहा गया

है, उन धर्मियों (त्रित्वाश्रयों) में यदि त्रित्व की समाप्ति देखी जाती हो, तो उस त्रित्व की समाप्ति के देखने से उस धर्मी अनुमिति आदि मात्र में प्रत्यक्ष के लक्षण की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध होगी, त्रित्वयुक्त धर्मी में नहीं। अतः लक्षण में अतिव्याप्तियुक्तता तदवस्थ (पूर्वतुल्य) ही है। क्योंकि अनुमिति आदि का अभावत्रय, त्रित्वउपाधियुक्तता से समुदायरूपता को प्राप्त विशिष्ट (समूहतारूप विशेषणयुक्त) धर्मी में रहता है, अविशिष्ट (केवल) धर्मी में नहीं, क्योंकि उन अनुमिति आदि में प्रत्येक के अभाव (भेद) त्रय की स्थिति को कहना अशक्य है। अर्थात् अनुमिति में शाब्दी तथा उपमिति का अभाव भेद कहा जा सकता है, परन्तु अनुमिति में अनुमिति का अभाव भेद नहीं हो सकता, ऐसे ही शाब्दी में शाब्दी के भेद का तथा उपमिति में उपमिति के भेद का असम्भव है ॥२१०॥

अथ मन्यसे तादृशस्य विशिष्टस्य प्रमितित्वेनैव व्यवच्छेदः, न ह्यभावत्रयवत्त्रित्वं विशेषणमाश्रयकोटावन्तर्भाव्य तासु व्यक्तिषु प्रमितित्वं वर्तते किंतु तेषां धर्मिणां स्वरूपमात्रे, उक्ताभावत्रयं प्रमितित्वं चेत्येतद्यत्रास्ति तत् प्रत्यक्षमिति हि ब्रूमः इति, न, भवतापि भिन्नधर्मावच्छिन्नस्यैव धर्मिणः प्रमितित्वमभावत्रयवत्त्वं चावश्यमभ्युपगन्तव्यम्। तथाहि यदि प्रमितित्वस्य काचित्कत्वे नियामकं नोच्यते तदा सर्वा प्रमितिः स्यात्, न वा काचिदपि ॥ २११ ॥

विशिष्टे चेदतिव्याप्तिस्तदा प्रमितित्वेनैव तद्व्यवच्छेदः, नहि विशिष्टे प्रमतित्वमित्याशङ्कते—अथेति। प्रमितित्वमपि यथार्थानुभवत्वादिविशिष्टे वक्तव्यमन्यथातिप्रसङ्ग इति प्रकृतेपि त्रित्वविशिष्टे प्रमितित्वं नानुपपन्नमिति परिहरति—भवतापीति। यदवच्छिन्ने प्रमितित्वं तदवच्छिन्ने एवाभावत्रयं चेन्न वाच्यं तदा त्वत्पक्षे लक्षणस्यासम्भव एवेत्यग्रे भावाभिव्यक्तिः ॥ २११ ॥

उक्तरीति से त्रित्वविशिष्ट में अतिव्याप्ति होने पर उसकी निवृत्ति के लिये यदि मानें कि प्रमितित्व प्रत्येक अनुमिति आदि में रहता है, त्रित्वविशिष्ट में नहीं, अतः लक्षणगत प्रमितित्व से ही तादृश विशिष्ट (त्रित्वविशिष्ट) का वारण (व्यवच्छेद) हो जायगा, अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि अभावत्रय वाले त्रित्व (अभावत्रय समानाधिकरणत्रित्व) रूप विशेषण को आश्रयकोटि (आश्रयस्वरूप) के अन्तर्गत करके उन अनुमिति आदि व्यक्तियों में प्रमितित्व नहीं रहता है, किन्तु अनुमिति आदि धर्मियों के स्वरूपमात्र में प्रमितित्व नहीं रहता है। और उक्त अनुमिति आदि का अभावत्रय और प्रमितित्व जहाँ हो वह प्रत्यक्ष है, ऐसा लक्षण कहते हैं, अतः त्रित्व के नहीं रहते भी प्रमितित्व के अभाव से अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह मानना युक्त नहीं, क्योंकि यथार्थानुभवत्व, दोषरहितकरणजन्यत्व, प्रत्यक्षत्वादि भिन्न भिन्न धर्म वाले को ही प्रमितित्व अभावत्रयवत्त्व आपको भी अवश्य कहना होगा। यदि प्रमितित्व के काचित्कत्व (स्थानविशेषवर्तित्व) में नियामक (यथार्थानुभवत्वादि) नहीं कहा जाय, तो सब ज्ञानव्यक्ति प्रमिति होगी, या कोई प्रमिति नहीं होगी, तो नियामक अन्यधर्मावच्छिन्न में जैसे प्रमितित्व रहता है, वैसे ही त्रित्वावच्छिन्न में प्रमितित्व और अभावत्रयवत्ता से लक्षण में अतिव्याप्ति है ॥ २११ ॥

सर्वत्र सत्ताऽसत्ता वा नियमेऽन्यानपेक्षया ।
नियामकाद्धि भावानां काचित्कत्वस्य सम्भवः ॥ ४२ ॥

तन्नियामकमाश्रये विशेषणीभूतं वक्तव्यमुपलक्षणीभूतं वा ? आद्ये यदेव प्रमितित्वस्याऽऽश्रये विशेषणं तदेव यद्यभावत्रयस्यापि तदा त्रित्वावच्छिन्नेनुमित्यादावभावत्रयस्य दर्शितत्वात्तत्र प्रमितित्वेनापि त्रित्वावच्छिन्ने भवितव्यमिति प्रमितित्वान्न तद्व्यवच्छेदः ॥ २१२ ॥

उक्त अर्थ का ही स्पष्ट प्रतिपादन है कि नियम में अन्य नियामक की अपेक्षा के बिना सर्वत्र प्रमितित्व की सत्ता या असत्ता होगी, क्योंकि नियामक से ही पदार्थों के क्वाचित्कत्व का सम्भव होता है ॥ ४२ ॥

प्रमितित्व का वह नियामक प्रमितित्व के आश्रय में विशेषण या उपलक्षण स्वरूप होगा । वहाँ विशेषण पक्ष में जो ही प्रमितित्व के आश्रय में विशेषण होगा, वही यदि अभावत्रय (अनुमिति आदि के अभावत्रय) के आश्रय का भी विशेषण है, तो त्रित्वयुक्त अनुमिति आदि में अभावत्रय को प्रथम दर्शाया गया है, और वहाँ प्रमितित्व के नियामक के रहते प्रमितित्व को भी त्रित्वावच्छिन्न में रहने से प्रमितित्व विशेषण से त्रित्वावच्छिन्न की व्यावृत्ति नहीं होती है, किन्तु त्रित्व वाले अनुमिति आदि उक्त अभावाधिकरण होने से प्रमितित्व वाले सिद्ध होते हैं । अतः अतिव्याप्ति होती है ॥ २१२ ॥

अथान्यावच्छिन्ने प्रमितित्वमन्यधर्मावच्छिन्ने चाऽभावत्रयसम्बन्धस्तदा नास्ति त्वत्पक्षेपि प्रमितित्वस्यैकधर्मविशिष्टाश्रयत्वलक्षणमेकाश्रयत्वम् । विशिष्टेपि धर्मिण्याश्रितो धर्म्याश्रित एवेति कृत्वा प्रमितित्वस्याभावत्रयसमानाश्रयत्वेऽनुमित्यादित्रयेपि प्रसङ्गस्तदवस्थः । नापि द्वितीयः, उपलक्षणीभूतेन केनचिद्धर्मेण योऽसावुपलक्षितो धर्मी स एव खलु त्रित्वविशिष्टः, विशेषणवतोपि यावद्विशेष्यवस्तुनो विशेष्यवस्त्वात्मकत्वात्, यथा दण्ड्यपि पुरुषः पुरुष एव । एवं च सत्युपलक्षितादनन्यभूते त्रित्वविशिष्टेप्यनुमित्यादौ प्रमितित्वमाश्रितं, नियामकेनोपलक्षणेनोपलक्ष्याभेदव्यवस्थिततया तस्याप्यवच्छिन्नत्वात् । तथाचातिव्याप्तिर्वज्रलेपायिता ॥२१३॥

भावमेवाभिव्यनक्ति—अथेति । तथाचेति । त्रित्वविशिष्टप्रमितित्वमभावत्रयवत्त्वं चानुमित्यादित्रयेपीत्यतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः ॥ २१३ ॥

उक्त कथन के भाव को व्यक्त करते हैं कि यदि अन्य किसी धर्मावच्छिन्न धर्मी (आश्रय) में प्रमितित्व को मानें जो प्रत्यक्ष में रहता हो, और उससे अन्यधर्मावच्छिन्न (धर्मवाले) में अभावत्रय को मानें जो त्रित्वावच्छिन्न प्रमितित्वादि में रहता हो, और इस प्रकार त्रित्वावच्छिन्न प्रमितित्व के नहीं रहने से अतिव्याप्ति नहीं हो, तो ऐसा होने पर प्रमितित्व और अभावत्रय के समानाधिकरणता के अभाव से आपके मत में भी प्रमितित्व को अभावत्रय के साथ एक नियामक धर्मविशिष्टाश्रयत्वरूप एकाश्रयत्व नहीं रहा । अर्थात् प्रत्यक्ष में अभावत्रयाश्रयत्व के अभाव से लक्षण में असम्भव हो गया । यदि कहा जाय कि विशिष्ट धर्मी का आश्रित भी धर्मी का आश्रित होता है, जैसे

मूल देश में कपिसंयोगाभाव वाले वृक्ष के शाखादेशवृत्ति कपिसंयोग भी वृक्ष ही में कहा जाता है, वैसे ही त्रित्वविशिष्ट में वृत्ति अन्य धर्म युक्त प्रत्यक्षवृत्ति अभावत्रय धर्मीरूप प्रत्यक्षवृत्ति भी है, अतः अभावत्रय और प्रमितित्व के प्रत्यक्ष में समानाधिकरणता से लक्षण बनता है। परन्तु इस प्रकार यदि विशिष्टाश्रित धर्म को धर्मी का आश्रित ही स्वीकार करें, तो प्रमितित्व के अभावत्रय के साथ समानाश्रयत्व होने पर अनुमिति आदि तीनों में भी अतिव्याप्ति तदवस्थ है, क्योंकि त्रित्वयुक्त अनुमिति में अभावत्रय है ही, और धर्मी द्वारा प्रमात्व भी है। नियामक धर्म उपलक्षण है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उपलक्षणरूप यथार्थानुभवत्वादि किसी धर्म से जो धर्मी उपलक्षित होता है, वही त्रित्वादि से विशिष्ट भी होता है, किसी एक धर्म से उपलक्षित में अन्य धर्म विशेषणरूप से नहीं रहे ऐसा कोई नियम नहीं है। विशेषणयुक्त वस्तु में भी शुद्ध विशेष्यस्वरूपत्व भी रहता है। जैसे दण्डी भी पुरुष, पुरुष ही रहता है, वैसे ही त्रित्वविशिष्ट जो रहता है, वही धर्मान्तर से उपलक्षित धर्मी रहता है, तो इस प्रकार अन्य धर्म से उपलक्षित से अनन्य (अभिन्न) त्रित्वादिविशिष्ट अनुमिति आदि में भी प्रमितित्व आश्रित (प्राप्त) हुआ, क्योंकि नियामक उपलक्षण द्वारा उपलक्षित उपलक्ष्य के अभेद की व्यवस्थितता (नियतता) अर्थात् अभिन्नता से उस अनुमित्यादित्रय को भी प्रमितित्वावच्छिन्नत्व (प्रमितित्वयुक्तत्व) है, अतः अतिव्याप्ति वज्रलेपवत् प्राप्त होती है ॥ २१३ ॥

तथाप्युपलक्षकेण त्रित्वविशिष्टतया नोपलक्षितोऽसौ धर्मी, किन्तु स्वरूपेण इति चेन्न, उक्तमत्र यदेव तदुपलक्षितं तदेव विशिष्टमपि। तथापि विशिष्टेन रूपेण तावन्नोपलक्षितम् इति चेत्, मोपलक्षि, अविशिष्टेनापि तन्नोपलक्षितमेव। अन्यथा प्रकृतेपि वैयधिकरण्यापत्तेः। तदास्तामुल्लसत्पल्लववचनविलसितेनेति। तदेवं लक्षणान्तरेपि प्रतिपादितोयं दूषणसमूहः स्वयमूहनीयः ॥ २१४ ॥

तथापीति। उपलक्षणतायां वैशिष्ट्यमपि नावच्छेदकमित्यर्थः। अवैशिष्ट्यमपि न तथेत्याह—मोपलक्षीति। अन्यथेति। प्रमितित्वस्याभावत्रयस्य च नानाधर्मावच्छेद्यत्वेन वृत्तावित्यर्थः ॥ २१४ ॥

शंका होती है कि यद्यपि यथार्थत्व, अबाधितत्व, सम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वादिरूप उपलक्षण से प्रमितित्व का आश्रय उपलक्षित होता है, तथापि वह प्रमितित्व का आश्रय धर्मी त्रित्वविशिष्टरूप से उपलक्षित नहीं होता है। अतः उपलक्षित प्रमाश्रयत्व के त्रित्वाभावयुक्त प्रत्यक्ष में रहने से उक्त अभावत्रयवाली प्रमा प्रत्यक्ष होती है, यह प्रत्यक्ष का लक्षण सम्पन्न होता है। क्योंकि उपलक्षण से प्रमा का स्वरूपमात्र उपलक्षित होता है। उत्तर यह है कि इस विषय में प्रथम ही यहाँ कहा गया है कि वह स्वरूप जो उपलक्षण से उपलक्षित है, वही विशिष्ट है। अर्थात् दण्डी पुरुष और पुरुष में भेद नहीं रहता है, वैसे ही यहाँ उपलक्षित स्वरूप और त्रित्व में भेद के अभाव से उक्त अभावत्रययुक्त प्रमात्व वाले त्रित्वविशिष्ट अनुमिति आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति अवश्य होगी। यदि कहें कि उपलक्षितस्वरूप से विशिष्ट के अभिन्न होते भी त्रित्वविशिष्टरूप से उप-

लक्षित नहीं हुआ है, अतः प्रमित्याश्रय रूप से त्रित्वविशिष्ट के ग्रहण नहीं होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो कहा जाता है कि त्रित्वविशिष्ट रूप से उपलक्षित नहीं हो, परन्तु अविशिष्टरूप से भी वह उपलक्ष्य उपलक्षित नहीं होता है। अन्यथा (यदि प्रमात्व के आश्रय अविशिष्टरूप से उपलक्षित हो तो) अविशिष्टत्वयुक्त धर्मी में प्रमात्व रहेगा और विशिष्ट धर्मी में अभावत्रय रहेगा, तो प्रकृत प्रत्यक्ष के लक्षण में भी प्रमात्व अभावत्रय की भिन्नाधिकरणता की प्राप्ति से लक्षण में असम्भव होगा, अतः अब आगे बढ़ते हुए विस्तृत वचनविलास (कार्य) यहाँ ही रहने दिया जाय। उक्त रीति से ही लक्षणान्तर में भी प्रतिपादित यह दूषण समूह स्वयम् ऊहनीय है ॥२१४॥

एतदेव परामृश्य भट्टैरिदमुदाहृतं 'लक्षणस्याभिधानं तु केनांशेनोपयुज्यते' अन्याभिप्रायोक्तमपि हि तत्सामान्यतोऽप्युपपद्यमानमेवेति ॥ २१५ ॥

ननु चोदनैव प्रमाणमेवेति च प्रतिज्ञाद्वयं निर्वाह्य तत्र च पदार्थानां लक्षणमुपपन्नमिति भट्टतात्पर्येण तु लक्षणानां समानासमानजातीयव्यवच्छेदो न फलमिति तदभिप्रायस्तथा च प्रकृतासङ्गतमिदमत आह—अन्येति ॥ २१५ ॥

इसी लक्षण के अनुपयुक्तत्व का परामर्श (विचार) करके श्रीभट्टप्रवर ने यह उदाहरण दिया (कहा) है कि लक्षण का कथन क्या किसी अंश से उपयुक्त होता है ? अर्थात् किसी अंश से नहीं ॥ ४३ ॥ यद्यपि उन्होंने धर्म में चोदना (विधि) ही प्रमाण अर्थात् अन्य प्रमाण का धर्म में अभाव है, विधि ही प्रमाण है। या चोदना प्रमाण ही है, और अन्य भी प्रमाण हैं, इस विचार में लक्षणाभिधान को अनुपयुक्त कहा है, तथापि वह कथन सामान्यतः लक्षणानभिधान में युक्त है, वह अन्यत्र ज्ञेय है ॥ २१५ ॥

प्रत्यक्षमूलकता के कारण प्रत्यक्ष के अनन्तर अनुमान का विचार है—

अनुमानमपि किमुच्यते करणपक्षे लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति चेत् , किं लिङ्गत्वं ? व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वमिति चेत्, संशयस्योपलक्षणत्वे तत्र दृष्ट्वापि व्यापकं तत्परामर्शोतिप्रसङ्गात्। अत एव न तस्य वर्तमानस्य अतत्कालेप्युपलक्षणत्वात् विशेषणत्वेचानुमाय व्यापकं धर्मिनाशवदप्रवृत्त्यापत्तेः ॥ २१६ ॥

करणपक्षे इति। भावसाधनत्वनिवृत्त्यै पक्षधर्मत्वमिति हि सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षस्तद्धर्मत्वं तत्र सन्देहस्योपलक्षणतां दूषयति—संशयस्येति। वह्निज्ञाने वृत्तेपि धूमपरामर्शः करणं स्यादित्यर्थः लिङ्गपरामर्शस्तत्र करणमेवानुमित्यनुत्पादस्तु सिद्धसाधनादिति न वाच्यम् लिङ्गपरामर्शस्य चरमकारणत्वोपगमादिति भावः। ननु व्यापकनिश्चयेन विरोधिना तत्र संशयस्य नाशान्न तस्योपलक्षणत्वं यत्र स वर्तमानस्तत्रोपलक्षणं भवत्येवेत्यत आह—अत एवेति। वर्तमानस्योपलक्षणत्वमितिशेषः। अत एवेति। वक्ष्यमाणहेत्वतिदेशः तमेवाह—अतत्काले इति। विशेषणत्वे इति। सन्देहविशिष्टो धर्मी यदि पक्षस्तदा सन्देहनाशे विशिष्टस्य पक्षस्यापि नाशादनुमायां जातायामपि साध्यं कुत्र वर्ततेत्यर्थः ॥ २१६ ॥

अनुमान का भी प्रत्यक्ष के समान लक्षण अनिर्वाच्य है। यदि कहें कि (अनुमितिरनुमानम्) ऐसा भी अनुमान का अर्थ कहा जाता है, परन्तु अनुमितिकरण पक्ष में (अनुमीयतेऽनेनेति-अनुमानम्) इस अर्थ के अनुसार लिङ्गपरामर्श (सन्दिग्ध साध्य-

वाले में लिङ्ग = हेतु के ज्ञान) को अनुमान कहते हैं, तो लिङ्ग के ज्ञान के बिना लिङ्ग-परामर्श का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः लिङ्गत्व क्या है, यह कहना चाहिये। कहा जाता है कि (लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्) अप्रकट अर्थ को जो समझावे (अर्थात् अप्रकट अर्थ को प्राणी जिसके द्वारा समझे) वह लिङ्ग कहा जाता है। अत एव सूक्ष्मशरीर को लिङ्गशरीर कहा जाता है, क्योंकि उसी में आत्मा व्यक्त होकर जीव कहा जाता है तथा समझा जाता है तथापि प्रकृत में साध्य से व्याप्त के पक्षधर्मत्व (पक्षवृत्तित्व) लिङ्गत्व है। वही अप्रकट अग्नि आदि के ज्ञान का कारण होता है। फिर भी पक्ष के ज्ञान के बिना पक्षवृत्तित्व का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः पक्ष क्या है, यह कहना चाहिये। यदि सन्दिग्ध साध्य वाला धर्मी (पर्वतादि) को पक्ष कहा जाय, तो वहाँ संदेह (संशय) के विषय को संदिग्ध कहा जाता है, अतः कहना होगा तथा समझना होगा कि संशय साध्यवान् का उपलक्षण है ? या विशेषण ? यहाँ संशय के उपलक्षणत्व पक्ष में, जहाँ पर्वत में धूमदर्शन से अग्नि का जिसको प्रथम संशय हुआ फिर वहाँ जाकर धूम का व्यापक अग्नि को देख लिया, तो भी लिङ्ग परामर्श के संशयोपलक्षित पक्षविषयक रहने से अनुमिति की प्राप्ति होती है और संशय की उपलक्षणता से ही वर्तमानसंशय उस विषयधर्मिवृत्तित्वव्याव्य में नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अतत्काल (अवर्तमान काल) में भी उपलक्षणत्व होता है। जैसे पाचकादि के पाकादि उपलक्षण होते हैं, यही विशेषण से उपलक्षग में भेद होता है कि विशेषण वर्तमान ही रहकर व्यावर्तक होता है, और उपलक्षण अवर्तमान रहते भी व्यावर्तक होता है। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिये संशय को साध्यवान् का विशेषण मानें तो संशयविशिष्ट के पक्ष होने से अग्नि की अनुमिति से निश्चय कर लेने पर जैसे साध्य (अग्निमान् या अग्नि) के नाश से अग्नि के अर्थी की प्रवृत्ति नहीं होती है, वैसे ही संशय के नाश से भी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि जैसे दण्ड के नाश से दण्डी का नाश (अभाव) होता है, वैसे संशय के नाश से संशयविशिष्ट पक्ष का (साध्यवान् का) नाश (अभाव हो जाता है, फिर अग्नि का अर्थी कैसे प्रवृत्त होगा ? यद्यपि प्रथम कहा गया है कि दण्डी पुरुष ही पुरुष है, इसी प्रकार संशय-विशिष्ट ही पक्ष (साध्यवान्) केवल पक्ष भी है, और प्रसिद्ध है कि (विशिष्टः शुद्धान्नातिरिच्यते) विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त नहीं होता है, परन्तु शुद्ध तो विशिष्ट से अतिरिक्त भी होता है, अतः विशेषण के नाश से भी विशेष्य के नाशाभावमूलक सर्वलोक प्रसिद्ध प्रवृत्ति के अभाव को कहना सर्वथा अयुक्त-सा प्रतीत होता है, तथापि विशेषणाभावादिप्रयुक्त विशिष्टाभावरूप प्रक्रिया जो न्याय में प्रसिद्ध है, तन्मूलक लक्षण में दोष दर्शाना है, प्रवृत्ति आदि तो जैसे होती है, वैसे ही होगी ॥ २१६ ॥

पक्षधर्माद्धेतोः पक्षांशे विशेष्ये साध्यसिद्धिरीदृशं च वैयधिकरण्यमिष्टमेवेत्यतो नैवम् इति चेन्न। पक्षमादायैव वैयधिकरण्ये नियतसामानाधिकरण्यलक्षणव्याप्तिलोपापत्तेः। तथापि विशेष्यमादाय सास्ति इति चेन्न, साध्यविशेषसिद्धिरपि यत्र व्याप्तिबलायातं सामान्यं तत्र सामान्यप्रतीत्यपर्यवसानबलादेवेति सामान्यविशेषसिद्ध्यनुपयोगिनी पक्षधर्मता त्वदिष्टा

केवलं सिद्धसाधनपरिहारायानुमितिकारणत्वेनेष्टव्या सिद्धसाधनं च न स्वार्थानुमाने दोष इति नानुमितिमात्रहेतुनिवेशनी सेति मोक्षमाणैर्हि—"आगमेनानुमानेन ध्यानात्प्रत्यक्षणेन च, त्रिधात्मनि प्रमाणानां सम्प्लवः स्वार्थमुच्यते" इति एतेन संशययोग्यतापि निरस्ता ॥ २१७ ॥

ननु विशिष्टस्य पक्षत्वेपि तद्धर्माद्धर्माद्विशेष्यमात्रे साध्यसिद्धिरिति तस्यावस्थानादनुमितवह्निस्तत्रैव प्रवर्तते न चान्यधर्मादन्यत्र साध्यसिद्धावतिप्रसङ्गो विशिष्टधर्मस्य विशेष्ये साधकत्वनियमाभ्युपगमादित्याशङ्कते—पक्षेति। एवं सति लिङ्गलिङ्गिनोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति यदुच्यते तद्भज्येतेति परिहरति—पक्षमादायेति। ननु विशिष्टे सामानाधिकरण्याभावेपि विशेष्ये तदुभयसामानाधिकरण्यसत्त्वान्न व्याप्तिलोप इत्याशङ्कते—तथापीति। एवं सति पक्षधर्मता नानुमित्यङ्गं स्याद् व्याप्तिबलादेव सामान्यं सिध्यद्विशेषमादायैव सेत्स्यतीति विशेषसिद्धावपि तदनुपयोगादिति परिहरति—साध्यविशेषेति। स्वार्थानुमाने सिद्धसाधनस्यादोषत्वमाह—मोक्षमाणैरिति। मुचोऽकर्मकस्य सनि रूपं तथाच मुमुक्षुभिरित्यर्थः आगमावगतात्मनि मननबोधनात् सिद्धसाधनं न दोषः श्रुतिबोधितेष्टसाधनताकस्य मननस्यानुमित्साहेतुकत्वेन तत्र संशयस्यानपेक्षणात् प्रकारान्तरेण श्रवणं तदन्यप्रकारेण संशयान्मननमित्यसारं श्रवणमननयोः समानप्रकारकत्वावगमादिति भावः। एतेनेति। पक्षधर्मताया अनङ्गत्वप्रदर्शनेन साधकबाधकमानाभावलक्षणसंशययोग्यताघटितं पक्षत्वं निरस्तमित्यर्थः। यद्वा साधकमाने सत्यपि मननप्रवृत्तिदर्शनेनेत्यर्थः ॥ २१७ ॥

पूर्वोक्त अर्थ में शंका होती है कि विशिष्ट के पक्ष होते भी विशिष्ट पक्ष के धर्म (विशिष्टवृत्ति) हेतु (धूमादि) से पक्षांशविशेष्यमात्र में अनुमिति होती है। अतः संशयविशिष्ट के नष्ट होने पर भी जहाँ अनुमिति होती है, उस विशेष्य के वर्तमान रहने से, वह्नि आदि की अनुमिति वाला वह्न्यर्थी आदि उस विशेष्य में प्रवृत्त होता है। यदि कहा जाय कि संशयविशिष्टवृत्ति हेतु से विशेष्यमात्रवृत्ति साध्य की अनुमिति मानने पर हेतु साध्य के भिन्नाधिकरणता की प्राप्ति होगी, तो यह दोष नहीं है, ऐसी व्यधिकरणता इष्ट ही है। हेतु संशयविशिष्ट में रहता है और साध्य पक्षांश (विशेष्यांश) में सिद्ध होता है, क्योंकि विशिष्ट में विशेष्य अनुगत रहता है, अतः अत्यन्त व्यधिकरणता भी नहीं रहती है। उत्तर यह है कि संदिग्ध साध्यवान् पक्ष को ही हेतु के अधिकरणरूप से ग्रहण के साध्य के वैयधिकरण्य (विशेष्यमात्रवृत्तित्व) होने पर (यत्र धूमस्तत्राग्निः) इस प्रकार के नियत समानाधिकरणतारूप व्याप्ति के लोप की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि तथापि विशिष्ट में साध्य एवं हेतु के सामानाधिकरण्य के नहीं रहते भी विशेष्यांश का ग्रहण करके तो वह नियत समानाधिकरणतारूप व्याप्ति है ही। विशिष्ट वृत्ति हेतु विशेष्य में भी रहता है, अतः समानाधिकरणता का लोप नहीं होता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि साध्यसामान्य या साध्यविशेष की सिद्धि आदि में कहीं पक्षधर्मता का कोई फल नहीं है। व्याप्ति के बल से ही सब की सिद्धि होती है, व्याप्ति के बल से जहाँ सामान्य साध्य आयात (ज्ञात) होता है, वहाँ विशेष के बिना सामान्य के अपर्यवसान (अपूर्णता) बल से ही साध्यविशेष की सिद्धि (ज्ञान) हो जाती है। अतः सामान्यविशेष की सिद्धि में उपयोग (फल) रहित आपकी इष्ट पक्षधर्मता, केवल सिद्धसाधन (ज्ञात का अनुमिति

से ज्ञापन) के परिहार के लिए अनुमिति के कारणरूप से आपको मानना होगा कि जहाँ प्रथम ही साध्य ज्ञात हो, वहाँ पञ्चावयवादिरूप अनुमानार्थक वाक्यप्रयोगादि की आवश्यकता नहीं होती है इत्यादि। और वह सिद्धसाधन भी परार्थानुमिति में दोषरूप होता है, अतः वहाँ ही सिद्धसाधन के परिहार के लिये यत्न कर्तव्य है, स्वार्थानुमान में सिद्धसाधन दोषरूप नहीं होता है, अतः सिद्धसाधन को वारण करने वाली वह पक्षधर्मता अनुमितिमात्र (सब अनुमिति) के हेतु में (हेतुरूप से) निवेश वाली नहीं हो सकती क्योंकि मुमुक्षुओं ने आगम (श्रवण) अनुमान (मनन) ध्यान (निदिध्यासन) और मानसप्रत्यक्ष से आत्मा में तीन प्रकार के प्रमाणों का संप्लव (संकर) रूप स्वार्थानुमानरूप कहा है। अर्थात् आगम से सिद्ध का हो अनुमान से अनुभव किया जाता है, और निदिध्यासन से आत्मा का प्रत्यक्ष मुमुक्षुओं से किया जाता है, और ज्ञान कीं दृढ़ता आदि के लिये बार-बार श्रवण विचारादि अनुमान तर्करूप ही किया जाता है। अतः स्वार्थानुमान में सिद्धसाधन दोष नहीं होता है। अतएव (आवृत्तिरसकृदुपदेशात्) इत्यादि उपदेश है। और इस पक्षधर्मता के स्वार्थानुमान में अनुपयोगिता प्रदर्शन से तथा साधक प्रमाण के रहते भी मननार्थक प्रवृत्ति के प्रदर्शन से ही संशययोग्यतारूप सार्वत्रिकपक्षत्व निषिद्ध हो गया। अर्थात् संदेहयोग्य साध्यवत्पक्षवृत्ति व्याप्यहेतुमत्ता भी पक्षता नहीं हो सकती, क्योंकि योग्यता तो सदा ही रहतो है, अतः सिद्धि काल में परार्थानुमिति की भी प्राप्ति होगी, अन्यथा कालान्तर में भी पुरुषान्तर को भी वहीं अनुमिति नहीं होगी ॥ २१७ ॥

उक्त रीति से पक्षधर्मता के सार्वत्रिक अनङ्ग होने से उसे त्याग कर व्याप्य लिङ्ग है और उस का परामर्श अनुमान है, ऐसी शंका होती है—

व्याप्यत्वमिति चेत् किं वस्तुगत्या व्याप्यस्य स्वरूपेण परामर्शोऽनुमानं व्याप्यतया वा। नाद्यः, अगृहीतव्याप्तिनापि धूमादिपरामर्शस्यानुमानताप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, व्याप्त्युल्लेखिनः प्रमाणस्यानुमानत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि व्याप्यत्वग्राहितया अवश्यं वक्तव्यत्वात्। अत एव द्वितीयतृतीयविशेषणे अपि निरस्ते धारावाहिनि तथात्वापत्तेः गृहीतव्याप्तिना च युगपदुभयग्रहणे द्वावेतौ व्याप्यव्यापकाविति परामर्शस्यानुमानत्वप्रसङ्गात्। नच तदनुमानमेव, असन्दिग्धतया पक्षत्वाभावेन तद्धर्मस्य हेतोः सिद्धसाधनवदपक्षधर्मत्वात्। स्वार्थानुमाने नायं दोष इति चेन्न, प्रत्यक्षलक्षणोपपत्त्या साक्षात्त्वासाक्षात्त्वविरोधापत्तेः ॥ २१८ ॥

पक्षधर्मता चेदनङ्गमस्तुतर्हि व्याप्यत्वमेव लिङ्गत्वमित्याह—व्याप्यत्वमिति। वस्तुगत्या यद्व्याप्यं तस्य परामर्शोव्याप्यत्वेन वा परामर्शोऽनुमानमाद्यं दूषयति—अगृहीतेति। द्वितीये त्वाह—व्याप्तीति। व्याप्तिज्ञानमप्यनुमानं स्यादित्यर्थः। तस्यापि व्याप्यत्वग्राहित्वादन्यथा व्याप्तिग्रहत्वमेव तस्य न स्यादिति भावः। उक्तदोषादेव द्वितीयलिङ्गपरामर्शस्तृतीयलिङ्गपरामर्शो वानुमानमिति निरस्तमित्याह—अत एवेति। देषान्तरमाह—धारेति। धारावाहिद्वितीयतृतीयलिङ्गपरामर्शेऽनुमानत्वापत्तेः व्याप्यत्वव्यापकत्वप्रकारकधूमवह्निसमूहालम्बनेऽनुमानत्वप्रसङ्गमाह—गृहीतेति। व्याप्यत्वपरामर्शरूपतया समूहा-

लम्बनप्रत्यक्षमपि यद्यनुमानमङ्गीकार्यं तदा तदनन्तरोत्पन्नव्यापकप्रत्यक्षस्येन्द्रियजत्वेन साक्षात्त्वं लिङ्गजत्वेन चासाक्षात्त्वमिति विरोधः स्यादित्याह—प्रत्यक्षेति ॥ २१८ ॥

व्याप्यत्व (व्याप्यलिङ्ग का परामर्श = ज्ञान) ही अनुमान प्रमाण है, वहाँ विकल्परूप प्रश्न है कि क्या वस्तुतः व्याप्य के व्याप्ति के ज्ञान के बिना ही व्याप्य के स्वरूप मात्र का परामर्श अनुमान है ? या व्याप्तरूप से (व्याप्तियुक्त स्वरूप से) ज्ञान का अनुमान है ? यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि व्याप्तिज्ञानरहित पुरुष के धूमादि व्याप्य ज्ञान को अनुमान प्रमाणरूपता की प्राप्ति होगी और वह भी (पर्वतो वह्निमान्) इत्यादि अनुमिति का अधिकारी हो जायगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि (धूमोऽग्निव्याप्यः) इत्यादि व्याप्ति का उल्लेख करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण को भी अनुमान प्रमाणत्व प्राप्त होगा, क्योंकि उस प्रमाणान्तर को भी व्याप्यत्वग्राहकरूप से अवश्य वक्तव्यत्व (उपादेयत्व) है। प्रमाणान्तर से व्याप्यव्यापकभाव के ज्ञान विना पक्ष में व्याप्यत्वयुक्त का ज्ञान नहीं हो सकता। और व्याप्तिग्राहक प्रमाणान्तर में इस अनुमानत्व का प्राप्तिरूप दोष से हो द्वितीय और तृतीय लिङ्गपरामर्श के विशेषण भी निरस्त हो गये। भाव यह है कि महानसादि में प्रथम धूमादि हेतु का व्याप्तिग्रहण काल में, ज्ञान होता है, उसके बाद पक्ष में द्वितीय दर्शन होता है, जिससे व्याप्ति का स्मरण होता है वहाँ कोई तो उस द्वितीय लिङ्ग परामर्श को अनुमान प्रमाण कहते हैं और कोई व्याप्ति स्मरण के बाद (साध्यव्याप्यहेतुमानयं पक्षः) इस तृतीय लिंगपरामर्श को अनुमान कहते हैं। यहाँ व्याप्ति ग्राहक होने से यदि परामर्श अनुमान हो तो व्याप्तिग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण भी अनुमान होगा और धारावाही अनुमिति के अहेतुरूप द्वितीय तृतीयादि लिङ्गपरामर्श में अनुमानत्व की प्राप्ति होगी। और व्याप्ति के ज्ञान वाले को जहाँ हेतु साध्य दोनों का एक काल में ज्ञान होगा कि ये दोनों व्याप्य व्यापक हैं, वहाँ इस परामर्श को भी व्याप्तिविषयकत्व से अनुमानत्व प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि व्याप्तिविषयता से वह अनुमान ही है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जहाँ व्याप्य एवं व्यापक का उक्त ज्ञान होता है वहाँ असंदिग्धता के कारण पक्षत्व के अभाव से वहाँ वर्तमान हेतु को सिद्धसाधनरूप हेतु के समान अपक्षधर्म (पक्षवृत्तित्वाभाव) रहता है। अनुमानत्व नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि स्वार्थानुमान में यह अपक्षधर्मत्व दोष नहीं होता तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि यदि वहाँ लिङ्ग ज्ञान को अनुमान माना जाय, तो वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री नेत्रसंयोग एवं आलोकादि के रहने से (वह्निमान्) इत्यादि जो ज्ञान होगा, वह दोनों साधनों से होगा। अतः प्रत्यक्ष के लक्षण की सिद्धि से और अनुमानजन्यत्व से एक ज्ञान में साक्षात्त्व एवं असाक्षात्त्वरूप विरोधी धर्म की प्राप्ति होगी, और वस्तुतः अनुमिति सामग्री के प्रत्यक्ष सामग्री के साथ होने पर निरपेक्ष प्रत्यक्ष सामग्री बलवती होती है। प्रत्यक्ष सापेक्ष अनुमिति सामग्री दुर्बल होती है। अतः प्रत्यक्ष सामग्री के साथ स्वार्थानुमिति की सामग्री को मानना ही निष्फल है ॥ २१८ ॥

अव्यापकविषयत्वे सति इति चेन्न व्याप्यत्वविषयत्वाभावप्रसङ्गात् व्याप्यत्वं हि सप्रतियोगिकग्रहणम्, तथाचैतस्य व्याप्यमिदमिति गृह्यते

तथा च सति व्यापकस्यापि विशेषणस्य ग्रहणमवश्यं वक्तव्यम् अन्यथा विशिष्टग्रहणस्य वक्तुमशक्यत्वात्। विशेषतो व्यापकाविषयत्वे सति इति चेन्न, अग्निधूमौ व्याप्तावित्याप्तोपदेशाद्वा पूर्वं भूयो गृहीतवह्निधूमसाहचर्यस्य वह्निधूमाग्रहणकाले विमर्शवशाद्वा जायमानव्याप्तिग्रहणस्य व्याप्यपरामर्शोनुमानं स्यात्। न परामर्शः प्रत्ययमात्रं येन प्रथमग्रहणे प्रसङ्गः स्यात् किं नाम प्रत्यभिज्ञानम् इति चेन्न, विचारादाप्तोपदेशाद्वा प्रतीत्य व्याप्तिं पुनराप्तोपदेशाद्विचारान्तराद्वा यैव मया व्याप्तिर्गृहीता सैवेयमिति प्रत्यभिजानानस्य व्याप्तिज्ञानमनुमानं स्यात्। विशेषतो व्याप्यविषयत्वे सति इति चेन्न, अव्यापकत्वप्रसङ्गात्। एकव्यक्तिविषयत्वस्य व्यक्त्यन्तरेऽसम्भवात्। सामान्यतो व्यक्तिविषयत्वस्य चातिप्रसञ्जकत्वात्॥ २१९॥

अव्यापकेति। व्यापकास्फुरणे व्याप्यत्वस्फुरणमनुपपन्नमेवेति क्वाप्यनुमानं न स्यादित्याह—व्याप्यत्वविषयत्वेति। एतदेवोपपादयति—व्याप्यत्वं हीति। व्याप्यपरामर्श इति। मानस इत्यर्थः साहचर्यमात्रग्रहादयं मानसो व्याप्यपरामर्शः प्राथमिक एव स न विवक्षितः किन्तु व्याप्योयमित्यनुसन्धानमनुमानमिति शङ्कते—न परामर्श इति। विचारादिति। अनुकूलतर्कोपगृहीतसहचारदर्शनादित्यर्थः। विशेषत इति। अयं धूमो वह्निव्याप्य इत्याकारपरामर्श मानमित्यर्थः। अव्यापकत्वेति। अनित्यत्वव्याप्यं कृतकत्वमित्याकारः परामर्शोनुमानं न स्यादित्यर्थः एतदेव स्पष्टयति—एकेति। ननु व्यक्तिमात्रविषयत्वं विशेषतो व्याप्यविषयत्वमभिमतं नतु धूमैकव्यक्तिविषयत्वं येनाव्यापकता स्यादित्यत आह—सामान्यत इति॥ २१९॥

उक्त प्राथमिक व्याप्तिग्रहण में और धूम एवं अग्नि व्याप्यव्यापक हैं, इस ज्ञान में अनुमानत्व का वारण के लिये, अव्यापकविषयत्व (व्यापकाविषयत्व) युक्त व्याप्यपरामर्श अनुमान है, ऐसा माना जाय, तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि व्यापकविषयत्व के बिना परामर्श को व्याप्यविषयत्व के अभाव की प्राप्ति से लक्षण में असंभव दोष होगा। व्याप्यत्व नियम से व्याप्तिप्रतियोगिग्राहक ज्ञान का विषय होता है, अत एव इस (अग्नि) का व्याप्य यह (धूम) है, इस प्रकार से व्याप्यत्व गृहीत (ज्ञात) होता है, और ऐसा ग्रहण होने से व्याप्यत्व के ग्रहण में व्याप्ति के प्रतियोगीरूप से व्यापकरूपविशेषण का ग्रहण (ज्ञान) अवश्य वक्तव्य है। विशेषण के ज्ञान बिना विशिष्ट का ज्ञान हो नहीं सकता। अतः विशेषण के ग्रहण के कथन के बिना विशिष्ट के ग्रहण का कथन अशक्य है। यदि कहा जाय कि (वह्निव्याप्यो धूमः) इस प्रकार से व्याप्यत्व के ग्रहण में व्यापक का सामान्य विशेषणरूप से ग्रहण होता है, अतः उसके ग्रहण के लिये असम्भव वारण के लिये विशेषरूप से व्यापकाविषयक लिङ्गपरामर्श अनुमान होता है, ऐसा लक्षण होगा, तो यह कहना भी नहीं बन सकता क्योंकि अग्नि और धूम व्यापक और व्याप्य हैं, इस आप्त पुरुष के उपदेश से या बार-बार वह्निधूम के साहचर्य के ज्ञानवाले को वह्निधूम के अप्रत्यक्ष काल में विमर्श (विचार) से जायमान (उत्पन्न) व्याप्तिज्ञान वाले का मानस व्याप्यपरामर्श अनुमान होगा, क्योंकि शाब्द या मानस उस ज्ञान में व्यापकविशेषरूप से नहीं भासता है। यदि कहा जाय कि ज्ञानमात्र परामर्श नहीं होता है जिससे प्रथम

ग्रहण में अनुमानत्व की प्राप्ति हो। उक्त शाब्द या मानस ज्ञान सहचारज्ञानजन्य प्राथमिक ही रहता है, अतः वह अनुमान नहीं हो सकता, किन्तु प्रत्यभिज्ञारूप परामर्श अनुमान होता है जो व्याप्तिग्रहण के बाद (यह व्याप्य है) इस प्रकार विशेषरूप से व्याप्य का ग्रहणरूप होता है। तो भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि विचार से या आप्तोपदेश से प्रथम व्याप्ति को समझने पर फिर आप्तोपदेश या विचारान्तर (तर्कयुक्त सहचारादि चिन्तन) से जो उस प्रत्यभिज्ञान (विचार) करने वाले को प्रत्यभिज्ञा होती है—जो व्याप्ति मैंने प्रथम समझी थी वही यह है। यहाँ वह व्याप्तिज्ञान अनुमानरूप होगा। यदि कहा जाय कि (अयंधूमो वह्निव्याप्यः) यह धूम अग्नि का व्याप्य है, इस प्रकार विशेषरूप से व्याप्यविषयक होता हुआ जो प्रत्यभिज्ञारूप परामर्श होता है, वह अनुमान है, तो लक्षण में अव्यापकता की प्राप्ति होगी, क्योंकि एक पर्वतादि विशेषविषयत्व का जो परामर्श में होगा, उसका व्यक्त्यन्तर में रहना असम्भव है। पर्वतवृत्तिधूमविषयक परामर्श अन्य विषयक नहीं होगा। अतः अन्य लिङ्गपरामर्श में अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि सामान्यरूप से व्यक्तिमात्रविषयकत्व, विशेषतो व्याप्यविषयत्व अभिमत (स्वीकृत) है, केवल धूमादि कोई एक विषयत्व नहीं, तो व्यक्तित्वेन सामान्य व्यक्तिव्याप्यविषयक आप्तोपदेशादिजन्य प्रत्यभिज्ञान भी होता ही है। अतः उसमें अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् विशेषपद से विशेष पर्वतीयादि व्याप्यव्यक्ति के ग्रहण करने पर अव्याप्ति होगी और व्यक्तित्वेन सब विशेषों का ग्रहण करने पर अतिव्याप्ति होगी, अतः उभयथा अयुक्त है॥ २१९॥

परामर्श के व्याप्यविषयत्व में दूषण दर्शा कर, साध्यज्ञानजनकत्वविषयक दोषप्रदर्शन द्वारा प्रकारान्तर से अनुमान का खण्डन करते हैं कि—

किञ्च धूमवत्त्वादेर्यदाकदाचिदग्निमत्त्वं वा प्रतीयते, तदानीं वाग्निमत्त्वं पर्वतादेर्नाद्यः। तदानीमिवाऽन्यदाप्यग्न्यर्थिप्रवृत्तेस्तत्र प्रसङ्गात्। नापिद्वितीयः, तदानीमग्निमत्तया व्याप्तत्वानवगमात्। तदेति धूमकालोऽपेक्षितः इति चेन्न, क्वचिद्देशेऽन्यदापि धूमस्यावस्थानमस्तीति कालान्तरस्यापि धूमकालत्वात्। तद्धूमकालोऽपेक्षितः इति चेन्न, तच्छब्दस्य व्यक्तिविशेषवचनत्वेऽप्रतीतव्याप्तिकत्वं यत्किंचिद्व्यक्तिवचनत्वे चोक्तदोषापत्तिः। हेतोः पक्षधर्मतयाप्यपर्वतादिधर्मः साध्यो माभूत्ततस्तु कालान्तरे किं न स्यात्, तं कालमन्तर्भाव्य पक्षत्वे कथमुत्तरं निष्कम्पं प्रवर्तते। धूमकालमन्तर्भाव्य चेदुक्तमावर्त्तेत तद्धूमकालं चेद् अंशतः स्ववृत्तिः॥ २२०॥

प्रकारान्तरेणानुमानं खण्डयति—किञ्चेति। तदानीमिति। लिङ्गकाले इत्यर्थः। अन्यदापीति। अतीतानागतलिङ्गस्थलेपि पर्वते वह्निमनुमाय प्रवृत्तिः स्यात् तत्कालीनवह्निभानस्यापि सम्भवादित्यर्थः। तदानीमिति। वह्निमात्रेण धूमस्य व्याप्तिर्नतु धूमकालीनवह्नित्वं व्यापकतावच्छेदकमित्यर्थः। ननु यदा धूमस्तदा वह्निरिति कालगर्भव्याप्तिग्रहबलादेव लिङ्गकालीनलैङ्गिकसिद्धिरिति शङ्कते—तदेतीति। एवमपि धूमकालो वह्नौ भासेत स च नानेति तस्य न त्रिनिगमकत्वमित्याह—क्वचिदिति। तद्धूमकाल इति। परामृश्यमाणधूमकाल इत्यर्थः। यदि विशिष्य तेन धूमविशेषेण व्याप्तिग्रहो भवेत्तदा तत्कालस्फुरणं

स्यान्न चैवमित्याह । तच्छब्दस्येति । ननु यस्यामेव व्यक्तौ विशिष्य व्याप्तिर्गृहीता सैव तत्पदार्थ इत्यत आह—यत्किञ्चिदिति । एवं सति यत् किञ्चिद्धूमकालीनवह्निभाने प्रवृत्तिर्नियतकाला न स्यादित्यर्थः । पक्षधर्मताबलादपि पर्वतीयवह्निसिद्धिर्नतु नियतकालीनतयापि तत्रास्या अतन्त्रत्वादित्याह—हेतोरिति । नन्वनुमितिकालविशिष्टो लिङ्गकालविशिष्टो वा धर्मी पक्षस्तेन पक्षधर्मताबलात्तदन्यतरकालसिद्धिरित्यत आह—तमिति । तत्कालनाशे पक्षनाशान्न तत्र प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । ननु धूमसामान्यकालान्तर्भावेण पक्षता स च कालो धूमानुवृत्त्या प्रवृत्तिकालेप्यस्त्येवेत्यत आह—धूमेति । एवं सति यत्किञ्चिद्धूमकालीनवह्निसिद्धिरित्यनियम इत्याह—उक्तमिति । परामृश्यमाणधूमकालान्तर्भावं शङ्कते—तदिति । तथा च परामृश्यमाणधूमकालविशिष्टः पक्षस्तद्धर्मश्च परामृश्यमाणो धूम इत्यंशत आत्माश्रय इत्याह—अंशत इति ॥ २२० ॥

पर्वतादि पक्ष को धूमवत्त्वादिरूप परामर्श से जिस किसी काल में अग्नि आदि साध्यवत्ता (साध्यसम्बन्ध) की प्रतीति होती है ? या तदानीं = उस धूमपरामर्शकाल में अग्निमत्ता की प्रतीति होती है ? प्रथम पक्ष में वर्तमान काल के समान अन्य काल में भी पक्ष में अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति की प्राप्ति से वह पक्षयुक्त नहीं है । द्वितीयपक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि 'तदानीं' शब्द से वर्तमान शब्दप्रयोग काल की विवक्षा करें तो उस विशेष काल में अग्निमत्तारूप से प्रथम से व्याप्ति गृहीत नहीं रहती है, किन्तु सामान्य अग्नित्वरूप से धूम में व्याप्ति गृहीत रहती है—यत्र धूमस्तत्राग्निः, अतः व्याप्तिग्रहण के अनुसार अनुमिति हो सकती है, अन्यथा नहीं । यदि 'तदानीं' इससे व्याप्तिज्ञान के अनुसार धूमकाल अपेक्षित है, ऐसा मानें कि धूम काल में अनुमिति होती है, तो भी सामान्य धूम काल की विवक्षा करने पर, कहीं अन्य काल में धूम के रहने पर कालान्तर के भी धूमकालत्व होने से कालान्तर के धूम से अग्नि की अनुमितिपूर्वक अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति की प्राप्ति होगी । यदि कहें कि तद्धूमकाल (परामर्शविषयधूमकाल) अपेक्षित है, उसी काल में अनुमिति आदि होती है, अन्यकाल में नहीं, तो तत् शब्द के महानसीयधूमादि व्यक्तिविशेष के वाचक होने पर पर्वतीय (पक्षवृत्ति) धूमादि को अप्रतीतव्याप्तिकत्व होगा, अर्थात् जिस व्यक्तिरूप धूमादि में व्याप्तिग्रहण होता है, वह पक्ष में नहीं रहता और आप तत् शब्द से उसका यदि ग्रहण करते हैं, तो व्याप्तिग्रहण काल में अनुपस्थित पर्वतीय धूमादि से अनुमिति नहीं होगी । और तत् शब्द को यदि यत् किञ्चित् (कोई सामान्य) धूमादि हेतु का वाचक मानें, तो उक्तदोष की प्राप्ति होगी, अर्थात् जिस किसी कालिक अग्नि की प्रतीति की प्रवृत्ति में कोई नियत काल नहीं होगा । कहीं कभी धूम के ज्ञान से भी अनुमिति की प्रवृत्ति होगी । यदि कहा जाय कि हेतु के पक्षवृत्तित्व के बल से नियत काल में अनुमिति होगी, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि पक्षधर्मता से भी (अपर्वतादि धर्म) अपक्षवृत्ति साध्य नहीं हो सकता है । परन्तु उस पक्षधर्मता से कालान्तर में साध्य क्यों नहीं रहेगा ? और क्यों अनुमिति की प्रवृत्ति नहीं होगी ? यदि कहा जाय कि अनुमितिकाल या लिङ्गकालयुक्त धर्मी पर्वतादि के पक्ष होने से पक्षधर्मता बल से उसी काल में अनुमिति होती है, अन्य काल में नहीं, तो इस प्रकार उस लिङ्गादियुक्त काल को अन्तर्भूत करके पक्षता के होने पर उसी काल में साध्य की सिद्धि भी हो, परन्तु उस

काल के नाश से कालयुक्त पक्ष का भी नाश होगा, तो उसके उत्तर काल में साध्यार्थी निष्कम्प (निःसन्देह) कैसे प्रवृत्त होता है, यह प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। यदि कहा जाय कि धूम सामान्यकाल को अन्तर्भूत करके पक्ष सिद्ध होता है, व्याप्यलिङ्गादिकाल को नहीं, और सामान्य धूम उत्तर क्षण में भी रहता है, अतः साध्यसिद्धि के उत्तर क्षण में पक्ष में प्रवृत्ति होती है, तो ऐसा मानने पर पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति होगी, अर्थात् धूमान्तरकाल में भी पक्ष में अनुमिति की प्रवृत्ति की प्राप्ति होगी। यदि सामान्य धूम का ग्रहण नहीं करके परामर्श के विषयरूप धूमविशेष को अन्तर्गत करके पक्षता स्वीकार करें, तो अंशतः स्ववृत्ति (आत्माश्रय) होगी। अर्थात् परामर्श विषयहेतुकालयुक्त धर्मी पक्ष होता है और वहाँ हेतु का परामर्श अनुमान होता है, इस प्रकार मानने पर हेतु के आधार धर्मी में विशेषणरूप से हेतु के प्रवेश से हेतु अंश विशेषण में आत्माऽऽश्रयता प्राप्त होती है, परामर्श को परामर्श की अपेक्षा होती है ॥ २२० ॥

आगे व्याप्तिग्रह का विचार है—

कश्च व्याप्तिशब्दार्थ इति वक्तव्यम्। अविनाभाव इति चेत्किमेकस्याऽव्यतिरेके अपरस्य भावोऽविनाभावपदार्थः। उत एकस्य व्यतिरेकेऽपरस्य व्यतिरेकः। यद्याद्यः, तदाऽव्यतिरेकोऽन्वयार्थ इत्येकस्यान्वयेऽपरस्यान्वय इत्युक्तं स्यात्। एवं च सति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्यन्वयो व्याप्तिः स्यात् न क्वाचित्कः सम्बन्धो व्याप्तिः, सार्वत्रिकस्य तथात्वेन विवक्षितत्वात् इति चेत्किमिदं सार्वत्रिकत्वं सम्बन्धस्य सर्वासु तज्जातीयव्यक्तिषु विद्यमानतेति चेन्नैयं सर्वतज्जातीयव्यक्त्यऽपरिज्ञाने शक्यावधारणा, न च सर्वास्ता व्यक्तयो विशेषतो ज्ञातुं शक्याः, तत्तत्प्रमितिकरणासम्भवात्। इन्द्रियेण सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले सर्वास्तज्जातीयव्यक्तयो गृह्यन्ते यदनभ्युपगमे षण्डकमुद्वाह्यमुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिवेति वाचस्पतिरुपालम्भमवादीदिति चेन्मैवम्। सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले सर्वतज्जातीयव्यक्तिग्रहणे प्रमेयत्वादिव्याप्तिङ्गृह्णतः सार्वज्ञप्रसङ्गात्, क्वचिदप्यज्ञानं ते न स्यादिति च सार्वज्ञ्यापादनमिति न प्रतिकृत्यापि ॥ २२१ ॥

सार्वत्रिकस्येति। पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोश्च वज्रे व्यभिचारान्न तथात्वमित्यर्थः। यदनभ्युपगमे इति। यदि पत्तीयधूमेपि व्याप्तिग्रहो न वाच्यस्तदा ततोनुमितिर्न स्यादिति तदर्थं सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरभ्युपगन्तव्येत्यर्थः। एवं सति यत्प्रमेयं तदभिधेयमिति व्याप्तिग्रहकाले सर्वज्ञः स्यादित्याह—सामान्येति। ननु सार्वज्ञ्यमापादयतस्तवैव सार्वज्ञ्यमापन्नमित्यत आह—क्वचिदिति। यद्यपि क्वचिदप्यज्ञानं न स्यादित्यस्य सर्वत्र ज्ञानं स्यादित्यर्थ इति प्रतिकृत्यैव तथापि त्वत्साक्षात्कारविषयत्वं यदि वस्तुत्वव्यापकं तदा प्रमेयत्ववन्मदीयचित्तवर्त्तिविषयवृत्तिः स्यादिति भावः ॥ २२१ ॥

व्याप्य की पक्षधर्मता ज्ञान में उपयोगी व्याप्तिरूप पदार्थ = व्याप्ति शब्द का अर्थ क्या है? यह वक्तव्य है। इस प्रश्न का यह उत्तर यह है कि अविनाभाव व्याप्तिशब्द का

अर्थ है। परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि (न विनाभावः) इस वाक्य में यदि, न शब्द का बिना के साथ सम्बन्ध विवक्षित हो, तो एक व्यापक के भाव के बिना अपर व्याप्य का भाव नहीं, अर्थात् एक के अव्यतिरेक (भाव) होते ही अपर का भाव (सत्त्व) होता है, क्या यह अविनाभाव शब्द का अर्थ विवक्षित है ? या न शब्द का भाव के साथ सम्बन्ध से एक व्यापक के व्यतिरेक (अभाव) रहते व्याप्य का अभाव अविनाभाव शब्द का अर्थ है ? यहाँ प्रथम पक्ष में अव्यतिरेक शब्द अन्वयार्थक है। अतः एक अन्वय (सम्बन्ध = सत्त्व) रहते अन्य का भी अन्वय होना ही अभिनाभाव वर्णित होगा, तो ऐसा होने पर, पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का अन्वय भी व्याप्ति होगा, अर्थात् काष्ठादि में पार्थिवत्व के रहते ही लोह से छेद्यत्व होता है अतः पार्थिवत्व का लोहछेद्यत्व व्यापक हो जायगा। यदि कहा जाय कि क्वाचित्क (किसी देश मात्र वृत्ति) अन्वय (सम्बन्ध) व्याप्तिरूप नहीं होता है, किन्तु सार्वत्रिक सम्बन्ध व्याप्ति होता है, क्योंकि सार्वत्रिक सम्बन्ध ही तथात्वेन (व्याप्तिरूप से) विवक्षित है। और वज्र (हीरा) में पार्थिवत्व रहते भी लोहछेद्यत्व के नहीं रहने से वह पार्थिवत्व का व्यापक नहीं होता है। तो यह भी कहना चाहिये कि सम्बन्ध में यह सार्वत्रिकत्व क्या है ? यदि कहा जाय कि व्याप्यव्यापक जाति वाली सब व्यक्तियों में सम्बन्ध की वर्तमानता ही सार्वत्रिकत्व है, तो कहा जाता है कि उन सब व्यक्तियों के ज्ञान के बिना यह सम्बन्ध की सर्वत्र विद्यमानता दुर्ज्ञेय है, क्योंकि वे सब व्यक्तियाँ विशेषरूप से जानने के योग्य नहीं हैं, उनका ज्ञान अशक्य (असाध्य) है। उसमें कारण यह है कि तत्तत् प्रमितियों (ज्ञानों) के व्यापक करणत्व का ही असम्भव है। यदि कहा जाय कि असम्भव नहीं है, क्योंकि वह्नि आदि की धूमादि में व्याप्ति के ग्रहण काल में ही वह्नित्व धूमत्वादिरूप सामान्य लक्षण (जातिरूप) प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से इन्द्रिय द्वारा ही वे सब तत्तत् जाति वाली व्यक्तियाँ गृहीत (ज्ञात) हा जाती हैं। अर्थात् नेत्र सम्बद्ध अग्नि आदिवृत्ति अग्नित्वादिरूप से नेत्र द्वारा व्याप्तिग्रहण काल में अग्नि आदि के सब व्यक्तियों का ज्ञान होता है। सामान्यस्वरूप प्रत्यासत्ति द्वारा सब के ज्ञानपूर्वक जिस व्याप्तिज्ञान को नहीं मानने पर वाचस्पति ने उपालम्भ (दोष) कहा है कि षण्डक (नपुंसक) से विवाह करके उसे पति मान कर पुत्र के लिये मुग्धा (अज्ञा) स्त्री की प्रार्थना के समान पक्षवृत्ति धूम आदि से अनुमिति चाहता है। अर्थात् सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के बिना पर्वतीय धूम में व्याप्तिज्ञान के अभाव से उससे अग्नि की अनुमिति नहीं हो सकती। अतः सामान्यलक्षण सम्बन्ध अवश्य मन्तव्य है जिससे व्याप्यादि सब व्यक्तियों का ज्ञान सम्भव हो। परन्तु यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सामान्यरूप सम्बन्ध से व्याप्तिग्रहण काल में सब व्याप्यादि जाति वाली व्यक्तियों के ज्ञान होने पर, प्रमेयत्वादि की अभिधेयत्वादि में व्याप्तिग्रहण (ज्ञान) करने वाले को सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञत्व की प्राप्ति दोष नहीं है, मैं व्याप्तिग्रहण करने वाला समान्य लक्षण सम्बन्ध से सब व्यक्तियों को जानता हूँ, तो कहा जाता है कि इस प्रकार सर्वज्ञता होने पर आपको कहीं किसी वस्तुविषयक अज्ञान नहीं रहेगा, इस प्रकार की सर्वज्ञता का आपादन है। अतः प्रतिकृत्या (असदुत्तररूप प्रति

द्वन्द्विता) भी नहीं है, सच्ची बात है। कृत्या मारक देवता को कहते हैं, उसके निवारक देवता को प्रतिकृत्या कहते हैं। वस्तुतः यहाँ कथञ्चित्प्रतिकार अर्थ में प्रतिकृत्या प्रयुक्त हुआ है ॥ २२१ ॥

प्रमेयतया सर्वं तदा ज्ञायते एव नतु रूपान्तरेण इति चेन्न, यदि रूपान्तरेण तत्प्रमेयं तदा रूपान्तरवतोपि प्रमेयत्वाधारतया कथमग्रहणम्। अथ न प्रमेयं नास्त्येव रूपान्तरेण तत् येन तु रूपान्तरेणास्ति तेन सर्वेण प्रमेयमिति यावद्विद्यमानाकारेण ज्ञातत्वप्रसङ्गः। तथात्वस्वीकारे च ज्ञायतां प्रमेयत्वदर्शिना भवता मामकी चित्तवृत्तिः ततः श्रद्धास्ये। स्यादेतत् यथा भेदोऽन्योन्याभाववैधर्म्यादिः पृथक् तथैक्यमपि वस्तूनां, ततः प्रमेयत्वाद्यपि धर्मिणामेकत्वमेव ततः प्रमेयत्वेन ज्ञायमानं तत्सर्वमपि तेनैक्येन प्रतीयमानैकव्यक्त्यात्मकमेव ज्ञातं भवतीति कथं तदेकत्ववेदिनस्सार्वज्ञम्। न च वाच्यं नानात्वमपि व्यक्तीनां प्रमेयमिति तदपि धर्मितया ग्राह्यमेवेति यतस्तदपि प्रमेयत्वादिना गृह्यमाणमेकमेव गृहीतं भवतीति ॥ २२२ ॥

इष्टापादनमाह—प्रमेयतयेति। रूपान्तरविशिष्टमपि प्रमेयमेवेति ताद्रूप्येणापि ग्रहणं स्यादित्याह—यदीति। अत्रापीष्टापादने बाधमाह—तथात्वेति। यद्यपि प्रमेयत्वप्रकारेण तदपि ज्ञायते एव यत्सामान्यं प्रत्यासत्तिस्तया तत्प्रकारकज्ञानस्यैव जननात् तथैव सामर्थ्यावधारणादिति घटत्वादिनापि प्रकारेण तज्ज्ञानापादनमनुपपन्नं तथापि तत्रैव न नियामकमिति भावः। प्रमेयत्वेन सर्वमभिन्नमेव कथमन्यथा इदं प्रमेयमिदमपि तदेवेत्यभेदप्रतिसन्धानमिति तेनाकारेणज्ञानमभिन्नविषयकमेवेति न सार्वज्ञ्यापादनमित्याह—स्यादेतदिति ॥ २२२ ॥

यदि कहा जाय कि प्रमेयत्वादि की अभिधेयत्वादि में व्याप्ति के ग्रहण काल में प्रमेयतया (प्रमेयत्वरूप से) सब वस्तु ज्ञात होती ही है, किन्तु रूपान्तर (तत्तत् व्यक्तिरूप) से ज्ञात नहीं होती, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि रूपान्तर (तत्तद्व्यक्तिरूप) से भी सब पदार्थ प्रमेय हैं, तो रूपान्तर वाले को भी प्रमेयत्व के आधार होते भी उनका ज्ञान प्रमेयत्वेन क्यों नहीं होता है ? यदि रूपान्तर से प्रमेय नहीं है, तो रूपान्तर से है ही नहीं, क्योंकि प्रमेयता रहित वस्तु का अभाव है। जो जिन रूपान्तरों से युक्त हैं, वे उन सब रूपों से प्रमेय भी हैं, अतः जितने विद्यमान आकार एवं प्रकार हैं, उन सब आकारों से प्रमेयत्वरूप संबन्ध द्वारा ज्ञातता की प्राप्ति होती है और यदि आप प्रमेयत्वरूप से सब आकार युक्त के तथात्व (ज्ञातत्व) को स्वीकार करें, तो प्रमेयत्वदर्शी आप मेरी चित्तवृत्ति को समझें, तो आप की सर्वज्ञता में मैं श्रद्धा करूंगा।

शंका होती है कि (स्यादेतत्) तत्तत् व्यक्तियों में केवल भेद मानने पर उक्त सार्वज्ञ का प्रसङ्ग हो, परन्तु भेदाभेदवाद में जैसे वस्तुओं के भेद अन्योन्याभाव एवं वैधर्म्य आदि पृथक् स्वरूप हैं, वैसे ही सब वस्तुओं का ऐक्य(एकत्व = अभिन्नत्व) भी स्वरूप है। अर्थात् सब पदार्थ किसी रूप से भिन्न-भिन्न हैं और किसी रूप से अभिन्न भी हैं। तत्त्वतः प्रमेयत्व एवं ज्ञेयत्वादि भी सब धर्मियों (व्यक्तियों) में एकत्व स्वरूप ही है। अतः प्रमेयत्वरूप

से ज्ञायमान भी वह सब वस्तु उस प्रमेयत्वरूप एकता से (एकता द्वारा) ज्ञायमान एक व्यक्ति स्वरूप ही ज्ञात होता है, तो उस प्रकार एकत्व को जानने वाले में सर्वज्ञता कैसे हो सकती है ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं। नानात्व भी व्यक्तियों का प्रमेय ही है, अतः वह भी धर्मीरूप से प्रमेयत्वज्ञानी से ग्रहण योग्य ही है, अतः सर्वज्ञता कही जा सकती है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि वह व्यक्तियों का नानात्व भी प्रमेयत्वादिरूप से गृहीत होता हुआ एकरूप ही से गृहीत (ज्ञात) है कि ये सब प्रमेय हैं ॥ २२२ ॥

तस्मात् एको भावस्तत्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्वतस्तेन दृष्टा इति तत्वतस्ताद्रूप्येण एकीभूता इति भावः ॥ २२३ ॥

एक इति। येन भावो धर्मो द्रव्यत्वप्रमेयत्वादिर्दृष्टस्तेन ताद्रूप्येण तदालिङ्गितधर्मिणो भावाः सर्वे एवैक्यमापन्ना दृष्टा इत्यर्थः कारिकाया उक्तार्थासमर्पकत्वं मत्वा व्याचष्टे—तत्वत इति ॥ २२३ ॥

जिससे अनेक भी प्रमेयत्वादिरूप से एक होते हैं, इसलिए एक भाव (सत्य वस्तु) को जिसने तत्त्व (सत्य) स्वरूप से देख (समझ) लिया, उसने सब पदार्थों को तत्त्वतः समझ (जान) लिया। अर्थात् तात्त्विक स्वरूप से सबको एक स्वरूप उसने समझा, व्यावहारिकरूप से नहीं, यह तात्पर्य है ॥ २२३ ॥

उक्त रीति से सब पदार्थों में भेदरूप नानात्व और प्रमेयत्वरूप से अभेदरूप एकत्व की प्राप्ति से, सब व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न एकत्व की स्थिति से उसके ज्ञान के भी एकत्वरूप से सबके ज्ञान के बिना असम्भव से उक्त कथन की अयुक्तता को दर्शाते हैं कि—

तदेतदपि नोपपन्नम्, नानैकमिति व्याहतप्रतीत्यापत्तेः अथ रूपान्तरेण नानात्वं प्रमेयत्वादिना चैक्यमिति व्यवस्थितत्या न व्याघातः स्यात् तर्हि प्रमेयत्वाधारस्य व्यक्तिभेदस्य कृत्स्नस्य ग्रहणात् सार्वज्ञ्यापत्तिस्तादृश्येवेति। किं च सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या तज्जातीयविशेषग्रहणे तासु सर्वासु व्यक्तिषु सम्बन्धास्तित्वे किं प्रमाणं सर्वव्यक्तिग्रहवत्तत्सम्बन्धग्रहेऽपि व्याप्तिग्राहकमिन्द्रियमेव प्रमाणमिति चेत् तर्हि क्वचिदेवमवधारितस्य यद्व्यभिचारो दृश्यते तन्न स्यात्। इन्द्रियेण तत्सम्बन्धस्य प्रमितत्वात् भ्रान्तिस्तत्र सम्बन्धप्रतीतिः पश्चाद्बाधात् इति चेन्न, सामग्र्यभेदे काचिद्भ्रान्तिः काचिद्भ्रान्तिरिति विभागानुपपत्तेर्दोषादोषवैचित्र्यविवेचनस्य दुष्करत्वात्। कार्यभेदादेव सामग्रीभेदोऽप्युन्नेय इति चेत्, उन्नीयतां स एव कीदृगुन्नेय इति वाच्यम् ॥ २२४ ॥

नानेति। बहूनामेकत्वमिति व्याघात इत्यर्थः। बहूनामेकधर्मावच्छेदमात्रं चेदेकत्वं तत्राह—तर्हीति। सामान्यविशेषणीभूतयावद्व्यक्तिग्रहेऽपि तद्गतव्याप्तिग्रहे न प्रमाणमित्याह—किंचेति। सर्वासु व्यक्तिषु सम्बन्धश्चेदिन्द्रियेण प्रमितस्तदा पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोः क्वाचित्कः सम्बन्धबाधो न स्यादित्याह—तर्हीति ॥ २२४ ॥

उक्त भेदाभेद पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि नाना एक है, बहुत की एकता है, ऐसी विरुद्ध प्रतीति की प्राप्ति से उक्त कथन युक्त नहीं हो सकता। उक्त वचन मे तो

पारमार्थिक निर्धर्मकरूप से कहा गया है कि सब एक स्वरूप हैं। यदि कहा जाय कि यहाँ भी एकरूप से एक और नाना नहीं कहा जाता जिससे व्याघात हो, किन्तु घटत्वादि-रूपान्तर से सब में नानात्व है, और प्रमेयत्वादिरूप से एकत्व है। और इस प्रकार की व्यवस्था से व्याघात नहीं होता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि जो नानारूपान्तर है, वह भी प्रमेयत्व का आधार है, प्रमेयत्वरहित वस्तु का असत्त्व है, अतः प्रमेयत्वेन प्रमेयत्वाधार व्यक्तिरूप सब पदार्थों के ज्ञान की प्राप्ति से सर्वज्ञता की प्राप्ति पूर्व के समान ही दोष है। और यदि किसी प्रकार से सब व्यक्तियों के ज्ञान को मान भी लिया जाय, तो भी सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से अग्निधूमादि साध्यहेतुजातीयविशेष के ज्ञान होने पर भी उन सब व्यक्तियों में व्याप्यव्यापकभावरूप सम्बन्ध के अस्तित्व (सत्ता) में क्या प्रमाण है ? यदि कहें कि व्याप्तिग्रहसापेक्ष होने से अनुमान तो यद्यपि व्याप्तिग्राहक प्रमाण नहीं हो सकता तथापि सब व्यक्तियों के ज्ञान में जैसे इन्द्रिय प्रमाण है, वैसे उनके सम्बन्ध के ग्रहण में भी व्याप्ति को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय ही प्रमाण है, तो कहीं इस प्रकार से अवधारित (निश्चित) सम्बन्ध का जो व्यभिचार (अभाव) देखा जाता है, वह नहीं होना चाहिये। अर्थात् पार्थिवत्व एवं लोहलेख्यत्व का यदि प्रत्यक्ष-प्रमाण से अविनाभावसम्बन्ध का ग्रहण हो गया तो इन्द्रिय से उस सम्बन्ध के प्रमित होने से व्यभिचार नहीं हो सकता। सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से सब के साथ सन्निकृष्ट होकर इन्द्रियाँ व्याप्यव्यापकभाव को ग्रहण करती हैं। यदि कहा जाय कि जहाँ पीछे बाध होता है, वहाँ उस बाध से ही वह प्रतीति उस विषय में भ्रमरूप सिद्ध होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, एक इन्द्रिय और उसके सम्बन्धादिरूप सामग्री से कोई भ्रमरूप एवं कोई अभ्रमरूप ज्ञान एक काल में हो, यह सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् पृथिवीत्व एवं लोहलेख्यत्व का सम्बन्ध काष्ठादि देश में जिस सामग्री से प्रमाज्ञान का विषय हो, और अन्यत्र अप्रमाज्ञान का विषय हो यह हो नहीं सकता, क्योंकि वह ज्ञान भी एक है। अत एव दोष एवं अदोष के विवेक को भी प्राप्त करना असम्भव है। यदि कहा जाय कि दोष तथा अदोषरूप विचित्रता के विवेचन के दुष्कर होने ही से भ्रमाऽभ्रमरूप कार्यभेद से ही सामग्रीभेद उन्नेय (ऊहनीय) है तो भले ही ऊहा (अनुमान) करें, परन्तु वह सामग्री भेद किस प्रकार ऊहनीय है, यह भी वक्तव्य है ॥ २२४ ॥

न तावत्सार्वत्रिकसम्बन्धभावाऽभावात्मकस्तदानीं भाविनां सम्बन्धानामसत्त्वेनाकारणत्वात्। सामान्यतश्च तज्जातीययोः सम्बन्धस्य प्रतीतेः पूर्वसत्त्वं भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणम्। क्वचिदपि सम्बन्धाभावे भ्रान्तेरनुदयात्। किमेतावता अन्य एव तर्हि कार्यभेदात्कारणभेदः कल्पयिष्यते इति चेत् स किमिन्द्रियसहकारिभूतः कारणान्तरमेव वा कल्पनीयमिति वाच्यम्, नाद्यः इन्द्रियस्य भूतभाविसम्बन्धांशे प्रमाणत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्। प्रत्युत व्युपरतेन्द्रियव्यापारस्यापि भावयतः पूर्वप्रतीतसम्बद्धधर्मिद्वयव्याप्त्यवधारणदर्शनात्। तदापि मनोऽस्तीन्द्रियमिति चेत् अस्तु, तस्मिन्कार्ये मनसः करणत्वे तु प्रमाणाभावः॥ २२५॥

सम्बन्धानामपि सामग्र्यन्तर्भावे भाविनामसत्त्वात्तद्ग्रहो न स्यादित्याह—भाविना—मिति। ननु यद्यपि भाविनां विशेषाणां सम्बन्धा न सन्ति तथापि सामान्ययोर्धूमत्वावच्छिन्नवह्नित्वावच्छिन्नयोः सम्बन्धप्रतीतिः पूर्वमस्त्येव स एव कारणं स्यादित्यत आह–सामान्यत इति। पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तिप्रतीतिरेवं स्यादित्यर्थः। व्याप्तिप्रतीतिलक्षणकार्यानुरोधात्कारणं कल्पनीयमित्याह—किमिति। असम्बद्धावर्तमानग्रहं प्रतीन्द्रियाणामकारणत्वादित्याह—इन्द्रियस्येति। व्याप्तिप्रतीतिं प्रतीन्द्रियस्य व्यभिचारमाह—प्रत्युतेति। भावयतश्चिन्तयतः। तदापीति। इन्द्रियान्तरव्यापारव्युपरमकाले इत्यर्थः। इन्द्रियसहकारितया यत्कल्पनीयं तदेव तत्रासाधारणं कारणमस्तु मनस्त्वनुमित्यादिवत्साधारणमेव तत्रेत्याह—अस्त्विति। व्याप्तिज्ञानस्य साक्षात्कारित्वे सप्तममिन्द्रियमसाक्षात्कारित्वे प्रमाणान्तरमितिविकल्पे तात्पर्यम् एवमग्रेपि एकस्य व्यतिरेकेणेति साध्यसाधनयोरन्यतरस्य व्यतिरेकेऽन्यतरव्यतिरेक इत्यर्थः॥ २२५॥

भ्रान्ति तथा अभ्रान्ति स्थल में सामग्री भेद कल्पनीय है यह कहा गया था। वहाँ पृथिवित्व, लोहलेख्यत्व तथा गोत्वश्रृङ्गित्वादिभ्रान्ति के स्थल हैं, क्योंकि पार्थिववज्र में लोहलेख्यत्व का अभाव है। मुण्डी गाय में स्रङ्गित्व का अभाव है। वहाँ एक के रहते अपर का रहना नहीं है और धूमाग्नि के स्थल में धूम के रहते अग्नि का रहना अभ्रान्ति का स्थान है, क्योंकि अग्नि धूम का कारण है, कारण के बिना कार्य हो नहीं सकता। अतः यदि कहा जाय कि सार्वत्रिक (सब व्याप्तिज्ञान स्थान में) विषय (कर्मकारण) रूप से सन्बन्ध का भाव (सत्त्व) अभ्रान्ति सामग्री में विशेष (भेद) और सार्वत्रिकसम्बन्ध का अभाव भ्रान्ति सामग्री में विशेष है, इन्द्रियाँ दोनों स्थान में तुल्य कारण हैं, तो यह कहना नहीं बन सकता, क्योंकि ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ज्ञान में वर्तमान पदार्थ कर्मरूप से हेतु होते हैं। और व्याप्तिग्रहण काल में सब धूमाग्नि के व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध को ग्रहण करना है। वहाँ भावी धूमाग्नि के सम्बन्ध भी भावी हैं, कारण को कार्य से पूर्व होना चाहिये। परन्तु ज्ञान से वे पूर्व हैं नहीं। अतः भावी सम्बन्धों के असत्त्व (अवर्तमानत्व) से उनमें ज्ञान कारणत्व नहीं है। यदि सामान्यरूप से तज्जातीय के सन्बन्ध को व्याप्तिप्रतीति से प्रथम सत्त्व कहा जाय, तो भ्रान्ति तथा अभ्रान्ति दोनों स्थानों में तुल्य है, क्योंकि पार्थिवत्व तथा लोहलेख्यत्व को कहीं भी सम्बन्ध नहीं हो तो सम्बन्ध का भ्रम भी नहीं हो सकता। अतः भ्रमोदय से प्रथम सामान्यरूप से भ्रान्ति का विषय भी कहीं रहता ही है। अतः उनको व्याप्ति प्राप्त होगी। यदि कहा जाय कि इससे क्या हानी है? भ्रान्ति और अभ्रान्तिरूप कार्य के भेद से सार्वत्रिक सम्बन्धासम्बन्ध से अन्य ही कारणभेद की कल्पना करेंगे, तो वह कारणान्तर क्या इन्द्रिय के सहकारिरूप कल्पित होगा? या निरपेक्ष करणान्तररूप स्वतन्त्र करण कल्पित होगा? यह भी वक्तव्य है। यहाँ प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि इन्द्रियों के भूतभावी सम्बन्धांश में प्रमाणत्व की कल्पना में प्रमाण का अभाव है, फिर उसका सहकारी कारणान्तर भी क्या सहायता करेगा, सूर्य नेत्र के सहकारी होते भी शब्दश्रवणादि के लिये सहकारी नहीं होते हैं, उलटा उपरत इन्द्रिय वाला भावना (चिन्तन) करता है, तो पूर्वज्ञात सम्बन्ध वाले दो धर्मियों (धूमाग्नियों) की व्याप्ति का निश्चय उसमें देखा जाता है, इन्द्रिय से नहीं। यदि कहें कि उस समय भी मनोरूप इन्द्रिय रहती ही है, चक्षुआदि ही उपरत रहते हैं, तो यह कहना

ठीक नहीं, क्योंकि मन रहे तो भी उस बाह्य विषय का व्याप्तिग्रहणरूप कार्य में मनके करणत्व में प्रमाण का अभाव है ॥ २२५ ॥

अवश्यं परिकल्पनीयेनान्येनैव सर्वानुपपत्त्युपशान्तेः, कारणत्वमात्रं तु चक्षुरादिजज्ञानवन्मनसस्तत्र स्यात् , चक्षुरादिवत्करणमन्यदेव तत्कल्पनीयमिति तत्सप्तममिन्द्रियं प्रमाणान्तरं वा प्रसज्येत। अन्यथा चाक्षुषादिप्रतीतावपि चक्षुरादेः करणत्वं न स्यात् , शक्यते तत्रापि वक्तुं मन एव तत्सुखादिप्रतीतिवत्करणं चक्षुरादयस्तु सहकारिमात्रम्। नापि द्वितीयः इन्द्रियान्तरप्रसङ्गात् प्रमाणान्तरप्रसङ्गाद्वा। नापि विनाभावः एकस्य व्यतिरेकेणापरस्याव्यतिरेकः, तन्निषेधोऽविनाभाव इति द्वितीयः पक्षः, एवं हि लोहलेख्यत्वव्यतिरेकश्च पार्थिवत्वव्यतिरेकश्च क्वचिदस्तीति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्यविनाभावः प्रसज्येत। सार्वत्रिकं व्यतिरेकयौगपद्यं विवक्षितं नतु क्वाचित्कम्, अत एवोच्यते अविनाभावनियम इति चेन्न सार्वत्रिकान्वयावधारणनिरासन्यायेन सार्वत्रिकव्यतिरेकावधारणस्याप्यशक्यत्वात्। शक्यत्वे चान्वयावधारणमेवास्तु सार्वत्रिकं, कृतं व्यतिरेकावधारणकुटिलिकया ॥ २२६ ॥

क्वचिदिति—आकाशादावित्यर्थः। सार्वत्रिकमिति। पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वव्यतिरेकयौगपद्यस्य वज्रेऽभावादित्यर्थः। अविनेति अविनाभावयोर्व्यतिरेकयोर्नियम इत्यर्थः। दुरवधारणत्वमाह—सार्वत्रिकेति। कुटिलिका प्रतिपत्तिगौरवम् ॥ २२६ ॥

बाह्यार्थ विषयक प्रायः व्याप्तिज्ञान होने से मन उसका करण नहीं है, और दूसरी बात यह है कि भूत, भावी, वर्तमान, दूर या निकट सबके साथ व्याप्य एवं व्यापक के सम्बन्ध के ग्रहण के लिये परिकल्पनीय अन्यसाधन (इन्द्रिय सहकारी) से ही सब अनुपपत्ति की शान्ति हो सकने से मन को वहाँ करण मानने की आवश्यकता नहीं है और नेत्रादिजन्य घटादिज्ञान में जैसे मन साधारण कारण होता है, वैसे उस व्याप्तिज्ञान में भी मन को कारणत्व तो है, किन्तु भूत एवं भावी आदि का ज्ञान चक्षु आदि से नहीं हो सकता, अतः चक्षु आदि के समान ही भूतादि के प्रत्यक्षज्ञान के साधन (करण) वह अन्य ही प्रसिद्धेन्द्रिय प्रमाणों से विलक्षण कल्पनीय होगा। अतः वह सप्तम ज्ञानेन्द्रिय या प्रमाणान्तर होगा। यदि प्रमाणान्तरादि के बिना मन से ही बाह्यव्याप्ति का ज्ञान हो तो चाक्षुषादि ज्ञानों में भी चक्षु आदि करण न हों (उन ज्ञानों में चक्षु आदि के करणत्व को नहीं माना जाय) क्योंकि वहाँ भी कह सकते हैं कि जैसे सुखादि के ज्ञान में मन करण है वैसे ही घटादि के चाक्षुषादि ज्ञान में मन ही करण है, चक्षुआदि तो सहकारिमात्र है। इससे ज्ञान के चाक्षुषादि नाम भी सिद्ध हो जाते हैं। यदि द्वितीय पक्ष मानें कि व्याप्तिज्ञान के लिये स्वतन्त्र करणान्तर की कल्पना करेंगे, तो वह भी मानना युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार सप्तम इन्द्रियान्तर की या प्रमाणान्तर की प्राप्ति होगी।

अविनाभाव, इस वाक्य में 'न' का 'विना' के साथ सम्बन्धपक्ष का खण्डन हुआ, अब अभाव के साथ सम्बन्ध पक्ष का खण्डन है। एक (व्यापक अग्नि) के व्यतिरेक रहते जलादि में मत्स्यादि का अव्यतिरेकभाव होना विना भाव है। अर्थात् अग्नि के विना

मत्स्यादि का सत्त्व विनाभाव है और उस विनाभाव का अभाव धूम में अविनाभावरूप व्याप्ति है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार लोहलेख्यत्व का व्यतिरेक (अभाव) और पार्थिवत्व का व्यतिरेक भी कहीं वायु आदि में है, अतः पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व को अविनाभावरूप सम्बन्ध प्राप्त होग। । यदि कहा जाय कि सार्वत्रिक अभाव का यौगपद्य (साहित्य) विवक्षित है, क्वाचित्क का नहीं, वज्र में पार्थित्व रहते भी लोहलेख्यत्वमात्र नहीं है । अतः सार्वत्रिक व्यतिरेक यौगपद्य नहीं है, अत एव कहा जाता है—कि अविनाभाव का नियम व्याप्ति है, जिससे अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, सार्वत्रिक अन्वय (सम्बन्ध) के खण्डन की रीति से सार्वत्रिक व्यतिरेक के अवधारण के भी अशक्य होने से (भूतभावी व्यतिरेक के ऐन्द्रियक ज्ञानविषयत्व के असम्भव से) उक्त व्यवस्था नहीं बन सकती । यदि किसी प्रकार सार्वत्रिक व्यतिरेक का अवधारण शक्य हो, तो सार्वत्रिक अन्वयावधारण ही कर्तव्य है, व्यतिरेकावधारण की वक्रोक्ति का कोई फल नहीं है । अर्थात् जिसका अन्वय बोध हो सकता है, उसका व्यतिरेक से बोध कराना व्यर्थ है ॥ २२६ ॥

व्याप्ति के लक्षणान्तर का वर्णन है कि—

यत्र विपक्षे वृत्तौ हेतौ बाधकमस्ति तयोरन्वयो व्याप्तिरिति केचित्तन्न, यत्तु विपक्षे वृत्तौ हेतौ बाधकं तत्प्रमाणं वा तर्को वा स्यात् । आद्ये न तावदिन्द्रियम्, तदसम्भवात् । अन्यथा व्यभिचाराव्यभिचारसंशयो नस्यात् । नाप्यनुमानम्, अनवस्थाप्रसङ्गात् । नाप्यर्थापत्तिरनुमानाव्यतिरेकात्, व्यतिरेके वा यदि लिङ्गिव्यतिरेकेण लिङ्गस्यानुपपत्तिस्तदा तत एव लिङ्गिसिद्धेः कृतमनुमानेन । अनेवम्भावे च तयोः किमायातम् । अस्तु वा कथमपि तावदर्थापत्तिर्बाधिका तथापि कीदृशश्चाभ्युपगम इति प्रष्टव्यं, किं विपक्षवृत्तिबाधकसध्रीचीनो यत्र क्वचिदन्वयो व्याप्तिः, उत तत्सहितः सार्वत्रिकोऽन्वय, उत किं नो विशेषगवेषणेन तत्सध्रीचीनः सामान्यतोऽन्वयो व्याप्तिः, उत सार्वत्रिकोन्वयः, स च विपक्षबाधकादवगम्यते । नाद्यः, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-किं विपक्षे वृत्तौ बाधकं सर्वव्यक्तिविषयम् उत सामान्यविषयम् आद्ये यत्राप्यनुमानं प्रवर्तनीयं तत्रावश्योपस्थाप्यया अन्यथाभावबाधकभूतयार्थापत्त्यैव साध्यसिद्धेः शान्तमनुमानव्यसनेन ॥ २२७ ॥

तदसम्भवात इति । अतीतानागतसम्बन्धे इन्द्रियाणामसामर्थ्यादित्यर्थः । अभ्युपेत्याह—अन्यथेति । अव्यभिचारस्यैव परिच्छेदात् संशयाभाव इत्यर्थः । अनवस्थेति । विपक्षबाधकानुमानमूलव्याप्तावपि विपक्षबाधकानुमानान्तरानुसरणौचित्यादित्यर्थः । अव्यतिरेकादिति । न्यायनये इति शेषः । अनेवमिति । लिङ्गिव्यतिरेकेण लिङ्गस्य यदि नानुपपत्तिस्तदा व्याप्तिरपि न तयोरिति तद्ग्रहार्थं विपक्षबाधकप्रमाणानुसरणमफलमेवेत्यर्थः । यत्रापीति । सर्वा धूमव्यक्तिर्वह्निव्यक्तिं विनानुपपन्ना तथाच वह्निं विना दृश्यमानापि धूमव्यक्तिरनुपपन्नेत्यर्थापत्त्या वह्निसिद्धौ गतमनुमानमित्यर्थः । यद्यपि पूर्वोत्पन्ने तदर्थापत्त्या व्याप्तिग्रहो नतु प्रत्येकानुमितिकालेपि तदवतारो येनानुमानवैफल्यं स्यात्तथापि तावद्विशेषोपस्थापकप्रमाणाभावे तात्पर्यम् ॥ २२७ ॥

निश्चित साध्य वाला स्थान सपक्ष कहा जाता है, सन्दिग्ध साध्यवाला पक्ष

होता है और निश्चित साध्याभाववाला विपक्ष होता है। विपक्ष वृत्ति हेतु व्यभिचारी होता है। वह व्याप्ति रहित होता है। पक्ष एवं सपक्ष वृत्ति हेतु व्याप्ति सहित होता है। अतः कोई कहते हैं कि जहाँ साध्य के विपक्ष (अभाव स्थान) में वृत्ति हेतु में बाधक है, जिससे विपक्षवृत्तिता हेतु में नहीं सिद्ध हो सकती है, उस साध्य और हेतु का अन्वय (सम्बन्ध) व्याप्ति है। परन्तु यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह बाधक प्रमाण है ? या तर्क ?, यह निश्चय करना असम्भव है। यदि कहें कि असंभव नहीं है, प्रमाण बाधक है, तो यह आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाणों में इन्द्रिय तो विपक्षवृत्तित्व में बाधक हो नहीं सकती, वह इन्द्रियरूप प्रमाण सम्बद्ध विषय का बोधक होता है। अतः भूत-भावी के ज्ञान बिना उनमें हेतु के वृत्तित्व का बाधज्ञान कराना इन्द्रियों से असम्भव है। यदि किसी प्रकार भूत एवं भावी का ज्ञान हो, और सर्वत्र हेतु के विपक्षवृत्तित्व का प्रत्यक्ष बाध हो जाय, तो हेतु के व्यभिचार या अव्यभिचार का कहीं संशय नहीं होना चाहिये। अनुमान भी विपक्षवृत्तित्व का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि विपक्ष बाधक अनुमान को भी अपनी व्याप्ति में अनुमानान्तर की अपेक्षा होने पर अनवस्था होगी। यदि यहाँ अग्नि नहीं हो तो धूम भी नहीं हो सकता इस प्रकार की अर्थापत्ति भी बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि अर्थापत्ति के भी व्याप्तिसापेक्ष होने से न्याय मत में वह केवलव्यतिरेकी अनुमान के अन्तर्गत है। मतान्तर से यदि अर्थापत्ति को अनुमान से व्यतिरेक (भेद) मानें, तो भी यदि लिङ्गी (साध्य) के व्यतिरेक (अभाव) से लिङ्ग की अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति है, तो उससे साध्य की सिद्धि होने पर अनुमान व्यर्थ है। और यदि अर्थापत्ति को अनेवंभाव हो (लिङ्गी के अभाव रहते लिङ्गानुपपन्नता न हो) तो उस अर्थापत्ति से उस साध्य हेतु में क्या फल हुआ अर्थात् कारण के व्यतिरेक से कार्यव्यतिरेकरूप ही अर्थापत्ति व्याप्ति का (साध्य साधन के सम्बन्ध का) बोधक होता है, क्योंकि लिङ्गी के अभाव होते भी यदि लिङ्ग का अभाव न होगा, तो अर्थापत्ति भी नहीं होगी ? फिर भी किसी प्रकार अर्थापत्ति यदि विपक्ष का बाधक हो, तो भी कैसी व्याप्ति अभ्युपगम (स्वीकार) का विषय है ? यह प्रष्टव्य है। क्या विपक्षवृत्तित्व के बाधकसहित जिस किसी स्थान में हेतु साध्य का सम्बन्ध व्याप्ति है ? (१) अथवा विपक्षवृत्तिबाधक सहित सार्वत्रिक सम्बन्ध व्याप्ति है ? (२) अथवा हमें विशेष के अन्वेषण से कोई फल नहीं मिलता, अतः विपक्षवृत्ति बाधक सहित सामान्यरूप से सम्बन्ध व्याप्ति है ? (३) या सार्वत्रिक अन्वय व्याप्ति है और वह विपक्ष बाधक से अवगत (ज्ञात) होती है ? (४) इनमें विकल्प की अनुपपत्ति से प्रथमपक्ष नहीं बन सकता, क्या विपक्ष में हेतु का वृत्तित्वविषयक बाधक सर्व व्यक्ति-विषयक होना चाहिये ? अथवा सामान्यविषय के (सामान्यरूप से कुछ व्यक्तिविषयक) होना चाहिये ? यहाँ प्रथम पक्ष में, जहाँ कहीं अनुमान प्रवर्तनीय हैं अनुमान से कुछ ज्ञातव्य है, वहाँ अवश्य उपस्थाप्य (प्राप्तव्य) अग्नि के बिना भी धूम के सत्त्वरूप अन्यथाभाव के बाधकरूप अर्थापत्ति (यदि अग्नि न हो तो धूम भी न हो, धूम है, अतः अग्नि है) इस रूप वाला प्रमाण से ही साध्य की सिद्धि से अनुमानरूप व्यसन (विस्तार) व्यर्थ है ॥ २२७ ॥

द्वितीये क्वचिद्व्यभिचारेपि क्वचिदव्यभिचारमाश्रित्य बाधकस्य चरि-

तार्थत्वम्। धूमवत्तामात्रमग्निमत्तामात्रव्यतिरेकीत्येवंरूपो हि सामान्यतो विपक्षः, तत्र च बाधकं तयोरविरोधे पर्य्यवस्यति अविरोधश्च क्वचित्साहित्याद्भवत्येवेति पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरप्येवंभूतव्याप्तत्वप्रसङ्गः। नापि द्वितीयः विशेषणवैयर्थ्यात् सार्वत्रिकोऽन्वय इत्येवोच्यताम्, नच सोपि सङ्गत इत्युक्तम्। नापि तृतीयः, बाधकस्य सामान्यविशेषविषयत्वविकल्पोक्तयुक्त्यैव निरस्तत्वात्। नापि चतुर्थः, तथाहि यद्धूमवत्तदग्निमदित्यत्रेदमन्वयस्य सार्वत्रिकत्वं वाच्यम्, यत्सर्वासां धूमव्यक्तीनामग्निसम्बन्धित्वं तद्यदि व्याप्तिग्रहकाले गृहीतं तदा पक्षस्यापि धूमवद्व्यक्तेरग्निमत्वं प्राग्गृहीतं स्मर्यते एवेति गतमनुमानं सामान्यतोऽग्निमत्वं तस्यापि गृहीतमेव विशेषतस्त्वनुमीयते इति चेन्न, विशेषत इति किमग्निमत्वस्य विशेषो व्यक्तिरूपो विवक्षित उत कालदेशादिसम्बन्धस्तस्य। नाद्यः सर्वव्यक्तीनां व्याप्तौ प्रतीतत्वेन भवतैवाङ्गीकारात्॥ २२८॥

द्वितीये इति। साधनवत्सामान्यं साध्यवन्मात्रभिन्ने वर्तते इति विपक्षस्य यद्बाधकं तेन साध्यसाधनयोर्विरोधः परं निरस्यो नतु व्यभिचारोपीत्यर्थः। एतदेवाह—अविरोधइति। विशेषणेति। विपक्षबाधकसहित इति विशेषणस्य वैयर्थ्यमित्यर्थः। नचेति। तत्र ग्राहकाभावस्योक्तत्वादित्यर्थः। बाधकस्येति। सामान्ययोः क्वचित् सामानाधिकरण्यमात्रमादाय विपक्षबाधकविश्रान्तेर्विशेषाणां यदि प्रत्येकं तच्चिन्ता तदार्थापत्त्या गतार्थमनुमानमित्यर्थः। यद्धूमवदिति। पक्षीयवह्निव्यक्तेः पूर्वमनुभवादिदानीं स्मरणोपपत्तौ विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षतदुभयासंसर्गाग्रहरूपप्रत्यक्षग्रहसामग्रीसत्वात् गतमनुमानमित्यर्थः। यत्र विशेषणस्य विशेष्यगततया ग्रहणं तत्रेदमुपनीतं प्रत्यक्षं नतु सामान्यतोपि ग्रहे इत्याशङ्कते—सामान्यतोऽग्निमत्त्वमिति। वह्निव्यक्तिविशेषस्य विशेष्यगततयैव पूर्वं भानात्स्यादेव प्रत्यक्षमित्याह—सर्वेति॥ २२८॥

प्रथम पक्ष के द्वितीय विकल्प में सामान्यरूप से कुछ व्यक्ति विपक्ष विषयक बाधक से ही यदि व्याप्ति सिद्ध हो, तो कहीं व्यभिचार के रहते भी कहीं अव्यभिचार (साहचर्य) का आश्रयण करके बाधक चरितार्थ होगा, जैसे वज्रादि में लोहलेख्यत्वादि के व्यभिचार होते भी काष्ठादि में विपक्षवृत्तित्व का अर्थापत्ति बाधक होगी। क्योंकि धूमाधिकरणत्वमात्र (सब धूमाधिकरण) अग्न्यधिकरणत्व के व्यतिरेकी (अभाववाला) सामान्यरूप से विपक्ष का बोध होता है, वहाँ हेतुसाध्य के अविरोध (कार्यकारणभावादि) सिद्ध होने पर अर्थापत्ति बाधक होती है—यदि अग्न्यधिकरणत्वं न स्यात् तर्हि धूमाधिकरणत्वमपि न स्यात् इत्यादि। और वह अविरोध कहीं भी साहचर्य से सिद्ध होता ही है। अतः पार्थिवत्वलोहलेख्यत्व को भी ऐसा (काचित्क अविरोधरूप) व्याप्तत्व (लोहलेख्यत्व की पार्थिवत्व में व्याप्ति) प्राप्त होगा। द्वितीय (विपक्षवृत्ति-बाधक-सहित—सार्वत्रिक अन्वयरूप) पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें विशेषण व्यर्थ है। सार्वत्रिक अन्वय कहने ही से लोहलेख्यत्वादि की व्यावृत्ति हो जाती है, अतः सार्वत्रिक अन्वय व्याप्ति है, इतना ही वक्तव्य है, परन्तु वह भी सङ्गत (युक्त) नहीं है, क्योंकि सार्वत्रिक सम्बन्ध का ग्रहण असर्वज्ञ से अशक्य है। बाधकसहित सामान्यरूप से अन्वयरूप तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि बाधक के सामान्यविशेषविषयत्वरूप विकल्पात्मक उक्त युक्ति

से ही यह खण्डित है। अर्थात् बाधक के कहीं विपक्षसामान्यविषयक होने पर कहीं अव्यभिचार का आश्रयण करके चरितार्थ होगा। विशेषविषयत्व होने पर बाधक अर्था- पत्ति से ही साध्य की सिद्धि होने से अनुमान व्यर्थ होगा। सार्वत्रिक अन्वयरूप चतुर्थ पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि जो धूमवाला है, वह अग्निवाला है, यही यहाँ इस अन्वय का सार्वत्रिकत्व वक्तव्य है, जो सब धूम व्यक्तियों का अग्नि के साथ सम्बन्धित्व स्वरूप है। वह सम्बन्धित्व यदि व्याप्तिग्रहण काल में सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से गृहीत हो गया, तो धूमवाला व्यक्तिरूप पक्ष के अग्निमत्त्व भी जो प्रथम गृहीत हुआ था वही पर्वतादि में धूमादि के दर्शन से संस्कार के उद्बुद्ध होने पर स्मरण का विषय होता है। अर्थात् पूर्वज्ञात की स्मृति मात्र होती है। अतः अनुमान निष्फल हुआ। पक्षादि का प्रत्यक्ष ही होता है, अग्नि तथा उसके सम्बन्धादि का स्मरण ही होता है, अतः अनुमान का कोई फल नहीं है। यदि कहा जाय कि व्याप्तिग्रहणकाल में यद्यपि सामान्य- रूप से अग्निमत्ता उस पक्ष की भी गृहीत ही रहती है, तथापि अनुमान से विशेषरूप से अग्निमत्ता का ग्रहण होता है. अतः अनुमान सार्थक है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विशेषतः इस शब्द से क्या अग्निमत्त्व का विशेष व्यक्तिरूप विवक्षित है ? अथवा उस व्यक्ति के साथ देशकालादि का सम्बन्ध विवक्षित है ? यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्तिग्रहण में सब व्यक्तियों के प्रतीतत्व (ज्ञातत्व) को आप ने ही अङ्गीकार किया है। अतः उसका स्मरण ही होगा, अनुमान नहीं ॥ २२८ ॥

नापि द्वितीयः। अग्निमद्रूपतया स्मृतस्य पक्षीभूतस्य धूमवद्विशेषस्य चक्षुरादिभिरेव पर्वतत्वादिदेशकालविशेषादिमत्तया परिच्छेदात् यथा प्राक् प्रत्ययाहितसंस्कारसध्रीचीनैश्चक्षुरादिभिः परिछिद्यमानेदानीम्भावदेशविशे- षावस्थानादेः स एवायमिति प्रत्यभिज्ञायमानताङ्गीक्रियते तथैवात्राप्यस्तु कृत- मनुमानेन। नाप्युपमानं बाधकं विपक्षे वक्तुं शक्यं, तस्य नियतविषय- त्वेन तादृशे विषयेनुदयात्। नापि शब्दः, आप्तस्योपदेष्टुरभावे व्याप्त्यनव- गमप्रसङ्गात्। अभावस्तु कदाचित्स्यात् सोपि निरूप्यमाणो न घटते, एवं स वाच्यो यदि वह्निव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपलभ्येत नचोपलभ्यतेऽतोनुपलम्भान्नास्ति तद्व्यतिरेकेणेति, तच्च न, तथाहि क्वचि- द्व्यभिचारादर्शनादयमभावः प्रवर्तते, सर्वत्र व्यभिचारादर्शनाद्वा, नाद्यः, पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, सर्वत्र योग्यानुपलम्भो वाऽनुपलम्भमात्रं वा, नाद्यः सर्वत्र योग्यानुपलम्भा- सम्भवात्, नापि द्वितीयः पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि सम्भवात्। तत्र वज्रे एव व्यभिचार इति चेन्न, तदीयादर्शनदशायां व्यभिचारानवगमात् तद्दर्शन- दशायां तावदस्ति व्यभिचारो यत्र तु न कदापि व्यभिचारदर्शनं तत्र व्याप्तिः इति चेन्न, अन्यत्रापि व्यभिचारो न द्रक्ष्यते इत्यत्र नियामकादर्श- नात्। नापि विपक्षे बाधकस्तर्को वाच्यः, तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वाऽभ्युपगमे- ऽनवस्थानप्रसङ्गात्। तदनभ्युपगमे मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वा- पातात् ॥ २२९ ॥

देशकालसम्बन्धस्य प्रत्यक्षेणैव भानं प्रत्यभिज्ञावदित्याह—अग्नीति। अभावस्त्विति। भट्टाभिमतानुपलब्धिरित्यर्थः। अनुपलम्भप्रमाणस्येति कर्तव्यताभूतं तर्कमाह—एवमिति। एवमुपकरणः स वाच्य इत्यर्थः। क्वचिदिति। क्वचित्कव्यभिचारादर्शनमात्रमनुपलम्भः सार्वत्रिकव्यभिचारादर्शनं वेत्यर्थः। सर्वत्रेति। सर्वासु व्याप्तिषु वा एकस्यामपि व्याप्तौ सर्वासु धूमादिव्यक्तिषु वेत्यर्थः॥ २२९॥

यदि विशेष शब्द से देश कालादि सम्बन्धरूप दूसरे पक्ष को माना जाय, तो वह भी नहीं बन सकता, क्योंकि अग्निमद्रूप से स्मृति के विषय पक्षस्वरूप के धूमरूप विशेष का जैसे नेत्रादि से ज्ञान होता है, उसके लिये अनुमान की अपेक्षा नहीं है, इसी प्रकार नेत्रादि से ही पर्वतत्वादि देश और कालादिविशेषमत्तारूप से देशकालादि सम्बन्धरूप विशेष का परिच्छेद (व्यावृत्ति = ज्ञान) के हो सकने से उसके लिये अनुमान की आवश्यकता नहीं है। जैसे पूर्व काल के ज्ञान से जन्य संस्कार सहित इन्द्रियों से (नेत्रादि से) ही परिच्छिद्यमान (व्यावृत्त ज्ञान) इदानीम्भाव (वर्तमानत्व) देश विशेष में स्थिति आदि की (स एवाऽयम्) वही यह है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञायमानता (प्रत्यभिज्ञा विषयता) मानी जाती है, वैसे ही यहाँ भी इन्द्रिय जन्य ज्ञान विषयता देशकालादि संबन्ध में हो, अनुमान का कोई फल नहीं है। प्रत्यक्ष अनुमान विपक्ष का बाधक नहीं हो सका, उपमान भी विपक्ष विषयक बाधक नहीं हो सकता और न उस को बाधक कहा जा सकता, क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार उस के संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध बोधनरूप नियतविषयक होने से एतादृश (ऐसे विपक्ष बाधादि) रूप विषय में उस का उदय (गमन प्रवृत्ति) नहीं हो सकता। शब्द भी विपक्ष बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि इस विषय में वेद वचन तो है नहीं और आप्त उपदेशक का भी जहाँ अभाव होगा, वहाँ व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा। अभाव (अनुपलब्धि) तो कदाचित् विपक्ष बाधक हो सकता है, परन्तु वह भी विचार से समझने पर विपक्ष बाधक नहीं सिद्ध होता है। इस वक्ष्यमाण रीति से वह विपक्ष बाधक वक्तव्य है। यदि अग्नि के बिना धूम हो, तो वैसा उसे उपलब्ध (ज्ञात) होना चाहिये, परन्तु अग्नि के विना धूम उपलब्ध नहीं होता है, अतः अग्नि के विना धूम कहीं भी अग्नि के विना नहीं है, इस प्रकार वक्तव्य भी विपक्ष बाधक प्रमाण नहीं है, क्योंकि यहाँ विचार कर्तव्य है कि कहीं व्यभिचार के नहीं देखने मात्र से यह अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण प्रवृत्त होता है? या सर्वत्र व्यभिचार के अदर्शन से प्रवृत्त होता है? यहाँ लोहलेख्यत्व और पार्थिवत्व के व्याप्तत्व (पार्थित्व में लोहलेख्यत्व की व्याप्ति) के प्रसंग से आद्य पक्ष नहीं माना जा सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि सर्वत्र व्यभिचार के अदर्शन से प्रवृत्त होने वाला अनुपलम्भ, सर्वत्र योग्यानुपलम्भ होकर विपक्ष का बाधक होता है? या अनुपलम्भ मात्र (योग्यायोग्य सब) बाधक होता है? यहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि भूतभावी एवं दूरवर्ती व्यभिचारों के योग्यत्व के असम्भव से योग्य का अनुपलम्भ नहीं हो सकता। पार्थिवत्व लोहलेख्यत्व के व्यभिचार का अनुपलम्भ काष्ठादि में होने से दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, यदि कहा जाय कि दूसरे पक्ष में दोष नहीं है, क्योंकि लोहलेख्यत्व का वज्र में व्यभिचार (अभाव) है, और पार्थिवत्व है, अतः वह पार्थिवत्व का व्यापक नहीं हो सकता, तो यह कहना युक्त

नहीं, क्योंकि तदीय (वज्रवृत्ति) व्यभिचार के अदर्शन (अज्ञान) अवस्था में व्यभिचार के अनवगम (अनुपलम्भ) से व्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि वहाँ तो वज्र के दर्शन अवस्था में व्याभिचार है, अतः वहाँ व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि जहाँ कदापि व्यभिचार दर्शन न हो वहाँ व्याप्ति होती है, जैसे अग्नि की धूम में व्याप्ति होती है। तो यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि वह्निधूम के सहचार जहाँ तक दृष्ट (प्रत्यक्ष) होते हैं उन स्थानों से अन्यत्र भी उन का व्यभिचार कभी नहीं देखा जायगा, इस अर्थ में नियामक प्रमाण का अदर्शन (अभाव) है। विपक्ष का बाधक प्रमाण नहीं हो सकता इसका प्रतिपादन हुआ। विपक्ष में तर्क बाधक है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि आपाद्य एवं आपादक (कार्य एवं कारण) का व्याप्तिमूलक तर्क होता है यदि अग्निरूप कारण न हो, तो धूमरूप कार्य नहीं हो सकता, इत्यादि। वहाँ तर्क से विपक्ष के बाध द्वारा व्याप्ति का ज्ञान और व्याप्ति से तर्कज्ञान की सिद्धि मानें तो अन्योन्याश्रय होगा, और व्याप्ति से तर्क की सिद्धि हो, और उस व्याप्ति की अन्य तर्क से सिद्धि हो, फिर तर्क की अन्यव्याप्ति से सिद्धि हो, तो अनवस्था की प्राप्ति होगी। और यदि व्याप्ति मूलकत्व तर्क में नहीं मानें, तो मूल की शिथिलता से तर्क में तर्काभासत्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् नियत सम्बन्धादि के बिना यह नहीं कहा जा सकता ॥ २२९ ॥

तर्क को व्याप्तिमूलक मान कर भी अनवस्था परिहार की शंका होती है। वह इस प्रकार है—

अथ ब्रूषे न शक्यमिदं वक्तुम्। तथाहि—धूमाग्निव्यभिचारशङ्कायां बाधकस्तर्कोऽयमभिधीयते यदि धूमोऽग्निं व्यभिचरेत् अकारणः सन्नित्यः स्यात् न स्यादेव वा। सचायमनुत्तरस्तर्कस्तत्र शङ्कायां व्याघातापत्तेः। तदेव ह्याशङ्कते यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावतरन्तीति लोकमर्यादा एवं सर्वत्रानुत्तरस्तर्को बाधकोऽभिधेय इति मैवम्। किमित्येवं शङ्कितव्यं यद्धेतुफलभाव एव न भविष्यतीति। एवं तु शङ्कितव्यम्, अग्निं विहायान्यस्मादपि हेतोरयमुदेष्यतीति। नच वाच्यं एवं हि सति धूमस्यैकजातिमत्त्वं न स्यादिति। क्वचिदिन्द्रियजत्वे क्वचिदनुमानादिजत्वे विज्ञानैकजात्यवत्तदुपपत्तेः। तत्रेन्द्रियादीनामवान्तरसामान्ये साक्षात्कारित्वादौ प्रयोजकत्वं न ज्ञानतायाम् इति चेन्न, ज्ञानत्वस्याकस्मिकत्वपरिहाराय तत्कारणस्यानुगतस्य भवतावश्यं वक्तव्यत्वात्। धूमेपि वह्नेर्विशेषे एव प्रयोजकत्वस्य तद्वच्छङ्कितुं शक्यत्वात्। न दृश्यते तावदग्निप्रयोज्ये धूमे विशेष इति च न वाच्यम्। तददर्शनस्यापाततो हेत्वन्तरप्रयोज्यावान्तरजात्यदर्शनेनायोग्यतया विकल्प्यत्वादप्युपपत्तेः। यदा तु हेत्वन्तरप्रयोज्यो धूमस्य विशेषो द्रक्ष्यते तदाऽसौ विकल्पिष्यते इति सम्भावनाया दुर्निवारत्वात्॥ २३० ॥

इदं वक्तुमिति। अनवस्थापादकं वाक्यमित्यर्थः। तर्काद्व्याप्तिग्रहोऽपि शङ्कानिराकरणद्वारैवेति शङ्कानिरासार्थः तदवतारो न विरुद्धः। अनुत्तर इति। शङ्काप्रतिपादकोत्तररहित इत्यर्थः। तदेवाह—तदेवेति। स्वक्रिया कथादिप्रवृत्त्यात्मिका। किमिति। अग्निधूमयोः

कार्यकारणभावनिश्चयेपि हेत्वन्तरशङ्कानिरासो न प्रकृततर्कादित्यर्थः। धूमत्वावच्छिन्नम् प्रति वह्नेः कारणताग्रहे हेत्वन्तरशङ्का नोदेतुमर्हतीत्यत आह—न चेति। हेत्वन्तरजन्यं धूममादायापि वह्निधूमे धूमत्ववृत्तावैक्यजात्यं स्यादेवेत्याह—क्वचिदिति। तृणारणिमणि-प्रभववह्निवत् विशेषस्यापाततोऽग्रहेपि न दोषः इत्याह—तददर्शनस्येति ॥ २३० ॥

यदि आप कहें कि व्याप्तिमूलक तर्क के होने से अनवस्था होगी, अन्यथा तर्काभास होगा, यह कहने योग्य नहीं है। इसका प्रतिपादन करते हैं कि धूम में अग्नि के व्यभिचार की शंका होने पर व्यभिचार बाधक तर्क इस प्रकार किया जाता है कि यदि धूम अग्नि से व्यभिचरित = अग्नि के बिना हो, तो अकारणक होता हुआ आकाशादि के समान नित्य होगा, या शशश्रृङ्ग के समान नहीं होगा, क्योंकि कारण रहित के ये ही दो प्रकार हो सकते हैं। यह उत्तर रहित अपरिहार्य तर्क है, इसमें शंका करने पर। (कारण (अग्नि) के बिना कार्य धूम को मानने पर) व्याघात (विरोध) की प्राप्ति होगी अर्थात् धूमार्थी की धूम के लिये अग्नि के आनयनादि में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः उसी वस्तु की शंका (संदेह) की जाती है, जिसकी शंका से अपनी क्रिया के व्याघात (विरोध) आदि दोष प्राप्त नहीं हो, ऐसी लोकमर्यादा (नियम) है। इस प्रकार सब व्याप्ति-ग्रह के स्थान में अनुत्तर विपक्षबाधकतर्क वक्तव्य है। तो इस शंका का उत्तर यह है कि धूम यदि अग्नि व्यभिचारी होगा तो अकारणक होता हुआ नित्य होगा, ऐसी शंका ही क्यों की जाय जिससे जिस अग्निधूम को हेतुफलभाव (कारणकार्यभाव) ही नहीं होगा और व्याघात होगा। इस वक्ष्यमाण रीति से तो शंका कर्तव्य है कि अग्नि के बिना किसी अन्य हेतु से भी धूम उदित (प्रकट) हो सकता है, तो वह धूम अग्नि का व्यभिचारी हो सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि केवल अग्निजन्य होने पर धूम एक जाति (प्रकार) वाला होता है, किसी अन्य से भी जन्य होने पर एक जाति वाला नहीं होगा, अतः इस तर्क से उक्त शंका नहीं हो सकती है, क्योंकि कहीं ज्ञान में इन्द्रिय-जन्यत्व कहीं अनुमानादिजन्यत्व रहते भी विज्ञानमात्र की एक ज्ञानत्व जातीयता के समान अनेक हेतुजन्यधूम में एकजातीयता की सिद्धि हो सकती है। यदि कहा जाय कि ज्ञान में इन्द्रियादि को साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) आदिरूप अवान्तर (व्याप्य) सामान्य (जाति) में प्रयोजकत्व है, ज्ञानत्वरूप व्यापक सामान्य का प्रयोजकत्व इन्द्रि-यादि को नहीं है, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि इन्द्रियादि ज्ञानत्व का प्रयोजक न हो, तो ज्ञानत्व को आकस्मिकत्व (निर्हेतुकत्व) प्राप्त होगा। उसके निवारण के लिये आपको अनुगत कारण अवश्य वक्तव्य है और यदि नहीं कह सकते, तो इन्द्रियादिक ही ज्ञानत्व के भी प्रयोजक होंगे। और ज्ञान के समान धूम विशेष में अग्नि के प्रयोज-कत्व की शंका हो सकती है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अग्निप्रयोज्य धूम में विशेष नहीं देखा जाता है, क्योंकि तृणकाष्ठादिजन्य अग्नि में विशेष रहते भी जैसे विचारादि के बिना प्रतीत नहीं होता वैसे धूमगत (तददर्शन) विशेषादर्शन की आपाततः (विचार के विना) अयोग्यता से तथा हेत्वन्तर जन्य अन्य अवान्तर जाति के अदर्शन निमित्तक अयोग्यता से विकल्प्यत्व (संदिग्धत्व) की सिद्धि होती है जिससे विशेष के अदर्शन की उपपत्ति होती है। और जब हेत्वन्तर जन्य विशेष को कोई

देखेगा तब वह विकल्प करेगा (विशेषरूपसे धूम को जानेगा) ऐसी सम्भावना की दुर्निवारणीयता है, ऐसी संभावना हो सकती है ॥ २३० ॥

अस्त्यात्ममनोयोगोनुगतं कारणं ज्ञानोत्पत्तौ इति चेन्न, यद्यात्ममनोयोगादुत्पद्यमानं ज्ञानं स्यादिच्छादयोपि ज्ञानं प्रसज्येरन् । यदि त्वदृष्टविशेषो वा शक्तिभेदो वा ज्ञानत्वजातिर्वा ज्ञानप्रागभावो वा तत्रानुगतं कारणमुच्यते, तदा तदितरत्रापि वह्निव्यभिचारेपि धूमस्यैकजात्यप्रयोजकतया शक्यते एवं शङ्कितुम् । दृष्टे व्यभिचारे युक्तमदृष्टादेरैकजात्यपरिकल्पनम् इति चेन्न, अस्तु दृष्टे तन्निश्चयः, अत्रापि व्यभिचारो न द्रक्ष्यते इत्यत्र नियामकाभावात्, एवं शङ्किष्यते, शङ्किष्यमाणस्य भवतो न क्वचिदनुमानं स्यात् । प्रतिवाद्यात्माद्यनुमानादिव्यतिरेकेण कथायामेव प्रवृत्त्यनुपपत्त्या स्वयं स्वीकर्त्तव्येष्वनुमानेष्वेतादृशशङ्काक्रमणात् स एव व्याघात इति चेन्न, धूमवद्वह्नेरपि वह्निकारणविशेषानुमानस्यैवं सति सदनुमानत्वप्रसङ्गात् । सामग्रीसाम्येन प्रमाप्रमावैचित्र्यस्यानुपपत्तेः । साधारणधर्मदर्शनदौ सत्यपि शङ्कायाश्चानुदये सामग्र्यां सत्यामपि कार्यानुदयात् परप्रतिपत्त्युत्पादनार्थं वचनादिरूपां प्रतिपत्तिसामग्रीमुत्पादयितुं यतमानस्य भवतोपि स्वक्रियाव्याघातस्तुल्यः ॥ २३१ ॥

सिंहावलोकनन्यायेन ज्ञानमात्रप्रयोजकमाह—अस्तीति । यद्यात्ममन इति । यद्यपीच्छादौ ज्ञानत्वापादनमयुक्तं तथापि ज्ञानमेवात्ममनः संयोगो जनयतीति गृहीत्वापादनं शक्तिभेदो मीमांसकनयेन तृणारणिमणिवद्धेरवन्तरसाधारणे वह्न्यादावित्यर्थः । ज्ञानत्वजातिरित्यभ्युपगममात्रं शङ्कासौलभ्यादाह—तदेति । तृणादौ व्यभिचारः स्फुट इति तत्र कल्पना तद्वदत्रापीत्याह—दृष्टे इति । अनुमित्यभावात् प्रवृत्त्यभावं शङ्कते—एवमिति । अवश्यमियं शङ्का निवर्तनीया अन्यथा तृणाद्बह्निमसकृदुपलभ्य व्याप्तिं गृहीतवतोऽयं देशस्तृणवान् वह्निमत्त्वादित्यप्यनुमानमनाभासं स्यात्तथा च शङ्कानिवर्तनीयैव तन्निवृत्तिस्त्वशक्येति भावः ॥ २३१ ॥

पूर्व में कहा गया था कि ज्ञानत्व सामान्य का प्रयोजक कहना चाहिये । उसका प्रतिपादन किया जाता है कि आत्मा और मन का संयोग ज्ञानमात्र की उत्पत्ति में अनुगत कारण है । धूम में यदि अग्नि से अन्य जन्यत्व की कल्पना करें तो अनुगत साजात्य प्रयोजक नहीं है, यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि यदि आत्मा और मन के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला ज्ञान हो, तो इच्छा आदि भी ज्ञानरूप होंगे । और यदि सब के हेतुरूप अदृष्ट विशेष या कारणगतशक्ति विशेष या ज्ञान से पूर्व वर्तमान ज्ञानत्व जाति, या ज्ञान का प्रागभाव, को उस ज्ञान मात्र में अनुगत कारण कहा जाय, तो अग्नि से इस धूम के व्यभिचार होने पर भी वे अदृष्टादिक ही धूम की एकजातीयता के प्रयोजकरूप से शंका के विषय हो सकते हैं । यदि कहा जाय कि ज्ञान में व्यभिचार देखने से (इन्द्रियादि के अनुगत कारण नहीं होने से) अदृष्टादिरूप एक जाति के हेतु की कल्पना युक्त है और धूम में तो व्यभिचार देखा नहीं जाता धूममात्र का कारण अग्नि ही दिखती है, अतः यहाँ अदृष्टादि की कल्पनायुक्त नहीं है, तो यह

कहना युक्त नहीं। क्योंकि, व्यभिचार के दृष्ट (प्रत्यक्ष) रहते व्यभिचार का निश्चय हो और उसके लिये निश्चित अनुगम हेतु भी माना जाय। इस धूमादि में व्यभिचार कभी किसी से नहीं देखा जायगा, इसमें नियामक प्रमाण का अभाव है। अतः एवं (ज्ञान के समान) कोई शंका करेगा या शंका हो सकती है कि कभी धूम भी व्यभिचारी हो सकता है। यदि कहा जाय कि इस प्रकार शंका करने वाले आप को कहीं अनुमान नहीं होगा, और अनुमान के बिना निर्वाह नहीं है, क्योंकि पर बादी का शरीर प्राण वाला है, सात्मक है, यह मेरे समान चेतन है इत्यादि रीति से प्रतिवादी आदि के आत्मादि के अनुमानादि के बिना कथा में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से आप को अनुमान स्वयं स्वीकर्तव्य है। परन्तु स्वयं स्वीकर्तव्य अनुमानों में भी ऐसी शंका से अर्थात् प्राण चेतनता आदि भी कहीं आत्मव्यभिचारी होगा ऐसी शंका से वही व्याघात (विरोध) आप को प्राप्त होगा। आप की कथा में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी इत्यादि, तो यह कहना नहीं बन सकता। क्योंकि, जहाँ सहचारदर्शन पक्षधर्मता आदि हो, वहाँ व्यभिचार की शंका नहीं हो तो धूम से जैसे अग्नि का अनुमान होता हैं, वैसे अग्नि से तृण का भी अनुमान सच्चा अनुमान होगा। बहुत स्थानों में तृण जन्य वह्नि देखा जाता है। तप्तलोहपिण्डादि में व्यभिचार को नहीं जानने वाला अनुमान कर सकता है कि यह देश तृण वाला है, अग्नि वाला होने से) क्योंकि सदनुमान के समान वहाँ भी पक्षधर्मता आदि अनुमिति की सामग्री तुल्य है। इस तरह प्रमा और अप्रमारूप विचित्रता की अनुपपत्ति है। और सामान्य धर्म का दर्शन विशेष धर्म का अदर्शनादि शंका (संशय) की सामग्री है, तो भी सामान्यधर्मादि के दर्शनादि के रहते भी शंका के अनुदय होने पर, सामग्री के रहते भी कार्य के अनुदय से दूसरे के ज्ञान के उत्पादनार्थ वचनादिरूप ज्ञान सामग्री की उत्पत्ति के लिये यत्न करते हुए आप को भी व्याधात्त तुल्य है। अर्थात् धूम में आप को व्याप्ति का निश्चय है, वहाँ दूसरे की शंका व्याघात रूप है, ऐसे तृणमात्र जन्यता का जिसको अग्नि में निश्चय है, उसके विरुद्धज्ञान के लिये आप का यत्न भी व्याघातरूप है। अतः धूम में यदि व्यभिचार की शंका हो, तो वह शंका अवश्य निवारणीय है, व्याधात कथनमात्र से छुटकारा नहीं है। और भावी व्यभिचार शंका की निवृत्ति का कोई उपाय नहीं है, अतः अनिर्वचनीयता शरण है ॥ २३१ ॥

व्याघातस्यैव विशेषत्वात्तद्दर्शने शङ्कासामग्र्येव नास्ति मत्पक्षे तत् कुतो व्याघातसाम्यमिति चेत्, तद्धि न तावदाहारादिकारणाज्जायमानमेष्टव्यं कूटविषयस्य तस्यातिप्रसञ्जकत्वात् कूटभिन्नः प्रसञ्जकः प्रमितस्यैव स्यात् इति चेन्न, तस्य तर्कावसरे निरस्यत्वात्। तस्मात् यदेतद्व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनं शङ्काप्रतिपक्षभूतमुच्यते तत्किं प्रमाणात् कुतश्चिदुपजायमानं वक्तव्यं, तर्काद्वा। यदि प्रथमः शङ्कास्तित्वमपि तेनैव प्रमाणेन उपनेयं शङ्कायां सत्यां व्याघातात्। यदि च शङ्कां विनापि व्याघातः तदा शङ्क्यमानाशङ्क्यमानयोर्व्याघातस्य साम्यं सिद्धमेव ॥ २३२ ॥

तद्धीति। व्याघातस्वरूपमित्यर्थः। आहारादिकारणादिति। आहार्यव्याप्यारोपरूप-

कारणादित्यर्थः। तथाचैतादृशव्याप्यारोपाधीनव्यापकारोपरूपव्याघातदर्शनमतिप्रसञ्जकत्वात् न व्यभिचारशङ्कानिवर्तकमिति भावः। कूटविषयस्येति। असदर्थविषयस्येत्यर्थः। कूटभिन्न इति। वास्तवाद्व्याप्याद्वास्तवस्यैव व्यापकस्य प्रसञ्जनं व्याघात इत्यर्थः। एतच्च तर्कस्वरूपमेव तच्चाग्रे द्रष्टव्यमित्याह—तस्येति। व्याघातस्वरूपमाक्षिप्य तदाक्षेपोपसंहारव्याजेन दूदर्शनमाक्षिपति—तस्मादिति। शङ्कायां सत्यां व्याघातइति व्याघातग्राहकप्रमाणादेव शङ्कासिद्धिरित्याह—शङ्कास्तित्वमपीति॥ २३२॥

यदि कहा जाय कि मेरे पक्ष में (व्याप्यज्ञानाधीन व्यापकज्ञानस्वरूप) व्याघात ही विशेष है, धूममात्र वह्नि जन्य ही होता है। अतः धूम के ज्ञान से अग्नि का ज्ञान होता है, यह विशेष है। अतः उस विशेष के दर्शन होने पर अग्नि के विना भी धूम होगा, इस शंका को सामग्री ही नहीं है, तो व्याघात का साम्य कैसे हो सकता ? तो आप से पूछा जाता है कि वह व्याघातरूप (शंका विरोधी स्वरूप) का दर्शन, आहार (आहार्य = बाधकालिकप्रतीतिविषय) व्याप्य का आरोपादिरूप कारण से जन्यत्व मन्तव्य है या नहीं ? क्योंकि कूट (मिथ्या = आरोपित) विषयवाला वह व्याघात दर्शन अतिव्याप्ति का हेतु होता है, व्यभिचार शंका का निवारक नहीं। यदि कहाजाय कि प्रमित का ही कूट (मिथ्या) से भिन्न ज्ञान 'यदि अग्नि नहीं होता तो धूम भी नहीं होता, इस प्रकार व्याघात प्रसञ्जक होता है। अतः सत्यहेतु जन्य व्याघात मन्तव्य है, तो इस का तर्क के अवसर में आगे निरसन किया जायगा। अतः व्याघात की चर्चा तो यहाँ समाप्त की जाय, किन्तु जो यह व्याघातस्वरूप विशेष का दर्शन शंका का प्रतिपक्ष (विरोधी) कहा जाता है, वह क्या किसी प्रमाण से उपजायमान (उत्पन्न) वक्तव्य है ? अथवा तर्कजन्य वक्तव्य है ? यहाँ यदि प्रथम पक्ष स्वीकार हो कि शंका विरोधी व्याघात का दर्शन प्रमाण से होता है, तब तो उसी प्रमाण से शंका के अस्तित्व (सत्त्व) भी उपनेय (प्राप्तव्य-स्वीकार्य) होगा, क्योंकि शंका के प्रथम होने पर उसका व्याघात (विरोध) हो सकता है। प्रतियोगी की प्रसिद्धि के बिना निषेध असम्भव है। अतः धूम में अग्नि—व्यभिचारित्व की शंका हो सकती है। और यदि शंका के बिना भी व्याघात हो तब तो शंका करने वाले और नहीं करने वाले दोनों के प्रति व्याघात की तुल्यता सिद्ध ही है। आप कहेंगे कि धूम को अग्नि के व्यभिचारित्व की शंका विरुद्ध है, तो दूसरा कहेगा कि व्यभिचारित्व की शंका धूम में नहीं होना ही विरुद्ध है॥ २३२॥

उक्त व्याघात को तुल्यता नहीं है, क्योंकि व्याघात से प्रथम शंका की निवृत्ति हो जाने पर फिर दूसरी शंका के नहीं होने से व्याप्ति का ज्ञान होता है, यह विशेष है, इस आशय से शंका है कि—

भवतु शङ्कायामपि तत् प्रमाणं किमेतावता प्रथमोपजातशङ्कामवलम्ब्यावस्थितस्य व्याघातरूपस्य विशेषस्य दर्शनात्तु शङ्कान्तरं नोत्पद्यत इति चेन्न, व्याघातसत्ताकाले तदवलम्ब्यया शङ्कयैव शङ्कयमानव्यभिचारता तस्याः शङ्काया व्युपरमे च तदवलम्बिनो व्याघातरूपस्य विशेषस्याभावात् कः शङ्कान्तरोत्पत्तेर्वारयितेति वक्तव्यं मा नामास्तु तदा व्याघातात्मा विशेषस्तदवगमस्तदाहितो वा संस्कारस्तावदस्ति। विशेषावगमतत्संस्कारौ च

शङ्काविरोधिनौ नच स्वरूपेण क्वचिदस्ति विशेषस्यावस्थानं तथा इति चेन्न, अयावदाश्रयभाविनो विशेषस्य पूर्वस्थितस्य यद्दर्शनं तदाहितो वा संस्कारस्तस्य कालान्तरेपि तत् प्रतिधर्मसंशयविरोधित्वेऽवयविपाकपक्षे कुम्भस्य परमाणुपाकपक्षे परम्परया तदारम्भकस्य परमाणोः पूर्वं श्यामतया ज्ञातस्य कालान्तरे सम्भावितपाकजन्यरूपविशेषवत्तायां संशयो न स्यात् ॥ २३३ ॥

व्याघातेन शङ्कानिवृत्तौ शङ्कान्तरानुत्पादे स्यादेव व्याप्तिग्रह इति शङ्कते—भवत्विति। विशेषदर्शनस्य स्वरूपनिवृत्तावपि तदाहितसंस्कारस्य शङ्काविरोधित्वं शङ्कते—मा नामेति। अयावदिति। यद्यपि तत्र पाकसम्भावना विशेषदर्शनजसंस्कारावस्कन्दिकेति तत्र संशयः प्रकृते तु न तथा तथाप्युपाधिसंभावनया प्रकृते संशयः स्यादिति भावः ॥ २३३ ।

वह व्याघात ग्राहक प्रमाण ही शंका में प्रमाण हो, तो इससे हानि क्या है? प्रथम उत्पन्न शंका को विषयरूप से अवलम्बन करके अवस्थित (वर्तमान) व्याघातरूप विशेष के ज्ञान से प्रथम शंका की निवृत्ति होने पर फिर अन्य शंका नहीं उत्पन्न होगी और व्यभिचार शंका के अभाव से व्याप्ति का ज्ञान हा जायगा। उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि व्याघात की सत्ता और उसके ज्ञान की सत्ता काल में तो उसके अवलम्बरूप से विषयरूप शंका से ही शंक्यमान (शंकाविषय) हेतु को व्यभिचारिता रहेगी, और उस प्रथम शंका के निवृत्त होने पर उस शंका के अवलम्बन से स्थिर रहने वाले व्याधातरूप विशेष के अभाव से शंकान्तर की उत्पत्ति को रोकने वाला कौन होगा? यह वक्तव्य है। यदि कहा जाय कि प्रथम शंका सहित व्याघात के निवृत्त होने पर भी व्याघात ज्ञान शंकान्तर का वारक होगा, ज्ञान के निवृत्त हो जाने पर भी उसका संस्कार वारक होगा, अतः प्रथम शंका के निवृत्त होने पर व्याघातरूप विशेष नहीं रहे तो भी उसका ज्ञान या संस्कार तो रहता ही है। और विशेष के ज्ञान और संस्कार ही शंका के विरीधी होते हैं, स्वरूप से विशेष की स्थिति कहीं भी विरोधी नहीं होती है। यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर, आश्रय की स्थिति पर्यन्त नहीं रहने वाले पूर्व कारण काल में स्थिर विशेष का जो ज्ञान या ज्ञानजन्य जो संस्कार उसी को कालान्तर में भी उस विशेष के प्रतिधर्म (प्रतिकूल = विरोधी = संशय के विरोधी) होने पर अवयवी (कार्य घटादि) में पाक मानने वाले के मतानुसार प्रथम श्याम-रूप से ज्ञात घट की कालान्तर में सम्भावित (होने वाली) पाकजन्यरूप विशेषवत्ता में या परमाणुओं में पाक मानने वाले के अनुसार परम्परा से घट के आरम्भक प्रथम श्यामरूप से ज्ञात परमाणुओं की कालान्तर में सम्भावित पाकजन्यरूप विशेषवत्ता में संशय नहीं होगा, क्योंकि जैसे प्रथम विशेष रहता है, उसके अभाव काल में उसके ज्ञान और संस्कार संशय के विरोधी माने जाते हैं, वैसे यहाँ पाक से प्रथम घट तथा परमाणु में श्यामता रहती है उसके निवृत्त हो जाने पर उसके ज्ञान और संस्कार रहते हैं, वे संशय के विरोधी होगे। अतः संशय नहीं होना चाहिये और कहीं छार-लिप्तता आदि दशा में संशय होता है। न्याय मत में अवयवी घटादि में ही पाकमाना जाता है, सूक्ष्मछिद्र द्वारा घटादि के स्वरूप में प्रवेश कर अग्नि सब अवयवों को पका

देती है। और वैशेषिक मत में पीलुपाक (परमाणु पाक) माना जाता है, घट को अग्नि में देने पर सब परमाणु बिखर कर परिपक्व होते हैं, फिर कर्माद्यधीन मिलते हैं ॥ २३३ ॥

जिस विषय में व्याघात होगा उस विषय में शंका की निवृत्ति होगी। अतः शंका में शंका नहीं होगी, व्यभिचार में तो शंका होगी ही इस आशय से कहते हैं कि—

यदि च शङ्कायां व्याघातस्तदाशङ्काश्रयस्य विशेषरूपस्य व्याघातस्य दर्शनाच्छङ्कायां शङ्कान्तरं मा भूत्। यदि तु व्यभिचाराश्रयस्तदा व्यभिचारः स्यादेव व्याघाताश्रयस्य व्यभिचारस्यापि प्रमितत्वापत्तेः। अनादिसिद्धव्याप्तिकास्ते तर्का इति चेन्न, तद्बुद्धेः प्रमितत्वासिद्धेः, शरीरेष्वात्मप्रत्ययस्य तादृशस्याप्यप्रमात्वोपगमात्, अनादिसिद्धेश्चोभयत्राविशेषात्। नापि यद्यत्र व्यभिचारश्शङ्क्येत तदा व्याघातः स्यादित्येवंरूपात्तर्काद्व्याघातावगमः व्याघातप्रतिपादकस्य तर्कस्य मूलशैथिल्ये तर्काभासत्वापातात्। तादृशस्यापि व्याघातोपनायकत्वे व्याघातापत्तेः साम्यं, शक्यते एव तर्काभासाद्भवतोपि व्याघात उपनेतुम्, अथ तस्य तर्कस्य व्याप्तिमूलताभ्युपगम्यते, तत्रापि व्यभिचारशङ्कायां पुनरनवस्थैव, तत्रापि व्याघातोपपादने पुनरित्थमनवस्थैव ॥ २३४ ॥

व्याघातात्समानमानाधिकरणशङ्कानिवृत्तिरितिशङ्कायामेव शङ्का न स्याद्व्यभिचारे तु स्यादेवेत्याह—यदि चेति। ननु व्यभिचारे एव व्याघात उक्त इति तत्रैव शङ्कानिवृत्तिरपीत्यत आह—यदि त्विति। तद्बुद्धेरिति। व्याप्तिबुद्धेरित्यर्थः ॥ २३४ ॥

यदि शंका विषयक व्याघात है, तो शंकारूप आश्रयवाले विशेषरूप व्याघात के देखते एक शंका हो जाने पर उस के व्याघात दर्शन से निवृत्त होने पर दूसरी शंका नहीं हो सकती है। कारण यह है कि शंका प्रमित (प्रमाण सिद्ध) नहीं है। उसे विरोधी प्रमाण का विषय प्रथम कहा गया है, अतः वह स्वसाधक प्रमाण का विषय नहीं है, और यदि व्यभिचाररूप आश्रयवाला व्याघात होगा, तो वह व्यभिचार व्याघात से निवृत्त नहीं होगा, किन्तु व्यभिचार होगा ही, क्योंकि व्याघात के आश्रय व्यभिचार में भी प्रमितत्व की आपत्ति (प्राप्ति) होती है। क्योंकि, व्यभिचार को ग्रहण करने के लिये जो प्रमाण प्रवृत्त होगा, उस के विषयरूप से व्यभिचार सिद्ध होगा तथा तद्विषयक व्याघात को ग्रहण करने वाला प्रमाण का विषय भी होगा। अतः प्रथम शंका के विषय व्यभिचार के रह जाने से व्याप्ति सिद्ध नहीं होगी। सामान्यविषयता से शंका और निश्चय का विरोध होता है। अतः शंकाविषयक व्याघात से शंकाबिषयक शंकान्तर नहीं होगी, परन्तु व्यभिचार होगा ही । यदि कहा जाय कि विपक्ष बाधक तर्क के व्याप्तिमूलकता से प्रथम अनवस्था कही गई थी जिससे व्यभिचार की शंका होती है। तर्क से व्यभिचारादि की निवृत्ति सिद्ध नहीं होती, परन्तु वस्तुतः अनादि सिद्ध व्याप्ति रूप मूल वाले वे तर्क हैं, अनादिपुरुषपरम्परा में उनकी बुद्धिधारा में अनादि काल से आ रहे हैं, इस समय व्याप्तिज्ञानादि की अपेक्षा नहीं है जिससे अनवस्था हो। इस रीति से अनादि सिद्ध बलवत् होने आगन्तुक शंकित व्यभिचारादि को तर्क ही नष्ट कर

देंगे जिससे व्याप्ति का ज्ञान निर्बाध होगा। परन्तु यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार से व्याप्ति और तर्क के अनादि होने मात्र से उस व्याप्ति के ज्ञान से व्याप्ति में प्रमितत्व (प्रमाज्ञानविषयत्व = सत्यत्व) सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाणाधीनप्रमेय के सत्यत्व की सिद्धि होती है, अनादिता मात्र से नहीं। अत एव शरीर में आत्मज्ञान के तादृश (अनादि) होते भी अप्रमा माना जाता है। यद्यपि किसी ज्ञानी को शरीर में अनादि सिद्ध आत्मबुद्धि नहीं होती है, तो उस को व्याप्ति में भी अनादि सिद्धत्वबुद्धि नहीं हो सकती है और सामान्य मनुष्य के लिये व्याप्ति में शरीरविषयक आत्मबुद्धि में अनादिसिद्धत्व तुल्य है। यदि कहा जाय कि उक्तरीति से व्यभिचार शंका का विरोधी व्याघातरूप विशेष ज्ञान प्रमाण से नहीं होने पर भी तर्क से हो सकता है—यदि इस धूमादि में अग्नि आदि से व्यभिचार की शंका की जाय तो व्याघात होगा। तो कहा जाता है कि ऐसे तर्क से भी व्याघात का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि व्याघात के प्रतिपादक तर्क के मूल (व्याप्ति) के शैथिल्य (अनिश्चित) रहते तर्काभासत्व की प्राप्ति होती है और तादृश (शिथिल मूल वाले) तर्क में भी यदि व्याघातोपनायकत्व (व्याघातप्रापकत्व) हो, तो आपके प्रति विरुद्ध निर्मूल व्याघात को प्राप्ति तुल्य है। क्योंकि तर्काभास से आप को भी व्याघात प्राप्त करा सकते हैं। और यदि तर्क को व्याप्ति मूलक मानते हैं, तो तर्कमूलस्वरूप व्याप्ति में व्यभिचार की शंका होने पर फिर तर्क को आवश्यकता होगी, और उस का मूल व्याप्ति होगा, तो इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि कहा जाय कि इस प्रकार की अनवस्था से कहीं अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकने से अनुमान मूलक स्ववचन का व्याघात होगा, तो कहा जा सकता है कि उस वचनादि में व्याघात सिद्ध करने के लिये तर्क की अपेक्षा होगी तर्क व्याप्ति मूलक होगा तो फिर भी अनवस्था ही होगी, अतः तर्क से व्यभिचार का वारण नहीं हो सकता (तर्काऽप्रतिष्ठानात्)॥ २३४ ॥

तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा। त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि। व्याघातो यदि शङ्कास्ति नचेच्छङ्का ततस्तराम् व्याघातावधिराशङ्का तर्कश्शङ्कावधिः कुतः॥ २३५॥

शङ्कानुच्छेदं प्रतिपादयितुं प्रस्तौति—तस्मादिति। शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्कातत-स्तरां व्याघातावधिराशङ्का तर्कश्शङ्कावधिर्मत इत्यादित्वद्गाथा कियन्त्यप्यक्षराण्यन्यथा-कारं अन्यथा कृत्वा न दुष्पठेऽत्यन्वये सिद्धाप्रयोगत्वाभावादप्यन्यथैव कथमित्थं सुसिद्धा-प्रयोगश्चेदिति सूत्रेण णमुल् प्रत्ययो न स्यादत इत्थं योज्यं कियन्त्यप्यक्षराणि त्वद्गाथा अन्यथाकारम् अन्यथा न दुष्पठा अन्यथाकारम् अन्यथाकरणं यथा स्यादिति क्रियाविशेषणं वा। अन्यथाकारं पठति—व्याघात इति। यदि व्याघातस्तदा तदाश्रयभूता शङ्कास्त्येव शङ्कामन्तरेण व्याघातानवतारात्। नचेद्व्याघातस्तदा सुतरां शङ्काप्रतिबन्धकस्य व्याघातस्याभावाद् व्याघातावधिर्व्याघातोऽवधिर्यस्याः शङ्काया मा कुतः शङ्काया अवधिः पर्यवसानं च कुतस्तर्कस्तर्कमूलव्याप्तावपि शङ्कातादवस्थ्यादित्यर्थः॥२३५॥

यहाँ तर्क साधक नैयायिकों का वचन है (शंका चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्। व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिमर्तः) इसका यह भाव है कि किसी भावी देशकाल में धूमादि हेतु में व्यभिचार शंका हो, तो भावी देश एवं काल के प्रत्यक्ष वर्तमान नहीं

रहने से शंका करने वाले से ही अनुमान की सिद्धि हो जाती है, वह भावी को अनुमान से समझ कर हो वहाँ भी व्यभिचार की शंका करता है। और यदि शंका नहीं है, तब तो व्यभिचार शंका रहित धूमादि से अग्नि आदि की यथार्थ अनुमिति होगी और जगत्-कार्यत्व से ईश्वरानुमानादि होंगे। यदि शंका हो तो व्याघात उसकी अवधि है। व्याघात से शंका हो जाती है, क्योंकि तर्करूप व्याघात शंका का अवधि माना गया है। इस प्रकार नैयायिक के वचन का खण्डन के लिये कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से व्याघात के सत्त्वासत्त्व दोनों काल में शंका होती है, अतः हम भी आप ही के कुछ अक्षरों को अन्यथा (परिवर्तन) करके इस अर्थ में पढ़ सकते हैं, क्योंकि हमारे लिये आप की कथा दुष्पठ (पढ़ने में दुःसाध्य) नहीं है। वह इस प्रकार है कि यदि व्याघात प्रामाणिक है, तो उस व्याघात के साधक प्रमाण से ही व्याघात के विषय रूप से शंका को सिद्धि होती है, यह प्रथम कहा गया है। और यदि व्याघात नहीं है, तो विरोधी के अभाव से अवश्य शंका है। अतः व्याघातरूप अवधि वाली शंका कैसे हो सकती है ? तथा तर्क शंका की अवधि कैसे हो सकता है ? ॥ २३५ ॥

अब शंका होती है कि व्यभिचार की शंका होने पर भी शंका (संशय) अन्वय व्यभिचाररूप भावाभाव दो कोटि वाली होती है। अतः कहीं व्याप्ति के भाव को निश्चय से शंका रहते भी व्याप्तिज्ञान और अनुमिति हो सकती है। और यदि भाव कोटि ही कहीं मान्य न हो, तो संशय ही नहीं हो सकता है। अतः विरोधी के अभाव से अनुमिति होगी, तो कहते हैं कि—

अव्यभिचारश्चैकपरित्यागव्यवच्छेदेनापरान्वयः, समकालजातदृष्टनष्टेऽदृष्टः शङ्क्यते इत्याहुः ॥ २३६ ॥

ननु व्यभिचारशङ्कायामव्यभिचारोऽप्येका कोटिरिति क्वचिदव्यभिचारप्रमायां तदधीनमनुमानं तत्रैव स्यादित्यत आह—अव्यभिचार इति। एकस्य व्यापकस्य परित्यागो विरहस्तद्व्यवच्छेदे एवापरस्य व्याप्यस्यान्वय इत्यर्थः। नच तत्रैवानुमानं तस्यादृष्टत्वादिति भावः। नष्टपुनरुत्पत्तेर्मदालसास्थले दृष्टत्वात् ममदृष्टनष्टयोरपि नाव्यभिचारसिद्धिरित्यस्वरसादाह—इत्याहुरिति। व्यावहारिकमनिर्वचनीयमव्यभिचारमादाय शङ्केति परमार्थ इति भावः ॥ २३६ ॥

एक (व्यापक) के परित्याग (अभाव) के परिच्छेद (व्यावृत्ति) पूर्वक जो अपर (व्याप्य) का अन्वय (सम्बन्ध) वह अव्यभिचार कहा जाता है। अर्थात् व्यापक के अभाव के असम्बन्धी होते हुए व्यापक के सम्बन्धी होना अव्यभिचार है। और सम (एक) काल में दृष्ट होकर नष्ट हुये धूमादि में भी वह अदृष्ट अन्वय शंका का विषय होता है। वहाँ अनुमिति नहीं होती है। अतः शंका का विषय अव्यभिचार अनुमिति का हेतु नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं ॥ २३६ ॥

व्याप्ति का लक्षणान्तर कहते हैं—

स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः, स प्रष्टव्यः, कस्य स्वाभाविकः, किं सम्बन्धिनोरुतान्यस्य, न चरमः, विपरीतापत्तेः। आद्ये कः स्वाभाविकशब्दार्थ इति प्रष्टव्यं, किं सम्बन्धिस्वभावाश्रितः १, अथ सम्बन्धिस्वभाव-

जन्यः २, अथ सम्बन्धित्वविवक्षितस्वभावानतिरिक्तः ३, अथवा सम्बन्धिस्वभावव्याप्यः ४, अथ सम्बन्धिस्वभावादन्येन न प्रयुक्तः ५, उतान्य एव ६ कश्चिद्विवक्षितः। आद्ये पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि व्याप्तत्वप्रसङ्गः। न द्वितीयः, अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। अत एव न तृतीयः, नापि चतुर्थः, व्याप्त्यनिरुक्तौ व्याप्यत्वानिरुक्तेः। सम्बन्धस्य व्याप्यत्वे च सम्बन्धिनोर्व्यापकयोः सम्भावित सम्बन्धादिकदेशकालतया एकसम्बन्धिदर्शनेऽपरानुमाननियामकत्वायोगात् ॥ २३७ ॥

विपरीतेति। व्याप्यव्यापकत्वाभिमतान्ययोरेव सर्वत्र व्याप्तिः स्यादित्यर्थः। 'पार्थिवत्वे'ति। लोहलेख्यत्वयोग्यतायाः पार्थिवत्वान्वितत्वादित्यर्थः। अतिव्याप्तेरिति। धूमरासभसंयोगेऽतिव्याप्ती रूपरससम्बन्धे चाव्याप्तिरित्यर्थः। अत एवेति। भूतलघटाभावसम्बन्धयोरतिव्याप्तेर्वह्निधूमसम्बन्धे चाव्याप्तेरित्यर्थः। व्याप्तीति। आत्माश्रय इत्यर्थः। दोषान्तरमाह—सम्बन्धस्येति सम्बन्धस्य सम्बन्धिद्वयव्याप्यत्वं स्यात्तु सम्बन्धिनोरन्यतरस्य येनैकेनापरमनुमीयेतेत्यर्थः। ॥ २३७ ॥

स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है, ऐसा कोई कहते हैं। किसका स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है? यह एक प्रश्न उपस्थित होता है। क्या सम्बन्धियों का? या अन्य का सन्बन्धरूप व्याप्ति है? यहाँ चरम (अन्तिम) पक्ष तो नहीं कह सकते, क्योंकि विपरीत की प्राप्ति होगी। अर्थात् असम्बन्धी को सन्बन्ध और सम्बन्धियों को असम्बन्ध (व्याप्य व्यापकभावाभाव) प्राप्त होगा, क्योंकि व्याप्यव्यापक से अन्य को भी व्याप्यत्व की प्राप्ति होगी। और सम्बन्धियों का स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है, इस प्रथम पक्ष में पूछना है कि स्वाभाविक शब्द का अर्थ क्या है? क्या अग्नि के आश्रित रहने से जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव कहा जाता है, वैसे सम्बन्धियों के स्वभाव आश्रित है वही व्याप्ति है। अर्थात् अग्निस्वरूपाश्रित उष्णता के समान स्वरूपाश्रित है या वसन्तजन्यपुष्पादि के समान सम्बन्धी से जन्य कार्यविशेष व्याप्ति है? अथवा सम्बन्धित्व रूप से विवक्षित सम्बन्धियों के स्वभाव स्वरूप से अनतिरिक्त = सम्बन्धिस्वरूप हो पुरुष के चैतन्यतुल्य सम्बन्धरूप व्याप्ति है? अथवा सम्बन्धी के स्वभाव से व्याप्यसम्बम्ध व्याप्ति है? या सम्बन्धी के स्वभाव (स्वरूप) से अन्य किसी द्वारा जो प्रयुक्त (जन्य) न हो वह सम्बन्ध व्याप्ति है? या अन्य ही कुछ विवक्षित है? यहाँ प्रथम पक्ष में पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्व का सम्बन्ध भी स्वरूपाश्रित होने से व्याप्ति होगा, इससे अतिव्याप्ति होगी। और अतिव्याप्ति से दूसरा पक्ष नहीं बन सकता, धूमादि सम्बम्ध में अतिव्याप्ति होगी धूम भी अग्नि का व्यापक होगा। और अजन्य द्रव्यत्वपृथिवित्वादि में अव्याप्ति होगी तथा रूप रसादि के समवाय के अजन्य होने के कारण सम्बन्धिस्वरूप से जन्य नहीं होने से अव्याप्ति होगी और रूप रसादि के समवाय के अजन्य होने के कारण सम्वन्धिस्वरूप से जन्य नहीं होने से अव्याप्ति होगी। अत एव अग्निधूम के एकाश्रय के साथ संयोग सम्बन्ध के सम्बन्धी स्वरूप से अतिरिक्त होने से इसमें तृतीय पक्ष की अव्याप्ति होगी और भूतल तथा घटाभाव के सम्बन्ध के स्वरूप से अनतिरिक्त होने से उसमें अतिव्याप्ति होगी। अतः तृतीय पक्ष नहीं बन सकता। सम्बन्धी के स्वभाव से

व्याप्य सम्बन्ध व्याप्ति है, यह चतुर्थपक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि व्याप्ति की अनिरुक्ति (अनिर्वचन = असिद्धि) से व्याप्यत्व की निरुक्ति नहीं हो सकती । व्याप्ति के आश्रय को व्याप्य कहा जाता है, अतः व्याप्ति के निरुपण में व्याप्ति के प्रवेश से आत्माश्रय हो जायगा । और सम्बन्ध (व्याप्ति) को सम्बन्धी (धूमाग्नि आदि) के व्याप्य होने पर जैसे व्याप्यधूम से अधिक देश एवं काल में अग्नि रहती है वैसे ही व्याप्य-सम्बन्ध से व्यापक सम्बन्धी धूमाग्नि के सम्भावित सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक देश-कालता से एक सम्बन्धी (धूम) के दर्शन होने पर भी उसको अपर सम्बन्धी अग्नि के अनुमापकता का सम्बन्ध नहीं होगा, क्योंकि व्याप्ति रहित भी धूम हो सकता है, ऐसी शंका होगी । और दोनों सम्बन्धियों के तुल्य व्याप्य होने से भी एक का अनुमान नहीं करा सकेगा ॥ २३७ ॥

नापि पञ्चमः । न प्रयुक्त इति यदि न जनितस्तदा सम्बन्धस्याकृतकत्व-पक्षेऽन्येनेति विशेषणवैयर्थ्यम्, अकृतकस्य सम्बन्धिस्वभावेनाप्यजनितत्वात् । सम्बन्धस्य कृतकत्वपक्षे स्वरूपासिद्धिरेव स्यात् । सामग्र्याः सर्वसम्भवा-दन्ततः कालदेशादृष्टादिभिरपि तज्जन्यत्वस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् । नापि षष्ठः, तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । एवमेव विकल्प्यायं चमरविकल्पः सर्वत्रोपन्यस्य दूष्यो न्यूनत्वशङ्काभयादिति ॥ २३८ ॥

न प्रयुक्त इति । प्रयुक्तत्वं जन्यत्वं व्याप्यत्वं व्यापकत्वं वा । आद्ये सम्बन्धिद्वयमात्र-जन्यत्वं क्वापि न सिद्धमदृष्टादेरपि जनकत्वात् अजन्यसम्बन्धाव्याप्तिश्च अन्त्ययोरात्माश्रय इत्यर्थः । विशिष्यानिरुक्तस्य विकल्पनीयत्वे हेतुमाह—एवमेवेति । यदि वादी विकल्पित-भिन्नमेव पक्षमालम्बेत तदा विकल्पे न्यूनता भवेत् । सामान्योक्तौ च तदालम्बितपक्षस्य तत्रैवान्तर्भावयितुं शक्यत्वादिति भावः । न्यूनत्वमिहाकौशलम् ॥ २३८ ॥

सम्बन्धी की अपेक्षा अन्य से अप्रयुक्तत्वरूप पञ्चम पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि (अन्य से न प्रयुक्त हो) इस वाच्य का यदि (अन्य से न जनित) अर्थ हो तो सम्बन्ध के अकृतकत्व (नित्यत्व) पक्ष में अन्येन, इस विशेषण में व्यर्थता प्राप्त होती है, क्योंकि अकृतक को सम्बन्धी के स्वरूप से भी जन्यत्व नहीं रहता है, और सम्बन्ध के कार्यत्व पक्ष में सम्बन्धी स्वरूप की अपेक्षा अन्य से अजन्यत्व के स्वरूप की ही असिद्धि होगी, क्योंकि सब कार्य अपने अनेक साधन की सामग्री (समूह) से उत्पन्न होते हैं, अतः सामग्री से ही सबों का सम्भव (जन्म) होता है । सब विशेष कारण सबके जनक नहीं होते हैं, परन्तु अन्ततः काल, देश एवं अदृष्टादि साधारण कारण से उस सम्बन्ध के जन्यत्व को तो अवश्य कहना होगा । अतः यह पक्ष युक्त नहीं । निर्वचन के अशक्य होने से षष्ठ पक्ष भी अयुक्त है । परन्तु वादी से वर्णित न्यूनत्व की शंका के भय से इसी प्रकार सर्वत्र विकल्प करके यह चरम विकल्प उपन्यास (लेख) पूर्वक दूषणीय है, जिससे वादी जिस किसी अन्य पक्ष की कल्पना करे वह इसके अन्तर्गत हो जाय ॥ २३८ ॥

अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिरित्यपरः—स प्रष्टव्यः कोयमुपाधिर्नाम यच्छून्यत्वमनौपाधिकत्वम्—उपाधिः साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्या-पकः अयं च—

"एकसाध्याविनाभावे मिथः सम्बन्धशून्ययोः।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्यय" ॥

इत्यस्य व्यतिरेकमुखस्य यदत्ययः स उपाधिरिति योज्यमानस्य पर्यवसितोर्थः तद्धर्मभूता हि व्याप्तिर्जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिके साधनाभिमते चकास्ति इत्युपाधिरसावुच्यते तदिदमाह—

व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः।
अस्मिन् सत्यमुना भाव्यमिति यत्तन्निरूप्यते ॥
अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा" ॥

स चोपाधिर्निश्चित इवाशङ्कितश्च यत्रेदमुच्यते "यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम्"? इति चेन्न ॥ २३९ ॥

एकेति। यदत्ययो यदभावः साध्यभावाविनाभावी साध्याभावव्याप्यः स उपाधिस्तथा च साध्याभावव्याप्याभावप्रतियोगी साध्यव्यापक इति यावत्—मिथः सम्बन्धशून्ययोः साधनोपाध्योर्मध्ये एकस्य साधनस्य साध्याविनाभावे ग्राह्ये यदत्ययः साध्याभावाविनाभावी स उपाधिरिति भट्टाचार्यवार्तिकयोजना मिथः सम्बन्धशून्यतया साधनाव्यापकत्वमुक्तं साध्यसामग्र्या उपाधित्वव्युदासाय दूषकताबीजाव्यभिचारोन्नयनप्रयोजनलाभाय च साधनाव्यापकत्वमुक्तं यो यद्व्यापकव्यभिचारी स तद्व्यभिचारीति व्यभिचारसिद्ध्यर्थमेव साध्यव्यापकत्वमुक्तम्। अन्ये इति। अन्ये सोपाधयः परप्रयुक्तानामुपाधिगतानां व्याप्तीनामुपजीवका इति तैस्सोपाधिभिः पक्षनिष्ठतया दृष्टैरपि न व्यापकांशावधारणानुमितिरित्यर्थः। आशङ्कितश्चेति। साध्यव्यापकत्वेन निश्चितस्य साधनाव्यापकत्वशङ्का साधनाव्यापकत्वेन वा निश्चितस्य साध्यव्यापकत्वशङ्का। ननु भविष्यति कश्चित्तत्रोपाधिरिति शङ्कार्थः। यावदिति। विपक्षस्येति सप्तम्यर्थे षष्ठी तथा च हेतोर्विपक्षे अव्यतिरेकित्व—सद्भावो यावच्छङ्क्यते तावन्नानुमितिः तेनोपाधिसंदेहादपि तादृशी शङ्का व्याप्तिमवस्कन्दतीत्यर्थः ॥ २३९ ॥

उपाधिरहित हेतु साध्य का सम्बन्ध व्याप्ति है, इस प्रकार कोई कहते हैं। 'उपाधि कौन पदार्थ है जिससे शून्यत्व (रहितत्व) अनौपाधिकत्व होता है' यह प्रष्टव्य है। पूछने पर कहा जाता है कि (साध्यरूप से अभिमत का व्यापक होता हुआ साधनरूप से अभिमत का जो द्रव्यगुणादि अव्यापक हो वह उपाधि है। जैसे कोई अग्नि से धूम का अनुमान करे कि (धूमवान् वह्नेः) तो यहाँ साध्य धूम का व्यापक और साधनरूप अग्नि का अव्यापक काष्ठाग्निसंयोग है, क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ काष्ठादि, इन्धन और अग्नि का संयोग रहता, और तप्त लोहपिण्डादि में अग्नि के रहते भी इन्धन और अग्नि का संयोग नहीं रहता है। अतः हेतु का अव्यापक है, असत् हेतु में ही उपाधि रहती है। और यह वर्णित अर्थ (उपाधि का लक्षण) इस वक्ष्यमाण कुसुमाञ्जलिवचन के व्यतिरेकमुख से योज्यमान (विपरीत से अन्वित) का फलितार्थ है। वचन का अर्थ है कि (धूमवान् वह्नेः) इस अनुमानाकार में वस्तुतः मिथः (परस्पर) सम्बन्ध (साध्यसाधनभाव) रहित इन्धनाग्निसंयोग और धूमरूप

साध्य में से एक साध्य (धूम) के साथ अविनाभाव (सहचार) के होने पर, जो साध्याभाव (धूमाभाव) के अविनाभावी (व्याप्य) जिस इन्धनाग्निसंयोग का अत्यय (अभाव) है वह इन्धनाग्निसंयोग उपाधि होता है। यहां धूमाभाव के व्याप्य इन्धनाग्निसंयोगाभाव कहने से साध्यरूप से अभिमत धूम के व्यापकत्व उस संयोग में कहा गया है, क्योंकि व्यापक का अभाव व्याप्य के अभाव का व्याप्य होता है। अतः कहा जाता है कि (भावयोर्हि यथा दृष्टो व्याप्यव्यापकलक्षणः, तयोरभावयोस्तम्माद्विपरीतः प्रतीयते) मिथः सम्बन्धशून्यता कथन से साधन का अव्यापकत्व कहा गया है। अतः साध्याभाव का व्याप्य जिसका अभाव होता है वह साध्य का व्यापक उपाधि होता है, और उसमें साधनरूप से अभिमत अग्नि की व्याप्ति रहती है तथा धूम की व्याप्ति रहती है धूमनिरूपितरूप से अग्नि में भासती है, जैसे रक्तपुष्प की रक्तिमा स्फटिक में भासती है। अतः सामीप्य के कारण अन्य के धर्म का अन्य में आधान से उपाधि कही जाती है। इस अर्थ को श्रीभट्टजी ने भी कहा है कि—दृश्यमान व्याप्ति का कोई धर्म प्रयोजक (हेतु) होता है, वहाँ इस धूम के रहते इस अग्नि को अवश्य रहना चाहिये इस प्रकार का जो नियम वह व्याप्तिनिरूपित होता है। तथा निषेध रहते निषिद्ध का आचरण पाप होना चाहिये, अन्यथा नहीं, क्योंकि (अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्याँश्चापि विवर्जयन्। अयशोमहदाप्नोति नरकञ्चाधिगच्छति) इस शास्त्र के अनुसार दण्डादि हिंसारूप भी हो, तो भी वह राजा के लिये विहित है। अतः वहाँ नहीं कहा जा सकता कि हिंसा होने से वह पापरूप है, क्योंकि उसमें निषिद्धत्व नहीं है इत्यादि अन्यत्र विशेष द्रष्टव्य है। अन्य (उपाधियुक्त हेतु) धूमवान् वन्हेः, इस स्थान में अग्निरूप हेतु, (पर) उपाधिप्रयुक्त (निमित्तक) व्याप्ति का उपजीवक (धारक) होता है। स्वतः व्याप्ति रहित होता है, अतः ऐसे हेतुओं के पक्ष में देखने पर भी व्यापकांशका निश्चय इष्ट नहीं होता अर्थात् सत्य ज्ञान नहीं होता, भ्रम हो सकता है। वह उपाधि निश्चित के समान आशंकित भी होती है इसका कथन इस प्रकार है—विपक्ष में अव्यतिरेकित्व (भावत्व) की जब तक शतांश से भी शंका हो, तब तक हेतु में साध्यबोधकत्व शक्ति कैसे हो सकती? अर्थात् उपाधि की शंका रहते भी हेतु से साध्य का बोध नहीं होता है। सोपाधिक ही हेतु विपक्ष में रह सकता है, अतः विपक्ष में वृत्तित्व की शंका उपाधि की ही शंका होती है, इत्यादि। उपाधि क्या है ? इसका यदि यह उत्तर कहा जाय तो, यह युक्त नहीं ॥ २३९ ॥

साध्यव्यापके साधनाव्यापके पक्षेतरत्वेपि प्रसङ्गात्, तद्व्यतिरिक्त इत्यपीति चेन्न, बाधेनोन्नीतस्य तस्याव्यापनात् अन्यथा निरुपाधिसम्बन्धत्वे बाधासिद्धेः। यदाह—बाधेनोपाधिरुन्नीयताम् अन्येन वा इति न कश्चिद्विशेषः। एतदर्थमपि विशेषणीयम् इति चेन्न, तथापि साधनाव्यापकत्वे सतीति तद्व्याप्त्यनवधारणे न शक्यावधारणम्, एवं साध्यव्यापक इत्यपि ॥२४०॥

पक्षेतरत्वेपीति। सकलानुमानोच्छेदकतया स्वव्याघातकतया च तस्यानुपाधित्वेन तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। पक्षेतरत्वभिन्नत्वेन यद्युपाधिलक्षणं विशेषणीयं तदा संग्राह्यस्यापि बाधोन्नीतपक्षेतरत्वस्य सङ्ग्रहो न स्यादित्याह—बाधेनेति। ननु बाध एव तत्र दोषो न

तूपाधिरपीत्यत आह—अन्यथेति। व्यभिचारे चावश्यमुपाधिर्हेतुर्मात च पक्षे बाधस्थले पक्ष एव व्यभिचार इति तत्रोपाधिध्रौव्यमन्यथा कृतकत्वस्य हेतोरुष्णत्वानुष्णत्वोभय-सहचारविरोधः स्यादित्यवच्छेदभेदोपन्यासस्योचितत्वादन्यस्य तादृशस्याभावाद्वह्नीतर-त्वादेरेव तथात्वमभ्युपेयमित्यर्थः। अन्येन वेति। व्यभिचारेणेत्यर्थः। बाधोन्नीतपक्षेतरत्वान्य-पक्षेतरत्वान्यत्वेनोपाधिलक्षणं विशेषणीयमित्याह—एतदर्थमिति। तथापीति। व्याप्त्योपाधि-निरूपणमुपाधिना च व्याप्तिनिरूपणमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः॥ २४०॥

क्योंकि साध्यव्यापक एवं साधनाव्यापकस्वरूप पक्षेतरत्व में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि कहा जाय कि पक्षेतरत्व भी उपाधि लक्षण का लक्ष्य ही है, तो कोई निरुपाधिक हेतु नहीं सिद्ध होगा। यदि पक्षेतरत्वव्यतिरिक्त साध्यव्यापक एवं साधनाव्यापक उपाधि होती है, ऐसा कहें, तो (वह्निरनुष्णः, रूपवत्त्वात्, घटवत्) इत्यादि में बाध से प्राप्त पक्षेतरत्वरूप उपाधि में लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि वहाँ बाध ही दोष है, व्यभिचार नहीं, तो, व्यभिचाररहित हेतुयुक्त पक्ष में बाध के भी नहीं हो सकने से निरुपाधिक सम्बन्ध से बाध की असिद्धि होगी। अतः बाध से उपाधि उन्नीत होती है, अत एव कहा गया है कि बाध से उपाधि का उन्नय न करो, या अन्य व्यभिचारादि से, इसमें कोई विशेष नहीं हैं। यदि इसके लिये भी विशेषण दें कि बाधोन्नीतपक्षेतरत्व से अन्य पक्षेतरत्व से अन्य साध्याव्यापकादिस्वरूप उपाधि होती है, तो व्याप्ति की सिद्धि से साध्यव्यापकत्व की सिद्धि, उससे उपाधि की सिद्धि उससे निरूपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति की सिद्धि से चक्रक होता है, क्योंकि कि साधनाव्यापकत्वे सति, इस लक्षण में उस व्याप्ति के अज्ञान रहते लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता—अर्थात् व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक व्याप्ति-रहितत्व का ज्ञान हो सकता है। इसी प्रकार साध्यव्यापक में व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक व्यापकत्व का ज्ञान हो सकता है॥ २४०॥

अथ मन्यसे अदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वं साध्यव्यापकत्वं, न वस्तुतो व्यभि-चारिसाध्यस्याव्यापातादृष्टव्यभिचारसाध्यत्वसम्भवात्तस्याप्युपाधित्वा-पातात्। न द्रक्ष्यते इति च निरूपयितुमशक्यं व्याप्तिग्रहकाले च साध्यत्वा-भावेन तदव्यभिचारः कथमवधार्यः। साध्यं व्यापकमपेक्षितम् इति चेन्न, व्याप्त्यनवगमे व्यापकार्थानवगमात्। सम्भावितव्यापकभावो व्यापको-पेक्षित इति चेन्न, व्यापकस्यानिरुक्तौ किंरूपतया सम्भावनापि स्यात्। अथ साध्यव्यापक इत्येव भद्रं तदानीं साध्यत्वाभावेपि साधयितुमर्हत्वस्य विवक्षितत्वात् न कथं ह्यवगन्तव्यमिदमेव साधयितुमर्हमिदं नेति, व्याप-कत्वादिति वक्तुमशक्यत्वात्॥ २४१॥

अदृष्टेति। अदृष्टव्यभिचारं साध्यं येनेत्यर्थः। वस्तुत इति। तत्र च साध्याव्यापकेप्यु-पाधिलक्षणमतिव्यापकमित्यर्थः। ननु व्यभिचारदर्शनात्यन्ताभाववत्त्वं विवक्षितमित्यत आह—'न द्रक्ष्यत' इति। तथा च दुर्ग्रहं लक्षणमित्यर्थः। 'व्याप्तीति। तदा न सिद्धिकर्म-त्वमित्यर्थः। व्यापकत्वमेव साध्यत्वं न सिद्धिकर्मत्वमित्याह—'साध्यमि'ति। अन्योन्या-श्रयमाह—व्याप्तीति सम्भावितेति। वास्तवत्वं व्याप्तेरन्योन्याश्रयत्वापादकमित्यभिमानः। एवमप्यन्योन्याश्रय एवेत्याह—व्यापकस्येति। ज्ञप्तावन्योन्याश्रय इत्यर्थः। भद्रमिति। तद्वन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व हि व्यापकत्वमिति नान्योन्याश्रय इत्यर्थः॥ २४१॥

यदि आप मानें कि साध्य के साथ उपाधि का निरुपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति नहीं है जिससे चक्रकादि दोष हो, किन्तु साध्य के साथ जिसका व्यभिचार नहीं देखा गया हो, सहचारमात्र हो, वह उपाधि और वही साध्य का व्यापक होता है, तो यह मानना युक्त नहीं, क्योंकि जो वस्तुतः साध्य का व्यभिचारी है (साध्य के साथ व्यभिचार वाला है) उसको भी आपाततः (अविचार से) अदृष्ट साध्यव्यभिचारवत्त्व का सम्भव हो सकता है । इस स्थिति में कहीं सहचार दर्शन मात्र से उसको भी उपाधित्व की प्राप्ति होगी। जैसे पृथिवी आदि कर्ता से जन्य है, कार्य होने से, घट के समान, इस अनुमान में रूपवत्त्व उपाधि हो जायगी, क्योंकि कर्तृजन्य घटादि में रूपवत्ता का सहचार है। कार्यत्व वाले वायु तथा इन्द्रियादि में रूपवत्व का अभाव है, और विचार के बिना वहाँ साध्य के साथ व्यभिचार नहीं दीखता है। यदि कहें कि कालान्तर में भी जिस का साध्य के साथ व्यभिचार नहीं देखा जाय वह उपाधि है। उक्तरूपवत्त्व का तो विचार काल में व्यभिचार देखा जाता है, अतः दोष नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार तो इन्धनाग्नि संयोगरूप उपाधि के भी धूम के साथ व्यभिचार की कोई कमी नहीं देखेगा। इसमें प्रमाण के अभाव से उसका निरूपण करना अशक्य है। भावी व्यभिचार के दुर्ज्ञेय होने से उसके अभाव का भी निरूपण नहीं हो सकता और व्याप्ति के ग्रहण काल में साध्यत्व (सिद्धिकर्मत्व = अनुमेयत्व) के अभाव से उस साध्य के साथ अव्यभिचार कैसे अवधार्य (निर्णय) होगा ? जब कि निरुपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति का ग्रहण उसी समय होना चाहिये। यदि कहा जाय कि व्यापकत्वमात्र साध्यत्व अपेक्षित है, सिद्धिकर्मत्व नहीं, वह व्यापकत्व व्याप्तिग्रहकाल में भी रहता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, व्याप्ति के ज्ञान बिना व्यापक शब्द का अर्थ अवगत नहीं हो सकता। इस प्रकार परस्पर के ज्ञानाधीन ज्ञात होने से अन्योन्याश्रय होगा। यदि कहा जाय कि सम्भावित है व्यापकत्व जिसको ऐसा व्यापक यहाँ अपेक्षित है, तो वह भी नहीं होगा, क्योंकि व्यापक की अनिरुक्ति रहते सम्भावना भी किस रूप से होगी, इसका निश्चय नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि व्याप्तिग्रहण काल में साध्यत्व के ग्रहण नहीं होने पर भी उपाधि के लक्षण में साध्यव्यापक यही शुभ है। क्योंकि, व्याप्तिग्रहकाल में साध्यत्व के अभाव रहते भी साध्यतायोग्यता की विवक्षा से दोष नहीं होगा। क्योंकि, तत्तत् योग्यता सदा पदार्थ में रहती है, तो यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि व्याप्ति के ज्ञान के बिना कैसे समझा जा सकता है कि यह अग्नि ही सिद्ध करने योग्य है, यह धूम साध्य नहीं, व्याप्ति के ज्ञान के बिना व्यापक होने से अग्निसाध्य है, धूम नहीं, यह नहीं कहा जा सकता ॥ २४१ ॥

नच साधनाव्यापकत्वं सर्वत्र निश्चेतुं शक्यं स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र शाकाद्याहारपरणतिपरम्पराया मैत्रतनयेऽभावस्य दुरधिगमत्वात् यत्रोक्तलक्षणस्य निश्चायकं प्रमाणमस्ति तत्र निश्चितोपाधित्वम्, अन्यत्र शङ्कितोपाधित्वं मैत्रतनयत्वव्याप्यशाकाद्याहारपरिणतिपरम्परया स्यात्व्यमित्यत्र नियामकाभावात्—इति चेन्न, मैत्रतनयत्वेनैव हेतुना तस्यापि प्रसाधने तच्छङ्काया अपिच्छेत्तुं शक्यत्वात्। तत्रापि तत्तत्सामग्रीत्युपाधिपरम्परा-

भिधाने च तस्यास्तस्या अपि मैत्रतनयत्वेनैव साधनस्य कर्त्तुं शक्यत्वात् ॥ २४२ ॥

शाकपाकजत्वाद्युपाधावव्याप्तिमाह—नचेति। निश्चितोपाधेरिदं लक्षणं ननु शङ्कितोपाधेरिति तत्राव्याप्तिर्न दोष इत्याशङ्कते—यत्रेति। साधनेनैवोपाधेरपि साधनात्साधनव्यापकत्वनिश्चयान्न तत्र शङ्कितोपाधित्वमपीत्याह—मैत्रेति। ननु मैत्रतनयत्वेनापि शाकपाकजत्वे साध्ये साध्यसामग्र्या उपाधित्वान्न तत्र शाकपाकजत्वनिश्चय इति सन्दिग्धोपाधित्वमेवेत्यत आह—तत्रापीति ॥ २४२ ॥

और लक्षणगत साधनाऽव्यापकत्व का सब उपाधिस्थान में निर्णय करना अशक्य है, क्योंकि कोई मित्रानामक हो, और उसके कैकपुत्र गौर वर्ण के हों, कोई श्याम हो, और श्याम में माताकृत शाकाहारादि के परिणामपरम्पराजन्य श्यामत्व का निश्चय हो, और गौर पुत्रों में शाकाहारादिजन्य विशेष का निश्चय नहीं हो, न वे प्रत्यक्ष हों, वहां प्रत्यक्ष श्यामपुत्र को देखकर परोक्ष में श्यामत्व का अनुमान कोई करे कि (स श्यामो मित्रातनयत्वात्) वह श्याम है, मित्रा से जन्य पुत्र होने से, प्रत्यक्षपुत्रवत्। वहां शाकपाकादिजन्यत्व उपाधि मानी जाती है, क्योंकि प्रत्यक्ष श्याम पुत्रों में जहां २ श्यामत्व है, वहां-वहां व्यापकरूप शाकपाकजन्यत्व है, परन्तु अदृष्ट पुत्र में मित्रातनयत्व हेतु तो है, और उपाधि शाकपाकजन्यत्व नहीं है, अतः साधन का अव्यापक है, परन्तु यदि उसमें भी शाकपाकजत्व हो, तब तो हेतु का अव्यापक उपाधि नहीं होगी, अतः उसमें शाकपाकजत्व का अभाव होना चाहिये। और दृष्ट पुत्रों में शाकपाकजत्व के निश्चय से, अदृष्ट में शाकपाकजत्वाभाव का ज्ञान कठिन है, अतः यह उपाधि का लक्षण अयुक्त है। अब एक शंका उपस्थित होती है कि—

उक्त उपाधि का लक्षण निश्चितोपाधि के तात्पर्य से है। अतः जहां उक्त लक्षण का निश्चय कारक प्रमाण है, वहां निश्चित उपाधित्व है, अन्यस्थान में शङ्कित उपाधित्व है। जहां साध्यव्यापकत्व एवं साधनाऽव्यापकत्व का उपाधि में निश्चय कराने वाला प्रमाण नहीं हो और मित्रातनयत्व का व्याप्य शाकादि के आहार की परिणति (परिणाम) परम्परा को मित्रातनयमात्र में होना ही चाहिये इसमें नियामक प्रमाण का अभाव है, वहाँ शङ्कित उपाधि है, निश्चित नहीं। उत्तर यह है कि उस मित्रातनयत्वरूप हेतु से ही उक्ताहारपरिणामपरम्परा की अनुमिति मित्रातनय में होने से उसकी शंका का भी छेदन करना अशक्य है, अर्थात् (मित्रातनयः शाकादिपरिणतिवान् (शाकादिजन्यः) मित्रातनयत्वात्) इस प्रकार निश्चितोपाधिवाला हो जाने से शंका का छेदन नहीं होगा, किन्तु साधन के व्यापकत्व की शंका हो जाने से उसका उच्छेद अशक्य होगा। उक्त अनुमान में यदि शाकपाकसामग्रीजन्यत्व उपाधि कही जाय तो मित्रातनयत्व से ही उसकी सामग्री का अनुमान होगा, तो इस प्रकार तत्तत् सामग्री की अनुमिति से साधन की अव्यापकता उपाधि में नहीं होगी और अनवस्था ही होगी। आप को तत्तत् सामग्रीरूप उपाधि के कथन में अनवस्था होगी और तत्तत् सामग्री को मित्रातनयत्व से सिद्ध करने में भी अनवस्था होगी। अतः मित्रातनयत्व से शाकपाकजत्व के साधन में अनवस्था होगी, यह कहना युक्त नहीं है, उपाधि के कथन में ही आप को अनवस्था क्यों नहीं होगी? जिससे उपाधि सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥ २४२ ॥

अनवस्थैवं स्यात्—इति चेन्न, उपाध्युपन्यासे एव च कुतोनवस्था न स्यात् साध्यसामग्र्या उपाधित्वे धूमानुमानसाधारण्यात्। एवं च साध्यसामग्र्युपाधित्वव्यवच्छेदार्थमपि लक्षणं विशेषणीयम्। श्यामत्वादौ साध्ये शाकाद्याहारपरिणतिपारम्पर्यादेस्तस्मिन्साध्ये श्यामत्वादेरुपाधित्वसम्भवेन कथमुपाधिरपि साधयितुं शक्यते इति चेन्मैवम् प्रत्येकं द्वयोरपि मैत्रतनयत्वादिना साधने साधनाऽव्यापकत्वस्य शङ्कितुमशक्यत्वात्। अन्यथा सकर्तृकत्वे साध्येऽदृष्टजन्यत्वमदृष्टजन्यत्वे च सकर्तृकत्वमुपाधिरित्युभयासिद्धिः स्यात्। एवं बुद्धिमत्पूर्वकत्वे प्रयत्नपूर्वकत्वम्, प्रयत्नपूर्वकत्वे च बुद्धिमत्पूर्वकत्वम्, एवं वह्नित्वजात्याक्रान्तवत्त्वेऽपि इन्धनजतेजोवत्त्वं, तस्मिन् वह्नित्वजात्याक्रान्तत्वमुपाधिः स्यादित्यादिविश्वमनुमानं व्याकुलीस्यात्॥ २४३॥

'उपाधीति। यथा हेतुना तत्तदुपाधिसाधनेऽनवस्था मम तथा तत्तदुपाध्युपन्यासे तवाप्यनवस्थैवेत्यर्थः। शाकपाकजत्वादेरुपाधित्वे दोषान्तरमाह—सामग्र्या इति। धूमादिसदनुमानमप्येवं न स्यादित्यर्थः।हेतुनोपाधिसाधने दोषान्तरमाह—श्यामत्वेति। साध्योपाध्योर्द्वयोरपि मैत्रतनयत्वेन साधयितुं शक्यत्वान्न प्रत्येकस्योपाधित्वमित्याह—प्रत्येकमिति। ननु द्वयोः प्रत्येकं यदि साधनं तदा प्रत्येकस्योपाधित्वमेव मिलितसाधने चार्थान्तरं विप्रतिपत्तिसमये चोभयसाधनमर्थान्तरत्वापादकमेवेति तत्राहुः तत्रोपाधिः साधनेन साधनार्हः तत्र साधनव्यापकत्वान्नोपाधित्वमस्तीति तात्पर्यमत एवानुरूपमुदाहरति—'अन्यथे' ति। कार्यत्वेन हेतुना सकर्तृकत्वादृष्टजत्वयोरुभयोरपि साधयितुं शक्यत्वान्नोपाध्युपाधिमद्भाव इत्यर्थः॥ २४३॥

उपाधि के उक्तरीति से अनुमान करने पर सामग्री की अनवस्था होगी, यह नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक अनुमान में उपाधि के कथन में आप को भी अनवस्था होगी और मित्रातनयत्व से शाकपाकजत्व के साधन में यदि शाकपाकज सामग्री को आप उपाधि कहें तो वह साध्य की सामग्रीरूप उपाधि हुई, और साध्य की सामग्री को उपाधि मानें तो वह सर्वत्र सुलभ है। अतः अनुमान का उच्छेद हो जायगा। इस लिये उपाधि के लक्षण में साध्यसामग्रीरूप उपाधि की व्यावृत्ति के लिये साध्यसामग्रीभिन्नत्व लक्षण में विशेषण देना होगा, तो इस प्रकार मित्रातनयत्व से शाकपाकजत्व के साधन (अनुमान) में शाकपाक सामग्री के उपाधि नहीं होने के कारण शाकपाकजत्व साधनरूप मित्रातनयत्व का व्यापक होने से उपाधिरूप से शङ्कित भी नहीं हो सकता है। शंका होती है कि मित्रातनयत्व से श्यामत्व के अनुमान में शाकपाकजत्व उपाधि है। और उस शाकपाकजत्व के अनुमान में श्यामत्व उपाधि है। अतः शाकपाकजत्वरूप उपाधि की मित्रातनय मात्र में सिद्धि नहीं हो सकने से उसमें साधन की अव्याकता से वह उपाधि है ही। उपाधि को मित्रातनय मात्र में किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते जिससे वह साधन का व्यापक हो सके। यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि श्यामत्व और शाकपाकजत्व इन दोनों की मित्रातनयत्व से एकानुमान द्वारा साधने पर साधनाव्यापकत्व की शंका करना भी अशक्य है। स श्यामः शाकपाकजश्च, मैत्रातनयत्वात्) इस प्रकार प्रत्येक का अमुमान हो सकता है जिससे शाकपाकजत्व में साधनव्यापकत्व एवं साधनाव्यापकत्व

की शंका भी नहीं की जा सकती। अन्यथा (यदि दोनों को एक काल में साध्यत्व नहीं मानें) और एक के साधन में दूसरा उपाधि हो। तो भूमि आदि में कार्यत्व हेतु से सकर्तृकत्व के अनुमान में अदृष्टजन्यत्व उपाधि होगा, और अदृष्टजन्यत्व के अनुमान में सकर्तृकत्व उपाधि होगा, इसी प्रकार बुद्धि पूर्वकालत्व के अनुमान में यत्नपूर्वकत्व, और यत्नपूर्वकत्व के अनुमान में बुद्धिपूर्वकत्व उपाधि होगा, इसी प्रकार अग्निजातीयत्व के अनुमान में इन्धनजतेजस्त्व, और इन्धनजतेजस्त्व के अग्निजातीयत्व उपाधि अनुमान में होगी, जिससे सब अनुमान व्याकुल (असिद्ध) होगा। अतः ऐसे स्थानों में जैसे दोनों साथ सिद्ध होते हैं, वैसे ही यहाँ होंगे ॥ २४३ ॥

अत एव साध्यसाधनसम्बन्धं प्रति व्यापकत्वं साध्यव्यापकत्वमित्यपि प्रत्युक्तम्। यत्राप्युपाधिर्निश्चीयते तत्राप्यतीन्द्रियोपाधिविषये तदभावस्य साधनाव्याप्त्यर्थमनुमेयतायां सोपाधीक्रियमाणेन साधनेनैव सत्प्रतिपक्षस्य कर्त्तुं शक्यत्वात्। तथा सति तत्र शङ्कितोपाधित्वमेव निर्व्यूढं स्थास्यतीति चेत् एवं ब्रुवाणो नियतमजैषीः परं मन्दमन्दाक्षं तथाहि स्वीकृतनिश्चितोपाधिभावे शङ्कितोपाधित्वमापतत्तदनुकूलं मन्यते कोन्यो जितलज्जात्। नच क्वचिन्निश्चितोपाध्यनभ्युपगमे तच्छङ्काशङ्कया। यत्र प्रत्यक्षेणोपाधिनिश्चयस्तदेव तद्दर्शनस्थानं भविष्यति—इति चेन्न, ऐन्द्रियकबाधे तज्जातीयस्यातीन्द्रियस्याप्रयोजकीक्रियमाणेन हेतुनैव साधयितुं शक्यत्वात्। नच यदेकैकजातीयमैन्द्रियकं तदन्यत्रैन्द्रियकबाधेहेतुबलादतीन्द्रियं न प्रसाध्यते पाकदर्शनाज्जठरानलादिवत् ॥ २४४ ॥

अत एवेति। साध्यत्वव्यापकत्वयोरनिरूपणादेवेत्यर्थः। इदानीं निश्चितोपाधावपि साधनाव्यापकत्वस्याशक्यग्रहत्वमाह—'यत्रापी'ति। साधनाव्यापकत्वसम्पत्तये साधनवति यथोपाध्यभावः साध्यस्तथा साधनेनैवोपाधिरपि साधयितुं पार्यत एवेति न साधनाव्यापकत्वनिश्चय इत्यर्थः। एवं ब्रुवाण इति। उपाधित्वनिश्चयस्य क्वचिदप्यसम्भवे तत्संशयस्याप्यसम्भवादित्यर्थः। नन्वार्द्रेन्धनवत्त्वस्योपाधेः साधनवह्निमत्ययोगोलकादावभावः प्रत्यक्ष इति तस्यैव साध्यधूमव्यापकत्वे सति सति साधनवह्न्यव्यापकत्वान्निश्चितोपाधित्वमिति शङ्कते—यत्रेति। आयोगोलकमार्द्रेन्धनवत् वह्निमत्त्वान्महानसवदित्यनेनात्राऽप्युपाधिसाधने क्व तदभावनिश्चय इति परिहरति—ऐन्द्रियकबाधे इति। नन्विन्धनवत्त्वावच्छेदेनैवैन्द्रियकत्वमिति तत्साधने बाध एवेत्यत आह—न चेति। यथा पाकेनानुमीयमानो वह्निर्जठरे प्रत्यक्षो न सिद्ध्यति अतीन्द्रियः साध्यते तथा प्रकृतेपि स्यादित्यर्थः ॥ २४४ ॥

(अतएव) साध्यत्व, व्यापकत्व और व्याप्ति के अनिर्वचन से ही उपाधि के लक्षण में साध्यसाधन के सम्बन्ध के प्रति व्यापकत्व को साध्यव्यापकत्व कहा जाता है, यह कथन भी खण्डित हो गया। और निश्चितोपाधि भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि जहां उपाधि का निश्चय होता है, वहाँ भी अतीन्द्रिय उपाधि वाले हेतु में उस उपाधि के अभाव के साधन के लिये, साधन के अव्याप्त्यर्थक अनुमेयता के प्राप्त होने (अतीन्द्रिय होने) से प्रत्यक्ष अव्यापकता की सिद्धि नहीं होने के कारण अनुमान से साधनाव्यापकत्व सिद्ध करने पर, सोपाधि किया गया हेतु से ही उसका सत्प्रतिपक्ष (विरोध) किया जा सकता है, जैसे शाकपाकजत्वोपाधि अतीन्द्रिय है, अतः उसका अभाव भी अतीन्द्रिय है। परन्तु

इस स्थिति में, अयं शाकपाकजन्यो न गौरत्वात्, इसका प्रतिपक्ष 'स श्यामो मित्रातनयत्वात्' यह होगा। यदि कहा जाय कि सत्प्रतिपक्ष होने से साधनाव्यापकत्व के निश्चय नहीं होने पर शङ्कित उपाधित्व ही निर्विघ्न स्थिर होगा, तो हे मन्द! आप ऐसे कहते हुए मन्दाक्ष (लज्जा) को अवश्य जीते हो, परन्तु प्रतिपक्ष को नहीं; क्योंकि स्वीकृत निश्चित उपाधित्व के रहते शङ्कित उपाधित्व के प्राप्त होने पर निर्लज्ज से अन्य कौन उसको मानेगा? (अर्थात् स्वसिद्धान्त को त्याग कर अपसिद्धान्त को मन्द ही स्वीकार करेगा अन्य नहीं) यदि कहें कि निश्चित उपाधि नहीं सिद्ध हो सके तो शंकित मानना ही चाहिये, तो यह उचित नहीं, क्योंकि कहीं निश्चित उपाधि नहीं मानने पर उसकी शंका (संशय) भी अशक्य है। क्योंकि सामान्य ज्ञान से कोटिद्वय के स्मरण से संशय होता है, और अनुभूत का ही स्मरण होता है। यदि कहा जाय कि (धूमवान् वह्नेः' यहाँ इन्धनाग्निसँयोगरूप उपाधि काष्ठादि में धूम के व्यापकरूप से और तप्त लोहे में अग्नि के अव्यापकरूप से प्रत्यक्ष ही समझा जाता है, अतः जहाँ प्रत्यक्ष से उपाधि का निश्चय हो, वहीं काष्ठलोहादि उपाधि दर्शन का स्थान होगा, तो यह नहीं बन सकता, लोहपिण्ड में अव्यापकत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि लोहपिण्ड में ऐन्द्रियक इन्धनाग्नि के संयोग के बाध होते भी अतीन्द्रिय इन्धनाग्निसंयोगजातीय का अप्रयोजक (सोपाधिक) किया हुआ अग्निरूप हेतु से ही साधन (अनुमान) किया जा सकता है (अयोगोलकं) तप्तलोहपिण्डः, अतीन्द्रियेन्धनवान् अग्निमत्त्वात्–महानसवत्। यदि कहा जाय कि इन्धनाग्निसंयोग काष्ठादि में ऐन्द्रियक (इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय) है, अतः तप्तलोह पिण्ड में अतीन्द्रिय का अनुमान नहीं हो सकता, तो यह ठीक नहीं जो एकजाति वाली वस्तु कहीं एक स्थान में ऐन्द्रियक है और दूसरे स्थान में ऐन्द्रियकता के बाध (अभाव) रहते भी हेतु के बल से अतीन्द्रिय नहीं प्रसाधित (ज्ञात) हो, ऐसी बात नहीं है, जैसे पाक के हेतु अग्नि अन्यत्र प्रत्यक्ष से अनुभूत होती है, और अन्न के पाक से अतीन्द्रिय जठरानल का अनुमान होता है वैसे यहाँ अनुमान होगा॥ २४४॥

साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक इति च न शाकाद्याहारपरिणतिपरम्परासाध्यं व्याप्नोतीत्यव्यापकतादोषः नहि शाकादित्वं नाम किञ्चिदेकमस्ति यत्साध्यं व्याप्नुयात्। अस्तु वा कथमपि तथापि श्यामत्वं न व्याप्नोति इन्द्रनीलशिलादिश्यामलत्वस्याहाराजन्यत्वात् शरीरश्यामत्वं साध्यं तच्च व्याप्नोत्येवेदम्—इति चेन्न, व्याप्तावुपाधेरभिधेयत्वात्। न च पुरुषश्यामत्वेन व्याप्तिर्हेतुपक्षधर्मतयैव हि साध्यं पक्षधर्मः सिध्यति, नतु व्याप्त्या। अन्यथा पुरुषपदस्याव्यवच्छेदकस्याविशेषणत्वापातात्। परम्परासम्बन्धिकज्जलादिलेपश्यामलत्वव्यवच्छेदकत्वे च संयुक्तश्यामपुरुषसमवेतश्यामत्वस्य परम्परासम्बन्धिनः कथं व्यवच्छेदः स्यादिति॥ २४५॥

साधनाव्यापाकत्वं निरस्य साध्यव्यापकत्वं निरस्यति—साधनेति शाकादीनामननुगमेन साध्यव्यापकत्वग्रहासम्भवात् तदेवाह—नहीति। शाकाद्याहारस्यानुगमेपि श्यामत्वस्य व्यभिचारान्न व्यापकतेत्याह—अस्तु वेति। व्यभिचारमेवाह—इन्द्रेति। विशिष्टसाध्यव्यापकत्वमभिमतं तथास्त्येवेति शङ्कते—शरीरेति। ययोरेवव्याप्तिरभिमता तत्रैवो-

पाधिरभिमतो ननु विशेषणान्तरप्रक्षेपेणापि साध्यत्वमिति परिहरति—व्याप्ताविति। ननु पुरुषश्यामत्वमेव पर्यवसितमिह साध्यं तद्व्यापकोयमुपाधिर्भवत्येवेत्यत आह—हेत्विति। यदि पुरुषश्यामत्वमेव साध्यं तदा मैत्रेयः पुरुषः श्यामः मित्रातनयत्वादित्येव प्रतिज्ञा स्यात्तत्र च पुरुषपदं व्यर्थं स्यादित्याह—अन्यथेति। ननु पुरुषीयमेव श्यामरूपं सिद्ध्यतु कज्जलादिगतं तु मा सैत्सीदेतदर्थमेव तद्विशेषणमित्यत आह—परम्परेति। एवं व्यावर्तकानुसरणे संयुक्तपुरुषश्यामताव्यवच्छेदार्थमपि विशेषणान्तरमुपादेयं स्यादित्यर्थः। श्यामरूपसमवाये साध्ये पुरुषपदस्य सुतरां वैयर्थ्यमिति भावः॥ २४५॥

उपाधिगतसाधनाव्यापकत्वांश का खण्डन करके अब साध्यव्यापकत्व का खण्डन करते हैं: साधनाव्यापक होता हुआ जो साध्य का व्यापक हो उपाधि है। इस लक्षण के अनुसार उपाधि को साध्य का व्यापक होना चाहिये, परन्तु शाकादि आहार की परिणतिपरम्परारूप उपाधि साध्य श्यामत्व का व्यापक नहीं होता है, अतः लक्षण में अव्याकतारूप दोष है। शाकादित्व कोई एक वस्तु नहीं है जिससे शाकपाकादिजन्यत्व भी एक हो और साध्य का व्यापक हो। आहार में कही शाक है, तो कहीं लवण, कहीं तैल और कहीं अन्य कुछ, जो श्यामत्वादि का हेतुरूप से कल्पित हो सकता है। यदि कहा जाय कि शाकत्वादिरूप से शाकादि एक अनुगत नहीं है, किन्तु श्यामत्व के कारणत्वात्मक उपाधिरूप से एक हैं यदि वे किसी प्रकार एक अनुगतस्वरूप हों, तो भी श्यामत्व के व्यापक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इन्द्रनील पत्थर की श्यामता आहारजन्य नहीं होती है। यदि कहा जाय कि केवल श्यामत्व साध्य नहीं है, किन्तु शरीरश्यामत्व साध्य है। और उसका व्यापक यह शाकपाकजत्व है ही, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि व्याप्ति में उपाधि कहने योग्य होती है। जिस रूप से साध्यसाधन का सम्बन्ध रहता है, उसी रूप में उपाधि का कथन होता है। श्यामत्वेन साध्य है मित्रातनयत्वेन हेतु है, अतः श्यामत्व की मित्रातनयत्व में व्याप्तिविषयक शाकपाकजन्यत्व उपाधि है। यदि पुरुषश्यामत्व साध्य हो, तो भी उपाधि साध्य में नहीं होगी, किन्तु जिस रूप से व्याप्तिग्रहण हुआ है, उस श्यामत्व का व्यापक और मित्रातनयत्व का व्याप्य उपाधि में होना चाहिये। पुरुषश्यामत्वेन व्याप्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि साध्य यद्यपि श्यामत्व है, तथापि पुरुषश्यामता ही प्रकरणादि से पर्यवसित (सिद्ध) होता है, अतः वह साध्य है और उपाधि उसका व्यापक है, तो यह कहना युक्त नहीं, हेतु की पक्षधर्मता से ही साध्य भी पक्षधर्म होता है, व्याप्ति से नहीं। धूम अग्नि का व्याप्य है परन्तु जैसे पर्वत मे धूम न हो, तो अग्नि पर्वत में नहीं सिद्ध हो सकती, वैसे ही मित्रातनयत्व के पुरुष में रहने से श्यामत्व की पुरुष में सिद्धि होती है, व्याप्ति से नहीं, व्याप्ति तो श्यामत्वरूप से है। यदि पुरुषश्यामत्व ही साध्य हो, तो 'मैत्रेयः पुरुषः श्यामः मित्रातनयत्वात्' ऐसा वाक्यप्रयोग होगा, वहाँ अव्यवच्छेदक पुरुषपद के अविशेषणत्व (व्यर्थविशेषणत्व) की प्राप्ति होगी, क्योंकि (स श्यामः मित्रातनयत्वात्) वहाँ पक्षधर्मतादिबल से ही पुरुष के लाभ होने से पुरुष पद व्यर्थ हो जाता है। यदि कहा जाय कि परम्परा पक्ष से सम्बन्धवाले कज्जलादिलेप के श्यामत्व के व्यवच्छेदक के लिये पुरुष विशेषण होगा, तो ऐसा होने पर, पक्ष से संयोग वाले श्याम पुरुष में समवेत परम्परा सम्बन्धी श्यामत्व का कैसे व्यवच्छेद (वारण) होगा? क्योंकि वह श्यामत्व तो पुरुषगत है। पुरुष विशेषण से

उसका वारण नहीं हो सकता, अतः पुरुषगत श्यामत्व के वारण के लिये जो कुछ साक्षात् सम्बन्धत्वादि विवक्षित होगा, उसी से कज्जलश्यामत्व के वारण हो जाने से पुरुष विशेषण व्यर्थ ही है ॥ २४५ ॥

नच साध्यसाधनसम्बन्धादृष्टव्यभिचारत्वं साध्यव्यापकत्वं मा रूपसाक्षात्कृतिकरणादेस्तैजसादिसत्वे साध्येभूदुद्भूतरूपादित्वादेरुपाधित्वम्। साधनेनापि च विशेषणतया निवेश्येन यदि केवलसाध्यव्यापकं व्यवच्छेद्यं तदा तस्य व्यभिचारशङ्काधानक्षमस्याप्युपाधित्वं न स्यात्। अथ न किञ्चिद्व्यवच्छेद्यं तदा विशेषणत्वासिद्धिरेव नहि प्रयोजनमात्राद्विशेषणमर्थवद्भवति किंतु किञ्चिद्व्यवच्छेदादिति अन्यथा शरीराजन्यत्वमिवाकर्तृकत्वे व्यक्तमसिद्धौ पर्यवस्येदिति ॥ २४६ ॥

ननु तथापि मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामलत्वं प्रति शाकाद्याहारपरिणतेर्व्यभिचारो न दृश्यते इति तदवच्छिन्नव्यापकत्वमेव साध्यव्यापकत्वमभिमतमाह—न चेति। एवं सति चक्षुस्तैजसं रूपसाक्षात्कारकरणत्वात्प्रदीपवदित्यत्र सदनुमाने ग्रीष्मोष्मणि केवलसाध्याव्यापकमपि साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकतयोद्भूतरूपवत्त्वमुपाधिः स्यादित्यर्थः मा भूदिति सम्बन्धः दोषान्तरमाह—साधनेनापीति। साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं केवलसाध्यव्यापकोपाधौ नास्तीति तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। ननु केवलसाध्याव्यापकोपाध्युपसङ्ग्रहमात्रार्थमिदं विशेषणं नतु केवलसाध्यव्यापकोपाधिव्यवच्छेदाय येनाव्याप्तिः स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति—अथेति। यदि न व्यवच्छेदकं तदा साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकव्यभिचारित्वेन। साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वे साध्येऽसमर्थविशेषणतया व्याप्यत्वासिद्धिः स्यादित्यर्थः॥

साध्यसाधन सम्बन्ध का व्यभिचार जिससे अदृष्ट हो, वह साध्यव्यापक कहा जाता है। शाकपाकजत्व में भी श्यामत्व मित्रातनयत्व के सम्बन्ध का व्यभिचार नहीं देखा गया है, अतः वह साध्य का व्यापक है, अतः अव्यापकत्व दोष नहीं है, ऐसा मानना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर (चक्षुरिन्द्रियं तैजसं, रूपादिषु रूपस्यैव साक्षात्कृतिकरणत्वात् प्रदीपवत्) इस सच्ची अनुमिति में उद्भूतरूपवत्त्व उपाधि होगी। क्योंकि उद्भूतरूपवत्त्व केवल तैजस ग्रीष्म = गरमी में व्यापक नहीं होते भी रूपसाक्षात्कृतिकरणत्वयुक्त प्रदीपादि तैजस में व्यापक है। यदि मानें कि साधनावच्छिन्न (साधनसंम्बन्ध युक्त) साध्य का व्यापक ही साध्यव्यापक उपाधि होता है, केवल साध्य का व्यापक, नहीं तो (धूमवान् वह्नेः) इस स्थान में इन्धनाग्निसंयोग उपाधि नहीं होगा। भले हो कह केवल साध्य के व्यापक उपाधि के हेतु में व्यभिचार की शंका को स्थिर करने में समर्थ अर्थात् साधनावच्छिन्न साध्यव्यापक को ही उपाधि मानने पर केवल साध्यव्यापक उपाधि में लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि केवल साध्य का व्यापक जो शाकपाकजत्व नहीं है, उसका उपाधिरूप से संग्रह के लिये साधनावच्छिन्न यह विशेषण है, केवल साध्यव्यापक उपाधि के व्यवच्छेद के लिये नहीं जिससे अव्याप्ति हो, तो यह कहना भी नहीं बन सकता। क्योंकि यदि विशेषण से कोई व्यवच्छेद्य (व्यावर्त्य= निवारणीय) नहीं है, तो विशेषण असिद्ध (निष्फल) होगा, क्योंकि किसी के संग्रहरूप प्रयोजन से ही विशेषण सफल नहीं होता, किन्तु किसी के व्यवच्छेद से सार्थक होता है। अन्यथा जैसे (क्षित्यङ्कुरादिकं कर्त्रजन्यं शरीराजन्यत्वात्) भूमि आदि कर्ता से जन्य

नहीं है, क्योंकि शरीर से अजन्य है, यहाँ शरीर विशेषण व्यर्थ होता है, क्योंकि उसका कोई व्यवच्छेद्य नहीं है। अतः अजन्यत्व ही हेतु हो सकता है। शरीराजन्यत्व में व्यर्थता से अकर्तृकत्व साध्य में शरीराजन्यत्व को जैसे व्याप्यत्वासिद्धि होती है, वह व्याप्य हेतु नहीं समझा जाता, वैसे यहाँ भी व्यक्त (प्रकट) ही असिद्धि में स्थिति होगी। अर्थात् उपाधि के स्थान में हेतु में उपाधि के व्यभिचारित्व से साध्यव्यभिचारित्व का अनुमान होता है, वहाँ (मैत्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारी, मैत्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वव्यापकशाकपाकजत्वव्यभिचारित्वात्) इस अनुमान में हेतु का विशेषण निरर्थक होगा ॥ २४६ ॥

किंच आभासे केवलव्यतिरेकिणि पक्षधर्मे हेतौ जीवच्छरीरं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तानेकद्रव्यवत् प्राणादिमत्त्वादित्यादौ कथमिदमुपाधिलक्षणव्यवस्थाप्यं नह्याभासे व्यतिरेक्ययमनुमानात्मनि यत्साध्य तदुपाधिना व्याप्तं वर्त्तते तस्य पराभिमतस्य क्वचित्सिद्ध्यापत्तेः। व्यतिरेकव्याप्तावुपाधिश्चेत्तर्हि व्यतिरेके यद्व्याप्यं तस्य व्याप्य उपाधिरवश्यं मन्तव्यः ॥ २४७ ॥

व्यतिरेक्याभासे साध्यव्यापकत्वाग्रहादुपाधेरनुपाधित्वमित्याह—किञ्चेति। आभासत्वाभिधानमुपाधिध्रौव्यार्थम्, अपक्षधर्मतया चेदाभासत्वं तदा न व्याप्तिभङ्गायोपाध्यनुसरणमित्यत आह—पक्षधर्मेति। अष्टद्रव्यातिरिक्तानेकचेतनवत्त्वं साध्यं तदप्रसिद्ध्या नोपाधेः साध्यव्यापकत्वग्रह इत्यर्थः। पराभिमतस्य स्थापनावाद्यभिमतस्य। क्वचिदिति। नच पक्षे एव तत्सिद्धिरिति वाच्यं, साधनव्यापकत्वमुपाधेस्तथासति स्यादित्यर्थः। ननु व्यतिरेकिणि व्यतिरेकव्याप्तावेवोपाधिरिति न तत्र साध्यव्यापकत्वं तन्त्रमित्यत आह—व्यतिरेकेति। व्यतिरेकव्याप्तौ साध्याभावस्य व्याप्यत्वादुपाधेस्तद्व्याप्यत्वं स्वीकार्यमिति नोपाधिः साध्यव्यापकः स्यादित्यर्थः। यद्यपि साध्यपदेन व्यापकमभिमतं तेन व्यतिरेकव्याप्तावपि व्यापकव्यापकत्वमुपाधेर्व्यापकत्वं च साधनाभावस्येत्युपाधिस्तद्व्यापको यथा प्रतिसन्धानाभावे कार्यकारणभावाभाव उपाधिः परोक्ते एककर्तृकत्वानुमाने तथापि साध्याभावव्याप्यत्वाभिधानं कथञ्चित्समर्थनीयमिति ॥ २४७ ॥

उक्तरीति से अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में उद्भावित उपाधि में लक्षण की अव्याप्ति दर्शा कर केवलव्यतिरेकी में दर्शाते हैं कि आभासरूप जहाँ केवलव्यतिरेकी पक्षवृत्ति हेतु हो, वहाँ यह उपाधि कैसे व्यवस्थित की जा सकती है, जैसे जीवत् शरीर, पृथिवी आदि अष्टद्रव्य से अतिरिक्त अनेक द्रव्य वाला है, प्राणादि वाला होने से, यहाँ नवद्रव्यवाद के अनुसार आठ से अतिरिक्त एक ही रहता है, और सब शरीर में अनेक आत्मदृष्टि से या दशम द्रव्य की दृष्टि से अनेक द्रव्यवत् कहने से नवद्रव्यवाद से यह हेतु आभासरूप (मिथ्या) है। और आभासरूप हेतु में उपाधि अवश्य होनी चाहिये, वहाँ साध्य का व्यापक उपाधि केवलव्यतिरेकी स्वरूप वाला अनुमान में हो नहीं सकती, क्योंकि यदि सपक्ष हो, और वहाँ साध्य का व्यापक उपाधि हो, तो वह केवलव्यतिरेकी नहीं हो सकता है। यदि पक्षवृत्ति उपाधि साध्य का व्यापक हो तो वहाँ हेतु के रहने से हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकता, सदनुमान नहीं होगा, क्योंकि प्राणादिमत्त्वहेतु पक्षवृत्ति है। अतः व्यतिरेकी अनुमानरूप आभास में जो साध्य है (अनेकचेतनवत्त्वादि) वह अप्रसिद्ध होने से (भोगायनत्वादि) उपाधि से व्याप्य नहीं है। क्योंकि अनुमान कारक पर (वादी) के अभिमत उस साध्य के उपाधि से व्याप्त सिद्ध होने पर पक्ष या सपक्ष में

कहीं सिद्धि की प्राप्ति होगी, फिर केवलव्यतिरेकित्व अनुमान में नहीं रहेगा। यदि कहा जाय कि केवलव्यतिरेकी आभास में व्यतिरेकव्याप्ति में ही उपाधि होती है, वहाँ साध्य-व्यापकत्व का नियम नहीं है, तो व्यतिरेक में जो व्याप्य है उसका व्याप्य उपाधि अवश्य मन्तव्य होगी। अर्थात् जो पृथिवी आदि से अन्य अनेक द्रव्य वाला नहीं है, वह प्राणादि वाला भी नहीं है, जैसे शिलादि। यहाँ अभोगायतनत्व उपाधि होगा उसको हेत्वभाव का व्याप्य जो साध्याभाव उसका व्याप्य मानना होगा। जहाँ २ अभोगायतनत्व है, वहाँ २ पृथिवी आदि अष्टद्रव्यातिरिक्त अनेक द्रव्यत्व का अभाव है। परन्तु इस प्रकार उपाधि को साध्य का व्यापकत्व नहीं सिद्ध होगा ॥ २४७ ॥

अन्यथोपाधेरन्वये साध्यान्वयापत्तेरिति, उपाधेर्व्यतिरेकव्याप्त्यवश्यम्भावस्याभ्युपगम्यतयोपाधेर्यद्व्यापकं तद्व्यतिरेक उपाधिव्यतिरेकस्य व्याप्यतया मन्तव्य इति परसाध्यापत्तिः। असमव्याप्तिकयोरन्वयव्याप्तिसाधनभाववैपरीत्येन व्यतिरेकव्याप्तेरिति। नच दोषान्तरमेव तर्हि वाच्यम् इति वाच्यम् हेतोः पक्षधर्मत्वस्थिते व्याप्तिक्षत्यर्थं त्वयोपाध्युपगमध्रौव्यात्। भवतु वा या काचिद्व्याप्तिर्नाम तत्सत्वे एवानुमितिभावात् तस्याश्चानुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्या ततश्चात्माश्रयस्तद्भेदे चाननुगमाविनिगमौ स्यातामिति ॥ २४८ ॥

अस्तु तत्रापि साध्यव्यापकसाध्याभावाव्याप्य एवोपाधिः किमनिष्टमित्यत आह—अन्यथेति। उपाधिसद्भावे यदि साध्याभावो व्यापकतया न वर्तेत तदा साध्यं स्यात् साध्याभावाभावस्य साध्यत्वात्तन्निरूपणं च पश्चादन्यत्र न वाच्यमन्यथा व्यतिरेकभङ्गप्रसङ्ग इत्यवश्यमुपाधिः साध्याभावव्याप्य एव वाच्य इत्यर्थः। उपाधेरिति। साध्यव्यावृत्त्यर्थमुपाधिव्यावृत्तेरुपासनीयत्वेनोपाधेर्व्यतिरेकिधर्मत्वनियमादिति भावः। अन्वये यद्व्यापकं तदभावो व्यतिरेके व्याप्य इति केवलान्वयिनि नास्तीत्यत उक्तम् असमव्याप्तिकयोरिति। नन्वीदृशे व्यतिरेकिणि मास्तूपाधिरित्यत उक्तम्—हेतोरिति। व्याप्तिमभ्युपेत्य दोषमाह—'भवतु वेति'। व्याप्तावप्यनुमित्या सह व्याप्त्यभ्युपगमे स्ववृत्तित्वमित्यर्थः। 'तद्भेदे इति। यद्यनुमितिव्याप्त्योरन्यैव व्याप्तिस्तदाननुगमो यदि तत्रापि स्ववृत्तिभयेनान्या तदानवस्था स्यात्तथा च काव्याप्तिरनुमानाङ्गमिति विनिगमना न स्यादित्यर्थः ॥ २४८ ॥

(अन्यथा) यदि साध्याभाव का व्याप्य उपाधि के अभाव को नहीं मानें, तो उपाधि के अन्वय रहते साध्य की अन्वयाऽऽपत्ति होगी, अर्थात् भोगायतनत्व के रहते अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यवत्त्व सिद्ध होगा जिससे व्यतिरेक में व्याप्ति न सिद्ध होकर अन्वय में व्याप्ति होगी, अतः साध्याभाव का व्याप्य अभोगायतनत्व उपाधि वक्तव्य है। इस प्रकार उपाधि के व्यतिरेक की व्याप्ति की अवश्य अभ्युपगन्तव्यता से जो भोगायतनत्व उपाधि का व्यापक उक्त साध्य है, उस साध्य के व्यतिरेक से व्याप्य उपाधि का व्यतिरेक मानना होगा, तो साध्यव्यतिरेक का व्यापक उपाधिव्यतिरेक के नहीं होने से व्यतिरेक में भी सोपाधिकता की सिद्धि नही होने से, परवादी के साध्य की सिद्धि प्राप्त होती है। क्योंकि जहाँ गुणवत्त्व द्रव्यत्वादि में समव्याप्ति रहती है, वहाँ तो अन्वय व्यतिरेक में तुल्य ही व्याप्यव्यापकभाव रहता है। परन्तु असमव्याप्ति वाले के अन्वयव्याप्ति-सम्बन्धी साध्यसाधनभाव (व्यापकव्याप्यभाव) से विपरीतरूप से ही व्यतिरेकव्याप्ति

में साध्यसाधनभाव होता है। अर्थात् व्यापक का अभाव व्याप्य हो जाता है, और व्याप्य का अभाव व्यापक। यदि कहा जाय कि ऐसे स्थानों में उपाधि के नहीं सिद्ध होने से दोषान्तर ही कहना चाहिये, तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हेतु के पक्षधर्मत्व के स्थिर रहते हेतु की असिद्धि किसी प्रकार कही नहीं जा सकती, अतः व्याप्ति की क्षति के लिये आपको उपाधि अवश्य मानना होगा। व्याप्ति नामक कोई वस्तु हो सकती है, क्योंकि उसके रहने पर अनुमिति होती है, परन्तु जैसे अग्नि के रहते धूम होता है, वहाँ अग्नि की व्याप्ति धूम में रहती है, वैसे ही उस व्याप्ति और अनुमिति की व्याप्ति भी मन्तव्य है, वहाँ अग्निधूमादि की जो व्याप्ति है वही व्याप्ति अनुमिति में हो या व्याप्ति में हो तो आत्माश्रयता होगी, और उससे भेद होने पर व्याप्ति की अनवस्था होगी, और अन्य व्याप्तियों से व्याप्ति की व्याप्ति के विलक्षण होने पर अननुगम होगा, और कौन व्याप्ति अनुमिति जनक है, कौन नहीं, इसमें विनिगमनाभाव होगा ॥ २४८ ॥

व्याप्तिपक्षधर्मते अनुमितिं भावयत इति वदन्ति तत्र केयं पक्षधर्मता पक्षाश्रितता इति चेन्न, नैयायिकादीन् प्रति प्रमेयत्वस्याहेतुत्वप्रसङ्गात् विषयविषयिभावस्य ज्ञेयज्ञानस्वरूपातिरिक्तस्यानङ्गीकारात् तयोश्च ज्ञेयाश्रितत्वायोगात्। कश्चायं पक्षो नाम यद्धर्मत्वं पक्षधर्मत्वं सिसाधयिषितसाध्यधर्मा धर्म्मी इति चेन्न, सिसाधयिषा हि प्रतिपिपादयिषा वा स्यात् प्रतिपित्सा वा आद्ये स्वार्थानुमित्यनुदयप्रसङ्गः। द्वितीये चासुरभिगन्धानुमेयकुत्सितरसविषयस्वार्थानुमित्यनुमित्यनुदयप्रसङ्गः। नचानवधारितधर्मा धर्मी पक्षः, हेतुमत्तयाप्यनवधारणेऽनुमानोदयनिदानभावासम्भवात्। अवधारणे वानवधारितधर्मत्वानुपपत्तेः। नचानवधारितहेतुविषयधर्मा धर्मी पक्षः तथाहि केनानवधारितधर्मा न तावदनुमानप्रयोक्त्रा स्वयमज्ञाते परं प्रत्यप्रयोगात् प्रतिवादिना इति चेत् न, प्रतिवादिविहितेऽप्यर्थे वादितया परस्परविद्योत्कर्षनिरूपणार्थमनुमानदर्शनात् ॥ २४९ ॥

'भावयत' इति। जनयत इत्यर्थः। नैयायिकादीनिति। अतिरिक्तविषयविषयिभावसम्बन्धानङ्गीकर्तृमते वाच्यो घटः प्रमेयत्वादित्यादौ प्रमेयत्वस्य घटतत्प्रमास्वरूपस्य घटावृत्तित्वादपक्षधर्मता स्यादित्यर्थः। कृत्तद्धितसमासेषु सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन तुल्यमिति कात्यायनवचनादिति भावः। परम्परासम्बद्धं प्रमात्वमेव यदि प्रमेयत्वं तथापि तस्य विषयघटितोपाधितया विषयावृत्तित्वमेवेति हृदयम्। असुरभीति। सटितमांसादावसुरभिगन्धेन हेतुना कुत्सितरसानुमानमस्ति नतु प्रतिपित्सापि येन तस्य पक्षता स्यादित्यर्थः। हेतुधर्मावधारणेपि न सामान्यतोनवधारितधर्मत्वमिति पर्वतादेरपक्षत्वापत्तिरित्याह— हेत्विति। हेतुविषयः साध्यं तथा चानवधारितसाध्यधर्मेत्यर्थः॥ २४९ ॥

तार्किक कहते हैं कि व्याप्ति और पक्षधर्मता अनुमिति के कारण हैं, पक्षधर्मता के अन्तर्गत पक्ष क्या है जिसका धर्म पक्षधर्मत्व होता है। जिस धर्मी (आश्रय) में सिद्ध करने की इच्छा का विषय साध्यरूप धर्म (आश्रितवस्तु) हो, वह धर्मी पक्ष कहा जाता है, यदि ऐसा कहा जाय तो फिर पूछा जाता है कि वह सिषाधयिषा (सिद्धकरने की इच्छा) क्या है? किसी के प्रति उपदेश द्वारा साध्य के प्रतिपादन की इच्छा सिषाधयिषा है? या

स्वयं प्रतिपित्सा (प्रतिपत्ति = ज्ञान की इच्छा) रूप सिषाधयिषा है ? यहाँ प्रथमपक्ष में प्रतिपादन की इच्छा के अभाव से स्वार्थानुमिति नहीं होगी, क्योंकि पक्ष के अभाव से पक्षधर्मतारूप अनुमिति के हेतु का वहाँ अभाव है। और दूसरे पक्ष में भी दुर्गन्ध से अनुमेय (अनुमान द्वारा ही समझने योग्य) कुत्सित (निन्दित) रसविषयक स्वार्थानुमिति (यह निन्दित रसवाला है, क्योंकि इस में दुर्गन्ध नहीं होगी) इस स्थान में दुर्गन्धज्ञान के बाद प्राप्ति की इच्छा के अभाव से पक्षता नहीं रहने के कारण स्वार्थानुमिति नहीं होनी चाहिये, और होती है। अनवधारित (अनिश्चित) अज्ञात धर्म वाला धर्मी पक्ष होता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमिति के विषय साध्य जैसे पक्षवृत्ति होता है, वैसे हेतु भी पक्ष में रहता है। सामान्यरूप से अज्ञातधर्म वाले धर्मी के पक्ष होने पर और हेतुमत्तारूप से पक्ष के अज्ञात रहने पर अनुमान के उदय के निदानत्व (कारणत्व) ही हेतु में नहीं होगा, क्योंकि व्याप्तियुक्त हेतु का पक्ष में ज्ञान अनुमिति का कारण है। और हेतु के पक्ष में अवधारण (ज्ञान) होने पर लक्षण के अनुसार अनवधारितधर्मवत्वरूप पक्षत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) होती है। अतः उभयथा दोष होने से यह लक्षण अयुक्त है। अनवधारित हो हेतु का विषय (हेतु से ज्ञेय साध्य) जिसमें वह धर्मी पक्ष होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि इस पक्ष में पूर्वोक्त दोष नहीं है, तथापि किससे अनवधारित धर्मवाला होना चाहिये ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। यदि परार्थानुमान में अनुमानार्थक वाक्यप्रयोक्ता से अज्ञातधर्म कहा जाय, तो स्वयं अज्ञातविषयक दूसरे के प्रति उसका वाक्य प्रयोग ही नहीं हो सकता। यदि प्रतिवादी से अज्ञात कहा जाय, तो जहाँ वादिप्रतिवादिभाव नहीं है, किन्तु प्रतिवादी से विदित अर्थविषयक भी वादी (विचारक) रूप से परस्पर विद्या के उत्कर्ष समझने के लिये अनुमान देखा जाता है, वह नहीं होगा। अतः प्रतिवादी से अविदित नहीं कहा जा सकता ॥ २४९ ॥

तथानवधारणं यत्किंचिद्धेतुविषयधर्मगोचरम् वादिप्रयोक्तव्यहेतुविषयगोचरं वा नाद्यः अग्निमत्त्वनिश्चयदशायामपि तत्तद्धेतुविषयबहुतरापरधर्मतानवधारणात् धूमं प्रति पर्वतस्य पक्षत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः तथापि तत्प्रसङ्गात् तद्धेतूनामपि वादिप्रयोज्यत्वात्। असाधारणविवक्षायां चाननुगमात्। इतरेतराश्रयदोषाच्च, पक्षधर्मत्वेन हेतुत्वनिरूपणात्, व्याप्तपक्षधर्म्मत्वस्य हेतुत्वात् हेतुना च पक्षनिरूपणात्, स्वार्थानुमाने च हेतोरप्रयोज्यत्वात्, पक्षत्वाभावेनानुमानानुदयप्रसङ्गात्, विरुद्धहेतौ च पक्षधर्मत्वाभावप्रसङ्गात्, तत्र साध्यस्य तद्धेतुविषयत्वाभावात् हेतोरेव साध्यविरीतव्याप्त्या दुष्टत्वात्, एतेन सन्दिग्धसाध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः साध्यत्वं च स्वपरार्थानुमानसाधारणं उत्पाद्यज्ञानत्वमिति निरस्तम् ॥२५०॥

अग्निमत्त्वेति। अनुमित्यनन्तरमपि पर्वदादेः पक्षता स्याद्धूमविषयस्य प्रदेशश्यामलतादेरनवधारणादित्यर्थः। पूर्वप्रसङ्गे सत्येवाह—तद्धेतूनामिति। असाधारणेति। वादिप्रयोक्तव्यधूमादिविषयस्येति कृते शब्दादेरपक्षता स्यादित्यर्थः। 'पक्षेति। व्याप्तपक्षधर्मत्वं हेतुत्वं हेतुविषयधर्मवत्त्वं च पक्षत्वमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। विरुद्धेति। नहि नित्यत्वमपि

कृतकत्वविषयस्तत्प्रतीतिजन्यप्रतीतिविषयत्वमेव हि तद्विषयत्वमित्यर्थः। ननु विरुद्धे पक्षधर्मत्वादेवाभासत्वमस्त्वित्यत आह—हेतोरेवेति। साक्षाद्धेतुदोष एव विरोधो नतु पक्षद्वारेत्यर्थः। एतेनेति। सन्देहस्य विशेषणत्वोपलक्षणत्वव्युदाससन्देहाधारपुरुषविकल्पादिनेत्यर्थः॥ २५०॥

इसी प्रकार यत्किञ्चित् हेतु का विषय (साध्य) धर्म जिसका गोचर (विषय) है, उसका अनवधारण विवक्षित है? अथवा वादी से प्रयोक्तव्य हेतुविषयविषयक अनवधारण विवक्षित है? प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि पर्वत के अग्निमत्त्वनिश्चयावस्था में भी अर्थात् (धूमत्वात् अग्निमान् पर्वतः) इस निश्चय काल में भी कृतकत्व (कार्यत्व) सावयवत्वादि तत्तत् हेतु के विषय अनित्यत्व कार्यत्वादि धर्म के पर्वत में अनवधारण से पर्वत के धूम के प्रतिपक्षत्व की प्राप्ति होगी। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि वादी से प्रयोक्तव्य हेतुविषयगोचर अनवधारण मानने पर भी धूम के प्रति अग्नि के निश्चयदशा में पर्वत में पक्षत्व प्राप्त होता है, वादी को भी पर्वत में अग्नि के निश्चय काल में तत्तत् हेतुविषयक अनवधारण हो सकता है, और उन हेतुओं को वादी से भी प्रयोज्यत्व हो सकता है। यदि कहा जाय कि (वादी से प्रयोक्तव्य धूम हेतु के विषय धर्म का अनवधारणवत्त्व अग्निमत्ता के प्रति पर्वत में पक्षत्व है), तो इस प्रकार असाधारण (हेतु साध्य के भेद से भिन्न भिन्न) पक्षत्व की विवक्षा होने पर लक्षण का अननुगम होगा और अन्योन्याश्रय होगा। पक्ष धर्मत्व से हेतु का निरूपण होता है। व्याप्तियुक्त को पक्षधर्मत्व से हेतुत्व (साध्यबोधकत्व) होता है। और उक्त रीति से हेतुद्वारा पक्ष का निरूपण होता है। अतः अन्योन्याश्रय होगा। और स्वार्थानुमान में हेतु का प्रयोग नहीं होता है, अतः वादी से प्रयुक्तादि हेतु के अभाव से पक्ष के अभाव होने के कारण अनुमिति का अनुदय होगा। और विरुद्ध हेतु में पक्ष का अभाव होगा, क्योंकि वहाँ साध्य सत्य हेतु का विषय नहीं रहता। किन्तु साध्य से विपरीत (साध्याभाव) से व्याप्ति के कारण हेतु में ही दुष्टत्व रहता है। जैसे (आत्मानित्यः कार्यत्वात्) यहाँ अनित्यत्व से व्याप्य कार्यत्व हेतु ही दुष्ट है, परन्तु सद्धेतुविषयत्व साध्य के नहीं होने से पक्ष का लक्षण यहाँ अव्याप्त होता है।

सन्दिग्ध साध्यरूप धर्म वाला धर्मी पक्ष है। और स्वार्थ तथा परार्थ अनुमिति में साधारणरूप से जो उत्पाद्यमान (जायमान) ज्ञान का विषय हो, वह साध्य है, यह लक्षण भी उक्त रीति से निरस्त हो गया। क्योंकि साध्यत्व क्या है? प्रतिपिपादयिषितत्व? या प्रतिपित्सितत्व? इत्यादि पूर्व के समान यहाँ भी विकल्पासहत्व है॥ २५०॥

प्रतीतिं व्याप्तिबलेन सामान्यतो व्यापकावगाहनप्रवृत्तां विशेषमादाय पर्यवसाययितुं व्याप्यस्य सामर्थ्यं सा इति चेन्न, तस्याः सामान्यविषयाया अनुपपत्तेरसिद्धे, र्व्याप्तिवत्सम्भवात्, अनुपपत्तित्वे व्याप्त्यनुप्रवेशात्। अधिकविषयाकाङ्क्षित्वे विरम्य व्यापारापत्तेः मानान्तरत्वापत्तेर्वा। विशेषविषयायाश्चानुपपत्तित्वेऽतिप्रसङ्गः पक्षधर्मतया च यदि साध्यव्यक्तिभेदः सिद्ध्येत्तर्ह्यनुमाय तां प्रत्यक्षेण पश्यन् पुंशब्दात् पुरुषानुमायी प्रत्यक्षेण

पुरुषद्वयदर्शने तद्विशेषासंशयी स्यात् प्राग्विशेषादर्शनात् तथा स्यात् इति चेन्न, पश्चात्तद्दर्शित्वान्न संशयीतेति ॥ २५१ ॥

प्रकारान्तरेण पक्षधर्मतामाशङ्कते—प्रतीतिमिति । व्याप्तिबलाद्वह्निमात्रप्रतीतिः पक्षधर्मताबलात्पर्वतीयत्वादिकमादाय पर्यवस्यतीत्येतादृशं धूमसामर्थ्यं पक्षधर्मतेत्यर्थः । 'तस्या' इति । विशेषं विनापि साध्यसामान्यविषया वह्निप्रतीतिः स्यादेव यथा व्याप्तिबुद्धिरिति नानुपपत्तिरित्यर्थः । अनुपपत्तिबलेन विशेषविषयत्वाभ्युपगमेऽर्थापत्तिरेव स्यात् सा चानुमानमेवेत्याह—अनुपपत्तित्वे इति । यदि च सामान्यबुद्धिरुत्पद्यविशेष—विषया तत्राह—अधिकेति । सामान्यबुद्धिरुत्पद्यमाना विशेषबुद्धिं यदि जनयति तत्राह—मानान्तरत्वेति । अतिप्रसङ्ग इति । अपरापर विशेषधीप्रसङ्ग इत्यर्थः । दोषान्तरमाह—'पक्षधर्मतया चे'ति । वह्न्यनुमानानन्तरं प्रत्यासीदतो नानावह्निदर्शने किमियं बह्निव्यक्तिरनुमितेयं वेति वह्निसंशयो न स्यात् । किंच शब्दविशेषेण गृहे पुरुषानुमानानन्तरं चैत्रोनुमितो मैत्रो वेति संशयो न स्यादित्यर्थः । नन्वनुमितस्यापि विशेषस्य साक्षात्काराभावात् संशयः स्यादेवेत्याह—प्रागिति । विशेषसाक्षात्कारकालेपि संशयदर्शनान्नैवमित्याह पश्चादिति ॥

पक्ष जो कोई पदार्थ हो, परन्तु यह पक्षधर्मता क्या है ? पक्षाश्रितता पक्षधर्मता नहीं कही जा सकती, क्योंकि बिषयविषयिभावरूप सम्बन्ध को ज्ञानज्ञेय के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं मानने वाले नैयायिकादि के प्रति प्रमेयत्व को अहेतुत्व (पक्षधर्मता का अभाव) प्राप्त होगा । अर्थात् (घटः वाच्यः प्रमेयत्वात्) यहाँ जो प्रमाविषयत्वरूप प्रमेयत्व है, वह प्रमाज्ञान और घटस्वरूप ही है । यहाँ घट तो आश्रयता से घटरूप पक्ष में नहीं रह सकता और आत्मगुणता से ज्ञान भी घट में नहीं रह सकता, अतः घट तथा ज्ञान इन दोनों को पक्षरूप ज्ञेयाश्रितत्व का असम्बन्ध है, पक्षधर्मता का अभाव है । व्याप्ति के बल से सामान्यरूप से व्यापक साध्य को अवगाहन (ग्रहण = विषय) करने वाली प्रतीति को केवल विशेष को ग्रहण करके स्थिर कराने की जो व्याप्य की शक्ति है वह पक्षता है, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अनुमिति की विशेष के बिना सामान्य-विषयता में यदि कोई अनुपपत्ति हो तो व्याप्य हेतु किसी प्रकार विषय में स्थिर कर सकता है, परन्तु उस सामान्य विषयक उस अनुमिति की विशेष के बिना अनुपपत्ति की असिद्धि है और व्याप्तिज्ञान के समान सामान्यविषयत्व का ही सम्भव है । और यदि विशेषविषयत्व के बिना सामान्यविषयत्व की अनुपपत्ति मानी जाय तो व्याप्तिज्ञान में भी विशेषविषयत्व का अनुप्रवेश होगा । वहाँ यदि कतिपय विशेष मानें तो अननुगम होगा । अशेष विशेष के अनुप्रवेश मानने पर प्रमेयत्व एवं वाच्यत्व के व्याप्तिज्ञान वालों में सर्वज्ञता की प्राप्ति होगी और व्याप्तिज्ञान काल में ही अनुमेय के ज्ञान से अनुमिति का उच्छेद होगा और अनुपपत्ति बल से जो ज्ञान होगा, वह अर्थापत्तिरूप ही होगा इससे अनुमान प्रमाण ही का अभाव होगा । यदि कहा जाय कि व्याप्तिबल से सिद्ध साध्यसामान्य प्रतीति की विशेषविषयत्व के बिना अनुपपत्ति नहीं है, तो भी अधिक (विशेष) विषयाऽऽकाङ्क्षित्व है, मानो वह प्रतीति विशेष विषय को चाहती है, यही अपर्यवसान (अपूर्णता) है । परन्तु इस प्रकार अधिक विषयाऽऽकाङ्क्षित्व होने पर बुद्धि में विराम पूर्वक व्यापार की प्राप्ति होगी, जो माना नहीं जाता, या मानान्तरत्व की प्राप्ति होगी । अर्थात् यदि सामान्य ज्ञान उत्पन्न होकर (सामान्यरूप से विषय को प्रकाशित करके)

अधिक की आकांक्षा करता है (विशेष रूप से प्रकाश करना चाहता है) तब तो विरम्य व्यापारापत्ति होगी (जन्मरूप ही व्यापारवाली बुद्धि की पुनर्जन्मापत्ति होगी। यदि स्वयं उत्पन्न हुए बिना सामान्य बुद्धि विशेष ज्ञान को उत्पन्न करती है, तो व्याप्तिबल से सिद्ध सामान्यज्ञानरूप एक प्रमाण होगा और पक्षधर्मता आदि से सिद्ध विशेषविषयक प्रमाणान्तर होगा। यदि कहा जाय कि सामान्य प्रतीति की अनुपपत्ति नहीं है, अतः उक्त दोष भी नहीं है, किन्तु विशेषविषयत्व की ही पर्वतवृत्तित्वादि विशेषान्तर के बिना अनुपपत्ति है, तो उस विशेष की भी विशेषान्तर के बिना अनुपपत्ति होने से अनवस्थारूप अतिप्रसंग होगा। यदि व्याप्तिबल से सामान्य व्यापक का ज्ञान हो, पक्षधर्मता से विशेष का भी ज्ञान हो, तो पक्षधर्मता से साध्यव्यक्ति का भेद (विशेष) सिद्ध होगा ही, तो पर्वत में वह्नि की अनुमिति करके पीछे पास में जाने पर जो अनेक अग्नि को देखने पर संशय होता है कि न मालूम इसमें किस अग्नि को अनुमान से समझा था, यह संशय नहीं होना चाहिए। विशेष का ज्ञान संशय तथा भ्रम का प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार गृहान्तरगतपुरुष जो शब्द से अनुमिति करके पीछे वहाँ जाकर दो पुरुष को देखने पर संशय करता है कि इन दोनों में से किसको अनुमान से समझा था यह संशय उसे नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि प्रथम अनुमान से साक्षात्कार विशेष का नहीं होने से संशय होता है, तो यह कहना नहीं बनता, प्रथम अनुमित विशेष का ही पीछे विशेषदर्शी को वहाँ संशय नहीं होना चाहिये और होता है। अतः अनुमान सामान्यविषयक होता है। वहाँ पक्षता आदि की अनिरुक्ति से अनुमिति की अनिरुक्ति के कारण कल्पित प्रमाणत्व है ॥ २५१ ॥

उपमानमपि किमुच्यते सादृश्यज्ञानमुपमानमित्येके तन्न स्मृतावपि प्रसङ्गात्। अनुभव इत्यभिधाने च सदृशाविमावितीन्द्रियजेपि प्रसङ्गात्। सोपि गवयो गवा सदृशो गवयत्वात् गवयान्तरवदित्यनुमानस्यापि तथात्वापत्तेः। एवमाप्तोक्तिजेपि। किञ्चोपमितिलक्षणमिदं उपमितिकरणलक्षणं वा स्यान्नाद्यः सादृश्यस्योपमेयतापत्तेः। सदृशेचोपमेयव्यवहारोस्ति चन्द्रोपमेयं मुखमित्यादि। सदृशमितिः सा—इति चेन्न, अक्षादिकरणासम्भवे तदुदाहरणासिद्धेः। नापि द्वितीयः सादृश्यज्ञानस्य सर्वस्यासम्भवत्प्रमाणान्तरव्यापारफलजनकताया दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥ २५२ ॥

'स्मृतावि'ति। सादृश्यस्मृतावित्यर्थः। सादृश्यगोचरः परोक्षानुभवश्चेद्विवक्षितस्तत्राह—सोपीति। तथात्वेति। उपमानत्वापत्तेरित्यर्थः। एवमिति। गोसदृशो गवय इत्यादि शब्दजन्यानुभवस्याप्युमानत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। 'सादृश्यस्येति। सदृशो धर्मी लोक उपमेयो न सादृश्यमित्यर्थः। तदेवाह—सदृश'इति। सेतीति। उपमितिरित्यर्थः। अक्षादीति। प्रत्यक्षेण या सदृशमितिः प्रमा सा तावन्नोपमितिस्तत्र साक्षात्त्वानुभवात्। एवमनुमितिशाब्दज्ञानयोरपि वाच्यम् तदतिरिक्ता च मितिर्नास्त्येव योपमितिः स्यादित्यर्थः। सादृश्यज्ञानस्येति। सादृश्यज्ञानं तदा पृथक् प्रमाणं स्याद्यदि क्लृप्तप्रमाणव्यापारापेक्षया विलक्षणोऽस्य व्यापारः स्यादेवं तत्फलापेक्षया विजातीयं फलं स्यादथवा प्रमाणान्तरासङ्कीर्णो विषयः स्यात् नचैवमित्यर्थः ॥ २५२ ॥

उपमान का लक्षण भी दुर्वाच्य है। कोई सादृश्यज्ञान को उपमान कहते हैं, यह युक्त

नहीं है, क्योंकि सादृश्य की स्मृति भी सादृश्य का ज्ञान है, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि उसको उपमितिकरणरूप उपमान (उपमीयतेऽनेनेति-उपमानम्) इसके अनुसार मान भी लें, तो उसका कोई अनन्तरभावी फल नहीं देखा जाता है। स्मृति प्रमारूप भी नहीं है कि वह उपमिति प्रमा कहला सके। यदि कहा जाय कि सादृश्य का अनुभव उपमान है, अतः स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं है, तो भी 'यह यज्ञदत्त देवदत्त सदृश है, इस प्रकार के इन्द्रियजन्य ज्ञान में भी अतिव्याप्ति होगी, और 'वह गवय = रीक्ष भी, गवय होने से, गोसदृश है, गवयान्तर के समान' इस अनुमान में अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार आप्तवाक्यजन्य सादृश्यज्ञान में (तत्त्वापत्ति) उपमानत्वापत्ति होगी। उदाहरण के लिए जहाँ ('गोसदृश गवय होता है') ऐसे वाक्यजन्य सादृश्यज्ञान में। और विचारणीय यह है कि (सादृश्यज्ञानमुपमानम्) यह लक्षण उपमिति का है या उपमितिकरण का ? भाव और करणार्थ की विवक्षा से दोनों अर्थ में उपमान शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ आद्य पक्ष नहीं माना जा सकता, अर्थात् उपमिति का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सदृश का ज्ञान उपमान प्रमाण हो जायगा और सादृश्य के ज्ञान उपमिति होने से उस का विषय उपमेय होगा। परन्तु सादृश्य में उपमेयत्व लोकव्यवहार से विरुद्ध होगा, क्योंकि सदृश में उपमेयत्व व्यवहार लोक में होता है।—चन्द्ररूप उपमा वाला = चन्द्रसदृश मुख इत्यादि। यदि कहा जाय कि सादृश्य सदृश का ही बोधक है अतः ('सदृश का अनुभव प्रमिति उपमान है') यह उक्त लक्षण का तात्पर्य है। यहाँ अनुभव पद से स्मृति में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती तो भी इन्द्रियादि अनुभव करण के नहीं रहते (इन्द्रिय शब्द के असम्भव स्थान में) उस उपमानप्रमा के उदाहरण की असिद्धि से उस के लिये उपमान प्रमाण नहीं हो सकता। कारण यह है कि इन्द्रियादि से ही सदृश के प्रत्यक्षादि ज्ञान होते हैं, उपमान से नहीं। 'सादृश्यज्ञानमुपमानम्' यह उपमिति के करण का लक्षण है, परन्तु यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि जिस प्रमितिरूप फल में प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर के व्यापार की जनकता का असम्भव हो, अर्थात् प्रमाणान्तर के व्यापार से जो नहीं हो सकता हो, ऐसे सभी सादृश्यज्ञान अशक्य हैं। अर्थात् सब सादृश्यज्ञान प्रमाणान्तर के व्यापार से ही होते हैं। सदृशज्ञानजन्य ज्ञान मात्र का विषय कोई सादृश्य नहीं है जिस के ज्ञान के करण को सदृशज्ञानरूप उपमान प्रमाण कहा जा सके॥ २५२॥

नच सादृश्यमनुगतमेकमस्ति, मुखसादृश्यस्य हस्तसादृश्यस्य च परस्परभेदेनैवोपलम्भात्। नच सादृश्यरूपत्वमनुगतं तेष्वपीत्यदोषः तथापि सादृश्येन सह सादृश्येऽनेकस्थत्वादौ सादृश्यरूपत्वाश्रिते सादृश्यरूपत्वस्याश्रयणाभ्युपगमे परस्पराश्रयभावोऽनभ्युपगमे चाननुगमः। तयोः सादृश्यानभ्युपगमेऽन्यत्रापि तथात्वापत्तिः। किञ्च वैधर्म्यप्रतिपत्तेरपि प्रमाणान्तरत्वमेवं स्यादविशेषात्। एवमेवाभ्युपगमे च परिगणितप्रमाणाधिक्यप्रसङ्गो वा सादृश्यबुद्धेरपि वा परिगणितेष्वेवान्तर्भावः स्यादिति॥ २५३॥

सादृश्यज्ञानमुपमानं सादृश्यभेदेनाननुगतं स्यादित्याह—नचेति। मुखेति। आह्लाद-

करत्वकोमलत्वारुणत्वादीनां भेदादित्यर्थः। नानासादृश्यगतं सादृश्यत्वमपि धर्मोऽनुगतो नास्तीत्याह—नचेति। तथापीति। सादृश्येषु यदेकं सादृश्यत्वमनुगतं वाच्यं तत्रापि सादृश्यत्वेन सहानेकवृत्तित्वादिना सादृश्यमस्त्येवेति सादृश्ये सादृश्यत्वं तत्र च सादृश्यत्वे सादृश्यमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। अनेन भयेन यद्येकं सादृश्यत्वं नाभ्युपेयं तदाननुगम इत्याह—'अनभ्युपगमेचेति। अथ सादृश्यसादृश्यत्वयोर्न सादृश्यं तदा सादृश्यबुद्धेरविशेषात् मुखचन्द्रयोरपि सादृश्यं न स्यादित्याह—तयोरिति। किंचेति। धिक्करभमतिदीर्घग्रीवं प्रलम्बोष्ठं कठोरकण्टकाशिनमपसदं पशूनामिति पश्वन्तरवैधर्म्यज्ञानवतोऽप्यमसौ करभपदवाच्य इति प्रमितिरस्ति तत्कारणं प्रमाणान्तरं स्यादित्यर्थः॥ २५३॥

और सदृशगत सादृश्य एक अनुगत नहीं है। मुखगत चन्द्रसादृश्य दीप्तिमत्त्व, आह्लादकत्वादि, हस्तगत कमलसादृश्य, कोमलत्व एवं रक्तत्वादि परस्पर विलक्षण हैं, क्योंकि हस्त और मुख के सादृश्य का परस्परभेदपूर्वक ही ज्ञान होता है, अतः सादृश्य के अननुगत होने से उससे युक्त लक्षण भी अनुगत नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि हस्तमुखादिगत उन सादृश्यों में भी सादृश्यरूपत्व एक अनुगत धर्म रहता है। अतः सादृश्यत्वयुक्त का अनुभव उपमान है, ऐसा अनुगत लक्षण होने से दोष नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि सादृश्य के दो में रहने से उसमें अनेकस्थत्व है और सादृश्यत्व भी अनेकस्थ होगा। यहाँ सादृश्यरूपत्वाश्रित (सादृश्यरूपत्व में रहने वाले) अनेकस्थत्वादिरूप सादृश्य में सादृश्य के साथ सादृश्यरूपत्व के आश्रयण मानने पर अन्योन्याश्रय होगा, क्योंकि सादृश्यरूपत्व में अनेकस्थत्व और अनेकस्थत्व में सादृश्यरूपत्व की प्राप्ति होगी, और सादृश्य तथा सादृश्यरूपत्व के अनेकस्थत्वरूप सादृश्य में सादृश्य नहीं मानने पर अन्यत्र (मुख चन्द्रादि में)भी सादृश्य धर्माभाव की प्राप्ति होगी। और सादृश्य ज्ञान को प्रमाणान्तर मानने पर वैधर्म्य (विरोधी धर्म) के ज्ञान को भी पञ्चम प्रमणान्तरता की प्राप्ति होगी। ज्ञान साधर्म्य से वैधर्म्य ज्ञान में विशेष (भेद) नहीं है, विलक्षण विषयता दोनों में तुल्य है। यदि ऐसा ही मान लें कि वैधर्म्य का ज्ञान भी प्रमाणान्तर है, तो परिगणित चार प्रमाण से अधिक पञ्चम प्रमाण की प्राप्ति होगी। यदि वैधर्म्यज्ञान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव मानें, तो सादृश्य ज्ञान का भी परिगणितप्रत्यक्षादि में ही अन्तर्भाव होगा ॥२५३॥

अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमितिरुपमानमित्यपि न, आप्तवाक्यादपि तथा प्रतीतेः, यत्र तद्व्यापारो नास्ति—इति चेन्न, स चायं चाभिन्नावितिवत् स चायं च सदृशाविति पूर्वप्रतीतस्य प्रतीयमानेन सहेन्द्रियकसादृश्यप्रतीतावपि प्रसङ्गात्। इन्द्रियासम्पृक्तस्य—इति चेन्न, प्रत्यक्षतो गोगवयशादृश्यं प्रतीत्य सापि च गौर्गवयेन सदृशो गोत्वादियमित्यनुमितावपि प्रसङ्गात्। अलिङ्गजापि—इति चेत्, नन्वेवं प्रत्यक्षानुमानशब्दानुत्थत्वे सतीत्युक्तं स्यात् तथाच विशेषणमेव समर्थमित्यप्रतीयमानस्येत्यादि व्यर्थम्। नोपादेयमेव पदान्तरम्—इति चेन्न, अर्थापत्तेरवश्यम्भावात् तेन सार्द्धमेतत्सादृश्यस्यानेन सार्द्धं तत्सादृश्यव्यतिरेकेणानुपपद्यमानत्वात् अन्यथावैधर्म्यप्रत्ययोत्पत्तिविषयं प्रमाणं प्रमाणान्तरमापद्येत तस्मादयं ह्रस्व इति प्रतीतेरस्मात्स दीर्घ इति वा अन्यथा कतमा प्रमा स्यादर्थापत्ति प्रमाणान्तरमनिच्छतापि इयमर्थापत्तिरनुमाने वान्तर्भाव्या पृथक्प्रमाणीकर्त्तव्या वा॥ २५४॥

शावरमुपमानं शङ्कते—अप्रतीयमानस्येति। सा गौरेतत्सदृशीति परोक्षधर्मिकसादृश्यज्ञानमुपमानमित्यपि नेत्यर्थः। तद्व्यापार इति। शब्दव्यापार इत्यर्थः। स चायं चेति। यद्यपि तत्र तत्तेदन्ताविशिष्टस्य धर्मिण एकत्वमिति भवति विशेष्यसन्निकर्षात्तादृशं प्रत्यक्षं प्रकृते विशेष्यभेदान्न तादृशप्रत्यक्षसम्भवस्तथापि विशेष्यसन्निकर्षमात्रं प्रत्यक्षे तन्त्रं नतु यावद्विशेष्यसन्निकर्षोपि अन्यथा भ्रान्तविपरीतप्रत्यभिज्ञानं न स्यादिति भावः। इन्द्रियव्यापारं विना यदसन्निकृष्टे सादृश्यज्ञानं तदुपमानमितिशङ्कते--इन्द्रियेति। विशेषणमेवेति। प्रत्यक्षाद्यजन्यत्वे सत्यप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सादृश्यप्रमितिरुपमितिरित्यत्र विशेषणमात्रस्यैव लक्षणत्वमुचितमित्यर्थः। अर्थापत्तेरिति। अर्थापत्त्यैव प्रकृतफलसिद्धेः किमुपमानेनेत्यर्थः। तामेव दर्शयति--तेनेति। अन्यथा तद्विधर्मायमिति प्रतीत्यनन्तरमेव तद्विधर्मा स इत्यपि प्रमाणान्तरफलं स्यादित्याह--अन्यथेति ॥ २५४ ॥

अप्रतीयमान का प्रतीयमान के साथ सादृश्य की प्रतीति उपमान है, ऐसा मीमांसक कहते हैं, उनका भाव यह है कि जो ग्रामवासी गौ को जानने वाला मनुष्य बन में जाकर गवय को देखकर प्रथम गवय को नेत्र से अपने गौ के सदृश समझकर, फिर अपने गौ को भी गवय के सदृश समझता है, वहां गोगतसादृश्य का ज्ञान वनस्थ पुरुष को नेत्र से तो हो नहीं सकता, किन्तु प्रत्यक्ष प्रतीयमान गवय सादृश्य से प्रत्यक्ष अप्रतीयमान गोगतसादृश्य को समझता है वह उपमिति होती है। और गवयगत सादृश्यज्ञान उपमान प्रमाण होता है। परन्तु यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आप्त वाक्य से भी जन्य वैसी प्रतीति होती है, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् वनवासी आप्तपुरुष ग्राम में कहे कि गौ के सदृश गवय होता है, प्रतीयमान गौ के साथ प्रत्यक्षरूप से अप्रतीयमानगवयगतसादृश्य को वाक्य से समझने पर वह उपमिति होगी। यदि कहा जाय कि जहाँ वाक्य का व्यापार (प्रयोगशक्ति ज्ञानादि) नहीं हो, वहाँ उक्त लक्षणवाली उपमिति होती है, तो भी वह और यह दोनों अभिन्न हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा के समान जहाँ वह और यह सदृश हैं, इस प्रकार से पूर्वज्ञात का प्रतीयमान के साथ ही इन्द्रियजन्य सादृश्य प्रतीति होती है उसमें अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वहाँ भी दृश्यमान के सादृश्य का अदृश्यमान में प्रत्यभिज्ञा है। यद्यपि जहां एक व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा हो वहाँ अदृश्यमान नहीं रहता है, तथापि वह गृहगत गौ और यह बन गवय सदृश हैं, ऐसी प्रतीति जहाँ संस्कारसहित इन्द्रिय से होती है, वहाँ पूर्वप्रतीत गौ का प्रतीयमान के साथ सादृश्य भासता है। यदि इन्द्रियसम्बन्ध रहित की उक्त प्रतीति को उपमिति कहें, तो भी प्रथम प्रत्यक्षप्रमाण से गौ और गवय के सादृश्य को जानकर वह पूर्व दृष्ट गौ भी गोत्वात् गवय के सदृश है, जैसे यह प्रत्यक्ष गौ सदृश है। इस अनुमान में अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि लिङ्ग जनित भी नहीं हो इत्यादि, तो ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि ऐसा कहने से तो यही कथित होगा कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द से अजन्य हो, और ऐसा होने पर प्रत्यक्षादि से अजन्यत्वरूप विशेषण ही लक्षण सिद्धि के लिये समर्थ है, अतः प्रत्यक्षादि से अजन्य ज्ञान उपमान है इतना ही कहना चाहिये, क्योंकि अप्रतीयमानस्य इत्यादि विशेष्य व्यर्थ हैं। यदि कहा जाय कि विशेष्यभागरूपपदान्तर तो उपादेय नहीं है, परन्तु उसको त्याग कर प्रत्यक्षानुमानशब्दाजन्य सादृश्यप्रमिति उपमान है, यह लक्षण मन्तव्य है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसे स्थान में अर्थापत्ति का अवश्य अव-

श्यंभाव (सत्व) रहता है, उसी से सादृश्यज्ञान होता है, उपमानप्रमाण और प्रमिति की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि उस परोक्ष गौ के साथ इस प्रत्यक्ष गवय के सादृश्य की, इस प्रत्यक्ष गवय के साथ उस परोक्ष गौ के सादृश्य के बिना अनुपपद्यमानता होती है। अतः जैसे अनुपपद्यमान पीनता दिवाऽभोजी के रात्रिभोजन की कल्पना कराती है, वैसे अनुपपद्यमानगवयगतसादृश्यगोगतसादृश्य की कल्पना (ज्ञान) कराता है। अन्यथा (यदि यहाँ अर्थापत्ति नहीं मानें प्रमाणान्तर माने), तो प्रतीयमान के साथ अप्रतीयमान के वैधर्म्य के ज्ञानोत्पत्तिविधायक प्रमाणान्तर की प्राप्ति होगी और इसी प्रकार अर्थापत्ति को नहीं मानने पर, उससे यह ह्रस्व है, इस प्रतीति से इससे वह दीर्घ है, यह अन्य प्रकार की प्रमा होगी। वह कौन प्रमा होगी? अतः ह्रस्वत्व की अनुपपत्ति को ही दीर्घ ज्ञान का हेतु मानना होगा। अत एव अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर नहीं मानने वाले को भी अर्थापत्ति को अनुमान के अन्तर्गत करना होगा। उसके स्वरूप का अपलाप तो किसी से भी नहीं किया जा सकता। और वस्तुतः व्यापक विषयक अनुमिति होती है, और उपपादकविषयक बुद्धि अर्थापत्ति होती है, अतः लक्षण के भेद से पृथक् प्रमाण स्वीकर्तव्य है ॥ २५४ ॥

एतेनाप्रतीतगवयगवान्तरसादृश्यस्य दृष्टान्ताभावेनानुमानासम्भवात् गवयेनानेन सदृशी सा गौरिति मितिरुपमितिरित्यपि व्युदस्तम् तयैतत् सादृश्यास्यैतेन तत्सादृश्यं विनानुपपत्त्यैव सिद्धेः। अनवगतसङ्गतिसञ्ज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्य संज्ञिन्यनुसंधानमुपमानमित्यपि न प्रस्मृतसङ्गतेरेवम्भूतोयमित्यव्यापनात्। अस्मृतसङ्गतीत्यभिधेयम्—इति चेन्न, अनुभूतस्मृतकालान्तरप्रस्मृतसङ्गतेरव्यापनात्। अस्मर्यमाणा—इति चेन्न, कदाचिदस्मर्यमाणतायास्तत्रापि सम्भवात् सर्वदा अस्मर्यमाणतायाः क्वचिदप्यसम्भवात्। उपमितिप्राक्काले—इति चेत्, स्यादप्येतद्यद्युपमितिर्लक्षिता स्यात् तदर्थमेव तु क्रन्दनमिदं भवतः। किञ्च सर्वैरनवगतसङ्गतित्वस्य प्रकृतेव्यसिद्धेः। केनाप्यनवगतसङ्गतित्वस्य वाक्यजेपि सम्भवात्। उपमात्रेति च पूर्ववन्निरस्तम्। यस्याः प्रमितेर्येन प्रमात्रेति चाभिधानेनुगतरूपाभावाद्व्यक्तौ पतनेन लक्षणाननुगत्यापत्तेः ॥ २५५ ॥

ननु येन गवान्तरगवयान्तरसादृश्यं न प्रतीतमस्ति तस्य सा गौरेतत्सदृशी गोत्वादित्यनुमानं न सम्भवति दृष्टान्ताभावादतः सैवोपमितिरित्यपि निरस्तमर्थापत्तित एव तत्फलसिद्धेरित्याह--एतेनेति। अतिदेश्यमाह--तयेति। आचार्यलक्षणं दूषयति--अनवगतेति। अनवगता सङ्गतिर्यस्याः सञ्ज्ञायाः सा तथा तत्समभिव्याहृतं यद्वाक्यं गोसदृशो गवय इति रूपं तदर्थस्य सञ्ज्ञिनि गवये प्रत्यक्षे यदनुसन्धानमयमसौ गवयपदवाच्य इति सैवोपमितिः प्रत्यक्षाद्यसाध्यत्वादित्यर्थः। प्रस्मृतेति। तत्रानवगतत्वाभावादित्यर्थः। अननुभूतेति। तत्रास्मृतत्वाभावादित्यर्थः। दोषान्तरमाह--सर्वैरिति। पूर्ववदिति। उपमितिनिरूप्यत्वात्तस्येत्यर्थः ॥ २५५ ॥

अर्थापत्ति से ही अप्रतीयमानगत सादृश्य के ज्ञान होने से यह वक्ष्यमाण कथन व्युदस्त है। कोई कहते हैं कि जिसको गवय और अन्य गौ का सादृश्य प्रथम से ज्ञात नहीं है, उसको दृष्टान्त के अभाव से अनुमान के असम्भव होने से, इस प्रत्यक्ष

गवय के सदृश वह परोक्ष गौ है, यह ज्ञान उपमिति होती है परन्तु उस परोक्ष गौ के साथ इस गवय की सदृशता (सादृश्य) की इस गवय के साथ उस गौ के सादृश्य के बिना अनुपपत्ति से ही उस सादृश्य ज्ञान की सिद्धि हो जाती है, अतः उपमान की आवश्यकता नहीं है। नैयायिक कहते हैं कि जिस संज्ञा (नाम) की सङ्गति (संकेत-शक्ति) प्रथम से अवगत (ज्ञात) नहीं हो, उस संज्ञा सहित समभिव्याहृत (उच्चारित) वाक्य के अर्थ का प्रत्यक्ष संज्ञी में अनुसंधान (चिन्तन योजन) उपमान है। अर्थात् गवय शब्द के अर्थ को नहीं जानने वाला किसी वनवासी से (गो सदृशगवय होता है) इस वाक्य को सुन कर वन में जाने पर उस श्रुत वाक्य के अर्थ के चिन्तन से गवय शब्द के अर्थ को वहाँ समझता है, यही उपमिति प्रमा है, परन्तु यह लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि जिस संज्ञा की सङ्गति अवगत हो, परन्तु प्रस्मृत (विस्मृत) हो गई हो, वहाँ भी ऐसी अनुसंधानरूप उपमिति होती है, परन्तु अवगत होने से लक्षण की अव्याप्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि अनवगतसङ्गति के स्थान में अस्मृत सङ्गति कहना चाहिये अर्थात् जिस संज्ञा का संकेत अस्मृत हो उससे युक्त वाक्यार्थ का संज्ञी में अनुसंधान उपमिति है, अतः अनवगत नहीं होते भी अस्मृत होने से लक्षण का समन्वय हो जाता है। तो यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ संगति (संकेत) अनुभूत (अवगत) हुई फिर कभी स्मृत होकर कालान्तर में विस्मृत हो गई हो, उस विस्मृति वाले को भी तादृश अनुसंधानरूप उपमिति होती है, परन्तु अस्मृतता के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि कहें कि अस्मर्यमाण (वर्तमानस्मरण का अविषय) जिस संज्ञा की संगति हो, उस संज्ञा से युक्त वाक्यार्थ का संज्ञी में अनुसंधान उपमान है। अतः उक्त स्थान में वर्तमान स्मरण के अभाव से अव्याप्ति नहीं है। परन्तु जिज्ञासा होती है कि कदाचित् अस्मर्यमाण सङ्गति विवक्षित है ? या सर्वदा अथवा उपमिति पूर्वकाल में यदि कदाचित् अस्मर्यमाणता (कदाचित् वर्तमान स्मरण की अविषयता) विवक्षित हो, तो उक्त अनुभूत स्मृत विस्तृत स्थान में भी कदाचिद् अस्मर्यमाणता से कदाचित् स्मर्यमाणता भी है, अतः वर्तमान स्मरण की विषयता से अव्याप्ति होगी। और सर्वदा अस्मर्यमाणता कहीं लक्ष्य में भी सम्भव नहीं है, क्योंकि संगतिज्ञान के बाद अवश्य उसका स्मरण हो सकता है। यदि उपमिति से पूर्वकाल में अस्मर्यमाणत्व विवक्षित है, ऐसा कहें, तो यह हो सकता था, यदि उपमिति लक्षित (ज्ञात) होती उसी के लिये तो यह आप का क्रन्दन (आक्रोश = आह्वान) हैं। सब से अनवगत सङ्गतित्व प्रकृत उपमिति में भी असिद्ध है। किसी विशेष मनुष्य से अविदित सङ्गतित्व का सम्भव वाक्य जन्य ज्ञान में भी रहता है, अतः सब से अविदितत्व की विवक्षा में असम्भव होगा, और दूसरे पक्ष में अतिव्याप्ति होगी। यदि उपमिति कर्ता से अविदित सङ्गति का लक्षण में प्रवेश करें, तो अभी उपमिति लक्षित नहीं हुई है, अतः उसका लक्षण में प्रवेश नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि जिस प्रमाता ने जिस संज्ञा की सङ्गति को नहीं समझा है, उस संज्ञा से युक्त वाक्य के अर्थ का उस प्रमाता से संज्ञा में अनुसंधान को उपमिति कहते हैं, तो यत् तत् शब्द के विशेष परक होने से अनुगतरूप के अभाव से व्यक्ति में लक्ष्य के पतन (प्राप्ति) से उसकी अननुगति (अव्याकता) होगी ॥ २५५ ॥

सञ्ज्ञेत्यपि व्याकुलं गोसदृशो गवयः प्रायः कानने महति द्रक्ष्यते इति श्रुतवाक्यस्य काननपदाविदितसङ्गतेः गवयपदविदितसङ्गतेश्च सञ्ज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिफलायामीदृशप्रतिपत्तौ गतत्वेनातिव्यापकत्वात् । विनापि वा प्रायः शब्दमभिहितस्य तस्यानुसन्धाने प्रसङ्गः तत्र काननसञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धावधारणेऽप्यन्यत्रेव पदान्तरसम्बन्धोत्थाया अन्यथानुपपत्तेः प्रमाणत्वाच्च तूपमानस्य । उपमेयसञ्ज्ञासमभिव्याहृतेति विशेषणे च पूर्व एव निरासः । वाक्यार्थेत्यपि तादृगेव प्रतिपत्तिकालास्मृतातिदेशवाक्यगतकाननादिपदार्थस्य तथाविधप्रत्ययाव्यापनात् ॥ २५६ ॥

प्रकारान्तरेणातिव्याप्तिमाह--'सञ्ज्ञेत्यपी'ति । प्रायः पदं बाहुल्यवाचि व्याप्तिपरतां वाक्यस्य व्यनक्ति तथाचेदं काननं गवयाधारत्वादित्यनुमितौ लक्षणमिदं गतमित्यर्थः। यत्रापि प्रायः पदं नास्ति तत्रापि यथेह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिवतीति प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यान्मधुकरसञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धपरिच्छेदवत्काननसञ्ज्ञापरिच्छेदे गतत्वादतिव्याप्तिरित्याह--विनापीति । त्वयाप्युपमानादस्य भेदाङ्गीकारादित्यर्थः । अन्यत्रेवेति । गोसदृशो गवय इत्यत्र यथा सङ्गतिग्रहस्तथात्रापि प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या सङ्गतिग्रहेतिव्याप्तिरित्यर्थः । ननूपमेयसञ्ज्ञाया अनवगतसङ्गतित्वं विवक्षितं प्रकृते च काननसञ्ज्ञाया अनवगतसङ्गतित्वं काननं च नोपमेयमित्यत आह—उपमेयेति । पूर्व एवेति । उपमेयत्वस्योपमितिगर्भतयाद्यापि तदनिरुक्तेरित्यर्थः । तादृगेवेति। आकुलमेवेत्यर्थः । तदेवाह—प्रतिपत्तीति । गवयाव्युत्पन्नं प्रति काननान्तर्भावेन प्रवृत्तमतिदेशवाक्यं काननपदबहिर्भावेन स्मर्यमाणं यत्र गवयसञ्ज्ञाप्रतिपत्तिफलकं तत्राव्याप्तिः समग्रवाक्यार्थानुसन्धानाभावादित्यर्थः ॥ २५६ ॥

लक्षणगत अनवगतसङ्गति की अयुक्तता कही गई है। अब संज्ञा पद की अयुक्तता कही जाती है। संज्ञा पद भी व्याकुल (अनवस्थ) है, क्योंकि (गोसदृश गवय प्रायः महत् कानन में देखा जाता है) इस वाक्य को जिसने सुना हो, और काननपद की सङ्गति (शक्तिरूप सम्बन्ध) को नहीं जानता हो, केवल गवयपद की शक्ति को जानता हो तो उस को संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतिपत्ति (ज्ञान) रूप फल वाली ऐसी उपमिति के सदृश प्रतिपत्ति (अनुमिति) होती है: (इदं काननं गवयाधारत्वात्) यह वन है, क्योंकि गवय का आश्रय है। उक्त वाक्य में प्रायः पद बाहुल्य वाचक है वह वाक्य को व्याप्ति परक कर देता है, और कानन संज्ञा को संज्ञी के संबन्धबोध से इसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि अविदितसङ्गति वाला काननपदयुक्त वाक्यार्थ का अनुसंधान यहाँ भी होता है। और प्रायः पद के बिना भी उस वाक्यार्थ के अनुसंधान में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि आप भी वहाँ उपमिति नहीं मानते हैं और लक्षण की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि प्रायः पद के अभाव काल में अनुमिति और उपमिति दोनों की अभाव दशा में कानन पद की शक्ति कैसे ज्ञात होगी, तो इसका उत्तर यह है कि अन्यत्र (गोसदृशो गवयः) इस वाक्य के समान, काननसंज्ञासंज्ञि के संबन्धज्ञान में भी (इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति) इस खिले हुए कमल मध्य में मधु को मधुकर पीता है इस वाक्य में मधुकर शब्द के अर्थ को नहीं जानने वाला भी कमल में मधुपीते हुए भँवर को देखकर मधुकरपद की शक्ति समझ जाता है। वैसे ही यहाँ प्रसिद्ध अर्थ वाले अन्यगवयमहति आदि पद के

साथ सम्बन्ध से उत्पन्न अन्यथा अनुपपत्ति को कानन की शक्ति ज्ञान के लिये प्रमाणत्व है, उपमान को नहीं। अर्थात् द्रष्टा समझता है कि यदि कानन पद का यहाँ वन अर्थ नहीं हो, तो इन पदों के साथ इसका कथन असंगत होगा। फिर इसको वन वाचक समझ जाता है। यदि इन दोषों को हटाने के लिये कहा जाय कि उपमेय संज्ञासहित वाक्यार्थ का संज्ञी में अवधारणा उपमान है, तो उपमिति के निरुपण के बिना तद्युक्त उपमेय के अनिरूपण से इसका भी खण्डन हो जाता है।

संज्ञा के समान लक्षणगत वाक्य पद भी व्याकुल ही है, क्योंकि प्रथम (गोसदृश-गवय प्रायः महा वन में देखा जाता है) ऐसा वाक्य जो पुरुष ग्राम में सुना और समझा भी परन्तु वन में जाने पर गवय को देखने पर भी उनकी प्रतिपत्ति (वाक्यार्थानुसंधान) काल में किसी कारण वश अतिदेश वाक्यगत काननादि पदों के अर्थों को भूल जाने के कारण वाक्यार्थ का अनुसंधान नहीं करके गोसदृश गवयवाले का अनुसंधान किया, तो वहाँ वाक्यार्थ के अनुसंधान नहीं होने से लक्षण की अव्याप्ति है। गोसदृश गवय वाक्यार्थ का एक देश है, वाक्यार्थ नहीं। सादृश्य बोधक वाक्य को अतिदेश वाक्य कहते हैं ॥ २५६ ॥

वाक्यार्थैकदेशस्यापि वाक्यार्थत्वेन विवक्षितत्वे सदृशो गवय इत्यादिस्मारिणोपि प्रत्यये प्रसङ्गात्। प्रतीत्युत्पत्तिं प्रति प्रयोजकीभूतं यावत्तावद्वाक्यं विवक्षितम्—इति चेन्न, अन्तर्भावितवनाधिकरणतादृशप्रतीतिं प्रति तस्यापि प्रयोजकत्वात्, उपमितिं प्रतीति तु पूर्वन्निरस्तमिति यावत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धबुद्ध्यौपयिकं तावद्विवक्षितम्—इति चेन्न, लक्षणसहचरितसञ्ज्ञोपदेशार्थानुसन्धानेपि प्रसङ्गात् ॥ २५७ ॥

वाक्यैकदेशार्थानुसन्धानस्यापि यद्युपमानत्वं तदा गोपदमस्मृत्वा सदृशो गवय इति मात्रं यत्रानुसन्धत्ते तत्रातिव्याप्तं करणलक्षणमित्याह—वाक्येति। सदृशो गवय इति मात्रानुसन्धानं न प्रतीतिहेतुरिति नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—प्रतीतीति। तर्हि काननान्तर्भावेनापि यदतिदेशवाक्यं तत्रापि कानन।धिकरणगवयस्य गवयपदवाच्यत्वबुद्धौ काननपदमपि प्रयोजकमेवेति तदननुसन्धानस्थलोपमितावव्याप्तिरेवेति परिहरति—अन्तर्भावितेति। ननु तथाप्युपमितिं प्रति गोसदृशो गवय इत्येव प्रयोजकं काननपदं त्वधिकमेवेति न प्रयोजकमित्यत आह—उपमितिं प्रतीति। उपमितिरेव सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धबुद्धित्वेनाभिधेयेति नात्माश्रय इति शङ्कते—यावदिति। गन्धवती पृथिवीतिवाक्यात् सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धपरिच्छेदानन्तरं यत्र पुनः प्रत्यक्षेण तदर्थानुसन्धानं तत्रातिव्याप्तिरिति परिहरति—लक्षणेति। उपदेशः कथनम् ॥ २५७ ॥

यदि गो सदृशो गवयः इत्यादि वाक्यगत काननादिपदपदार्थ के विस्मरण दशा में (गो सदृशो गवयः) इस अनुसंधान में अव्याप्ति वारण के लिये वाक्यार्थ के एक देश को भी वाक्यार्थरूप से विवक्षितत्व हो, तो (सदृशो गवयः) इत्यादि स्मरण (चिन्तन) करने वाले के ज्ञान में भी अतिव्याप्ति होगी। उस ज्ञान को उपमिति नहीं मान सकते, सादृश्य प्रतियोगी के बिना उपमानत्व नहीं हो सकता। प्रतिपत्ति (ज्ञान) की उत्पत्ति के प्रयोजक (कारण) स्वरूप जितने हैं, उतने वाक्य वहाँ विवक्षित हैं, और उनके अर्थ का अनुसंधान उपमान है, (सदृशो गवयः) यह प्रतीति की उत्पत्ति का

हेतु नहीं है किन्तु (गो सदृशो गवयः) यह प्रतीति की उत्पत्ति का हेतु है, अतः अतिव्याप्ति तथा अव्याप्तिरूप दोष नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान में पद-पदार्थ का ज्ञान हेतु होता है। अतः वनाधिकरणवाली जो तादृश गोसादृश्य की प्रतीति उस में (गवयः सदृशः) इस को भी प्रयोजकत्व है अतः इसमें अतिव्याप्ति होगी तथा अन्तर्भावित वन अधिकरणता वाली सादृश्य प्रतीति में उस वन (कानन) आदि पद को हेतुत्व है, अतः उस के अननुसंधान स्थान में अव्याप्ति होगी। यदि कहें कि उपमिति के प्रति जितना प्रयोजक हो, उस वाक्यार्थ का अनुसंधान उपमान है केवल (सदृशो गवयः) उपमिति का प्रयोजक नहीं है और उक्त वाक्य में भी 'महति' एवं'काननादि' पद अधिक हैं (गो सदृशो गवयः) इतना ही अनुमिति का प्रयोजक है, अतः काननादि के अननुसंधान काल में भी अव्याप्ति नहीं हो सकती, तो यह कहना युक्त नहीं, अनुमिति की अनिरुक्ति से यह पूर्व के समान निरस्त है। यदि कहा जाय कि संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध के ज्ञान में जितना औपयिक (उपयोगी साधन) हो, उतने वाक्य विवक्षित हैं, काननादि के इस सम्बन्ध ज्ञान में अनुपयोगी होने से उसके अननुसंधान दशा में अव्याप्ति नहीं है, तो भी अतिव्यप्ति है, क्योंकि लक्षण सहचरित (सहवर्ती) संज्ञा के उपदेशरूपलक्षण वाक्य में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि (गन्धवती पृथिवी) इस लक्षण को सुन कर, गन्धवाली वस्तु को जान कर, वह यह पृथिवी है इस प्रकार लक्षण वाक्यार्थ का अनुसंधान होता है। वहाँ अज्ञात संगति वाला पदयुक्त वाक्यार्थ का संज्ञा में ही अनुसंधान होता है इस को उपमिति नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ केवल व्यतिरेकी अनुमान होता है : पृथिवी, इतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वात्, यन्नैवम्, तन्नैवम्) ॥ २५७ ॥

किंच यदा तर्कानुसन्धानविरहिणः सत्यप्येवंविधानुसन्धाने सादृश्यमेव गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति मितिः फलमुत्पद्यते तदा तस्याप्रमाकरणस्याप्युपमानत्वं चापद्येत। प्रमाफलकमिति विशेषणप्रक्षेपे चानुसहितरूपव्यवहार्यतानुमित्युत्पादेनाप्येतादृशानुसन्धानमुपमानं स्यात्। अव्याप्तविषयप्रमाफलकमिति विशेषणीयम्—इति चेन्न, वस्तुगत्याऽव्याप्तत्वस्योपमेयेऽप्यभावात्। व्याप्ततयानवगम्यमानस्येति च कृते यत् प्रति तल्लिङ्गं तेन सह व्याप्तत्वावगतमुपमितिकरणमपि न व्याप्नुयादुपमेयेन सह व्याप्तत्वानवगतत्वोक्तावप्यनुमाने प्रसङ्गस्तदवस्थः॥ २५८ ॥

व्युत्पत्तिग्रहाय गोसादृश्यं सखण्डत्वेन गुरु गवयत्वं तु जातिरूपतया लघु गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति तर्कोपगृहीतगवयसादृश्यानुसन्धानस्य गवयत्वेन प्रवृत्तिनिमित्तेन गवयपदवाच्योपमितिप्रमाकरणस्य तावदुपमानत्वमपेक्षितं तत्र तर्कानुसन्धानविरहिणो यत्र सादृश्यस्यैव गवयपदप्रवृत्तिनिमित्तताज्ञानं तत्र तत्करणफलयोरुपमानत्वोपमितित्वातिव्याप्तिरित्याह--किञ्चेति। इयमप्रमेति प्रमाफलत्वेन करणं विशेषणमित्याह--प्रमेति। लक्षणवाक्यानुसन्धानानन्तरमियं पृथिवीति व्यवहर्तव्या पृथिवीत्वात् यन्नैवं तन्नैवमिति व्यवहर्तव्यत्वानुमित्यौपयिकेऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। वस्तुगत्येति। उपमेयमपि केनचिद्व्याप्तमित्यसम्भविलक्षणं भवेदित्यर्थः। व्याप्ततयेति। उपमितिकरणस्य स्वव्यापकेन सह कचि-

दनुसन्धाने यत्रोपमितिस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। उपमेयेन सहेति। व्यवहार्यतानुमानेप्युपमेयेन सह व्याप्यत्वानवगतिरेवेति तत्रातिव्याप्तिरेवेत्यर्थः॥ २५८॥

संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध ज्ञान का जनक वाक्य का एकदेश का अर्थानुसंघान भी उपमान होता है, इसी पक्ष में दोषान्तर देते हैं, यहाँ तर्क (विचार) करने वाले गवयपद के प्रवृत्तिनिमित्त, अखण्ड लघु गवयत्व जाति समझते हैं, और तर्क रहित लोग उपमान से सखण्ड गुरु गोसादृश्य को भी समझ सकते हैं, परन्तु यह समझ भ्रमरूप होगा, अतः कहते हैं कि जब लघु और गुरु के विचाररूप तर्क के अनुसंधान (चिन्तन) रहित पुरुष को गो सदृश गवय होता है, इस वाक्य को सुनने के बाद गवय के दर्शन होने पर (स एवायं गोसदृशो गवयः) वही यह गो तुल्य गवय है जो सुना था, ऐसा श्रुत वाक्य के अनुसंधान होने पर सादृश्य ही गवयपद का प्रवृत्तिनिमित्त (विशेषणरूप वाक्य) है, ऐसी मिति (ज्ञान) रूप उपमान का फल उस पुरुष को उत्पन्न होता है, तो उस अप्रमा के करणरूप भी उस वाक्यार्थानुसंधान को उपमानत्व की प्राप्तिरूप अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि प्रमारूपफल वाला उक्त वाक्यार्थानुसंधान उपमान है। तो इस प्रकार प्रमाफलकरूप विशेष के लक्षण में प्रक्षेप (प्रदान) करने पर, अनुसंहितरूप (अनुसन्धान विषयकृतस्वरूप) के व्यवहार्यता की अनुमिति के उत्पादन द्वारा भी ऐसा अनुसंधान उपमान होगा। अर्थात् (अयं गवय इति व्यवहर्तव्यो गोसादृश्यत्वात्) इस प्रकार प्रमाजनक अनुसंधान होते भी यह उपमान नहीं है, क्योंकि यह अनुसंधान लिङ्गरूप है। इसी प्रकार (गन्धवती पृथिवी) इस लक्षण के सुनने के बाद अनुसंहितरूप (परामृष्ट स्वरूप) लक्षण द्वारा चिन्तित स्वरूप की व्यवहार्यता की अनुमिति होती है—इयं पृथिवीति व्यवहर्तव्या पृथिवीत्वात्) इत्यादि, इस अनुमिति के हेतु लक्षणानुसंधान में अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि अव्याप्तविषयक प्रमाफलक वाक्यार्थानुसंधान उपमान है और उक्तानुसंधान गोसादृश्य एवं गन्धवत्त्व व्याप्तविषयक है, अतः उन दोनों में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि सदृश वस्तुरूप उपमेय भी वस्तुतः स्वकारण सामग्री पदार्थत्वादि से व्याप्त ही रहता है, अतः अव्याप्तविषयत्व के अभाव से लक्षण में असम्भव होगा। यदि कहा जाय कि व्याप्तरूप से अनवगम्यमान अर्थ का अनुसंधान उपमान होता है, तो जिस अपने कारण के प्रति वह उपमिति का करण लिङ्ग (व्याप्य) है, उसके साथ व्याप्यरूप से उसके अनुसंधान होने पर वह उपमान नहीं होगा अतः उसमें अव्याप्ति होगी। उपमेय के साथ व्याप्तरूप से अनवगत का अनुसंधान उपमान कहा जाय तो, यद्यपि गो सादृश्य उपमेयगवय से व्याप्य नहीं है, अतः अव्याप्ति नहीं होगी, परन्तु (इयं पृथिवी गन्धवत्त्वात्) यहाँ व्यवहार्यता अनुमिति का उत्पादक जो अनुसंधान है, वह भी उपमेय से व्याप्य विषयक नहीं है, अतः उसमें अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह अनुमेय से व्याप्य विषयक अनुसंधान है॥ २५८॥

अनुमेयेन सहेति कृते च तदनपायादव्याप्तिस्तदवस्थैव सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रमितिकरणम्—इति चेन्न, तथात्वासिद्धेः अर्थापत्त्यादितस्तत्सिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात्। अननुमितिजनकं तादृक्प्रतिसन्धानमुपमानम्—इति चेन्न,

तज्जातीयस्यानुमितिजनकत्वात्, व्यक्त्यपेक्षया चाजनकत्वस्य सामान्याकारपर्य्यवसायिनो नित्यं व्यक्तावसम्भवितयाननुगमेन चायुक्तत्वादिति। किंच गोसादृश्यं विहाय गवयशब्दार्थताप्रतीतिः कल्पनालाघवाख्यं तर्कमपास्य न स्यादिति तदुपन्यासस्थितौ किमानुमानिक्येव तत्र गवयपदवाच्यताप्रमितिरियं नेष्यते ॥ २५९ ॥

अनुमेयव्याप्त्यविषयत्वं यदि विवक्षितं तदा स्वव्यापकेनानुमेयेन सहोपमितिकरणस्य कदाचिद्व्याप्यत्वग्रहेप्युपमितिदर्शनादव्याप्तिरित्याह—'अनुमेयेनेति। तथात्वेति। सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धपरिच्छेदकरणमर्थापत्तिरनुमानं वा ननूपमानमधिकं प्रमाणमित्यर्थः। तादृगिति। अनधिगतसङ्गतिसञ्ज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थस्य सञ्ज्ञिन्यनुसन्धानमित्यर्थः तथा च न व्यवहार्य्यतानुमितिकरणेतिव्याप्तिरित्यर्थः। कदाचित्तेनाप्यनुमितिजनने तज्जातीयस्यानुमितिजनकत्वादसम्भव इत्याह-तज्जातीयस्येति। या करणव्यक्तिस्तादृशी नानुमितिं जनयति सैवोपमानमिति न युक्तं सामान्यपुरस्कारेण गृहीतस्य जन्यजनकभावस्य व्यक्तावावश्यकत्वेनासम्भवादननुगमाद्वेत्याह—व्यक्तीति। कल्पनालाघवतर्को य उपमाने कल्पनीयप्रमाणभावे सहकारीष्यते स क्लृप्तप्रमाणभावस्यानुमानस्यैव किं नेष्यते इत्याह—किंचेति ॥ १५९ ॥

अनुमेय के साथ व्याप्तरूप से ज्ञान का अविषय उक्तानुसंधान उपमान है, ऐसा निवेश करने पर भी जहाँ अनुमेय अपने व्यापक के साथ उपमितिकरण के व्याप्यत्व के ज्ञान होने पर भी उपमिति है, उसमें अव्याप्ति तदवस्थ ही है। अर्थात् पदार्थत्वादि के साथ व्याप्तरूप से गृहीत भी 'स एवायं गो सदृशो गवयः' इत्यादि अनुसंधान उपमिति करण होता है। अत एव उसमें अव्याप्ति होगी। संज्ञासञ्ज्ञि के सम्बन्ध की प्रमिति का करण वाक्यार्थानुसंधान उपमान है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान के करणत्व जैसे आप कह रहे हैं तथात्व की असिद्धि है वह अर्थापत्ति या अनुमान प्रमाण है, उपमान नहीं, अर्थापत्ति आदि से उस ज्ञान की सिद्धि को आगे कहना है। अनुमिति का अजनक उक्त वाक्यार्थानुसंधान उपमान है, ऐसा कहें, तो विचारना होगा कि अनुमितिजनक जातिमात्र से भिन्नत्व विवक्षित है ? या अनुमिति जनक व्यक्ति से ? यहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपमिति जनक जाति वाला अनुमिति का जनक होता है, (स एवायं गोसदृशो गवयः) इस अनुसंधान जातीय अनुसंधान को व्यवहार्यता की अनुमिति का जनक दर्शाया गया है। और व्यक्ति की अपेक्षा से भी अजनकत्व को अयुक्तता है, क्योंकि नित्य सामानाकार में पर्यवसायी (स्थिर) जन्यजनकभाव के व्यक्ति में असम्भव होने से और अननुगम से भी अयुक्तता है। अतः जिस प्रसार की जो कारणव्यक्ति अनुमिति का अजनक हो, वही उपमान है, ऐसा नहीं कहा जा सकता और गोसदृशता को छोड़ कर गवयत्व में गवयशब्दार्थता का ज्ञान कल्पनालाघवनामक तर्क को त्याग कर नहीं हो सकता अतः उपमान में भी जब सहकारीरूप से तर्क का उपन्यास स्थिर है, तो उस उपमिति विषय में आनुमानिकी (अनुमान जन्य) ही यह गवयपद वाच्यता की प्रतीति क्यों न मानी जाय, अर्थात् सर्वसम्मत अनुमान ही मानना युक्त है अनुमान तर्कात्मक है, और उपमान मानने पर भी विशेषणरूप से गवयपदवाच्यता जो गोसादृश्य में प्राप्त होता है,

उसका लाघवरूप तर्क से त्याग किया जाता है, अतः तर्क स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होते भी प्रमाण का सहकारी होता है ॥ २५९ ॥

सम्भवति हि प्रयोगः—विमतिपदं गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तथात्वे तर्केणाविषयीक्रियमाणविपर्ययकत्वात् न यदेवं न तदेवं यथा गोत्वं तथा चेदं ततस्तथेति न ह्यस्ति सम्भवो मूलशैथिल्यादिदोषविरहिततर्कनिवेदितविपर्ययश्चार्थो नच तथेति अथवा गवयपदमसम्भवत्प्रवृत्तिनिमित्तान्तरमनुपपद्यमानाप्रोक्तगोसदृशसामानाधिकरण्यमर्थाद्गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकतामाक्षिपतीत्यर्थापत्तिरेवात्र प्रमाणमस्तु सा च त्वया व्यतिरेकीकृत्य परेण पृथगेवावश्यं प्रमाणनीयेति ॥ २६० ॥

तर्कोपकार्यमनुमानमाह--विमतिपदमिति । गवयत्वमित्यर्थः । तथात्वे प्रवृत्तिनिमित्तत्वे तर्केण गौरवेणाविषयीक्रियमाणो विपर्ययोऽप्रवृत्तिनिमित्तत्वं यस्य तत्तथा तादृशत्वादित्यर्थः गवयत्वस्याखण्डतया तस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वे सादृश्यस्य न प्रवृत्तिनिमित्तत्वं कल्पनागौरवतर्केण प्रतिहतत्वादिति भावः । नहीति । यद्यपि गौरवादितर्के विशिष्टव्याप्त्युपग्रहो नास्ति येन विपर्ययपर्यवसानं भवेत्तथापि लाघवमेवास्य विपर्यय इति भावः । वस्तुतो गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तं पदत्वादिति सामान्यतो दृष्टमेव सादृश्यप्रवृत्तिनिमित्ततावाधकसहकृतं पक्षधर्मताबलाद्गवयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वं विषयीकरोति यथा पृथिव्यादिवृत्तितावाधकसहकृतस्येच्छा क्वचिदाश्रिता गुणत्वादित्यनुमानस्यैवाष्टद्रव्यान्यद्रव्यवृत्तित्वपरिच्छेदकत्वमिति भावः ॥ २६० ॥

उक्त अर्थ में पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग का भी सम्भव है कि—विमतगवयत्व, गवय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, क्योंकि गवयत्व के प्रवृत्तिनिमित्तत्व में तर्क से अविषयीक्रियमाण विपर्ययवाला है। अर्थात् तर्क से इसके प्रवृत्तिनिमित्तत्व का अभाव नहीं है। और यह गवयत्व तो तर्क से अविषयीक्रियमाण विपर्यय (अभाव) वाला है। अतः गवयशब्द का प्रवृत्तिनिमित भी है। यह सम्भव नहीं है कि जो मूलशैथिल्यादि दोषरहित तर्क से निवेदित (बोधित) विपर्य वाला हो, वह फिर उस पद का अर्थ हो। ऐसा गोसादृश्य है। वह तर्क से निवेदित विपर्यय वाला है, क्योंकि उसमें सखण्डता गुरुता है। अतः गोसादृश्य गवयपद का अर्थ नहीं है। अथवा गुरुता के कारण जिसके प्रवृत्तिनिमित्तान्तर (गोसादृश्य) सम्भव नहीं है। अत एव असम्भवत् प्रवृत्तिनिमित्तान्तर वाला गवयपद, अनुपपद्यमान (असिद्ध) आप्तकथित (गोसदृशो गवयः) गोसदृश समानाधिकरणता वाला होता हुआ अर्थ अर्थात् बल से गवयत्वरूप अपने प्रवृत्तिनिमित्त का आक्षेप करता है। अपनी गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकता सिद्ध (ज्ञात) कराता है, अतः गवयत्वप्रवृत्तिमित्तकता में अर्थापति ही प्रमाण है। अर्थात् अर्थापत्ति से गवयत्वविशिष्ट गवय को गवयपदवाच्यता सिद्ध होती है, उपमान से नहीं और यह अर्थापत्तिवादी (नैयायिक) को व्यतिरेकी अनुमान मान कर अवश्य प्रमाण मन्तव्य है, तथा मीमांसक को भी इसे पृथक् ही प्रमाण मन्तव्य है। अतः प्रसिद्ध गोसदृश पद के साथ पाठ जनित अन्यथा अनुपपत्ति के ही हैं। संज्ञासज्ञि के सम्बन्ध ज्ञान के कारण होने से उपमान नामक प्रमाण का कोई फल नहीं होने से वह प्रमाण भी नहीं है ॥ २६० ॥

शब्दोपि क उच्यते आप्तवाक्यं हि शब्दः प्रमाणमिति न युक्तं विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि कोयमाप्तो नाम यथादृष्टवादी—इति चेन्न, भ्रान्तिप्रतिपन्नवादिवाक्येपि प्रसङ्गात्, प्रमाणदृष्टेति विशेषणे च तथाभूतस्यान्यथावादव्यापनात्, यथाप्रमाणेति करणे चांशे तथाभूतवादिवाक्यस्यायथार्थस्यापि व्यापनात्। यावद्यथा प्रमाणदृष्टनिरुक्तौ च प्रायेणातथाभूतत्वादेव लक्ष्याणां तदव्याप्तेः तर्हि यावत् प्रमितं तावदभिधीयते यथाप्रमितस्यैव वक्तुर्वाक्यमिति व्याकारे च युधिष्ठिरवाक्यस्याप्यनेवम्भूतत्वेनाव्याप्त्यापत्तेः, तत्र विषये इति विशेषरूपस्य विषयस्यासाधारण्येनाव्यापकत्वापातात्। अथ निर्दोषस्य वाक्यं तथा इति चेन्न, सदोषस्य नास्ति घट इत्यभिधित्सतोऽस्ति घट इति दैवान्निर्गतयथार्थवाक्याव्याप्तेः। तत्प्रमाणं तु न भवत्येव—इति चेन्न ॥२६१॥

भ्रान्तीति। भ्रान्तेरपि दृष्टित्वात्तया प्रतिपन्नं यो वदति तद्वाक्ये इत्यर्थः॥ 'प्रमाणेति। प्रमाणदृष्टरजतस्य भ्रान्तेन शुक्त्यात्मतया यदभिधानं तदपि प्रमाणं स्यादित्यर्थः। यथेति। इमेरङ्गरजते इति वाक्यस्य रजतांशे तथा प्रमाणदृष्टाभिधाने रङ्गांशे अयथार्थस्य प्रमाणत्वं स्यादित्यर्थः। यावद्यथाप्रमाणेन दृष्टं तावतस्ताद्रूप्येणाभिधानमित्यव्यापकं नहि तार्णत्वादिदर्शनाद्वह्निर्महानसेस्तीति नाभिधीयत इत्याह—यावदिति। 'यथाप्रमितस्यैवेति। भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वादिति भावः। निर्दोषस्येति। भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवरहितस्येत्यर्थः। भ्रान्तप्रतारकवाक्याव्यापकत्वमाह—सदोषस्येति। दैवादिति निर्देशेन करणापाटवं विवक्षितम्। तदिति। प्रमाया गुणजन्यतया दोषवत्प्रणीतवाक्यस्य प्रमां प्रत्यजनकत्वादित्यर्थः॥ २६१॥

शब्द प्रमाण भी क्या है? शब्दमात्र तो प्रमाण नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि आप्तवाक्य शब्दरूप प्रमाण है, तो यह युक्त नहीं। क्योंकि वक्ष्यमाण विकल्पों में से किसी विकल्प (पक्ष) की उपपत्ति नहीं हो सकती। आप्त कौन है? यह विचारणीय है यदि कहा जाय कि जैसा देखा (समझा) हो वैसा ही कहने वाला आप्त है, तो भ्रम से शुक्ति को रजत समझकर शुक्ति को रजत कहने वाले के वाक्य में भी आप्तवाक्यत्व (प्रमाणत्व) होगा। इसी तरह देह और आत्मा को एक समझकर देह को आत्मा कहने वाले का वाक्य प्रमाण होगा और वह भी आप्त कहा जायगा। यदि कहा जाय कि प्रमाण से दृष्ट अर्थ को कहने वाला आप्त होता है, भ्रम प्रमाण से नहीं होता, किन्तु दोष से होता है, तो भी प्रथम प्रमाण से दृष्ट शुक्ति को फिर भ्रम से या परवञ्चनादि के लिये रजत कहने वाला भी आप्त होगा तथा प्रमाणदृष्ट का अन्यथा कथन आप्त वाक्य कहा जायगा। जैसा प्रमाण से देखा हो, वैसा ही कहने वाला आप्त होता है, ऐसा कहने पर भी एकांश में यथार्थवादी के अयथार्थवाक्य को प्रमाणत्व प्राप्त होगा। जैसे दो रङ्ग को ही देखकर कहे कि (इमे रङ्गरजते) ये दो एक रङ्ग और एक रजत हैं। यहाँ रङ्गांश में यथादृष्ट के कथन से अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि जितने पदार्थ जिस-जिस रूप से दृष्ट हों, उनको उसीरूप से कहने वाला आप्त होता है, तो यद्यपि उक्त दो रङ्ग को रंगरजत कहने वाले में अतिव्याप्ति तो नहीं है, तथापि असम्भव है, क्योंकि जितने पदार्थ जिस रूप से दृष्ट होते हैं उनरूपों से वक्तारूप लक्ष्यों का प्रायः अतथाभूतत्व (अभाव) है। अतः जितना जैसा प्रमाण से दृष्ट हो, उसको वैसा कहना, यह

लणक्ष लक्ष्य में अव्यापक है। (उक्त लक्षण करने पर) आप्त वक्ता से यावत् प्रमित होता है, तावत उससे कहा जाता है, ऐसा प्राप्त होता है। परन्तु यावत् को कोई कह नहीं सकता। जैसा प्रमित (प्रमाण से ज्ञात) हो, उस ज्ञातमात्र का ही वक्ता का वाक्य प्रमाण होता है, ऐसा व्याख्यान करने पर तो (अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा) इस प्रकार के युधिष्ठिर वाक्य के भी ऐसा नहीं होने से अव्याप्ति होगी। सत्यवक्तारूप से लोक में प्रसिद्ध युधिष्ठिर का वैसा प्रमाण नहीं हो सका तो अन्यत्र दुर्लभ ही है। यदि कहा जाय कि जो वस्तु जैसी प्रमित हो, उसको उसीरूप से कहने वाले उस विषय में आप्त होते हैं और उसी विषय में उनका वाक्य प्रमाण होता है। अतः युधिष्ठिर में भी जहाँ ऐसा विषय नहीं रहा वहाँ आप्तत्व नहीं रहा, अन्यत्र आप्तत्व रहा ही। तो ऐसा मानने पर यत् तत् शब्दयुक्त लक्षण के व्यक्तिपरक होने से विशेष व्यक्तिरूप विषय के असाधारणता से लक्षण में अव्यापकता की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि निर्दोष वक्ता का वाक्य प्रमाण है, तो जहां अज्ञान संशय एवं वञ्चनादि दोषसहित मनुष्य भूतल में घट रहते भी दोषवश (नास्ति घटः) घट नहीं है, ऐसा कहना चाहता हो और दैवकारण अकुशलता आदि से (अस्ति घटः) घट है, ऐसा ही उसके मुख से वाक्य निर्गत हो (निकले) तो उस निर्गत यथार्थ वाक्य में अव्याप्ति होगी, क्योंकि वह निर्दोष वक्ता से उच्चारित नहीं है, और अर्थ का बोधकप्रमाण है। यदि कहा जाय कि वह वाक्य तो प्रमाण नहीं होता है, क्योंकि प्रमा गुणजन्य होती है, अतः दोषयुक्त पुरुष से प्रयुक्त वाक्य प्रमा का व्यजनक नहीं होता, यह तो कहना युक्त नहीं ॥ २६१ ॥

पूर्वमुक्तोत्तरत्वात् । प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाण्यासम्भवात् । आपाततः सन्देहेप्यदोषात् । सामान्यतो निर्दोषत्वस्य च भीमाग्रजेप्यभावात् , विशेषतस्तथात्वस्यासाधारण्यपर्यवसायित्वात् । यथार्थवाक्यं शब्दप्रमाणमित्यत्र को दोष इति चेत्—पूर्वोक्तयाथार्थ्यदूषणानि तावत्प्रथमः । यथार्थमिति विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वाव्यवच्छेदकत्वयोः पूर्ववद्दोषश्च द्वितीयः । वाक्यत्वानिरुक्तिश्च तृतीयः । तथाहि किमिदं वाक्यं नाम एकार्थावच्छिन्नपदसमुदायो वाक्यम्—इति चेत् , एकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानां वाच्यानि दूषणानि तावत्सन्तु पदपदार्थं तु चिन्तयामः सुप्तिङन्तं पदमित्येके, वर्णा विभक्त्यन्ताः पदमित्यन्ये, तत्र नाद्यः प्रत्येकं मिलितस्य वाऽव्यापकत्वात् । पृथक् प्रवृत्तिनिमित्ततायां च वाक्यलक्षणाव्यापकत्वात् ॥ २६२ ॥

पूर्वमिति । आभासकरणजन्यस्यापि संवादिज्ञानस्य प्रमात्वेन प्रमाखण्डनप्रस्तावेभिधानादित्यर्थः । आपातत इति । प्रवृत्तिसंवादात्प्रागित्यर्थः । पूर्वोक्तेति । यथार्थानुभवः प्रमेति लक्षणप्रस्तावोक्तदूषणानि तद्यथा वाक्यार्थयोः साहश्यं प्रमेयत्वादिना प्रमाणशब्देप्यस्ति तेन यथार्थज्ञानजनकं वाक्यमिति वक्तव्यम् तत्र यत्किञ्चित्साहश्यं भ्रान्तावपीति तज्जनकवाक्यातिव्याप्तिः । प्रकाशमानरूपेणेत्यभिमते रूपवान् पट इत्यादौ प्रकाशमानरूपवत्वादिरूपेण ज्ञानस्य साहश्याभावादसम्भव इत्यर्थः । द्वितीय इति । यथार्थपदस्यायथार्थवाक्यार्थव्यवच्छेदकत्वे यस्य वाक्यस्यांशे यथार्थ्यमंशे चायाथार्थ्यं तत्रापि प्रमाणं न स्यादित्यव्याप्तिरव्यवच्छेदकत्वे च विशेषणवैयर्थ्यमित्यर्थः । प्रत्येकमिति । सुबन्तं यदि

पदं तदा तिङन्तं न भवेत् तिङन्तत्वं च सुबन्ताव्यापकं मिलितं चासम्भवीत्यर्थः। पृथगिति। सुबन्तत्वतिङन्तत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तभेदान्नानार्थमेव यदि पदपदं वाच्यं तदा पदसमुदायो वाक्यमित्यत्राननुगमः स्यादित्यर्थः॥ २६२॥

क्योंकि इसका प्रथम उत्तर कहा गया है कि आभास–करण–जन्य ज्ञान भी अबाधित विषयक होने से प्रमा होता है और प्रवृत्तिसामर्थ्य (सफलप्रवृत्ति) से प्रथम सदोषपुरुष के वाक्य में आपाततः प्रामाण्य का सन्देह हो तो भी पीछे प्रामाण्य निश्चय में दोष नहीं रहता है। यदि सामान्यरूप से सब दोषरहित को निर्दोष माना जाय और उसी के वाक्य को प्रमाण माना जाय तो सामान्यतः निर्दोषत्व का युधिष्ठिर में भी अभाव है, अन्य की क्या कथा? यदि विशेषरूप से तत् तत् दोषरहित को निर्दोष माना जाय, तो विशेषरूप से तथात्व (निर्दोषत्व) को असाधारणता सिद्ध होगी, कामादि तत्तत् दोषरहित भिन्न-भिन्न वक्ता निर्दोष समझ जायेंगे, और एक का लक्षण दूसरे में अव्याप्त होगा एवं दूसरे का लक्षण प्रथम में अव्याप्त होगा। यदि कहा जाय कि यथार्थ वाक्य शब्द प्रमाण है, इस लक्षण में कौन दोष है? तो इसका उत्तर यह है कि यथार्थाऽनुभवप्रमा होता है, इस प्रमालक्षणगतयथार्थता में पूर्वग्रन्थ में दूषण कहे गये हैं, यह प्रथम दोष है। अर्थात् यथार्थ वाक्य इसमें यथा शब्द का यदि सादृश्य अर्थ माना जाय तो अर्थ होगा कि अर्थ के सदृश वाक्य शब्द प्रमाण होता है, तो प्रमेयत्वादिरूप से अर्थ के सदृश अप्रमाण वाक्य भी रहता है, उसमें अतिव्याप्ति होगी। अतः यथार्थवाक्य न कहकर यथार्थज्ञानजनक वाक्यप्रमाण है, ऐसा कहना होगा। इस लक्षण में अर्थ के ज्ञान के सादृश्य को यदि यत्किञ्चित्रूप से माना जाय, तो प्रमेयत्वादि यत्किञ्चितरूप से भ्रमज्ञान को भी अर्थ के साथ सादृश्य रहता है, उसमें अतिव्याप्ति होगी और उस ज्ञान का जनक वाक्य प्रमाण होगा। और यदि प्रकाशमानस्वरूप से अर्थ के साथ ज्ञान का सादृश्य कहा जाय, तो 'रूपवाला घट है' इत्यादि ज्ञान से प्रकाशमानरूपवत्त्व के ज्ञान में अभाव से सादृश्य असम्भव होगा। और यथार्थ इस विशेषण के व्यवच्छेदकत्व तथा अव्यवच्छेदकत्व में पूर्वतुल्य दूसरा दोष है, क्योंकि यथार्थपद यदि अयथार्थ वाक्यार्थ का व्यवच्छेदक है, तो जिस वाक्य के एकांश में यथार्थत्व, दूसरे अंश में अयथार्थत्व है, उसका भी व्यवच्छेद होने से उससे प्रमाणता के अंश में अव्याप्ति होगी। और व्यवच्छेदक के नहीं होने पर विशेषण व्यर्थ होगा, यह दूसरा दोष है, और वाक्यत्वका अनिर्वचन तृतीय दोष है। वह इस प्रकार है 'यह वाक्य क्या है?' इसका निर्वचन नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि एकार्थ से अवच्छिन्न = एकार्थयुक्त = एकार्थबोधक पदसमुदाय वाक्य होता है, तो एकत्व, विषयत्व (अर्थत्व) अवच्छिन्नत्व के वक्तव्य दोषों को अभी रहने दें (नहीं विचारें) क्योंकि संख्यारूप या द्वित्वादि के अभावरूप एकत्व का तथा वाक्यविषयत्वरूप एकार्थावच्छिन्नत्वादि का विचार आगे करना है। जहाँ पद के अर्थ का चिन्तन (विचार) करते हैं, वहाँ सुप्तिङन्त को एक आचार्य पद कहते हैं और अन्त में विभक्तिवाले वर्णों को अन्य आचार्य। इनमें प्रथम लक्षण युक्त नहीं, क्योंकि सुबन्त एवं तिङन्त दोनों को प्रत्येक (पृथक्-पृथक्) लक्षण मानें तो परस्पर अव्याप्ति होती है। सुबन्तत्वरूप पद का लक्षण करने पर तिङन्तपद में अव्याप्ति

न्तत्व रूप पद का लक्षण करने पर सुबन्तपद में अव्याप्ति होगी। और सुप्तिङ्मिलित जिस के अन्त में हो, उस को पद कहें तो असम्भव है क्योंकि मिलित किसी के अन्त में नहीं रहते। और सुबन्तत्व-तिङन्तत्वरूप विभक्ति पद के यदि पृथक् २ प्रवृत्तिनिमित्त हों, तो पृथक् प्रवृत्तिनिमित्तता के होने से विभक्ति पद को नानार्थक ही कहना होगा, और 'पदसमुदायो वाक्यम्' इस वाक्य के लक्षण में अव्यापकता (अननुगम) होगी। क्योंकि पद के अर्थ के अनेक होने से पद के अननुगम से उसका समुदायरूप वाक्य का लक्षण भी अननुगत होगा, कभी किसी पद का समुदायरूप होगा, तो कभी किसी अन्य का समुदायरूप होगा ॥ २६२ ॥

नापि द्वितीयः विभक्त्यर्थस्यानुगतस्याभावात्, विभक्तिरित्यनेन सुतिङोः प्राग्दिशो विभक्तिरित्यनेन च तसिलादेः पृथक् पृथगेव विभक्तिसञ्ज्ञाविधानात् शब्दसाम्येन लक्षणायोगात्। किञ्च वर्णा इति बहुत्वस्य विवक्षितत्वेहमित्यादेरपदत्वप्रसङ्गः, अविवक्षितत्वे देवदत्त इत्यन्ताकारस्य पदत्वापातः तस्य विभक्त्यन्तत्वात्। सार्थकस्तथा—इति चेत्, भवतीत्यादौ शबकारादीनां पदत्वप्रसङ्गः शपः सार्थकत्वात्। यत्र विहिता विभक्तिस्तद्—इति चेन्न, शबकारं परित्यज्य पदत्वप्रसङ्गात्। तन्मध्यपतित्वाच्छबकारोपि गृह्यते इति चेत्, तर्हि यत्र विभक्तिर्विधीयते तच्च तद्विभक्तिमध्यपतितं च पदमिति वा विवक्षितं यत्र विभक्तिर्विधीयते तत्तद्विभक्तिमध्यवर्तिसहितं पदमिति वा आद्ये शबकारस्यापि पृथगेवपदत्वप्रसङ्गः लक्षणस्य चाव्यापकत्वात् ॥ २६३ ॥

बहुत्वस्येति। अचां हलां वा बहुत्वं यदि विवक्षितं तदाहमित्यादीनामपदत्वं स्यात् व मात्रबहुत्वविवक्षा चेत्तदा ब्रह्मविष्णुशिववाचकानामकारोकारमकाराणां पदत्वं न स्यादित्यर्थः। शबकारादीनामिति। प्रत्ययत्वेन तस्य सार्थकत्वं स्यादित्यर्थः। यत्रेति। शबकाराच्च न विभक्तिविधानमित्यर्थः। मध्यपतितमात्रस्य पदत्वं मध्यपतितसहितस्य वेति विकल्पार्थः। पृथगिति। तन्मात्रस्य पदत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ २६३ ॥

विभक्त्यन्त वर्ण पद हैं, यह दूसरा लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि विभक्तिपद के अनुगत अर्थ का अभाव है। विभक्तिश्च' इस सूत्र से सुप् तिङ् की और 'प्राग्दिशोविभक्तिः' इस सूत्र से तसिलादि की पृथक् पृथक् ही विभक्ति संज्ञा के विधान से विभक्तिपद का अनुगत अर्थ सिद्ध नहीं होता है। यदि कहा जाय कि सुप् तिङ् तसिलादि पृथक् २ हैं। संज्ञा भी पृथक् २ है, परन्तु विभक्ति शब्द तुल्य है, अतः विभक्ति शब्दार्थ जिनके अन्त में हों, ऐसे वर्ण पद कहे जाते हैं, ऐसा लक्षण हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अर्थ के अनुगम के बिना शब्द की समता से लक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती। सुबन्त एवं तिङन्त को पृथक् पृथक् पद होने से सुप् रहित केवल तसिलन्त भी पद होगा। और लक्षणगत 'वर्णाः' इस पद में बहुत्व = बहुत अच् या हल् की विवक्षा करें, तो 'अहम्', 'त्वम्', 'सः', इत्यादि में अपदत्व होगा। बहुत्व की विवक्षा नहीं करें, तो 'देवदत्तः', इसमें अन्त के अकार (अः) के विभक्त्यन्त होने से पद होगा, उसको विभक्त्यन्तत्व है। सार्थक विभक्त्यन्त पद होता है (अः) मात्र

अर्थ रहित है, अतः पद नहीं हो सकता, ऐसा कहें तो 'भव् शप् ति', का 'भवति' बनता है। यहाँ (कर्तरि शप्) इस सूत्र से कर्ता अर्थ में शप् होता है और उसी का अकार व् के अन्त में ति के आदि में 'भवति' शब्द में है, अतः विभक्त्यन्त होने से शप् श्यानादि के अकारादि को पदत्व होगा, क्योंकि शप् श्यनादि के अन्त्य अति को सार्थकता और विभक्त्यन्तत्व है। यदि कहा जाय कि जिससे विभक्ति विहित हो, वही सार्थक विभक्त्यन्त पद है, शप् से विभक्ति के विहित नहीं होने से वह पद नहीं होगा, तो यह कहना भी नहीं बन सकता, इस प्रकार भी शप् के अकार को छोड़ कर, भूति, इतने मात्र को पदत्व होगा। यदि कहा जाय कि जैसे प्रत्याहार में मध्यवर्ती का ग्रहण होता है, वैसे जिससे विभक्ति विहित होती है, और जो विहित होता है, मध्य में प्राप्त होने से शप् आदि के अकारादि भी पद में गृहीत होते हैं, तो पूछा जाता है कि जिससे विभक्ति विहित होती है वह प्रकृति और उस प्रकृति और विभक्ति के मध्य में प्राप्त ये दोनों दो पद होते हैं, ऐसा विवक्षित है ? या जिससे विभक्ति विहित होती है, वह और उस विभक्ति मध्यवर्ती सहित एक पद विवक्षित है ? यहाँ प्रथम पक्ष में शप् के अकार को पृथक् ही पदत्व होगा। और लक्षण में अव्यापकता होगी, 'भवति' आदि समुदाय में लक्षण व्यापक नहीं होगा ॥ २६३ ॥

द्वितीये देवदत्त इत्यस्यापदत्वप्रसङ्गः मध्यवर्त्तिनोऽभावेन मध्यवर्त्तिसहितविशेषणाभावात् । क्वचिन्मध्यवर्त्तिसहितस्य क्वचित्केवलस्येति यथासम्भवम्—इति चेन्न, एकानुगतरूपानभिधाने लक्षणस्याव्यापकतापत्तेर्दुर्निवारत्वात्। किंच देवदत्तस्त्वित्यपि पदं स्यात्। अथ अपशब्दोयं पदत्वे सति रुत्वादेर्विधानस्यावश्यम्भावित्वात् इति चेन्न, यत एवायमपशब्दः अत एव भवतो दोषः प्रसज्यते। अपशब्देपि पदलक्षणं गतमिति तस्मात् पाणिनिनाचार्येण शब्दसिद्ध्यर्थं पदसञ्ज्ञेयं रुत्वादिविध्यनुरोधेनापशब्ददशायामन्यैव कृता नदीसञ्ज्ञावन्नलौकिकपदव्यवहारसिद्ध्यर्थं साधुशब्दविशेषे ततश्च तत्वान्यदेव लक्षणं वाच्यम् अन्यथा दाक्षीनन्दनोदीरितनदीसञ्ज्ञाप्रत्यभिज्ञायां पाथः प्रार्थयमानः काननस्थलीमलीकाभिमानी भवानीहेत। अथोच्यते विभक्त्यन्तमेव सर्वलक्षणप्रवृत्त्या निष्पन्नं व्यावहारिकं पदमिति पदलक्षणमस्तु मैवं, सर्वलक्षणवृत्तेः सर्वत्रासम्भवात्। सम्भवत्सर्वलक्षणप्रवृत्त्या—इति चेन्न, सम्भवत्वं तत्काले कालान्तरे वा विवक्षितम् आद्ये देवदत्तर्वित्यपि पदं स्यात् रुत्वविधानकाले विसर्गस्याविहितत्वात् ॥ २६४ ॥

देवदत्तस्त्वित्यपीति। प्रथमान्तमिति शेषः। यत एवेति। अलक्ष्ये लक्षणगमनस्य तथा निर्वाहादित्यर्थः। इयमिति। सुप्तिङन्तं पदमिति सूत्रकृत्संज्ञेत्यर्थः। सर्वलक्षणेति। व्याकरणानुशिष्टशबादिलक्षणप्रवृत्त्येत्यर्थः। सर्वेति। शबादीनां श्यनादिस्थलेऽभावादित्यर्थः। असम्भवादिति। दिवादित्वेन शपस्तत्रासम्भवादित्यर्थः। देवदत्तर्विति प्रथमान्तदेवदत्तशब्दः सकाररुत्वविशिष्टः पदं स्यादित्यर्थः॥ २६४ ॥

दूसरे पक्ष में 'देवदत्तः' इस को अपदत्व होगा, क्योंकि मध्यवर्ती के अभाव होने से मध्यवर्ती सहित इस विशेषण का देवदत्त शब्द में अभाव है। यदि कहें कि कहीं मध्य-

वर्ती सहित विभक्त्यन्त को पदत्व होता है, कहीं केवल (मध्यवर्ती रहित) विभक्त्यन्त को, तो पद मात्र एक अनुगतरूप के नहीं कहने पर लक्षण में भी अव्यापकता दुर्निवार होगी। अर्थात् किसी एकरूप से अनुगत नहीं होने से पद के अननुगत होने से लक्षण एक नहीं होगा। अनेक लक्षण होने से परस्पर व्यभिचार होने पर पदघटित वाक्य का लक्षण भी सिद्ध नहीं होगा, और विभक्त्यन्त मात्र के पद होने से 'देवदत्त सु' इस असिद्ध अवस्था के प्रयोग में पदत्व होगा। यदि कहा जाय कि (देवदत्त सु) यह तो अपशब्द (अशुद्ध) है, तो भी पदसंज्ञक तो है ही, क्योंकि पदत्व होने पर रुत्वादि विधि को अवश्य प्रवृत्त होना है, तो इसी से कहा जाता है कि आप के मत में दोष है, अपशब्द में भी आप के मतानुसार पद का लक्षण चला गया। अतः समझना चाहिये कि आचार्य पाणिनि ने साधु शब्द की सिद्धि के लिये यह विभक्त्यन्त की पदसंज्ञा, रुत्वादि विधि के अनुरोध से (उसकी अनुकूलता के लिये) नदीसंज्ञा के समान अपशब्दावस्था में अन्य ही की है जो संज्ञा लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिये नहीं है। अतः साधुशब्दविशेष में उस पदत्व से अन्य ही लक्षण वक्तव्य है। (अन्यथा) यदि पाणिनि कृतसंज्ञा से अन्य लौकिक संज्ञा (लक्षण) नहीं कहेंगे, तो दाक्षीनन्दन (पाणिनि) से उदीरित (कथित) नदी संज्ञक पद का वाच्य काननस्थली (बनस्थान) की प्रत्यभिज्ञा होने पर वहाँ पाथ (जल) की प्रार्थना करते हुए (अलीकाभिमानी) मिथ्याज्ञानी आप उस काननस्थली को चाहेंगे, उस की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होंगे। यदि कहें कि सब लक्षण (सूत्र) की प्रवृत्ति से निष्पन्न (सिद्ध) विभक्त्यन्त ही व्यावहारिक पद हैं, यह पद का लक्षण हो सकता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि सब लक्षणों की प्रवृत्ति का सर्वत्र असम्भव है। जिस लक्ष्य (साधुशब्द) में जितने लक्षण (सूत्र) की प्रवृत्ति का सम्भव हो, उन सब की प्रवृत्ति से सिद्ध विभक्त्यन्त व्यावहारिक पद होता है, ऐसा कहें तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि लक्षणों की प्रवृत्ति की सम्भावना उस एक काल में विवक्षित है ? या अन्य काल में भी प्रवृत्ति की सम्भाववा विवक्षित है ? यह विचारणीय है। प्रथम पक्ष में (देवदत्तसु) के ससजुषो रुः, इस लक्षण की प्रवृत्ति से (देवदत्त रु) होने पर इसमें भी लौकिक पदत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि रुत्व के विधान काल में विसर्ग का विधान नहीं है, और जिस का विधान है, वह प्रवृत्त ही हो चुका है ॥ २६४ ॥

कालान्तरेऽपीति पक्षे देवदत्त इत्यपि पदं न स्यादित्यादिपदपूर्वकालभविनो यत्वयलोपादेरकरणात्। शब्दान्तरसन्निधिव्यतिरेकेण यद्वाविलक्षणं तद्विवक्षितम् इति चेन्न, जीविकाकृत्य व्याचष्टे इत्यर्थे जीविकां कृत्वा व्याचष्टे इति प्रयुज्यमानं वाक्यं स्यात्, एकार्थावच्छिन्नपदस्य तत्रापि गतत्वात्कृत्वेत्यनेन सम्बद्धस्य जीविकामित्यस्योक्तपदलक्षणेन सङ्गृहीतत्वात्। यदुपाधिका यल्लक्षणप्रवृत्तिः तदुपाधिसम्पत्तौ तेन निष्पन्नं तथा इति चेन्न, यत्र नास्त्युपाधिसम्पत्तिः तत्र केवले तस्यां सत्यामित्यस्याभावात् अपदत्वापत्तेः, यस्यामवस्थायां यस्य लक्षणस्योपनिपातस्तत्सर्वसम्पत्तौ विभक्त्यन्तं पदम् इति चेन्न, यस्यामवस्थायामित्यवस्थानां भिन्नाभिन्नाकारेण परा-

मर्शे लक्षणस्याननुगमादव्यापकतादोषः । अवस्थानामैक्यमविक्षितम् असम्भावितं च । सर्वदा सर्वावस्थाविषये लक्षणप्रसङ्गादिति स च भवति, भवति भवतीति, भवत्यस्तीति, पटः पटाविति पटं पट इति चेत्यतिव्याप्तिः । एतेनापौरुषेयं वाक्यं तदित्यपि निरस्तम् ॥ २६५ ॥

जीविकाकृत्येति । जीविकोपनिषदावौपम्ये इत्यनेन गतिसञ्ज्ञायां गतिसमासस्य नित्यत्वेन साधुत्वात्तत्पदद्वयात्मकं वाक्यं स्यात् नह्यत्र क्त्वास्थाने ल्यपो भावित्वमित्यर्थः । ननु लक्षणस्य भावित्वं न विवक्षितं किन्तु निष्पन्नत्वमित्यत आह—यदुपाधिकेति । यत्र नोपाधिमत्त्वं तत्र विशेषणाभावात् पदत्वं न स्यादित्याह—यत्रेति । यच्छाब्दार्थाननुगममाह—यस्यामिति । ननु यस्यामित्येकीकृत्य सकलावस्थाभिधानान्नाननुगम इत्यत्राह—अवस्थानामिति । अविवक्षितमेकत्र सर्वावस्थानामसम्भवात् । असम्भावितमिति । बह्वीनामेकत्वासम्भवादित्यर्थः । ननु विवक्षायां को दोष इत्यत आह—सर्वदेति । ननु कीदृशः प्रसङ्ग इत्यत आह—स चेति । एकरूपत्वं यद्यवस्थैक्यं विवक्षितं तदा भवतीत्याख्यातस्य सम्बोधनस्य सप्तम्यन्तस्य च साधारणानि शत्पिवादिलक्षणानि स्युः । एकार्थत्वं चेत्तदा भवत्यस्तीत्यत्र समानलक्षणत्वप्रसङ्गः समानविभक्तिकत्वं चेत्तदा पटः पटावित्यत्र प्रसङ्गः एकप्रातिपदिकत्वं चेत्तदा पटं पट इत्यत्र प्रसङ्गः समानलक्षणत्वाभावात्तद्घटितलक्षणविरहादव्याप्तिरूपः प्रसङ्ग इत्यर्थः । मीमांसकमते वाक्यलक्षणं दूषयति—एतेनेति । वाक्यलक्षणदोषेण तद्घटकपदलक्षणदोषेण चेत्यर्थः । न च शक्तत्वं पदत्वं शक्तेः पदार्थान्तरस्य सङ्केतस्य वा त्वत्सगोत्रकलहनिरस्तत्वात अत एव न सङ्केतवद्वर्णत्वं पदत्वं नापि शाब्दानुभवाजन्यशाब्दानुभवजनकपदार्थोपस्थितिजनकतावच्छेदकरूपवत्त्वं पदत्वं प्रथमं जनकत्वस्य दुर्ग्रहत्वमिति भावः ॥ २६५ ॥

सम्भवत् सर्वलक्षण की कालान्तर में प्रवृत्तिरूप दूसरे पक्ष में 'देवदत्तः' यह भी पद नहीं होगा, क्योंकि देवदत्तः' इस शब्द के साथ इति आदि शब्द के सम्बन्ध से पूर्वकाल में होने वाले रुत्व भो भगो, इत्यादि से यत्व और लोसःशाकल्यस्य, इससे लोपादि नहीं किया गया है । यद्यपि इस पक्ष में (देवदतरु) में अतिव्याप्ति का वारण होता है, क्योंकि वह कालान्तर में प्रवृत्त होने वाला (खरवसानयोर्विसर्जनीयः) इससे निष्पन्न नहीं हुआ है, तथापि देवदत्त में अव्याप्ति वारण नहीं हो सकता, क्योंकि इति आदि के योग होने पर कालान्तर में सम्भव वाले यत्वादि से निष्पन्न (सिद्ध) नहीं हुआ है । यदि कहें कि शब्दान्तर के सम्बन्ध के बिना जो भावी प्रवृत्त होने वाले सूत्र हैं वे विवक्षित हैं उन की प्रवृत्ति से सिद्ध पद होता है, अतः सम्भवत् सब लक्षण की प्रवृत्ति से सिद्ध देवदत्तः में अव्याप्तिनहीं है । परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर 'जीविकाकृत्य व्याचष्टे' इस अर्थ में 'जीविकां कृत्वा व्याचष्टे' ऐसा प्रयोग किया गया भी वाक्य होगा, क्योंकि एकार्थयुक्त पदसमुदायत्व का उस जीविकां कृत्वा इत्यादि में भी सत्त्व है । और कृत्वा इसके साथ सम्बन्ध वाला जीविका इस को उक्त पद लक्षण से संगृहीतत्व है । अर्थात् पदान्तर के सम्बन्ध के बिना प्रवृत्त होने वाले सब लक्षणों की प्रवृत्ति से सिद्ध है । तो भी ऐसा प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि 'जीविकोपनिषदादावौपम्ये' इस सूत्र से जीविका शब्द की उपमा अर्थ में गति संज्ञा होती है, और (नित्यं क्रीडाजीविकयोः) इससे नित्य समास, ल्यप् तथा तुगादि होने के कारण जीविकामिव कृत्वा इस अर्थ में (जीविकाकृत्य) ऐसा ही प्रयोग होता है । परन्तु आप के कथनानुसार (जीविकाकृत्य) के अर्थ में जीविकां

कृत्वा यह भी प्राप्त होता है, अतः उक्त कथन युक्त नहीं है। यदि कहें कि लक्षण में भावित्व विवक्षित नहीं है, किन्तु निष्पन्नत्व में भावित्व विवक्षित है अतः जिस उपाधि (कारण सम्बन्धादि) से जिस लक्षण की प्रवृत्ति होती है उस उपाधि (समासादि) की सम्पत्ति (प्राप्ति) होने पर सम्भवत् सब लक्षणों की प्रवृत्ति से सिद्ध पद होता है। और ('जीविकां-कृत्वा) इस की परस्परसम्बन्ध समासरूप उपाधि की प्राप्ति होने पर भी ल्यप्, लुक् विभक्तिलोपरूप कार्य सूत्रों से निष्पन्न नहीं हुए हैं, अतः वे दोनों पद नहीं हैं। और न वे साधु वाक्य हो सकते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जहाँ समासादि उपाधि संपत्ति नहीं है, (जीविकां करोति) ऐसा प्रयोग है, वहाँ केवल (जीविकाम्) इसमें (तस्यां सत्याम्) उस उपाधि की सिद्धि होनेपर इस विशेषण के अभाव से अपदत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि जिस अवस्था (समासादि स्वरूप) में जिन लक्षणों का उपनिपात (प्रवृत्ति) हो, उन सब की सम्पत्ति (सिद्धि प्रवृत्ति) होने पर विभक्त्यन्त पद होता है। यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि यदि अवस्था शब्द से विशेष अवस्था का ग्रहण होगा, तो शब्द की अवस्थाओं के भिन्न भिन्न रूप से परामर्श (ज्ञान) होने पर लक्षण के अननुगम (एक रूपता के अभाव) से अव्यापकता दोष होगा। प्रत्येक पद की अवस्था भिन्न भिन्न होती है। अतः पदों का एक लक्षण नहीं होगा। और सब पदों की अवस्था की एकता अविवक्षित तथा असम्भावित है। अन्यथा शब्दों की सब अवस्थाओं में सब लक्षणों की प्राप्ति होगी। वह इस प्रकार है—यदि पद की एकरूपतारूप अवस्था की एकता मानें, तो तिङन्त, भवति, पुलिङ्ग सप्तम्यन्त भवति और स्त्री विषयक सम्बोधन भवति में तुल्यरूप से लक्षण की प्राप्ति होगी। यदि एकार्थतारूप एकता की विवक्षा करें, तो तिङन्त भवति-अस्ति में तुल्य सूत्र की प्राप्ति होगी। यदि समान विभक्तिकत्व की विवक्षा करें तो पटः पटौ, प्रथमान्त में तुल्य लक्षण की प्राप्ति होगी। एक प्रातिपदिकत्व की विवक्षा करें तो पटं पटः, इन में तुल्यता की प्राप्ति होगी। उक्तरीत से पद तथा वाक्य की निरुक्ति (निर्वचन) के नहीं हो सकने से, अपौरुषेय = पुरुष रचित से भिन्न वाक्य शब्द प्रमाण है, यह भी निरस्त हो गया ॥ २६५ ॥

का पुनरर्थापत्तिरपि अन्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, यतोऽन्यत्वं तत्सिद्धेरग्रे तदसिद्धेः। सिद्धेनानुपपत्तिरिति चेन्न, विशेषणव्यवच्छेद्याप्रतीतौ तद्वैयर्थ्येन तदनुपादाने सर्वथानुपपत्त्यर्थतायां फलविरोधात्। केनाप्यनुपपत्त्यर्थत्वे साध्यसिद्ध्यपर्यवसानात् ॥ २६६ ॥

अन्यथेति। जीविगृहासत्त्वस्य बहिः सत्त्वमन्तरेणानुपपत्तिरर्थापत्तिरित्यर्थः। यत इति। बहिः सत्त्वादन्येन प्रकारेण जीविगृहासत्त्वमनुपपन्नमिति ज्ञानेऽग्रे प्रथमत एव फलसिद्धेस्तस्यार्थापत्तेः प्रमाणस्य फलासिद्धेरित्यर्थः। अन्यत्वप्रतियोगिनो बहिः सत्त्वस्याग्रत एव ज्ञानं चेत्किमर्थापत्त्येति फलितोऽर्थः। अज्ञाताया एवार्थापत्तेः करणत्वेऽर्थापत्त्याभासानुपपत्तिरिति भावः। ननु देवदत्तीयबहिः सत्त्वज्ञानमर्थापत्तिफलं बहिः सत्त्वसामान्यप्रतियोगिकान्यथानुपपत्तिश्च करणं सामान्यं च सिद्धमेवेति शङ्कते—'सिद्धेने'ति। सिद्धमादायानुपपत्तिज्ञानं करणमित्यर्थः सिद्धे बहिः सत्त्वसामान्येनुपपत्तिर्नास्तीत्यन्ये सिद्धेनेत्यसिद्धदेवदत्तीयबहिः सत्त्वव्यवच्छेदार्थं विशेषणं तद्यदि व्यवच्छेद्यं प्रसिद्धं तदा पूर्व-

दोषः।अथ न प्रसिद्धं तदा विशेषणवैयर्थ्यमिति परिहरति—विशेषणेति। नन्वनुपपत्तिमात्रं करणं नत्वन्यथानुपपत्तिर्येन प्रतियोग्यनिरूपणं दोषः स्यादित्यत आह—'तदनुपादाने' इति। यदि जीविगृहासत्त्वस्य सर्वथैवानुपपत्तिस्तदोपपादककल्पनानवकाश इत्यर्थः। ननु सर्वथानुपपत्तिर्न विवक्षिता किन्तु केनचिद्विनानुपपत्तिस्तथाच नोपपादककल्पनानवकाश इत्यत आह—केनापीति। एवं सति देवदत्तीयबहिःसत्त्वसिद्धिर्न पर्यवस्येत्तेन विनानुपपत्तेरज्ञानादित्यर्थः॥ २६६॥

(अर्थस्य आपत्तिः प्राप्तिर्ज्ञानं येन) प्रत्यक्षादि से असिद्ध अर्थ का जिससे ज्ञान हो, वह अर्थापत्ति प्रमाण है और (अर्थस्यापत्तिः) उस असिद्ध अर्थ की आपत्ति (प्राप्ति-ज्ञान) अर्थापत्ति नामक प्रमा (प्रमाण का फल) कही जाती है। 'जीवी देवदत्तो गृहे नास्ति' इस आप्त वाक्य से जीवित देवदत्त का घर पर अनस्तित्व समझा जाता है। परन्तु देवदत्त का जीवितत्व वहिस्सत्व के विना अनुपपन्न है। अतः जीवितत्वान्यथानुपपत्ति से उसकी वहिस्सत्व की कल्पना की जाती है। यहाँ जीवितत्वज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है और वहिस्सत्वज्ञान उसका फल है। दिन में अभोजी के रात्रिभोजन के बिना पीनत्व (स्थूलत्व) की अनुपपत्ति का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है, रात्रिभोजन का निश्चय फल है। इसी प्रकार मीमांसक दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति प्रमाण मानते हैं। यहाँ पूछा जाता है कि शब्द प्रमाण के बाद मानी गई अर्थापत्ति भी क्या है? यह भी अनिर्वाच्य है। यदि कहा जाय कि जीवित का गृहादि में असत्व की अन्यथा (कहीं सत्त्व के बिना) अनुपपत्ति ही अर्थापत्ति प्रमाण है, तो जिस बहिःसत्व से अन्यत्व गृहाऽसत्त्व को है, उस बहिःसत्त्वरूप प्रतियोगी को सिद्धि (ज्ञान) से प्रथम उस गृहासत्त्व की असिद्धि से प्रथम ही उस बहिःसत्त्व की सिद्धि को मानना होगा तब तो गृहासत्त्व की अनुपपत्ति से बहिः सत्त्वरूप प्रतियोगी की सिद्धि और उस से गृहासत्त्व को सिद्धि मानने से अन्योन्याश्रय होगा। तथा प्रथम ही प्रमाणान्तर से बहिः सिद्धि होने पर, अर्थापत्ति प्रमाण निष्फल होगा। यदि कहा जाय कि विशेषरूप से बहिः सत्त्व का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण का फल होता है। और गृहासत्त्व का उपपादक प्रतियोगी बहिः सत्त्व सामान्य की अनुपपत्ति करण होता है, अतः सामान्य सिद्ध रूप से अनुपपत्ति अर्थापपत्ति प्रमाण है। तो यह भी अनुपपन्न है, क्योंकि, सिद्धेन, इस विशेषण से व्यवच्छेद्य (वारणीय) की अप्रतीति रहते, वह व्यर्थ होगा। अर्थात् सिद्धेन, इससे यदि असिद्ध की व्यावृत्ति कहें, तो असिद्ध होने से खपुष्प तुल्य की व्यावृत्ति नहीं हो सकती और जिस की अनुपत्ति है, उसके बहिः असत्त्व की व्यावृत्ति से बहिः सत्त्व की सिद्धि प्राप्त होती है, तो फिर अर्थापत्ति प्रमाण निष्फल सिद्ध होता है, अतः यदि सिद्धेन इस विशेषण को त्याग कर अनुपपत्ति मात्र को अर्थापत्ति प्रमाण कहें, तो उस विशेषण के अनुपादान (अग्रहण) करने पर, और अनुपपत्ति के सर्वथा अनुपपत्ति को मानने पर फल से विरोध होगा। अर्थात् गृहासत्त्व की सर्वथा अनुपपत्ति होने पर बहिः सत्त्वरूप उपपादक की सिद्धि उससे नहीं हो सकेगी, क्योंकि बहिःसत्त्वसाधकरूप से भी उस की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं होगी, सर्वथा अनुपपत्ति में यह भी आगया। यदि अनुपपत्ति का जिस किसी रूप से अनुपत्ति अर्थ हो, तो वह अनुपपत्ति रूप करण अपने साध्य (बहिः सत्त्व अर्थापत्तिप्रमा) की सिद्धि में प्रर्यवसन्न (निश्चित प्रमाण) नहीं हो सकता, क्योंकि बहिःसत्त्व के बिना

अनुपपत्ति का ज्ञान नहीं है, जिस किसी के बिना अनुपपत्ति जिस किसी को सिद्ध करेगी, निश्चित बहिःसत्त्व को नहीं ॥ २६६ ॥

प्रमाणयोर्विरोधानुपपत्तिरिति चेन्न, असिद्धत्वात्। प्रमाणत्वेनाभिमन्यमानयोः इति चेन्न, अभिमतेर्भ्रमार्थत्वेतिप्रसङ्गात्। ज्ञानार्थत्वेप्युक्तदोषानिवृत्तिरेव। अनिर्णीयमानप्रामाण्याप्रामाण्ययोरित्यत्रापि तथैव। तथाहि सत्प्रतिपक्षेपि तस्य तदुपपादकप्रमाफलकत्वापत्तेः। तत्र विरोधे व्याहत्यैकाप्रामाण्यनिश्चयो, यत्र तु नैवं तद्विवक्षितम् इति चेन्न, एवं सत्प्रतिपक्षवदन्यत्रापि विरोधार्थत्वेनैवाभासत्वाविशेषात्। तर्कयोर्विरोधोपेक्षित इति चेन्न, मिथोविरोधे तर्कयोरप्याभासत्वात् ॥ २६७ ॥

ननु जीवी क्वचिदस्तीति सामान्यतो दृष्टस्य गेहमपि क्वचित्त्वेन विषयीकुर्वतो जीवी देवदत्तो गृहे नास्तीति प्रत्यक्षेण विरोधज्ञानाद्बहिः सत्त्वकल्पनार्थापत्तिफलमिति शङ्कते—'प्रमाणयोरि'ति। परिहरति—असिद्धत्वादिति। वस्तुगत्या प्रमाणयोर्विरोध एव नास्ति किं करणं भवेदित्यर्थः। उक्तदोषोतिप्रसङ्ग एव। 'तथैवे'ति। अतिप्रसङ्ग एवेत्यर्थः। उक्तमतिप्रसङ्गं स्फुटयति—तथाहीति। सत्प्रतिपक्षस्थलेपि प्रमाणत्वाभिमतयोरविरोधाय किञ्चित्कल्प्यं स्यान्न च तथोपेयत इत्यर्थः। नन्वेकधर्मिकविरुद्धार्थोपस्थापकयोः सत् प्रतिपक्षयोरन्यतरदप्रमाणमिति यथा निश्चयो न तथाऽर्थापत्तौ तत्र विषयसङ्कोचेन सामान्यतो दृष्टस्यापि प्रामाण्यसम्भवान्न व्याघात इति शङ्कते—'तत्रे'ति। विरोधे इति सति सप्तमी व्याहतिरेकधर्मिकविरुद्धार्थोपस्थापकता तयाभासत्वमित्यर्थः। यथा तत्राभासत्वादेव न विरोधबलात्कल्पनान्तरं तथार्थापत्तावपि कल्पनान्तरमनवकाशमेवेति परिहरति—'सत्प्रतिपक्षवदि'ति। ननु यद्येकविषयप्रमाणयोर्न विरोधस्तदा तर्कयोरेव विरोधः करणं स्यादित्याह—'तर्कयोरि'ति। ज्योतिःशास्त्राच्चिरजीवित्वे गृहीते जीविदेवदत्तो यदि क्वचिन्न स्यात्तर्हि जीवी न स्यात् यदि जीवी देवदत्तो बहिर्न स्यात्तदा गेहनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी नस्यादित्यनयोः क्वचित्त्वेनगृहसत्त्वविषयकगृहासत्त्वविषयकयोर्विरोधः करणमित्यर्थः। 'मिथ' इति। यथा प्रमाणयोर्न विरोधस्तथा तर्कयोरपि प्रकृते मिथोविरोधेन द्वयोस्तर्काभासत्वादित्यर्थः ॥ २६७ ॥

यदि कहा जाय कि प्रमाणों का विरोध अर्थापत्ति है, क्योंकि ज्योतिषादि से जीवित को जान कर (जीवित देवदत्त कहीं है) यह सामान्यरूप से अनुमान होता है और कहीं है, ऐसे अनुमान में गृह भी आजाता है और प्रत्यक्ष से गृह में अभाव सिद्ध होता है। अतः प्रत्यक्ष अनुमान के विरोध ज्ञान से बहिः सत्त्व की कल्पना अर्थापत्ति है, तो कहा जाता है कि वस्तुतः प्रमाणों का विरोध असिद्ध है, प्रत्यक्ष उसके गृह में असत्त्व को सिद्ध करता है, ज्योतिषादि उसके जीवित्व को सिद्ध करता है, गृहसत्त्व को नहीं, अतः विरोध नहीं है। यदि कहा जाय कि विरोधी प्रमाणरूप से अभिमतों का विरोध अर्थापत्ति है, यहाँ प्रत्यक्ष और सामान्यानुमान का विरोध है हो, तो यह कहना भी युक्त नहीं पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अभिमत शब्द का क्या अर्थ है भ्रम या यथार्थज्ञान या प्रामाण्याप्रामाण्य का जिसमें निर्णय नहीं हो ऐसा ज्ञान विवक्षित है। यहाँ अभिमत का यदि भ्रमज्ञान अर्थ हो, तो माला में किसी को सर्प का किसी को दण्ड का भ्रम हो तो वहाँ भी विरोध की अनुपपत्ति अर्थापत्ति होकर उपपादक की कल्पना करेगी अभिमत ज्ञानार्थक हो, तो भी उक्तदोष (अतिव्याप्ति) की अनिवृत्ति है

अर्थात् ज्ञान को प्रमाण मानें, तो प्रमाणों का विरोध नहीं हो सकता और अप्रमाण या अनिर्णीत प्रामाण्याप्रामाण्य मानें, तो भी अतिव्याप्ति ही उक्त भ्रम स्थान में है। और अनिर्णीत प्रामाण्याप्रामाण्य पक्ष में वक्ष्यमाणरीति से भी अतिव्याप्ति है। अनिर्णीत प्रामाण्याप्रामाण्य विरोध को सत्प्रतिपक्ष (विरोधी दो अनुमान) में भी उसके उपपादक (साधक) प्रमाफलत्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् (शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्-घटवत्, शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्) इस सत्प्रतिपक्ष के भी विरोधी होने से यह अपने अविरोध के लिये उपपादक की कल्पना का हेतु अर्थापत्ति प्रमाण होगा। यदि कहा जाय कि सत्प्रतिपक्ष में तो विरोध होने पर व्याहत्या (व्याघात से एक वस्तु में नित्यत्वानित्यत्व विरोधी धर्म के असम्भव से) एक के प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है जिससे विरोध की निवृत्ति हो जाती है। परन्तु जहाँ ऐसा नहीं हो सकता, वहाँ प्रमाणों का विरोधरूप अर्थापत्ति प्रमाण विवक्षित है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार प्रतिपक्ष के समान ही जीवी देवदत्त के सत्त्वासत्त्व के विरोधार्थत्व होने से ही एक में आभासत्व तुल्य है। यदि कहा जाय कि एक विषय में प्रमाणों के विरोध नहीं होने पर, तर्कों का विरोध ही अर्थापत्ति प्रमाण होगा, अर्थात् देवदत्त के जीवित रहने के कारण उसका सत्त्व होना चाहिये और गृहादि में अनुपलब्ध होने के कारण उसका असत्त्व होना चाहिये, इस प्रकार के तर्क का विरोध अनुपपत्ति है। वह गृहादि दृष्ट स्थान से अन्यत्र देवदत्त के सत्त्व को सिद्ध करके शान्त (निवृत्त) हो जाती है। अतः बहिर्दर्शन के लिये तर्क का विरोध अपेक्षित (प्रमाण) है। यह भी युक्त नहीं, क्योंकि परस्पर विरोध रहते तर्कों को भी आभासत्व रहता है। और वस्तुतः गृहादि में प्रत्यक्ष अनुपलब्धि से गृह में सत्त्व की प्राप्ति नहीं होने के कारण प्रमाण वा तर्क में विरोध ही नहीं हो सकता ॥ २६७ ॥

विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थप्रतिक्षेपविषयत्वसंशयोऽविशेषप्रवृत्ततद्विपरीतार्थप्रमाणस्य स इति चेन्न, विशेषविषयप्रमाणबोधितवैपरीत्ये सति तद्विरुद्धार्थांशे संशयस्य दुर्बलस्यानवकाशत्वेनाविशेषप्रवृत्तप्रमाणविषयतां तदीयां गोचरयितुमप्यसामर्थ्यादेव। अविशेषप्रवृत्तप्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेषविषयप्रमाणदर्शनं तदितरविशेषविषयप्रमाफलकं तथा इति चेन्न ॥ २६८ ॥

'विशेषे'ति। गेहे नास्तीति प्रत्यक्षानन्तरं जीवी क्वचिदस्तीति पूर्वप्रवृत्तसामान्यतोदृष्टस्य प्रमाणस्य गृहसत्त्वमपि विषयो न वेति संशय एव विरोधोऽभिमतः स च बहिरस्तीति प्रमाफलक इति शङ्कार्थः। विशेषप्रवृत्तं प्रमाणं गेहासत्त्वग्राहि प्रत्यक्षं तदर्थो गेहासत्त्वं तत्प्रतिक्षेपो गृहसत्त्वं तद्विषयसंशयस्स विरोधः कस्येत्यपेक्षायामविशेषप्रवृत्ततद्विपरीतार्थग्राहिप्रमाणस्येति योजना। विशेषेति। गेहेनास्तीति विशेषदर्शनानन्तरं सामान्यतो दृष्टस्य गृहसत्त्वविषयसंशय एव नावतरति दूरे तेन बहिः सत्त्वप्रमाजननमिति परिहारार्थः। गृहे सत्त्वग्राहिणः सामान्यतोदृष्टस्य विपरीतार्थोपस्थापकं गृहासत्त्वग्राहिप्रत्यक्षमिति, ज्ञानमेव देवदत्तीयबहिःसत्त्वप्रमाफलकमिति शङ्कते—'अविशेषप्रवृत्ते'ति ॥ २६८ ॥

गृह में देवदत्त नहीं है, इस प्रकार विशेष रूप से प्रवृत्त अनुपलब्धि मूलक प्रत्यक्ष के अनन्तर प्रवृत्त उस प्रत्यक्ष का विरोधी जीवित होने से कहीं है, इस प्रकार प्रवृत्त सामान्यानुमान की गृहविषयता का संशय कि गृह में है; या नहीं विशेषरूप प्रवृत्त

गृहासत्त्व विषयक प्रत्यक्ष प्रमाण और सामान्यरूप से प्रवृत्त उस प्रत्यक्ष से विपरीतार्थ विषयक अनुमान प्रमाण का वह उक्त विरोध रूप अर्थापत्ति प्रमाण है, वह बहिः सत्त्व प्रमा का हेतु है। यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष विशेष प्रमाण से बोधित गृहा-सत्त्व से, सामान्य सत्त्व बोधक प्रमाण की विपरीतता के होने पर प्रत्यक्ष से विरुद्धार्थ (गृह सत्त्व) अंश में दुर्बल संशय के अनवकाश होने के कारण उस सामान्य सत्त्व विषयक अविशेषरूप से प्रवृत्त प्रमाण की विषयता (गृहसत्त्व) को भी विषय करने में सामर्थ्य संशय में नहीं हो सकता, क्योंकि संशय भ्रम विशेषादर्शन मूलक होता है, अतः गृहासत्त्व के प्रत्यक्ष होने से गृहसत्त्व विषयक संशय नहीं हो सकता। फिर भी शंका होती है कि—अविशेषरूप से प्रवृत्त जीवित देवदत्त कहीं है, इस सामान्य का उससे विपरीत अर्थ वाला जो गृहासत्त्व विशेषविषयक प्रमाण का दर्शन (सत्त्व) है। वही प्रमाण दर्शन, उस गृहासत्त्व से इतर (बहिः) सत्त्व विशेषविषयकप्रमारूप फल वाला अर्थापत्ति प्रमाण है। यह शंका भी युक्त नहीं है ॥ २६८ ॥

अविशेषप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य तद्विपरीतार्थविशेषविषयस्य च प्रमाणस्य विषययोस्तद्विपरीतत्वविशेषणप्रतीत्यङ्गीकारलब्धायां परस्परविरुद्धत्व-प्रतीतौ धर्मिणोर्विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदस्य विरोधविवेचनस्फुटतद्गर्भप्रवेश-तया तत्सहज्ञेयस्य तन्नान्तरीयकस्य वान्यत्रेवान्यत एव प्राप्तेः ॥ २६९ ॥

प्रमाणयोर्विपरीतार्थत्वज्ञानं तदुभयविषयसत्त्वासत्त्वविरोधगर्भं विरोधश्च सत्त्वासत्त्व-योरेकधर्म्यसमावेश इति विरोधसहज्ञेय एव धर्मिभेदः सत्त्वासत्त्वे भिन्नधर्मिके विरुद्धत्वा-दित्यनुमानसाध्यो वेति नार्थापत्तेरवकाश इति परिहरति—'अविशेषे'ति। यद्यपि सत्त्वा-सत्त्वयोर्धर्मिभेदमात्रसिद्धिरेवं स्यान्नतु सत्त्वस्य बहिर्धर्मिकत्व सिद्धिरपि तथाप्यसत्त्वस्य गृहधर्मिकत्वे प्रमीयमाणे धर्मिभेदकल्पना सत्त्वस्य बहिर्धर्मिकत्वपर्यवसन्नैवेति भावः। विरोधविवेचनमेकधर्म्यसमावेशप्रतिसन्धानं तद्गर्भप्रवेशो धर्मिभेदस्य तत्प्रतिसन्धानविष-यत्वं तन्नान्तरीयकत्वं विरुद्धत्वस्य भिन्नधर्मिकत्वव्याप्यत्वं विरुद्धधर्माध्यासस्यैव भेदत्वे तत्सहज्ञेयत्वं भेदहेतुत्वे तु तन्नान्तरीयकत्वमुक्तमयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्मा-ध्यस्तत्वमित्याचार्याः ॥ २६९ ॥

क्योंकि, अविशेष प्रवृत्त (कहीं जीवी देवदत्त है) इस प्रमाण के और उससे विप-रीत विशेषार्थ विषयक (गृह में नहीं है) इस प्रमाण के सत्त्वासत्त्वरूप विषयों के, उस विशेषविषयक प्रमाण से विपरीतत्वरूप विशेषण की सामान्यविषयक प्रमाण में प्रतीति के अङ्गीकार से लब्ध (प्राप्त = ज्ञात) परस्पर विरोध की प्रतीति होने पर सत्त्वासत्त्व के धर्मी के भी विरुद्ध धर्माध्यासरूप भेद के विरोध विवेचन (एक धर्मी में अवृत्तित्वविचार) के स्फुट तद्गर्भ में प्रवेश होने से उस विरुद्ध धर्म के साथ ज्ञेय धर्मि-भेद या विरुद्ध धर्मित्व भेद के नान्तरीयक (व्याप्य) धर्मिभेद की अन्यत्र (घट तदभाव) के समान ही अन्य से ही प्राप्ति (सिद्धि) होती है, अर्थापत्ति की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् प्रमाणों के विरुद्ध अर्थ के सिद्ध होने पर उन के अर्थ का एक धर्मि में असमावेश के ज्ञान से धर्मि के भेद के ज्ञान होता है। अर्थात् सत्त्व और असत्त्व भिन्न धर्मी वाले हैं, ऐसा ज्ञान होता है क्योंकि वे परस्पर विरोधी हैं। यद्यपि इस प्रकार

धर्मी के भेदमात्र की सिद्धि होती है, बहिः सत्त्व की नहीं, तथापि गृह के असत्त्व के धर्मी सिद्ध होने पर सत्त्व का धर्मी बाह्य देश ही सिद्ध हो सकता है, वह अन्य से हो सिद्ध होता है। अतः अर्थापत्ति की आवश्यकता नहीं है ॥ २६९ ॥

किञ्च अविशेषप्रवृत्तस्यैव तस्य किं विशेषविषयत्वम् ? अथ सामान्यतः प्रवृत्तस्य नान्तरीयकतया प्रागेव विशेषविषयस्य विशेषविषयत्वेनाज्ञातस्य विशेषविषयत्वम्। अथ सामान्यस्य तद्विषयस्य विशेषः उत तद्विषयीकृत-विशेषगतं किमपि धर्मान्तरमिदानीं प्रतीयते। नाद्यः अर्थापत्तेर्भ्रमकरणत्वा-पत्तेः। न द्वितीयः, तदनुव्यवसायोत्पत्तेस्तद्विषयाप्रतीत्यसंभवात्। न तृतीयः सामान्यस्यानन्तर्भावितांश्रयस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्, प्रागेव तत्सिद्धेः॥२७०॥

किंचेति। क्वचिदस्तीति सामान्यतो दृष्टस्य सामान्यमात्रविषयस्य बहिः सत्त्वविषयत्व-ज्ञानमर्थापत्तिफलमिति प्रथमविकल्पार्थः। सामान्यविषयत्वेन विशेषविषयतया नियतस्य सामान्यतो दृष्टस्य विशेषविषयत्वज्ञानमर्थापत्तिफलमिति द्वितीयविकल्पार्थः। सामान्यविषयत्वेनाविशेषाद्विशेषद्वयं विषयस्यापि प्रमाणस्य बहिः सत्त्वमात्रविशेषविष-यत्वज्ञानं फलमिति तृतीयविकल्पार्थः। प्रथमतो ज्ञायमानस्यैव बहिः सत्त्वादिलक्षणविशे-षस्य प्रतीयमानविरोधिव्यतिरिक्तत्वादिधर्मज्ञानं फलमिति चतुर्थविकल्पार्थः। 'अर्थापत्ते-रि'ति। सामान्यमात्रविषयस्य विशेषविषयत्वज्ञानं भ्रम इत्यर्थापत्तेर्भ्रमकरणत्वापत्ति-रित्यर्थः। अनुव्यवसायेति। विशेषविषयं सामान्यतोदृष्टमनुव्यवसीयमानं विशेषविषयत्वे-नाप्यनुव्यवसीयत एवेत्यनुव्यवसायेनैव फलसिद्धावर्थापत्तेरनुवादकत्वापत्तिरित्यर्थः। सामान्यस्येति। अभिमतविशेषस्यापि सामान्यविषयप्रमाणादेव सिद्धेरनुवादकत्वापत्ति-रेवार्थपत्तेरित्यर्थः॥ २७० ॥

देवदत्त जीवित है। इस सामान्य (अविशेष) रूप से प्रवृत्त प्रमाण का क्या उसके बाह्यविशेषविषयत्वरूप अर्थापत्ति है (१) अथवा सामान्य रूप से प्रवृत्त (जीवति देवदत्तः) इस प्रमाण को सामान्य के नान्तरीयक (व्याख्य) रूप से प्रथम ही विशेष विषयत्व रहता है। परन्तु विशेष विषयत्वरूप से अज्ञात रहता है। उसके विशेष विषयत्व का ज्ञान अथापत्ति है (२) अथवा सामान्य सत्त्वमात्र विषयक प्रमाण का उस विषय को बाह्यदेशादि विशेष रूप से जो जाना जाता है, वह अर्थापत्ति है (३) अथवा सामान्य प्रमाण के विषयरूप विशेषगत कोई बहिः सत्त्वादिरूप धर्मान्तर वर्तमान काल में जाना जाता है (४) यहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि उक्तरीति से अर्थापत्ति को भ्रमज्ञान के करणत्व की प्राप्ति होगी। क्योंकि सामान्यमात्र विषय को विशेषविषयत्व का ज्ञान भ्रम ही होगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि सामान्यविषयक प्रमाण नान्तरीयक विशेषविषयक होने से अनुव्यवसाय द्वारा विशेषविषयकत्वरूप से ज्ञात होने पर अनुव्यवसाय से ही फल की सिद्धि होने से अर्थापत्ति निष्फल है। अर्थात् अनुव्यवसाय की उत्पत्ति से उस विषयविशेष की अप्रतीति का असम्भव है, अनुव्यव-साय से ही विशेष की प्रतीति हो जायगी, फिर अर्थापत्ति का क्या फल होगा। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि विशेष के आश्रित सामान्य विषयक प्रमाण से अर्थापत्ति की अपेक्षा प्रथम ही विशेष की सिद्धि से अर्थापत्ति से वह जानने में अशक्य है। यदि ज्ञात विषयविषयक अर्थापत्ति प्रमाण होगी भी तो अनुवादक ही होगी, सामान्य का ज्ञान

विशेष ज्ञानाधीन होता है। गो से गोत्वसमझा जाता है। अतः सामान्य विषयक प्रमाण विशेष को विषय करता है ॥ २७० ॥

नापि चतुर्थः तद्धिप्रतीयमानविरोधिव्यतिरिक्तत्वमन्यद्वा स्यात्। नान्त्यः, तत्प्रतीतौ सामर्थ्यानुपदर्शनेनानियमप्रसङ्गात्। न प्रथमः, अनुगताननुगत-जातिव्यक्तिचाक्षुषाचाक्षुषादिव्यक्तिगन्धादितादात्म्यवादिनये तदुभयप्रमा-तादात्म्यविषयताव्युदासं विना विरोधासिद्ध्यां तद्गमनिकाबलस्यैवासिद्धेः। तदुभयप्रतीतौ च तदवधारणे प्रागेव तत्प्रतीत्यार्थापत्त्यनुवादतापत्तेः ॥२७१॥

तदिति। सामान्यतो दृष्टस्य क्वचित्कत्वेन गृहबहिः सत्त्वविषयस्यगृहसत्त्वांशे प्रतीय-मानो विरोधो गृहासत्त्वलक्षणः प्रत्यक्षेण तद्व्यतिरिक्तत्वं बहिः सत्त्वांशस्येत्यर्थः। तत्प्रतीता-विति। अन्यत्वेनोक्तधर्मस्य विशेषापरिचयात्तत्र सामर्थ्यानुपदर्शनादित्यर्थः। 'अनुगताननु-गते'ति। गृहासत्त्वविरोधि गृहसत्त्वं तदा स्याद्यदि सत्त्वासत्त्वे विरुद्धे स्यातां तदेव तु नास्ति यतो द्वयोरपि धर्मयोर्भेदस्यार्थापत्तिवादिनो मतेऽधिकरणतादात्म्यन्तथा च विरोधासिद्धौ प्रतीयमानविरोधिव्यतिरिक्तत्वमेवानुपपन्नं किमर्थापत्त्याविषयीक्रियेतेत्यर्थः। विरुद्ध-तादात्म्यप्रतिपादनायानुगताननुगतेत्यादि प्रमायास्तादात्म्यविषयता प्रमातादात्म्यविष-यता तस्या व्युदासं विनेत्यर्थः। ननु सत्त्वासत्त्वयोः प्रमायास्तदुभयाधिकरणतादात्म्य-विषयताव्युदासेनास्तु विरोध एवानयोरित्यत आह—'तदुभये'ति। एवं सति सत्त्वासत्त्व-योर्विरोधज्ञानसहज्ञय एव धर्मिभेद इति पूर्वोक्तन्यायेनार्थपत्तिफलस्य पूर्वमेव सिद्धावर्था-पत्तेरनुवादकत्वेन भट्टमते अगृहीतग्राहित्वं प्रामाण्य न स्यादित्यर्थः ॥ २७१ ॥

चतुर्थपक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि वह सामान्य प्रमाण के विषयविशेषगत धर्मान्तर, प्रतीयमान विरोधी धर्म (गृहाऽसत्त्व) से व्यतिरिक्तत्व (भिन्नत्व) बहिः सत्त्व या अन्य होगा। वहाँ अन्तिम पक्ष नहीं बन सकता, बहिः सत्त्व से अन्य धर्म की प्रतीति में सामर्थ्य के अनुपदर्शन से (विशेषान्यत्व के ज्ञान में क्वचिदस्ति इस वाक्य की शक्ति के अज्ञान से) किसी धर्म के ज्ञान में अनियम की प्राप्ति होगी। प्रथम पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि अर्थापत्ति को प्रमाण मानने वाले, अनुगत जाति अननुगत व्यक्ति चाक्षुष व्यक्ति अचाक्षुषगन्धादि के तादात्म्य (अभेद) वादी के सिद्धान्त में (तदुभय) देवदत्त के सत्त्वासत्त्व दोनों की प्रमा के तादात्म्यविषयत्व के व्युदास (निषेध) के बिना सत्त्वासत्त्व के विरोध की असिद्धि से प्रमाण के उस बहिःसत्त्व के ज्ञान कराने के बल (शक्ति) की ही असिद्धि है। अर्थात् भट्ट मत में जैसे अनुगतादि का तादात्म्य माना जाता है, वैसे सत्त्वासत्त्व धर्म का भी धर्मी के साथ तादात्म्य माना जाता है। अतः गृह-रूपधर्मी से दोनों के अभेद होने पर सत्त्वासत्त्व का विरोध ही नहीं रहता जिससे गृहासत्त्व के साथ विरोध से बहिःसत्त्व की कल्पना हो सके। और इस प्रकार सत्त्वासत्त्व के अभेदप्रमा के निराश करने पर (तदुभय) सत्त्वासत्त्व के भिन्न रूप से प्रतीति होने पर, तथा उन के प्रमाणों के ज्ञान होने पर उन के धर्मी के भेद का अव-धारण होने से प्रथम ही उस बहिःसत्त्व की प्रतीति हो जाने के कारण अर्थापत्ति में अनुवादकता की ही प्राप्ति होगी, अतः भट्टमत्त में अगृहीत ग्राहकत्वरूपप्रमाणात्व अर्था-पत्ति को नहीं होगा ॥ २७१ ॥

॥ योग्यानुपलम्भ (अनुपलब्धि) विचार ॥

वैशेषिक सिद्धान्त में द्रव्यगुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायरूप छः भाव पदार्थ माने गये हैं और अभाव सप्तम पदार्थ माना गया है। इसी प्रकार मीमांसक श्रीभट्टपाद के सिद्धान्त में प्रत्यक्षादि पांच भावरूप प्रमाण और अनुपलब्धिरूप षष्ठ प्रमाण माने गये हैं। यहाँ प्रत्यक्षादि भावरूप वस्तु के लिये प्रमाण होते हैं। कहीं अभाव के लिये भी अनुमानादि प्रमाण होते हैं। ये छः प्रमाण वेदान्त परिभाषा आदि वेदान्त ग्रन्थ में भी माने गये हैं। परन्तु यहाँ अनिर्वाच्यता समझाने के लिये लक्षणमात्र का खण्डन समझना चाहिये लक्ष्य तो जो जैसा है, वैसा है ही। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव अति प्रसिद्ध हैं। और पञ्चम सामयिकाभाव भी कोई मानते हैं। इन अभावों का ज्ञान प्रायः ज्ञानाभावरूप अनुपलब्धि से हाता है। वहाँ भी सब अनुपलब्धि से नहीं किन्तु योग्यानुलब्धि से होता है। अतः योग्यानुपलब्धि की चर्चा हैः—

योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाकरणमित्यप्ययुक्तम्। प्रमाणाभावस्य तथात्वे विभ्रमानुदयप्रसङ्गात्। उपलम्भाभावमात्रस्य तथात्वे शङ्खधवलिमप्रतिसन्धानवतः पीतभ्रमानुदयप्रसङ्गात्। कालभेदात्तत्राविरोध इति चेन्न, तथापि संसृष्टयोरन्योन्याभावाग्रहणप्रसङ्गात्॥ २७२॥

भट्टस्य योग्यानुपलब्धि प्रमाणं खण्डयति—'योग्ये'ति। अनुपलब्धिरुपलब्ध्यभावस्तत्रोपलब्धिः प्रमा वा विवक्षिता ज्ञानमात्रं वा आद्ये आह—'प्रमे'ति। प्रमाया अभावो यद्यनुपलब्धिस्तदा शुक्तौ रजतत्वाभावप्रमैव स्यान्न तु रजतभ्रम इत्यर्थः। तत्पूर्वं रजतप्रमाया अभावेनानुपलब्धिसत्त्वादित्यर्थः। दोषादभावप्रमाप्रतिबन्ध इति न वाच्यं दोषस्य विकल्प्यनिरस्तत्वात् अन्त्ये आह—'उपलम्भे'ति। श्वेत शङ्ख इति जानतः पित्तदूषितनेत्रस्य पीतभ्रम एवं सति न स्यात्पीतानुपलम्भात् पीताभावप्रमाप्रसङ्गादित्यर्थः। ननु धवलिमप्रतिसन्धानं स्वकाले विरोधितया पीतिमज्ञानं प्रतिबध्नातु तदुत्तरक्षणे तु पीतिमोपलम्भसत्त्वान्न पीताभावप्रमा येन पीताभ्रमानुदय इति शङ्कते—'काले'ति। यद्यपि पीतभ्रमात्पूर्वं पीतोपलम्भ उपलम्भबाधित इति शङ्केयमनुपपन्ना तथाप्यभ्युपेत्य परिहरति—'तथापी'ति। संसृष्टयोरिन्द्रियसन्निकृष्टयोर्घटपटयोरन्योन्याभावग्रहो न स्यात्तदुभयोपलम्भेन योग्यानुपलम्भस्याभावप्रमाकरणस्याभावादित्यर्थः॥ २७२॥

योग्यानुपलम्भ अभावप्रमा का करण है। यह लक्षण युक्त नहीं। क्योंकि यदि उपलब्धि का प्रमात्मक ज्ञान अर्थ हो, तो प्रमाणाभाव (प्रमाभाव) के तथात्व (अभावमाणत्व) होने पर भ्रमज्ञान का अनुदय प्राप्त होता है, अर्थात् जहाँ शुक्ति में रजत का भ्रम होता है, वहाँ शुक्ति के प्रमाज्ञान के अभाव रूप अनुपलब्धि प्रमाण की वर्तमानता से तथा सादृश्य दर्शन से रजत की स्मृति होते भी रजत के प्रमा के अभाव से (नेदंरजतम्) यह रजत नहीं है, ऐसा प्रमात्मक ज्ञान (रजताभाव का ही ज्ञान) होना चाहिये, रजत का नहीं। यदि उपलब्धि से ज्ञानमात्र विवक्षित हो, तो, यद्यपि वहाँ दोष नहीं है, क्योंकि भ्रमरूप रजत ज्ञान के रहने से ज्ञान का अभाव नहीं है, तथापि जिस पुरुष ने प्रथम श्वेत शंख का अनुभव किया है, पीछे पित्तदोष नेत्र में होने पर जहाँ पीतत्व का भ्रम होता है, वह नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस पहले के अनुभूत शंख की श्वेतता का स्मरण पीतता ज्ञान का विरोधी है और प्रथम से शंख में पीतता की अनुपलब्धि भी

(नायं पीतः) यह पीत नहीं है, इस प्रमा ज्ञान का ही साधन है। यदि कहा जाय कि शंख में श्वेतता का ज्ञान तथा स्मरण प्रथम अपने समय में पीतभ्रम का प्रतिबन्धक हो सकता है, परन्तु उत्तरकाल में नेत्रगत दोषरूप पित्त से पीतिमा का स्मरण पूर्वक पीतभ्रम में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः नेत्र दोषगत पीतिमा अन्यथाख्याति से शंख में भासता है। अतः पीतिमा की अनुपलब्धि नहीं है जिससे नायं पीतः, ऐसा ज्ञान हो। तथापि इन्द्रिय से संसृष्ट (सम्बद्ध) घटपट के अन्योन्याभाव का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि घटपट के उपलम्भ ज्ञान होने से योग्यानुपलम्भरूप अभावप्रमा के करण का वहाँ अभाव है। यद्यपि संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की योग्यता से योग्यानुपलम्भ होता है यदि समवायेन घटः कपाले स्यात्तदा तथा उपलभ्येत, यदि संयोगेन भूतलंघटवत् स्यात्तर्हि उपलभ्येत, यदि वायूरूपवान् स्यात्तदा तथा (उपलभ्येत) इत्यादि जहाँ आपादन हो सके वहाँ संसर्गाभाव का प्रत्यक्ष होता है और अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में अनुयोगी की योग्यता से योग्यानुपलब्धि होती है, अतः (घटः यदि पटात्मा स्यात्तदा तथोपलभ्येत। पिशाचो यदि वृक्षात्मा स्यात्तदा तथोपलभ्येत) ऐसा उपपादन जहाँ हो सके वहाँ अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वैसा आपादन योग्यता ही अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष के लिये योग्यानुपनुपलब्धि होती है। और तदात्मता की अनुपलब्धि ही अन्योभाव के प्रत्यक्ष में करण है, प्रतियोगी अनुयोगी की अनुपलब्धि नहीं, परन्तु यहाँ प्रतियोगी अनुयोगी की अनुपलब्धि मात्र से दोषाभिधान है, उसे आगे कहते हैं ॥२७२॥

तादात्म्यस्य स्वरूपमात्रानतिरेकात्। अभावस्फुरणे च तत्प्रतिभानस्य ध्रौव्यात्। किंच योग्यता हि तत्तदविनाभूतान्यप्रतियोगिप्रमापकसाकल्यमिष्यते तथा सति यत्र भावोपलम्भस्तत्राप्यभावप्रमा स्यात्। नहि तत्र हेतुव्यतिरेकेणैव वा सत्येव वा तत्र भावप्रमोत्पद्यते। तत्तदविनाभूतविरहसहितः स तथा इति चेन्न ॥ २७३ ॥

ननु घटपटतादात्म्यं तत्र प्रतियोगि नतु घटपटावेव तच्चानुपलब्धमेवेत्यत आह—तादातम्यस्ये'ति। तदुभयतादात्म्यस्यालीकत्वेन तदुभयस्वरूपमेव तादात्म्यं वाच्यमित्यर्थः।तादात्म्यस्वरूपेण तथाप्यनुपलम्भ एवेत्याशङ्क्याह—'अभावस्फुरणे'इति। घटपटात्मना न भवतीत्यत्र तादात्म्यज्ञानस्यापि सम्भवादित्यर्थः। यद्वा सर्वत्राभावज्ञानध्रौव्यादनुपलब्धिस्तत्करणं क्वापि नास्तीत्यर्थः। 'किं चे'ति। स प्रतियोगी तदविनाभूत इन्द्रियसन्निकर्षादिस्तदितरद्यत्प्रतियोगिप्रमापकं तत्साकल्यमित्यर्थः। तथा सतीति। घटप्रमापकं तत्साकल्यमित्यर्थः। तथा सतीति। घटप्रमा यत्र तत्रापि तत्पूर्वं घटतद्व्याप्यतद्भिन्नयावद्घटप्रमापकसाकल्यं घटानुपलब्धिश्चास्तीतिघटाभावप्रमैव स्यादित्यर्थः। तदानीं तत्प्रमापकसाकल्ये हेतुमाह—'नही' ति। अनुपलब्धिसत्त्वे हेतुमाह—सत्येववेति। नहि सती विद्यमानेव प्रमा जायते येन घटप्रमोत्पत्तेः प्राक्तत्प्रागभावरूपाप्यनुपलब्धिर्न स्यादित्यर्थः। 'तत्तदि'ति। प्रतियोगितद्व्याप्ययोरप्यभावो योग्यानुपलम्भसहाकारी प्रकृते च स नास्तीति नाभाव प्रमेति शङ्कार्थः सोनुपलम्भः ॥ २७३ ॥

यदि कहें कि घठपटान्योन्याभाव के घटपट का तादात्म्य प्रतियोगी है, और वह तादात्म्य अनुपलब्ध है, अतः तादात्म्य की अनुपलब्धि अन्योन्याभाव के ज्ञान का करण होता है, तो कहा जाता है कि घटपट का तादात्म्य तो कभी होता नहीं है। अतः दोनों का

अभेदरूप तादात्म्य तो प्रतियोगी हो नहीं सकता। फिर दोनों का स्वरूप मात्र तादात्म्य को स्वरूप से भेद नहीं है जो अज्ञात हो। यदि कहा जाय कि घटत्वादि रूप से घटादि के ज्ञान होने पर भी तादात्म्यरूप से ज्ञान नहीं रहता है, तो यह कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि अभाव ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। अतः (घटः घटात्मा न भवति) घट पट स्वरूप नहीं होता है, ऐसा भेद ज्ञान जहाँ होता है, वहां उसके प्रतियोगी तादाम्य का अवश्य ज्ञान रहेगा। इसी प्रकार सर्वत्र अभाव ज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान के अवश्य वर्तमान रहने से अनुपलब्धि अभावज्ञान का कारण कहीं नहीं हो सकती। और दूसरी बात यह है कि अनुपलम्भ में योग्यता यह है कि तत् (प्रतियोगी) और तद-विनाभूत (प्रतियोगी व्याप्य इन्द्रियसम्बन्ध) से अन्य इन्द्रिय आलोकादि प्रतियोगी के प्रमापक (प्रमाहेतु) का साकल्य (समूह) योग्यता मानी जाती है। परन्तु ऐसा होने पर जहाँ घटादिभाव का ज्ञान होगा वहाँ ही अभाव की प्रमा भी होगी, क्योंकि घटादि प्रमा की उत्पत्ति से पूर्वकाल में अनुपलब्धि और प्रतियोगी प्रतियोगी व्याप्य से अन्य प्रतिप्रमापकसाधन का साकल्य अवश्य रहता है। अतः (नास्तिघटः) ऐसी प्रमा होनी चाहिये, क्योंकि वहाँ भावप्रमा के हेतु के बिना या प्रमा के प्रथम से रहते ही भाव की प्रमा नहीं उत्पन्न होती है, किन्तु प्रथम से अविद्यमान की उत्पत्ति होती है, अतः प्रमा की उत्पत्तिकाल में अनुपलब्धि और प्रमा की उत्पत्ति के साधन सामग्री के रहने से भावप्रमा के द्वितीयक्षण में अभाव प्रमा की उत्पत्ति की प्राप्ति होती है। शंका होती है कि तत् = प्रतियोगी और तद्व्याप्य = इन्द्रियसन्निकर्षादि के अभाव सहित वह योग्यानुपलम्भ अभाव प्रमा का करण होता है और भावप्रमा के स्थान में प्रतियोगी और उसके व्याप्य का भाव रहता है, अतः दोष नहीं है ॥ २७३ ॥

आगे उत्तर है कि—

तदविनाभूतव्यतिरेकस्य तद्व्यतिरेकेणैवान्यथासिद्धसन्निधेरपि हेतुताङ्गीकारे प्रमाणाभावात्। अत एवालोकस्याध्यक्षणे आलोकान्तरवत्ताऽवयवेनावयविना वाऽऽलोकेनान्यथासिद्धसन्निधिरहेतुरित्यालोकाभावग्रहे सा नापेक्षते। अर्थाक्षयोगस्तु नार्थव्याप्तोऽत ऐक्यात् ॥ २७४ ॥

तदविनाभूतेति। प्रतियोग्यन्वयव्यतिरेकगर्भत्वात्तद्व्याप्यान्वयव्यतिरेकयोर्दण्डत्ववदन्यथासिद्धस्तद्व्याप्यविरह इति परिहारार्थः। अत एवेति। आलोकावयवावयविनोः प्रत्यक्षतायामन्योन्यसहकारिता यथारम्भारम्भकभावसिद्धसन्निधितयाऽन्यथासिद्धतया नेष्यते तथा प्रकृतेपीत्यर्थः। ननु यथा प्रतियोग्यभावव्यापकस्तद्व्याप्याभाव इत्यन्यथासिद्धस्तथेन्द्रियसन्निकर्षव्यापको घटादिरर्थ इति साक्षात्कारे सोप्यन्यथासिद्धः स्यादित्यत आह—अर्थाक्षयोगइति। अर्थाक्षसन्निकर्षस्यार्थघटितस्वरूपत्वादैक्यादिह व्याप्तिरेव नास्तीति न प्रतिबन्दिरित्यर्थः। यत्र घट प्रतियोगी नास्ति तत्र तत्प्रमापकसाकल्यमपि नास्ति घटेन्द्रियसन्निकर्षस्यैव तत्प्रमापकस्याभावात्। न च प्रतियोगितद्व्याप्यभिन्नत्वेन विशेषणात्तदसत्त्वं न दोषायेति वाच्यं तत्सन्निकर्षस्यतद्घटितत्वेनाभेदेन तद्व्याप्यत्वादिति स्वतन्त्रमेवैतद्दूषणमिति वयम् ॥ २७४ ॥

तदविनाभूत (प्रतियोगीन्द्रियसन्निकर्ष) के व्यतिरेक (अभाव) को प्रतियोगी के व्यतिरेक द्वारा ही अन्थासिद्ध सम्बन्ध को भी अभाव प्रमा में हेतुता मानने में प्रमाण का

अभाव है। अर्थात् प्रतियोगी सम्बन्ध का व्यतिरेक अन्यथा सिद्ध हैं। वह अनुपलम्भ का सहकारी नहीं हो सकता। अतः उससे सहित भी अनुपलम्भ अभाव प्रमा का कारण नहीं कहा जा सकता। अत एव (अन्यथा सिद्ध होने ही से) अवयवी रूप आलोक के अध्यक्षण (प्रत्यक्ष) में अवयव आलोक द्वारा आलोकरूप कारणान्तवत्ता की अपेक्षा नहीं की जाती है। इसी प्रकार अवयव रूप आलोक के प्रत्यक्ष में अवयवीरूप आलोकद्वारा आलोकान्तरवत्ता की अपेक्षा नहीं की जाती है, क्योंकि कार्यकारणभाव से अवयव और अवयवी अन्यथा सिद्ध सम्बन्धबाले होने से आलोकप्रत्यक्ष में अहेतु है। अतः आलोक के अभाव (तम) के ज्ञान में भी उनकी अपेक्षा नहीं होती है, वैसे प्रकृत में अन्यथा सिद्धसन्निकर्षाभाव की अभावप्रत्यक्ष में अपेक्षा नहीं होने से सन्निकर्ष रहते भी योग्यानुपलम्भ से अभाव प्रमा की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि प्रतियोगी का अभाव व्यापक है और उसका व्याप्यसन्निकर्षाभाव अन्यथा सिद्ध है, वैसे ही इन्द्रिय सम्बन्ध का व्यापकघटादि विषय है, अतः घटादि के साक्षात्कार में इन्द्रिय सम्बन्ध भी अन्यथासिद्ध होंगे, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि घटादि अर्थ (विषय) और इन्द्रिय का सम्बन्ध तो अर्थ से व्याप्त नहीं है। इन्द्रिय अर्थ का सम्बन्ध अर्थ से घटित (युक्त) है। अतः अर्थ का सम्बन्ध के साथ अंशतः (कुछ अंश में) एकता है और व्याप्य-व्यापकभाव भिन्न में होता है, अभिन्न में अपना व्यापक आप हो, यह असम्भव आत्माश्रयताप्रापक है ॥ २७४ ॥

तद्विरहसहितः स तथा इति चेन्न, इन्द्रियसन्निकर्षस्य हि प्रतियोग्युपलम्भे तावद्धेतुताङ्गीक्रियते, तत्र किं सन्निकर्षव्यतिरेके कार्यानुदयोदाहरणमेष्टव्यं न वा, न यदि तदा सन्निकर्षस्य हेतुतैव कुतो मन्तव्या, अन्यथैव कार्योत्पत्त्युपपत्तेः। एष्टव्यं चेत्तर्हि तत्रैवोदाहरणे व्यवधायकेनेन्द्रियसन्निकर्षशून्ये परमार्थतश्चाभाववत्युक्तकारणसम्पत्तेरभावप्रमा स्यात्। तत्र व्यवधायकाभावः प्रतियोग्युपलम्भको नास्ति इति चेन्न, सन्निर्षव्यतिकरेकस्य प्रमाव्यतिरेकप्रयोजकत्वावधारणोदाहरणमेव तर्हि तत्र स्यात्। व्यवधायकस्य सन्निकर्षविरोधेनैव प्रमाविरोधित्वमिति चेत्तर्हि व्यवधायकाभावः सन्निकर्षोत्पत्तौ कारणं न त्वभावप्रमाविशेषोत्पत्ताविति स्थिते स प्रसङ्गस्तदवस्थ एव ॥ २७५ ॥

तद्विरहेति। प्रतियोगिविरहः प्रतियोग्युपलम्भकयावत्समवधानं चाभावप्रमाकरणमतो न प्रतियोगिप्रमाप्रसङ्ग इत्यर्थः। प्रतियोगिविरहसहकृतापी त्वदुक्तसामग्री क्वचिन्नभावग्राहिकेति व्यभिचारमुपदर्शयितुं पीठमारचयति—इन्द्रियेति। व्यभिचारमाह—तत्रैवोदाहरण इति। यत्र कुड्यादिव्यवहितो घटाभावो न गृह्यते तत्र घटतद्व्याप्यभिन्नघटोपलम्भकसाकल्यं घटाभावश्चास्तीति घटाभावप्रमा स्यादित्यर्थः। कुड्यादेर्व्यवधायकस्याभावः प्रतियोगिप्रमापकः प्रकृते स नास्तीति शङ्कते—तत्रेति। तर्हि व्यवधायकाभावदेव तत्र कार्याभावः। ननु सन्निकर्षाभावप्रयुक्त इति तत्सन्निकर्षस्य कारणतैव न स्यादिति परिहरति—सन्निकर्षेति। स प्रसङ्ग इति। व्यवहिताभावग्रहप्रसङ्ग इत्यर्थः॥ २७५ ॥

शंका होती है कि प्रतियोगी का अभाव और प्रतियोगी ज्ञापक यावत् साधन समवधान रूप योग्यानुपलम्भ अभावप्रमा का कारण है, अतः प्रतियोगी के प्रमास्थान में अभावप्रमा

की प्राप्ति नहीं हो सकती, परन्तु यह शंकायुक्त नहीं, क्योंकि प्रतियोगी के अभावयुक्त भी उक्त साधनसामग्री कहीं अभाव प्रमा का कारण नहीं होती है। जैसे इन्द्रियसन्निकर्ष की तो प्रतियोगी के ज्ञान में अवश्य हेतुता मानी जाती है। वहाँ इन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव रहते प्रतियोगी के ज्ञानरूप कार्य के अनुदय (अनुत्पत्ति) का उदाहरण मन्तव्य है ? या नहीं ? यह विचारणीय है। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय सम्बन्ध के अभाव रहते कार्य (प्रतियोगिज्ञान) के अनुदय का उदाहरण मन्तव्य नहीं है, तब तो सन्निकर्ष की हेतुता कैसे मानी जायगी ? क्योंकि अन्वयव्यतिरेक से हेतुता सिद्ध होती है। और प्रतियोगी के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना यदि कार्य होगा, तो अन्यथा (सन्निकर्ष के बिना) कार्य की उत्पत्ति से सन्निकर्ष में कार्य की हेतुता सिद्ध नहीं होगी। अतः सन्निकर्षाभाव में यदि कार्यानुदय का उदाहरण एष्टव्य है, तो उस उदाहरण में ही जहाँ दिवालादि व्यवधान से इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है और वस्तुतः प्रतियोगी का अभाव है, वहाँ प्रतियोगी के अभावसहित अभावज्ञान के उक्तसाधन सामग्री के रहने से अभाव की प्रमा होनी चाहिये, परन्तु नहीं होती है। यदि कहा जाय कि व्यवधायक का अभाव प्रतियोगी का उपलम्भ (उपलम्भ हेतु) है और वह भी अभावप्रमा में कारण है। अतः व्यवधान रहते वहाँ अभाव की प्रमा नहीं होती, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि व्यवधायक के अभाव रहते तो इन्द्रिय सन्निकर्षाभाव के प्रमाऽभाव हेतुत्व के ज्ञान का वह उदाहरण ही नहीं होगा, न सन्निकर्ष को ज्ञानहेतुता सिद्ध होगी। यदि कहा जाय कि व्यवधायक में सन्निकर्षविरोधद्वारा प्रमाविरोधित्व होता है, अतः भाव या अभाव की प्रमा वहाँ नहीं होती तो इस प्रकार व्यवधायक का अभाव सन्निकर्ष की उत्पत्ति में कारण सिद्ध होता है। अभावप्रमा-विशेष की उत्पत्ति में नहीं, ऐसी स्थिति होने पर, वह व्यवहित अभावज्ञान की प्राप्ति पूर्ववत् है ॥ २७५ ॥

नच सन्निकर्षाभावादेव तदानीमुक्तकारणासम्पत्तिः, प्रतियोगिसन्निकर्ष-स्याभावप्रमोत्पादकत्वे नित्यं तदनुत्पत्त्यापत्तेः। अत एव नाव्यवधानमधिकं कारणमेष्टव्यं इन्द्रियसन्निकर्ष एव तदुपपत्तेः। नचाश्रयसाक्षात्कारोपि, प्राङ् नास्तितताग्रहादौ व्यभिचारात्। ननु व्यवधायकसद्भावे यत्र परमार्थतोऽस्त्य-भावस्तत्रोक्तकारणादभावावधरणमस्त्येव को विरोधः, न तावद्भावयोगिन्यपि तावता तद्विरहप्रमा प्रसज्येत ॥ २७६ ॥

प्रतियोगिव्याप्यत्वेन व्युदस्तस्यापि प्रतियोगिसन्निकर्षस्य कारणत्वामाशङ्क्याह—नचेति। अभावेन सह सन्निकर्षो न शङ्कितः भट्टैस्तदनङ्गीकारात्। अत एवेति। पूर्वं व्यवधायकाभावत्वेन कारणत्वं शङ्कितमिदानीं व्यवधानत्वेनेत्यपौनरुक्त्यं यद्वाऽभावेन ग्राह्येण सहेन्द्रियाव्यवधानमभावग्रहकारणं व्यवहितस्थले तदभावान्नाभावग्रहप्रसङ्गमि-त्यत आह—अत एवेति। तथाचार्थेन्द्रियसन्निकर्षः कारणमित्युक्तं स्यात्तथाचेन्द्रिय-वेद्यतैवाभावस्य नतु भट्टाभिमतानुपलम्भः कारणमित्याह—इन्द्रियेति। तदुपपत्ते-रव्यवधानस्य कारणत्वोपपत्तेः। नचेति। कारणमित्यनुषज्यते आश्रयसाक्षात्कारस्या-भावप्रमाहेतुत्वे गृहाद्बहिर्गतेन गृहे चैत्राभावो न गृह्येत तदानीं गृहस्यासाक्षात्कारादित्यर्थः।

ननु यत्र व्यवधानं तत्राप्युक्तसामग्रीबलादभावो गृह्यते एव प्रतियोगिमति यद्यभावज्ञानं भवेत्तदा दोषः स्यात्तत्र चाभाव एव वास्तवो नास्तीति शङ्कते—'नन्वि'ति ॥ २७६ ॥

यदि कहें कि उस व्यवधान काल में प्रतियोगी के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं रहता है, इसीसे उक्त प्रतियोगी प्रमापक कारण की असम्पत्ति (असाकल्य) से अभाव की प्रमा नहीं होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि प्रतियोगी और इन्द्रिय का सम्बन्ध अभाव की प्रमा का उत्पादक हो तो नित्य उस सन्निकर्ष काल में प्रतियोगी की वर्तमानता से अभावप्रमा की अनुत्पत्ति की प्राप्ति होगी। तथा प्रतियोगी सन्निकर्ष के रहने पर यदि अभावप्रमा की उत्पत्ति हो तो सदा प्रतियोगी प्रमा की अनुत्पत्ति की प्राप्ति होगी, क्योंकि प्रतियोगी की भावाभाव दोनों अवस्था में अभाव की ही प्रमा होगी। प्रतियोगी के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष के अभावप्रमा में कारण मानने पर उक्त दोष से ही अभाव-प्रमा में अव्यवधान भी अधिक कारण मानने योग्य नहीं है, क्योंकि अव्यवधान को कारण मानने पर इन्द्रिय सन्निकर्ष में ही उस अव्यवधान की कारणता की उपपत्ति (सिद्धि) होगी तो इस प्रकार इन्द्रियाँ ही अभावज्ञान का कारण वहाँ सिद्ध होंगी, अनुपलम्भ नहीं और अव्यवधान द्वारा आश्रय (अभावानुयोगी) के साक्षात्कार को भी अभावप्रमा में कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि पूर्वकालिक नास्तिता (अभाव) ज्ञान में तथा भावि-कालिक अभाव के ज्ञान में आश्रय की अपरोक्षता का अभाव रहता है। आश्रय के स्मरण मात्र से ऐसा ज्ञान होता है—(प्रातश्चत्वरे गजो नासीत्। तत्पुष्पं तत्र न भविष्यति कार-णाभावात्) पूर्व अनिष्टापादन को ही इष्ट मान कर शंका होती है कि व्यवधायक के रहते वहाँ वस्तुतः अभाव है, वहाँ आलोक इन्द्रियादिसहित अनुपलब्धिरूप उक्त अभावप्रमा के कारण से अभाव की प्रमा होती है। वहाँ विरोध क्या है? इस प्रकार प्रतियोगी के भावयोगी (भाव वाले) देश में भी प्रतियोगी के अभाव की प्रमा तावता नहीं प्राप्त होगी, क्योंकि वहाँ प्रतियोगी के अभाव का अभाव है। अर्थात् वहाँ प्रतियोगी है अतः वहाँ अभाव की प्रमा नहीं होगी, परन्तु प्रतियोगी के अभाव स्थान में अभाव-प्रमा होगी ही ॥ २७६ ॥

तर्हि प्रतियोग्यभावसहितोनुपलम्भ एवाभावप्रमाणमस्तु जहि हि योग्यताविशेषणनिवेशव्यसनं योग्यता विशेषणाप्रक्षेपणेनुपलम्भमात्रतो वस्तुगत्या प्रतियोग्यभाववत्यपि नाभावनिश्चयः कदाचित्तु संशयो जायते तत्कथं तथाङ्गीक्रियते इति चेत्तर्हि व्यवधानेप्येवमेवेति योग्यताविशेषण-प्रक्षेपेपि तुल्यम्। अपि च मेयस्य वास्तवं सत्त्वं प्रमाणकोटावनिवेशार्हमेव मेयवस्तुसत्त्वासत्त्वनिर्धारणार्थमेव हि प्रमाणाप्रमाणविवेचनं विचारकाणाम् अन्यथानुमाने व्याप्तावुपाधिनिरासायासो व्यर्थः स्यात् व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञान मात्रस्यैव कारणत्वाङ्गीकारेण सौस्थ्यात् प्राङ्नास्तिताप्रमितौ च यद्यभाव-प्रमाणतां मन्यसे तर्हि सा न स्यात्तत्रेदानीं जायमानाभावप्रमोत्पत्तावभाव-वास्तवसत्ताविरहस्येदानीं क्वचित्सम्भवात् ॥ २७७ ॥

अभ्युपेत्य परिहरति—तर्हीति। व्यवधानेऽभावप्रमा स्यादित्येतदर्थमेव हि योग्यता-विशेषणं सा चेदभ्युपगतैव किं विशेषणेनेत्यर्थः। योग्यताविशेषणमन्तरेणान्धकारे घटाभाव-

वति गृहे घटाभावप्रमास्यान्नतु घटसदसत्त्वसंशय इत्याशङ्कते—'योग्यते'ति। तर्हि व्यवधानेपि घटाभावप्रमायां घटसदसत्त्वसंशयो न भवेदिति योग्यताविशेषणदानेपि सामग्रीसत्त्वे फलानुदयदोषः प्रसक्त इति परिहरति—'तर्हीति। प्रमाणप्रवृत्तेः प्राक् प्रमेयसत्त्वनिर्णये प्रमाणफलमेवेत्याह—'अपि चे'ति। यत्र वास्तवी व्याप्तिस्तत्र पक्षधर्मताज्ञानमनुमितिजनकमिति व्याप्तिज्ञानार्थमुपाधिनिरासप्रयासवैफल्यमित्याह—'अन्यथे'ति। प्राङ्नास्तितास्थले यद्यनुपलब्धिः करणं तदा गृहोपलम्भकाले चैत्राभाववतो गृहस्य क्रमेण चैत्रवत्त्वे सति नाभावः सहकारीत्याह—'प्रागि'ति। तद्गेहं तदा चैत्राभाववच्चैत्रवत्तया योग्यतायां सत्यामप्यस्मर्यमाणत्वादित्यनुमानमाशङ्क्य यद्युपनिबन्धः॥ २७७॥

शंका का उत्तर यह है कि यदि उक्त व्यवहित स्थान में अभाव के सत्त्वावस्था में अभाव की प्रमा होती है, तो प्रतियोगी के अभाव सहित अनुपलम्भ को ही अभावप्रमा का कारण मानना चाहिये और योग्यतारूपविशेषण के निवेशरूप व्यसन (व्यर्थ क्रिया) को नष्ट ही करना चाहिये। क्योंकि, व्यवहित दूरवर्ती आदि की प्रमाकी व्यावृत्ति के लिये योग्यता विशेषण थी, वहाँ व्यवहित की प्रमा मानने पर उसकी आवश्यकता नहीं है। यदि योग्यता विशेषण नहीं दें, तो अन्धकारयुक्त गृहादि के वस्तुतः अभावयुक्त रहते भी अनुपलब्धिमात्र से अभाव का निश्चय नहीं होता है और कभी संशय भी होता है। अतः प्रतियोगी के अभाव सहित अनुपलम्भ अभाव का कारण कैसे माना जा सकता है। यदि वह प्रमा करण हो, तो अभाव का वहाँ निश्चय होना चाहिये संशय नहीं, इसका उत्तर यह है कि योग्यता विशेषण देने पर भी अन्धकारादि युक्त स्थान के समान व्यवधान रहते भी अभाव के सत्त्वावस्थान में भी निश्चय नहीं होता और संशय होता है। यदि वहाँ अभाव की प्रमा हो, तो अनिश्चय संशय की प्राप्ति नहीं होनी चाहिये। और जो यह कहा है कि (व्यवधायक सद्भावेणात्र परमार्थतोऽस्त्यभावस्तत्रोक्तकारणादभावावधारणम्) अयुक्त है, क्योंकि मेय (प्रमेय) वास्तविक सत्त्व प्रमाण कोटि में अनिवेशार्ह (निवेश के अयोग्य) ही होता है। और वास्तविक सत्त्व के निवेश नहीं करने पर जहाँ व्यवधान रहते वास्तविक अभाव का सत्त्व नहीं है, किन्तु भ्रम है, वहाँ भी अभावप्रमा की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि इस दोष के निवारण के लिये प्रमाण कोटि में मेय के वास्तव का निवेश करना चाहिये, तो यह युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति से प्रथम ही प्रमाण के स्वरूप में ही प्रमेय के सत्त्व निर्णय हो जाय, तो प्रमेय के निर्णय के लिये विचार की प्रवृत्ति नहीं होगी और मेय वस्तु के सत्त्वासत्त्व के निश्चय के लिये ही प्रमाणाप्रमाण का विवेचन विचारक लोग करते हैं। यदि प्रमाण कोटि में प्रमेय का निवेश हो, तो जहाँ वास्तविक व्याप्ति है वहाँ पक्षधर्मता (हेतु की पक्षवृत्तिता) का ज्ञान अनुमिति का हेतु होगा, अतः अनुमान में व्याप्तिज्ञान के लिये उपाधिनिरासार्थ प्रयास व्यर्थ होगा। क्योंकि प्रमेय विशिष्ट व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान मात्र को ही कारण मान कर सुस्थता से उक्त प्रयास की आवश्यकता ही नहीं रह सकती। और प्राङ् नास्तितता (पूर्वकालिक प्रागभाव) की प्रमिति (ज्ञान) में यदि अभाव (अनुपलब्धि) की प्रमाणता को मानें तो (वह प्रमिति) नहीं होगी। क्योंकि वहाँ इस अभावज्ञान काल में जायमान अभावप्रभा की उत्पत्ति में अभाव (प्रागभाव) की वास्तविक सत्ता के अभाव का भी कहीं सम्भव होता है। और जहाँ वास्तविक अभाव

की सत्ता हो, वहाँ आप ने उक्त कारण से अभावप्रमा को माना है, अतः जहाँ कपाल में घट का प्रागभाव वर्तमान है, वहाँ यदि (घटो नास्ति घटो भविष्यति) इस प्रकार अनुपलम्भद्वारा घटप्रागभाव का ज्ञान होगा, तो वास्तविक प्रागभाव की सत्ता रहेगी, परन्तु (पूर्वस्मिन् दिवसे कपाले घटो नासीत्) आज के पहले दिन कपाल में घट नहीं था, इस ज्ञान काल में प्रागभाव के नष्ट हो जाने के कारण उसका ज्ञान नहीं होगा ॥ २७७ ॥

शंका होती है कि अनुलब्धि के फलरूप प्रागभाव के ज्ञान से पूर्वकाल को विषय किया जाता है और पूर्वकाल में अभाव रहता ही है, अतः उससे उपलक्षित आश्रय कारण कोटि में प्रविष्ट रहता है, तो कहते हैं कि—

फलविषयकालिकाभावोपलक्षिताश्रयादेः कारणकोटिनिवेशे विशेषाभावात्। तदुपलक्षितत्वस्यैव विशेषणस्य विशेषत्वेऽतिप्रसङ्गात् तथापि सामान्यतो विशेषाभावोसिद्ध इति, चेन्न तस्य सत्त्वे निर्वचनापातात् ॥ २७८ ॥

ननु फलेनानुपलब्धिजन्यज्ञानेन प्राक्काल एव विषयीक्रियते तत्र चासीदेवाभाव इति तदुपलक्षिताश्रयोपि कारणकोटिप्रविष्ट इत्याशङ्क्याह—'फले'ति। तथा सति प्रतियोगिमत्यभावप्रमा न भवत्यन्यत्र भवतीति विशेषो न स्यादित्यर्थः। आश्रयस्याभावोपलक्षितत्वं यद्विशेषणं तदेव विशेषः स्यादित्याशङ्कते—'उपलक्षितत्वेतिप्रसङ्ग एवेति परिहरति—'अतिप्रसङ्गादि'ति। विशेषस्य विशिष्यानिर्वचनेपि सामान्यतः कश्चिद्विशेषो व्यवहारानुरोधात्स्वीकार्य इत्याशङ्कते—'तथापी'ति। कोऽसौ विशेष इति वादिप्रश्ने तन्निर्वचनमावश्यकमन्यथा सर्वत्रसामान्येनैवोत्तरं स्यादिति परिहरति—'तस्ये'ति। व्याख्यानमिदमस्माकं यथा पितृवचस्तथा व्याख्यानगुणदोषाभ्यां संबन्धो मत्पितुर्न मे ॥ २७८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायशङ्करमिश्रकृतखण्डनव्याख्यानेऽनुपलब्धिखण्डनव्याख्यानं समाप्तम् ॥

फलविषयपूर्वकाल में होने वाले अभाव से उपलक्षित आश्रय और काल को कारण कोटि में निवेश करने पर योग्य अनुपलम्भ प्रतियोगिप्रमापकसाकल्य में विशेष का अभाव रहता है, क्योंकि, ईदानीं अनुपलम्भ से यदि पूर्वकालिक अभाव का ज्ञान होता है, तो प्रतियोगी वाले आश्रय काल में अभाव का ज्ञान नहीं होता, अन्यत्र होता है, यह विशेष (भेद) नहीं रहेगा क्योंकि, इस समय कपालरूप आश्रय में प्रतियोगी वर्तमान है। यदि अभाव से उपलक्षितत्व जो कपाल में है, उस उपलक्षितत्वरूप विशेषण को विशेषत्व मानें कि उस उपलक्षितत्वयुक्त आश्रय में अभाव की प्रमा होती है, तो फिर भी प्रतियोगी युक्त कपाल के प्रागभाव से उपलक्षितत्वयुक्तता के कारण प्रतियोगी काल में भी प्रागभाव की प्रमा की प्राप्ति होगी। उपलक्षण की वर्तमानता की आवश्यकता नहीं रहती है। यदि कहा जाय कि सामान्यरूप से विशेष का अभाव प्रसिद्ध है, कोई ऐसा विशेष होगा जिससे प्रतियोगी काल में प्रागभाव की प्रमा की प्राप्ति नहीं हो, तो कहा जाता है कि उस विशेष के रहने पर उसके निर्वचन की प्राप्ति होगी और उसका निर्वचन अशक्य है, क्योंकि प्रतियोगी काल में जहाँ प्रतियोगिप्रमापकसाधनसाकल्य है वहाँ

प्रतियोगी की प्रमा होगी ही। और वास्तविक प्रागभाव है नहीं, फिर भी उसका ज्ञान होता है, वहाँ अनुपलम्भ से उसका ज्ञान होना असम्भव है, अतः अनुमान ही शरण है ॥ २७८ ॥

छः प्रकार के प्रमाणों का विचार हो गया। अब प्रमाणाभासों का विचार कर्तव्य है। यहाँ यद्यपि पहले प्रत्यक्षाभास का विचार करना चाहिये तथापि कथा में अनुमान की प्रधानता रहती है और न्यायदर्शन भी अनुमानप्रधानदर्शन है। अतः अनुमान के गुणदोष विशेषरूप से विचारणीय हैं। इसलिए पहले हेत्वाभास का विचार किया जाता है। यद्यपि सव्यभिचार १, विरुद्ध २, सत्प्रतिपक्ष ३, असिद्ध ४, और बाधित ५, यह हेत्वाभास का क्रम है, तथापि (विशेषाभावोऽसिद्धः) यह पूर्वकथित असिद्ध के बुद्धिस्थ होने के कारण असिद्ध का ही प्रथम विचार किया जाता है—

कश्चायमसिद्धो नाम तथाहि व्याप्तिपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इत्यलक्षणं हेत्वाभासान्तराणामपि ह्यसिद्धप्रवेश एवं सति स्यात् व्याप्तिं पक्षधर्मतां तत्प्रमितिं वा न विरुधतां हेतुदोषत्वासम्भवात् ॥ २७९ ॥

या सूक्तिर्भवनाथवक्त्रकमलादुद्गत्वरी तत्कृतं सौभाग्यं प्रतिपद्य शुद्धमतिभिः श्लाघापदं लम्भिता न्यस्ता सज्जनमानसे विजयतामापुष्पवन्तोदयं ग्रन्थग्रन्थिविमोचनाय रचना वाचामियं शाङ्करी ॥ १ ॥ प्रमाणानां सामान्यलक्षणानि विशेषलक्षणानि च विस्तरेण निराकृत्य तन्निरूप्यत्वोत्तदाभासानां तदनन्तरं तन्निराकरणाय प्रस्तौति—'कश्चायमि'ति। यद्यपि भेदस्थापनायां हेत्वाभासखण्डनिकस्य स्वबधाय कृत्योत्थानमिव तथापि हेत्वाभासानामखण्डने तैरेव द्वैतापत्तिरिति तल्लक्षणमपि खण्डयते—'व्याप्ती'ति। व्याप्तेरप्रमायां व्याप्यत्वासिद्धिः पक्षधर्मताया अप्रमायामाश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिश्च तदेतत्त्रितयसाधारणं लक्षणं अप्रमा च विषयाभावाद्विषये सत्यपि तदग्रहाद्वा तथा च यत्र व्याप्तिस्वरूपं नास्ति सदपि वा न प्रतीयते यत्र पक्षस्वरूपं नास्ति तद्विशेषणं सन्देहः सिषाधयिषा वा नास्ति तत्सत्वेपि हेतुर्वा नास्ति सर्वस्योपग्राहकमेतदिति भावः। विरुद्धव्यभिचारिबाधितेषु व्याप्त्यभावात्सत्प्रतिपक्षे च तदनिश्चयात्सर्वत्र लक्षणमिदमतिव्यापकमित्याह—'हेत्वाभासान्तराणामि'ति। अतिव्याप्तिं द्रढयति—व्याप्तिमिति। व्याप्तिपक्षधर्मतयोः सत्त्वेपि तदज्ञानदशायामज्ञानस्वरूपामसिद्धिं सङ्गृहीतुमाह—'तत्प्रमितिमि'ति ॥ २७९ ॥

यह असिद्ध नामक हेत्वाभास क्या है? अर्थात् इसका लक्षण अनिर्वाच्य है, तथाहि—स्वरूपासिद्ध १, व्याप्यत्वासिद्ध २, और आश्रयासिद्ध ३, ये तीन प्रकार के असिद्ध हेतु कहे जाते हैं, (गोत्वमनित्यं कार्यत्वात्) यहाँ कार्यत्वरूप हेतुस्वरूपासिद्धस्वरूप है और सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है। गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्, इत्यादि स्थान में आश्रयासिद्धि होती है। व्याप्ति के अप्रमा (भ्रम) रहते व्याप्यत्वासिद्धि होती है, और पक्षधर्मता के भ्रम रहते स्वरूपासिद्धि और आश्रयासिद्धि होती हैं, इन तीनों का साधारण लक्षण यदि किया जाय कि व्याप्तिपक्षधर्मता द्वारा जो अप्रमित होता है, अर्थात् जिस हेतु का व्याप्तिपक्षधर्मविषयक भ्रम रहता है, वह हेतु असिद्ध कहा जाता है, तो यह लक्षण युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार लक्षण से अन्यहेत्वाभासों का भी असिद्ध में ही प्रवेश होगा। व्याप्ति और पक्षधर्मता का तथा इनकी प्रमिति का विरोध जो नहीं करते हों, ऐसे हेतुओं में हेतुदोषत्व असम्भव हो है।

अतः व्याप्तिपक्षधर्मता के अप्रमावाले अन्य सब हेत्वाभास के भी रहने से उनमें इस असिद्ध लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, वहाँ विरुद्ध, व्यभिचारी और बाधित में व्याप्ति के अभाव से और सत्प्रतिपक्ष में संशय से व्याप्ति के प्रमित नहीं रहने से लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ॥ २७९ ॥

ननु नेदमीदृशं तथाहि—केचिद्दोषा व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमितिविरहात्मानः केचित्तु व्याप्त्यादिभङ्गे लिङ्गभूताः प्रतिबन्धकतयानुमित्युत्पत्तिनिरुन्धानाश्च केचिद्दोषभूयं भजन्ते। तत्र प्रथमे तावदसिद्धमध्यमध्यासते तद्यथा व्याप्यत्वासिद्धः सोपाधिरूपः अनौपाधिकसंबन्धिता हि व्याप्तिः, सोपाधिता चानुपाधिताविरहरूपैव एवमधिकरणासिद्धिरप्यसिद्धावेवान्तर्भविष्णुः पक्षत्वोपात्तस्याश्रयस्य व्यतिरेकरूपाहि सा सिद्धसाधनमपि तथैव सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो हि पक्ष उच्यते, यच्च सिद्धं न तत्र सिषाधयिषास्ति ततो विशेषणाभावायत्तो विशिष्टपक्षरूपस्य तत्राभावः। न च वाच्यं यथा सव्यभिचारत्वाद्भग्नव्याप्तिकमिति पृथगेव सव्यभिचारस्य दोषत्वं, तथा सिद्धत्वात्तत्र सिषाधयिषा नास्तीति सिद्धत्वस्यापि पृथगेव दोषत्वं प्राप्नोति लिङ्गद्वारेणासिद्धिपर्यवसायित्वात्। अन्यथा व्याप्त्यादिविरहपर्यवसितमात्रेण सव्यभिचारत्वादीनामप्यसिद्धावेवान्तर्भावः स्यादिति ॥२८०॥

व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहस्वरूपत्वमसिद्धत्वमिति लक्षणं सङ्ग्रहीतुं त्रिधा हेत्वाभासान् विभजते—केचिदिति। अज्ञायमानस्यापि व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहस्य दोषत्वं बाधवत् ज्ञायमानं सद्यदनुमितिप्रतिबन्धकं स हेत्वाभास इति न लक्षणं गौरवात् किन्त्वनुमितिप्रतिबन्धकत्वमात्रं तल्लक्षणमिति भावः। दोषभूयं दोषत्वम्। प्रथमे इति। ये व्याप्तिपक्षधर्मतातत्प्रमितिविरहात्मान इत्यर्थः। ननु सोपाधित्वमसिद्धत्वं भवति नतु तद्व्याप्तिविरहस्वरूपमित्यत आह—अनौपाधिकेति। आश्रयासिद्धेः पक्षधर्मताविघटनात्मकत्वनिर्वाहाय पीठमारचयति—एवमिति। ननु गगनारविन्दं सुरभीत्यत्राश्रयव्यतिरेकरूपतास्तु सिद्धसाधनं तु न तथेत्यत आह—सिद्धेति। पक्षताघटकसिषाधयिषाविरहात्तत्राप्याश्रयविरहरूपतैवेत्यर्थः। ननु व्यभिचारवत् सिद्धसाधनस्यासिद्धत्वोन्नायकत्वमेव नतु तदात्मकत्वमित्याशङ्क्य निराकरोति—न चेति। असिद्ध्युन्नायकस्याप्यसिद्ध्यन्तर्भावे दण्डमाह—अन्यथेति ॥ २८० ॥

उक्त अर्थ में शंका होती है कि (इदमीदृशं न) उक्त लक्षण ऐसा नहीं है जो हेत्वाभासान्तर को असिद्ध में अन्तर्गत कर दे। कोई हेतुगत दोष व्याप्तिपक्षधर्मता और उनकी प्रमिति (ज्ञान) के अभावस्वरूप होते हैं। और कोई व्याप्ति आदि के भङ्ग (अभाव) में लिङ्ग स्वरूप होते हैं (अनुमापकहेतु होते हैं) और कोई प्रतिबन्धकरूप से अनुमिति की उत्पत्ति का निरोध (निवारण) करने वाले होते हुए (दोषभूय) सदोष होते हैं। उनमें प्रथम वर्णित = व्याप्तिपक्षधर्मता उनकी प्रमिति के विरहरूपदोष तो असिद्ध के मध्य में प्रवेश करते हैं (असिद्ध में रहते हैं)। इसे इस प्रकार समझना चाहिए। व्याप्यत्वासिद्ध (व्याप्यत्वरहित) हेतु सोपाधिक (उपाधिसहित) स्वरूप वाला होता है और उपाधिरहित हेतु की साध्य से सम्बन्धिता ही व्याप्ति है और सोपाधिता अनुपाधिता का अभावरूप है, अतः वह व्याप्ति का अभावरूप असिद्धि

है। इसी प्रकार पक्षधर्मता का बाधक अधिकरण (आश्रय) की असिद्धि भी असिद्धि में ही अन्तर्भविष्णु (अन्तर्भवनशील) है। क्योंकि, पक्ष पद से उपात्त (गृहीत) आश्रय का वह अभावस्वरूप असिद्धि है। इसी रीति से सिद्ध साधन भी असिद्धि के अन्तर्गत है, क्योंकि, सिषाधयिषित (सिद्धि की इच्छा का विषय) धर्मयुक्त ही पक्ष कहा जाता है। और जहाँ जो प्रत्यक्षादि से साध्ययुक्त सिद्ध (ज्ञात) है, वहाँ अनुमान से साध्य की सिद्धि (ज्ञान) की इच्छा नहीं होती है, अतः विशेषणाभाव के आयत्त (अधीन) विशेषणाभाव द्वारा वहाँ विशिष्ट स्वरूप पक्ष का भी अभाव रहता है। अतः असिद्धि के अन्तर्गत होता है। यदि यहाँ कहा जाय कि जैसे (लिङ्गं भग्नव्याप्तिकं व्यभिचारित्वात्) लिङ्ग (हेतु) व्याप्तिरहित है, क्योंकि व्यभिचारी है, इस प्रकार से व्यभिचार व्याप्तिभङ्ग के लिङ्गरूप से व्याप्यत्वासिद्धि का बोधक होता हुआ भी असिद्ध से पृथक् माना जाता है, वैसे ही (सिद्धं न सिषाधयिषितं सिद्धत्वात्) प्रत्यक्षादि से (ज्ञात) अनुमान से जानने की इच्छा का विषय नहीं हो सकता ज्ञात होने से। इस प्रकार सिद्धि को भी लिङ्गरूपताद्वारा सिषाधयिषा के अभावबोधन द्वारा पक्ष की असिद्धि को सिद्ध करता हुआ भी असिद्ध से पृथक् ही दोषत्व होना चाहिये, क्योंकि सिद्धि के होने से सिषाधयिषा नहीं है। अतः पक्ष की असिद्धि हुई है। अन्यथा (लिङ्ग द्वारा असिद्धिसाधक सिद्धसाधन को यदि व्यभिचार तुल्य पृथक् दोषरूप नहीं माना जायगा) तो व्याप्ति आदि के अभाव की सिद्धि मात्र कराने से सव्यभिचारादि दोषों का भी असिद्धि में ही अन्तर्भाव होगा, परन्तु ऐसा कहना युक्त नहीं है ॥ २८० ॥

यतः सिषाधयिषाभावो न प्रतिपत्त्रा सिद्धत्वाल्लिङ्गाद्गम्यते, किंनामेच्छाभावस्य तस्य यथादर्शनं प्रत्यक्षादेरेवाधिगमः इच्छैव तु तत्र यन्नास्ति तत्र सिद्धत्वं प्रयोजकमित्येतावन्मात्रेण सिद्धत्वमुपन्यस्यते सिद्धसाधने, नत्विच्छाभावमनुमातुं लिङ्गतयेति एवं स्वरूपासिद्धिरपि पक्षधर्मताविरहरूपैव। ये तु व्याप्तिपक्षधर्मताविरहलिङ्गभूतास्तेऽसिद्धतः पृथगेव हेत्वाभासाः तद्यथा विरुद्धः साध्यविपरीतव्याप्तः तत्र साध्यव्यतिरेकव्याप्तता हेतो र्न साध्यव्याप्तताभावः किं नाम साध्यव्यतिरेकेण सहानौपाधिकः संबन्धोन्य एवासौ। इत्थमेव पक्षधर्मताविरहात्मापि नायं, किंनाम ततः साध्यव्यतिरेकेण सह निरुपाधिकसंबन्धत्वात्साध्यव्याप्तिरस्य नास्तीत्यनुमीयते। तथा सति साध्यव्याप्तिव्यतिरेके लिङ्गं सद् विरुद्धः पृथगेव हेत्वाभासो भवति ॥२८१॥

सिद्धसाधनस्याश्रयासिद्धिघटकत्वं नतु तदुन्नायकत्वमिति व्यभिचारादिवैषम्येण परिहरति—'यत' इति। यथादर्शनमिति। न्यायमते प्रत्यक्ष एवेच्छाभावो भट्टमते त्वनुपलब्धिगम्य इत्यर्थः। प्रत्यक्षादेरित्यादिपदेनानुपलब्धिसङ्ग्रहः किं तर्हि सिद्धसाधनोपन्यासेन इच्छाविरह एवोपन्यस्यतामित्यत आह—इच्छैव त्विति। स्फुटत्वादिच्छाप्रयोजकस्य सिद्धसाधनस्योद्भावनमित्यर्थः। विरुद्धे व्याप्तिभङ्गलिङ्गत्वमुपपादयति—तद्यथेति। साध्यविपरीतव्याप्तोयं न साध्यव्याप्तः नहि तदभावव्याप्तस्य तद्व्याप्तत्वसम्भव इति विरुद्धस्य व्याप्तिभङ्गलिङ्गत्वं नतु व्याप्तिभङ्गत्वमेवेत्यर्थः। किंनामेति। साध्यव्यतिरेकसामानाधिकरण्यमात्रस्यानैकान्तिकसाधारण्यादिति भावः। इत्थमिति। विरुद्धे पक्षतद्धर्मयोरभङ्गा-

दित्यर्थः। किं नामेति। अयं न साध्यव्याप्यः तदभावव्याप्यत्वादित्यसिद्धलिङ्गत्वमेवास्येत्यर्थः किन्तु लिङ्गमेव व्याप्तिविरहस्येति शेषः॥ २८१॥

क्योंकि, प्रतिपत्ता (ज्ञाता) सिद्धत्वरूपलिङ्ग (हेतु) से सिषाधयिषा के अभाव को उक्तरीति से नहीं समझता है, किन्तु इच्छा के अभावरूप उस सिषाधयिषाविरह को यथादर्शन = अपने २ दर्शनों = विचारों के अनुसार प्रत्यक्षादि से समझा जाता है, वहाँ नैयायिक को प्रत्यक्ष से और मीमांसक को अनुपलब्धि से उसका अधिगम (ज्ञान) होता है, क्योंकि आत्मा के गुणरूप इच्छा से मानस प्रत्यक्ष होने से न्यायमत में इच्छा का अभाव मानस प्रत्यक्ष का विषय होता है और वेदान्तमतानुसार इच्छा और उसका अभाव साक्षिभास्य होते हैं, मीमांसक मत में अभावमात्र अनुपलब्धि से समझा जाता है। यदि कहा जाय कि सिद्धसाधन के स्थान में यदि इच्छा का अभाव रहता है, तो उसी का कथन करना चाहिये, सिद्ध साधन का कथन क्यों किया जाता है? तो उत्तर यह है कि वहाँ साध्यसाधन की इच्छा ही नहीं होती है। उसमें (इच्छा के अभाव में) सिद्धत्व प्रयोजक (हेतु) होता है। एतावन्मात्र (इस कारण) से स्पष्टज्ञान के लिए सिद्धसाधन में सिद्धत्व का उपन्यास (कथन) किया जाता है। इच्छा के अभाव की अनुमिति के लिये लिङ्गरूप से नहीं। इसी प्रकार (शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्) नेत्रजन्यज्ञान का विषय होने से शब्द अनित्य है, यह हेतु की स्वरूपाऽसिद्धि भी पक्षधर्मता (पक्षवृत्तित्व) का अभाव स्वरूप ही है। पक्ष में नहीं रहने से हेतु असिद्ध है। उक्तरीति से व्याप्तिपक्षधर्मता के अभावरूप हेत्वाभास असिद्धि के अन्तर्गत है। परन्तु जो हेत्वाभास व्याप्ति पक्षधर्मता के अभाव के लिङ्गरूप (अनुमापक) हैं, वे असिद्ध से पृथक् ही हेत्वाभास हैं, जैसे साध्यविपरीत (साध्याभाव) से व्याप्त विरुद्ध हेतु होता है (घटो नित्यः, कार्यत्वात्) कार्यत्व नित्यत्वाभावरूप अनित्यत्व से व्याप्त रहता है। अतः वहाँ साध्याभाव से व्याप्तता हेतु को रहती है। वह साध्यव्याप्तता का अभावरूप नहीं रहता, और न साध्यव्याप्तत्व का भाव (सत्त्व) ही रहता है; किन्तु साध्याभाव के साथ अनौपाधिकसम्बन्धरूप, साध्यव्याप्तता के अभाव से अन्य ही रहता है। अतः व्याप्ति का अभावरूप नहीं होकर व्याप्ति के अभाव का गमक लिङ्ग है। इसी प्रकार पक्षधर्मता का अभावस्वरूप भी यह विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उक्त विरुद्ध में पक्षधर्मता का अभाव नहीं रहता है। किन्तु उस साध्याभाव के साथ निरुपाधिकसम्बन्धत्व से इस हेतु को साध्य के साथ व्याप्ति (अनौपाधिकसम्बन्ध) नहीं है, ऐसी अनुमिति की जाती है। अतः ऐसा होने से साध्यव्याप्ति के अभाव में लिङ्ग होता हुआ विरुद्ध हेतु असिद्ध से पृथक् ही हेत्वाभास होता है॥ २८१॥

एवमनैकान्तिकोपि न व्याप्तिव्यतिरेकरूपः किन्तु तल्लिङ्गमेव, तथाहि हेतोरन्वयस्य व्यतिरेकस्य वा व्यभिचारा न साध्यसाधनव्याप्तिविरहात्मा, किंनाम व्यभिचारो हेतोः साध्यव्याप्तिविरहं विना न सम्भवतीति लिङ्गभावेन व्याप्तिभङ्गं बोधयते। यदि हि निरुपाधिः साध्येन संबन्धोऽस्य भवेत् कथं व्यभिचरितुं शक्नुयात्तस्माद्व्याप्तिविरहलिङ्गं व्यभिचारः नतु व्याप्तिविरहः। पक्षधर्मताविरहरूपता त्वनैकान्तिकस्यासम्भावितैव। सत्प्रतिपक्षतायां चानवगम्यमानविशेषप्रतिपक्षप्रतिरुद्धतया यत्साध्यनिश्चयाजनकत्वं हेतोः स प्रति-

बन्धकसद्भावे कार्याजनकत्वमितरकारणसाधारणो वस्तुभावः । तस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहरूपतासंभावितैव ॥ २८२ ॥

हेतोरिति । कार्त्स्न्येन संबन्धस्य व्याप्तेः यद्यपि व्यभिचारो भङ्ग एव तथाप्यनौपाधिकत्वं व्याप्तिरित्याशयेनोक्तं तदेवाह—किं नामेति । यत्र व्यभिचारस्तत्रोपाधेरावश्यकतयानौपाधिकत्वं नास्तीति व्याप्तिभङ्गलिङ्गतैव व्यभिचारस्येत्यर्थः । यदि हीति । साध्यात्यन्ताभावासामानाधिकरण्यस्य साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यरूपव्यभिचारासम्भव इत्यर्थः । पक्षधर्मतेति । शब्दोऽनित्यः सत्त्वादित्यादौनां पक्षधर्मतायाः सत्त्वादित्यर्थः । सत्प्रतिपक्षतायामिति । यद्यपि विरुद्धयोर्हेत्वोरेकत्र व्याप्तिभङ्ग आवश्यकस्तथापि तदनवगमदशायामन्योन्यप्रतिबन्धादेव नान्योन्यस्यानुमितिजनकत्वमिति न तत्र व्याप्तिविरहरूपता न वा तदुन्नायकतया दोषत्वमित्यर्थः । तस्येति । सत्प्रतिपक्षहेतोरित्यर्थः । असम्भावितैवेति । तस्यां दशायामिति शेषः ॥ २८२ ॥

इसी प्रकार अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेतु भी व्याप्ति का अभावरूप नहीं होता है, किन्तु व्याप्ति के अभाव का लिङ्गरूप ही होता है। यह दर्शाते हैं—हेतु के अन्वय या व्यतिरेक (भाव या अभाव) का व्यभिचार, साध्यसाधन के व्याप्ति (नियत-सम्बन्ध) का अभाव स्वरूप नहीं होता है; किन्तु हेतु को साध्य की व्याप्ति के अभाव के बिना व्यभिचार नहीं हो सकता है। अतः वह व्यभिचार लिङ्गरूप से व्याप्ति के भङ्ग (अभाव) का बोधक होता है। यदि इस हेतु को साध्य के साथ निरुपाधिक सन्बन्ध होता, तो यह साध्य का व्यभिचारी कैसे हो सकता ? (साध्य के बिना कैसे रह सकता ?)। अतः व्याप्ति के अभाव का लिङ्गरूप व्यभिचार होता है, व्याप्ति का अभावस्वरूप नहीं। और (घटोऽनित्यो द्रव्यत्वात्) इत्यादि व्यभिचारी हेतु के पक्ष, विपक्ष, समक्ष, तीनों स्थानों में रहने से पक्षधर्मता को अभावरूपता का तो अनैकान्तिक को असम्भावित (असम्भव) ही है। और हेतु की सत्प्रतिपक्षता (विरोधी पक्षावस्था) में अनवगम्यमान (अज्ञात) विशेष (भेद) वाले प्रतिपक्ष से प्रतिरोध के कारण जो हेतु को साध्यनिश्चय का अजनकत्व होता है, वह जैसे अन्य कारणों में प्रतिबन्धक के रहते कार्याजनकत्व होता है, वैसे ही इस हेतु में भी वस्तुस्वभावरूप कार्याजनकत्व होता है। उस हेतु को व्याप्ति और पक्षधर्मता की अभावरूपता की असम्भाविता (असम्भव) ही है। यहाँ परस्परविरोध से व्याप्तिपक्षधर्मता के सत्त्वासत्त्वादि का निश्चय नहीं होने से अनुमिति नहीं होती है। अर्थात् व्याप्तिविरहरूपता व्याप्तिविरहबोधकता आदि दोषरूपता नहीं रहती है। एक हेतुदुष्ट अवश्य रहता है, परन्तु प्रतिपक्षकाल में उसका ज्ञान नहीं रहता है। उसके ज्ञान से प्रतिपक्ष निवृत्त हो जाता है ॥ २८२ ॥

बाधस्तु साधनवति पक्षे साध्याभावबोधनात्मा भवन्नपि न व्याप्तिविरहावगमरूपः सामान्यतो नौपाधिकसंबन्धरूपा हि व्याप्तिः साधनवति च पक्षे साध्यविरहो न सोपाधिता साध्याविरोधिस्वभावत्वात्तस्याः । नाप्यसौ सामान्यतः साध्यसाधनसंबन्धस्य विरहरूपः । बाधे सत्यपि सामान्येन साध्यसाधनयोः संबन्धस्य दृष्टान्तावगतस्यानपलापात् । बाधस्य किञ्चिद्विशेषविषयत्वात् सामान्याकारपरिगृहीतस्य संबन्धस्य विशेषान्तरमादाय पर्यवसानाविरोधात्तस्माद्विशेषबाधेन सामान्यतः संबन्धस्य सोपधितानु-

मीयते। निरुपाधित्वे बाधानुपपत्तेः। यथाह बाधाद्वोपाधिरुन्नीयतेऽन्यथा वेति न कश्चिद्विशेष इति ॥ २८३ ॥

बाधस्त्विति। जलह्रदो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यत्र स्वरूपासिद्धिसाङ्कर्यमभिप्रेत्याह—साधनवतीति। वह्निरनुष्णः कृतकत्वादित्यादाविन्यर्थः। सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहो ननु विशेष्यवह्नावेव येन व्याप्तिभङ्गो दूषणं भवेत् यत्कृतकं तदनुष्णमिति व्याप्तेर्व्यतिरेकस्याग्रहाद् वह्नौ साध्याभावप्रमादशायां व्याप्तिभङ्गग्रहे बाधस्यैवोपजीव्यत्वं न तु व्याप्तिविरहस्य तदा दोषत्वं बाध एव व्याप्तिविरहमन्तरेण न सम्भवतीति तस्य व्याप्तिभङ्गोन्नायकत्वमत एवान्यस्योपाधेरलाभे पक्षेतरत्वमेव तत्रोपाधिः सोपाधित्वमेव च व्याप्तिभङ्ग इत्यर्थः। पक्षताविघटनमपि बाधोदीच्यं बाधकप्रमाणसद्भावे सन्देहसिषाधयिषयोरनुदयादिति भावः। साध्याविरोधीति। तस्याः सोपाधितायाः साध्याविरोधिरूपत्वान्न साध्याभावरूपता उपाधेः साध्यव्यापकतया साध्यविरोधित्वादित्यर्थः। ननु सामान्यतोपि व्याप्तिर्विशेषे वह्नौ हेतोः साध्याभावसामानाधिकरण्यग्रहाद्भग्नैवेत्यत आह—नापीति। यत्कृतकं तदनुष्णमिति दृष्टान्ते घटादावविनाभावग्रहस्याप्रत्यूहत्वादित्यर्थः। एतदेवाह—बाधे सत्यपीति। सामान्याकारेति। यद्यत्कृतकं तत्तदनुष्णमिति यद्यपि बाधायां भग्नं तथापि यत्कृतकं तदनुष्णमिति सामानाधिकरण्यमात्रमभग्नमेवेत्यर्थः। अतो बाधस्य व्याप्तिभङ्गलिङ्गत्वं न तु व्याप्तिभङ्गत्वेनासिद्धत्वमित्युपसंहरति—तस्मादिति। अत्रैव विपक्षे बाधकमाह—निरुपाधित्वमिति। हेतोः साध्यतदभावोभयसामानाधिकरण्यं नावच्छेदभेदं विनेत्यवच्छेदककल्पनायामन्यस्यावच्छेदकस्याभावात्पक्षेतरत्वमेवावच्छेदकं साध्यसामानाधिकरण्यावच्छेदक एवोपाधिरिति बाधे तस्यावश्यकत्वमन्यत्र तु त्वदुक्तव्याघातादिदोषान्न पक्षेतरत्वस्योपाधित्वमित्यर्थः ॥ २८३ ॥

(वह्निरनुष्णः कृतत्वात्) अग्नि अनुष्ण होती है, कार्य होने से, इत्यादि स्थान में साधनवाले पक्ष में जो बाध होता है वह साध्य के अभाव का बोधनस्वरूप (वह्निरुष्णः) अग्नि उष्ण है ऐसा (प्रत्यक्षस्वरूप) होता हुआ भी व्याप्ति के अभाव का ज्ञानरूप नहीं होता है, क्योंकि सामान्यरूप से उपाधिरहित सम्बन्धस्वरूप वाली व्याप्ति होती है और साधन वाले पक्ष में साध्याभावरूप बाध सोपाधितारूप नहीं होता है जिससे निरूपाधितारूप व्याप्ति का अभावावगमरूप हो सके। और बाध में साध्यविरोधिता रहती है और उस सोपाधिता को साध्य के अविरोधी स्वभावता रहती है, अतः सोपाधिता व्याप्तिविरहबोधिका होती है, बाध नहीं। वह बाध साध्यसाधन के सम्बन्ध का सामान्यरूप से अभावरूप भी नहीं है, अनुष्णत्व एवं कृतकत्व का कहीं सम्बन्ध भी रहता ही है, क्योंकि पक्ष में बाध रहते भी सामान्यरूप से दृष्टान्त में अवगत (ज्ञात) साध्यसाधन के सम्बन्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता है (अभाव नहीं कहा जा सकता है) क्योंकि बाध को विशेष (अग्नि) विषयत्व है, अग्नि में अनुष्णता का प्रत्यक्ष अभाव रहता है और (यत्र यत्र कृतकत्वं, तत्र तत्र अनुष्णत्वम्) जहां२ कार्यता है, वहां २ अनुष्णता है, इस प्रकार सामान्यरूप से ज्ञात साध्यसाधनसम्बन्ध का विशेषान्तर (अग्नि से अन्य विशेष) को ग्रहण करके पर्यवसान (स्थिति निश्चय) में विरोध नहीं होता है। अग्नि में अनुष्णत्व का बाध होता है। घटादि में अनुष्णत्व तथा कृतकत्व के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, अतः भिन्न विषय होने से विरोध नहीं रहता है। अतएव विशेष स्थान में बाध से सामान्यरूप से सम्बन्ध (व्याप्ति) की सोपाधिता की अनुमिति होती है, क्योंकि सम्बन्ध की निरु-

पाधिता होते बाध की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः कहा है कि बाध से अथवा अन्यथा अनुकूलतर्क के अभाव से उपाधि अनुमेय है, इसमें कोई भेद नहीं है और बाध स्थान में पक्षेतरत्व उपाधि होती है, अन्यत्र नहीं ॥ २८३ ॥

अन्यस्तु सत्प्रतिपक्षवद्बाधस्यापि प्रतिबन्धकत्वमेव तेन बाधे सति प्रतिबद्धत्वान्निश्चयं न करोति हेतुरिति व्याप्तिपक्षधर्मतादोषमनालोच्यान्यथैव बाधस्य दोषत्वमित्याह ॥ २८४ ॥

मतान्तरमाह—'अन्यस्त्विति। साध्याभावप्रमा स्वरूपसत्येव साध्यधीप्रतिबन्धिकेति सत्प्रतिपक्षवत्प्रतिबन्धकतयैव दोषत्वं न व्याप्तिपक्षधर्मताविरहरूपतया न वा तदुन्नायकतेत्यर्थः ॥ २८४ ॥

अन्य कोई बाध को भी सत्प्रतिपक्ष के समान अनुमिति के प्रतिबन्धक ही कहते हैं, अर्थात् साध्याभाव की प्रमारूपबाधस्वरूप से ही अनुमिति प्रतिबन्धक होता है उपाधि का अनुमापकरूप से नहीं, ऐसा मानते हैं, और सत्प्रतिपक्षतुल्य विरोध होने के कारण बाध होने पर प्रतिबद्धत्व (प्रतिबन्धकयुक्तत्व) से हेतु साध्य का निश्चय नहीं कराता है, इस प्रकार से व्याप्तिपक्षधर्मता दोष के अनालोचन (अचिन्तन) पूर्वक ही बाध को दोषत्व है, ऐसा कहते हैं ॥ २८४ ॥

तस्माद्व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितित्वानां यत्र साक्षादेव विरहस्योद्भावनं तत्रासिद्धः। यत्र तु व्याप्त्यादिविरहलिङ्गोपन्यासः सत्प्रतिपक्षोपन्यासो वा तत्रान्यो हेत्वाभासः। ननु सोपाधित्वादयोपि यतोवगम्यन्ते तत्कुतः पृथग्दूषणं न भवति अनैकान्तिकत्वादिवत्? मैवम्, अनैकान्तिकत्वादेर्व्याप्तिविरहबोधने लिङ्गभावनियमात् पृथगुपन्यासः सोपाधित्वादेस्तु प्रत्यक्षादपि प्रतीतेर्नतु लिङ्गभावनियतं तत्र प्रतिपादकं किञ्चिदस्ति ॥ २८५ ॥

उपसंहरति—'तस्मादि'ति। यद्यप्युद्भावनगर्भं नासिद्धत्वं तथापि तत्रास्तीति कृत्वोक्तम्। ननु यदि व्याप्त्यादिभङ्गलिङ्गानामप्यनैकान्तिकादीनां हेत्वाभासत्वं तदा सोपाधित्वापक्षधर्मतयोरुन्नायकान्तरमप्यस्ति नहि प्रत्यक्षादाप्तोपदेशाल्लिङ्गान्तराद्वा न सोपाधित्वादिग्रहीतुं शक्यते इति हेत्वाभासाधिक्यं प्रसक्तमिति शङ्कते—नन्विति। यथानैकान्तिकत्वं विरुद्धत्वं बाधितत्वं वा व्याप्तिभङ्गत्वनियतं तथा नान्यत्सोपाधित्वादिनियतं येन हेत्वाभासान्तरं भवेत् सोपाधित्वग्राहकतामात्रेण प्रत्यक्षादीनां हेत्वाभासत्वं सम्भाव्येतापि यदि ज्ञायमानं सत्तथा स्यादिति परिहरति—अनैकान्तिकत्वादेरिति ॥ २८५ ॥

उक्त हेतु से जहाँ व्याप्ति, पक्षधर्मता और उनकी प्रमिति के अभाव का साक्षात् ही कथन हो, वहाँ असिद्धरूप दोष रहता है। और व्याप्ति आदि के अभाव के लिङ्ग का कथन हो, या सत्प्रतिपक्ष का कथन हो, वहाँ अन्य हेत्वाभास रहता है। शंका होती है कि जैसे अनैकान्तिकत्वादि (व्यभिचारादि) व्याप्तिभङ्ग के लिङ्ग होने से पृथक् हेत्वाभास माने जाते हैं, वैसे ही जिस अनुमान वा प्रत्यक्षादि से सोपाधिकत्वादि समझा जाता है, वह पृथक् दोषरूप क्यों नहीं होता? उसको भी दोषान्तररूप होना चाहिए। उत्तर यह है कि दोषान्तर नहीं हो सकता, क्योंकि अनैकान्तिक, विरुद्ध और बाधित को व्याप्ति के अभाव ज्ञान में लिङ्गता के नियम से उनका पृथक् दोषरूप से कथन किया जाता है और सोपाधिकत्वादि की तो प्रत्यक्षादि से भी प्रतीति होती है, उन प्रत्यक्षादि में तो लिङ्गत्व

का नियत प्रतिपादक (हेतु) कोई नहीं है जिससे प्रत्यक्षादि भी लिङ्गरूप से ही सोपाधिकत्व के बोधक हो सकें। अतः उनको पृथक् दोषरूप नहीं माना जाता है ॥ २८५ ॥

नच वाच्यं यत्र लिङ्गात्सोपाधितादेः प्रतीतिरतीन्द्रियप्रभृतिविषये तत्र लिङ्गं पृथगेव दूषणतयाभिधीयतां नह्यनैकान्तिकत्वादिकमपि सार्वत्रिकं व्याप्तिविरहलिङ्गमिति हेत्वाभासाधिक्यमापन्नमिति। अनैकान्तिकत्वादिवत्तेषां लिङ्गानामैकरूप्येण निर्देष्टुमशक्यत्वात् पृथक् पृथगेवाभिधानमशक्यमपरिसङ्ख्येयत्वादिति वक्ष्यामश्चाग्रे हेतुं तदनभिधानस्य। नन्वनुचितमुच्यते व्याप्त्यादिविरहलिङ्गतयानैकान्तिकत्वादीनां पृथग्दूषणत्वमिति यतो व्याप्तिपक्षधर्मतोपेतलिङ्गप्रमितिस्तद्वैकल्यान्न भवेत् यतश्च सा न भवति तदेव तस्यां दूषणं वक्तुं युक्तमिदमनुमित्युत्पत्तिकारणमिह नास्तीति ॥ २८६ ॥

नन्वतीन्द्रियस्थले किञ्चिच्चिह्नं लिङ्गभावेनैव सोपाधित्वोन्नायकमिति तद्धेत्वाभासान्तरं भवेन्नच तदपि चिह्नादि सोपाधित्वं नावश्यं सर्वत्र गमयतीति न हेत्वाभासान्तरं तदानैकान्तिकत्वादिकमपि सर्वत्र व्याप्तिभङ्गे लिङ्गमिति क्वचिदनैकान्तिकत्वेन क्वचिद्विरुद्धत्वादिनापि तदुन्नयनादित्यत आह—नच वाच्यमिति। यथानैकान्तिकत्वं विरुद्धत्वादिकं वा व्याप्तिविरहव्याप्यतावच्छेदकं न तथा तच्चिह्नादीनामनुगतमेकमवच्छेदकं येन तत् पृथक् स्यादित्यर्थः। ननु सोपाधित्वलिङ्गत्वमेव तेषामनुगतमस्तु अन्यथाऽनैकान्तिकादीनामपि तन्न स्यादित्यत आह—वक्ष्यामश्चेति। यद्यपि सोपाधित्वं व्याप्तिविरहान्नान्यत्तदुन्नायकत्वं चानैकान्तिकादिना व्यवस्थापितमेव आदिपदग्राह्यापक्षधर्मत्वस्य च सिषाधयिषाया विरहस्य। प्रत्यक्षत्वमेवोपपादितमिति शङ्केयमस्थान एव तथापि सोपाधित्वं प्रमाणान्तरेणापि ग्रहीतुं शक्यमिति तस्य पृथक्त्वमाशङ्कितम्। नन्वनैकान्तिकत्वादीनामनुमितिदोषत्वं नास्ति तथा च हेत्वाभासत्वमपि न अनुमितिसामग्रीवैकल्यस्यैव तद्दोषत्वान्नतुसामग्रीवैकल्योन्नायकस्यानुमितिदोषत्वमतिप्रसङ्गादिति शङ्कते—'नन्वि'ति ॥ २८६ ॥

यदि शंका हो कि जहाँ अतीन्द्रियधर्माधर्मादिविषय में लिङ्ग से (अनुमान से) सोपाधिकता स्वरूपासिद्धि आदि का ज्ञान होता है, वहाँ उस लिङ्ग को पृथक् ही दूषण कहिये। यद्यपि यह लिङ्गसार्वत्रिक दूषण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कहीं सोपाधिकता आदि का ज्ञान प्रत्यक्षादि से भी होता है, तथापि अनैकान्तिकत्वादि भी तो सार्वत्रिक व्याप्तिविरह का लिङ्ग नहीं है। कहीं अनैकान्तिक से तो कहीं विरुद्धादि से व्याप्तिविरह का ज्ञान होता है, तो भी उनको जैसे पृथक् दोषरूप माना जाता है, वैसे सोपाधिकत्व आदि के ज्ञान के हेतुलिङ्ग को पृथक् दोष मानना चाहिये और इस प्रकार हेत्वाभास में अधिकता की प्राप्ति होती है, इस शंका का उत्तर यह है कि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अनैकान्तिकत्वादि के समान उन लिङ्गों की एकरूपता से निर्देश (कथन) करना अशक्य है और अपरिसंङ्ख्येय (अनन्त) होने से पृथक्-पृथक् भी उनका कथन अशक्य है। और उनके पृथक् दोषरूप से अकथन में आगे हेतु कहेंगे। फिर भी शंका होती है कि व्याप्तिपक्षधर्मता के अभाव के लिङ्गरूप से जो अनैकान्तिकत्वादि को पृथक् दूषणत्व कहते हैं, वह अनुचित है। क्योंकि व्याप्तिपक्षधर्मतायुक्तलिङ्ग के ज्ञान से साध्य की अनुमिति होती है और व्याप्तिपक्षधर्मतायुक्त लिङ्ग ज्ञान के वैकल्य (अभाव) से अनुमिति न होगी और न होती है। अतः जिस कारण सामग्री के अभाव से वह अनुमिति नहीं

होती है, वही कारणाभाव उस अनुमिति में दूषण कहने योग्य है। यह कारणाभावस्वरूप यहाँ अनुमिति की अनुत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु अन्य अनुत्पत्ति में हेतु है ॥२८६॥

नच व्याप्तिपक्षधर्मते विहायान्यत्तदुत्पत्तिकारणमस्ति व्यतिरेकोपदर्शनयोग्यम्, तस्मादनुमितिदोषप्रतीतिकारणत्वमनैकान्तिकत्वादीनां नतु साक्षाद्दोषत्वं, दोषप्रतिपादकतयापि च दोषत्वं साक्षाद्दोषमनुपजीव्याशक्याभिधानमिति प्रधानदोषस्यैव दोषतयोद्भावनं युक्तं न सव्यभिचारत्वादीनामिति सत्यमेतत्। साक्षाद्दोषत्वं प्रतिबन्धकस्य व्याप्त्यादिविरहस्य वा विरुद्धादीनां तु तत्प्रमापकतया यद्यपि दोषपक्षनिक्षेपस्तथापि विरुद्धत्वादयो यद्दोषप्रतिपादकतयोक्तास्तदुद्भावनलाघवानुरोधाद्व्याप्त्यादिविरहे तत्रोद्भाव्यमाने न हेतुर्गन्तुं शक्यते ॥ २८७ ॥

व्यतिरेकेति। अनुमितिकारणान्तरस्य कालादेर्व्यतिरेकोपदर्शनमयोग्यमित्यर्थः। ननु दोषप्रतिपादकतयैव दोषत्वमस्तु परम्परयाप्यनुमितिदोषत्वसम्भवादित्यत आह—दोषेति। एवं सति साक्षाद्दोषस्यासिद्धेरुद्भावनानन्तरमेव तद्व्यवस्थापकतयानैकान्तिकाद्युद्भावनप्रसङ्ग इत्यर्थः। परिहरति—'साक्षादि'ति। असिद्धेरुद्भावने कथमसिद्धिरिति तद्व्यवस्थापनाय पुनरनैकान्तिकाद्युद्भावनमावश्यकं तेन प्रथममनैकान्तिकाद्येवोद्भाव्यं तच्च स्वव्यापकमसिद्धत्वं स्वत एवाक्षिपतीति लाघवादनैकान्तिकत्वमेवोद्भाव्यमित्यर्थः। न चैवं सत्यसिद्धोद्भावनमनवकाशम् अनैकान्तिकाद्युद्भावननैरपेक्ष्येण यत्रासिद्धत्वज्ञानं तत्र तदुद्भावनस्य सावकाशत्वादिति भावः। नच निर्वाह्यामसिद्धिमनुद्भाव्य निर्वाहकानैकान्तिकाद्युद्भावनमप्राप्तकालमिति वाच्यम् कथासम्प्रदायस्य तादृशत्वेनाप्राप्तकालत्वाभावाद् अनैकान्तिकाद्युन्नीतासिद्धत्वज्ञानादेवानुमितिप्रतिबन्धस्य सम्भवात्। अनैकान्तिकत्वादीनामप्यसाधकतालिङ्गत्वात् तथाचोद्देश्यद्वयस्यानैकान्तिकाद्युद्भावनादेव सिद्धेरित्याशयात्॥२८७॥

और व्याप्तिपक्षधर्मता को छोड़ कर अन्य उस अनुमिति की उत्पत्ति का कारण नहीं है जिसका व्यतिरेक उपदर्शन योग्य हो, अर्थात् अन्वय एवं व्यतिरेक से विशेष कारणता का ज्ञान होता है और व्याप्तिपक्षधर्मता के साथ अनुमिति का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है। अतः व्याप्तिपक्षधर्मता के व्यतिरेक से अनुमिति का व्यतिरेक (अभाव) दर्शाया जा सकता है। अतः अनुमिति का प्रतिबन्धक दोष यही है, अनैकान्तिकत्वादि नहीं। अतः अनैकान्तिकत्वादि को व्याप्तिभंगादि अनुमिति के दोषों की प्रतीति के कारणस्वरूप दोषत्व है, साक्षात् अनुमितिप्रतिबन्धकत्वरूप दोषत्व नहीं है। और उन अनैकान्तिकत्वादि में दोषप्रतिपादकता (दोषबोधकता) रूप से जो दोषत्व है, वह साक्षात् दोष के उपजीवन (आश्रयण) के बिना कहने के योग्य नहीं है। अतः प्रधान साक्षात् दोष का ही दोषरूप से कथन युक्त है, सव्यभिचारादि का दोष रूप से कथन युक्त नहीं है। उत्तर यह है कि यह आप का कथन सत्य है। परन्तु साक्षात् दोषत्व, प्रतिबन्धक (सत्प्रतिपक्ष) वा व्याप्ति आदि के विरह को (व्याप्ति पक्षधर्मता के अभाव को) है, और विरुद्धादि का तो व्याप्त्यादि के अभाव के प्रमापक (बोधक) रूप से यद्यपि दोषपक्ष में निक्षेप (दोष रूप से कथन) है। तथापि विरुद्धत्वादि जिन दोषों (व्याप्त्यभावादि) के प्रतिपादकरूप से कहे गये हैं, उन दोषों के उद्भावन (कथन) में लाघव के अनुरोध (अनुसार-दृष्टि)

से पृथक् कहे गये हैं, और कहे जाते हैं। इनमें लाघव यही है कि अन्य की अपेक्षा के बिना इनकी प्रतीति होती है। यदि कहा जाय कि लाघव से व्याप्ति विरहादि का ही कथन करना चाहिये उनमें प्रधानता विशेष है, तो कहा जाता है कि व्याप्तिविरहादि के कहने पर अनैकान्तिकत्वादि के बिना हेतु की आकांक्षा होने पर हेतु नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि व्याप्तिविरहअनैकान्तिकत्वादि दोषों से व्याप्त हैं, अतः व्याप्ति विरह के कहने पर क्यों व्याप्तिविरह है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर उन्हें कहना ही होगा, जिससे गौरव होगा॥ २८७ ॥

यदि कहा जाय कि अनैकान्तिकत्वादि के उद्भावन करने पर भी व्याप्ति विरह के ज्ञान नहीं होने पर उसका उद्भावन करना ही होगा, अतः कोई विशेष नहीं है, गौरव तुल्य ही है, तो कहते हैं कि—

"अनैकान्तिकत्वादौ तूद्भाविते व्याप्त्यादिविरहोऽर्थाद्गम्यते, व्याप्त्यादिविरहव्यतिरेकेणानैकान्तिकत्वादेरनुपपन्नत्वात् । यथा तस्माद्दीर्घोयमित्युक्ते सोस्माद्ध्रस्व इत्यर्थाद्गम्यते न तु तत्र प्रतिपाद्यान्तरापेक्षा तथेहापि निरग्नौ धूमोस्तीति प्रतिपादितेऽग्निनासौ न व्याप्त इत्यर्थाद्गम्यते नहि सम्भवत्यग्निना च व्याप्तोऽनग्नौ चास्तीति । अत एवानन्त्यादतीन्द्रियोपाध्यादिलिङ्गानां येषां पूर्वमनभिधानं समर्थितं तेषामनभिधानेयमपि हेतुः तान्युपाधिलिङ्गानि नार्थवशादुपाधिमनपेक्षाणि गमयन्ति, येन तेषां व्याप्तिर्नावधारिता तं प्रति तत्प्रतिपादनमन्तरेणाप्रतिपादकत्वस्यापि सम्भवात् । अनैकान्तिकत्वाद्यवगतौ तु व्याप्त्यादिविरहबोधनाय न प्रतिपादनीयान्तरापेक्षा कस्यचित् सचेतसः सम्भवतीति पूर्वपक्षसंक्षेपः ॥ २८८ ॥

नन्वनैकान्तिकाद्युद्भावनानन्तरमसिद्ध्युद्भावनमस्तु तथाच न लाघवमित्यत आह—अनैकान्तिकत्वादाविति । नह्यार्थायातमप्यभिधीयते अर्थपौनरुक्त्यापत्तेः अत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह—यथेति । वक्ष्यमश्चात्रेति । यदुक्तं तत्र किञ्चिदाह—अत एवेति । अनपेक्षाणीति । उपाधिलिङ्गत्वेनाप्रतिसंहितानीत्यर्थः । तत्प्रतिसन्धानं च न व्याप्यतावच्छेदकग्रहमन्तरेणेति भावः । एतदेवाह—येनेति । अनैकान्तिकत्वादीनामसिद्धिव्याप्यतावच्छेदकरूपत्वस्योभयसिद्धत्वादिति तदुद्भावनमुपपन्नमित्याह—अनैकान्तिकत्वादीति ॥ २८८ ॥

अनैकान्तिकत्वादि के तो उद्भावित होने पर व्याप्ति का अभाव अर्थतः अवगत हो जाता है, क्योंकि व्याप्ति आदि के अभाव के बिना अनैकान्तिकत्वादि की अनुपपत्ति रहती है, जैसे उस वृक्ष से यह वृक्ष दीर्घ (बड़ा) है, ऐसा कहने पर इससे वह छोटा है, यह अर्थात् समझा जाता है, वहाँ प्रतिपाद्यान्तर (अन्यप्रतिपाद्य हेतु आदि) की अपेक्षा नहीं होती है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये कि अग्निरहित देश में धूम है ऐसा प्रतिपादन करने पर, वह धूम अग्नि से व्याप्त नहीं है, यह अर्थतः समझा जाता है, क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि अग्नि से व्याप्त और निरग्नि देश में भी है। अतएव (उक्त हेतु से ही) अनन्तता के कारण जिन अतीन्द्रिय उपाधि आदि के लिङ्गों के अनभिधान (अकथन) का प्रथम समर्थन (प्रतिपादन) किया गया है, उनके अनभिधान में यह वक्ष्यमाण भी हेतु है कि वे

उपाधि के लिङ्ग सब अनपेक्ष (उपाधि के लिङ्ग रूप से अनधिगत) होते हुए स्वरूप से ही उपाधि के बोधक नहीं होते हैं, अतः जिस पुरुष ने उनमें उपाधि की व्याप्ति को नहीं समझा है, उस पुरुष के प्रति उस व्याप्ति के प्रतिपादन के बिना उपाधि के अप्रतिपादकत्व का भी उनमें सम्भव है, और व्याप्ति आदि के अभाव के बोधन के लिये अनैकान्तिकत्वादि के ज्ञान में तो किसी सचेता (विवेकी) को प्रतिपादनीयान्तर (अनैकान्तिकत्वादि में व्याप्ति विरह की व्याप्ति) की अपेक्षा नहीं होती है। यह पूर्वपक्ष का संक्षेप है ॥ २८८ ॥

एवमसिद्धलक्षणे व्यवस्थिते बाधोयमभिधीयते, "एतेन कीदृशमसिद्धलक्षणं व्यवस्थापितमायुष्मता भवति व्याप्तत्वपक्षधर्मताभ्यामप्रमितोऽसिद्ध इति तावद्विरुद्धादिषु लक्षणं किं नास्ति किं वास्ति यदि नास्ति तदा व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यां प्रमिता विरुद्धत्वादयः प्राप्नुवन्ति। अथास्ति तदा तेप्यसिद्धभेदाः प्राप्ताः। अथैतस्मिँल्लक्षणे सत्यपि ते नासिद्धान्तर्भूताः तर्हि लक्षणमिदमतिव्यापकमापन्नम्। अथ यत्र व्याप्तिपक्षधर्मत्वाप्रमितत्वं साक्षादुद्भाव्यते तदसिद्धमित्युच्यते तर्हि लक्षणान्तरमिदयुक्तं स्यात्। न चेदमपि युक्तं यत्र व्याप्तिविरहमात्रमुद्भाव्यते तत्र व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितत्वानां हानं मिलितं नोद्भाव्यते इति नासावसिद्धः स्यात्। एवं सर्वत्रासिद्धविशेषमुदाहृत्य प्रसङ्गो विधातव्यः ॥ २८९ ॥

हेत्वाभासानां व्युत्पादनेनापि नासिद्धलक्षणस्यातिव्याप्तिः परिहृतेत्याह—एतेनेति। तर्हीति। लक्ष्यादन्यत्रानैकान्तिकादिषु लक्षणगमनादित्यर्थः। नन्वनैकान्तिकादिषु व्याप्त्यादिभङ्गस्य साक्षादुद्भवनं नास्ति साक्षादुद्भाव्यव्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहत्वस्यासिद्धिलक्षणत्वेनाभिप्रेतत्वादिति शङ्कते—अथेति। तथाचोद्भावनगर्भं लक्षणान्तरं प्रणयतस्तव प्रतिज्ञाहानिरिति परिहरति—तर्हीति। ननु प्रतिज्ञाहानिः पुरुषदोषो नतु लक्षणान्तरदोष इत्यत आह—न चेदमपीति। व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहाणां मिलितानामुद्भावनं लक्षणत्वेन विवक्षितं प्रत्येकोद्भावनं वा आद्यं परिहरति—एवमिति। यत्रापक्षधर्मत्वोद्भावनमात्रं तत्रापि मिलितानुद्भावनादव्याप्तिर्यत्र वा प्रमितिविरहोद्भावनमात्रे लक्षणागमनादव्याप्तिरितिभावः ॥ २८९ ॥

इस उक्तरीति से असिद्ध के लक्षण के व्यवस्थित (निश्चित व्युत्पादित) होने पर यह वक्ष्यमाण बाध (बाधक दोष) कहा जाता है कि आयुष्मान् आप से इस पूर्वोक्त प्रबन्ध विवेचन द्वारा असिद्ध का कैसा लक्षण प्रतिपादित हुआ है ? व्याप्तत्व प्रक्षधर्मता द्वारा अप्रमित असिद्ध होता है। यह लक्षण जो आप से व्यवस्थित हुआ है, वह लक्षण क्या विरुद्धादि हेत्वाभास में नहीं है ? किंवा (अथवा) है ? यदि विरुद्धादि में यह लक्षण नहीं है, तो व्याप्ति-पक्षधर्मता द्वारा (व्याप्तिपक्षधर्मतायुक्त-रूप से) प्रमित (ज्ञात) विरुद्धादि प्राप्त होते हैं, यदि उक्त लक्षण विरुद्धादि में है, तो वे भी असिद्ध के भेद (विशेष) प्राप्त (सिद्ध) हुए, हेत्वाभासान्तर नहीं सिद्ध हुए। इस असिद्ध लक्षण के उनमें रहते भी यदि वे असिद्ध के अन्तर्भूत नहीं हैं, तो यह लक्षण अतिव्यापक (अतिव्याप्ति दोष युक्त) सिद्ध हुआ, निर्दोष नहीं। यदि कहें कि व्याप्ति पक्षधर्मता के अप्रमितत्व का जिसमें साक्षात् उद्भावन (चिन्तन)

किया जाय वह असिद्ध होता है, विरुद्धादि में लिङ्ग द्वारा व्याप्ति आदि के भङ्ग के कथन से उक्त अप्रमित कहा जाता है। अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो इस प्रकार यह लक्षणान्तर वर्णित होगा जिससे प्रतिज्ञाहानिरूप निग्रहस्थान दोष प्राप्त होगा। और यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि व्याप्ति-पक्षधर्मता-प्रमिति इन तीनों के मिलित विरहों के साक्षात् उद्भावन को असिद्ध माना जाय तो जहाँ व्याप्यत्व की असिद्धि से व्याप्ति के विरहमात्र का उद्भावन किया जाता है, वहाँ व्याप्ति-पक्षधर्मता और प्रमितत्व के मिलित के हान (अभाव) का उद्भावन नहीं किया जाता है। अतः वह असिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार जहाँ केवल पक्षधर्मता के विरह का उद्भावन होता है, उस स्वरूपासिद्धि आश्रयासिद्धि में लक्षण की अव्याप्ति होगी, इस प्रकार सर्वत्र असिद्ध विशेष के उदाहरण पूर्वक दोष वक्तव्य है। (स श्यामो मित्रातनयत्वात्) गगनारबिन्दं सुरभि अरबिन्दत्वात् (शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात्) ये क्रम से व्याप्यत्वासिद्ध, आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध के उदाहरण हैं ॥ २८९ ॥

अथ प्रत्येकमिदं लक्षणं व्याप्त्यप्रमिततया साक्षादुद्भाव्योऽसिद्धः पक्षधर्मतयाऽप्रमिततया चेति तर्ह्यन्योन्योदाहरणाव्याप्तिरित्यव्यापकत्वमुभयोः। अथोभयोरप्यसिद्धविशेषलक्षणत्वादन्योन्यविषयाव्यापकता न दोषायेति मन्यसे ? न, सामान्यलक्षणे निर्वक्तुमशक्ये कथमिदं विशेषलक्षणमपि घटेत। अथानुमितेरसाधारणहेतुव्यतिरेकोद्भावनं सामान्यलक्षणमस्तु ? मैवम्, सत्प्रतिपक्षोद्भावनं तथेत्यतिव्याप्तेः। भावरूपतया हेतुविशेषणे च निरुपाधित्वव्यतिरेकोद्भावनाव्याप्तेः। स्वरूपासिद्धिः सर्वप्रमाणसाधारणो दोष इति तदुद्भवनाव्याप्तेश्च। अथोच्यते व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां प्रमितत्वस्य व्यतिरेको यत्र साक्षादुपन्यस्यते सोऽसिद्ध इति, इदमप्यलक्षणं अव्यापकत्वात् ॥ २९० ॥

द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—अथेति। तथा च सुतरामव्याप्तिरित्यर्थः। ननु तिसृणामसिद्धीनां विशेषलक्षणान्येतानि तथाचान्योन्यानुपग्रहो गुण एव न दोष इति शङ्कते—अथेति। सामान्यलक्षणज्ञानमन्तरेण विशेषलक्षणजिज्ञासानुदयात्सामान्यलक्षणमेव प्रथममुचितमिति परिहरति—सामान्येति। नन्वनुमित्यसाधारणकारणविरहोद्भावनं यत्र सोऽसिद्ध इति सामान्यलक्षणमित्याह—अथेति। अनुमितेरसाधारणो हेतुर्व्याप्तत्वं पक्षधर्मत्वं तत्प्रमितिश्च तद्विरहोद्भावनमित्यर्थः। असत्प्रतिपक्षितत्वमप्यनुमितेरसाधारणो हेतुरिति तद्विरहोद्भावनेऽतिव्याप्तिरित्याह—सत्प्रतिपक्षेति। अनुमित्यसाधारणभावभूतहेतुविरहोद्भावनं विवक्षितमसत्प्रतिपक्षितत्वं च न भावभूतमतो नातिव्याप्तिरिति यदि तदा निरुपाधित्वस्यानुमित्यसाधारणहेतोर्यत्रविरह उद्भाव्यते तत्र व्याप्यत्वासिद्धावव्याप्तिरिति शङ्कोत्तराभ्यामाह—भावेति। स्वरूपासिद्धिरिति। यद्यप्यनुमित्यसाधारणदोषोद्भावनं न लक्षणं येनाव्याप्तिः स्यात् तथाप्यनुमित्यसाधारणहेतुव्यतिरेकोद्भावनमपि तत्रैवपर्यवस्यतीति तथोक्तम्। अथेति। अनैकान्तिकादौ साक्षादनुमित्यसाधारणहेतुव्यतिरेकोद्भावनं नास्ति किन्त्वनैकान्तिकत्वादिद्वारेति न तत्रातिव्याप्तिरिति भावः। अत्र प्रमितिव्यतिरेकः पूर्वस्माद्भेद इत्यन्ये ॥ २९० ॥

यदि कहें कि व्याप्ति आदि के मिलित व्यतिरेक का उद्भावन असिद्ध नहीं है, किन्तु प्रत्येक व्यतिरेक का उद्भावन, यह असिद्ध का लक्षण है। अप्रमित रूप से जहाँ व्याप्ति

साक्षात् उद्भावन के योग्य हो। अर्थात् व्याप्ति की प्रमिति के अभाव को जहाँ साक्षात् कहा जाय वह असिद्ध होता है १, तथा अप्रमित रूप से जहाँ पक्षधर्मता का साक्षात् उद्भावन हो कि यहाँ पक्षधर्म की प्रमिति नहीं है वह असिद्ध है २, तो परस्पर के उदाहरण में अव्याप्ति होगी। अतः दोनों लक्षणों में अव्यापकत्व होगा। अर्थात् प्रथम लक्षण की आश्रयासिद्धि में और दूसरे की व्याप्यत्वासिद्धि में अव्याप्ति होगी। यदि मानें कि दोनों लक्षणों के असिद्ध विशेष के लक्षण होने के कारण परस्पर के विषय में अव्यापकता दोष के लिये नहीं होती है, तो यह मानना युक्त नहीं, क्योंकि सामान्य लक्षण के निर्वचन के अशक्य (अभाव) होते, यह विशेषलक्षण से घटित (युक्त) कैसे हो सकता ? अतएव प्रमाणादि के सामान्य लक्षण पूर्वक ही विशेष लक्षण कहे जाते हैं। क्योंकि सामान्य ज्ञान के बिना विशेष की जिज्ञासा नहीं होती है। यदि कहें कि अनुमिति के असाधारण कारण (व्याप्ति, पक्षधर्मता एवं तत्प्रमिति) के अभाव का उद्भावन असिद्ध का सामान्य लक्षण है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन भी अनुमिति के असाधारण हेतु असत्प्रतिपक्ष के व्यतिरेक का उद्भावन रूप होता है। अतः उसमें अतिव्याप्ति होती है। भाव यह है कि प्रतिबन्धकाभाव कार्यमात्र का कारण होता है, और सत्प्रतिपक्ष अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है, उसका अभाव असत् प्रतिपक्ष अनुमिति का प्रतिबन्धकाऽभावरूप से असाधारण कारण होता है। सत्प्रतिपक्ष उसका अभावरूप होता है। यदि भावरूपताको हेतु का विशेषण दें कि (अनुमिति के भावरूप असाधारण कारण के अभाव का उद्भावन असिद्ध होता है, तो असत्प्रतिपक्ष यद्यपि भावस्वरूप नहीं है, अतः उसके व्यतिरेकरूप सत्प्रतिपक्ष के उद्भावन में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तथापि निरूपाधित्व के व्यतिरेकोद्भावन में अव्याप्ति होगी। क्योंकि, अनुमिति का असाधारण कारण निरुपाधित्व (अनौपाधिकत्व) भावरूप नहीं है। और स्वरूपासिद्धि सब प्रमाणों का साधारण दोषरूप है, अनुमिति का असाधारण नहीं, अतः उसके उद्भावन में अव्याप्ति होगी। क्योंकि वह अनुमिति के असाधारण हेतु का व्यतिरेकरूप नहीं है। यदि कहें कि व्याप्तत्व पक्षधर्मत्वरूप से प्रमितत्व के अभाव का जहाँ साक्षात् उपन्यास (कथन) हो, वह असिद्ध होता है, अर्थात् व्याप्तादि के प्रत्येक या मिलित व्यतिरेकोद्भावन में यद्यपि अव्याप्ति होती है, तथापि व्याप्तत्वपक्षधर्मत्व से युक्तप्रमितत्व के व्यतिरेक का उद्भावन रूपलक्षण निर्दोष होगा, तो इसका उत्तर यह है कि यह भी निर्दोष लक्षण नहीं है। क्योंकि, इसमें भी अव्यापकत्व दोष है। व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वयुक्त प्रमा (प्रमितत्व) के व्यतिरेक का उद्भावन, केवल व्याप्तत्व व्यतिरेक के उद्भावन में तथा केवल पक्षधर्मत्व के व्यतिरेक के उद्भावन स्थान में नहीं रहता है। अतः वहाँ अव्याप्ति होगी। इसका प्रतिपादन आगे किया जाता है ॥ २९० ॥

यत्र व्याप्त्यादिव्यतिरेक उपन्यस्यते तत्र वस्तुगत्याऽव्याप्तत्वप्रमितेर्व्यतिरेकोस्तु नाम नतूपन्यस्यतेऽपि प्रयोजनाभावात् व्याप्तिव्यतिरेकदर्शनादेवानुमानाङ्गवैकल्यात्मनो दोषस्योद्भावनपर्यवसानात्तस्मादत्र प्रमितत्वव्यतिरेकोद्भावनं नास्तीत्यव्यापकत्वं दोषः। ननु विशेषणाद्यभावेऽपि वस्तुत

विशिष्टाभाव एवेति नोक्तदोषः, न यदि विशेषणाद्यधिकोऽविशिष्टस्तदा तद्-भावभेदोऽपि स्यात्। अथ नाधिकस्तदा विशेषणाभावान्नान्यस्य विशिष्टाभाव-तेति विशेष्याभावस्यापि तथात्वे पृथक् पृथगेव विशिष्टाभावार्थस्तयोरित्य-ननुगम एव स्वार्थानुमित्यसिद्धाव्याप्तिश्चानुद्भावनादिति ॥ २९१ ॥

व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रकारकप्रमाव्यतिरेकोद्भावनं केवलव्याप्तत्वव्यतिरेकोद्भावने केवल-पक्षधर्मत्वव्यतिरेकोद्भावने वा नास्तीत्यत्राव्याप्तिरित्याह—यत्रेति। यद्यपि प्रमितत्वव्यति-रेकस्तत्रास्ति तथापि उद्भावनं तत्परः शब्दप्रयोगो वा नास्तीत्याह—"तत्र वस्तुगत्ये"ति। ननु यत्रापि व्याप्तिविरहोद्भावनमात्रं तत्रापि व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रकारकप्रमाव्यतिरेकोद्भाव-नमस्त्येव विशेषणाभावेपि विशिष्टाभावसत्त्वादिति शङ्कते—"नन्वि"ति। विशिष्टं यत्तद्यदि विशेषणादितो भिन्नं तदा प्रतियोगिभेदात्तदभावभेद इति विशेषणाभावोपन्यासेपि न विशिष्टाभावोपन्यास इत्यव्याप्तितादवस्थ्यम्। अथ विशेषणविशेष्याभ्यामभिन्नं विशिष्टं तदा विशेषणाभावो यदि विशिष्टाभावस्तदा विशेष्याभावेऽव्याप्तिरित्यननुगमः उभयाभावा-भिधानेपि प्रत्येकाभावाव्याप्तिरिति स एव दोष इति परिहरति—"यदी"ति ॥ २९१ ॥

जहाँ व्याप्ति आदि के अभाव का उपन्यास (कथन) किया जाता है, वहाँ व्याप्तत्व की प्रमिति (प्रमितत्व) का व्यतिरेक वस्तुतः रहता ही है, परन्तु प्रयोजन के अभाव से उसका उपन्यास नहीं किया जाता है। क्योंकि व्याप्ति के अभाव के दर्शन (ज्ञान) से ही अनुमान के अङ्ग (साधन) व्याप्ति की विकलता (अभाव) स्वरूप दोष का उद्भावन पर्यवसन्न (सिद्ध) हो जाता है, अतः यहां प्रमितत्व के व्यतिरेक के उद्भा-वन नहीं होने से अव्यापकत्व दोष उक्त लक्षणमें है। अब शंका होती है कि विशेषण (व्याप्ति) का अभाव तथा विशेष्य (प्रमितत्त्व) का अभाव भी वस्तुतः विशिष्ट का ही अभाव होता है। अर्थात् विशेषणाभाव, विशेष्याभाव, और उभयाभाव से विशिष्टाभाव होता है। अतः जहां केवल व्याप्ति के अभाव का उपन्यास होता है। वहां व्याप्ति-विशिष्ट प्रमितत्व के अभाव का उपन्यास सिद्ध होने से उक्त अव्यापकत्व दोष नहीं है। उत्तर यह है कि यदि विशेषणादि (विशेषण एवं विशेष्य) से अधिक (भिन्न) विशिष्ट है, तो विशेषणाभाव और विशेष्याभाव से उस विशिष्टाभाव का भेद भी होगा। अर्थात् उन दोनों के अभाव से विशिष्टाभाव भिन्न ही होगा। यदि विशेषण और विशेष्य से विशिष्ट अधिक नहीं है, तो विशेषणाभाव से अन्य में विशिष्टाभावता नहीं है, विशेषणा-भाव में ही विशिष्टाभावता है। इसी प्रकार विशेष्याभाव को भी विशिष्टाभाव होने पर पृथक्-पृथक् ही विशिष्टाभाव शब्द का अर्थ होगा, और विशेषणाभावरूप विशिष्टाभाव एवं विशेष्याभावरूप विशिष्टाभाव का अननुगम होगा तथा अननुगम से परस्पर व्यभिचार होगा। स्वार्थानुमिति में प्रसिद्ध लक्षण की अव्याप्ति भी होगी, क्योंकि वहाँ अव्याप्ति आदि का उद्भावन नहीं किया जाता है। शब्द का प्रयोग दूसरे को समझाने के लिये किया जाता है, अपने समझने के लिये नहीं ॥ २९१ ॥

अथ ब्रूषे यत्र व्याप्तित्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः साक्षाच्छक्योपन्या-सस्तदसिद्धं शक्योपन्यासत्वस्यानुपन्यस्तेपि सम्भवान्नास्त्यव्यापकतेति नैतदपि युक्तं, तथाहि—शक्योपन्यासत्वं किं शक्यस्वरूपनिर्देशत्वमात्रमुत शक्यप्रमापणत्वम्, आद्येऽनैकान्तिकादावपि व्याप्तिशून्यत्वं शक्यप्रतिज्ञं भव-

त्येव । द्वितीयेऽपि यदि साक्षादिति प्रत्यक्षेणेत्यर्थस्तदा प्रत्यक्षेण प्रमाणीयत्वं व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहस्य प्रत्यक्षप्रतियोगिकाभावप्रत्यक्षतावादिमते विरुद्धादावप्यस्तीत्यतिव्याप्तिः । अन्यमते न क्वचिदपीति सर्वाव्याप्तिः । अथ व्याप्तिपक्षधर्मताविरहस्यापि प्रत्यक्षप्रमाणीयता विवक्षिता, सा न युक्ता, उक्तलक्षणवाक्यस्य व्याप्तिपक्षधर्मताविरहानभिधायित्वात् तद्विरहेऽपि तात्पर्याभ्युपगमे प्रत्येकसमुदितलक्षणताविकल्पेनाव्यापकतापातात् ॥२९२॥

पूर्वदोषे सत्येव स्वार्थानुमित्यसिद्धत्वमात्रसङ्ग्रहाय शङ्कते—अथ ब्रूषे इति । साक्षादित्यनैकान्तिकादावतिव्याप्तिवारणाय । शक्योपन्यासेति स्वार्थानुमानासिद्धयप्राप्तिवारणाय, उपन्यासयोग्यतायास्तत्रापि सत्वात् । अत्र शक्योद्भावनत्वं विरुद्धादावतिव्यापकम्, उद्भावनार्हतायास्तत्रा सतेः । व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहस्य प्रत्यक्षप्रमाणीयत्वं नैयायिकमते विरुद्धादावतिव्यापकं भट्टमते चासंभव एव लक्षणदोष इत्याह—शक्योपन्यासत्वमिति । भट्टमतेऽसम्भववारणाय शङ्कते—अथेति । व्याप्तिपक्षधर्मताविरहस्य तन्मतेऽपि प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः । व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहान्तर्भावेण लक्षणे प्रमितिविरहान्तर्भावावश्यकतया तदवस्थ एवासम्भवो दोष इत्याह—उक्तलक्षणेति । ननु व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरह इत्यत्र द्वन्द्वसमाश्रयणाद्व्याप्त्यादिविरहोऽपि तात्पर्यविषय एवेत्यत आह—तद्विरहेऽपीति । व्याप्तिविरहादीनां यदि प्रत्येकं लक्षणत्वं तदा तदितरत्राव्याप्तिरथ तावतां विरहाणां मिलितमुद्भावनीयत्वेन विवक्षितं तदा प्रत्येकोद्भावनाव्याप्तिरित्यर्थः ॥ २९२ ॥

उक्त स्वार्थानुमिति में अव्याप्ति वारण के लिये यदि कहें कि जहाँ व्याप्तत्व तथा पक्षधर्मत्व की प्रमिति का अभाव साक्षात् उपन्यास (कथन) योग्य होता है, वह असिद्ध है, और उपन्यास योग्यता के उपन्यास रहित स्थान में भी सम्भव से अव्याप्ति नहीं है, तो यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि शक्योपन्यासत्व क्या है ? क्या शक्यस्वरूप निर्देशत्व (निर्देश योग्य स्वरूपवत्त्व) मात्र है ? या शक्यप्रमाणावत्त्व (प्रमाणयोग्यत्व) ? प्रथमपक्ष में अनैकान्तिकादि में भी व्याप्तिशून्यत्व (व्याप्ति का भाव) शक्यप्रतिज्ञ (उपन्यासयोग्य) होता ही है, अतः अतिव्याप्ति होगी। दूसरे पक्ष में भी यदि साक्षात् इसका (प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अर्थ हो) कि जहाँ व्याप्ति एवं पक्षधर्मता की प्रमिति के व्यतिरेक प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेय हो तो उस का उपन्यास असिद्ध होता है, तो प्रत्यक्ष प्रतियोगी वाले अभाव को प्रत्यक्ष कहने वालों के मत में व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमिति के अभाव को विरुद्धादि में भी प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमापणीयत्व (ज्ञापकत्व) है, अतः अतिव्याप्ति होगी, और जो प्रत्यक्ष प्रतियोगी वाले अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमित नहीं मानते हैं, अनुपलब्धि से अभाव को प्रमित मानते हैं, उन अन्यवादियों के मत में व्याप्ति प्रमितिविरहादि कहीं भी प्रत्यक्ष से बोधनीय नहीं होने से असम्भव होगा (सर्वत्र स्वलक्ष्य में भी लक्षण की व्याप्ति (प्राप्ति) नहीं होगी) यदि कहें कि—भट्ट मत में व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रमिति का विरह यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है, किन्तु व्याप्तिपक्षधर्मता का अधिकरणात्मक विरह प्रत्यक्षप्रमाण का विषय होता है, और व्याप्तिपक्षधर्मता के विरह की प्रत्यक्षप्रमाणीयता लक्षणा में विवक्षित है अर्थात् जहाँ व्याप्तिपक्षधर्मता का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेय हो वह असिद्ध है । अतः असम्भव नहीं है, और अतिव्याप्ति भी नहीं है । क्योंकि अनैकान्ति-

कादि में व्याप्तिप्रमितिविरह का मानस प्रत्यक्ष होता है। परन्तु व्याप्तिविरह का प्रत्यक्ष नहीं होता, तो इसका उत्तर यह है कि यह विवक्षा भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त लक्षण वाक्य को व्याप्तिपक्षधर्मता के विरह वाचकत्व नहीं है। व्याप्तिपक्षधर्मता के अभाव में भी लक्षण वाक्य के तात्पर्य को यदि मानें, अर्थात् व्याप्ति आदि तीनों का द्वन्द्व समास करके विरह के साथ तीनों का सम्बन्ध करें, तो प्रत्येक और समुदित विरह के उपन्यास के विकल्प (भेद) से प्रत्येक समुदित लक्षणता के विकल्प (भेद) से लक्षणों में अव्यापकता की प्राप्ति होगी। असिद्ध मात्र का एक लक्षण नहीं होने से परस्पर अव्याप्ति रहेगी ॥ २९२ ॥

अतीन्द्रियपक्षादिविरहे च विषये तदभावादव्यापकतापत्तेः। 'एतेन यदि लिङ्गानपेक्षत्वं' साक्षादर्थः सोपि निरस्तः। अथोच्यते यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतया तत्प्रमापकस्य लिङ्गस्योपन्यासमन्तरेण शक्योद्भावनस्तदसिद्धमिति ॥ २९३ ॥

सर्वसाधारणं दोषान्तरमाह—अतीन्द्रियेति। तदभावादिति। प्रत्यक्षेण प्रमाणीयत्वाभावादित्यर्थः। एतेनेति। विरुद्धाद्यतिव्यापकत्वेन प्रत्येकमिलितविकल्पेन वेत्यर्थः। भट्टमते प्रमितिविरहस्यानुपलब्धिगम्यतया लिङ्गानपेक्षत्वमन्येषां च प्रत्यक्षवेद्यतया च लिङ्गानपेक्षत्वं तुल्यमिति भावः। उक्तातिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते—अथेति। यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेको लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनस्तत्र हेतुस्तत्प्रमापकस्य प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतयेति नचैवमतिव्याप्तिर्विरुद्धादौ विरुद्धत्वसव्यभिचारत्वादिलिङ्गोपन्यासान्नचाव्याप्तिरतीन्द्रियपक्षधर्मत्वादिविरहे तत्र पक्षादिविरहस्यैव लिङ्गान्तरापेक्षया तदवगमे सति व्याप्त्यादिव्यतिरेकावगमकलिङ्गानुपन्यासादित्यर्थः। यद्वा यत्र व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकः प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतया यत्तत्प्रमापकं लिङ्गं तदुपन्यासव्यतिरेकेणेति संबन्धः। विरुद्धादौ प्रतिपाद्यान्तरानपेक्षविरुद्धत्वाद्युपन्यासान्नातिव्याप्तिर्नवातीन्द्रियपक्षधर्मताविरहादावव्याप्तिस्तल्लिङ्गस्य प्रतिपाद्यान्तरापेक्षत्वाद्येन तस्य व्याप्तिर्नावधारिता तं प्रति तस्याः प्रतिपादनीयत्वादित्यर्थः ॥ २९३ ॥

और पक्षादि के अभाव के अतीन्द्रिय विषय में व्याप्तिपक्षधर्मता के अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय नहीं हो सकते। अतः वहाँ लक्षण में अव्यापकता की प्राप्ति होती है। वहाँ (अनित्याः परमाणवः सर्वगतत्वात्) ऐसा यदि मीमांसक प्रयोग करते हैं, तो अतीन्द्रियपक्षधर्मत्वाभाव रहता है। और (वन्ध्यापुत्रश्चतुर्वेदज्ञो ब्राह्मणपुत्रत्वात्) यहाँ अतीन्द्रियव्याप्ति विरह रहता है, वह प्रत्यक्ष प्रमा के विषय नहीं हो सकता। इस अतीन्द्रिय पक्षादि के स्थान में अव्याप्ति से ही यदि लिङ्गानपेक्षत्व साक्षात् शब्द का अर्थ हो तो वह भी निरस्त (खण्डित) हो गया। अर्थात् व्याप्तिपक्षधर्मता का विरह लिङ्ग की अपेक्षा के बिना जहाँ प्रमा विषय हो, वह असिद्ध है, क्योंकि अतीन्द्रियपक्षादि के स्थान में लिङ्ग से ही व्याप्तिपक्षधर्मताविरह का ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि (जहाँ व्याप्तत्व एवं पक्षधर्मत्व का अभाव, प्रतिपादन योग्य अन्य साधन की अपेक्षा के बिना, तथा उस के प्रमापक (बोधक) लिङ्गोपन्यास (लिङ्ग कथन) के बिना उद्भावन (कथन) के योग्य हो वह असिद्ध होता है। विरुद्ध में लिङ्ग के उपन्यास होने से उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। और अतीन्द्रिय पक्षादि स्थान में लिङ्ग का कथन

होता है। परन्तु अभावव्याप्ति के प्रतिपादन योग्य अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती है। अतः उस में अव्याप्ति भी नहीं है। अर्थात् अतीन्द्रिय स्थान में पक्षादि का अभाव लिङ्ग से समझा जाता है, परन्तु उसका ज्ञान होने पर व्याप्ति आदि के अभाव के बोधक लिङ्ग का कथन नहीं होता है ॥ २९३ ॥

नैतदप्युपपन्नमतिव्यापकत्वात्। तथा हि—विरुद्धादावपि शक्यते तावद्विपक्षवृत्तिदण्डभूततर्काभावात् सोपाधितावगन्तुं, यदाह 'यत्रानुकूलस्तर्को नास्ति सोऽप्रयोजक इति तस्मात्तेषामप्येवंलक्षणयोगित्वादसिद्धत्वप्रसङ्गः। नच तादृशतर्काविषयत्वमपि प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षतया व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहप्रमापकलिङ्गभूतमेवेति वाच्यं तथा सति विरुद्धत्वादिवत्तस्य हेत्वाभासान्तरत्वप्रसङ्गात् ॥ २९४ ॥

नेदं लक्षणमतिव्याप्तत्वादिति परिहरति—नेति। विरुद्धादौ प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षविरुद्धत्वादिलिङ्गोपन्यासेन व्याप्तत्वादिप्रमितिव्यतिरेकस्य शक्योद्भावनत्वे कथमतिव्याप्तिरित्यत आह—तथा हीति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादित्यादिविरुद्धादौ विपक्षबाधकतर्काभावादपि व्याप्तिविरहस्य शक्यावगमत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। विपक्षबाधकतर्काभावो विरुद्धत्वादिवद्व्याप्तिव्यतिरेकगमक इत्यत्रोदयनसंवादमाह—यत्रेति। अनुकूलतर्कः पक्षे स एव प्रतिकूलो विपक्षे स यत्र हेतुत्वाभिमते नास्ति सोऽप्रयोजको व्याप्तिरहित इत्यर्थः। उक्तलक्षणसङ्गृहीतत्वाद्विरुद्धादेरसिद्धान्तर्भावः स्यादित्युपसंहरति—तस्मादिति। विपक्षबाधकतर्कागोचरत्वं प्रतिपादनीयान्तरानपेक्षव्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिव्यतिरेकलिङ्गमुपन्यस्यते इति नातिव्याप्तिरित्यत आह—नचेति। कुतो न वाच्यमित्यत आह—तथेति ॥ २९४ ॥

अतिव्यापकता (अतिव्याप्तियुक्तता) से यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि हेतु की विपक्षवृत्तिता के दण्डस्वरूप (बाधक) तर्क के अभाव से विरुद्धादि में भी सोपाधिकता का ज्ञान हो सकता है, और सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्धि व्याप्तिविरह का ज्ञान होता है, अतः (शब्दः, नित्यः, कृतकत्वात्। शब्द, अनित्य, प्रमेयत्वात्) इस विरुद्ध और अनैकान्तिक स्थान में विपक्षबाधक तर्काभाव से व्याप्तिविरह का ज्ञान होने पर अतिव्याप्ति होगी। कहा भी है कि (जहां अनुकूलतर्क नहीं है, वह हेतु अप्रयोजक (व्याप्तिरहित = साध्याऽप्रबोधक) होता है। अतः उन विरुद्धादि को भी इस प्रकार असिद्ध के लक्षण से युक्त होने के कारण उन्हें असिद्धत्व की प्राप्ति होती है। यदि कहें कि तादृशतर्काविषयत्व (विपक्षबाधक तर्काभाव) भी प्रतिपादनीयान्तर (साधनान्तर) की अपेक्षा के बिना व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रमिति के अभाव का प्रमापक (बोधक) लिङ्ग स्वरूप ही है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। जहाँ असिद्धि है, वहाँ वह असिद्धि का बोधक है, तो ऐसा कहने योग्य नहीं है। क्योंकि, अनुकूल कर्त्रभाव को उक्ति रीतिसे व्याप्यत्वाभाव का प्रबोधक होने पर, विरुद्धत्वादि के समान उस अनुकूल तर्काभाव को भी हेत्वाभासान्तरत्व की प्राप्ति होगी ॥ २९४ ॥

अथोच्यते तथोपन्यस्यमानं तदसिद्धं भवतु साध्यविपरीतव्याप्तत्वादिना तु दूष्यमाणं विरुद्धाद्येव तत्। उपन्यासप्रकारभेदाच्च भेदव्यवस्था हेत्वाभासानाम्। नह्यत्र गोत्वाश्वत्वादिवदत्यन्तासङ्कर इष्यते किं नाम प्रमाणप्रमेयभाववत् प्रकारासङ्करमात्रमिति ॥ २९५ ॥

व्याप्त्यादिभङ्गत्वाद्विरुद्धादिवत्तर्काभावोपि हेत्वाभासान्तरं स्यान्नच तस्य विरुद्धादावन्तर्भाव एवं सति विरुद्धेनैकान्तादेरन्तर्भावापातान्नायमतिप्रसङ्गो दोषाय विरुद्धादेरसिद्धलक्षणोपपन्नत्वेनासिद्धत्वस्यापि संभवादिति शङ्कते—अथेति । तुल्यायां प्रमाणप्रमेयव्यवहारवद् विरुद्धादावसिद्धत्वविरुद्धत्वादिव्यवहारोस्ति प्रवृत्तिनिमित्तभेदादेव हेत्वाभासभेदव्यवस्थेत्यर्थः । अथेति । प्रागुक्तप्रकारपरामर्शस्तर्हि विरुद्धादिलयमियादित्यत आह—साध्येति । यत्र साधकतर्काभावेन सोपाधिता गम्यते तदसिद्धं तदेव पुनः साध्यविरुद्धत्वादिना दूष्यमाणं विरुद्धादि भवतीत्यर्थः । उपन्यासभेदेपि वस्तुन एकत्वात्कथं हेत्वाभासव्यवस्थेत्यत आह—उपन्यासेति । उपन्यासभेदोपाधिक एव हेत्वाभासभेद इत्यर्थः अनौपाधिक एव भेदः कस्मान्नेष्यते हेत्वाभासानामित्यत आह—नहीति । जलमनग्नि धूमवत्त्वादित्यत्र व्याप्त्यादिविरहस्य साध्यविपरीतव्याप्तत्वेन सङ्करात्तथा नित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादित्यादावप्यसिद्धसाङ्कर्यादित्यर्थः । उक्तमर्थं सदृष्टान्तमुपपादयितुं परमुखेन पृच्छति—किमिति । स्वारस्यमाह—प्रमाणेति । इन्द्रियादौ प्रमाकरणत्वेन प्रमाणत्वं तद्विषयत्वेन च प्रमेयत्वं व्यवह्रियते तद्वदित्यर्थः ॥ २९५ ॥

इसका विवेचन इस प्रकार है—यदि कहा जाय कि अनुकूलतर्काऽभावकाल में उक्तिरीति से उपन्यस्यमान (नित्यः शब्दः कृतकत्वात् , अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्) इत्यादि विरुद्ध अनैकान्तिक हेतु असिद्ध के लक्षण से युक्त होने के कारण असिद्ध हो सकता है और साध्य से विपरीत (नित्यत्वाभाव = अनियत्व) से व्याप्तत्वादिरूप से दूषित वही हेतु विरुद्ध लक्षण से युक्त होने से विरुद्धादि भी हो सकता है। अर्थात् व्याप्यत्वाभावरूप से जो हेतु असिद्ध कहा जाता है, वही साध्याभाव से व्याप्त होने के कारण विरुद्ध कहा जाता है। और विपक्ष वृत्तित्व से व्यभिचारी कहा जाता है। और विपक्षवृत्तित्व से व्यभिचारी कहा जाता है । वहाँ उपन्यास के प्रकार के भेद से हेत्वाभासों के भेद की व्यवस्था (नियम) होती है, अर्थात् साधकतर्काभावरूप से कथित व्याप्यत्वाभाव असिद्ध होता है, और वही साध्यविरुद्धत्वादि से दूषित होने से विरुद्धादि होता है। अतः उपन्यास भेद से हेत्वाभास में भेद होता है अन्यथा नहीं, क्योंकि, इन हेत्वाभासों में गोत्व एवं अश्वत्वादि के समान अत्यन्त असंकर (अमिश्रण) नहीं माना जाता, किन्तु प्रमाणत्व तथा प्रमेयत्व के समान प्रकारान्तर (रीति भेद) मात्र का असंकर माना जाता है। अतः जैसे इन्द्रियादि में प्रमा के कारण होने से प्रमाणत्व और प्रमा के विषय होने से प्रमेयत्व होता है, वैसे प्रकृत में असिद्धत्वादि भी होते हैं। (जलमग्निमत् धूमवत्त्वात्) यहाँ व्याप्यत्वाभाव को साध्याभाव के साथ संकर है। और (नित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्) इत्यादि में भी असिद्ध का संकर है ॥ २९५ ॥

तदप्ययुक्ताभिधानं, वक्तव्यं हि केन प्रकारेणासिद्धत्वं भवति न तावदुक्तलक्षणेन तथा शक्योद्भावनं तस्य विरुद्धोचितप्रकारेणोपन्यस्यमानस्य संभवात् सर्वथा निष्प्रकारकस्यासिद्धधर्मिण उद्भावनस्याशक्यत्वात् । नच तथा शक्योद्भावनत्वमप्युद्भाव्यतेऽसिद्धे येन प्रकारभेदव्यवस्थितिरनेन भवेत् ॥ २९६ ॥

खण्डनवादिनं प्रति प्रमाणप्रमेयवदिति कथं सिद्धवद्दृष्टान्तमुदाहरसीति दूषयति—तदपीति । किंच प्रकारासङ्करमात्रमिति ब्रुवता सिद्धव्यवहारोचितप्रकारो वक्तव्यः स च

वक्तुमशक्य इत्यभिप्रेत्याह—वक्तव्यं हीति। यत्र च व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेको लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनः सोऽसिद्ध इत्याशङ्कयाह—न तावदिति। कुत इत्यत आह—तथेति। साध्यविरुद्धव्याप्तत्वादिप्रकारेणोपन्यस्यमानस्यापि तथानुमानेपि तथा शक्योद्भावनत्वमस्तीत्यतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः। यत्र साध्यविपरीतव्याप्तत्वादिप्रकारो नास्ति व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेकश्च लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनः सोऽसिद्धप्रकार इत्यत आह—सर्वेति। सर्वथा विरुद्धादिप्रकारहीनस्यासिद्धधर्मिण उद्भावनस्य व्याप्त्यादिप्रमितिव्यतिरेकोद्भावनस्याशक्यत्वात्कचिदसङ्करेपि सर्वत्रासाङ्कर्याभावादित्यर्थः। यद्यपि विरुद्धव्यवहारोचितप्रकारादावपि तथाशक्योद्भावनत्वमस्ति तथापि तत्रोद्भाव्यते यत्र तु तदुद्भाव्यते सोऽसिद्ध इति व्यवस्थेत्यत आह—नचेति। स्वार्थानुमानेसिद्धे व्याप्तेरित्यर्थः॥ २९६॥

यह पूर्वोक्त कथन भी अयुक्त है क्योंकि प्रकार के असंकर को मानने पर भी कहना होगा कि किस प्रकार (विशेषण = लक्षण से) असिद्धत्व होता है। यदि कहें कि लिंगोपन्यास के बिना, व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रमिति के व्यतिरेक का उपन्यास (कथन) जहाँ हो सकता है वह असिद्ध है, इस प्रकार उक्त लक्षणरूप प्रकार ही कहा जा सकता है कि उक्त लक्षणरूपप्रकार से असिद्धत्व होता है, तो उसका उत्तर यह है कि उक्त लक्षणरूप प्रकार से असिद्धत्व नहीं कह सकते। क्योंकि विरुद्धोचित (विरुद्धत्व) प्रकार से उपन्यस्यमानहेतु को भी व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रमिति के अभावोद्भावनयोग्यत्व का सम्भव है। अर्थात् विरुद्धादि हेतु से भी व्याप्तिपक्षधर्मता के व्यतिरेक का उद्भावन हो सकता है। अतः यदि असिद्ध का उक्त लक्षण हो तो विरुद्धादि स्थान में असिद्ध से ही अनुमिति के प्रतिबद्ध होने से विरुद्धादि को पृथक् हेत्वाभास मानना व्यर्थ होगा। यदि कहें कि जहाँ साध्याभाव से व्याप्त व्यभिचारित्वरूप प्रकार का उद्भावन नहीं हो, किन्तु व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रमिति के व्यतिरेक लिङ्गोपन्यास के बिना शक्योद्भान (उद्भावन योग्य) हो, वह असिद्ध है, तो इसका उत्तर यह है कि सर्वथा निष्प्रकारक (विरुद्धत्वादि रहित) असिद्धधर्मी (हेतु) में उस व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमिति के व्यतिरेक का उद्भावन अशक्य है, अर्थात् ऐसा कोई उदाहरण नहीं कि जहाँ विरुद्धादि नहीं हो और वह केवल असिद्ध का उदाहरण हो सके। क्योंकि कहीं असंकर होते भी प्रायः सर्वत्र संकर रहता है। यदि कहा जाय कि जहाँ विरुद्ध व्यवहारादि के योग्य प्रकार है तथा विरुद्धादि के उद्भावन की योग्यता भी है, परन्तु उसका उद्भावन नहीं किया जाता हो, और उक्त असिद्ध प्रकार का उद्भावन किया जाता हो वह असिद्ध है, तो उत्तर यह है कि वैसा शक्योद्भावनत्व भी असिद्ध में सर्वत्र नहीं उद्भावित हो सकता जिससे इस उद्भावन से प्रकार भेद की व्यवस्था हो सके, अर्थात् स्वार्थानुमिति की असिद्धि में इस प्रकार से भी अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहाँ उद्भावन ही नहीं होता॥ २९६॥

नच शक्योद्भावनपदस्थाने उद्भाव्यमानत्वमिति कृते निस्तारः, सोपाधितादुद्युद्भावने प्रमित्यभावोद्भावनं व्यर्थत्वान्न क्रियत इति तदव्यापकत्वं प्रसज्येत इति प्रागेवोक्तत्वादिति। एतेनासिद्धः साध्यसम इति प्रत्युक्तं यथाकथञ्चित्साध्यसाम्यस्य सर्वसाधारणत्वात्॥ २९७॥

तर्हि व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितेर्व्यतिरेको यत्र लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेणोद्भाव्यमानः

सोऽसिद्ध इति कृते निस्तारो विरुद्धादावनुद्भाव्यमानत्वादिति समनन्तरोक्ताव्याप्तिमपश्यन् केवलातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्कते यस्तं प्रत्याह—नचेति। कुतो न निस्तार इत्यत आह—सोपाधीति। सोपाधित्वं व्याप्त्यभावः व्याप्तिविरहपक्षधर्मताविरहदर्शनेनैवानुमानाङ्गवैकल्यात्मनो दोषस्योद्भावनपर्यवसानाद्वैयर्थ्यात् प्रमित्यभावो नोद्भाव्य इति कृत्वा तस्य लक्षणस्याव्यापकत्वं व्याप्त्यादिविरहमात्रतयोद्भाव्यमानासिद्धं प्रत्यव्यापकत्वं स्यादिति प्रागुक्तमित्यर्थः। इदानीं सूत्रनिःसृतं लक्षणं निरस्यति—एतेनेति। साध्येन हेतोः साम्यं येन केनचिदाकारेण किं वा साम्यविशेष इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह—यथेति। अस्तित्वज्ञेयत्वादिना साध्यसाम्यं विरुद्धादावपि तुल्यमित्यर्थः॥ २९७॥

यदि कहें कि शक्योद्भावनपद के स्थान में उद्भावनत्वमात्र लक्षण में रखेंगे। अर्थात्—जहां व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रमिति के व्यतिरेक का उद्भावन हो असिद्ध होता है। यद्यपि इस प्रकार भी स्वार्थानुमिति में उक्त अव्याप्ति का वारण तो नहीं हो सकता, तथापि विरुद्धादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ उक्त उदभावन की योग्यता रहते भी उसका उद्भावन नहीं होता है। तो उत्तर यह है कि ऐसा करने से भी दोष से निस्तार (राहित्य) नहीं है, क्योंकि सोपाधित्वादि (व्याप्यत्वासिद्धादि) के उद्भावन के स्थान में प्रयोजन के अभाव से व्यर्थता के कारण उक्त व्याप्तिपक्षधर्म की प्रमिति के अभाव का उद्भावन नहीं किया जाता है। अतः उसमें अव्यापकत्व की प्राप्ति होगी, यह पूर्व में ही कहा गया है। उक्त अतिव्याप्ति आदि दूषण से ही (साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः) इस सूत्र से सिद्ध (साध्यतुल्यहेतु साध्य होने से साध्यसम कहा जाता है) अतः (साध्यसम असिद्ध सिद्ध होता है, यह खण्डित हो गया। क्योंकि, हेतु की साध्य के साथ जिस किसी रूप से तुल्यता मानें तो अस्तित्व एवं ज्ञेयत्वादिरूप से विरुद्धादि सब हेतु को साध्य के साथ तुल्यता के कारण सर्वसाधारणत्व की प्राप्ति होगी॥ २९७॥

साम्यविशेषस्योक्तप्रकारपर्यवसानव्यतिरेकेणान्यस्यासम्भवात्। लक्षणान्तरेषु चोक्तदूषणप्रकारा यथासम्भवमिह योजनीया इत्यलं विस्तरेण॥२९८॥

यथा साध्यं साध्येन व्याप्ततया न प्रमितमेकत्वाद्यथा च पक्षधर्मतया न प्रमितं सन्दिग्धत्वादेवंरूपत्वमिहसाम्यं विवक्षितमिति द्वितीयमाशङ्क्याह—'साम्येति। एवंविधसाम्यविशेषस्य व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यां न प्रमित इत्युक्तप्रकारपर्यवसायित्वात्तस्य च खण्डितत्वादित्यर्थः। अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्ध इत्यादिलक्षणान्तरे को दोषस्तत्राह—लक्षणेति। व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितिव्यतिरेकस्य तत्राप्यवश्यं वक्तव्यत्वादुक्तदोषाः प्रादुष्युरेवेतियावत। किञ्चेदमनिश्चितत्वमप्रमितत्वमुत अज्ञातत्वमुत सन्दिग्धत्वमाद्ये दत्तमेवोत्तरं द्वितीये आत्मत्यापि पक्षधर्मतया विदिते सोपाधिकादावव्याप्तिस्तृतीये पक्षधर्मत्वादिविरहात्मना निश्चितचाक्षुषत्वादावव्याप्तिर्व्यर्थविशेषणविशेष्यासिद्धादौ चेत्यादि बहु वक्तुं शक्यमपि नोच्यते ग्रन्थगौरवभयादित्युपसंहरति—इत्यलमिति॥ २९८॥

यदि साध्य के साथ समता विशेष की विवक्षा करें कि एक होने से जैसे साध्य साध्य से व्याप्त नहीं रहता और सन्दिग्ध होने से जैसे पक्षधर्मतारूप से प्रमित नहीं रहता वैसे व्याप्तपक्षधर्मतारूप से अप्रमितत्वरूप से समता मानें, तो उक्त प्रकारों के बिना अन्य प्रकार के असम्भव से यह प्रत्युक्त है (अनिश्चित पक्षवृत्तिरसिद्धः) इत्यादि

लक्षणान्तरों में भी उक्त दूषण की रीतियों को यहां यथासम्भव जोड़ना चाहिए क्योंकि अधिक विस्तार का फल नहीं है ॥ २९८ ॥

अपि चासिद्धलक्षणविशेषणेषु प्रमाणव्यवच्छेदकव्यतिरेकेण यद्व्यवच्छेद्यं किं तत्केनचिद्विरुद्धं केनचिदन्यदितिचेत्, विरुद्धमेव किमुच्यते, तथाहि—साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्ध इत्याहुः, तत्र साध्यव्यतिरेकेण हि व्याप्तिः कात्स्न्र्येन वानौपाधिको वा स्वाभाविको वा संबन्ध इत्याद्युक्तिभिः सविशेषणः सहभाव एव निरुच्यते ॥ २९९ ॥

विरुद्धखण्डनानि प्रस्तावयति—अपि चेति। व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वप्रमितिव्यतिरेको यत्र लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेण शक्योद्भावनस्तदसिद्धमित्यादिलक्षणेषु व्यतिरेक इत्यन्तं विशेषणप्रमाणव्यवच्छेदकं तदतिरिक्तं विशेषणद्वयमस्ति तेन किं व्यावर्त्यं न किञ्चिद्विरुद्धादेरद्याप्यसिद्धत्वात् व्यावर्त्तयितुमशक्यत्वादितरेतराश्रयश्च विरुद्धादौ सिद्धे तद्व्यावर्तनेनासिद्धसिद्धिरसिद्धसिद्धौच तद्व्यावृत्तविरुद्धादिसिद्धिरित्याक्षेपाभिप्रायः। विषमपि पृष्टं मत्वोत्तरं प्राहेतरः—केनचिदिति। लिङ्गस्योपन्यासव्यतिरेकेणेति विशेषणेन विरुद्धं व्यवच्छेद्यमनैकान्त्यादि च तुल्यत्वात् केनचिच्छक्योद्भावन इत्यनेनान्यदव्यापकत्वं स्वार्थानुमानासिद्धे इत्याशयः। विरुद्धस्यैवनिरूपणसरणीमधिरोढुमनर्हतया परास्यत्वमित्यभिप्रेत्याह—विरुद्धमिति। विरुद्धानिरुक्तिमेव प्रतिपादयति—तथाहीति। साध्यस्य विपरीतोऽभावस्तद्विरुद्धो वा धर्मस्तेन व्याप्तोविरुद्ध इत्याहुरुदयनादयः विपर्ययव्याप्तत्वेन निश्चितो विरुद्धो हेत्वाभास इति वचनात् पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो विरुद्ध इति भाष्यकृतो लक्षणस्याप्यथतो न भेदः। विपर्ययसाहचर्यमात्रमनैकान्तेप्यस्तीति तत्परासाय व्याप्तत्वविशेषणं भङ्क्तं गणयति—तत्रेति। लक्षणस्य व्यर्थविशेषणतां वक्तुं व्याप्तिपदार्थं कथयति—साध्येति। साध्यव्यतिरेकेण हेतोर्व्याप्तिरित्याद्युक्तिभिः सविशेषणः सहभाव एव निरुच्यते इति संबन्धः। कात्स्न्र्येनेति। सार्वत्रिक इत्यर्थः। सर्वं एते प्रकारा अनुमानप्रस्तावे दर्शिताः। आदिपदेन यत्र विपक्षे हेतोर्वृत्तौ बाधकमस्ति तयोः सहभावो गृह्यते ॥ २९९ ॥

व्याप्तत्वपक्षधर्मत्व की प्रमिति का व्यतिरेक जहाँ लिङ्ग के उद्भावन के बिना उद्भावन योग्य हो वह असिद्ध है। इस असिद्ध के लक्षण के विशेषणों में व्याप्तत्वपक्षधर्मत्व तथा प्रमितिव्यतिरेक, इस विशेषण को तो अनुमान प्रमाण में व्यवच्छेदकत्व है, परन्तु इन से अन्य जो दो विशेषण हैं:—लिङ्गोद्भावनव्यतिरेकेण १, शक्योद्भावनः २, असिद्ध होते हैं। इन दोनों विशेषणों का जो व्यवच्छेद्य है वह क्या है? विरुद्धादि तो अभी सिद्ध नहीं हुए हैं जिनकी व्यावृत्ति समझी जा सके। यदि कहा जाय कि केनचित्, किसी विशेषण से (लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेण) इतने भाग से विरुद्धानैकान्तिक व्यवच्छेद्य होते हैं, और केनचित (शक्योपन्यास) से 'अन्यत्' स्वार्थानुमानगत अव्यापकत्व का व्यवच्छेद होता है, उसका ग्रहण होता है। तो उत्तर यह है कि विरुद्ध ही क्या है? जिसकी व्यावृत्ति के लिये असिद्ध के लक्षण में लिङ्गोपन्यासव्यतिरेकेण यह विशेषण है, अर्थात् वह दुर्निरूपणीय है। इसका विश्लेषण इस प्रकार है :—साध्य से विपरीत (साध्याभाव या साध्यविरुद्धधर्म) से व्याप्त हेतु विरुद्ध होता है, ऐसा कहते हैं। और (साध्यविपर्यय से व्याप्तरूप से निश्चित विरुद्ध होता है, इत्यादि नैयायिकों का कथन है। वहां साध्याभाव के साथ व्याप्ति, कात्स्न्र्येन (सम्पूर्णरूप से) सार्वत्रिक सम्बन्ध, या अनौपाधिक सम्बन्ध, या स्वाभाविक सम्बन्ध, इत्यादि उक्तियों द्वारा सविशेषण

(इन विशेषणों से युक्त) सहभाव (साध्याभाव के साथ वृत्तिता) (साध्याभाव के साथ व्याप्ति) कही जाती है ॥ २९९ ॥

तथा सति च साध्यव्यतिरेकेण सामानाधिकरण्यमेव विशेषणविशेषयुक्तं विरुद्धत्वमित्युक्तं स्यात् यथा चैवं तदा साध्यव्यतिरेकेण सामानाधिकरण्यमेव हेतोरगमकत्वे समर्थमिति तन्मात्रमुद्भाव्यं वृथा विशेषणप्रक्षेपः तथाचानैकान्तिक एवायं स्यात् ॥ ३०० ॥

सहभाव एव व्याप्तिपदार्थो निरुच्यतां का नाम वस्तुक्षतिरित्यत आह—तथेति। साध्याभावेन हेतोः सामानाधिकरण्यं साहचर्यसंबन्धो विशेषणकार्त्स्न्यादिना युक्तो व्याप्तिः स्यादित्यर्थः। यदर्थमुपोद्घातः कृतस्तदिदानीं दर्शयति—यदेति। हेतोः साध्याभावसम्बन्धमात्रस्यैवानुमानाङ्गवैकल्यदोषप्रतिपादनसामर्थ्यात्तस्मात्तन्मात्रमुद्भाव्यं न हि भवति साध्याभावसहचरितः साध्याविनाभूतश्चेति ततः कार्त्स्न्येत्यादि विशेषणप्रक्षेपो मुधा। यद्यपि व्याप्तिरित्युक्तं निर्विशेषणमेव तथापि दण्डीति वत्तदर्थनिर्वचनेन सविशेषणत्वं तर्हि साध्यस्य व्यतिरेकसहचरितो विरुद्ध इत्येतावन्मात्रं ब्रूमस्तत्राह—तथाचेति। पक्षत्रयवृत्तेरनैकान्तिकस्यापि साध्यव्यतिरेकसामानाधिकरण्यमस्तीति ततो भेदो न स्यादित्यर्थः ॥ ३०० ॥

उक्त सहभाव के साध्याभाव की व्याप्ति होने पर, साध्याभाव के साथ सार्वत्रिकत्वादि विशेषणविशेष से युक्त समानाधिकरणता ही हेतु के विरुद्धत्व इस शब्द से उक्त होगा। इस स्थिति में साध्याभाव के साथ हेतु का समानाधिकरणत्व ही हेतु के अगमकत्व (अव्याप्यत्व अनुमित्यजनकत्व) में समर्थ है। हेत्वाभासत्व के बोधन के लिये उतना ही उद्भावनीय है और उतना ही लक्षण वक्तव्य है, अन्य विशेषण का प्रक्षेप व्यर्थ है। यदि विशेषण नहीं देते तो साध्याभाव समानाधिकरणता मात्र अनैकान्तिक स्वरूप ही यह विरुद्ध सिद्ध होता है, पृथक् नहीं ॥ ३०० ॥

ननु साध्यव्यतिरेकसंबन्धो यद्यपि विरुद्धानैकान्तिकयोर्द्वयोरप्यस्ति। तथापि वस्तुगत्या स्वाभाविकोऽसौ विरुद्धे एवेत्येतावन्मात्रविवक्षया विरुद्धस्यानैकान्ताद्भेदोपन्यासः, मैवं, दत्तोत्तरत्वात् वस्तुगत्या सन्नप्ययं विशेषो नोद्भावनार्ह इत्युपेक्षणीय इत्युक्तं तथाहि—नेदमस्य साधकमेतत्साध्यं प्रति विरुद्धत्वादित्यभिधीयमाने विरुद्धशब्दार्थनिरुक्तौ विशेषणाधिक्यस्योक्तन्यायेन दुष्परिहरत्वात्, अत एवानैकान्तिके सन्देहेन प्रत्यवस्थानं विरुद्धे तु व्यतिरेकनिश्चयेनेति विशेषादनयोर्भेदोपन्यास इत्यप्यनवकाशम् ॥ ३०१ ॥

अनैकान्तिके व्यतिरेकसामानाधिकरण्यं तन्मात्रस्य चागमकत्वे प्रयोजकत्वमुक्तमङ्गीकृत्य चोदयति—नन्विति। तर्हि विशेषणवैयर्थ्यमित्यपि न वचनीयं विरुद्धस्यानैकान्ताद्भेदज्ञापकतयान्तर्वर्त्तिन्या व्याप्तेरुपन्यासादित्याह—तथापीति। फलितमाह—इत्येतावदिति। अनुपयुक्तांशसन्निध्यधिको न वक्तव्यो ज्ञेयत्वादिवन्निग्रहापातादिति परिहरति—मैवमिति। दत्तोत्तरत्वादिति हेतुरसिद्ध इत्यत आह—वस्त्विति। व्यतिरेकसामानाधिकरण्यमेव हेतोरगमकत्वे समर्थमिति विशेषणप्रक्षेपोमुधेत्युक्तमित्यर्थः। नित्यः शब्दः कृतकत्वादात्मवदित्युक्ते कृतकत्वं न नित्यत्वसाधकं विरुद्धत्वादित्युपन्यासे कथं विशेषणवैयर्थ्य-

मित्यत आह—तथाहीति। साध्यनिश्चयं विरुणद्धीति विरुद्ध इति वक्तव्यं व्याप्तिरपि सार्वत्रिकत्वादिविशिष्टसाहचर्यमित्युक्तन्यायेन साहचर्यमात्रस्यागमकत्वसमर्थत्वेन विशेषणाधिक्यं दुष्परिहरमित्यर्थः। उक्तामेव नीतिं भङ्ग्यंतरेण्यतिदिशति—अत इति। अनैकान्तिके साध्यव्यतिरेकेण व्याप्तिसन्देहेन प्रत्यवस्थानं विरुद्धे तु साध्यव्यतिरेकव्याप्तत्वनिश्चयेन प्रत्यवस्थानमित्येवंरूपविशेषादनैकान्तविरुद्धयोर्भेदकथनमत एव विशेषणवैयर्थ्यादेव निरवकाशमित्यर्थः। अनैकान्तिको हि साधारणोऽसाधारणश्चेति द्विधा तत्र साधारणः साध्याभाववति पक्षे च साधारणत्वात्समानधर्मतया पक्षे साध्यसन्देहं करोति विरुद्धस्तु व्यतिरेकव्याप्ततया पक्षे साध्याभावनिश्चयं करोतीति तयोर्भेद इति शङ्काकृतोऽभिप्रायः॥ ३०१॥

अनैकान्तिक में साध्याभावसामानाधिकरण्य रहता है और उतना ही अगमकत्व (साध्याऽबोधकत्व) में हेतु है, इस सिद्धान्त को मान कर भी शंका है कि यद्यपि साध्याभाव के साथ बिरुद्ध एवं अनैकान्तिक दोनों हेतुओं का सम्बन्ध रहता ही है, तो भी वस्तुतः स्वाभाविक वह सम्बन्ध विरुद्ध में ही रहता है। अतः एतावन्मात्र विशेष की विवक्षा से विरुद्ध में अनैकान्तिक से भेद का कथन होता है। उत्तर यह है कि यह शंका युक्त नहीं, क्योंकि वस्तुतः यह विशेष रहते भी उद्भावन (कथन) योग्य नहीं है। वस्तुतः स्वाभाविकत्व (सार्वत्रिकत्व) निवेशकृत ही लक्षण में विशेष है और वह उपेक्षणीय (त्याज्य) है पहले कहा गया है, कि हेतु में साध्याभावसमानाधिकरणता ही अगमकत्व में समर्थ है, अतः विशेषण व्यर्थ है। स्पष्टता के लिए फिर इसे इस प्रकार समझना चाहिए। (नित्यः शब्दः कृतकत्वाद् आत्मवत्) यहाँ यह साधन (कृतकत्व) इस साध्य (नित्यत्व) के प्रतिसाधक नहीं है, क्योंकि विरुद्ध है, ऐसा कहने पर बिरुद्ध शब्दार्थ के निर्वचन में उक्त रीति से विशेषण के आधिक्य (व्यर्थता) का परिहार दुःसाध्य है, अतः उपेक्षणीय है। अर्थात् साध्य के साथ हेतु के व्यभिचार मात्र से असाधकत्व होता है, सार्वत्रिकत्व से नहीं। व्यर्थ विशेषणता से ही अनैकान्तिक हेतु में साध्याभाव के साथ व्याप्ति के सन्देह से प्रत्यवस्थान (विरोध) किया जाता है। और विरुद्ध हेतु में साध्याभाव के साथ व्याप्ति के निश्चय से प्रत्यवस्थान किया जाता है, इस विशेष (भेद) से ही इन दोनों का भेद कहा जाता है। यह कथन भी अयुक्त है॥ ३०१॥

इसी से उक्त विशेषण की व्यर्थता आगे दिखलाई जाती है—

अनुमितिहेतुव्यतिरेको हि हेतुदोषः। अनुमितिहेतुश्चैको व्याप्तिः, अतस्तदभावस्य दोषत्वात्तावन्मात्रं ज्ञाप्यं तच्च हेतुविपक्षसंबन्धोद्भावनमात्रादेव गम्यते तस्मादनुमितहेतुव्याप्तिप्रमितिव्यतिरेकबोधनाय संशये व्यतिरेकनिश्चये वा उद्भाव्यमानेपि कुतस्तावेवेत्यत्र विपक्षासंबन्धमात्रनियततत्संबन्धाववश्योपन्यस्याविति विपक्षसंबन्धमात्रमेवास्तु व्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकस्य लिङ्गत्वादुद्भाव्यं कृतमितराभ्यामिति॥ ३०२॥

अत इतिपरामृष्टं विशेषणवैर्थ्यं दर्शयति—अनुमितीति अनुमितेर्यत्कारणं तदभावो हेतुदोष इत्यर्थः। कस्तर्ह्यनुमितिहेतुर्यद्व्यतिरेको हेतुदोष इत्यत आह—'अनुमितीति'। एको व्याप्तिरपरो हेतुः पक्षधर्मतेति यावत्। ततः किमित्यत आह—अत इति। व्याप्ति-

व्यतिरेकस्य हेतुदोषत्वात्तन्मात्रमुद्भाव्यं तदेव हेतुं दूषयतीत्यर्थः। व्याप्तिव्यतिरेकोद्भावनमेव हेतोर्विपक्षसंबन्धनियमानियमदर्शनाधीनमिति तदुपन्यास इत्यत आह-तच्चेति। साध्याभावसहचरितः साध्यव्याप्तश्चेत्यसम्भवाद्विपक्षवृत्तित्वदर्शनेनैव व्याप्तिव्यतिरेको गम्यते इत्यर्थः। विपक्षसम्बन्धनियमाभ्यामपि व्याप्तिव्यतिरेको गम्यते इति तावेवोपन्यस्याविति विपरीतं किं न स्यादित्याशङ्क्योपसंहरति—तस्मादिति। तत्संबन्धमात्रमेवोद्भाव्यमस्तु कृतमलमितराभ्यां व्यतिरेकसंशयनिश्चयाभ्यामिति सम्बन्धः तदुपपादयति-अनुमितीति। हेतुव्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकसंशयेनैकान्तिकेऽव्यतिरेकनिश्चये विरुद्धे वोद्भाव्यमाने तावेव संशयनिश्चयौ कुत इति जिज्ञासायां विपक्षसम्बन्धमात्रं विपक्षनियतसम्बन्धश्चावश्योपन्यस्य इति कृत्वा विपक्षसम्बन्धमात्रस्य व्याप्तेस्तत्प्रमितेश्च व्यतिरेकस्य लिङ्गत्वात्तन्मामुद्भाव्यमुपजीव्यत्वाल्लाघवाच्चेत्यर्थः ॥ ३०२ ॥

अनुमिति के हेतु का अभाव रूप ही हेतु का दोष होता है। और अनुमिति का हेतु एक व्याप्ति है, दूसरा हेतु पक्षधर्मता है। अतः उस व्याप्ति के अभाव में दोषत्व होने से उतना ही दोषरूप से ज्ञाप्य (बोधनार्ह) है। और उसका ज्ञान हेतु के विपक्ष में सम्बन्ध मात्र के कथनमात्र से होता है। अर्थात् वह दोष हेतु के विपक्ष में सम्बन्ध के कथन मात्र से समझा जाता है। अतः अनुमिति के हेतु व्याप्ति के अभाव के बोधन के लिये व्यतिरेक—संशय या व्यतिरेकनिश्चय के उद्भावन करने पर भी (तौ एव कुतः) वे ही दोनों कैसे होते हैं? उक्त संशय निश्चय का कारण क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर, विपक्ष के साथ सम्बन्धमात्र और नियत विपक्षसम्बन्ध अवश्य वक्तव्य होंगे। अतः विपक्ष के साथ हेतु के सम्बन्ध मात्र के ही व्याप्ति और व्याप्ति की प्रमिति के अभाव के लिङ्ग होने से उतना ही उपजीव्य और लघु होने से उद्भावन के योग्य है। इतर (व्यतिरेक संशय और निश्चय) से कोई फल नहीं है ॥ ३०२ ॥

शंका होती है कि (अभूत् भवति-भविष्यति) हुआ, होता है और होगा, इन प्रयोगों में काल का सम्बन्ध विवक्षित रहता है, काल विवक्षित नहीं रहता, तो भी भासता है। (देवदत्तो ग्रामं गतः) देवदत्त गाँव गया, यहाँ कर्ता विवक्षित रहता है, पुंस्त्व नहीं, तो भी भासता है। और (अग्निमान् पर्वतः) पर्वत अग्निवाला है, यहाँ अग्नि का पर्वत के साथ सम्बन्ध विवक्षित है, पर्वत तथा दृष्टान्तादि नहीं, तो भी पर्वतरूप धर्मी आदि भासते हैं। वैसे ही विपक्ष के साथ हेतु के सम्बन्धमात्र के कथन करने पर भी अविवक्षित भी नियम विरुद्ध स्थान भासता है, और अविवक्षित अनियम अनैकान्तिक स्थान में भासता है, अतः दोनों का भेद सिद्ध हो जाता है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

लकारभेदप्रयोगे तैस्तैर्लकारैः कालविशेषप्रतिपादनवद्विभक्तिभिर्लिङ्गसङ्ख्याज्ञापनवत्पर्वतोऽग्निमानित्यादौ धर्म्यादिप्रतिपादनवच्च नेदं घटते तत्रतेषामतात्पर्यविषयाणामपि पदप्रयोगे विशिष्टबोधने वाऽन्यथासिद्धानां यथा बोधनं तथा यद्यत्रापि व्याप्तेरतात्पर्यविषयत्वं तदानैकान्तिकसाधारण्यादेवाऽन्यथोक्तदोषापरिहारादेवेति ॥ ३०३ ॥

अभूद्भवति भविष्यतीति लुङादिलकारभेदप्रयोगेऽविवक्षितोपि भूतादिकालः प्रतीयते देवदत्तो ग्रामं गत इत्यादौ पुल्लिङ्गत्वादिरविवक्षितः प्रतीयते यथा वाग्निमान् पर्वत इत्यादावविवक्षितधर्मिदृष्टान्तादि प्रतीयते तद्वद्विपक्षसम्बन्धमात्रोद्भावने विवक्षितो नियमा-

नियमौ प्रतीयते इत्यत आह—लकारेति। कालविशेस्याविवक्षितत्वं कालसम्बन्धमात्रस्य विवक्षितत्वात्प्रथमादिविभक्तेः कर्त्रादिकारकमात्रपरत्वाल्लिङ्गादेरविवक्षितत्वमस्ति अग्निपर्वतसम्बन्धस्यैव विवक्षिततया प्रत्यक्षसिद्धतया च धर्म्यादेरविवक्षितत्वमित्यर्थः कुतो न घटते इत्यत आह—तत्रेति। तत्र तेषामतात्पर्यविषयाणामन्यथासिद्धानां बोधनं यथेति संबन्धः। अन्यथासिद्धिं दर्शयति—पदेत्यादि। पदानां लिङ्गादबोधकत्वस्वाभाव्याल्लिङ्गादेरन्यथासिद्धिः कालादिविशिष्टबोधने विशेषणतया कालादिविशेषस्यान्यथासिद्धिरित्यर्थः। तथा व्याप्तेरतात्पर्यविषयत्वमुत तात्पर्यविषयत्वमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह—तथेति। साधारण्यादेव न घटते इति सम्बन्धः। व्यतिरेकनियमस्यातात्पर्यविषयतया लक्ष्यलक्षणत्वाभावाद्व्यतिरेकसामानाधिकरण्यमात्रं लक्षणं स्यात्तदनैकान्तेप्यस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयमपवदति—अन्यथेति। सम्बन्धनियमस्य विवक्षितत्वे व्यतिरेकसम्बन्धमात्रस्यागमकत्वप्रयोजकत्वे सति विशेषणवैयर्थ्यादेवेत्यर्थः ॥ ३०३ ॥

कि लिङ्गादि लकार भेद के प्रयोग में जैसे तत्तत् लकारों से अविवक्षित काल का प्रतिपादन होता है, विभक्तियों से जैसे लिङ्ग एवं संख्या का ज्ञापन होता है, पर्वत अग्निवाला है,इत्यादि में जैसे धर्मी आदि का प्रतिपादन होता है, वैसे यह नियमानियम का बोधन नहीं घटता, क्योंकि उक्तदृष्टान्तों में पदों के प्रयोग (उच्चारण) या कर्तृत्वादि से विशिष्ट अर्थ के बोधन में तात्पर्य के विषय अन्यथासिद्ध (विवक्षा के बिना पदसम्बन्ध सामर्थ्य से ज्ञात) उन कालादि का जैसे बोधन होता है, वैसे यदि यहाँ विरुद्ध में भी साध्याभाव की हेतु में व्याप्ति तात्पर्य का विषय नहीं, किन्तु हेतु का साध्याभाव के साथ सामानाधिकरण्यमात्र ही विवक्षित है, तो अनैकान्तिक के साथ विरुद्ध में असाधारणता (तुल्यता) होती है। और यदि साध्याभाव की व्याप्ति हेतु में विवक्षित (तात्पर्य का विषय) होती है, तो उक्त सार्वत्रिक विशेष प्रक्षेप की व्यर्थता दोष के अपरिहार से ही उक्त रीति से अविवक्षा नहीं घटती ॥ ३०३ ॥

अनैकान्तिकत्वं चानुद्भावयतानधिगच्छता च विरुद्धमशक्योद्भावनमशक्यावगमनं चेति तदुपजीवित्वान्न पृथग्दूषणं विशेष्यप्रतिपादनं विशेष्यावगमं च विना विशिष्टप्रतिपादनस्य विशिष्टावगमस्य वाऽशक्यत्वात्। एवमन्यत्रापि विशेषणस्याप्रयोजकता विशेषस्य सामर्थ्ये स्वयमूहनीया ॥३०४॥

खण्डनान्तरमाह—अनैकान्तिकत्वमिति। विरुद्धोनैकान्तिकान्न पृथग्दूषणमिति सम्बन्धः। तत्र हेतुः—तदिति। तस्याप्युपपादनायानैकान्तिकत्वमित्यादि विरुद्धस्यानैकान्तिकोपजीवित्वेन यदुक्तं भवेत्तदेवासिद्धं व्याप्तिभङ्गलिङ्गत्वाविशेषादित्यत आह—विशेष्येति। विपक्षसम्बन्धस्य विशेषणं कात्स्न्र्यादिकृत्स्नत्वादिविशिष्टविपक्षसम्बन्धप्रतिपादनादि विशेष्यभूतविपक्षसम्बन्धमात्रप्रतिपादनादिव्यतिरेकेण नोपपद्यते विशेषणविशेष्यप्रतिपादनाद्यधीनत्वाद्विपक्षसम्बन्धमात्रं चानैकान्तिकमित्यर्थः। विशेष्यांशस्य हेतोरगमकत्वे समर्थत्वे सति विशेषणवैयर्थ्यमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमिति ॥ ३०४ ॥

और भी दूषण है जो अनैकान्तिक का उद्भावन नहीं करता हो, न अनैकान्तिक के स्वरूप का उद्भावन को जानता हो, उससे विरुद्ध का उद्भावन अशक्य है तथा विरुद्ध का ज्ञान भी उसके लिये अशक्य है। क्योंकि, उस विरुद्ध का अनैकान्तिक उपजीव्य (हेतु) है और विरुद्ध उपजीवक (कार्य) है, अतः उस अनैकान्तिक से पृथक् स्वतन्त्र दूषण नहीं है। और साध्याभाव के साथ हेतु के सम्बन्धरूप विशेष्य के प्रतिपादन तथा

उस विशेष्य के ज्ञान के बिना सार्वत्रिकत्व विशेषणयुक्त विशिष्ट का प्रतिपादन और ज्ञान असम्भव है। और विशेष्य के ज्ञानादि के बिना विशिष्ट के ज्ञानादि के अशक्य होने ही से विशेष्य के ज्ञानादि उपजीव्य हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी विशेष्यांशरूप हेतु के अगमकत्व सामर्थ्य के रहते विशेषण की अप्रयोजकता (निष्फलता) स्वयं ऊहनीय है ॥ ३०४ ॥

तद्यथा इदमसाधकं साधारणानैकान्तिकत्वादित्यत्र साधारणेति विशेषणे सपक्षविपक्षगतत्वादित्यत्र सपक्षगतत्वे सतीत्युद्भाव्यमाने एवमसाधारणेपीति, इदमसाधकं जातित्वादिति जातित्वविवेचने स्वव्याघातकमुत्तरं जातिरिति स्वव्याघातकत्वस्यैव सर्वमसज्ज्ञेयत्वादित्याद्यजातिजातिसाधारणस्य दूषणसमर्थत्वेनोत्तराभिधाने इति ॥ ३०५ ॥

तदुदाहरणेन विशदयति—तदिति। शब्दोनित्यः प्रमेयत्वाद्घटवदित्यत्र प्रमेयत्वमसाधकं साधारणानैकान्त्यादित्युक्ते साधारणविशेषणे सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वादित्यत्र विपक्षेतिविशेषणेऽप्रयोजकता द्रष्टव्येत्याह—एवमिति। विशेषणांशस्यैव समर्थत्वे विशेष्याप्रयोजकतापि द्रष्टव्येत्यभिप्रेत्याह—इदमिति। सर्वं सज्ज्ञेयत्वादिति प्रथमप्रयोगे दृष्टान्ताभावेनासाधकत्वेपि न जातिता सर्वमसज्ज्ञेयत्वादिति द्वितीयप्रयोगे हेतोरपि ज्ञेयतयासत्त्वप्रसङ्गेन स्वव्याघातकत्वादादिपदेन नेदं साधकं हेतुत्वादित्यादिपरिग्रहः। किं जातित्वमिति जिज्ञासायां स्वव्याघातकमुत्तरं जातिरिति विवेचनीयं तथाच जात्यजातिसाधारणस्य व्याघातकत्वस्यैव दूषणसमर्थत्वादुत्तरमितिविशेष्यस्याप्रयोजकता उत्तररूपे व्याघाते जातित्वानङ्गीकारादुत्तरमित्यपि वक्तव्यमेव ॥ ३०५ ॥

उसे इस प्रकार समझना चाहिए। (शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वाद्घटवत्) यहाँ यदि कहा जाय कि (इदं) यह प्रमेयत्व अनित्यत्व का असाधक है, क्योंकि इसमें साधारण अनैकान्तिकत्व है, यहाँ साधारण विशेषण में व्यर्थता है, अनैकान्तिकत्व मात्र से हेतु में साध्यागमकत्व सिद्ध होता है। (इदम् असाधकं सपक्षविपक्षवृत्तित्वात्) यहाँ समक्षवृत्तित्व-कथन व्यर्थ है, विपक्षवृत्तित्व मात्र असाधकता का हेतु होता है। इसी प्रकार असाधारण हेतु में भी समझना चाहिये, अर्थात् (शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्) यहां यदि कहा जाय कि (इदं) यह शब्दत्व असाधक है, क्योंकि इसमें असाधारण अनैकान्तिकत्व है, तो इसमें असाधारण विशेषण व्यर्थ है तथा शब्दत्वमसाधकम् सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वात्, यहां विपक्ष विशेषण में व्यर्थता है। इसी प्रकार (सर्वम् असत् ज्ञेयत्वात्) इस अनुमान में ज्ञेयत्वहेतु से सबों के असत्त्व साधन करने में ज्ञेयत्व में भी असत्त्वापत्ति से स्वव्याघातकत्व की प्राप्ति होती है, यहां (सर्वम् असत् ज्ञेयत्वात्) इसके विरोध में कहा जाता है कि (इदं) ज्ञेयत्वम् असाधकम्, जातित्वात्, फिर जातित्व की जिज्ञासा होने पर, उस जातित्व के विवेचन में कहा जाता है कि (स्वव्याघातकमुत्तरं जातिः) स्वव्याघातक उत्तर जाति कही जाती है। यहां अजातिजातिसाधारण स्वव्याघातकत्व के ही दूषण समर्थत्व से (उत्तर) इस कथन में व्यर्थता होती है। अतः यहां विशेष्य की व्यर्थता सिद्ध होती है। और अनुत्तररूप व्याघात में यदि जातित्व नहीं माना जाता हो, तो उसकी व्यावृत्ति के लिये, उत्तर, यह वक्तव्य ही है। वस्तुतः असत् उत्तर को जाति कहते हैं ॥ ३०५ ॥

प्रसङ्ग से व्यर्थ विशेषण का अन्यत्र भी अतिदेश करके फिर विरुद्ध का विचार करते हैं—

किञ्च साध्यविपरीतेति, साध्याभावेत्यर्थे यदा अभावात्मैव साध्यः कचिद्भवितुमर्हति तत्र तद्विपरीतस्य भावत्वात्तदव्यापकत्वं लक्षणस्य। नच विपरीतशब्दस्य विरोधिमात्रार्थत्वेन भावाभावोभयव्याप्तिरिति वाच्यं सहानवस्थानं हि भावाभावयोर्विरोधोऽभ्युपेयते अनवस्थानं च संसर्गनिषेधः स च भावाभावयोरन्योन्यस्यानवस्थानमेव ॥ ३०६ ॥

प्रसङ्गाद्व्यर्थविशेषणत्वमन्यत्रातिदिश्य विरुद्धलक्षणखण्डनं प्रकृतमनुसरति–किञ्चेति। साध्यविपरीतव्याप्त इत्यत्र विपरीतपदेनाभावो विवक्षित उत विरोधिमात्रमिति विकल्प्य- प्रथमं प्रत्याह—साध्येति—अभाव इत्यर्थे आद्गुण इति गुणे एकारे कृते अभावेत्यर्थ इति रूपं विवक्षिते इति शेषः। न नित्यः शब्दः भावानादित्वादित्यत्र नित्यत्वाभावे साध्ये तद्विपरीतेन नित्यत्वेन भावरूपेण व्याप्तोयं विरुद्धो लक्षणेन न व्याप्यते इत्यव्याप्तिरिति यावत्। द्वितीयमपवदति—नचेति। यत्र भावः साध्यस्तत्र तद्विपरीतोभावो यत्राभावस्तत्र तद्विपरीतोभाव इति कुतो नोभयव्याप्तिर्विरुद्धमात्रार्थत्वे इत्यत आह—सहेति। भावाभावस्यैव विरोधत्वेऽन्यतरलोपप्रसङ्गादित्यर्थः। अस्तुः ततः किमित्यत आह—अनवस्थानमिति। एकस्मिन्काले देशे च भावाभावयोरवस्थानं संसर्गस्तन्निषेधोनवस्थानमित्यर्थः। संसर्गनिषेधः कीदृश इत्यत आह—स चेति। यत्र भावस्तत्र नाभावो यत्राभावस्तत्र न भाव इत्यन्योन्यस्यानवस्थानमेव संसर्गनिषेध इत्यर्थः ॥ ३०६ ॥

साध्यविपरीतव्याप्त, इस स्थान में विपरीत पद से अभाव विवक्षित है? अथवा विरोधीमात्र? यदि भावरूप साध्य के अभाव इस अर्थ में विवक्षा (तात्पर्य) हो, तो (न शब्दो नित्यः, अनादिभावत्वात्) इत्यादि नित्यत्वाभावरूप साध्य के स्थान में उसके विपरीतभावरूप नित्यत्व से व्याप्त हेतु में विरुद्धलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वहाँ साध्यविपरीत में भावत्व है। यदि कहा जाय कि विपरीत शब्द के विरोधी मात्र अर्थ होने से साध्य के विरोधी भाव तथा अभाव दोनों की हेतु में व्याप्ति विरुद्धावस्था में होती है, अतः उक्त अव्याप्ति दोष नहीं है, तो यह भी कहने योग्य नहीं। क्योंकि, सहानवस्थान (साथ स्थिति का अभाव) ही भावाभाव का विरोध माना जाता है। अनवस्थान सम्बन्ध का निषेधरूप है। एक देशकाल में स्थिति संसर्ग है और उसका निषेध अनवस्थान है, अतः भावाभाव के विरोध होने पर एक का विलय प्राप्त होता है। अतः वह भावाभाव के संसर्ग का निषेध, उन दोनों के परस्पर निषेधरूप होने से भावाभाव के अन्योन्य (परस्पर) अनवस्थान ही होता है, और ऐसा होने पर (भाव का निषेध अभाव का निषेधाभाव होने पर) भावाभाव के स्वरूप को नहीं मान कर, उनके अभावों का ही लक्षण में प्रवेश होने पर, कहीं भाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध होगा, कहीं अभाव से व्याप्त हेतु विरुद्ध होगा, क्योंकि भावाभाव का सहानवस्थान ही है ॥ ३०६ ॥

परस्परप्रतिषेधरूपत्वात्तयोः तथा च सति भावाभावयोः स्वरूपस्यानुपसङ्ग्रहे प्रत्येकमव्याप्तिर्मिलितस्यासम्भव एवेति वक्ष्यामश्च भावाभावयोर्विरोधनिरुक्ति निराकरणमुपरिष्टादिति ॥ ३०७ ॥

कुत इत्यत आह—परस्परेति । तथाच सति लक्षणस्य को दोष इत्यत आह—तथा चेति । भावाभावयोः स्वरूपास्वीकारे तयोरनवस्थानस्यैव लक्षणत्वस्वीकारे किं प्रत्येकं लक्षणमुत मिलितमाद्येऽन्योन्योदाहरणाव्याप्तिर्द्वितीयेऽसम्भव इत्यर्थः । भावाभावयोरनवस्थानं च यद्यपि तदुभयव्यतिरेकेण नास्ति तथाप्यङ्गीकृत्यैतदुक्तं भावाभावयोर्विरोधनिर्वचनस्य खण्ड्यमानत्वादपि लक्षणासिद्धिरित्याह—वक्ष्यामश्चेति ।। ३०७ ।।

क्योंकि, उन दोनों को परस्परप्रतिषेधरूपत्व है । और ऐसा होने से भावाभाव के स्वरूप के एकरूप से लक्षण में उपसंग्रह नहीं होने से प्रत्येक में परस्पर अव्याप्ति होगी । और मिलित का तो असम्भव ही है, भावाभावविरुद्ध होने से मिल नहीं सकते । भावाभाव के विरोध के निर्वचन का निराकरण आगे करेंगे । इससे भी भावाभावविरोधयुक्त लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता ।। ३०७ ।।

किंच व्याप्तपदेन लक्षणप्रविष्टेन किं व्यवच्छेद्यम्, अनैकान्तिकमिति चेत्किं तदनैकान्तिकमिति, तथाहि—अनैकान्तिकः सव्यभिचार इत्यलक्षणं सव्यभिचारत्वं हि यदि विपक्षवृत्तिता तदानीं विरुद्धे प्रसङ्गः असाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिश्च । अथ सपक्षविपक्षगताभावता तदा साधारणोदाहरणाव्यापकत्वम् ।। ३०८ ।।

उत्तरवादपातनिकां रचयति—किंचेति । विरुद्धलक्षणप्रविष्टेन व्याप्तपदेन किं व्यवच्छेद्यं न किञ्चिदिति क्षेपः प्रश्नो वा उभयत्र परिहारं शङ्कते—अनैकान्तिकमिति । असिद्धस्य सप्तमरसादिवदव्यवच्छेद्यत्वादनैकान्तस्य सिद्धिर्वक्तव्या सा च लक्षणायत्तेति लक्षणं पृच्छति—किमिति । आक्षेपाभिप्रायमाविष्करोति—तथाहीति । एकस्मिन्नेव साध्ये नियत एकान्तः न एकान्तोनैकान्त व्यभिचारश्च सम्बन्धानियमः अनियतसाध्यसम्बन्धोनैकान्त इत्येतदलक्षणमितियावत् । किमिदं सव्यभिचारत्वं विपक्षवृत्तित्वमुत सपक्षविपक्षगताभवता किंस्वित्सपक्षविपक्षसाधारणतेति विकल्प्य प्रथमनुवदति—सेति । दूषयति—तदानीमिति । शब्दो नित्यः कार्यत्वादित्यस्मिन् विरुद्धेपि विपक्षवृत्तित्वं लक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । दोषान्तरमाह—असाधारणेति । शब्दो नित्य आकाशविशेषगुणत्वादित्यसाधारणानैकान्तिकाव्याप्तिस्तस्य विपक्षवृत्तित्वाभावात । नन्वनध्यवसितोयं हेत्वाभासो नानैकान्तः साध्यासाधकः पक्षे वर्तमानो हेतुरनध्यवसित इति तल्लक्षणादिति, मैवम्, असाधकत्वमनुमित्यजनकत्वं तद्व्याप्तिपक्षधर्मत्वनिश्चये सत्येव उत तद्विरहे नाद्यः असम्भवान्नहि सम्भवति व्याप्तिपक्षधर्मतानिश्चये सत्यसाधक इति अतिप्रसङ्गात । द्वितीयेऽसिद्धान्तर्भावः व्याप्तिविरहाच्चेदसाधकत्वं तदा न एकान्तोनैकान्तिक इत्यन्वर्थसञ्ज्ञासम्भवेऽपूर्वसञ्ज्ञान्तरकरणमनुपपन्नं प्रमाणाभावाद्गौरवाच्च । अस्यानैकान्तिकान्तर्भाव्यनुपसंहार्यस्या नैकान्तिकान्तर्भावाभावादनैकान्तिकादनध्यवसितः पृथक् स्वीकर्त्तव्य इति चेन्न, समनन्तरमेव तस्याप्यन्तर्भावाभिधानात्तस्माद्भूषणोक्तमप्यनादृत्याचार्योद्योतकरवाचस्पतिप्रभृतिभिरुक्तमेव स्वीकार्यमिति द्वितीयं शङ्कते—अथेति । सपक्षविपक्षयोर्गतोभावोयस्य स तथोक्तस्तद्भावस्तत्ता सव्यभिचारत्वमिति सम्बन्धः । निराकरोति—तदेति । शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादिति साधारणानैकान्तिकोदाहरणाव्यापकत्वलक्षणस्य पक्षत्रयवृत्तित्वात्तस्येत्यर्थः ।। ३०८ ।।

अब विचारणीय यह है कि विरुद्ध के लक्षण में प्रविष्ट व्याप्त से व्यवच्छेद्य (व्यावर्त्य) क्या है ? यदि कहा जाय कि अनैकान्तिक हेतु व्यवच्छेद्य है, तो वह अनैकान्तिक क्या है ? अर्थात् अनैकान्तिक दुर्निरूप्य है । इसे दिखलाया जाता है—सव्य-

भिचार = साध्य के साथ नियत सम्बन्धरहित हेतु अनैकान्तिक = एक साध्य में एकान्त = सम्बन्धरहित अर्थात् अनियत साध्यसम्बन्ध वाला है, ऐसा अनैकान्तिक का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि सव्यभिचारत्व (नियत सम्बन्धरहितत्व) ही क्या है ? विपक्षवृत्तित्व है ? या सपक्षविपक्षगताऽभावता = सपक्षविपक्षाऽवृत्तित्व ? या सपक्ष-विपक्षसाधारणता सव्यभिचारत्व है ? यहां यदि विपक्षवृत्तित्वरूप प्रथम पक्ष मानें, तो (शब्दो नित्यः कार्यत्वात्) इस विरुद्ध में अतिव्याप्ति होगी। और (शब्दो नित्य आकाशविशेषगुणत्वात्) इस असाधारण अनैकान्तिक में अव्याप्ति भी होगी। यदि सपक्षविपक्षाऽवृत्तित्वरूप दूसरा पक्ष मानें तो (शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्) इस साधारण अनैकान्तिक के उदाहरण में अव्याप्ति होगी ॥ ३०८ ॥

अथोच्यते सव्यभिचारत्वं हि सपक्षविपक्षसाधारणताभिप्रेता सा चान्वयेन साधारणस्य व्यतिरेकेणासाधारणस्यानैकान्तिकस्य सङ्ग्राहिका सपक्षविपक्षसाधारणता अन्वयेन व्यतिरेकेण वेति विशेषवत्तया न विवक्षिता तत्साधारणासाधारणानैकान्तिकयोरुभयोरपि सङ्ग्रहः। विवादाध्यासितं क्षणिकं सत्त्वादित्यादेरनुपसंहार्यस्यापि सपक्षविपक्षशून्यत्वादेव सपक्षविपक्षगतत्वाभावेन साम्यमिति ॥ ३०९ ॥

तृतीयं शङ्कते—अथेति। एवमपि कथमुभयसङ्ग्रह इत्यत आह—सेति। अन्वयः सत्त्वं व्यतिरेकोऽसत्त्वं साधारणस्योभयत्र सत्त्वं समानमसाधारणस्यासत्त्वमित्यन्वयेन व्यतिरेकेण च सपक्षविपक्षसाधारणतोभयसङ्ग्राहिका व्यापिकेत्यर्थः। अन्वयेन साधारण्यं चेद्विवक्षितमसाधारणाव्याप्तिर्व्यतिरेकेण चेत् साधारणाव्याप्तिरुभयेन चेदुभयाव्याप्तिरित्यत आह—सपक्षेति। लक्षणं व्यापकमिति शेषः। हेतुं व्याचष्टे—अन्वयेनेति। विवादाध्यासितं सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यादेरनुपसंहार्यस्य कथं सङ्ग्रहस्तत्रान्वयव्यतिरेकयोरभावादित्यत आह—विवादेति। उपसंहारो व्याप्तिस्तद्विषय उपसंहार्यो दृष्टान्तः स न विद्यते यस्य सोयमनुपसंहार्यस्तस्यापि सपक्षविपक्षगतत्वाभावेन व्यतिरेकेण साम्यमिति तदुपसङ्ग्रहस्तत्र हेतुः—सपक्षे'ति ॥ ३०९ ॥

यदि कहा जाय कि सपक्षविपक्षसाधारणता ही सव्यभिचारत्व अभिप्रेत है। और अन्वय (सत्त्व) द्वारा साधारण अनैकान्तिक की सपक्षविपक्ष में साधारणता विवक्षित है। अर्थात् सपक्षविपक्ष में सत्त्व साधारण अनैकान्तिकत्व है। और व्यतिरेक (असत्व) द्वारा असाधारण अनैकान्तिक की सपक्षविपक्ष में साधारणता विवक्षित है। अर्थात् सपक्षविपक्ष में असत्व असाधारण अनैकान्तिकत्व है। अतः सपक्षविपक्ष साधारणता अन्वय से साधारण का और व्यतिरेक से असाधारण का संग्राहक है। यदि केवल अन्वय से सपक्षविपक्षसाधारणता मानी जाय, तो असाधारण में अव्याप्ति होगी और केवल व्यतिरेक से सपक्षविपक्षसाधारणता मानने पर असाधारण में अव्याप्ति होगी। यदि अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों से सपक्षविपक्षसाधारणता मानें, तो दोनों में अव्याप्ति होगी। अतः अन्वय या व्यतिरेक इस विशेष रूपवत्ता से साधारणता विवक्षित नहीं है। किन्तु असाधारण में व्यतिरेकरूप से साधारण में अन्वय रूप से विवक्षित है, क्योंकि पक्षमात्रवृत्ति असाधारण अनैकान्तिक हेतु होता है, उसका सपक्षविपक्ष में अभाव रहता है और सपक्षविपक्षवृत्ति साधारण अनैकान्तिक

हेतु होता है। उसका सपक्षविपक्ष में सत्त्व रहता है। अतः उक्त रीति से साधारण एवं असाधारण दोनों का संग्रह होता है। अन्वय, व्यतिरेक तथा दृष्टान्त (सपक्षविपक्ष) रहित अनुपसंहारी तृतीय अनैकान्तिक होता है, जिसका उदाहरण है (विवादाध्यसितं सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्) विवाद का विषय सब जगत् क्षणिक है, सत्त्वसे, इत्यादि अनुपसंहार्य (उपसंहाररूप दृष्टान्तरहित) हेतु की सपक्षविपक्षशून्यता के कारण ही सपक्षविपक्षगतत्व के अभाव (व्यतिरेक) से सपक्षविपक्षसाम्य (साधारणता) रहता है। अतः इसका भी संग्रह होता है ॥ ३०९ ॥

उक्त रीति से सपक्षविपक्षसाधारणता केवलव्यतिरेकी सद्धेतु को भी रहती है। अतः उक्त लक्षण की उसमें अतिव्याप्ति होती है और यदि उस अतिव्याप्ति के वारण के लिये साध्याऽसाधकत्व विशेषण दें, तो उतना ही हेतु के दूषण में समर्थ उद्भावन योग्य है, अन्य लक्षण व्यर्थ है। इसी आशय से कहते हैं कि—

विचार्यमेतद्व्याख्यानं परमस्तु तावदापाततः तथापि व्यतिरेकेण सपक्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षव्यापके सद्धेतौ धूमविशेषादौ गतत्वेनातिव्यापकत्वम्। यदि त्वस्य दोषस्य परिहारार्थं सर्वविपक्षसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमिति ब्रूषे तदा व्यतिरेकमात्रेण सर्वविपक्षसपक्षसाधारणता धूमानुमानादिगामिनी न भवतु नाम अन्वयेन तु सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता विपक्षसपक्षैकदेशगामिनं साधारणानैकान्तिकं शब्दो न नित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वादित्यादि न सङ्गृह्णातीत्यव्याप्तिरित्येकं सन्धित्सतोपरं प्रच्यवते ॥३१०॥

नहि सम्भवति सपक्षादिर्नास्ति तत्र गतो हेतुरित्यादिपदेन सर्वं शून्यं ज्ञेयत्वादित्यादिसङ्ग्रहः। नच खपुष्पादिर्दृष्टान्त इति वाच्यं निरुपाख्यस्य सोपाख्यसाध्यहेत्वनाश्रयत्वादन्यथाश्रयासिद्धिविलोपप्रसङ्गादिति सपक्षविपक्षसाधारण्यं केवलव्यतिरेकिहेतोरप्यस्तीत्यतिव्याप्तिः। साध्यासाधकत्वविशेषणे तदेव दूषणे समर्थमुद्भाव्यं व्यर्थं सपक्षेत्यादिविशेषणमित्यभिप्रेत्याह—विचार्यमिति। अङ्गीकृत्याप्याह—परमिति। परं केवलमापाततोऽस्त्विति अङ्गीकृतं चेल्लक्षणसौख्यमित्याशङ्क्य किं सपक्षविपक्षसाधारण्यमात्रं लक्षणमुत सर्वसपक्षविपक्षसाधारण्यमिति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह—तथापीति। गोपालघटिकाध्यासितधूमव्यावृत्त्यर्थं विशेषपदं धूमवत्त्वादिति सद्धेतुस्सपक्षविपक्षयोर्व्यतिरेकद्वारासाधारण इत्यतिव्यापकत्वं तत्र हेतुमाह—सपक्षेति। सपक्षैकदेशेऽङ्गारावस्थाग्निमति तदप्रवृत्तेरित्यर्थः। आदिपदेन शब्दो नित्यः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात् घटवदित्यादिसङ्ग्रहः। द्वितीयं कल्पं शङ्कते—यदीति। सर्वसपक्षविपक्षसाधारणोऽनैकान्तः सद्धेतोः सपक्षैकदेशवृत्तौ तदभाव इति तन्निवृत्तिरित्यर्थः। उक्तातिव्याप्तिपरिहारमङ्गीकृत्य दूषयति—तदेति। व्यतिरेकमात्रेण सपक्षविपक्षसाधारणताधूमानुमानगामिनी न भवतीति कृत्वातिव्याप्तिर्माभून्नामेत्यर्थः। नचैतावता लक्षणं निरवद्यमव्यापकत्वादित्याह—अन्वयेनेति। शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षत्वात् घटवदिति साधारणानैकान्तं न संगृह्णाति न व्याप्नोति सपक्षैकदेशे गुरुत्वादावाकाशादौ चावृत्तेरित्यर्थः। शब्दो नित्यो चलनात्मत्वे सति सामान्यवत्त्वादित्यादिरादिपदार्थः। उपसंहरति—इत्येकमिति। अतिव्याप्तिपरिहारमिच्छतस्ते परं सर्वलक्षणव्याप्तिः प्रच्यवते इत्यर्थः ॥ ३१० ॥

यह व्याख्यान विचारणीय है। परन्तु आपाततः विचारणीय है, क्योंकि उक्त व्याख्यान करने पर भी लक्षण की सद्धेतु में अतिव्याप्ति है। यहाँ विचारणीय यह है

कि सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता विवक्षित है ? या यत्किञ्चित् सपक्षविपक्षसाधारणता ? यदि यत्किञ्चित् सपक्षविपक्षसाधारणता विवक्षित हो, तो व्यतिरेक द्वारा तप्तलोहपिण्ड अंगारादि में अभाव द्वारा सपक्षविपक्षसाधारणता सपक्षव्यापक सद्धेतु धूमविशेषादि में भी प्राप्त होने से लक्षण में अतिव्यापकत्व है। अर्थात् सर्वत्र अग्नि के साथ रहने वाला भी धूम अंगारादि में अग्नि के साथ नहीं रहता है। अतः अन्यत्र अन्वय से सपक्षसाधारणता धूम में है और अङ्गारादि में व्यतिरेक से धूम की साधारणता है, अतः इसमें अनैकान्तिकता की प्राप्ति होती है। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिये सर्वसपक्षविपक्ष की साधारणता को अनैकान्तिक कहें, तो यद्यपि व्यतिरेक मात्र से सब सपक्षविपक्ष की साधारणता धूमहेतुक अग्नि के अनुमानादि में नहीं प्राप्त होती है, क्योंकि अङ्गारादि से अन्यत्र सपक्ष में धूम रहता ही है, उसका अभाव नहीं रहता। परन्तु अन्वय द्वारा सर्वसपक्षविपक्षसाधारणता विपक्ष के एकदेशवृत्ति साधारण अनैकान्तिक का संग्रह नहीं करती है, अतः अव्याप्ति होती है। उदाहरण के लिए (शब्दो न नित्यः = अनित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वात्) यहाँ सर्वसपक्ष में गुरुत्वादि गुण आते हैं और विपक्ष में आकाश है, उनमें अन्वय द्वारा प्रत्यक्षत्व नहीं रहता है। अतः यहां अव्याप्ति होती है। इस प्रकार एक को जोड़ना चाहते हैं, तो अन्य प्रच्युत होता है। अर्थात्—अतिव्याप्ति जाती है, तो अव्याप्ति आती है ॥ ३१० ॥

अपिचान्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वसपक्षविपक्षगतत्वाद्धूमानुमानादौ स एव प्रसङ्गः विशेषरूपेण तयोरविवक्षितत्वात्। किञ्चसर्वसपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमितिवाक्ये यदि सर्वेति विपक्षस्यापि विशेषणं तदा विपक्षैकदेशवृत्तेः सपक्षव्यापिनः साधारणानैकान्तिकस्य त्रसरेणुः कार्यावयवकः महत्वात्पटवदित्यादेरव्यापकमिदं लक्षणम् ॥ ३११ ॥

सद्धेतावतिव्याप्तिपरिहारमङ्गीकृत्याव्यापकत्वमुक्तमिदानीमतिव्याप्तिरपि तदवस्थेत्याह—अपिचेति। धूमादौ स एव लक्षणातिव्यापकत्वप्रसङ्गस्तत्र हेतुः—सर्वेति। तत्रापि हेतुः—अन्वयेति। धूमवत्त्वं हेतुर्विपक्षं व्यतिरेकेण सपक्षैकदेशं च तेनैव सपक्षैकदेशं पुनरन्वयेनेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वसपक्षादिव्यापकत्वमित्यर्थः। व्यतिरेकेणैवान्वयेनैव वा सर्वसपक्षविपक्षसाधारणोनैकान्तिक इति विवक्षितत्वान्नातिव्याप्तिरित्यतआह—विशेषेति। विवक्षितत्वे चाव्याप्तिरित्यर्थः। सर्वसपक्षेत्यादिलक्षणवाक्ये सर्वपदं विपक्षस्यापि विशेषणमुत सपक्षस्यैवेति विकल्प्य प्रथममनुवदति—किंचेति। दूषयति—तदेति। तदा साधारणस्यानैकान्तिकस्याव्यापकमिदं लक्षणमिति सम्बन्धः। सर्वेतिविशेषणाभावादिति दर्शयति—विपक्षेत्यादि। उदाहरणमाह—त्रसरेणुरिति। अणुकमित्यर्थः। कार्यमवयवो यस्य स तथोक्तः कार्यस्य इत्यर्थः। महत्त्वं हेतुः सपक्षे घटादौ सर्वत्र वर्तते विपक्षे परमाणवादौ न वर्तते दिक्कालादौ वर्तते इति विपक्षैकदेशवृत्तिः परमाणुः स्वतो न्यूनपरिमाणारब्धः द्रव्यत्वात् घटवदित्यादिरादिपदार्थः॥ ३११ ॥

सत्य हेतु में अतिव्याप्ति के परिहार को मान कर पहले अव्याप्ति कही गई है। फिर सद्धेतु में अतिव्याप्ति दर्शाई जाती है कि उक्त अन्वय व्यतिरेक के विशेषरूप से अविवक्षित होने के कारण, अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा सब सपक्षविपक्ष में सत्यहेतुत्व की प्राप्ति से धूमहेतुक अनुमानादि में उक्त प्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) ही है। अर्थात् धूमवत्त्व हेतु व्यतिरेक द्वारा सब विपक्ष में और अङ्गारादि सपक्ष के एक देश में प्राप्त होता है। और सपक्ष एक

देश अङ्करादि से भिन्न स्थानों में अन्वय द्वारा प्राप्त होता है। अतः अन्वय एवं व्यतिरेक द्वारा सर्व सपक्षविपक्ष में गतत्व से अतिव्याप्ति है। क्योंकि केवल अन्वय से ही या केवल व्यतिरेक से ही सर्वसपक्षविपक्षवृत्तित्व की विवक्षा नहीं है। यदि वैसी विवक्षा हो, तो अव्याप्ति होगी। और सर्वसपक्षविपक्षसाधारण अनैकान्तिक होता है, इस लक्षण वाक्य में सर्व पद विपक्षका भी विशेषण है? या सपक्ष का ही? ऐसी जिज्ञासा होती है। वहाँ यदि विपक्ष का भी विशेषण माना जाय, तो सपक्ष में व्यापी (व्यापक) और विपक्ष के एक देश में वृत्ति अनैकान्तिक में यह लक्षण अव्यापक होगा। उदाहरणार्थ (त्रसरेणुः कार्यावयवो महत्त्वात् पटवत्) त्र्यणुक, कार्यरूप अवयव वाला है, क्योंकि पट के समान महत्त्व वाला है। यहाँ महत्त्वरूप हेतु घटादिरूप सब सपक्षों में रहता है, विपक्ष परमाणु आदि में नहीं, परन्तु दिशा कालादि में रहता है, अतः सर्वविपक्षावृत्तित्व से लक्षण की अव्याप्ति इस अनैकान्तिक में होगी (परमाणुः स्वतोन्यूनपरिमाणारब्धः द्रव्यत्वात् पटवत्) यह भी उदाहरण है॥ ३११॥

अथ सर्वेति न विपक्षस्य विशेषणं तदा व्यतिरेकमादाय विपक्षसर्वसपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्येतद्विपक्षैकदेशमात्रवृत्तौ विरुद्धे क्षितिर्नित्या सावयत्वादित्यादौ गतत्वादतिव्यापकमिति का चेयं वाचोयुक्तिः सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्युक्ते सर्वं सङ्गृह्यते अन्वयेन व्यतिरेकेण वेति कथमनुपसंहार्यस्यासत्सपक्षविपक्षस्य सपक्षे चान्वयेन व्यतिरेकेण वा साधारण्यं स्यात् तयोरेवाभावात्॥ ३१२॥

द्वितीयं शङ्कते—अथेति। अतिव्याप्तिं दर्शयितुं लक्षणवाक्यस्य पर्यवसितमर्थं दर्शयति—तदेति। व्यतिरेकमादाय विरुद्धे गतत्वादित्युपरिसम्बन्धनीयम्। इदमनैकान्तिकमित्युक्तं स्यादिति शेषः। अस्तु को दोष इत्यत आह—एतदिति। उदाहरति—क्षितिरिति। सावयवत्वादितिहेतुर्विपक्षे घटादौ वर्तते बुद्ध्यादौ च न वर्तते सपक्षे परमाण्वादौ सर्वत्र न वर्तत इति सर्वसपक्षविपक्षसाधारणत्वं विपक्षैकदेशवृत्तिविरुद्धेस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। क्षितिर्नित्या कार्यद्रव्योपादानत्वादित्याद्युदाहार्यमिति दर्शयत्यादिपदेन। सपक्षविपक्षसाधारणमितिलक्षणस्य साधारणासाधारणादिसकलानैकान्तिकव्यापकत्वमङ्गीकृत्यातिव्यापकत्वमुक्तमिदानीं सावाग्भङ्गिरेवानुपपन्नेत्याह—काचेति। साधारणासाधारणानुपसंहार्यमित्यर्थः। कानुपपत्तिरित्यत आह—कथमिति। सपक्षविपक्षयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां साधारण्यमनुपसंहार्यस्यासम्भवीति दर्शयितुं तत्स्वरूपमाह—असदिति। कथं वा न स्यादित्यत आह—तयोरिति। सपक्षविपक्षयोरेवाभावे तन्निष्ठो हेतुभावोऽभावो वा नहि प्रमातुं शक्यते भावाभावयोर्भावाधिकरणतया प्रमानियमादित्यर्थः॥ ३१२॥

यदि सर्व यह विपक्ष का विशेषण नहीं हो, तो (विपक्षसर्वसपक्षसाधारण अनैकान्तिक होता है, इस लक्षण के व्यतिरेक को ग्रहण करके सपक्षवृत्ति और विपक्ष के एकदेशमात्रवृत्ति विरुद्धरूप (भूमि सावयव होने से नित्य है) इत्यादि में प्राप्त होने से अतिव्यापक है, नित्यत्व के अभावयुक्तद्रव्यरूप विपक्ष में सावयवत्व रहता है और नित्य में सावयवत्व का व्यतिरेक रहता है, अतः व्यतिरेक द्वारा नित्य परमाणु आदि सपक्षसाधारण हेतु है, अन्वय द्वारा अनित्य विपक्षसाधारण है। और अनित्य द्रव्यरूप विपक्ष में रहते भी गुणकर्मरूप विपक्ष में नहीं रहने से सावयवत्व

हेतु विपक्षैकदेशवृत्ति है। और यह वाचोयुक्ति (वाणी मात्र की मिथ्या कुशलता) क्या है कि सपक्षविपक्षसाधारण हेतु अनैकान्तिक होता है, ऐसा कहने से अन्वय या व्यतिरेक से सपक्षविपक्ष साधारण सब अनैकान्तिक संगृहीत होते हैं। क्योंकि, सपक्षविपक्षरहित अनुपसंहारी की अन्वय या व्यतिरेक द्वारा सपक्ष और विपक्ष में साधारणता कैसे हो सकती है ? उसमें सपक्षविपक्षरूप अधिकरण के अभाव से ही किसी प्रकार भी सपक्ष-विपक्षसाधारणता नहीं होने से वहां लक्षण की अव्याप्ति ही है ॥ ३१२ ॥

यदि सपक्षे विपक्षे च साधारणत्वमुभयत्र स्वरूपानुगमो विवक्षितस्त-दानीमसाधारणानैकान्तिकासङ्ग्रहः। अथोभयस्मिन्नसत्त्वं तद्विवक्षितं तदा सर्वाव्याप्तिः तदसत्त्वस्यातद्धर्मत्वात्। अथ तदुभयगताभावप्रतियोगित्वं तदु-भयसम्बन्धस्य योभावस्तदाश्रयत्वं वाभिप्रेतम्, तदा साधारणोदाहरणा-व्याप्तिः ॥ ३१३ ॥

किञ्च सपक्षविपक्षसाधारणत्वं हेतोः सपक्षविपक्षयोरनुगम उत तदुभयत्रासत्त्वं किं वा तदुभयनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमाहोस्वित्सपक्षविपक्षसम्बन्धाभाववत्त्वमिति विकल्प्य प्रथममनुवदति—यदीति। अव्याप्त्या दूषयति—तदेति। असाधारणानैकान्तस्य सपक्ष-विपक्षानुगतत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—अथेति। तत्सपक्षविपक्षसाधारण्य-मित्यर्थः। असम्भवेनैतद्दूषयति—तदेति। कुतः सर्वाव्याप्तिरित्यत आह—तदिति। सपक्ष-विपक्षगतहेत्वभावस्य हेतुधर्मत्वाभावात्तत्साधारणत्वासंभवादसिद्धिरित्यर्थः। तृतीयचतुर्थौ कल्पावुद्भावयति—अथेति। सपक्षविपक्षाभ्यां हेतोः सम्बन्धस्तदुभयनिष्ठ इति तदभा-वोपि तदुभयाश्रय इत्यभावप्रतियोगित्वं सपक्षविपक्षाभ्यां हेतुं सम्बन्धस्य योभावस्तदा-श्रयत्वं वा सपक्षविपक्षसाधारण्यं विवक्षितमित्यनुषङ्गः। इदमव्यापकमित्याह—तदेति। साधारणानैकान्तस्य सपक्षविपक्षगतत्वादेव तदुभयनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं तत्सम्बन्धा-भाववत्त्वं वा नास्तीत्यर्थः ॥ ३१३ ॥

यदि सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में हेतु की साधारणता, दोनों में हेतु के स्वरूप का अनुगम (सत्त्व) रूप विवक्षित हो, तो असाधारण अनैकान्तिक का संग्रह नहीं होगा। क्योंकि, वह पक्षमात्र में सत्त्व वाला होता है। यदि सपक्ष एवं विपक्ष दोनों में हेतु का असत्त्व उस सपक्षविपक्षसाधारणत्व से विवक्षित हो, तो सब में अव्याप्ति है। क्योंकि, सपक्षविपक्षवृत्ति हेतु का असत्त्व हेतु का साधारणधर्मरूप नहीं हो सकता। हेतु का असत्त्व हेतु में नहीं रह सकता, क्योंकि अंशतः आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है। अतः सपक्षविपक्षवृत्ति असत्त्व के हेतु में असम्भव से लक्षण का असम्भव होगा। यदि तदुभय (सपक्षविपक्ष) गत (वृत्ति) अभावप्रतियोगित्व या सपक्षविपक्षसम्बन्ध का जो अभाव उसका आश्रयत्वरूप साधारणत्व अभिप्रेत हो, तो साधारणानैकान्तिक के उदाहरणों में अव्याप्ति होगी। क्योंकि साधारण अनैकान्तिक हेतु सपक्ष-विपक्ष गामी होता है। अतः तदुभयवृत्ति अभावप्रतियोगित्व या उभयसम्बन्धाभावाश्रयत्व भी नहीं हो सकता ॥ ३१३ ॥

अथ मन्यसे तदुभयसाधारण्यं नामैकस्मिन् यादृप्यं हेतोस्सत्त्वमसत्त्वं वा तादृप्यमपरस्मिन्नपि यदुच्यते तथासति नाव्यापकतादोष इति मैवम्, मुग्धस्तावद्वचनार्थो नोपपद्यते हेतोरैकरूप्यस्य सपक्षविपक्षावाश्रय इति

किं नामैकरूप्यवतो हेतोस्तदाश्रयाविति स्यात्तदा चासाधारणाव्याप्तिः । तत्र सपक्षे विपक्षे च हेतोरसत्त्वेन तदाश्रयत्वासंभवात् । तस्मात्सपक्षे विपक्षे च साधारणत्वं हेतोरनैकान्तिकत्वमित्यनुपपन्नमेव ॥ ३१४ ॥

उक्तदोषपरिजिहीर्षया पक्षान्तरं शङ्कते—अथेति । हेतोरेकस्मिन्सपक्षे विपक्षे वा याद्रूप्यं यद्रूपत्वं सत्त्वमसत्त्वं वा ताद्रूप्यमपरस्मिन्सपक्षादौ यन्नाम तत्सपक्षविपक्षसाधारण्यमुच्यत इत्यर्थः । एवं लक्षणशिक्षायां फलमाह—तथेति । सपक्षविपक्षयोरैकरूप्यं प्रति यदधिकरणत्वं सप्तम्या प्रतीयते तद्विवक्षितमुत लक्षणया ताद्रूप्यवतो हेतोस्तदाश्रयत्वं विवक्षितमिति विकल्प्य प्रथमं दूषयति—मैवमिति । हेतोरैकरूप्यं हेतुधर्मत्वान्न तदन्यनिष्ठमित्यर्थः । तस्माद् द्वितीयः परिशिष्यत इति प्रश्नपूर्वकमाह—किमिति । अस्तु तथा वा कोदोष इत्यत आह—तदेति । कुत इत्यत आह—तत्रेति । तत्रासाधारणोदाहरणे इति यावत् । सपक्षविपक्षयोरैकरूप्यं नाम असाधारणस्यासत्त्वं तद्वतोहेतोर्न सपक्षादिनिष्ठत्वमित्यर्थः । सपक्षविपक्षसाधारणोनैकान्त इति लक्षणखण्डनं निगमयति-तस्मादिति ॥३१४॥

यदि मानें कि हेतु की सपक्षविपक्षसाधारणतानामक धर्म यह है कि एक (सपक्ष या विपक्ष) में हेतु का सत्त्व या असत्त्व जो रूप हो, उस रूप जो अन्य (विपक्ष या सपक्ष) होता है, उसे सपक्षविपक्षसाधारणता कही जाती है, तो यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इस वचन का मुख्य अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता । हेतु के ऐकरूप्य (सत्त्व या असत्त्व) के प्रति जो सपक्षविपक्ष में अधिकरणत्व प्रतीत होता है, वह मुख्य अर्थ है, परन्तु यह असम्भव है, क्योंकि हेतु के धर्म सत्त्व या असत्त्व का आश्रय सपक्ष या विपक्ष नहीं हो सकता, किन्तु हेतु ही हो सकता है । अतः हेतु के एकरूपत्व का सपक्ष-विपक्ष आश्रय है । लक्षणा से कोई अमुख्य अर्थ करना होगा जिससे एकरूपता वाले हेतु के सपक्षविपक्ष आश्रय हों, वह सपक्षविपक्ष साधारणता होती है । परन्तु ऐसा अर्थ मानने पर असाधारण अनैकान्तिक हेतु में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उसकी पक्षमात्रवृत्तिता से सपक्षविपक्ष उसका आश्रय नहीं हो सकता । अतः सपक्षविपक्ष में हेतु की साधारणता हेतु का अनैकान्तिकत्व है, यह लक्षण अनुपपन्न ही है ॥ ३१४ ॥

असत्त्वपक्षे हेतोस्तदाश्रयकत्वानुपपत्त्या सपक्षे विपक्षे चेति सप्तमीनिर्देशस्यासङ्गतत्वात्तदभावापेक्षया चाश्रयत्वस्योपपत्तौ हेतोस्तदाश्रयत्वे किमायातम् । आयातु वा किञ्चित्तथापि साधारणोदाहरणेषु हेत्वभावापेक्षया सपक्षविपक्षयोर्नाश्रयता सप्तम्यर्थः किन्तु हेत्वपेक्षयैवेत्यनेकार्थपर्यवसायित्वे वाक्यस्य लक्षणाव्यापकतापत्तिरेव ॥ ३१५ ॥

संक्षेपविस्तराभ्यामुच्यमानं वस्तु मन्दबुद्धिबुद्ध्यारूढं भवतीति कथितमेव हेतुं सङ्क्षिप्याह—असत्त्वेति । यद्यपि सपक्षादिसाधारण्यं तद्गतासत्त्वं हेतोरित्यसाधारणानैकान्तस्थले हेतोः सपक्षादिनिष्ठत्वं नास्ति तथापि तदभावस्य सपक्षाद्याश्रयत्वमस्तीत्यत आह—तदिति । तदाश्रयत्वस्य सपक्षादेः सप्तम्यर्थस्य सम्भवेपि हेतोः सपक्षादिनिष्ठत्वे लक्षणप्रविष्टे न किञ्चिल्लभ्यते इत्यर्थः । सपक्षादिनिष्ठाभावं प्रति प्रतियोगित्वं हेतोर्लाभ इत्यत आह—आयात्विति । यद्यपि सपक्षविपक्षगतासत्त्वप्रतियोगित्वं हेतोर्विशेषणं तथापि साधारणानैकान्तिकस्थलेषु सपक्षविपक्षयोर्हेत्वभावापेक्षया सप्तम्यर्थोऽधिकरणत्वं न भवति सपक्षविपक्षगामित्वादेव तस्येत्यर्थः । कस्तर्हि सप्तम्यर्थोऽधिकरणत्वं तत्रेत्यत आह—किंत्विति । सपक्षविपक्षयोरैकरूप्यं हेतोरनैकान्त्यमिति वाक्ये साधारणोदाहरणविवक्षायां सपक्षादौ सत्त्व-

मैकरूप्यमितरत्र तदसत्त्वमेतावता प्रकृतलक्षणस्य को दोषस्तत्राह—इत्यनेकेति ॥ ३१५ ॥

इस अर्थ की ही स्थिरता के लिये संक्षेप में फिर वर्णन किया जाता है। असाधारण हेतु के सपक्षविपक्ष में असत्त्वावस्था में आश्रयत्व की अनुपपत्ति से लक्षणगतसपक्षविपक्ष में आश्रयार्थक सप्तमी विभक्ति के निर्देश (उच्चारण) के असङ्गतत्व की प्राप्ति से भी उक्त लक्षण अनुपपन्न है। सपक्षादिगत असाधारणत्व यदि असाधारण हेतु के अभाव को मानें, तो उस असाधारण हेतु के अभाव की अपेक्षा सपक्षविपक्ष में आश्रयत्व की सिद्धि होने पर भी हेतु के सपक्षविपक्षाश्रयत्वरूप सप्तमी के अर्थ का कुछ भी लाभ (सत्त्व) सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि सपक्षविपक्षगत अभावप्रतियोगित्व हेतु (सिद्ध) में होता है, तो इस प्रकार असाधारण हेतु में कुछ लाभ हो, तो भी साधारण अनैकान्तिक के उदाहरणों में हेतु के अभाव की अपेक्षा से सपक्षविपक्ष को आश्रयता सप्तमी विभक्ति का अर्थ नहीं है, किन्तु हेतु की अपेक्षा से ही आश्रयता सप्तम्यर्थ वहाँ है, इस प्रकार सपक्षविपक्ष में हेतु की एकरूपता अनैकान्तिकत्व है, इस वाक्य के अनेक अर्थ में पर्यवसायी (स्थिर) होने से लक्षण में अव्यापकता की ही प्राप्ति होगी। अर्थात् साधारण उदाहरण को विवक्षा में सपक्षादि में हेतु के सत्त्व को और असाधारण में हेतु के असत्त्व की साधारणता होने से एक लक्षण सिद्ध नहीं होगा ॥ ३१५ ॥

किञ्च सपक्षविपक्षसाधारणत्वं यदि सामान्यतो लक्षणं साधारणासाधारणानैकान्तिकभेदद्वयसङ्ग्रहार्थमुच्यते तदा सपक्षविपक्षयोरन्यत्वादिभिर्हेतोः साधारण्यमस्त्यन्यत्रापीत्यतिव्याप्तिः। अथातिव्याप्तिपरिजिहीर्षयान्वयव्यतिरेकाभ्यां सपक्षविपक्षसाधारणमनैकान्तिकमित्युच्यते तदान्वयव्यतिरेकयोः प्रत्येकमिलितत्वविकल्पानुपपत्त्याव्यापकत्वापातः ॥ ३१६ ॥

सपक्षविपक्षयोः साधारणो हेतुरनैकान्तिक इत्येतावन्मात्रं लक्षणमुतान्वयादिना विशेषित इति विकल्प्य प्रथमकल्पमनुवदति—किंचेति । अतिव्याप्त्यैतदपवदति—तदेति। धूमवत्त्वादिहेतोः सपक्षाद्यपेक्षयान्यत्वसत्त्वज्ञेयत्वादिभिः रूपैः सपक्षविपक्षयोः साधारण्यमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयं कल्पमुत्थापयति—अथेति। अन्वयेन सपक्षादिसाधारण्येऽसाधारणाव्याप्तिर्व्यतिरेकेण साधारण्यलक्षणस्य साधारणाव्यापकता मिलिताभ्यामुभाभ्यां साधारण्यस्य सर्वाव्याप्तिरित्यभिसन्धाय दूषयति—तदेति ॥ ३१६ ॥

यदि साधारण और असाधारण अनैकान्तिक के भेदद्वय (दोनों प्रकार) के संग्रह के लिये सामान्यरूप से सपक्षविपक्षसाधारणत्व लक्षण कहा जाय, तो अन्यत्र (अनैकान्तिक से अन्य स्थान) में भी धूमवत्त्वादि सत्य हेतु को सपक्षविपक्ष की अपेक्षा से अन्यत्व सत्त्वज्ञेयत्वादिरूप से सपक्षविपक्ष में साधारणता है। अतः उन हेतुओं में अनैकान्तिक के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यदि अतिव्याप्ति के परिहार (निवारण) की इच्छा से अन्वय व्यतिरेक द्वारा सपक्षविपक्ष साधारण अनैकान्तिक होता है, ऐसा कहा जाय, तो अन्वय और व्यतिरेक के प्रत्येक और मिलितत्व विकल्प (भेद) की अनुपपत्ति से अव्यापकत्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् अन्वय मात्र से सपक्षविपक्षसाधारणता की विवक्षा हो, तो असाधारण हेतु में अव्याप्ति होगी, व्यतिरेकमात्र की विवक्षा में साधारण में और दोनों की विवक्षा में दोनों में अव्याप्ति होगी ॥ ३१६ ॥

स्यादेतत् स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सपक्षविपक्षसाधारण्यं विवक्षितमेवं नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति तदप्यसत्। तथाहि—अस्तु तावत्सर्वपदविशेषणोपादानानुपादानपक्षोक्तदोषापातः सर्वशब्दोपदाने धूमानुमानादौ प्रसङ्गश्च। स्वस्वाभावविरोधशब्दार्थस्याप्येकस्यानुगतस्यासम्भवेन लक्षणानुगमाभावो दोषः ॥ ३१७ ॥

उक्ताव्याप्त्यसंभवपरिहाराय प्रकारान्तरं शङ्कते—स्यादिति। स्वशब्देनानैकान्तिकाभिमतहेतुरुच्यते। स्वं च स्वाभावश्च स्वस्वाभावौ तयोर्विरोधः स्वस्वाभावविरोधस्तस्याश्रयौ स्वस्वाभावविरोधाश्रयौ ताभ्यामाश्रितौ सपक्षविपक्षौ यस्य हेतोः स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्त्वमनैकान्त्यमिति शेषः। अभेदविरोधाश्रयभेदाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सर्वानुमानसाधारणमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वेत्यादि विशेषणम्। सपक्षविपक्षसाधारणोनैकान्त इत्युक्तलक्षणपरित्यागाद्धेत्वन्तरतेत्यत आह—सपक्षेति। लक्षणवाक्ये कुटिलिकास्वीकारफलमाह—एवमिति। भावाभावविरोधस्योभयनिष्ठत्वाद्भावाभावद्वयमपि विरोधाश्रयत्वेनैकं भवति तेन प्रत्येकमिलितविकल्पानुपपत्तिर्नाप्यतिव्याप्तिः सद्धेत्वादौ सपक्षविपक्षयोरुक्तविरोधाश्रयाश्रितत्वाभावादित्यर्थः। स्वशब्देन व्यक्तिपरामर्शेऽव्याप्तिः। सामान्यपरामर्शेऽतिव्याप्तिः। धूमादेः सपक्षविपक्षाभ्यामन्यत्वेन स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वादिति दूषयति—तदिति। असत्त्वमेव प्रकारान्तरेणोपपादयति—तथाहीति। सपक्षविपक्षयोर्विशेषणत्वेन सर्वपदमुपादीयते। नचाद्ये विपक्षैकदेशगामिनं साधारणानैकान्तिकं न व्याप्नोति। द्वितीये व्यतिरेकेण सपक्षविपक्षसाधारणतायाः सपक्षव्यापके सद्धेतौ धूमविशेषादौ गतत्वेनातिव्यापकमित्यर्थः। भङ्गान्तरमाह—सर्वेति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सपक्षविपक्षगतत्वाद् धूमादौ स एव प्रसङ्गः विशेषरूपेण तयोरविवक्षितत्वादित्यर्थः। प्रागुक्तमेव दोषं स्मारयित्वा दोषान्तरं दर्शयति—स्वेति। असम्भवेनापीति सम्बन्धः ॥ ३१७ ॥

अब वक्ष्यमाण लक्षण का खण्डन करेंगे। अनैकान्तिक हेतु और उसके अभाव का जो विरोध होता है, उस विरोध के आश्रय वह हेतु और अभाव होते हैं, इन दोनों से आश्रित (आश्रयण किये गये) जो सपक्षत्व एवं विपक्षत्व वेही सपक्षविपक्षसाधारणत्व से विवक्षित हैं। यहाँ हेतु से सपक्ष आश्रित होता है और हेतु के अभाव से विपक्ष, परस्परविरोधी होने से दोनों एक स्थान में नहीं रह सकते। विरोध के भावाभावाश्रित रहने से यद्यपि विरोधाश्रय एक नहीं है, तथापि विरोधाश्रयत्वरूप से दोनों एक होते हैं। अतः पूर्वोक्त प्रत्येक मिलितविकल्प की अनुपपत्तिरूप या अव्याप्ति एवं अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है। यह लक्षण साधारणानैकान्तिक में संघटित होता है, अन्यत्र भी कथञ्चित् योजनीय है। अभेदविरोधाऽऽश्रयभेदाश्रित सपक्षविपक्षता अनुमानमात्र में रहती है, अतः स्वस्वाभाव विशेषण है। परन्तु स्वशब्द से विशेष व्यक्ति के ग्रहण करने पर अव्याप्ति और सामान्य के ग्रहण करने पर अतिव्याप्ति इत्यादि आशय से उत्तर है कि (तदप्यसत्) यह लक्षण भी अयुक्त है। इसे दिखाते हैं—सर्वपदरूप विशेषण के ग्रहण और अग्रहण दोनों अवस्थाओं में कहे गये दोष की प्राप्ति होती है। अर्थात् सपक्षविपक्ष के विशेषणरूप से यदि सर्वपद का ग्रहण करते हैं, तो विपक्ष के एकदेशगामी साधारणानैकान्तिक (शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षग्राह्यत्वात्) इत्यादि में अव्याप्ति होगी। और यदि सर्वपद का ग्रहण नहीं करें तो व्यतिरेक द्वारा सपक्षविपक्षसाधारणता के सपक्षव्यापक सत्यहेतुरूप धूमविशेष में भी प्राप्त होने से अतिव्याप्ति होगी। और

सर्वशब्द के ग्रहण करने पर सब सपक्षविपक्ष में विरोधाश्रय धूम तथा धूमाभाव के आश्रित होने के कारण धूमहेतुक अनुमानादि में अतिव्याप्ति होगी। और स्वस्वाभावविरोध शब्दार्थ में एकत्व तथा अनुगतत्व के असम्भव होने से लक्षण में अनुगम का अभावरूप दोष है ॥ ३१७ ॥

तत्तदभावयोर्हि विरोधः। सहानवस्थानमवस्थानं चावस्थानप्रतिषेधो नच तद्भावस्याभावस्वरूपादन्यत् नचाभावस्यानवस्थानं भावस्वरूपादन्यत् किन्तु तदेव भावस्वरूपं तत्र स्वस्वाभावविरोधाश्रय इत्यस्य नार्थैक्यं किञ्चिन्मृग्यमाणमवाप्यते। स्वस्वाभावविरोधाश्रय इति वचनं विचारमर्हति। स्वस्वाभावयोर्विरोधविशेषणतया आधेयकोटिनिवेशाद्विशेषणघटितमूर्त्तित्वाद्विशिष्टपदार्थस्य तदाधारत्वानुपपत्तेः॥ ३१८॥

कथं विरोधशब्दार्थस्यैक्यासम्भव इत्यत आह—तदिति। हेतुतदभावयोर्विरोधः सहानवस्थानं भावाभावविरोधस्य सहानवस्थानस्याङ्गीकारादित्यर्थः। एवं च विरोध एको न सम्भवतीति दर्शनाय तत्स्वरूपं दर्शयति—सहानवस्थानमिति। एकस्मिन् देशे काले च भावाभावयोः संसर्गोवस्थानं तदभावोनवस्थानमित्यर्थः। अस्तु ततः किमित्यत आह—नचेति। भावस्य तदभावेन सहानवस्थानमभावस्वरूपादन्यन्न सम्भवति यत्राभावस्तत्र भावो नास्तीत्येकार्थत्वादित्यर्थः। एवमभावस्यापीत्याह—नचेति। अभावस्याप्यनवस्थानं भावस्वरूपान्नान्यत्किन्तु भावस्वरूपमेवाभावाभावस्य भावत्वादित्यर्थः। उपसंहरति—तत्रेति। स्वस्वाभावविरोधः स्वस्वभावावेव तथाच प्रत्येकमिलितविकल्पदोष इत्यर्थः। स्वस्वाभावविरोधाश्रयत्वं स्वस्वाभावयोरभ्युपगम्यैतदुक्तं नच तत्सम्भवतीत्याह—स्वेति। स्वस्वाभावविशिष्टो विरोध उत विरोधाश्रयाश्रितसपक्षत्वादिलक्षणमुत स्वस्वाभावाभ्यामुपलक्षितत्वं विरोधस्येतिविकल्प्य प्रथमे दूषणमाह—स्वेति। स्वस्वाभावयोस्तदाधारत्वानुपपत्तेरसम्भव इति सम्बन्धः तदुपपादनं—विरोधेत्यादि। तत्रापि हेतुर्विशेषणेति। विशिष्टपदार्थस्य विशेषणघटितमूर्त्तित्वात्स्वस्वाभावविशिष्टविरोधस्य स्वस्वाभावाश्रयत्वे स्वस्वाभावयोरंशतः स्ववृत्तिः स्यादित्यर्थः॥ ३१८॥

हेतुरूप प्रतियोगी और उसके अभाव में सह अनवस्थान (साथ अस्थिति) रूप विरोध रहता है। और अनवस्थान अवस्थान का प्रतिषेध (अभाव) रूप होता है। वह अनवस्थानभावरूप अवस्थान के अभावस्वरूप से अन्य स्वरूप नहीं होता है और अभाव का अनवस्थान भावस्वरूप से अन्य नहीं होता किन्तु भावस्वरूप ही होता है, वहाँ स्वस्वाभावविरोधाश्रय इस शब्द का अन्वेषित (खोजा गया) किसी अर्थ की एकता प्राप्त नहीं होती है, अतः स्वस्वाभावस्वरूप ही सिद्ध होता है। वहाँ प्रत्येक मिलित विकल्प दोष पूर्वतुल्य प्राप्त होता है। वस्तुतः स्वस्वाभावविरोधाश्रयत्व स्वस्वाभाव को नहीं हो सकता, अतः स्वस्वाभावाश्रय यह वचन विचारार्ह है। क्योंकि स्वस्वाभाव से विशिष्ट विरोधाश्रय का आश्रित सपक्षादि के लक्षणरूप होने से, स्वस्वाभाव को विरोध का विशेषणतारूप से आधेय (आश्रित) कोटि में प्रवेश होने से और विशिष्ट पदार्थ के विशेषणघटित आकार वाले होने से, स्वस्वाभाव का स्वस्वाभावविरोधाश्रयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि विरोध के विशेषणरूप से अंशतः आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है ॥ ३१८ ॥

अतिव्यापकता च स्यात् अन्वयमादाय सपक्षे व्यतिरेकमादाय विपक्षे वर्तमानस्याप्युक्तलक्षणोपेतत्वात्। स्वस्वाभावाविशेषितस्य तु विरोधस्याश्रये- भिधीयमाने सर्वानुमानव्यापकत्वमनैकान्तिकलक्षणस्यापतेत्। नच वाच्यं स्वस्वाभावोपलक्षितो विरोधोऽभिमतः तेन विशेषणपक्षोक्तदोषस्यानवकाश इति, यतः स्वस्वाभावाभ्यां विरोधमात्रं वा लक्ष्यते तद्व्यक्तिर्वा काचित्, आद्ये यदेव स्वस्वाभावाभ्यां लक्षितं विरोधमात्रं तदेवान्यत्रापीत्युक्तातिप्रसक्तिस्तदवस्थैव स्वस्वाभावपदोपादानवैयर्थ्यं च ॥ ३१९ ॥

न केवलमसम्भवोऽतिव्याप्तिरपीत्याह—अतीति। अतिव्याप्तिमुपपादयति—अन्वयमिति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादेः सपक्षव्यापकस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वस्वाभावविरोधाश्रयाश्रितसपक्षविपक्षत्वादित्यर्थः। द्वितीयं दर्शयति—स्वेति। अभेदविरोधाश्रयभेदाश्रितसपक्षविपक्षत्वं सर्वानुमानसाधारणमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। स्वस्वाभावाविशेषितस्य विरोधस्य सर्वानुमानव्यापकत्वमिति सम्बन्धः। स्वस्वाभावाभ्यामुपलक्षितत्वं विरोधोभिप्रेयते तेन विशेषणपक्षोक्तस्वस्ववृत्तिदोषो नेति तृतीयकल्पमाशङ्क्याह—नचेति। कुत इत्यत आह—यतइति। यत इत्यस्य विरोधव्यक्त्यनात्मत्वादित्यनेनोपरिसम्बन्धः। हेतूपादानाय विकल्पयति—स्वेति। अविवक्षितविशेषं विरोधसामान्यमुपलक्ष्यते किं वा विरोधव्यक्तिरेव काचिदित्यर्थः। कस्मिन्सति किं स्यादित्यत आह—आद्येइति। विरोधमात्रस्योपलक्षितस्य लक्षणनिविष्टत्वात्तस्य चैक्यादन्यत्र धूमानुमानादावपि विरोधाश्रयभेदाश्रित सपक्षविपक्षगतत्वेनोक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः। अव्याप्त्यतिव्याप्तिपरिहारफलस्वाभावात्स्वेत्यादिविशेषणस्य विशेषणासिद्धं च लक्षणमित्याह—स्वेति ॥ ३१९ ॥

और सद्धेतुमात्र में अतिव्याप्ति भी होगी, क्योंकि (शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्) इत्यादि हेतु को अन्वय द्वारा सपक्ष में और अभाव द्वारा विपक्ष में वर्तमान होने से भावाभावविरोधाश्रयाश्रितत्वरूप उक्त लक्षणवत्त्व होता है। यदि स्वस्वाभाव से अविशेषित विरोधाश्रय से आश्रितसपक्षविपक्ष को कहें, तो अनैकान्तिक लक्षण की सब अनुमान में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि, अभेद के विरोध के आश्रय भेद से आश्रित सपक्षविपक्षवत्त्व सब अनुमान में रहता है। अतः स्वस्वाभाव से अविशेषित विरोध को सब अनुमान में व्यापकत्व है। यदि कहें कि स्वस्वाभाव से उपलक्षितविरोधाश्रय से आश्रित सपक्षविपक्षवत्त्व लक्षण मानने से विशेषण पक्ष में वर्णित दोष प्राप्त नहीं होंगे, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपलक्षण होने पर भी स्वस्वाभाव से विरोधमात्र (सामान्यविरोध) उपलक्षित होगा ? या विरोध की कोई व्यक्ति उपलक्षित होगी ? ये दो पक्ष हो सकते हैं। वहाँ प्रथम पक्ष में सामान्यविरोधमात्र के एक होने के कारण, स्वस्वाभाव से जो ही विरोधमात्र एक स्थान में लक्षित होगा, वही अन्यत्र भी विरोध रहेगा। अतः उक्त अतिव्याप्ति तदवस्थ ही है, और अतिव्याप्ति आदि की निवृत्ति नहीं होने पर स्वस्वाभावपद का लक्षण में ग्रहण व्यर्थ है ॥ ३१९ ॥

अथ द्वितीयस्तदा लक्षणाननुगमः एकस्य विरोधव्यक्तिविशेषस्यात्र परिगृहीतस्यापरविरोधव्यक्त्यनात्मत्वात्। अथ यावत्योपेक्षिता विरोधव्यक्तयस्ता उपलक्ष्यन्ते इत्युच्यते किं नोपलक्ष्यन्ते तावत्यः किन्तु केनचिदनुगतेन रूपेण उत प्रतिस्वं व्यावृत्तेनात्मा प्रथमे तदेवोच्यतां किमुपलक्षणोपन्यास-

प्रयासेन। नच तत्सम्भवति विरोधमात्रादेरतिप्रसञ्जकत्वात्। प्रतिस्वं व्यावृत्तेन व्यक्तीनामात्मनोपलक्ष्यत्वे तथैव तासां लक्षणप्रवेश इति मिलितानां लक्षणत्व सर्वाव्याप्तिः। प्रत्येकं लक्षणत्वे परस्परोदाहरणाव्याप्तिरिति ॥३२०॥

द्वितीयं दूषयति—अथेति। अननुगमे हेतुमाह—एकेति। एकैव तावद्विरोधव्यक्तिर्लक्ष्यते तस्याः साधारणानैकान्तिकाव्याप्तिस्तद्गतत्वे चेतराव्याप्तिरित्यर्थः। विरोधमात्रं नोपलक्ष्यते नाप्येकैव विरोधव्यक्तिः किन्तु साधारणासाधारणकृत्स्नानैकान्तिकोदाहरणेषु यावत्यो विरोधव्यक्तयोऽपेक्ष्यन्ते तावत्यः स्वस्वाभावाभ्यामुपलक्ष्यन्ते तेन नोक्तदोष इति शङ्कते—अथेति। अङ्गीकरोति—किमिति। उपलक्ष्यरूपं वेति शेषः। विवक्षितं दोषं दर्शयितुं विकल्पयति—किंस्वित्यादिना। अपेक्षिता व्यक्तयः केनचिदनुगतरूपेण गृहीता लक्ष्यन्ते इति प्रथममपाकरोति—प्रथमे इति। व्यक्तीनां प्रत्येकमुपलक्ष्यत्वे विशकलितानामेव लक्षणे प्रवेशस्तथा च ता अपि यदि मिलिता विवक्षितास्तदा क्वचिदपि लक्षणं न सञ्चरेत् नह्यनित्यत्वे साध्ये सत्त्वस्य च द्रव्यत्वस्य च व्यभिचारे सत्त्वतदभावयोर्द्रव्यत्वतदभावयोर्वा विरोध एकत्र सम्भवति प्रत्येकविवक्षायां चाव्याप्तिरित्याह—प्रतिस्वमिति ॥ ३२० ॥

यदि दूसरा पक्ष मानें कि स्वस्वाभाव से कोई विरोधी व्यक्ति उपलक्षित होती है, तो लक्षण अननुगत होगा, क्योंकि एक विरोधी व्यक्ति विशेष जो यहाँ लक्षणा में गृहीत होगा, उसको अन्य विरोधी व्यक्ति स्वरूप नहीं होने से उसमें लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि कहें कि विरोधमात्र या विरोध की एक व्यक्ति उपलक्षित नहीं होता है, किन्तु साधारण असाधारण सब अनैकान्तिक उदाहरणों में जितनी विरोधी व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, उतनी विरोधी व्यक्तियाँ स्वस्वाभाव से उपलक्षित होती हैं, तो कहा जाता है कि तावत् व्यक्तियाँ क्यों न उपलक्षित होंगी? उपलक्षित होंगी ही। किन्तु किसी अनुगतरूप से उपलक्षित होंगी या प्रतिस्वरूप (प्रत्येक) व्यावृत्त (भिन्न-भिन्न) स्वरूप से उपलक्षित होंगी। यहाँ प्रथम पक्ष में उन व्यक्तियों के अनुगमक स्वरूप ही लक्षण कहना चाहिये, उपलक्षण के कथनरूप प्रयास का क्या फल है? परन्तु उस रूप का सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वस्वाभाव का जो विरोध मात्र भावाभावादि स्वरूप है, वह अतिप्रसञ्जक (अतिव्याप्तिजनक) है। सद्धेतु में भी भावाभाव का विरोध रहता है। और विरोधी व्यक्तियों के प्रत्येक व्यावृत्त स्वरूप से उपलक्ष्य होने पर उस प्रत्येक स्वरूप से ही उनका लक्षण में प्रवेश होगा, तो फिर विकल्प होगा कि मिलित व्यक्तियों में लक्षणत्व है? या अमिलित में? वहाँ मिलित में लक्षणत्व होने पर सब में अव्याप्ति होगी, क्योंकि सब विरोधी व्यक्तियों का कहीं मिलित होना ही असम्भव है। और प्रत्येक के लक्षणत्व पक्ष में परस्पर के उदाहरणों में अव्याप्ति होगी॥ ३२०॥

स्यादेतत् सपक्षे एव विपक्षे एव च वर्तते न यः सोऽनैकान्तिक इति लक्षणमस्तु तेन साधारणासाधारणानैकान्तिकोदाहरणव्याप्तिर्भवतीति एतदप्यलक्षणं सद्धेतौ धूमादावपि गतत्वात्। न ह्यसौ विपक्षे एव वर्त्तते सर्वथा तत्रावृत्तेः। नापि सपक्षे एव विपक्षेऽपि वर्तमानत्वात्। अथ पक्षवृत्तिरिति विशेषयसि तथापि सद्धेतोरपरित्यागः, पक्षवृत्तित्वादेव सपक्षे एव वृत्तेरभावात् असिद्धानैकान्तिकत्वसङ्कराव्याप्तिश्च॥ ३२१॥

सपक्षे एवेति। सपक्षे एव वर्त्तते सद्धेतुर्विपक्षे एव वर्त्तते विरुद्धस्तदुभयव्यवच्छेदो-वधारणद्वयविशिष्टव्यवच्छेदात्सिद्ध इत्यर्थः। तेनेति। नहि साधारणः सपक्षे एव वर्त्तते विपक्षेपि वर्तमानत्वात् असाधारणस्य सपक्षविपक्षोभयव्यावृत्तेस्ताद्रूप्यमित्युभयसंग्रह इत्यर्थः। पक्षवृत्तिरिति। पक्षवृत्तिःसन् यः सपक्षमात्रवृत्तिर्न भवतीत्यर्थः। सद्धेतावतिव्याप्ति-रेव यत एव सद्धेतुः पक्षवृत्तिरत एव च सपक्षे एव न वर्त्तते इति भावः। असिद्धेति। शब्दोऽ-नित्यश्चाक्षुषत्वादित्यत्र सामान्ये व्यभिचारिणि पक्षवृत्तित्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः॥ ३२१॥

फिर लक्षणान्तर का खण्डन करते हैं:—सपक्ष और विपक्ष में ही जो हेतु नहीं रहता वह अनैकान्तिक है। इस लक्षण से साधारण तथा असाधारण अनैकान्तिक के उदाहरणों का संग्रह होता है, सपक्ष में ही सद्धेतु रहता है, विपक्ष में ही विरुद्ध रहता है। उनकी व्यावृत्ति के लिये अवधारण युक्त दो दल (भाग) लक्षण में हैं। और साधारण अनैकान्तिक विपक्ष मे रहने से सपक्ष में ही नही रहता है, असाधारण दोनों में नहीं रहने से लक्ष्य होता है। उत्तर यह है कि यह लक्षण भी अयुक्त है। क्योंकि, सद्धेतु धूमादि में भी यह प्राप्त होता है। कारण यह है कि वह सद्धेतु सर्वथा न विपक्ष में और न सपक्षमात्र में ही रहता, पक्ष में भी रहता है। यदि पक्षवृत्ति यह विशेषण दें कि पक्षवृत्ति होता हुआ, न सपक्ष में ही, न विपक्ष में ही जो रहता हो, वह अनैकान्तिक है, तो भी सद्धेतु का परित्यान नहीं होता, लक्षण की प्रवृत्ति होती ही है। पक्ष में वृत्तित्व होने से ही सपक्ष में ही वृत्तित्व का अभाव रहता है। और (शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्) यह चाक्षुषत्व हेतु घटत्वरूपत्वादि विपक्ष (नित्य) में रहने से साधारण अनैकान्तिकस्वरूप है और पक्ष में अवृत्ति होने से असिद्ध है। अतः असिद्धत्व एवं अनैकान्तिकत्व के संकररूप इस हेतु में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि इस हेतु में पक्षवृत्तित्व नहीं है (रूपरसौ, अनित्यौ, चाक्षुषत्वात्) यहाँ भी असिद्ध और अनैकान्तिक का संकर है और रस में चाक्षुषत्व के अभाव से भागाऽसिद्धि भी है॥ ३२१॥

अथ पक्षव्यतिरिक्त इति सम्प्रक्षिपसि, तदानीमप्रसक्तव्यावर्तनमनुप-पन्नं नहि पक्षाव्यतिरिक्तः सपक्षो विपक्षो वा सम्भवतीति सपक्षस्य विप-क्षस्य च कुतश्चिद्व्यावर्त्तकं विशेषणमेवेदं तयोः कथं घटेत। अथ पक्षव्य-तिरिक्ते वर्तमान इति विशेषयसि, तदानीमसाधारणाव्याप्तिर्नासौ पक्षव्य-तिरिक्ते वर्तमानः॥ ३२२॥

ननु पक्षव्यतिरिक्ते विपक्षे एव न वर्त्तते सपक्षे एव न वर्त्तते इत्युक्ते पक्षपर्युदासेनाव-धारणे सद्धेतुः सपक्षे एव वर्त्तत इति कुतस्तत्रातिव्याप्तिरिति शङ्कते—अथेति। पक्षव्यति-रिक्तत्वं सपक्षस्य विपक्षस्य वा न विशेषणं सम्भवति तयोः सर्वत्र पक्षव्यतिरिक्त-त्वेन व्यभिचाराभावात् नहि व्यभिचारमन्तरेण विशेषत्वमर्थवत् यथा लोहितस्तक्षक इति व्यभिचारे सत्येव विशेषणस्य सार्थकत्वं यथा नीलमुत्पलमित्युत्पलत्वस्य रक्तोत्पले-नैव व्यभिचारादित्याह—तदानीमिति। अप्रसक्तव्यावर्तनमिति। नहि सपक्षविपक्षयोः पक्षात्मकत्वं प्रसक्तं येन तदतिरिक्तत्वेन, विशेषणमर्थवत्स्यादित्यर्थः। यद्यपि पक्षोपि सपक्षो भवति यथायं देवदत्ताभिन्नः देवदत्तनिष्ठसकलधर्मवत्त्वात् पूर्वदृष्टदेवदत्तवत् यथा वा पृथिवीत्वेनेतरभेदसाधने घटादिरेव सपक्षत्वेन दृष्टान्तः तथाप्यवच्छेदभेदेन तत्रापि पक्ष-भिन्नत्वमिति भावः। एतदेव विशदयति—नहीति। ननु यः पक्षभिन्ने वर्तमानः सपक्ष-

विपक्षमात्रवृत्तिर्न भवतीति पक्षेपि वर्तमाने सद्धेतौ नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—अथेति। पक्ष-भिन्ने वर्तमानत्वमसाधारणानैकान्तिकाव्यापकमिति परिहरति—तदानीमिति ॥ ३२२ ॥

यदि पक्षव्यतिरिक्त यह विशेषण दें, तो अप्रसक्त का व्यावर्तन अयुक्त होगा। अर्थात् पक्ष व्यतिरिक्त (भिन्न) विपक्ष में एवं सपक्ष में ही जो नहीं रहता हो, वह अनैकान्तिक होता है, ऐसा लक्षण करें तो पक्षव्यतिरिक्त यह विशेषण व्यर्थ होगा। क्योंकि, सम्भव और व्यभिचार दोनों से विशेषण सार्थक होता है, जैसे (नीलमुत्पलम्) नील कमल है, यहाँ कमल में नीलत्व का सम्भव (भाव) और व्यभिचार (अभाव) दोनों हैं, अतः रक्तकमलादि की व्यावृत्ति के लिये नील विशेषण सार्थक होता है। प्रकृत में सपक्ष तथा विक्षक्ष में पक्षव्यतिरिक्तत्व का कहीं व्यभिचार नहीं है, अतः उनमें पक्षरूपता की प्राप्ति नहीं है जिसकी व्यावृत्ति के लिये पक्षव्यतिरिक्त यह विशेषण सार्थक हो सके। यदि कहीं सपक्ष और विपक्ष पक्षरूप होता, तो उसकी व्यावृत्ति के लिये विशेषण सार्थक होता। और पक्ष से अभिन्न सपक्ष-विपक्ष का सम्भव नहीं है। अतः सपक्ष या विपक्ष में किसी से व्यावर्तकत्व नहीं होता हुआ यह विशेषण किसी प्रकार नहीं हो सकता। और यदि पक्ष से व्यतिरिक्त में वर्तमान यह विशेषण दें कि—पक्ष से व्यतिरिक्त में वर्तमान, सपक्ष एवं विपक्ष मात्र में ही नहीं रहने वाला अनैकान्तिक है, तो असाधारण अनैकान्तिक में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह पक्ष व्यतिरिक में रहता ही नहीं है ॥ ३२२ ॥

अथ पक्षव्यतिरेकेणेति विशेषणमुपादत्से, तदापि पक्षव्यतिरेकस्य पक्षविरहरूपस्योपलक्षणत्वं हेतुत्वं वा द्वयमपि पक्षमात्रवृत्तावसाधारणा-नैकान्तिके न सम्भवति पक्षविरहस्य तत्रासम्भवादेव। निषेध्यविशेषणत्वे त्वस्य सद्धेतौ गमनं स्यात्। एतेन पक्षं विना पक्षमन्तरेणेत्याद्यक्षरैर्विशेषा-भिधानमात्रमपास्तम् ॥ ३२३ ॥

ननु पक्षव्यतिरेकेण यो हेतुः सपक्षे एव विपक्षे एव न वर्तते इति हेतुविशेषणे कुतो-ऽव्याप्तिर्यावता पक्षातिरिक्तवृत्तित्वमत्र नोपात्तं सद्धेतुस्तु पक्षव्यतिरेकेण वर्त्तमानः सपक्षे एव वर्त्तते तेन न तत्रातिव्याप्तिरिति शङ्कते—अथेति। पक्षव्यतिरेकेणेति यदि हेतौ तृतीया तथापि नासाधारणसङ्ग्रहः नहि सपक्षविपक्षयोस्तु वृत्तिव्यतिरेकः पक्षव्यतिरेकः साधा-रणाव्याप्तिरप्यत्र द्रष्टव्या। अथ पक्षव्यतिरेकेणेति लक्षणे तृतीया तथाप्यसाधारणाव्याप्तिरेव नहि तस्य पक्षविरहोऽस्ति येनासावुपलक्ष्येतेति परिहरति—तदापीति। अथ पक्षव्यतिरेके-णेति न सङ्ग्राह्यस्य विशेषणं येनासाधारणासङ्ग्रहः स्यादपि तु निषेध्यस्य व्यवच्छेद्यस्य विशेषणं तथा च पक्षव्यतिरेकेण वर्त्तमानः सपक्षे एव वर्त्तते सद्धेतुः विपक्षे एव वर्त्तते विरुद्धः तदुभयमत्र व्यवच्छेद्यमिति तद्विशेषणमेव पक्षव्यतिरेकेणेत्यत आह—निषेध्येति। एवमपि निषेध्यस्य सद्धेतोः पक्षव्यतिरेकेण वर्तमानत्वमस्तु विशेषणं तथापि पक्षव्यतिरेकेण वर्तमानोप्यसौ सपक्षमात्रवृत्तिर्न भवत्येव यतः पक्षेपि वर्त्ततेसावित्यतिव्याप्तिस्तदवस्थै-वेत्यर्थः। एतेनेति। सङ्ग्राह्यविशेषणत्वेऽसाधारणानैकान्तिकसङ्ग्रहः। निषेध्यविशेषणत्वे तु सद्धेतुसङ्ग्रहोपीति दोषद्वयेनेत्यर्थः ॥ ३२३ ॥

यदि पक्षव्यतिरेक से अवच्छिन्न (युक्त) इस हेतुविशेषण का ग्रहण करें तो यद्यपि पक्षव्यतिरिक्त में अवर्तमान असाधारण हेतु में अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि पक्षव्यतिरेक से युक्त वह सपक्ष विपक्ष में नहीं रहता है, और सद्धेतु पक्षव्यतिरेक से युक्त सपक्ष में

ही रहता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति भी नहीं है, तथापि पक्ष का अभावरूप जो पक्ष का व्यतिरेक है, वह उपलक्षणत्व या हेतुत्व दोनों का पक्षमात्रवृत्ति अनैकान्तिक हेतु में असम्भव है। क्योंकि पक्ष का अभाव उसमें असम्भव है, अर्थात् तृतीया विभक्ति का उपलक्षणत्व या हेतुत्व अर्थ हो सकता है, इन दोनों का होना असम्भव है। पक्षव्यतिरेक के अभाव होने से वह असाधारण हेतु का उपलक्षण या हेतुरूप से विशेषण नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि पक्षव्यतिरेकेण, यह विशेषण अनैकान्तिक लक्ष्यरूप हेतु का नहीं है, किन्तु व्यावर्त्य (निषेध्य) रूप सद्धेतु का विशेषण है जिससे उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो, अर्थात् व्यतिरेक से युक्त सपक्ष में ही रहने वाला सद्धेतु रूप और विपक्ष में ही वर्तमान विरुद्धरूप जो हेतु नहीं हो वह अनैकान्तिक है, ऐसा लक्षण है, तो कहा जाता है कि इस प्रकार इसको निषेध्य के विशेषणत्व होने पर भी सद्धेतु में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि पक्षव्यतिरेक से युक्त सपक्ष में वर्तमान भी सद्धेतु सपक्ष में ही नहीं रहता है, किन्तु पक्ष में भी रहता है, अतः पक्षव्यतिरेक से युक्त सपक्ष में ही जो नहीं रहे, इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। उक्तरीति से पक्षव्यतिरेकेण, अनैकान्तिक हेतु के विशेषण मानने पर, असाधारण अनैकान्तिक में अतिव्याप्ति होती है और निषेध्य के विशेषण मानने पर सद्धेतु में अतिव्याप्ति होती है। इस कारण से (पक्षं विना, पक्षमन्तरेण) इत्यादि अक्षरों के द्वारा विशेष का कथनमात्र अपास्त हो गया, क्योंकि, पक्षव्यतिरेकेण, इसकी अपेक्षा इन कथनों में अक्षरों का ही विशेष (भेद) है, अर्थ का नहीं ॥ ३२३ ॥

अथ यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते तदा सपक्षे एव विपक्षे एव वर्तते न यः सोऽनैकान्तिकः तथा सत्यसाधारणस्यापि व्याप्तिः सद्धेतौ चा प्रसक्तिरिति मन्यसे, तदा भ्रान्तोऽसितराम्। एवं हि सति नोभयस्यापि सङ्ग्रहः असाधारणे तावद्यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते इत्येतन्न सम्भवति तस्य पक्षमात्रवृत्तेः कदाचिदपि पक्षव्यतिरिक्तवृत्तिसम्भावनानुपपत्तेः, साधारणेऽपि निश्चितपक्षविपक्षवृत्तौ यद्यर्थं न पश्यामः, यदि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तते इति नहि निश्चितवृक्षभावायां शिंशपायां प्रयुज्यते यदि शिंशपावृक्षः स्यादिति तत्कस्य हेतोः संशयोपस्थापितात्कोटिद्वयादेकस्यां कोटौ तदाश्रये किञ्चिद्धर्मोपदर्शनार्थमारोप्यमाणायां यदीति प्रयुज्यते ननु निश्चिते एव वस्तुनि। तस्मादसाधारणानैकान्तिकसङ्ग्रहाय यदीत्याद्युपात्तं तन्न साधारणमपि समग्रहीत ॥ ३२४ ॥

ननु यद्यपि सद्धेतुः सपक्षे एव न वर्तते किन्तु पक्षेऽपीति तत्रातिव्याप्तिस्तथापि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानः सपक्षे एव वर्तते असाधारणानैकान्तिकश्च। यद्यपि पक्षव्यतिरिक्ते न वर्तते तथापि पक्षव्यतिरिक्ते वर्तमानत्वं विशेषणं नोपादीयते येन तदसङ्ग्रहः स्यादपितु सम्भावनामात्रेणोद्भाव्यते इति शङ्कते—अथेति। एवं साधारणासाधारणानैकान्तिकयोर्द्वयोरप्यसङ्ग्राहकमिदं लक्षणं भवेदसाधारणं तावत् पक्षव्यतिरिक्तवर्तमानता सम्भावनापदमपि कथं भवेत् सपक्षविपक्षव्यावृत्तस्यैवासाधारणत्वात्। साधारणानैकान्तिकस्तु सपक्षविपक्षवृत्तितयैव निश्चित इति पक्षातिरिक्तवृत्तितया सम्भावनापथं कथं स्यात निश्चितसम्भावनाविरोधित्वादिति परिहरति—एवं सतीति। यदि

पदप्रयोगाभावेन निश्चयस्य सम्भावनाविरोधित्वमेव दर्शयति—नहीति। यत्रैव संभावना तत्रैव यदि पदप्रयोगो यत्र तु निश्चयस्तत्र न तत्पदप्रयोग इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयस्य सम्भावनाविरोधित्वमेवेति दर्शयति—संशयोपस्थापितादिति। असाधारणानैकान्तिके सपक्षविपक्षोभयव्यावृत्तत्वनिश्चयादेव न पक्षातिरिक्तवृत्तित्वसम्भावना साधारणानैकान्तिके तु पक्षातिरिक्तवृत्तित्वनिश्चयादेव न सेति समुदायार्थः ॥ ३२४ ॥

पक्ष के बिना सपक्ष हो में या विपक्ष ही में जो नहीं रहता हो, इस लक्षण की असाधारण में अव्याप्ति कही गई है, उसके वारण के लिए शंका होती है कि यदि पक्षव्यतिरिक्त में रहता हो, तो सपक्ष में ही या विपक्ष में ही जो नहीं रहता हो वह अनैकान्तिक होता है। यहाँ पक्षव्यतिरिक्तत्व विशेषण नहीं है, किन्तु यदि शब्द से सम्भावना मात्र का बोध होता है। अतः सपक्ष एवं विपक्ष में रहने की सम्भावना के अभाव वाले असाधारण में लक्षण की प्रवृत्ति हो जाती है। तथा सद्धेतु पक्षव्यतिरिक्त में रहता हुआ सपक्ष में रहता ही है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं है और साधारण अनैकान्तिक सपक्ष में ही नहीं रहता हुआ विपक्ष और पक्ष में भी रहता है। अतः उसमें लक्षण का समन्वय होता है। उत्तर यह है कि ऐसा मानें तो यह अत्यन्त भ्रान्त है, क्योंकि इस प्रकार साधारण तथा असाधारण दोनों का संग्रह नहीं होगा, दोनों में लक्षण की अव्याप्ति होगी। प्रथम असाधारण में पक्षव्यतिरिक्त में रहता है ऐसी उत्कटैककोटिक संभावना नहीं हो सकती। क्योंकि, उसके पक्षमात्रवृत्ति होने से कभी भी पक्ष से अन्य में वृत्ति (रहने) की सम्भावना की अनुपपत्ति है। निश्चित पक्ष में वृत्ति (स्थिति) वाले साधारण हेतु में भी 'यदि' के अर्थ संभावना को नहीं देखते जो यदि पक्षव्यतिरिक्त में रहता है, इस शब्द से कहा जा सके। कारण यह है कि निश्चित वृक्षत्ववाले शिंशपा (शीशों) में यदि शिंशपा वृक्ष होता, ऐसा प्रयोग नहीं किया जाता है। इसमें क्या कारण है? संशय से उपस्थापित (स्मृत) कोटिद्वय में से उस संशय के आश्रय (विषय) आरोप्यमाण (आरोपित) एक कोटि में किसी विशेष धर्म के प्रदर्शन कराने के लिये यदि इस सम्भावनार्थक शब्द का प्रयोग किया जाय, तो असाधारण अनैकान्तिक के संग्रह के लिए गृहीत 'यदि' यह पद साधारण का भी ग्रहण नहीं कर सकेगा ॥ ३२४ ॥

अथ विपक्षे एव सपक्षे एव न वर्त्तते यो हेत्वाभासः सोऽनैकान्तिक इति लक्षणं मन्यसे, तदप्यनुपपन्नम्, अनैकान्तिकत्वमनिश्चित्याग्रत एव हेत्वाभासत्वावधारणे तत एव हेतोरसाधकत्वं सिद्धमिति कृतं तदुपजीविनानैकान्तिकत्वोपन्यासेन। अथाग्रतो हेत्वाभासत्वं नावधार्यते, तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वं, विशेषणस्य हेत्वाभासत्वस्यानवधारणात्। अथ ब्रूषे असिद्धविरुद्धप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टादन्यो हेत्वाभासोऽनैकान्तिक इति, तदप्युक्तन्यायेनैव निरस्तम् ॥ ३२५ ॥

ननु हेत्वाभासत्वेन विशेषणीयं लक्षणं तथा च कथं सद्धेतुसङ्ग्राहकं स्यादिति शङ्कते—अथेति। हेत्वाभासत्वस्य प्रथमं ज्ञाने तत एवासाधकत्वं सिद्धं तदज्ञाने तु तद्गर्भलक्षणमपि दुरवधारणमेवेति परिहरति—अनैकान्तिकत्वमिति। ननु पञ्चसु हेत्वाभासेषु चतुर्भिन्नत्वं लक्षणमस्तु तच्च यद्यपि सद्धेतावप्यस्ति तथापि तद्वारणाय हेत्वाभासत्वेन विशेषणीय-

मिति शङ्कते—अथ ब्रूषे इति। अत्रापि हेत्वाभासत्वग्रहदशायामनुपपत्तिरेवेति परिहरति—उक्तन्यायेनेति ॥ ३२५ ॥

यदि सद्धेतु में अतिव्याप्ति वारण के लिए सपक्ष में ही विपक्ष में ही जो हेत्वाभास नहीं रहता वह अनैकान्तिक है, ऐसा हेत्वाभास विशेषणयुक्त लक्षण मानें तो यह भी अनुपपन्न (अयुक्त) है। क्योंकि अनैकान्तिकत्व का निश्चय किये बिना पहले ही से हेत्वाभासत्व के अवधारण (ज्ञान) होने पर, उस ज्ञान से ही हेतु के साध्यासाधकत्व की भी सिद्धि हो जाती है, फिर उसके उपजीवी (तदधीन) अनैकान्तिकत्व के उपन्यास (कथन) से कोई फल नहीं है। यदि पहले ही हेत्वाभासत्व का अवधारण नहीं किया जाता तो लक्षण में दुर्ज्ञेयत्व होता, क्योंकि विशेषण हेत्वाभास के अनवधारण से लक्षण का अवधारण नहीं हो सकता। और यदि कहें कि असिद्ध, विरुद्ध, प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) और कालात्ययापदिष्ट (बाध) इन सब से भिन्न हेत्वाभास अनैकान्तिक है, तो वह भी उक्तन्याय से व्युदस्त (निरस्त) है। अर्थात् हेत्वाभास की असिद्धि से हेत्वाभासपदयुक्तलक्षण सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३२५ ॥

किञ्च एवमप्यसिद्ध्यादिसङ्कीर्णस्यानैकान्तिकस्यासङ्ग्रहः स्यात्। नच तदसिद्धादित्वादेवाहेतुर्भविष्यतीति वाच्यम्, इतरानैकान्तिकवद्विपक्षगतत्वादिनाप्युद्भावनेऽदोषत्वप्रसङ्गात्। अथ मन्यसे साधारणत्वासाधारणत्वयोर्व्यतिरेकाभ्यां विशिष्टादन्यत्वं साधारणानैकान्तिकव्याप्तिसामान्यलक्षणमस्तु, मैवम्, यदि व्यतिरेकद्वयविशिष्टादन्यत्वं तर्हि तस्य विशिष्टस्य विशेष्ये विशेषणे चेदमस्तीत्यतिव्याप्तिः ॥ ३२६ ॥

असिद्धाद्यन्यत्वमसिद्धादिसङ्कीर्णानैकान्तिके नास्तीति तत्राव्याप्तिमाह—किञ्चेति। ननु तत्रासिद्धत्वादिकमेव दोषोस्तु तथा च तस्यानैकान्तिकस्यासङ्ग्रहेपि न क्षतिरित्यत आह—नचेति। असिद्धत्वाद्यस्फुरणदशायां विपक्षवृत्तितयोपन्यस्यमानादपि तस्मादनुमितिप्रतिबन्धादनैकान्तिकत्वमवश्यं तस्यापीति तदपि तव सङ्ग्राह्यमेवेत्यर्थः। ननु साधारणत्वासाधारणत्वधर्मद्वयं यत्र वर्तते तदन्यत्वमनैकान्तिकत्वं तथा च तदुभयात्यन्ताभाववति सद्धेतौ हेत्वाभासान्तरे च नातिव्याप्तिः यत्र चानैकान्तिकसाङ्कर्यं तस्यापि च सङ्ग्रह इति शङ्कते—अथेति। साधारणत्वासाधारणत्वव्यतिरेकद्वयं विशेषणं तद्वांश्च सद्धेतुर्विशेष्यस्तयोरपि व्यतिरेकद्वयविशिष्टादन्यत्वमस्त्येव नहि विशेषणमात्रं विशिष्टं नापि विशेष्यमात्रं तथेति तदुभयातिव्याप्तिरिति परिहरति—यदीति। विशिष्टस्य यद्विशेषणं व्यतिरेकद्वयं यच्च विशेष्यं सद्धेतुस्वरूपं तत्रापि तदन्यत्वमस्तीत्यर्थः ॥ ३२६ ॥

उक्त रीति से असिद्धादि से अन्यत्व युक्त लक्षण करने पर असिद्ध आदि से संकीर्ण (मिलित) अनैकान्तिक का संग्रह नहीं होगा। (शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्) यहाँ नित्यघटत्वरूपत्वादि में चाक्षुषत्व हेतु असिद्ध से संकीर्ण अनैकान्तिक है। (पृथिवी न रूपवती भूतत्वात्) यहाँ बाध के साथ संकीर्णभूतत्वरूप साधारण अनैकान्तिक है और (पृथिवी न रूपवती गन्धवत्वात्) यहाँ बाध के साथ संकीर्ण असाधारण अनैकान्तिक है और (आकाशमनित्यं प्रमेयत्वात्, आकाशं नित्यं विभुत्वात्) यहाँ सत्प्रतिपक्ष से संकीर्ण है, इन सबों में अव्याप्ति होगी, क्योंकि ये असिद्धादि से अन्य नहीं हैं। यदि कहा जाय कि असिद्ध तथा बाधित आदि रूप से ही ये संकीर्ण हेतु अहेतु (हेत्वाभास) हो

जायेंगे, अनैकान्तिक नहीं हों तो कोई हानि नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि इतर (असंकीर्ण) अनैकान्तिक के समान इनके विपक्षगतत्व पक्षमात्रवृत्तित्व के उद्भावन (कथन) करने पर भी अदोषता की प्राप्तिरूप हानि होगी। अर्थात् अनैकान्तिकत्वरूप से इन्हें हेत्वाभास नहीं होने पर विपक्षवृत्तित्वादिरूप से इन्हें दुष्ट नहीं कहा जा सकेगा। और यदि मानें कि साधारणत्व तथा असाधारणत्व के मिलित व्यतिरेक (अभाव) से विशिष्ट जो सद्धेतु हेत्वाभासान्तर हैं, उनसे अन्यत्वरूप साधारण तथा असाधारण अनैकान्तिक में व्यापक सामान्य लक्षण हो सकता है। इस लक्षण की सद्धेतु आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वे सब उक्त विशिष्ट से अन्य नहीं हैं और उक्त संकीर्ण अनैकान्तिकों का संग्रह भी हो जाता है। क्योंकि, वे सब उक्त विशिष्ट से अन्य हैं, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानना भी युक्त नहीं, क्योंकि विशिष्ट में अभावद्वय के विशेषण पक्ष में उस विशिष्ट से अन्यत्व केवल विशेष्य सद्धेतु आदि में और विशेषणरूप अभावद्वय में भी है, अतः उस विशिष्ट के अन्यत्वरूप इस लक्षण की विशेष्य और विशेषण में अतिव्याप्ति होगी ॥ ३२६ ॥

यदि च व्यतिरेकद्वयवतोपलक्षणं तदोपलक्ष्यस्वरूपाणां यदि भेदेनैवोपलक्ष्यता तदा व्यतिरेकोऽप्यविशिष्टे तस्मिन्नस्ति नहि यदेवाविशिष्टं तन्मात्रं विशिष्टम् एवमभेदेनापि भेदाभेदात्तदेवातदपि, इति चेन्न, अतदपीति प्रसङ्गादवस्थ्यात् ॥ ३२७ ॥

ननु व्यतिरेकद्वयेन सद्धेतुना च विशेषणविशेष्यभावो न विवक्षितो येन विशिष्टान्यत्वं विशेषणविशेष्ययोः स्यादपितूपलक्षणोपलक्ष्यभावस्तथा च नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—यदीति। व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वं सद्धेतूनां तदन्यत्वं लक्षणमित्यर्थः, तर्हि सद्धेतावतिव्याप्तिस्तदवस्थैव व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वविशिष्टात्सद्धेतोरन्यत्वादिति परिहरति—तदेति। भेदेनेत्युपलक्ष्योपलक्षणयोर्भेदेनेत्यर्थः। तदा व्यतिरेक इति। तदन्यत्वमित्यर्थः। अविशिष्टे केवले तस्मिन्सद्धेतौ। ननु व्यतिरेकद्वयोपलक्षितान्यत्वं कथं केवले इत्यत आह—नहीति। ननु व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वविशिष्ट एव केवलोऽपि तथा च तदन्यत्वं तत्र कथं स्यादुपलक्ष्योपलक्षणभावानुरोधाद्भेदोऽप्यस्तु तथा च यदेवाविशिष्टं तदेव विशिष्टमपीति शङ्कते—भेदाभेदादिति। भेदे सत्यभेदो भेदाभेदस्तस्मादित्यर्थः। द्वन्द्वसमासे द्विवचनप्राप्तेः एकवद्भावो वैकल्पिकः। भेदाभेदपक्षेऽपि भेदपक्षमादाय विशिष्टान्यत्वमविशिष्टेस्तीति सैवातिव्याप्तिरित्यर्थः॥ ३२७ ॥

यदि कहें कि व्यतिरेकद्वय और सद्धेतु में विशेषणविशेष्यभाव नहीं है, किन्तु उपलक्षणउपलक्ष्यभाव है। अतः व्यतिरेकद्वय से उपलक्षित सद्धेतु आदि से अन्यत्व अनैकान्तिक का सामान्य लक्षण है, तो इस प्रकार व्यतिरेकद्वयवत्ता यदि उपलक्षण है और उपलक्ष्यस्वरूपों को यदि भेदेन उपलक्ष्यउपलक्षक के भेद द्वारा तत्तद् व्यक्तिभेदरूप से उपलक्ष्यता है, तो व्यतिरेकद्वय से उपलक्षितत्व विशिष्ट से व्यतिरेक (अन्यत्व) भी अविशिष्ट(केवल) उस सद्धेतु आदि में है, अतः सद्धेतु में अतिव्याप्ति है ही, क्योंकि जो अविशिष्ट होता है, वही विशिष्ट नहीं। अभेद में उपलक्ष्यउपलक्षणभाव भी नहीं होगा, अतः उपलक्षण से उपलक्षित उपलक्षितत्वविशिष्ट से उपलक्षक और अविशिष्ट सद्धेतु अन्य हो जाता है। इसी प्रकार अभेद द्वारा उपलक्षणता पक्षमें भी

अतिव्याप्ति होती है। उपलक्षण से अभिन्न विशिष्ट से अन्य केवल सद्धेतु आदि होते हैं, केवल के उपलक्षित होने से तथा विशिष्ट में तदन्यत्व होने से उसमें अतिव्याप्ति होती है। यदि कहा जाय कि उपलक्ष्यउपलक्षणभाव होने से भेद होते भी वस्तुतः व्यतिरेकद्वयो-उपलक्षितत्वयुक्त ही केवल विशेष्य रहता है। अतः भेद के रहते अभेदरूप भेदाभेद से अविशिष्टमात्र ही विशिष्ट है, इसलिये विशिष्ट से अन्य मानकर केवल में अतिव्याप्ति नहीं होगी, न केवल से अन्य मानकर विशिष्ट में अतिव्याप्ति होगी। (तदेव अतदपि) अभिन्न ही भिन्न भी है, यह कहना ठीक नहीं है। (अतदपि) भिन्न भी होने से अतिव्याप्ति तदवस्थ है। भेदाभेद पक्ष में भी अविशिष्टगत विशिष्ट के भेद के ग्रहण से अतिव्याप्ति होती है ॥ ३२७ ॥

ततोऽत्यन्तान्यत्वं लक्षणम्, इति चेन्न, असिद्ध्यादिसंकीर्णानैकान्तिकोदाहरणाव्यापनात् स्वरूपाणां चानन्त्येन तत्प्रतियोगिकान्यत्वावधारणस्याशक्यता तेषामानन्त्यात् तन्मध्यपतितकतिपयान्यत्वे चान्यत्र कतिपये प्रसङ्गतादवस्थ्यात् ॥ ३२८ ॥

ननु व्यतिरेकद्वयविशिष्टादत्यन्तभिन्नत्वं लक्षणं तच्चाविशिष्टे सद्धेतौ न गतमित्याह—तत इति। असिद्ध्यादीति। व्यतिरेकद्वयोपलक्षितादसिद्धादेः सङ्कीर्णानैकान्तिकस्यात्यन्तभेदाभावात्तदव्याप्तिरित्यर्थः। यद्यपि सङ्कीर्णानैकान्तिकस्यात्यन्तभेदाभावात्तदव्याप्तिरित्यर्थः। यद्यपि सङ्करस्थले व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वं विशिष्टत्वं वा न सम्भवति तत्र साधारणत्वासाधारणत्वयोरन्यतरस्यैव सम्भवात् तथापि तावद्द्वयावृत्तोपलक्ष्यतावच्छेदकाभावादिदमुक्तं येषु व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वं ग्राह्यं तेषामैकरूप्याभावात्तावत्प्रतियोगिकान्यत्वमनैकान्तिके दुर्ग्रहमित्याह—स्वरूपाणामिति। अशक्यत्वे हेतुमाह—आनन्त्यादिति। सकलसङ्ग्राहकैकरूपाभावेन तावतामनुपस्थितेरित्यर्थः। नच सद्धेतुत्वमेव तथा तदवच्छिन्नप्रतियोगिकाभावस्य सर्वहेत्वाभासनिष्ठत्वेनातिव्याप्तेरनैकान्तिकादिभिन्नत्वेन सद्धेतुत्वं सद्धेतुभिन्नत्वेनानैकान्तिकत्वं लक्षणीयमित्यन्योन्याश्रयाच्चेति भावः। तन्मध्येति। अन्यत्वप्रतियोगिमध्यपतितकतिपयव्यक्तिभिन्नत्वं तत्रैव कतिपयव्यक्तिषु गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥ ३२८ ॥

यदि व्यतिरेकद्वयविशिष्ट से अत्यन्त भिन्नत्व लक्षण करें, तो यद्यपि वह अविशिष्ट सद्धेतु आदि में अतिव्याप्त नहीं होता तथापि असिद्धि आदि से संकीर्ण अनैकान्तिक उदाहरणों में अव्याप्त होता है। संकीर्ण होने से वे सब विशिष्ट से अत्यन्त भिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि प्रकार के भेद होते भी वहां स्वरूप का भेद नहीं रहता। और विशिष्ट से अन्यत्व के प्रतियोगी के स्वरूपों की अनन्तता से उस स्वरूपात्मक प्रतियोगी वाले अन्यत्व (भेद) के अवधारण की भी अशक्यता है, क्योंकि प्रतियोगी के अनन्त भेद से उन भेदों में भी अनन्तता ही है। प्रतियोगी में अनुगमक धर्म के विना अभाव का भी अनुगम नहीं हो सकता और तन्मध्यपतित (व्यतिरेकद्वयविशिष्टगत) कतिपयान्यत्व को लक्षण मानने पर, कतिपय विशिष्ट में ही अतिव्याप्ति होगी ॥ ३२८ ॥

उपलक्षणत्वे चोभयव्यतिरेकस्यान्यत्वप्रतियोगिकोऽप्रवेशेन तत्सङ्गृहीतव्यतिरेकपक्षपातादेवं चादृष्टवाणादिनापि गोत्वादेवम्भूताद्बाणादिविषाणित्वानुमानौचित्यापातात् ॥ ३२९ ॥

ननु साधारणत्वासाधारणत्वव्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वमेवानुगतमन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकमस्तु तथाच नोक्तदोष इत्याशङ्क्य निराकरोति—उपलक्षणत्व इति। व्यतिरेकद्वयोपलक्षितत्वं व्यतिरेकद्वये तावन्न सम्भवति अभेदेनोपलक्ष्योपलक्षणभावाभावात् तथा च व्यतिरेकद्वयोपलक्षितादन्यत्वं व्यतिरेकद्वयेति व्यापकं तथाच साधारणव्यतिरेकोसाधारणव्यतिरेकोनैकान्तिकः स्यादन्यत्वं ह्यन्योन्याभावस्तत्प्रतियोगिकोटौ चेद्व्यतिरेकद्वयं न प्रविष्टं तदा व्यतिरेकद्वयोपलक्षितान्यत्ववतो व्यतिरेकद्वयस्यानैकान्तिकलक्षणरूपव्यतिरेकिणः पक्षतापत्तिस्तत्राप्यनेन लक्षणेनेतरभेदः सिद्ध्येदित्यर्थः। किञ्च यदि व्यतिरेकद्वयविशिष्टान्यत्वमनैकान्तिकलक्षणं तदा येन पुरुषेण सुरभिभिन्नं गोपदवाच्यं न दृष्टमस्ति तस्य गोत्वेन गोपदवाच्यत्वेन हेतुना वा वाणादेरपि विषाणित्वं सिद्ध्येत्तेन गोत्वस्याभासत्वेनाग्रहात् न हि गोत्वं साधारणानैकान्तिकत्वेन गृहीतं वाणादेरदर्शनेन तद्विपक्षत्वस्यानिश्चयात्। नाप्यसाधारणतया शवलादेः सपक्षादव्यावृत्ते न च बाधादेवायमहेतुः पक्षस्यादृष्टत्वेन साध्याभाववत्तयाऽप्रमितेः सपक्षवृत्तेर्विरुद्धत्वासम्भवादित्याह—एवं चेति। केचित्तु यद्यन्यत्वगर्भं लक्षणं स्यात्तदा वाणत्वसुरभित्वात्यन्ताभावद्वयविशिष्टान्यत्वेन पक्षदृष्टान्तसाधारणेन वाणस्य विषाणित्वमपि सिद्ध्येदित्यर्थ इत्याहुः॥ ३२९॥

यदि कहा जाय कि साधारणत्व एवं असाधारणत्व के व्यतिरेक (अभाव) द्वय से उपलक्षितत्व को उक्त अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक रूप मानने से उक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि उक्त अभाव द्वय से उपलक्षितत्व अनुगत धर्मयुक्त से अन्यत्व साधारणासाधारणानैकान्तिक का सामान्य लक्षण होगा, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि उपलक्षणत्व होने पर (काकवद्देवदत्तस्य गृहम्) यहाँ जैसे उपलक्षण रूप काक उपलक्ष्य से पृथक माना जाता है, वैसे प्रकृत में दोनों अभावों को अभाव से उपलक्षित अन्यत्व (भेद) के प्रतियोगी कोटि (स्वरूप) में अप्रवेश होने के कारण उस व्यतिरेक द्वय से उपलक्षणत्व रूप द्वारा संगृहीत (उपलक्ष्य) के व्यतिरेक (तदन्यत्व) पक्षता की प्राप्ति होगी। अर्थात् व्यतिरेकद्वयोपलक्षित से अन्यत्व व्यतिरेक द्वय में भी होने से अतिव्याप्ति होगी। और इसी प्रकार गोशब्द के वज्रवाण-भूमि-इन्द्रियादि अर्थ को जिसने नहीं देखा (नहीं जाना) उस पुरुष द्वारा (एवंभूत) साधारणत्व तथा असाधारणत्व अभाव द्वय से उपलक्षित स्वरूप गोत्वगोपदवाच्यत्व से वाणादि में किया गया विषाणित्व का अनुमान औचित्य (सत्यत्व) को प्राप्त होगा। क्योंकि गोत्व एवं गोपदवाच्यत्वरूप हेतु अश्वादि विपक्ष के एकदेश में नहीं रहने से साधारण अनैकान्तिक नहीं है, और सपक्ष गौ में होने से असाधारण भी नहीं है, अतः साधारणत्व तथा असाधारणत्व के व्यतिरेक द्वय से उपलक्षित है, तदन्य स्वरूप अनैकान्तिक नहीं है। और अदृष्ट वाणादिपक्ष में पूर्व से अविषाणित्व के निश्चय के अभाव से बाध भी नहीं है, और सपक्ष में रहने से विरुद्धत्व भी नहीं हो सकता। अतः अनैकान्तिकादि दोषों के अज्ञान से गोपदवाच्यत्व से वाणादि में विषाणित्व की सिद्धि प्राप्त होगी॥ ३२९॥

हेत्वाभासान्तरमप्येवं किं न समग्राहीतिवासनायां यदेवानयोरितरेभ्यो वैधर्म्यं वाच्यं तस्यैव लक्षणस्य निर्वचनापत्तिरिति असिद्धत्वादिप्रकारादन्येन प्रकारेण हेत्वाभासोनैकान्तिकइति चेत् वाच्यस्तर्हि स प्रकारः कस्यान्यथा ततस्ततोन्यत्वं ज्ञेयम्॥ ३३०॥

यथा साधारणासाधारणौ द्वौ हेत्वाभासौ कथञ्चिदनुगतेन रूपेण लक्ष्येते तथा हेत्वाभासान्तरमप्यन्तर्भाव्यानैकान्तिकत्वं कथं न निरुक्तमित्याकाङ्क्षायां हेत्वाभासान्तरवैधर्म्यमनयोर्यद्वाच्यं संशयफलकत्वादि तदेव लक्षणमस्तु किमनेनेत्याह—हेत्वाभासान्तरमिति। तथा च साधारणासाधरणयोरपि पृथगेव हेत्वाभासत्वमस्तु किं पंचधाविभागेनेति भावः। वाच्य इति। उक्तानां प्रकाराणां दूषितत्वदित्यर्थः। ततस्ततइति। असिद्धविरुद्धादिप्रकारादित्यर्थः। तथा च येन प्रकारेणान्यत्वं स एव लक्षणमस्तु किमनेनेति भावः॥ ३३०॥

और भी यहाँ विचार कर्तव्य है कि साधारण असाधारण अनैकान्तिक के आकार प्रकार के भेद रहते भी उन दोनों को किसी प्रकार अनुगत करने के लिये जैसे उन का लक्षण से संग्रह किया जाता है, और समझा जाता है कि ये दोनों यदि एक लक्षण से संगृहीत नहीं होंगे तो हेत्वाभास की संख्या की अधिकतारूप गौरव होगा। इसी प्रकार अनुपसंहारीरूप हेत्वाभासान्तर का संग्रह क्यों नहीं किया गया? तथा विरुद्धादि हेत्वाभासान्तर को भी अन्तर्गत करके अनैकान्तिक का लक्षण क्यों नहीं किया गया? साधारणत्व-असाधारणत्व-अनुपसंहारित्व-विरुद्धत्व-असिद्धत्वव्यतिरेकविशिष्ट या उपलक्षित से अन्यत्व अनैकान्तिकत्व है, इत्यादि वासना (ज्ञानेच्छा = शंका) होने पर इन साधारण तथा असाधारण दोनों में इतर (अनुपसंहारी विरुद्धादि) से अवश्य वैधर्म्य कहना होगा जिससे इनके ही संग्रह के लिये लक्षण किया जाता है। और इस प्रकार से वैधर्म्य के वक्तव्य होने पर उसी वैधर्म्यरूप लक्षण के निर्वचन की प्राप्ति होगी, यह कहना चाहिये। परन्तु कह नहीं सकते, अतः साधारण एवं असाधारण को पृथक् पृथक् हेत्वाभास मानना उचित है। हेत्वाभास के पञ्चधा विभाग का कोई फल नहीं है। यदि कहा जाय कि असिद्धत्व-विरुद्धत्वादि प्रकारों से अन्यप्रकार (विशेषण) से युक्त हेत्वाभास अनैकान्तिक होता है, तो वह अपूर्व प्रकार वक्तव्य है, क्योंकि उक्त प्रकार सब दूषित हो चुके हैं, अन्यथा उस अपूर्व प्रकार के कहे तथा समझे बिना तत्तत् विरुद्धत्वादि प्रकारों से अन्यत्व किस को समझा जायगा। और यदि वह प्रकार कहा जाय तो वही लक्षण होगा अन्य लक्षण व्यर्थ हैं॥ ३३०॥

किंच एवं तर्ह्यसिद्धत्वादन्यदनैकान्तिकमिति कृत्वा विरुद्धत्वादीनामनैकान्तिकत्वेनैव सङ्ग्रहे शक्ये विरुद्धादिवद्रूपान्तरासङ्ग्राह्ययोः साधारणासाधारणयोरेव यदनेन प्रकारेण सङ्ग्रहमकार्षीस्तत्र नियतं रुचिरेव भवतां नियन्त्री यदा चासिद्धादिव्यतिरिक्ततयानैकान्तिकं लक्षयसि तदासिद्धादिभेदकं प्रकारमनवगम्य तदन्यत्वमशक्यावधारणमिति तदभिधाने प्रसक्ते तदाश्रया ये दोषा दर्शितास्तैः स्मृतिव्यतिरिक्तत्वोक्तदोषैश्च निराकर्त्तव्योसि साध्येनाव्याप्तत्वे सति तदभावाव्याप्तोनैकांतिक इत्यपि न साध्याविशिष्टेपि गतत्वात्॥ ३३१॥

असिद्धान्यत्वेन चतुर्णामैक्यं कथं न कृतमित्यनुयोगे विरुद्धादीनां प्रातिस्विकः प्रकारो यथास्ति तथा साधारणासाधारणयोरेकं रूपं यद्यस्ति तदा तदेवाभिधीयतां किमनेन लक्षणेनेत्याह—किंचेति। विरुद्धादिवदिति। यथा साध्याभावव्याप्तत्वं विरुद्धे तथा साधारणासाधारणयोरुक्तप्रकारादन्यः प्रकारो नास्ति उक्तश्च दूषित एवेत्यर्थः। किञ्चासिद्धादि-

भिन्नोनैकान्तिक इति लक्षणमसिद्धत्वादिज्ञानसापेक्षं तथाचासिद्धादिकं दूषितं यैर्दोषैस्तेप्यत्र लक्षणे स्युरित्याह—यदा चेति। स्मृतीति। स्मृत्यन्यज्ञानत्वमनुभवत्वमिति लक्षणे स्मृत्यन्यत्वं स्मृत्यन्तरेस्तीत्यादि खण्डनमत्र सञ्चार्यमित्यर्थः। साध्येनेति। प्रथमविशेषणेन सद्धेतुनिराकरणं द्वितीयेन विरुद्धस्य शब्दोऽनित्य अनित्यत्वादित्यत्र लक्षणमिदमतिव्यापकमभेदेन साध्यव्याप्यत्वाभावादिति भावः॥ ३३१॥

और इस रीति से तो (असिद्ध से अन्य अनैकान्तिक है) ऐसा लक्षण करके विरुद्धादि का अनैकान्तिकत्व रूप से ही संग्रह किया जा सकता है, तो भी विरुद्धादि के समान ही रूपान्तर (लक्षणान्तर) से असंग्राह्य साधारण और असाधारण का ही जो आप ने उक्त रीति से संग्रह किया है, उसमें केवल आप की रुचि ही हेतु है, कोई युक्ति या प्रमाण नहीं है, और जब असिद्धादि से व्यतिरिक्तता (भिन्नता) रूप से अनैकान्तिक का लक्षण करते हैं, तो असिद्धादि के अनैकान्तिक से भेदक प्रकारों (लक्षणों) को समझे बिना उन से अन्यत्व अनैकान्तिक में अशक्यावधारण (ज्ञान के अयोग्य) है, अतः वह अन्यत्व समझा नहीं जा सकता, फिर उन के लक्षणों के कथन के प्रसङ्ग होने पर, उन लक्षणों के आश्रित (लक्षणों में) जो प्रथम दोष कहा गया है, उन दर्शित दोषों से आप निराकर्तव्य हैं, तथा (स्मृतिभिन्नज्ञानत्वमनुभवत्वम्) इस लक्षण में कथित दोषों से भी निराकर्तव्य है। अर्थात् यत्किञ्चित्स्मृति से अन्यत्व स्मृत्यन्तर में भी रहता है, इत्यादि दोष जैसे वहाँ कहे गये हैं, वैसे यहाँ भी कहे जा सकते हैं। साध्य से अव्याप्त होता हुआ साध्याभाव से भी जो अव्याप्य हो वह हेतु अनैकान्तिक होता है। अर्थात् साध्य से व्याप्त सद्धेतु होता है, साध्याभाव से व्याप्त विरुद्ध होता है, इन दोनों से भिन्न अनैकान्तिक है। यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि साध्याविशिष्ट (साध्यसम) शब्दोऽनित्योऽनित्यत्वात्) इत्यादि में इस लक्षण की प्राप्ति होती है। अनित्यत्व के साध्य से अभिन्न होने से यह साध्य या साध्याभाव से व्याप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार (प्रपञ्चः सत्यः प्रमाणविषयत्वात्) यहाँ भी यदि प्रमाण विषयत्व हीं सत्यत्व है, तो साध्यसम हेतु है, अतः साध्य ही के हेतु होने से साध्य या साध्याभाव से व्याप्य नहीं है॥ ३३१॥

विशेषणीभूतसाध्याव्याप्यत्वावगमाच्च प्राथमिकाव्याप्यत्वासिद्धिरेवोपजीव्या दूषणं स्यात् विशेषणांशस्यैव चासाधकत्वसाधनसामर्थ्याद्व्यर्थविशेष्यतापि वस्तुगतिव्यापकवन्मात्रपर्यवसायिनि तदभाववन्मात्रपर्यवसायिनि वा तत्कालसंदिह्यमानान्यतरव्यापकत्वे शब्दोनित्यः श्रोत्रगुणत्वादित्यादावसाधारणेपि व्यावृत्तत्वाच्च। वस्तुतः साध्याव्याप्ते तत्कालेपि च सत्प्रतिपक्षतया अनिर्द्धारितसाध्याव्याप्तिके प्रकरणसमे गतत्वाच्च। एतेनानैकांतिकः सव्यभिचार इत्यप्ययुक्तं वेदितव्यं सव्यभिचारस्योक्तप्रकाराधिकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादिति॥ ३३२॥

नन्वभेदेपि व्याप्तिलक्षणमस्त्येवेत्यनुशयेन दोषान्तरमाह— विशेषणीभूतेति। साध्याव्याप्यत्वमात्रस्यैवासिद्धत्वस्य दूषणसामर्थ्ये तदभावाव्याप्यत्वस्याप्रयोजकत्वादिति भावः। असाधकतानुमाने व्यर्थविशेष्यत्वं चेत्याह-विशेषणांशस्येति। सद्धेतौ दशाविशेषेऽसाधारणे विरुद्धे च दशाविशेषेऽसाधारणेऽव्याप्तिरित्याह—वस्तुगतीति। आदिपदादाकाशमनित्यमाकाशत्वादित्यादिसङ्ग्रहः। नन्वनयोः साध्यव्याप्यत्वं साध्याभावव्याप्यत्वं च यथासङ्ख्य-

मसत्येवेत्यसाधारणता न सम्भवतीति कथमव्याप्तिरित्यत आह—सन्दिह्यमानेति। अगृह्यमाणव्याप्तितया त्वयैव दशाविशेषे तदसाधारणत्वव्यवस्थापनादित्यर्थः। श्रोत्रगुणत्वादिति श्रोत्रविशेषगुणत्वादित्यर्थः। वस्तुत इति। यद्यपि साध्याव्याप्तत्वे सति सति साध्याभावाव्याप्तत्वं ज्ञानगर्भं न लक्षणं येनसत्प्रतिपक्षेतिव्याप्तिः स्यात्तथापि दशाविशेषे व्यभिचारिणव यत्र सत्प्रतिपक्षत्वं तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। यद्वा साध्यव्याप्यत्वेनाज्ञायमानत्वे साध्याभाववत्त्वेनाज्ञायमानत्वं लक्षणमभिप्रेत्यैतदुक्तम् ॥ ३३२ ॥

उक्त लक्षण में साध्य से अव्याप्तत्व यदि उपलक्षण हो तो साध्याभाव से अव्याप्तत्व विरुद्ध भिन्नत्व, लक्षण होगा वह सद्धेतु में अतिव्याप्त होगा, और विशेषण होने पर विशेषण के विना विशिष्ट का ज्ञान होता नहीं, अतः विशेषणरूप साध्याव्याप्यत्व के ज्ञान से विशिष्ट ज्ञान की प्रथम उपस्थित होने वाली और विशिष्ट के उपजीव्य (कारण) स्वरूप व्याप्यत्वाऽसिद्धि ही हेतु का दूषण होगा, उक्त लक्षण वाला अनैकान्तिक नहीं। और साध्य से अव्याप्यत्व रूप विशेषणांश को हेतु में साध्याऽसाधकत्व के सिद्धकरने में सामर्थ्य है, व्यर्थविशेष्यता (विशेष्य की व्यर्थता) दोष भी है। और वस्तुगत्या सध्यवान् मात्र पक्ष में पर्यवसायी (स्थिर) अथवा सध्याभाववान् मात्र विपक्ष में स्थिर हेतु हो, परन्तु तत्काल में सन्दिग्ध अन्यन्तर व्यापकत्व वाला हो। न मालूम यह साध्य का व्याप्य है ? या साध्याभाव का है ? इस अवस्था में (शब्दोऽनित्यः श्रोत्रविशेषगुणत्वात्) इस असाधारण में अव्याप्ति हागी। शब्दमात्रवृत्तिहेतु के होने से पक्षवृत्ति अनित्यरूप साध्य से व्याप्त होने के कारण साध्य से अव्याप्य नहीं है, किन्तु साध्याभाव मात्र से अव्याप्य है, और सन्दिग्ध होने से नित्यत्व कोटि की उपस्थिति दशा में साध्य से अव्याप्य है इत्यादि। अतः यहाँ असाधारण अनैकान्तिक में लक्षण व्यावृत्त हो जाता (अव्याप्त होता) है। वस्तुतः हेतु जहाँ साध्य से अव्याप्त है, परन्तु तत्काल में सत्प्रतिपक्षता से अनिश्चित साध्याऽव्यापकत्व वाला है, उस अवस्था में प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्षयुक्तसद्धेतु) में लक्षण की प्राप्ति से भी लक्षण युक्त नहीं है। (शब्दोऽनित्यः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्) शब्दोनित्यः श्रोत्रग्राह्यत्वात्)। वस्तुतः यहाँ साध्यव्यापकत्व के रहते भी प्रतिपक्ष काल में साध्य से अव्याप्त होते साध्यभाव से अव्याप्त हेतु प्रतीत होता है, अतः प्रतिपक्ष में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, उक्त हेतु से ही सव्यभिचारहेतु अनैकान्तिक कहा जाता है, यह लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि सव्यभिचार के जितने प्रकार (भेद) प्रथम कहे गये, वे सब निरस्त हो चुके हैं, और उनसे अधिक प्रकार का निर्वचन होना अशक्य है ॥ ३३२ ॥

अपिच उक्तलक्षणविशेषणेन प्रमाव्यवच्छेदकाद्न्येन किं व्यवच्छेद्यं केनचित्सत्प्रतिपक्षः केनचिदन्य इति चेत्कः पुनः सत्प्रतिपक्षः यथाहि सत्प्रतिपक्षलक्षणमनुयुक्तो यद्याह समानबलेन बोधितसाध्यविपर्ययको हेतुत्वेनाभिमतः सत्प्रतिपक्ष इति तन्न। तथाहि—किमिह बलं विवक्षितं सामर्थ्यमिति चेत्तत्कुत्र कार्येऽभिमतं न तावत्सर्वस्मिन् कार्ये सत्प्रतिपक्षहेत्वोर्भिन्नविषयबुद्ध्यादिजनकतया सर्वकार्ये समशक्तिताया असम्भवात्,

नापि यत्र क्वचित्कार्ये प्रकृतं साध्यं प्रति प्रतीयमानासिद्धत्वादिदोषेणापि प्रमेयत्वप्रतिपादनादौ समर्थेन प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षताप्रसक्त्या सर्वहेतूनां शक्यप्रकरणसमहेत्वाभासत्वापत्तेः ॥ ३३३ ॥

पूर्वापरग्रन्थे सङ्गमयितुं पीठमारचयति—अपि चेति। समानं बलं यस्य तेन हेत्वन्तरेण बोधितः साध्यविपर्ययो यस्य स सत्प्रतिपक्ष इत्यर्थः। सर्वस्मिन्निति। यद्यपि सर्वकार्यसामर्थ्यमेकस्यापि हेतोरसम्भवि किं पुनरुभयोस्तथापि यत्र यस्यैकस्य सामर्थ्यं तत्र सर्वत्र यस्य सामर्थ्यं तेन बोधितसाध्यविपर्ययत्वमित्यर्थः कृतकत्वश्रावणत्वयोः शब्दानित्यत्वनित्यत्वसाधकयोरेकत्र कार्ये सामर्थ्याभावेनासत्प्रतिपक्षत्वं स्यादित्याह—सत्प्रतिपक्षहेत्वोरिति। ननु तयोरपि प्रमेयत्वसाधने शक्तिरस्त्येव भवति हि शब्दः प्रमेयः श्रावणत्वात्कृतकत्वाद्वेति प्रकृते कथं नानयोः सत्प्रतिपक्षत्वमित्यत आह—नापीति। एवं सति शब्दोऽनित्यः सत्त्वात् शब्दो नित्यः कृतकत्वादित्यनयोरपि स्फुटप्रतीयमानव्यभिचारविरुद्धत्वयोर्मिथः सत्प्रतिपक्षत्वं स्यात् द्वयोरपि प्रमेयत्वसिद्धौ समर्थत्वादित्यर्थः ॥ ३३३ ॥

उत्तर कथा के साथ सम्बन्ध के लिये पूर्ववर्णितलक्षण में व्यर्थविशेषणता कहते हैं कि (असिद्धविरुद्धकालात्ययापदिष्टप्रकरणसम से अन्य हेत्वाभास अनैकान्तिक होता है) इस लक्षण में प्रमाप्रमाणसद्धेतुव्यवच्छेदक हेत्वाभास विशेषण से अन्य विशेषण से क्यों व्यवच्छेद्य होता है ? यदि कहा जाय कि किसी से सत्प्रतिपक्ष किसी से अन्य विरुद्धादि व्यवच्छेद्य होता है, तो सम्प्रतिपक्ष ही क्या है ? जब तक उसकी सिद्धि नहीं हो, तबतक व्यवच्छेद्य नहीं हो सकता, और उसकी दुर्निरूपता दर्शाई जाती है कि (सत्= विद्यमान हो प्रतिपक्ष = विरोधी जिसका वह सत्प्रतिषक्ष होता है) इस अक्षरार्थ के अनुसार यदि लक्षण किया जाय तो किसी से लक्षण अनुयुक्त होने (पूछे जाने) पर कहा जाय कि (समानबल वाले हेत्वन्तर से बोधित स्वसाध्यविपर्यय (अभाव) वाला हेतु रूप से माना गया हेतु सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है, तो यह लक्षण युक्त नहीं। इसे दिखाया जाता है कि बल से क्या विवक्षित है ? यदि सामर्थ्य को बल कहा जाय तो, वह किस कार्यविषयक अमित = स्वीकृत बल है, यह विषय वक्तव्य होगा। यदि कहा जाय जि सर्वस्वयोग्यविषयक सामर्थ्य अभिमत है, तो यह कहना युक्त नहीं, हेतु से बोध योग्य साध्य होता है, और सत्प्रतिपक्ष स्थान में भिन्न-भिन्न साध्यविषयक बुद्धि (ज्ञान) और व्यवहार के जनक हेतु होते हैं। अतः सर्व कार्य (सर्वसाध्य बोधन) में सम (तुल्य) शक्तिमत्ता का असम्भव है। यदि कहा जाय कि जिस किसी कार्य में समबलवत्ता अभिमत है, तो वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि (शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्, शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्) यहाँ कार्यत्व और श्रावणत्वहेतु जैसे भिन्न साध्य के बोधक होते हैं, वैसे यद्यपि (शब्दः प्रमेयः कृतकत्वात् = श्रावणत्वात्) यहाँ कृतकत्व श्रावणत्व से एक प्रमेयत्वरूप साध्य का भी बोध होने से, यहाँ समबलता होने पर शब्द के नित्यत्व तथा अनित्यत्व बोधन में सत्प्रतिपक्ष हो सकते हैं, तथापि इस प्रकार तो (शब्दोऽनित्यः, सत्त्वात्, शब्दो, नित्यः कृतत्वात्) इत्यादि हेतुओं के प्रकृतसाध्य अनित्यत्व के प्रति व्यभिचार और असिद्धत्वादि दोषों की प्रतीति रहते भी (शब्दः प्रमेयः सत्त्वात् = कृतत्वात्) इत्यादि रीति से प्रमेयत्वादि एक किसी साध्य के प्रतिपादनादि में समर्थ प्रतिहेतु से सत्प्रतिपक्षता की प्राप्ति होने के कारण उक्त व्यभिचारी आदि सब हेतुओं को

प्रकरणसमहेत्वाभासत्व की प्राप्ति की योग्यता होगी। अर्थात् हेत्वाभासत्व जिन में शक्य है, ऐसे सब हेतु सत्प्रतिपक्ष हो जायेंगे। प्रमेयत्व वाच्यत्वादि का अनुमान सब हेतु से हो सकने के कारण वहाँ सब हेतु सम बल वाले हो जाते हैं ॥ ३३३ ॥

नापि पूर्वहेतुसाध्याभावबोधनरूपे कार्ये। उत्तरहेतोरेवमसत्प्रतिपक्षत्वे स्वसाध्यसाधकत्वापत्तेः, प्रतिहेतोः, इति चेन्न, तत्र तत्प्रतिहेतोरसामर्थ्या-देव समशक्तिकत्वानुपपत्तेः इत्थमेव न हेतुसाध्यस्य विपर्ययबोधनेपि। अथोच्यते स्वकीये स्वकीये प्रकृतसाध्ये यत्सामर्थ्यं पक्षसपक्षसत्त्वविपक्ष-व्यावृत्तत्वाबाधितविषयत्वलक्षणं तत्सत्प्रतिपक्षहेत्वोस्तुल्यं तदभिप्रायेणेदं समबलत्वाभिधानं तेनैदमुक्तं भवति पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वा-बाधितविषयत्वैस्तुल्येन बोधितसाध्यव्यतिरेकः सत्प्रतिपक्ष इति, नैत-दपियुक्तं ॥ ३३४ ॥

उत्तरहेतोरिति। नहि पूर्वो हेतुः पूर्वहेतुसाध्याभावबोधनसमर्थो येन प्रतिबद्ध उत्त-रहेतुः साध्यं न साधयेदित्यर्थः। ननु पौर्वापर्यं न विवक्षितं किंतु प्रतिहेतुसाध्याभावबो-धनं द्वयोरपि समं कार्यमिति द्वयोरपि सत्प्रतिपक्षत्वमित्याह—प्रतिहेतोरिति। तत्रापि हेत्वोः प्रतिस्वं विश्रान्तमेव परस्परसाध्याभावबोधनं न तूभयसाध्यमेकं कार्यमिति समबलत्वाभावेन द्वयोरसत्प्रतिपक्षत्वापत्तिरित्याह—तत्रेति। ननु हेतुसाध्यबोधनं द्वयो-रपि कार्यं तुल्यमित्यत आह—इत्थमेवेति। हेतोर्यत्साध्यं तद्बोधनमपि भिन्नमभिन्नं वेति नोभयोस्तत्र सामर्थ्यमित्यर्थः। ननु बलं पक्षसत्त्वादि यस्य तुल्यं तद्बोधितसाध्यविपर्यय-कत्वं लक्षणमस्तु तत्र यद्यपि विपक्षः सपक्षो वा नोभयोरेकस्तथापि स्वीयस्वीयेति विशेष्य-तामित्याशङ्कते—अथेति ॥ ३३४ ॥

यदि कहा जाय कि पूर्व हेतु के साध्याभाव के बोधरूप कार्य में तुल्यबलयुक्त हेतु जहां हो, वह सत्प्रतिपक्ष अभिमत है, तो इस प्रकार उत्तरहेतु के सत्प्रतिपक्षरहित होने से, उत्तरहेतु को अपने साध्य के साधकत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि प्रतिहेतु के साध्याभावरूप कार्य में तुल्य बल विवक्षित है, अर्थात् प्रतिहेतु साध्याभावरूप कार्य में तुल्यत्वयुक्त हेतु से जहाँ साध्याभाव बोधित हो, वह सत्प्रतिपक्ष होता है। पूर्वहेतु भी उत्तर हेतु का प्रतिहेतु होता है, अतः प्रतिपक्षकाल में उत्तरहेतु को स्वसाध्यसाधकत्व नहीं हो सकता, तो यह कहना भी युक्त नहीं, वहाँ एक प्रतिहेतु को दूसरे प्रतिहेतु के साध्य के साधन में असामर्थ्य होने से और परस्पर के साध्याभाव के साधन में भिन्न शक्तिवाले होने से ही तुल्यबलवत्त्व की अनुपपत्ति है। इसी प्रकार हेतु से साध्य के विपर्यय (अभाव) के बोधन में तुल्यबलयुक्त हेत्वन्तरवत्त्वरूप लक्षण भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्तरीति से तुल्यबलवत्त्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि अपने अपने प्रकृतसाध्यविषयक जो पक्षसपक्षसत्त्वादिरूप सामर्थ्य है वह प्रतिपक्ष (विरोधी) दोनों हेतुओं में तुल्य रहता है और उसी अभिप्राय से यह समबलत्व का कथन किया जाता है। इससे यह लक्षण सिद्ध होता है कि—पक्षसपक्षसत्त्व-विपक्ष-व्यावृत्तत्व, अबाधितविषयत्वरूप तुल्यबलवाले हेतुओं से बोधितसाध्यविपर्यय वाले हेतु-सत्प्रतिपक्ष कहे जाते हैं, प्रतिपक्षकाल में अपने पक्षसपक्ष में वर्तमानता, विपक्ष में अवर्त-मानता और अपने-अपने साध्यरूप विषय के अबाधितत्व तुल्यभासते हैं। अतः परस्पर

के साध्य के बोधन में दोनों हेतु प्रवृत्त होते हैं। किसी प्रकार एक के विषय के बोध से दूसरे की विजय होती है। परन्तु यह कथन भी युक्त नहीं है ॥ ३३४ ॥

प्रतीयमानभागासिद्धत्वेनापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात्, कियत्यपि पक्षे सत्त्वेनास्य पक्षसत्त्वाभावात्। नचैष्टव्यमेव भागासिद्धेन सत्प्रतिपक्षत्वं प्रतीयमानदोषान्तरेणापि तथा सति सत्प्रतिपक्षत्वस्यैष्टव्यत्वापत्तेः हेत्वाभासान्तरत्वाविशेषात्। न च सर्वपक्षे इति कृते नायन्दोष इति वाच्यं, यत्रैक एव पक्षः प्रतिहेतौ तस्य सत्प्रतिपक्षस्याव्यापनात् तत्र पक्षस्य सर्वशब्दार्थत्वाभावादेव सर्वपक्षसत्त्वाभावेनोक्तलक्षणानुपपत्तेः। एतेन यावदित्यपि पक्षविशेषणे दोष उक्तप्रायः ॥ ३३५ ॥

अज्ञायमानदशायां भागासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षतेत्यत आह—प्रतीयमानेति। ननु भागासिद्धस्यापि भागान्तरे साधकत्वेन सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यत आह—नचेति। हेत्वाभासत्वाविशेषेण व्यभिचारित्वेन ज्ञातेन हि सत्प्रतिपक्षता तथा सति स्यात् भागासिद्धस्य भागान्तरेपि न साधकत्वं हेतुलक्षणायोगादित्यर्थः। ननु पक्षसत्त्वमात्रं न विवक्षितं किंतु सर्वपक्षसत्त्वमिति न भागासिद्धिप्रसङ्ग इत्यत आह—न चेति। सर्वपदस्यानेकाशेषवाचकतया आकाशं नित्यं विभुत्वात् आकाशमनित्यं विशेषगुणवत्त्वे सति महत्त्वादित्यादेः सत्प्रतिपक्षता न स्यादित्यर्थः। प्रतिहेताविति। प्रतिहेत्वोरित्यर्थः। तदेव विशदयति—तत्रेति। एतेनेति। सर्वपदवद्यावत्पदस्याप्यनेकाशेषवाचकत्वादित्यर्थः ॥ ३३५ ॥

पहले अप्रयुक्तत्व कहा गया है। उसमें हेतु देते हैं कि जिस हेतु में भागासिद्धत्व प्रतीयमान है, उस प्रतिहेतु से भी सत्प्रतिपक्षत्व की प्राप्ति होगी, अप्रतीयमान भागासिद्धत्व काल में तो सत्प्रतिपक्षत्व इष्ट ही है, केवल प्रतीयमान काल में अनिष्टत्व की प्राप्ति होगी, कारण यह है कि कुछ पक्ष भाग में रहने से सपक्षत्व का सत्त्व है, उदाहरण के लिए (परमाण्वाकाशौ नित्यौ निरूपद्रव्यत्वात् आत्मवत्) इसका परमाण्वाकाशौ अनित्यौ भूतमहत्त्वात्, घटवत्) इससे सत्प्रतिपक्ष है, क्योंकि भूतमहत्त्व परमाणु में नहीं रहते भी आकाशरूप पक्ष में रहता है। घटादिरूप सपक्ष में भी रहती ही है। यदि कहा जाय कि भागासिद्ध से भी प्रतिपक्षता इष्ट ही है, अतः दोष नहीं है, तो ऐसा होने पर प्रतीयमान दोषान्तर (विरुद्धत्वादि) से भी सत्प्रतिपक्षता की मान्यता की प्राप्ति होगी, क्योंकि भागासिद्धि के साथ अन्य दोषों को हेत्वाऽऽभासत्व तुल्य है, अतः जो भागासिद्धि की गति विधि होगी वही अन्य में भी। यदि कहें कि (सर्वपक्ष सपक्ष में सत्त्व विपक्ष से व्यावृत्तत्व, अबाधितविषयत्व रूप समान बल युक्त हेतु से बोधित साध्य विपर्यय वाला हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है। इस प्रकार सर्व पक्ष ऐसा करने से भागासिद्ध से प्रतिपक्षता नहीं होगी, क्योंकि वह पक्ष के सर्व भाग में नहीं रहता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जहाँ एक ही पक्ष है, वहाँ प्रतिहेतु के रहते भी उस सत्प्रतिपक्ष को लक्षण से व्यापन (संग्रह) नहीं होगा, उस में लक्षण की अव्याप्ति होगी। जैसे कि (आकाशं नित्यं निरूपद्रव्यत्वादात्मवत्, आकाशमनित्यं बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वात्) यहाँ आकाश एक पक्ष है, उसमें सर्व शब्दार्थत्व का अभाव है, क्योंकि, सर्वशब्द अनेक सम्पूर्ण का बाचक होता है। अतः उक्त उदाहरण में सर्व शब्द के अर्थ के अभाव से ही सर्वपक्ष के सत्त्व के अभाव

से उक्त लक्षण की असिद्धि होगी। इसी से यावत् इस पक्ष विशेषण में दोष उक्तप्राय है। अर्थात् सर्व शब्द के समान यावत् शब्द भी अनेक की अशेषता का बोधक होता है। अतः (आकाशं नित्यं विभुत्वात्। आकाशमनित्यं विशेषगुणयुतमहत्त्वात्) इत्यादि में अव्याप्ति होगी। यदि यावत् शब्द का परिमाण अर्थ हो, तो परिमाण भी आकाश में एक विभुत्व है, अनेक नहीं ॥ ३३५ ॥

किञ्चान्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणा केवलव्यतिरेकिणश्चान्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे लक्षणमिदं नास्ति सपक्षसत्तया तुल्यतायास्तत्राभावात्। न च सपक्षसत्तया तुल्येनेति लक्षणे तदनुरोधान्न कर्त्तव्यमेव तथासति असाधारणानैकान्तिकतया निश्चितेनापि सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात्। नचान्वयव्यतिरेकिणैवान्वयव्यतिरेकिणः केवलव्यतिरेकिणैव केवलव्यतिरेकिणः सत्प्रतितक्षता न व्यत्यासेनापीति नियमोऽभ्युपगन्तुं शक्यः उभयोरप्यनवगम्यमानदोषान्तरत्वदशायामेकसम्बन्धिनो दोषस्यावश्यंभावितयैकतरस्य व्याप्यत्वपक्षधर्मत्वावगमो मे भ्रान्तिरिति बुद्धिमाधाय प्रतिपित्तुर्निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धमाधातुम्। केवलव्यतिरेकिण्यन्वयव्यतिरेकिणोऽन्वयव्यतिरेकिणि च केवलव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः समर्थत्वस्य दुरपवादत्वात् ॥ ३३६ ॥

पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वानि पञ्चरूपाण्यन्वयव्यतिरेकिमात्रे केवलान्वयिनि विपक्षाप्रसिद्धया विपक्षावृत्तित्वं नास्ति केवलव्यतिरेकिणि सपक्षवृत्तित्वं नास्ति तथाचैकरूपहीनतया हीनबलत्वेन सत्प्रतिपक्षत्वं तत्र न स्यादित्याह—किञ्चेति। ननु सपक्षसत्त्वेनापि तौल्यं न विवक्षितं येन व्यतिरेकी हीनबलः स्यादित्यत आह—नचेति। तदविवक्षायां निश्चितासाधारण्येपि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यर्थः। ननु यावन्ति रूपाणि यस्य तस्य तावद्रूपसम्पन्नेनैव सत्प्रतिपक्षत्वमस्तु नतु व्यत्यासेनेत्यत आह—नचेति। केवलान्वयिनि केवलान्वयिनैवेत्याशङ्कायां पूरणीयं व्यत्यासेनापि सत्प्रतिपक्षतायाः सम्भवान्नायं नियम इत्याह—उभयोरिति। एकसम्बन्धिनो दोषस्येत्यादिबुद्धिविषयस्योपवर्णनं भ्रान्तिरिति बुद्धिमाधायेति सम्भावनामात्रेणोक्तं नत्वेतदावश्यकं कतरोऽत्र व्याप्त इति जिज्ञासाफलकत्वात् सत्प्रतिपक्षस्य निश्चयोत्पत्तिप्रतिबन्धकतायामेव तात्पर्यात्। केवलव्यतिरेकिणीति। केवलान्वयिन्यपि व्यत्यासो योज्यः ॥ ३३६ ॥

और पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्वादिरूप से तुल्यबलत्व को मानने पर अन्वयव्यतिरेकि हेतु को केवल व्यतिरेकी हेतु से सत्प्रतिपक्षता नहीं होगी। केवल व्यतिरेकी की अन्वयव्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्षता नहीं होगी, अर्थात् इन सत्प्रतिपक्षों में इस लक्षण की अव्याप्ति होगी, वहाँ यह लक्षण है नहीं, क्योंकि केवलव्यतिरेकी में सपक्षसत्त्व के नहीं रहने से वहाँ तुल्यता का अभाव रहता है। उदाहरणार्थ (आत्मा स्वव्यवहारहेतुस्वयंप्रकाशः, अदृष्टत्वात् = यन्नैव तन्नैवं यथा घटः। आत्मा प्रत्यक्षः, महत्त्वे सति–अश्रावणविशेषगुणवत्त्वात्, घटवत्) यहाँ केवलव्यतिरेकी के साथ अन्वयव्यतिरेकी को सत्प्रतिपक्षता है (विवादपदं सर्वं चित्कर्तृकम्, सावयवत्वात्। विवादपदम् अकर्तृकम् शरीरजन्यत्वादात्मवत्) यहाँ अन्वयव्यतिरेकी के साथ केवलव्यतिरेकी की सत्प्रतिपक्षता है। यदि कहा जाय कि उक्त लक्ष्य के अनुरोध से (उसमें अव्याप्ति वारण के लिये) लक्षण में सपक्षसत्त्व से तुल्यत्व प्रवेश नहीं करना चाहिये, तो यह

कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर (शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् । शब्दो नित्यः आकाशविशेषगुणत्वात्) सपक्षसत्त्व के नहीं रहते भी असाधारणत्व के ज्ञान काल में भी सत्प्रतिपक्षता की प्राप्ति होगी। क्योंकि पक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वादि तुल्यबलता है। पक्षसत्त्व कहने पर यहाँ सत्प्रतिपक्षता नहीं होती है। यदि कहा जाय कि ऐसा नियम करेंगे कि अन्वयव्यतिरेकी के साथ ही अन्वयव्यतिरेकी की और केवलव्यतिरेकी के साथ ही केवलव्यतिरेकी की सत्प्रतिपक्षता होती है, इसको अपेक्षा व्यत्यास (विपरीत) रूप से नहीं, अतः उक्त दोष की प्राप्ति नहीं होगी, तो कहा जाता है कि यह नियम नहीं माना जा सकता। क्योंकि दो विरोधी हेतुओं में से जब एक में बाध एवं विरुद्धादि दोषों का ज्ञान हो जाता है, तब दूसरा सद्धेतु ही सिद्ध होता है, उससे अनुमिति होती है। परन्तु दोनों में ही दोषन्तर के अज्ञान दशा में भी एक सम्बन्धी दोष के अवश्य होने से (एकवस्तु में नित्यत्व एवं अनियत्व के साधक विरुद्ध दोनों हेतु के निर्दोष नहीं हो सकने से) एक हेतु के व्याप्यत्व पक्षधर्मत्व का ज्ञान मुझे भ्रम स्वरूप है। इस प्रकार विचारक की बुद्धि सिद्ध करके उसके एक साध्यविषयक निश्चय की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध (निरोध) करने के लिये केवलव्यतिरेकी में अन्वयव्यतिरेको प्रतिहेतु के तथा अन्वयव्यतिरेकी हेतु में केवलव्यतिरेकी हेतु समर्थत्व (शक्ति) को दुरपवादता (अनिवार्यता) है। अतः उक्त नियम नहीं हो सकने से सत्प्रतिपक्षता होगी, और एक में सपक्षसत्त्व के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति होगी ॥ ३३६ ॥

एतदेव च सत्प्रतिपक्षस्य दोषत्वाभ्युपगमे मूलं यन्नाम व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिरस्मिन् सति न भवितुमर्हति। अथाभिधत्से पक्षसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्त्यबाधितविषयत्वयोगिना बोधितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्ष इति, न, निरस्तप्रायत्वात्, पक्षपदे सर्वशब्दविशेषणप्रक्षेपपक्षोक्तदूषणस्य केवलव्यतिरेकिण्यव्यापकत्वस्यापि भावात्। किंच सोपाधिकमसिद्धभेदं वदतां मते सोपाधितया निश्चीयमानेपि सर्वं यथोक्तमिदं लक्षणमस्तीति तेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यात् ॥ ३३७ ॥

भ्रान्तिरिति बुद्धिमाधायेत्यंशमपहाय पर्यवसन्नं दूषकतामूलमाह—एतदेव चेति। अथाभिधत्स इति। तुल्यबलत्वगर्भलक्षणे किम्बलमितिजिज्ञासायां पूर्वं पक्षसत्त्वाद्युक्तमिदानीं स्वतन्त्रमेव लक्षणान्तरमाशङ्कितमित्यपौनरुक्त्यं—योगिनेति। योगित्वेन ज्ञायमानेनेत्यर्थः अन्यथाऽसम्भवात्। निरासप्रकारमेव स्फुटयति—पक्षपदे इति। प्रक्षेपे यत्रैक एव पक्षः तत्र सत्प्रतिपक्षाव्याप्तिरप्रक्षेपे भागासिद्धेनापि सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। केवलव्यतिरेकिणीत्युपलक्षणं केवलान्वयिनीत्यपि द्रष्टव्यम्। अनयोः सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिविरहस्य यथासम्भवमभावादित्यर्थः। किंचेति। अनौपाधिकत्वं व्याप्तिरितिमते सोपाधित्वमेव व्याप्तिविरहस्तथाचोपाधिर्विपक्षसत्त्वोन्नायकतया न दोषः किंतु व्याप्तिविरहरूपतयैव तथाच सोपाधित्वेनापि ज्ञायमानस्य प्रतिहेतोः पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्त्यबाधितत्वानि रूपाणि सन्तीति तेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यर्थः। एतदर्थमेवासिद्धभेदं वदतामित्युक्तमुपाधेर्व्यभिचारोन्नायकतापक्षे नायं दोषः तत्र विपक्षव्यावृत्तेरभावादित्यर्थः॥

यदि कहा जाय कि उक्तरीति से केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी में परस्पर विरोध होते भी सत्प्रतिपक्षता नहीं हो, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सत्प्रतिपक्षत्व

के दोषत्व के स्वीकार में यही मूल हेतु है कि जो इस प्रतिपक्षत्व के रहते व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रमिति नहीं है, वह उन विरुद्ध हेतुओं में भी है। इस अवस्था में यदि यहाँ सत्प्रतिपक्षता नहीं हो तो कहीं नहीं होगी। यदि कहें कि पक्षसपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्व-अबाधितविषयत्व से युक्त हेतु द्वारा बोधित स्वसाध्यविपर्यय वाला हेतु सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यह प्रायः प्रथमनिरस्त हो चुका है। पक्षपद में सर्व विशेषण के प्रक्षेप (प्रदान) पर एकव्यक्ति वाले पक्ष में अव्याप्ति होगी अप्रक्षेप में भागासिद्ध से सत्प्रतिपक्षता होगी। और सपक्षत्व के अभाव से केवलव्यतिरेकी में भी अव्याप्ति है। विपक्ष विरह के अभाव से केवलान्वयी में दोष है। और सोपाधिक असिद्ध भेद (प्रकार) को मानने वालों के मत में सोपाधिक रूप से निश्चित भी हेतु में यह लक्षण रहता है। अतः उस सोपाधिक हेतु से भी सत्प्रतिपक्षता होगी। उक्त मत में उपाधि विपक्षसत्त्वादिरूप से हेतु का दूषण नहीं होता, किन्तु अनौपाधिकत्व व्याप्ति होती है, सोपाधिकत्व व्याप्ति का अभाव रूप होता है। अतः सोपाधित्वरूप से ज्ञात हेतु में भी पक्षसपक्षसत्वादि लक्ष० रहता है। (पार्थिवपरमाणु के रूप रसगन्धस्पर्श, पाकज होने से घटरूपादि के समान अनित्य हैं)। पार्थिव परमाणु के रूपादि, परमाणु के रूपादि होने से जलीय परमाणु के रूपादि के समान नित्य है। यहाँ भाव कार्यत्वरूप उपाधि से निश्चित व्याप्यत्वासिद्ध हेतु से सत्प्रतिपक्षता होगी ॥ ३३७ ॥

अथ ब्रूषे असिद्धत्वविरुद्धत्वानैकान्तिकत्वाबाधितविषयत्वहीनेन बोधितसाध्यासत्वः प्रकरणसम इति, नैतदपि सुस्थम्, आपाततोऽस्फुरद्दोषेण वस्तुगत्या चासिद्ध्यादिदोषवता सत्प्रतिपक्षतास्वीकारात्तदव्यापकत्वात्। किञ्च विरुद्धार्थगोचरयोः सत्प्रतिपक्षहेत्वोर्मध्येऽवश्यमन्यतरस्यासिद्ध्यादिदोषेण भवितव्यमन्यथा धर्मिणो विरुद्धधर्माध्यासप्रसंगात् ॥ ३३८ ॥

असिद्धत्वेति। सोपाधौ तु नासिद्धत्वहीनत्वमिति न तेन सत्प्रतिपक्षत्वमिति भावः। अव्यापकत्वं लक्षणदोषमाह—आपातत इति। अज्ञायमानासिद्ध्यादिदोषवता सत्प्रतिपक्षे तद्धीनत्वं नास्तीतितत्राव्याप्तिरित्यर्थः। लक्षणे सम्भवदोषमाह—किञ्चेति। सद्धेतुना सद्धेतुरेव सत्प्रतिपक्षितो न भवति धर्मिणो विरुद्धद्वैरूप्यापत्तेः तथाचैकतरेणावश्यमाभासेन भवितव्यमित्यसिद्ध्यादिदोषहीनेन लक्षणमसम्भवीत्यर्थः ॥ ३३८ ॥

यदि कहें कि असिद्धत्व विरुद्धत्व-अनैकान्तिकत्व और बाधितविषयत्व से हीन हेतुद्वारा बोधित साध्यविपर्यय हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है। अतः भागासिद्धादि से सत्प्रतिपक्षता नहीं हो सकती है। और सोपाधिहेतु में भी असिद्धत्व से हीनत्व नहीं रहता है, अतः उससे सत्प्रतिपक्षता नहीं हो सकती, तो इसका उत्तर यह है कि यह लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि आपाततः जिस हेतु के दोष प्रकाशित नहीं हो और वस्तुतः वह हेतु असिद्धि आदि दोष वाला हो, तो उससे भी सत्प्रतिपक्षता का स्वीकार किया जाता है। और लक्षण के अनुसार वस्तुतः असिद्धि आदिदोष हीन से सत्प्रतिपक्षता सिद्ध होती है, अतः यहाँ लक्षणा की अव्याप्ति होगी। और असिद्धि दोष की प्रतीति से रहितता कहें तो वह भी असंभव है, क्योंकि एक

शब्दादि में नित्यत्व तथा अनित्यत्व विरुद्धार्थविषयक सत्प्रतिपक्षहेतुओं में अन्यतर में अवश्य असिद्धि आदि दोष ज्ञेय है। अन्यथा दोनों के सद्धेतु होने पर धर्मी में विरुद्ध धर्माध्यास (विरुद्ध द्विरूपता) प्राप्त होगा अतः यह लक्षण असम्भव दोषग्रस्त है ॥ ३३८ ॥

तत्रैकस्य व्यवच्छिद्यदोषानिश्चयात् प्रतिहेतावप्यसिद्धत्वादिशङ्कायामापतितायामसिद्ध्यादिहीनेनेति लक्षणांशस्यानिश्चयात् लक्षणस्य दुरवधारणत्वम्। न च वाच्यं किमर्थं सत्प्रतिपक्षहेत्वोरन्यतरस्यासिद्ध्यादिकमवश्यमभ्युपेयं सत्प्रतिपक्षतालक्षणदोषदुष्टत्वादेव तयोर्न धर्मिणो विरुद्धधर्माध्यस्तत्वमापत्स्यते इति, यतोऽवश्यं दुष्टे हेतौ व्याप्तेः पक्षधर्मताया वाऽभावेन भवितव्यं तत्सत्त्वाभ्युपगमे साध्यसत्ताया अप्यभ्युपगमप्रसङ्गात् ॥ ३३९ ॥

ननु द्वितीयहेतोरसिद्ध्यादिराहित्येपि सत्प्रतिपक्षता भवत्येवेति कथमसम्भव इत्यत आह—तत्रैकस्येति। तथापि द्वितीयस्यासिद्ध्यादिविरहित्वं दुर्ज्ञानमित्यसम्भव एव लक्षणदोष इत्यर्थः। ननु वस्तुद्वैरूप्यापत्तिभयेनैकतरस्याभासत्वमवश्यं वाच्यं तच्च द्वयोः सत्प्रतिपक्षितत्वेनैव सिद्धमित्यसिद्धत्वादिसत्त्वमनावश्यकमित्यत आह—न च वाच्यमिति। पक्षधर्मताया वेति। शब्दोऽनित्यः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वादित्यादावित्यर्थः। तत्सत्तेति। व्याप्तिपक्षधर्मतोभयसत्त्वाभ्युपगम इत्यर्थः ॥ ३३९ ॥

यदि सत्प्रतिपक्षस्थान में एक हेतु के दोषग्रस्त होते भी दूसरे हेतु के दोष रहित होने से उक्त लक्षण हो सकता है, असम्भव नहीं, ऐसा कहा जाय, तो उत्तर यह है कि प्रतिपक्ष काल में एक हेतु के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) पूर्वक दोष के अनिश्चय से, प्रतिहेतु (दूसरे हेतु) में भी असिद्धित्वादि दोषों की शंका होने पर असिद्ध आदि से हीन, इस लक्षणांश के अनिश्चय से लक्षण में दुर्ज्ञेयत्व ही है। यदि कहा जाय कि विरुद्ध द्विरूपता का निवारण के लिये एक हेतु को अवश्य असिद्धादि दोषयुक्त मानने की आवश्यकता नहीं है, अतः सत्प्रतिपक्ष हेतुओं में से 'एक में असिद्धि आदि क्यों मानना चाहिये, वहाँ सत्प्रतिपक्षतारूप दोष से दुष्टता होने के कारण उन दोनों हेतुओं के धर्मी को विरुद्ध धर्माध्यस्तत्व नहीं होगा, दुष्ट हेतु से कोई साध्य ही नहीं सिद्ध होगा, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि सत्प्रतिपक्षता से या किसी प्रकार से दुष्ट हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता का अभाव अवश्य होता है, क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता को मानने पर साध्यसत्ता को अवश्य मानना होगा, क्योंकि व्याप्य की सत्ता रहते व्यापक की अवश्य सत्ता रहती है, अतः विरुद्ध हेतु के पक्षधर्मता आदि मानने पर विरुद्ध धर्माध्यास धर्मी में होगा ही ॥ ३३९ ॥

"बाधादीनामप्युपाधिरव्यापनादिद्वारा व्याप्त्यादिभङ्ग एव पर्यवसाना—त्सत्प्रतिपक्षत्वादुन्नीयमानोपि व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गो न विशिष्यैकस्मिन् हेतौ निर्णेतुं शक्यः। अन्यतरस्मिन् व्याप्त्यादिभङ्गेनापि सत्प्रतिपक्षत्वस्योपपत्तेः। अतोऽविशेषनिष्ठतया तदुन्नयने स्थिते यदि साक्षादसावधार्यते तदानीमसिद्धिः। अथ लिङ्गेनोन्नीयते, तदा नैकान्तिकादेरन्यतमं दूषणं वस्तुगत्यास्ति सत्प्रतिपक्षे तत्कथमसिद्ध्याद्यन्यतमं नाभ्युपेयं तत्र ॥ ३४० ॥

ननु बाधे व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्नैकतरस्यापि भङ्गोऽथ च न वस्तुसिद्धिरित्यत आह—बाधादीनामिति। बाधे पक्षेतरत्वोपाधेरावश्यकत्वादुपाधौ चावश्यं व्यभिचारादित्यर्थः।

नन्वेवं यत्र व्याप्तिपक्षधर्मतान्यतरभङ्गनिश्चयस्तेन हीनबलेन सत्प्रतिपक्षः कथं स्यादित्यत आह—सत्प्रतिपक्षत्वादुन्नीयमान इति। स्यादेवं यदि विशेषनिष्ठतया दोषः स्फुरेन्नत्वेवमित्यर्थः। अनयोरन्यतरदुष्टं सत्प्रतिपक्षत्वादित्यविशेषेण दोषवत्त्वमात्रनिश्चये कुत्र तदिति विशेषजिज्ञासायां यत्र लिङ्गानुसन्धानमन्तरेण व्याप्तिपक्षधर्मतयोरन्यतरभङ्गनिश्चयस्तत्रासिद्धिः। यत्र तु विरुद्धत्वानैकान्तिकत्वादिना व्याप्तिपक्षधर्मतान्यतरभङ्गज्ञानं तत्रोपजीव्यत्वेन विरुद्धाद्यन्यतमस्य हेत्वाभासत्वमितिवस्तुगतिकथनमात्रम् ॥ ३४० ॥

यदि कहा जाय कि व्याप्ति भङ्गादि की अपेक्षा के बिना जैसे बाधादि में दोषत्व है, वैसे सत्प्रतिपक्ष में भी बाधादि निरपेक्ष ही दोषत्व है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि बाधादि का भी उपाधि के बोधन द्वारा व्याप्ति के अभाव में ही तात्पर्य रहता है, और व्याप्ति के अभाव द्वारा दोषत्व सिद्ध होता है, वैसे ही सत्प्रतिपक्ष भी निरपेक्ष दोष नहीं होता है। जहाँ बाध होता है, वहाँ पक्षेतरत्वोपाधि अवश्य रहती है। यदि कहा जाय कि जिस हेतु में व्याप्ति-पक्षधर्मता के अभाव का निश्चय होगा, उस हीनबल वाले हेतु से सत्प्रतिपक्ष कैसे हो सकता, तो उत्तर यह है कि सत्प्रतिपक्षता से अनुमीयमान भी व्याप्ति पक्षधर्मता का अभाव विशेषरूप से एक हेतु में निर्णय नहीं किया जा सकता और पूर्व एक हेतु में भी व्याप्ति आदि के अभाव से, सत्प्रतिपक्षता की सिद्धि होती है। इस प्रकार प्रतिपक्ष होने पर और सामान्य रूप से दोष के अनुमान होने पर इन दोनों हेतुओं में एक दुष्ट होता है क्योंकि, सत्प्रतिपक्षता है। सामान्य ज्ञान के स्थिर होने पर, फिर विशेष की जिज्ञासा होने पर यदि लिङ्गानुसंधान (चिन्तन) आदि के बिना व्याप्ति के अभावादि का निश्चय किया जाय, तो असिद्धि कही जाती है। और जब लिङ्गादि के चिन्तनादि द्वारा व्याप्ति भङ्गादि ज्ञात होते हैं, तब अनैकान्तिकादि कोई दूषण वस्तुतः सत्प्रतिपक्ष में रहता है। तब उस सत्प्रतिपक्ष में असिद्धि आदि नहीं माने जाँय, यह कैसे हो सकता है ॥ ३४० ॥

तस्मात्तस्य दोषस्य कुत्र द्वयोर्मध्येऽस्तित्वमस्तीत्यन्यतरानिर्धारणे प्रतिहेतावपि तच्छङ्कायां सत्यामसिद्ध्यादिहीनेनेति लक्षणांशस्य दुरवधारणत्वं दुष्परिहरमेव। स्यादेतत् अस्तु लक्षणांशस्यासिद्ध्यादिहीनत्वस्यानिश्चयः, संशयोऽपि तावदस्ति तत्संशयेन शङ्कितसत्प्रतिपक्षतादोषग्रस्तत्वादेवासाधकत्वे दूष्यानुमानस्य शङ्कितोपाधाविवासिद्धिशङ्कया। न च यामसिद्ध्याशङ्कामुपजीव्य सत्प्रतिपक्षताशङ्कादोषः स्यात् सैव तदा दोष इति वाच्यम्, असिद्ध्यादिशङ्काया एव तादृशप्रतिहेतुदर्शनमूलकतया तदुपजीवकत्वादिति मैवम् ॥ ३४१ ॥

ननु प्रथममेव दुष्टमस्तु तथाप्यसिद्ध्यादिहीनेन बोधितसाध्यासत्त्वः सत्प्रतिपक्ष इति लक्षणं सुग्रहमेवेत्यत आह—तस्मादिति। यद्यपि द्वयोरपि परस्परं सत्प्रतिपक्षत्वमेव अन्यथान्यतरस्यानुमापकत्वं स्यादिति द्वितीयानुमाने तदवधारणत्वाभिधानमयोग्यं तथापि तेनैव रूपेण लक्षणकरणात्तथोक्तम्। नन्वसिद्ध्यादिहीनत्वानिश्चये तद्गर्भं सत्प्रतिपक्षत्वं मा निश्चीयतां सन्देहस्तु स्यादेव तथाच सन्दिह्यमानसत्प्रतिपक्षत्वमसाधकत्वसाधनसमर्थं हेत्वाभासान्तरं सिद्धमेवेति शङ्कते—स्यादेतदिति। ननु सन्दिह्यमानसत्प्रतिपक्षत्वमप्यसिद्ध्यादिदोषसन्देहाधीनमित्यसिद्ध्यादिदोषसन्देहादसाधकत्वं सिद्धं किं शङ्कितसत्प्रति-

पक्षत्वेन हेत्वाभासान्तरेणेत्यत आह—नचेति । प्रतिहेतूपस्थितिं विना स्थापनाहेतौ नासिद्धयादिसन्देह इति प्रतिपक्षस्यैवोपजीव्यत्वेन दोषत्वमित्यर्थः ॥ ३४१ ॥

यदि कहा जाय कि प्रथम हेतु के दुष्ट होते भी दूसरा असिद्धादि दोष रहित हेतु से जहाँ प्रथम हेतु के साध्य का अभाव बोधित हो, वह सत्प्रतिपक्ष है, ऐसा लक्षण हो सकता है, तो उत्तर यह है कि उक्त हेतु से असिद्धि आदि दोष दोनों हेतुओं में से किसका है ? यह निश्चय नहीं होने पर प्रतिहेतु (दूसरा प्रतिवादी के हेतु) में भी उस दोष की शंका होने पर, असिद्धयादि हीन, इस लक्षणांश की दुरवधारणता दुष्परिहार्य ही है । शंका यह होती है कि इस लक्षणांश में असिद्धि आदि हीनत्व का अनिश्चय हो, तथा असिद्धयादि हीनत्वयुक्त लक्षण भी सत्प्रतिपक्ष नहीं हो, तो भी प्रतिपक्ष स्थान में असिद्धि आदि की शंका तो होती ही है । अतः असिद्धि आदि के संशय से शंकित सत्प्रतिपक्षतारूपग्रस्त होने से ही दूष्य अनुमान (हेतु) को शंकित उपाधि के समान असिद्धि की शंका से ही असाधकत्व होगा । यदि कहें कि जिस असिद्धि आदि शंका को उपजीव्य = आश्रयणकरके सत्प्रतिपक्षता की शंकारूप दोष होता है । तो वह असिद्धि आदि की शंका वहाँ दोष है, सत्प्रतिपक्ष नहीं, तो यह कहना युक्त नहीं । क्योंकि असिद्धि आदि की शंका हो विरोधी शंका जनक प्रतिहेतुदर्शनमूलक होने से सत्प्रतिपक्ष का उपजीवक (कार्य) होता है, अतः सत्प्रतिपक्ष को ही दोषरूप से मानना उचित है, इस शंका का उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता ॥ ३४१ ॥

यतः शङ्कितोपाधिनाऽसिद्धेनाप्येवं सतिसत्प्रतिपक्षता प्रसज्येत । ननु भवत्वेवमपि तेन किं नाम भवेत्, तस्यासिद्धतया हीनबलस्य सिद्धयादिमता पक्षबाधं विधूय न किञ्चिदन्यद् , बाधादेव तर्हि तेन सत्प्रतिपक्षता इति चेन्न, सन्दिह्यमानासिद्धतया सत्प्रतिपक्षहेतोरपि तर्हि कथं परहेत्वसाधकत्वप्रसाधकत्वं भविष्यति, हेत्वाभासत्वाविशेषात् ॥ ३४२ ॥

यथा प्रतिहेतून्नीतदोषवतापि सत्प्रतिपक्षत्वं तथा स्वरसत एव यत्रोपाधिसन्देहस्तादृशेनापि सत्प्रतिपक्षत्वं स्यादित्याह—यत इति । ननु निश्चितोपाध्यादिदोषवता सत्प्रतिपक्षो नेष्यते सन्दिग्धदोषेण त्विष्यत एवेत्याह—नन्विति । सन्दिग्धोपाधिरपि यत्र प्रतिहेतुरुपन्यस्ते तत्र तस्य हीनबलत्वेन बलवता स्थापनानुमानेन बाध्यतेति तत्साध्यविपरीतप्रमाजननात्प्रतिहेतोः पक्षबाध एव स्यादित्याह—तस्यासिद्धतयेति । ननु तत्र बलवता स्थापनानुमानेन प्रतिहेतोः साध्यं बाधितं चेत्तदा शङ्कितोपाधिना सत्प्रतिपक्षत्वं यदापादितं तन्न स्यादेवेति शङ्कते—बाधादेवेति । स्वारसिकसन्देहविषयोपाधिमता यथा न सत्प्रतिपक्षत्वं हीनबलत्वात्तथा प्रतिहेतूपस्थितिसन्दिह्यमानासिद्धयादिमतापि भवदभ्युपगतेन कथं सत्प्रतिपक्षता स्यात् दोषसन्देहस्य हीनबलत्वाप्रयोजकस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् तथा चेदमसाधकं सत्प्रतिपक्षत्वादितिहेतुना स्थापनानुमानस्यासाधकतासाधनं न स्यादित्याह—सन्दिह्यमानेति । ननूपाधिसन्देह एव हीनबलत्वाप्रयोजको नत्वसिद्धयादिसन्देहोपि तथाच सन्दिह्यमानासिद्धयादिदोषवत्ता भवति सत्प्रतिपक्षत्वं नतु स्वारसिकसन्देहविषयोपाधिमतेत्यत आह—हेत्वाभासत्वाविशेषादिति ॥ ३४२ ॥

क्योंकि, शंकित असिद्धि आदि दोषयुक्त हेतु से जैसे सत्प्रतिपक्षता मानते हैं, उसी प्रकार शंकित उपाधि से जहां व्याप्यत्वासिद्धि की शंका होगी, वहां सत्प्रतिपक्षता की प्राप्ति होगी, अर्थात् वहां असिद्धि दोष नहीं होकर सत्प्रतिपक्ष दोष ही होगा । यदि कहें

कि निश्चित उपाधिवाले हेतु द्वारा सत्प्रतिपक्ष नहीं माना जाता है, अतः वहां उपाधि-द्वारा असिद्धि हेतु का दोष मान्य है। परन्तु जहां सन्दिग्धोपाधि हो, वहां सत्प्रतिपक्ष इष्ट ही है, उससे हानि क्या है ? तो उत्तर यह है कि उस प्रतिहेतु के बाद शंका से असिद्धता के कारण पूर्व पक्ष के बाध के विधूनन (अभाव) के सिवा अन्य दोष नही है। अर्थात् असिद्ध हेतु से पूर्वपक्ष का बाध नहीं होने पर सत्प्रतिपक्षता नही हो सकती। यदि कहें कि बाध से ही उस सन्दिग्ध बाधयुक्त हेतु से प्रतिपक्षता नहीं मानी जायगी, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि जहां प्रतिपक्षरूप हेतु के दर्शन से बाध की शंका होती है, वहां सन्दिह्यमान असिद्धिता के कारण पर हेतु के असाधकत्व का बोधकत्व कैसे होगा ? अतः दोषवत्ता से दोनों हेतुओं में हेत्वाभासत्व के तुल्य होने से कोई किसी के साध्याभाव का बोधक नहीं हो सकता, उपाधि का संदेह हीनबलवत्ता का हेतु है, असिद्धि आदि का संदेह नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता, उपाधि असिद्धि में भी हेत्वाभासता तुल्य है ॥ ३४२ ॥

हेत्वाभासान्तरं न दोषसंशयापादकमतो नैवम् इति चेन्न, तर्हि यमुपाधिमुपादाय न्यूनबलतया बाध्यता तमादायैव तथाविधोपाधेर्दोषसंशयक्षमत्वादेव। किञ्च क्वचित्सत्प्रतिपक्षत्वनिश्चयाभावे संशयानुपपत्तिः ॥३४३॥

ननु येन दोषेण सोपाधित्वादिना त्वया हीनबलस्य सत्प्रतिपक्षत्वमापाद्यते स दोषः संशयापादको न भवति प्रतिपक्षत्वनयोरन्यतरदुष्टमित्याकारेण संशयापादक इति कथं न हेत्वाभास इत्याह—हेत्वाभासान्तरमिति । स्वारसिकसन्देहविषयो यत्रोपाधिस्तत्रापि तेनासिद्ध्यादिसन्देह आपादयितुं शक्यत एवेति न विशेष इत्याह—तर्हीति। यद्वा असाधकतानुमितौ सत्प्रतिपक्षत्वं हेतुरसिद्धस्तद्धि दोषशून्येन प्रतिहेतुना बोधितसाध्यविपर्ययत्वम्। नचात्र दोषशून्यत्वमित्यत आह—सन्दिह्यमानेति । हेत्वाभासत्वेति। सन्दिग्धोपाधिवत्सत्प्रतिपक्षत्वस्यापि सन्दिग्धासिद्ध्या हेत्वाभासत्वाविशेषादित्यर्थः । हेत्वाभासान्तरमिति । सन्दिग्धोपाधिरूपं हेत्वाभासान्तरं न सत्प्रतिपक्षत्वसन्देहापादकमधिकबलप्रथमहेत्वपेक्षया हीनबलत्वात्सत्प्रतिपक्षस्तु सत्प्रतिपक्षत्वरूपदोषसन्देहापादक इति सन्दिग्धोप्ययं दोषो भविष्यतीत्यर्थः। तर्हीति। उपाधिसन्देहेन प्रत्यनुमानस्य सन्दिग्धासिद्धिदोषापादकत्वेन सत्प्रतिपक्षसन्देहापादकत्वात् सत्प्रतिपक्षेप्यसिद्धिसन्देहस्य सत्त्वादित्यर्थः। किञ्च सत्प्रतिपक्षत्वसन्देहोपि तथा स्याद्यदि सत्प्रतिपक्षत्वं क्वापि निश्चीयेत कोटिनिश्चयं विना संशयानुपपत्तेः प्रकृते तूक्तरीत्या सत्प्रतिपक्षत्वनिश्चयो नास्त्येवेत्याह—किञ्चेति ॥ ३४३ ॥

यदि कहा जाय कि शंकित उपाधि से शंकित असिद्धिरूप हेत्वाभासान्तर नहीं होता, क्योंकि हेत्वाभासान्तर संशय का हेतु नहीं है और सत्प्रतिपक्ष संशय का हेतु है, अतः यह दोष है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि जिस उपाधि को ग्रहण करके न्यूनबलता से बाध्यता मानी जाती है, उस बाध्यता का ही ग्रहण करके उस प्रकार के उपाधि को दोष के संशय की क्षमता (योग्यता) होती है। अतः उपाधि से ही संशय होने से परस्पर अनुमिति निरुद्ध हो जाती है, सत्प्रतिपक्ष से नहीं। और असिद्धि आदि दोषरहित कहीं सत्प्रतिपक्षत्व का निश्चय हो, तो शंकित सत्प्रतिपक्षत्व हो सकता है। कहीं केवल सत्प्रतिपक्षत्व के निश्चय के अभाव से उसके संशय की भी

अनुपपत्ति है। अतः असिद्धि आदि की शंका से सत्प्रतिपक्षत्व की शंका भी नहीं हो सकती ॥ ३४३ ॥

अथान्यथाकारं लक्षणमभिधत्से असिद्धिविरोधव्यभिचारकालात्ययापदेशविरहितया प्रतीयमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः स प्रकरणसम इति। एतदपि न विचारसहम्, केन तथा प्रतीयमानत्वमभिमतम्, किम्प्रत्यनुमानप्रयोक्त्रा १, अथ प्रथमानुमानवादिना २, द्वाभ्यामपि वा ३, येन केनचिद्वा ४ न तावदाद्यः स्वयं दोषं जानतोपि दूषणान्तरापरिस्फूर्तौ यद्यस्य दोषं न प्रतिसन्धास्यति तदानीमभीष्टमेव। अथ प्रतिसन्धास्यति तदानीमन्यथापि ममास्फुरद्दोषान्तरस्य पराजयोनेन कक्षान्तरारूढायाङ्कथायां शाखान्तरं वा सङ्क्रमितुमवकाशमासादयिष्यामीत्यभिप्रायवतोल्पप्रज्ञस्य, मयि वदत्यसत्पक्षोपि निर्वहतीति लोके प्रकर्षप्रदर्शनार्थम् कथमपि ग्रन्थकारादिभिरुक्तस्य वा तथाविधप्रतिहेतोर्निर्वाहार्थमन्यानुयुक्तस्य प्रौढप्रज्ञस्य स्फुटदोषेणापि प्रतिहेतुना सत्प्रपिक्षकरणदर्शनात् ॥ ३४४ ॥

नन्वसिद्धत्वादिराहित्यं वास्तवं न विवक्षितमपि तु तद्वत्तया प्रतीयमानत्वमात्रं तथा च नासम्भवो न वा दुरवधारणत्वमिति शङ्कते—अथेति। असिद्धयादिदोषवत्तया निश्चीयापि प्रतिहेतुवादिना सत्प्रतिपक्षकरणादव्यापकतेत्याह—नतावदिति। यद्यस्येत्याद्यल्पप्रज्ञाभिप्रायवर्णनमपि वदतीत्यादिप्रौढप्रज्ञाभिप्रायवर्णनमयं दुष्टत्वेन ज्ञायमानोपि हेतुस्त्वया निर्वाह्यतामित्यन्येनानुयुक्तस्येत्यर्थः ॥ ३४४ ॥

यदि पूर्ववर्णित की अपेक्षा अन्य प्रकार से लक्षण मानें कि असिद्धि, विरोध, व्यभिचार, कालात्ययापदेश (बाध) दोष हों, तो भी इनसे रहितरूप से ज्ञायमान हेतु से जिस हेतु के साध्य का अभाव बोधित होता है, वह हेतु प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) कहा जाता है, तो यह लक्षण भी विचारने पर साध्यसिद्ध होने योग्य नहीं है, क्योंकि असिद्धि आदिरहितरूप से प्रतीयमानत्व किससे विवक्षित हो सकता है ? क्या प्रतिअनुमान (प्रथम हेतु से विपरीत हेतु) के प्रयोक्ता से ? या प्रथम अनुमान प्रयोक्ता से ? या दोनों से ? अथवा जिस किसी से ज्ञायमानत्व अभिमत है ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि जिस अल्पज्ञ प्रतिप्रयोक्ता को वादी के हेतु में असिद्धि आदि दोषों की स्फूर्ति (ज्ञान) नहीं होती है जिसका उद्भावन कर सके और अपने प्रतिप्रयोक्तव्य हेतु में स्वयं दोष जानता है, दोषरहित हेतु का स्फुरण नहीं होता है, तो ज्ञात दुष्टहेतु से भी वह प्रतिपक्ष करता है और इस आशय से प्रतिपक्ष करता है कि वादी यदि इस मेरे दुष्ट हेतु के दोष का प्रतिसंधान (चिन्तन) नहीं कर सकेगा, तो इस दुष्ट हेतु से ही मेरा इष्ट (विजय) सिद्ध होगा। और यदि दोष का प्रतिसन्धान करेगा, तो अन्य प्रकार से आगे मेरी पराजय इस हेतु से होगी या इसी हेतु के कक्षान्तर (पक्षान्तर) में आरूढ (प्राप्त) कथा में शाखान्तर (हेत्वन्तरादि) को प्राप्त करने के अवसर को प्राप्त करूंगा और सदोष हेतु से भी प्रतिपक्ष नहीं करने पर आरम्भ में ही पराजय होगी। यह तो अल्पज्ञ दोषज्ञ की बात है। बहुज्ञदोषज्ञ भी लोक में अपने प्रकर्ष (प्राबल्य) के प्रदर्शन के लिये असत् हेतु में प्रतिपक्ष इस अभिप्राय से

करता है कि मुझे वक्ता रहते असत् पक्ष भी सिद्ध हो सकता है। और ग्रन्थकार गुरु आदि से कथित तथाविध (सदोष) प्रतिहेतु का किसी प्रकार निर्वाह के लिये अन्य शिष्य या वादी से अनुयुक्त (पूछे गये) प्रौढ़ बुद्धि वाले (समर्थ विद्वान्) के स्फुट दोषवाले प्रतिहेतु से भी सत्प्रतिपक्षकरणरूप व्यवहार से कहां अव्याप्ति होगी। अतः प्रथम पक्ष युक्त नहीं है ॥ ३४४ ॥

तत्र परेण दोषानुद्भावने जयस्यापि सम्भवात् । किञ्च प्रतीयमानता यदि निश्चीयमानता विवक्षिता तदानीमसम्भव एव यतो विरुद्धार्थयोरेकस्यावश्यं दोषः, स च कस्यास्त्विति तदा निर्द्धारयितुमशक्यतया प्रतिहेतावपि तत्संशयादप्यसम्भावना प्रतीयमानता तत्रोद्भावनसम्भावनां दूषयन्तो यद्वक्ष्यामस्तदेव दूषणमतिदेष्टव्यम् । नापि द्वितीयतृतीयचतुर्थाः, परबुद्धेरवधारणतया परस्यासिद्ध्यादिविरहित्वबुद्धिरत्रभविष्यतीत्यग्रेवधारयितुं प्रमाणाभावेनाशक्यत्वात् । कथं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञाय व्युत्पादयेत् । शङ्कान्तरं चात्र निरसिष्यामः ॥ ३४५ ॥

एतादृशहेतोरुपन्यासफलमाह—तत्रेति। असिद्ध्यादिदोषरहिततया निश्चीयमानत्वं न सम्भवति सत्प्रतिपक्षस्थले द्वयोरपि दोषवत्तया सन्दिह्यमानत्वादित्याह—किञ्चेति। असिद्ध्यादिदोषराहित्येन संभाव्यमानेन बोधितसाध्यविपर्ययत्वमिति कृते प्रतिहेतोर्दोषराहित्यमभ्युपगम्य संभावनां निवर्त्य सत्प्रतिपक्षमुद्धरेदित्याह—तत्रोद्भावनेति। परबुद्धेरिति। असिद्ध्यादिदोषरहितत्वेन मत्प्रयुज्यमानः प्रतिहेतुरन्येन प्रत्येतव्य इति ज्ञातुमशक्यत्वादित्यर्थः। कथमिति। असिद्ध्यादिदोषरहितत्वेन त्वया प्रतीयमानोयमिति व्युत्पादनमशक्यमित्यर्थः। ननु स्वार्थानुमाने स्फुरितस्य प्रतिहेतोः स्वयमेवासिद्धिदोषरहितत्वेन प्रतीयमानत्वं सम्भवति। किञ्च वस्तुगत्या प्रतिसाधने दोषो नास्ति यत्र तत्र ताद्रूप्येण निश्चयः सम्भवति। किञ्चासिद्ध्यादिदोषरहितोयमिति शब्दादपि निश्चेतुं शक्यते इति तत्रैव सत्प्रतिपक्षः सावकाशः स्यादित्यत आह—शङ्कान्तरमिति। प्रतीतेर्निश्चयरूपत्वे वा दोषतादवस्थ्यादिति भावः ॥ ३४५ ॥

उक्त रीति से दोषयुक्त हेतु से प्रतिपक्ष करने पर भी उसमें पर (अन्य) वादी से उस दोष के उद्भावन (प्रकट) नहीं कर सकने पर कथा में विजय का भी लाभ होता है। और प्रतीयमानता (ज्ञातता) यदि निश्चीयमानता (निश्चयविषयता) रूप विवक्षित हो, तो असम्भव ही है, क्योंकि, विरुद्ध अर्थ वाले दो हेतुओं के रहते एक में अवश्य दोष रहता है। वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्ववादी के ही हेतु में दोष रहता है, क्योंकि वह दोष किस हेतु का होना चाहिये, इसका प्रतिपक्ष काल में निर्णय करना अशक्य होने से प्रतिवादी के हेतु में भी दोष का संशय होता है। और यदि प्रतीयमानता सम्भावनारूप विवक्षित हो कि असिद्धि आदि दोषरहितरूप से सम्भावना के विषय हेतु से बोधित साध्याभाव वाला सत्प्रतिपक्ष होता है, तो उस लक्षण में उद्भावना की सम्भावना के दूषणों को कहते हुए जो आगे दूषण कहेंगे, वही दूषण यहाँ अतिदेष्टव्य (तुल्य समझने योग्य) है। अर्थात् दोष के उद्भावन काल से पूर्वकाल की सम्भावना विवक्षित हो, तो बाद में प्रतिहेतु के दोष कहे जाने पर भी पूर्वकालिक अनुद्भावन से कोई दोष नहीं होता इत्यादि। द्वितीय, तृतीय, एवं चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं है,

क्योंकि अन्य की बुद्धि का निश्चय दुर्ज्ञेय होने के कारण दूसरे को असिद्ध्यादि आदि से रहितत्व बुद्धि (ज्ञान) इस हेतु विषयक होगी, इस ज्ञान के लिये प्रमाण के अशक्य (अभाव) से सत्प्रतिपक्षता की प्रतिज्ञा करके कोई उस सत्प्रतिपक्ष का व्युत्पादन कैसे करेगा, अर्थात् लक्षण को लक्ष्य में समन्वय नहीं कर सकेगा। यहाँ अन्य शंकाओं का आगे खण्डन करेंगे ॥ ३४५ ॥

एतेनासिद्धिविरोधकालात्ययापदेशव्यभिचारवत्तया व्याप्तिपक्षधर्मता-विरहवत्तया वाऽगृह्यमाणेन बोधितसाध्यविपर्ययः सत्प्रतिपक्ष इति निरस्तं केन वाऽगृह्यमाणत्वमिति निर्वक्तुमशक्यत्वात्। किंच सर्वेषामेवैषां लक्षणानां धर्म्यादिग्राहकानुमानबाधितेपि गतत्वादतिव्यापकत्वम्। एतेन स्वार्थानुमाने तदाभासेपि वा सत्प्रतिपक्षस्य दोषत्वमपोढम्। अथोच्यते अगृह्यमाणविशेषणबोधितसाध्यविपर्ययः प्रकरणसम इति, अस्तु तत्केनागृह्यमाणत्वमित्यादिविकल्पदोषाभिधानम् ॥ ३४६ ॥

एतेनेत्यस्यातिदेश्यमेव दर्शयति—केनेति। किञ्चेश्वरो न कर्त्ता शरीरत्वादित्यादि क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वादित्यादिना धर्मिग्राहकमानेनासिद्ध्यादिदोषरहिततया प्रतीयमानेन सत्प्रतिपक्षितं स्यात्तथा चातिव्याप्तिरित्याह—किञ्चेति। न चेष्टापत्तिः, तत्राधिकबलत्वेन बाधहेत्वाभासाभ्युपगमादिति भावः। एतेनेति। धर्मिग्राहकमानबाधस्थलेतिव्यापकत्वेनेत्यर्थः ॥ ३४६ ॥

असिद्धि विरोधादिवत्ता रूप से या व्याप्तिपक्षधर्मता विरहवत्तारूप से अगृह्यमाण (अज्ञात) हेतु से बोधितसाध्याऽभाव वाला हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है, यह लक्षण भी उक्तरीति से निरस्त होगया। क्योंकि, किससे अगृह्यमाणत्व होना चाहिये, इसका निर्वचन पूर्वतुल्य अशक्य है। और इन सब लक्षणों को धर्मी आदि के ग्राहक अनुमान से बाधित अर्थ में भी प्राप्त होने से अतिव्यापकत्व है। जैसे (अणुपरिमाणतारतम्यं, क्वचिद्विश्रान्तम्, परिमाणतारतम्यत्वात्, महत्परिमाणतारतम्यवत्। इस धर्मी ग्राहक अनुमान से बाधित अर्थ में भी (परमाणुः, निरवयवः विश्रान्तपरिमाणतारतमादित्वात्' आकाशवत्। परमाणुः सावयवः मूर्तत्वात् घटवत्) इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष प्राप्त होगा। और बाधित (सावयवत्व का अभाव निश्चित) रहने से वस्तुतः यह सत्प्रतिपक्ष नहीं होता है। सत्प्रतिपक्ष से अधिकबल वाला बाध ही वहाँ दोष होता है। और धर्मीग्राहक मान से बाधस्थान में व्यापक होने से स्वार्थानुमान में और स्वार्थानुमानाऽभास में भी सत्प्रतिपक्ष में दोषत्व निरस्त है। अर्थात् स्वार्थानुमान में स्वयं प्रयोग के योग्य प्रति हेतु की दोषरहितता का ज्ञान प्रथम हो सकता है। अतः पर बुद्धि के अवधारण के असंभवादि पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति यद्यपि नहीं है, तथापि स्वयं बाध की सत्ता काल में सत्प्रतिपक्ष का सम्भव स्वार्थानुमान में नहीं है। यदि कहा जाय कि अगृह्यमाण विशेष वाले हेतु से बोधित साध्याभाव वाला हेतु प्रकरणसम होता है तो यह हो सकता है। परन्तु वह किससे अगृह्यमाणविशेषत्व होना चाहिये इत्यादि विकल्प रूप दोष का कथन पूर्वतुल्य है ॥ ३४६ ॥

यदि यः कश्चिद्विशेषो विशेषशब्देनाभिप्रेतस्तदा तदग्रहणं क्वचिदपि

नास्तीति सर्वाव्याप्तिः। अथ हेतुदोषलक्षणो विशेषोभिमतः, तदा धर्म्यादिग्राहकानुमानबाधितेपि गतत्वादतिव्यापकता अगृह्यमाणहेतुदोषरूपविशेषेण बोधितसाध्यविपर्ययत्वात्तत्रापि तस्य हेतुदोषस्याभावादेवागृह्यमाणविशेषत्वात्। नचागृह्यमाणपरमार्थस्थितहेतुदोषरूपविशेषेणेतिकृते निस्तारः, तथा सति सत्प्रतिहेतुकः सत्प्रतिपक्षो हेतुर्न व्याप्येत परमार्थतस्तिष्ठतीति च दर्शनीयं न च ज्ञेयमिति महती प्रज्ञा ॥ ३४७ ॥

कृतकत्वश्रावणत्वयोरुपाधिद्वयविशेषग्रहवत् सर्वत्रविशेषग्रहसम्भवादगृह्यमाणस्य यत्किञ्चिद्विशेषत्वमसम्भवीत्याह—यदीति। तदा धर्म्यादीति। नहि तत्र हेतुदोषो गृह्यमाणो नापि तेन प्रत्यनुमानसाध्यविपर्ययो न बोध्यत इत्यर्थः। ननु यदि तत्र दोषः स्यात्तदा तदगृह्यमाणत्वं भवेदित्यत आह—अगृह्यमाणेति। यत एव धर्मिग्राहकानुमानहेतुदोषो नास्त्यत एव तस्यागृह्यमाणत्वं विवक्षितमित्यर्थः ननु विद्यमानदोषस्यागृह्यमाणत्वं विवक्षितं नत्वविद्यमानस्येत्यत आह—नचेति। तथा सति निर्दोषप्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षे व्याप्तिरित्यर्थः। किञ्च सत्प्रतिपक्षत्वं व्युत्पादयता दोषस्य विद्यमानत्वे सत्यगृह्यमाणत्वं वक्तव्यं तथा च विरोध इत्याह—परमार्थेति ॥ ३४७ ॥

और (अगृह्यमाण विशेष) इस लक्षण में यदि जो कोई विशेष विशेषशब्दार्थरूप से अभिमत हो, तो उस विशेष (प्रकार=विशेषण) का अग्रहण किसी हेतु में नहीं रहता। अतः सब सत्प्रतिपक्ष में लक्षण की अव्याप्ति (अभाव) प्राप्त होगी। यदि हेतु के दोषरूप विशेष अभिमत हो, तो धर्मी हेतु के ग्राहक अनुमान से बाधित में भी प्राप्त होने से अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि, वहाँ हेतु दोष नहीं रहता। अतः अगृह्यमाण हेतुदोषरूप विशेष वाले हेतु से ही वहाँ भी बोधित साध्याभावत्व रहता है, और उक्त हेतु दोष के अभाव से ही अगृह्यमाण विशेषत्व होता है। यदि कहा जाय कि अगृह्यमाण परमार्थ (सत्य) स्थित हेतु दोष रूप विशेष वाले हेतु से जिस हेतु का साध्याभाव बोधित हो वह सत्प्रतिपक्ष होता है। अतः दोषरहित से बोधित साध्याभाव वाले उक्त उदाहरण में अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो भी दोष से निस्तार (छुटकारा) नहीं है। क्योंकि, ऐसा होने पर सत्य (निर्दोष) प्रति हेतु वाला सत्प्रतिपक्ष हेतु लक्षण से व्याप्त (गृहीत) नहीं होता। अतः (आकाशमनित्यं बाह्येन्द्रियप्राह्यविशेषगुणवत्त्वात। आकाशं नित्यं निरवयवद्रव्यत्वात) यह सत्प्रतिपक्ष नहीं हो सकेगा। और सत्प्रतिपक्ष का व्युत्पादन लरने वाले को परमार्थतः दोष है, यह समझना तथा समझाना होगा, तो वह दोष अगृह्यमाण नहीं रहेगा, अतः वह ज्ञेय नहीं है। यह महती प्रज्ञा की बात भी नहीं है ॥ ३४७ ॥

नचागृह्यमाणहेतुदोषहेतुगुणरूपविशेषेणेति विवक्षिते निस्तारः व्यतिरेकिणि अन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे हेतुगुणरूपो विशेषः सपक्षत्वलक्षणो गृह्यते इति तदव्यापकत्वापत्तेः। अथागृह्यमाणव्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपविशेषेणेति यदि क्रियते तदा प्रष्टव्यं किमपेक्ष्य विशेषत्वमिदमिष्टं यदि यत्किञ्चिदपेक्ष्य तदा विशेषो गृह्यते सदनुमानात्मके प्रतिहेताविति तत्राव्यापकत्वम्। अथ प्रकृतं विरोधिनं हेतुमपेक्ष्य तदा लक्षणवाक्यमीदृशं पर्यवस्यति ॥ ३४८ ॥

धर्मिग्राहकमानबाधस्थलेतिव्याप्तिनिरासाय गुणस्यागृह्यमाणत्वमाशङ्क्य निराकरोति—नचेति। तत्र गुणस्य गृह्यमाणतया तत्रातिव्याप्तिनिरासेपि सपक्षसत्त्वरूपगुणविशेषवतान्वयव्यतिरेकिणा व्यतिरेकिणि सत्प्रतिपक्षेव्याप्तिरित्यर्थः। अथेति। एवञ्च व्याप्ति पक्षधर्मतयोरभङ्गस्यैव ग्रहणान्न धर्मिग्राहकमानबाधेतिव्याप्तिर्न वा केवलव्यतिरेकिण्यन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षाव्याप्तिरिति भावः। यदीति। शब्दोनित्यश्चाक्षुषत्वादित्यादिस्तावत्प्रसिद्धासिद्ध्यादिभावस्तदपेक्षया गृह्यमाणविशेषेण श्रावणत्वादिना सत्प्रतिपक्षेऽव्याप्तिरित्यर्थः। सदनुमानात्मके इत्युपलक्षणं स्फुटहेत्वाभासापेक्षया गृह्यमाणविशेषे सदनुमानेपि दशाविशेषे सत्प्रतिपक्षेव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ३४८ ॥

अगृह्यमाण हेतुदोषरूप हेतुगुणरूप विशेष वाले हेतु से बोधित साध्याभाव वाला प्रतिपक्ष होता है, ऐसा लक्षण करने से यद्यपि धर्मिग्राहकमान स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्यों कि वहाँ गृह्यमाण रहता है। तथापि दोष से निस्तार नहीं है, क्योकि केवल व्यतिरेकी हेतु में अन्वय व्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्ष के होने पर सपक्षसत्त्वरूप हेतु के गुण रूप विशेष का ग्रहण होता है, अतः उस सत्प्रतिपक्ष में लक्षण के अव्यापकत्व की प्राप्ति होगी (भूम्यादिकं सर्वज्ञकर्तृकं कार्यत्वात्) इस व्यतिरेकी का (जगत्कर्ता न सर्वज्ञः कर्तृत्वात् कुलालवत्) इस अन्वयी हेतु से, और (जगत्कर्ता अल्पज्ञः कर्तृत्वात्) इस अन्वय व्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्ष होता है, वह नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि अगृह्यमाण व्याप्तिपक्षधर्मता के भङ्गाऽभङ्ग (असत्त्व-सत्त्व) वाले हेतु से बोधितसाध्याभाव वाला सत्प्रतिपक्ष होता है, तो पक्षधर्मता के सत्त्व के ग्रहण से अव्याप्ति का वारण तो भी नहीं होगा। और प्रष्टव्य यह है कि किस की अपेक्षा यह अगृह्यमाण विशेषत्व इष्ट (अभिमत) है। यदि यत् किञ्चित् (किसी) की अपेक्षा से विशेषत्व इष्ट हो, तो प्रसिद्ध असिद्धित्वादि वाले हेत्वाभासकी अपेक्षा से सत्य अनुमान प्रतिपक्ष हेतु में विशेष का ग्रहण किया जाता है। अतः अगृह्यमाण विशेषता के अभाव से वहाँ अव्याप्ति होगी। यदि प्रकृत विरोधी हेतु की अपेक्षा से अगृह्यमाणविशेषत्व इष्ट हो, तो लक्षणरूप वाक्य आगे वर्णित स्वरूप वाला सिद्ध होगा ॥ ३४८ ॥

व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो यस्य विशेषो न गृह्यते तेन बोधितो यदीयस्य साध्यस्य व्यतिरेकः स प्रकरणसम इति ईदृशमप्येतद्वाक्यं विचारमर्हति। तथाहि व्याप्तिपक्षधर्मतेति मिलितस्य भङ्गाभङ्गपदसम्बन्धे विवक्षिते प्रत्येकोदाहरणातिव्याप्तिः ॥ ३४९ ॥

दूषणीयहेत्वपेक्षया व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपस्य विशेषस्य यत्राग्रहस्तेन बोधितसाध्यविपर्ययत्वं लक्षणमित्याह—व्याप्तीति। यदि व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्मिलितयोर्भङ्गो यत्र न गृह्यते इति विवक्षितं तदा शब्दोऽनित्यो जातिमत्त्वे सति चाक्षुषत्वादित्यनेनापि स्फुटस्वरूपासिद्धिमता सत्प्रतिपक्षः स्यात्। एवं शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादित्यनेन स्फुटव्यभिचारेण सत्प्रतिपक्षः स्यादेकत्र पक्षधर्मतामात्रभङ्गस्य ग्रहेऽपि मिलितभङ्गाग्रहात्। अन्यत्रव्याप्तिभङ्गग्रहेपि पक्षधर्मत्वभङ्गाग्रहात् मिलितभङ्गाग्रह इत्यतिव्याप्तिमाह—प्रत्येकोदाहरणेति। क्वचिदव्याप्तिरिति पाठः कथञ्चिदेवं व्याख्येयः यत्रैकैकभङ्गमात्रं तत्रापि मिलितोभयभङ्गोऽस्त्येव नहि यत्रैकं नास्ति तत्र मिलितमस्ति तथा च यत्र प्रतिहेतुप्रयोक्त्रा व्याप्तिभङ्गे ज्ञाते पक्षधर्मतामात्रपुरस्कारेण पक्षधर्मताभङ्गग्रहेपि व्याप्तिमात्रपुरस्कारेण सत्प्रतिपक्षः क्रियते तत्र प्रत्येकोदाहरणाव्याप्तिरेकभङ्गग्रहेपि मिलितभङ्गग्रहादिति ॥ ३४९ ॥

व्याप्तिपक्षधर्मता के भङ्गाभङ्गरूप, प्रकृत हेतु से जिस हेतु का विशेष गृहीत (ज्ञात) नहीं होता हो, उस हेतु से जिस हेतु के साध्य का अभाव बोधित हो, वह प्रकरणसम कहा जाता है। विचारणीय यह है कि यदि मिलित व्याप्तिपक्षधर्मता का भङ्गाभङ्गपद के साथ सम्बन्ध विवक्षित हो, तो, जहाँ केवल व्याप्ति का या केवल पक्षधर्मता का भंग गृह्यमाण है, वहाँ भी समुदाय के भङ्गाभङ्ग के अगृह्यमाण होने से लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् (शब्दोऽनित्यो जातिमत्त्वे सति चाक्षुषत्वात्) इस प्रकट स्वरूपासिद्धि वाले हेतु से तथा (शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्) इस प्रकट व्यभिचार वाले हेतु से भी सत्प्रतिपक्ष होने लगेगा। प्रथम में पक्षधर्मता का भङ्ग है, दूसरे में व्याप्ति का और समुदाय का भङ्ग अगृह्यमाण है॥ ३४९॥

तद्भङ्गाभङ्गरूप इत्यस्य च मिलितस्य विशेषपदसम्बन्धेऽभिप्रेते सर्वथासम्भवितया सर्वाव्याप्तिः। अपि चैवमप्यस्य वाक्यस्यार्थो वक्तव्यः व्याप्तिभङ्गरूपो व्याप्त्यभङ्गरूपः पक्षधर्मताभङ्गरूपः पक्षधर्मत्वाभङ्गरूपः प्रकृतहेतुतो विशेषो न गृह्यते यस्य तेन बोधितो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकः स प्रकरणसमः तथा सति परमाणुर्निरवयवो विश्रान्तपरिमाणतरतमादिभावत्वात् व्योमवदित्युक्ते परमाणुः सावयवो मूर्त्तत्वात् घटवदिति प्रत्यनुमानेन प्रतिवाद्युक्तेन परमाणुधर्मिग्राहिणोप्यणुपरिमाणतरतमादिभावः क्वचिद्विश्रान्तः परिमाणतरतमादिभावत्वान्महत्परिमाणतरतमादिभाववदित्यादेः। सदनुमानतयेष्टस्य पक्षधर्मताबलेन तदीयनिरवयवत्वेपि प्रमाणतां गतस्य सत्प्रतिपक्षता स्यात्॥ ३५०॥

भङ्गाभङ्गेति। नहि भङ्गाभङ्गावेकत्र सम्भवत इति सर्वाव्याप्तिरित्यर्थः। यद्यपि भङ्गाभङ्गयोरेकत्रासम्भवादेवाग्रहः सम्भवति तथापि तादृशस्य विशेषस्यासम्भवादग्रहनिरूपकत्वासम्भव इति भावः। किञ्च व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्भङ्गाभङ्गयोर्वा मिलितत्वं यदि न विवक्षितं तथापि दोष इत्याह—अपि चेति। सावयवत्वसाधकानुमानेन निरवयवत्वसाधकप्रथमानुमानवत्तृतीयमपि धर्मिग्राहकमानं सत्प्रतिपक्षितं स्यादित्यर्थः। ननु नेदमनिष्टमित्यत आह—सदनुमानतयेति॥ ३५०॥

यदि उक्त व्याप्तिपक्षधर्मता के भङ्गाभङ्ग इस मिलित विशेषण का विशेष पद के साथ सम्बन्ध अभिप्रेत (इष्ट) हो, तो एक हेतु में विरोधी भङ्गाभङ्ग की सर्वथा असंभाविता से सब लक्ष्य में अव्याप्ति होगी। और भङ्गाभङ्ग समुदाय का विशेष के साथ सम्बन्ध विवक्षित नहीं हो, तो इस वक्ष्यमाण रीति से उक्त वाक्य का अर्थ वक्तव्य होगा कि व्याप्तिभङ्ग रूप, या व्याप्ति का अभङ्ग रूप, पक्षधर्मता रूप, या पक्षधर्मता का अभाव रूप, प्रकृत हेतु से विशेष (भेद) जिस हेतु का गृहीत नहीं हो, उस हेतु से जिस हेतु का साध्याभाव बोधित हो वह प्रकरणसम हेतु होता है। परन्तु ऐसा वाक्यार्थ होने पर। परमाणु, अवयव रहित है, क्योंकि अणुपरिमाण के तरतमभाव (अतिशयभाव) परमाणु में विश्रान्त हो जाता है। परमाणु से अधिक अणु नहीं हो सकता जैसे आकाश से बड़ा कोई नहीं हो सकता ऐसा कहने पर मूर्त (साकार) होने से परमाणु सावयव है, जैसे घट सावयव होता है। प्रतिवादी से कथित इस अनुमान से परमाणु रूप धर्मी का ग्राहक

अनुमान भी सत्प्रतिपक्षयुक्त हो जायगा। धर्मीग्राहक अनुमान है (अणुपरिमाण के तरतमत्व (अतिशयत्व) कहीं विश्रान्त है। क्योंकि महत परिमाण के समान यह भी परिमाण का तरतमादिरूप है, इत्यादि धर्मिग्राहक अनुमान सत्य अनुमान रूप से मान्य है और पक्षधर्मतारूप बल से परमाणु की निरवयवता में भी प्रमाणता प्राप्त है, वह भी उक्त वाक्यार्थ के अनुसार सत्प्रतिपक्षता युक्त होगी, क्योंकि (परमाणुः सावयवः) इत्यादि से इस के साध्याभाव का बोध कराया जाता है ॥ ३५० ॥

यश्चास्य सदनुमानतां न मंस्यते तं प्रत्येवं प्रकाराणि बहून्युदाहरणानि सन्तीति तेषु प्रसङ्गः। न च सोपि तथास्त्येव तस्य धर्मिसिद्ध्यर्थमुपजीवत्वेन बलवत्त्वात् तद्व्यवच्छेदार्थं स प्रकृतः प्रकरणसम इति कर्तव्यमिति चेत्तथाप्यनुपपत्तिः अत्र हि यदि विशेषो यस्य न गृह्यते इति सम्बन्धः तेन यत्सम्बन्धितया न गृह्यते इत्यर्थो विवक्षितस्तदा अव्यापकत्वं दोषः। तथाहि यत्र द्वयोरपि हेत्वोः परमार्थतः साधारणो व्याप्तादिभङ्गः सत्प्रतिपक्षदशायामगृह्यमाणस्तत्र नास्त्येतल्लक्षणं नहि तत्रव्याप्त्यादिभङ्गो विशेषः अपितु प्रकृतहेतुना सह साधारण एव ॥ ३५१ ॥

ननु प्रथमानुमाने निरवयवत्वं साध्यं तद्विरुद्धसाधकतया द्वितीयानुमानं तस्यैव सत्प्रतिपक्षो नत्वणुपरिमाणतारतम्यविश्रान्तत्वसाधकस्य तृतीयानुमानस्यापीत्यत आह—पक्षधर्मतेति। यद्यपि तृतीयानुमाने बलवति व्याप्तेरभङ्गो विशेषो गृहीत एवात एव द्वितीयानुमाने व्याप्तिभङ्गरूपोपि विशेषो गृहीतस्तथापि सत्प्रतिपक्षलक्षणाक्रान्तत्वेन बलवत्त्वमेव तस्य न स्यादिति भावः। ननु भट्टेनाणुपरिमाणतारतम्यविश्रान्तिर्नेष्यते तेन त्रुटेरेव निरवयवस्य महतोङ्गीकारादिति तं प्रत्ययमतिप्रसङ्गो न भवतीत्यत आह—यश्चेति। तन्मते आकाशं विभु निःस्पर्शद्रव्यत्वात्, आकाशं न विभु आत्मान्यविशेषगुणवत्त्वादित्यनेन शब्दो भूतेन्द्रियग्राह्यो बहिर्द्रव्यत्वादित्याद्युदाहार्यम्। अत्र तृतीयानुमानस्य धर्मिग्राहकस्य वैभवपर्यवसन्नत्वादित्यर्थः। नन्विष्टमेव तत् सत्प्रतिपक्षत्वमत आह—न चेति। अधिकबलत्वेन तत् सत्प्रतिपक्षतानङ्गीकारादित्यर्थः। तद्व्यवच्छेदार्थमिति। धर्मिग्राहकतृतीयानुमानसत्प्रतिपक्षताप्रसङ्गव्यवच्छेदार्थमित्यर्थः। प्रकृत इति। तत्काले दूष्यत्वेनाभिमत इत्यर्थः। यस्य विशेषो न गृह्यत इति लक्षणवाक्ये यस्य न गृह्यत इति वान्वयः। यस्य विशेषो न गृह्यत इति वेति विकल्प्याद्यं दूषयति—तदेति। साधारणदोषवतोर्हेत्वोर्विशेष एव नास्ति कस्य तत्सम्बन्धितयाग्रहणं स्यादिति तेन सत्प्रतिपक्षस्थलेऽव्याप्तिरित्यर्थः॥ ३५१ ॥

यदि मीमांसकादि इस धर्मीरूप परमाणु के ग्राहक अनुमान की सदनुमानता को नहीं मानेंगे तो उन के प्रति भी इस प्रकार के बहुत उदाहरण हैं, अतः उन में अतिव्याप्ति होगी, जैसे (आकाशं विभु निःस्पर्शद्रव्यत्वात्। आकाशं न विभु आत्मान्यविशेषगुणवत्त्वात्) इस अनुमान से (शब्दो भूतेन्द्रियग्राह्यो बहिर्द्रव्यत्वात्) इत्यादि धर्मी ग्राहक मान को सत्प्रतिपक्षता होगी। यहाँ तृतीय अनुमान आकाश की विभुता का बोधक है। शब्द आकाशात्मक भूतस्वरूप है और भूत होते इन्द्रिय से ग्राह्य है। अत एव उस में बाह्यद्रव्यत्व है। यदि कहा जाय कि वह धर्मी ग्राहक अनुमान भी सत्प्रतिपक्षयुक्त ही है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वह धर्मी की सिद्धि के लिये होने से उपजीव्यता से बलयुक्त होता है। यदि उस धर्मी ग्राहक के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) के

लिये वह प्रकृत (प्रथम) हेतु प्रकरणसम होता है, ऐसा लक्षण करना चाहिये, जिस का व्याप्ति भङ्गादि रूप प्रकृत विशेष हेतु से गृहीत नहीं हो, उससे बोधित साध्याभाव वाला प्रथम हेतु प्रकरणसम होता है, तो ऐसा करने पर भी अनुपपत्ति है। क्योंकि (विशेषो न गृह्यते यस्य) इस लक्षण वाक्य में (विशेषो यस्य न गृह्यते) यदि ऐसा सम्बन्ध हो, तो उस सम्बन्ध से जिस के सम्बन्धी रूप से विशेष गृहीत नहीं होता यह अर्थ विवक्षित होगा, तो अव्यापकत्व दोष होगा। क्योंकि जहाँ दोनों हेतुओं में वस्तुतः साधारण (तुल्य) व्याप्ति आदि का असत्त्व है। वह प्रतिपक्षावस्था में अगृह्यमाण भी है वहाँ यह लक्षण नहीं है। अतः अव्याप्ति है। क्योंकि व्याप्ति के भङ्गादि में विशेष नहीं है, दोनों में तुल्य है, तो हेतु के साथ सम्बन्धी रूप से ग्रहण किस का हो सकता है ? अर्थात् विशेष के रहते विशेष का ग्रहण न हो तो इस लक्षणांश का समन्वय हो सकता है, विशेष के अभाव दशा में नहीं। विशेष के नहीं रहने पर विशेष का असम्बन्धी रूप से ग्रहण नहीं होता ॥ ३५१ ॥

नन्वत्यन्तासतो व्याप्त्यादिभङ्गरूपस्य विशेषस्यापि तावत्तत्राग्रहणमस्ति तदादायैव लक्षणं तद्व्यापि भविष्यति तर्हि तत्र वादी स्वहेतुसाधारणं व्याप्त्यादिभङ्गादिदोषं जानन् प्रतिहेतुनिष्ठतया परस्योद्भावयति— परश्च परिहर्तुं न शक्नोति तत्राप्येवं सत्प्रतिपक्षताऽक्षतैव स्यात् यत उक्त रूपविशेषवत्तया तेनासौ न गृहीत उक्तरूपस्य समानतयैव तेन गृहीतत्वात् तथापि प्रतिहेतुवादिना तावद्विशेषवत्तयैव गृहीतस्तस्य तत्साधारणभावास्फुरणात् भ्रान्त्यभ्रान्तिसाधारणस्य चात्र ग्रहणमात्रस्य विवक्षितत्वात्— इति चेन्न, प्रतिहेतुवाद्यभिप्रायेणागृह्यमाणतापक्षस्य प्रागेव निरस्तत्वात् ॥ ३५२ ॥

ननु विशेषाभावात्सुतरां तद्वत्त्वेनाग्रहणमिति कथमव्याप्तिरित्याह—नन्विति। स्थापनावादिना द्वयोरपि व्याप्तिभङ्गे ज्ञाते सत्यपि व्याप्यत्वासिद्धमुद्भाव्य प्रतिहेतुर्दूष्यते तदापि सत्प्रतिपक्षानुच्छेदप्रसङ्गः। स्थापनावादिनो विशेषवत्तया ग्रहणाभावेन लक्षणस्य तदानीमपि सत्त्वादित्यतिव्याप्तिमेव दृढयति—परश्चेति। वाद्युक्तदोषपरिहारे पुनः प्रतिपक्षत्वं स्यादपि ननु प्रतिवादिना तदपरिहारेऽपि तथा च तदानीं हीनबलतया नासौ सत्प्रतिपक्षसत्त्वादुक्तलक्षणाच्च तथा स्यादित्यतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः। तेनेति। स्थापनावादिनेत्यर्थः। ननु विशेषतया ग्रहणाभावो यदि न वादिनस्तथापि प्रतिवादिनः सोऽस्त्येवान्यथा स्थापनावाद्यनुमाने प्रतिवादी तं विशेषमुद्भावयेदेव तथा च नातिव्याप्तिरित्याह—तथापीति। ननु प्रतिवादिनो विशेषरहितेऽपि विशेषवत्तया ज्ञानं भ्रम इति न तल्लक्षणे तन्त्रमित्यत आह—भ्रान्तीति। विशेषं ज्ञात्वापि प्रतिवादी दोषान्तरास्फुरणे भङ्गभीरुः प्रतिहेतुं प्रयुङ्क्ते एव स्वप्रौढिचिख्यापयिषया वेत्यादेरुक्तत्वादित्याह—प्रतिहेतुवादीति॥ ३५२ ॥

अब शंका यह होती है कि वर्त्तमान विशेष का जैसे ग्रहण नहीं हो, वैसे अत्यन्त असत् भी व्याप्ति के असत्वरूप विशेष का अग्रहण है ही उस का ही ग्रहण करके तुल्य दोष वाले स्थान में लक्षण उस में व्याप्त (प्राप्त) है। अतः अव्याप्ति नहीं होगी। विशेष के नहीं रहने से ही उस के अग्रहण होते अव्याप्ति नहीं हो सकती। उत्तर यह है कि यदि ऐसी बात है, तो जहाँ वादी अपने हेतु में साधारण (तुल्य) दोष को जानता

हुआ, प्रतिवादी के हेतु में वर्तमान रूप से हीं प्रतिवादी के प्रति दोष का उद्भावन (कथन) करता है। और प्रतिवादी उस दोष का परिहार (निवारण) नहीं कर सकता, वहाँ भी सत्प्रतिपक्षता इस प्रकार से अक्षत (वर्तमान) रहेगी। क्योंकि, व्याप्ति आदि के भङ्ग प्रतिवादी से अगृह्यमाण है। और प्रतिवादी यदि दोष का परिहार करता तो समबलता से प्रतिपक्षता होती भी, परन्तु परिहार नहीं करने से हीनबलता के कारण प्रतिपक्षता रहित में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि उक्त विशेषवत्तारूप से (दोषवत्ता रूप से) उस वादी से वह हेतु गृहीत नहीं हुआ है, किन्तु उक्त रूप का सामान्य रूप से उस ने ग्रहण किया है। अतः लक्षण की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि दोष का परिहार कहीं कर सकने पर भी प्रतिवादी से प्रथम विशेषवत्ता रूप से ही हेतु गृहीत होता है, परन्तु उस हेतु के उस साधारणता के स्फुरण (ज्ञान) नहीं होने से दोष का परिहार नहीं करता है। फिर यदि कहा जाय कि दोनों हेतु के तुल्य दोषयुक्त विशेष रहित होते विशेषवत्तारूप से प्रतिवादी से हेतु कैसे गृहीत होता है ? तो उत्तर यह है कि भ्रान्ति अभ्रान्ति साधारण ग्रहण मात्र के विवक्षित होने से अविशेष में विशेष का भ्रम रूप ग्रहण बनता है और अगृह्यमाणविशेषता के अभाव से लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है, परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिवादी के अभिप्राय से अगृह्यमाणता पक्ष का प्रथम ही निरसन किया गया है ॥ ३५२ ॥

किञ्च प्रतिहेतुवाद्यपि यदि साधारणतां तस्य दोषस्य तदैव पश्येत्तदा का गतिः। यद्यसौ वादिहेतावपि दोषं पश्येत्तदा तमुद्भावयेत्तथा सति तत्रैव कथासङ्क्रमः स्यात्। सत्प्रतिपक्षमुपेक्ष्य इति चेन्न, यदि पश्यन्नपि प्रतिवादी तत्र दोषमेवं मन्त्रयेत् यदि तदानीं सत्प्रतिपक्षतां प्रतिज्ञातां विहाय दोषान्तरमुद्भावयामि तदापि प्रतिज्ञात्यागो नाम भङ्गोऽधिकः। अथ नोद्भावयामि तथापि प्रतिज्ञातदोषानिर्वाहात् मम पराजयः तदेवं वृथा दोषान्तरव्युत्पादनायायास इति परामृष्य न तूष्णीमास्ते तदा का गतिः ॥ ३५३ ॥

किञ्च यदा स्थापनायामपि वाद्युद्भावितं दोषं प्रतिवादी समाकलयेत् तदा तत्सम्बन्धितया विशेषः केनापि न गृहीत इति वाद्युद्भावितदोषदशायामपि सत्प्रतिपक्षता स्यादिति सैवातिव्याप्तिरित्याह—किञ्चेति । स्थापनायां दोषस्फुरणे प्रतिवादी तमेवोद्भावयेन्नतु सत्प्रतिपक्षं कुर्यादित्याह—यद्यसाविति। कथासङ्क्रम इति। तावतैव स्थापनावादी विरमेदित्यर्थः। प्रतिहेतुप्रयोगात्पूर्वं दोषान्तरज्ञाने तन्मात्रोद्भावनं स्यादपि तत्प्रयोगानन्तरं दोषान्तरोद्भावने प्रतिज्ञातदोषपरित्यागात् प्रतिज्ञाहानिशङ्कया न दोषान्तरमुद्भावयति तस्यां दशायां स्याद्‌तिव्याप्तिरित्याह—मन्त्रयेदिति । मन्त्रणास्वरूपमाह—यदि तदानीमिति। ननु दोषान्तरोद्भावने चेत्प्रतिज्ञाहानिशङ्का तदा तदनुद्भावनमेवास्तु तत्राह—अथेति। वादिना दूषितं स्वहेतुं यदि समेत प्रतिवादी तदा सत्प्रतिपक्षतैव न स्याद्धीनबलत्वादिति समकरणार्थं वाद्यनुमाने दोषमुद्भावयेदेवेत्यर्थः । वृथेति। उद्भावनानुद्भावनपक्षयोः पराजयध्रौव्ये दोषान्तरोद्भावनस्यायासमात्रफलकत्वमिति मौनमेव श्रेय इत्यर्थः। का गतिरिति। अतिव्याप्तिर्दुष्परिहरेत्यर्थः ॥ ३५३ ॥

और प्रतिहेतु वादी भी यदि उस वादी कथित दोष की साधारणता को उस प्रयोग काल में देखे तो क्या गति होगी । अर्थात् वादी एवं प्रतिवादी से अगृह्यमाण-

विशेषता के कारण सत्प्रतिपक्ष के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। शंका यह होती है कि यदि वह प्रतिवादी वादी के हेतु में दोष देखेगा तो उस दोष का उद्भावन (कथन) करेगा और ऐसा होने पर सत्प्रतिपक्ष की उपेक्षा (त्याग) करके उस दोष के निरूपणादि में ही कथा का संक्रम (गमन सम्बन्ध) हो जायगा, तो पूर्वोत्पन्न वाद प्रतिवाद के अभाव से अतिव्याप्ति का विषय ही नहीं रहेगा जहाँ अतिव्याप्ति हो। उत्तर यह है कि यह कथन युक्त नहीं। क्योंकि सत्प्रतिपक्षता को त्यागने से असिद्धि दोषों के उद्भावन का का भी सम्भव नहीं है। यदि प्रतिवादी वहाँ वादी के हेतु में दोष देखता हुआ भी विचार करे कि यदि इस समय सत्प्रतिपक्षता को त्याग कर दोषान्तर का उद्भावन करता हूँ, तो भी दोषान्तर का व्युत्पादन तो करना ही होगा, सत्प्रतिपक्ष की प्रतिज्ञा का त्यागरूप भङ्गदोष अधिक प्राप्त होगा। यदि पर हेतु में विशेष रूप से दोष का कथन नहीं करता हूँ, तो भी प्रतिपक्ष द्वारा प्रतिज्ञात (कथित) दोष के वादी के हेतु में अनिर्वाह (असिद्धि) से मेरी पराजय होगी, अतः इस प्रकार दोषान्तर के व्युत्पादन के लिये आयास वृथा है, ऐसा विचार कर प्रतिवादी चुप लगा कर यदि रहे तो क्या गति होगी ? अर्थात् दोष देखता हुआ भी उद्भावन नहीं करता है, वहाँ प्रतिपक्षता के अत्याग से अतिव्याप्ति होगी ही। दोष दर्शन से सत्प्रतिपक्षता के निर्वाह को नहीं कर सकने पर भी स्थापित सत्प्रतिपक्षत्वमूल से रहता ही है ॥ ३५३ ॥

अथ यस्य विशेष इत्युक्तलक्षणवाक्ये पदसम्बन्धस्तवाभिमतः, तदा उक्तस्तावद्दोषो दोषान्तरं च स्याद्व्याप्त्यभङ्गादेर्विरुद्धार्थहेत्वोः साधारणस्यासम्भवाद्विशेषपदेनाव्यवच्छेदकेन सह विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः। अथोच्यते व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषवत्तयानुद्भाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः स प्रकृतः सत्प्रतिपक्ष—इति तदपि नोपपन्नम् ॥ ३५४ ॥

ननु यस्य विशेषो न गृह्यत इति वाक्ये यत्संबन्धितया न गृह्यत इति सम्बन्धो मास्तु यस्येति षष्ठ्यंतस्य विशेष इत्यनेनैवान्वयः स्यादित्याह—अथेति। उक्तस्तावदिति। यत्र वादिना प्रतिवादिना वा विद्यमान एव विशेषो गृह्यते नतूद्भाव्यते तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। दोषान्तरमाह—व्याप्तीति। यदि विरुद्धार्थहेत्वोर्भङ्गाभङ्गसाधारण्यं क्वचिदपि भवेत्तदा तद्व्यावर्तनाय विशेषपदं सार्थकं स्यान्नत्वेवमित्यर्थः। ननु विशेषवत्त्वेनान्यतरस्य ग्रहणमस्तु तदुद्भावनमपि न नियतं तथाचोक्तविशेषवत्तयानुद्भाव्यमानेन बोधितसाध्यविपर्ययत्वं लक्षणमस्त्विति शङ्कते—अथेति ॥ ३५४ ॥

और उक्त लक्षण वाक्य में 'यस्य विशेषः' इस प्रकार से पद का सम्बन्ध है, ऐसा जब आप को अभिमत (स्वीकृत) है, तब प्रथम दोष कहा गया है कि जहाँ वादी या प्रतिवादी से विद्यमान ही दोष गृहीत होता है, परन्तु उद्भावित नहीं होता, वहाँ अतिव्याप्ति होगी। और दोषान्तर भी होगा। विरुद्धार्थक हेतुओं में व्याप्ति के भङ्गादि रूप साधारण (दोष) के असम्भव से उसके अव्यवच्छेदक (साधारण के अव्यावर्तक) विशेष पद के साथ विशेषणविशेष्यभाव की अनुपपत्ति से उक्त लक्षण अयुक्त है।

क्योंकि यदि कहीं विरुद्धार्थक हेतु को भङ्गाभङ्ग साधारण (तुल्य) हो तो उसकी व्यावृत्ति के लिये विशेष पद सार्थक हो, साधारणता के अभावसे विशेष पद व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि व्याप्ति और पक्षधर्मता के भङ्ग अभङ्ग रूप प्रकृत हेतु की अपेक्षा वाले विशेषवत्ता रूप से अनुद्भाव्यमान प्रतिहेतु द्वारा जिसहेतु के साध्य का अभाव बोधित होता है, वह प्रकृत हेतु सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है। प्रथम लक्षणगत (अगृह्यमाण) के स्थान में (अनुद्भाव्यमान) यह पद इस लक्षण में रखा गया है जिससे विशेष के ग्रहण काल में भी अनुद्भावन के रहते लक्षण का लक्ष्य हो। परन्तु उक्त विशेष युक्त लक्षण भी युक्त नहीं ॥ ३५४ ॥

यदि परस्त्वदीयोयं प्रतिहेतुरित्थं भग्नव्याप्तिक इत्येवाभिधत्ते ननु सद्धेतुतोयं विशेष इत्यपि ब्रूते आभासान्तरत्वव्युत्पादनादेव प्रतिहेतोः सत्प्रतिपक्षताभङ्गात् तदापीत्थं सत्प्रतिपक्षता न निवर्तेत तथा सति च प्रतीयमानासिद्ध्यादिनापि सत्प्रतिपक्षीकरणमिति साधु व्युत्पादितं सर्वानुमानानुकूलं स्यात् ॥ ३५५ ॥

यत्र व्याप्तिभङ्गमुद्भावयति मदीयहेत्वपेक्षया तव हेत्वपेक्षया तव हेतौ विशेषोयमित्यनेन प्रकारेण नोद्भावयति तत्र सत्प्रतिपक्षता तावन्नास्ति विशेषवत्तयानुद्भावनालक्षणं तत्रापि गतमित्यतिव्याप्तिरिति परिहरति—यदीति। नन्वस्तु तत्रापि सत्प्रतिपक्षता को दोष इत्यत आह—तथा सतीति। सोपहासमाह—सर्वानुमानेति। दृष्टदोषेणापि सत्प्रतिपक्षकरणे सकलानुमानोच्छेदः स्यादित्यर्थः ॥ ३५५ ॥

क्योंकि, यदि पर (वादी) ऐसा ही कहे कि—आपका यह प्रतिहेतु इस प्रकार (सोपाधिकत्वादि से) व्याप्तिरहित है। मेरे हेतु से आपके हेतु में यह विशेष (भेद) है, ऐसा भी नहीं कहे, क्योंकि आभासान्तरत्व (व्याप्तिभंग = सोपाधिकत्व) के व्युत्पादन (साधन) से ही प्रतिहेतु के सत्प्रतिपक्षत्व का भङ्ग (अभाव) हो जाता है। अतः वहाँ सत्प्रतिपक्षत्व नहीं रहता, परन्तु इस अवस्था में भी अनुद्भाव्यमान विशेष वाला सत्प्रतिपक्ष का लक्षण उससे निवृत्त नहीं होता, अर्थात् अतिव्याप्ति होती है। और लक्षण के अनुसार वहाँ भी सत्प्रतिपक्ष मानने पर, प्रतीयमान असिद्धि आदि दोष वाले हेतु से भी सत्प्रतिपक्ष करने से सब अनुमान के अननुकूल व्युतपादित होगा। अर्थात् सब अनुमान के प्रतिकूल सिद्ध होगा ॥ ३५५ ॥

किञ्च कस्मिन्काले तथानुद्भाव्यमानत्वमपेक्षितं यदि यदा प्रतिहेतूद्भावनेन परहेतुं दूषयति प्रतिवादी तस्मिन् कालेऽनुद्भावनं तदा पश्चादुक्तेपि प्रतिहेतुदोषे पूर्वकालानुद्भावने प्रतीकारो न कश्चिदिति सर्वहेत्वाभासैः सत्प्रतिपक्षीकरणमदुष्टमिति गतमनुमानकथया। अथ प्रतिवादिनाभिहिते यदा पुनर्वादिवचनाऽवसरः—तदानुद्भावनमिष्टं तर्हि तत्कथमग्रे प्रत्यनुमानवादिनावधारणीयमयमत्र विशेषदोषं नोद्भावयिष्यतीति ॥ ३५६ ॥

किञ्च यदि प्रतिहेतूपन्यासकाले दोषवत्तयानुद्भावितं विवक्षितं तदा तदुपन्यासानन्तरं दोषोद्भावनेपि सत्प्रतिपक्षता स्यादेव प्रतिहेतूपन्यासकालीनानुद्भावनस्य लक्षणस्य सत्वादित्याह—'किञ्चेति। प्रतीकार इति। त्वदुक्तलक्षणाक्रान्तत्वेन दुष्टेनापि सत्प्रतिपक्षता स्यादित्यर्थः। गतमिति। अतिस्फुटदोषेणापि सत्प्रतिपक्षश्चेत्सदा सदनुमानानामपि सव

प्रतिपक्षत्वमित्यनुमानमात्रोच्छेद इत्यर्थः। ननु प्रतिहेतूपन्यासानन्तरकालीनं यत्र दोषवत्त्वयानुद्भावनं तेन बोधितसाध्यविपर्ययत्वं विवक्षितं तथा च नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते—अथेति। अनध्यवसायात्तर्हि प्रतिहेतूपन्यास एव न स्यात् को हि जानात्यसौ मदीयहेतौ दोषं नोद्भावयिष्यति भवतु वा कथञ्चित्प्रतिहेतूपन्यासस्तथापीदमसाधकं सत्प्रतिपक्षितत्वादिति नोद्भावयेत् सत्प्रतिपक्षत्वं ह्युत्तरकालानुद्भाव्यमानविशेषत्वं तच्च प्रथमं निर्णेतुमशक्यमिति परिहरति—तर्हीति॥ ३५६॥

और किस काल में उक्त रीति से अनुद्भाव्यमानत्व हेतु में अपेक्षित है, यदि जिस समय प्रतिवादी प्रतिहेतु के उद्भावनद्वारा परवादी के हेतु को दूषित करता है, उस काल में अनुद्भावन अपेक्षित हो, तो उस के बाद हेतु के दोष के कहने पर भी पूर्वकालिक अनुद्भावन में कोई प्रतिकार (बाधा) नहीं है। अतः पीछे दोष के उद्भावन करने पर भी सब हेत्वाभासों से सत्प्रतिपक्ष करना अदुष्ट ही होगा, तो सत्प्रतिपक्ष रहित सदनुमान की कथा ही नहीं रहेगी। सर्वत्र दुष्ट हेतुओं से सत्प्रतिपक्ष ही वर्तमान रहेगा। यदि कहें कि प्रतिवादी से प्रतिहेतु के कथन के बाद, फिर जब वादी के वचन का अवसर हो, उस काल में अनुद्भावन इष्ट है, तो उस वादी के वचन से प्रथम प्रत्यनुमानवादी से कैसे निश्चय किया जा सकता है कि यह वादी इस विषय में विशेष दोष का उद्भावन नहीं करेगा और निश्चय के बिना भावी उदभावनरहित हेतु से प्रतिपक्ष कैसे करेगा। अतः यह लक्षण अयुक्त ही है॥ ३५६॥

दोषशून्यत्वात्स्वकीयस्य प्रतिहेतोः समर्थस्तथावधारयितुमिति चेदुक्तमत्र प्रतीतदोषेणापि सत्प्रतिपक्षताकरणं सम्भवति। तत्र परेण दोषेनुद्भाविते विजयश्च भवतीति। किञ्च विशेषदोषशून्यत्वमपि स्वकीयहेतोः कथमयमवधारयेत्। विरुद्धार्थयोस्तावद्धेत्वोरेकस्यावश्यं दोषेण भाव्यं तत्र यथा तेन स्वहेतौ दोषो न दृश्यते तथा परहेतावपि तद्दर्शने तमेवोद्भावयेत् को हि सचेता। निश्चितं दोषमुपेक्ष्य सदोषस्य निर्दोषसाम्येन प्रत्यवतिष्ठते तस्मात् सदोषेपि दोषमपश्यन्नयं न स्वेनादर्शनं दोषाभावे प्रमाणयितुमर्हतीति॥३५७॥

ननु स्वहेतोर्दोषशून्यत्वं निश्चित्य प्रतिहेतूपन्यासाध्यवसायासाधकतानुमानप्रयोगौ स्यातामिति शङ्कते—दोषेति। तर्हि पूर्वोक्ताभिप्रायेण स्वयं प्रतीतदोषं प्रतिहेतुं क्वापि न प्रयुञ्जीत वादीत्यनिष्टमिति परिहरति—उक्तमत्रेति। ननु तादृशप्रतिहेतुप्रयोगो भङ्गभयादनर्ह एवेत्यत आह—तत्रेति। किञ्च दोषशून्यत्वावष्टम्भेनापि प्रतिहेतूपन्यासाध्यवसायासाधकतासाधनानुमानप्रयोगौ न स्यातां पश्चात्तत्र दोषसन्देहध्रौव्यस्य प्रतिपादनादित्याह—किञ्चेति। सन्देहध्रौव्यमेवाह—विरुद्धार्थयोरिति। ननु विपक्षहेतुदोषनिश्चयादेव स्वहेतौ न दोषसन्देह इत्यत आह—तत्र यथेति। ननु कथमयं नियमो यत्परहेतुदोषदर्शने तदुद्भावनमावश्यकं ननु प्रतिहेतूपन्यासावसर इत्यत आह—को हीति। स्थापनावादिप्रयुक्ते हेतौ दोषान्तरमसिद्धादि दृष्ट्वा सत्प्रतिपक्षावसरो नास्तीति कथमयं नियमो यावता दोषत्वाविशेषात्सत्प्रतिपक्षतामेव कथं नोद्भावयेन्मैवं दोषान्तरे पक्षधर्मतामात्रमुपदर्शनीयं सत्प्रतिपक्षं तु व्याप्तिरपीति गौरवमित्यर्थः। यद्वा अस्फुरत्प्रतीकारेणापि दोषेण सत्प्रतिपक्षस्य हीनबलत्वं चेत्कुर्यां तदा ममैव भङ्गः स्यादित्यभिप्रायाद्दोषान्तरमेवोद्भावयेत्। यद्वा प्रतिहेतुप्रयोगानन्तरं तेनासाधकतानुमानप्रयोगानन्तरं तदनु स्वपक्षस्थापनाप्रयोग इति प्रयासगौरवमित्यभिसन्धिरित्यर्थः। तस्मात् स्थापनाहेतौ दोषान्तर-

मपश्यत एव प्रतिहेतूपन्यास इति स्थिते यथा तत्र स्वयं दोषादर्शनमदोषवत्तां व्यभिचरति तथा मयापि दोषशून्यत्वेनापाततोपि गृह्यमाणोप्ययं हेतुर्दोषवान् स्यादिति संशयानेन दोषशून्यत्वावष्टम्भेन प्रतिहेतूपन्यासः समाहितो न भवतीत्युपसंहरति—तस्मादिति। तथाचैतल्लक्षणानुसारेण प्रतिहेतूपन्यासाध्यवसायो न स्यादिति भावः ॥ ३५७ ॥

यदि कहें कि प्रतिवादी के अपने प्रतिहेतु के दोषरहित होने से भावी दोषोद्भावन-रहितता के अवधारण करने के लिये वह प्रतिवादी समर्थ होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस विषय में प्रथम कहा गया है कि ज्ञात दोषवाले हेतु से भी सत्प्रति-पक्षता करने का सम्भव होता है, और वादी से उस हेतु में दोष के अनुद्भावित (अप्रकटित) होने पर विजय भी होती है। और प्रतिवादी अपने हेतु के विशेष दोष-शून्यत्व को कैसे निश्चय करेगा, क्योंकि विरुद्धार्थक दो हेतुओं के रहते एक में अवश्य दोष होना चाहिये। अतः संशय ही हो सकता है कि कौन हेतु निर्दोष है ? और कौन सदोष इत्यादि, और वह प्रतिवादी प्रतिपक्ष काल में अपने हेतु में जैसे निश्चित रूप से दोष को नहीं देखता, वैसे ही परवादी के हेतु में भी उसको दोष नहीं दिखता है, तभी सत्प्रतिपक्ष करता है। यदि पर हेतु में उसको दोषदर्शन हो, तो उस दोष का उद्भावन करके वादी की पराजय कर सकता है। सत्प्रतिपक्ष की आवश्यकता ही नहीं रह सकती, क्योंकि कौन सचेता (बुद्धिमान) निश्चित दोषरूप वादी की पराजय के साधन को त्यागकर, निर्दोष की समता से सदोष का प्रत्यवस्थान (सत्प्रतिपक्ष) करेगा ? अर्थात् अपने हेतु को निर्दोष मान कर उसके तुल्य सदोष हेतु को कौन सचेता खण्डन करेगा ? अर्थात् प्रत्यक्ष दोष का ही उद्भावन करेगा। अतः सदोष भी दोष को नहीं देखता हुआ यह प्रतिवादी स्वयं अपने हेतु में दोष के अदर्शन (अनुपलब्धि) को दोषाभाव में प्रमाण नहीं कर सकता, इससे भावी दोषानुद्भावन को नहीं जान सकता ॥ ३५७ ॥

अथोच्यते व्याप्तिपक्षधर्मताभङ्गाभङ्गरूपप्रकृतहेत्वपेक्षविशेषत्वेनानुद्भाव्यतया संभाव्यमानेन बोधितो यदीयसाध्यस्य विपर्ययः स प्रकृतः प्रकरणसम इति नैतदपि सुस्थं, यद्युद्भावनकालात्पूर्वकालिकी संभावना विवक्षिता तदा तात्कालिकानुद्भावनपक्षोक्त एव दोषोतिदेष्टव्यः। अथोद्भावनस्य योवसरो भविष्यति तात्कालिकतया तदा सत्प्रतिपक्षताव्युत्पादनकाले सा नास्तीति विशेषणाभावात्तल्लक्षणाभावः। अथोच्यते यावत्सम्भावनानुवर्तते तावत्सत्प्रतिपक्षता किं सम्भावनायाः कालनियमगवेषणेन, मैवम् ॥३५८॥

ननु दोषवत्तयानुद्भावनं यद्यपि न निश्चितं तथापि सम्भावनास्त्येव तथा च दोषवत्तया सम्भावितानुद्भावनेन प्रतिहेतुना बोधितसाध्यविपर्ययत्वं लक्षणमस्तु तथा च प्रतिहेतूपन्यासाध्यवसायाऽसाधकतासाधनं च द्वयमप्युपपन्नमेवेति शङ्कते—अथेति। प्रतिहेतूपन्यासात्पूर्वमनुद्भावनसम्भावना चेद्विवक्षिता तदा प्रतिहेतूपन्यासानन्तरं स्थापनावादिदूषितेनापि प्रतिहेतुना सत्प्रतिपक्षता स्यादेव तल्लक्षणस्य तदानीमपि सत्त्वादित्याह—यदीति। ननु प्रतिहेतूपन्यासानन्तरकालीनानुद्भावनसम्भावना विवक्षिता तत्राह—तदेति। यत्र स्थापनावादिना प्रतिहेतौ दूषिते प्रतिवादी तदुद्धृत्य सत्प्रतिपक्षत्वमेव पुनर्द्रढयति तत्र दोषोद्भावनादेवानुद्भावनसम्भावनारूपविशेषणाभावात्सत्प्रतिपक्षलक्षण-

मव्यापकं स्यादित्यर्थः। यत्तु प्रतिहेतूपन्यासकाले तदुत्तरकालीनानुद्भावनसम्भावनारूप-विशेषणाभावाल्लक्षणमव्यापकं स्यादिति केनचिद्विवृतं तच्चिन्त्यम्। ननु सत्प्रतिपक्षत्वदृढी-करणदशायां सत्प्रतिपक्षतैव न विवक्षिता येनाव्याप्तिः स्यात् किन्तु वादिदत्तदोषोद्धारेण निरनुयोज्यानुयोगनिग्रहाद्वादिनो भङ्ग एव किं तदा सत्प्रतिपक्षता दृढीकरणेनेत्याह—अथोच्यते इति॥ ३५८॥

यदि कहा जाय कि भावीदोषवत्तारूप से अनुद्भावन के अनिश्चय होते भी, स्वहेतु में दोषशून्यता के सामान्य ज्ञान होने से अनुद्भावन की सम्भावना हो सकती है। अतः व्याप्तिपक्षधर्मता के भङ्गाभङ्गरूप प्रकृतहेतु (स्थापनाहेतु) की अपेक्षा वाले विशेषरूप से अनुद्भावनीयरूप से सम्भावना के विषयहेतु से जिस हेतु के साध्य का अभाव बोधित होता है, वह प्रकृतप्रकरणसम होता है। यह कथन भी नहीं है, क्योंकि यदि उद्भावन काल से पूर्वकाल में होने वाली सम्भावना विवक्षित हो, तो तात्कालिक = प्रतिहेतुप्रयोग कालिक उद्भावन पक्ष में उक्त ही दोष यहाँ भी समझना चाहिये, क्योंकि पूर्वकालिक अनुद्भावन संभावना उद्भावित दोष वाला हेतुमें भी रहता है। अतः उससे सत्प्रतिपक्षता की प्राप्तिरूप अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि हेतु के उपन्यास (कथन) के बाद जब स्थापनावादी से दोष के उद्भावन का अवसर जो होने वाला हो, तात्का-लिक रूप दोषानुद्भावन की सम्भावना विवक्षित है, तो जहाँ स्थापनावादी से प्रतिहेतु के दूषित होने पर प्रतिवादी उस दोष का उद्धार (खण्डन) करके सत्प्रतिपक्षत्व को ही फिर दृढ़ करता है, वहाँ दोष के उद्भावन से ही अनुद्भावनका सम्भावनारूप विशेषणके अभाव से लक्षण का अभाव होगा। अर्थात् प्रतिवादी से सत्प्रतिपक्षता के पुनः व्युत्पादन काल में प्रथम दोष के उद्भावन हो जाने से वह अनुद्भावन की सम्भावना नहीं करता है। अतः विशेषण के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि प्रतिहेतु में दोष के निश्चय या उद्भावन हो जाने से प्रतिपक्षता निवृत्त नहीं होती, किन्तु एक दोष के उद्भावन करने पर प्रतिवादी उसका उद्धार करके प्रतिपक्ष को दृढ़ करता है। पुनः दोषान्तर के अनुद्भावन की सम्भावना करता है। अतः प्रतिपक्ष के हेतु में जब तक दोषाऽनुद्भावना अनुवर्तमान रहती है तब तक प्रतिपक्षता भी वर्तमान रहती है। अतः सम्भावना के दोषोद्भावन से पूर्वादिकाल के अन्वेषण से क्या फल है? अर्थात् उक्त काल का विकल्प निरर्थक है। तो इस प्रकार यह कथन भी युक्त नहीं है॥ ३५८॥

एवं हि प्रतिहेतोर्दोषेनुद्भाविते प्रत्युत निर्दोषतयैव स्वीकृते दोषोद्भा-वनसम्भावनाया निवृत्तेः सत्प्रतिपक्षता व्यावर्त्तेत तथाचेत्थङ्कारमेव वादी सत्प्रतिपक्षतां परिहरेत् इति साधु स्यात्सत्प्रतिहेतोः प्रतिक्षेपमकृत्वा स्वी-कृत्यैव तत्सत्प्रतिपक्षता प्रतिक्षेप्तव्येति। नच स्वीकारादेव प्रतिहेतोः पराजयः स्यात्, सत्प्रतिपक्षतापरिहारोपायतया स्वीकारस्य करणात्, स्वीकारे सति सम्भावनानिवृत्त्या तल्लक्षणकस्य सत्प्रतिपक्षत्वस्यापि निवृत्तेः। तथास्वी-कारोप्ययं परस्यानिष्टार्थं सिद्धसाधने परकीयसाध्यस्वीकारवदुरुगुणाय स्वी-कर्त्तुर्नदोषायेति॥ ३५९॥

साधु प्रतिसाधनतया प्रयुक्तमिति वादिनाभिहिते दोषोद्भावनसम्भावना तावन्निवर्तते

एव तथा च विशेषणाभावात्तदा तल्लक्षणाभाव इत्याह—एवमिति। ननु यत्र स्वानिष्टमेवं वादी स्वीकरोति तत्र मास्तु सत्प्रतिपक्षता किं नः छिन्नमित्यत आह—तथाचेत्थमिति। यद्यपि यत्रैवं न स्वीकुर्यात्तत्र सावकाशः सत्प्रतिपक्षस्तथापि पूर्वदोषावष्टम्भोऽत्र एवं सत्प्रतिपक्षप्रतीकारं जानानः कथन्न प्रतिकुर्यादितिभावः। नन्वेवं स्वदोषाङ्गीकारे मतानुज्ञया वादी पराजितः स्यादित्यत आह—नचेति। दोषपरिजिहीर्षयायमभ्युपगमो न मतानुज्ञामापादयतीत्यर्थः। स्वीकाराभिप्रायमाह—स्वीकारे सतीति। ननु प्रतिसाधुत्वाभ्युपगमे तत्साध्यं स्वानिष्टं सिध्येदित्यपरमनिष्टं स्यादित्यतोनुरूपं दृष्टान्तमाह—सिद्धसाधन इति ॥ ३५९ ॥

इस प्रकार तो प्रतिहेतु के दोष के अनुद्भावित रहने पर, प्रत्युत (बल के = उलटा) निर्दोषता रूप के प्रतिहेतु से स्वीकार करने पर ही दोष के उद्भावन की सम्भावना की निवृत्ति से सत्प्रतिपक्षता व्यावृत्त हो जायगी (सम्भावना युक्त लक्षण नहीं रहेगा)। अर्थात् (शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वात्, घटवत्) यहाँ (शब्दो नित्यः, दुःखासमानाधिकरण-विभुविशेषगुणत्वात्, ईश्वरप्रमावत्) इस प्रतिहेतु में दोषानुद्भावन होने पर विरोध की निवृत्ति से और निर्दोष रूप से स्वीकार करने पर दोषानुद्भावन की संभावना निवृत्त हो जाती है, क्योंकि संभावना संशयविशेषरूप होती है अतः एक कोटि के निश्चय होने पर न संभावना रहती है और न सत्प्रतिपक्षता और ऐसा होने पर सब प्रतिपक्षस्थान में इस प्रकार ही वादी प्रतिपक्षता को त्याग करेगा अतः यह अच्छा होगा कि सत्प्रतिपक्षरूप प्रतिवादी के हेतु का प्रतिक्षेप (खण्डन) नहीं करके प्रत्युत स्वीकार करके ही उसकी प्रतिपक्षता (विरोधिता) प्रतिक्षेप्तव्य (निवारणीय) हुई। यदि कहा जाय कि प्रतिवादी के प्रतिहेतु के स्वीकार से ही वादी की पराजय होगी, तो यह पराजय का भय भी नहीं है, क्योंकि सत्प्रतिपक्षता (विरोध) के परिहार के उपाय (साधन) रूप से वादी प्रतिहेतु का स्वीकार करता है, तो विरोध की निवृत्ति से जय पराजय की भावना ही नहीं रहती है। और प्रतिहेतु के स्वीकार करने पर दोषा-नुद्भावन की संभावना की निवृत्ति से सम्भावनारूप लक्षण वाले सत्प्रतिपक्षत्व की भी निवृत्ति से उस प्रकार यह वादी कृत स्वीकार भी प्रतिवादी के अनिष्ट (पराजय) के लिये होगा जैसे सिद्ध साधन में प्रतिवादी के साध्य का स्वीकार उसकी पराजय के लिये होता है, और स्वीकार कर्ता वादी के लिये बहुत गुण के लिये होता है, दोष के लिये नहीं ॥ ३५९ ॥

यदि च सत्प्रतिपक्षो वादिनोः समानप्रतिपक्षदर्शनजनितात्स्वहेतावा-भासत्वसंशयात्तदा कचिदपि नास्ति सत्प्रतिपक्षता स्वहेतुपक्षपातेन पर-हेतावेव दोषः कश्चिदस्ति मया तु न गृह्यते इति ताभ्यां मन्यमानत्वात्, यदाह निश्चितौ हि विवादं कुरुत इति। अथौचित्यादावर्जितसंशयेन सत्प्रति-पक्षता स्यात् तदा सर्वत्रैव वादे सर्वानुमानानां सत्प्रतिपक्षता दुर्निवारा। तद्यथा शब्दानित्यत्वानुमानेन बुद्धिमद्भिः शतशः शब्दनित्यत्ववादिजयात् शब्दनित्यत्वानुमानेन च प्राज्ञैः शतशः शब्दानित्यत्ववादिजयात्। द्वयोः पक्ष-योरनुमानेषु कतरद्वस्तुतः सदनुमानमिति अर्हतो दोषसंशयस्य दुर्वार-त्वादिति ॥ ३६० ॥

लक्षणं दूषयित्वा फलं दूषयति—यदि चेति। प्रतिसाधनं दृष्ट्वा स्वसाधने हेत्वाभासत्वसंशयोत्र फलत्वेनाभिमतः स चाशक्यः स्वपक्षपातेन स्वसाधनस्य निर्दोषत्वेनैव निर्णीतत्वात् संशयानुपपत्तेरित्यर्थः। ननु विशेषदर्शनं तिरस्कृत्यापि तुल्यबलप्रतिसाधनदर्शनरूपदोषबलादन्योन्यस्य स्वहेतौ संशयोवश्यं भावीत्याह—अथेति। औचित्यादावर्जित आहार्य इति केचित्तन्न आहार्यसंशयाभ्युपगमे प्रतिसाधनोपन्यासानर्थक्यस्यावश्याभ्युपगमप्रसङ्गात् अनित्यत्वसाधकानुमानस्य नित्यत्वसाधकानुमानं तदानीमनुपन्यस्यमानमपि सत्प्रतिपक्षः स्यात् संशयापादकत्वादित्याह—तदेति। सन्देहमेवोपपादयति—द्वयोरिति। अर्हत इति। उचितस्य प्राप्तस्येत्यर्थः॥ ३६०॥

और यदि वादियों को समान बलयुक्त विरोधी पक्ष द्वयदर्शन जनित स्वस्व हेतुओं में आभासत्व (हेत्वाभासत्व) के संशय से सत्प्रतिपक्ष मान्य हो, और प्रतिहेतु दर्शन जन्य स्वहेतु में हेत्वाभासत्व का संशय ही प्रतिपक्ष का फल हो, तो कहीं भी सत्प्रतिपक्षता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि अपने अपने हेतु में पक्षपात से (सत्यहेतुत्व के अभिमान से) पर के हेतु में ही कोई दोष है, परन्तु मुझसे गृहीत (ज्ञात) नहीं हो रहा है, इस प्रकार वादी प्रतिवादी दोनों मानते हैं, अपने हेतु में हेत्वाभासत्व का संशय नहीं करते हैं। यह कहा भी गया है कि अपने-अपने पक्ष-सिद्धान्त में निश्चय वाले ही वाद करते हैं। यदि कहा जाय कि स्वहेतु में पक्षपात रहते भी प्रतिहेतु के दर्शनकाल में औचित्य (संशय) की योग्यता से आवर्जित (आगत = प्राप्त) संशय से सत्प्रतिपक्षता होगी, तो इस प्रकार सर्वत्र संशय हो सकने के कारण सभी वाद में सब अनुमानों में सत्प्रतिपक्षता दुर्निवार होगी। सब अनुमान सत्प्रतिपक्ष से दूषित होंगे। जैसे कि बुद्धिमान नैयायिकों से शब्द के अनित्यत्व के अनुमान द्वारा सैकड़ों वार शब्दनित्यत्ववादी मीमांसकों को जीते जाने से तथा प्राज्ञ मीमांसकों से शब्द के नित्यत्व के अनुमानद्वारा सैकड़ों वार शब्दानित्यत्ववादी नैयायिकों के जीते जाने से, दोनों पक्ष के अनुमानों में कौन अनुमान वस्तुतः सदनुमान है, इस प्रकार से अर्हत (उचित = योग्य) प्राप्त, दोष विषयक संशय के दुर्वारत्व से सब अनुमानों में सत्प्रतिपक्षता की प्राप्ति होगी, क्योंकि, उसका फलरूप संशय सर्वत्र वर्तमान है, अतः फलयुक्त सत्प्रतिपक्ष अनिर्वाच्य है॥ ३६०॥

प्रकारभेदाभावाच्च न कालात्ययापदिष्टः पृथक्। तद्यथा बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इत्यलक्षणं तथाहि बाधितविषयत्वं किं विवक्षितं न तावद्बलवता बोधितो विषयविपर्ययो यस्य तत्त्वं यथाश्रुतस्य सत्प्रतिपक्षेपि गतत्वात्। तत्र प्रत्यनुमानस्य प्रथमानुमानविषयविपर्ययबोधकस्य पक्षधर्मतादिबलसम्भवात्। अथ बलवतेत्यधिकबलेनेति विवक्षितं तदापि केवलव्यतिरेकिणोन्वयव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षे गतत्वादतिव्यापकत्वं तत्रान्वयव्यतिरेकिणः प्रतिहेतोः सपक्षसत्त्वलक्षणबलाधिक्यसंभवात्॥ ३६१॥

साध्यविपर्ययबोधघटितसत्प्रतिपक्षान्तर्भावः स्फुटः कालात्ययापदिष्टस्येति तत्खण्डनानन्तरं कालात्ययापदिष्टखण्डनमुपक्रमते—प्रकारेति। हेत्वाभासान्तरभेदकस्य प्रकारभेदस्याभावादित्यर्थः। यथाश्रुतस्येति। अविवेचितबलवत्त्वस्येत्यर्थः। सत्प्रतिपक्षस्य प्रतिबन्धकत्वं ननु साध्यविपर्ययबोधकत्वं यद्यपि तथापि तुल्यबलबोधितसाध्यविपर्ययत्वं सत्प्रतिपक्षत्वमित्यभिप्रेत्यैतदुक्तं अतिव्याप्तिं स्फुटयति तत्रेति। तदेति। यद्यपि व्यतिरे-

किणि सपक्षसत्त्वाभावेपि व्याप्तिपक्षधर्मतारूपबलसाम्यमिति नाधिकबलत्वमन्वयव्यति-रेकिणस्तथापि सपक्षसत्त्वादिकं बलमभिप्रेत्यैतदुक्तम् ॥ ३६१ ॥

साध्य के विपर्यय के ज्ञानयुक्त सत्प्रतिपक्ष के स्फुट अन्तर्गतता से सत्प्रतिपक्ष के बाद बाध का विचार किया गया है। वहाँ कहा जाता है कि उक्त हेत्वाभासों से प्रकार (भेदक) भेद के अभाव से कालात्ययापदिष्ट पृथक् हेत्वाभास नहीं है, जैसे बाधित विषय (साध्य) वाला कालात्ययापदिष्ट होता है, यह उसका लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि बाधितविषयत्व से क्या विवक्षित है, यह विचारणीय है। बलवान् प्रमाण से जिसके विषय (साध्य) का अभाव बोधित हो, वह (तत्त्व) बाधितविषयत्व है, यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यथाश्रुत (न्यूनाधिक बल के विचार से रहित) इस लक्षण की सत्प्रतिपक्ष में भी गति = अतिव्याप्ति होती है। उस सत्प्रतिपक्ष में भी प्रथम (स्थापन) अनुमान के विपर्यय (साध्याभाव) के बोधक दूसरा प्रत्यनुमान के पक्ष-धर्मता आदि बल का सम्भव रहता है और उस बलयुक्त प्रत्यनुमान से प्रथम अनुमान के साध्य के अभाव का बोधन होता है। अतः अतिव्याप्ति होगी। यदि बलवता, इससे अधिक बलवाले से साध्याभाव बोधित हो, ऐसा अर्थ विवक्षित हो, तो भी, केवल व्यतिरेकी के अन्वय व्यतिरेकी से सत्प्रतिपक्ष में लक्षण की प्राप्ति से अतिव्यापकता है, क्योंकि वहाँ केवलव्यतिरेकी से अन्वयव्यतिरेकी प्रतिहेतु में सपक्षसत्त्वरूप बलाधिक्य का सम्भव रहता है ॥ ३६१ ॥

किञ्चैवं प्रत्यक्षेणानुमानाभासबाधो न स्यात् प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्नि-कर्षोत्पन्नाभ्रान्तिज्ञानकरणत्वमात्रं बलमनुमानस्य तु पक्षधर्मत्वादि भूयिष्ठं बलमिति। अथ मन्यसेऽनन्यथासिद्धत्वं बलं विवक्षितं चेदमुच्यते तेनानन्यथा-सिद्धेन बोधितो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकस्तत्त्वं बाधितविषयत्वमिति, मैवम्, तथापि हि वस्तुतोनन्यथासिद्धेन सत्प्रतिपक्षेपि गतत्वादतिव्या-पकत्वम्। किञ्चान्यथेत्यन्येन प्रकारेणेत्युच्यते अनन्यथेति चानन्येन प्रका-रेण यस्मादन्यत्वं तेनैवेत्यर्थः सम्पद्यते तथा च वक्तव्यं किं तदन्यताप्रति-योगीति प्रामाण्यं तदिति चेत् आहो दुर्वैदग्धी भवतः प्रमाण्येनेति वक्तव्ये प्रामाण्याद्योन्यः स यो न भवति तेन प्रकारेण सिद्धः उत्पन्न प्रतीतो वा तेनेति ब्रुवाणस्य ॥ ३६२ ॥

किञ्चैवमिति। यद्यपि रूपवत्त्वादिकं यथायथं तत्रापि बलमधिकं तथापि तदविव-क्षयेदमुक्तम्। अथेति। सत्प्रतिपक्षस्थलेऽन्यथासिद्धेनैव साध्यविपर्ययबोधमतो नातिव्या-प्तिरिति भावः। यत्रानन्यथासिद्ध एव प्रतिहेतुर्वस्तुतस्तत्रातिव्याप्तिमाह—तथापीति। कुटिलोक्तिकत्वं लक्षणदोषमाह—किञ्चेति यस्मादन्यत्वमिति। अन्यत्वं सप्रतियोगिकं तेन यथा घटादन्यः पटादिः अनन्यस्तु घट एव तथा प्रामाण्यादन्यदप्रामाण्यमनन्यत्तु प्रामाण्यमेवेत्यर्थस्तथा च प्रामाण्येन सिद्ध इति वक्तव्ये प्रामाण्यप्रतियोगिकान्योन्या-भाववत् प्रतियोगिकान्योन्याभाववता सिद्ध इति महत्कौटिल्यमुक्तमित्यर्थः इति ब्रुपाण-स्याहो दुर्वैदग्धी भवत इति योजना ॥ ३६२ ॥

और उक्त रीति से प्रत्यक्ष प्रमाण से अग्नि आदि के अनुष्णत्वादि विषयक अनु-मानाभास (भ्रमात्मक अनुमान) का बाध नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ

सम्बन्ध से उत्पन्न अभ्रमात्मक ज्ञान का करणत्वमात्र बल रहता है, अनुमान को तो सपक्षसत्त्व पक्षधर्मत्वादि भूयिष्ठ (बहुत) बल रहता है, अतः प्रत्यक्ष में अधिक बलरूप विशेषण के अभाव से अनुमान का बाध नहीं हो सकता। यदि मानें कि अनन्यथा-सिद्धत्व रूप बल की विवक्षा करके यह लक्षण कहा जाता है कि अनन्यथा सिद्ध बल वाले से जिसके साध्य का अभाव बोधित होता है, वह कालात्ययापदिष्ट होता है। अतः प्रमाणता की अपेक्षा अन्य प्रकार से नहीं सिद्ध होने वाले बल वाले प्रत्यक्ष से, शङ्कितोपाधित्व के कारण दुर्बल अनुमान का बाध होता है। और सत्प्रतिपक्ष स्थान में भी अन्यथा सिद्ध से बाध होता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती, तो ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि वस्तुतः अनन्यथा सिद्ध प्रमाणरूप सदनुमान से जहाँ सत्प्रतिपक्ष होता है, वहाँ अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् (आकाशमनित्यं द्रव्यत्वात् भूमिवत्। आकाशं नित्यं निरवयवत्वादात्मवत्) यहाँ अवयवविभाग के बिना नाश की अनुपलब्धि से उपाधि शंका रहित अनन्यथा सिद्ध से साध्याभाव बोधित होता है। अतः अतिव्याप्ति होगी। और 'अन्यथा' इस शब्द से, अन्य प्रकार से यह अर्थ कहा जाता है। अर्थात् जिससे अन्यत्व होता है, उसी से, अन्य से नहीं यह अनन्यथा सिद्ध का अर्थ सिद्ध होता है। ऐसा होने पर प्रष्टव्य है कि उस अन्यता (भेद) का प्रतियोगी कौन है, यदि प्रामाण्य प्रतियोगी है, ऐसा कहें, तब तो जैसे घट से अन्य पटादि होता है, उससे अन्य घट ही होता है, वैसे ही प्रामाण्य से अन्य अप्रामाण्य होता है, उससे अन्यरूप अनन्य प्रामाण्य ही अर्थ होगा, अतः प्रामाण्य से सिद्ध इस अर्थ के वक्तव्य (कहने योग्य) रहते प्रमाण से जो अन्य है, वह जो नहीं है उस प्रकार से सिद्ध (उत्पन्न या प्रतीत = ज्ञात) जिसके साध्य का अभाव हो, इत्यादि कहने वाले आप की दुर्वैदग्धी (तुच्छ चातुर्य) आश्चर्य स्वरूप है ॥ ३६२ ॥

तथापि प्रमाणेन बोधितविपर्ययो विषयो यस्य स कालात्ययापदिष्ट इति न इदं रजतमिति शुक्तिं विषयीकुर्वति प्रत्यक्षाभासे नेदं रजतमिति-प्रमाणेन बाध्यमानेपि हेत्वाभासविशेषलक्षणमिदङ्गच्छदतिव्यापकत्वमाप-द्यते। एवं बाध्यविषयिण्यामिच्छायामपि गच्छेत्। प्रमाणेन बोधितो यदी-यविषयस्यान्यथा भावः स हेतुः कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, यदि मुख्यार्थो हेतुशब्दः तदा हेत्वाभासत्वव्याघातः, अथामुख्यार्थः तदा कोस्यार्थः यत्रैष व्यवस्थाप्यते इति सोभिधातव्यः। प्रमाणेन बोधितो यदीयविषयस्य व्यति-रेकः सः हेत्वाभासः कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, यद्यग्रे हेत्वाभास-त्वानिश्चयः तदा लक्षणस्य दुरवधारणत्वम्। अथ कालात्ययापदिष्टत्वेन नि-रूपिते एव हेत्वाभासत्वस्य निश्चयः तदा तत एव दुष्टत्वसिद्धेः कृतं पश्चात्प्रतीतिकस्य कालात्ययापदेशस्योपन्यासेनेति ॥ ३६३ ॥

ननूक्तिकौटिल्ये सत्यपि लक्षणमदुष्टमेवेत्यत आह—तथापीति। प्रमाणेन बाधकज्ञानेन बोधितसाध्यविपर्यये भ्रमेऽतिव्याप्तिः, भ्रमज्ञानस्य हेत्वाभासत्वायोगादिति भावः। भ्रमज-नितायामिच्छायामतिव्याप्तिमाह—एवमिति। बाध्यं रजतत्वादिविषयो यस्या इच्छायाः सा तथा तस्यामित्यर्थः। स हेतुरिति। तथा च न भ्रमे न वा तज्जनितायामिच्छायाम-

तिव्याप्तिस्तत्र हेतुत्वाभावादिति भावः। मुख्यार्थ इति। व्याप्तपक्षधर्मवचन इत्यर्थः न्यायावयव इति नार्थः अर्थस्यैव हेतुत्वाभासत्वस्य विचारात्। तदेति। व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टस्य हेत्वाभासत्वं व्याहतमित्यर्थः। अथेति। लाक्षणिकस्य हेतुशब्दस्य विविच्य विषयो वक्तव्य इत्यर्थः। पूर्वोक्तव्याघातपरिहाराय हेत्वाभासत्वेन विशेषणीयमित्याह— प्रामाणेनेति। पश्चात्प्रतीतिकस्येति। हेत्वाभासत्वगर्भलक्षणव्यवस्थाप्यस्येत्यर्थः॥ ३६३॥

अब शंका यह होती है कि अनन्यथा सिद्ध शब्द का प्रमाणसिद्ध यह अर्थ होता है, और वही व्यक्तव्य है, तो भी प्रमाण से बोधित विपर्यय = अभाव वाला जिसका विषय हो वह कालात्ययापदिष्ट होता है, यह लक्षण होगा। उत्तर यह है कि यह लक्षण नहीं होगा, क्योंकि शुक्ति को रजतरूप से विषय करने वाला (इदं रजतम्) यह रजत है, ऐसा प्रत्यक्षाभास (प्रत्यक्षभ्रम) होता है उसके 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है, इस प्रमाण (सत्य) ज्ञान से बाधित होने पर, उसमें भी यह हेत्वाभास का विशेष लक्षण अतिव्यापकता को प्राप्त होगा। इसी प्रकार भ्रमादिजनित शास्त्रादि से बाधित विषय वाली इच्छा (काम तृष्णा) में भी अतिव्याप्ति होगी। यदि उक्त अतिव्याप्ति के वारण के लिये कहें कि प्रमाण से जिस हेतु के विषय (साध्य) का अन्यथाभाव(अभाव) बोधित हो, वह हेतु कालात्ययापदिष्ट होता है। उक्त भ्रम या इच्छा में हेतुत्व के अभाव से इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है, तो यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि यदि हेतु शब्द का मुख्य (व्याप्तिपक्षधर्मतायुक्त सद्धेतु) अर्थ हो, तो उसमें हेत्वाभासत्व का का व्याघात (विरोध अभाव) होगा। और यदि हेतु शब्द का अमुख्य (लाक्षणिक) अर्थ हो, तो इसका कौन लाक्षणिकार्थ है जिस अर्थ में यह हेतु शब्द व्यवस्थित किया जाता है, यह अर्थ विचारणीय है। क्योंकि, विशेषण के ज्ञान बिना विशिष्ट लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि हेतु शब्द का हेत्वाभास अर्थ है, इस आशय से कहें कि प्रमाण से जिस हेत्वाभास के विषय का अभाव बोधित हो, वह हेत्वाभास कालात्ययापदिष्ट (बाधित) कहा जाता है तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि इस लक्षण के ज्ञान से प्रथम यदि हेत्वाभासत्व का ज्ञान नहीं हो, तो लक्षण दुर्ज्ञेय होगा। क्योंकि, वाक्यार्थ ज्ञान में सर्वत्र पदार्थ का ज्ञान कारण होता है। यदि कालात्ययापदिष्ट के अनिरूपित (अज्ञात) रहते ही उसके लक्षणादि से प्रथम ही हेत्वाभासत्व का निश्चय हो, तो उसीसे हेतु के दुष्टत्व (स्वसाध्यासाधकत्व) सिद्ध होने पर, पश्चात् जिसकी प्रतीति हो सकती है, उस कालात्ययापदिष्ट के उपन्यास (कथन) से वहाँ कोई फल नहीं हो सकता॥ ३६३॥

तदिदं त्वन्मते लक्षणमस्तु मा वा भूत् सामुद्रिकप्रमाणेन पुनर्महदेतदलक्षणं कालात्ययापदेशस्य येनास्य नाम हेत्वाभासभेदपदभ्रंशः प्रासाधि। अथ ब्रूषे हेत्वाभासत्वं हेतुसदृशतया प्रतीयमानत्वं न हेतुदोषवत्त्वम्—इति मैवं, हेतुना तुल्यता हि अहेतुत्वावगमं विना न शक्यप्रमितिः सादृश्यस्य भेदाधिष्ठानस्य तथैव प्रतीतेः, अन्यथा हेतोरपि हेत्वाभासत्वापातात् ततश्च हेतुरूपवैकल्पस्यावश्यं प्रत्येतव्यत्वेन प्रागुक्तदोषानिवृत्तिः। प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयपक्षव्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट—इति चेन्न, आश्रयासिद्ध-

व्यापनात्। आश्रयासिद्धव्यतिरिक्त इति विशेषणीयम्—इति चेन्न, विशेषणाद्यसिद्ध्या आश्रयासिद्धेन सह सङ्कीर्णकालात्ययापदिष्टोदाहरणमेवं न व्याप्येत ॥ ३६४ ॥

अनेन लक्षणेन कालात्ययापदिष्टो हेत्वाभासादेव प्रच्यावित इति महदिदमलक्षणमित्युपहसति—तदिदमिति। ननु हेतुसदृशत्वं हेत्वाभासत्वं नत्वनुमितिप्रतिबन्धकतावच्छेदकरूपवत्त्वं येन कालात्ययापदिष्टत्वज्ञानात्पूर्वमेवानुमितिप्रतिबन्धे किं तेनेति स्यादित्याह—अथेति। तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्वं सादृश्यं हेतुभिन्नत्वज्ञानात्प्रत्येतव्यमिति स एव दोष इत्याह—हेतुनेति। अन्यथेति। यदि सादृश्यं भेदगर्भं न स्यादित्यर्थः। ततश्चेति। हेतुभिन्नत्वं हेतुवैधर्म्यज्ञानाधीनमित्यर्थः। पक्षव्यतिरेक इति। तथा च हेत्वाभासपदप्रक्षेपदोषाभावः भ्रमतज्जन्येच्छयोश्च नातिव्याप्तिस्तत्र पक्षव्यतिरेकाभावादित्यर्थः। विपरीतप्रमायां सन्देहसिषाधयिषयोरभावान्न पक्षतेति भावः। यद्यपि बाधे प्रमाणेन पक्षव्यतिरेको न बोध्यते तथापि सम्भवाभिप्रायेणोक्तम्। आश्रयासिद्धेति। यद्यपि गगनारविन्दं सुरभीत्यादावाश्रयासिद्धे पक्षव्यतिरेको न प्रमाणबोध्यो न वा सिद्धसाधनस्थले पक्षव्यतिरेकः प्रमाणबोध्यस्तथापि प्रमाणेन सिद्धौ सत्यां सन्देहाभावात् पक्षताव्यतिरेक इत्येतावतैव तथोक्तम्। विशेषणाद्यसिद्ध्येति। सन्देहसिषाधयिषयोः पक्षविशेषणयोर्बाधे असिद्धिरिति तत्राश्रयासिद्धत्वं ध्रुवमिति तत्सङ्कीर्णबाधाव्याप्तिरित्यर्थः ॥३६४॥

उक्त हेतुओं से आप के मत में यह कालात्ययापदिष्ट का लक्षण हो या नहीं, तथापि सामुद्रिक (स्कन्दनामक शिवपुत्र रचित शिवजी से समुद्र में प्रक्षिप्त होने पर पुनः समुद्र से उपलब्ध ग्रन्थ विशेष) रूप प्रमाण से कालात्ययापदेश का यह लक्षण महान् कुलक्षणरूप है, जिस सामुद्रिक प्रमाणसिद्ध लक्षण से इस कालात्ययापदिष्ट का (नाम) प्रसिद्ध हेत्वाभास के भेदरूप पद (स्थान) से पतन सिद्ध किया गया है। अर्थात् सामुद्रिक कररेखा आदि जैसे आयु भंगादि का बोधक होता है, वैसे यह लक्षण भी प्रथम हेत्वाभासत्व के बोधन द्वारा इसके हेत्वाभासत्व के भ्रंश का बोधक है। यदि कहें कि इस लक्षणगत हेत्वाभास पद हेतु के सदृशरूपसे प्रतीत होने वाले अर्थ परक है अतः हेतु सदृशरूपसे प्रतीयमानत्व हेत्वाभासत्व यहाँ है, हेतु दोषत्व रूप नहीं अतः उक्त दोष नहीं है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि तद्‌भिन्न तद्‌गत बहुत धर्मवाला सदृश कहा जाता है। अतः अहेतुत्व (हेतुभिन्नत्व) के ज्ञान बिना हेतु से तुल्यता की प्रमिति हो (ज्ञान ही) अशक्य है, क्योंकि भेदरूप अधिष्ठान (आश्रय) वाले सादृश्य की उसी प्रकार से (भिन्नत्व ज्ञान पूर्वक ही) प्रतीति होती है। अन्यथा (यदि अभिन्न में भी सादृश्य हो) तो हेतु को भी हेत्वाभासत्व की प्राप्ति होगी। अतः हेतुसदृश में हेतु स्वरूप की विकलता (अभाव) के अवश्य लक्षण ज्ञान से प्रथम ज्ञातव्य होने के कारण पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् हेतु स्वरूप की विकलता का ज्ञान यदि प्रथम नहीं हो, तो लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। और यदि प्रथम से ज्ञात हो, तो उसी से हेतुमें दुष्टत्व के ज्ञान होने से कालात्ययापदिष्ट का यह लक्षण व्यर्थ होगा। प्रमाण से जिसके पक्ष का अभाव बोध्यमान हो (समझाया जाय) वह कालात्ययापदिष्ट है, इस लक्षण में हेत्वाभास पद के अभाव से उक्त दोष सम्भव नहीं है और भ्रमतज्जन्य इच्छा में पक्ष के अभाव से

अतिव्याप्ति भी नहीं हो सकती और सन्दिग्ध-साधन-इच्छा विषय-साध्य वाले पक्ष के होने से साध्याभाव के बोधन द्वारा साध्ययुक्त पक्षके अभाव के बोधन का सम्भव बाध स्थान में रहता है, अतः लक्षण का समन्वय होता है, परन्तु आश्रयासिद्ध में अतिव्याप्ति से यह लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि (गगनारविन्दं सुरभि) यहाँ भी गगन में पक्षत्व का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध रहता है तथा गगनारविन्द के अभाव की भी असिद्धि से उसमें सौरभ साध्य के पक्षत्व का अभाव सिद्ध रहता है। यदि आश्रयासिद्धि में अतिव्याप्ति वारण के लिये लक्षण में आश्रयासिद्धिभिन्नत्व विशेषण दें, तो विशेषणादि की असिद्धि के द्वारा आश्रयासिद्धि के साथ संकीर्ण (मिलित) कालात्ययापदिष्ट के उदाहरण में इस प्रकार लक्षण व्याप्त नहीं होगा, जैसे कि (प्रधानपुरुषेश्वरा अनित्याः पदार्थत्वात्) यहाँ पुरुष और ईश्वर के नित्यत्व ग्राहक प्रमाण के साथ विरोध से अनित्यत्व ग्राहक प्रमाण के साथ विरोध से अनित्यत्वरूप विशेषण की असिद्धि के साथ तथा विशेष्यस्वरूप प्रधान के ग्राहक प्रमाण के असत्त्व से आश्रयासिद्ध के साथ संकीर्ण कालात्ययापदिष्ट में उक्त लक्षण व्याप्त नहीं होगा है ॥ ३६४ ॥

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट— इति चेन्न, प्रत्यक्षाभासव्यापनात्, तत्रापि हि साध्यस्य ज्ञाप्यरूपस्य व्यतिरेको बोध्यते एव। प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयस्य साध्यस्य व्यापकस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, प्रमाणेन बोध्यमानाभावस्य प्रकृते हेतुव्यापकत्वासम्भवात्। प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य प्रतिज्ञातस्याभावः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, स्वार्थानुमाने कालात्ययापदिष्टस्यैवमव्यापनात्, तत्र शब्दरूपस्य प्रतिज्ञानस्याभावात्, शब्दस्य परार्थत्वात् ॥ ३६५ ॥

आश्रयासिद्धेः साध्यव्यतिरेकः प्रमाणेन न बोध्यत इति न तत्रातिव्याप्तिरिति शङ्कते— प्रमाणेनेति। साध्यपदं ज्ञाप्यपरं चेत्तत्राह—प्रत्यक्षेति। साध्यपदस्य व्यापकपरतामादाय शङ्कते—प्रमाणेनेति। कृतकत्वादिहेतुव्यापकत्वमनौष्ण्यादेः साध्यस्य न सम्भवतीति हेतुमति पक्षे यो बाधस्तत्राव्याप्तिरित्याह—प्रमाणेनेति। यद्यपि बाधे हेतुव्यापकत्वं साध्यस्य न सम्भवति तथापि प्रतिज्ञातत्वं भवत्येवेति तदादाय शङ्कते—प्रमाणेनेति। 'तत्रेति। साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेतिलक्षणानुसारादित्यर्थः। ननु स्वार्थानुमानेप्रतिज्ञैव कथं नास्तीत्यत आह—शब्दस्येति ॥ ३६५ ॥

आश्रयासिद्धि के साध्य का अभाव प्रमाण से नहीं बोधित होता है, इस आशय से शंका है कि जिस के साध्य का अभाव प्रमाण से ज्ञात हो वह कालात्ययापदिष्ट है। प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति भी इस लक्षण की नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय साध्य नहीं रहता। उत्तर यह है कि यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञाप्य (बोध्य) को भी साध्य कहा जाता है और प्रत्यक्षाभास के विषयरूप साध्य का अभाव भी प्रमाण से ज्ञाप्य होता है, अतः प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् (इदं रजतम्) इत्यादिभ्रम से ज्ञाप्यरूप साध्य के अभाव का ज्ञान प्रमाण से होता है अतः अतिव्याप्ति होगी ही। व्यापकार्थक साध्यपद को मान कर शंका होती है कि जिसके व्यापक साध्य का अभाव प्रमाण से बोध्यमान हो वह कालात्ययापदिष्ट है। उत्तर यह है कि प्रमाण

से जिस हेतु के साध्य का अभाव बोध्यमान है, वह साध्य प्रकृत हेतु का व्यापक नहीं हो सकता। अर्थात् (अग्निरनुष्णः, कृतकत्वात्) यहां प्रमाण से बोध्यमान अभाववाले अनुष्णत्व को कृतकत्व के व्यापकत्व के अभाव से लक्षण असम्भव है। यदि कहें कि जिस के प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञाविषय) साध्य का अभाव प्रमाण से बोध्यमान होता है, वह कालात्ययापदिष्ट है, तो इस प्रकार स्वार्थानुमान के कालात्ययापदिष्ट का यह लक्षण व्याप्त नहीं करेगा, अव्याप्ति होगी। क्योंकि, उस स्वार्थानुमान में शब्द-प्रयोगरूप प्रतिज्ञान (प्रतिज्ञा) का अभाव रहता है। पर बोधार्थक शब्द का प्रयोग होता है अतः शब्द में परार्थत्व होने से स्वार्थानुमान में शब्द के अभाव से अव्याप्ति होगी ॥ ३६५ ॥

प्रमाणेन बोध्यमानो यदीयसाध्यस्य पक्षनिविष्टस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति चेन्न, तथाभूतस्य पक्षाभासत्वाभ्युपगमेन मुख्यपक्षार्थत्वासम्भवात्। पक्षाभासनिविष्टस्येति क्रियमाणेतु पूर्वं पक्षाभासत्वप्रतीत्यप्रतीतिपक्षयोः पूर्वं हेत्वाभासत्वप्रतीत्यप्रतीतिपक्षोक्तदोषवत् दोषो द्रष्टव्यः। पक्षत्वाभिमतांशभूतस्येति क्रियमाणे च प्रष्टव्यं, किं पक्षत्वाभिमतत्वम्, पक्षतयाभ्युपगम्यमानत्वम्, अथ पक्षतया प्रमितत्वम्, उत पक्षतया प्रतीतिमात्रत्वम्। नाद्यः, दूषकं प्रति तदसम्भवात्, तेन बाध्यसाध्यस्य पक्षाभासतयैव प्रत्युताङ्गीकारात् ॥ ३६६ ॥

पक्षनिविष्टस्येति। तथा च न स्वार्थानुमानबाधाव्याप्तिस्तत्र प्रतिज्ञाविरहेपि पक्षसम्भवादिति भावः। क्वचिदपि बाधे पक्षता नास्तीति सर्वाव्याप्तिरित्याह—तथाभूतस्येति। पक्षाभासत्वप्रतीतावाश्रयासिद्ध्यैवानुमानदूषणे बाधानवकाशादित्याह—पूर्वमि'ति। दूषकं प्रतीति। बाधमुद्भावयन् वास्तवीं पक्षतां नाभ्युपगच्छतीत्यर्थः। बाध्यसाध्यस्येति। बाध्यं साध्यं यस्येत्यर्थः ॥ ३६६ ॥

जिस हेतु के पक्षनिविशिष्ट साध्य का अभाव प्रमाण से बोध्यमान हो, वह कालात्ययापदिष्ट है, ऐसा लक्षण करने से स्वार्थानुमान के बाध में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ प्रतिज्ञा के अभाव रहते भी पक्ष का संभव रहता है। तन्निष्ठसाध्य के अभाव के बोधन से लक्षण का समन्वय होगा। परन्तु यह लक्षण भी नहीं हो सकता, क्योंकि बाधस्थान में मुख्य संदिग्ध साध्यवत्स्वरूप पक्षार्थत्व के असम्भव से प्रमाण से बोध्यमान साध्य का विशेषणरूप पक्षाभासत्व के स्वीकार से उक्त लक्षण नहीं हो सकता। यदि कहें कि पक्षनिविशिष्ट के स्थान में पक्षाभासनिविष्ट कहने से उक्त दोष नहीं होगा। तब लक्षण यह होगा कि पक्षाभास में निविष्ट स्थिर जिसका साध्याभाव प्रमाण से बोध्यमान हो इत्यादि, तो ऐसा कहने पर प्रथम पक्षाभासत्व की प्रतीति और अप्रतीतिपक्ष में प्रथम हेत्वाभासत्व की प्रतीति और अप्रतीति पक्ष में पूर्वोक्त दोष के तुल्य दोष यहाँ ज्ञातव्य है। अर्थात् पक्षत्वाभासत्व की प्रथम प्रतीति होने पर उसीसे हेतु दुष्ट होगा, बाध निष्फल होगा, प्रतीति नहीं होने पर तद्विशिष्टलक्षण का ज्ञान नहीं होगा। यदि पक्षनिविष्ट के स्थान में पक्षाभासनिविष्ट नहीं कह कर, पक्षत्वाभिमतांशभूत, ऐसा कहें तो लक्षण होगा—जिसके पक्षत्वाभिमत अंश (साध्य) का अभाव प्रमाण से

बोध्यमान हो इत्यादि। परन्तु वहाँ यह प्रश्न होगा कि पक्षत्वाभिमतत्व क्या है? क्या पक्षरूप से अभिगम्यमानत्व (स्वीकृतत्व) है १, अथवा पक्षरूप से प्रमितत्व (प्रमाविषयत्व) है २, या पक्षरूप से प्रतीतिमात्र ३, इनमें प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि बाध के उद्भावनद्वारा पक्ष को दूषित करने वाले दूषक के प्रतिपक्षरूप से स्वीकृतत्व का असम्भव है, किन्तु उससे बाध्य साध्यवाले को पक्षाभासरूप से ही उल्टा अङ्गीकार किया जाता है ॥ ३६६ ॥

अनुमानवाद्यपेक्षयापि नियमाभावः, सदनुमानास्फूर्तौ मन्दप्रज्ञेन प्रज्ञाभिमानवता च मयि वदति स्फुटं दोषमपि को दूषयितुं शक्त इत्यभिप्रायेण यदृच्छया ज्ञातदोषस्यापि प्रयोगस्य सम्भवात्तत्रानुमानवादिना पक्षत्वाङ्गीकाराभावेन तथाभूतबाधितानुमानाव्यापकमिदं लक्षणं स्यात्। न च पक्षतयोपन्यस्यमानत्वमङ्गीकारार्थ इति युक्तं, तथा सति स्वार्थानुमाने कालात्ययापदेशाव्याप्तिः, नापि द्वितीयः, पक्षत्वेन प्रमिते विषये कालात्ययापदेशानवकाशात्, नापि तृतीयः, तदा ह्येवं लक्षणमिदं सम्पद्यते प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्य पक्षप्रतीतिविषयांशस्य व्यतिरेकः स कालात्ययापदिष्ट इति ॥ ३६७ ॥

ननु स्थापनावादिना स्वपक्षः पक्षत्वेनाभ्युपगम्यत एवेति नासम्भव इत्यत आह—'अनुमाने'ति। यत्र प्रौढो वादी बाधितमपि साधयितुं प्रक्रमते तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। अपक्षस्यापि पक्षतयोपन्यासः सम्भवतीति नाव्याप्तिरित्यत आह—नचेति। तथा सतीति। तत्रोपन्यासो नास्तीति भावः। पक्षत्वेनेति। बाधस्थले पक्षताविघटनध्रौव्यादित्यर्थः। पक्षप्रतीतिविषयांशस्येति। पक्षप्रतीतिविषयस्य धर्मिणोंऽशो धर्मः सिषाधयिषित इत्यर्थः ॥ ३६७ ॥

यदि कहें कि प्रतिवादी के प्रतिपक्षत्व के असम्भव होते भी स्थापनावादी से तो पक्षत्वरूप से स्वपक्ष अभ्युपगत होता ही है, असम्भव नहीं है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि बाधस्थान में अनुमानवादी (स्थापनावादी) की अपेक्षा से भी पक्षाभ्युपगम के नियम का अभाव है, जैसे सदनुमान को अस्फूर्ति = अप्रतिभास काल में मंदप्रज्ञ और प्रज्ञा के अभिमान वाले जब यह समझते हैं कि स्फुट दोष वाले पक्षादि मुझे कहते रहने पर कौन दूषित कर सकता है? वहाँ इस अभिप्राय से यदृच्छा (दैवयोग) से ज्ञात दोष वाले का भी प्रयोग का सम्भव रहता है। वहाँ दोषत्व के कारण अनुमानवादी से पक्षत्व के अङ्गीकार के अभाव से वैसे बाधितानुमान में यह लक्षण अव्यापक होगा। यदि कहा जाय कि वहाँ प्रज्ञाभिमानी पक्ष नहीं मानता हुआ भी पक्षरूप से उपन्यास (कथन) करता है। अतः पक्षरूप से उपन्यस्य (कथ्य) मानत्व ही अङ्गीकार का अर्थ है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार स्वार्थानुमान में जहाँ कालात्ययापदेश होगा, उसमें अव्याप्ति होगी। क्योंकि वहाँ उपन्यास नहीं होता है। पक्षरूप से प्रमितत्व रूप दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि पक्षत्वरूप से प्रमितविषय में कालात्ययापदिष्ट का अवकाश नहीं हो सकता। बाधस्थान में पक्षता (सन्दिग्धसाध्यवत्ता) का अभाव अवश्य रहता है। पक्षरूप से प्रतीतिमात्र,

पक्षत्वाभिमत हो, यह तृतीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि इस पक्ष में इस प्रकार यह लक्षण सिद्ध होगा जिस हेतु के साध्यरूप पक्ष की प्रतीति के विषयांश का प्रमाण से अभाव बोधित हो वह कालात्ययापदिष्ट है ॥ ३६७ ॥

अस्य च वाक्यार्थस्य न कदाचिदपि सम्भवं पश्यामः। यदा तावत्प्रमाणेन साध्यस्य व्यतिरेकबोधस्तदा पक्षप्रतीतिर्नास्ति विशेषदर्शने भ्रमस्यानवकाशात्। ततश्च तदा पक्षप्रतीत्यभावेन तद्विषयत्वाभावात्, तद्विषयांशस्येति विशेषणाभावाधीनो विशिष्टस्य लक्षणात्मनोऽभावः। यदा च प्रमाणेन साध्यव्यतिरेकबोधनं नास्ति तदा तस्यैव लक्षणभागस्याभावाल्लक्षणाभाव इति। नित्यमसत्त्वव्यवस्थितेन लक्षणेन लक्ष्यं व्यवस्थापयन् श्लाघनीयप्रज्ञो भवान् ॥ ३६८ ॥

अत्र च प्रतीतिर्भ्रान्तिर्विवक्षिता प्रमाया दूषितत्वात्। यदा साध्याभावप्रमा तदा पक्षप्रतीतिर्भ्रमरूपा न सम्भवतीत्यसम्भवो लक्षणदोष इत्याह—यदेति। यद्यपि साध्याभावप्रमा साध्यभ्रमं प्रतिबध्नाति नतु पक्षत्वभ्रममपि भिन्नविषयत्वात् तथापि सन्देहसिषाधयिषे विघटयन्ती तद्घटितपक्षत्वज्ञानमपि विघटयत्येवेति भावः। तथापि लक्षणे को दोष इत्यत आह—ततश्चेति। तथा च साध्याभावप्रमायां पक्षप्रतीतेरभावात्तद्घटितकालात्ययापदिष्टलक्षणाभाव एवेत्यर्थः। ननु साध्यविपरीतप्रमायां पक्षप्रतीतिर्मास्तु तदभावदशायां स्यादेवेत्यत आह—यदेति। तस्यैवेति। प्रमाणेन बोधित इत्यस्यैव भागस्येत्यर्थः। तथा च विशेषणद्वयविशिष्टस्य लक्षणस्य न कदापि सत्त्वमित्याह—नित्यमिति। असत्त्वव्यवस्थितेन व्यवस्थितासत्त्वेन ॥ ३६८ ॥

परन्तु उक्त लक्षणरूप वाक्य के अर्थ का कदापि सम्भव नहीं देखते। क्योंकि जब प्रथम प्रमाण से साध्य के अभाव का बोध होगा, तो सन्दिग्ध साध्यवाले पक्ष की प्रतीति नहीं हो सकती, विशेषरूप से साध्याभाव के दर्शन होने पर साध्यवत्त्व रूप से भ्रम का भी अवकाश (सम्भव) नहीं है। प्रमा हो ही नहीं सकती। अतः उस साध्याभाव के ज्ञान काल में पक्षप्रतीति के अभाव से उस प्रतीति के विषयत्व का अभाव रहता है और विषयत्व के अभाव से तद्विषयांश का अभाव रहता है, इस प्रकार तद्विषयांशरूप विशेषण के अभावाधीन बिशिष्ट लक्षण के स्वरूप का अभाव ही सिद्ध होता है। और जिस काल में प्रमाण से साध्य के अभाव का बोधन (ज्ञान) नहीं है, उस काल में उस प्रमाण से लक्षण का अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार सदा लक्ष्य में व्यवस्थित असत्त्व वाले लक्षण से लक्ष्य की व्यवस्था करने वाले आप की बुद्धि प्रशंसनीय (विचित्र) है ॥ ३६८ ॥

न च वैशेषिकप्रक्रियामाश्रित्य विनश्यदवस्थापि पक्षप्रतीतिस्तत्काले सम्भावनीया तदीयसाध्यव्यतिरेकावगमनिवर्त्तनीया हि सा तत् साध्यव्यतिरेकावगमश्च पूर्वमेव भूत इत्यवश्याभ्युपगम्यम् अन्यथा प्रमाणेन बोध्यमानत्वं कथं साध्यव्यतिरेकस्य तदावगम्येत ॥ ३६९ ॥

ननु पक्षप्रतीत्यव्यवहितोत्तरक्षणे साध्यविपरीतप्रमा स्यादिति विशेषणविशेष्योभयभागव्यवस्थितौ कथं व्यवस्थितासत्त्वं लक्षणं नहि विनश्यदवस्थेनापि ज्ञानेन यौगपद्यं नाङ्गीक्रियत इत्यत आह—नचेति। बाधोद्भावनकाले हि साध्यव्यतिरेकस्य प्रमाणेन

बोध्यमानत्वमवश्यमभ्युपेयमन्यथातद्धर्मबाधानुद्भावनापत्तेः तथा च तदुत्तरं पक्षप्रतीतिर्वाच्या सा च कथं विशेषदर्शने सति स्यादिति विनश्यदवस्थयापि तथा न यौगपद्यमित्यर्थः। बाधावताराऽनन्तरं पक्षप्रतीतिर्विवक्षिता न तु वैपरीत्यमित्यत्र विनिगमकमाह—अन्यथेति। यदि साध्यव्यतिरेकप्रमा पूर्वकालीना न विवक्षिता तदा वह्न्यादेः पक्षतयोपदर्शनकाले प्रमाणबोध्याभाववत्त्वं कथमुद्भाव्येत विशेषणीभूतस्य बाधस्य त्वया तदानीमनभ्युपगमादित्यर्थः। यत्तु विनश्यदविनश्यदवस्थयोः क्षणमात्रं सहभावेपि नोद्भावनकाले साहित्यमिति व्याख्यानं तच्चिन्त्यं शङ्कोत्तराभ्यामसंस्पर्शादिति बोध्यमानत्वमिति वर्तमानतया निर्देशो विशेषणत्वलाभाय ॥ ३६९ ॥

पूर्वोत्तरज्ञानों को बाध्यघातकभाव वैशेषिक प्रक्रिया है। क्योंकि योग्य विभुविशेषगुणों का स्वोत्तरवर्ती विशेषगुण से नाश्यत्व का नियम माना जाता है। अतः जहाँ प्रथम पक्ष की प्रतीति होगी और उत्तर काल में साध्याभाव का ज्ञान होगा, वहाँ साध्याभव के ज्ञान से पक्ष-प्रतीति की निवृत्ति होगी। अतः विनाशावस्थावाली पक्षप्रतीति को साध्याभावप्रतीति के साथ समकाल में वृत्तिता से इस वैशिषिक प्रक्रिया का आश्रयण करके विनश्यदवस्था वाली प्रतीति को साध्याभाव ज्ञान काल में सम्भावना नियत है। अतः उक्त लक्षण का समन्वय हो सकता, यह शंका है। उत्तर यह है कि यह समकालीनता सम्भावनीय नहीं है, क्योंकि, तदीय (पक्ष सम्बन्धी) साध्याभाव के ज्ञान से निर्वचनीय वह पक्षस्थ साध्य की प्रतीति है। और बाधोद्भावनस्थल में साध्याभाव का ज्ञान प्रथम ही होता है, यह अवश्य मन्तव्य है। और उसके बाद साध्यरहित पक्ष को प्रतीति होती है, जहाँ साध्याभाव का उद्भावन होता है। यदि पूर्व काल में साध्याभाव का ज्ञान नहीं हो, तो (वह्निरनुष्णः द्रव्यत्वात्) इत्यादि स्थान में वह्नि आदि के पक्षरूप से उपदर्शन काल में साध्याभाव में प्रमाण से बोध्यमानत्व कैसे उद्भावन किया जा सकता, या कैसे समझा जा सकता, क्योंकि उक्तरीति से विशेषणरूप बाध को आप उस समय नहीं मानते। अतः उद्भावन के अनुसार बाध प्रथम मन्तव्य है ॥ ३६९ ॥

न च वाच्यं प्रतीतिविषयत्वमिदं विशेषणं न भवति किन्तूपलक्षणम्, उपलक्षणेन चासतापि व्यवच्छिन्नप्रतीतिरुपजन्यते यथा काकवन्तो देवदत्तगृहा इत्युपलक्षणीभूतया काकवत्तया देवदत्तगृहस्य व्यवहारकाले इति। यतस्तत्रोपलक्ष्यो देवदत्तगृहस्य स्वाभाविको विशेषोस्ति व्यवहारकाले तेन काकवत्ताभावेपि तमादाय व्यवहारनियमप्रवृत्तिः न तु तत्राप्यसत उपलक्षणस्य कारणत्वम्। अत्र तु व्यक्तीनामुपलक्ष्यत्वे लक्षणस्याननुगमत्वम्, अनुगतं च किञ्चिदुपलक्ष्यं न लक्ष्यामहे। अत उक्तमेव वाक्यार्थमादाय प्रवर्तमाने लक्षणात्मके साधने विशेषणासिद्धिर्दुर्निवारा ॥ ३७० ॥

ननु साध्यव्यतिरेकप्रमापक्षप्रतीत्योर्यदि न यौगपद्यं तथाप्यनन्तरत्वमुपलक्षणमस्तु तस्य हि स्वासत्त्वकालेपि व्यावर्तकत्वमित्याशङ्क्य परिहरति—न च वाच्यमिति। काकवत्तया असत्येति शेषः। दार्ष्टान्तिके दृष्टान्तवैषम्यमाह—यत इति। यथा—तत्रोत्तृणत्वादिकमुपलक्ष्यतावच्छेदकमस्ति न तथा प्रकृते ह्रदादेः प्रत्येकमुपलक्ष्यत्वेनानुगम इत्यर्थः। तमादाय उत्तृणत्वादिकं विशेषमादाय व्यवहारनियमप्रवृत्तिः व्यावृत्तप्रतीतिः तथाचोत्तृणत्वस्यैव व्यावृत्तबोधकारणत्वं नत्वसतः काकस्येत्यर्थः। काकसत्त्वकाले काकवन्तो देवदत्तगृहा इति वाक्येऽन्वयानुपपत्त्या काकपदस्योत्तृणत्वे लक्षणा प्रत्यक्षकाले च काकपरि-

चायितोत्तृणत्वस्यैव विशिष्टप्रतीतिविषयत्वं नतु काकस्यापीति भावः। ननु प्रतीत्योर्विशेषणत्वोपलक्षणत्वयोरभावे को दोष इत्यत आह—अत इति। प्रमाणबोध्यमानपक्षप्रतीतिविषयांशव्यतिरेकत्वाद्यदा स्थापनानुमानस्याबाधकत्वमनुमेयं तदा स्वरूपासिद्धिः स्यादित्यर्थः। यद्वा बाधस्येतरभेदे साध्ये लक्षणस्य वाक्यार्थस्य हेतोः स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः॥ ३७०॥

अब यह शंका होती है कि प्रमाणजन्य यह सध्याभाव की प्रतीति का विषयत्व प्रतीतिविषयांश पक्ष का विशेषण नहीं होता, किन्तु उपलक्षण होता है, और असत् (अविद्यमान) उपलक्षण से भी व्यवच्छिन्न (व्यावृत्त) प्रतीति उत्पन्न होती है, जैसे काक वाला देवदत्त का घर है, ऐसा कहने पर, उपलक्षणस्वरूप काकवत्ता (काक) से व्यवहार काल में अविद्यमान से भी देवदत्तगृह की प्रतीति उत्पन्न होती है। उत्तर यह है कि यहाँ यह विचारणीय नहीं है, क्योंकि, उस दृष्टान्त में काकवत् शब्द से उपलक्ष्य (लक्षणया बोधित) देवदत्त गृह का स्वाभाविक विशेष उत्तृणत्व मृन्मयत्वादि व्यवहार काल में रहता है, इस कारण काक के अभाव होने पर भी उस विशेष का ग्रहण (ज्ञान) व्यवहार की नियम से प्रवृत्ति होती है, वहाँ अविद्यमान उपलक्षण को व्यवहारादि का जनकत्व नहीं होता है, यदि यहाँ उपलक्ष्य मानें, तो पक्ष व्यक्तियों के उपलक्ष्य होने पर लक्षण में अननुगतत्व होगा। और अनुगत कोई उपलक्ष्य देखते नहीं हैं। अतः उक्त वाक्यार्थ को ग्रहण करके प्रवर्तमान लक्षणरूप साधन में विशेषणासिद्धि दुर्निवार होगी। अर्थात् इस लक्षण से लक्ष्य में इतर भेद का अनुमान नहीं हो सकेगा॥ ३७०॥

एतेन पूर्वं शङ्कितस्य हेतुरित्यस्य प्रत्यक्षाभासव्यवच्छेदार्थमुपात्तस्य स्थाने हेतुत्वाभिमत इत्येतादृशस्य करणं दूषितप्रायम्। अथ ब्रूषे प्रमाणेन बोधितो यदीयसाध्यस्याभावः स प्रत्यक्षाभासातिरिक्तः कालात्ययापदिष्ट इति, नैतदपि सुस्थम्, शब्दोपमानाभाससाधारण्यात्तद्व्यतिरिक्त इत्यपि विशेषणीयमिति चेदेतदपि विचार्यतां किं प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वं प्रत्यक्षाभासादिभ्यो वैधर्म्यं किञ्चित्, उत स्वरूपभेदः, अथवान्योन्याभावः, न तावदाद्यः। तद्भेदकस्य धर्मस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। नापि द्वितीयः, स्वरूपस्य परस्परव्यावृत्ततया लक्षणानौपयिकत्वात्। नापि तृतीयः, व्यतिरिक्तत्वस्यान्योन्याभावात्मनः प्रत्यक्षाभासादावपि भावेन तद्व्यवच्छेदकत्वानुपपत्तेः॥ ३७१॥

एतेनेति। अभिमतिरभ्युपगमः प्रमा वा भ्रान्तिर्वेत्यादिविकल्पदोषेणेत्यर्थः। अत्रापि हेतुत्वेनाभ्युपगमो न प्रतिवादिनः तेन हेत्वाभासत्वेनैव वादिहेतोरभ्युपगमात्। नापि वादिनः प्रौढेन वादिना हेत्वाभासत्वाभिमतेनापि स्थापनाकरणात् प्रमा चासम्भावितैव अहेतुत्वेन विशेषदर्शनानन्तरं हेतुत्वेन भ्रमानवकाशादिति भावः। पूर्वं शङ्किते लक्षणे प्रत्यक्षाभासातिव्याप्तिवारणाय तदन्यत्वेन विशेषणं शङ्कते—अथेति। तद्भेदकस्येति। भेदको हि धर्मः कालात्ययापदेशस्य लक्षणं भवेत्तच्चाद्यापि न निर्व्यूढमित्यर्थः। स्वरूपस्येति। स्वरूपभेदे हि ग्राह्ये लक्षणं नोपायः तदन्तरेणापि लक्षणं परस्परं स्वरूपभेदस्थितेरिति लक्षणप्रणयनानर्थक्यमित्यर्थः। व्यतिरिक्तत्वमन्योन्याभाववत्त्वमात्रं वा प्रत्यक्षाभासादिप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वं वा आद्यं दूषयति—व्यतिरिक्तत्वस्येति॥ ३७१॥

प्रथम प्रत्यक्षाभास के व्यवच्छेद के लिये हेतु के स्थान में शंकित हेतुत्वाभिमत

ऐसा विशेषण करना भी प्रायः दूषित हो गया। वह अभिमत प्रमा या भ्रान्ति नहीं मानी जा सकती, और हेतुत्वरूप से अभ्युपगम भी प्रतिवादी या वादी का नहीं हो सकता इत्यादि। फिर भी प्रत्यक्षाभास में अतिव्याप्ति वारण के लिये यदि कहें कि (जिसके साध्य का अभाव प्रमाण से बोधित हो, प्रत्यक्षाभास से भिन्न वह कालातययापदिष्ट है) यह भी सुन्दर स्थिति वाला नहीं है। क्योंकि इस लक्षण की शब्दाभास और उपमानाभास में साधारणता (अतिव्याप्ति) होती है। यदि शब्दाभास एवं उपमानाभास से व्यतिरिक्त भी विशेषण देना चाहिये, ऐसा माना जाय, तो यह भी विचार कर्तव्य है कि प्रत्यक्षाभासादि से व्यतिरिक्तत्व अनुमितिगतबाध में क्या है। क्या प्रत्यक्षाभासादि से कोई वैधर्म्य (विरोधी धर्म) है। अथवा स्वरूप भेद है या अन्योन्याभाव है। यहाँ प्रथमपक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि वह भेदक धर्म बाध का लक्षण हो सकता है, परन्तु वह लक्षण भेदक धर्म निर्वचन के अयोग्य है। द्वितीयस्वरूपात्मक व्यतिरिक्तत्व को नहीं कह सकते। क्योंकि स्वरूप के परस्पर व्यावृत्त होने से लक्षण के उपयोगी स्वरूप नहीं हो सकते। स्वरूप ज्ञान के लिये लक्षण किया जाता है, मिलितस्वरूप का लक्षण होना असम्भव है। प्रत्येक स्वरूप के लक्षण होने पर अव्याप्ति होगी। क्योंकि सब स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा। तृतीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि अन्योन्याभावस्वरूप व्यतिरेक के प्रत्यक्षाभासादि में भी रहने से, उनके व्यवच्छेदकत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी ॥ ३७१ ॥

ननु न व्यतिरिक्तत्वमात्रमन्योन्याभावरूपविशेषणमस्माभिर्निरूपितं किं नाम प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्तत्वम्। नच प्रत्यक्षाभासादयः स्वात्मस्य एव भिन्नाः तत्कथमुक्तस्य प्रसङ्गस्यावकाशः। अवगतमिदं त्वद्विवक्षितमेतदेव विचार्यते। किं प्रत्यक्षाभासादिभिर्विशेषितोऽन्योन्याभावस्त्वयोच्यते, उत तैरुपलक्षितः, यं प्रत्यक्षाभासादिष्वप्रसक्तं मन्यसे, आद्यस्तावन्न सम्भवति, नहि प्रतियोगिरूपविशेषणसहितोभावः क्वचिदप्यस्ति, ततस्तादृशस्य विवक्षितत्वे सर्वाव्याप्तिः, द्वितीये तु प्रत्यक्षाभासादिभिरुपलक्षणै र्यदुपलक्ष्यमन्योन्याभावस्य स्वरूपमेकं तत् प्रत्यक्षाभासादिषु बाधितानुमानेषु च साधारणमिति कथं नोक्तदोषप्रसङ्गः ॥ ३७२ ॥

अन्यमाशङ्क्य दूषयति—किं नामेति। प्रतियोगिविशिष्टस्यान्योन्याभावस्य प्रतियोगिनो विशेषणस्यासत्त्वादसत्त्वमितिप्रत्यक्षाभासरहिते बाधितहेतौ तद्विशिष्टान्योन्याभावस्याप्यभाव एवेति सर्वकालात्ययापदिष्टाव्याप्तिरित्यर्थः। ननु प्रतियोगिनो न विशेषणत्वं येन घटान्योन्याभाववति पटे घटाभावात्तदन्योन्याभावोपि न भवेदपि तूपलक्षणं तथा च नोक्तदोष इत्यत आह—प्रत्यक्षाभासादिभिरिति। प्रत्यक्षाभासादिकालात्ययापदिष्टयोरेक एवान्योन्याभावः स यथा कालात्ययापदिष्टे तथा प्रत्यक्षाभासादावपीत्युक्त एव प्रसङ्गोऽतिव्याप्तिरूप इत्यर्थः ॥ ३७२ ॥

अब शंका यह होती है कि प्रत्यक्षाभासादि से व्यतिरिक्त प्रमाणबाधित जिसका साध्याभाव हो, यहाँ व्यतिरिक्तत्वमात्र अन्योन्याभाव रूप विशेषण निरूपित (वर्णित) नहीं हुआ है, किन्तु प्रत्यक्षाभासादि से व्यतिरिक्तत्व निरूपित हुआ है। और प्रत्यक्षा-

भासादि स्वात्मा से ही भिन्न नहीं है, तो उक्त प्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) कैसे हो सकता है। उत्तर यह है कि यह आप का विवक्षित तत्त्व अवगत हुआ। इसी का विचार किया जाता है। क्या प्रत्यक्षाभासादि से विशेषित (विशिष्ट) अन्योन्याभाव बाध में आप से कहा जाता है, अथवा प्रत्यक्षाभासादि से उपलक्षित कहा जाता है, जिस अन्योन्याव को प्रत्यक्षाभासादि में आप अप्रसक्त (अव्याप्त) मानते हैं, वह कैसा है। विशिष्ट या उपलक्षित, यहाँ प्रथम प्रक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी रूप विशेषण सहित अभाव कहीं नहीं रहता। अतः प्रत्यक्षाभासादि सहित अन्योभाव के बाध में सर्वत्राभाव से, तादृश (विशिष्टाभाव) के विवक्षिततत्व होने पर सब बाध में अव्याप्ति होगी (असम्भव होगा) और दूसरे पक्ष में तो प्रत्यक्षाभासादिरूप उपलक्षणों से उपलक्षित (लक्षित = बोधित) जो अन्योन्याभाव एक स्वरूप है। वह प्रत्यक्षाभासादि में और बाधित अनुमानों में साधारण है, तो उक्त प्रसङ्ग (प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति) कैसे नहीं होगा। अवश्य होगा ॥ ३७२ ॥

अन्यदस्तु सदात्मकं विशेषणं, प्रतियोगित्वभावस्यासन्नेव तज्ज्ञानस्य विशेष्ये व्यावृत्तबुद्ध्याधानाविरोधात्, विशेषणं भवतीति चेत्, अयुक्तमेतत्, विशिष्टं तावदभावस्य स्वरूपमिहोपात्तं, तच्च विशेष्यमात्रशरीरं न भवितुमर्हति, तथा सति विशेष्यस्वरूपमेवोच्यतां वृथा विशेषणपदोपन्यासः, तदनुपन्यासे चान्योन्याभाववत्त्वमात्रमुपन्यस्तं भवेत्तच्च प्रत्यक्षाभासादेर्व्यवच्छेद्यस्यसङ्ग्राहकं ततश्च विशेष्यादन्योन्याभावादधिकं किञ्चिद्वक्तव्यं तद्विशिष्टमुपन्यस्यताम्। सच यदि प्रतियोगी तदीयोभिधीयते तर्हि तस्याभावात्तदानीं विशिष्टाभावः प्रसक्तः, विशेष्यमात्रं परिशिष्टं तच्च केवलमतिप्रसक्तं, तस्माद्विशिष्टव्यवहारप्रवर्त्तनकाले विशेष्यातिरिक्तं किञ्चिदनभ्युपेत्य विशिष्टसत्ता व्यवहर्त्तुमशक्या, अतः प्रतियोगी नाभावस्य विशेषणं भवितुमर्हति उपलक्षणं तु स्यात्तत्र चोक्तमेव ॥ ३७३ ॥

ननु देशतः कालतो वा असतोपि प्रतियोगिनो विशेषणत्वमेव तथाच नोपलक्षणपक्षोक्तातिव्याप्तिर्दोष इत्याह—अन्यदस्त्विति। अन्यत् द्रव्यगुणकर्मादि तथाच कालात्ययापदिष्टे प्रत्यक्षाभासासत्त्वेपि तद्विशिष्टस्तदन्योन्याभावः स्यादेवेति न सर्वाव्याप्तिरिति भावः। विशेषणासत्त्वेपि विशेष्यस्यान्योन्याभावमात्रस्य सत्त्वाद्यदि लक्षणगमनमुपपादितं तदा विशेष्यमात्रवति प्रत्यक्षाभासादावपि लक्षणमतिव्यापकमित्याह—विशिष्टं तावदिति। ननूक्तं प्रतियोग्येव स्वज्ञानद्वारा व्यावृत्तबुद्धिं जनयद्विशेषणमित्यत आह—स च यदीति। तर्हि विशेषणस्य प्रतियोगिनोन्योन्याभावे देशतः, संसर्गाभावे च कालतोप्यभावाद्विशिष्टस्याऽन्योन्याभावः प्रसक्त इत्यन्योन्याभावमात्रमवशिष्यते तत्रातिप्रसक्तिरुक्तैवेत्यर्थः ॥ ३७३ ॥

यहाँ यह शंका होती है कि प्रत्यक्षाभासादि अन्योन्याभाव का उपलक्षण नहीं है, किन्तु विशेषण है और विशेषण में भी अन्य = द्रव्यगुणकर्मादि सदात्मक = स्वरूप से वर्तमान होकर विशेषण होता है। परन्तु प्रतियोगी तो असत् = अवर्तमान होता हुआ ही अभाव का विशेषण होता है। क्योंकि प्रतियोगी का ज्ञान विशेष्य अभाव में इतर व्यावृत्त बुद्धि का आधान (ज्ञान) कराता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। उत्तर यह

है कि यदि ऐसी शंका हो, तो यह अयुक्त है, अर्थात् प्रत्यक्षाभासादि के नहीं रहते उससे विशिष्ट अन्योन्याभाव हो जिससे सर्वाव्याप्ति नहीं हो, यह वचन अयुक्त है। क्योंकि इस बाध के लक्षण में प्रत्यक्षाभासादि से विशिष्ट अन्योन्याभाव स्वरूप गृहीत हुआ है। और वह विशिष्ट स्वरूप विशेष्य (अन्योन्याभाव) मात्र स्वरूप वाला नहीं हो सकता। और वैसा ही हो (विशेष्यमात्रस्वरूप वाला ही हो) तो विशेष्य स्वरूप ही कहा जाय, विशेषण वाचक पद का कथन व्यर्थ है) और विशेषण वाचक पद के अनुच्चारण होने पर, बाध में अन्योन्याभाववत्त्वमात्र उपन्यस्त (वर्णित) होगा, वह व्यवच्छेद्य प्रत्यक्षाभासादि का भी संग्राहक होगा। क्योंकि केवल अन्योन्याभाववत्त्व प्रत्यक्षाभासादि में रहता ही है। अतः विशेष्य अन्योन्याभाव से अधिक कुछ विशेषण कहना होगा, और वह अधिक पदार्थ यदि उस अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है, तो प्रत्यक्षभासादि प्रतियोगी के उसके अनुसम्बन्धी बाध काल में अभाव से प्रतियोगी विशिष्ट अभाव का भी अभाव प्राप्त होगा, फिर विशेष्य (अन्योन्याभाव) मात्र परिशिष्ट रहेगा। और वह प्रत्यक्षाभासादि विशेषण रहित अन्योन्याभाव विशेष्य प्रत्यक्षाभासादि में प्रसक्त (अतिव्याप्तियुक्त) है। अतः विशिष्ट के व्यवहार की प्रवृत्ति काल में विशेष्य से भिन्न किसी विशेषण को नहीं मान कर विशिष्ट की सत्ता का व्यवहार करना (कहना) अशक्य है। अतः अवर्तमान प्रतियोगी अभाव का विशेषण नहीं हो सकता। और उपलक्षण तो हो सकता है, परन्तु उपलक्षण पक्ष में दूषण कहा ही गया है ॥ ३७३ ॥

नचान्योन्याभाव एको न भवति भिन्नप्रतियोगिनौ द्वावभावौ तौ। तथाच प्रतियोगिलक्षितं तत्स्वरूपमन्यदेवेति सिद्धान्ताविरोधि, नच युक्तम्। उभयं ह्यन्योन्याभावस्यैकात्मतया प्रतियोगि, एकात्मतायाश्च भेदविरोध एव। ततश्च येन रूपेण प्रतियोगित्वं तेन रूपेण भेदानवकाशाद्भिन्नप्रतियोगिता कुतोऽन्योन्याभावस्य येन रूपेण भिन्नता तेनान्योन्याभावं प्रति प्रतियोगिता नास्ति वस्तुनोः। ननु वस्तुतस्तयोरेकत्वाभावात्कथमेकतया प्रतियोगित्वमन्योन्याभावं प्रति घटते वस्तुनोः। यथा वस्तुतो भूतलसंसर्गाभावेपि घटस्य भूतलसंसृष्टतया भूतलसंसर्गाभावं प्रति, तत्र यथान्यद् भूतलसंसृष्टतया दृष्टं तथात्रापि तावेव सप्रकारभेदौ तदात्मानौ दृष्टौ सोयं त्वद्दर्शनाभिप्रायो नास्माकं निर्वाह्य इत्यास्तां विस्तरः॥ ३७४ ॥

ननु यदि प्रत्यक्षाभासादिकालात्ययापदिष्टयोरेक एवान्योन्याभावो भवेत्तदा प्रत्यक्षाभासान्योन्याभाववत्त्वं प्रत्यक्षाभासेपि स्यादित्यतिप्रसङ्गो भवेत्किं नाम प्रतियोगिभेदादन्योन्याभावभेदोपीत्यतआह—नचेति। अभावद्वैतं न सिद्धान्ताविरोधि नवा युक्तमित्युभयमुपपादयति-उभयमिति। घटपटतादात्म्यं प्रतियोगि वाच्यमन्योन्याभावे संसर्गाभावभेदकं तच्चात्यन्तासदिति तदात्मीभूतौ घटपटावेव प्रतियोगिनौ तथाच तयोरैक्यात्तत्प्रतियोगिभेदो येनाभावभेदः स्यात्। किञ्च घटपटयोर्भेदोऽन्योन्याभावः सच व्यासज्यवृत्तिरेक एव वाच्यो भेदे प्रमाणाभावात्। घटपटौ भिन्नावित्येकस्यैव भेदस्यान्योन्याभावात्मन उभयविशेषणतया भानसम्भवे तद्भेदकल्पनायाया प्रमाणाभाव इति भावः। ननु घटपयोर्यद्यैक्यं स्यात्तदा प्रतियोगिभेदाभावादभावभेदो नस्यात्तदेवत्वसम्भवीत्याह—नन्विति। यथा घटभूतलयोरसन्नपि संसर्गः प्रतियोगितावच्छेदकस्तथा तादात्म्यमपि घटपटयोस्त-

थास्यात्तथाच तदात्म्यावच्छिन्नौ तावभिन्नाविति कथं प्रतियोगिभेद इति दृष्टान्तेनोपपादयति—यथेति । ननु तत्र घटान्तरं स एव वा घटो भूतलसंसृष्टो दृष्टः प्रकृते तु घटपटौ न कदापि तदात्मानाविति वैषम्यमत आह—तत्रेति । सप्रकारभेदाविति । घटपटयोरपि प्रमेयत्वसत्त्वद्रव्यत्वप्रकारभेदसहितसत्त्वयापि तादात्म्यमभ्युपेयं नहि तत्तत्प्रकारकृतोऽप्यनयोर्भेदस्तथानुभवादित्यर्थः । ननु तवानिर्वचनीयवादिनः कथमयं निरुक्तिग्रह इत्यत आह—सोयमिति ॥ ३७४ ॥

फिर शंका यह होती है कि प्रतियोगी के उपलक्षण होने पर भी प्रत्यक्षाभास का अन्योन्याभाव प्रत्यक्षाभास में नहीं रह सकता, क्योंकि अन्योन्याभाव एक नहीं किन्तु प्रत्यक्षाभास का कालात्ययापदिष्ट में एक अन्योन्याभाव है, और कालात्ययापदिष्ट का प्रत्यक्षाभास में दूसरा अन्योन्याभाव है, क्योंकि प्रतीयोगी के भेद से अभाव का भेद होता है । भिन्न प्रतियोगी वाले वे दो अभाव हैं, अतः प्रत्यक्षाभासप्रतियोगिक अन्योन्याभाव के प्रत्यक्षाभास में नहीं रहने से अतिव्याप्ति नहीं है । उत्तर यह है कि यह ऐसा होने पर प्रतियोगी से उपलक्षित उस अभाव का स्वरूप अन्य ही होगा, यह सिद्धान्त का अविरोधी स्वरूप होता हुआ भी युक्त नहीं होगा, क्योंकि जहाँ घट पट का अन्योन्याभाव है वहाँ घट पट दोनों एकात्मता (तादात्म्य = अभेद) रूप से अन्योन्याभाव के प्रतियोगी होते हैं, और एकात्मता (तादात्म्य) का भेद विरोध स्वरूप है, अतः जिस रूप से (तादात्म्य) प्रतियोगित्व रहता है, उस रूप से भेद का अवकाश नहीं रहता, तो भिन्नप्रतियोगिवत्ता अन्योन्याभाव को कैसे हो सकता है ? तादात्म्य में भेद का अभाव है, और जिस घटत्व पटत्वादिरूप से वस्तुओं में भिन्नता है, उस रूप से अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता वस्तु में नहीं है । अब शंका होती है कि वस्तुतः घटपटादि के एकत्व (तादात्म्य) के अभाव होते, उस एकत्व रूप से अन्योन्याभाव के प्रति वस्तुओं का प्रतियोगित्व कैसे संघटित (युक्त) होगा, और प्रतियोगी में एकत्व के बिना अभाव का भी एकत्व नहीं होगा । उत्तर यह है कि वस्तु स्वरूप घट का वस्तुतः भूतल के संसर्ग के अभाव रहते भी भूतल में घट के संसर्गाभाव के प्रति जैसे भूतल संसृष्ट (सम्बन्ध) रूप से घट प्रतियोगी होता है । वहाँ घट और भूतल का सम्बन्ध नहीं रहते भी प्रतियोगी का विशेषण होता है । वहाँ अन्य वस्तु जैसे भूतल संसृष्ट रूप दृष्ट होता है, परन्तु संसृष्ट रूप से आरोपित (असत्) घट का निषेध होता है, असत् ही प्रतियोगी होता है । वैसे ही यहाँ भी वे घट पट प्रकार भेदवाले भिन्न-भिन्न तदात्मस्वरूप दृष्ट होते हैं । परन्तु परस्पर के आरोपित (असत्) तादात्म्य, 'घटः पटो न' 'पटो घटो न' इत्यादि अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होता है । और यदि कहें कि घटान्तर या वही घटसंसृष्ट कभी देखा जाता है । परन्तु घट पट का तादात्म्य कभी दृष्ट नहीं होता, तो वह प्रतियोगी कैसे होगा ? तो घट पट के तादात्म्य को भी आप प्रमेयत्व सत्त्वादि रूप से मानते ही हैं । क्योंकि प्रमेयत्वादि रूप से इनका भेद अनुभव से विरुद्ध है । यह पूर्वोक्त आप के दर्शन का अभिप्राय है, हमें इसका निर्वाह कर्तव्य नहीं है । आप यदि अन्योन्याभाव के तादात्म्य प्रतियोगित्व को मान कर त्यागते हैं, तो अपसिद्धान्त होता है, नहीं त्यागते हैं तो असत् प्रतियोगित्व का निर्वाह करना पड़ता है, हमें अनिर्वचनीयवादी को नहीं, अतः यहाँ तक ही विस्तार रहेगा ॥ ३७४ ॥

अपि च घटपटयोः स्वरूपभेदेन वैधर्म्यभेदेन चोभयकोटीकृतयोरन्यो-न्याभावनिरूपणं भवति, अत्र तु प्रत्यक्षाभासादेः प्रत्यक्षाभासत्वादिनैक-कोटितास्तु नाम। यत्तु प्रत्यक्षाभासादिव्यतिरिक्ततया प्रतिपत्तव्यं तस्य केन रूपेणैककोटीकरणं, न तावत् प्रतिव्यक्तिभिन्नेन स्वरूपेण, तेषामनन्ततया बुद्धिस्थीकर्तुमशक्यत्वात्। नापि यद्रूपतयोपात्तं विशेष्यं प्रत्यक्षाभासादि-व्यतिरिक्तत्वेन विशेषणेन विशेषणीयं तद्रूपकोडीकृततयैवान्योभावनिरूपण-मिति युक्तं तस्य रूपस्य प्रत्यक्षाभासादिसङ्ग्राहकतया कोटिद्वैतभङ्गापाद-कत्वेनान्योन्याभावनिरूपणविरोधात्तस्मात्स्वरूपभेदं वैधर्म्यभेदं वा कोटिद्वय-व्यवस्थापकमप्रतिसन्धायान्योन्याभवनिरूपणमशक्यमिति स्थिते स्वरूपभेद-पक्षस्येह दूषितत्वात्, धर्मभेदः कश्चिद्वक्तव्यः, नचासौ वक्तुं शक्यः, शक्यत्वे वा तमादायैव लक्षणव्यवस्थितिरस्तु कृतमन्योन्यव्यतिरिक्तत्वकु-युक्त्या॥ ३७५॥

भवतु प्रतियोगिभेदादन्योन्याभावभेदस्तथापि प्रकृते स दुर्ग्रह इत्याह—अपि चेति। यथा प्रत्यक्षाभासत्वं प्रतियोगितावच्छेदकं तथा सकलकालात्ययापदिष्टमात्रमिष्टमधिकरण-तावच्छेदकं किञ्चिन्न गृहीतमस्तीत्यर्थः। ननु प्रमाणेन बोधितसाध्यविपर्ययकत्वं तादृशं रूपं निरुक्तमेव तथा स्यादित्यत आह—नापीति। तस्य रूपस्य प्रत्यक्षाभासेऽपि सत्त्वा-त्कथमधिकरणतावच्छेदकत्वं स्यात्प्रतियोग्यवृत्तिधर्मस्यैव तथात्वाभ्युपगमादित्यर्थः। दूषि-तत्वादिति। तस्यानन्तत्वात्प्रत्यक्षाभाससाधारणत्वाच्चेत्यर्थः। ननु निरूपणीयः स कश्चि-द्धर्मो यः सकलकालात्ययापदिष्टसाधारण इत्यत आह—शक्यत्वे वेति॥ ३७५॥

प्रतियोगी के भेद से भी अन्योन्याभाव का भेद अन्यत्र कथञ्चित् हो सकता है, प्रकृत में ऐसा भी होना असम्भव है क्योंकि, स्वरूप के भेद और वैधर्म्य (विरोधी धर्म) के भेद से उभय कोटि (प्रतियोगी अनुयोगी) रूप से पृथक् किये गये घट और पट के अन्योन्याभाव (भेद) का निरूपण होता है। यहाँ प्रकृत में तो प्रत्यक्षाभासादि को प्रत्यक्षाभासत्वादिरूप से एक कोटिता (प्रतियोगिता) हो सकती है। परन्तु जो प्रत्यक्षाभासादि से व्यतिरिक्त (भिन्न) रूप से ज्ञातव्य अनुयोगी है, उसकी किस रूप से कोटि (अनुयोगिता अभावाधिकरणाता) की जा सकती है। प्रतिव्यक्ति भिन्नस्वरूप से सब कालात्ययापदिष्ट में अनुयोगितारूप कोटि नहीं हो सकती, क्योंकि उन स्वरूपों के अनन्त होने से, उन्हें बुद्धिस्थ करना अशक्य है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्षा-भासादिव्यतिरिक्तत्वरूपविशेषण से विशेषणीय प्रमाणबोधितसाध्यव्यतिरेकित्व-रूप विशेष्य जिस रूपता से उपात्त (गृहीत = ज्ञात) होता है, उसी प्रमाणबोधितसाध्यव्यतिरेकित्वरूप से सब कालात्ययापदिष्ट के (एकीकृतता) रूप से अन्योन्याभाव का निरूपण होगा। अर्थात् प्रत्यक्षाभासादि के अन्योन्याभाव की अनुयोगिता का अवच्छेदक प्रमाणबोधितसाध्यव्यतिरेकित्व होगा, तो यह कहना भी युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि उस प्रमाणबोधितसाध्य (बोध्य) व्यतिरेकित्व रूप के प्रत्यक्षाभासादि के भी संग्राहक होने से (प्रत्यक्षाभासादि में उस रूप के रहने से) कोटिद्वैत के भङ्ग (अभाव) के आपादकत्व (साधकत्व) के कारण उस अन्यो-न्याभाव के निरूपण से विरोध है। अतः वह प्रकृत अन्योन्याभाव की अनुयोगिता का

अवच्छेदक नहीं हो सकता है। कोटिद्वय का व्यवस्थापक (साधक) स्वरूप भेद या वैधर्म्य भेद का प्रतिसंधान (चिन्तन) नहीं करके अन्योन्याभाव का निरूपण अशक्य है। ऐसी स्थिति (निश्चय) होने पर, और अननुगत अनन्त होने से स्वरूप भेद की यहाँ दूषितता से कोई अनुयोगितावच्छेदक धर्म वक्तव्य है, परन्तु वह धर्म कहना अशक्य है, यदि शक्य हो, तो उस धर्म को ग्रहण करके ही लक्षण की व्यवस्था हो सकती है, अर्थात् वह धर्म ही लक्षण होगा फिर अन्योन्यव्यतिरिक्तत्व रूप कुयुक्ति से कुछ फल नहीं है ॥ ३७५ ॥

तदनेनान्यत्राप्यतिप्रसक्त्युदाहरणान्यत्वेन व्यावर्त्तनं लक्षणवादिनो भग्नस्य शरणमस्त्रं निरसनीयम्। अत एव भेदकान्तरं विना तद्व्यतिरिक्तत्वमेव दुर्निरूपमित्यभिप्रायेण तत्तदन्यत्वे सतीति विशेष्यमाणं वैशेषिकहेतुं नैतदेवं येन व्यभिचारस्तदन्यत्वेसति प्रमेयत्वादिति सत्प्रतिपक्षहेतूपन्यासादुपहसन्ति सन्त इति ॥ ३७६ ॥

इति श्रीश्रीहर्षकृतखण्डने प्रमाणतदाभासखण्डनं नाम
प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥

वैशेषिकहेतुमिति। इतरभेदसाधकं लक्षणमित्यर्थः। उपहास्यतामाह—नैतदेवमिति। गुण इतरभिन्नः कर्मान्यत्वे सति सामान्यवत्त्वे च सति निर्गुणत्वात् यन्नैवं तन्नैवमित्यादि। एवं वैशेषिकेन प्रयुक्ते गुणो नेतरभिन्नः प्रमेयत्वात् व्यभिचारि चेदिदं स्यात्तदा तत्तदन्यान्यत्वे विशेष्यमित्युपहसन्तीत्यर्थः ॥ ३७६ ॥

इति प्रथमः पच्छिेदः।

उक्त न्याय (युक्ति) से ही अन्य लक्षणों में भी प्रसक्ति = अतिव्याप्ति के उदाहरण से अन्यत्व द्वारा प्रसक्ति का व्यावर्तन (निवारण) रूप, भग्न, (पराजित) लक्षणवादी का वह रक्षक अस्त्र निरसनीय (वारणीय) है। अत एव भेदकान्तर के विना तदन्यत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि, तदन्यत्व ही दुर्निरूपणीय है, इस अभिप्राय से प्रसक्ति उदाहरण से अन्यत्व रहने पर इस प्रकार विशेष्यमाण (विशेषित) वैशेषिक के हेतु (लक्षणभेदक) को (नैतदेवं = यह ऐसा नहीं, जिस जिस से व्यभिचार हो तदन्यत्वे सति प्रमेयत्वात्) इस प्रकार के प्रतिपक्षहेतु के उपन्यास से सन्त उपहास करते हैं। अर्थात् प्रत्यक्षाभासादि अन्यत्वे सति प्रमाणबोधितसाध्याभाववत्त्व यदि बाध का लक्षण हो तो सर्वत्र व्यभिचारी हेतु से भी सत्प्रतिपक्ष होगा। और जहाँ-जहाँ अतिव्याप्ति होगी तदन्यत्व से उसका वारण होगा। फिर व्यभिचार दोष ही नहीं रहेगा, यह अभिप्राय है। जैसे (गुणः, इतरभिन्नः, कर्मान्यत्वे सति सामान्यवत्वे च सति निर्गुणत्वात्) इत्यादि वैशेषिक प्रयोग होने पर (गुणो, नेतरभिन्नः प्रमेयत्वात्) यदि व्यभिचार दोष यहां हो तो तदन्यत्वक हो, यह उपहास है ॥ ३७६ ॥

इति कवितार्किकचक्रवर्ति श्रीश्रीहर्षकृते खण्डनखण्डखाद्ये प्रमाणतदभासखण्डनं नाम प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

ननु यदि दुर्लक्ष्या हेत्वाभासास्तर्हि निग्रहस्थानानि प्रतिज्ञाहान्यादीनि बाधकानि भविष्यन्ति मैवं, का पुनः प्रतिज्ञाहानिः स्वीकृतोक्तपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिरित्यलक्षणं तथाहि—झटिति संवरणेऽनिग्रहस्थानेपि गतत्वेन परदूषितेत्यपि विशेषणीयत्वात्। किञ्च स्वीकृत्येत्यनेनाभीष्टमात्रं वाभिधीयते अस्तित्वेनेष्टं वा। आद्ये केनचिद्रूपेणेष्टस्य रूपान्तरेण परित्यागः क नाम नास्तीत्यतिव्याप्तिः। स्वीकारपूर्वकोऽस्वीकारस्त्यागः। न च रूपान्तरेण तत्र स्वीकारस्ततस्त्याग एवासौ न भवतीति नातिप्रसङ्ग इति चेन्न, स्वीकारस्यापि त्यागपदार्थान्तर्भावे स्वीकृतेति व्यर्थं तत्त्यागेपि च नाद्यद्वितीयौ अस्तित्वेनेष्टस्य रूपान्तरेण सर्वत्रैवानिष्टत्वसम्भवात्॥ १॥

बाधकानीति। अचैत्तबाधकानीत्यर्थः यद्वा दिग्विजयकौतुकबाधकानीत्यर्थः। निग्रहस्थानेषु प्रज्ञिहानेः प्राथम्यात्प्रथमं तामाक्षिपति—का पुनरिति। परित्यागमात्रमपसिद्धान्तेपीत्यत उक्तम्—उक्तपरित्याग इति। तदप्यनूद्य त्यक्ते परमतेतिव्याप्तीत्युक्तं—स्वीकृतेति। स्वीकारश्च विशिष्याभिमतोन्यथा शास्त्राभ्युपगमेन सामान्यतः सिद्धान्तस्याप्युक्तत्वात्तत्परित्यागेतिव्याप्तिः स्यात्। झटितीति। नैयायिकेनानित्यः शब्द इतिप्रतिज्ञातव्ये प्रमादान्नित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाय स्वयमेव त्यक्ते प्रतिज्ञाहानिस्तावन्न भवतीति तत्रातिव्याप्तिवारणार्थं परदूषितेति विशेष्यमित्यर्थः। अस्तु तदपिविशेषणमिति चेत्तर्हि लक्षणकर्त्तुर्हेत्वन्तरनिग्रहापत्तिः प्रथमविशिष्टस्यैवोक्तत्वात् विशेषणान्तर्भावेपि दोषमाह—किञ्चेति। केनचिदिति। गुणत्वेन स्वीकृतस्य शब्दस्य नैयायिकेन नित्यत्वेन परित्यागे प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यर्थः। ननु नित्यत्वेन शब्दस्य तदा स्वीकार एव न जातोतस्तत्र परित्यागोपि नास्तीति नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—स्वीकारेति। परित्यागपदार्थान्तर्भूत एव चेत् पूर्वस्वीकरोपि तदा परित्याग इत्येवास्तु लक्षणं किं स्वीकारपदप्रक्षेपेणापीत्याह—स्वीकारस्येति। स्वीकृतेति पदत्यागेपि विकल्पितौ पक्षौ न सम्भवत इत्याह—तत्त्यागेपि चेति। आद्यपक्षस्य दूषितत्वेपि दोषान्तरदानाय पुनर्निषेध्यत्वेनोपग्रहः। रूपान्तरेणेति। नित्यत्वादिनेत्यर्थः॥ १॥

अब शंका यह होती है कि यदि हेत्वाभास दुर्लक्ष्य (लक्षण द्वारा अप्रतिपाद्य) है, तो यद्यपि ये वादी के निग्रह के लिये और पर पक्ष के बाध के लिये नहीं हो सकते, तथापि प्रतिज्ञाहानि आदिरूप निग्रहस्थान तो अद्वैतादिरूप परपक्ष के बाधक होंगे ही। उत्तर यह है कि ऐसा भी नहीं होगा, क्योंकि प्रतिज्ञाहानि आदि भी दुर्लक्ष्य ही हैं। यदि वादी प्रतिवादी के असामर्थ्यबोधकत्वरूप निग्रहस्थान के सामान्य लक्षण कहें, तो उसकी दुःखादि में अतिव्यप्ति होगी। अतः विशेष निग्रहस्थानरूप प्रतिज्ञा हानि क्या है यह भी दुर्लक्ष्य है। क्योंकि स्वीकृत उक्त का परित्याग प्रतिज्ञाहानि है। अर्थात् कथित स्वसिद्धान्त का परित्याग प्रतिज्ञाहानि है, यह उसका लक्षण नहीं हो सकता है। जैसे झटिति (शीघ्र) संवरण (आच्छादन = दोषवारण) रूप अनिग्रहस्थान में इस लक्षण के प्राप्त होने के कारण, पर से दूषित होने पर यह भी विशेषण देना होगा। अर्थात

नैयायिक (अनित्यः शब्दः) इस प्रतिज्ञा के स्थान में प्रमाद से (नित्यः शब्दः) ऐसी प्रतिज्ञा करने पर, अपनी भूल को समझ कर (अनित्यः शब्दः) ऐसी प्रतिज्ञा शीघ्र करे, तो उसमें लक्षण के प्राप्त होने से अतिव्याप्ति न हो इसलिये परसे दूषित होने पर, ऐसा विशेषण देना होगा। यहाँ प्रथम अविशिष्ट लक्षण को कहकर फिर विशिष्ट लक्षण के कहने से लक्षणकर्ता को हेत्वन्तररूप निग्रहस्थान की प्राप्ति होगी। और स्वीकृत, इस लक्षणगत शब्द से अभीष्टमात्र अर्थ कहा जाता है, या अस्तित्वरूप से इष्ट वस्तु कही जाती है। यहाँ प्रथमपक्ष में किसी रूप से अभीष्ट का रूपान्तर से त्याग कहाँ नहीं होता ? अर्थात् सर्वत्र होता है। उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, जैसे गुणत्वरूप से स्वीकृत = अभीष्ट शब्द का नित्यत्व रूप से न्याय मत में त्याग होता है, वहाँ अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि स्वीकार पूर्वक अस्वीकार त्याग होता है, वहाँ नित्यत्वरूप रूपान्तर से शब्द का स्वीकार नहीं है। अतः उस रूपान्तर से वह त्याग नहीं है, इसी से अतिव्याप्ति भी नहीं है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि स्वीकारपूर्वक त्याग को यदि त्याग शब्द से कहा जाता, तो स्वीकारार्थ के भी त्याग पदार्थ के अन्तर्गत होने से लक्षणगत स्वीकृत यह पद व्यर्थ है। इस प्रकार व्यर्थता से स्वीकृत पद को त्याग भी दें, तो भी अभीष्ट अस्तित्वेन इष्ट ये आद्य और द्वितीय पक्ष युक्त नहीं हो सकते, क्योंकि अस्तित्वरूप से इष्ट शब्दादि में सर्वत्र नित्यत्वादिरूपान्तर से अनिष्टत्व का सम्भव है। अतः अतिव्याप्ति होगी ॥ १ ॥

संयोगाद्यव्याप्यवृत्तितावादिपक्षे चैकस्यैव संयोगस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात्। एवं च कालदेशादिभेदेन सत्त्वासत्त्वाभ्युपगमेतिप्रसङ्गो द्रष्टव्यः, तस्यैव च तदैव तत्रैव तेनैव तथैवेष्टत्वाऽनिष्टत्वे विवक्षिते अत्रेति चेत्, एवं तर्हि कालमभ्युपगम्यानभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्न स्यात्, तत्र तदेत्युक्तविशेषणस्यासम्भवात्। नहि कालः कालान्तरं स्वात्मानमेव वाऽध्यास्ते। काले तदेतिविशेषणस्य प्रतिक्षेपेन्यत्र च प्रक्षेपे लक्षणस्यैकताक्षतिः। कालं प्रति च प्रतिज्ञाहानेरदोषत्वे तद्वदन्यत्राप्यदोषत्वापातः। यदैव स्वीकारस्तदैवास्वीकारासिद्धेश्च ॥ २ ॥

स्वीकारपरित्यागयोरैकरूप्यावच्छेदेनापि विवक्षायां दोषमाह—संयोगेति। देशकालभेदेनैकस्य स्वीकारपरित्यागौ चातिप्रसञ्जकावित्याह—एवं चेति। ननु देशकालपुरुषाद्यभेदेन स्वीकारपरित्यागौ विवक्षिताविति नातिप्रसङ्ग इत्याह—तस्यैवेति। असम्भवदप्येतदभ्युगमस्य दूषयति—एवं तर्हीति। कालोस्तीति प्रतिज्ञाय कालो नास्तीति ब्रुवन्नपि प्रतिज्ञाहान्या न निगृह्येतेत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—तत्रेति। तत्र काले तदेत्युक्तविशेषणाभावादित्यर्थः। नहीति। कालान्तरस्याभावादात्मन्यध्यासस्यात्माश्रयदुष्टत्वादित्यर्थः। यद्यपि काले कालाभ्युपगमेपि न दोषः, अभ्युपगमस्य भ्रमनिबन्धनत्वेनाप्युपपत्तेः। किञ्च तदेतिविशेषणस्य कालाभ्युपगमपरिहाराश्रयत्वेन कालस्याधिकरणत्वे तात्पर्यं तौ च कालतो भिन्नावेवेति न विरोधः। किञ्च कालेपि कालो वर्त्तते एव अन्यथा कालस्यावर्तमानत्वापत्तेः स्वावच्छिन्नकालवृत्तित्वस्यैव कालस्य वर्तमानत्वात् तथापि ताद्रूप्यमपि खण्डनीयमेवेति भावः। ननु काले प्रतिज्ञाहानिस्तदेति विशेषणमपहायैव लक्षणीयेत्यत आह—काले इति।

ननु कालनास्तित्वाभ्युपगमे प्रतिज्ञाहानिरेव न भवतीति नाव्याप्तिरित्यत आह—कालं प्रति चेति। लक्षणेऽसम्भवदोषमाह—यदैवेति ॥ २ ॥

और संयोगादि की अव्याप्यवृत्तिता को कहने वालों के पक्ष (मत) में वृक्ष आकाशादि में अस्तित्वरूप से इष्ट संयोग संयुक्त पदार्थ भी नहीं माने जाते हैं (उनका वहाँ त्याग भी किया जाता है)। अतः वहाँ अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् आकाश घट से युक्त है, ऐसा कह कर आकाश को उसी एक घट संयोगाभाव की अधिकरणता को कहने वाले नैयायिक को प्रतिज्ञाहानि की प्राप्ति होगी। और अव्याप्यवृत्तिक्षणिक विशेष गुणों में अतिव्याप्ति होगी, इसी प्रकार कालदेशादि के भेद से शब्दादि के किसी देश काल में प्रथम सत्त्व को मान कर फिर देशान्तर एवं कालान्तर में असत्त्व मानने पर अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि उसी एक वस्तु का उसी काल में उसी पुरुष से उसी प्रकार से इष्ट होकर अनिष्ट होना प्रतिज्ञाहानि होती है, ऐसी यहाँ विवक्षा है। अतः देश; काल, प्रकार, वस्तु या पुरुष भेद से स्वीकृत = इष्ट के अस्वीकार अनिष्ट में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो इस प्रकार मानने पर भी, काल को प्रथम मान कर फिर नहीं मानने पर, नहीं मानने वाले की प्रतिज्ञा को हानि नहीं होगी, अर्थात् (कालोऽस्ति परापरव्यवहारजनकत्वात। कालो नास्ति अदृश्यत्वात्) ऐसा कहने वाला नैयायिक प्रतिज्ञाहानि से निगृहीत नहीं होगा, क्योंकि वहाँ लक्षण के अनुसार प्रतिज्ञाहानि हो नहीं है। वहाँ 'तदैव' इस उक्त विशेषणांश के अभाव से लक्षण का अभाव है, क्योंकि, काल, कालान्तर (अन्य काल) में या अपने में नहीं रहता है, कालान्तर का अभाव है, अपने में आत्माश्रयता से काल नहीं रह सकता है। यदि कहा जाय कि कालसम्बन्धी प्रतिज्ञाहानि के लक्षण में 'तदा' इस विशेषण का प्रतिक्षेप (अप्रक्षेप = त्याग) करेंगे, और अन्यत्र प्रक्षेप (ग्रहण) करेंगे, इससे उक्त अव्याप्ति नहीं होगी, तो इस प्रकार लक्षण की एकता की क्षति (अभाव) होगी। यदि कहें कि काल को मान कर फिर नहीं मानने पर भी प्रतिज्ञाहानि नहीं होती, तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि यदि काल की प्रतिज्ञाहानि में दोषत्व नहीं होगा, तो तुल्यता से अन्यत्र भी प्रतिज्ञाहानि में अदोषता की प्राप्ति होगी। और लक्षण में 'यदैव' पद से जिस समय में स्वीकार हो उसी समय के त्याग को प्रतिज्ञाहानि कहा गया है। वहाँ जिसी काल में स्वीकार हो, उसी काल में अस्वीकार की असिद्धि से भी लक्षण अयुक्त है ॥ २ ॥

तदेति तत्कथाकालो विवक्षित इति चेन्न, तच्छब्दस्यैकव्यक्तिपरत्वे लक्षणाननुगमः, वादादित्वेन साम्ये कदाचिदपि तद्विपरीतवादान्तराकरणप्रसङ्गः। एवं तथैव तस्यैवेत्यादिपदस्य द्रष्टव्यम्, उक्तपदस्य चापसिद्धान्तव्यवच्छेदकस्य। विरुद्धन्यायेनासमर्थविशेषणत्वम्, एवं सर्वत्र निग्रहस्थाने द्रष्टव्यमिति सङ्क्षेपः ॥ ३ ॥

ननु यदा तदेति पदे नैकक्षणपरे येनासम्भवः स्यात् किन्त्वेककथावच्छिन्नः कालस्ताभ्यामभिधीयते इत्याह—तदेतीति। एकमात्रकथापरत्वे तच्छब्दस्य कथान्तरप्रतिज्ञाहान्यनुपग्रह इत्याह—तच्छब्दस्येति। ननु वादे स्वीकृतस्य वादे एव परिहारे प्रतिज्ञाहानि-

रिति नानुगम इत्यत आह—वादादित्वेनेति। वादान्तरस्वीकृतस्य वादान्तरे परिहारे प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यर्थः। जल्पवितण्डाप्रतिज्ञाहान्यसङ्ग्रहः तत्कथाप्रक्षेपेप्येवमूह्यं कथापदप्रक्षेपेपि प्रतिज्ञाहानिर्दोषः स्यादिति भावः। एवमिति। तथेति यदि प्रकारविशेषो विवक्षितस्तदा प्रकारान्तरस्वीकारत्यागयोरनुपसङ्ग्रहः। प्रकारसामान्यं चेत्तदा किञ्चिद्रूपेणाभ्युपेतस्य रूपान्तरेण त्यागेपि हानिः स्यादित्यर्थः। स्वीकृतपरित्यागमात्रस्यैव दोषत्वेऽपसिद्धान्तव्यावर्तनार्थमुक्तविशेषणं व्यर्थमित्यर्थः। विरुद्धेति। साध्याभावसामानाधिकरण्यमात्रस्य दोषत्वे नियमांशवयर्थ्यवदित्यर्थः। तत्रासाधकतासाधने विशेषणवैयर्थ्यमत्र स्वप्रतिपत्तिविप्रतिपत्त्योरुन्नयने इति भावः॥ ३॥

शंका यह होती है कि 'यदैव' इस पद से एक क्षणरूप काल विवक्षित नहीं है, किन्तु तत्कथाकाल (एककथायुक्तकाल) विवक्षित है, अतः उक्त असिद्धिरूप दोष नहीं हो सकता। क्योंकि एक कथा युक्त काल में स्वीकार और अस्वीकार हो सकता है। उत्तर यह है कि 'तत्कथा' इस वाक्य में तत्पद के कथा की एक व्यक्ति परक (बोधक) होने पर, कथान्तर की प्रतिज्ञाहानि में लक्षण की अव्याप्ति होगी। प्रतिव्यक्ति के जुदा-जुदा लक्षण मानने पर लक्षण का अननुगम (एक रूप से ज्ञानाभाव) होगा। वाद, जल्प, वितण्डा, त्रिविधकथा के वादादित्वरूप से अनुगम मानने पर, वादरूप से स्वीकृत का वाद में ही अस्वीकार से प्रतिज्ञाहानि होगी। वाद रूप से साम्य मानने पर भी एक वाद में स्वीकृत का वादान्तर में अस्वीकार से प्रतिज्ञाहानि होगी। और कदाचिदपि (कभी भी) उससे विपरीत वादान्तर (कथान्तर) जल्प-वितण्डा में अकरणत्व प्राप्त होगा। इसी प्रकार जल्प कथा में स्वीकृत का जल्प में अस्वीकार से प्रतिज्ञाहानि होगी, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार वितण्डा में समझना होगा। अतः एक कथा के ग्रहण से अन्य दो में अव्याप्ति होगी। इसी प्रकार कथामात्र के ग्रहण से मत भेद से ग्रहण स्वीकारादि में अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार 'तथैव, तस्यैव' इत्यादि की भी अव्याप्ति द्रष्टव्य है कि 'तथा' और 'तस्य' इसको एक प्रकार एक व्यक्ति परक मानें तो अन्य प्रकार से अन्य व्यक्ति के स्वीकार पूर्वक अस्वीकार में अव्याप्ति होगी। यदि प्रकारत्वरूप सामान्य परक 'तथा' शब्द को मानें तो प्रकारान्तर = अस्तित्व से स्वीकृत का नित्यत्वादिरूप से अस्वीकार भी प्रतिज्ञाहानि होगी। इसी प्रकार 'तत्र, तेन', इत्यादि पदों में विशेष द्रष्टव्य है (स्वीकृत का परित्याग प्रतिज्ञाहानि होती है) इस लक्षण में 'उक्त' पद अपसिद्धान्त के व्यवच्छेद के लिये है। वह विरुद्ध के लक्षण में सव्यभिचार के लिये नियम (एव) पदतुल्य व्यर्थ है, क्योंकि स्वीकृत का परित्याग मात्र दूषण में समर्थ है। इसी प्रकार विशेष्य के ही दूषण में समर्थ होनेवाला जहाँ विशेषण दिया जाता है, वहाँ सब निग्रहस्थानों में व्यर्थविशेषणत्वरूप दूषण ज्ञातव्य है। यह प्रतिज्ञाहानि का संक्षिप्त विचार है॥ ३॥

प्रतिज्ञाहान्यादीत्यादिपदेनापि किं सङ्गृह्यते, प्रतिज्ञान्तरादि इति चेन्न, प्रतिज्ञान्तरमेव निरूपयितुं न शक्यते। तद्यथा स्वोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य पूर्वानुक्तविशेषणवतोभिधानं प्रतिज्ञान्तरमित्यलक्षणम्। तथाहि यत्र वादिना प्रथमं सविशेषणः प्रतिज्ञाभागोऽ-

भिहितः परेण च निर्विशेषणोक्तभ्रान्त्या दूषितस्ततो वादी प्रथममभिहितं सविशेषणमेवोपन्यस्येदृशं मयोक्तं नतु निर्विशेषणमतो निरनुयोज्यानुयोगो भवत इति सदुत्तरमेव ब्रूते तत्रापि गतत्वादतिव्यापकमेतत्। पूर्वानुक्तविशेषणत्वं तत्र नास्ति तत्कथमतिव्याप्तिः—इति चेन्न, प्रथमोक्तेः प्रागभावस्य पूर्वं स्थितत्वात् विशेष्योक्तिरपि तदा नासीदिति चेत् किमायातं तावता विशेषणानुक्त्यतिप्रसङ्गस्य ॥ ४ ॥

निग्रहखण्डनयोः सङ्गतिमाह—प्रतिज्ञाहान्यादीति। झटितिसंवरणेन पूर्वानुक्तविशेषणाभिधानेतिव्याप्तिवारणायाह—परदूषितस्येति। उदासीनेन तादृशविशेषपूरणेतिव्याप्तिवारणाय—स्वोक्तस्येति। हेत्वन्तरव्यवच्छेदायाह—साध्यभागस्येति। प्रयोज्यभागे विशेषणपूरणात् प्रतिज्ञान्तरं प्रयोजकभागे तत्पूरणे च हेत्वन्तरमिति विभागात् अश्रुतविशेषणवादिनं प्रति कदाचिदुक्तमप्यनूद्यत इति तद्वारणाय—पूर्वानुक्तेति। गूढाभिसन्धिर्दूषयति—यत्रेति। यत्रोक्तमेव विशेषणं पुनः श्रावयति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। आशयमविद्वान् शङ्कते—पूर्वेति। आशयमुद्धाटयति—प्रथमोक्तिरिति। अनूद्यमानमपि विशेषणं पूर्वमनुक्तमेवासीदित्यर्थः। गूढाभिसन्धिः शङ्किताह—विशेष्येति। यथाश्रुतं दूषयति—किमायातमिति। अनूद्यमानस्य विशेषणस्य पूर्वमनूक्त्या यः प्रसङ्गः कृतस्तत्र किमायातमित्यर्थः॥ ४॥

प्रथम प्रतिज्ञाहानि आदि, इस वाक्य में आदि पद से किस का संग्रह किया जाता है? यदि कहें कि प्रतिज्ञान्तरादि का संग्रह होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञान्तर का निरूपण करना अशक्य है। जैसे (स्वकथित परदूषित साध्यभाग का पूर्वानुक्तविशेषणवत्त्वरूप से कथन प्रतिज्ञान्तर होता है) यह लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ वादी ने प्रथम विशेषणसहित प्रतिज्ञा भाग (साध्यभाग) कहा, परन्तु प्रतिवादी ने निर्विशेषणोक्तत्व के भ्रम से दूषित किया, तो वादी ने प्रथम कथित सविशेषण का ही कथन करके कहे कि मैंने तो ऐसा कहा था, निर्विशेषण नहीं कहा था। अतः निरनुयोज्यानुयोगरूप आप का यह कथन है (निर्दोष में दोष कथन है) इस प्रकार यदि सदुत्तर ही वादी कहता हो, तो वहाँ इस लक्षण की प्राप्ति से यह लक्षण अयुक्त है। यदि कहें कि पूर्व के अनुक्त विशेषण के कथन से प्रतिज्ञान्तर होता है, और उक्त उदाहरण में पूर्व के अनुक्त विशेषण नहीं है, किन्तु उक्त ही पुनः उक्त होता है, तो अतिव्याप्ति कैसे होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जो विशेष प्रथम कहा जाता है उससे पूर्व काल में उसका अभाव स्थिर रहता है। अर्थात् विशेषण की उक्ति अनुवाद से पूर्व काल में उक्ति का प्रागभाव रहता है। अनुक्ति उक्ति का प्रागभाव ही है, वह प्रथम विशेषण उक्ति का भी रहता ही है। प्रागभाव के अप्रतियोगी विशेषणोक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः उस प्रागभाव के अनादि होने से उसको पूर्व काल में स्थिति रहती है। अत एव प्रथमविशेषणोक्ति के भी पूर्वानुक्तत्व से अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि उस विशेषण को अनुक्ति काल में तो विशेष्य की भी अनुक्ति रहती है, तो उत्तर यह है कि 'तावता' विशेष्य की भी अनुक्ति रहने से विशेषणानुक्ति मूलक उस अतिव्याप्ति में क्या विशेष हुआ? (अतिव्याप्ति बनी ही रही) ॥ ४ ॥

विशेष्योक्तिकाले विशेषणानुक्तिर्विवक्षिता—इति चेन्न, एककर्तृकाया

चाचो युगपदसम्भवेन सर्वत्र तथाभावस्यैव भावात् विशेष्योक्तेरनन्तरकाले इति चेन्न, नीलोत्पलमित्यादौ पूर्वनिपातिविशेषणे तदभावात्। विशेष्योक्तेर-व्यवहितपूर्वकाले—इति चेन्न, उत्पलं नीलमित्यादौ तदभावात्। अव्यव-हिते—इति चेन्न, बहुविशेषणके तदभावात्। विशेषणाभिधानोचितकाले—इति चेन्न, नानाविशेषणके विशेष्ये क्रमवृत्तित्वाद्वाचः क्रमेणाभिधीयमाने य एकविशेषणाभिधानकालः सोऽपरेषामपि विशेषणाभिधानानां योग्यो भवत्येवेति तदान्येषां क्रमभाविनामभावात्सैवातिव्याप्तिः ॥ ५ ॥

शङ्किता स्वाभिसन्धिमाह—विशेष्येति। अनूदितविशेषणस्य तु न तदानुक्तिरित्यर्थः। कालस्यैकोपाध्यवच्छिन्नतामादायाह—एकेति। विशेष्याभिधानकाले विशेषणाभिधानं न क्वापि वचसः क्रमभावित्वात्। तथा च विशेष्योक्तिकालानुक्तमेव विशेषणं सर्वत्रोच्यते इति विशेषणमात्राभिधाने एव प्रतिज्ञान्तरं स्यादित्यर्थः। नीलोत्पलमिति विशेष्योक्त्य-नन्तरानुक्तविशेषणोक्तौ तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। विशेष्योक्त्यव्यवहितपूर्वकालानुक्तविशेष-णोक्तावतिव्याप्तिमाह—उत्पलमिति। ननु पूर्वत्वमुत्तरत्वं वा न विवक्षितं येनोक्तातिव्याप्तिः स्यादपि त्वव्यवहितत्वमात्रमित्याह—अव्यवहिते इति। एकविशेषणाभिधानापेक्षया बहुविशेषणके व्यवधानस्यावश्यकतया उक्तातिव्याप्तिरित्याह—बह्विति। व्यवहितोपि कालो बहुविशेषणके विशेषणाभिधानोचित एवेति नातिव्याप्तिरित्याह—विशेषणेति। सुरभि नीलमुत्पलं विकाशिमनोहरमलिपटलपीयमानमकरन्दबिन्दुसन्दोहमित्यादा-वन्योन्यविशेषणोक्तिकालानुक्तान्योन्यविशेषणोक्तौ पुनः सैवातिव्याप्तिरित्याह—नाना-विशेषणकेति ॥ ५ ॥

यदि कहें कि विशेष्य की उक्ति काल में अनुक्त विशेषण का दूषणानन्तर अभिधान-रूप प्रतिज्ञान्तर होता है, ऐसी विवक्षा है। तो यह पुनरुक्त विशेषण में अतिव्याप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी विशेष्योक्ति काल में अनुक्ति नहीं रहती है। परन्तु यह कथन भी युक्त नहीं। क्योंकि, एककर्तृक विशेष्यविशेषणवाचकवचन के युगपद् (एककाल में) असम्भव से सर्वत्र तथात्व (विशेष्योक्ति काल में अनुक्तविशेषणोक्तित्व) का ही भाव (सत्त्व) रहता है। अतः सर्वत्र अतिव्याप्ति होगी। विशेष्योक्ति के अनन्तर अनुक्त-विशेषणवत्त्व से कथन को प्रतिज्ञान्तर कहें, तो (नीलोत्पलम्) इत्यादि पूर्ववृत्तिविशेषण वाले में विशेष्य के अनन्तर अनुक्त विशेषण की उक्ति से अतिव्याप्ति होगी। विशेष्योक्ति के अव्यवहित पूर्व काल में अनुक्त विशेषण की उक्ति से प्रतिज्ञान्तर कहें, तो नीलोत्पलम्, में अतिव्याप्ति नहीं होगी, किन्तु (उत्पलं नीलम्) इत्यादि में अव्यवहित पूर्वकाल में विशेषणोक्ति के अभाव से और गुणोक्ति से अतिव्याप्ति होगी। यदि पूर्वत्व तथा उत्तरत्व की विवक्षा नहीं करके विशेष्य से अव्यवहित अनुक्त विशेषण की उक्त उक्ति से प्रतिज्ञान्तर कहें, तो उक्त दोनों उदाहरणों में तो अतिव्याप्ति नहीं होगी, किन्तु बहुत विशेषण वाले विशेष्य में सब विशेषण को विशेष्य से अव्यवहितत्व के अभाव से अव्यहित अनुक्त की उक्ति होने के कारण अतिव्याप्ति होगी। जैसे (नीलमुत्पलं सुरभि महन्मनोहरम्) इत्यादि। यदि कहें कि विशेषणाभिधान (कथन) योग्य काल में अनुक्त विशेषणवत्त्व से कथन-रूप प्रतिज्ञान्तर होता है। और (सुरभि नीलमुत्पलं विकाशि मनोहरम्) इत्यादि बहुत विशेषण वाले वाक्य में बहुत व्यवहित विशेषण भी अपने-अपने योग्य काल में उक्त

रहते हैं, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि, नानाविशेषण वाले विशेष्य के विशेषणों के क्रम से कथ्यमान होने पर, वचन के क्रमवृत्तित्व से जो एक विशेषण का कथन का योग्य काल होता है, वह अन्य विशेषणों के कथन का भी योग्य ही काल रहता है, अतः उस एक के कथन काल में क्रम से होने वाले अन्य के अभाव से, प्रथम अनुक्त उन भावियों की उक्तिरूप लक्षण की उक्त ही अतिव्याप्ति है ॥ ५ ॥

सर्वस्मिन् योग्ये काले— इति चेन्न, दूषणानन्तरकालस्य योग्यकालत्वाभ्युपगमेऽव्याप्तिः। दूषणपूर्वकालस्य तथाभिमतत्वे च दूषणानन्तरभाविन्या विशेषणोक्तिव्यक्तेस्तदानीमभावात् पूर्ववदतिव्याप्तिः। सर्वस्यास्तस्यास्तज्जातीयाया विशेषणोक्तेरभावो विवक्षित— इति चेन्न, व्यक्तीनामभावप्रतियोगिभूतानां सर्वासां पृथक् प्रमाणेन केनाप्यस्मादृशा प्रत्येतुमशक्यतया भावानिरूपणेन लक्षणस्याज्ञानादसिद्धिप्रसङ्गात्। सामान्यप्रत्यासत्त्या व्यक्तयः प्रतिभान्तीति च निरस्तमनुमानखण्डनावसरे। एतेन पूर्वमविशिष्टोक्तस्येति विशेषणं प्रक्षेप्तव्यमिति निरस्तम्, उत्तरकालवाच्यविशेषणकविशेष्यस्य प्रथममविशिष्टोक्तत्वसम्भवस्य दर्शितत्वात् ॥ ६ ॥

विशेषणाभिधानयोग्ययावत्कालानुक्तविशेषणोक्तौ प्रतिज्ञान्तरं नान्यत्रेति शङ्कते— सर्वस्मिन्निति। एवं तर्हि दूषणोत्तरकालेपि विशेषणोक्तौ प्रतिज्ञान्तरं न स्यादित्याह— दूषणेति। ननु दूषणोत्तरकालो निग्रहापादकतया न विशेषणोक्तियोग्यं किन्तु पूर्वकाल एवेत्यत आह—दूषणपूर्वकालस्येति। उक्तस्यैव विशेषणस्याश्रयणाद्वादिना दूषणे कृते पुनस्तद्विशेषणोक्तिर्या सैव दूषणपूर्वकालीना व्यक्तिर्न भवति तथा च तस्यां दूषणपूर्वकालीनविशेषणोक्तावतिव्याप्तिरित्यर्थः। तदानीमिति। दूषणपूर्वकाले इत्यर्थः। पूर्ववदिति। परेण निर्विशेषणभ्रमाद् दूषितस्थलवदित्यर्थः। सर्वस्या इति। प्रकृते विशेषणपूर्वकालीना विशेषणोक्तिरस्त्येवेति नातिव्याप्तिरित्यर्थः। सकलविशेषणोक्तिव्यक्त्यभावस्य दुर्ग्रहतया तद्गर्भलक्षणस्यापि दुर्निरूपणत्वमित्याह— व्यक्तीनामिति। ननु विशेषणोक्तिव्यक्तयस्ताद्रूप्येण सामान्यलक्षणया भासन्त एवेति कथं प्रत्येतुमशक्या इत्यत आह—सामान्येति। ननु पूर्वमविशिष्टं नोक्तं परेण तु न श्रुतिमित्यन्यत्। तथा च कथं तत्रातिव्याप्तिरित्यत आह—एतेनेति। उत्पलं नीलमित्यत्र पूर्वमविशिष्टस्यैवाभिधानमिति तत्रातिव्याप्तिरित्याह—उत्तरेति ॥ ६ ॥

सब योग्य काल में अनुक्तविशेषण वाले साध्य के उक्त परदूषित होने पर विशेषणोक्ति प्रतिज्ञान्तर होती है, ऐसा कहने पर यद्यपि पूर्वोक्त बहुविशेषण वाले उदाहरण में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि योग्य काल में वहाँ सब विशेषणों की अनुक्ति नहीं है, किन्तु एक विशेषण की योग्य काल में उक्ति होने पर वहाँ अन्य की अनुक्ति है। तथापि दूषण के पूर्वकाल योग्य विवक्षित है या उत्तर काल योग्य विवक्षित है। यहाँ दूषण से अनन्तर (उत्तर) काल को योग्य काल मानने पर अव्याप्ति होगी, क्योंकि दूषणा उत्तर काल में विशेषण उक्त होता है, अनुक्त नहीं रहता है, और दूषण से प्रथम विशेषण अनुक्त रहता है, परन्तु वह योग्य काल नहीं रहता। अतः प्रतिज्ञान्तर के लक्ष्य में अव्याप्ति होगी। (शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्) इस प्रकार प्रथम निर्विशेषण कहने पर

ध्वनि में सिद्ध साधन से दूषित होने पर (वर्णात्मकः शब्दोऽनित्यः) ऐसा सविशेषणाभिधानरूपप्रतिज्ञान्तर में यह लक्षण नहीं है। और दूषण से पूर्वकाल में योग्यत्व अभिमत हो, तो दूषणानन्तरभाविनी विशेषण की उक्तिरूप व्यक्ति के पूर्वयोग्य वर्तमान काल में अभाव से पूर्व के समान अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् प्रथमवादी से सविशेषण साध्य के कहे जाने पर, फिर निर्विशेषण भ्रम से प्रतिवादी द्वारा दूषित होने पर पूर्ववादी जहाँ पूर्वोक्तविशेषण ही कहता है, वहाँ पूर्वकालवृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्व दूषण के अनन्तर काल में उक्त विशेषणोक्ति में भी रहता है, अतः उत्तर काल में उक्त पूर्व योग्य काल में अनुक्त प्रागभाव युक्त, इस उदाहरण में अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि दूषणपूर्व अनुक्त विशेषण तज्जातीय विशेषणवत्त्वरूप से साध्य का कथन प्रतिज्ञान्तर होता है। अतः उक्त उदाहरण में अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि दूषणोत्तर काल में उक्तविशेषणोक्ति के प्रथम प्रागभाव रहते भी तज्जातीय विशेषण व्यक्ति की उक्ति हुई रहती है, दूषण पूर्वकालिक विशेषणोक्ति का अभाव नहीं रहता है, और विशेषणजातीय व्यक्तिमात्र का अभाव विवक्षित है। तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त लक्षणवर्ती अभाव सब प्रतियोगी गुण व्यक्तियों का पृथक्-पृथक रूप से किसी प्रमाण द्वारा हम लोगों का ज्ञान अशक्य है। अतः प्रतियोगी के ज्ञान बिना अभाव के अनिरूपण (अज्ञान) से लक्षण के भी अज्ञान होने के कारण लक्षण की असिद्धि होती है। सामान्यलक्षण (सामान्य स्वरूप) प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से सब गुणव्यक्तियाँ प्रतिभासित (ज्ञात) होंगी, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान खण्डन के अवसर में सामान्यलक्षण सम्बन्ध निरस्त हो चुका है। पूर्व अनुक्त विशेषणवान् के स्थान में प्रथम अविशिष्ट उक्त का ऐसा विशेषण देना चाहिये, यह कथन भी उक्त रीति से निरस्त हो गया। क्योंकि पूर्व अविशिष्ट उक्त का दूषणोत्तर काल में विशिष्टरूप से प्रतिज्ञान्तर का लक्षण होगा। उत्तरकाल में वाच्य विशेषण वाला विशेष्य का प्रथम अविशिष्टोक्तत्व का सम्भव रहता है। अर्थात् (उत्पलं नीलम्) यहाँ विशेषण वाचक पद विशेष्य के उत्तर काल में कहा गया है, प्रथम विशेष्यरूप उत्पल अविशिष्ट ही कहा गया है, उसी को नीलपद से विशिष्ट रूप से कहा गया है, अतः अतिव्याप्ति होगी, यह पहले दिखलाई गई है ॥ ६ ॥

किञ्च प्रथममविशिष्टमुक्त्वा भवता यदि विशेषणमिदं प्रक्षिप्यते तदा भवतो हेत्वन्तरं स्यात्तथापि तदभावे वा ममापि कुतः प्रतिज्ञान्तरम्। अथ प्रथममेवेदं विशेषणमुपादाय ब्रवीषि—तथाप्यव्याप्तिः। प्रथमं सविशेषणमुक्त्वा विशेषणवैयर्थ्यभ्रमेण झटितिसंवरणान्निर्विशेषणेऽभिहिते परेण दूषिते पुनः सविशेषणमभिदधतो नैवं प्रतिज्ञान्तरं स्यादित्यव्याप्तिः स्वपरसाध्यपूर्वपदानां विवेचने व्यक्तौ पतनादव्याप्तिश्च। प्रकरणादिलभ्यतया प्रागनुक्तविशेषणस्य भ्रान्तपरदूषितस्य प्रकरणलभ्यविशेषणवत्तयानुवदतोपि सद्धादेतिप्रसङ्गः अनुक्तस्थाने चाप्रतिपादितकरणेपि दोषः परस्मिन्नजातप्रतिपत्तौ प्रतिपादितत्वानुपपत्तेः—इत्यादि स्वयमूहनीयम् ॥ ७ ॥

लक्षणे प्रयोजकभागे विशेषणमिदं क्रमेण प्रक्षिपतो लक्षणवादिना एव हेत्वन्तरं निग्रहस्थानमित्याह—किञ्चेति। ममापीति। यद्यपि खण्डनवादिने प्रतिज्ञान्तरं नोद्भावितमस्ति

येनायमनुयोगः स्यात्तथापि तमेवप्रति सिद्धान्तिना प्रतिज्ञान्तरं व्यवस्थाप्यते इत्यदोषः। ननु पूर्वमविशिष्टोक्तस्येति विशेषणमभिहितमेव मया लक्षणं प्रणीतमिति कुतो मम हेत्वन्तरमित्याशङ्क्याव्याप्तिमाह—अथेति। अव्याप्तिमेव स्फुटयति—प्रथममिति। नैवमिति पूर्वमविशिष्टोक्तत्वस्य विशेषणस्याभावादित्यर्थः। स्वोक्तस्य परदूषितस्य साध्यभागस्य पूर्वानुक्तविशेषणवतोभिधानमितिलक्षणे स्वपदं परपदं साध्यपदं पूर्वपदं च विविच्यमानं व्यक्तिविशेषपरं भवेदित्यननुगमो दोष इत्याह—स्वपरेति। वर्णात्मकं शब्दमधिकृत्य विप्रतिपत्तौ शब्दोऽनित्य इति प्रतिज्ञाय ध्वन्यात्मके सिद्धसाधनदेशनायां वर्णात्मक एव पक्षीकृत इत्यत्रातिव्याप्तिरित्याह—प्रकरणादीति। सद्वादे समुचितवचने। अनुक्तेति। प्रकृते प्रकरणपरिप्राप्ततया विशेषणं प्रतिपादितमेवेति नातिव्याप्तिरित्यर्थः। यत्र परः प्रकरणापातत्वं न प्रतिपद्यते तत्र प्रतिपादितत्वं नास्तीत्यतिव्याप्तिरेवेत्याह—परस्मिन्निति। उक्तस्यापि विशेषणस्य यत्र परेण न श्रवणं तत्राप्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अथ प्रतिपादनयोग्यता विवक्षिता तत्राह—इत्यादीति। योग्यताविरहस्य निरूपयितुमशक्यत्वादिति भावः। परोक्तदूषणोद्धाराय पूर्वानुक्तविशेषणवतः पूर्वोक्तस्य साधनीयांशस्य प्रतिपादनं प्रतिज्ञान्तरं स्वपरसाध्य-पूर्व-पदानां प्रकरणसमभिव्याहारादिना तत्तद्विशेषपरागामर्थं-प्रतिपादकत्वस्य सर्वसिद्धतया खण्डनमिदमनवकाशमेव यद्यपि तथापि यथाकथञ्चित् खण्डितमन्यथा प्रकृतलक्षणात् खाण्डनिकस्यैवार्थविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यादति॥ ७॥

प्रतिज्ञान्तर के लक्षण में विशेषण के प्रक्षेप को स्वीकार करके दूषण कहा गया है। अब यह कहा जाता है कि विशेषण का प्रक्षेप भी अयुक्त है, क्योंकि प्रथम अविशिष्ट लक्षण कह कर यदि वह विशेषण परम्परा का प्रक्षेप आप से प्रतिज्ञान्तर के लक्षण में किया जाय तो आप को भी हेत्वन्तररूप निग्रह स्थान की प्राप्ति होगी। क्योंकि लक्षण भी केवल व्यतिरेकी अनुमान का हेतुरूप होता है। यदि कहा जाय कि प्रथमोक्त लक्षण के निर्वाहार्थ विशेषण देने पर भी हेत्वन्तर नहीं होता है, तो प्रतिज्ञा-निर्वाहार्थक विशेषण देने पर भी मुझे अन्य वादी प्रतिवादी को भी प्रतिज्ञान्तर विशेषण प्रक्षेप मात्र से कैसे होगा। यदि प्रथम ही इस विशिष्टादि विशेषण का ग्रहण करके लक्षण करें, तो भी अव्याप्ति है। क्योंकि, प्रथम विशेषणयुक्त साध्य को कहकर, विशेषण में व्यर्थता के भ्रम से शीघ्र विशेषण के संवरण (त्याग-आच्छादन) से निर्विशेषण के कहने पर फिर प्रतिवादी से दूषित होने पर, पुनः विशेषण का ही कथन करने वाले को इस प्रकार प्रतिज्ञान्तर नहीं होगा, अतः अव्याप्ति होगी। क्योंकि यहां प्रथम अविशिष्ट उक्तके विशेषणोक्ति का अभाव है। विशिष्टोक्ति के ही विशेषण का पुनः कथन है और 'स्वोक्तस्य' यहाँ स्वपद का, पर दूषित, यहाँ पर पद का, साध्यभागस्य, यहाँ, साध्यपद का, और पूर्व अनुक्त यहाँ पूर्वपद का विवेचन करने पर इनके अनुगत अर्थ के अभाव से व्यक्ति परक होने के कारण अन्य व्यक्तियों में लक्षण की अव्याप्ति होती है, और सब व्यक्तियों का ग्रहण असम्भव है। (शब्दोऽनित्यः) इस वाक्य में प्रकरणादि से वर्णात्मकत्व के लाभ होने के कारण वर्णात्मकत्व विशेषण का वादी जहाँ प्रथम प्रयोग नहीं किया हो, और प्रकरणलभ्यता को नहीं समझने वाले प्रतिवादी से भ्रमवश दूषित होने पर वादी से प्रकरणलभ्य (प्राप्त) विशेषण मात्र का अनुवाद किया जाय, वहां उस सद्वाद में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि पूर्व अनुक्त विशेषणत्व यहाँ भी है। यदि अनुक्त विशेषण

के स्थान में अप्रतिपादित विशेषण दें कि (प्रथम अप्रतिपादितविशेषणवत्त्वरूप से कहकर पुनः प्रतिपादन प्रतिज्ञान्तर होता है), तो यद्यपि प्रकरणलभ्य विशेषण के प्रतिपादित (ज्ञापित) होने से उक्त स्थान में अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो भी जहाँ पर के प्रतिपादन (ज्ञापन) नहीं हुआ हो, ऐसे स्थान में प्रकरणलभ्य विशेषण के भी अप्रतिपादित रहते अनुवाद होने पर अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् विशेषण के अश्रवण से या प्रकरणादि किसी प्रकार से प्रतिवादी को ज्ञान नहीं हो सके, वह विशेषण प्रतिपादित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परप्रतीतिजनकत्व प्रतिपादितत्व होता है ॥ ७ ॥

प्रतिज्ञान्तरादीत्यादिपदेन किमिष्टम्। प्रतिज्ञाविरोधादि—इति चेन्न, यत एकवक्तृकैकवाक्यांशयोर्मिथो व्याघातः साध्यविपरीतव्याप्तत्वोद्भावनानपेक्षोद्भावनः प्रतिज्ञाविरोधः तदेतदलक्षणं तथाहि इह भूतले घटो नास्तीत्यादावपि गतत्वेनातिव्यापकमिदं वचनयोर्हि व्याघातोन्योन्यविरुद्धार्थत्वं तच्चेहास्ति घटोस्तीत्यंशस्य घटसत्त्वबोधकत्वान्नञ्कारस्य च तन्निषेधकत्वात्। नन्वयुक्तमिदमुच्यते नहि घटो नास्तीत्यत्र घटो विधीयते घटस्य निषेधोपि येन मिथः व्याघातः स्यात् किन्तु घटो निषिध्यते घटनिषेध एव विधीयत इति यावत्तत्कुतो व्याहतिरिति चेत्—मैवम्। घट इत्यस्य तावदंशस्य घटविधिबोधकत्वं नास्तीत्यस्यापि तत्प्रतिषेधार्थत्वं भवतापि मन्तव्यं यदि त्वेवं नाभ्युपैषि तदा तयोरविरोधार्थतया घटश्चापेक्षितनिषेधास्तित्वं च भूतलाश्रितं द्वयमस्य वाक्यस्य बोधनीयं स्यादिति तस्माद्विधिरूप एव घट इति तत्प्रतिक्षेप एव नेति किमेतावेकवक्तृकवाक्यांशौ न भवतः परस्परविरुद्धार्थाभिधायकौ वा न भवतः येन लक्षणमिदं भवतस्तत्र न गच्छेत् ॥ ८ ॥

एकेति। एकवक्तृकं यदेकं वाक्यं तदंशयोरित्यर्थः। समस्यापूरणादौ भिन्नवक्तृकमप्येकं वाक्यं भवतीत्यत उक्तमेकवक्तृकमिति कथारूपैकवाक्ये वादिप्रतिवादिवाक्येतिव्याप्तिवारणायोक्तमेकवक्तृकेति कथाबहिर्भूततद्वाक्येतिव्याप्तिवारणायोक्तमेकेति विरुद्धहेत्वाभासव्यवच्छेदाय साध्येत्यादि साध्याभावव्याप्यत्वोद्भावनसापेक्षमेव विरुद्धोद्भावनमिह तु न तथेत्यर्थः। भूतले इति। घट इति घटं विधाय नास्तीति तन्निषेधस्य तद्विरुद्धार्थत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। विरोधमेव स्फुटयति—वचनयोरिति। घटतदभावयोरुभयोर्विधौ विरोधः स्यादिह तु न तथा निषेधमात्रस्यैव विधेयत्वादिति शङ्कते—नन्विति। नञर्थस्य घटेन सम्बन्ध एव हि विरोधस्तथोभयविधेयतामन्तरेण विरोध एव न भासेतेत्याह—घट इत्यस्येति। विरोधभानानङ्गीकारे विपक्षे दण्डमाह। यदीति। अविरोधे हि घटतदभावौ द्वावपि भूतले विहितौ स्यातामित्यर्थः। तस्माद्विधिनिषेधबोधकघटपदनञ्पदयोर्विरोध एवेत्युपसंहरति। तस्मादिति। विशिष्टस्य लक्षणस्य प्रकृते सम्भवं दर्शयति किमेताविति ॥८॥

प्रतिज्ञान्तरादि में आदि पद से किस अर्थ का ग्रहण इष्ट है। यदि प्रतिज्ञाविरोधादि का ग्रहण इष्ट है ऐसा कहें, तो युक्त नहीं। क्योंकि, एक वक्ता वाले वाक्यांशों का परस्पर व्याघात (विरोध) रूप, साध्यविपरीत व्याप्तत्वोद्भावन निरपेक्ष उद्भावन प्रतिज्ञाविरोध है। परन्तु यह लक्षण अलक्षण (अतिव्याप्तियुक्त) है। जैसे (इस भूतल

में घट नहीं है) इत्यादि में भी प्राप्त होने से यह लक्षण अतिव्यापक है। वचनों में परस्पर विरुद्धार्थबत्त्व ही व्याघात (विरोध) है। यह विरोध (भूतले घटो नास्ति) यहाँ भी है। क्योंकि घटोऽस्ति, इतना अंश घट का सत्त्वांश का बोधक है, और नकार घटसत्त्व का निषेध का बोधक है। अतः परस्पर विरुद्धार्थ बोधकत्व यहां भी है। शंका यह होती है कि यह अयुक्त है कि (घटो नास्ति) यहाँ विरुद्धार्थ कहा जाता है। क्योंकि (घटो नास्ति) यहाँ घट और घट का निषेध (अभाव) दोनों विहित नहीं हैं, जिससे विरोध (परस्पर व्याघात) हो। किन्तु घट का निषेध मात्र किया जाता है। अतः घट का निषेध ही विहित होता है घट नहीं, तो व्याघात कैसे हो सकता अर्थात् किसी प्रकार नहीं। उत्तर यह है कि ऐसी शंका युक्त नहीं, न शब्द का घट के साथ सम्बन्ध होने पर, घट इस को प्रथम घटविधि (घटसत्त्व) बोधकत्व होता है। और नास्ति इस अंश का उस सत्त्व के प्रतिषेधार्थ का बोधकत्व है, यही बिरोधार्थत्व है, आप से भी मन्तव्य है। यदि इस प्रकार नहीं मानें तो घटोऽस्ति, नास्ति, इन दोनों के अविरोधार्थकता से घट और घट प्रतियोगिक निषेधास्तित्व भूतलाश्रित हैं, ये दोनों इस वाक्य से बोधनीय होंगे। अतः घट, यह विधि रूप ही है। उसका प्रतिषेध ही 'न' है वहां क्या एकवक्तृक (एक वक्ता वाले) दो वाक्यांश नहीं है ? अर्थात् अवश्य दो वाक्यांश हैं। इसी प्रकार ये अवश्य परस्पर विरुद्धार्थ विधायक हैं। अतः आप का लक्षण अवश्य वहाँ प्राप्त है। एक वक्तृत्व अविरुद्धार्थत्व का अभाव नहीं हैं जिससे आप का लक्षण वहां नहीं प्राप्त हो (अतिव्याप्ति नहीं हो) ॥ ८ ॥

न मिथो विरोधमात्रं मिथो व्याघातकत्वं किन्त्वेकदेशकालादौ परस्परविरुद्धयोरस्तित्वम्। नच नास्तीत्यनेनैकदेशकालादौ विधिनिषेधौ वर्तमानौ बोध्येते—इति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्। देशकालाद्यनन्तर्भावे विरोधस्यैवानुपपत्तेः। किञ्च यद्येकदेशादौ विरुद्धास्तित्वं प्रामाणिकमभ्युपैषि, तदा विरुद्धशब्दस्तवायमन्य एव सामयिकार्थः कश्चित्, प्रमाणेन तथाभूतस्य ग्रहणादेव विरुद्धत्वाभ्युपगमशान्तेः। अथ प्रामाणिकं तन्नाभ्युपैषि, तदाऽप्रामाणिकं मिथो व्याघातकत्वं क नाम नास्तीत्यतिव्याप्तिः। अथ मन्यसे यथा परेणाभिधीयेते अर्थौ तथा मिथो व्याघातकाविति ब्रूमः। तत्र च प्रमाणं प्रसरत्येवेति—न कथमपि तत्र प्रमाणप्रवृत्तौ विरोधभाषापरिभाषामात्रत्वापत्तेः। यथा परेणोक्तोर्थस्तथा मिथो व्याघातक इत्यपि क्वचिन्मिथो व्याघातकत्वमप्रमाय न वक्तुं शक्यम् ॥ ९ ॥

ननु घट इति विधिमात्रं निषेधस्तस्य भूतले इति कथमिह विरोधो विधिनिषधयोरेकदेशेऽविधानादिति शङ्कते—न मिथ इति। उक्तोत्तरत्वादिति। उक्तस्यैवात्रोत्तरत्वादित्यर्थः। तदेवाह—देशेति। विरोधस्फुरणं तावदविवादं तच्च देशकालाभेदनिबन्धनमित्यर्थः। किञ्च त्वयोच्यते प्रकृते घटतदभावयोरेकदेशत्वं नास्तीति न विरोधस्तत्र तदुभयैकदेशवृत्तित्वं प्रमितं न वा। आद्ये तयोः सामानाधिकरण्येन प्रमाणप्रवृत्तौ रूपरसवदविरोध एवेत्याह—तदेति। द्वितीये त्वाह। अप्रामाणिकमिति। ननु माता बन्ध्येत्यादौ मातृत्वबन्ध्यात्वयोः सामानाधिकरण्यमभिधीयमानं विरुद्धमित्युच्यते न तु तदुभयसामाना-

धिकरण्यमेतावता प्रमीयते इति शङ्कयते—अथेति। तदुभयसामानाधिकरण्यं वाक्यविषयत्वेनापि यदि प्रमितं तदा प्रमितत्वान्न विरोध इत्याह—कथमपीति। वाक्यावच्छेदकत्वेनापीत्यर्थः। एतदेवाह—यथेति। यद्वा प्रकारान्तरेणापि प्रमितत्वमाह—यथेति। यथा परेणोक्त इति हि सामानाधिकरण्येन परेणोक्तस्तथा च मिथो व्याघातकत्वमनयोरित्यभिधानं मिथो व्याघातकत्वाप्रमितौ न स्यादित्यर्थः॥ ९॥

यदि कहें कि परस्पर विरोधमात्र परस्पर का व्याघातक (नाशक = वारक) नहीं है, किन्तु एक देश काल, एवं अवस्था में अस्तित्व (वर्तमानत्व) व्याघातत्व है। (घटो नास्ति) इस वाक्य से एक देशकालादि में वर्तमान विधिनिषेध बोधित नहीं होता, अर्थात्, घट, इससे घट की सामान्यसत्ता बोधित होती है, निषेध वाली भूतल में नहीं, निषेध तो भूतल में बोधित होता है। अतः यहाँ विधि निषेध का विरोध नहीं है और न व्याघातकत्व है। तो, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इसका प्रथम उत्तर कहा गया है कि घट और अभाव का विरोध आप को भी मन्तव्य होगा, अन्यथा घट और तदभाव की भूतल में युगपत् सत्ता प्राप्त होगी, और देश कालादि के अन्तर्भाव किये बिना विरोध की अनुपपत्ति से देशकालादि को अन्तर्भूत करके भावाभावादि का विरोध होता है, यह मन्तव्य ही है। विरुद्ध घट और तदभावरूप पदार्थों के एकदेशकालादि में यदि अस्तित्व को प्रामाणिक मानें, तो आप का यह विरुद्ध शब्द सांकेतिकार्थक कोई अन्य ही है, क्योंकि प्रमाण से तथाभूत (सह वृत्तित्व) के ग्रहण से ही रूपरसादि के समान विरुद्धत्व का अभ्युपगम शान्त (निवृत्त) हो जाता है। प्रमाण से प्रमित एकदेश कालादि में साथ रहने वाले पदार्थ वस्तुतः विरुद्ध नहीं कहे जा सकते। यदि विरोधी का एकदेशकालादि में अस्तित्व प्रामाणिक नहीं मानें तो अप्रामाणिक परस्परव्याघातकत्व (विरोधित्व) कहाँ नहीं है, भ्रम से सर्वत्र विरोध भास सकता है, अतः (घटो नास्ति) यहाँ अप्रामाणिक विरोध से लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यदि मानें कि जैसे प्रतिवादी से विरुद्धार्थ कहे जाते हैं:—माता बन्ध्या है, यहाँ मातृत्व और बन्ध्यात्व में परस्पर व्याघातकत्व है, यह हम कहते हैं, और वह प्रमाण की गति होती है। अर्थात् प्रमाण से ही विरोध समझा जाता है। प्रतिवादी से कथित अप्रामाणिक विरुद्धार्थ का प्रमाण से ही निषेध किया जाता है। अतः प्रमाण की प्रवृत्ति होते भी वहाँ व्याघात रहता है। 'घटो नास्ति' यहाँ ऐसी बात नहीं है, यह मानना भी युक्त नहीं, क्योंकि किसी प्रकार जहाँ प्रमाण की प्रवृत्ति होगी, वहाँ विरोध की भाषा (वाणी) को परिभाषा मात्रत्व प्राप्त होगा। अर्थात् प्रतिवादी भ्रम से विरुद्ध को सहवृत्ति कहता है, तो निषेधक वाक्य (प्रमाण) उसका अनुवाद भले ही कर सकता है, प्रामाणिक नहीं कर सकता। और कहीं परस्पर-व्याघातकत्व को प्रमाण से समझे बिना जैसे प्रतिवादी कहता है, वैसे परस्पर व्याघातक हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। और मातृत्व तथा बन्ध्यात्व सहवृत्ति प्रमाण सिद्ध हो, तो विरुद्ध नहीं हो सकता। और विरुद्ध हो, तो वादी के वाक्य से या किसी प्रमाण से सहवृत्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता॥ ९॥

क्वचिदप्यप्रमितस्य प्रसज्यते मिथो व्याघातो न प्रसाध्यते इति चेन्न, मा प्रमायि अप्रमयैव तद्व्यवहार प्रसञ्जयितुमपि भवताऽशक्यत्वात्।

इति चेन्न, क्वचिदप्यप्रमितमाभासमात्रोपस्थितं क नाम नोपस्थापयितुं शक्यमित्युक्तैवातिव्याप्तिरावर्तते। अनेकत्र नियतयोरेकत्र प्रसञ्जनम् इति चेन्न, प्रसञ्जकस्य तद्द्वयस्यैकत्र स्थितिनियतताप्रमितावविरोधस्यानेवंभावे चानापादकत्वस्यापत्तेः ॥ १० ॥

ननु प्रसङ्गमात्रं व्याघातस्य क्रियते स च पराभ्युपगममात्रप्रयुक्त एव नतु तत्प्रमाप्रयुक्तः परस्याभ्युपगमोपि न प्रमिते एव विषये तदभानेपि तद्दर्शनादन्यथा आपाद्यबाधः क्वापि न स्यात्तथा च गतं तर्कमात्रेणेति शङ्कते—प्रसज्यते इति। प्रसज्यमानस्य तत्र परं बाधस्तर्कगुणो नतु सार्वत्रिकः, तथा च क्वचिदपि प्रसञ्जनीयस्य प्रमितत्वं वाच्यमन्यथा प्रसञ्जकप्रसञ्जनीययोर्व्याप्त्यग्रहे मूलशैथिल्यमेव तर्कस्य स्यादित्याह—क्वचिदपीति। पराभ्युपगममात्रादेव प्रसङ्गः प्रवर्त्तते ज्ञानमात्रतन्त्रो हि व्यवहारो नतु प्रमामात्रतन्त्रः कथमन्यथा शुक्तिरजततादात्म्यं विधेयत्वेन भ्रमे निषेध्यत्वेन तद्बाधे व्यवह्रियेतेत्याह—मा प्रमायीति। नैयायिकमते प्रमितमेव व्यवह्रियते मतान्तरमादाय चेदुच्यते तदाभासज्ञानं सर्वत्र सुलभमित्यप्रामाणिकं मिथो व्याघातकत्वं क नाम नास्तीति यदुक्तं तदेवावर्तत इत्यर्थः। ननु व्याहन्यमानयोरर्थयोः स्वस्वस्थाने प्रमितयोरेकत्र प्रसञ्जनं क्रियते नतु प्रसञ्जने तदुभयसामानाधिकरण्यप्रमा तन्त्रमित्याह—अनेकत्रेति। विरुद्धयोरेकैकमात्रप्रसञ्जनं नानिष्टं मिलितोभयप्रसञ्जनं च तद्व्याप्यधर्मग्रहाधीनं तथा च तादृशव्याप्यप्रमाया व्यापकप्रमाध्रौव्ये क विरोधस्तदप्रमितौ च नापादनमपीत्याह—प्रसञ्जकस्येति ॥ १० ॥

यदि कहें कि मातृत्व और बन्ध्यात्व किसी वाक्य या हेतु से सहवृत्ति प्रमित नहीं होते हैं किन्तु परस्पर व्याघात प्रसक्त होता है, जैसे शुक्ति में रजत का तादात्म्य भ्रम से प्रसक्त होता है, फिर उसका निषेध होता है। इसी प्रकार वादी या प्रतिवादी वाक्य से विरुद्ध (व्याघात) प्रसक्त होता है। उसका प्रमाण से प्रसाधन नहीं किया जाता, किन्तु निषेध किया जाता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि रजत का तादात्म्य भी कहीं प्रमित रहता है, तो शुक्ति में प्रसक्त होता है। कहीं भी अप्रमित का प्रसञ्जन (आरोप) आप नहीं कर सकते। यदि कहें कि मातृत्व और बन्ध्यात्व का सहवृत्तित्व की प्रमा नहीं हो, तो भी वादी के वाक्य से अप्रमारूप ही उसका व्यवहार (कथन) होता है, तो अप्रमित आभासमात्र (भ्रममात्र) से उपस्थित का उपस्थापन (प्रसञ्जन) आरोप कहाँ नहीं किया जा सकता है। अर्थात् मिथ्यारोप सर्वत्र हो सकता है। अतः (इह नास्ति घटः) यहाँ घट और तदभाव के आरोप से विरोध लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि बन्ध्यात्व और मातृत्व अनेक स्थान में नियत हैं। किसी हेतु वाक्य से एकत्र प्रसक्ति (प्राप्ति = प्रतीति विरोध = व्याघात) है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि मिलित विरोधी का एकत्र प्रसञ्जन जिस प्रसञ्जक हेतु से किया जायगा, यदि उस विरोधिद्वय की एकत्र स्थिति नियतता की प्रमिति होगी, तो अविरोध होगा, और यदि इस प्रकार की प्राप्ति नहीं होगी, तो हेतु अनापादक होगा, हेतु से विरोधापादन नहीं होगा। विरोधी साध्य दो के व्याप्य दो हेतु होंगे, तो दोनों साध्य-अविरुद्धरूप से सिद्ध हों, अन्यथा, एक हेतु व्याप्य हो, एक अव्याप्य हो तो समबल के अभाव से विरोध ही नहीं होगा ॥ १० ॥

एकैकमव्याप्याभ्यां पृथक् पृथक्तयापादनम् इति चेन्न, एकैकमव्या-

घातात्। अर्थाद्द्वयं स्यादिति चेत् अर्थापत्त्यर्थत्वेनैवाव्याघातात्। अर्था-
दापादनं न साधनम् इति चेन्न, मिथोविरोधित्वेन तर्काभासत्वापत्तेः
इष्टापादनाच्च मिथो व्याघातात् कथं तथा स्यादिति तन्न, तद्द्वयधर्मक-
त्वादव्याघातापत्तेः, धर्मिणि प्रमापेक्षायामव्याघातात्॥ ११॥

तदुभयं विरोधिद्वयं मिलितं नापाद्यं किन्तु प्रत्येकमित्याह—एकैकेति। तथा च व्या-
घातो नापादितः स्यादित्याह—नेति। एकैकापादनमेव मिलितापादनव्याघातापत्तिपर्यव-
सन्नमित्याह—अर्थादिति। एकैकापादने अर्थाच्चेद्द्वयाघातः सिद्धयेत्तदार्थापत्तिप्रमाणसिद्ध-
तया विरोधिनोः सामानाधिकरण्यस्य व्याघातरूपत्वाऽसम्भव इत्याह—अर्थापत्तीति।
इयमर्थापत्तिर्न विरोधिद्वयसामानाधिकरण्यसाधिका, किन्तु तदापादिका तथा च न
विरोधः प्रामाणिक इत्याह—अर्थादिति। आपाद्यतापि प्रमितस्यैवेति दोषे सत्येवाह—
नेति। एकत्र मिथो विरुद्धव्याप्यद्वयाभावादुभयापादनमसम्भवि कथञ्चित्पराभ्युपगममात्र-
बलेनाप्यापादनं न सम्भवति तर्काभासत्वात्तस्यापादनस्येत्यर्थः। एकैकापादनं च नानिष्ट-
मतोऽप्यसौ तर्काभास इत्याह—इष्टेति। एकैकापादनं विरुद्धद्वयापादनपर्यवसन्नमतः कथ-
मिष्टापादनमित्याह—मिथ इति। तद्ध्येकं धर्मि विरुद्धधर्मद्वयालिङ्गितं स्यादित्यापादनं
पर्यवसन्नं तच्च विरुद्धधर्मद्वयालिङ्गितत्वप्रमितावेव स्यादिति त्वदभिमतव्याघातस्याव्या-
घातत्वमित्याह—तद्द्वयेति॥ ११॥

यदि कहें कि विरोधी दो साध्यों में से एक-एक साध्य से अव्याप्य और एक-एक से
व्याप्य दो हेतुओं से पृथक्-पृथक् रूप से साध्य का एक देशकालादि में प्रतिपादन विरोध
है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पृथक्-पृथक् सद्धेतु से प्रतिपादित एक-एक
रूप रसादि को एक देशकालादि में भी व्याघात नहीं हता। यदि कहें कि दो हेतुओं
से दो के प्रतिपादन करने पर भी अर्थात् दो के प्रतिपादित होने पर विरोध होगा,
तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि दोनों अर्थापत्ति प्रमाण से यदि सिद्ध होंगे, तो
अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होने ही से अव्याघात होगा। प्रमाणसिद्ध में विरोध नहीं
रहता। यदि परस्पर विरोधी हेतु प्रमाण द्वय से आपादन करें, साध्य का साधन
(सिद्धि अनुमान) नहीं करें, और कहें कि विरोधी प्रमाण से ऐसा प्राप्त होता है,
तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ परस्पर विरोध से ही तर्काभासत्व (मिथ्या-
तर्कत्व) की सिद्धि हो जाती है। और तर्काभास से एक-एक का आपादन इष्टापत्ति रूप
ही होता है। जैसे, घटो नास्ति, यहाँ एक-एक का प्रतिपादन इष्ट है। जहाँ विरुद्धधर्म
द्वय का आपादन होता है, वहाँ विरोध से ही एक धर्मी में दोनों में से एक का अभाव
सिद्ध होता है। दो धर्मी में विरोध का अभाव होता है। अतः यदि कहा जाय कि
परस्पर व्याघात होने से इष्टापत्ति कैसे होगी। तो, उत्तर यह है कि यह विरोधी साध्य के
धर्मिद्वय के धर्म होने से अव्याघात है। क्योंकि धर्मी में प्रमा की अपेक्षा होने पर
व्याघात नहीं रहता, भ्रम से दो विरुद्ध धर्मी के धर्म एक धर्मी में भी भासने से व्याघात
प्रतीत होता है। विरुद्ध धर्मों के धर्मी के भिन्नरूप प्रमा होने पर विरोध नहीं रहता।
अतः धर्मी का अप्रमा विरोधाभास का मूल वस्तुतः हेतुविरुद्ध नहीं है॥ ११॥

प्रतिबन्दीविचार—पूर्वोक्तार्थ में शंका यह है कि विरोधव्याघातादिपद यदि सार्थक हैं, तो
उक्त रीति से उनका खण्डन आप नहीं कर सकते। यदि निरर्थक हैं, तो सार्थक पदों के साथ

उनका उच्चारण जो आप करते हैं, वह अयुक्त है। और ज्ञात व्याघात का खण्डन भी अयुक्त है। भ्रम से प्रतीत का खण्ड करें, तो भ्रम के भी अभ्रम पूर्वक होने से सर्वथा व्याघात का खण्डन युक्त है। अप्रतीत का भी खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रतीत दोषवत्ता परपक्ष में कहीं नहीं जा सकती और दोष से ही पर पक्ष (व्याघात) का खण्डन करते हैं, यह खण्डन निषेध रूप है और विरोध के बिना निषेध सिद्ध नहीं होता, और विरोध उक्तरीति से सिद्ध नहीं होता। अतः आप का खण्डन भी नहीं हो सकता, यह प्रतिबन्दी है। इस आशय से स्थापनावादी पूर्वपक्षी का कथन है कि—

एवमादीनां तु दोषाणां परं प्रत्यभिधाने तवापि सर्वमिदं सुवचम् इति चेन्न, तत्राप्यन्यत्र दोषो मयापाद्यते इति प्रतिबन्दीं गृह्णतः किं परपक्षे दोषापादानमात्रं विवक्षितमुत यस्तत्र त्वया समाधिरभिधेयः स मयापीत्यभिप्रायात्स्वपक्षे समाधिः। न तावदाद्यः, अप्रस्तुतत्वात् परोक्तदोषानुद्धारे तावतैव कथायास्तदर्द्धस्य वा पर्यवसानात्, निग्रहापरिहारावधित्वात्तयोः ॥१२॥

ननु विरोधव्याघातादिपदं यदि सार्थकं तदा तत्खण्डनं तवानवकाशं निरर्थकं चेत्तदा त्वयैव सार्थकपदकदम्बसमभिव्याहारेण तदुच्चारणमनुपपन्नं किञ्च प्रतीतो व्याघातः खण्ड्यते अप्रतीतो वा। आद्येपि प्रमितोन्यथा वा, प्रथमे खण्डनव्याघातः। द्वितीये भ्रान्तेरभ्रान्तिपूर्वकतया खण्डनव्याघात एव। तृतीयेपि खण्डनव्याघातः न ह्यप्रतीयमानमेव दोषवत्तया ज्ञाप्यते अशक्यत्वादिति दुरुत्तरेयं प्रतिबन्दिरिति शङ्कते— एवमिति। इदानीं प्रतिबन्दिखण्डनमुपक्रमते—तत्रापीति। प्रतिबन्दिफलं पृच्छति— किमिति। परपक्षे दोषाभिधानमात्रं प्रतिबन्दिफलं तुल्यन्यायतया परोक्तदोषोद्धारो वेत्यर्थः। अप्रस्तुत्वादिति। परोक्तं दोषमनुद्धृत्य परस्मै दोषाभिधानस्याप्राप्तकालत्वात् आकाङ्क्षितक्रमविपर्यासरूपत्वादित्यर्थः। अप्रस्तुतत्वमर्थान्तरत्वं तु प्रकृते न सम्भवति प्रकृतदूषणाङ्गस्यैवाभिधानात् अन्यथावयवविपर्यासवचनमप्यर्थान्तरमेव स्यात्। परोक्तेति। परोक्तदोषानुद्धारे हि तेनैव निग्रहेण निगृहीतो वादी कथान्तरप्रक्रमं नासादयत्येव। तथा च वितण्डायास्तावतैव पर्यवसानं जल्पस्य वादस्य चार्द्धं परपक्षदूषणं पर्यवसन्नं स्वपक्षस्थापनरूपमर्द्धमवशिष्यते वयं च वैतण्डिका इति जितमस्माभिस्तव प्रतिबन्दिग्रहणमात्रेणेत्यर्थः। कथापदमिह वितण्डामात्रपरम्। निग्रहेति। तयोः कथा तदर्द्धयोर्निग्रहापरिहारमात्रावधित्वादित्यर्थः ॥ १२ ॥

उक्तरीति के अतिव्याप्ति आदि दोषों को अन्य के प्रति कहने पर, खाण्डनिक के प्रति भी ये सब दोष तुल्य हैं। परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे खण्डनवादी दोषाभिधान से खण्डन करते हैं, वैसे मुझ से भी दोष का प्रतिपादन किया जा सकता है। इस प्रकार प्रतिवन्दी (असदुत्तर) ग्रहण करने वाले को क्या परपक्ष में दोषापादन (दोषप्रदर्शन-दोषप्रदान) मात्र विवक्षित है? अथवा आप के मत में भी तुल्य दोष होने पर, उस विषय में जो आप से समाधि (समाधान = दोषवारणार्थ युक्ति) कहा जायगा, वही समाधि मुझ से भी स्वपक्ष में कहा जायगा, इस अभिप्राय से प्रतिवन्दी है। अर्थात् दोष की तुल्यता विवक्षित है? या दोष परिहार की तुल्यता है? अर्थात् जैसे मेरे मत में दोष हैं, वैसे आपके मत में भी दोष हैं। अथवा जैसे आप दोष का निवारण करेंगे वैसे ही मेरे मत में भी दोष का निवारण होगा। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि परपक्ष में दोषप्रदान प्रस्तुत (प्रकरण प्राप्त) नहीं है, किन्तु

प्राप्त दोष के उद्धार का प्रकरण है, अतः परोक्त दोष का उद्धार नहीं करके पर के प्रति दोष का कथन अप्राप्तकाल दोष से दूषित है। परोक्त दोष का उद्धार (निवारण) नहीं करने पर उससे दोष वादी निगृहीत हो जाता है। अतः वितण्डारूप कथा उतने ही में समाप्त हो जाती है और जल्प तथा वाद का परपक्ष दूषणरूप अर्द्धांश समाप्त हो जाता है, स्वपक्ष स्थापन मात्र अवशेष रहता है। क्योंकि, कथा और उस के अर्द्धांश की निग्रहात्मक दोष का अपरिहार ही अवधि है। अतः दोष का अपरिहार मात्र से वैतण्डिक दोष देकर विजय पाता है ॥ १२ ॥

दोषपरिहार की तुल्यता विवक्षित हो, तो कहते हैं कि—

द्वितीये तु स एवाभिधीयतां का नो हानिः ? भवांस्तावदभिधत्तां कस्तत्र समाधिः ततो मयाप्यभिधेयम् इति चेन्न, मया तदभिधानस्य साम्प्रतमप्रस्तुतत्वान्नहि मया स्वपक्षसाधनं त्वया च दूषणं प्रकृते वक्तुमारब्धमस्ति, किन्तु त्वया स्वपक्षो निर्वाह्यस्तद्दूषणं च मयाभिधानीयमिति कथा प्रस्तुता वर्त्तते। ईदृशि च कथाविभागे मत्पक्षे समाधानाय मां पर्यनुयोक्तुं कुतोधिकारो भवतः। अथ विशेषतस्तन्निष्टङ्कणे किं प्रयोजनमस्ति तावदेतादृशि चोद्ये परिहारो यतस्त्वयापि स्वपक्षेऽसौ स्वीकार्य इत्याशयस्ते, सोपि न युक्तः। नहि मत्पक्षे चेत्समाधिरस्ति तावता त्वत्पक्षेपि तेन भवितव्यमित्यत्र प्रमाणमस्ति ॥ १३ ॥

स एवेति। स्वपक्षसमाधिरेवेत्यर्थः। का नो हानिरिति। प्रकृतदोषे त्वया समाहितेपि खण्डनान्तरस्य मयावतारणीयत्वात् समाधेरेव वा पुनराभासीकरिष्यमाणत्वादित्यर्थः। प्राथमिकसमाध्यभिधानायासलाघवमेवापाततः प्रतिबन्दिफलमिति शङ्कते—भवानिति। भवेदेवं यदि मम तदभिधानाधिकारः स्यान्न त्वेवमित्याह—मयेति। ननु तुल्य एवायं दोष इति प्रतिबन्दिरहस्यं तथाच त्वया कथं न समाधेयमित्यत आह—नहीति। आकाङ्क्षाक्रमेणैव कथायां साधनदूषणयोरभिधानमुचितं तथाच मम तद्दोषसमाधानं न स्थेयानुविधेयाकाङ्क्षितमित्यर्थः। ननु प्रतिबन्दिदानेन त्वयि समाधानभावं विन्यस्य मया स्वदोषः समाहितप्राय एव स्वपक्षपक्षपातेनापि तद्दोषसमाधित्सायास्तवावश्यकत्वादित्याह—अथेति। तन्निष्टङ्कणे इति। अस्यां कथायामयं दोषस्तवैव समाधेयो न ममापीति निष्टङ्कणे इत्यर्थः। यद्यावयोः प्रकृतदोषे समाधिसाम्यं स्यात्तदा स्यादप्येवं न त्वेवमित्याह—नहीति ॥ १३ ॥

दूसरे पक्ष में यदि दोषपरिहार की तुल्यता विवक्षित हो, तो वह परिहार (समाधान) ही कहना चाहिये। इससे मेरी क्या हानि है ? यदि कहें कि आप अपने पक्ष में समाधि प्रथम कहें कि उसमें विरोधविषयक क्या समाधि है, तो मुझसे भी कहा जायगा कि यह कथन युक्त नहीं, क्योंकि इस समय मुझसे समाधि का अभिधान अप्रस्तुत (अनारब्ध) है। मुझे स्वपक्ष का साधन करना है, और आप को दूषण देना है, यह कहना प्रकृत में आरब्ध नहीं है। किन्तु आप को स्वपक्ष निर्वाह्य (रक्षणीय) है, और मुझे उसमें दूषण वक्तव्य है, इस प्रकार की कथा प्रस्तुत है। और इस प्रकार के कथा विभाग के रहते, मेरे पक्ष में समाधान के लिये मुझे कहने का भी अधिकार आप को कैसे हो सकता ? आप समाधान करें, वहाँ भी दोषाभिधानादि का मेरा अधिकार

है। समाधि के लिये आप स्थापन वादी अधिकारी हैं, वैतण्डिक नहीं। यदि कहें कि प्रतिबन्दी दान से ही मैं स्वपक्ष का सामान्यरूप से दोष का उद्धार कर चुका हूँ, फिर विशेष रूप से उसके निष्टङ्कन (निर्णय) में, अर्थात् इस कथा में यह दोष है और उसका समाधान आपका ही कर्तव्य है, मेरा नहीं, इस नियम का क्या प्रयोजन है। इस प्रकार की शंका में समाधान अवश्य है, जिससे आपको भी स्वपक्ष में अवश्य स्वीकर्तव्य है, इस प्रकार का यदि आप का तात्पर्य हो, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि मेरे पक्ष में जो समाधान है वही आपके पक्ष में—इसमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ १३ ॥

साम्यादेवम् इति चेन्न, वैषम्यस्याभ्युपगमात्। यदि तद्गतमसाधारणं रूपमादाय मद्दर्शनं प्रतितन्त्रसिद्धान्तं वा तत्र समाधिः स्यादत्र च त्वत्पक्षे तदभावान्न स्यात्तथा सति साम्यमात्रात्कथं समाधिरसावत्रापीति निश्चेतुं शक्यते। कोसौ तत्र विशेष इति चेन्न, मया साम्प्रतं तदभिधानस्याप्रस्तुतत्वादित्युक्तत्वात्। चोद्यसाम्यात्समाधिसाम्यम् इति चेन्न, दूष्यगतविशेषभावाभावविशेषितत्वादिनापि तद्वैषम्यसम्भवात्। यथा सद्व्यवहारस्य सत्तास्वीकारकत्वे तुल्येऽपि सत्तायां सत्ताभ्युपगमेऽनवस्थया तदाश्रये च तदभावेन, एवमन्यत्रापि बहुलं दर्शनादिति ॥ १४ ॥

दोषसाम्यमेव समाधिसाम्यमाक्षिपतीत्याशङ्कते—साम्यादिति। वैषम्यस्यावश्यकत्वेन बाधादाक्षेप एवायं न सम्भवतीत्याह—वैषम्यस्येति। तदेवोपपादयति—यदीति। यथा पक्षेतर उपाधौ स्वव्याघातकत्वेन दूष्ये बाधस्थले प्रतिबन्दिग्रहे तत्रासाधारणस्वाधीनं रूपमादाय यथा वा ज्ञानायाथार्थ्यपक्षेनाश्वासप्रसङ्गे मीमांसकेन दोषे दत्ते तवाप्यनाश्वासप्रसङ्गस्तुल्य इति प्रतिबन्दिग्रहे प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं प्रतितन्त्रसिद्धान्तमादाय समाधिविषमः। एवं सर्वत्रोज्ञेयमित्यर्थः। ननु तथापि समाधिवैषम्यप्रयोजकविशेषोपदर्शनव्यग्रता महती तवैवेत्याह—कोसाविति। पूर्वं समाधिगतो विशेष उक्तः, सम्प्रति दूष्यगतं विशेषमभिधातुं शङ्कितमपि शङ्कते—चोद्यसाम्यादिति। चोद्यमेव न समानं येन समाधिसाम्यमाक्षिप्येतेत्यर्थः। दूष्यगतं विशेषं दृष्टान्तेनोपपादयति—यथेति। सत्तासाधनायोपन्यस्तः सद्व्यवहारः सत्तायामनेकान्तिकत्वेन दूष्यस्तत्रानवस्थाप्रसञ्जकत्वरहितत्वं विशेषस्तादृशः सद्व्यवहारः सत्ताश्रये घटादौ ननु सत्तायामपीत्यर्थः। एवमिति। इहेति बुद्धिः समवायसाधिका समवाये समवायान्तराभावात् अनैकान्तिकी तत्राप्यनापादकत्वं दूष्यगतो विशेषः यथा घटाभावविशिष्टबुद्धिर्भूतलेऽतिरिक्ताभावसाधिकाप्यभावेऽभावान्तरसाधने कुण्ठा तत्राप्यनवस्थानापादकत्वमेव विशेष इत्यूह्यम् ॥ १४ ॥

यदि कहें कि दोष की समता से समाधि की तुल्यता आक्षिप्त = अनुमित होती है। तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि विषमता के स्वीकार से तुल्य समाधान का आक्षेप (अनुमान) नहीं हो सकता। क्योंकि, तद्दोषगत का असाधारणरूप (व्यक्ति) का ग्रहण करके यह मेरा दर्शनरूप प्रतितन्त्रसिद्धान्त का ग्रहण करके जो वहाँ समाधि होगा, उस व्यक्ति और सिद्धान्त के इस आप के मत में अभाव से वह समाधान भी नहीं होगा। फिर ऐसा न होने पर दोषत्वरूप से समतामात्र उस समाधि का भी आप के मत में तुल्य रूप कैसे निश्चय किया जा सकता है? जैसे जहाँ पक्षेतरत्व उपाधि को

उपाधि को स्वव्याघातकत्वरूप से दूषित करना हो, ऐसे बाधस्थल में प्रतिबन्दिग्रह होने पर वहाँ असाधारण बाध से उन्नीत (प्राप्त) रूप (व्यक्ति) का ग्रहण करके विषम समाधि होता है। और सब ज्ञान को यथार्थ मानने वाले मीमांसक के मत में ज्ञान को अयथार्थता पक्ष में अविश्वास होने पर, मीमांसक से दोषप्रदान करने पर आप में भी अविश्वास की तुल्यता है, ऐसा प्रतिबन्दिग्रह होने पर, प्रामाण्य स्वतस्त्वरूप प्रतितन्त्र सिद्धान्त का ग्रहण करके विषम समाधान होता है। क्योंकि न्याय में स्वतः प्रामाण्य है नहीं। यदि पूछा जाय कि समाधि विशेष का हेतु वह विशेष क्या है ? यह आप को कहना चाहिये, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि मुझे उस विशेष की वक्तव्यता अभी अप्रस्तुत है। यह पहले कहा गया है। यदि कहें कि शंका की तुल्यता से समाधान तुल्य होगा, तो यह कहना भी युक्त नहीं, दोष की तुल्यता रहते भी दूषणीय वस्तुगत विशेष के भावाभाव से समाधि के विशेषितत्व होने के कारण समाधि में वैषम्य का सम्भव होता है। जैसे सद् व्यवहार की सत्ता के स्वीकार में तुल्य हेतु होने पर भी सत्ता में सद्व्यवहार से सत्ता मानने पर अनवस्था होगी। अतः उसमें सत्ता नहीं मानी जाती है और सत्ता के आश्रय द्रव्यादि में मानी जाती है, क्योंकि वहाँ अनवस्था का अभाव है। इसी प्रकार अन्य भाव का समवाय होता है; अनवस्था से समवाय का समवाय नहीं। इस प्रकार अन्यत्र भी बहुत देखे जाते हैं। सत्ता आदि के व्यवहार से सत्ता जातिमत्ता की सिद्धि में सत्ता में व्यभिचार दोष की प्राप्ति होने पर भी दूष्य भेद सत्ता द्रव्यादि की विशेषता से समाधि होती है, वैसा ही सर्वत्र सब मत में नहीं हो सकता। अतः सर्वत्र प्रश्न (शंका) ही तुल्य नहीं हो सकता, जिससे समाधान तुल्य हो सके ॥ १४ ॥

किञ्च परोद्भावितमसिद्ध्यादिकमपरिहृत्य प्रतिबन्द्या प्रत्यवतिष्ठमानस्य कोऽभिप्रायः, किं यदिदं दोषतया परेणोद्भावितं तद्दूषणमदूष्येऽपि गतत्वात्, उत दूषणमपि सन्नोद्भावनीयं तुल्ययोगक्षेमत्वात्, यथाहुः 'यत्रोभयोरि'-त्यादि। नाद्यः, यद्यत्रासिद्ध्यादिलक्षणमस्ति उद्भाविते दूषणे तदा दोष-त्वस्याशक्यपरिहारत्वात्। परिहारे वा तस्यालक्षणत्वप्रसङ्गात्। यद्येतद्दूषणं कथं तर्ह्यदूष्यत्वेन वादिनाङ्गीकृते प्रतिबन्दिस्थाने गतमिति चेत् यद्येतद्दूषणं कथं दोषलक्षणोपपन्नमित्यत्रापि दीयतां दृष्टिः ॥ १५ ॥

प्रतिबन्दिग्रहणस्याभिप्रायविशेषमिदानीं विकल्प्य दूषयति—किञ्चेति। परपक्षे दोषाभिधानं वा समाधिसाम्यं वेति पूर्वविकल्पितमिदानीमदूष्ये स्वपक्षे गतत्वात् दूषणमेवैतन्न भवति, भवदपि वा नोद्भावनीयमिति विकल्प्यते इत्यपौनरुक्त्यम्। यत्रेति। "यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोपि तत्समः। नैकः पर्यनुयोज्यः स्यात्तादृश्यर्थ-विचारणे" इति भट्टवार्तिकम्। यदीति। दूषणलक्षणयोगित्वे दूषणत्वध्रौव्यादित्यर्थः। तल्ल-क्षणाक्रान्तमप्येतद्दूषणं चेत्तदा लक्षणमतिव्यापकमलक्ष्येपि गतत्वादित्याह—परिहारे इति। अदूष्यत्वाभिमतगामित्वादिदं तावद्दूषणमेव लक्षणं चेदतिव्यापकं तदा तदु-पग्राहकं लक्षणान्तरमेव वक्तव्यमिति शङ्कते—यदीति। कथमिति। लक्षणान्तरप्रणयन-मशक्यमिति भावः ॥ १५ ॥

और अपने पक्ष (सिद्धान्त) में प्रतिवादी से उद्भावित असिद्धि आदि दोषों का

परिहार नहीं करके प्रतिबन्दी द्वारा प्रत्यवस्थान (विरोध) करने वाले का क्या अभिप्राय है। किस अभिप्राय से प्रतिवादी से यह दूषण रूप से उद्भावित हुआ है, वह दूषण ही नहीं है, क्योंकि अदूष्य = दोष रहित आप के पक्ष में भी यह प्राप्त होता है। अथवा दूषण होने पर भी मेरे पक्ष में उद्भावन योग्य नहीं है। क्योंकि, वादी प्रतिवादी दोनों के पक्ष में इस दूषण का योगक्षेम (प्राप्ति परिहार) तुल्य है। भट्टपाद ने भी कहा है कि ('यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे') जहाँ वादी प्रतिवादी के स्वपक्ष में तुल्य दोष हो और उसका परिहार (वारण) भी तुल्य हो, ऐसे अर्थ के विचार में किसी एक का आक्षेप नहीं करना चाहिये। यहाँ पहला अभिप्राय युक्त नहीं है, क्योंकि यदि उद्भावित दूषण, में असिद्धि आदि दोष का लक्षण है, तो दोष का परिहार प्रतिबन्दी से भी अशक्य है। और यदि दोष का परिहार हो सके, तो दोष का लक्षण ही अलक्षणत्व को प्राप्त होगा। क्योंकि, अलक्ष्य में लक्षण के जाने से उसका निवारण हो सकता है, अन्यथा नहीं। अब शंका यह होती है कि यदि यहाँ असिद्धि आदि दूषण हैं तो वादी से अदूषणीयरूप से अङ्गीकृत प्रतिबन्दी स्थान में क्यों प्राप्त होते हैं। अर्थात् जहाँ प्रतिबन्दी हो सके, वहाँ असिद्धि आदि दोषलक्षण से युक्त होते हुए भी दोषरूप नहीं होते हैं। उत्तर यह है कि यदि प्रतिबन्दी स्थान में यह अदूषण है, तो दोषलक्षण से युक्त कैसे ? इस अर्थ में भी दृष्टि दातव्य है। अर्थात् दोष लक्षण से युक्त रहते असिद्धि आदि अदूषण नहीं हो सकते। अतः उनका उद्धार कर्तव्य है, प्रतिबन्दी ग्रह नहीं ॥ १५ ॥

नियामकाभावे तर्ह्येतदीयदूषणत्वे सन्देहः पर्यवसित इति चेदस्तु, दोषसन्देहेऽपि भवदीयसाधनस्यासाधकत्वं सन्दिग्धासिद्धवत्। किञ्च यल्लक्षणवतोस्य दोषत्वसन्देहस्तल्लक्षणक एवायमन्यत्रापीति तत्राप्यसिद्ध्यादेरदूषणत्वमेव स्यादितीयं प्रतिबन्दी दुरुत्तरा प्रतिबन्दिवादिनोपि ॥ १६ ॥

अदूष्ये गतत्वाददोषत्वं दोषलक्षणोपपन्नत्वाच्च दोषत्वमिति सत्प्रतिपक्षतया सन्देह इत्याह—नियामकेति। अत्रादोषत्वेन्यत्रापीदं दूषणं न स्यादित्यपरां प्रतिबन्दिमापादयति—किञ्चेति ॥ १६ ॥

यदि कहा जाय कि दोष रहित में गत होने से अदोषत्व है, और दोषलक्षणयुक्त होने से दोषत्व भी है। अतः नियामक विशेषदर्शन के अभाव से तो उस प्रतिबन्दी स्थान के असिद्धि आदि के दूषणरूपता में संदेह ही सिद्ध होता है, दोषत्व का निश्चय नहीं, तो उत्तर यह है कि यदि सन्देह हो, तो दोष के सन्देह होने पर भी सन्दिग्धासिद्धहेतु के समान आप के साधन को स्वसाध्यासाधकत्व होगा। अर्थात् सन्दिग्ध दोषयुक्त साधन से आप अपने पक्ष को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। और जिस लक्षण वाले असिद्धि आदि में यहाँ प्रतिबन्दि स्थान में दोषत्व का सन्देह है, वे असिद्धि आदि उसी लक्षण वाले अन्यत्र भी रहते हैं। अन्यत्र भी असिद्धि आदि को अदूषणत्व ही होगा। अतः प्रतिबन्दिवादी को भी यह दुरुत्तर प्रतिबन्दी है ॥ १६ ॥

दूषण होते हुए भी उद्भावन के योग्य नहीं है, क्योंकि वादी प्रतिवादी दोनों के लिये

यहाँ योगक्षेम तुल्य है, इस दूसरे कल्प को दूषित करते हैं कि—

नापि द्वितीयः। तथाहि उभयवादिसम्मतादूष्यत्वं धूमानुमानादिकं यदि प्रतिबन्दीकरोति परस्तदा तद्दर्शनेऽन्यत्र क्वचिदप्येतदसिध्यादिकं नोद्भावनीयं परसाधनेषु तस्यैव धूमानुमानादेः प्रतिबन्द्या भयादित्येषा मयापि सुग्रहैव तं प्रति प्रतिबन्द्यत्रापि शक्यते एव पठितुं 'यत्रोभयोः समो दोष' इत्यादि। अथ यं विशेषमादाय प्रतिबन्दी स्यात्तन्मात्रस्यानुद्भावनं न तु सामान्यत एव—इति चेन्न, तत्र विशेषे प्रतिबन्द्या त्याजितदुष्टत्वे गतत्वात्तल्लक्षणमेव नेति स्यात् विशिष्य तद्विशेषत्याजने च तादृशस्य लक्षणस्यासिद्धिरेव स्यादिति कृतं प्रतिबन्द्या ॥ १७ ॥

तथाहीति। उद्भाव्यमानोयं दोषः सदनुमानमास्कन्दतीति भयेन दोषानुद्भावनं चेत्तदा तस्य क्वाप्युद्भावनं न स्यात्तदानीमपि सदनुमानास्कन्दभयस्य विद्यमानत्वात् इत्यपरा प्रतिबन्दिः प्रतिबन्दिवादिनं प्रतीत्यर्थः। दोषः सदनुमानं नास्कन्दत्येव किंतु पराभ्युपगमरीत्या दोषश्चेदयं स्यात्तदा सदनुमानमप्याकुलयेदिति प्रतिबन्दिग्रहणमित्याह—अथेति। यं दोषं पुरस्कृत्य प्रतिबन्दिः स चेन्न दोषस्तदा तद्दोषलक्षणमतिव्यापकमलक्ष्येपि गतत्वादित्याह—नेति। ननु प्रतिबन्दिग्रहणस्य नायमभिप्रायो यदयं दोष एव न भवति। किन्तु यद्ययं दोषः स्यात्तदा तवापि स्यादित्यस्य प्रकृते यो दोषो दीयते तत्र दोषलक्षणमेव न गतमित्यभिप्रायस्तदा दोषलक्षणविरह एवाभिधीयतां किं प्रतिबन्द्येत्याह—विशिष्येति। असिद्ध्यादिसामान्यलक्षणमेव तथा विशेषणीयं येनातिव्याप्तिर्न स्यादित्यर्थ इति केचित् ॥ १७ ॥

दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि, उभयवादि सम्मत दोष रहित धूम हेतुक अनुमानादि को भी यदि प्रतिवादी प्रतिबन्दी (दूषणीय) करता है, तो उसके दर्शन (शास्त्र) में अन्यत्र भी कहीं पर के साधन में असिद्धि आदि युक्त में भी यह असिद्धि आदि उद्भावन के योग्य नहीं रहता। क्योंकि, उस धूमादि की ही प्रतिबन्दी के भय से वह असिद्धि आदि का उद्भावन नहीं कर सकता। अतः मुझ से भी उसके प्रति प्रतिबन्दी सुग्रह है। और यहाँ पढ़ा भी जा सकता है कि 'यत्रोभयोः समो दोषः' इत्यादि। भाव यह है कि 'वर्णा अनित्याः श्रावणत्वाद् ध्वनिवत्' इस नैयायिक के अनुमान में श्रावणत्व रहित उपान्त्यादि भाग में असिद्धि और सामान्य (शब्दत्व) में अनैकान्तिकत्व दोष मीमांसक द्वारा देने पर, नैयायिक यदि उभयमत सम्मत अदूष्य धूमानुमान को प्रतिबन्दी ग्रहण करता है कि वर्णानुमान में असिद्धि व्यभिचार दोष हो, तो धूम हेतुक अनुमान में भी ये दोष होंगे। क्योंकि ऊर्ध्व आकाश में धूम व्यभिचारी रहता है। इन्धनसंयुक्त देश से अन्यत्र असिद्ध है। इस प्रकार 'शब्दो नित्यः चाक्षुषत्वात' इत्यादि स्थान में भी नैयायिक मत में धूमानुमानरूप प्रतिबन्दी के भय से असिद्धि आदि का उद्भावन नहीं होगा। यह प्रतिबन्दी मुझे प्रतिबन्दीवादी को सुग्रह है। यदि कहें कि असिद्धि आदि के जिस विशेष को ग्रहण करके प्रतिबन्दी का ग्रहण होता है, उस विशेष युक्त का अनुद्भावन होता है। सामान्यरूप से अनुद्भावन नहीं होता। अतः 'शब्दो नित्यः चाक्षुषत्वात्' इत्यादि स्थान में असिद्धि आदि का उद्भावन प्रतिबन्दीवादी भी कर सकता है। तो, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि

उस विशेष असिद्धि आदि में प्रतिबन्दी से दुष्टत्व के त्याजित (निवारित) होने पर भी उसमें असिद्धि आदि के लक्षण के गतत्व (प्राप्तत्व) से असिद्धि आदि का लक्षण नहीं होगा। तथा अतिव्याप्ति दोष युक्त लक्षण होगा। यदि अतिव्याप्ति वारण के लिये विशेषण देकर (प्रतिबन्दिभिन्नत्व युक्त) विशेषण से तद्विशेष (असिद्धि आदि विशेष) का त्याग करें, तो इस लक्षण की प्रतिबन्दी आदि स्थान में असिद्धि (अव्याप्ति) होगी, अर्थात् प्रतिबन्दी का कोई फल नहीं होगा। असिद्धि आदि के लक्षण का अभाव ही वहाँ कहना उचित होगा, क्योंकि, वहाँ दोष लक्षण नहीं गया है ॥ १७ ॥

अथ मद्दर्शनमात्राभ्युपगतादूष्यत्वं किञ्चित्पदार्थं प्रतिवन्दीकरोति तदै-तदुक्तं तेन स्यादिह नेदं दूषणं वक्तव्यमभिधानेऽनयैव युक्त्या तवेष्ट-भङ्गप्रसङ्गात्—इति तन्न, इदमिह दूषणं वक्तव्यमनभिधानेऽस्यैवानिष्टस्य परासिषाधयिषितस्य सिद्धिप्रसङ्गात् इत्यभिधानानुकूलाया अपि प्रतिबन्द्याः सम्भवात्। नन्वेवमेवास्तु तथा चाभिधानेऽनभिधाने चोभयतः पाशाप्रति-बन्दीरज्जुर्भवत एव दुर्निवारा स्यात्—मैवम् ॥ १८ ॥

ननु प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनं व्यावहारिकत्वं यदि प्रतिबन्दीकरोति तदा तदापादितदोष-स्यादोषत्वव्यवस्थापनं न प्रतिबन्दिवादिनोभिमतं येन लक्षणमतिव्यापकं स्यादपितु दोषत्वव्यवस्थापनमेवेत्यत आह—अथेति। तेनेति। प्रतिबन्दीवादिनेत्यर्थः। इदमिहेति। भेदः पारमार्थिको व्यावहारिकत्वादित्यत्र यदि वेदान्तिना स्वरूपासिद्धिर्वाच्या तदा प्रपञ्चो मिथ्या व्यावहारिकत्वादित्यपि स्वरूपासिद्ध्या दुष्टमेव स्यादिति यदि प्रतिबन्दी-वादिनोभिमतं तदा प्रतिबन्दीपरिहाराय वेदान्तिनाप्यपरा प्रतिबन्दिः करणीया। तद्यथा यदि व्यावहारिकत्वं मया नासिद्ध्या दूषणीयं तदा भेदस्य त्वदिष्टं पारमार्थिकत्वं सिद्ध्ये-दित्यवश्यं मया दोषोयमुद्भाव्य इत्यर्थः। नन्विति। यदि दोषत्वं ब्रवीषि तदा त्वत्साधन-मप्यनेन दोषेण दुष्टं स्यात्, न चेद् ब्रवीषि तदा मत्सिषाधयिषितं सिद्ध्येदित्यभिधानानभि-धानयोस्तवैव सङ्कटप्रवेश इत्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रकारान्तर से प्रतिबन्दी ग्रह की सार्थकता की शंका है कि मेरे दर्शन (न्याय) मात्र में अभ्युपगत (स्वीकृत) अदूष्यत्व वाले किसी पदार्थ को जब प्रतिवादी प्रतिबन्दी करता है (दूषणीय करता है) तब उस प्रतिबन्दीवादी से यह कहा जाता है कि यहाँ यह असिद्धि आदि दूषण वक्तव्य नहीं है, क्योंकि इस दूषण के कहने पर इसी युक्ति से आपका इष्ट सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् 'प्रपञ्चः सत्यो व्यावहारिकत्वात्' व्यावहारिक होने से प्रपञ्च (संसार) सत्य है। इस नैयायिक अनुमान को यदि वेदान्ती असिद्धि आदि से दूषित करता है, या 'प्रपञ्चो मिथ्या व्यावहारिकत्वात्' ऐसा अनुमान करता है वहाँ दोष का अदोषत्व-साधन में तात्पर्य नहीं रहता है, किन्तु अनुद्भावन में तात्पर्य रहता है। अतः वहाँ दोष के रहने से लक्षण की वहाँ प्राप्ति होने पर भी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि लक्ष्य में ही लक्षण का गमन हुआ है। यह शंका युक्त नहीं है कि यह दूषण यहाँ नहीं कहना चाहिये इत्यादि, किन्तु यह दूषण असिद्धि आदि यहाँ वक्तव्य है, नहीं कहने ('प्रपञ्चो मिथ्या' ऐसा नहीं सिद्ध करने) पर, पर के साधन का इच्छा का विषय जो वेदान्ती के लिये यह अनिष्ट प्रपञ्च का सत्यत्व है, उसकी सिद्धि प्राप्त होगी, अतः अभिधान के अनुकूल प्रतिबन्दी का सम्भव है। यदि

कहें कि 'प्रपञ्चः सत्यो व्यवहारिकत्वात्' इस अनुमान में आप स्वरूपासिद्धि दोष कहें तो आप के भी 'प्रपञ्चो मिथ्या व्यावहारिकत्वात्' इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष की प्राप्ति होगी। क्योंकि हेतु का स्वरूप एक ही है, और स्वरूपासिद्धि दोष नहीं कहें तो प्रपञ्चपारमार्थिकत्व की सिद्धि होगी। इस प्रकार से उभयतः पाशा प्रतिबन्दीरज्जु (दोषरूप बन्धन) आप को ही दुर्निवार प्राप्त होगा। ऐसा कहना युक्त नहीं है ॥ १८ ॥

मिथो विरुद्धायाः प्रतिबन्द्यास्तर्काभासत्वात् मिथो विरोधस्य तर्कदूषणत्वात् सत्प्रतिपक्षानुमानवद्द्वयोरपि परस्परप्रतिक्षेपेणैवोपक्षीणत्वादिति न्यायद्वितीयाध्यायप्रथमाह्निकसूत्रे प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवदित्यत्रापादितदृष्टान्ताभावलक्षणदोषसाम्येन प्रत्यवस्थितं पूर्वपक्षवादिनं निराकर्तुमाचार्यः समानमित्यनुत्तरमभ्युपगमादभ्युपगतं तावद्भवतास्मत्पक्षे दृष्टान्तो नास्तीति ब्रुवन्नुद्योतकरो यत्रोभयोरित्यादि वदतो भट्टस्य प्रतिभटी कर्त्तव्यः ॥ १९ ॥

मिथ इति। अभिधानानभिधानाभ्यां दोषो मयि त्वया यदापाद्यते सेयं तृतीया प्रतिबन्दिः। सा च न सम्भवति–मिथो विरुद्धाभ्यां धर्माभ्यामेकस्यापाद्यस्यापादनं तर्काभासो यत इत्यर्थः। कथं तर्काभासोऽयमित्यत आह–मिथ इति। सत्प्रतिपक्षेति। यद्यभिधानपक्षे दोषस्तदानभिधानपक्षे दोषो न सम्भवतीत्युभाभ्यां दोषापादनद्वयस्य मिथः प्रतिबन्धादनुपपत्तिरित्यर्थः। उपक्षीणत्वादिति। परस्परप्रतिबन्धेन स्वस्वकार्याक्षमत्वादित्यर्थः। ननु यत्रोभयोः समो दोषः इत्यभिदधतो भट्टाचार्यस्य प्रतिबन्द्यभ्युपगमस्त्वत्प्रतिबन्दिखण्डनविरुद्ध इत्यत आह—न्यायेति। भट्टाचार्यविरोधेप्युद्योतकराचार्यस्य प्रतिबन्दिखण्डनाभ्युपगमोऽस्त्येवेति तदनुरोध एव ममापीत्यर्थः ॥१९॥

क्योंकि असिद्धि के अभिधान तथा अनभिधान में जो दोष कहते हैं, वह तृतीय प्रतिबन्दी होता है, और उसका यहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध प्रतिबन्दी (दोषाभिधान और अनभिधान रूप विरुद्धधर्म द्वारा दोषदान) को तर्काभासत्व होने से तथा परस्पर-विरुद्धत्व के तर्क के दूषण रूप होने से सत्प्रतिपक्ष अनुमान के समान दोनों में परस्परप्रतिक्षेप (निषेध) से ही उपक्षीणत्व (विलीनत्व) होगा। अतः उक्त प्रतिबन्दी नहीं होगा। अर्थात् यदि दोषाभिधान पक्ष में दोष होगा, तो दोषानभिधान पक्ष में दोष का सम्भव नहीं है। इसी प्रकार यदि अनभिधान पक्ष में दोष होगा तो अभिधान पक्ष में दोष का सम्भव नहीं है। अतः अभिधानानभिधान दोनों द्वारा दोषापादन (दोनों पक्ष में दोष प्रदान) के परस्पर प्रतिबन्ध होने से दोनों की असिद्धि होती है। यदि कहें कि (यत्रोभयोः समो दोषः) इत्यादि कहने वाले भट्टपाद को प्रतिबन्दी-दोष मान्य है, आप का प्रतिबन्दीखण्डन उससे विरुद्ध होगा, तो उत्तर यह है कि न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय प्रथमाह्निक सोलह में (प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्) इस सूत्र में, दृष्टान्त के अभाव (एक में प्रमाण प्रमेयता के उदाहरण के अभाव) रूप दोष की तुल्यता से प्रत्यवस्थित (विरोधी) पूर्वपक्षवादी का निराकरण करने के लिये, समान (तुल्य) उत्तर है, ऐसा स्वीकार से आपने स्वीकार किया कि हमारे पक्ष में दृष्टान्त नहीं है, इस प्रकार कहते हुए उद्योतकाराचार्य (यत्रोभयोः) इत्यादि कहने वाले भट्ट का प्रतिभट (प्रतिकूल भट = प्रत्युत्तर दाता) बनेंगे। अर्थात् उद्योतकराचार्य ने स्वपक्ष में दृष्टान्ताभाव को मानकर परपक्ष में भी दृष्टान्ताभाव कहते हुए दोषान्तर दिया

है। अर्थात् प्रतिबन्दी का आदर नहीं किया है, वही मन्तव्य है, प्रतिबन्दी नहीं। विशेष अन्यत्र द्रष्टव्य है, और भट्टपाद के विरोध होते हुए भी उद्योतकराचार्य ने प्रतिबन्दी का खण्डन स्वीकार किया ही है। वही स्वीकर्तव्य है ॥ १९ ॥

तत्किं प्रतिबन्द्यादिदूषणं न भवत्येव। नन्वेवं भवतोपसिद्धान्तः स्यादिति चेत्? तर्हि दर्शयापसिद्धान्तस्य लक्षणं प्रकृतसम्बद्धतया, वाङ्मात्रेणापसिद्धान्ते भवतः किमिति नापसिद्धान्तः स्यात्? सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमोऽपसिद्धान्तः प्रतिबन्द्यादि भवता सिद्धान्तत्वेनाभिप्रेतं ममेदं दर्शनमाश्रित्याभिधेयमिति भवता दर्शनविशेषस्याभ्युपेतत्वात् दर्शनस्य च उत्तत्पदार्थस्वीकारात्मकत्वात् तेषु च पदार्थेषु प्रतिबन्दीदूषणत्वादेः प्रविष्टत्वात्? इति चेन्न, लक्षणमेव तावदिदमपसिद्धान्तस्य नोपपद्यते मत्सिद्धान्तविपरीतमभ्युपगच्छतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात् ॥ २० ॥

ननु स्थाने स्थाने शङ्कराचार्यप्रभृतिभिः प्रतिबन्दिरभ्युपगतैवेति तदनभ्युपगमे तवापसिद्धान्त इत्यपसिद्धान्तखण्डनाय प्रस्तौति—तत्किमिति। तर्हीति। लक्षणाधीनप्रतिपत्तिकत्वाल्लक्ष्यस्येति भावः। प्रकृतसम्बन्धितया लक्षणं दर्शयेत्यर्थः। ननु किं लक्षणोपदर्शनेन? यतः प्रसिद्ध एवापसिद्धान्त इत्यत आह—वाङ्मात्रेणेति। अव्यवस्थितापसिद्धान्तापादनं सर्वत्र सुलभमित्यर्थः। ननु कथामुपक्रममाणेन मया प्रतिबन्दिः सिद्धान्तत्वेन नाभ्युपगता, येन तदनभ्युपगमादपसिद्धान्तः स्यादित्यत आह—ममेदमिति। अभ्युपगतप्रतिबन्दिदोषत्वशास्त्राभ्युपगम एव कथोपक्रमे प्रतिबन्द्यभ्युपगम इत्यर्थः। यदीदं लक्षणं तदा मत्सिद्धान्तस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य विपरीतमभ्युपगच्छतो नैयायिकादेरपसिद्धान्तापत्तिरित्याह—लक्षणमिति ॥ २० ॥

अब शंका होती है कि क्या प्रतिबन्दी आदि दूषण होते ही नहीं हैं? ऐसा होने पर, आप को अवश्य अपसिद्धान्त होगा, क्योंकि शंकराचार्यादि ने तत्तत्स्थानों में प्रतिबन्दी को माना है। उत्तर यह है कि यदि उक्त रीति से अपसिद्धान्त होगा, तो प्रकृत में सम्बद्धरूप से अपसिद्धान्त का लक्षण बताइये कि कैसा लक्षण वाला अपसिद्धान्त है जो प्रतिबन्दी को नहीं मानने से प्राप्त होता है। लक्षण के बिना कथन मात्र से अपसिद्धान्त हो, तो आप को अपसिद्धान्त क्यों नहीं होगा? अतः लक्षणाधीन लक्ष्य ज्ञान होने के कारण लक्षण वक्तव्य है। यदि कहें कि सिद्धान्त से विपरीत अर्थ का अभ्युपगम (स्वीकार) अपसिद्धान्त है। और प्रतिबन्दी आदि को आपने सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है, क्योंकि मेरे इस वेदान्तादि दर्शन का आश्रयण करके मुझे वक्तव्य (कहना) है, इस प्रकार आपने दर्शन विशेष का स्वीकार किया है, और दर्शन के तत्तत्पदार्थों के स्वीकारात्मक होने से और उन पदार्थों में प्रतिबन्दी दूषणत्वादि के प्रविष्ट होने से प्रतिबन्दी आदि का अस्वीकार अपसिद्धान्त होगा ही। तो, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अपसिद्धान्त का यह लक्षण ही नहीं सिद्ध हो सकता, अर्थात् यह निर्दोष लक्षण नहीं है, क्योंकि, इस लक्षण के अनुसार, प्रपञ्च के मिथ्यात्व रूप मेरे (वेदान्त के) सिद्धान्त से विपरीत सिद्धान्त को मानने वाले सब को अपसिद्धान्त की प्राप्ति होगी, अतः यह लक्षण अयुक्त है ॥ २० ॥

स्वसिद्धान्तस्तथापेक्षितः ? इति चेन्न, विशेषणपूरणमन्तरेण तदलाभात्, अन्यथा सर्वत्र विशेषणोपादानवैयर्थ्यम् । एवमभ्युपगमे भवत एवेयमपसिद्धान्तकृत्यानिवृत्त्यापत्तेः त्वत्सिद्धान्ते शतशो हेत्वादौ विशेषणोपादानदर्शनात् परसिद्धान्तहेतूनां चानुपात्तविशेषणानामनैकान्तिकीकृत्य त्वच्छास्त्रे बहुशो दूषितत्वात् प्रथमं स्वशब्दविशेषणमनुपादाय दूषणभयेनेदानीं तत्करणे च हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवतः । हेत्वन्तरं हि प्रथममविशेषणं साधकभागमभिधाय पश्चाद्विशेषणवत्तद्वचनम् , किञ्चैवं लक्षणमभिदधानस्य भवतोऽप्राप्तकालतापातः । अप्राप्तकालोऽवयवविपर्यास इति लक्ष्यमभिधाय हि लक्षणाभिधानं युक्तं च भवता विपर्यासः कृतः ॥ २१ ॥

तथापेक्षित इति । यद्विपरीताभ्युपगमेनापसिद्धान्त इत्यर्थः । विशेषणेति । स्वपदमनन्तर्भाव्य यल्लक्षणं कृतं ततस्तदलाभादित्यर्थः । ननु सामान्यपदस्य विशेषे तात्पर्यात्सिद्धान्तपदं स्वसिद्धान्तपरमतो नोक्तदोष इत्यत आह—अन्यथेति । एवं सति विशेषणं क्वापि न दीयेतेति भावः । निवृत्त्यापत्तेरिति । व्यावृत्त्यापत्तेरित्यर्थः । स्वशास्त्रे विशेषणपूरणात्परकीयहेत्वादौ च विशेषणमन्तरेणोपन्यस्ते त्वया दूषणाभिधानात् विशेषणपूरणस्य त्वत्सिद्धान्तत्वादित्यर्थः । किञ्चैवमिति । लक्ष्यं पक्षमुपन्यस्य तत्रेतरभेदार्थं लक्षणस्य हेतोरभिधानमित्यस्य विपर्यासस्त्वया कृत इत्यप्राप्तकालस्ते निग्रहस्थानमित्यर्थः ॥ २१ ॥

यदि कहा जाय कि स्वसिद्धान्त से विपरीताभ्युपगम लक्षण में विवक्षित है । अतः उक्त दोष नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विशेषण रूप स्वपद को लक्षण में पूर्ण किये बिना उस अर्थ का लाभ (ज्ञान) विवक्षामात्र से नहीं होता है । यदि कहें कि सामान्यपद का विशेष में तात्पर्य होने से विशेष रूप स्वसिद्धान्त का लाभ होगा, तो कहा जा सकता है कि अन्यथा (विशेषण पद के विना) विशेषणार्थ के लाभ होने पर, सर्वत्र विशेषण पद के ग्रहण को व्यर्थता की प्राप्ति होगी, कहीं हेतु आदि में विशेषण नहीं देना होगा, विवक्षा से ही विशिष्ट का ज्ञान होगा । यदि इसी प्रकार अभ्युपगम (स्वीकार) कर लें कि विशेषण पद व्यर्थ ही रहता है, विशेषण पद को त्याग कर विवक्षा से ही विशिष्ट हेतु आदि को समझना युक्त है, तो अन्य के प्रति प्रयुक्त यह अपसिद्धान्त रूप कृत्या (अनिष्ट) निवृत्त हो कर आप को ही प्राप्त होगी । अतः यह स्वीकार करने योग्य नहीं है और आप के सिद्धान्त में (शास्त्र में) सैकड़ों हेतु आदि में विशेषण ग्रहण के दर्शन से, तथा अगृहीत विशेषण वाले अन्य सिद्धान्त (शास्त्र) के हेतुओं को अनैकान्तिक (व्यभिचारी) सिद्ध करके आप के शास्त्र में बहुधा दूषित होने से भी उक्त अभ्युपगम युक्त नहीं है । और प्रथम स्वशब्दरूप विशेषण का ग्रहण नहीं करके, अब दूषण के भय से उस विशेषण का ग्रहण करें, तो हेत्वन्तर नामक निग्रह स्थान दोष आप को प्राप्त होगा, क्योंकि प्रथम विशेषण रहित साधक (हेतु) भाग को कह कर, फिर पीछे विशेषण युक्त उस हेतु का कथन हेत्वन्तर होता है । और लक्षण भी व्यतिरेकी अनुमान का हेतु होता है । और प्रकार से लक्ष्य को कहे बिना लक्षण को कहने वाले आप को अप्राप्तकालतारूप दोष प्राप्त होता है, क्योंकि, पञ्चावयव वाक्य में अवयव का विपर्यास (विपर्यय) अप्राप्तकाल कहा गया है । अतः

लक्ष्य रूप पक्ष (उद्देश) को प्रथम कह करके ही लक्षण का कथन युक्त होता है। और आपने उसका उल्टा किया है, अर्थात् लक्षण वाक्य में, प्रथम (सिद्धान्तविपरीताभ्युपगमः) यह लक्षण के स्वरूप को कह कर, पश्चात् (अपसिद्धान्तः) यह लक्ष्य का निर्देश किया है, वह निग्रहस्थान अप्राप्तकालतारूप है ॥ २१ ॥

एवमेवाभ्युपगमे भवत एवापसिद्धान्ते पातात्। यस्तु प्रथमत एव स्वविशेषणमुपादत्ते तं प्रत्यनुपात्तविशेषणपक्षाभिहितो दोषो वक्तव्यः। मदीयो हि सिद्धान्तः स्वसिद्धान्त एव मम। अत्र वाक्येऽभ्युपगमपदश्रवणादभ्युपगन्ता लभ्यते तस्य यः स्वकीयः स स्वशब्दार्थः पर्यवस्यति? इति चेन्न, ममाप्यभ्युपगन्तृत्वान्मयापि हि किञ्चिदभ्युपगम्यते एव। विपरीताभ्युपगन्तापेक्षित इति चेन्न, अविशेषात्। सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता विपरीताभ्युपगन्ता इति चेन्न, तथाप्यविशेषात्, ममापि स्वसिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्तृत्वात् स्वसिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता तथाभिमत इति चेन्न ॥ २२ ॥

एवमेवेति। हेत्वभिधानानन्तरमेव प्रतिज्ञाभिधानमिति क्रमश्चेत्त्वयेदानीमभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः। नन्वेतावतापसिद्धान्तखण्डनं न वृत्तं स्वपदपूरणेन तल्लक्षणनिर्वाहादित्यत आह—यस्त्विति। स्वेतिविशेषणस्य प्रक्षेपेपि वेदान्तिसिद्धान्तविपरीतमभ्युपगच्छतो नैयायिकादेरपसिद्धान्तप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्यर्थः। तदेवोपपादयति—मदीयो हीति। अभ्युपगन्ता स्वपदवाच्यो, न च परदर्शनसिद्धान्तस्य पराभ्युपगन्तव्येन तद्विपरीताभ्युपगमे परस्यापसिद्धान्तः स्यादित्याह—अत्रेति। एतावतापि तत्सिद्धान्ताभ्युपगन्तृत्वं न लभ्यते, किन्तु अभ्युपगन्तृत्वमात्रं तथा च स दोषस्तदवस्थ एवेत्याह—ममेति। अविशेषादिति ममापि यत्किञ्चिद्विपरीताभ्युपगन्तृत्वादित्यर्थः। तथापीति। सिद्धान्तस्याविशेषितस्यैवोपादानादित्यर्थः॥ २२ ॥

यदि आप यहाँ ऐसा ही मानें कि हेतु के कथन के बाद में ही प्रतिज्ञा का कथन होना चाहिये (अर्थात् लक्षण के बाद लक्ष्य का निर्देश कर्तव्य है) तो आप को ही अपसिद्धान्त की प्राप्ति होगी, क्योंकि प्रतिज्ञा हेतु उदाहरणादि का क्रम से कथन को आपने अङ्गीकार किया है। जहाँ प्रथम निर्विशेषण लक्षण कह कर पश्चात्, सविशेषण कहा जाय वहाँ दोष कहा गया है, और जो वादी प्रथम से ही स्वविशेषण का लक्षण में ग्रहण करता है, उसके प्रति भी स्वविशेषण के अग्रहण पक्ष में कथित दोष वक्तव्य है कि मेरा भी सिद्धान्त मेरा स्वसिद्धान्त है, और उससे विपरीत का आप अभ्युपगम करते हैं, अतः आप का सिद्धान्त अपसिद्धान्त लक्षण का लक्ष्य होगा (अपसिद्धान्त लक्षण की आप के सिद्धान्त में अतिव्याप्ति होगी)। यदि कहें कि इस लक्षणरूप वाक्य में अभ्युपगम, यह क्रियावाचक पद के श्रवण से अभ्युपगन्ता (स्वीकर्ता) का लाभ (आक्षेप) होता है, अतः उस अभ्युपगन्ता का जो स्वकीय (अपना) सिद्धान्त होगा, वह स्वशब्द का अर्थ सिद्ध होगा, आपका सिद्धान्त स्वशब्दार्थ नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, मुझे भी अभिगन्तृत्व है, मैं भी अभ्युपगन्ता हूँ, मुझसे भी कुछ भव-मिथ्यात्वादि माना जाता ही है। अतः मेरे सिद्धान्त से विपरीताभ्युपगम अपसिद्धान्त होगा। यदि कहें कि अभ्युपगन्ता मात्र नहीं विवक्षित है, किन्तु विपरीताभ्युपगन्ता अपेक्षित (विवक्षित) है, अतः दोष नहीं है। क्योंकि, मैं नैयायिक स्वसिद्धान्त से

विपरीताभ्युपगन्ता नहीं हूँ। तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस कथन से विशेष अर्थ का लाभ नहीं होता। मुझे वेदान्ती को भी आप के सिद्धान्त से कुछ अनिर्वचनीयता आदि विपरीतार्थ अभ्युपगन्तृत्व है, अतः उक्त अतिव्याप्ति (अविशेष) पूर्वतुल्य है। यदि कहें कि सिद्धान्त से विपरीत अभ्युपगम करने वाला अभ्युपगन्ता विवक्षित है, और आप वेदान्ती अपने सिद्धान्त से विपरीताभ्युपगन्ता नहीं हो, अतः उक्त अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त से विपरीताभ्युपगन्ता जो स्वसिद्धान्त से विपरीतार्थ का अभ्युपगम करता है—वह अपसिद्धान्त होता है, यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि उक्तरीति से भी विशेष अर्थ का लाभ नहीं होता है। कारण यह है—कि यदि सिद्धान्त मात्र से विपरीताभ्युपगन्तृत्व विवक्षित हो, तो मुझे भी आप के सिद्धान्त से विपरीताभ्युपगन्तृत्व है। अतः विपरीताभ्युपगन्ता मेरे सिद्धान्त से विपरीतार्थाभ्युपगन्ता के अभ्युपगम में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ही। यदि स्वसिद्धान्त से विपरीत मानने वाला तथा (सिद्धान्तविपरीताभ्युपगन्ता) अभिमत (स्वीकृत-विवक्षित) हो, कि जिससे न्याय में स्वसिद्धान्त के विपरीताभ्युपगन्ता से विपरीतार्थाभ्युपगम के अभाव से अतिव्याप्ति नहीं हो, तो यह अभ्युपगम भी युक्त नहीं ॥ २२ ॥

नूनमतिप्राज्ञोऽसि यतः स्वपदमभ्युपगन्त्रा विशेषयितुं प्रवृत्तोऽभ्युपगन्तारमेव स्वपदद्वारा विशेषयसि, परस्पराश्रयान्न बिभेषि। स्वपदेपि साधारण्यप्रत्यवस्थानं परोक्तं पुनस्तदवस्थमेवेति च न प्रतिसन्धत्से। यस्य यः सिद्धान्तस्तेन तत्परित्यागोपसिद्धान्तस्तदीय इति चेत्—मैवम्, यस्य यः सिद्धान्त इति पुरुषव्यक्तिविशेषसिद्धान्तव्यक्तिविशेषपरत्वेऽसाधारण्यादव्यापकत्वं लक्षणदोषः। यस्येति सिद्धान्तसंबन्धिनः इत्यर्थे तेनेति च सिद्धान्तसंबन्धिनेत्यर्थे च भवतोऽपसिद्धान्तात्। तथाहि सिद्धान्तसंबन्धिनो मम यः सिद्धान्तस्तस्य सिद्धान्तान्तरसम्बन्धिना भवता त्यागोस्त्येव ॥ २३ ॥

नूनमिति। स्वपदार्थः साधारणो मा भूदित्यभ्युपगन्त्रा तद्विशेषणत्वेनोपात्तस्तस्यापि साधारण्यं स्वपदेनापाकरोषि चेत्तदान्योन्याश्रय इत्यर्थः। एतावतापि नोक्तदोषोद्धार इत्याह—स्वपदेपीति। यस्येति। तथाच नैयायिकस्य स्वकीयसिद्धान्तविपरीताभ्युपगमादेवापसिद्धान्तो नतु परसिद्धान्तविपरीताभ्युपगमादपीत्यर्थः। यत्पदस्य व्यक्तिमात्रपरत्वेऽननुगमः, साधारणत्वे पुनः पूर्वोक्तदोष इत्याह—पुरुषेति। यत्पदस्य साधारणपरतायां दोषं व्युत्पादयति—तथाहीति ॥ २३ ॥

उक्त अभिमत वाले आप अवश्य अतिप्राज्ञ हैं। क्योंकि स्वपदार्थ साधारण न हो, इसलिये स्वपद को अभ्युपगन्ता से विशेषित (युक्त) करने के लिये प्रवृत्त आप अभ्युपगन्ता को ही स्वपदद्वारा विशेषित (विशिष्ट = युक्त) करते हो, और अन्योन्याश्रय से नहीं डरते। उसका जो अपना सिद्धान्त हो, वह स्वशब्द का अर्थ है, इस प्रकार अभ्युपगन्ता से स्वशब्द विशेषित होता है वहाँ अभ्युपगन्ता के नियम सिद्धि से स्वपदार्थ के नियम की सिद्धि, और स्वपदार्थ के नियम की सिद्धि से अभ्युपगन्ता के नियम की सिद्धि होने के कारण अन्योन्याश्रय होता है। और स्वशब्द में भी साधारणता रूप प्रत्यवस्थान (शंका) वादी से वर्णित पूर्वतुल्य ही है, उसका ध्यान आप नहीं

करते। अर्थात् स्वपद और अभ्युपगन्ता पद वादी तथा प्रतिवादी दोनों का बोधक होता है। विशेषणान्तर के बिना नियामक नहीं हो सकता, अतः पूर्वोक्त अतिव्याप्ति है, यह नहीं समझते। स्वपद को त्याग कर यदि लक्षण किया जाय कि (जिसका जो सिद्धान्त है, उससे उसका परित्याग उसका अपसिद्धान्त है) अतः नैयायिक को अपने सिद्धान्त से विपरीत अभ्युपगम करने पर ही अपसिद्धान्त होगा, परकीय सिद्धान्त से विपरीताभ्युपगम करने पर नहीं, ऐसा लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका जो सिद्धान्त, यह पुरुष व्यक्ति और सिद्धान्त व्यक्ति परक शब्द के लक्षण में होने से लक्षण की असाधारणता (सब लक्ष्य में अव्यापकता) के कारण अव्यापकत्व (अव्याप्ति) रूप लक्षण में दोष है। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव, ये त्रिविध दोष रहित लक्षण होना चाहिये, और जिसका (जिस सिद्धान्त सम्बन्धी पुरुष का) जो सिद्धान्त हो, सिद्धान्त सम्बन्धी से उसका त्याग उसका अपसिद्धान्त होता है—इस प्रकार सिद्धान्त सम्बन्धी रूप से साधारण (व्यापक) लक्षण करें, तो भी आप को अपसिद्धान्त होगा, क्योंकि जिस सिद्धान्त सम्बन्धी मेरा जो सिद्धान्त है, उस सिद्धान्त से सिद्धान्तान्तर सम्बन्धी आप से उस मेरे सिद्धान्त का त्याग है ही (यह अतिव्याप्ति विचारणीय है) ॥ २३ ॥

त्याग एव तस्य नास्ति मया परिगृहीतविषयत्वात्त्यागस्य—इति चेन्न, यदि त्यागोऽस्वीकारस्तदा न परिगृहीतविषयतानियमः, अथ स्वीकृतस्यास्वीकारः—तदा मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारो भवत्येव तथेति विशेषो नास्ति। अथ तेनैव स्वीकृतस्य तेनैवास्वीकारः सोपि न, तेनेति स्वीकर्त्रर्थे ममापि स्वीकर्तृत्वेन मया स्वीकृतस्य भवताऽस्वीकारे तवापसिद्धान्तापत्तेः। एकेनैकस्य स्वीकृतस्यास्वीकारोपसिद्धान्त—इति चेन्न, केनेति यद्येकसङ्ख्यायोगिनेति तदा मम यथैकसङ्ख्यायोगित्वं तथा तवापीति स एवापसिद्धान्तापातः। अथैकेनेत्यभिन्नेनेति—तदापि स्वस्मादभिन्नत्वं तव च मम च समानम्। अन्यस्मादभिन्नत्वं न मम न तवेत्यपसिद्धान्तविषयोच्छेदः॥२४॥

त्याग एवेति। मया नैयायिकेन भवदीयसिद्धान्तस्य त्याग एव नास्तीत्यर्थः। अस्वीकारमात्रस्य त्यागपदार्थत्वे परिगृहीतविषयत्वं नास्तीत्याह—यदीति। यद्यपि परिगृहीतविषयत्वं त्यागस्येत्यभिधानानन्तरमयं विकल्पोनुपपन्नस्तथाप्यभिप्रायदार्ढ्यार्थं विकल्पो द्रष्टव्यः। अथेति। प्रकृते तु त्वया स्वीकृतस्य मयाऽस्वीकार इति नापसिद्धान्तापात इत्यर्थः। तत्पदस्य स्वीकारकर्तृमात्रपरत्वे स एव दोष इत्याह—तेनेतीति। एकेनेति। स्वीकारास्वीकारकर्त्रोरैक्यं विवक्षितमित्यर्थः। एकमप्येकसङ्ख्यायोगित्वं चेत्तदा स एव दोष इत्याह। नेति स्वीकारास्वीकारकर्त्रोरभेदो विवक्षित इति न पूर्वदोष इत्याह—अथेति। स्वाभेदविवक्षायां पूर्वदोषतादवस्थ्यं पराभेदविवक्षायामसम्भवलक्षणदोषः। नहि कश्चित्परस्मादभिन्नो भवतीत्याह—तदापीति ॥ २४ ॥

यदि कहें कि मुझ से उस आप के सिद्धान्त का त्याग ही नहीं है, क्योंकि त्याग को परिगृहीतविषयत्व होता है। अर्थात् परिगृहीत का त्याग होता है। मैंने आपके सिद्धान्त का कभी ग्रहण नहीं किया। यह कहना अयुक्त है, क्योंकि यदि अस्वीकार त्याग शब्द का अर्थ हो, तो त्याग को परिगृहीतविषयत्व का नियम नहीं रहता है। और यदि स्वीकृत

(गृहीत) का अस्वीकार त्याग शब्द का अर्थ हो, तो भी मुझ से स्वीकृत (गृहीत = मान्य) का आप से अस्वीकार किया ही जाता है, वह अपसिद्धान्त होता है। अतः कोई विशेष (भेद) नहीं है। यदि कहें कि उस पुरुष विशेष से स्वीकृत का उसी से अस्वीकार त्याग कहा जाता है, तो भी नहीं बनता। क्योंकि उस पुरुष विशेष का यदि स्वीकारकर्ता यह अर्थ करें, तो मुझे भी स्वीकर्ता होने से मुझ से स्वीकृत का आप से अस्वीकार होने से आप को अपसिद्धान्त की प्राप्ति होगी। एकपुरुष से स्वीकृत एक सिद्धान्त का पुनः अस्वीकार अपसिद्धान्त होता है, ऐसा कहें तो यह भी अयुक्त है। अर्थात् स्वीकार अस्वीकारकर्ता को एक कहें, तो जिज्ञासा होती है कि किस एक पुरुष से स्वीकृत होना चाहिये। वहाँ यदि (एकत्व) संख्या योगी (एकत्व संख्यावाले) का एक शब्द से ग्रहण करें, तो मुझे जैसे एकत्व संख्यावत्त्व है, वैसे आप (नैयायिक) को भी एकत्व संख्यावत्त्व है। अतः मुझ से स्वीकृत का आप से अस्वीकाररूप पूर्वोक्त ही आप का अपसिद्धान्त प्राप्त होता है। यदि एक से (अभिन्न से) स्वीकृत ऐसा अर्थ करें, अर्थात् एक शब्द का अभिन्न अर्थ मानें, तो भी स्व (अपने) से अभिन्नत्व आप को और मुझ को तुल्य है, और अन्य से अभिन्नत्व न मुझे है, न आप को। अतः अपने से अभिन्न मुझ से स्वीकृत का आप से अस्वीकृत होने से अतिव्याप्ति है। और पर से अभेद विवक्षा में लक्षण का असम्भव है, क्योंकि कोई भी परसे अभिन्न नहीं होता है। अपसिद्धान्त के विषय का ही उच्छेद (अभाव) सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

अथ स्वीकर्तुरस्वीकर्तृतो न भिन्नत्वं ? तदाऽयमर्थः स्यात् स्वीकर्तृतो न भिन्नेन एकस्य स्वीकृतस्यास्वीकारोऽपसिद्धान्तस्तथाच स एव भवतोऽपसिद्धान्तः मया यदीयाङ्गीकारः किञ्चित्स्वीकर्तुरभिन्नस्य भवतस्तदीयास्वीकर्तृत्वात्। एतेनैकस्यैकेन स्वीकारास्वीकारावपसिद्धान्तः इत्यपास्तं मिलितयोरावयोरपसिद्धान्तापातात् ॥ २५ ॥

ननु स्वीकर्तृप्रतियोगिकभेदात्यन्ताभाववता योऽस्वीकारस्तुल्यविषयकः सोऽपसिद्धान्त इति शङ्कते—अथेति। प्रपञ्चसत्यत्वस्वीकर्तृप्रतियोगिकभेदात्यन्ताभाववता भवता प्रपञ्चमिथ्यात्वास्वीकारोपसिद्धान्तः स्यादत्रापि स्वीकर्तृतोऽभिन्न एवास्वीकर्त्ता, विषयः प्रपञ्चोप्येक एवेत्याह। मयेति। यदङ्गीकारो यस्य विषयस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वादेरङ्गीकार इत्यर्थः। एतेनेति। स्वीकारास्वीकारकर्त्रोः कर्मणश्चैक्यं यत्रेति शङ्कार्थः। एकत्वसङ्ख्यायोगित्वविवक्षादोषे सत्येव दोषान्तरमाह—मिलितयोरिति। एकेन मया भवता च कस्यचिद्विषयस्य स्वीकारः कस्यचिच्चास्वीकार एक एवापसिद्धान्त उभयोः स्यादित्यर्थः। विषयैक्यविवक्षायामपि प्रकारभेदमाश्रित्य स्वीकारास्वीकारावेकेन,सम्भवत एवेति भावः। यद्वा विषयाभेदमविवक्षित्वैव पूर्वशङ्का तेन तद्विवक्षया शङ्कान्तरमाह—अथेति ॥ २५ ॥

यदि स्वीकर्ता का अस्वीकर्ता से अभिन्नत्व विवक्षित हो, तो यह अर्थ होगा कि स्वीकर्ता से अभिन्न द्वारा स्वीकृत एक का अस्वीकार अपसिद्धान्त होता है। अर्थात् स्वीकर्ता से भेदाभाव वाले से जो एक विषय अस्वीकृत होता है, वह अपसिद्धान्त होता है। ऐसा मानने पर पूर्वोक्त ही आप को अपसिद्धान्त होगा। क्योंकि, मुझ से जिस भवमिथ्यात्व का अङ्गीकार किया गया है, भव के सत्यत्वादि को मानने वाले से आप से उस मिथ्यात्व के अभाव को माना जाता है, अतः मिथ्यात्व का अस्वीकार आप को है।

इससे एक कर्ता द्वारा कर्म एक वस्तु के स्वीकार और अस्वीकार दोनों मिलितरूप से अपसिद्धान्त है—यह भी निरस्त है। क्योंकि इस प्रकार मिलित हम दोनों को अपसिद्धान्त की प्राप्ति होगी। एक मुझ से तथा एक आप से किसी वस्तु विषयक स्वीकार और किसी वस्तु विषयक अस्वीकाररूप एक अपसिद्धान्त प्राप्त होगा। एकत्व संख्या मुझ में और आप में तुल्य है॥ २५॥

अथ तत्स्वीकर्त्तुरेव तदस्वीकर्त्तुरभिन्नत्वमेकशब्देनाभिमतं? तदापि यदि स्वीकारविषयाभिन्नत्वं तच्छब्देनोच्यतेऽस्वीकारविषयस्य तदा स्वीकर्त्रन्तर-स्वीकारविषयस्य भवता किञ्चित्स्वीकर्त्रभिन्नेनास्वीकारविषयतया स्वीकार-विषयाभिन्नत्वस्वीकारेण भवतोऽपसिद्धान्तप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्। एकेन स्वी-कर्त्रा न तु भिन्नेन स्वीकारास्वीकारौ विवक्षितौ? इति चेन्न, एकेन स्वीकर्त्रेत्येतदेव विवेचयन् भूयस्तदाकर्षन्नभिहितदूषणगणाव्यावृत्त्यापत्त्या कथय कथं न घनाघनसमयसमागमोदीयमानतरलतरङ्गिणीवेणिजलविवर्त्त-निर्वर्त्तितावर्त्तचक्रचङ्क्रम्यमाणतृणकदम्बविडम्बनामनुभविष्यसि॥ २६॥

तदेति। स्वीकर्त्रन्तरस्य वेदान्तिनः स्वीकारविषयः प्रपञ्चमिथ्यात्वं तस्य स्वीकर्त्रन्त-राभिन्नेन भवता योऽस्वीकारः सोपसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः। नन्वत्रापि स्वीकारास्वीकारौ भिन्नकर्तृकावेव पर्यवसन्नौ समानकर्तृकौ च विवक्षिताविति नोक्तदोष इत्याह। एकेनेति। एकेनेत्येकसङ्ख्यायोगिनेत्युक्तदोषतादवस्थ्यमेवेत्युपहसन्नाह—एकेनेति। तदाकर्षन् दूषित-विशेषणैरेव विशेषयन् दूषणगणाव्यावृत्तिर्दूषणगणप्रत्यासत्तिः कथं न विडम्बनामनुभ-विष्यसीति कथयेत्यन्वयः। उदीयमानेति दैवादिकस्येङ् गताविति धातोरात्मनेपदिनो रूपम्। वेणिः प्रवाहः जलविवर्तो भूयस्तया जलपरिणामस्ते निर्वर्त्तितो निष्पादित आ-वर्तोम्भसां भ्रमिस्तस्य चक्रं समूहः तत्र चङ्क्रम्यमाणस्य घूर्णमानस्य तृणसमूहस्य या विडम्बना विकत्थना तामित्यर्थः॥ २६॥

यदि कहें कि उस अनिर्वचनीयत्ववादि के स्वीकर्ता को ही उसके अस्वीकर्ता से अभि-न्नत्व एक शब्द से विवक्षित है, मिलित हम दोनों को भिन्नत्व भी है। अतः उक्त अप-सिद्धान्त की प्राप्ति नहीं है, तो भी यदि अस्वीकार के विषय अनिर्वाच्यत्वादि के स्वीकारविषय से अभिन्नत्व को तत् शब्द से कहा जाता है, तो एक स्वीकर्ता वेदान्ती के स्वीकार का विषय जो अनिर्वाच्यत्व है, उसका स्वीकर्त्रन्तर से अभिन्न आप के द्वारा जो अस्वीकार है, वह आप को अपसिद्धान्त होगा। क्योंकि किञ्चित्स्वीकर्ता (भवसत्यत्वमन्ता) से आप अभिन्न हैं, और आपके अस्वीकार वेदान्ती के स्वीकार विषय के अभिन्नत्व के स्वीकार से आप को अपसिद्धान्त प्रसङ्ग की दुर्वारता है। यदि कहें कि उक्तरीति से भी स्वीकार और अस्वीकार भिन्नकर्तृक ही सिद्ध होता है, और एक स्वीकर्ता से स्वीकार अस्वीकार विवक्षित है, भिन्न कर्ता से नहीं, अतः उक्त दोष नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि एक शब्द एकत्व संख्या वाले का बोधक है, अतः उक्त अतिव्याप्तिदोष अवश्य है। वहाँ (एकेन स्वीकर्त्रा) एक कर्ता द्वारा इसी का विवेचन करते हुए बार बार दूषित उस एक शब्द विशेष का आकर्षण (सम्बन्ध) करते हुए आप कथित दूषण समूह की अनिवृत्ति की प्राप्ति से, वर्षणशील मेघयुक्त वर्षा समय के समागम से प्रवृद्ध चञ्चल तरंग युक्त नदी की वेणि (प्रवाह) धारा,

के जल विवर्त (गतिविशेष) से सिद्ध आवर्त समूह में घूमते हुए तृणसमूह की विडम्बना (अनुकरण) को कहो कि क्यों नहीं करोगे ? अर्थात् एकशब्दार्थ के विवेचन के लिए प्रवृत्त आप उसके विवेचन के बिना एक विशेषण का ग्रहण करते हैं, यह अनुचित है। कारण यह है कि एक शब्दार्थ के निर्वचन सिद्ध होने पर, विशिष्ट लक्षण सिद्ध होगा। लक्षण के सिद्ध होने पर उक्त अतिव्याप्ति की निवृत्ति होगी, फिर एकत्व निर्वचन सिद्ध होगा, अतः यहाँ चक्रकापत्ति है ॥ २६ ॥

स्वीकृत्यास्वीकारः स इति चेन्न, क्त्वार्थविवेचनेनोक्तबाधापातात् अस्वीकृत्य स्वीकारे च तदभावापत्तेः। किञ्च सिद्धान्तपरित्यक्तरि यदपसिद्धान्तोद्भावनं तत् किं स्वीकृतदर्शनानुमतापसिद्धान्तदूषणभावे वादिनि उतानेवम्भूते ? आद्ये पूर्वसिद्धान्तवदपसिद्धान्तेऽप्यनेन व्युत्थातुं शक्यते तत्र किं वक्तव्यं न तावन्न वक्तव्यमेव किञ्चित्पूर्वसिद्धान्तत्यागादेवापसिद्धान्तेन निगृहीतत्वादिति युक्तम् ? अपसिद्धान्ते तत्परिहारस्य तद्दूषणत्वान्यतरासिद्धेस्तेनाभिहितत्वात् ॥ २७ ॥

क्त्वार्थेति। क्त्वाप्रत्ययस्याप्येककर्तृकत्वमर्थः। तत्र चैकपददोषतादवस्थ्यमित्यर्थः। अस्वीकृत्येति। प्रपञ्चमिथ्यात्वस्यास्वीकृतस्य नैयायिकेन स्वीकाराऽपसिद्धान्तो न स्यात्, क्त्वाप्रत्ययेन स्वीकारपूर्वकास्वीकारस्यैवाभिधानादित्यर्थः। ननु सिद्धान्तपरित्याग एवापसिद्धान्तः, स चोभयथा भवति स्वीकृत्यास्वीकारे अस्वीकृत्य स्वीकारे वेत्यत आह— किञ्चेति। यद्दर्शनमाश्रित्य कथायां प्रवर्त्तते तद्दर्शनं स्वीकृतापसिद्धान्तदोषभावमुत नेति विकल्पार्थः। आद्ये इति। सिद्धान्तं त्यजता तेन यद्यपसिद्धान्तस्य दोषत्वमपि त्याज्यं तदा तस्मै किं वाच्यमित्यर्थः। न तावदिति। मृतमारणस्यानर्हत्वादित्यर्थः। अपसिद्धान्ते इति। येन निग्रहेण मृतस्तत्र विप्रतिपन्नश्चेत्तदा न मृत एवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

यदि एक कर्ता द्वारा प्रथम स्वीकार करके फिर अस्वीकार रूप वह अपसिद्धान्त कहा जाय, तो युक्त नहीं। क्त्वा-प्रत्ययार्थ के विवेचन से उक्तबाध (दोष) की प्राप्ति होती है। क्त्वा-प्रत्ययार्थ के विवेचन से उक्तबाध (दोष) की प्राप्ति होती है। अर्थात् पूर्वोत्तर कालिक दो क्रिया को एककर्तृकत्व क्त्वाप्रत्यय का अर्थ है, वहाँ एक शब्दार्थ के विवेचन से पूर्वोक्तदोष प्राप्त होगा। और नैयायिक जगत् के मिथ्यात्व को प्रथम नहीं मानकर फिर मानेगा, तो उसको अपसिद्धान्त की प्राप्ति नहीं होगी। क्योंकि, क्त्वाप्रत्यय से प्रकृत में स्वीकारपूर्वक अस्वीकारार्थ कहा जाता है। अन्यथा नहीं। यदि कहा जाय कि सिद्धान्त का परित्याग ही अपसिद्धान्त होता है, वह दोनों प्रकार से होता है। स्वीकार करके अस्वीकार किया जाय, या अस्वीकार करके स्वीकार किया जाय, दोनों अपसिद्धान्त ही होगा, तो उत्तर यह है कि सिद्धान्त को परित्याग करने वाले के प्रति जो अपसिद्धान्त का उद्भावन (कथन) कर्तव्य होता है, वह क्या दर्शन (शास्त्र) से अभिमत (स्वीकृत) अपसिद्धान्त के दूषणभाव (दूषणत्व) को स्वीकृत करने वाले वादी के प्रति उद्भावन कर्तव्य होता है ? या अनेवंभूत (दर्शनोक्त अपसिद्धान्त को दूषण नहीं मानने वाले) के प्रति उद्भावन कर्तव्य होता है ? यहाँ प्रथम पक्ष में जैसे वादी ने दर्शन सम्मत सिद्धान्त को मान कर भी उसको त्याग दिया हो, वैसे यदि अपसिद्धान्त में भी वह व्युत्थान कर सकता हो, अर्थात् सिद्धान्त को त्यागता हुआ यदि वह अपसिद्धान्त के दूषणत्व को भी त्यागता हो (नहीं मानता हो) तो वहाँ

क्या वक्तव्य होगा ? उसके प्रति आप किस दोष का उद्भावन करेंगे ? यदि कहें कि वहाँ कुछ भी वक्तव्य नहीं होगा, किन्तु पूर्व के गृहीतसिद्धान्त के त्याग से ही वह अपसिद्धान्त से निगृहीत (पराजित) होगा, जिससे दोषान्तरोद्भावन की आवश्यकता नहीं रहेगी, तो यह कथन युक्त नहीं है। क्योंकि वह अपसिद्धान्त में दूषणत्वाभाव, दूषणत्व का अस्वीकाररूप उसके परिहार को कहता हो, उसके दूषणत्व को अन्यतरासिद्धि कहता हो, तो अपसिद्धान्त से उसका निग्रह नहीं हो सकता है, क्योंकि समय भेदादि से सिद्धान्त भेद का सम्भव रहता है। अतः जो निगृहीत होता है, परन्तु पुनः पक्षान्तर के ग्रहण से उसी विषय में प्रतिवादी हो जाता है, वह निगृहीत नहीं रहता है ॥ २७ ॥

अन्यथा स्वाभिप्रायेणासिद्धिमुद्भाव्यैव कथां विच्छिन्दानो विजयेत परासिद्धिपरिहारं नापेक्षेत इत्यनसिद्धावप्यसिद्धिमुद्भाव्य परं पराजित्याप्रत्यूहं गृहान् प्रतिष्ठेत, निगृहीतस्य तस्यापरमभिधानमनादरणीयमेवेति चेन्न ? अन्यतरासिद्धया निग्रहपरिहारस्यैव तेनाभिधीयमानत्वात्। तथाप्यनादरणेऽनसिद्धावसिद्धिमुद्भाव्य पराभिधीयमानमसिद्धिपरिहारमनादृत्य विजयेतैवेत्युक्तम्। अथ मन्यसे मध्यस्थेनैतद्विचारणीयं किमनसिद्धावसिद्धिरनेनोक्ता अनपसिद्धान्ते चापसिद्धान्तः ? एतद्विचार्य्य तेनैव जयपराजयाववधारणीयौ, एतदर्थमेव मध्यस्थोपस्थापनमिति ? तर्हि वादिना साधने प्रयुक्ते दुष्टमेतदित्यभिधायैव प्रतिवादिना निवर्त्तनीयं मध्यस्थस्तु परमार्थतो दुष्टत्वमदुष्टत्वं वा तस्य साधनस्य विचार्य जयपराजयाववधारयिष्यति, सोयं प्रसूप निर्वृत्तीभूतपिकदम्पत्यपत्यपोषणकृतमहायासवायसव्यसनमासादयिष्यति मध्यस्थो वराकः तावकदुःपरामर्शप्रकर्षेण ॥ २८ ॥

अन्यथेति। यदि परोद्भावितदोषे परविप्रतिपत्तिर्न निरसनीयेत्यर्थः। परासिद्धिपरिहारं परेण क्रियमाणमसिद्धिपरिहारम्। अनसिद्धौ परोद्भावितासिद्धिशून्ये। निगृहीतस्येति। अपसिद्धान्तेन निग्रहेण निगृहीतस्यापसिद्धान्ते विप्रतिपत्तिवचनं नादरणीयमित्यर्थः। अपसिद्धान्तपरिहाराय तस्य तत्र विप्रतिपत्तिरतोऽवश्यमादरणीयेत्याह—अन्यतरेति। पूर्वोक्तमेव विपक्षे दण्डं स्मारयति—तथापीति। उद्भावितदोषपरिहारं क्वापि नोद्भावयितापेक्षेतेत्यर्थः। अथेति। उद्भावितदोषस्य समीचीनत्वे स्थापनावादिनस्तदसमीचीनत्वे निरनुयोज्यानुयोगेन दूषणवादिनो भङ्गमेव मध्यस्थो व्यवस्थापयेन्न तूद्भावितदोषे वादिविप्रतिपत्तिर्वादिना गवेषणीयेत्यर्थः। तर्हि वादी विशिष्य दोषमपि नोद्भावयेत्तत्रापि मध्यस्थस्यैव दोषविशेषविचारणाश्रमः स्यादित्युपसंहरति—तर्हीति ॥ २८ ॥

अन्यथा (अपसिद्धान्त विषयक प्रतिवादी के विवाद रहते भी) यदि अपने अभिप्राय से उसको निगृहीत मान कर, विप्रतिपत्ति का निवारण नहीं किया जाय, कुछ कहा नहीं जाय, तो प्रतिवादी अपने अभिप्राय से 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्' यहाँ असिद्धि का उद्भावन करके ही कथा का विच्छेद करता हुआ विजयी होगा। यदि कहें कि वादी उसके असिद्धि उद्भावन का परिहार करेगा तो विजयी कैसे होगा ? तो उत्तर यह है कि वह परवादी के असिद्धि परिहार की अपेक्षा नहीं करेगा, इस प्रकार से अनसिद्धि स्थान में भी असिद्धि का उद्भावन करके पर की पराजय करके निर्विघ्न अपने घर की यात्रा करेगा। अपसिद्धान्त के अन्यतरासिद्धि के अपरिहार का

यह परिणाम (फल) होगा। यदि कहें कि अपसिद्धान्त से निगृहीत उस वादी का अपसिद्धान्त विषयक अन्य कथन भी अनादरणीय ही रहता है, अतः वक्तव्य नहीं रहता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अन्यतरासिद्धि से = अपसिद्धान्त के अस्वीकार से सिद्धान्तरूप निग्रह का परिहार ही कहता है। तो भी उसको निगृहीत समझ उसके वचन में आदर दृष्टि नहीं, किया जाय तो असिद्धि रहित (सद्धेतु) में असिद्धि का उद्भावन करके और पर कथित असिद्धि के परिहार का अनादर (परिहाराभाव) करके विजय प्राप्त करेगा ही—यह कह कहा जा चुका है। यदि आप माने कि मध्यस्थ का यह विचार कर्तव्य होता है कि 'इसने असिद्धि रहित में असिद्धि कहा है और अपसिद्धान्त रहित में अपसिद्धान्त कहा है' इत्यादि निश्चय करें। मध्यस्थ का उक्त निर्णय ही वादी एवं प्रतिवादी की जय और पराजय का निश्चायक होता है। क्योंकि, इसीलिये कथा में मध्यस्थ का उपस्थापन (स्वीकार) किया जाता है। परन्तु यह मानना युक्त नहीं ऐसा होने पर तो, वादी द्वारा साधन (हेतु) के प्रयोग करने पर, यह साधन दुष्ट है, इतना ही कहकर प्रतिवादी को-निवृत्त हो-जाना चाहिये, फिर मध्यस्थ ही उस साधन के परमार्थ रूप से दुष्टत्व वा अदुष्टत्व को विचार कर जय पराजय का निर्णय करेगा। परन्तु इस प्रकार के आपके दुर्विचार के प्रकर्ष से बेचारा यह मध्यस्थ तो जन्माकर चरितार्थ कोकिल दम्पती के पुत्र पषण के लिये कृत महा आयासवाला काक तुल्य निरर्थक महा व्यसन (कष्ट) पायेगा। अर्थात् दोषोद्भावन परिहारादि वादी प्रतिवादी का कर्त्तव्य होता है। मध्यस्थ अन्त में निर्णय करता है इत्यादि ॥ २८ ॥

अथोच्यते संप्रति विप्रतिपद्यतां नामापसिद्धान्तेऽप्यसौ, किमेतावता पूर्वस्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावस्य दर्शनस्य तावत्तेन स्वीकरणमकारि तदेवादायापसिद्धान्तस्योपन्यासो युक्त इति ? मैवम् , यदीदानींतन्यननुमतिरस्य नाद्रियते अस्यामुपजातायामपि प्राक्तनानुमतिमादायैव दूषणप्रवृत्तिः तदापसिद्धान्तस्यापि कुतोवकाशः। सहि पूर्वमनुमतस्येदानीमननुमतिमाश्रित्यैव प्रवर्त्तते नान्यथा, तस्मात्स्वीकृतापसिद्धान्तदूषणभावमपि वादिनं प्रति विप्रतिपत्तिकाले साधनीयमपसिद्धान्तस्य दोषत्वमिति। द्वितीयानवकाशः। यस्य तु सौगतादेर्मतेऽपसिद्धान्तो न दूषणं तं प्रति साधनीयमवश्यमेवास्य दूषणत्वम् ॥ २९ ॥

सामान्यतोऽप्यनङ्गीकृततद्दोषभावस्यैव तत्र विमतिरूपा देया, येन तु तद्दोषभावः सामान्यतोऽभ्युपगतस्तस्यापि कथाकालीना तद्दोषविप्रतिपत्तिश्चेदादरणीया तदा क्वचिदपि दोषव्यवस्थितिर्न स्यात्। को हि परापादिते दोषे न विप्रतिपत्स्यते इत्याशङ्कते—सम्प्रतीति। पूर्वस्वीकृतास्वीकारसाम्येऽप्यपसिद्धान्त आद्रियते अपसिद्धान्तविप्रतिपत्तिः कथाकालीना कथं नाद्रियेतेत्याह—यदीति। साप्याद्रियतां किं तेनेत्यत आह—तस्मादिति। तथा च कथाकालेऽपसिद्धान्तस्य दोषत्वं व्यवस्थापनीयं तच्चोक्तक्रमेणाशक्यमित्यर्थः। द्वितीयानवकाश इति, वादिनैव तत्रापसिद्धान्तस्य दोषत्वं व्यवस्थापनीयं न तु मध्यस्थेनेति मध्यस्थस्य द्वितीयस्यानवकाश इत्यर्थः। तदेवाह—यस्येति। यथा सौगतं प्रति वादिनैव तद्दोषत्वं व्यवस्थाप्यं न तु मध्यस्थेनेत्यर्थः। यद्वाऽपसिद्धान्ते विप्रतिपन्नं प्रत्यपसिद्धान्तस्य द्वितीयस्यानवकाश इत्यर्थः। तद्दोषत्वस्य तं प्रत्यव्यवस्थितत्वात्। ननु कथायां कथकेन

दोषत्वं यदि व्यवस्थाप्यं तदा कथैव न पर्यवस्येदित्यत आह—यस्य त्विति। अनभ्युपगतापसिद्धान्तदोषत्वं सौगतं प्रति कथावसरेऽपि तद्व्यवस्थापनस्य व्यावहारिकत्वादित्यर्थः। यद्वा तदानेवंभूतं प्रतीति यो द्वितीयो विकल्पः तस्यानवकाश इत्यर्थः। कुत इत्यत आह—यस्य त्विति। तुशब्दो हेत्वर्थः। साधनीयदोषभावस्यापसिद्धान्तस्य तं प्रत्युद्भावनमनुचितमेव यत इत्यर्थः॥ २९॥

यदि कहा जाय कि सम्प्रति वह प्रतिवादी अपसिद्धान्त विषयक विप्रतिपत्ति करे, अर्थात् उसको नहीं माने तो इससे उसको क्या फल मिलेगा, प्रथम अपसिद्धान्त के दूषणत्व को स्वीकृत करने वाले दर्शनशास्त्र का उसने स्वीकार किया है, अतः उस दर्शन का ही ग्रहण करके (उसके अनुसार) उसवादी के प्रति अपसिद्धान्त का ही दोषरूप से कथन युक्त है, ऐसा कहना युक्त नहीं है। क्योंकि यदि इस वादी की वर्तमान अपसिद्धान्त की अस्वीकृति आदृत नहीं होगी, किन्तु भूतकालिक स्वीकृति मानकर दोषोद्भावन होगा, इस अननुमति के होने पर भी पूर्वकाल की अनुमति को ग्रहण करके ही यदि दूषण की प्रवृत्ति होगी, तो अपसिद्धान्त का भी कैसे अवकाश होगा? क्योंकि, वह अपसिद्धान्त पूर्व अनुमत (स्वीकृत) की इदानीं अननुमति को आश्रयण करके प्रवृत्त (सिद्ध) होता है, अन्यथा (वर्तमान अननुमति के बिना) नहीं। अतः वर्तमान अस्वीकार के आदर के विना अपसिद्धान्त का उद्भावन नहीं हो सकता, अतएव अपसिद्धान्त के दूषणत्व को स्वीकार करने वाले वादी के प्रति भी विप्रतिपत्ति (विरुद्ध कथा) काल में अपसिद्धान्त के दोषत्व साधनीय होता है, यह उक्तरीति से अशक्य है। उक्तरीति से अपसिद्धान्त को दूषण मानने वाले के प्रति विप्रतिपत्तिकाल में अपसिद्धान्त का स्वीकार नहीं है, तो अपसिद्धान्त को दूषण नहीं मानने वाले के प्रति उसका उद्भावन हो, यह दूषण पक्ष माना जाय, ऐसी शंका भी युक्त नहीं है, क्योंकि दूसरे पक्ष का सर्वथा अनवकाश है। दूषण मानने वाले के प्रति यदि उद्भावन का अवकाश नहीं है, तो नहीं मानने वाले के प्रति अनवकाश की बात कहना ही क्या है? यदि कहा जाय कि जो अपसिद्धान्त को दूषण नहीं मानता हो, परन्तु स्वीकृत पक्ष का कथा में त्याग करता हो तो उसके प्रति क्या कहा जा सकता है? तो उत्तर यह है कि जिस सुगतादि के मत में अपसिद्धान्त दूषण नहीं है, उसके प्रति इस अपसिद्धान्त का दूषणत्व अवश्य साधनीय है। अर्थात् अपसिद्धान्त को दूषणरूप से सिद्ध करके उसके प्रति वक्तव्य है॥ २९॥

अपसिद्धान्त में विरोध करने वाले के प्रति अपसिद्धान्त के दूषणत्व का प्रतिपादन करना चाहिये। वहाँ शंका होती है कि एक से एक वस्तु के स्वीकाराऽस्वीकार का समुच्चयरूप व्याघात ही वक्तव्य है। अतः कहते हैं कि—

नच वाच्यं योऽपसिद्धान्ते विप्रतिपत्तिं करोति तं प्रति व्याघात एवापादनीयः? दर्शनविशेषं स्वीकुर्वता प्रथमं तद्दर्शनान्तर्निवेशिनः प्रतिवन्दीदूषणत्वादेस्तेन स्वीकारात् पश्चात्तस्यैवास्वीकारस्तावेतौ स्वीकारास्वीकारावेकेनैकस्य व्याहताविति। यद्ययमपसिद्धान्तात्मैव व्याघातस्तदाऽपसिद्धान्तदूषणत्वे विप्रतिपन्नस्य विप्रतिपत्तिमभ्युदस्य नाभिधातुं शक्यः।

अथ दूषणान्तरमयं व्याघातोपसिद्धान्तमनुपजीव्य सम्भाव्यमानोद्भावनः ? न सार्वत्रिकापसिद्धान्तोदाहरणेप्ययमेवास्तु, किमपसिद्धान्तस्य दूषणताङ्गीकारेण ? किञ्च एवमपसिद्धान्ते उद्भाविते पश्चात्तद्विप्रतिपत्तावुपजातायामपसिद्धान्तमुपेक्ष्य व्याघातलक्षणस्यास्य दोषान्तरस्याभिधाने प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः। प्रतिज्ञाहानिः स्वीकृतोक्तत्याग इति। एवं प्रथमं किञ्चित् दूषणमुक्त्वा तत्परिहारिणः दूषणान्तराभिधाने न प्रतिज्ञाहानिरिति गतं प्रतिज्ञाहान्यादिभिर्निग्रहैः ॥ ३० ॥

नन्वपसिद्धान्ते विप्रतिपन्नं प्रत्यपसिद्धान्तान्तरं नोद्भाव्यं येन तद्दोषभावस्यान्यतरासिद्धत्वं स्यादपि तु व्याघात उद्भाव्य इत्यत आह— नचेति। व्याघातं स्फुटयति दर्शनेति। प्रतिबन्दीदूषणादेरित्यतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणापसिद्धान्त एवाभिहितस्तेनापसिद्धान्तस्य स्वीकृतस्यास्वीकारो लभ्यते, यद्वा प्रथमापसिद्धान्तसाम्यदर्शनाय प्रतिबन्द्यादेरित्युक्तम्। व्याघातो यद्यपसिद्धान्त एव तदा तत्र विप्रतिपन्नं प्रति तदुद्भावनानर्हतैव, दूषणान्तरं चेत्तदाऽपसिद्धान्त एव पृथक् निग्रहस्थानं न स्यात्तुल्यलक्षणत्वादित्याह—'यद्ययमिति। व्याघातस्य दोषान्तरत्वपक्षे दोषान्तरमाह किञ्चेति। दूषणहानेरपि प्रतिज्ञाहानिपदेन सङ्गृहीतत्वादित्यर्थः। दूषणहानिसाधारणं प्रतिज्ञाहानिलक्षणमाह-स्वीकृतोक्तेति। नन्वेवं प्रतिज्ञातं यदपसिद्धान्त एवात्र दोषस्तथा च तत्र व्यवस्थितं प्रति व्याघातोद्भावने कथं प्रतिज्ञाहानिः स्यादित्यत आह—एवमिति। तत्परिहारिणस्तं दोषं त्यजतस्तन्निर्वाहमकुर्वत इति यावत्। 'तत्परिहारिणी'ति क्वचित्पाठस्तत्राप्ययमेवार्थः। स्वीकृतोक्तत्यागे सत्यपि यदि न प्रतिज्ञाहानिस्तदा क्वचिदप्ययं दोषो न भवेदित्यर्थः। आदिपदात् प्रतिज्ञान्तरादिपरिग्रहः ॥ ३० ॥

यह नहीं कहना चाहिये कि, जो अपसिद्धान्त में विप्रतिपत्ति (विरोध) करता हो, अर्थात् उसको दोष नहीं मानता हो, उसके प्रति व्याघात का आपादन (कथन प्रतिपादन) करना चाहिये, क्योंकि, दर्शन शास्त्र विशेष को स्वीकार करने वाले उस वादी ने प्रथम उस दर्शन के अन्तर्निवेशी (अन्तर्गत) प्रतिवन्दी अपसिद्धान्त के दूषणत्व को अङ्गीकार किया है। पीछे यदि उसी दूषणत्व का उससे अस्वीकार किया जाता है, तो यह एक से एक के दूषणत्व का स्वीकार और अस्वीकार (व्याहत) विरुद्ध = व्याघात दोषरूप है, यह उद्भावनीय है, अपसिद्धान्त नहीं। यह क्यों नहीं वक्तव्य है ? ऐसी जिज्ञासा हो तो कहा जाता है कि यदि यह व्याघात अपसिद्धान्तस्वरूप ही है, तो अपसिद्धान्त के दूषणत्व विषयक विप्रतिपत्ति (विरोध) वाले के विरोध व्युदास (निराकरण) नहीं (अपसिद्धान्त के दूषणत्व को सिद्ध नहीं करके) उसके प्रति व्याघात का कथन अशक्य है। और यदि यह व्याघात अपसिद्धान्त स्वरूप नहीं है किन्तु दूषणान्तर है, अत एव अपसिद्धान्त का उपजीवन (आश्रयण) नहीं करके स्वतंत्र उद्भावन की सम्भावना वाला है, तो सब स्थान में अपसिद्धान्त के उदाहरण में यह व्याघात ही रहना चाहिये, अपसिद्धान्त के दूषणत्व के अङ्गीकार से क्या फल होगा कि जिसके लिये उसको पृथक् दूषण माना जाय, उसको मानना व्यर्थ है। और दूसरी बात यह कि उक्तरीति से व्याघात को मानने पर, अपसिद्धान्त के उद्भावित अवस्था में पीछे विप्रतिपत्ति (विरोध) होने पर यदि अपसिद्धान्त की उपेक्षा करके (उसका

प्रतिपादन नहीं करके) व्याघात रूप इस दोषान्तर का कथन किया जाय तो प्रतिज्ञा हानि की प्राप्ति होगी, अतः यह अवक्तव्य है। स्वीकृत उक्त का त्याग प्रतिज्ञाहानि होती है। और इस प्रकार से प्रथम कुछ दूषण साधन कह कर, फिर उस के परिहारी (त्यागने वाले) के दूषणान्तर के कहने पर भी यदि उसकी हानि नहीं मानी जाय तो प्रतिज्ञा-हानि आदि दोष चले गये (कहीं नहीं माने जायेगें) अर्थात् प्रतिज्ञाहानि में दोषत्वा-भाव से निग्रहान्तर में भी तुल्यता से दोषत्वाभाव सिद्ध होगा ॥ ३० ॥

प्राक् प्रतिज्ञातदोषनिर्वाहार्थमेव निग्रहान्तरकथनात् नैष दोषः? इति चेन्न, पूर्वनिग्रहपरिहारमकृतवति तेनैव पराजिते निग्रहान्तरोपन्यासस्या-युक्तत्वादिति। नचानेन भयेन भवता व्याघात एवाभिधातव्यः प्रथमं नाप-सिद्धान्त इति वाच्यम्? अपसिद्धान्तवैयर्थ्यप्रसङ्गात् सर्वत्रापसिद्धान्तो-दाहरणे व्याघाताभिधानस्यैवमङ्गीकर्त्तव्यत्वात्, नहि क्वचिच्छक्यतेऽवधार-यितुं मयापसिद्धान्ते उद्भाविते नायं तत्र विप्रतिपत्स्यते इति ॥ ३१ ॥

ननूद्भावितापसिद्धान्तनिर्वाह एव व्याघातोद्भावनेन क्रियते तथा च कथं प्रतिज्ञाहानि-रित्याह—प्रागिति। पूर्वेति। पूर्वनिग्रहोपसिद्धान्तस्तत्परिहारमकृतवति दोषान्तरानव-काशान्नहि मृतोपि मार्यते इत्यर्थः। क्वचित्परिहारमकृतवतीति पाठः। तत्र प्रथमोद्भावि-तापसिद्धान्तरूपनिग्रहस्थानपरिहारः तत्र व्युत्थानेनान्यतरासिद्ध्यादिना कृतः तत्परिहार-मपसिद्धान्तदोषत्वव्यवस्थापनमकृतवति वादिनि निरनुयोज्यानुयोगेन पराजिते निग्रह-स्थानान्तरस्य व्याघातस्य य उपन्यासः स न युक्तः, पराजितवादिकर्तृक उपन्यासो न युक्त इत्यर्थः। नचेति। अपसिद्धान्तदोषत्वे व्युत्थितं प्रति दोषत्वव्यवस्थापनभयेनेत्यर्थः। एवं सत्यपसिद्धान्तः क्वापि लब्धावकाशो न भवेत्सर्वत्र व्याघातस्यैवोद्भावनीयत्वादिति तद्दोषत्वव्युत्पादनवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः। एतदेवाह—सर्वत्रेति। ननु यत्रैव नापसिद्धान्त-दोषत्वे विप्रतिपत्स्यते तत्रैवायं लब्धावकाशः स्यादित्यत आह—नहीति ॥ ३१ ॥

उक्तार्थ में शंका है कि प्रथम प्रतिज्ञात (कथित) दोष (अपसिद्धान्त) का ही निर्वाह (सिद्धि = पुष्टि) के लिये निग्रहान्तर (व्याघात) के कथन से यह प्रतिज्ञाहानि-रूप दोष नहीं होगा, हेतु से साध्य की हानि नहीं होती है। उत्तर—यह है कि क्या पूर्वोद्भावित निग्रह (अपसिद्धान्त) के वादी द्वारा परिहार करने पर व्याघातोद्भावन मानते हैं, या अपसिद्धान्त के परिहार नहीं करने पर? हाँ प्रथमपक्ष में प्रतिज्ञाहानि होगी। उक्त अपसिद्धान्त का ही वहाँ पुनः उद्भावन कर्तव्य है, वही प्रतिज्ञात है। और दूसरे पक्ष में भी व्याघातोद्भावन युक्त नहीं है। क्योंकि, पूर्वनिग्रह (अपसिद्धान्त) के परिहार (निवारण) को नहीं करने वाले वादी के उस अपसिद्धान्त से ही पराजित होने पर निग्रहान्तर (व्याघात) के कथन को अयुक्तता होती है। निगृहीत के प्रति निग्रहान्तर का उद्भावन कर्ता, स्वयं निग्रहान्तर को प्राप्त होता है। उक्त रीति से अपसिद्धान्त के बाद व्याघात के उद्भावन द्वारा इस प्रतिज्ञाहानि के भय से आप प्रथम ही व्याघात का उद्भावन करें, अपसिद्धान्त के उद्भावन को त्याग दें, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर अपसिद्धान्त की व्यर्थता प्राप्त होगी। सर्वत्र अपसिद्धान्त के उदाहरण में इस प्रकार से व्याघात की वक्तव्यता को अङ्गीकार करना होगा। अतः अपसिद्धान्त निरवकाश होगा। यदि कहा जाय कि जहाँ अपसिद्धान्त के दोषत्व में

कोई विरोध नहीं करेगा; वहाँ ही अपसिद्धान्त अवकाश पायेगा (चरितार्थ) होगा अन्यत्र अपसिद्धान्त के स्थान में व्याघात वक्तव्य है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि उद्भावन से प्रथम कहीं भी यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि मुझ से अपसिद्धान्त के उद्भावन किये जाने पर यह प्रतिवादी इस अर्थ में विप्रतिपत्ति नहीं करेगा, अतः सर्वत्र विप्रतिपत्ति के सम्भव से और विप्रतिपत्ति स्थान में व्याघात के वक्तव्य होने से अपसिद्धान्त निरवकाश होगा ही ॥ ३१ ॥

नन्वस्त्वेवं विप्रतिपन्नं प्रत्यपसिद्धान्तस्य दूषणत्वं प्रसाधनीयमिति? मैवं, येनाप्यस्वीकारदण्डेन तत्स्वीकारयिष्यसि तदनङ्गीकारस्यापि सम्भवात्। उक्तं च सौगतैः 'नहि शास्त्राश्रया वादा भवन्ती"ति नापसिद्धान्तो निग्रहाधिकरणमिति रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य गुणदोषमपश्यतः विलब्धा बत केनामी सिद्धान्तविषयग्रहा इति ॥ ३२ ॥

ननु यथा सौगतं प्रत्यपसिद्धान्तस्य दोषत्वं तदैव व्यवस्थापनीयं तथान्यमप्यपसिद्धान्तव्युत्थितं प्रतीत्याह—नन्विति। ननु यत्किञ्चिदनिष्टान्तरमुपन्यस्यापसिद्धान्तो व्यवस्थाप्यस्तत्रापि तद्व्युत्थितिसम्भवादित्याह—येनापीति। अपसिद्धान्तस्यादोषत्वे सौगतानुमतिमाह—नहीति। कथायां यथास्फुरणं वक्तव्यं कथाक्रमेण नतु शास्त्रानुरोधस्तथा चापसिद्धान्तो निग्रहस्य कथाकारणसम्यग्ज्ञानाभावस्याधिकरणमुन्नायकं न भवतीत्यर्थः। रिक्तस्येति। न खल्वयं सिद्धान्तमादायैव कश्चिज्जायते येनास्यायं सिद्धान्त इति नियमः स्यात्। न वा गुणदोषविचारविधुरेण जन्मानुपदं स्वेच्छया सिद्धान्तः परिगृहीतो नवा जातमात्राय केनचिन्नियामकेन सिद्धान्ता विलभ्यन्ते तत्रायं सिद्धान्तस्तवायं सिद्धान्त इति। तथा च सिद्धान्तो न कस्यापि येन तं त्यजतोऽपसिद्धान्तः स्यादित्यर्थः। सिद्धान्तविषयग्रहा इति रूपकम्, यथा विषयो ग्रामादिः राजादिना विलभ्यते तथा न सिद्धान्तोपीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

शंका यह होती है कि जैसे सौगत (बुद्धानुयायी) के प्रति कथाकाल में अपसिद्धान्त के दूषणत्व प्रसाधनीय होता है, वैसे ही विप्रतिपन्न अन्य प्रतिवादी के प्रति व्याघात से अपसिद्धान्त के दूषणत्व साधनीय है। अतः अपसिद्धान्त का व्याघात साधक है, बाधक = अनवकाश कारक नहीं। उत्तर—यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जिस स्वीकृत का भी अस्वीकाररूप व्याघात दण्ड (दूषण) द्वारा उस अपसिद्धान्त के दूषणत्व को आप स्वीकार कराओगे, उस दण्डरूप दूषण के अनङ्गीकार का भी सम्भव है। फिर आप कैसे उसके प्रति अपसिद्धान्त के दूषणत्व को सिद्ध कर सकते ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं। अपसिद्धान्त के अदोषत्व में सौगतों ने कहा है कि शास्त्राश्रय = शास्त्रानुसारी वाद नहीं होते हैं। कथा में स्फुरण के अनुसार क्रम से वक्तव्य होता है, शास्त्र का अनुसरण नहीं करना पड़ता, अतः अपसिद्धान्त निग्रह का अधिकरण (स्थान) नहीं है। अपसिद्धान्त से सम्यक् ज्ञान का अभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि रिक्त = ज्ञान लव से रहित, गुणदोष के अविवेकी, केवल जात जन्मवाले जन्तु = जन्म शील संसारी के सिद्धान्त के विषयों के ग्रह (ज्ञान) किस अज्ञ ने विप्रलब्ध (विपरीतप्राप्त) कराया = मिथ्यावचनों से समझाया है यह (खेद) की बात है। अर्थात् कोई सिद्धान्त लेकर जन्मता नहीं, जिससे नियम हो कि यह आप का

सिद्धान्त है, इत्यादि। अतः किसी का कोई सिद्धान्त ही नहीं है—जिस का त्याग अपसिद्धान्त हो ॥ ३२ ॥

अत्र कश्चिदाह शास्त्रमनाश्रित्य कथारम्भानुपपत्तिः, यदा हि क्षणभङ्गसाधनप्रयोक्ता अस्फूर्तिमता स्थिरवादिना सिद्धसाधनमुद्भाव्य निगृह्यते तदा किं कुर्यात् प्रथमविप्रतिपत्तिविरोधमुद्भावयेत्? इति चेत्, एवं तर्हि विप्रतिपत्त्यनुगुणप्रमेयान्तरव्यतिक्रममप्युद्भावयेदेव, अन्यथा विप्रतिपत्तिव्यतिक्रममप्युपेक्षेत न खलु तत्तदनुगुणव्यतिक्रमयोर्विरोधापत्तिं प्रति कश्चिद्विशेषः। नचैकपुरुषार्थानुगुणाङ्गाङ्गिभावव्यवस्थितपदार्थजातव्युत्पादनादन्यच्छास्त्रं नाम ॥ ३३ ॥

नहि शास्त्राश्रया वादा भवन्तीति वादिनं सौगतं प्रति परिशिष्टे यदुक्तमुदयनाचार्यचरणैस्तदाह—अत्र कश्चिदिति। अस्फूर्त्तिमतेति। दोषान्तरस्फुरणरहितेन। किं कुर्यादिति। अपसिद्धान्तं तिरस्कृत्य किमन्यद् ब्रूयादित्यर्थः। ननु स्थैर्यपक्षं गृहीत्वा कथायां प्रवृत्तः क्षणभङ्गमङ्गीकुर्वन् प्राथमिकविप्रतिपत्तिविरोधेनैव निग्रहीतुं शक्यते नापसिद्धान्तेनेति शङ्कते—प्रथमेति। स्थैर्याभ्युपगमविरोधमित्यर्थः। यदि तत्कालीनस्थैर्याभ्युपगमविरोधो दोषस्तदा स्थैर्यसाधनोपयुक्तप्रमेयान्तरव्यतिक्रमोऽपि दोष एवाविशेषादित्याह—एवमिति। स्थैर्यवत् स्थैर्यसाधकप्रत्यभिज्ञानप्रामाण्यमपि तदभ्युपगमविषय एवेति भावः। ननु भवत्वेवं तथापि नहि शास्त्राश्रया वादा इत्यत्र किमुक्तं भवेदित्यत आह नचेति। एकः पुरुषार्थः स्वर्गोपवर्गो वा तदनुगुणं तदुपयुक्तमङ्गाङ्गिभावापन्नं यत्पदार्थजातं तद्व्युत्पादनात्तद्व्युत्पादकादन्यदित्यर्थः। कर्त्तरि ल्युट्प्रत्ययान्तो व्युत्पादनशब्दः करणल्युट्पन्नो वा? यथा मीमांसायां स्वर्गः पुरुषार्थस्तदङ्गमपूर्वं तदङ्गं च यागादि तद्व्युत्पादनमेवमान्वीक्षिक्यामपवर्गः पुरुषार्थस्तदङ्गाङ्गिभावापन्नं प्रमाणप्रमेयसंशयादीति ॥ ३३ ॥

यहाँ उदयनाचार्य नामक नैयायिक कहते हैं कि शास्त्र का आश्रयण नहीं करके कथा के आरम्भ की अनुपपत्ति है, अतः कथा (पक्ष प्रतिपक्ष ग्रहण पूर्वक विचार) करने वाले को शास्त्र का आश्रयण अवश्य कर्तव्य होता है। यदि कहें कि कथा के लिये शास्त्र का आश्रयण होने पर भी अपसिद्धान्त को दोषत्व कैसे सिद्ध हुआ? तो कहते हैं कि जब क्षणभङ्ग के साधन को प्रयोग करने वाला (यत् सत् तत् क्षणिकम्, यथा जलधरास्तथेमे भावास्तस्मात्क्षणिकाः) इस प्रकार का अनुमान क्षणभङ्गवादी करता है, और दोषान्तर की स्फूर्ति (स्मरण) से रहित स्थिरतत्ववादी नैयायिक से यदि सिद्धसाधन का उद्भावन करके निगृहीत किया जाता है, तो उस समय वह क्षणिकवादी अपसिद्धान्त को नहीं मानने पर क्या करेगा, अपसिद्धान्त को नहीं मानने के कारण स्थिरवादी के प्रति अपसिद्धान्त का उद्भावन कर नहीं सकता, अन्य दूषण (निग्रह) है नहीं। अतः अपसिद्धान्त मन्तव्य है। यदि कहें कि अपसिद्धान्त के बिना भी प्रथम की विप्रतिपत्ति के विरोध का उद्भावन किया जायगा कि आपने स्थैर्य पक्ष को मान कर क्षणभंग का निषेधात्मक कथा का आरम्भ किया है। उससे विरुद्ध यह सिद्धसाधन का उद्भावन है, तो इस प्रकार स्थैर्याभ्युपगम के विरोध के उद्भावन करने पर वह क्षणभंगवादी, विप्रतिपत्ति के अनुकूल प्रमेयान्तर (प्रत्यभिज्ञा प्रामाण्यादि)

के व्यतिरेक का भी उद्भावन करेगा ही। क्योंकि यदि तात्कालिक स्थैर्याभ्युपगम से विरोध होना दोष है, तो स्थिरता साधन के उपयोगी प्रमेयान्तर का विरोध (व्यतिक्रम) भी दोष है अतः उद्भावनीय है। यदि प्रमेयान्तर के विरोध का उद्भावन नहीं करेगा तो विप्रतिपत्ति व्यतिक्रम (विरोध) को भी उपेक्षा करेगा अर्थात् उसका भी उद्भावन नहीं करेगा तो, सिद्धसाधन के उक्त उद्भावन से ही पराजित होगा, क्योंकि तत्तत् व्यतिक्रम (स्थैर्य व्यतिक्रम और प्रमेयान्तर व्यतिक्रम = त्याग विरोध) को सिद्धान्त विरोधापत्ति के प्रति कोई विशेष (भेद) नहीं है, एक के उद्भावन करने पर दूसरे का भी उद्भावन प्राप्त होता ही है। यदि कहें कि ऐसा होने पर शास्त्राश्रित वाद होते हैं इस अर्थ में क्या कहा गया, इस अर्थ की सिद्धि कैसे हुई ?, तो कहते हैं कि (एक पुरुषार्थ = धर्म स्वर्ग अपवर्गादि के अनुकूल अङ्गाङ्गिभाव से व्यवस्थित (सम्बद्ध निश्चित) पदार्थ समूह का व्युत्पादन = प्रतिपादक से अन्य शास्त्र नामक वस्तु नहीं है। अतः पुरुषार्थोपयोगी स्थैर्य प्रमेयादि का ज्ञान, तथा अपसिद्धान्तादि का ज्ञानादि शास्त्राश्रित सिद्ध हुआ ॥ ३३ ॥

तस्मात् क्षणिकत्वस्वीकारे तदनुगुणापोहादिसमस्तस्वीकारः तदेकपरिहारे वा समस्ततदनुगुणपरिहार इति परमेश्वरोऽपि नान्यथा करणे क्षमः। नच समस्ततदनुगुणपदार्थजातं कथारम्भे स्वशब्देनाभिधातुमुचितं तदैव शास्त्रप्रणयनप्रसङ्गात् परिषदनपेक्षितत्वाच्च। नच तद्व्यतिक्रमोद्भावनाय समस्ततदनुगुणोहः परस्परशास्त्रमनाश्रित्य शक्यः। नच तदनुगुणव्यतिक्रमे तदुपेक्षणे वा तत्त्वप्रतिपत्तिजयावित्यकामेनापि तत्तदधिकारप्रवृत्तं शास्त्रमेवाश्रयणीयम् ? इति ॥ ३४ ॥

किमतो यद्येवमित्यत आह—तस्मादिति। तथा च तात्कालिकविप्रतिपत्तिविषयपरित्यागवत्तदनुगुणसमस्तपरिहारोऽपि दोष इत्यर्थः। एवं च शास्त्रमाश्रित्यैव कथेति तदुक्तसमस्तपदार्थातिक्रमस्य दोषत्वमाह—नचेति। परिषदिति। विप्रतिपत्तिविषयसाधनदूषणाभिधानमात्रे परिषदाकाङ्क्षेत्यर्थः। ननु तदनुगुणा अपि पदार्थाः कथाकाले स्वयमुन्नीयन्तां वादिना किं परस्परं वादिनोः स्वस्वशास्त्राश्रयणमत आह—नचेति। ननु तदनुगुणव्यतिक्रमोऽपि नोद्भाव्यतामत आह—नचेति ॥ ३४ ॥

और जिससे उक्तलक्षण वाला शास्त्र होता है, एक शास्त्रवर्णित क्षणिकत्व को स्वीकार करने पर, उसके अनुकूल अपोह (उत्पन्नापवर्गित्व का हेतु स्वयं निवृत्ति = नाश) आदि सब का स्वीकार प्राप्त होता है, क्योंकि अपोहादि के स्वीकार के बिना क्षणिकत्व का स्वीकार नहीं कर सकते। इसी प्रकार उस एक क्षणिकत्व के परिहार (त्याग = अस्वीकार) करने पर समस्त उसके अनुकूल का परिहार प्राप्त होता है, इसको अन्यथा करने में परमेश्वर भी समर्थ नहीं है। और कथा के आरम्भ में समस्त कथा के अनुकूल, क्षणिकत्वादि साधन के अनुकूल पदार्थ समूह को अपने तत्तद् वाचक शब्द से कहना भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर उसी कथा काल में शास्त्रनिर्माण (रचना) की प्राप्ति होगी। और पूर्वनिर्मित शास्त्र की अपेक्षा नहीं रहने पर उसके ज्ञाता परिषद् (सभ्यसमूह) के अभाव से कथा में परिषद की अपेक्षा नहीं रहेगी।

विप्रतिपत्ति (विरोध) विषय साधन दूषण के शास्त्रानुसार कथन में परिषद् की आकांक्षा होती है, अन्यथा नहीं। यदि कहा जाय कि कथा के अनुकूल पदार्थ की ऊहा (कल्पना) उस समय कर लिया जाता तो परस्पर शास्त्रादि की अपेक्षा नहीं हो सकती, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, उस स्वीकृत के व्यतिक्रम (त्याग विरोधादि) का उद्भावन के लिये, समस्त तदनुकूल की ऊह (ज्ञान) परस्पर शास्त्र के आश्रयण के बिना स्वयं अशक्य है। और स्वीकृत के अनुगुणों के व्यतिक्रम (त्याग) या उपेक्षा करने पर भी तत्त्वज्ञान एवं विजय शास्त्र के आश्रयण बिना नहीं हो सकता। अतः नहीं चाहने वाले को भी तत्तदधिकार में प्रवृत्त शास्त्र ही आश्रयणीय है ॥ ३४ ॥

तदेतदपेशलं, किं तदनुगुणं प्रमेयान्तरं यदनभ्युपगमे विरोधमुद्भावयेदित्युच्यते द्वयमभ्युपगम्यं सम्भवति एकं तावद्यदनभ्युपगमे कथैव प्रवर्तयितुमशक्या, यथा प्रमाणादि सर्वकथकसिद्धम्, इतरत्तु प्रतिदर्शनसिद्धं किञ्चिद्यथा क्षणभङ्गेश्वरादि। तत्र यदि प्रथममभ्युपगम्यैव कथाप्रवृत्तिरिति तत्स्वीकारे पश्चात्तदनङ्गीकारेऽपसिद्धान्तः तन्न, स्वव्याघातकत्वेन तस्य भवद्भिरेव जातित्वाङ्गीकारात्। जातेश्च निरनुयोज्यानुयोगे निवेशात् ॥ ३५ ॥

तदिदमाचार्यमतं खण्डयति—तदेतदिति। सर्वतन्त्रसिद्धान्तो हि प्रमाणं धर्मादिवत्तदनभ्युपगमेप्यपसिद्धान्तो न भवेत्, किन्तु जात्युत्तरमेव स्यात्, प्रमाणानभ्युपगमे स्वपक्षसाधकानुमानप्रयोगो व्याहतः, धर्म्यनभ्युपगमे च कुत्र धर्मिणि स्वहेतुं प्रयुञ्जीतान्ततोसाधकतासाधकानुमानमपि प्रमाणमेव। तत्रापि च धर्म्यपेक्षैवेति स्वव्याघातकत्वाज्जात्युत्तरमेतदित्यर्थः। यद्यपि नैतज्जात्युत्तरं प्रमाणं नास्ति धर्मी वा नास्तीत्येतावन्मात्राभिधानस्य चतुर्विंशतौ जातिष्वनन्तर्भावात्, तथापि प्रमाणं नास्तीति वाक्यमात्मानमपि शब्दरूपं प्रमाणं व्याहन्त्येवेति जातिसामान्यलक्षणाक्रान्ततया आकृतिगणत्वेनाभ्युपगतायामनुपपत्तिसमायां जातावन्तर्भाव एव। अत एव तत्र महाविद्यानुमानानामन्तर्भावः। एवं धर्मी नास्तीति वाक्यमात्मानमेव धर्मिभूतं व्याहन्तीति जात्युत्तरमेव। ननु जातेरपि निग्रहस्थानतयापसिद्धान्ते एव निग्रहे तदन्तर्भावोस्त्वित्यत आह—जातेरिति ॥ ३५ ॥

परन्तु यह मत अपेशल (असुन्दर) है, क्योंकि वह तदनुगुण (क्षणभङ्गादि स्वीकृतानुगुण) कौन प्रमेयान्तर है जिसके अस्वीकार करने पर विरोध (अपसिद्धान्त) वादी उद्भावन करेगा ? यह आप से पूछा जाता है। कथा में दो वस्तु अभ्युपगम्य (स्वीकार्य) होती हैं। एक तो वह जिसके अनभ्युपगम (अनङ्गीकार) रहते कथा का आरम्भ ही अशक्य है। जिसके बिना कथा प्रवृत्त = आरब्ध नहीं हो सकती, जैसे कि प्रमाणादि सब कथाओं में सर्वशास्त्र से सिद्ध वस्तु हैं। और अन्य प्रतिदर्शन में भिन्न-भिन्न सिद्धमान्य वस्तु हैं, जैसे कि क्षणभंग, ईश्वर आदि बुद्धदर्शन न्यायदर्शन में मान्य हैं। वहाँ यदि प्रथम प्रमाणादि को स्वीकार करके ही कथा की प्रवृत्ति होती है, अतः उसका स्वीकार होने पर फिर उसका अनङ्गीकार अपसिद्धान्त होता है। तो, यह कथन युक्त नहीं। क्योंकि, सर्वतन्त्र (शास्त्र) सिद्धान्त से सिद्ध उस प्रमाणादिक के अनभ्युपगम को स्वव्याघात के कारण आपने जातित्व रूप दोष अङ्गीकार किया है और जाति (असदुत्तर) के निरनुयोज्यानुयोगरूप निग्रहस्थान में निवेश (प्रवेश—गिनती) होने से, वह अपसिद्धान्त नहीं माना जा सकता, किन्तु स्वव्याघातक जाति कहा जा

सकता है, क्योंकि प्रमाण को नहीं मानने पर प्रमाण के बिना स्वपक्ष के साधनादि कैसे करेगा ? अनुमान भी तो प्रमाण है, तथा शब्द से शब्द प्रमाण के अभाव को कैसे सिद्ध किया जायगा ? ॥ ३५ ॥

नापि द्वितीयः, दर्शनभेदनियतं हि क्षणभङ्गादि यत्कथारम्भेऽभ्युपगन्तव्यं तत्किं तदभ्युपगमस्य प्रकृतसाध्यापोहाद्युपायतया उत तन्नान्तरीयकतया? न प्रथमः, क्षणभङ्गसाधनप्रस्तावेऽपोहादि परित्यजतः सौगतस्यापसिद्धान्ताभावापत्तेः। तदभ्युपगमस्य तदनुपायत्वात्, अन्योन्याभ्युपगमोपायत्वे चान्योन्यविचारस्य निष्पत्तिरेव न स्यात्। विचारे सति प्रामाणिकत्वप्रतीतौ तदभ्युपगमः, तदभ्युपगमे च विचार इति ॥ ३६ ॥

तदभ्युपगमस्येति। क्षणभङ्गाभ्युपगमापोहयोरुपायोपेयभावो वा क्षणभङ्गाभ्युपगमापोहयोर्व्याप्यव्यापकभावो वेति विकल्पार्थः। तन्नान्तरीयकं यस्येति बहुव्रीहिः। न प्रथम इति। क्षणभङ्गाभ्युपगमस्योपायत्वं यद्यपोहे साध्ये तदा क्षणभङ्गं साधयतः सौगतस्यापोहत्यागेपसिद्धान्तो न भवेत्। अपोहाभ्युपगमस्य क्षणभङ्गासाधकत्वादित्यर्थः। क्षणभङ्गापोहाभ्युपगमयोरन्योन्यसिद्ध्युपायतायां दोषमाह—अन्योन्येति ॥ ३६ ॥

प्रतिदर्शन सिद्ध वस्तु का स्वीकार पूर्वक अस्वीकार अपसिद्धान्त होता है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन भेद (विशेष) में नियत (निश्चित) क्षणभङ्गादि को जो कथा के आरम्भ में मानना चाहिये, वह क्या उसके अभ्युपगम (स्वीकार) को प्रकृत साध्य अपोह आदि के उपाय (साधन) रूप से मानना चाहिये ? अथवा उस अपोहादि के नान्तरीयक (व्याप्य) रूप से मानना चाहिये। यहाँ प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर, क्षणभंगसाधन के प्रस्ताव (प्रकरण) में अपोहादि का स्वीकार करते हुए सौगत को अपसिद्धान्त के अभाव की प्राप्ति होगी। अपसिद्धान्त दोष नहीं लगेगा, क्योंकि अपोहादि का अभ्युपगम क्षणभंग का साधन नहीं है, किन्तु क्षणभंग ही को अपोहादि का साधन उस सौगत ने माना है। अतः प्रमाण से क्षणभङ्ग सिद्ध करते हुए सौगत को उक्त अपसिद्धान्त प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि अपोहादि के अभ्युपगम को क्षणभंग के उपायत्व (साधनत्व) नहीं है। यदि कहा जाय कि क्षणभङ्ग और अपोहादि के अन्योन्याभ्युपगमों को उपायत्व (साधनत्व) है। क्षणभङ्गाभ्युपगम से अपोहादि सिद्ध होते हैं, अपोहाद्यभ्युपगम से क्षणभंग सिद्ध होता है, तो परस्पर अभ्युपगम के उपायत्व (साधनत्व) होने पर अन्योन्याश्रय होने से परस्पर के विचार की ही सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि, विचार होने पर उनके प्रामाणिकत्व की प्रतीति से उनका अभ्युपगम होगा और उनके अभ्युपगम होने पर विचार होगा ॥ ३६ ॥

अभ्युपगतोपायत्यागविषय एवापसिद्धान्तो नान्यत्र इति चेन्न, यो हि यदुपायस्तमभ्युपगम्य विचारः प्रवर्त्तयितव्य इत्येतत्कुतः? तस्योपायतया तेन विचारः प्रवर्त्यते इत्येव युक्तं नतु तदभ्युपगमोपि तावता तदुपायः स्यात्, तस्य च तदभ्युपगमस्य च पृथक् कारणत्वाभ्युपगमे प्रमाण-

स्योपदर्शयितुमशक्यत्वात् शक्यत्वेपि वा तत्र स्वाभ्युपगमः किमित्यभ्यु- पेयो वैयर्थ्यादुपायत्वादेव परस्य तथा प्रतीत्युपपत्तेः ॥ ३७ ॥

नन्वन्योन्यविचारेन्योन्याभ्युपगमापेक्षायामन्योन्याश्रयो नतु स्वस्वसूत्रकारवचन- प्रामाण्यादभ्युपगमे। तथा च तादृशत्यागे स्यादेवापसिद्धान्त इत्याह—अभ्युपगतेति। स्वरूपसत एवोपायत्वं नत्वभ्युपगमोपि पृथगुपायो येन कथावसरे तदभ्युपगमः प्रयो- जकः स्यादित्याह—यो हीति। ननु तदभ्युपगमोप्युपाय एवेत्यत आह—तस्येति। नन्व- भ्युपगमस्याप्युपायत्वं व्यवस्थाप्यं यत्र तत्र तदनभ्युपगमेऽपसिद्धान्तः स्यादित्यत आह— शक्यत्वे इति। तत्रापि सूत्रकाराभ्युपगम एव तथा स्यात्तथाच कथाकाले तदभ्युपगम- स्तत्र न तन्त्रमित्यर्थः। तथाच तत्स्वीकारे पश्चात्तदनभ्युपगमोपसिद्धान्त इति लक्षणं तत्र न गतमेवेति भावः। ननु तस्योपायत्व कथाकाले तदभ्युपगममन्तरेण कथं परो बोधनीय इति तदा तदभ्युपगम आवश्यक इत्यत आह—उपायत्वादेवेति। तत्कालीनतदभ्युपग- ममन्तरेणापि परस्य तदुपायत्वप्रतीतिसम्भवादित्यर्थः ॥ ३७ ॥

शंका यह होती है कि परस्पर के विचार में परस्पर के अभ्युपगम की अपेक्षा होने पर अन्योन्याश्रय होता है, तो सूत्रकारादि के वचन से या क्षणभंग विषयक स्वयं विचार से अभ्युपगत (स्वीकृत) उपाय का त्याग विषयक अपसिद्धान्त होता है, अन्यत्र नहीं अतः अन्योन्याश्रय नहीं है। उत्तर यह है कि जो जिसका उपाय (साधन) है, वह स्वरूप से ही उपाय है, फिर भी उसका अभ्युपगम करके विचार का आरम्भ करना चाहिये, यह कैसे किस प्रमाण से सिद्ध होता है? उस साधन की साधनता से विचार प्रवृत्त होता है, यही मानना युक्त है। वह हेतु साध्यज्ञान का उपाय है (एतावता) इससे उसका अभ्युपगम भी उपाय होगा, यह नहीं सिद्ध हो सकता। क्योंकि, उस उपाय और उसका अभ्युपगम की पृथक्-पृथक् कारणता के स्वीकार में प्रमाण का उपदर्शन कराना (बताना) अशक्य है। अनन्यथासिद्धसन्निधि आदि से यदि अभ्युपगम के कारणत्व प्रदर्शन शक्य भी हो, तो भी व्यर्थता से स्वाभ्युपगम को क्यों माना जाय? उपाय होने ही से प्रयुक्त हेतु में प्रतिवादी को तथा (उपायत्व) की प्रतीति की सिद्धि होगी। अतः कथाकाल में प्रतिवादी को उपायत्व समझाने के लिये भी हेतुप्रयोक्ता के अपने तात्कालिक अभ्युपगम की हेतुता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः उसका त्याग रूप अपसिद्धान्त भी नहीं सिद्ध होता ॥ ३७ ॥

अथोच्यते उपेयमुपायेन साधयतोपेयवदुपायस्यापि सत्त्वमभ्युपगन्त- व्यमिति पश्चात्तदनभ्युपगमेपसिद्धान्तोपन्यासः सावकाशः? असत उपाय- त्वानुपपत्तेः। तर्हि उपायत्वेनोपन्यसनात्तत्सत्त्वाभ्युपगमस्तस्य साक्षादश्रुतो- व्यसत्त्वेनाभ्युपगम्यमानस्योपायत्वस्वीकारानुपपत्त्या कल्पनीयः, कल्पितेन तेन श्रूयमाणतत्सत्त्वानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोऽभिधेयः। एवं च सति सत्त्वानभ्युपगमे पत्रोपायत्वानुपपत्तिप्रसङ्गो दूषणमुच्यतामुपजीव्यत्वात्तदु- पन्यासमन्तरेणाश्रूयमाणतदीयाभ्युपगमस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् कृतं तदु- पजीविना पश्चात्तनेनापसिद्धान्तेन। अत एव न द्वितीयः, तत्रान्तरीयकाभ्यु- पगमो हि तत्सत्तानभ्युपगमे साध्यस्याभावापत्त्यानुमन्तव्यः। तथाच सैव

तद्दूषणमस्तु, अनभ्युपगमे कृतं तयाभ्युपगमं परिकल्प्य तेनानभ्युपगमविरोधादपसिद्धान्तोपन्यासेनेति । एवं निग्रहान्तरखण्डनमूहनीयम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीश्रीहर्षमिश्रविरचितानिर्वचनीयसर्वस्वे खण्डनखाद्ये निग्रहानिरुक्तिर्द्वितीयः परिच्छेदः ।



ननूपायत्वान्यथानुपपत्त्या कथाकाले वादिनस्तदभ्युपगमः कल्पनीयस्तथा च पश्चात्तदनङ्गीकारे स्यादेवापसिद्धान्तस्तच्च निग्रहस्थानान्तरं साङ्कर्याभावादित्याशङ्कते—उपेयमिति । असत इति । सत्त्वेनानभ्युपगम्यमानस्येत्यर्थः । तर्हीति । अश्रूयमाणः कथाकालीनस्तदुपायत्वाभ्युपगम उपायत्वान्यथानुपपत्त्या कल्पनीयस्तदुपायत्वानभ्युपगमे चापसिद्धान्तो निग्रहो भवेत् । तथाचानभ्युपगमेन तदुपायत्वभङ्गलक्षणमेवानिष्टमापाद्यतां किमपसिद्धान्तोपन्यासेनेत्यर्थः । अनभ्युपगमः श्रूयमाणोभ्युपगमश्च कल्पनीय इति तयोरभ्युपगमानभ्युपगमयोर्विरोधोऽपसिद्धान्तस्तथा च सत्त्वानभ्युपगमात्तदुपायत्वव्यतिरित्येव दूषणमुचितमित्याह—एवं चेति । उपजीव्यत्वमेवाह—तदुपन्यासमिति । तन्नान्तरीयकतया वेति यद्विकल्पितं तद्दूषयति । अत एवेति । यदि क्षणभङ्गसत्ता नाभ्युपेयते त्वया तदा तद्व्याप्यस्यापोहस्यैव सिद्धिर्न स्यादिति व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरेव दोषो नत्वपसिद्धान्त इत्यर्थः । सैवेति । साध्याभावापत्तिरेवेत्यर्थः । तयेति साध्याभावापत्त्येत्यर्थः । तेनेति । कल्पिताभ्युपगमेन सहेत्यर्थः । यद्यसौ क्षणभङ्गं नाङ्गीकुर्यात्तदापोहलक्षणं साध्यमेव न सिद्ध्येदिति क्षणभङ्गाभ्युपगमेन कल्पितेन तदनभ्युपगमविरोधोपसिद्धान्तः स्यात्, तथाच साध्यानुपपत्तिरेव दोषोस्तु किमपसिद्धान्तेनेति भावः । एवमिति । सामान्यशब्दानां यत्किञ्चिद्विशेषमादाय पर्यवसानात्सर्वनामपदानां चाविशेषकत्वादव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवा यथायथमूहनीया इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इति श्रीखण्डनखाद्यटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥



यदि कहा जाय कि जहाँ प्रतिवादी उपाय (साधन) से उपेय (साध्य) को सिद्ध करता है, वहाँ उपेय का अभ्युपगम तो रहता ही है, परन्तु उपेय को साधने वाले से उपाय का सत्त्व भी अभ्युपगन्तव्य स्वीकार्य होता है । अतः साधन काल के बाद उस साधन के अनभ्युपगम-अस्वीकार करने पर, प्रथम के अभ्युपगम के त्याग से वहाँ अपसिद्धान्त अवकाश पाता है । वहाँ अन्यनिग्रह स्थान नहीं रहता । और यद्यपि वादी पीछे साधन का अङ्गीकार नहीं करता हो, तथापि असत् में साधनत्व की अनुपपत्ति से वादी के पूर्वकालिक साधन के सत्त्वाभ्युपगम की कल्पना होती है, क्योंकि असत् (सत् रूप से अस्वीकृत) को उपायत्व (साधनत्व) नहीं हो सकता । इस शंका का उत्तर है यह कि इस कथन से तो यही सिद्ध होगा कि साधन के उपाय रूप उपन्यसन (कथन) से, उस साधन के सत्व का अभ्युपगम है, वह उसका अभ्युपगम साक्षात् अश्रुत होता हुआ भी, असत्त्व रूप से माने गये उस साधन के उपायत्व (साधनत्व) के स्वीकार की अनुपपत्ति से अभ्युपगम कल्पनीय (अनुमेय) है । और कल्पित उस अभ्युपगम के साथ विरोध से अपसिद्धान्त अभिधेय (उद्भावनीय) है, तो इस प्रकार की कल्पना

होने पर सत्त्वानभ्युपगम में ही उपायत्व (साधनत्व) की अनुपपत्ति की प्राप्ति रूप दूषण वक्तव्य है। क्योंकि, वह अनुपपत्ति उक्त अपसिद्धान्त का उपजीव्य (हेतु) है। उस अनुपपत्ति के उपन्यास (कथन) के बिना, अश्रुत उस साधन के अभ्युपगम को दिखाना (प्रतिवादी के प्रति समझाना) अशक्य (असाध्य) है। अतः उस अनुपपत्ति का उपजीवी (कार्य) अत एव पीछे होनेवाला अपसिद्धान्त से (उसके उपन्यास से) कोई फल नहीं है। अत एव द्वितीय (अपोहादि साध्य के क्षणिकत्व के नान्तरीयक (व्याप्य) होने से उस अपोहादि के सत्त्व से क्षणिकता का अभ्युपगम होता है) यह पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि, तत्सत्ता, क्षणिकत्व की सत्ता को नहीं मानने पर उसके व्याप्य अपोहादि की सत्ता भी नहीं रह सकती है, व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति प्राप्त होगी। अतः नान्तरीयक का अभ्युपगम भी मन्तव्य है। और ऐसा होने पर व्यापक के अभाव से व्याप्य की असिद्धि (क्षणिकत्व के अनभ्युपगम से अपोहादि की निवृत्ति) ही अनभ्युपगम में दोष है, और उस अपोहादि की निवृत्ति (अनुपपत्ति) से अभ्युपगम की कल्पना करके उस अभ्युपगम के साथ अनभ्युपगम के विरोध से अपसिद्धान्त के उपन्यास का कोई फल नहीं है। इसी प्रकार निग्रहान्तर का खण्डन ऊहा से ज्ञातव्य है ॥ ३८ ॥

इति कवितार्किक श्रीश्रीहर्षविरचितानिर्वचनीयसर्वस्वे खण्डनखण्डखाद्ये
निग्रहानिरुक्तिर्नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥



अथ तृतीयः परिच्छेदः

अथ यान्यवलम्ब्य बहुलं वाग्व्यवहारास्तेषां सर्वनाम्नामर्थः कथं निर्वाच्यः ? तथाहि ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणमिति ब्रुवाणः प्रतिवक्तव्यः—किंशब्दोयमाक्षेपार्थो वा कुत्सितार्थो वा, वितर्कार्थो वा प्रश्नार्थो वा स्यात् ? तत्र यदि प्रथमः पक्षस्तदेश्वरसद्भावे नास्ति प्रमाणमित्युक्तं स्यात्तथा च न प्रतिज्ञामात्रात्साध्यसिद्धिरिति हेत्वादिकं किञ्चिद्वाच्यं तच्च भवता नाभ्यधायि तस्मान्न्यूनत्वं दोषः । अत एव न द्वितीयः, ईश्वरसद्भावे कुत्सितं प्रमाणमित्यस्यापि प्रतिज्ञामात्रत्वात् । अपिच साध्यासाधकत्वाद्वा तत्कुत्स्यते भवतान्यथा वा ? अन्यथा चेदलं तदुद्भावनया, साध्यसिद्धेरप्रत्यूहत्वात् । नापि प्रथमः प्रमाणं च साध्यासाधकं चेति व्याघातात् ॥ १ ॥

ननु यत् तत्सर्वनामपदमहिम्नैव तत्तद्विशेषलाभे लक्षणानां दूषणानि न प्रसज्यन्त इत्यत आह—अथेति । सर्वनाम्नामाद्यस्य किंशब्दस्य तावदर्थं खण्डयति—किंशब्द इति । आक्षेपो निषेधस्तदर्थः, यथा तत्र किं गमनेन मा याहीत्यर्थः । कुत्सितार्थो निन्दार्थः । यथा "स किंसखा साधु न शास्ति यो नृपं हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुरि"त्यादौ । वितर्कार्थ इति । यथा 'वितर्के किं किमुत चे'त्यमरः । यथा 'किमिन्दुः किं पद्मं किमु मुकुरबिम्बं किमु मुखं किमब्जे किं मीनौ किमु मदनबाणौ किमु दृशावि'त्यादि । प्रश्नार्थ इति । यथा 'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा मदभ्यागमकारणं ते' इत्यादि । यद्यपीश्वरसद्भावे प्रमाणं नास्तीति न प्रतिज्ञा, किन्तु विप्रतिपत्तिमात्रं, तथा च प्रमाणमीश्वरवादिनाभिधेयं, तथापि प्रतिज्ञापरत्वे दोष उक्तः । अत एवेति । न्यूननिग्रहापादकत्वादेवेत्यर्थः । अन्यथेति । कुत्सितादपि प्रमाणात साध्यसिद्धिश्चेत्तदा कुत्सितत्वोद्भावनमफलमित्यर्थः ॥ १ ॥

प्रमाणादि की अनिर्वाच्यता सिद्ध करके सर्वनामार्थ की अनिर्वाच्यता 'अथ' इत्यादि ग्रन्थ से दिखलायी जाती है । जिन सर्वनाम संज्ञक शब्दों का अवलम्बन करके विविध वचन का व्यवहार 'सोऽस्ति, नास्ति, किमस्ति' इत्यादि विधिनिषेधादि होते हैं, उन सर्वनामों का अर्थ कैसे निर्वक्तव्य हैं अर्थात् किसी प्रकार निर्वक्तव्य नहीं हैं, अनिर्वाच्य हैं । इसे इस प्रकार दिखलाते हैं :—ईश्वर के सद्भाव (सत्त्व) में क्या प्रमाण है ? ऐसा प्रश्न करने वाला प्रतिवक्तव्य (प्रष्टव्य) है, अर्थात्, क्या प्रमाण है, ऐसा कहने वाले से पूछना चाहिये कि यह आप का 'किं' शब्द आक्षेप (निषेध) अर्थ का वाचक है ? या कुत्सा (निन्दा) का या वितर्क (संदेह = संशय कर) अथवा प्रश्नार्थक है ? क्योंकि ('कुत्सिते चापि चाक्षेपे तथा प्रश्नवितर्कयोः । किंशब्दस्य प्रवृत्तिः स्यादेवमर्थचतुष्टये ॥') इस वचन के अनुसार किं शब्द के उक्त चार अर्थ होते हैं । वहाँ यदि प्रथम पक्ष माना जाय, आक्षेपार्थक किंशब्द कहा जाय, तो ईश्वर के सत्त्व में प्रमाण नहीं है, यह अर्थ उक्त होगा । और ऐसा अर्थ होने पर, प्रतिज्ञामात्र से साध्यार्थ की सिद्धि नहीं होने से हेतु दृष्टान्तादि भी कुछ कहना चाहिए, परन्तु आपने वह नहीं कहा अतः वाक्य में न्यूनता दोष है । इस न्यूनता दोष से ही दूसरा निन्दा अर्थ भी नहीं

माना जा सकता, क्योंकि ईश्वर के सद्भाव में कुत्सित (निन्दित) प्रमाण है, इस कथन को भी प्रतिज्ञामात्रत्व है। और प्रमाण की जो आप निन्दा करते हैं, वह प्रमाण के स्वसाध्य के असाधकत्व (अबोधकत्व) से या अन्यथा, अन्य किसी कारण से ? वहां यदि अन्य कारण से निन्दा करते हों, तो उस निन्दा का कथन व्यर्थ है। निन्दा करने पर भी प्रमाण में साध्यबोधकत्व के रहने पर, प्रमाण से साध्य ईश्वर का ज्ञान निष्प्रत्यूह (निर्विघ्न) होगा। साध्यासाधकत्वरूप प्रथम पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रमाण हो और साध्य का असाधक हो, यह कहना विरुद्ध है, साध्य साधकत्व ही प्रमाण का लक्षण है उसके बिना प्रमाण यह नाम ही नहीं हो सकता ॥ १ ॥

गौणोयं प्रमाणशब्द इति चेन्न, प्रमाणत्वयोगिनि यद्ययं प्रमाणशब्द-प्रयोगस्तदा गौणत्वव्याघातः, मुख्यत्वात्। अथ प्रमाणाभासे तदाऽलं तदुद्भावनया। ईश्वरसद्भावे यः प्रमाणाभासः स कुत्सित इत्यत्र परस्यापि सम्प्रतिपन्नत्वात् ईश्वरसद्भाव इति विशेषोपादानं च व्यर्थं स्यात्। अन्यत्रापि विषये प्रमाणाभासः कुत्सित एव साध्यासाधकत्वात्। अतो नापि तृतीयः तथा सति हि वितर्कस्य पक्षान्तरसापेक्षत्वेन पक्षान्तरमपि निर्वचनीयमिति ईश्वरसद्भावे किमेतत् प्रमाणमुतान्यदिति स्यात्। तच्च भवता नान्यथापि ततो न्यूनत्वं दोषः ॥ २ ॥

प्रमाणत्वयोगिनीति। यद्यप्यजहत्स्वार्थलक्षणा शक्यसाधारणी भवत्येव, यथा छत्रिणो यान्तीत्यादौ,तथाप्येकसार्थगन्तृत्वादिकमेव शक्यलक्ष्यसाधारणं तत्रलक्ष्यं, नतु छत्रिणः छत्रित्वेन रूपेणोपस्थितिः। प्रमाणत्वं प्रमाणपदप्रवृत्तिनिमित्तं ताद्रूप्येण प्रमाणपदं चेत् प्रमाणपरं तदा गौणत्वहानिरित्यर्थः। मुख्यत्वादिति। शक्यतावच्छेदकेन रूपेण शक्योपस्थापनादित्यर्थः। अथ प्रमाणाभासे इति। अत्र प्रमाणशब्दप्रयोग इत्यनुषङ्गः। ईश्वरेति। अन्यत्रापि प्रमाणाभासस्य कुत्सितत्वादित्यर्थः। अत इति। वितर्को हि सन्देहः, सच विरुद्धनानाकोटिको भवति, तथा च कोट्यन्तरानुल्लेखात् न्यूनत्वमित्यर्थः। यद्यपि कथावयवन्यायावयवहान्या न्यूनत्वं भवति, अत्र च न तथा, किन्तु सन्देहकोट्यन्तरस्योल्लेखाभावः परं, तथापि संशयपरं वचनमेव विरुद्धनानाकोट्यनुलेखान्न पर्यवस्येदिति भावः ॥ २ ॥

यदि कहें कि (ईश्वर सद्भावे किं प्रमाणम्) इस वाक्य में यह प्रमाण शब्द गौण है तो यह कहना युक्त नहीं, (सिंहो माणवकः) यहाँ सिंहत्व धर्मरहित में सिंह शब्द गौण होता है, यहाँ यदि प्रमाणत्व धर्म युक्त में यह प्रमाण शब्द का प्रयोग है, तो प्रमाण शब्द में मुख्यता के होने से गौणत्व का कथन विरुद्ध है। यदि प्रमाणाभास में (भ्रान्ति के हेतु में) यहाँ प्रमाण शब्द का प्रयोग है तो उसके कुत्सितत्व का उद्भावन (कथन) वादी के प्रति व्यर्थ है। उस उद्भावन को नहीं करना ही युक्त है। क्योंकि, ईश्वर के सत्त्व में जो प्रमाणाभास है, (भ्रमोत्पादक है) वह कुत्सित है। इस अर्थ में वादी को भी सम्प्रतिपत्ति (निश्चय) है, विरोध नहीं है। और इस अर्थ में प्रमाणाभास को प्रमाण शब्दार्थ मानने पर, ईश्वरसद्भावे, यह विषय विशेष का ग्रहण व्यर्थ होगा, क्योंकि, अन्य विषय में भी साध्य के असाधक होने से प्रमाणाभास निन्दित ही होता है। अतः (ईश्वर में प्रमाणाभाव से ही) तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि तथा सति (वितर्कार्थक होने पर) वितर्क के पक्षान्तर के सापेक्षत्व होने के कारण

(संशय के द्विकोटिक होने से) पक्षान्तर (कोटयन्तर) भी निर्वचनीय (वक्तव्य) होगा। ईश्वर के सद्‌भाव में क्या यह वेदादि प्रमाण होगा, या अन्य प्रमाण है, ऐसा विकल्प होगा—वह आपने नहीं कहा अतः न्यूनता दोष है ॥ २ ॥

नापि चतुर्थः, प्रश्नार्थात् खलु किंशब्दात्कस्यचित्पदार्थस्य जिज्ञास्यमानता प्रतीयते, सा चेह प्रमाणपदसमभिव्याहारात् प्रमाणविषयिणी प्रतीयते। यद्विषयश्च प्रश्नस्तदुत्तरवादिनाभिधेयं तदयं प्रश्न ईश्वरसद्भावे प्रमाणसामान्यविषयस्तद्विशेषविषयो वाभिप्रेतः? आद्यश्चेदीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्येवोत्तरमापद्येत, यद्विषयो हि प्रश्नस्तदभिधेयम्, प्रमाणसामान्यविषयश्च प्रश्नः तच्च प्रमाणशब्देनाभिहितमेव। अथ द्वितीयः तथापीश्वरसद्भावे प्रमाणमित्येवोत्तरमापद्येत। यथा प्रश्नवाक्ये प्रमाणशब्दो विशेषपरः तथोत्तरवाक्ये॥ ३॥

कस्यचिदित्यादि। प्रमाणसामान्यजिज्ञासायां प्रमाणमित्येवोत्तरं तद्विशेषजिज्ञासायामपि प्रमाणमित्येवोत्तरं प्रश्नवाक्यस्थप्रमाणपदस्य विशेषपरत्वं चेदुत्तरवाक्यस्थप्रमाणपदस्यापि तत्परत्वौचित्यादित्यर्थः। यद्यपि जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा। सा च येन प्रष्टुर्निवर्तते तादृशमुत्तरं वाच्यम्, अन्यथोन्मत्ततैव स्यात्। यथोक्तम् 'आम्नान् पृष्टः कोविदारानाहे'ति। तथाच किं प्रमाणमिति प्रश्ने प्रमाणमित्युत्तरमनुन्मत्तस्यानुचितमेव। नहि प्रष्टा प्रमाणसामान्यमेव न जानाति, तथा सति नाभिलषेत्ततः किं प्रमाणमिति प्रश्ने प्रत्यक्षमनुमानं शब्दो वा विशिष्य तस्य दर्शनीयम्। तथा च प्रमाणमित्युत्तरं ददद्नपेक्षिताभिधानेनाऽनवधेयवचनः स्यात्। किञ्च किंशब्दोऽयमाक्षेपार्थो वा कुत्सितार्थो वेति चतुःकोटिके प्रश्ने प्रश्नवाक्यानुवादमात्रेणोत्तरयितुस्त्वयापि किं वाच्यं विकल्पकोटिष्वेकतरकोटिपरिग्रहमन्तरेण न मम जिज्ञासाविच्छेद इति चेत् तर्हि प्रकृतेपि तुल्यम्, एवं सति कश्चैव न वर्द्धतेति चेत्तुल्यम्। तथा चेश्वरे किं प्रमाणमिति पृष्टः 'क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात् घटवदि'त्यादिप्रकारेण विशेषमनुपदर्शयन्नर्थान्तरेण निगृह्येतैव, तथाप्यापाततः प्रश्नखण्डनमिदं वादिव्यामोहनाय भवत्येवेति तात्पर्यम्। ननु प्रमाणविशेषप्रश्नश्चेत्तदा प्रमाणसामान्येनोत्तरं कथमित्यत आह—यथेति॥ ३॥

चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रश्नार्थक किंशब्द से किसी पदार्थ की जिज्ञास्यमानता (जिज्ञासा विषयता) प्रतीत होती है, और वह यहाँ प्रमाण शब्द के साथ किं शब्द के उच्चारण से प्रमाण की जिज्ञास्यमानता प्रतीत होती है। और जिस विषयक प्रश्न हो, उत्तरवक्ता से वही वक्तव्य होता है, अतः उत्तर वक्ता को प्रथम यह समझ लेना चाहिये कि यह प्रश्न जो ईश्वर के सद्‌भाव विषयक है, वह ईश्वर के सद्‌भाव में प्रमाण सामान्य विषयक अभिप्रेत (इष्ट) है? या उस प्रमाण के विशेष विषयक प्रश्न अभिप्रेत (विवक्षित)? वहाँ यदि प्रथम पक्ष हो तो (किं प्रमाणम्) इस प्रश्न कर्ता के लिये (प्रमाण है) यही उत्तर प्राप्त होगा। क्योंकि जिस विषयक प्रश्न हो, वही वक्तव्य होता है। प्रमाण सामान्य विषयक जहाँ प्रश्न है वहाँ सामान्य प्रमाण प्रमाणशब्द से कथित ही हो जाता है। यदि प्रमाण सामान्य के अनिश्चय से निश्चय के लिये प्रश्न करता है, तो आप्तवाक्य से निश्चय भी कर लेता है। यदि द्वितीय शब्दादि विशेष प्रमाणविषयक प्रश्न रहता है, तो भी ईश्वर सद्‌भाव में प्रमाण है, यही उत्तर सिद्ध

होता है, क्योंकि जैसे प्रश्नवाक्य में प्रमाणशब्द विशेषपरक रहता है, वैसे उत्तर वाक्य में भी प्रमाणशब्द विशेषपरक होता है। श्रोता प्रश्नकर्ता अपने अभिप्राय के अनुसार उत्तर वाक्य से ज्ञान को प्राप्त करता है। वस्तुतः यहाँ वादकथा के अन्तर्गत गुरुशिष्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर की चर्चा नहीं है, किन्तु वैतण्डिक द्वारा प्रतिवादी विमोहनादि की चर्चा है, इत्यादि और किंशब्दार्थ की अनिर्वाच्यता के प्रतिपादन में तात्पर्य है ॥ ३ ॥

कोऽसौ विशेषः ? इति चेन्न, पूर्ववदुत्तरात्। अस्यापि प्रश्नस्य विशेषो विषयः, किंशब्दस्य विशेषशब्देन सामानाधिकरण्यात्, तथाच सति विशेष इत्येवोत्तरं स्यात्। स्यादेतत् विशेषशब्देन न विशेषमात्रमनिर्द्धारितमात्रं विवक्षितं, किन्त्वसाधारणी व्यक्तिः तत्र विशेषशब्दस्य तात्पर्यम्। तस्मात्कासावसाधारणी प्रमाणव्यक्तिरिति प्रश्नार्थः, तत्र तादृश्याः प्रमाणव्यक्तेरभिधानमुत्तरं युक्तं नैवंविधाः प्रलापाः ? इति नैतदेवं, यतोऽत्रापि विशेष इत्येवोत्तरम्, यथा प्रश्नवाक्यगतस्य विशेषशब्दस्य सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपायां प्रमाणव्यक्तौ तात्पर्यं तथोत्तरवाक्यस्थितस्यापि। एवं च सति यत्र विषये भवदीयस्य प्रश्नवाक्यस्य तात्पर्यं तदेवास्माकमुत्तरवाक्येन प्रतिपादितमिति युक्तमुक्तम् ॥ ४ ॥

कोसाविति। ईश्वरसद्भावे कः प्रमाणविशेष इति प्रष्टव्यमित्यर्थः। पूर्ववदिति। प्रश्नवाक्यस्यैव तद्विशेषपरत्ववदित्यर्थः, तथा च प्रमाणविशेष इत्येवोत्तरमस्माकमित्यर्थः। तदेवोपपादयति—अस्यापीति। ननु विशेषेपि प्रश्नो व्यक्तिविशेषाभिप्रायकस्तथा च विशेष इत्युत्तरं कथं सङ्गतं स्यादित्याशङ्कते—स्यादेतदिति। असाधारणी व्यक्तिस्त्वयापि प्रश्नवाक्यस्य विशेषपदेनाभिधेया चेत्तदोत्तरवाक्यस्य विशेषपदमपि तत्परं स्यादविशेषादित्याह—यत इति ॥ ४ ॥

उत्तर वाक्य में भी जो प्रमाणविशेष ईश्वरसद्भाव विषयक विवक्षित है, वह कौन है ? यह प्रश्न है, तो यह प्रश्न युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रश्न का पूर्वतुल्य उत्तर है। वह स्वयं ज्ञातव्य है, इस प्रश्न का भी प्रमाण विशेष विषय है, क्योंकि किंशब्द को विशेष शब्द के साथ समानाधिकरणता है। अतः प्रमाण विशेष का ही प्रश्न प्रतीत होता है। और ऐसा प्रश्न होने पर, विशेष प्रमाण है, यही उत्तर होगा। शंका होती है कि विशेष यह उत्तर हो, प्रश्न यहाँ सामान्य विशेष के अभिप्राय से नहीं है, क्योंकि विशेष शब्द से अनिर्धारित (अविविक्त) विशेषमात्र विवक्षित नहीं है, किन्तु असाधारण (विविक्त) प्रमाण व्यक्ति प्रश्न में विवक्षित है, क्योंकि उस व्यक्ति में ही 'कोऽसौ विशेषः' इस विशेष शब्द का तात्पर्य है। अतः कौन वह असाधारण प्रमाण रूप व्यक्ति है, यह उक्त प्रश्न का अर्थ है। वहाँ तादृश (विविक्त) प्रमाण व्यक्ति का कथन उचित उत्तर होगा। और इस रीति वाला प्रलाप (निरर्थक कथन) उचित उत्तर नहीं होगा। उत्तर यह है कि यह पूर्वोक्त उत्तर (एवं) ऐसा (अयुक्त) नहीं है, यही युक्त उत्तर है, क्योंकि यहाँ भी विशेष—यही उत्तर है, और जैसे प्रश्नवाक्यगत विशेष शब्द का सबसे व्यावृत्त (भिन्न) स्वरूप वाली प्रमाण व्यक्ति में तात्पर्य है, वैसे उत्तर वाक्य में स्थित विशेष

शब्द का भी सर्वत्र व्यावृत्त स्वरूप वाली व्यक्ति में तात्पर्य है। और ऐसा तात्पर्य होने पर, जिस विषय में आप का प्रश्न वाक्य का तात्पर्य है, वही प्रमाण रूप विषय हमारे उत्तर वाक्य से प्रतिपादित होता है। अतः युक्त उत्तर कहा गया है ॥ ४ ॥

अथ मन्यसे किमिह प्रमाणमिति पृच्छतोयमभिप्रायः अत्रार्थेऽनुमानं प्रमाणमितरद्वेति? तत्राप्यनुमानमित्युत्तरमस्माकम्। किं तदनुमानमिति चेत्? अयमपि प्रश्नोनुमानमात्रविषय उत तद्विशेषविषय इति विकल्प्य प्रमाण-प्रश्नवदुत्तरं वाच्यमिति। अत्र च सङ्ग्रहश्लोकौ "यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्वक्ति परो ययोक्त्या। वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनाऽपि तथैव वाचा स तथाविधोऽर्थः॥ प्रश्नस्य यः स्याद्विषयः स वाच्यो वाचानयैवैष भवेन्निरुक्तः। इदं त्वयाप्यास्थितमेतयैव गिरा स्वपृच्छा विषयस्य वक्त्रा" ॥५॥

नन्वीश्वरेनुमानं प्रमाणमन्यद्वेत्येवमाकार एव प्रश्नः कर्त्तव्य इत्याह—अथेति। किमिह प्रमाणमिति पृच्छत इति। प्रमाणं प्रष्टुमुद्यतस्येत्यर्थः। यथाविधमिति। यं प्रकारं प्रमाणत्वादि गृहीत्वा प्रश्नवाक्यं प्रवर्तते तमेव प्रकारमादायोत्तरवाक्यमपि प्रवर्तनीय-मित्यर्थः। नन्वनेनोत्तरेण प्रष्टुर्जिज्ञासा कथं विच्छिद्यतामित्यत आह—प्रश्नस्येति। अ-विषयमादायोत्तरे उत्तरयितुरेवार्थान्तरं स्यादित्यर्थः। एतदेवाह—वाचेति। ननु सामा-न्यशब्देनापि प्रश्नो विशेषपरस्तथा च विशेषमनभिदधानस्य भवत उत्तरमेतदनादेयं स्यादित्यत आह—इदमिति। स्वपृच्छाविषयस्य वक्त्रा स्वपृच्छाविषयमभिदधानेन त्वया एतयैव गिरा प्रश्नलक्षणयैव गिरा इदमभिधेयमास्थितं स्वीकृतमित्यर्थः। तथा च मयापि कथं नास्थेयमिति भावः ॥ ५ ॥

और यदि मानें कि, इस ईश्वर के सत्व में क्या प्रमाण है? इस प्रकार पूछने वाले का यह अभिप्राय है कि, ईश्वर में अनुमान प्रमाण है? या अन्य है?, तो हमारा वहाँ भी यही उत्तर है कि अनुमान प्रमाण है। कौन वह प्रमाण है? ऐसा यदि प्रश्न हो, तो यह प्रश्न भी सामान्य अनुमानमात्र विषयक है? या अनुमान विशेष विषयक? ऐसा विकल्प करके प्रमाण प्रश्न के समान उत्तर वक्तव्य है, अर्थात् दोनों पक्ष में अनुमान ही उत्तर है। प्रश्नगत अनुमान शब्द के समान उत्तर गत अनुमान शब्द सामान्य विशेष अर्थ का बोधक होता है। और यहाँ उक्तार्थ के संग्राहक श्लोक हैं, अर्थ यह "पर = प्रश्नकर्ता वादी अपने प्रश्न का जिस विषय का जिस वचन से निवर्चन (व्याख्यान) करता है, उत्तरवादी से भी वही विषय उसी प्रकार का अर्थ उसी एक वचन से वक्तव्य है ॥ १ ॥ क्योंकि (जो प्रश्न का विषय हो वही वक्तव्य होता है। और जिस वचन से प्रश्न होता है) उसी वचन से निरुक्त, उत्तर होगा। क्योंकि, अपने प्रश्न विषय का वक्ता आप प्रश्नकर्ता ने भी इसी वचन से ही इस निवर्चन को आस्थित (स्वीकृत) किया है, और जब आप प्रश्नकर्ता ने इस प्रश्न रूप वचन से इस सामान्य या विशेष अर्थ का स्वीकार किया, तो मुझे उत्तर वक्ता को उसी वचन से सामान्य या विशेष अर्थ का स्वीकार क्यों नहीं करना चाहिये" इत्यादि भाव है ॥ २–५ ॥

प्रश्नार्थाच्च किंशब्दाज्जिज्ञासाविषयताऽर्थस्य प्रतीयते। जिज्ञासा च ज्ञातुमिच्छा, इच्छा चाज्ञाते न सम्भवति अतिप्रसङ्गात्, तस्मादीश्वरविषयं

प्रमाणं ज्ञातुमिच्छता तत्र स्वज्ञानमिच्छाकारणीभूतं वक्तव्यं तद्यथाभूतार्थं वा स्यादयथाभूतार्थं वा ? यथाभूतार्थं चेत्तेनैव ज्ञानेन स्वकीयो विषयः प्रमाणमुपस्थाप्यते, विषये प्रमाणप्रवृत्तिमन्तरेण तदीयय-थार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तेनापि प्रमाणेन स्वगोचर ईश्वरसद्भावः उपास्थाप्यत इत्यनायासेनैव सिद्धोस्माकमीश्वर-सिद्धिमनोरथः । अथायथार्थं तत्तस्मिन्नयथार्थज्ञानविषये यद्यस्माभिरप्यय-थार्थमेव ज्ञानमुत्पादनीयमिति भवतः पृच्छतो वाञ्छितं तदा केयं स्वाधीनेऽर्थे परापेक्षा ? भवानेवायथार्थज्ञानोत्पादनकुशलो यथैकं तत्र मिथ्याज्ञानमजीजन-त्तथाऽपरमप्युत्पादयतु। वयं पुनर्यथार्थज्ञानस्योत्पादयितारो मिथ्याज्ञाने सर्व-थैवाकृतिनः किमिह नियुज्येमहि ? अथ मदीयस्यायथार्थज्ञानस्य यो विषयः स मदीययथार्थज्ञानविषयो भवता क्रियतामिति ? त्वदीयं वाञ्छितं तदा व्याघा-तादीदृश्यर्थे भवतः प्रवृत्तिरेवानुपपन्ना, शुक्तिका रजतात्मत्वेन मम यथार्थ-ज्ञानविषयो भवत्वित्येतदर्थं प्रेक्षावान् कथङ्कारं प्रयतेत ? येन रूपेणायथार्थ-ज्ञानविषयत्वं तेन रूपेण यथार्थज्ञानविषयत्वे व्याघातात् ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेण प्रश्नखण्डनमुपक्रमते—प्रश्नार्थादिति। ज्ञाते एव जिज्ञासा तथा च ज्ञानार्थं प्रश्नानुपपत्तिः। यच्च ज्ञानं प्रमाणविषयकं तवास्ति तद्यदि यथार्थं तदा प्रमाणं प्रमितमेव, तवाभूदथायथार्थं तदा वस्तुगत्या ईश्वरे प्रमाणं नास्ति। तत्र त्वया प्रमाणगो-चरमयथार्थमेव ज्ञानं ममाधीयतामिति विपरीतफलक एवायं प्रश्नः, यद्विशेष्यकं यत्प्र-कारकं ममायथार्थज्ञानं तद्विशेष्यकं तत्प्रकारकमेव मम यथार्थज्ञानं क्रियतामिति च न सम्भवत्येवेति प्रघट्टकार्थः ॥ ६ ॥

अब प्रकारान्तर से उक्त प्रश्न के खण्डन की भूमिका है प्रश्नार्थक किंशब्द से अर्थ की जिज्ञासाविषयता (ज्ञानेच्छाविषयता) प्रतीत होती है। और जानने (ज्ञान) की इच्छा जिज्ञासा कही जाती है। इच्छा अज्ञात विषय की नहीं होती, सुन्दर रमणीय विषय के ज्ञान के बिना इच्छा मानी जाय तो अतिप्रसंग होगा (सदा सब वस्तु की इच्छा प्राप्त होगी)। अतः ईश्वर विषयक प्रमाण को उस इच्छा का कारण स्वरूप अपना उस इच्छित प्रमाण विषयक ज्ञान प्रष्टव्य है कि वह ज्ञान यथाभूतार्थ (यथार्थ) है ? या अयथाभूतार्थ (अयथार्थ) ? अर्थात् प्रमा है या भ्रम, यदि वह प्रश्न कर्ता का इच्छा जनक ज्ञान यथार्थ है, तो उसी ज्ञान से उस ज्ञान का विषय प्रमाण उपस्थित प्राप्त किया जायगा। क्योंकि अपने विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति (स्वविषय का उपस्था-पन = प्रकाशन) के बिना उस प्रमाण के यथार्थत्व को कहना अशक्य है। अतः ईश्वर विषयक प्रमाण के होने के विना प्रमाण ज्ञान को यथार्थत्व नहीं हो सकता है, वहाँ प्रमाण ज्ञान के यथार्थ होने पर, उस ज्ञान के विषय उस प्रमाण से भी अपना विषय ईश्वर का सद्भाव (सत्त्व) उपस्थित (प्रकाशित) किया जायगा, इस प्रकार हमारा ईश्वर की सिद्धि (ज्ञान) रूप मनोरथ (वाञ्छितार्थ) अनायास ही सिद्ध हुआ। यदि कहें कि इच्छाजनक ज्ञान अयथार्थ है तो यदि उस अयथार्थ ज्ञान के विषय-विषयक हम से भी (हमारे द्वारा) अयथार्थ ज्ञान ही उत्पादनीय है—ऐसा आप पूछने वाले को वाञ्छित है तो यह स्वाधीन ज्ञानोत्पादन रूप अर्थ में अन्य की अपेक्षा कैसी है ?

अयथार्थ ज्ञान के उत्पादन में आप ही कुशल हैं। जैसे ईश्वर प्रमाणविषयक एक मिथ्या ज्ञान को उत्पन्न किया है, वैसे अन्य मिथ्या ज्ञान को भी उत्पन्न करें। यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न कराने वाले हम मिथ्या ज्ञान में सर्वथा अकृती (अपण्डित = अकुशल) होते हुए क्यों इस मिथ्या ज्ञान जनन में नियुक्त होयँ। और यदि आप को वाञ्छित है कि जो मेरे अयथार्थ ज्ञान विषय (प्रमाण), वह मेरे यथार्थ ज्ञान का विषय आप द्वारा कर दिया जाय। तो व्याघात (विरुद्ध) होने से ऐसे अर्थ (इसके लिये प्रश्न) में आपकी प्रवृत्ति ही अनुपपन्न (अयुक्त) है। क्योंकि, शुक्तिका रजतत्व रूप से मेरे यथार्थ ज्ञान का विषय हो, इसके लिए कोई बुद्धिमान कैसे प्रयत्न करेगा। जिस रूप से जिस वस्तु को अयथार्थ ज्ञान का विषयत्व रहता है, उस रूप से यथार्थज्ञान के विषयत्व में व्याघात (विरोध) है, अतः बुद्धिमान उक्त यत्न कभी नहीं करता है। भाव यह है कि ज्ञात की जिज्ञासा होती है, अतः ज्ञानार्थक प्रश्न अयुक्त है। और प्रमाण विषयक आपका ज्ञान यदि यथार्थ है, तो प्रमाण आप को प्रमित (ज्ञात) है, यदि अयथार्थ है, तो वस्तुतः ईश्वर में प्रमाण नहीं है उसके लिये प्रश्न अयुक्त है इत्यादि ॥ ६ ॥

अथ मन्यसे स्वसिद्धान्तमनुरुन्धानेन भवता यथार्थज्ञानं तत्रोत्पादनीयमतस्तदर्थं भवाननुयुज्यते इति मैवम्, ईश्वरसद्भावविषयो भवता प्रमाणाभासः प्रमाणतया भ्रान्त्या प्रतीतस्तस्य प्रमाणत्वमस्माभिर्व्युत्पादनीयमिति नास्माकमीदृशः सिद्धान्तः; प्रत्युतेश्वरसद्भावविषयं यत् प्रमाणं भवता प्रमाणाभासत्वेन भ्रान्त्या प्रतीतमस्ति तत् प्रमाणनीयमिति स्यान्मतमीश्वरसद्भावविषयस्य प्रमाणस्य भवता ज्ञापनमात्रं क्रियतामित्यभिमतं पृच्छतामस्माकं न तु प्रमाणेनाप्रमाणेन वेति विशेषोप्यभिमतः ? इति न, ज्ञापनमात्रस्याप्रमाणज्ञानमादायाप्युपपत्तेः, तत्र स्वाधीने का भवतः परापेक्षेत्याद्युक्तमनुषञ्जनीयम्। स्यादेतत् येयमीश्वरसद्भावविषयकप्रमाणप्रतीतिरस्माकमुत्पन्ना सा व्यभिचारिणी सत्या वेति संशयोत्रास्माकं तेनैकपक्षनिर्द्धारणाधीनं यदिदं दूषणमवादि भवता तन्निरवकाशमिति नैतदस्ति, एवं हि तस्यां प्रतीतौ यथार्थत्वायथार्थत्वसंशये तस्याः प्रतीतेर्गोचरो यत्प्रमाणं तस्यापि योसौ विषय ईश्वरसद्भावस्तत्र सर्वत्रैव संशयानस्य भवतः प्रश्नोयं नतु विप्रतिपन्नस्येति स्यात्, तथाच स्वीकुरु शिष्यभावं प्रसादय चिरं चरणशुश्रूषाभिरस्मान् छेत्स्यामस्ते संशयमिति ॥ ७ ॥

यद्यपि तवेश्वरप्रमाणदार्ढ्यमतो मयि प्रमा तत्र जन्यतामिति प्रष्टुरभिप्रायवर्णनानन्तरमीश्वरसद्भावविषय इत्याद्यसंबद्धमुत्तरं तथापि तात्पर्यगत्या कथञ्चिद् द्रष्टव्यं तत् प्रमाणनीयमित्यत्र सिद्धान्त इत्यनुषञ्जनीयम्। ज्ञापनमात्रस्येति। यद्यप्यप्रमाणमादाय ज्ञापनमित्युत्तरयितुरेवानिष्टं तथापि भवत्प्रयुक्त्यैव तत्संभवतीत्येतदर्थं प्रश्नोऽयमनुपपन्न इत्यर्थः। एतदेवाह—तत्रेति। तेनेति। यथार्थपक्षे ईश्वरसिद्धिरयथार्थपक्षे ईश्वरगोचरः यथार्थज्ञानोत्पादनशक्तिस्तवैवेत्यादि दूषणं निरवकाशमित्यर्थः॥ ७॥

यदि माने कि यद्यपि ईश्वर सद्भाव विषयक ज्ञान अयथार्थ ही है, तथापि स्वसिद्धान्त का अनुरुन्धन (रक्षण) आदि करने वाले आप को उस ईश्वर सद्भाव विषयक

यथार्थज्ञान उत्पादनीय = उपार्जनीय है, अतः उस ज्ञान के लिये आप अनुयुक्त किये जा रहे हैं (पूछे जाते हैं)—ऐसा मानना युक्त नहीं, क्योंकि ईश्वर सद्भाव विषयक प्रमाणाभास (अनुमानादि) को आपने भ्रम से प्रमाणरूप से प्रतीत किया है (विश्वास किया है = माना है)। उस प्रमाणाभास का प्रमाणत्व हम को प्रतिपादनीय = साधनीय है, यह हमारा सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत (बल्कि = उल्टा) ईश्वर सद्भाव विषयक जो वेदरूप प्रमाण भ्रान्ति से प्रमाणाभासत्वरूप से आप से प्रतीत (ज्ञात) है, वह वेद हमें प्रमाणनीय (प्रमाणरूप से साधयितव्य = स्वीकर्तव्य) है। यदि आप का मत हो कि ईश्वर सद्भाव विषयक प्रमाण का आप ज्ञापन (बोधन) मात्र कर दें, यह पूछने वाले हम लोगों का अभिमत (इष्ट) है। प्रमाण या अप्रमाण से ही बोधन करें, यह भी हमारा अभिमत नहीं है—यह मानना भी युक्त नहीं, क्योंकि ज्ञापनमात्र की अप्रमाण ज्ञान को ग्रहण करके भी उपपत्ति (सिद्धि) हो सकती है, अर्थात् प्रमाणाभास से भी ज्ञापन हो सकता है। और प्रमाणाभास से ज्ञापनरूप स्वाधीन कार्य में आप को अन्य की अपेक्षा क्या है इत्यादि पूर्वोक्त का ही यहाँ सम्बन्धानुसंधान कर्तव्य है। शंका यह है कि स्यादेतत् उक्त सम्बन्ध उक्तरीति से हो। परन्तु जो यह ईश्वर के सद्भाव विषयक अनुमानादि प्रमाणों की प्रतीति हमें उत्पन्न हुई है, वह व्यभिचारिणी (अयथार्थ) अप्रमा है ? या सत्य (यथार्थ)। यह हमें यहाँ संशय है, वह उभयकोटिक होता है, अतः एक पक्ष (एक कोटि) प्रमा या अप्रमा के निर्धारण (निश्चय) के द्वारा जो आपने यह दूषण कहा है, वह निरवकाश है (उस दूषण का यहाँ स्थान नहीं है)। उत्तर यह है कि ईश्वर के सद्भाव की प्रतीति रहते प्रमाण विषयक यह संशय नहीं हो सकता। अतः उस प्रमाण की प्रतीति में इस प्रकार के प्रमाणत्वाप्रमाणत्व के संशय होने पर उस प्रतीति विषय जो प्रमाण, उस प्रमाण का भी विषय जो ईश्वर का सद्भाव, उन सब विषयक संशय युक्त आप का यह प्रश्न है, विप्रतिपन्न (विपरीतज्ञानयुक्त प्रतिवादी) का यह प्रश्न नहीं हो सकता है। और ऐसा होने पर, शिष्यत्व का स्वीकार करो, चिरकालतक चरण सेवा आदि के द्वारा हम (गुरु) को प्रसन्न करो, तो गुरु आप के संशय को नष्ट करेंगे, अन्यथा नहीं। क्योंकि ('नासंवत्सरवासिने प्रब्रूयात') इत्यादि शास्त्र की आज्ञा है, इत्यादि ॥ ७ ॥

विप्रतिपन्ना एव वायमाहार्यः संशयोऽस्माकमिति चेत्तर्ह्यवधृतैककोटय एव वयं कार्यानुरोधात्तु संशयमालम्बामहे इत्युक्तं स्यात्। एवं तर्हि तदेव कोट्यवधारणं भवतां यथार्थमयथार्थं वेति विकल्प्योक्तयुक्त्या दूष्यं एतेनाऽनध्यवसायेन तदस्माभिः प्रतिपन्नमित्यपि निरस्तं वेदितव्यम्, व्यभिचारिविषयं वा तदिति विकल्पाभ्यां तस्यापि ग्रस्तत्वात्। परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति न्यायात्। एवमीश्वराभिसन्ध्यादौ तत्तत्स्थानस्थंसर्वनामान्तरखण्डनं द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

इति श्रीश्रीहर्षमिश्रकृतानिर्वचनीयसर्वस्वे खण्डनखाद्ये
सर्वनामार्थानिरुक्तिस्तृतीयः परिच्छेदः।



अनध्यवसायेनेति। अनध्यवसायाख्यं वैशेषिकाभिमतमविद्याप्रभेदोऽसाधारणधर्माजन्यं ज्ञानं तत्रापि पूर्व एव विकल्पः। यद्यपि प्रमाणं किञ्चिदपीश्वरं न गोचरयतीत्यस्माकं पक्षः किञ्चित्प्रमाणमीश्वरं गोचरयतीति त्वत्पक्षस्तत्र पृच्छ्यते किं तत्प्रमाणं यदीश्वरं विषयीकरोति ? अत्र च भवद्विकल्पजालस्य नावकाशः, तत्र यत्त्वया प्रमाणमुपदर्शनीयं तन्मया खण्डनीयमिति। नचेश्वरः प्रमितो नवेति विकल्पावसरोऽत्रापीति वाच्यम्। अद्वैते किं प्रमाणमिति खण्डनेन पौनरुक्त्यापातात् सर्वनामखण्डनेनोपक्रान्तेनाऽसंस्पर्शाच्चेति, तथापि वादिव्यामोहनेनापाततो भवत्येवानेन विकल्पजालेनेति भावः। ननु सर्वनामखण्डनमुपक्रम्य किंशब्दमात्रखण्डनं न्यूनमत आह—एवमिति ईश्वराभिसन्धिग्रन्थे सर्वनामखण्डनं कृतमेवात्रातिदिश्यत इति न न्यूनतेति भावः॥ ८॥

इति तृतीयः परिच्छेदः।



यदि कहें कि हम विप्रतिपन्न = प्रतिवादी ही हैं, अतः शिष्यत्व का स्वीकार नहीं कर सकते, और हमारा संशय आहार्य (ऐच्छिक = कल्पित) है, तो ऐसे कहने से अवधृत एक एक कोटि वाले (प्रमाणाभाव के निश्चय वाले) हम हैं, परन्तु विजयादि कार्य के अनुरोध (अनुकूलता) से संशय का अवलम्बन कर रहे हैं, यह अर्थ आप के कथन से उक्त होगा, तो इस प्रकार उसी कोटि का अवधारण (निश्चय) आप का यथार्थ है ? या अयथार्थ ? ऐसा विकल्प करके उक्त युक्ति से दूषणीय है। इससे जो कोई यह कहते हैं कि अनध्यवसाय (अनिश्चय) ज्ञान से उस प्रश्न का विषय प्रमाण को प्रतिपन्न (ज्ञात) हमने किया है, और प्रतिपन्न करके पूछते हैं, यह उनका कथन भी निरस्त समझना चाहिये, क्योंकि वह अनध्यवसायज्ञान व्यभिचारी विषयवाला = अयथार्थ है ? या उससे विपरीत यथार्थ, इन विकल्पों से वह ज्ञान भी ग्रस्त है। अतः उक्त युक्ति से वह भी दूषणीय है। यदि कहा जाय कि अनध्यवसाय ज्ञान को यथार्थ ज्ञान अयथार्थ ज्ञान से विलक्षण तृतीय कोटि का माना जाय तो उक्त युक्ति से दूषित नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि 'परस्पर विरोध के रहते प्रकारान्तर की स्थिति नहीं होती है' इस न्याय (युक्ति) से प्रमा अप्रमा के परस्पर विरोध के होने से ज्ञान में प्रकारान्तर की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थादि में तत्तत् स्थान में वर्तमान अन्य सर्वनामों का खण्डन यहाँ समझना चाहिये, अतः सब सर्व नामों के यहाँ खण्डन नहीं होने से न्यूनता नहीं मानना चाहिये इत्यादि॥ ८॥

इति श्रीश्रीहर्षमिश्र कृतानिर्वचनीयसर्वस्वे खण्डनखण्डखाद्ये
सर्वनामार्थानिरुक्तिस्तृतीयः परिच्छेदः॥ ३॥



अथ चतुर्थः परिच्छेदः

ननु तथापि भावात्मके तस्मिन्नीश्वरे विधायकं किञ्चित्प्रमाणं वक्तव्यमिति चेत् किं पुनर्भावत्वं? विधित्वमिति चेन्न, पर्यायाप्रश्नात्। स्वरूपसत्त्वमिति चेन्न, अभावस्यापि तथाभावात् प्रतिस्वं व्यावृत्तत्वेनानुगतत्वापत्तेश्च अस्तीति प्रतीतिविषयत्वम् इति चेन्न, अभावो घटस्यास्तीति प्रतीतिसम्भवेनाभावस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्, नास्तीति प्रतीतिविषयत्वेपि घटादेर्भावत्वानिवृत्तेः ॥ १ ॥

भावत्वखण्डनं पूर्वखण्डनेन सङ्गमयितुमाह—नन्विति। विधित्वमिति यदि भावत्वपर्यायस्तत्राह—पर्यायेति। अथ विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वं तदग्रे दूष्यं स्वरूपसत्त्वं यदि सत्तासंबन्धस्तदाग्रे दूष्यं स्वरूपमेव सत्त्वं चेत्तत्राह—अभावस्यापीति। तत्रैव दोषान्तमाह—प्रतिस्वमिति। प्रतिव्यक्तीत्यर्थः। तथात्वप्रसङ्गादिति। भावत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। किञ्चास्तीतिप्रतीतिविषयत्वं यदि भावत्वं तदा घटाभावो नास्तीत्यनेन प्रकारेणानुभूयमानस्य घटस्य भावत्वं निवर्त्तेत न चैवमतोऽस्तीति प्रतीतिविषयत्वमेव न भावत्वमित्याह नास्तीति यद्वाऽस्तीतिप्रतीतिविषयत्वमेव चेद्भावत्वं तदा नास्तीतिप्रतीतिविषयत्वमभावत्वं वाच्यं तच्च न सम्भवति घटाभावो नास्तीतिभावस्यापि ताद्रूप्येण प्रतीतेरित्याह—नास्तीति। यद्वा घटोऽस्तिघटो नास्तीत्युभयत्रापि घटस्य प्रमीयमानत्वेनास्तीतिप्रतीतिविषयत्वमभावत्वं कथं न निरुक्तमित्याह—नास्तीति। केचित्तु तर्हि नास्तीतिप्रत्ययाविषयत्वे सत्यस्तीति प्रतीतिविषयत्वं भावत्वमित्याशङ्कयासम्भवीदं लक्षणमित्याह नास्तीत्याभासमाहुः ॥ १ ॥

शंका यह है कि यद्यपि उक्त रीति से (ईश्वरसद्भावे किं प्रमाणम्) यह कहना युक्त नहीं है, तथापि भावस्वरूप उस ईश्वर विषयक कोई विधायक (सत्त्वबोधक) प्रमाण वक्तव्य है। अर्थात् ईश्वर यदि शशशृङ्ग के समान नहीं हो, कहने मात्र (नाममात्र) हो, या होने पर भी ज्ञेयध्येय नहीं हो, निरर्थक ऊषर भूमि तुल्य हो, अथवा घटपटादि के समान अत्यन्त लोकप्रसिद्ध हो, तो प्रमाण कहने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतु स्वरूप ईश्वर का सर्वसाधारण के प्रति विधायक प्रमाण अवश्य प्रष्टव्य है, यदि ऐसी शंका हो, तो अनिर्वचनीयता के अभिप्राय से उत्तर यह है कि भावत्व धर्म क्या है जिससे भावात्मक ईश्वर होता है। अर्थात् ईश्वर में सत्य भावत्व धर्म नहीं है, न विधि विषयत्व है। अतः विधायक प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि कहे कि विधित्व रूप भावत्व ईश्वर में भी है, तो यह कहना युक्त नहीं, विधित्व तो भावत्व का पर्यायवाचक शब्द है। परन्तु पर्याय का प्रश्न नहीं है, भाव के लक्षण का प्रश्न है, अतः लक्षण कहना चाहिये। सत्तावत्त्व कहें तो सामान्यादि में भावत्व नहीं होगा। स्वरूपसत्त्वक हैं, तो अभाव के स्वरूपसत्त्व के होने से अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि अभाव को तथाभाव (स्वरूपसत्त्व) है। और स्वरूपसत्त्व के प्रतिस्वं (प्रतिव्यक्ति) व्यावृत्त (भिन्न भिन्न) होने से, सब लक्ष्य में लक्षण को अननुगतत्व (अव्यापकत्व) की प्राप्ति होगी। अस्ति-वर्तते = है, इस प्रतीति का विषयत्व भावत्व नहीं कहा जा सकता। घट का

अभाव है, ऐसे ज्ञान के सम्भव होने से अभाव को भी तथात्व (भावत्व) प्राप्त होगा। और यदि अस्ति इस प्रतीति का विषयत्व ही भावत्व है, तो अभाव का अभाव प्रतियोगि-स्वरूप होता है, अतः घटाभावो नास्ति (घटका अभाव नहीं है) इस निषेध प्रतीति के विषयत्व घट में होने पर उसके भावत्व को निवृत्त हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं, अतः अस्ति प्रतीतिविषयत्व भावत्व नहीं हो सकता ॥ १ ॥

अस्तीति चार्थो वा शब्दो वा विवक्षितः? नाद्यः तस्यानिरुक्तेः, सत्ता तदर्थः—इति चेन्न, सामान्यादीनां तदभावादभावत्वापत्तेः स्वरूपसत्त्वं च निरस्तं, नापि द्वितीयः, अभावोऽस्तीति प्रतीतेरुक्तत्वात् वर्त्तते इत्याद्याकारेण च प्रतीयमानस्याभावत्वप्रसङ्गात्। सोऽप्यस्तिपर्यायः? इति चेन्न, उभयसाधारणैकार्थनिर्वचनमन्तरेण पर्यायत्वस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। यत्रैकस्यास्तिपदप्रयोगस्तत्रैवापरस्य वर्तते इति प्रयोगात् सामान्येन तावत्पर्यायत्वं शक्याधिगमम्? इति चेन्न, प्रमेयाभिधेयादिशब्दानाम् तथात्वेऽप्यपर्यायत्वात् ॥ २ ॥

अस्तीति चेति। अस्त्यर्थस्य सत्तादेः प्रतीतिर्विवक्षितास्तीतिशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिर्वा विवक्षितेति विकल्पार्थः। तस्येति। अस्तिशब्दार्थस्येत्यर्थः। सत्तावत्त्वं भावत्वं सामान्यादौ नास्तीत्याह—नेति। अभावोस्तीति। अस्तिशब्दोल्लेखप्रतीतिविषयत्वमभावेतिव्याप्तं लक्षणमित्युक्तत्वादित्यर्थः। अस्तीतिशब्दोल्लेखस्य तन्त्रत्वे दूषणान्तरमाह—वर्तत इति। यद्यपि वर्तत इत्युल्लेखेपि कदाचिदस्तीत्युल्लेखोस्त्येव तावतैव तत्रापि लक्षणं गतम्। तथाप्युल्लेखो वस्तुस्वरूपनिरुक्तौ न तन्त्रमित्येवंपरो ग्रन्थः। उभयेति। अभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां पदानां पर्यायत्वादत्र च तन्नास्तीति न पर्यायत्वमित्यर्थः। ययोरेकत्रार्थे प्रयोगस्तावेव पर्यायौ नतु प्रवृत्तिनिमित्ताभेदोपि तत्र तन्त्रमिति—शङ्कते यत्रेति। तथात्वेपीति। एकधर्मिवाचकत्वेपीत्यर्थः ॥ २ ॥

और प्रतीति के विशेषणरूप से कथित 'अस्ति' इससे सत्ता आदि अर्थ विवक्षित है, या अस्ति यह शब्द का स्वरूप मात्र विवक्षित है? यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि भावत्व ही अस्ति का अर्थ है, और उस अस्ति शब्दार्थ (भावत्व) का अभी निर्वचन (निर्णय) नहीं हुआ है। यदि कहें कि सत्ता (द्रव्यगुणकर्म मात्र वृत्ति जाति विशेष) अस्ति का अर्थ है, वही भावत्व है, तो सामान्य (जाति) आदि में सत्ता के अभाव से सामान्यादि को अभावत्व की प्राप्ति होगी। सामान्यादि में स्वरूप सत्त्व कहें, तो उसका अभाव में भी सत्त्व से वह पूर्व में निरस्त हो चुका है। सत्ता के साथ एकार्थ में समवायित्वरूप सत्त्वसामान्यादि मानें, तो समवाय के साथ समवाय के अभाव से उसमें सत्त्वाभावापत्ति होगी। अस्तिशब्दानुपूर्वी विवक्षित है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'भावोऽस्ति' इस प्रकार से अभावार्थ में भी अस्तिशब्द का प्रयोग होता है। और अस्तिशब्दमात्र को प्रतीति का विशेषण मानने पर (वर्तते-विद्यते) इत्यादि रूप से प्रतीति के विषय को अभावत्व की प्राप्ति होगी, यदि कहें कि अस्ति शब्द से पर्यायमात्रविवक्षित हैं, और वह वर्तते, इत्यादि भी अस्ति का पर्याय (समानार्थकशब्द) है। अतः उक्त दोष नहीं है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि, अस्ति-वर्तते, इन दोनों के साधारण (समान) एक अर्थ के निर्वचन के बिना इनके पर्यायत्व ही का प्रतिपादन

करना अशक्य (असम्भव) है। अभिन्नप्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्दों को पर्यायत्व होता है, वह यहाँ नहीं। अभी प्रवृत्तिनिमित्त भावत्व का ही निर्णय नहीं हुआ है। यदि कहें कि प्रवृत्ति निमित्त के एकत्व से पर्यायत्व नहीं होता। किन्तु एकार्थ में प्रयोग से पर्यायत्व होता है, अतः जिस अर्थ में किसी एक मनुष्य से अस्तिशब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी अर्थ में अन्य किसी का वर्तते यह प्रयोग होता है। वहाँ भावत्व के निर्णय के बिना भी उन प्रयोगों से सामान्यरूप से पर्यायत्व, शक्याधिगम, जानने योग्य है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रमेयत्व अभिधेयत्वादिशब्दों को तथात्व = एकार्थ में प्रयुक्तत्व = एकधर्मिवाचकत्व होने पर भी पर्यायत्व नहीं होता। अतः एकार्थ में प्रयोगमात्र से सामान्य रूप से पर्यायत्व नहीं समझा जा सकता है ॥ २ ॥

यत्रेत्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तार्थत्वे च तन्निर्वचनप्रसङ्गस्तदवस्थः। स एवार्थो भावत्वमुच्यतां किं शब्दोल्लेखगवेषणया। अपरप्रतिषेधात्मकत्वं भावत्वम् इति चेन्न, व्यवच्छेद्यासम्भवेन परपदवैयर्थ्यात्, भावाभावयोः परस्परप्रतिषेधात्मकत्वस्वीकाराच्च। तथापि भावे नास्तीत्यभावप्रतिपत्तिवदभावो नास्तीतिभावस्याप्रतीतिः? इति चेन्न, तावतापि लक्षणानिरुक्तेः ॥ ३ ॥

ननु यत्रेति। धर्मिमात्रं नोक्तं येनातिप्रसङ्गः स्यादपितु प्रवृत्तिनिमित्तमेव तथोक्तं भवति हि घटकलशपदयोरभिन्नं प्रवृत्तिनिमित्तं वाच्यं नतु प्रमेयाभिधेययोरपि प्रमाविषयत्वाभिधानविषयत्वयोः प्रवृत्तिनिमित्तयोर्भेदादित्याशङ्क्याह—यत्रेति। अपरेति। अभावस्य भावविरहात्मकतया तद्व्यवच्छेद इत्यर्थः। प्रतिषेधात्मकं यत्तत्परप्रतिषेधात्मकमेव भवति नतु स्वप्रतिषेधात्मकमपीति व्यवच्छेद्याभावात्परपदवैयर्थ्यमित्याह—व्यवच्छेद्येति। तर्ह्यप्रतिषेधात्मकत्वमेव लक्षणमस्तु किं परपदेनेत्याशङ्क्यासम्भवं तत्र दोषमाह—भावाभावयोरिति। नन्वभावो नास्तीत्याकारा यदि भावप्रतीतिः स्यात्तदा प्रतिषेधात्मकत्वं भावस्यापि भवेदित्यसम्भवः स्यान्नत्वेवमित्याह—तथापीति। एतादृशप्रतीतिविरहेपि स्वाभावप्रतिषेधात्मत्वं वस्तुसिद्धं दुरपह्नवं भावस्येत्यसम्भवस्तदवस्थ एवेत्याह—तावतापीति ॥ ३ ॥

यदि कहें कि पूर्वोक्त 'यत्र' इस शब्द का प्रवृत्ति निमित्त अर्थ है। जिन शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त वाले अर्थ में प्रयोग होता है, वे परस्पर पर्याय कहे जाते हैं और प्रमेय तथा अभिधेय शब्द के प्रमाविषयत्व तथा अभिधा = अभिधान विषयत्व (शब्दवाच्यत्व) रूप भिन्न प्रवृत्ति निमित्त हैं अतः इनमें पर्यायत्व नहीं है। तो फिर भी अस्ति वर्तते इत्यादि के एक प्रवृत्ति निमित्त उक्त भावत्व के ही निर्वचन का प्रसङ्ग तदवस्थ (पूर्वतुल्य) रहता है, प्राप्त होता है। वह भावत्वरूप अर्थ क्या है, अस्ति आदि शब्दों के उल्लेख (उच्चारण) की गवेषणा (अन्वेषण) का क्या फल है ? यदि कहें कि जो पर (अन्य) का प्रतिषेधस्वरूप नहीं हो वह भाव होता है। अभाव भाव का प्रतिषेधस्वरूप होता है। अतः उससे भिन्नत्व भावत्व है, यह कथन भी युक्त नहीं है। इस प्रकार तो (अप्रतिषेधात्मक भाव है) इतना ही कहने से अभाव की व्यावृत्ति हो सकती है। पर इस विशेषण के द्वारा व्यवच्छेद्य के असम्भव से परपदरूप विशेषण में व्यर्थता है, प्रतिषेधात्मक जो होता है, वह पर का प्रतिषेधरूप ही होता है, स्वप्रतिषेधात्मक नहीं। ऐसा होने पर यदि कहें कि अप्रतिषेधात्मकत्व ही भाव का लक्षण हो, तो यह कहना भी

युक्त नहीं, भाव और अभाव को परस्पर प्रतिषेधात्मक मानने से अभाव की व्यावृत्ति नहीं होगी। यदि कहे कि (निषेधात्मकत्व स्वीकार होने पर भी) भावो (घटो) नास्ति (भाव नहीं है) इस प्रकार से जैसे अभाव की प्रतीति प्रतिषेधरूप से होती है, वैसे अभावो नास्ति (अभाव नहीं है) इस प्रकार भाव की प्रतीति नहीं होती है। और यदि अभावो नास्ति ऐसी भाव की प्रतीति हो तो निषेधात्मकत्व भाव में भी होने से लक्षण का असम्भव हो, परन्तु ऐसी बात है नहीं, अतः असम्भव नहीं है। फिर भी लक्षण की निरुक्ति नहीं सिद्ध हुई, अर्थात् अभावो नास्ति इस प्रकार से भाव की प्रतीति नहीं होने पर भी स्वाभाव के प्रतिषेधात्मकत्व भाव को निवृत्त नहीं हो सकता। अतः असम्भव-दोष है ही ॥ ३ ॥

अपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमेव भावत्वम् इति चेन्न, चक्षुरादिभिर्भावत्वाग्रहणप्रसङ्गात् नहि प्रतीयमानत्वं चक्षुरादिग्राह्यम् अभावो नास्तीति प्रतीतेर्निर्विषयत्वप्रसङ्गाच्च। नहीयं भावविषया भवत्पक्षे परनिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वात्। नाप्यभावविषयैव तन्निषेधार्थत्वात् नैवं प्रतीतिरेव स्यात्? इति चेन्न, शाब्द्याः प्रतीतेः सम्भवात्। आकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः प्रतिस्वं संसर्गबोधनात् "अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" ॥ ४ ॥

ननु परप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानादभावादपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वं भावस्य विशेषः स एव लक्षणमिति कथं लक्षणानिरुक्तिरित्याह—अपरेति। प्रतीतेरचक्षुरवेद्यत्वेन तद्घटितं भावत्वमपि चक्षुरवेद्यं स्यादित्याह—'चक्षुरि'ति। यदि परप्रतिषेधमुखेनाप्रतीयमानत्वं भावत्वं भवेत्तदा दोषान्तरमाह—अभाव इति। निर्विषयत्वमेवोपपादयति—नहीति। भावेषु सर्वदा विधिमुख एव प्रत्ययो न तु निषेधमुखोपीति शङ्कते—नैवमिति। आकाङ्क्षादिमहिम्ना शब्दादेतादृशी प्रतीतिः स्यादेवेत्याह—शाब्द्या इति। ननु विषय एव न कश्चित्तादृशो यत्र शब्दोपि प्रतीतिं जनयेदित्यत आह—अत्यन्तेति। यद्यप्यसत्ख्यातिवादिनं प्रति प्रतीतेर्निर्विषयत्वापादनं न दोषः अन्येषां मते योग्यताविरहात् प्रतीतिरियं न शब्दादपि अन्यथाख्यातिश्चेत्तदा सन्नेव विषयस्तथापि खण्डनान्तरावष्टम्भेनेदमुक्तम् ॥ ४ ॥

यदि कहें कि अभाव पर के प्रतिषेधमुख (रूप) से प्रतीयमान होता है। उससे विपरीत, अपरप्रतिषेधमुख (रूप) से प्रतीयमानत्व ही भावत्व है, तो यह लक्षणयुक्त नहीं, क्योंकि इस लक्षण वाले भावत्व का चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण (ज्ञान) नहीं होगा; क्योंकि प्रतीतिविषयत्वरूप प्रतीयमानत्व प्रतीति के ग्रहण के बिना गृहीत नहीं हो सकता है। अतः प्रतीयमानत्व चक्षु आदि से ग्राह्य (ग्रहण योग्य) नहीं है, और उक्त रीति से, अभावो नास्ति, अभाव नहीं है, इस प्रतीति को निर्विषयत्व की प्राप्ति होगी (इस प्रतीति का विषय कोई वस्तु नहीं सिद्ध होगी)। क्योंकि पर के निषेधरूप से प्रतीयमान होने से आप के मत में यह प्रतीत भाव विषयक नहीं है। और अभाव के निषेधार्थक होने से अभाव विषयक भी नहीं है। प्रतियोगीरूप से अभाव विषयक है। 'अभावो नास्ति' ऐसी प्रतीति हो नहीं होगी। उक्तरीति से निर्विषयत्व की प्राप्ति होती। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा शब्द का प्रयोग होता है, अतः शाब्दी

(शब्द जन्य) प्रतीति का सम्भव है, आकांक्षा योग्यता आदि वाले पदों से प्रतिस्वं (प्रत्येक पदार्थों) के संसर्ग का बोधन (ज्ञान) होता है। यदि कहें कि विषय के बिना शब्द से भी प्रतीति कैसे होगी ? तो उत्तर यह है कि शशश्रृङ्गादि शब्द अत्यन्त असत्य अर्थविषयक ज्ञान को उत्पन्न करता ही है, और प्रकृत में तो आप के मत से निर्विषयता (अभावो नास्ति) इस प्रतीति को प्राप्त होती है, वस्तुतः निर्विषयता नहीं है, इत्यादि ॥

प्रत्यक्षप्रतीतेस्तथा विवक्षितत्वादयं न दोषः इति चेन्न, सर्वस्य भावस्य प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात्। सेश्वरपक्षे सर्वं प्रत्यक्षम् इति चेन्न, तेन तेषामपरप्रतिषेधात्मकतया ग्रहणे प्रमाणाभावात्। तेषां विधिरूपतया तथैव ग्रहणम् इति चेन्न, विधिरूपत्वस्यानवधारणात् यदपरप्रतिषेधात्मकतया शब्देनापि बोध्यते तत्तावद्भावरूपम् इति चेन्न, परपदवैयर्थ्यात्। तत्त्यागेऽप्यचाक्षुषादित्वापत्तेः ॥ ५ ॥

तथेति । अपरप्रतिषेधमुखत्वस्येत्यर्थः । अतीन्द्रियभावाव्याप्तिमाह—सर्वस्येति । तेनेति। ईश्वरेण परमाण्वादीनामपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वं ननु परप्रतिषेधमुखेनेत्यत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः। ईश्वरस्यातीन्द्रियेषु विधित्वेनैव भानमिति नाव्याप्तिरित्याह—तेषामिति। विधित्वं भावत्वमेव पर्यवस्येत्तच्चानिरूपितमेवेत्याह—विधीति । नन्वतीन्द्रिये भावे यद्यप्यप्रतिषेधात्मकतया प्रत्यक्षेण न भानं तथापि शब्देन तादृशी प्रतीतिरस्त्येवेत्याह—यदीति। अत्रापि पूर्ववत परपदवैयर्थ्यमित्याह—परेति। ननु परपदत्यागेनैव लक्षणमस्त्वित्यत आह—तत्त्याग इति। प्रतीतिगर्भभावत्वस्याचाक्षुषत्वापत्तिरित्यर्थः ॥ ५ ॥

यदि कहें कि प्रतीति से तथा विवक्षित है, अर्थात् अपर प्रतिषेध रूप से प्रत्यक्ष प्रमाणविषयत्व भावत्व है, 'घटाभावोऽस्ति' यह प्रतीति होती है, वह अपर प्रतिषेध रूप से होती है, परन्तु भट्ट मत से प्रत्यक्ष नहीं होती। अनुपलब्धि से परोक्ष ज्ञान होता है। अतः व्याप्ति नहीं है। और 'घटाभावो नास्ति' यहाँ शब्द से पर प्रतिषेध मुख विषयत्व उक्तरीति से होने पर भी अपर प्रतिषेध मुख प्रत्यक्ष का भी विषय होने से अव्याप्ति नहीं है। 'घटोऽस्ति भावोऽस्ति' इस प्रतीति के विषय से घटाभावो नास्ति इस प्रतीति का विषय अभिन्न है। परन्तु यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि सब भाव को प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है। अतः परोक्ष भाव में लक्षण को अव्याप्ति होगी। यदि ईश्वर सर्वज्ञ योगी को मानने वालों के मत में परमाणु को भी प्रत्यक्ष माना जाय तो भी उस ईश्वरादि से उन परमाणु आदि को अपर प्रतिषेध रूप से ग्रहण (ज्ञान) किया जाता हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पदार्थों के स्वरूप मात्र के ज्ञान से सर्वज्ञता होती है। यदि कहें कि घटादि के विधि (अपरप्रतिषेध) रूप होने से ईश्वर से उनका उसी रूप से ग्रहण होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, विधि रूपत्व ही भावत्व है, उसका अभी निर्णय नहीं हुआ है। यदि कहें कि जो पदार्थ शब्द से भी अपरप्रतिषेध रूप से बोधित (ज्ञात) हो वही वस्तुतः भावस्वरूप है, इस प्रकार से प्रत्यक्ष-परोक्ष सब के संग्रह से अव्याप्ति नहीं है। परन्तु यह भी लक्षण युक्त नहीं। क्योंकि, यहाँ भी पूर्वतुल्य पर पद की व्यर्थता है। अप्रतिषेधात्मकता से ही काम चल सकता है। पर पद को त्यागने पर भी प्रतीति (बोध) युक्त भावत्व में अचाक्षुषता (नेत्रजज्ञानाविषयता) प्राप्त होगी। अतः यह युक्त नहीं ॥ ५ ॥

सुरभि चन्दनमित्यादाविवान्योपनीतभानवत्तत्र चाक्षुषत्वं भविष्यति इति चेन्न, तथाविधविषयेण विशिष्टाया बुद्धेर्विषयविशेषणताग्रहे स्वाश्रयांशतः स्यात् तेनोपलक्षितायास्तथात्वे चाभावविशिष्टभावग्रहार्थस्याभावस्य तत्त्वापत्तेः। तेन यदेवंविधं तद् भावरूपमिति च ब्रुवतैवंविधत्वात् भावत्वमन्यद्वाच्यम् ॥ ६ ॥

ननूपनीतमेव प्रतीयमानत्वं चक्षुषापि गृह्यतामित्याह—सुरभीति । विषयविशिष्टा प्रतीतिरुपनीता सती विशेषणं भवतीति विषयांशे विषयवृत्तांवशत आत्माश्रयः। अथोपनीतायां प्रतीतौ विषय उपलक्षणं प्रतीतिश्च पुनर्विषयेप्युपलक्षणं तदा विशिष्टस्य तद्विशिष्टाश्रयतायामात्माश्रयो न भवति किंतु घटाभाववद्भूतलमिति प्रतीत्या विषयीक्रियमाणस्याभावस्यापि भावत्वं स्यात्। प्रतिषेधानात्मकतया या भूतलप्रतीतिस्तया भावस्याप्युपलक्षितत्वादित्याह—तथाविधेति। प्रतीतौ वा विषय उपलक्षणं तथापि स एव दोषः। 'ग्रहार्थस्याभावस्ये'ति पाठे ग्रहस्यार्थो विषयो योऽभावस्तस्येत्यर्थः। दोषान्तरमाह—यदेवंविधमिति । यत्परप्रतिषेधानात्मकतया प्रतीयमानं तद्भावस्वरूपमिति। त्वयोच्यते तथाच लक्षणाल्लक्ष्यतावच्छेदकं भावत्वमन्यदेव त्वया वक्तव्यं तच्च दुर्वचमित्यर्थः ॥ ६ ॥

यदि कहें कि प्रथम घ्राण से चन्दन के गन्ध को जान लेने पर फिर कहीं नेत्र से चन्दन को देखने पर सुरभि (सुगन्ध वाला) चन्दन है, ऐसा नेत्र जन्य ज्ञान होता है, वहाँ सुगन्धि नेत्रयोग्य विषय नहीं है, तथापि नेत्रसंयुक्त मनःसंयुक्त आत्मसमवेत पूर्वज्ञान संस्कार विषयता सम्बन्ध से जैसे नेत्र से गन्ध का ज्ञान होता है, वैसे ही यह प्रतिषेधात्मकत्वेन बोध का भी नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्त आत्मसमवेतरूप अलौकिक संबन्ध से लक्षणगत बोध का भी नेत्र से ज्ञान होने से भावत्व का चाक्षुष ज्ञान होगा, क्योंकि जैसे सुरभिचन्दनम्—इस ज्ञान में सौरभ ज्ञानलक्षण सम्बन्ध से उपनीत (प्राप्त) भाग (अंश) रहता है, वैसे यहाँ भी बोध प्राप्त होगा, तो यह कहना युक्त नहीं । क्योंकि, अप्रतिषेधात्मकरूप से बोध्यमानत्व रूप लक्षण में तथाविध (अप्रतिषेधात्मक) विषय बोध का विशेषण है। और उस विषय से विशिष्ट बुद्धि फिर बोध्यमानविषय का विशेषण है। अतः तथाविध विषय से विशिष्ट बुद्धि की विषयविशेषणता के ग्रहण में विषयांश में बुद्धि द्वारा स्वाश्रय भी होगा। अर्थात् विषयांश में आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी। यदि अपरप्रतिषेधात्मक विषय को बुद्धि में और बुद्धि को बोध्यमान विषय में उपलक्षण माने तो आत्माश्रय यद्यपि नहीं होगा, तथापि अभाव से विशिष्ट (युक्त) भाव वस्तु का ग्रहण (ज्ञान) रूप अर्थ (प्रयोजन फल) वाले अभाव को भी भावत्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् (घटाभाववद्भूतलम्) घट के अभाव वाले भूमि है, इस ज्ञान में अपर प्रतिषेधात्मक भूतल से उपलक्षितत्व है, और उस ज्ञान से भूतलवृत्ति अभाव को उपलक्षितत्व है, और उस लक्षण द्वारा जो एवं विध = अपर प्रतिषेधात्मकरूप से प्रतीयमान हो, वह भावरूप है, इस प्रकार से कहते हुए आपको एवंविधत्व (अपरप्रतिषेधात्मकत्व) से अन्य भावत्व कहना होगा, अर्थात् अप्रतिषेधात्मकत्व तो लक्षण हुआ, और लक्ष्यवृत्ति लक्ष्यतावच्छेदक उससे भिन्न भावत्व रूप वक्तव्य है, वह दुर्वच है। लक्षण लक्ष्यतावच्छेदक युक्त लक्ष्य में रहता है, जैसे गन्धवत्व लक्षण भूमित्वयुक्त में रहता है, वैसे यहाँ भावत्वयुक्त निर्णीत नहीं है ॥ ६ ॥

अभेदे च यदेवंविधं तद्भावरूपमिति नियमानुपपत्तेः। अस्योपलक्षणत्वे चोपलक्ष्यत्वस्यान्यस्य वाच्यत्वात्, अस्यैव भावार्थत्वे वाऽभावो नास्तीति प्रतीयमानस्य भावस्य भावत्वाभावप्रसङ्गात्, भिन्नं च भावत्वं न सम्भवति षट्पदार्थव्यतिरेकप्रसङ्गादिति। यच्च किञ्चिद्भावत्वं तत्स्वात्मन्यस्ति नो वा? अस्ति चेत्स्वात्मनि वृत्तिविरोधः, नास्ति चेत्स्वस्यान्यप्रतिषेधमुखेनाप्रतीयमानस्याभावत्वप्रसङ्ग इति ॥ ७ ॥

अथ लक्षणस्य लक्ष्यतावच्छेदकरूपादभेदमेव मन्यसे तदा लक्षणलक्ष्यतावच्छेदकयोर्यो नियमः समव्याप्तिस्तदनुपपत्तिः, अभेदे व्याप्यत्वाभावात्। भवति पृथिवीत्वगन्धवत्त्वयोः समनियमो भिन्नयोर्नत्वभिन्नयोरित्याह—अभेदे चेति। ननु यल्लक्षणत्वेन दर्शितं तदुपलक्षणं नचोपलक्षणेनापि नियमोऽङ्गीक्रियते येनाभेदे तदनुपपत्तिः स्यादित्यत आह—अस्येति। यल्लक्षणत्वेनोक्तं तच्चेदुपलक्षणं तथापि भावत्वमुपलक्ष्यतावच्छेदकमन्यदेव वक्तव्यं नह्युपलक्ष्यतावच्छेदकं भवतीत्यर्थः। भवतु वा लक्ष्यतावच्छेदकमेवंरूपं लक्षणं तथापि प्रतिषेधानात्मकतया प्रतीयमानत्वं लक्षणमव्यापकमित्याह—अस्येति। अभावो नास्तीति भावस्यापि परप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्वादित्यर्थः। ननु लक्षणभिन्नमेव भावत्वं किञ्चित्स्यादित्यत आह—भिन्नं चेति। विकल्पितप्रकारभिन्नत्वे तस्य सप्तमपदार्थत्वापत्तिरित्यर्थः। स्वस्येति। अपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमाने भावत्वे लक्षणमव्यापकमित्यर्थः। ननु यद्यपि भावत्वस्वरूपं सत्तासंबन्धवत्त्वमेव। तच्च सत्तायां सत्सु च घटादिष्वविशिष्टं सामान्यादिष्वेकार्थसमवायेन समवाये च स्वरूपसंबन्धेनैवं सर्वत्रेति नाव्याप्त्यतिव्याप्ती, लक्षणं तु सत्तासंबन्धबोधविषयत्वम्, तस्य चाक्षुषत्वेपि न दोषः। नहि लक्ष्यलक्षणयोरेकग्राह्यत्वनियमः सत्तासंबन्धवत्त्वेऽपि सत्तासंबन्धवत्त्वमस्त्येव तच्च तदेवान्यद्वेति न दोषः। प्रमेयत्वे प्रमेयत्ववत्, तथापि सत्ताखण्डनाभिप्रायोत्रापीति भावः ॥७॥

यदि लक्षण से लक्ष्यतावच्छेदक का अभेद हो, तो जो इस लक्षण वाला (इस प्रकार का) है, वह भावरूप है, इस नियम की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि, जो ऐसा होता है, वह कौन है? उसका परिचय लक्ष्यतावच्छेदक विना नहीं होगा। जैसे जो गन्धवाला होता है, वह पदार्थ पृथिवी होता है। वहां पृथिवीत्वरूप लक्ष्यतावच्छेदक से लक्ष्य का परिचय होता है, अतः लक्षण लक्ष्यतावच्छेदक का परस्पर नियम (समव्याप्ति = व्याप्यव्यापकभाव) होता है, वैसे यहाँ नहीं होगा। क्योंकि, भिन्न में समव्याप्तिरूप नियम होता है, अभिन्न में नहीं। यदि कहें कि इस लक्षण को लक्ष्य के उपलक्षणत्व है, उपलक्षण के साथ किसी की समव्याप्ति नहीं मानी जाती है, उपलक्षण तटस्थ रह कर व्यावर्तक होता है, अतः अभेद होते भी दोष नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं। इस लक्षण के उपलक्षणत्व होते हुये भी उससे भिन्न उपलक्ष्यतावच्छेदक कोई धर्म भावत्व वक्तव्य है। अथवा इस लक्षण को ही भावार्थत्व होने पर, अभावो नास्ति, इस प्रकार से निषेध रूप से प्रतीति के विषय भाव को भी अभावत्व की प्राप्ति होगी (भावलक्षण की उसमें अव्याप्ति होगी)। और यदि लक्षण से भिन्न कुछ भावत्व (लक्ष्यतावच्छेदक) मानें भी तो उससे भिन्न भावत्व का सम्भव नहीं है, क्योंकि षड् विधभाव में वृत्तित्व वाला वह भावत्व पदार्थ से व्यतिरेक (भेद) को (सप्तमभावपदार्थत्व) को प्राप्त होगा। और जो कुछ भावत्व है, वह अपने स्वरूप में रहता है? या नहीं? यदि रहता है, तो आत्म

स्वरूप में वृत्ति होना विरोध (आत्माश्रयदोष) है, और नहीं रहता है, तो उसको अन्य के प्रतिषेधरूप से अप्रतीयमान को अभावत्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् अपरप्रतिषेधमुखेन प्रतीयमानत्व (परप्रतिषेधानात्मकत्व) रूप लक्षण की यहाँ अव्याप्ति है ॥७॥

नन्वेवमीश्वरे प्रमाणानुपदर्शनात्तदभाव एवापद्यते इति चेत्? अभावत्वं किमभिधीयते निषेधात्मकत्वमिति चेत्? तद्यदि प्रतिक्षेपात्मकत्वं तदा भावेऽप्यस्ति भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वस्वीकारात्। अथाभावत्वमेव? तदा न निवृत्तः पर्यनुयोगः, एतेन निषेधमुखेन प्रतीयमानत्वमिति निरस्तम्। भावविरोधित्वम् इति चेन्न, सर्वभावविरोधित्वं वा तद्विशेषविरोधित्वं वा? नाद्यः असिद्धेः। नहि घटाभावो भूतलादि विरुणद्धि। नापि द्वितीयः भावानामपि केषाञ्चित्तथाभावात् ॥ ८॥

अभावत्वखण्डनाय सङ्गतिङ्करोति—नन्वेवमिति। यद्यपि प्रमाणानुपदर्शनमात्रेण नाभावपर्यवसानं तथापि सङ्गतिमात्रार्थमेतदुक्तम्। अथाभावत्वमेवेति। प्रतिषेधात्मकत्वमित्यनुषञ्जनीयं। एतेनेति। निषेधशब्देनाभावाभिधाने पर्य्यनुयोगानिवृत्तिः प्रतिक्षेपाभिधाने च भावेऽतिव्याप्तिरिति पूर्वोक्तदोषेणेत्यर्थः। अभावो नास्तीति प्रतीत्या निषेधमुखेन भावस्यापि प्रतीयमानत्वादित्यर्थः। नहीति। सहानवस्थानं प्रतियोग्यनुयोगिभावो वा विरोधो वाच्यस्तदुभयं च घटाभावस्य भूतलादिना न भवतीत्यर्थः। भावानामिति। उत्तरसंयोगे कर्मणो विभागस्य च बध्यघातकविरोधदर्शनादतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥ ८॥

भावात्मक ईश्वर विषयक प्रमाण का विचार प्रथम चला था, वहाँ भावत्व का निर्णय नहीं होने से ईश्वर विषयक प्रमाण का भी निर्णय नहीं हुआ, और भावत्व का निर्णय नहीं होने से षड्विध भावपदार्थ के नियम का भी भंग हुआ। अब अभाव की अनिर्वाच्यता को सिद्ध करना है। यहाँ पूर्वप्रसंग के अनुसार शंका होती है कि—उक्तरीति से ईश्वर विषयक प्रमाण के अनुपदर्शन (अप्रदर्शन) से उस ईश्वर का अभाव ही प्राप्त होगा (ईश्वर की सिद्धि नहीं होगी), क्योंकि प्रमाण से ही आत्मादि रूप प्रमेय कि सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं, ऐसी यदि शंका हो, तो प्रथम अभाव का निर्णय कर्तव्य है कि वह अभावत्व क्या है जो प्रमाण के अप्रदर्शन से प्राप्त होगा। यदि निषेधस्वरूपत्व अभावत्व कहें, और वह निषेधस्वरूपत्व यदि प्रतिक्षेपात्मत्व (अन्यनिवारकत्व) स्वरूप हो, तो भाव में भी वह प्रतिक्षेपात्मकत्व है। क्योंकि, भाव अभाव दोनों को ही परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्व का स्वीकार किया जाता है। और यदि वह निषेधस्वरूपत्व अभावत्व ही है, तो पर्यनुयोग (जिज्ञासा प्रश्न) निवृत्त नहीं हुआ (प्रश्न का उत्तर नहीं हुआ)। इसी दोष से निषेधमुख से प्रतीतिविषयत्व अभावत्व का भी निरास (खण्डन) हो गया। क्योंकि निषेध शब्द से अभाव कहने पर, पर्यनुयोग की निवृत्ति नहीं होगी। और प्रतिक्षेप कहने पर भाव में अतिव्याप्ति होगी। भावविरोधित्व अभावत्व कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि सर्वभावविरोधित्व या भावविशेषविरोधित्व कहना होगा। वहाँ सर्वभावविरोधित्व तो किसी भी अभाव में सिद्ध नहीं हो सकता। अतः इसकी असिद्धि है। क्योंकि, घटाभाव भूतलादि से विरोध नहीं करता। और दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भावों को भी भावविशेष से विरोधित्व है, जैसे अहिनकुलादि को परस्पर विरोधित्व है ॥ ८॥

अथ सहानवस्थानं विरोधो विवक्षितः स भावानां नास्ति इति चेन्न, गोत्वाऽश्वत्वादौ तस्यापि भावात्। एकविधावन्यनिषेधः स इति चेन्न, भेदे भावभेदयोरेव प्रसङ्गात्। एकविधिरेवान्यनिषेधः स इति चेन्न, निषेधस्याभावार्थत्वे भावार्थत्वे वासिद्धेः। नास्तीतिप्रतीयमानत्वम् इति चेन्न, घटाभावो नास्तीति घटस्य तथाप्रतीयमानतयाऽभावत्वापत्तेः। अस्तीति भावत्वनिरुक्तौ यदुक्तं दूषणं तदापत्तेश्च। प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वम् इति चेन्न, प्रतियोगिनः परार्थत्वेतिप्रसङ्गात्, विरोध्यर्थत्वे तदनिरुक्तेः, असदर्थत्वे तदर्थस्यासिद्धेः, अतीतानागतज्ञानादौ विषयादिनातिप्रसङ्गात्॥ ९॥

तस्यापीति। सहानवस्थानस्यापीत्यर्थः। स इति। विरोध इत्यर्थः। नीलविधौ पीतानिषेधोस्तीति तत्रातिव्याप्तिरित्याह—भेदे इति। नीलपीतयोर्न परस्परप्रतिषेधात्मकत्वं किंतु परस्परविरहव्याप्यत्वमात्रमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—एकेति। निषेधपदं यद्यभावार्थकं तदा तदनिरूपणादेवासिद्धिः, अथ भावार्थकं तथाप्यसिद्धिर्नहि निषेधपदं भावमभिधत्ते इत्यर्थः। भावार्थत्वे एकविधिर्नापरनिषेधोपि तु विधिरेवेत्यसिद्धिरित्यप्याहुः। अभावत्वापत्तेरिति। अभावलक्षणस्य भावेतिव्याप्तेरित्यर्थः यद्वा लक्षणस्य लक्ष्यतावच्छेदकधर्मव्याप्यत्वेन भावे चेल्लक्षणं गतं तदा तस्याभावत्वापत्तिरित्यर्थः। अस्तीति। अस्तीतिप्रतीयमानत्वं भावत्वम्। अत्रास्ति-शब्दार्थो वा विवक्षितस्तच्छब्दोल्लेखमात्रं वा? आद्येऽसिद्धिरन्त्येऽतिप्रसङ्गः। किं चाभावस्य प्रतीतिगर्भत्वे तदचाक्षुषत्वाद्यापत्तिरित्यादिदूषणमत्राप्यूह्यमित्यर्थः। प्रतियोगिन इति। परनिरूपणाधीननिरूपणत्वं बुद्धिसंयोगादावतिव्यापकं विरोधिनिरूपणाधीननिरूपणत्वं च विरोधानिरुक्त्या दुर्ग्रहमित्यर्थः। असदिति। असन्निरूपणाधीननिरूपणत्वं च ज्ञानसंयोगादौ नास्ति, तत्र सत एव विषयस्य संयोगिनश्च निरूपकत्वादभावस्य त्वसतो घटादेर्निरूपकत्वं तदसत्वं देशतः कालतो वेति यदि तदा नञर्थोभाव एव वाच्यः। स चाद्याप्यनिरूपित एवेत्यर्थः। क्वचिन्नार्थस्येति पाठः, तत्रापि नञर्थस्येत्यर्थः॥ ९॥

यदि कहें कि साथ में स्थिति का अभावरूप विरोध विवक्षित है, अहिनकुलादि कहीं साथ भी रह सकते हैं, संयोग विभागादि विरोधी भी साथ रहते हैं। अतः भावों को ऐसा विरोध नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, गोत्व अश्वत्व आदि में सदा उस सहानवस्थान का भी भाव है। यदि कहें कि एक कि विधि होने पर अन्य का निषेध विरोध है, और गोत्व के विधि से अश्वत्व का या अश्वत्व की विधि से गोत्व का अभाव नहीं सिद्ध होता, या 'गोत्वं नास्ति' कहने से अश्वत्व का अभाव नहीं सिद्ध होता है। और घट का अभाव है ऐसा कहने पर घट का निषेध सिद्ध होगा। अतः एक के विधि होने पर अन्य का निषेध विरोध है, और यही अभाव का लक्षण है, परन्तु यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि जिसकी विधि होती है, और जिसका निषेध होता है उनके भेद मानने पर भावविशेष में ही अभावत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि नील की विधि से पीत का प्रतिषेध होता है। और यह गौ है, ऐसा कहने से भी अश्व नहीं है, इस प्रकार अश्व का निषेध होता है। अतः अश्वाभाव के अविनाभावी गौ में अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि एक की विधि ही अन्य का निषेधरूप अभाव है, 'घटोनास्ति' की विधि ही घट का अभाव है विधिनिषेध में भेद नहीं है अर्थात् नीलपीतादि में परस्पर अभावात्मकत्व नहीं है, किन्तु परस्पर अभाव व्याप्यत्व है, और यहाँ

परस्पर अभावात्मकत्व विवक्षित है, तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि, निषेध शब्द का अभाव अर्थ हो या भाव उभयथा असिद्धि है। क्योंकि अभाव की अभी निरुक्ति नहीं हुई। और निषेध शब्द का भाव अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। 'नास्ति' ऐसी प्रतीति विषयत्व अभावत्व कहें, तो भी घटाऽभावो नास्ति, इस प्रकार से घट को भी नास्ति इस प्रकार की प्रतीति के विषयत्व होने से अभावत्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् घट में अभाव लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। और, 'अस्ति' इस प्रकार के भावत्व के निर्वचन में जो दूषण कहा है, वह भी प्राप्त होगा। अर्थात् 'नास्ति' यह अर्थ विवक्षित है? या शब्द? यदि अर्थ विवक्षित हो, तो उसका निर्वचन नहीं हुआ है। और यदि नास्ति शब्दमात्र विवक्षित हो, तो 'न वर्तते, न विद्यते' इत्यादि शब्द से बोधितार्थ में अभावत्व नहीं होगा। और भाव में भी 'नास्ति अभावः' इत्यादि 'नास्ति' प्रतीतिविषयत्व से अतिव्याप्ति होगी। प्रतियोगि के निरूपण (ज्ञान) अधीन जिसका निरूपण हो, वह अभाव है, ऐसा लक्षण भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोगी शब्द का यदि, पर, अर्थ हो, तो, पर (विषय) के अधीन निरूपणीय वृत्ति (ज्ञान) संयोगी आदि के अधीन निरूपणीय संयोग दीर्घत्वादि में अतिव्याप्ति होगी। विरोधी अर्थ हो, तो उस विरोध की निरुक्ति नहीं हुई है। प्रतियोगी के असत् अर्थत्व में नञ् के अर्थ की असिद्धि विरोधी है, अर्थात् नञर्थ की अनिरुक्ति (असिद्धि) से प्रतियोगी शब्द असदर्थत्व में नहीं माना जा सकता है। अतः असदर्थ से निरुपित अभाव नहीं कहा जा सकता, और असदर्थ से निरुपित को अभाव कहें, तो वर्तमान काल में अवर्तमान (असत) अतीत अनागतादि विषयादि से निरूपित अतीत अनागतादि के ज्ञानेच्छादि में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि, असत् विषय के निरूपणाधीन भूतभावी के अनुमानादि होते हैं, इत्यादि ॥ ९ ॥

यच्च किञ्चिदभावस्य लक्षणमुच्यते स भावोऽभावो वा? नाद्यः भावस्याभावानाश्रितत्वात् विषयिधर्मेण च कथमपि तथात्वे तन्निर्वाच्यं स्यात्। अन्यदेव तद्वत्? इति चेन्न, तद्वदभावस्याभावत्वे स्ववृत्तेर्भावत्वे च व्याघातात्। न द्वितीयः तस्यात्मनि वृत्तौ विरोधापत्तेः, अवृत्तावव्यापकत्वप्रसङ्गादिति प्रतिक्षेप्यविशिष्टमेव यत्प्रतिभाति सोभाव इति चेन्न, प्रतिक्षेपानिरुक्तौ प्रतिक्षेप्यानिरुक्तेः ॥ १० ॥

विषयीति। प्रमेयत्वाभिधेयत्वादिर्विषयी धर्मो भाव एवाभावेपि वर्तत इति यदि तदा स विषयी धर्मः क्वचिन्निर्वाच्यः स्यादित्यर्थः। अन्यदेवेति। तद्वद्विषयिधर्मवदेव किञ्चिद्भावरूपमभावलक्षणं स्यादित्यर्थः। तद्वद् अभाववत् षट्पदार्थातिरिक्तमन्यदेव लक्षणमभावस्येत्यर्थं इत्यन्ये। तद्वदभावस्येति। तद्वान् लक्षणवान् योऽभावस्तस्येत्यर्थः। लक्षणविशिष्टोप्यभावो यद्यभाव एव तदा तत्रापि तल्लक्षणं वाच्यमिति तदा स्वविशिष्टे स्ववृत्तावंशत आत्माश्रय इति भावः। भावत्वे इति। लक्षणविशिष्टोप्यभावो भाव इति वाक्यमेव व्याहतं नहि भावोऽभावो भवतीत्यर्थः। तस्येति। अभावस्य यल्लक्षणं तदभावात्मकमेव यदि तदा तत्रापि तल्लक्षणाङ्गीकारे स्ववृत्तित्वमनङ्गीकारे चाव्याप्तिरित्यर्थः। प्रतिक्षेप्येति। निषेध्यविशिष्ट एव भावो भासते, भवति हि घटाभावः पटाभाव इत्यादिप्रतीतिरिति शङ्कार्थः। प्रतिषेधप्रतियोगी हि प्रतिषेध्यः प्रतिषेध एवाद्यापि न निरूपित इत्यर्थः। यद्यपि सत्तात्यन्ताभावत्वमभावत्वं स चात्यन्ताभाव एक एवेति तदनुगतधर्मज्ञानं विनाप्याकाशा-

दिवद् ग्रहीतुं शक्यते एव सामान्यादौ च सत्तावत्त्वमेकार्थसमवायादिति न तत्रातिव्याप्तिः। न च सत्तात्यन्ताभावेऽव्याप्तिस्तत्रापि तद्बुद्धेः, नहि सत्तायामपि सत्ता तथापि सत्तैव नास्तीत्यभिप्रायः ॥ १० ॥

और जो कुछ अभाव का लक्षण किया जाता है, वह भाव है, अथवा अभाव है, उसमें प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता। क्योंकि भाव पदार्थ द्रव्यादि अभाव के आश्रित नहीं रहते। और लक्षण अभाव में रहता है, अतः यह लक्षण द्रव्यादि भाव के अन्तर्गत नहीं हो सकता। यदि कहें कि भाव अभाव के आश्रित नहीं रहे तो भी अभावाश्रित का व्यवहार हो सकता है, जैसे ज्ञान विषयाश्रित नहीं रहता है, तो भी (ज्ञातो घटः) इस प्रकार से घटाश्रितत्व का व्यवहार ज्ञान में होता है। अर्थात् संयोगादि संबन्ध से विषय में ज्ञान के नहीं रहते भी विषयता सम्बन्ध से रहता है, वैसे भावरूप लक्षण के स्वज्ञान रूप विषयी, प्रकाशक, में विषयिता सम्बन्ध से वर्तमान होने के कारण उस ज्ञान के विषय अभाव में भी उस भाव रूप लक्षण वत्ता का व्यवहार (कथन) हो सकता है, तो उसका उत्तर यह है कि उक्तरीति से यदि लक्षण विषयी (ज्ञान) के धर्म (ज्ञानाश्रित) होकर तथात्व (अभाव वर्तित्व) को प्राप्त होता है, तो वह ज्ञान के ज्ञानत्वादि कौन धर्म रूप होता है, यह निर्वाच्य होगा। अर्थात् विषयिता सम्बन्ध वृत्तित्व का नियामक नहीं है। और यदि वृत्तित्व का नियामक होगा तो ज्ञान वृत्ति ज्ञानत्वादि समान कोई धर्म होगा जिसका निर्वचन करना होगा। और ज्ञान द्वारा लक्षण को अभाव वृत्तित्व कैसे होगा। यदि कहें कि ज्ञान के ज्ञानत्वादि धर्म से अन्य ही उस ज्ञानत्वादि तुल्य ज्ञान का धर्म रूप अभाव का लक्षण है। तो जो कुछ वह लक्षण है, उस लक्षण वाले अभावों को अभावत्व है? या नहीं? अर्थात् लक्षण विशिष्ट में अभावत्व है? या नहीं? वहाँ लक्षण विशिष्ट में अभावत्व के रहने पर उसमें भी लक्षण को मानना होगा, तो स्ववृत्तिता (विशेषणांश में आत्माश्रयता) की प्राप्ति होगी, लक्षण के नहीं रहने पर वहाँ ही अव्याप्ति होगी। और यदि लक्षण विशिष्ट को भावत्व हो तो (व्याघात विरोध) होगा, अभाव ही लक्षण विशिष्ट अभाव है, यह कहना ही विरुद्ध है। अभाव का लक्षण अभाव रूप ही है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता। क्योंकि, उस लक्षण के स्वात्मवृत्तित्व होने पर तो आत्माश्रयता रूप विरोध की प्राप्ति होगी। यदि स्वात्मवृत्ति नहीं मानें तो उसी में लक्षण के अव्यापकत्व की प्राप्ति होगी। प्रतिक्षेप्य (निषेध्य) युक्त ही जो प्रतीत होता है। वह अभाव है, यह लक्षण भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिक्षेप (निषेध = अभाव) की निरुक्ति के बिना प्रतिक्षेप्य की अनिरुक्ति से उससे युक्त लक्षण नहीं कहा जा सकता है ॥ १० ॥

विशिष्टशब्दार्थश्च निर्वचनीयः स्यात्। तत्र विशिष्टं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा नाद्यः। दण्डपुरुषसंबन्धमन्तरेण दण्डिनोऽन्यस्याप्रतीतेः, दण्डिनमानयेत्युक्ते तदानयनप्रसङ्गाच्च। तत्सम्बन्धेनोपलक्षितत्वात्तथा इति चेन्न, अतद्वत उपलक्ष्यत्वेतिप्रसङ्गात्, तद्वतश्चान्यत्वात् सम्बन्धो हेतुः स च तदधिकरण एव इति चेन्न, संबन्धात्तदधिकरणसंबन्धान्यत्वापत्तेरिति नैष पन्थाः ॥ ११ ॥

विशिष्टखण्डनेन लक्षणमात्रमेव खण्डितं स्यादित्यभिप्रेत्य विशिष्टं खण्डयति—तत्रेति। अतिरिक्तं विशिष्टमनुपलब्धिबाधितमित्याह—दण्डेति। व्यवहाराविषयत्वादपि तन्नास्तीत्याह—दण्डिपुरुषसम्बन्धातिरिक्तं किमपि तत्र न व्यवह्रियत इति भावः। ननु दण्डपुरुषयोः सम्बन्धेन विशिष्टमुपलक्षितमतो विशिष्टे प्रतीतिव्यवहारौ भवन्तौ दण्डपुरुषावादायैव भवत इत्याह—तत्संबन्धेनेति। तद्विशिष्टं तथा व्यवहारविषयाविति भावः। विशेषणविशेष्याभ्यां विनाकृतं विशिष्टमुपलक्ष्यं ताभ्यां विशिष्टं वा? आद्यं दूषयति—अतद्वन इति, तद्विनाकृतस्योपलक्ष्यत्वे दण्डिनमानयेत्युक्ते कुण्डलिनमानयेत्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। अन्त्यं दूषयति—तद्वत इति। दण्डपुरुषविशिष्टं चेदुपलक्ष्यं तदा विशिष्टस्यान्यत्वेन दण्डपुरुषयोरानयनाभावप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्यर्थः। विशिष्टताघटकः सम्बन्धः स च विशेषणविशेष्योभयाश्रय इति विशिष्टे प्रतीतिव्यवहारौ विशेषणविशेष्ययोरपि भवतः इत्यर्थः। संबन्धादिति। केवलात्संबन्धात्तदधिकरणसंबन्धो विशिष्ट इति तस्याप्यन्यत्वापत्तिरित्यर्थः। तथाच संबन्धस्य केवलस्य विशेषणविशेष्ये आश्रयो न तु तदधिकरणस्य विशिष्टस्यापीति संबन्धोपि विशेषणविशेष्यगोचरव्यवहारं प्रति न तन्त्रमित्यर्थः। यद्वा संबन्ध इति। विशिष्टव्यवहारजनकस्य संबन्धस्य दण्डपुरुषावश्रयाविति तत्रापि व्यवहार इत्यर्थः। संबन्धादिति। केवलः संबन्धोपि न विशिष्टव्यवहारहेतुः, किन्तु तदधिकरणदण्डादिविशिष्टः स चान्य एवेति दण्डादौ नानयनाद्यन्वय इत्यर्थः। एष विशेषणविशेष्यादन्यद्विशिष्टमिति पन्था न भवतीत्यर्थः। तत्संबन्धिनीति। विशिष्टं यद्यप्यन्यत्तथापि विशेषणविशेष्यसंबन्ध्येव। तथा च विशिष्टे व्यवहारस्तदुभयगोचरः स्यादित्यर्थः॥ ११॥

उक्त प्रतिक्षेप्यविशिष्ट में विशिष्ट शब्दार्थ की निरुक्ति बिना भी उक्तलक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः विशिष्ट शब्द का अर्थ निर्वचनीय (वक्तव्य) होगा परन्तु वह अशक्य है। क्योंकि उक्त लक्षणादि गत विशिष्ट पदार्थ, विशेषण विशेष्य और उन का परस्परसम्बन्ध इन तीनों से भिन्न है या अभिन्न। यह विचारणीय है। यहाँ प्रथम पक्ष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि (दण्डी पुरुषः) ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष और संयोग सम्बन्ध के बिना (इन तीनों से भिन्न) अन्य विशिष्ट दण्डी की प्रतीति नहीं होती है। यदि भिन्न कोई विशिष्ट पदार्थ हो, तो उस की प्रतीति होनी चाहिये। और (दण्डिनमानय) ऐसा कहने पर उन तीनों से भिन्न जो कोई विशिष्ट दण्डी है, उस का आनयन प्राप्त होगा, दण्डी पुरुष का नहीं। अतः अन्य विशिष्ट नहीं है। यदि कहें कि विशिष्ट के अन्य होते भी दण्ड और पुरुष के सम्बन्ध से वह उपलक्षित होता है। अतः विशिष्ट विषयक प्रतीति और आनयनादि व्यवहार दण्ड और पुरुष विषयक भी होते हैं। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध से उपलक्ष्य विशिष्ट विशेषण विशेष्य से रहित, या विशेणविशेष्यवाला हो सकता है। वहाँ अतद्वान, विशेषण विशेष्य रहित के उपलक्ष्य होने पर, दण्डिनमानय, ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष से रहित किसी अनिर्वाच्य विशिष्ट का आनयन होगा। अर्थात् अन्य का आनयन रूप अतिव्याप्ति होगी। और यदि दण्डपुरुषवान् विशिष्ट उपलक्षित हो, तो फिर भी तद्वान (विशेषण विशेष्य वाला) विशिष्ट के प्रथम विशिष्ट तुल्य विशेषण विशेष्य से अन्य होने के कारण विशिष्टानयन की विधि से विशेषण विशेष्य का आनयन नहीं होगा, यह दोष पूर्वतुल्य है। यदि कहें कि विशेषण विशेष्य से रहित विशिष्ट के उपलक्षित

होते भी उन का सम्बन्ध उपलक्षण रूप हेतु है, तथा विशिष्टता का हेतु है और वह सम्बन्ध विशेषण विशेष्य के आश्रित रहता है, अतः विशेण विशेष्य उसका अधिकरण है। इससे विशिष्ट के प्रतीति व्यवहार में विशेषण विशेष्य के भी प्रतीतिव्यवहार होते हैं। ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध का विशेषण विशेष्य अधिकरण है, ऐसा कहने से विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध से उस सम्बन्ध का अपने अधिकरण के साथ सम्बन्ध में अन्यता की प्राप्ति होगी। अतः यह मार्ग युक्त नहीं है। अर्थात् इस प्रकार सम्बन्ध की अनवस्था होगी। वहाँ कौन सम्बन्ध विशिष्ट का उपलक्षण है इत्यादिर्निर्णय नहीं होगा। अतः विशेषणादि से अन्य विशिष्ट है। यह मार्ग नहीं है ॥ ११ ॥

तत्सम्बन्धिनि तद्व्यवहार इति चेन्न, तस्यापि विशिष्टत्वेनान्यत्वापत्तौ व्यवहारविषयगतविशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात्। एवं परम्पराकल्पनायामप्यनवस्थामात्रं न तु व्यवहार्य्यगतो विशेषः कश्चित्। द्वितीये तु प्रत्येकं दण्डिव्यवहारप्रसङ्गो विशेषाभावात् न ते प्रत्येकं दण्डिपदार्थाः किन्तु मिलिता इति चेत् इति किं ते च मेलकं चाभिधीयते उत तेभ्योन्य एव कश्चित्? आद्ये प्रत्येकं स एव प्रसङ्गः मेलकेप्यधिकः। द्वितीयस्तु प्रतीतिव्यवहारविरोधात्पूर्ववदेव निरस्तः ॥ १२ ॥

तस्यापीति। विशिष्टमात्रं न दण्डपुरुषसंबन्धि किं तु दण्डपुरुषीयत्वविशिष्टं तच्चान्यदेवेति नैतदपि व्यवहारनियामकमित्यर्थः। ननु पुरुषीयत्वविशिष्टमपि यद्विशिष्टं तदपि परम्परया पुरुषसंबंध्येवेति स्यादेव पुरुषे आनयनादिव्यवहार इत्यत आह—एवमिति। पुरुषीयत्वेनापि विशेषणेन विशिष्टमात्रं न विशिष्टं किंतु विशिष्टविशेषः, एवं तत्र तत्रापीत्यनवस्थेत्यर्थः। दण्डपुरुषसंबन्ध एव यदि विशिष्टं तदाह—द्वितीय इति। ते च मेलकं चेति सर्वेषां विशिष्टव्यवहारापत्तिरित्याह—आद्य इति। द्वितीयस्त्विवति। तेभ्योधिकं चेन्मेलकमित्यर्थः। पूर्ववदिति। विशिष्टस्य भिन्नत्वपक्षे यद्दूषणं तदिहापीत्यर्थः ॥ १२ ॥

यदि कहें कि यद्यपि विशिष्ट पदार्थ विशेषणादि से अन्य रहता है तथापि विशेषणादि का सम्बन्धी रहता है। अतः विशिष्ट का आनयनादि व्यवहार विशिष्ट सम्बन्धी विशेषणादि में भी होता है, तो पर कहना युक्त नहीं, क्योंकि दण्ड और पुरुष के सम्बन्ध से जो विशिष्ट पदार्थ सिद्ध होगा, उस विशिष्ट के साथ फिर जो दण्ड पुरुष का सम्बन्ध होगा, उस को भी विशिष्टत्व होने से, अर्थात् दण्ड विशिष्ट केवल पुरुष की अपेक्षा दण्ड पुरुष विशिष्ट विशिष्ट को पूर्वविशिष्ट तुल्य होने से, उससे अन्यत्व की प्राप्ति होने पर, व्यवहारविषयविशिष्ट गत विशेष कहना अशक्य है कि किस विशिष्ट व्यवहार का विषय विशेषणादि होंगे। और इस प्रकार विशिष्ट में विशिष्टान्तर की परम्परा की कल्पना में अनवस्था मात्र होगी, व्यवहार्य (व्यवहारविषय) दण्डपुरुषविशिष्ट गत कोई विशेष नहीं सिद्ध होगा। और विशेषणादि स्वरूप ही विशिष्ट रहता है। अन्य नहीं, इस दूसरे पक्ष में प्रत्येक दण्ड पुरुष और सम्बन्ध में दण्डी ऐसा व्यवहार (कथनादि) की प्राप्ति होगी, क्योंकि उन में कोई विशेष (भेद) नहीं है जिससे नियम किया जाय कि अमुक ही में विशिष्ट व्यवहार होना चाहिये। यदि कहें कि और कोई विशेष नहीं है। तो भी वे विशेषणादि प्रत्येक दण्डी पद के अर्थ नहीं हैं, किन्तु तीनों मिलित दण्डी

पद के अर्थ हैं, अतः प्रत्येक में दण्डी ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता, तो विचारणीय यह है कि मिलित शब्द से क्या अभिप्रेत है, क्या वे विशेषणादि आदि और मेलक क्रिया-समाहार कहा जाता है? या इन सब से अन्य ही कोई पदार्थ? यहाँ प्रथम पक्ष में पूर्वोक्त ही प्रत्येक में दण्डी व्यवहार की प्राप्तिरूप दोष है। और मेलक में भी दण्डी व्यवहार की प्राप्ति पूर्व से अधिक दोष है। और दूसरा पक्ष (अन्य-मिलित पदार्थ) तो प्रतीति और व्यवहार के विरोध से पूर्ववर्णित विशिष्ट के निरासतुल्य ही निरस्त है। क्योंकि, प्रतीतिव्यवहार विशेषणादि के ही होते हैं, अन्य मिलित के नहीं ॥ १२ ॥

एकज्ञानारूढो वाऽविरलनानाज्ञानारूढो वा अनेकश्च संबन्धश्च विशिष्टपदार्थ इति चेन्न, घटपटाविति बुद्धावारूढौ घटपटौ संबन्धश्च घटपटरूपो विशिष्टः स्यात्। घटत्वपटत्वतत्संबन्धानां तद्बुद्धावारूढानामभ्युपगमेन संबन्धस्यापि तद्बुद्ध्यारोहाभ्युपगमध्रौव्यात्। अन्यथा घटत्वविशिष्टरूपो घटः पटत्वविशिष्टरूपश्च पटः कथमभ्युपगन्तव्यस्तत्र नवघटपटावित्यपि विशिष्टमेव स्वतन्त्रयोर्घटपटयोः परस्परासम्बन्धद्वयोस्तत्र व्यवहरणात् न पुनर्यथा दण्डी पुरुषस्तथा घटी पटः पटी घट इति वा तत्र व्यवहारः ॥ १३ ॥

अविरलेति। भिन्नजातीयज्ञानान्तरितज्ञानधारारूढ इत्यर्थः। तथा चैकज्ञानविषयत्वावच्छिन्ना दण्डपुरुषसबन्धा एव विशिष्टपदार्थ इति न प्रत्येकं विशिष्टव्यवहारप्रसङ्गो न वा तदुभयगोचरव्यवहारानुपपत्तिरिति भावः। एवं च सति समूहालम्बनारूढौ घटपटौ द्वावप्येकं विशिष्टं स्यादित्याह—घटपटाविति। ननु घटपटाविति बुद्धेः संबन्धविषयता नास्तीत्यत आह—घटत्वेति। समूहालम्बनस्य घटत्वपटत्वसमवायविषयकत्वादित्यर्थः, अन्यथा विशिष्टप्रतीतिरेव न स्यादित्याह—अन्यथेति। ननु तदुभयं विशिष्टमेवास्त्वित्यत आह—अन्योऽन्योपरक्तभानाभावान्न तदुभयं विशिष्टमित्यर्थः ॥ १३ ॥

यदि कहें कि एक ज्ञान में आरुढ (विषय रूप से प्राप्त) अनेक पदार्थ और सम्बन्ध विशिष्ट पदार्थ हैं। या अविरल = निरन्तर नानाज्ञानारूढ सम्बन्ध और अनेक विषय विशिष्ट पद का अर्थ होता है। अतः प्रत्येक में विशिष्टत्व नहीं होगा, तो यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि इस प्रकार घटपटौ, इस समूहालम्बनरूप ज्ञान में आरूढ घट-पट और सम्बन्ध भी घटपटात्मक विशिष्ट रूप प्राप्त होंगे। क्योंकि, उस ज्ञान में आरूढ घटत्व-पटत्व और उनके सम्बन्ध को मानने से सम्बन्ध को भी उस बुद्धि में आरोहाभ्युपगम (विषयत्व-स्वीकार) अवश्य कर्तव्य है। अन्यथा, यदि सम्बन्ध को उस बुद्धि का विषय नहीं माना जाय तो घटत्वविशिष्टरूपवाला घट है, पटत्वविशिष्टरूप पट है, यह अर्थ उस ज्ञान में विषयरूप से कैसे स्वीकर्तव्य होगा? अर्थात् संसर्गविषयता के विना उस ज्ञान को निर्विकल्पकत्व की प्राप्ति होगी। अतः वह ज्ञान सम्बन्धविषयक भी अवश्य है। यदि कहें कि ऐसा होने पर घट-पट भी विशिष्ट ही हैं, अतः लक्षण के लक्ष्य हैं उनमें अतिव्याप्ति नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि परस्परविशेषण-विशेष्यादिभाव सम्बन्धरहित स्वतन्त्र घट-पट का वहाँ व्यवहार होता है। और जैसे

दण्डी पुरुषः, यहाँ पुरुषाश्रित दण्ड भासता है। वैसे, घटी पटः, घटवाला पट, या पटी घटः, पटवाला घट इस प्रकार समूहालम्बन के स्थान में व्यवहार नहीं होता है। अतः इस अविशिष्ट में उक्त रीति से विशिष्ट लक्षण की अतिव्याप्ति है ॥ १३ ॥

नचैकज्ञानारूढतैव तयोर्न मन्तव्या यतो घटपटाविति द्वित्वं तयोस्तद्द्वयानवगाहिता कथं विज्ञानेनावगाह्येतेति प्रत्यभिज्ञाप्रस्तावोक्तान् दोषानाहास्यामः। अत एवाविरलनानाज्ञानारूढतापि विशिष्टता निरवकाशा। अथाप्रकाशमानासंबंधोऽनेक एकबुद्ध्यारूढस्तथा नचैवं घटपटौ तत्कथमुक्तदोषापत्तिः इति चेन्न, अप्रकाशमानोऽसंबन्धो ययोरित्ययमर्थो विशकलित इति घटत्वपटत्वव्यक्त्यादिवैशिष्ट्यमपि भज्येताविशेषात्। अथ धर्मधर्मिसंबन्धाः स्वतन्त्रा एवैकबुद्ध्युपारूढास्तथा नच घटपटौ धर्मधर्मिरूपावित्यनतिप्रसङ्ग इति चेन्न, धर्मत्वस्यैकस्य दण्डादिगुणादिसाधारणस्य वक्तव्यत्वापातात् ॥ १४ ॥

नचेति। एकज्ञानाविषयत्वे द्वित्वमुभयगतं न प्रतीयेत यथा प्रत्यभिज्ञानस्य स्मृत्यनुभवरूपत्वे तत्ताविशिष्टेदन्ताविशिष्टयोरभेदेन केनापि ग्रहीतुं शक्यः स्यादिति भयेन द्वयोरेकज्ञानविषयत्वमङ्गीक्रियते तथेहापीत्यर्थः। अत एवेति। स्वतन्त्रयोर्विशिष्टत्वप्रसङ्गादेवेत्यर्थः। ननु घटपटौ कथं विशिष्टं स्याद्यतस्तयोरसम्बन्ध एव प्रकाशते दण्डपुरुषौ नतु तथेत्याशङ्कते—अथेति। असम्बधाविषयकैकज्ञानारूढयोर्विशिष्टत्वे घटपटयोः स्वस्वजातिवैशिष्ट्यमपि न स्यात्। यतो विशकलितयोर्घटपटयोः घटत्वपटत्वयोस्तस्मिञ्ज्ञानेऽसम्बन्धस्यैव प्रकाशमानत्वादिति परिहरति—अप्रकाशमानेति। ननु धर्मो धर्मी तदुभयसम्बन्धश्च विशिष्टपदार्थो घटपटौ न धर्मधर्मिभावापन्नाविति नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते—अथेति। धर्मत्वमेकमनुगतं नास्तीतिनिरूपकाप्रतीतौ लक्षणं दुर्ग्रहमित्याह—धर्मत्वस्येति ॥ १४ ॥

यदि कहें कि घटपटौ, यहाँ घट-पट को एकज्ञानारूढ नहीं मानना चाहिये, दोनोंविषयक भिन्न ज्ञान मानना चाहिये। परन्तु यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उन दोनों के अनवगाही (अग्राहक) विज्ञान से घटपटौ इस प्रकार से उन दोनों का द्वित्व (संख्या) कैसे अवगाहित (गृहीत) होगा, इसलिये प्रत्यभिज्ञाप्रकरण में उक्त दोषों का यहाँ सम्बन्ध करेंगे, अर्थात् एक ज्ञान के विषय दोनों के नहीं होने पर उभयगत द्वित्व की प्रतीति नहीं होगी, जैसे प्रत्यभिज्ञा के स्मृति और अनुभव दो ज्ञानस्वरूप होने पर तत्तायुक्त तथा इदन्तायुक्त के अभेद का ग्रहण किसी से नहीं हो सकेगा। अतः दोनों को एक ज्ञान का विषय माना जाता है। वैसे ही यहां एकज्ञानविषयत्व मन्तव्य है। अतएव = इस स्वतन्त्र घटपट की विशिष्टता की प्राप्ति से भी, अविरल नानाज्ञानरूढतारूप विशिष्टता अवकाश नहीं पा सकती है। जैसे दण्डी ज्ञान में दण्डपुरुष निरन्तर ज्ञान का विषय होता है। वैसे 'घटपटौ' में घटपट भी निरन्तर ज्ञान का विषय होता है। यदि कहें कि अप्रकाशमान असम्बन्ध वाले एकबुद्धि में आरूढ (एकज्ञान के विषय) अनेक पदार्थ विशिष्ट होते हैं, जैसे 'दण्डी' यहाँ दण्डपुरुष-सम्बन्ध हैं। इनका अप्रकाशमानसंबन्ध नहीं है, किन्तु सम्बन्ध ही प्रकाशमान है। और 'घटपटौ' में प्रकाशमान असम्बन्ध है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। परन्तु यह कहना युक्त नहीं,

जिनका असम्बन्ध अप्रकाशमान हो, इस प्रकार यह अर्थ विशकलित (विविक्त) होगा। अतः घट-पट के समान घटत्व-पटत्व और घटपट व्यक्ति में भी विशिष्टता नहीं होगी, क्योंकि घटपटौ इस ज्ञान में जैसे घटपट के असम्बन्ध प्रकाशमान है, द्वन्द्व समास में दोनों पृथक् रूप से प्रकाशित होते हैं, 'दण्डी' इस ज्ञान में जैसे दण्डपुरुषाश्रित प्रत्यय से प्रकाशित होता है, जैसे घट-पट में कोई किसी का आश्रित रूप से नहीं भासता है 'वैसे समास से घटत्व-पटत्व भी किसी के आश्रित नहीं भासता है। स्वभाव से घटत्वादि घटादि में रहते हैं। अतः इनका वैशिष्ट्य है। परन्तु विशकलित घट-पट में घटत्व-पटत्व के असम्बन्ध का ही प्रकाश होता है। तथा 'घटपटौ' इस ज्ञान में घटत्व-पटत्व के साथ व्यक्ति के सम्बन्धों की प्रतीति होने पर भी उन दोनों के परस्पर सम्बन्धों की अप्रतीति से अपनी जाति के साथ वैशिष्ट्य-प्रतीति भी नहीं होगी। यदि कहें कि स्वतन्त्र ही धर्म, धर्मी और सम्बन्ध एक बुद्धि में आरूढ होकर विशिष्ट होते हैं। और घट-पट धर्म-धर्मी स्वरूप नहीं हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। परन्तु यह लक्षण भी नहीं हो सकता, क्योंकि दण्डादि और गुणादि में साधारण (व्यापक) एकधर्मत्व के वक्तव्यत्व की प्राप्ति होगी ॥ १४ ॥

सोप्येष्टव्य इति चेत् इष्यतां परं तस्यापि वालुकावद्विशकलितस्योपगन्तव्यत्वेन धर्म्येव किं न धर्मः स्यात् तथा प्रतीत्यभावान्न स्यात्? इति चेन्न, त्वदुक्तैकप्रतीत्यारोहणस्याविशेषात्प्रतीतिरपि तथा किं न स्यात्? मास्तु धर्मत्वमनुगतं तत्तद्रूपादिपदार्थस्वरूपमेव तथा विचित्रं यत्तदेव धर्मिणा संबन्धेन च सममेकबुद्ध्युपारूढं विशिष्टं नान्यत्? इति चेन्न, तेषां स्वरूपाणां भेदेन नानाभूतेषु विशिष्टेष्वनुगता विशिष्टबुद्धिर्न स्यात् संबन्धमपि च तर्हि विलुम्प, एवं स्वभावादेव रूपादिकं तथाधिपमाधत्ताम् ॥१५॥

सोपीति। धर्मत्वलक्षण एको धर्मः प्रमेयत्वादिवदेष्टव्य इत्यर्थः। एवं सति धर्मत्वस्य केवलान्वयित्वेन क्वापि धर्मधर्मिभावस्य व्यवस्था न स्यात् अव्यवस्थितत्वमेव वालुकावद्विशकलितत्वं वैशिष्ट्यानिरुक्तया धर्मधर्मिभावस्य विशकलितत्वम् अव्यवस्थामेवाह—धर्म्येवेति। प्राधान्येन प्रतीयमानो धर्मिधर्मस्तूपसर्जनतया प्रतीयमान इति प्रतीतिकृत एव विशेष इत्याह—तथेति। तथाप्रतीतिरेवापद्यतामित्याह—त्वदुक्तेति। उभयोरेकप्रतीत्यारोहाविशेषादिति भावः। धर्मित्वं विशेषणत्वपर्यवसन्नं विशेषणत्वं च विशिष्टत्वनिर्वाह्यं चेत्तद्धर्मत्वमनुगतं मास्तु किंतु वस्तूनामेव रूपरसादीनामयं स्वभावविशेषो तद्घटादिना धर्मिणा समवायादिना च संबन्धेन सहैकबुद्ध्या विशिष्टं भवतीत्याशङ्कते—मास्त्विति। एवं तर्हि रूपादीनामेवम्भूतानामननुगतानामेव विशिष्टत्वे विशिष्टाकारानुगतप्रतीतिर्न स्यादिति परिहरति—तेषामिति। दोषान्तरमाह—संबन्धमिति विलुम्प तिरस्कुर्वित्यर्थः। यथा रूपादय एकबुद्ध्यारूढा विशिष्टव्यवहारभाजनं भवन्ति तथा समवायादिसंबन्धव्यवहारोपि तैरेवासम्बद्धैरस्तु कृतं सम्बन्धेनेत्यर्थः ॥ १५ ॥

यदि कहें कि दण्डादि गुणादि-वृत्तिधर्मत्वरूप एक धर्म प्रमेयत्वादि के समान मन्तव्य है, और उस धर्मत्व का अधिकरण दण्डादि धर्म है, तो मानिये, परन्तु विशिष्ट (धर्मत्वयुक्त) उस एकधर्मी की असिद्धि से धर्मत्व और धर्म विशकलित ही मानना होगा। क्योंकि प्रमेयत्व के समान धर्मत्व केवलाऽन्वयी (व्यापक) होने

पर कहीं विशेषरूप से धर्म-धर्मी की व्यवस्था नहीं होगी। सब पदार्थ धर्मत्व वाले होंगे। तो बालू तुल्य विशकलित को धर्मत्वरूप से मानने की अपेक्षा धर्मी ही क्यों न धर्म होगा ? यदि कहा जाय कि धर्मी की धर्मत्वरूप से प्रतीति नहीं होती है। अर्थात् प्रधानरूप से प्रतीति का विषय धर्मी होता है और गौण (उपसर्जन = अप्रधान) रूप से प्रतीति का विषय धर्म होता है। अप्रधान रूप से (धर्मत्वयुक्तरूप से) प्रतीति नहीं होने के कारण धर्मी धर्म नहीं हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विशिष्टव्यवहार-प्रतीति में आप से वर्णित एक प्रतीति में आरोहण के धर्म धर्मी-सम्बन्ध में अविशेष (तुल्य) होने से धर्मी में (धर्मत्वरूप से) प्रतीति भी क्यों नहीं होगी ? वह प्रतीति में भी सम्पादनीय है। दोनों एक प्रतीति के तुल्यरूप से विषय होते हैं, अतः दोनों में धर्म-धर्मीभाव कल्पनीय है। यदि कहें कि विशिष्ट व्यवहार से सिद्ध होनेवाले विशेषणत्वरूप अनुगत धर्मत्व नहीं हो, तो भी तत्तत् रूपादि पदार्थ का स्वरूप ही ऐसा विचित्र (धर्मी से विलक्षण) है जो वह धर्मी और सम्बन्ध के साथ एक ज्ञान में आरुढ (विषय) होकर विशिष्ट होता है। तत्त्वान्तर-विशिष्ट नहीं है। यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि उन रूपादिकों के स्वरूपों के भेद से नानास्वरूप विशिष्टों में अनुगत विशिष्टबुद्धि धर्मबुद्धि नहीं होगी। और रूपादि के विचित्र स्वभाव से ही यदि अनुगत धर्म का विलोप करते हैं, तो सम्बन्ध का भी विलोप करें। (उसे भी नहीं मानें) जैसे एक बुद्धि में आरुढ रूपादि अनुगत धर्म के बिना स्वभाव से विशिष्ट व्यवहारादि के हेतु होते हैं, वैसे ही समवायादि सम्बन्धों के बिना ही स्वभाव से सम्बन्धबुद्धि होगी। अपने स्वभाव से रूपादि-सम्बन्ध-ज्ञान को सिद्ध करेंगे इस प्रकार सम्बन्ध का कोई फल नहीं है ॥ १५ ॥

एवमपि किं न स्यादिति चेत्, तर्हि वराको धर्म्यपि विसृज्यतां यथा विना संबंधं विशिष्टबुद्धी रूपादिस्वभावसामर्थ्यात्समर्पिता तथा विना धर्मिणमप्यस्त्विति जितं जैनैः, स्यादप्येवं यदि शुक्ल इत्येतावन्मात्राद्येव प्रतीयेत किंतु शुक्लः शङ्ख इत्यादिना प्रत्ययेन सामानाधिकरण्योल्लेखिना धर्म्यप्यानीयत इति चेन्न, शङ्खत्वजातेरुपाधेर्वा रूपादेर्विरलताद्दगवस्थितस्य वा स्वरूपवैलक्षण्यमेव तत्पदेऽभिषिच्यतां येन विनाप्यधिकरणं सामानाधिकरण्यव्यवहारः स्यात्। किंच नैतावन्मात्रं बुद्धिमादाय तदर्थगतवैचित्र्यान्तरखण्डने बुद्धिरेव स्वकारणसामर्थ्यात्तथोत्थिता तत्तद्व्यवहारप्रसवित्री स्वीक्रियतां कृतमर्थव्यसनेन ॥ १६ ॥

भट्टमतं शङ्कते—एवमिति। सम्बन्धश्चेत्तिरस्कृतस्तथा धर्म्यपि तिरस्क्रियतामिति धर्ममात्रमतद्व्यावृत्तिरूपं विशिष्टज्ञाने भासत इति वादिभिर्बौद्धैर्जितमित्याह—तर्हीति। ननु गौरियमित्यादिप्रत्यये तथात्वेपि शुक्लः शङ्ख इत्यादिधीरस्तु धर्मिणमुल्लिखन्ती कथं तत्र प्रमाणं न स्यादित्याह—स्यादपीति। शङ्खत्वजातिरेव रूपेण सहैकज्ञाने भासमाना सामानाधिकरण्यव्यवहारं करोति यद्वा धर्मवैलक्षण्यमेव धर्मिपदेभिषिच्यतां किं धर्मिणेत्याह—शङ्खत्वेति। दूषणान्तरमाह—किञ्चेति। नैतावन्मात्रं न विशिष्टविलोपधर्मिविलोपमात्रं बुद्धिमादायापि तु सकलार्थविलोप एव बुद्धिमादायेत्यर्थः॥ १६॥

यदि कहें कि ऐसा भी क्यों न हो, अर्थात् सम्बन्ध भी लुप्त हो रूपादि के स्वभाव से ही सम्बन्ध का व्यवहार होगा, तो निरर्थक धर्मी भी त्यागा जाय। क्योंकि जैसे सम्बन्ध के बिना भी रूपादि के स्वभाव के सामर्थ्य से विशिष्टबुद्धि समर्पित (सिद्ध) होती है, वैसे धर्मी के बिना भी धर्म रूपादि के स्वभाव-सामर्थ्य से हो विशिष्ट बुद्धि हो। परन्तु ऐसा होने पर (अतद्व्यावृत्त) स्वभिन्न से भिन्न (अपोहरूप) धर्ममात्र ही विशिष्ट ज्ञान में भासता है धर्मी नहीं है, ऐसा मानने वाले बुद्धों की विजय हुई। यदि कहें कि इस प्रकार भी धर्मी को नहीं मान कर धर्ममात्र ही माना जाता जिससे शुक्ल इत्यादि से केवल धर्म ही प्रतीत होता, किन्तु शुक्लरूप वाला शंख है, इत्यादि गुण वाले धर्मी के, साथ समानाधिकरणत्व को प्रकाशने वाले ज्ञान से धर्मी भी आनीत (प्राप्त सिद्ध) होता है। तो, यह कहना युक्त नहीं। शंखत्व जाति या उपाधि या अविरल तादृग् (शंखस्वरूप) से अवस्थित रूपादि के स्वरूप-विलक्षणत्व को ही धर्मी के स्थान में अभिषिक्त करें जिससे अधिकरण (धर्मी) के बिना भी उक्त समानधिकरणत्व होगा। और अविरल नाना ज्ञानादि मान कर, विशेषणादि अतिरिक्त विशिष्ट को नहीं मानने पर, इतना ही (विशिष्ट-विलोप धर्मी-विलोप मात्र ही) दोष नहीं प्राप्त होगा, किन्तु बुद्धि का आदान (ग्रहण = तत्तत्पदार्थाकार स्वीकार) करके बाह्य सब पदार्थ का विलोप ही प्राप्त होगा। क्योंकि, तदर्थगत (बुद्धिविषयगत) विचित्रता के खण्डन करने पर, बुद्धि ही अपने कारण (पूर्वपूर्ववासना) के सामर्थ्य से तथा (तत्तदाकार से) उत्थित (उत्पन्न) होकर तत्तत् घट-पटादि-व्यवहार की जननी होती है, ऐसा मान लीजिये। अर्थ-स्वीकाररूप व्यसन का कोई फल नहीं है ॥ १६ ॥

तस्मात् 'प्रत्येतव्यस्य वैचित्र्यं प्रत्ययोल्लेखसाक्षिकम्। धियं निवेश्य लुम्पद्भ्यो भङ्गं साक्ष्येव यच्छति' यत्तु केनचिदभावस्य स्थाने तन्मात्रधीरभिषिक्ता तत्तस्य परमुचितं 'गुरुर्धियमभावस्य स्थाने स्थानेऽभिषिक्तवान्। प्रसिद्ध एव लोकेऽस्मिन् बुद्धबन्धुः प्रभाकरः' ॥ अपि च एकबुद्ध्यारूढोऽनेकश्च सम्बन्धश्च विशिष्टपदार्थ इति पक्षे योऽयमेवंरूपवैलक्षण्यभाग् विशिष्ट इति कथ्यते सोऽप्येवंविशिष्टो विशिष्टाद्वैलक्षण्येन बोध्यमानो ज्ञानमन्तर्भाव्यैव स्यादिति तत्र तत्रापि ज्ञानान्तरनिवेशनेऽनवस्था क्वचिदप्यनिवेशे तस्याभावादविशिष्टत्वं शेषस्यामूलमवैशिष्ट्यापातः ॥ १७ ॥

विशिष्टखण्डनं कक्षाक्रमेण प्रपञ्चमिथ्यात्वे पर्यवसन्नं तथा च तत्सत्त्ववादिनो भङ्ग एवेत्युपसंहरति—तस्मादिति। प्रत्येतव्यवैचित्र्ये तावत्ताद्रूप्येणोल्लेख एव साक्षी स चेदुल्लेखो बुद्धिवैचित्र्यमात्रेण समाहितस्तदा स एव साक्षी प्रपञ्चसत्यत्ववादिभ्यो भङ्गं प्रयच्छतीत्यर्थः। तावन्मात्रबुद्ध्यधीन एवाऽभावोल्लेख इति वादिनं प्रभाकरमुपहसति—गुरुरिति। अभावस्य स्थाने धियमभिषिक्तवान् गुरुस्तत्स्थाने समुचितं बुद्धबन्धुः प्रभाकर इति लोके प्रसिद्ध एव यतः बुद्धोऽप्यभावं पदार्थान्तरं नाङ्गीकरोति प्रभाकरोपि तथेति सिद्धान्तसाम्यादेवं बन्धुभाव इत्यर्थः। 'गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः' इत्यत्र तथा प्रसिद्धिरिति भावः। किंच विशिष्टस्य बुद्धिघटितं यल्लक्षणं तल्लक्षणविशिष्टेभ्यो विशिष्टं व्यावर्त्तनीयं ज्ञानान्तरमेतादृशं निवेश्य चेत्तदाऽनवस्था ज्ञानान्तरं चेत्क्वचिद्गत्वा नानुसरणीयं तदा तल्लक्षणविशिष्टं न भवेदिति मूलपर्यन्तं विशिष्टहानिरित्याह—अपि चेति ॥१७॥

दण्डादि के ज्ञान से विशिष्ट दण्डी का ज्ञान विलक्षण होता है, अतः उसका अपलाप अशक्य है। अतः प्रत्येतव्य (ज्ञातव्य) जो दण्डादि और दण्डी आदि हैं, उनकी विचित्रता बुद्धि (ज्ञान) रूप साक्षी (प्रमाण) से सिद्ध है। उस विचित्रता को बुद्धि में मानकर विशेषणादि से भिन्न-विशिष्ट के लोप (अभाव) को सिद्ध करने वालों के प्रति बुद्धिरूप साक्षी ही पराजयरूप भङ्ग प्राप्त करायेगी। और विशिष्ट के निषेधक्रम से विशेषण सम्बन्ध धर्मी सब के निषेध की प्राप्ति से प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि द्वारा न्याय के सिद्धान्त का भंग होगा। अभाव के स्थान में जो कोई तन्मात्र (प्रतियोगीरहित) की बुद्धि को ही अभिषिक्त करते (मानते) हैं, वह केवल उनको उचित है, अर्थात् भावान्तर अभाव है (घटाभाववाला भूतल है) यहाँ घटरहित भूतल का ज्ञान ही स्वविषयभूतलमात्रसहित घटाभाव है, यह मानना उचित नहीं है। भूतलमात्र घटाभाव हो तो (भूतले घटाभावः) इत्यादि प्रतीति नहीं होनी चाहिये, इत्यादि आशय से उपहास है कि प्रभाकर ने अभाव के स्थान में जो बुद्धि का अभिषेक (स्थापन) किया वह युक्त ही किया। क्योंकि, इस लोक में प्रसिद्ध है कि प्रभाकर बुद्ध के बन्धु हैं। अतः बुद्ध भी अभाव को पदार्थान्तर नहीं मानते हैं, तो प्रभाकर को नहीं मानना उचित है। कोश में अर्क नाम सूर्य का है। अर्कबन्धु नाम बुद्ध का है। प्रभाकर भी सूर्य का नाम है यदि प्रभाकर के बन्धु बुद्ध हुए, तो प्रभाकर भी बुद्ध के बन्धु हुए ही एकबुद्धि में आरूढ अनेक विशेषणादि और सम्बन्ध-विशिष्ट पदार्थ हैं, वस्त्वन्तर नहीं। इस पक्ष में जो भी इस प्रकार की विलक्षणतावाला विशिष्ट शब्द से कहा जाता है, वह भी इस विशिष्ट या अविशिष्ट से विलक्षण होने के कारण अविशिष्ट से विलक्षणरूप से प्रबोधित होता हुआ ज्ञान का अन्तर्भाव करके ही बोध्यमान होगा, क्योंकि बुद्धि घटित (युक्त) ही विशिष्ट का लक्षण है वहाँ अविशिष्ट से व्यावृत्ति विशिष्ट बोध के लिये ज्ञानान्तर की अपेक्षा होगी। इस प्रकार तत्तद्-विशिष्ट में ज्ञानान्तर के निवेश करने पर अनवस्था होगी। और कहीं ज्ञान के अनिवेश करने पर उस ज्ञान के अभाव से, अन्त में अविशिष्टत्व होने पर मूलपर्यन्त अवशेष को अविशिष्टता की प्राप्ति होगी॥ १७॥

तद्योग्यस्तथेति चेत्तर्हि योग्यतापि तद्विशेषणं वालुकादिवदलब्धातिप्रसक्तिकैवेत्युक्तमावर्तते। एवमेकमिति ज्ञानमित्यारूढमित्यादिद्वारैरपि द्रष्टव्यम्। तथाहि 'अविशिष्टाद्विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धीर्विशेत्। तद्बुद्धिधाराविश्रान्तिः स्याद्वा मूलाविशिष्टते'ति विशिष्टनिरासेन सर्वाणि लक्षणानि निरस्तानीति मन्तव्यं यथा गुणाश्रयो द्रव्यमित्यादि॥ १८॥

ततोऽग्रे ज्ञानान्तरयोग्यतामात्रघटितमेव विशिष्टं स्यादिति नानवस्था न वा मूलपर्यन्तं विशिष्टहानिः योग्यतायाः सर्वत्र सत्त्वादित्याशङ्कते—तदिति। तद्योग्यताया अपि वैशिष्ट्यं तत्र विशिष्टे ज्ञेयं चेत्तदा सैवानवस्था न ज्ञेयं चेत्तदा शेषासिद्ध्या सर्ववैशिष्ट्यासिद्धिरिति परिहरति—तर्हीति। वालुकावदिति। वैशिष्ट्यस्याव्याप्यसिद्धेरिति भावः। लक्षणवैशिष्ट्यद्वारकं दोषमभिधाय तदीयतद्विशेषणवैशिष्ट्यद्वारकमाह—एवमिति। अविशिष्टादिति। अविशिष्टात्पदार्थाद्विशिष्टस्य यद्वैशिष्ट्यं व्यावृत्तधीः

सा चेत्तादृशबुद्धिधाराधीना तदाऽनवस्था न चेत् शेषासिद्ध्या सर्वासिद्धिरित्यर्थः। विशिष्टखण्डनप्रयोजनमनुवदन्नेव खण्डनान्तरसङ्गतिमाह—विशिष्टेति ॥ १८ ॥

यदि कहें कि प्रथम दण्डादि का पुरुषादि के साथ विशिष्टता एकज्ञानारूढत्वरूप ज्ञान-घटितरूप से रहती है। परन्तु उस विशिष्ट में जो अन्य से भिन्नता आदिरूप विशिष्टता रहती है, वह ज्ञानघटित नहीं रहती। किन्तु वहाँ ज्ञानयोग्य ही विशिष्ट रहता है। अतः विलक्षणज्ञानविषयत्व के अभाव रहने पर भी अविशिष्ट विलक्षण ज्ञान-योग्यत्वमात्र से अनवस्था आदि नहीं होंगे तो, योग्यता भी विशिष्ट का विशेषण होगी, फिर उससे विशिष्ट के ज्ञान में अनवस्था होगी। ज्ञान नहीं मानने पर विशिष्टता की असिद्धि वालु-कातुल्य असंलग्ना योग्यता सर्वत्र सब को विशिष्ट बुद्धि करायेगी। इसी प्रकार एक-ज्ञानारूढ, इसमें एकम्, ज्ञानम्, आरूढम्, इत्यादि विशेषण द्वारा भी दूषण द्रष्टव्य है, अर्थात् एकत्वविशिष्टएकज्ञानत्वविशिष्ट ज्ञान तथा आरूढत्व-विशिष्ट आरूढ होता है। यहाँ विशिष्ट नहीं मानने से विशिष्ट को असिद्धि से व्यवहार की तथा उनसे युक्त लक्षण की सिद्धि नहीं होगी। उक्तार्थ का संग्रहरूप कथन है कि अविशिष्ट दण्डादि से विशिष्ट के वैशिष्ट्य (वैलक्षण्य) व्यावृत्त बुद्धि में यदि वैलक्षण्य-बुद्धि का प्रवेश होगा, तो उस बुद्धिधारा की अविश्रान्ति (अनवस्था) होगी। विशिष्ट का वैशिष्ट्य कहीं समाप्त नहीं होगा, या कहीं बुद्धिधारा की निवृत्ति से मूलपर्यन्त में अविशिष्टता की प्राप्ति होगी। इस विशिष्ट के खण्डन से केवल अभाव का खण्डन ही नहीं समझना चाहिये किन्तु इस खण्डन से सब लक्षण निरस्त मानना चाहिये। क्योंकि सब लक्षण लक्ष्यरूप पक्ष में वृत्तित्व पक्षधर्मताविशिष्ट हेतुरूप होता है। जैसे 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण है यहाँ द्रव्यवृत्तित्व-विशिष्ट गुण द्रव्य का लक्षण है ॥ १८ ॥

द्रव्य लक्षण विचार—

इतोपि गुणाश्रयो द्रव्यमित्यसङ्गतम्। तथाहि कथमेतल्लक्षणमवधारणीयं सङ्ख्यारूपगुणवत्तया रूपादेरपि प्रतीतेः। भ्रान्तिरसाविति चेत्पृथिव्यादौ कथमभ्रान्तिरिति वक्तव्यं तत्र बाधकाभावादिति चेत्तुल्यं गुणस्य गुणवत्तायां बाधकमस्माभिरवश्यं वक्तव्यम्। 'निर्गुणा गुणा' इति सिद्धान्तात् इति चेन्न, रूपादेर्गुणत्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्, सामान्यवानगुण इत्यादितल्लक्षणयोगात्तन्निश्चय इति सिद्धान्तात् इति चेन्न, अगुण इति लक्षणांशस्याद्याप्यसिद्धेः सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्विद्यमानत्वात् ॥ १९ ॥

इतोपीति। वैशिष्ट्यखण्डनरूपलक्षणानुपपत्तिसमुच्चयः। कथमिति। रूपादीनामपि गुणाश्रयत्वदर्शनाद् द्रव्यमात्रवृत्तितया कथमेतदवधारणीयमित्यर्थः॥ रूपादेरिति। गुणत्व-व्यवस्थापकानतिप्रसक्तधर्माभावादित्यर्थः। गुणाकारानुगतमतिश्च न सर्वसाधारणीति भावः। सामान्यवानिति। सामान्यवत्वे सत्यगुणत्वमेव व्यवस्थापकमित्यर्थः। कर्मण्यतिव्याप्तौ सत्यामेवाह—अगुण इति। अगुणत्ववत्वमसिद्धं संख्यादीनां गुणानां तत्र सत्त्वा-दित्यर्थः ॥ १९ ॥

उक्त वैशिष्ट्य लक्षण के खण्डन से तथा वक्ष्यमाण दोष से गुणाश्रय द्रव्य है, यह लक्षण असङ्गत है। क्योंकि, यह लक्षण अवधारणीय कैसे हो सकता है? अर्थात् किसी

प्रकार नहीं शब्दादि चौबीस गुण हैं शुक्ल, कृष्ण, हरित, रक्त, पीत, पांच, या कपिश चित्र सहित सात रूप हैं, मधुरादि छः रस हैं। इस प्रकार संख्यारूप गुण गुण में भी रहता है। क्योंकि संख्यावत्ता रूप से रूपादि गुणों की प्रतीति होती है। यदि कहें कि रूपादि में संख्या की प्रतीति भ्रान्ति है, जैसे जल में गन्ध की प्रतीति भ्रान्तिरूप होती है। तो, भ्रान्ति अभ्रान्तिपूर्वक होती है, अतः पृथिवी आदि में संख्या की प्रतीति अभ्रान्ति कैसे है यह कहना होगा, यदि बाधक ज्ञान के अभाव से पृथिवी आदि में संख्या-ज्ञान को अभ्रान्ति कहें तो गुण में भी बाधक का अभाव तुल्य है। यदि कहें कि गुण में गुणवत्ता-विषयक प्रत्यक्ष बाधक के नहीं रहते भी हमे अवश्य अनवस्था आदि बाधक कहना होगा, क्योंकि गुण में गुण फिर उसमें गुण इस प्रकार से अनवस्था होगी, दो, चार, छः आदि में संख्यान्तर की प्राप्ति होगी। यह बाधक हमें 'निर्गुणा गुणाः' इस सिद्धान्त से कहना होगा। यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि रूपादि का गुणत्व ही निश्चय करना अशक्य है, और गुणत्व के निश्चय के बिना उक्त व्यवस्था नहीं हो सकती है। यदि कहें कि (गुणरहित होता हुआ जातिवाला गुण है) इत्यादि लक्षण के सम्बन्ध से गुण का निश्चय होगा. तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'अगुणः' इस गुण के लक्षण-भाग की असिद्धि से यह लक्षण नहीं हो सकता है। और संख्यावत्ता की प्रतीति की विद्यमानता से अगुणवत्ता की असिद्धि होती है ॥ १९ ॥

भ्रान्तिरसौ इति चेन्न, परस्पराश्रयसङ्गात् सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्भ्रान्तित्वे गुणलक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च बाधेन भ्रान्तित्वव्यवस्थापनं नच हेत्वन्तराद्रूपादेर्गुणत्वसिद्धौ बाधकसिद्धिः दृष्टान्तस्यापि सङ्ख्यायोगिप्रत्ययाक्रान्तत्वेन प्रसक्तद्रव्यकोटिप्रवेशितया गुणत्वेनासिद्धेः सङ्ख्यायाः सङ्ख्यावत्त्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्निःसङ्ख्यत्वव्यवस्थितौ दृष्टान्तत्वं भविष्यति ? इति चेन्न, पृथक्त्वेनापि तस्याः सम्भावितद्रव्यकोटिप्रवेशत्वात्। एवं पृथक्त्वस्यापि सङ्ख्यावत्तयेति ॥ २० ॥

दोषान्तराभिधानाय पुनः शङ्कते—भ्रान्तिरिति। अन्योन्याश्रयमेव विशदयति—सङ्ख्येति। बाधेनेति। निर्गुणेषु गुणेषु सङ्ख्यादिप्रतीतिर्बाधितविषयेत्यर्थः। ननु रूपादयो गुणाः सामान्यवत्त्वे सत्यचलनात्मकत्वात् शब्दवदिति रूपादीनां गुणत्वं सेत्स्यति तथा च गुणवत्त्वप्रतीतेर्भ्रमत्वसिद्धिरिति नान्योन्याश्रय इत्यत आह—न चेति। शब्दस्यापि दृष्टान्तस्य सङ्ख्यारूपगुणवत्त्वेन द्रव्यत्वसिद्धावगुणत्ववत्त्वासिद्धेरित्यर्थः। न तु सङ्ख्यैवात्र दृष्टान्तोऽस्तु नहि सङ्ख्यापि सङ्ख्यावती येन तस्या अपि द्रव्यत्वं भवेदित्याह—सङ्ख्याया इति। सङ्ख्यायामनवस्थाभयात्सङ्ख्या मा वर्त्तिष्ट पृथक्त्वं तु तत्र वर्त्तत एव तावता तस्यामपि द्रव्यत्वापत्तौ न दृष्टान्तत्वमित्याह—नेति। तर्हि पृथक्त्वमस्तु दृष्टान्त इत्यत आह—एवमिति ॥ २० ॥

वह संख्यावत्त्वरूप से रूपादि गुण की प्रतीति भ्रान्ति है (यह पूर्वोक्त शंका का पुनः कथन दोषान्तर-कथन के लिये है) दोषान्तर है कि इस प्रतीति को भ्रान्ति-मानो, तो अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी, अतः यह भ्रान्ति नहीं है क्योंकि, रूपादि में संख्यावत्ता प्रतीति के भ्रान्तित्व की सिद्धि होने पर गुण के लक्षण की सिद्धि होगी और गुण-लक्षण की सिद्धि होने पर बाध से संख्या-प्रतीति में भ्रमत्व की सिद्धि होगी, यह अन्योन्याश्रय है।

यदि कहें कि 'रूपादयो गुणाः, सामान्यवत्त्वे सति अचलनात्मकत्वात् शब्दवत्'—रूपादि गुण हैं, क्योंकि जातिवाले होने पर भी क्रियात्मक नहीं हैं, जैसे शब्द, इस प्रकार अन्य हेतु से रूपादि के गुणत्व की सिद्धि होने पर संख्या के बाधक की सिद्धि होगी। गुणवत्त्व प्रतीति में भ्रमत्व सिद्ध हो जाने से अन्योन्याश्रय नहीं होगा परन्तु यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि शब्दादि दृष्टान्त के भी संख्यायुक्त ज्ञान से आक्रान्त (गृहीत) होने के कारण प्रसक्त (प्राप्त) द्रव्यकोटि-प्रवेशिता से (द्रव्य के अन्तर्गतत्व से) उसको गुण रूप से सिद्ध (दृष्टान्त) नहीं किया जा सकता अतः उक्त अनुमिति नहीं हो सकती। यदि कहें कि अन्यगुण में संख्यावत्त्व की प्रतीति होने पर भी संख्या में संख्यावत्त्व की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि संख्या में संख्यावत्त्व होने पर अनवस्था होगी अतः अनवस्था के भय से संख्या के निःसंख्यत्व (संख्यागुणरहितत्व) व्यवस्थित होने पर उक्त अनुमान होगा वहाँ संख्या दृष्टान्त होगी यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि, संख्या में संख्या के नहीं रहने पर भी पृथक्त्व गुण के उसमें रहने से उस पृथक्त्व से ही संख्या के संभावित-द्रव्यकोटि में प्रवेशवाली होने से अर्थात् उसकी द्रव्यकोटि में प्रवेश की सम्भावना होने से वह दृष्टान्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार पृथक्त्व में संख्या के रहने से वह भी दृष्टान्त नहीं हो सकता अतः अनुमान से रूपादि में गुणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ २० ॥

जातीतरानाश्रयोऽकर्मरूपो गुण इत्यपि न, जातिव्यापनात् जातिमात्राश्रय इत्यर्थ इति चेन्न, अभावाश्रयतया सर्वाव्यापनात् जातिमात्रभावाश्रय इति चेन्न, उपाधीनामपि तदाश्रितत्वात् नोपाधीनामाश्रयो रूपादिः किन्तु कथमपि संबन्धी तावतैवानुमानादिप्रवृत्तिः इति चेन्न, उपाधिसंबन्धं प्रत्यप्याश्रयत्वस्य मन्तव्यत्वात्। अन्यथा यदि किञ्चिद्रूपमत्र नेष्यते तदा सामान्यविशेषानुमानं तत्र न स्यात्। व्यधिकरणयोर्गम्यगमकभावानभ्युपगमात्। तस्माद्यदेतदेव लक्षणं तत्तावन्न जातिरूपं तदिदं यदि रूपादौ नास्ति तदानीमस्ति यद्यस्ति तदा नास्तीति चित्रेण लगेत्युक्ते न लगति मा लगेत्युक्ते लगतीति प्रवह्लिकामनुकरोति ॥ २१ ॥

जातिव्यापनादिति। जातावपि जातिभिन्नधर्मानाश्रयत्वमकर्मत्वं चेत्यर्थः। जातिमात्रेति। जातिश्च न तथेत्यर्थः। एवं च सत्यसम्भव एव रूपादीनामपि रसत्वाद्यभावाश्रयत्वादित्याह—अभावेति। उपाधीनामिति। प्रमेयत्वाभिधेयत्वादीनामित्यर्थः। उपाधयो न रूपादौ समवयन्तीति न तदाश्रय इत्यर्थः। तर्हि रूपादिकं प्रमेयमभिधेयत्वादित्यादि कथं सदनुमानं स्यादपक्षधर्मत्वादित्यत आह—किन्त्विति। उपाधीति। तथा च जातिमात्रभावाश्रयत्वमसम्भवीत्यर्थः। अन्यथेति। चक्षुर्मात्रबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वादिना रूपत्वादिकमपि नानुमीयेत समानाधिकरणयोरेव साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावाभ्युपगमादित्यर्थः। यदि जातिमात्रभावाश्रयत्वं लक्षणं तत्र रूपादौ न स्वीकर्त्तव्यं तदा जातिमात्रभावाश्रयत्वं लक्षणं भविष्यति अन्यथा लक्षणरूपोपाधिसत्त्वादेव तल्लक्षणं दुष्टं भवेदित्यर्थः। प्रवह्लिका प्रहेलिका ॥ २१ ॥

जाति से भिन्न का अनाश्रय कर्म भिन्न गुण है। यह लक्षण भी नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी जाति में अतिव्याप्ति होगी। जातीतरानाश्रय का जातिमात्र का आश्रय

अर्थ है अतः जातिमात्र का आश्रय कर्मभिन्नत्व लक्षण होने से जाति में अतिव्याप्ति नहीं होगी, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि द्रव्यत्वादि के अभाव को आश्रयता से सब गुणों में लक्षण का अभावरूप असम्भव होगा। यदि कहें कि जातिमात्रभाव का आश्रय कर्म भिन्न गुण है, तो अभाव का आश्रय होते हुए भी दोष न होगा, तो भी उक्त दोष है ही, क्योंकि जातिभिन्न प्रमेयत्व वाच्यत्वादि उपाधियों का आश्रय सब गुण हैं। यदि कहें कि रूपादि गुण उपाधियों के आश्रय नहीं हैं, किन्तु किसी प्रकार सम्बन्धी हैं, और सम्बन्धी होने मात्र से ही 'रूपादिकं प्रमेयमभिधेयत्वात्'—वाच्य होने से रूपादि प्रमेय हैं, इत्यादि अनुमानादि की प्रवृत्ति होती है, तो यह व्यवस्था भी युक्त नहीं, क्योंकि उपाधि के किसी प्रकार भी सम्बन्ध होने पर उस उपाधि-सम्बन्ध के प्रति आश्रयत्व मानना ही होगा, उससे भाव जातिमात्राश्रयत्व नहीं रहेगा। यदि कुछ भी भावरूप गुण धर्मरूपादि में नहीं माने जायँ, तो रूपादि में विशेषगुणत्व और संख्या आदि में सामान्य-गुणत्वादि का अनुमान नहीं होगा। अर्थात् चक्षुर्मात्रबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वादि-मात्र से जो जो रूपादि का विशेषरूप से अनुमान होता है, वह नहीं होगा, क्योंकि व्यधिकरण (भिन्नाधिकरणवृत्ति) हेतुसाध्य में गम्य-गमक (बोध्य-बोधक) भाव नहीं माना जाता है। अतः यह जो लक्षण ही है, वह जातिरूप नहीं है, और लक्षण-स्वरूप जाति से इतर जब रूपादि में नहीं है, तब तो मानो लक्षण रूपादि में है। अर्थात् जाति से भिन्न कोई भाव उपाधि आदि नहीं है, यदि रूपादि में उपाधिरूप लक्षण है, तो उस समय जाति से इतर की वर्तमानता से लक्षण संघटित-समन्वित नहीं होता है, इस चित्र (आकार) से यह लक्षण, अमुक कार्य में लगे ऐसा कहने पर नहीं लगे, और नहीं लगे ऐसा कहने पर लगे, इस प्रकार की जो बालकों की प्रवह्लिका (प्रहेलिका-पहेली) क्रीडा, उसका अनुकरण करता है ॥ २१ ॥

अपि च गुणाश्रयो द्रव्यमित्यत्र कर्त्राश्रयार्थः समवाय इति चेन्न, गुणत्वादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्गाद् गुणावच्छिन्नस्य समवायस्य गुणत्वेपि विश्रान्तत्वात्। गुणः समवेतो यत्र स गुणसमवायीति विवक्षितम् इति चेन्न, यत्रेत्यस्याधिकरणार्थस्याद्याप्यनिरूपणेन तेनैव तद्व्याकारानुपपत्तेः इहेति-प्रत्ययहेतुराधार इति चेन्न, इह शङ्खे पीतिमेति प्रत्ययाच्छङ्खस्य पीति-माधिकरणत्वप्रसङ्गात् भ्रान्तिरसौ यथार्थश्च प्रत्ययोत्र विवक्षित इति चेन्न, तदर्थासत्त्वनिरूपणव्यतिरेकेण तदप्रमाणत्वस्य बोद्धुमशक्यत्वात् नचाद्यापीहेतिप्रत्ययस्यार्थः प्रतीतो यत्प्रतियोगिकमसत्त्वं तत्र निरूप्यते पीतत्वं प्रतियोगि तच्च कचित्सिद्धम् इवेति चेन्न, तस्य प्रमितत्वादेवासत्त्वानुपपत्तेः। तस्य तत्राप्रमितत्वम् इति चेन्न तत्रेत्याधारत्वानिरूपणादिति ॥२२॥

गुणत्वादेरिति। गुणनिरूपितः समवायो यथा द्रव्ये तथा गुणत्वजातावपीत्यर्थः। गुण इति गुणत्वे च न गुणः समवेत इति न तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। कुत्र गुणः समवेत इति नाद्यापि सिद्धमित्याह—यत्रेति। यद्वा गुणाधिकरणत्वं द्रव्यत्वमित्यनेनोक्तं स्यात्तथाचाधिकरणमेव दुर्वचमित्याह—यत्रेति। भ्रान्तिरिति। इहेतिप्रमाहेतुराधार इति लक्षणं विवक्षितमित्यर्थः। विषयबाधगम्यं भ्रमत्वं विषयबाधश्च न व्यवस्थित इत्याह। नेति। शङ्खे पीतिमेत्यत्र पीतिमा विषयस्तद्बाधश्च तदसत्त्वं तथा चाऽस्याः प्रतीतेर्भ्रमत्वमेवेत्याह—

पीतत्वमिति । पीतत्वं प्रमितं चेत्तदा तदसत्त्वं सामान्यतो वक्तुं न शक्यत इत्याह—नेति । यद्यपि सामान्यतस्तदसत्त्वं नास्ति तथापि शङ्खेऽधिकरणेऽस्त्येवेत्याह—तत्रेति । तत्रेत्याधारत्वमेवोच्यते तच्च दुर्वचमेवेत्याह—नेति ॥ २२ ॥

गुणाश्रयद्रव्य होता है, इस लक्षणगत गुण का निर्वचन हुआ नहीं, फिर भी इसमें आश्रय शब्द का क्या अर्थ है यह विचारणीय है। यदि समवायी (गुण का समवायवाला) अर्थ हो, तो गुणत्वादि को भी द्रव्यत्व प्राप्त होगा, क्योंकि सम्बन्ध द्वयाश्रित होता है। अतः गुणवच्छिन्न (गुण का) समवाय को गुणत्व में भी विश्रान्तत्व (वर्तमानत्व) है। यदि कहें कि गुण जिस में समवेत (समवायसम्बन्ध से रहता) हो, वह गुणसमवायी द्रव्य है, गुणत्व में गुण समवेत नहीं होता, किन्तु गुणत्व ही गुण में समवेत है। गुणत्व सम्बन्ध का गुण अनुयोगी है, प्रतियोगी नहीं। और यहाँ प्रतियोगी विवक्षित है तो, यह कहना अयुक्त है, क्योंकि जहाँ, जिसमें, इस शब्द के अधिकरणरूप अर्थ के अभी निरूपित सिद्ध नहीं होने से उस असिद्धार्थक शब्द से ही असिद्धार्थ का व्याख्यान अयुक्त है। यदि कहें कि यहाँ = इसमें, ऐसा ज्ञान का हेतु (विषय) आधार (आश्रय) होता है। तो इस शंख में पीतिमा (पीतरूप) है, ऐसा प्रत्यक्ष होने से शंख भी पीतिमा का अधिकरण होगा। यदि कहें कि वह तो भ्रान्ति है, यहाँ अधिकरण के लक्षण में यथार्थज्ञान विवक्षित है, जैसे—इह घटे रूपम् इत्यादि। तो, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इह शंखे पीतिमा इस ज्ञान के अर्थ = विषय (शंखाधिकरणक पीतिमा) के असत्त्व निरूपण के बिना उस ज्ञान के अप्रमाणत्व को समझना (जानना) अशक्य है, और शंखाधिकरणक पीतिमा के असत्त्व का निरूपण अधिकरण और पीतिमा के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि अभावज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है, और यहाँ अभी भी, 'इह' इस ज्ञान का अर्थ (विषय) प्रतीत नहीं हुआ है जिस प्रतियोगी वाले असत्त्व (अभाव) का-इह शंखे पीतिमा-इस ज्ञान में निरूपण किया जाता है। यदि कहें कि अधिकरण की प्रतीति नहीं हो किन्तु जिस पीतिमा के शंख में अभाव से वह ज्ञान भ्रमरूप होता है, उस पीतिमा की प्रतीति तो कहीं पुष्पादि में होती है। अतः अभाव का प्रतियोगी पीतत्व है, वह कहीं सिद्ध है, तो यह कहना युक्त नहीं है। उस पीतिमा के वहाँ प्रमितत्व होने से उसके असत्त्व की अनुपपत्ति है, यदि कहें कि पुष्पादि में पीतिमा के प्रमितत्व होते भी उस शंख में अप्रमितत्व है, तो यह कहना युक्त नहीं, 'तत्र' इस शब्द के अर्थ आधारत्व के निरूपण के बिना शंखाधारानुयोगिक पीतप्रतियोगिक अभाव का ज्ञान केवल पीतिमा के ज्ञान से नहीं हो सकता और न उक्त ज्ञान भ्रम सिद्ध हो सकता है ॥ २२ ॥

एतेन समवायिकारणं द्रव्यमित्यपि लक्षणं निरस्तं कथं निर्णेतव्यमिदं समवायिकारणमिदं नेति रूपादौ घटादौ च सङ्ख्यासमवायिकारणत्वयुक्तेस्तुल्यत्वात्सङ्ख्यैव तु रूपादौ नास्तीति चेद् घटादौ कथमस्ति प्रत्ययस्योभयत्र तुल्यत्वादित्युक्तमनुषञ्जनीयं द्रव्य एव सङ्ख्यास्वीकारे तत्संबन्धाद् गुणेपि तद्व्यवहारोपपत्तौ कल्पनालाघवाद् गुणे सङ्ख्याद्यस्वीकार

इति चेन्न, विपरीतमेव कुतो न स्यात् सत्तासामान्याद्यपि च गुणादौ किमर्थमङ्गीक्रियते। द्रव्यद्वारैव तत्र तद्व्यवहारोपपत्तेः ॥ २३ ॥

एतेनेति। रूपादावतिव्यापकत्वेनेत्यर्थः। रूपादीनामपि समवायिकारणत्वादिति भावः। एतदेवाह—कथमिति। रूपादौ सङ्ख्यैकार्थसमवायाधीनः सङ्ख्याप्रत्ययो नतु समवायाधीन इत्याह—द्रव्य एवेति। रूपादिसमवेतयैव संख्यया परम्परासंबन्धेन द्रव्येपि सङ्ख्याप्रत्ययः स्यादित्याह—विपरीतमिति। सद्बुद्धिरपि सत्तैकार्थ-समवायादिना स्यादिति रूपादौ सत्तापि नाङ्गीक्रियतामित्याह—सत्तेति ॥ २३ ॥

उक्त आश्रय के अनिरूपण से तथा रूपादि में अतिव्यापकत्व से द्रव्य, गुण एवं कर्म का समवायि कारण द्रव्य है। यह लक्षण भी प्रत्युक्त हो गया। क्यों कि कैसे यह निर्णय किया जा सकता है कि ये पृथिवी आदि समवायि कारण हैं, रूपादि नहीं। रूपादि में और घटादि में संख्या के समवायिकारणत्व की प्रतीतिरूप युक्ति तुल्य है। यदि कहें कि रूपादि में तो संख्या ही नहीं है तो उसके कारणत्व रूपादि को कैसे होगा। तो घटादि में कैसे है यह कहना होगा। यदि प्रतीति से घटादि में संख्या मानें, तो-एको घटः-इत्यादि के समान-एकं रूपम्-इत्यादि प्रतीति दोनों में तुल्य है, इत्यादि पूर्वोक्त का यहाँ सम्बन्ध समझना चाहिए। यदि कहें कि द्रव्य में ही संख्या को समवाय सम्बन्ध से स्वीकार करने पर स्वसमवायि-समवाय सम्बन्ध या सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से उस संख्या के साथ गुण का सम्बन्ध से गुण में भी संख्या के व्यवहार की सिद्धि होने पर कल्पना की लघुता के कारण गुण में संख्या आदि का अस्वीकार है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर विपरीत ही क्यों न हो? रूपादि में समवेत ही संख्या परम्परा सम्बन्ध से द्रव्य में व्यवहृत होती है, ऐसा क्यों न माना जाय? और कल्पना-लाघव से गुण में संख्या नहीं मानी जाय तो, सत्ता सामान्य आदि (समवाय) को भी गुणादि में क्यों माना जाता है? द्रव्य द्वारा ही उन का भी उन गुणादि में व्यवहार सिद्ध होगा और जब सत्ता आदि को गुण में मानते हैं, तो प्रतीति के अनुसार संख्या को मानने पर उक्त लक्षण नहीं सिद्ध होगा ॥ २३ ॥

॥ इति द्रव्यगुणविचारः ॥

ननु सामान्यार्थ एव कः? तथाहि अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यमित्यलक्षणं सामग्र्या सर्वकार्योत्पत्तेस्तया तदेकदेशान्तरैश्च व्यभिचारात्। असाधारणविशेषणात् अनन्यजातीयप्रयोजकत्वं च तत्। इति चेन्न, स्वसामग्र्यामपि प्रसङ्गतादवस्थ्यात्। भेदप्रतिपत्त्यादावपि प्रयोजकत्वाच्च। एतत्प्रतिपत्तिप्रमाणकत्वम् इति चेन्न, स्वसामग्र्यामप्यस्याः प्रमाणत्वात् एतदेकप्रमाणकत्वम् इति चेन्न, अर्थक्रियाभेदादेरपि तत्र प्रमाणत्वात्। एतत्प्रतिपत्तिप्रमापकत्वम् इति चेन्न, तद्विशिष्टस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात् ॥ २४ ॥

सामान्यार्थ इति। सामान्यशब्दार्थ इत्यर्थः। सामान्यरूपो वार्थ इत्यर्थः। अनुवृत्तप्रत्ययो भिन्नेष्वेकाकारप्रत्ययः सामग्र्येति तत्कारणत्वसाधनावष्टम्भेनोक्तं—तयेति। सामग्र्येत्यर्थः। अनुवृत्तप्रत्ययासाधारणकारणं सामान्यमिति लक्षणं शङ्कते—असाधारणेति।

असाधारणत्वेन विशेषणात्। तदिति। तल्लक्षणमित्यर्थः। एतदेव विवृणोति—अनन्येति। आत्ममनस्तत्संयोगप्रभृतीनामन्यजातीयमपि कार्यं प्रति प्रयोजकत्वं सामान्यस्य त्वनुवृत्त-प्रत्ययमात्रं प्रतीत्यर्थः। स्वसामग्रयामिति। असाधारणत्वादित्यर्थः। अनन्यजातीयप्रयोज-कत्वस्य सामान्येप्यसंभव इत्याह—भेदेति। सामान्ये हि वैधर्म्यं तच्च भेदप्रत्ययमपि प्रति कारणमेवेत्यर्थः। एतदिति। अनुवृत्तप्रतिपत्तिः प्रमाणं यस्य तत्सामान्यमित्यर्थः। अनु-गतमतिः स्वसामग्रयामपि प्रमाणमिति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। एतदेकेति। सामग्रया-मन्यदपि प्रमाणमिति भावः। अर्थक्रियेति। कार्यभेदस्यानाकस्मिकत्वादपि कारणगतनियत-जातिभेदकल्पनमित्यर्थः। एतत्प्रतिपत्तीति। अनुवृत्तप्रत्यय एव प्रमा यत्रेत्यर्थः। तद्वि-शिष्टेति। सामान्यविशिष्टव्यक्तावपि तदेकप्रमाकत्वमिति तत्रातिव्याप्तिरिति भावः। जाति-वैशिष्ट्यांशे च तदेकं प्रमाकत्वमावश्यकमिति भावः॥ २४॥

सत्ता सामान्यादि के प्रसङ्ग से अब सामान्य का विचार किया जाता है सामान्य शब्द का निश्चित अर्थ क्या है? अर्थात् अनिर्वाच्य है। क्योंकि—अनुवृत्त (अनेक व्यक्ति में एकाकार) ज्ञान का कारण सामान्य है, यह लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि कारण-सामग्री से सब कार्य की उत्पत्ति होने से अनुवृत्त ज्ञानरूप कार्य भी सामान्य-मात्र विषय से नहीं होता है किन्तु मन-बुद्धि-इन्द्रिय-देश-कालादि सामान्य विशेष कारण के समूहरूप सामग्री से होता है। अतः इस लक्षण का उस सामग्री और उस सामग्री का एकदेश नेत्रादि द्वारा व्यभिचार सिद्ध होता है अर्थात् उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि अनुवृत्त प्रत्यय (ज्ञान) के ये सब कारण हैं। यदि कहें कि असाधारण विशेषण देने से अनुवृत्त प्रत्ययासाधारणकारणत्व वह लक्षण है जिसको अनन्यजातीयप्रयोजकत्व (अन्यजातीयप्रयोजकत्वाभाव = अनुवृत्तप्रत्ययमात्रजनकत्व) रूप होने से आत्ममनःसंयोगादिरूप सामग्री में या उसके एकदेश में अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि तत्तत् कार्य की सामग्री भी असाधारण कारण होती है। असाधारण विशेषण से उसका वारण नहीं होगा, असाधारणता से अपनी सामग्री में अतिव्याप्ति पूर्वतुल्य रहेगी। और सामान्य के विरोधी धर्मरूप होने से भेदज्ञानादि में भी हेतु होने से (अयं महिषादिर्नास्ति गोत्वात्) ऐसी अनुमितिजनक होने से भी, उसमें अनुवृत्त प्रत्ययमात्र के असाधारण कारण रूप लक्षण का असम्भव होगा। यदि कहें कि यह अनुवृत्त प्रतिपत्ति जिसमें प्रमाण हो, अनुवृत्त = ज्ञान से जो जाना जाय वह सामान्य है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, अनुवृत्त = अनुगत का ज्ञान स्वविषय और स्वसामग्री में प्रमाण होता है। क्योंकि, यह प्रतिपत्ति जैसे अपने विषय के सत्त्व का बोधक होती है, वैसे अपने सामग्री का अनुमापक होती है। अतः उसमें प्रमाण होने से अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि यह अनुवृत्त प्रतिपत्ति ही जिसमें एक प्रमाण हो, वह एक प्रतिपत्तिरूप प्रमाणवाला सामान्य होता है, और उसकी सामग्री तो अन्य प्रमाण भी है, क्योंकि नाना कारण का संमेलनरूप सामग्री है, वह एक प्रमाण से ज्ञेय नहीं है, ज्ञान-सामग्रीगत नेत्रादि सूक्ष्मेन्द्रियाँ रूपादि के ज्ञान से अनुमेय हैं, सामग्रीगत आलोक (प्रकाशादि) प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेय हैं, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। यह भी कहना युक्त नहीं? क्योंकि एक अनुवृत्त प्रतिपत्ति मात्र ही सामान्य में भी प्रमाण नहीं है, किन्तु कार्यभेद के निर्हेतुकत्व की असिद्धि से भी कारणतावच्छेदकरूप से

जाति की सिद्धि (अनुमिति) होती है तत्तत् अर्थसाधक क्रिया स्वभावादि से मनुष्यादिगत जातिभेद को कल्पना होती है। अतः वह क्रियाभेद भी उसमें प्रमाण होता है यह अनुवृत्त बुद्धि जिसकी प्रमा (यथार्थज्ञान) हो, वह सामान्य है, यह लक्षण भी सामान्य-विशिष्ट में अतिव्याप्त होने से अयुक्त है, क्योंकि केवल सामान्य का ज्ञान नहीं होता जातिविशिष्ट का ज्ञानरूप सामान्य का ज्ञान होता है—ब्राह्मणोऽयमित्यादि ॥२४॥

तदवच्छिन्नप्रमांशप्रमाकत्वम् इति चेन्न, तदसिद्ध्यैवासिद्धेः। इयं प्रतीतिर्येन विना नोपपद्यते तत्सामान्यम् इति चेन्न, कारणान्तराणामपि तथात्वादिति अनुवृत्तं सामान्यमित्यप्यलक्षणं किमिदमनुवृत्तत्वं नाम अनेकाश्रितत्वम् इति चेन्न, अवयविना संयोगादिभिश्च व्यभिचारात्। नित्यत्वे सति इति चेन्न, समवायेन व्यभिचारात् अत एव न बहुवृत्तित्वमपि असंबन्धत्वे सति इति चेन्न, अणुभिर्व्यभिचारात्। नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यम् इति चेन्न, विकल्पासहत्वात् एतल्लक्षणं नित्यमनित्यं वा स्यात् नाद्यः स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। विशिष्टप्रविष्टमपि हि नित्यत्वं नित्यत्वमेव ॥ २५ ॥

तदवच्छिन्नप्रमांशेति। व्यक्तेर्वैशिष्ट्यस्य च न जात्यंशप्रमाविषयत्वं विषयभेदेन ज्ञानेप्यंशभेदादित्यर्थः। जातिसिद्धौ तदंशप्रमा सिद्ध्येज्जातिरेव लक्षणाभावान्न सिद्धेत्याह—नेति। अनुगतप्रत्ययान्यथानुपपत्तिप्रमाणकत्वं लक्षणं शङ्कते—इयमिति। आत्मनस्तत्संयोगादावतिव्याप्तिमाह—कारणान्तरेति। अनेकाश्रितत्वमिति। स्वाश्रयान्योन्याभावसमानाधिकरणत्वमित्यर्थः। व्यासज्यवृत्तिसर्वपदार्थातिव्याप्तिमाह—अवयवीति। समवायेनेति। तस्यापि संबन्धिद्वयवृत्तित्वादित्यर्थः। असम्बन्धत्वे इति। नित्यत्वे संबन्धत्वे सत्यनेकाश्रितत्वमित्यर्थः। अणुभिरिति। संयोगवृत्त्या परमाणूनामनेकदिगवच्छेदेन वृत्तेरित्यर्थः। नित्यत्वे इति। समवायलक्षणा वृत्तिर्विवक्षितेति न परमाणावतिव्याप्तिरित्यर्थः। स्वात्मनीति। नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वरूपं लक्षणं यदि नित्यं तदा नित्यत्वांशेपि नित्यत्ववृत्तिरित्यंशत आत्माश्रय इत्यर्थः। ननु नित्यत्वे नित्यत्वं न वर्त्तते येनात्माश्रयः स्यादपि तु नित्यत्वविशिष्टे इत्यत आह—विशिष्टेति ॥ २५ ॥

तदवच्छिन्न (जातिविषयक) प्रमांशरूपप्रमा (प्रमाण) वाला सामान्य है, विषयभेद से ज्ञान में भी अंशभेद, होता है वहाँ व्यक्ति और सम्बन्ध में जात्यंशप्रमा के विषयत्व नहीं होने से अतिव्याप्ति नहीं है, यह उक्ति भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अभी जाति की सिद्धि नहीं हुई है अतः उसकी असिद्धि से जातिघटित लक्षण की असिद्धि है इस लक्षण से सिद्धि कहें तो अन्योन्याश्रय है। यदि कहें कि यह अनुगत (अनुवृत्त) प्रतीति जिसके बिना उपपन्न नहीं हो सकती वह सामान्य है, तो उस प्रतीति के सामान्य से अन्य कारणों को भी वैसा होने से (उनके बिना भी) सामान्य की प्रतीति के नहीं होने से उनमें अतिव्याप्ति होगी। अनुवृत्त वस्तु सामान्य है, यह लक्षण भी कुलक्षण है, क्योंकि अनुवृत्तत्व यह क्या है, इसको ही कहना असम्भव है। यदि अनेकाश्रितत्व = अनेकवृत्तित्व को अनुवृत्तत्व कहें तो पटरूप अवयवी (कार्य) की अनेक तन्तुरूप अवयव (कारण) में वृत्ति होती है, उसके द्वारा व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगा, तथा अनेकाश्रितसंयोगादि द्वारा व्यभिचार होगा। उक्त अतिव्याप्ति-वारण के

लिये-नित्यत्वे सति अनेकाश्रितत्व, नित्य होते अनेक में वृत्तित्वरूप अनुवृत्तत्व कहें, तो भी नित्यसामान्य समवाय सम्बन्ध द्वारा व्यभिचार होगा। अत एव उक्त दोष से ही बहुत में वृत्तित्वरूप भी अनेकाश्रितत्व या अनुवृत्तत्व नहीं है। समवाय में अतिव्याप्ति-वारण के लिये, असम्बन्धत्वे-सति नित्यत्वे सति बहुवृत्तित्व कहें, तो परमाणु द्वारा व्यभिचार होगा, क्योंकि संयोग सम्बन्ध से परमाणु भी अनेक दिशा-देश में रहते हैं और नित्य तथा सम्बन्ध से भिन्न हैं। यदि कहें कि नित्य होते अनेक में समवाय सम्बन्ध से जो रहता हो वह सामान्य (जाति) है। तो, यह लक्षण भी विकल्पासह है विचार से सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि यह लक्षण नित्य होगा, या अनित्य यहाँ नित्यत्वरूप प्रथम पक्ष नहीं बन सकता क्योंकि नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वरूप लक्षण में नित्यत्व के रहने से नित्यविशेषणांश में नित्यत्व की वृत्तिता से उस अंश में आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि नित्यत्व में नित्यत्व नहीं है, किन्तु नित्यत्व विशिष्ट लक्षण में अतः आत्माश्रय नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, विशिष्ट में प्रविष्ट भी नित्यत्व नित्यत्व ही है अतः उसमें पुनः नित्यत्व की वृत्तिता से आत्माश्रयता होगी ही ॥ २५ ॥

नापि द्वितीयः सामान्यस्य च नित्यत्वाभावप्रसङ्गात् आत्मत्वादौ व्यक्त्यभावायत्तस्यापि विशिष्टाभावस्यासंभवात् तस्य च कदाचिदसत्त्वानङ्गीकारे तदनित्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् तद्ग्राहिणश्च प्रत्ययस्यैककालिकस्य मिथ्यात्वेऽविशेषात्सार्वकालिकस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गेन सर्वथा तदसत्त्वापत्तेः। एकस्य च सत्यत्वेऽविशेषात्सर्वसत्यतायां कदाचिदपि तदसत्त्वं नास्तीति ॥ २६ ॥

सामान्यस्येति। अनेकसमवेतत्वस्य लक्षणस्यानित्यत्वं सामान्यानित्यत्वात् भवेत्समवायानित्यत्वाद्वा उभयं च न त्वयेष्यते इति तद्घटितं लक्षणमपि कथमनित्यं स्यादित्यर्थः। नन्वनेकवृत्तित्वमित्यत्रानेकव्यक्तिरपि विशिष्टघटिकेति तदनित्यत्वात्तल्लक्षणमनित्यं स्यादित्यत आह—आत्मत्वादाविति। आत्मनां व्यक्तीनामपि नित्यत्वादित्यर्थः। ननु सामान्यतद्व्यक्तितत्समवायानां प्रत्येकं नित्यत्वेपि विशिष्टं यल्लक्षणस्वरूपं नित्यत्वे सत्यनेकवृत्तित्वं तदेवानित्यमस्तु को दोष इत्यत आह—तस्येति। तस्य विशिष्टस्यानित्यत्वं तदा स्याद्यदि कदाचित्तदसत्त्वं स्यान्न त्वेवमित्यर्थः। ननु तस्य कदाचिदसत्त्वमेवास्तु को दोष इत्यत—आह—तद्ग्राहिण इति। यदा लक्षणं नास्ति तदा लक्षणस्य विशिष्टलक्ष्यग्रहश्चेद् भ्रमस्तदा स सर्वत्रैव भ्रम एव स्यादिति लक्षणस्य नित्यमसत्त्वमेव पर्यवसन्नमित्यर्थः। ननु लक्षणविशिष्टलक्ष्यप्रत्ययस्तत्सत्त्वकाले सत्य एवेति कथं सर्वकालिकं लक्षणसत्त्वमत आह—एकस्येति। तर्हि विषयाबाधात् सर्वत्रप्रत्यययाथार्थ्ये लक्षणं सर्वकालस्थितीति कथमनित्यं स्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥

दूसरा लक्षण का अनित्यत्व पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकसमवेतत्वरूप लक्षण की अनित्यता सामान्य और समवाय की अनित्यता के बिना हो नहीं सकती है। लक्षण का स्वरूप रहते उसका नाशरूप अनित्यत्व संघटित नहीं हो सकता, अतः सामान्य के लक्षण के अनित्य होने पर उस लक्षण का आश्रय सामान्य और लक्षण-घटक (अंश) समवाय जो आपको नित्यत्वेन मान्य है, उसको नित्यत्वाभाव प्राप्त होगा।

यदि कहें कि अनेकसमवेतत्व भी लक्षणांश है, वहाँ अनेक घटादि व्यक्ति की अनित्यता से लक्षण में अनित्यता होगी, तो यह कहना अयुक्त है, आत्मत्वादि सामान्य (जाति) में व्यक्ति के अभावाधीन भी विशिष्ट (व्यक्तिघटित) लक्षण के अभाव (नाश) के असम्भव से लक्षण का अनित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता, यदि कहें कि सामान्य आत्मादि व्यक्ति और समवाय प्रत्येक के नित्य होते भी नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वरूप विशिष्ट लक्षण अनित्य हो सकता है, तो यह कहना ठीक नहीं, उस लक्षण की कभी असत्ता नहीं मानने पर उसका अनित्यत्व कहा नहीं जा सकता, आत्मत्वादि में नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वरूप विशिष्ट लक्षण का अभाव कभी माना नहीं जा सकता। ऐसा होते भी लक्षण का असत्त्व यदि कभी माना जाय, तो उस लक्षण के ग्राहक उस एककालिक प्रत्यय (ज्ञान) के मिथ्या होने पर अविशेषता से सर्वकालिक लक्षण की असत्त्वापत्ति होगी। शशशृङ्गादि-ज्ञानतुल्य ही उसका ज्ञान सिद्ध होगा। अर्थात् लक्षण के असत्त्व रहते कभी भी लक्षण की प्रतीति मानी जाय तो सदा मिथ्या-प्रतीति की प्राप्ति से लक्षण का सर्वथा असत्त्व होगा। यदि कहें कि लक्षण के ज्ञानकाल में उस ज्ञान के सत्त्व से उसका विषय लक्षण भी सत्य ही रहता है, अतः उसका सर्वकालिक अभाव नहीं सिद्ध होगा, तो लक्षण के एकस्वरूप होने से एकलक्षणज्ञान के सत्य होने पर अविशेषता से सब ज्ञान की सत्यता की प्राप्ति होने से कभी उस ज्ञान का विषयलक्षण के असत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी ॥ २६ ॥

एकदा तत्संबन्धेन तदुपलक्षितस्यान्यदापि विद्यमानत्वात्तथात्वम्? इति चेन्न, तादृशोपलक्ष्यासम्भवाद् व्यक्तीनां भेदादित्यनित्यत्वानुपपत्तिरेवेति। एतेन नित्यत्वमन्यत्रापि प्रतिवचनीयम् ॥ २७ ॥

ननु लक्षणं स्वाकालेपि लक्ष्यमुपलक्षयतीति तदापि तद्विशिष्टप्रत्ययः सत्य एवेति शङ्कते—एकदेति। सामान्यानां बहूनामेकरूपाभावात्तल्लक्षणेन किमवच्छिन्नं लक्ष्यमुपलक्षितं स्यादित्याह—नेति। व्यक्तीनामिति। लक्षणा सामान्यानामित्यर्थः, तथाच लक्षणस्यानित्यत्वानुपपत्तिरित्याह—इतीति। एतेनेति। आकाशादीनां नित्यत्वं यदि नित्यं तदात्माश्रयः। अनित्यं चेत्तदाकाशस्याप्यनित्यत्वमेव स्यादिति सर्वं नित्यत्वं खण्डनीयमित्यर्थः। 'नित्यत्वघटितं लक्षणान्तरमप्येवं खण्ड्यमित्यर्थः' इत्यन्ये ॥ २७ ॥

यदि कहें कि लक्षण को एक बार अपने लक्ष्य के साथ सम्बन्ध होने पर उस सम्बन्ध द्वारा (अन्यथा) अपनी अविद्यमानता-काल में भी उस सम्बन्ध से उपलक्षित लक्ष्य (सामान्य) की विद्यमानता से लक्षणयुक्त लक्ष्यज्ञान का सत्यत्व होता है, मिथ्यात्व नहीं, क्योंकि उपलक्षण वर्तमान, अवर्तमान दोनों काल में सत्यव्यावृत्त ज्ञान का जनक होता है। आत्मत्व में उक्त लक्षण सत्य है, घटव्यक्तिघटित में व्यक्ति की अनित्यता से अनित्य है, यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि सामान्यरूप लक्ष्य व्यक्ति के अनेक होने से और एक उपलक्ष्यतावच्छेदक के नहीं होने से उक्त उपलक्ष्य के असम्भव होने के कारण लक्षण के अनित्यत्व की अनुपपत्ति ही है, अर्थात् अनित्य होने के कारण अविद्यमान होते भी लक्षण लक्ष्य-ज्ञान का हेतु हो, यह व्यवस्था नहीं हो सकती है। इसी से अन्य पदार्थ में भी नित्यत्व खण्डनीय है। आकाशादि का नित्यत्व यदि नित्य है, तो आत्माश्रय होगा, यदि अनित्य है, तो आकाश को अनित्यत्व ही होगा ॥ २७ ॥

के चानेन लक्षणेन व्यवच्छिद्यन्ते ? विशेषादय इति चेन्न, विशेषा एव केऽभिधीयन्ते तत्र नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्त्तन्त एव ये ते विशेषा इत्यलक्षणम् । आत्मत्वादिना व्यभिचारात् नित्यान्तरेऽसत्त्वान्न तत्सर्वत्र नित्ये वर्त्तते विशेषास्तु नैवं नित्ये वर्त्तन्ते एवेति नियमात् इति चेन्न, प्रतिविशेषमव्याप्त्याऽलक्षणत्वात् । यज्जातीया एवमिति लक्षणार्थ इति चेन्न, जातेरनङ्गीकारात् । जातीयेत्यस्मात्पदात् उपाधिरेव तथा विवक्षित इति चेन्न, तस्येतरव्यावृत्तस्याधिगतौ व्यर्थं तदुपजीविलक्षणमिदं तत एव विजातीयव्यावृत्तिप्रतीतेः। इतरव्यावृत्तस्य चानधिगतौ लक्षणस्य दुरवधारणत्वापत्तेः, इतरव्यावृत्ततया तज्जातीयत्वस्याप्रतीतेः ॥ २८ ॥

आगामिखण्डनं सामान्यखण्डनेन सङ्गमयति—के चानेनेति। नित्येष्वेवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदेन द्रव्यगुणकर्मणां व्यवच्छेदः तेषामनित्येष्वपि वृत्तेः द्रव्येष्वेवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदेन सामान्यानां व्यवच्छेदः तेषामद्रव्येष्वपि वृत्तेः वर्तते एवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदेन ज्ञानसुखादीनां व्यवच्छेदः। तेषां स्वासत्त्वकाले वृत्तेरयोगोपीत्यर्थः। ननु गुणादीनां सामान्यादीनां नित्येष्वेवेत्यनेन व्यवच्छेदात् किं पदान्तरेण नहि गुणा नित्येष्वेव वर्तन्ते न वा सामान्यानि। तथाच गुणत्वेन सामान्यत्वेन च ताद्रूप्ये सर्वगुणसामान्यव्यवच्छेदः सिद्ध एवेति चेन्न, नित्यत्वस्य धर्मस्य व्यवच्छेदार्थं द्रव्येष्वेवेति करणात् । ताद्रूप्येण वृत्त्यविवक्षायां दोषमाह—आत्मत्वादीति । ननु नित्येष्वेव द्रव्येषु वृत्तेरयोगो वर्त्तते एवेत्येवकारेण व्यवच्छिद्यते तथा चाकाशादाववर्तमानेनात्मत्वादिना कथं व्यभिचार इत्याह—नित्यान्तरेति। प्रतिस्वं विश्रान्तविशेषा व्याप्तिरेवं सतीत्याह—प्रतीति। ननु विशेषत्वावच्छिन्नानां न नित्ये द्रव्ये वृत्तेरयोग इति शङ्कते—यज्जातीया इति। यावद्विशेषवृत्तिरुपाधिर्न कश्चित्सिद्ध इत्याह—तस्येति। तज्जातीयत्वस्येति। यावद्विशेषनिष्ठोपाधेरित्यर्थः॥ २८॥

लक्षण द्वारा सजातीय विजातीय की व्यावृत्ति मानी जाती है, वहाँ इस सामान्य के लक्षण से कौन पदार्थ व्यवच्छिन्न व्यावृत्त किये जाते हैं, यह विचारणीय है, यदि विशेषादि व्यावृत्त कहे जायँ, तो विशेष शब्द से कौन पदार्थ कहा जाता है, यह वक्तव्य है, पर वहाँ यदि विशेष का लक्षण कहा जाय कि नित्यों में ही द्रव्यों में ही जो रहता हो, वह विशेष है। यहाँ प्रथम एव (नियम) से द्रव्य गुणकर्म की, दूसरे से सामान्य की तीसरे से कदाचिद् आत्मवृत्ति सुखदुःखादि की व्यावृत्ति होती है। परन्तु आत्मत्वादि एवं नित्यत्व भी नित्य द्रव्य में ही रहते ही हैं, अतः उनके द्वारा लक्षण का व्यभिचार है, (अलक्ष्य में वृत्तित्व है) अतः युक्त लक्षण नहीं है। यदि कहें कि आत्मत्व आकाशादि रूप नित्यान्तर में नहीं रहता है, अतः वे सब नित्य में नहीं रहते हैं। विशेष तो ऐसा नहीं है, सब नित्य द्रव्यों में रहता ही है, यह नियम है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विशेष भी प्रत्येक नित्यव्यक्ति में पृथक्-पृथक् माना जाता है, अतः प्रति विशेष में लक्षण की अव्याप्ति से (सर्वनित्यवृत्तित्व के अभाव से) यह लक्षण असम्भव ग्रस्त है। यदि कहें कि जिस जाति वाला, सर्वनित्यद्रव्य वृत्ति हो, वह विशेष है, तो यह कहना युक्त नहीं, द्रव्यगुण कर्म में ही जाति के अङ्गीकार से विशेष में जाति का अङ्गीकार नहीं है। यदि कहें कि जातीय इस पद से उपाधि ही उस रूप से विवक्षित है कि जिस विशेषत्व (नित्यसर्ववृत्तित्व) उपाधि वाला सर्वनित्य द्रव्यवृत्ति हो, उस उपाधि वाला

को विशेष कहते हैं। तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि इतर से व्यावृत्त विशेष मात्र वृत्ति उपाधि के ज्ञान होने पर, उसका उपजीवी (उसका कार्य) रूप यह लक्षण व्यर्थ है। क्योंकि उस उपाधि से ही इतर विजातीय से व्यावृत्त विशेष की प्रतीति हो जायगी, विजातीय से व्यावृत्ति लक्षण का फल है, वह उपाधि से विजातीय की व्यावृत्ति की प्रतीति के होने पर लक्षण व्यर्थ है। और इतर से व्यावृत्त उपाधि का ज्ञान यदि नहीं हो, तो तद्घटित लक्षण को दुरवधारणत्व की प्राप्ति होगी, लक्षण का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि, इतर व्यावृत्तरूप से (तज्जातीयत्व) सर्वविशेषवृत्ति उपाधि, के अज्ञान से लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकेगा ॥ २८ ॥

भवतु स एवोपाधिर्लक्षणम् इति चेन्न, तस्यानिरुक्तेः, यतो नित्यद्रव्यव्यक्तिषु विश्वव्यावृत्तधीर्योगिनां स विशेष इति चेन्न, स्वरूपधर्मव्यक्तिभेदेष्वपि प्रसङ्गात् अन्यथा कार्यद्रव्यगुणादिव्यक्तिषु स तेषां कुतः स्यात्तास्विव वैधर्म्यान्तरस्य नित्येष्वपि सम्भवात् विशेषवद्विशेषासम्भवेन लक्ष्यासिद्धिरिति ॥ २९ ॥

स एवेति। यदवच्छेदे विशेषाणां नित्यद्रव्यवृत्तित्वं ग्राह्यमित्यर्थः। स्वरूपेति भेदपदं प्रत्येकान्वयि सा व्यावृत्तबुद्धिः तेषां योगिनामतीन्द्रियकार्यव्यक्तिगुणव्यक्तिषु विशेषपदार्थाभावात् योगिनां व्यावृत्तबुद्धिर्यदधीना तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। तास्विति। गुणादिव्यक्तिष्वित्यर्थः। नित्येष्वपीति। द्रव्येष्वित्यस्य विशेषणम्। विशेषवदिति। यथा विशेषपदार्थे विशेषान्तरमन्तरेणैव व्यावृत्तधीस्तथा तदाश्रयेपि स्यादित्यन्यथा विशेषपदार्थ एव न सिद्ध्येदित्यर्थः ॥ २९ ॥

यदि कहें कि जिस रूप से विशेषों को नित्यद्रव्यवृत्तित्व होता है, उस उपाधि को विशेष का लक्षणत्व हो सकता है, तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि अभी उस उपाधि की निरुक्ति (निर्वचन) नहीं हुई है। यदि कहें कि नित्यद्रव्य की व्यक्तियों में विश्व (अन्य सब) से व्यावृत्त = भिन्न बुद्धियोगियों को जिससे होता है, वह विशेष है, अतः उक्त व्यावृत्त बुद्धि हेतुत्व ही उपाधि है। यद्यपि इसका प्रत्यक्ष हमलोगों को नहीं है, तथापि व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्व से अनुमेय है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि स्वरूपभेद (विशेष) धर्मभेद और अर्थक्रियादि व्यक्तिभेद से योगियों को अनित्य अतीन्द्रिय द्रव्यगुणादि में अन्य से व्यावृत्त बुद्धि होती है। जिन स्वरूपादिकों के द्वारा व्यावृत्तरूप से योगी अतीन्द्रि अनित्य द्रव्यादि को समझते हैं, उन स्वरूपादिकों में उक्त विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति से यह लक्षण अयुक्त है। अन्यथा (यदि स्वरूपादि व्यावृत्त बुद्धि के हेतु नहीं हों) तो कार्य द्रव्यगुणादि में विशेष तो माने नहीं जाते हैं, फिर योगियों को वहाँ वह व्यावृत्त बुद्धि किससे होगी, अतः कार्यद्रव्यादि व्यक्ति में जैसे स्वरूपभेदादि से व्यावृत्त बुद्धि होती है, वैसे ही नित्यद्रव्यों में वैधर्म्यान्तर के सम्भव से उससे व्यावृत्त बुद्धि होगी विशेष का स्वीकार निरर्थक है। और विशेष में विशेषान्तर के बिना जैसे उसकी व्यावृत्त बुद्धि मानी जाती है, वैसे विशेषाश्रय की विशेष के बिना व्यावृत्त बुद्धि हो सकती है, अतः विशेष के समान नित्य द्रव्य में विशेष के असम्भव से उसकी असिद्धि है ॥ २९ ॥

अथ विशेषादिभ्यो विशेषलक्षणादेर्भेदे कथं तत्र तत्रैव तैर्विशेषादिव्यवहारः क्रियतां नान्यत्र। संबन्धो नियामक इति चेन्न, संबन्धस्यापि संबन्धे नियामकत्वेऽनवस्थापातात्। अन्यथा त्वनियमात्तदनिरुक्तेश्च। तथाहि कः संबन्धशब्दार्थः समवायादय इति चेत्सत्यं किन्तु केन निमित्तेनेति हि प्रश्नवाक्यतात्पर्यं प्रतिस्वं व्यावृत्तेन संयोगत्वादिनान्येन वा ? आद्येऽनुगतव्यवहारानुपपत्तिप्रसङ्गः। अस्ति चासाविन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नादिप्रत्यक्षं नित्या प्राप्तिः समवाय इत्यादि, न च द्वितीयः तस्यैकस्यासंभवात् नियामकत्वं तत् इति चेन्न, स्वभावस्यापि भवता नियामकत्वाङ्गीकारात् न चासौ संबन्धः ॥ ३० ॥

सम्बन्धखण्डनमवतारयितुं पीठमारचयति—अथेति। विशेषादीनां पदार्थानां विशेषलक्षणानि भिन्नानि तथाच किं लक्षणं कस्य स्यात्तथाच केन लक्षणेन कुत्रेतरव्यावृत्तिव्यवहारौ स्यातामित्यर्थः। यत्र लक्ष्ये यल्लक्षणं सम्बद्धं तत्र तेन तौ स्यातामित्याह—सम्बन्धस्यापि तदीयत्वे संबन्धान्तरं चेन्नियामकं स्यात्तदानवस्थेत्याह—नेति। ननु संबन्धेपि संबन्धान्तरं नाभ्युपेयं येनानवस्था स्यादित्याशङ्क्याह—अन्यथेति। केनेति। सम्बन्धपदप्रवृत्तिनिमित्तप्रश्नोयमित्यर्थः। यथाकाशादिपदवत्प्रवृत्तिनिमित्तमन्तरेणैव सम्बन्धपदप्रवृत्तिस्तत्राह—अनुगतेति। ननु मा भूदनुगतप्रत्यय इत्याह—अस्ति चेति। सन्निकर्षपदेन संयोगसमवायादीनामभिधानमेकं प्रवृत्तिनिमित्तमन्तरेण न स्यादित्यर्थः। नित्येति। प्राप्तिपदेन संयोगसमवाययोरलाभे संयोगव्यावर्त्तनाय नित्येति। विशेषणं न घटेतेत्यर्थः। तस्येति। अनुगतरूपस्येत्यर्थः। नियामकत्वमिति। अतिप्रसङ्गनिवर्त्तकत्वमित्यर्थः। स्वभावस्यापीति। अभावसमवायादिविशिष्टप्रतीतौ स्वभावस्यापि नियामकत्वस्वीकारादित्यर्थः। नचासौ सम्बन्ध इति। सम्बन्धलक्षणं तत्रातिव्यापकमिति भावः ॥ ३० ॥

विचारणीय यह है कि विशेषादि लक्ष्यों से विशेष के लक्षण स्वभावादि जो उसके व्यावृत्त बुद्धि के जनक हैं, वे अपने लक्ष्य से अभिन्न हैं, या भिन्न ? यदि अभिन्न हों, तो लक्ष्य लक्षण भाव नहीं होगा, भिन्न हों, तो जैसे अन्य पदार्थ से लक्षण का भेद रहता है, वैसे ही अपने अपने लक्ष्यादि से भी विशेष लक्षणादि भेद रहते उनके द्वारा तत् तत् लक्ष्यों में ही विशेष (भेदादि) व्यवहार कैसे किया जायगा ? और अन्य में विशेष व्यवहार कैसे नहीं किया जायगा ! यदि कहें कि सम्बन्ध नियामक (नियम का हेतु) है, जिस लक्षण का जिसके साथ सम्बन्ध रहता है, वह लक्षण उसी स्वसम्बद्ध लक्ष्य में विशेष व्यवहार का हेतु होता है, अन्यत्र नहीं, तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि यहां भी विकल्प हो सकता है कि उस लक्षण का सम्बन्ध लक्ष्य के साथ रहता है कि नहीं, यदि उसका सम्बन्ध नहीं हो, तो सम्बन्ध के बिना वह भी नियामक नहीं होगा, यदि सम्बन्ध हो, तो सम्बन्ध को भी सम्बन्धान्तर द्वारा नियामक होने पर अनवस्था होगी। और अनवस्था भय से सम्बन्ध के सम्बन्ध को नहीं मानने पर सम्बन्धरहित सम्बन्ध से अनियम (नियमाभाव) होगा इससे सम्बन्ध मानना व्यर्थ होगा। और सम्बन्ध की अनिरुक्ति से भी सम्बन्ध मन्तव्य नहीं है। यदि मन्तव्य है तो कहिये कि सम्बन्ध शब्द का क्या अर्थ है ? यदि कहें कि समवायादि सम्बन्ध शब्द का अर्थ है, तो यह कहना सत्य है किन्तु किस निमित (प्रवृत्तिनिमित)

रूप से सम्बन्धपदवाच्यता है, यह प्रश्नवाक्य का तात्पर्य है। प्रतिस्वं (प्रत्येक) व्यावृत्त संयोगत्व समवायत्वादि रूप से वाच्यता है ? या अन्य अनुगत रूप से ? प्रथम पक्ष में अनुगत सम्बन्ध के ज्ञान व्यवहार की अनुपपत्ति प्राप्त होगी। यदि कहें कि अनुगत ज्ञानादि नहीं हो, तो यह कहना युक्त नहीं। (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्) इत्यादि में संयोग समवाय में अनुगत वह सन्निकर्ष (सम्बन्ध) का व्यवहार है, और (नित्य प्राप्ति समवाय है) है। यहाँ संयोग की व्यावृत्ति के लिये नित्य विशेषण दिया गया है। यदि प्राप्ति पद से संयोग समवाय का साधारण रूप से ग्रहण न हो तो नित्यपद व्यर्थ होगा। अतः सम्बन्ध पद से अनुगत ज्ञान होता है, और अनुगत रूप से वाच्यता नहीं हो तो अनुगत ज्ञान नहीं होना चाहिये, अतः यदि द्वितीय पक्ष मानें तो वह द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है। क्योंकि सब सम्बन्ध मे उस अनुगत नियामक रूप सम्बन्धत्व का असम्भव है। यदि कहें कि नियामकत्व = अतिप्रसंगनिवारकत्व सम्बन्धों में अनुगत धर्म है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अभाव समवायादि के ज्ञान में अभावादि के स्वभाव को भी नियामक मानते हैं, तथा सत्ता में स्वभाव से ही सद्व्यवहार माना जाता है। और वहाँ सम्बन्धत्व नहीं है। स्वभावसम्बन्धस्वरूप नहीं है, अतः अतिव्याप्ति होगी॥ ३० ॥

तथाविधः सोपि संबन्ध एव इति चेन्न, त्वया सर्वस्वभावनियन्तृताया अवश्याभ्युपगन्तव्यत्वेन नियामकनिरुक्तिलभ्यसत्त्वावाद्यधिकांशासामर्थ्यापत्तेः। नियम्यस्य च स्वस्यानतिप्रसङ्गेन नियामकत्ववाचोयुक्त्यनुपपत्तेः। अतिप्रसक्तत्वे च तस्यैव नियामकत्वात् अतिप्रसक्तेन नियमायोगात् भूत्वा नियमकरणे च प्रागनियतत्त्वापत्तेः। एवमन्येनापि जन्यनियमेऽन्यदपि हि यदि पूर्वं घटादिरूपेणानियतमेव घटादि करोति तदा पटाद्यपि तथा कुर्यात्॥ ३१ ॥

तथाविध इति। नियामकः स्वभावः संबन्ध एवेति नातिव्याप्तिरित्यर्थः। त्वयेति। सर्वं स्वभावाश्चेन्नियन्तारस्तदा नियमनियतपूर्वसत्त्वमिति या नियामकपदनिरुक्तिस्तत्र सत्त्वमेवास्तु नियामकत्वं तदादिभूतमधिकं यद्विशेषणं तद्वैयर्थ्यापत्तेर्व्यावर्त्तकत्वादित्यर्थः। सत्त्वादित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। नियमस्य चेति। स्वभावेन यन्नियम्यं तदनतिप्रसक्तं यदि तदा नियामकत्वं व्यवच्छिन्नतया बोधकत्वं न सम्भवति स्वत एव व्यवच्छिन्नत्वादित्यर्थः। अतिप्रसक्तत्व इति। नियम्यमतिप्रसक्तं चेत्तदा नियामकमपि तदेवेत्यतिप्रसक्तस्य नियामकमपि तदेवेत्यतिप्रसक्तस्य नियामकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। यत्तु नियामकं तदुत्पन्नं सन्नियमयेदनुत्पन्नमेव वा ? आद्ये आह। भूत्वेति। स्वमेव हि नियामकं नियम्यं चेति स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वमनियतं स्यादित्यर्थः। तथात्वे वा पश्चादपि कथं नियतं स्यादित्यर्थः। स्वस्य स्वं प्रति नियामकत्वानुपपत्तिमुक्त्वा कारणकार्यं प्रति नियामकत्वानुपपत्तिमाह—एवमिति। दण्डचक्रादिकारणं यद्यघटमेव घटीकरोति तदा पटमपि घटीकुर्यादित्यर्थः॥ ३१ ॥

यदि कहें कि (नियामक स्वरूप) वह स्वभाव भी सम्बन्ध ही है। अतः वहाँ सम्बन्ध लक्षण की प्राप्ति अतिव्याप्ति नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, जब अभाव समवायादि के स्वरूप भूत स्वभाव को आप सम्बन्धात्मक नियामक मानेंगे, तो

स्वभावत्व की अविशेषता से सर्वस्वभाव के नियन्तृत्व को आप से अभ्युपगन्तव्य (मन्तव्य) होने से, नियामक की निरुक्तिद्वारा लभ्य (प्राप्य ज्ञेय) सत्वादि में आदि इस अधिकांश के असामर्थ्य (निरर्थकत्व) की प्राप्ति होगी। अर्थात् स्वभावमात्र के नियामक होने पर पूर्व पर वृत्ति सब स्वभाव नियामक होगा। (सत्वं आदौ यस्य) जिसका पूर्वकाल में सत्व हो वह नियामक होता है, ऐसा कहना अयुक्त होगा, किन्तु जिसका सत्व होता है, वह नियामक होता है, इतना ही कहना युक्त होगा। और सब पदार्थ का स्वभाव यदि नियामक है, तो अपने नियम्य के अनतिप्रसङ्ग (अतिव्याप्ति = सांकर्यरहित) रूप से नियामकत्व की वचनयुक्ति (कथन) की अनुपपत्ति है, स्वभाव से ही सबके नियामक होने पर नियम्य उससे भिन्न नहीं हो सकता है। और नियम्य के नियामकत्व असिद्ध है। इस प्रकार अनतिप्रसक्त नियामकत्व के सिद्ध नहीं होने पर, नियम्य में नियामक स्वभाव के प्रसक्त होने पर उस प्रसक्ति का नियामक (वारक) भी दूसरा नहीं है, क्योंकि उस स्वभाव को ही नियामकत्व है, और वह नियामक स्वभाव ही नियम्य में अतिप्रसक्त (प्राप्त) है, अतः उस अतिप्रसक्त से नियम होना युक्त नहीं है, अशक्य है। वह कारणादिगत नियामक स्वभाव कार्य के समान उत्पन्न होकर कार्य का नियामक होता है, या उत्पत्तिरहित स्वभाव नियामक होता है? यहाँ यदि उत्पन्न होकर स्वभाव नियम करे, तो मृत् पिण्डादि में घटोत्पादन स्वभाव की उत्पत्ति से प्रथम अनियम की प्राप्ति होने से सब कार्य की प्राप्ति होगी। अर्थात् वह स्वभाव भी तो कार्य ही है। और उसकी उत्पत्ति से प्रथम यदि नियामक स्वभाव नहीं है, तो वह स्वभाव नियत घटोत्पादक रूप से नहीं उत्पन्न होगा। इसी प्रकार उस जन्य स्वभाव का अन्य उससे पूर्ववर्ती स्वभावद्वारा नियम किया जाय तो वह जन्य ही होगा और वह घटादि रूप से अनियत (असम्बद्ध) ही घटादि को उत्पन्न करता है, तो पटादि को भी वैसे ही करेगा। भाव यह है कि कारणरूप से अविद्यमान कार्य स्वभाव से उत्पन्न हो तो सर्वत्र सब उत्पन्न होंगे, अतः कारण रूप से सत् की उत्पत्ति होती है और एक अद्भुत माया शक्ति सर्वत्र नियामिका है, अनन्त स्वभावादि नहीं ॥ ३१ ॥

न घटादित्वे नियामकत्वस्य किन्तु घटादेः कालविशेषयोगे इति चेन्न, यदि नासौ घटादेः कालविशेषयोगिता नियतेष्यते तदा पटादिकालविशेषयोगमपि तथा कुर्यात्तस्मात् "यदि कुर्यादसत्कालानियतं नियतं परः। तत्स्यादतिप्रसक्तत्वमन्यथा चानियन्तृते"ति कार्यकारणयोः कालभेदान्नियम्यनियामकत्वोपगमे उत्तरोत्तरेण पूर्वपूर्वनियमः किं न स्यादित्यविनिगम्यत्वापत्तिः। "प्राचोत्तरस्य नियमः प्राव एव न तेन किं अनाद्यनन्तयोर्नैवं विनिगन्ता प्रवाहयोरिति" ॥ ३२ ॥

कारणस्य घटं प्रति नियामकत्वं न ब्रूमः किन्तु कालयोगं प्रतीति शङ्कते—न घटादित्व इति। कालविशेषयोगो पटीय एव नियम्यश्चेत्तदा घटनियामकतैवेति पूर्वदोष एव। अथ घटमनन्तर्भाव्य कालविशेषयोगमात्रं नियम्यं तदा पटकालविशेषयोगमपि नियमयेदविशेषादित्याह—नेति। इममेवार्थं कारिकया संगृह्णाति—यदीति। परो हेतुः कालानियतमसद्यदि कालनियतं कुर्यात्तदाऽसत्वाविशेषाद्दण्डः पटमपि कालनियतं

कुर्यादित्यतिप्रसङ्गः। अन्यथेति। सन्नये घटादिः कालविशेषनियतश्चेत्क्रियते तदा दण्डादेर्नियामकत्वमेव भज्येत घटादेस्ताद्रूप्याविशेषादित्यर्थः। दोषान्तरमाह—कार्येति। कारणं नियामकं कार्यं च नियम्यमिति भिन्नकालत्वाविशेषान्न स्यात्प्रत्युत वैपरीत्यमेव स्यादित्यर्थः। दोषान्तरमाह—कार्येति। कारणं नियामकं कार्यं च नियम्यमिति भिन्नकालत्वाविशेषान्न स्यात्प्रत्युत वैपरीत्यमेव स्यादित्यर्थः। इममेवार्थं संगृह्णाति—प्राचेति। पूर्वेणोत्तरस्य नियमनं चेत्तदोत्तरेणैव पूर्वस्य नियमनं किन्न स्यात्? ननु पौर्वापर्यमेव नियामकमित्यत आह—अनादीति। अनादौ प्रवाहे पौर्वापर्यमपि कारणजातीयकार्यजातीययोरनियतमित्यर्थः। चरमकार्यस्योत्तरत्वनियमो मा भूदित्यनन्तत्वमप्युक्तम् ॥ ३२ ॥

यदि कहें कि कार्य से अत्यन्त भिन्न कारण दण्डादि को मृत्पिण्ड आदि को स्वभाव द्वारा घटादित्व (घटादि विशेष कार्यत्व) में नियामकत्व नहीं है, किन्तु सब कार्य के साधारण कारण काल के साथ सम्बन्ध में नियामकत्व है। क्योंकि, कार्य को काल सम्बन्ध अनियत है, स्वरूपस्वभाव तो नियत ही है, तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि यदि वह घटादि की काल विशेषयोगिता (सम्बन्ध) प्रथम से नियत नहीं मानी जाती है, और असत् उस कालयोगिता की दण्डादि से सिद्धि होती है, तो असत्व के तुल्य होने से दण्डादिक ही पटादि के कालविशेष सम्बन्ध को भी उसी प्रकार से सिद्ध करेगा, घटत्वनियम और घट का काल के साथ सम्बन्ध नियम तुल्य ही है, अतः दोष तुल्य है। उक्त अर्थ को ही श्लोक से कहा गया है कि प्रथम से कालानियत (काल सम्बन्धरहित) असत (सर्वथा अवर्तमान कार्य) को यदि कार्य से अन्य हेतु नियत (कालविशेषसम्बन्धी) करे, तो असत्व के तुल्यता से वही दण्डादि हेतु पट को भी काल विशेष में नियत करेगा, तो अतिप्रसक्तत्व (अतिव्यापकत्व) होगा। एक किसी कारण से सब की उत्पत्ति प्राप्त होगी। यदि अन्यथा हो घटादि कार्य सर्वथा प्रथम से वर्तमान (सत्) हों, तो कारणस्वभाव को अनियन्त्रिता होगी, सत होने से कार्य काल सम्बद्ध नियत ही रहेंगे, कारण काल सम्बन्ध का भी नियामक नहीं होगा ॥ ४ ॥

और कार्य कारण को नियम्यनियामकभाव भी नहीं हो सकता। लोक में समकाल वृत्ति प्रजा तथा राजा आदि में नियम्य नियामक भाव होता है, और कारण नियत पूर्व काल वृत्ति होता है, कारण से उत्तर काल में कार्य होता है, वहाँ कार्य कारण के काल के भेद से कहा जा सकता है कि उत्तर उत्तर कार्य नियम्य के पूर्वपूर्व कारण को नियामकत्व मानने पर उत्तर उत्तर वृत्ति कार्य से ही पूर्वपूर्व कार्य का ही नियम क्यों न होगा। इस प्रकार अविनिगम्यत्व (विनिगमनाविरह) की प्राप्ति होगी। इस श्लोक द्वारा कहा गया है कि—पूर्ववृत्ति कारण से यदि उत्तरकार्य का नियम होता है, तो उत्तर वृत्ति से पूर्व का नियम क्यों नहीं होता? यदि कहें कि पूर्वोत्तर भाव ही नियामक है, तो कहा जाता है कि अनादि अनन्त इस कार्य कारण के प्रवाहों में इस पूर्वापर भाव को भी विनिगन्ता (नियामक) नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, अनादि में पूर्वोत्तरभाव का भी नियम नहीं है ॥ ५ ॥ ३२ ॥

अभूत्वा च करणे व्याघातात्। संबन्धिनश्चाधारत्वात् संबन्धस्याधेयत्वात् तस्यैव तदाधारत्वानुपपत्तेः। न हि सुशिक्षितोऽपि नटवटुः स्वस्कन्धमारुह्य नृत्यति। नाप्यन्यस्यासौ संबन्धः त्वयैव तथानभ्युपगमात्। स्वभावा-

देवायमीदृश इति हि स्वभाववादस्तत्र परस्य नियमनाभावात् कथं परः संबन्धी सङ्गच्छेत। यच्च किंचित्संबन्धत्वमभिधीयते तत्समवायेपि स्वीकार्यम्। नच समवायाधारत्वं द्रव्यादिषट्कस्य सम्भवति ॥ ३३ ॥

द्वितीयं पक्षमाशङ्क्याह—अभूत्वेति। असतो नियामकत्वं व्याहतमेव नियमनियतपूर्वसत्त्वस्य नियामकत्वादित्यर्थः। स्वभावसंबन्धे दूषणान्तरमाह—संबन्धिन इति। नहि तदेव तेनैव तद्वदिति सम्भवति, आधाराधेयभावस्य भेदगर्भत्वादित्यर्थः। असम्भवमेव दर्शयति—नहीति। अनभ्युपगममेवाह—स्वभावादिति। यद्यपि घटाभावभूतलयोरन्योन्यं संबन्धत्वं तथाच घटाभावस्य भूतलं संबन्धः भूतलस्य च घटाभावः संबन्ध इति संबन्धसंबन्धिनोर्भेद एव भूतलस्य संबन्धः कथमभाव इत्यत्र स्वभाव एवोत्तरं उपश्लिष्टप्रत्ययस्य संबन्धान्तरेण दर्शनात्। यद्वा विशिष्टप्रत्ययजनकत्वं यस्य स्वस्य भावो धर्मः स एव सम्बन्धस्तज्जनकत्वमेव कथमस्येत्यत्र तु स्वभावेनैवोत्तरं तथापि संबन्धखण्डनमात्रे तात्पर्यं—समवायाधारत्वमिति। समवाय आधारो यस्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥

स्वभाव उत्पन्न होकर नियामक होता है, इस पक्ष में उक्त दोषों से कारणगत स्वभाव रूप सम्बन्ध अभूत्वा (उत्पन्न हुए बिना) नियमन करता है, ऐसा मानें तो व्याघात होगा, क्योंकि नियमन क्रिया का कर्तृत्व असत् स्वभाव में असंभव है, और स्वरूपात्मक स्वभाव जब सम्बन्ध है, तब तो सब पदार्थस्वभावात्मक सम्बन्ध स्वरूप हुआ। और सम्बन्धी को सम्बन्ध का आधारत्व होता है। सम्बन्ध आधेय होता है। तो स्वभाव को सम्बन्धत्व होने से उसमें आधेयत्व होगा और स्वभाव से भिन्न आधार है नहीं। अतः उस स्वभाव को ही स्वभाव के आधारत्व की अनुपपत्ति होगी। क्योंकि, सुशिक्षित नटबालक अपने कन्धे पर चढ़कर नहीं नाचता। यदि कहें कि स्वभाव का सम्बन्धी अन्य है, उसमें स्वरूप रूप सम्बन्ध रहेगा तो यह कहना भी असंगत है क्योंकि यह स्वभाव अन्य का सम्बन्धस्वरूप नहीं है, स्वयं सम्बन्धस्वरूप इसको आपने ही अन्य के सम्बन्धत्व के स्वभाव को अनङ्गीकार किया है। क्योंकि, स्वभाव से ही यह संसार ऐसा है, स्वभाव से ही अभावादि नियत है इत्यादि। ऐसा ही स्वभाववाद निश्चित है वहाँ नियमन क्रिया के अभाव से अन्य सम्बन्धी कैसे संगत होगा? और जो कुछ सम्बन्धत्व कहा जाता है, उसको समवाय में भी मानना होगा। वहाँ द्रव्यादि तीन में ही जाति के रहने से जातिरूप सम्बन्धत्व नहीं हो सकता और द्रव्यादि छः भाव को समवाय आधारवत्त्व नहीं हो सकता जिससे वे भाव पदार्थ समवाय में सम्बन्धत्वरूप हो सकें। और सम्बन्धत्वाधिकरण को ही सम्बन्ध कहा जाता है, अतः समवाय को सम्बन्ध कहना अयुक्त है ॥ ३३ ॥

नचोपाधिभावात्स्यात्, तत्संयोगसमवायासम्भवात् स्वभावसंबन्धस्य च निरस्तत्वात्। न चासावभावोपि, प्रतिषेध्यप्रतियोगिभावभेदाभिधानप्रसङ्गात्, सप्तपदार्थोपरिसमाप्तं च जगत्। परस्परविरोधेन तल्लक्षणस्य व्यवस्थापनादिति ॥ ३४ ॥

ननु प्रमेयत्वादिवदुपाधिरेव कश्चित्सम्बन्धत्वं समवाये वर्त्ततामत आह—नचेति। उपाधेरपि संयोगलक्षणस्य समवायलक्षणस्य वा तत्र वृत्तिर्न सम्भवतीत्यर्थः। ननु स्वभावसम्बन्धेनैव स उपाधिस्तत्र वर्त्ततामत आह—स्वभावेति। ननु समवाये भावरूपो धर्मः

सम्बन्धत्वं मा वर्तिष्टाभाव एवास्ताव स्थित्यत आह—नचेति। अभाव इति नञ्पदस्य निषेध्यो यः प्रतियोगी भावस्तदभिधानप्रसङ्गादित्यर्थः। प्रतिषेध्यप्रतियोगिपदयोः पर्यायत्वेपि प्रतिषेध्यपदं वस्तुपरं प्रतियोगिपदं वाच्यत्वपरमित्यन्ये। स्वार्थिकणिजन्तप्रतिषेधपदे क्त्वा-प्रत्ययेन प्रतिषेधं कृत्वा यः प्रतियोगीत्यर्थं इत्यपरे। प्रतिषेध्यं प्रतिषेधाधिकरणमित्यप्याहुः। ननु पदार्थान्तरमेव संबन्धत्वं स्यादित्यत आह—सप्तपदार्थीति। एतदेव कुत इत्यत आह—परस्परेति। तत्सगुणं निर्गुणं वा? सगुणं चेद् द्रव्यमेव निर्गुणमपि सामान्यवन्निःसामान्यं वा सामान्यवद्वा, सामान्यवदपि चलात्मकमन्यथाभूतं वा? आद्ये कर्मैव, अन्त्ये-गुण एव निःसामान्यमप्यसमवेतं समवेतं वा? आद्ये समवायः अन्त्येप्यनेकसमवेतमेक-समवेतं वा? आद्ये सामान्यं अन्त्ये विशेष एवेति षडेव भावाः सप्तमश्च भाव इत्यर्थः। "परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः। नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः" इति न्यायादित्यर्थः॥ ३४॥

यदि कहें (नित्यसम्बन्धः समवायः) यह लक्षणरूप उपाधि जैसे समवाय में रहता है वैसे ही प्रमेयत्वादि के समान सम्बन्धी परतन्त्रतारूप उपाधि समवाय में सम्बन्धत्व हो सकता है। अर्थात् उपाधि के सत्व से सम्बन्धत्व समवाय में होगा तो, यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि उपाधि भी समवाय में रहे बिना सम्बन्धत्व हो, तो अन्य में भी अतिप्रसक्ति होगी और समवाय में रहना हो, तो समवाय वा संयोग सम्बन्ध से रह सकता है। यहाँ समवाय में संयोग समवायसम्बन्ध का असम्भव है, संयोग द्रव्यमात्र वृत्ति होता है? और समवाय में समवाय को मानने पर आत्माश्रयादि की प्राप्ति होगी। और स्वभाव (स्वरूप) सम्बन्ध निरस्त हो चुके हैं। भावस्वरूप सम्बन्धत्व के नहीं सिद्ध होने पर अभाव को सम्बन्धत्व हो, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव के सम्बन्धत्व होने पर उस अभाव का निषेधार्ह (धर्मी) रूप प्रतियोगिसम्बन्धी (निरूपक) रूपभाव विशेष का कथन प्राप्त होगा, क्योंकि सामान्याभाव तो सम्बन्धत्व हो नहीं सकता, अतः विशेष प्रतियोगिक अभाव विशेष कहना होगा यह कहना अशक्य है, भूतलादि में अभाव है भी तो उसमें सम्बन्धत्व का व्यवहार नहीं होता है, अतः अभाव-सम्बन्धत्वरूप नहीं हो सकता। यदि कहें कि पदार्थान्तररूप समवाय में सम्बन्धत्व होगा, तो अभावसहित सप्तपदार्थ का समूहरूप संसार है, यह सप्तपदार्थीनियम परिसमाप्त (नष्ट) हो जायगा। क्योंकि, परस्परविरोध द्वारा उन सात के ही लक्षणों का आपके मत में व्यवस्थापन (निश्चय) किया गया है? अर्थात् सातों के सात विरुद्ध धर्मलक्षण से सात प्रकार निश्चय से सात पदार्थ निश्चय किया गया है और यह सम्बन्धत्व उन लक्षणों से युक्त नहीं होने से अष्टमपदार्थ प्राप्त होगा॥ ३४॥

यदपि नियम्याद्भिन्नं नियामकं यदपि कथं तदेव नियमयति नान्यदिति? तदाधारत्वादिति चेत्कः पुनराधारार्थः यत्र स्थीयते तत्? इति चेन्न, यत्रेति सप्तम्यर्थस्यापि विवेचनीयत्वात् इहेति प्रत्ययविषय इति चेन्न, तत्रेति प्रत्ययविषयस्यानाधारत्वप्रसङ्गात्। किञ्च प्रत्ययविशेषाधिगमो विषयविशेषाधिगमात् विषयस्य च विशेषाधिगमः प्रत्ययविशेषादिति व्यक्तमन्योन्याश्रयः। समवायी इति चेन्न, शशे शृङ्गाभावः कुण्डे बदरमित्याद्यव्याप्तेः। गौणस्तत्र प्रयोग इति चेन्न, एतावन्मात्रं प्रत्ययश्च भ्रान्त इत्यपि वक्तव्य-

मवशिष्यते भवतः। ओमिति चेदन्यविपरीतमेव कुतो न स्यात्? शशे विषाणं नास्तीति च यदि विषाणाभावाधिकरणत्वप्रतीतिर्भ्रान्ता शृङ्गस्य तर्हि शशोऽधिकरणं स्याद्, भावाभावयोरन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिपर्यवसायित्वेनाभ्युपगमात्॥ ३५॥

आधारत्वखण्डनं प्रस्तौति—यदपीति। आधारत्वमेव सप्तम्यर्थ इत्यर्थः। तत्रेति। तच्छब्दापेक्षया इदंशब्दस्यान्यार्थत्वादित्यर्थः। प्रत्यय एव कथं तथेत्यनुयोगे विषयवैलक्षण्यं नियामकं स्यात्तत्र च प्रत्ययवैलक्षण्यमित्यन्योन्याश्रय इत्याह—किञ्चेति। समवायीति। समवायित्वमाधारत्वमित्यर्थः। संबन्धान्तरेणाधारत्वेऽव्याप्तिरित्याह—शश इति। तत्रेति। समवायलक्षणां वृत्तिमन्तरेण यत्राधारत्वप्रतीतिरित्यर्थः। विपरीतमिति कुण्डे बदरमित्यादिप्रतीतिः प्रमास्तु पटे शौक्ल्यमित्यादिप्रतीतिरेव भ्रमः स्यादित्यर्थः। दूषणान्तरमाह—शश इति॥ ३५॥

सम्बन्ध लक्षण का नियामक होता है, इसकी पहले शंका हुई थी। वहाँ सम्बन्ध की दुर्निरूप्यता कही गई है। यदि कोई सम्बन्ध हो भी तो वह नियम्य लक्षण से भिन्न होता हुआ नियामक, उस लक्षण का हो नियमन कैसे करेगा? भिन्नत्व के तुल्य होते अन्य का नियमन क्यों नहीं करता है? यदि कहें कि उस लक्षण रूप आधार वाले होने से लक्षण का ही नियमन करता है, तो आधार शब्द का क्या अर्थ है? अर्थात् आधार भी दुर्निरूप्य है। यदि कहें कि जहाँ स्थिर रहा जाता है वह आधार है तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि 'यत्र' यहाँ सप्तमी विभक्ति का आधारत्व अर्थ है, परन्तु वही अभी विवेचनीय है, यदि कहें कि—'इह' इस स्थान में ज्ञान का जो विषय है वह सप्तमी विभक्ति का अर्थ है। यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि इस रीति से तो 'इह' के विरुद्ध (तत्र) वहाँ = उस स्थान में, इस ज्ञान के विषय को आधारत्व नहीं होगा। और 'इह तत्रादि' ज्ञान में विशेष (भेद) का ज्ञान, विषय विशेष के ज्ञानाधीन होता है ही, और उक्तरीति से विषय विशेष (अधिकरण) का ज्ञान, ज्ञान विशेष से होगा, तो स्पष्ट अन्योन्याश्रय होगा। समवायी (समवायित्व) समवायवत्त्व को आधारत्व कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि (शशे शृङ्गाभावः कुण्डे बदरम्) शश में शृङ्ग का अभाव है, कुण्डे में बेर है। यहाँ शश और कुण्ड को समवायवत्त्व के अभाव से अव्याप्ति होगी। यदि कहें कि वहाँ अधिकरणार्थक विभक्ति का प्रयोग गौण है, तो यह कहना युक्त नहीं होगा, क्योंकि यदि प्रयोग गौण है, तो इतना ही आप को नहीं कहना होगा, किन्तु वहाँ अनधिकरण में अधिकरण ज्ञान भ्रम है। यह भी कहना होगा। यदि स्वीकार करें, तो उत्तर यह है कि विपरीत ही क्यों न हो। अर्थात् कुण्डे बदरम्, इत्यादि प्रतीति प्रमा और पटे शौक्ल्यम्, इत्यादि भ्रम क्यों न हो? और शशे शृङ्गं नास्ति, इस ज्ञान को यदि भ्रमत्व है (शश में विषाण के अभाव का ज्ञान यदि प्रमा न होगा) तो शश शृङ्ग का अधिकरण सिद्ध होगा, और उसका ज्ञान प्रमा होगा, क्योंकि भाव और अभाव में से एक के निषेध को अन्य के विधान (विधि) के पर्यवसायित्व (साधकत्व) रूप से माना गया है, अतः शश में शृङ्गाभाव के निषेधादि से शृङ्गादि की प्राप्ति होगी॥ ३५॥

पतनप्रतिबन्धकमधिकरणम् इति चेन्न, अवयविनं गुणादिकं च प्रति

तदभावात्। अव्यवहिताधः स्थितम् इति चेन्न, गुणाद्यपेक्षया गुणवदादेरधः स्थितत्वे प्रमाणाभावात्। अविशेषेण वाक्यविगुणादीनामवयवाधारत्वप्रसङ्गात् ऊर्ध्वस्थितस्य च संयोगिनः संयोगं प्रति तदभावात् सूत्राऽवलम्बितद्रव्यादौ च बहुलं व्यभिचारात्। यद्येकोधिकरणार्थो नोपपद्यते तर्ह्यक्षरशब्दार्थवद्भिन्न एवास्तु इति चेन्न, आश्रयासिद्ध्यादेर्भेदप्रसङ्गात्। सोपि स्वीकार्य इति चेन्न, असिद्ध्यादिविषयपरिगणनस्य व्यवहारहेतोरन्यथाभावप्रसङ्गात्, क्वचिदाश्रयस्य समवायित्वात् क्वचिच्चाभावं समवायं च हेतुं प्रति तदसम्भवात्। एकस्य च तेषामुपसंग्राहकस्य वक्तुमशक्यत्वात् बहव एवाश्रयशब्दार्थाः आश्रयासिद्ध्यादयोपि पृथक् पृथगेव बहवः असिद्धिभेदपरिगणनग्रन्थोप्यन्यथाकारं बोधदर्शनात् इति चेन्न ॥ ३६ ॥

अवयविपतनं नावयवाः प्रतिबध्नन्ति तथा सत्यवयवी कदाचिदपि न पतेन्न वा गुणपतनं गुणी प्रतिबध्नाति गुणानां गुरुत्वानाधारतयाऽपतनधर्मकत्वादिति तदुभयं प्रत्याधारत्वं न भवेदित्याह—अवयविनमिति। अश्वादीनां पटाद्याधारत्ववारणायाऽव्यवहितेति। गुणगुणिनोरौत्तराधर्यस्य नियन्तुमशक्यत्वमित्याह—गुणादीति। अवयविगुणादीनामिति। अवयविनां ये गुणादयस्तेषामव्यवधानाविशेषादवयवा अप्याधाराः स्युरित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। कुण्डे वदरसंयोगस्यापि वदरमाधारो न स्यादधः स्थितत्वाभावादित्याह—ऊर्ध्वेति। अधः स्थितेपि सूत्रबद्धे द्रव्ये सूत्रस्याधारत्वप्रतीत्या तत्राऽव्याप्तिरित्याह—सूत्रेति। उत्पत्तये स्थितये ज्ञप्तये वा यद्येनापेक्ष्यते तदेव तदाधार इति नानार्थ एवायमाधारशब्द इत्याह—यदीति। आश्रयासिद्ध्यादेराश्रयनानात्वेन भेदः स्यादित्याह। आश्रयेति। आदिपदाद्व्यभिचारादिपरिग्रहः। व्यभिचारोपि साध्याभावसामानाधिकरण्यमित्यत्राप्यधिकरणशब्दस्य नानार्थत्वादिति भावः। आश्रयासिद्धिभेदोपि कार्य इत्याह—सोपीति। आश्रयासिद्धिभेदा एवचिद्बहवस्तदाऽसिद्धित्रयव्युत्पादकं शास्त्रं विरुध्येतेत्याह—असिद्धीति। आश्रयासिद्धिभेदमेव प्रपञ्चयति—क्वचिदिति। आश्रयत्वस्यानुगतस्याभावादित्याह—एकस्य चेति। अन्यथाकारमिति। व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रमितत्वस्यानुगतस्याश्रयभेदेपि सुवचत्वात्सर्वेषामेवाश्रयाणां पक्षत्वेनोपसङ्ग्रहादित्यर्थः। बाधो दोषः ॥ ३६ ॥

पतन का प्रतिबन्धक अधिकरण होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, अवयवी (द्रव्यात्मक कार्य) के प्रति अवयव (द्रव्यकारण) के आधार होने पर भी वह उनके अधःपतन का प्रतिबन्धक (निरोधक) नहीं होता। अवयवी का पतन हो तो अवयव साथ ही पतित होता है। गुणादि में पतन का हेतु गुरुत्व नहीं रहता है, अतः उसका पतन ही नहीं होता जिसका कोई प्रतिबन्धक हो, अतः अव्याप्ति होगी। अव्यवहित (व्यवधान रहित) जो जिससे नीचे स्थिर है, वह उसका अधिकरण (आधार) है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गुणादि की अपेक्षा से गुणी अवयव के नीचे स्थिति में कोई प्रमाण नहीं है। और अवयवी के जो गुणादि हैं, उनका अवयवी आधार है, परन्तु विशेष के अभाव से उनका अवयव भी आधार होगा, अतः अतिव्याप्ति होगी, और ऊपर रहने वाले संयोगी (संयोगसम्बन्धवाले) को संयोग से नीचे स्थिति के अभाव से संयोग के प्रति आधारत्व नहीं होगा, और सूत्र (तन्तु-रस्सी) आदि में अवलम्बित (स्थित) बाँधकर लटकाये गये द्रव्यादि में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि,

उनके आधार रूप से प्रसिद्ध सूत्रादि ऊपर रहते हैं, आधेय द्रव्यादि (फल गेंदादि) नीचे रहते हैं। यदि कहें कि उक्त रीति से एक अधिकरण शब्द का अर्थ यदि नहीं सिद्ध होता, तो जैसे अक्ष शब्द के इन्द्रिय, पाशा, हरड़ अनेक अर्थ होते हैं, वैसे ही अधिकरण शब्द अनेकार्थक है। उत्पत्ति एवं स्थिति ज्ञान के लिये जिसको जो अपेक्षित है, वह अवयवादि उस अवयवी आदि का आधार है, तो यह कहना असंगत है, क्योंकि ऐसा होने पर आश्रयासिद्धि और व्यभिचार में भेद की प्राप्ति होगी, क्योंकि विशेषण के भेद से आश्रय (अधिकरण) के भेद होने पर प्रतियोगी के भेद से आश्रयासिद्धि में भेद होगा। तथा साध्याभावसामानाधिकरण्य रूप व्यभिचार होता है, अतः वहाँ भी अधिकरण के भेद से भेद होगा। यदि कहें कि वह भी मान्य है, तो कथा आदि में व्यवहार का हेतु जो असिद्धि आदि के विषय का प्रकार का परिगणन (संख्या) है, उसका अन्यथा भाव होगा। अर्थात् अधिक संख्या की प्राप्ति होगी। क्योंकि कहीं गुणादि के प्रति आश्रय को समवायित्व होगा और कहीं अभाव समवाय और हेतु के प्रति उस समवायित्व के अभाव से अधिक संख्या होगी। और उनका उपसंग्राहक स्वरूप एक धर्मादि को आश्रयत्व रूप कहना अशक्य है, यदि कहें कि आश्रय शब्द के अर्थ बहुत हैं, और आश्रयासिद्धि व्यभिचार भी पृथक् पृथक् ही बहुत हैं, और अधिक संख्या की प्राप्ति रूप बाध के देखने से असिद्धि भेद का परिगणनरूप ग्रन्थ भी अन्यथा ज्ञातव्य है, तो यह कहना असंगत है ॥ ३६ ॥

तथापीह कुण्डे बदरमित्यत्र क आधारार्थ इति वक्तव्यम्। न तावत्पतनप्रतिबन्धकत्वं सहैव कुण्डेन पतति बदरे तदभावात्। नापि संयोगित्वं वैपरीत्यस्यापि प्रसङ्गात्। संयोगित्वे सत्यधः स्थितत्वं तत्राधिकरणार्थ इति चेन्न, तस्मिन् सत्यप्यन्यत्र चरणतलमिलितधूलिपटलादौ तदधिकरणप्रतीत्यनुत्पत्त्या प्रत्युत चरणतले धूलीत्येव प्रतीत्याऽऽधारत्वप्रतीतौ व्यभिचारित्वेन प्रकृतेपि तथा स्वीकारानुपपत्तेः, न सार्वत्रिकोयमाधारार्थः किन्तु काचित्को नानारूपाधारत्ववादिपक्षे इति चेन्न, भवत्वन्यत्रान्यस्याधारार्थत्वं तस्य त्वाधारार्थत्वं नोपपद्यते अनाधारत्वप्रतीतिविषयेपि गतत्वादित्युक्तेः ॥ ३७ ॥

तथापीति। आश्रयार्थो विशिष्य निर्वक्तुमशक्य इत्यर्थः। सहैवेति। यद्यपि कुण्डादधः पतनं तत्रापि कुण्डप्रतिबद्धमेव तथापि तदाकाशदेशात्पतनं न प्रतिबध्नातीत्यर्थः। वैपरीत्येति। दध्नोपि कुण्डाधारत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। तस्मिन्निति। अधःस्थितत्वे सत्यपि धूलीपटलस्याधेयत्वमेव न त्वाधारत्वमित्यर्थः। अन्यत्रेत्यस्य विशेष्यं धूलीपटलादाविति प्रकृतेपीति। विशिष्यापि यल्लक्षणमुपक्रान्तं तदप्यतिव्यापकमेवेत्यर्थः। संयोगवृत्त्याप्याधारत्वं नानैवेति शङ्कते—नेति। तत्रापि यद्विशेषलक्षणं कृतं तदेव धूलीपटलादावतिव्यापकमिति परिहरति—भवत्विति। अनाधारप्रतीतिविषये धूलीपटलादावित्यर्थः ॥ ३७ ॥

क्योंकि, आश्रयासिद्धि आदि की उक्त व्यवस्था मान लेने पर भी 'इस कुण्डे में बैर है' यहाँ आधार रूप अर्थ क्या है? यह कहना होगा। पतन प्रतिबन्धकत्व अर्थ तो हो नहीं सकता। क्योंकि जहाँ कुण्ड सहित बैर गिरता है वहाँ पतन प्रतिबन्धकत्व का

अभाव कुण्डे में रहता है, तो भी कुण्डे में बैर कहा जाता है। संयोगित्व भी आधारत्व नहीं हो सकता, क्योंकि बैर भी कुण का संयोगी है, अतः विपरीतता की भी प्राप्ति होगी। अर्थात् बैर भी कुण्ड का आधार कहाने लगेगा। संयोगी होते अधःस्थिरता आधारता है, ऐसा कहने पर उक्त विपरीतता का वारण होगा, परन्तु जहाँ पैर के अधो भाग से मिलित धूलि समूह है, वहाँ उस चरण तल के अधिकरण रूप से धूली की अप्रतीति से उल्टा चरण तल में धूली है, ऐसी ही प्रतीति से अधःस्थित संयोगी में वहाँ आधारत्व प्रतीति के व्यभिचारित्व होने से (अभाव होने से) प्रकृत कुण्ड बदर में वैसा स्वीकार की अनुपपत्ति है, यदि कहें कि नाना आधारत्ववादी के पक्ष में यह आधाररूप अर्थ सार्वत्रिक नहीं है, किन्तु काचित्क (कहीं रहने वाला) है। अतः कुण्डे बदरम् , यहाँ अधःस्थित संयोगित्व है, अन्यत्र अन्य आधारत्व है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि (चरणतले धूलिः) यहाँ अन्य आधारार्थ हो, तो भी जो, अधःस्थित संयोगित्व, रूप लक्षण है, उसकी चरणतलाधः स्थित धूलि में अतिव्याप्ति है, अतः उसका आधारार्थ नहीं सिद्ध होता। क्योंकि अनाधारत्व प्रतीति के विषय में भी यह लक्षण प्राप्त है। यह पहले कहा गया है ॥ ३७ ॥

आधेयापेक्षया महत्परिमाणत्वे सति इति चेन्न, करतलस्थिततूलराश्यादौ तदसम्भवात् अन्यस्य च तत्राधारार्थस्य वक्तुमशक्यत्वात् , अधः शब्दार्थस्य च वक्तुमशक्यत्वात्। पतनाभिमुखदिगवस्थितत्वम् इति चेन्न, पतनार्थस्य गमनाधिकस्याधःशब्दार्थव्यतिरेकेण निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अत एवाधः शब्दार्थदुर्वचनत्वमधिगम्याद्वैतवादिना गुरुणा शिष्याय खण्डनमुपाचक्षाणेन भगवता पराशरेणाभिहितम् 'अधःशब्दनिगद्यं किं किञ्चोर्ध्वमभिधीयते' पृथिव्यभिमुखा दिगधः शब्दार्थ इति चेन्न, ऊर्ध्वशब्दार्थस्यापि पृथिव्यभिमुखा दिक् तदपेक्षया साध इति चेन्न, यदपेक्षयेति किं यमवधीकृत्येति विवक्षितमुत यदीयाभिमुख्यव्यवस्थितेति ॥ ३८

आधेयेति। धूलिस्तु चरणापेक्षयाल्पपरिमाणेति भावः। करतलेति। प्रचयाख्यसंयोगेन करापेक्षया तूलकपिण्डे महत्त्वारम्भादिति भावः। ननु तत्रापि पृथगेवाधारत्वं स्यादित्यत आह—अन्यस्येति। अव्यवहिताधः स्थितमिति यदुक्तं तत्राह—अध इति। यदभिमुखं फलादि पतति तदधः शब्दार्थ इत्याह—पतनेति। अधःसंयोगफलिका क्रिया पतनमित्यन्योन्याश्रय इत्याह—पतनेति। गुरुणा ऋभुणा शिष्यस्य यत्खण्डनं कृतं तदुपाचक्षाणेन तदुपाख्यानं कुर्वता पराशरेणेत्यर्थः। पृथिवीति। उपरि स्थितं पदार्थमपेक्ष्य या पृथिव्यभिमुखा दिक् साऽधः शब्दार्थ इत्यर्थः। ऊर्ध्वेति। आभिमुख्यमुभयत्राप्यविशिष्टमित्यर्थः। मार्तण्डमण्डलापेक्षया पृथिव्यभिमुखा दिक् तदपेक्षयैवाध इति शङ्कते—यदिति। यदपेक्षयेति। अवधित्वमात्रे वाऽपेक्षा आभिमुख्ये वा अपेक्षेति विकल्पार्थः ॥३८॥

यदि कहें कि आधेय (आश्रित) की अपेक्षा महत् परिमाण वाला होता हुआ जो अधःस्थित संयोगी हो, वह आधार होता है। और धूलि तो चरणतल की अपेक्षा अल्पपरिमाण वाली है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जहाँ करतल स्थित प्रचययुक्त तूलराशि आदि है, वहाँ करतल में उस आधारत्व का असम्भव होगा, क्योंकि तूलराशि आदि की अपेक्षा करतल में महत्व का अभाव

है। यदि कहें कि वहाँ करतल में अन्य आधारत्व कहेंगे, तो यह युक्त नहीं (अन्य आधारत्व वहाँ कहना अशक्य है) और अव्यवहित अधःस्थित को जो आपने आधार कहा है, वहाँ अधः शब्द के अर्थ को कहना भी अशक्य है, यदि कहें कि वृक्षादि से जो फलादि के पतन के अभिमुख (सम्मुख) दिशा में स्थिरत्व है, वही अधः पदार्थ है। अर्थात् जिस तरफ फलादि गिरता है, वही अधः शब्द का अर्थ है। तो यह भी युक्त नहीं, क्योंकि अधः शब्दार्थ के व्यतिरेक (अभाव) रहते (अधः शब्दार्थ के साथ सम्बन्ध के बिना) गमनार्थक पतन शब्द का गमन से अधिक (विशेष) पतनरूप अर्थ को कहना अशक्य है। अतः अधः शब्दार्थ की सिद्धि से अधोगमन रूप विशेष अर्थ पतन शब्द का सिद्ध होगा। और पतन के विशेषार्थ की सिद्धि से अधः शब्दार्थ सिद्ध होगा, अतः अन्योन्याश्रय है। अतएव अधः शब्दार्थ को दुर्वचनत्व समझ कर, अद्वैतवादी गुरु ऋभुने जो शिष्य निदाघ को खण्डन का उपदेश दिया था उसका उपव्याख्यान करते हुए भगवान् पराशर मुनि ने कहा है कि अधः शब्द से वक्तव्य क्या है ? और ऊर्ध्व शब्द से क्या ? अर्थात् दोनों शब्द का अर्थ अनिर्वाच्य है। यदि कहें कि ऊपर स्थिर पदार्थ की अपेक्षा जो पृथिवी के सम्मुख दिशा है वह अधः शब्द का अर्थ है, अनिर्वाच्य नहीं। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, ऊर्ध्व शब्दार्थ को भी आपेक्षिक पृथिवी के अभिमुखत्व का सम्भव है। हमारी दृष्टि से ऊर्ध्व में स्थिर भी चन्द्रादि सूर्य की अपेक्षा से पृथिवी के अभिमुख हैं। यदि कहें की जिस सूर्य की अपेक्षा पृथिवी के अभिमुख जो दिशा है, वह सूर्य से अधः इष्ट ही है, तो यह कहना भी युक्त नहीं। यदपेक्षया इसका अर्थ किया जाता है, वह विचारणीय है। किसी को अवधि करके अवधित्व मात्र की अपेक्षा विवक्षित है ? या जिसके अभिमुखता व्यवस्थित हो, ऐसा विवक्षित है ? ॥ ३८ ॥

आद्ये पृथिव्यूर्ध्वस्थितं यदर्थमवधीकृत्य योर्ध्वा दिगिति भवद्भिर्व्यवह्रियते सापि पृथिव्यभिमुखी भवतीति साप्यधः स्यात्। अत एव न द्वितीयोपि, यस्यां दिशि क्रियया पृथिवी सन्निहिता भवति सा दिगध इति चेन्न, कूपादौ मध्यगतस्य तिर्यग्दोलायमानस्य क्रिया पतनं स्यात् तद्गत्याक्रान्ता च तिर्यगधः स्यात्। पृथिवीमवधीकृत्य यं चान्यं पदार्थमवधीकृत्य यो मध्य इति देशो व्यवह्रियते स पृथिवीव्यतिरिक्ततदवध्यपेक्षयाध इति चेन्न, पृथिव्यामेव तद्व्यवहारापत्तेः ॥ ३९ ॥

आद्य इति। पृथिव्या उपरि गिरिस्तमवधीकृत्योर्ध्वस्य मार्तण्डमण्डलस्याप्यधःशब्दार्थत्वं स्यादित्यर्थः। आभिमुख्यस्य साधारण्यादवधेश्चात्रापि सत्त्वादित्यर्थः। अत एवेति। आभिमुख्यस्योर्ध्वाधःसाधारणत्वादिति भावः। यस्यां दिशीति। यया क्रियया पृथिवी सन्निहिता भवति सा क्रिया पतनमिति तात्पर्यार्थः। यस्यां दिशीत्यध इति च कथंचिदुपलक्षणतयोक्तम्। अत एव पतनलक्षणातिव्याप्तिरित्याह—कूपादाविति। कूपे घूर्णमानस्य विहङ्गमादेः क्रिया पतनं स्यादित्यर्थः। तद्गत्येति। सा चासौ गतिश्चेति तद्गतिः तस्य दोलायमानविहङ्गमादेर्गतिर्वा तद्गतिरित्यर्थः। पतनलक्षणया क्रियया यत्र संयोगो जन्यते तस्यैवाधःशब्दार्थत्वादिति भावः। पृथिवीमार्तण्डमण्डलान्तरालदेशो मार्तण्डापेक्षयाध इत्याह—पृथिवीमिति। पृथिव्यामिति। पृथिव्याः पृथिवीमार्तण्डापेक्ष-

यान्तरालस्वाभावान्मार्तण्डापेक्षया पृथिव्यधो न स्यादित्यर्थः। पृथिव्यपेक्षया नागलोको नाधः स्यात्पृथिव्यतिरिक्तत्वेनावधेर्विशेषितत्वादिति वार्थः ॥ ३९ ॥

यहाँ प्रथम पक्ष में पृथिवी के ऊपर जो पदार्थ हैं, और जिस पदार्थ को (अवधिमान करके जो दिशा आप से ऊर्ध्व कही जाती है) वह भी उससे भी ऊपर की अपेक्षा से पृथिवी के अभिमुख होती है, अतः वह नीचे होगा। इसीसे द्वितीय पक्ष नहीं हो सकता। तत्तत् ऊपर से ऊपर की अपेक्षा ऊपर की पदार्थों की भी पृथिवी की अभिमुखता व्यवस्थित है, कि अमुक विष्णु लोक से अमुक ऋषि मण्डल अधः है इत्यादि। यदि कहें कि क्रिया वाले पदार्थ की जिस दिशा में क्रिया से उसके लिये पृथिवी सन्निहित (समीप) होती है, वह दिशा अधः शब्दार्थ है, तो यह लक्षण भी युक्त नहीं, इस प्रकार तो कूप मन्दिरादि में मध्यगत डोलते हुए, तिर्यग् भ्रमण करते हुए पक्षी आदि की क्रिया भी पतन होगी, उसकी क्रिया से आक्रान्त (सन्निहित हुई) तिर्यग् दिशा अधः होगी। यदि कहें कि पृथिवी को अवधि करके जिस अन्य पदार्थ सूर्य चन्द्रादि को अवधि करके जो मध्य देश ऐसा कहा जाता है, वह पृथिवी से भिन्न देश घटपटादि का प्रदेश उस अन्य सूर्यादि की अपेक्षा से अधः है, यह भी युक्त नहीं, इस प्रकार पृथिवी में ही सूर्यादि से अधः व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा ॥ ३९ ॥

पृथिवीं पदार्थान्तरं चापेक्ष्य मध्यत्वस्य विवक्षितस्याधःशब्दार्थप्रदर्शनमन्तरेण निर्वक्तुमशक्यत्वात्। पृथिव्यपेक्षयोर्ध्वमपरापेक्षया चाधः तत्र तयोर्मध्यमित्येव निरुच्यते मध्यत्वम् अन्यथा तिर्यगतिप्रसङ्गात्। तद्यथा पृथिव्यपेक्षया पूर्वमपरापेक्षया च पश्चिमं तयोर्मध्यमुच्यते प्रतीपदिगवस्थितयोः परस्परापेक्षया प्रतीपदिक्सङ्करे मध्यव्यवहारात् ॥ ४० ॥

पृथिवीमिति। पृथिव्या ऊर्ध्वं मार्तण्डस्य वाधो मध्यमिति मध्यत्वज्ञानमधो ज्ञानाधीनमधोज्ञानं च मध्यत्वज्ञानाधीनमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। एतदेवाह—पृथिवीति। अन्यथा तिर्यग्देशोपि मध्यः स्यात् यद्यधरतन्निरूपकं प्रकृते न स्यादित्याह—अन्यथेति। तदेव व्युत्पादयति। तद्यथेति। परस्परेति। विरुद्धयोर्दिशोरन्तराले मध्यव्यवहारादित्यर्थः, प्रतीपदिगवस्थितयोरिति ॥ ४० ॥

क्योंकि, उक्तरीति से पृथिवी और सूर्यादि के मध्य में पृथिवी के नहीं होने से पृथिवी अधः नहीं कही जायगी, यह तो पहली बात है। दूसरी बात यह है कि पृथिवी और पदार्थान्तर की अपेक्षा से विवक्षित मध्यत्व को अधः पदार्थ के प्रदर्शन बिना कहना अशक्य है, क्योंकि पृथिवी की अपेक्षा से ऊपर, अन्य की अपेक्षा से अधः, यही मध्य है, अतः अधः की सिद्धि ज्ञान के बिना मध्य का ज्ञान नहीं हो सकता, और उस रीति से मध्य ही अधः शब्दार्थ है। अतः मध्य के ज्ञान बिना अधः का ज्ञान नहीं होने से अन्योन्याश्रय है। क्योंकि, जहाँ ऊर्ध्व अधः है, वहाँ उन दोनों का जो मध्य है, उसी को मध्यत्व कहा जाता है। अन्यथा (यदि मध्य का निरूपक अधः न हो) तो तिर्यग् में भी मध्यत्व की प्राप्ति होगी। जैसे कि पृथिवी की अपेक्षा से पूर्व और पूर्व समुद्रादि अपर की अपेक्षा से पश्चिम समुद्रतट उन दोनों का मध्य कहा जाता है। इस प्रकार विरुद्धदिक् में स्थित दो के परस्पर की अपेक्षा से विरुद्ध दिशाओं के संकर में मध्य

का व्यवहार होता है, अधः के बिना इसी मध्य की प्रतीति होगी। और अधः के रहते अन्योन्याश्रय है, अतः अधः की अनिरुक्ति से (अधः स्थितत्वयुक्त संयोगित्व) रूप आधार का लक्षण नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

अथान्यः कश्चिदाधारार्थोऽस्तु प्रतीतिसिद्धत्वात् प्रतीतेश्चैवमनन्योपपाद्यत्वात् मैवम्। तद्धयनित्यं वा स्यान्नित्यं वा ? नाद्यः तदभावे आधारप्रतीत्यभावप्रसङ्गात् गोत्वादिनित्यत्वन्यायसाम्येप्यस्यानित्यत्वे तेषामप्यनित्यत्वापाताच्च। नापि द्वितीयः तादृशमप्यनुगतमननुगतं वा स्यात्, द्वितीये त्वनुगताधारप्रतीत्यसम्भवः सङ्केतग्रहाशक्यत्वं च। प्रथमे सामान्यवदाश्रयापरित्यागि वा स्यात्तत्त्यागि वा ? आद्ये यदेव तदाधारतया प्रतीतं तत्तदाधेयं न स्यात्, द्वितीये च यदि नियामकमन्तरेण तत्स्वाश्रयं भजति च त्यजति च तदनियमानुपपत्त्या सर्वदा तद्भजनत्यजनोचितप्रत्ययव्यवहारप्रसङ्गः ॥ ४१ ॥

स्फुटार्थं निरूपकमात्राभिधानं अधःपदार्थानिरुक्त्या व्यवहिताधःस्थितत्वमाधारत्वं मास्तु यदतिरिक्तमेव किञ्चित्स्यादित्याह—अथेति। इहेतिप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या कल्पनीयमिति भावः। तद्धीति यत्कल्पनीयमाधारत्वमित्यर्थः। तदभावे इति। तदभावकाले इत्यर्थः। गोत्वादीति। एकगोव्यक्तिनाशेपि व्यक्त्यन्तरनिष्ठतया प्रतीयमानत्वं प्राक्पश्चाच्च प्रतीयमानत्वं गोत्वस्य नित्यत्वमन्तरेणानुपपद्यमानमित्ययं न्यायोऽस्याधारत्वेपि तुल्यः स चेदाधारत्वं नित्यं न साधयेद्गोत्वमपि नित्यं न साधयेदित्यर्थः। यद्वा आधारत्वस्यानित्यत्वे गोत्वमपि नित्यं न स्यादाधारमन्तरेण तस्यानिरूपणादित्यर्थः। सङ्केतेति। व्यक्तीनां आनन्त्यव्यभिचाराभ्यामाधारपदशक्तिग्रहो न स्यादित्यर्थः। यदेव तदिति। आधाराधेयभावापन्नयोः पीठपिठरयोर्नियमेनाधाराधेयभावौ न प्रतीयेते, पीठस्याधेयतादशायामप्याधारत्वपरित्यागप्रसङ्गादित्यर्थः। यत्तु व्याख्यानं दण्डाधारः पुरुषो दोलाद्याश्रये न स्यादिति तदनादेयं दण्डाधारदशायामपि दोलाधेयत्वसम्भवात्। सर्वदेति। आधारत्वस्य स्वाश्रयपरित्यागेनाधारत्वप्रतीतिर्भजने चाधारत्वप्रतीतिरित्येकं वस्तु सर्वदा विरुद्धप्रतीतिद्वयालिङ्गितं स्यादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

शंका होती है कि उक्तरीति से आधार के लक्षण नहीं सिद्ध होने पर भी किसी अन्य लक्षण वाला आधार रूप अर्थ प्रतीति सिद्ध होने से होगा, क्योंकि (कुण्डे बदरम् , इह घटः) इत्यादि प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है, और उक्त रीति की प्रतीति की अन्यथा, आधारत्व की कल्पना के बिना उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती है, अतः आधारत्व कल्पनीय है, परन्तु युक्ति से आधार की सिद्धि नहीं हो सकने से प्रतीतिभ्रमरूप भी हो सकती है, इस आशय से कहते हैं कि यह शंका युक्त नहीं है। क्योंकि, वह कल्पनीय आधारत्व अनित्य कल्पित होगा ? या नित्य यहाँ प्रथमपक्ष (अनित्य) मानें तो उसके अभाव काल में आधार की प्रतीति का भी अभाव प्राप्त होगा। परन्तु उसकी प्रतीति सदा होती है। अनुगत प्रतीति से तथा जो व्यक्ति के पूर्व पर काल में प्रतीति आदि से गोत्वादि को नित्य माना जाता है, उस गोत्वादि के नित्यत्व न्याय (युक्ति) के तुल्य रहते भी आधारत्व को अनित्य मानने पर उन गोत्वादिकों को भी अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। और दूसरा नित्यत्व पक्ष भी असंगत है। क्योंकि, वह नित्य आधारत्व भी

अनुगत है ? या अननुगत इसमें दूसरे अननुगत पक्ष में आधार की कुण्डगृहादि आधार विषयक अनुगत (व्यापक) प्रतीति का असम्भव होगा। अनुगत विषय के बिना अनुगत प्रतीति नहीं होगी, और व्यापक धर्म के बिना संकेतग्रह (सर्वाधारविषयक आधार शब्द की शक्ति का ज्ञान) भी नहीं होगा। और प्रथम (आधारत्व अनुगतत्व) पक्ष में आधारत्व भी जाति के समान अपने आश्रय का सदा अत्यागी होगा या कभी त्यागी होगा ? यहाँ प्रथम जाति तुल्यता पक्ष में जो पीठ (पीढा) ही देवदत्त का आधार रूप से प्रतीत (ज्ञात) हुआ है, उसी को यदि वही देवदत्त शिर पर धरता है तो आधेय (आश्रित) होता है, वह नहीं होगा, और दूसरे पक्ष में यदि वह आधारत्व किसी नियामक हेतु के बिना अपने आश्रय को भजता और त्यागता है, तो उस त्याग ग्रहण के नियम की असिद्धि से उसमें सदा ही भजन और त्याग के योग्य ज्ञान और व्यवहार की प्राप्ति होगी, अर्थात् सदा ही आधार अनाधार = या आधेयरूप-विरुद्ध प्रतीति का व्यवहार का विषय आधारत्व का आश्रय होगा ॥ ४१ ॥

अथ तस्याश्रयभजनत्यजनयोर्नियामकमस्ति तर्हि स वक्तव्यः सोऽपि कल्पयिष्यतेऽन्यथाधारप्रतीत्यनुपपत्तेः इति चेन्न, तत्परिकल्पने यदेव भजने नियामकं स एवाधारोऽस्तु कृतं पूर्वपरिकल्पितेनेति। अस्त्वेवमेव इति चेन्न, तस्यापि स्वाश्रयभजनत्यजननियामकस्यावश्यं वाच्यत्वे तस्यापि चैवं वैयर्थ्यमित्यधिकापरिकल्पने नियमानुपपत्तिरधिकपरिकल्पने च पूर्ववैयर्थ्य-प्रसङ्ग इति दुरुत्तरं व्यसनमापद्येत। परस्परस्य परस्परेण नियामकत्वम् इति चेत् अन्योन्याश्रयिणौ तौ द्वावपि परस्पराकर्षकभावव्यवस्थया सुस्थी-कुरु ततो दास्यामस्तवोत्तरम् ॥ ४२ ॥

स वक्तव्य इति। तादृशं न किञ्चिदस्तीति भावः। तत्परिकल्पने इति। आधारत्ववि-शिष्टप्रतीतेरन्यदेव यर्हि प्रयोजकमिति किमाधारत्वेनेत्यर्थः। अस्तु इति। भजननियाम-कमेवाधारत्वस्थानेऽभिषिच्यतामित्यर्थः। भजननियामकमाधारत्वाभिव्यञ्जकं धर्मान्तरं तदेवाभिव्यक्तिविरोधि। धर्मान्तरं त्यजननियामकमित्यर्थः। त्यजननियामकं च विना-शकमिति व्याख्यानमनादेयम्। नित्यत्वपक्षस्यात्र दूष्यत्वात्। तस्यापि इति। भजननि-यामकस्यापीत्यर्थः। तत्रापि त्यागि वाऽत्यागि वेति विकल्पसम्भवादिति भावः। दुरुत्तरम् इति। पूर्वं प्रति यन्नियामकं तेनैव तद्वैयर्थ्ये क्वापि विश्रामो न स्यात्। उपजीव्योपजीव-कभावोऽपि न नियामकः। आधारत्वस्यानुत्पादादेवोत्पत्तौ नोपजीव्यत्वं ज्ञप्तावुप-जीव्यत्वेनान्यथासिद्धेः सम्भवादिति भावः। अनवस्थापरीहाराय—परस्परेति। एवं सत्यन्योन्याश्रयो दोषः क्वापि न स्यादित्याह—अन्योन्ये इति ॥ ४२ ॥

यदि आधारत्व स्वाश्रय की प्राप्ति और त्याग में नियामक है, तो वह वक्तव्य है। यदि कहें कि आधारत्व के बिना उसकी प्रतीति की अनुपपत्ति से उस आधारत्व के नियामक की कल्पना की जायगी, तो यह कहना युक्त नहीं, उस आधारत्व के नियामक की कल्पना करने पर जो उस आधारत्व के स्वाश्रय के भजन में नियामक होगा, वही आधारार्थ आधारत्व होगा, पूर्व परिकल्पित आधारत्व का कोई फल नहीं है, यदि कहें कि ऐसा ही हो, तो उसके स्वाश्रय के भजन त्याग में नियामक के अवश्य वक्तव्य होने पर उसके नियामक मानने पर उसका इसी प्रकार नियामक की कल्पना से पूर्वपूर्व में

व्यर्थता की प्राप्ति होगी। आगे अधिक की कल्पना नहीं करने पर नियम की सिद्धि नहीं होगी। और अधिक की कल्पना करने पर पूर्वपूर्व की व्यर्थता की प्राप्ति होगी। इस प्रकार दुरुत्तर (अनिवार्य) व्यसन (कष्ट) प्राप्त होगा। यदि कहें कि आधारत्व और उसके नियामक में परस्पर के द्वारा परस्पर को नियामकत्व होगा, तो अनियमन या पूर्वपूर्व में व्यर्थत्व नहीं होगा तो परस्पराश्रय वाले उन दोनों को भी परस्पर आकर्षकत्व-रूप व्यवस्था से सुस्थिर करें, तो फिर आपका उत्तर दूंगा। अर्थात् ऐसा हो तो अन्योन्याश्रय दोष का ही अभाव हो जाय। अतः ऐसा नहीं हो सकता है। यह उत्तर है ॥ ४२ ॥

जात्यादयोऽपि तर्ह्येवमनुपपन्ना इति चेत् नोच्चैर्वक्तव्यम्। यदि कोऽपि परः शृणोति तदा महदनिष्टमस्माकं प्रकाशीकृतं स्यात्। किञ्च यत्तदाधारत्वं तत्साधारमनाधारं वा? अन्त्ये क्व विशिष्टप्रत्ययं कुर्याद्विशेषाभावात्। आद्ये तदाधारत्वं वाच्यम्। स्वरूपमेव तस्य तादृशं येन स्वयं सत्ता स्वात्मनि सत्ताप्रत्ययकारिणी सत्तान्तरमन्तरेण यथा यथेदमपि विनैवाधारत्वान्तरं स्वाधारप्रत्ययकारि इति चेन्न, भ्रान्तित्वप्रसङ्गात्। यथा विना रजतत्वं तत्प्रत्ययो भ्रान्तिस्तथैव स्यात्। उपपाद्यश्चायमर्थो भेदखण्डनप्रस्तावे इत्युपरम्यते। विनाप्याधाराधेयभावं स्वभावसंबन्धेन नियामकत्वं भविष्यति। यथा विषयविषयिभावेनार्थज्ञानयोः इति चेन्न, स्वभावसम्बन्धस्य निरस्तत्वात् ॥ ४३ ॥

आधारत्वखण्डनं जात्युपप्लावकमित्याह—जात्यादय इति। इष्टापत्तिमाह—नोच्चैरिति। सर्वपदार्थखण्डनप्रवृत्तस्य जातिखण्डनमिष्टमेवेति भावः। तदाधारत्वमिति आधारत्वविशिष्टे वर्तमानमाधारत्वं साधारं भवेत्तथा च तदाधारत्वं वाच्यमित्यर्थः। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दोषमाह—भ्रान्तित्वेति। विषयविषयिभावखण्डनं प्रस्तौति—विनेति ॥ ४३ ॥

यदि कहें कि इस रीति से आधारत्व के खण्डन करने पर तो जाति, गुण तथा कर्म भी सिद्ध नहीं होंगे, क्योंकि उनके भी स्वाश्रय सम्बन्ध के नियामक की कल्पना में अनवस्था होगी। नियामक के बिना उनकी नियत स्थिति की प्रतीति नहीं होगी। तो यह उच्च स्वर से नहीं कहना। यदि कोई सुनेगा तो हमारा अति अनिष्ट प्रकाशित होगा। अर्थात् यह उच्चस्वर से कहो, अनिर्वाच्यवादी का इष्ट ही प्रकाशित होगा। और वह जो आधारत्व है, साधार है? या अनाधार (निराधार)। निराधार पक्ष में वह कहाँ स्वविशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करेगा? किसी के सम्बन्धादि रूप विशेष के अभाव से सर्वत्र स्वविशिष्ट बुद्धि करेगा? या कहीं नहीं? प्रथम पक्ष में उस आधारत्व का आधारत्व वक्तव्य है, कि वह क्या है? यदि आधारत्व का भी आधारत्व अन्य मानें तो अनवस्था होगी। यदि कहें कि उस आधारत्व का स्वरूप ही वैसा है जैसे सत्ता, अन्य सत्ता के बिना ही अपने स्वरूप में सत्त्व बुद्धि कराती है, वैसे आधारत्व भी आधारत्वान्तर के बिना ही अपने आधार ज्ञान को सिद्ध करता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर उस ज्ञान को भ्रान्तित्व प्राप्त होगा, जैसे रजतत्व के बिना उसका ज्ञान भ्रम होता है, वैसे ही अधिकरणरहित का साधिकरण ज्ञान

भ्रम ही होगा। और यह अर्थ भेद खण्डन के प्रकरण में आगे प्रतिपादनीय है, अतः यहाँ उपरत होते हैं। यदि कहें कि आधारत्वादि नियामक और नियम्य आधारादि का परस्पर आधाराधेय भाव नहीं रहता है, तो भी आधाराधेय भाव के बिना भी स्वभाव (स्वरूप) सम्बन्ध से नियामकत्व होगा, जैसे अर्थ (विषय) और ज्ञान (विषयी प्रकाशक) की संयोगादि सम्बन्ध के नहीं रहते भी विषयविषयिभावस्वरूप सम्बन्ध से नियामकत्व होता है, नियम से तत्तत् ज्ञान को तत्तत् विषय का बोधकत्व होता है, वैसे यहाँ भी होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि स्वभाव सम्बन्ध निरस्त हो चुका है ॥ ४३ ॥

यमुदाहरसि च विषयविषयिभावं सोऽपि निर्वक्तुं न शक्यते। तथाहि-कः पुनर्ज्ञानादेर्घटादिना विषयविषयिभावः? प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्ररूपः स्वभावविशेष इति चेन्न, इच्छादिविषयाव्यापनात् विषयिण इति चेन्न, तत्त्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्। किंच स्वभावः स्वधर्मो वा स्वात्मा वा तस्य विवक्षितः, आद्ये ज्ञानत्वादिकं वा साधारणमसौ तत्तद्घटज्ञानादि-नियतो वा कश्चित्? आद्ये साधारण्यान्न विशेषतस्तदीयतामात्ररूपत्व-सम्भवः। द्वितीये तु प्रतिविषयं व्यावृत्तज्ञानधर्मस्वीकारे वचनभङ्गिभेदेन साकारतास्वीकारः ॥ ४४ ॥

प्रकाशस्य सत इत्यभावसमवाययोर्व्यावर्त्तनाय इच्छेति। अस्याः प्रकाशत्वाभावादित्यर्थः। विषयिण इति। प्रकाशस्येति स्थाने विषयिण इति कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्त्वस्येति। विषयित्वेनैव विषयित्वनिरूपणे आत्माश्रय इत्यर्थः। स्वस्य भावो स्वं वा स्वभाव इति समासद्वयाश्रयणेन विकल्पयति—स्वभाव इति। ज्ञानत्वं वा तत्तद्घटादिज्ञानत्वं वा धर्म इति विकल्पार्थः। साधारण्यादिति। ज्ञानत्वमेव यदि विषयित्वं तदा तस्य साधारण्याद्घटविषयकं स्यादित्यर्थः। 'प्रतिविषय'मिति। घटज्ञानत्वं चेद्विषयित्वं तदा घटस्यापि ज्ञानाकारप्रविष्टतया योगाचारमतप्रवेश इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

स्वरूप सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये विषयविषयिभाव दृष्टान्त भी अनिर्वाच्य है। क्योंकि, ज्ञानेच्छादि का पटादि के साथ विषयविषयिभाव सम्बन्ध क्या है? कुछ नहीं। यदि कहें कि सत् (वर्तमान) प्रकाश का (विषयसम्बन्धिता मात्र स्वभाव विशेष विषयविषयिभाव है) तो अप्रकाश स्वरूप इच्छा आदि के विषय में अव्याप्ति से यह कथन अयुक्त है। यदि प्रकाश के स्थान में विषयी पद का निवेश करें तो विषयित्व से विषय विषयिभाव के निरूपण से आत्माश्रय होगा, क्योंकि विषयित्व ही अभी निरूप्यमाण है। और उसे स्वभाव शब्द का कौन अर्थ विवक्षित है? क्या (स्वस्वभावः) अपना भाव (धर्म) रूप स्वभाव विवक्षित है? या (स्वश्चासौ भावः) आपही भाव स्वशब्द आत्मा तथा आत्मीय आत्म सम्बन्धी) दोनों का वाचक होता है। अतः विशेष वक्तव्य है। यहाँ प्रथम पक्ष में भी ज्ञानत्वादि साधारण धर्म विवक्षित है या तत्तत् घट ज्ञानादि में नियत घट ज्ञानत्वादि कोई विशेष? यहाँ प्रथम पक्ष में ज्ञानत्व के सर्वज्ञान में एक होने से ज्ञानत्व रूप से ज्ञान का विषयों के साथ विशेष रूप से तदीयता (तत्सम्बन्धिता) घट ज्ञानत्वादिमात्रस्वरूपत्व का सम्भव नहीं है। दूसरे पक्ष में प्रत्येक

विषय में (भिन्न भिन्न विषयों के प्रति) व्यावृत्त ज्ञान के धर्मों के स्वीकार करने पर ज्ञान में पृथक् धर्म स्वभाव से तो है नहीं, किन्तु विषय के प्रवेश से वे धर्म होंगे, तो वचनभङ्गी (प्रकार) के भेद से साकार ज्ञानवाद का स्वीकार सिद्ध होगा जिससे योगाचार के मत में प्रवेश से बाह्यपदार्थ का अभाव ही कहना होगा ॥ ४४ ॥

बाह्यार्थनिमित्तक ज्ञानाकार (ज्ञानगत असाधारण धर्म) के होने से विज्ञानवाद की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा मानें तो भी वह ज्ञानगत धर्म जाति रूप है ? या उपाधिरूप ? उपाधिरूप मानने पर भी उपाधि का निरूपक उपधेयान्तर के अधीन वह उपाधि रहता है ? या स्वविषयाधीन । यहाँ उपधेयान्तराधीन मानने पर कहते हैं कि—

किञ्च नासौ धर्म उपधेयान्तराधीनः, विषयीभूतघटाद्यतिरिक्तोपाधिप्रतीत्यपेक्षाप्रसङ्गात् । नच घटादिरेव तथा, असंबन्धात् तथापि तथात्वे चातिप्रसङ्गात् नापि जातिरूपः, क्वचिद् घटमात्रपटमात्रज्ञानगततया पृथग्व्यवस्थितौ सत्यां घटपटविषयैकज्ञाने सह व्यवस्थितया जातिसङ्करप्रसङ्गात् । प्रतिविषयं ज्ञानभेदनियमे विशिष्टज्ञानानुपपत्तेः । एवंभूतविचित्रजात्यभ्युपगमे प्रत्येकोचितव्यवहारस्याप्यभावप्रसङ्गात् ॥ ४५ ॥

किञ्च घटज्ञानत्वं स्वस्य धर्मस्तदीयत्वं यत्तदुपाधिरूपं जातिरूपं वा ? उपाधित्वेऽप्युपाधेयमन्यद्वा घटादिकमेव वा ? आद्यं दूषयति । नासाविति । यथा पुरुषे दण्डित्वज्ञानं दण्डरूपोपाधेयपरतन्त्रं तथा प्रकृतेऽपि घटज्ञानमुपाधेयान्तरपरतन्त्रज्ञानं स्यादित्यर्थः । द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह — नचेति । घटज्ञानत्वलक्षणोपाधौ घट एव चेदुपाधेयस्तदा यथा दण्डस्वरूपेणोपाधेयेन पुरुषस्य संयोगः सम्बन्धस्तथा ज्ञानस्य नास्तीत्यर्थः । विषयविषयिभावस्य चाद्याप्यनिरूपणादिति भावः । तथापीति । उपाधेयोपाधिमतोः संबन्धं विनाऽप्युपाधेरवच्छेदकत्वेऽदण्डिनमपि दण्डित्वमवच्छिन्द्यादित्यर्थः । तृतीयमाशङ्क्य निराकरोति — नापीति । घटज्ञानत्वपटज्ञानत्वे जाती तदुभयसमूहालम्बने सङ्कीर्णे स्यातामित्यर्थः । ननु जातिसङ्करभयेन नानाविषयकं ज्ञानमेव नाभ्युपेयमित्यत आह—प्रतिविषयमिति । तर्हि विशेषणविशेष्योभयविषयकं विशिष्टज्ञानमपि न स्यादित्यर्थः । ननु नीलत्वादिभिन्ना यथा चित्रत्वं पृथगेव जातिस्तथा नानाविषयज्ञाने चित्रत्वमेव घटज्ञानत्वं भिन्ना जातिः स्यादित्यत आह— एवंभूतेति । अन्ततो निर्विकल्पकस्यापि नानाविषयत्वेन चित्रत्वापत्तौ घटज्ञानत्वादिव्यवहारः स्यादित्यर्थः ॥ ४५ ॥

वह ज्ञानगत विषयित्व रूप धर्म उपधेयान्तर (उपाधिका आश्रयादि निमित्तान्तर) के अधीन नहीं रहता, क्योंकि ज्ञान के विषय घटादि से अतिरिक्त के अधीन यदि विषयित्व ज्ञानत्वधर्म होगा, तो उस अतिरिक्त उपाधि की प्रतीति की अपेक्षा का प्रसङ्ग होगा । उसके ज्ञान के बिना विषयित्व का ज्ञान नहीं होगा । जैसे दण्डित्व ज्ञान में दण्ड रूप उपधेयाश्रितता है, वैसे विषयित्व ज्ञानत्व में सर्वत्र उपधेयान्तराश्रयता होगी, और होती नहीं है । यदि कहें कि घटादिविषयित्व घटादि ज्ञानत्व में घटादि ही उपाधि (निमित्त) हों, तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विषयविषयिभावसम्बन्ध का अभी निरूपण नहीं हुआ है, और पुरुष के साथ जैसे दण्ड का सम्बन्ध होता है, वैसे यहां ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध नहीं है । और उपधेय विषय और उपाधि वाले ज्ञान के असम्बन्ध रहते भी यदि विषय के उपाधित्व को मानें तो अति व्याप्ति होगी

असम्बन्धत्व के तुल्य होने से सब विषय सब ज्ञान के उपधेय (उपाधि) होंगे। वह विषयित्व = ज्ञानत्व जाति रूप भी नहीं है, क्योंकि कहीं घटमात्र और पटमात्र के ज्ञानगत रूप से घट ज्ञानत्व पटज्ञानत्व की पृथक् व्यवस्थिति होने पर भी घटपटविषयक एक ज्ञान में साथ व्यवस्थिति से जातिसंकर की प्राप्ति होती है उससे जातित्व बाधित हो जाता है। यदि कहें कि प्रतिविषय ज्ञान भिन्न-भिन्न होता है, अतः घट-पट का समूहा-वलम्बन रूप ज्ञान होता ही नहीं कि जाति संकर हो, तो इस प्रतिविषय ज्ञान भेद के नियम को मानने पर विशिष्ट ज्ञान की अनुपपत्ति होगी, अतः ऐसा मानना युक्त नहीं। यदि कहें कि जैसे नीलत्व पीतत्वादि से भिन्न चित्रत्व जाति रूप में मानी जाती है, वैसे घट ज्ञानत्व पट ज्ञानत्व से भिन्न घटपट ज्ञानत्व रूप जाति मानने पर संकर दोष नहीं होगा। तो ऐसी विचित्र जाति मानने पर प्रत्येक के उचित व्यवहार के अभाव का प्रसङ्ग होगा। अर्थात् जहाँ समूहावलम्बन होता है, वहाँ घटज्ञानत्व पटज्ञानत्व रूप से पृथक्-पृथक् व्यवहार होता है, और घटपट से पृथक्-पृथक् जलानयनादि व्यवहार भी होता है, यह अब नहीं होगा, जैसे चित्ररूप में केवल नील पीतादि का व्यवहार नहीं होता ॥ ४५ ॥

अथ जातिसङ्करोऽपीष्यते ? तथापि स एव विशेषो घटज्ञानत्वादि-रस्त्विति विषयासिद्धिः। अथ विषयेणापि संबन्धप्रतिभासात् सोऽपीष्यते न, तस्यैव संबन्धस्य विचार्यमाणत्वात्। स एवासौ ? इति चेन्न, तदैक्याज् ज्ञानार्थसाधारणविषयप्रतीत्यापत्तेः संयोगप्रतीतिवत्। विषयित्वं तत्र अर्थे तु विषयत्वमन्यत् इति चेन्न। सैव हि ज्ञातता स्यात् सा च निराकरिष्यते ॥ ४६ ॥

ननु गुणगतजातौ जातिसङ्करो न दोष इत्याह—अथेति। तर्हि घटज्ञानत्वपटज्ञान-त्वादिजातीनामेव ज्ञानव्यावर्तकत्वे विषयासिद्धिरेवेत्यर्थः। ननु विषयासत्त्वे घटस्य ज्ञान-मित्येव कथं स्यादित्याह—अथेति। षष्ठ्यर्थ एव विचार्यत इत्याह—तस्यैवेति। ननु विषय-विषयिभाव एव षष्ठ्यर्थस्तत्र किं विचारणीयमित्याह—स एवेति। तर्हि संयोगवदेक एवासौ व्यासज्यवृत्तिसंबन्ध इत्युभयं विषयि विषयश्च स्यादित्याह—तदैक्यादिति। ननु ज्ञान-मात्रनिष्ठ एवायं सम्बन्धो विषयित्वाख्यस्तदन्यदेव च विषयगतं विषयत्वं तत्र चोभय-त्रोभयं निरूपकमात्रं न त्वधिकमपीत्याह—विषयत्वमिति। सैव हीति। अनुगतं यद्वि-षयत्वं तामेव भट्टो ज्ञाततामाह सा च निरसनीयैवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

यदि कहें कि गुणगतजाति में जाति संकर दोष नहीं होता, तथा जाति संकर दोष नहीं मानने वाला भी सिद्धान्त है, अतः जाति संकर भी मानेंगे, तो भी वह घट ज्ञान-त्वादि ही ज्ञान में विशेष (व्यावर्तक) होगा, ज्ञान के व्यावर्तक (भेदक) रूप से विषय की सिद्धि नहीं होगी। यदि कहें कि घट का ज्ञान इत्यादि रीति से विषय के साथ भी ज्ञान का सम्बन्ध प्रतीत होता है, अतः घटज्ञानत्वादि को मानते हुए उस सम्बन्ध को भी मानते हैं क्योंकि सम्बन्धी के बिना सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः घटादि विषय की सिद्धि होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि उस सम्बन्ध का ही अभी विचार किया जा रहा है। घटज्ञानत्वादि, यदि ज्ञानगत जाति (आकार) मात्र सम्बन्ध होगा, तो बाह्यविषय नहीं सिद्ध होगा। यदि कहें कि विचारना क्या है ? वह जो विषयविषयिभाव

कहा गया है, वही सम्बन्ध है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि उसमें भी विचार करना है कि वह संयोग के समान विषय ज्ञाननिष्ठ एक सम्बन्ध है? या दो? यदि उसको एक मानें, तो जैसे संयोग से दोनों संयुक्त कहे जाते हैं, वैसे ज्ञान और विषय दोनों मिलित विषयविषयिभाव के आश्रय होंगे, अतः ज्ञान भी विषय व्यवहार का विषय होगा, और विषय भी विषयी व्यवहार का विषय होगा। अतः ज्ञान और अर्थ (विषय) दोनों की साधारण विषयरूप से प्रतीति होगी, जैसे संयोग की प्रतीति होती है। यदि कहें कि उस ज्ञान में विषयित्व है, और अर्थ (विषय) में अन्य ही विषयत्व है, और उन दोनों के दोनों निरूपक हैं, अतः गौण सम्बन्धत्व का व्यवहार होता है। तो वही मीमांसकों से स्वीकृतविषयगतविषयता ज्ञातता होगी, जिसका आगे निराकरण करेंगे ॥ ४६ ॥

द्वितीये च स्वात्मा घटपटव्यक्तीनामिव घटपटज्ञानव्यक्तीनां व्यावृत्त इति तत्तद्विषयभानगोचरानुगताकारबुद्धिव्यवहारभङ्गप्रसङ्गः। किञ्च तदीयता ज्ञानस्य स्वभाव इति वचनं विचारमर्हति, तदिति तावद्विषयपरामर्शः संबन्धिता च छप्रत्ययार्थः तदेतदन्योन्यविशिष्टमुभयं ज्ञानस्य स्वभाव इति ब्रुवाणेन विषयो विज्ञानस्य स्वभाव इत्युक्तं भवतीति साधु विज्ञानवादनिराकरणप्रकरणोपसंहरणमकारि। संबन्धमात्रं ज्ञानस्य स्वभावो न तु विषय इत्याशयः इति चेन्न, विशेषानुपादाने संबन्धमात्रमिदं सर्वस्यैव स्यात्, यतो न तावन्न कस्यचित् संबन्धस्वरूपतात्यागप्रसङ्गात् नापि नियतस्य। तादात्म्यापत्तेरुक्तत्वात् नियामकासम्भवाच्च ॥ ४७ ॥

द्वितीये इति। स्वं च तद्भावश्चेति कर्मधारयपक्षे इत्यर्थः। घटज्ञानाकारपटज्ञानाकारानुगतप्रत्ययाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः। तदीयत्वं घटीयत्वं ज्ञानस्य स्वभावः स्वरूपमित्युक्ते घटोऽपि ज्ञातस्वभावान्तर्गत एवेति विज्ञानवादिनो योगाचारस्य निराकरणमात्मतत्वविवेके यदुपसंहृतं "प्रकाशस्य सतस्तदीयत्वमेव विषयित्वमि"ति, तद्विज्ञानवादपर्यवसन्नमेवेत्यर्थः। ननु घटीयत्वं ज्ञानस्येत्यनयोक्त्या घटसंबद्धत्वं ज्ञानस्यायाति न तु घटत्वमपीति न विज्ञानवादप्रवेश इति शङ्कयते—सम्बन्धेति। संबन्धोऽपि संबन्धिनं विषयमादायैव ज्ञानस्य स्वभावो भवेदित्याह—विशेषेति। ननु संबन्धः कथं संबन्धिनियत इत्यत आह—यत् इति। कस्यापि चेन्न स्यात् तदा सम्बन्ध एव न स्यादित्यर्थः। ननु भवतु नियतस्यैव कस्यचिदित्यत आह—तादात्म्येति। दोषान्तरमाह—नियामकेति। घटीयमेव घटज्ञानमित्यत्र नियामकाभाव इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

(स्वश्चासौ भावश्च) स्वस्वरूप ही स्वभाव (सम्बन्ध) है। इस दूसरे पक्ष में जैसे घटपट व्यक्तियों का स्वात्मा (स्वरूप) व्यावृत्त (भिन्न-भिन्न) रहता है, वैसे ही घट-पट ज्ञान व्यक्तियों का भी स्वात्मा व्यावृत्त रहता है। अतः तत्तद् विषयविषयितारूप स्वभावसम्बन्धविषयक अनुगताकार वाले ज्ञान और व्यवहार का भङ्ग होगा, अर्थात् घटज्ञानाकारपटज्ञानाकारादिरूप अनुगत ज्ञान नहीं होगा। और 'तदीयता' ज्ञान का स्वभाव है, यह वचन भी विचारार्ह है। क्योंकि, यहाँ प्रथम तत्—इस शब्द से विषय का परामर्श (बोध) होता है, और छ प्रत्यय से सम्बन्धिता का ये विषय और सम्बन्ध दोनों मिले हुए ज्ञान के स्वभाव हैं, यह अर्थ उक्त होता है, तो इस प्रकार कहते हुए आप ने विज्ञानवाद के निराकरण प्रकरण का सुन्दर उपसंहार किया। अर्थात् आप के

सिद्धान्त में आत्मतत्वविवेकादिग्रन्थों में जो विज्ञानवाद का निराकरण किया गया है, उसके उपसंहार से आप का उपसंहरण विरुद्ध हुआ। यदि कहें कि घटसम्बन्धत्व घट-ज्ञान का स्वभाव है ऐसा कहने से विषय उपलक्षक रूप से भासता है अतः घट का सम्बन्धमात्र ही ज्ञान का स्वभाव है, विषय नहीं, यह आशय है। इससे विज्ञानवाद की प्राप्ति नहीं हो सकती, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि विषयविशेष का विशेषण रूप से ग्रहण के बिना यह सम्बन्धमात्र, सब विषयों का सम्बन्धस्वरूप सब ज्ञानों का स्वभाव होगा। जिससे ज्ञानों में अभेदापत्ति होगी। और सम्बन्ध को स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं कह सकते, क्योंकि सम्बन्ध हो, और किसी का न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता, ऐसा होने पर सम्बन्धस्वरूपता का त्याग होगा। जो किसी का नहीं होगा वह सम्बन्ध नहीं होगा। अतः यदि विषयविशेष से नियत (युक्त) सम्बन्ध को ज्ञान का स्वभाव कहा जाय तो यह कहना असंगत है, क्योंकि इस प्रकार ज्ञान के स्वरूप में विषय के प्रवेश से ज्ञान के साथ विषय के तादात्म्य (अभेद) की प्राप्ति होती है, और विषयविषयिभाव सम्बन्ध अभी सिद्ध नहीं हुआ है। ज्ञान के साथ विषय का अन्य सम्बन्ध है नहीं, अतः नियामक के असम्भव से घट का यह ज्ञान है, इस प्रकार विषयविशेष नियतत्व सम्बन्ध में नहीं सिद्ध हो सकता ॥ ४७ ॥

कारणं नियामकम् इति चेन्न, तेन नियामकेन किं भवति तदीयत्वं तस्य संबन्धस्येति चेत्तदेव तदीयत्वं ज्ञानस्वभावभूतसंबन्धस्वरूपप्रविष्टं उत बहिर्भूतं धर्मान्तरम्? यदि प्रथमः तच्छब्दार्थोऽपि तर्हि स्वरूपप्रविष्ट इति विषयज्ञानयो. स एवाभेदप्रसङ्गः। द्वितीये च तस्य धर्मान्तरस्य विषयेणाभेदः तच्छब्दार्थस्य विषयस्य विशेषणस्य तदीयशब्दार्थविशिष्टरूपे प्रविष्टस्य स्वकृतधर्मान्तरस्वभावतया निरुक्तत्वात् ॥ ४८ ॥

ननु घटीयत्वे घटेन्द्रियसन्निकर्षजत्वमेव नियामकमित्याह—कारणमिति। तदीयत्वमिति। घटज्ञानं घटीयं क्रियते इत्यर्थः। तदेवेति। ज्ञानस्वभावभूतो यः संबन्धस्तत्स्वरूपप्रविष्ट इत्यर्थः। तदीयत्वस्य ज्ञानस्वरूपप्रविष्टत्वे दोषमाह—विषयज्ञानयोरिति। धर्मान्तरं चेत्तदीयत्वं तदा तच्छब्दार्थो विषयो धर्मान्तरस्वरूपं भवेदित्याह—तच्छब्दार्थस्येति ॥ ४८ ॥

यदि कहें कि ज्ञान के प्रति जो नियत इन्द्रिय विषय सम्बन्धादिरूप कारण हैं, वे ही ज्ञान के तदीयत्व (तत्तत् विषय सम्बन्धित्व) के नियामक हैं। तो उस नियामक से क्या होता है। यदि कहें कि उस सम्बन्ध को (ज्ञान के स्वभाव को) तदीयत्व (विषय सम्बन्धित्व) होता है, तो वह तदीयत्व ज्ञान का स्वभाव स्वरूप सम्बन्धस्वरूप में प्रविष्ट है? या उससे भिन्न स्वरूप वाला धर्मान्तर है? यदि प्रथम पक्ष मानें तो तत् शब्द का अर्थ विषय भी ज्ञान स्वभाव में प्रविष्ट सिद्ध हुआ। अतः विषय और ज्ञान का वह पूर्वोक्त ही अभेद प्राप्त हुआ। दूसरे पक्ष में कारण निरूपित तदीयस्वरूप उस धर्मान्तर का विषय सम्बन्ध जन्यता से विषय के साथ अभेद होगा, क्योंकि तत् शब्द का अर्थ जो विषय तदीयशब्दार्थ विशिष्ट स्वरूप में प्रविष्ट विशेषण है, उसको आप ने स्वीकृत धर्मान्तर का स्वभावरूप से कथन किया है, अतः वह स्वभाव विषयरूप है ॥ ४८ ॥

अस्त्वसौ धर्मो विषयाभिन्न एवेति चेत्। तथापि किमसौ स्वीकृतेन स्वभावसंबन्धेन संबद्धो न वा? न चेत् तद्विज्ञानं न कस्यचित्सम्बन्धि स्यात्। संबद्धश्चेत्तत्किं संबन्धान्तरेणाहोस्वित् स्वभावसंबन्धेनैवासौ ज्ञानात्मकसंबन्धीयः? आद्ये तत्राप्येवं प्रसङ्गो यस्य भयेन स्वभावसंबन्धः स्वीकृतः, सा तदवस्थैवानवस्था। द्वितीयश्चेद् ज्ञानात्मकसंबन्धीय इत्यत्र विशिष्टस्वरूपे ज्ञानमपि विशेषणं प्रविष्टमिति पूर्वोक्तन्यायेनाधुनोक्तन्यायेन च ज्ञानस्यैकस्यैव द्वयमपि स्वात्मेति वाग्भङ्गिभेदमात्रेण ज्ञानगोचरयोरभेदस्वीकार इति। एतेनान्यत्रापि स्वभावसंबन्धः प्रत्याख्यातव्यः॥

अस्त्वसाविति। तदीयत्वं धर्मो विषयाभिन्नोऽस्तु तावतापि विषयो ज्ञानं चेत्येतावदेवायातं तच्चास्मदभिमतमेवेत्यर्थः। तथापीति। तदीयत्वं यद्धर्मान्तरं तद्विषयपर्यवसन्नम् स्वभावसंबन्धश्च ज्ञानमेव तच्चोभयं संबद्धं न वा? आद्ये तत्रापि संबन्धान्तरापेक्षायामनवस्था, अन्त्ये ज्ञानं वा कस्यापि तदिति घटव्यवहारादिकं न प्रवर्त्तयेत्। प्रवर्त्तयद्वा न सर्वत्रैव प्रवर्त्तयेदित्यर्थः। पूर्वोक्तेति। ज्ञानस्य घटीयत्वस्वभावत्वे ज्ञानघटयोरभेदापादकेनेत्यर्थः। अधुनेति। तदीयत्वं धर्मान्तरं तच्च विचार्यमाणं विषयस्वरूपं तेन सह पुनर्ज्ञानस्य स्वभाव एव संबन्ध इत्यादिनेत्यर्थः। द्वयमिति। घटो घटीयत्वं चेत्यर्थः। ज्ञानगोचरयोरिति। ज्ञानविषययोरित्यर्थः। एतेनेति। घटरूपसमवायोऽपि घटीयः स्वभावसंबन्धेन चेत्तदा घटोऽपि समवायप्रविष्ट एव। भिन्नेन सबन्धेन चेत्तदा तत्र तत्रापि सबन्धापेक्षायामनवस्थेत्यादिनेत्यर्थः॥ ४९॥

यदि कहें कि वह कारण निरुपित तदीयत्वरूप धर्मान्तर विषय से अभिन्न ही हो तो भी कहना होगा कि यह तदीयत्व क्या प्रथम स्वीकृस्वभाव (विषय विषयिभाव) से सम्बन्ध वाला है? या नहीं? यदि कहें कि विषयस्वरूप तदीयत्व ज्ञान स्वभाव से सम्बन्ध वाला नहीं है, तो वह स्वभाव स्वरूप विज्ञान किसी विषय का सम्बन्धी नहीं होगा, यदि कहें कि सम्बन्ध वाला है, तो क्या सम्बन्धान्तर के द्वारा तदीयत्व स्वभाव का सम्बन्धी होता है। अथवा स्वभाव संबन्ध से ही वह ज्ञानात्मकस्वभाव सम्बन्ध का सम्बन्ध वाला होता है? प्रथम पक्ष में उस सम्बन्ध का भी सम्बन्धान्तर से सम्बन्ध होगा, तो जिस अनवस्था के भय से आप ने स्वभाव सम्बन्ध अङ्गीकार किया है, वह अनवस्था तदवस्थ ही रह गई। यदि दूसरा पक्ष मानें तो ज्ञानस्वरूपसम्बन्ध का सम्बन्ध स्वरूप तदीयत्व (विषय) सम्बन्धी है, यहाँ विशिष्ट स्वरूप में ज्ञान भी विशेषणरूप से प्रविष्ट है। अतः पूर्वोक्त न्याय और इस समय उक्त न्याय से एक ही ज्ञान का विषय और सम्बन्ध दोनों ही आत्मा (स्वरूप) हैं। इस प्रकार शब्द के प्रकार भेद मात्र से ज्ञान और विषय के अभेद का स्वीकार है। अर्थात् प्रथम कहा गया है कि ज्ञान के विषय सम्बन्धित्व स्वभाव होने पर ज्ञानविषय के अभेदापादक (साधक) स्वभाव से दोनों में अभिन्नता होगी। अभी कहा गया है कि तदीयत्वरूप धर्मान्तर के विषयरूप होने से उसके साथ फिर ज्ञान स्वभाव ही सम्बन्ध होगा इत्यादि। इस युक्ति से अभेदापत्ति होगी? इसी प्रकार अन्यत्र अभाव समवायादि में भी स्वरूप सम्बन्ध खण्डनीय है॥ ४९॥

ज्ञानफलाधारत्वं विषयत्वम्। तद्वत्त्वं च विषयित्वमित्यपि दुष्टम्।

तथाहि—ज्ञानीयं फलं ज्ञातता वा व्यवहारो वा स्यात्। आद्येऽतीतानागतधीभ्रमाद्यर्थाव्याप्तिः। नच तत्रैव फलजनने किं नियामकमिति प्रयोजकमनुगतं शक्यनिर्वचनं, तथात्वे वा तदेव विषयत्वमस्तु व्यवहारश्च यदि कराकर्षणादिः स न सार्वत्रिकः नान्तरीयकश्चान्यत्रापीत्यतिव्यापकं, यदीच्छादिस्तदाधारत्वमात्मन इति घटाद्यव्याप्तिः तद्विषयत्वं च तद्विषयत्वमेवापेक्षते ॥ ५० ॥

तद्वत्त्वमिति। ज्ञानीयफलजनकत्वमित्यर्थः। अतीतेति। अतीतानागतयोरसतोर्भ्रमविषये चासति ज्ञाने ज्ञातताधानाभावात्तेषां विषयत्वं न स्यादित्यर्थः। नचेति। पटज्ञानेन घटे ज्ञातता जन्यते न तु पटेऽपीत्यत्र नियामकं नास्तीत्यर्थः। तदेवेति। नियतज्ञातताधाने यदेव नियामकमित्यर्थः। कराकर्षणादिरिति। नयनानयनादिरित्यर्थः। न सार्वत्रिक इति। गुणादौ तादृशो व्यवहारो नास्ति द्रव्येऽपि न सर्वत्रेत्यर्थः। नान्तरीयक इति। मणावानयनव्यवहारस्तत्प्रभागोचरोऽपि न च मणिमात्रगोचरस्य ज्ञानस्य प्रमाऽपि विषय इत्यर्थः। यदीति। इच्छारूपज्ञानफलाधारत्वमात्मन एवेति सर्वज्ञानानामात्मन विषयो भवेन्न घटादिरित्यर्थः। ज्ञानजन्येच्छाविषयत्वमेव तज्जन्यव्यवहारविषयत्वं चेत्तदात्माश्रय इत्याह—तद्विषयत्वमिति। इच्छाविषयत्वेऽपि ज्ञानविषयत्वस्यैव तन्त्रत्वादिति भावः॥ ५० ॥

फिर विषयविषयिभाव के लक्षणान्तर की शंका है कि ज्ञानजन्यफलाधारत्व विषयत्व है, और तद्वत्त्व (उक्तफलजनकत्व) विषयित्व है। उत्तर यह है कि यह लक्षण भी दुष्ट है। क्योंकि, ज्ञान जन्य फल ज्ञातता या व्यवहार होगा। यहाँ आद्य ज्ञाततफल पक्ष में अतीत अनागत वस्तु की अनुमिति के विषय में और भ्रमसंशय के विषय में इस विषयता लक्षण की अव्याप्ति है। विषय के वर्तमान नहीं रहने से उसमें विषयता की सिद्धि नहीं हो सकती। घटपटादि अनेक विषय घटज्ञान से घट में ही विषयता (ज्ञातता) रूप फल हो, पटादि में नहीं, इसमें क्या नियामक है? उस अनुगत प्रयोजक का प्रतिपादन शक्य नहीं, क्योंकि संयोगादि कोई नियामक है नहीं। और रूपादि के ज्ञान से चक्षु आदि भी उस ज्ञान के कारण रूप से ज्ञात होता है। अतः उसमें भी ज्ञातता होती है। परन्तु उसका भी कोई नियामक नहीं है। यदि नियत ज्ञातता की सिद्धि में नियामक कहा जा सकता हो, तो वही विषयत्व हो सकता है, ज्ञातता की आवश्यकता नहीं। यदि ज्ञान का व्यवहार फल हो, और वह व्यवहार भी उस ज्ञेयपदार्थ के हाथ से आकर्षणादि (ग्रहणत्यागादि) रूप माना जाय, तो वह सार्वत्रिक नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा आकाशपर्वतादि के ज्ञान से उनके आकर्षणादि नहीं हो सकने से उनमें अव्याप्ति होगी और मणिघटादि के आनयन से तद्गत प्रभागुण का भी नान्तरीयकता से (तदधीनता से) आनयनादि व्यवहार होता है, अतः मणिघटादि ज्ञानविषयता की प्रभागुणादि में अतिव्याप्ति होगी। यदि व्यवहार इच्छा आदि रूप मानें, अर्थात् ज्ञानफल व्यवहार को इच्छा आदि रूप कहें तो इच्छा आदि का आधारत्व आत्मा को होगा, अतः घटादि में अव्याप्ति होगी। यदि कहें कि इच्छा आदि को ज्ञानफलरूप व्यवहार मानने पर इच्छा का आधारत्व रूपज्ञान विषय (ज्ञानफल) नहीं है, किन्तु इच्छा आदि का विषयत्व ही ज्ञान फल है, वह घटादि में है, अतः अव्याप्ति नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, वह इच्छा

विषयत्व ही उस (ज्ञान) विषयत्व की इस प्रकार अपेक्षा करता है, तो आत्माश्रय होगा। क्योंकि, इच्छाविषयत्व भी ज्ञानविषयत्व जन्य होता है। ज्ञात वस्तु की ही इच्छा होती है और अभी ज्ञानविषयत्व सिद्ध नहीं हुआ है। अतः इच्छादि भी व्यवहारार्थ नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

यश्चोपेक्षां नाम व्यवहारं नानुमनुते तन्मते कथं नोपेक्षाप्रेक्षामुपेक्षते ? हानादिव्यवहारज्ञानानामेव च कथं न निर्विषयत्वं प्रसज्यते ? अथ सर्वत्र हानादिव्यवहारोपगमः तदा व्यवहारज्ञानयोरनुपरम एव स्यात्। एतेन तत्संबद्धव्यवहारानुकूलस्वभावं यद्विज्ञानं तत्तस्य विषयित्वमिति तदपि प्रागुक्तयुक्तिं नातिवर्त्तते। अथोच्यते य एवार्थो तस्यां संविदि भासते तद्वेद्यः स पृथङ्नेति वेद्यावेद्यस्य लक्षणम् इत्येतदपि न विद्मः, यस्यां संविदीति किं संविदधिकरणम्, अथ विषय, अथ संबन्धिमात्रम् ? नाद्य, घटादेस्तदधिकरणत्वानुपगमेनाव्यापनात्। यथा निर्वचनीयज्ञानत्वाद्यतिव्याप्तेश्च ॥

यश्चेति। उपेक्षा उदास्यमात्रं प्रवृत्तिनिवृत्तिविलक्षणः प्रयत्नो वा ? तत्र य उदास्यमात्रमुपेक्षां मन्यते स वादी उपेक्षापेक्षामुपेक्षाज्ञानमुपेक्षते सविषयकत्वं तस्य कथं तन्मते भविष्यति ज्ञानेन तत्र व्यवहाराजननादित्यर्थः। दोषान्तरमाह। हानादीति। हानोपादानज्ञानेनापि हानोपादानादिगतव्यवहाराजननादित्यर्थः। तत्रापि व्यवहारान्तरजननेऽनवस्थाऽसम्भवश्चेत्याह—तदेति। प्रतिबद्धो नियतः। अथोच्यत इत्यारभ्यैव परवार्तिकं चेत्तदा शङ्का न स्यादिति तद्विहायैव परमतमाशङ्कते—अथेति। स पृथङ्नेति। ज्ञानाद्भिन्नो न वेद्यस्तथा च स्वाभिन्नं वेद्यं स्वभिन्नमवेद्यमित्यर्थः। यद्वा स वेद्यवेदकभावो न पृथगित्यर्थः। संविदीत्यधिकरणसप्तमी वा संबन्धमात्रविवक्षयैव वा सप्तमीति विकल्पार्थः। घटादेरिति। घटादिर्विषयो न स्यादित्यर्थः। यथेति। यद्यपि ज्ञानत्वमप्यनिर्वचनीयमेव तथापि ज्ञानत्वमेव सर्वसंविद्विषयः स्यात्। तदधिकरणत्वादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

जो कोई इच्छा द्वेषादिमूलक हानोपादान (ग्रहणत्याग) को तो व्यवहार मानते हैं, परन्तु प्रसिद्ध उपेक्षा (उदासीनता) को व्यवहार नहीं मानते उनके मत में उपेक्षा की जो प्रेक्षा (ज्ञान) है (उपेक्षा का हेतु जो ज्ञान है) उसकी उपेक्षा कैसे न होगी ? अर्थात् वहाँ लक्षण की अवश्य अव्याप्ति होगी (ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति) यहाँ तृण में विषयता नहीं होगी। और हानादि व्यवहारों के ज्ञानों को निर्विषयत्व कैसे नहीं होगा ? क्योंकि घटादि के ज्ञान से जैसे घटादि के हानोपादानादि व्यवहार होते हैं, वैसे हानोपादानादि के ज्ञान से उन विषयक हानादि व्यवहार हो नहीं सकते। यदि सर्वत्र हानादि व्यवहार माना जाय, हानादि व्यवहार विषयक भी अन्य हानोपादानादि मानें, तो व्यवहार और ज्ञान का अनुपरम (प्रवाह = अनवस्था) ही होगा। वस्तुतः ऐसा होना असम्भव है। इसी से उस विषय से प्रतिबद्ध = नियत सम्बन्धी व्यवहार के अनुकूलस्वभाव वाला जिस विषय का ज्ञान होता है, वह विषय उस ज्ञान का विषय होता है, और उस विषयव्यवहार का जनकत्व विषयित्व होता है, इस प्रकार जो विषयविषयि सम्बन्धत्व कहा जाता है, वह भी पूर्वोक्त युक्ति का उल्लंघन नहीं करता, क्योंकि स्वभाव और व्यवहार शब्द के अर्थ जिन युक्तियों से निरस्त हुए हैं, उनसे यहाँ भी निरस्त हैं। और यह जो कहा जाता है कि, जो अर्थ = विषय उस ज्ञान में भासता है, वह उस ज्ञान का वेद्य (विषय) है।

और पृथक् = उससे अन्य जो अर्थ है, वह उस ज्ञान का विषय नहीं है। अथवा जो जिसमें भासता है, वह उसका वेद्य है, और वह वेद्य ज्ञान से भिन्न नहीं है। अतः ज्ञान से अभिन्न वेद्य है भिन्न अवेद्य है, या वेद्यवेदकभाव (विषयविषयित्व) पृथक् नहीं है। यही वेद्य अवेद्य (विषय अविषय) का लक्षण है। परन्तु इससे भी यह समझने में नहीं आता कि यहाँ, 'जिससंविद में' इस कथन से अधिकरण अर्थ में सप्तमी विभक्ति विवक्षित है ? या विषयार्थक ? या सम्बन्धमात्र; यहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि घटादि विषय के अधिकरण रूप ज्ञान नहीं मानने से उसमें विषयलक्षण की अव्याप्ति होगी। यद्यपि ज्ञानत्व धर्म अनिर्वचनीय है, तथापि यथा तथा (किसी प्रकार) निर्वचनीय जो ज्ञानत्व अनुभवत्वादि संविद् (ज्ञान) वृत्ति धर्म हैं, वे ही सब ज्ञानों के विषय होंगे। अतः ज्ञानत्वादि में विषय लक्षण की उक्त रीति से अतिव्याप्ति होने के कारण अधिकरण सप्तमी नहीं मानी जा सकती ॥ ५१ ॥

द्वितीयश्चाद्याप्यनिरूपितः कथं निरूपकः स्यात्? वैपरीत्यापाताच्च। तृतीयश्चातिव्यापकः कारणादेरपि तत्संबन्धित्वात्। ज्ञानान्तरेण च भासमानत्वात् तयैव संविदा भासमानत्वम् इति चेन्न, भासमानत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्। यस्यां संविदि प्रकाशमानायां यः प्रकाशत एव इति चेन्न, प्रकाशमानताया एव निरूप्यमाणत्वात्। सामान्यतो विषयत्वे सिद्धे विशेषतो विषयत्वाभिधानमिदम् इति चेन्न, सर्वथा विशेषानुपपत्तिद्वारा सामान्यानुपपत्तौ यद्विषयप्रमात्वस्यापि सन्दिग्धत्वात् ॥ ५२ ॥

द्वितीय इति। विषयविषयिभाव इत्यर्थः। वैपरीत्येति। विषयविषयिभावस्याव्यवस्थिततया संविदेव विषयो घट एव विषयी स्यादित्यर्थः। यस्यामिति। यन्निरूपणाधीननिरूपणं ज्ञानं स विषय इत्यर्थः। एतदपि विषयविषयिभावनिरूपणाधीननिरूपणाधीननिरूपणमेवेत्यात्माश्रय एवेत्याह—नेति। ननु विषयत्वमात्रे न केषांचिद्विमतिः घटविषयत्वादिकं च तदाक्षिप्तमेव सेत्स्यति। नहि निर्विशेषं सामान्यं नामेति। सामान्यत इति। यावद्विशेषबाधे सामान्यमपि बाधितमेव। तथा च नहि निर्विशेषं सामान्यं नामेति विपरीतमेवेत्याह—सर्वथेति। सामान्यतोऽपि यद्विषयत्वं तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य प्रमात्वं सन्दिग्धमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

यदि विषयविषयिभावरूप सप्तमी का अर्थ तो अभी वह स्वयं अनिरूपित है (असिद्ध है) वह दूसरे का निरूपक (साधक) कैसे होगा ? एक विषयत्व से ही उसी को साधने पर आत्माश्रय होगा। और जिस प्रातिपदिक (सार्थक शब्द विशेष) से परे सप्तमी विभक्ति रहती है, उसी के अर्थ में विषयत्व का प्रतिपादन करती है, अतः संविद् में विषयत्व और घटादि में विषयित्वरूप विपरीतता की प्राप्ति होगी। अत एव विषयत्वार्थ युक्त नहीं। 'संविद' में सम्बन्धित्व मात्र सप्तम्यर्थ है, यह तृतीयपक्ष अतिव्याप्ति युक्त है। क्योंकि, सम्बिद् के करण (इन्द्रिय) अधिकरणादि भी सम्बन्धी हैं और ज्ञानान्तर से भासमानत्व भी उनमें रहता है, अतः संवित सम्बन्धित्वे सति भासमानत्वरूप विषयत्व का लक्षण उनमें व्याप्त होता है। यदि कहें कि भासभानत्वमात्र लक्षण नहीं है, किन्तु जिस ज्ञान का विषय हो उसी ज्ञान से भासभानत्व विषयत्व का लक्षण है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं; ऐसा भासमानत्व अभी निरूप्यमाण है। अतः आत्माश्रय होगा।

जिस ज्ञान के प्रकाशमान होने पर जो अवश्य प्रकाशता है, वह उस ज्ञान का विषय है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकाश विषयतारूप ही प्रकाशमानता है, जो अभी निरूप्यमाण है। यदि कहें कि सामान्यरूप से विषयत्व लोकव्यवहारादि से सिद्ध ही है, विशेषरूप से यह घट विषयत्वादि का कथन है। अतः सिद्ध सामान्य के द्वारा विशेष के साधन से आत्माश्रय नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, सामान्य किसी विशेष से व्याप्त ही रहता है। सब विशेष के बाधित (अभाव) रहते सामान्य भी बाधित रहता है। अतः सर्वथा विशेष की असिद्धि द्वारा सामान्य की असिद्धि होने पर तद्विषयक ज्ञान के प्रमात्व के सन्दिग्ध होने के कारण सामान्यद्वारा विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती॥ ५२॥

ज्ञानाकारार्पणक्षमो हेतुरेव विषय इति चेन्न, आकार एव केनार्पित इति विनिगन्तुमशक्यत्वात्। नह्याकारस्ततो विज्ञानरूपादन्यः, तथा च तथोत्पन्नानि कारणानि प्रत्येकमेव समर्थानीति कथं तेषु विशेषं विनिगमिष्यसि? यद्यपि सकलसमर्थहेत्वनुविधानमस्ति, तथापि स्फुटं तावद् घटस्यानुविधानमिति तदेव तदाकारप्रयोजकमिष्यते इति चेन्न, समस्तकारणतदनुविधानवद् घटानुविधानस्य प्रामाणिकत्वाविशेषेण किं स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्यां स्यात्? स्फुटानुविधानमादायैव विषयनिरुक्तिं कुर्म इति चेन्न, सर्वहेत्वनुविधानस्य न्यायतः स्फुटत्वात्, दृश्यमानमनुविधानं यस्य इति चेन्न, दत्तोत्तरत्वात्। दृश्यमानस्यैव च विषयत्वानिर्वचनान्न शक्योपदर्शनेति ज्ञानकर्मत्वम् इत्यपि न, ज्ञानेन कर्मणः संबन्धस्य निर्वक्तव्यत्वात्। तन्निरुक्तिभङ्गश्चेश्वराभिसन्धौ ज्ञाततावादे द्रष्टव्यः॥ ५३॥

साकारवादिमते विषयत्वलक्षणं शङ्कते—ज्ञानाकारेति। चक्षुरादिव्यावर्तनाय ज्ञानाकारेत्यादिविशेषणं बहूनां ज्ञानहेतूनां मध्ये कस्याकारार्पकत्वमिति संदिग्धमित्याह—नेति। एतदेव स्फुटयति—नहीति। यद्यप्याकारस्य ज्ञानभेदेऽपि विनिगमनाऽशक्यैव, तथाऽपि तत्सिद्धान्तानुसारादिदमुक्तं स्फुटानुविधानमिति। पटसाक्षात्कारे घटान्वयव्यतिरेकानुविधानं स्फुटमित्यर्थः। सर्वेति। युक्तिसिद्धत्वं स्फुटत्वं सर्वहेतुसाधारणमेवेत्यर्थः। दत्तोत्तरत्वादिति। दृशिश्चेज्ज्ञातवचनस्तदा सर्वहेतुसाधारण्यमेवेत्यर्थः। चाक्षुषज्ञानपरश्चेत् तदा गन्धरसादीनां विषयत्वं न स्यादित्यर्थः। यद्वा दत्तोत्तरत्वमेवाह—दृश्यमानतैव चेति। आत्माश्रय इत्यर्थः। ज्ञानेनेति। ज्ञानस्य कर्मत्वमिति षष्ठ्यर्थः। ज्ञानकर्मत्वमिति ज्ञानक्रियां प्रति कारकत्वमतीतानागतादौ नास्ति, शब्दानुमित्योश्च निर्विषयत्वापत्तिः तयोर्विषयाजन्यत्वात्। ईश्वरप्रमाया अजन्यत्वेन चाविषयत्वापत्तिः। परसमवेतक्रियाफलशालित्वं च विषयस्य व्यवहारलक्षणेन ज्ञानफलेन चेत् तस्य दूषितत्वादित्यभिप्रेत्याह—तन्निरुक्तीति॥ ५३॥

प्रथम मीमांसक विशेष के मतानुसार विचार करके अब बाह्यार्थवादी बुद्धमतानुसार विचार किया जाता है। ज्ञान में स्वतः आकार नहीं है। उस आकार का अर्पक जो हेतु वह ज्ञान का विषय है, यह यदि कहें तो युक्त नहीं, क्योंकि अन्धे के सामने या घोर अन्धतम स्थान में घट सामने रखा हो, तो वह स्वाकार का अर्पण ज्ञान में नहीं कर सकता। अतः विषय मात्र को ही आकार का अर्पक नहीं कहा जा सकता। फिर

आकार किस से अर्पित होता है इसका निर्णय अशक्य है। क्योंकि, नेत्र आलोकादि अनेक साधन के रहते घट ज्ञान होता है। और वह जो आकार है, वह भी विज्ञान स्वरूप से अन्य पदार्थ नहीं है जो कोई साधन उस आकार को कहीं से लेकर उस विज्ञान में अर्पण करे। जहाँ घटपटादि अनेक पदार्थ हैं, उसी प्रकार से मिलित साधन भी हैं और प्रत्येक साधन प्रत्येक के ज्ञान में समर्थ हैं, वहाँ घट ज्ञान को घट विषयकत्व का विशेष विनिगमन (सम्बन्ध = नियम) आप कैसे करेंगे ? 'यद्यपि सब समर्थ हेतुओं का अनुविधान (सम्बन्ध) है तथापि नियत अन्वय व्यतिरेक रूप स्फुट अनुविधान घट-ज्ञान में घट को है, अतः आकार स्फुट का समर्थक उस घट को ही उस आकार का प्रयोजक (हेतु) माना जायगा, अन्य को नहीं यह यदि कहा जाय, तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि समस्त अन्य कारणों के अनुविधान तुल्य ही घटानुविधान के प्रामाणिकत्व के अविशेष (तुल्य) होने से स्फुटत्व अस्फुटत्व से क्या विशेष होगा ? कुछ नहीं। यदि कहें कि स्फुटानुविधान का ग्रहण करके ही विषय का निर्वचन करेंगे कि ज्ञान के साथ स्फुटानुविधान वाला ज्ञान का विषय होता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि, सब हेतुओं का अनुविधान अन्वय व्यतिरेकरूप न्याय से स्फुट है। यदि कहें कि दृश्यमान (प्रत्यक्ष) जिसका ज्ञान के साथ अनुविधान है वह आकारार्पक विषय है, तो इसका उत्तर दिया गया है कि सब हेतु साक्षात् अनुविधान वाले हैं। और दृश्यमानता ही विषयता है। उसका अभी निर्वचन नहीं हुआ है। अतः वह दृश्यमानता दर्शाने में अशक्य है। और दर्शन का यदि ज्ञान अर्थ हो तो उसके सब हेतु कारण हैं। यदि चाक्षुषज्ञान अर्थ हो, तो गन्धादि को विषयत्व नहीं होगा। ज्ञानकर्मत्व यदि विषय-त्व = दृश्यत्व कहें, तो वह भी लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान के साथ कर्म के सम्बन्ध को कहना अशक्य है। क्योंकि, ज्ञान के द्रव्य नहीं होने से उसका संयोग नहीं हो सकता। आत्मा को गुण ज्ञान की घटादि के साथ समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। विरुद्धस्वभाव से तादात्म्य नहीं हो सकता इत्यादि। और इस निरुक्ति का खण्डन ईश्वराभिसन्धिनामक ग्रन्थ में ज्ञाततावाद में द्रष्टव्य है ॥ ५३ ॥

विना सम्बन्धान्तरं यद्विशेषणं ज्ञानं स विषयः, तेन विना सम्बन्धान्तरं ज्ञानविशेष्यं विषयः विशेष्यं चेदं यद्विशिष्टनामकं तत्त्वान्तरं यद्गतं धर्मं गृह्णातीति। अत्रोच्यते। यद्गतं धर्मं गृह्णातीत्येतावन्मात्रमेव वा विवक्षितं गृह्णात्येवेति वा ? आद्ये दण्डस्यापि विशेष्यत्वापातः। तद्गतस्यापि सत्त्वा-देर्धर्मस्य ग्रहणात्। नापरः। भवति हि व्यभिचारिणो धूमस्याविच्छिन्न-मूलत्वादिविशेषणं तद्विशिष्टं च तत्त्वान्तरम्। न च विशेषस्य धर्मं व्यभि-चारितां गृह्णाति ॥ ५४

विना सम्बन्धान्तरमित्यात्मनो घटज्ञानविषयत्ववारणाय, पर्यवसितमर्थमाह—तेनेति। विशेष्यसामान्यस्य लक्षणमाह—विशेष्यमिति। विशिष्टनामकं तत्त्वान्तरं कर्तृभूतं यद्गतं धर्मं गृह्णातीत्यर्थः। दण्डी पुरुषः पुरुषत्वं गृह्णाति न तु दण्डत्वमतो दण्डी विशेषणं पुरुषो विशेष्यः तथा ज्ञातो घट इत्यत्रापीत्यर्थः। यत्किंचिद्धर्मग्रहणं वा विवक्षितं सकलधर्मग्रहणं चेति विकल्पयति—यद्गतमिति। विशिष्टं यत्तत्त्वान्तरं तद्दण्डस्यापि धर्मं सत्त्वादि

गृह्णात्येवेति दण्डस्यापि विशेष्यत्वं स्यादित्यर्थः। केवलस्य धूमस्य विशेष्यस्य व्यभिचारित्वधर्मस्तं च विशिष्टो धूमो न गृह्णातीति सोऽपि विशेष्यो न स्यादित्याह भवति हीति ॥ ५४ ॥

सम्बन्धान्तर के बिना ज्ञान जिस का विशेषण होता है, वह उस का विषय होता है। यद्यपि ज्ञानवान ज्ञानी इत्यादि अनुभव से आत्मा में भी ज्ञानविशेषणरूप से भासता है, परन्तु वहाँ समवायरूप सम्बन्धान्तर से भासता है, और (ज्ञातो घटः) घट समझा गया, यहाँ घट में सम्बन्धान्तर के बिना ज्ञान विशेषण रूप से भासता है। इससे सम्बन्धान्तर के बिना ज्ञान का विशेष्य विषय होता है। और भी विशेष्य का यह लक्षण है कि विशिष्ट नामक जो तत्त्वान्तर है। वह तत्त्वान्तर यद्गत धर्म का ग्रहण करता है, वह विशेष्य है। अतः दण्डी पुरुषः, यहाँ दण्डी विशिष्ट है। वह समानाधिकरणता से पुरुषत्वधर्म का ग्रहण करता है। और (ज्ञातो घटः) यहाँ ज्ञात, ज्ञान विशिष्ट है। वह विशेष्य गत घटत्व का ग्रहण करता है। परन्तु यहाँ कहा जाता है कि, यद्गत किञ्चित् धर्म का ग्रहण करता है। इतना ही विवक्षित है? या यद्गत सकल धर्म का ग्रहण करता है। यह विवक्षित है? यहाँ प्रथम पक्ष में दण्डी पुरुषः, इस स्थान में विशिष्ट दण्डी जैसे पुरुषगत पुरुषत्वधर्म का ग्रहण करता है, वैसे दण्डगत सत्त्वद्रव्यत्वादि धर्म का भी ग्रहण करता है। अतः दण्ड में विशेष्य लक्षण की प्राप्ति होगी। और दण्ड विशेष्य असंगत होगा। दूसरा पक्ष भी है। क्योंकि, (अविच्छिन्नमूलरेखावान् धूमः) इत्यादि स्थान में भी समानाधिकरणता से अविच्छिन्नरेखा वाला विशिष्ट पदार्थ विशेष्य गत धूमत्व का तो ग्रहण करता है। परन्तु शान्ताग्निवाले गृहादिवर्ती सामान्य धूमगत अग्निव्यभिचारित्व धर्म का ग्रहण नहीं करता। अतः विशेष्य गत सर्वधर्म के विशिष्ट से नहीं ग्रहण होने के कारण वहाँ विशेष्य लक्षण की अव्याप्ति होगी ॥ ५४ ॥

अथोर्ध्वाविरतगतिविशिष्टस्य विच्छिन्नमूलता विशेषणं न च तथाभूतस्य व्यभिचारिता धर्म इत्युच्यते मैवं, प्रथमविशिष्टः किं व्यभिचारी न वा? आद्ये स एव दोषः, द्वितीये विशेषणान्तरवैयर्थ्यं प्रथमविशिष्टे एव च तद्दोषावसरः। अथ यद्धर्मविशिष्टस्य विशेषणं तद्धर्मं गृह्णाति न सर्वं न च व्यभिचारिताविशिष्टस्य तानि विशेषणानि इति चेन्न, तत्किं न धूममात्रं व्यभिचारि ततश्च व्यभिचारिताविशिष्टस्यैव तानि? तथा भवतु व्यभिचारिता तद्विशेषणं परं सा न विशेष्यकोटिः, इति चेन्न, अद्यापि विशेष्याज्ञानात् ॥ ५५ ॥

नन्वविच्छिन्नमूलत्वं धूममात्रस्य न विशेषणं किन्तूर्ध्वाविरतगतिविशिष्टस्य तच्च न व्यभिचारीत्याह—अथेति। स एवेति। प्रथमविशेषणविशिष्टस्य व्यभिचारित्वं द्वितीयविशेषणविशिष्टं न गृह्णातीति तद्विशेष्यं न भवेदित्यर्थः। वैयर्थ्यमिति। व्यभिचारावारकत्वादित्यर्थः। किञ्चाविच्छिन्नमूलत्वस्यैव विशेषणस्य धूमो व्यभिचारी विशेष्यो न स्यात् तद्धर्मस्य व्यभिचारित्वस्य तद्विशिष्टेनाग्रहादित्याह—प्रथमेति। ननु धूमत्वविशिष्टो धूमो विशेषणेन विशेष्यते न तु व्यभिचारित्वविशिष्टोऽपीति नोक्तदोष इति शङ्कते—अथेति। वस्तुगत्या तत्र व्यभिचारित्वमप्यस्तीति व्यभिचारित्वविशिष्ट एव धूमो विशेष्यः। अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यमेवेत्याह—तत्किमिति। नन्वविच्छिन्नमूलो धूम इत्युच्यते न च विच्छिन्नमूलो व्यभिचारी धूम इति। तथा च विशेष्यतावच्छिन्नो यो धर्मस्तं गृह्णात्येव

विशिष्टमिति शङ्कते—भवत्विति। तर्हि विशेष्यतावच्छेदको धर्मो विवक्षित इत्युच्यते तत्राह—अद्यापीति ॥ ५५ ॥

अब शंका यह होती है कि निरन्तर ऊर्ध्वगति युक्त धूम का स्वविरोधी अविच्छिन्न (अखण्डित) मूलत्वविशेषण है, अर्थात् वह अविच्छिन्न मूलवाला होने से अविरत ऊर्ध्वगति वाला होता है। इस धूम का व्यभिचारिता धर्म नहीं हो सकता। अतः वह व्यभिचारिता का ग्रहण नहीं करता है, इससे अव्याप्ति नहीं है। उत्तर यह है कि यदि ऐसा कहा जाय तो यह कहना युक्त नहीं है। प्रथम जो धूमत्व विशिष्ट विशेष्य है, वह व्यभिचारी है? या नहीं। आद्य पक्ष में वही दोष है कि विशिष्ट व्यभिचारिता रूप विशेष्य धर्म का ग्रहण नहीं करता, अतः विशेष्य लक्षण की अव्याप्ति है। और यदि धूमत्वविशिष्ट ही अग्नि का व्यभिचारी नहीं है। यह दूसरा पक्ष माना जाय, तो अविरल ऊर्ध्वगतिविशिष्टत्व = अविच्छिन्न मूलत्व विशेषण व्यर्थ है, यदि कहें कि विशिष्ट नामक तत्त्वान्तर जिस धर्म विशिष्ट विशेष्य का विशेषण होता है, उस धर्म का ग्रहण करता है, सब धर्मों का नहीं, और विशिष्ट इस प्रकार जिसका धर्म ग्रहण करता है, वह विशेष्य होता है, और व्यभिचारिता विशिष्ट के निरन्तर ऊर्ध्वगमनादि विशेषण नहीं हैं, किन्तु धूमत्वविशिष्ट के विशेषण हैं। अतः धूमत्व का ही विशिष्ट ग्रहण करता है, अन्य (व्यभिचारित्व) का नहीं। अतः दोष नहीं है। परन्तु यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि धूमत्व विशिष्ट का ही उक्त विशेषण है, परन्तु क्या इससे विशेषण रहित धूममात्र व्यभिचारी नहीं है? यदि व्यभिचारी नहीं हो तो विशेषण व्यर्थ होगा। अतः धूममात्र अवश्य व्यभिचारी है, और व्यभिचारिता से ही व्यभिचारिताविशिष्ट के वे ऊर्ध्वगमनादि विशेषण हैं। यदि कहें कि केवल धूम का व्यभिचारिता विशेषण हो, परन्तु वह व्यभिचारिता विशेष्य सम्बन्धी होते भी विशेष्य कोटि में प्रविष्ट नहीं है, अविच्छिन्न मूलवाला धूम ही धूम शब्द से विशेष्य रूप से कहा जाता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अभी विशेष्य का अज्ञान है। उक्तरीति से विशेष्यतावच्छेदक का आप कथन करते हैं, परन्तु उसका निर्णय नहीं हुआ है, कि उक्त स्थान में धूमत्वविशेष्यतावच्छेदक है, या अन्य ॥ ५५ ॥

किञ्च तद्विशेषणमिति तत्संबन्धिमात्रं वा विशेषणतया वा संबन्धि? आद्येतिप्रसङ्गः, द्वितीये तु तथैवान्योन्याश्रयादि। किञ्च विशेष्यत्वलक्षणो यस्तद्गतो धर्मस्तं गृह्णाति नवा? आद्येऽतिव्याप्तिः। द्वितीये गृह्णात्येवेति नियमोऽसिद्धः। किं च मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र भवति मत्समवायस्य ज्ञानं विशेषणं तत्संबन्धमन्तरेणैव न च विषयः ॥ ५६ ॥

अतिप्रसङ्ग इति। उपलक्षणोपञ्जकयोरपि विशेषणत्वापत्तिरित्यर्थः। तथैवेति। यथा विषयित्वलक्षणे तथा विशेषणत्वलक्षणेऽपि। यतो विशेषणत्वज्ञानाधीनं विशेषणतया सम्बन्धित्वज्ञानं तदधीनं विशेषणत्वज्ञानमित्यन्योन्याश्रयः। तत्रापि विशेषणतया संबन्धित्वज्ञानापेक्षायामनवस्था विशेषणत्वज्ञानाधीनमेव तद् ज्ञानमित्यात्माश्रयोऽप्यादिपदग्राह्यः। अतिव्याप्तिरिति। विशिष्टस्यापि विशेष्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। नियम इति। सकलधर्मग्राहित्वं भग्नमित्यर्थः। मत्समवाय इति। मत्समवायस्य सम्बन्धान्तरमन्तरेण घटज्ञानं विशेषणं भवति न तु घटज्ञानस्य मत्समवायोऽपि विषय इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

और 'यद्धर्मविशिष्टस्य तद्विशेषणम्' यहाँ तद्विशेषणम्, इस शब्द का तस्य विशेषणम्, इस प्रकार उस विशेष्य का सम्बन्धी मात्र विवक्षित है। या विशेषण रूपसे सम्बन्धी यहां प्रथम पक्ष में अति प्रसङ्गहोगा, जब कभी धूमादि के सम्बन्धो उपलक्षक भी धूमादि के विशेषण होंगे, फिर विशिष्ट विशेषण होकर विशेष्य धर्म का ग्राहक हो यह बात नहीं रहेगी। और दूसरे पक्ष में जैसे विषयित्व लक्षण में अन्योन्याश्रयादि होते हैं, वैसे ही यहाँ अन्योन्याश्रयादि होंगे। क्योंकि, विशेषणत्व ज्ञान से विशेषण रूप से सम्बन्धित्व का ज्ञान होगा, और विशेषण रूप से सम्बन्धित्व ज्ञान से विशेषण का ज्ञान होगा, विशेषण रूप से सम्बन्धित्व ज्ञान में भी विशेषण रूप से सम्बन्धित्व ज्ञान की अपेक्षा होने पर अनवस्था होगी। विशेष्यत्व रूप जो विशेष्य गतधर्म है, उसका ग्रहण तत्वान्तर रूप विशिष्ट करता है या नहीं? आद्य पक्ष में अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् विशिष्ट को विशेष्यरूपता की प्राप्ति होगी। वह तत्वान्तर नहीं रहेगा। और दूसरे पक्ष में विशेष्य-गत सब धर्मों का ग्रहण करता ही है, यह नियम नहीं रहेगा। और मुझ में घटादि ज्ञान का समवाय है, इस प्रतीति में आत्मनिष्ठ ज्ञान के समवाय का संयोगादि सम्बन्धा-न्तर के बिना ज्ञान विशेषण होता है, परन्तु उसका घटादिक ही विषय होता है, मत् समवाय नहीं, अतः यह विषय लक्षणयुक्त नहीं है॥ ५६॥

नच गुणगुण्यादिविशेषणविशेष्यभावे यः संबन्धान्तरमन्तरेणेत्युक्त्या व्यवच्छेद्यतां नीतः स एवायं समवाय इति कथं न व्यवच्छेद्यतां प्रतिपत्स्यते। यतोऽत्र तस्यैव विशेषणविशेष्यभावत्वादन्तरत्वासिद्धिरिति। तस्मात्संबन्धमन्तरेण ज्ञानं विशेषणं यस्येत्युक्तम् तत्र ज्ञानं संबन्धमनपेक्ष्य स्वभावत एव यथार्थस्य विशेषणं यथा समवायस्यापीति न कश्चिद्विशेष इति साधूक्तम्। मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र ज्ञानविषयता समवायस्यापि स्यादिति ज्ञानाभावे प्रसङ्गात्॥ ५७॥

ननु संबन्धान्तरमन्तरेण यद्विशेषणं ज्ञानं स विषय इति लक्षणे गुणि आत्मनो ज्ञानं गुणः समवायेन विशेषणमतस्तद्व्यावर्त्तनाय संबन्धान्तरमन्तरेणेति कृतम्। तथाच मत्-समवायो ज्ञानस्येत्यत्र समवायाधीन एव विशेषणविशेष्यभाव इति न तत्र प्रसङ्ग इत्यत आह—नचेति। संबन्धान्तरमित्यत्र विशेषणविशेष्यभावात् संबन्धादन्तरत्वं विवक्षितम्। प्रकृतेऽपि सत्रपि समवायो विशेषणविशेष्यभावापन्न एवेति तदवस्थ एवातिप्रसङ्ग-इत्याह—यत इति। किञ्चायं समवाय इत्यत्रापि समवायो विषयो न स्यादिति भावः। उक्तदोषमुपसंहरति—तस्मादिति। मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्र संबन्धं विनैव ज्ञानं विशे-षणमित्यतिप्रसङ्गस्तदवस्थ इत्यर्थः॥ ५७॥

फिर उक्तार्थ में शंका होती है कि, सम्बन्धान्तर के बिना ज्ञान जिसका विशेषण हो, वह विषय है, इस लक्षण में जो सम्बन्धान्तर बिना कहा गया है, उससे गुण गुणी आदि के विशेषण विशेष्यभाव में जो समवाय है वह व्यवच्छेद्यता को प्राप्त हुआ है। आत्मा के ज्ञान गुण के समवाय के व्यवच्छेद के लिये वह सम्बन्धान्तर के बिना कहा गया है, फिर यह समवाय व्यवच्छेद्यता को कैसे नहीं प्राप्त होगा? उत्तर यह है कि अन्य विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध की व्यावृत्ति के लिये वह सम्बन्धान्तरमन्तरेण कहा गया

है। और मुझ में ज्ञान का समवाय है, उस समवाय को ही ज्ञानरूप विशेषण का विशेष्यभावत्व से, उसमें सम्बन्धान्तरत्व की असिद्धि है। अतः सम्बन्धान्तर के बिना ज्ञान जिसका विशेषण हो, यह आप ने कहा है। वहाँ ज्ञान जैसे सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करके स्वभाव से अर्थ (घटादि) का विशेषण होता है, वैसे (मत्समवायो ज्ञानस्य) यहां समवाय का विशेषण होता है। इसमें कुछ विशेष (भेद) नहीं है। अतः उचित ही कहा गया है कि घट ज्ञानादि का मुझ में समवाय है। यहां ज्ञान विषयता समवाय को भी प्राप्त होगा। और (ज्ञानाभावोऽस्ति) ऐसी प्रतीति में अभाव का भी स्वरूप से ही (सम्बन्धान्तर के बिना) ज्ञान विशेषण होता है। अतः सामान्य ज्ञान की विषयता अभावमें प्राप्त होगी ॥ ५७ ॥

नच तत्र स एव समवायः संबन्धः, अत्रापि विशेषणविशेष्यभावस्यैव संबन्धत्वात्। नासौ संबन्धिनोऽन्यस्तादृशश्च व्यवच्छिद्यत इति चेत् न, समवायेऽपि तुल्यत्वात्। संयोगसमवायौ व्यवच्छिद्येते? इति चेत् न, ज्ञानाभावे तथाऽपि प्रसङ्गात्। न तत्र ज्ञानं विशेषणं किन्तूपलक्षणम् इति चेत् न, अतीतानागतयोरविषयत्वापत्तेः॥ ५८ ॥

ननु तथापि प्रकृते संबन्धं विनैवेति नास्ति यतः स्वरूपसम्बन्धोऽप्यत्र समवाय एवे- त्यत आह—नचेति। तर्हि लक्षणमिदं कुत्रापि गतं यतो घट इत्यादावपि विशेषणविशेष्य- भावस्य सम्बन्धस्य तत्त्वादित्यर्थः। सबन्धिभिन्नसम्बन्धं विनेति विवक्षितमतो नासम्भ- वीदं लक्षणमित्याह—नासाविति। तर्हि मत्समवायो ज्ञानस्येत्यत्रापि समवायो न सम्बन्धिभिन्न इत्यतिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्याह—नेति। ननु संबन्धं विनेति संबन्धत्वेन प्रसिद्धयोः संयोगसमवाययोरेव व्यवच्छेदः प्रकृते च समवाय एव स्वरूपसंबन्धतामा- पन्न इति नोक्तदोष इत्याह—संयोगेति। तथापीति। ज्ञानयोग्यभावयोः संयोगसम- वायाभावात् घटज्ञानस्य ज्ञानाभावोऽपि विषयः स्यादित्यर्थः। सर्वत्राभावे प्रतियोगिन उपलक्षणत्वादित्याह—न तत्रेति। अतीतेति। तत्र विशेष्याभावादेव ज्ञानस्य विशेषणत्वा- नुपपत्तिरित्यर्थः॥ ५८ ॥

यदि कहें कि मुझमें ज्ञान का समवाय है, यहाँ सम्बन्धान्तर के बिना ज्ञान समवाय का विशेषण नहीं है, क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध से विशेषण है और वह समवायात्मक सम्बन्धान्तर ही है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है तो, यह कहना युक्त नहीं, ऐसा मानने पर, (ज्ञातो घटः) यहाँ भी विशेषण विशेष्य भाव को ही सम्भव होने से उस सम्बन्धान्तर- रहितत्व का असम्भव होगा। फिर कोई भी ज्ञान का विषय नहीं कहा जायगा। यदि कहें कि विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्धी से अन्य नहीं है, और सम्बन्धी से अन्य सम्बन्ध सम्बन्धान्तरमन्तरेण, इस कथन से व्यावृत्त किया जाता है। तो, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि (ज्ञान का मुझमें समवाय है) यहाँ समवाय सम्बन्धी से अन्य नहीं है। समवाये में सम्बन्धीरूपता (ज्ञातो घटः) यहाँ के विशेषण विशेष्यभाव के तुल्य है अतः अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि संयोग समवाय सम्बन्धान्तर पद से विवक्षित है। और मुझ में ज्ञान का समवाय है, यहाँ भी समवाय ही स्वरूप सम्बन्धता को प्राप्त है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो भी दोष से छुटकारा नहीं है। ज्ञानाभाव में अतिव्याप्ति है ही। क्योंकि, संयोग समवाय के बिना वहाँ ज्ञान अभाव का विशेषण

होता है। यदि कहें कि वहाँ ज्ञान अभाव का विशेषण नहीं होता। किन्तु उपलक्षण रहता है। अतः विशेषणयुक्त उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी तो भी निर्दोषता नहीं है। क्योंकि, भूतभावी पदार्थों को अनुमितिज्ञान एवं शाब्द ज्ञान के अविषयत्व की प्राप्ति होगी। वहाँ विशेष्य के अभाव से ज्ञान विशेषण नहीं हो सकता। वर्तमान में विशेषण विशेष्य भाव होता है ॥ ५८ ॥

भावे चिन्तेयम् इति चेत् न, अभावस्याविषयत्वापातात्। ज्ञानादन्यज्ज्ञानीयं च यत्कारणादि तत्रापि प्रसङ्गादिति किं विस्तरेण। नच-ज्ञानाकारतायां गोचरस्य नास्त्येव ज्ञानगोचरयोर्भेदः, प्रतीतिविरोधात्। भेदमनिच्छता च स प्रतिषेद्धुमप्यनर्ह इति ॥ ५९ ॥

भावे चिन्तेयमिति। यद्यप्यतीतानागतयोर्भावयोरेव दोष उक्तस्तथापि यत्र ज्ञानं व्यावर्त्तकं स भावविषय इति लक्षणमभिप्रेत्याह—अभावस्येति। ज्ञानीयं कारणं चक्षुरादपि घटज्ञानविषयः स्यादुक्तलक्षणसत्त्वादित्याह—ज्ञानादन्यदिति। ज्ञानीयं कारणं व्यवसायोऽप्यनुव्यवसायस्य तत्र विषयत्वमस्त्येवेति नातिप्रसङ्ग इत्यत आह—ज्ञानादन्यदिति। कारणादीत्यादिपदात ज्ञानवाचकपदानां सङ्ग्रहः। तेषामपि ज्ञानेन सह स्वरूपसंबन्धात्। ननु ज्ञानादन्यदिति विशेषणमेवानुपपन्नं तेषां ज्ञानात्मकत्वात ज्ञानविषययोरभेदादित्यत आह—नचेति। गोचरस्य विषयस्य ज्ञानाकारतायां ज्ञानविषययोर्भेद एव नास्तीत्यर्थः। तथा च ज्ञानाभिन्नत्वमेव विषयत्वमिति भाव इत्यन्ये। प्रतीति। ज्ञानविषययोर्भेदस्य सार्वजनीनत्वादित्यर्थः। ननु भेदश्चेन्नास्ति तदा प्रतीतिर्भ्रम एव स्यात् इत्यत आह—भेदमिति। साकारवादिमतेन भेदखण्डनमुपक्रमते ॥ ५९ ॥

यदि कहें कि वर्तमान वस्तु विषयक यह विषयत्व का विचार है, अन्य का नहीं। अतः अतीतानागत में अव्याप्ति दोष नहीं है। क्योंकि, वह इस लक्षण का लक्ष्य नहीं है, तो ऐसा मानने पर भूतभावी प्रतियोगी के ज्ञान विषय नहीं होने पर वर्त्तमान उनके अभाव को विषयत्वाभाव की प्राप्ति होगी। अत्र कपाले घटो भविष्यति अत्र घटो ध्वस्तः। इस प्रकार से भूतभावी के प्रागभावप्रध्वंसाभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं होगा। और व्यवसाय ज्ञानरूप जो अनुव्यवसाय का विषयरूप से कारण है उस व्यवसाय ज्ञान से अन्य जो ज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के कारणादि हैं, उनमें सम्बन्धान्तर के बिना ज्ञान विशेषणरूप से प्रतीत होता है, अतः उनमें विषय लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अब अधिक विस्तार व्यर्थ है। यदि कोई कहे कि (ज्ञानादन्यत्) यह विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि, विषय के ज्ञानाकारता पक्ष में ज्ञान विषय को भेद ही नहीं है, तो ज्ञानविषय के भेद प्रतीति के साथ विरोध से वह कहना अयुक्त है। और भेद को सर्वथा नहीं मानने वाले से उसका निषेध करना भी अशक्य है। क्योंकि अभाव ज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान कारण होता है ॥ ५९ ॥

वक्तव्यस्तर्हि कोऽसौ भेदो नाम स हि स्वरूपं वा स्यादितरेतराभावो-वा धर्मान्तरं वा? नाद्यः। भिन्नेऽभिन्नभ्रमानुपपत्तिप्रसङ्गात्। भ्रान्त्याऽपि धर्मिस्वरूपावगाहनात्। अन्यथा कस्याभेदं स भ्रान्तिरुल्लिखेत्—ननु निःसंबन्धित्वेन व्यवस्थितेषु तरुदारुप्रभृतिषु नानाधारोऽन्य एवावयव्यारोप्यते। येषु चारोप्यते ते ते भेदेनैव भान्ति। किन्त्वनारब्धावयविषु

तेष्वारब्धावयवितया विभ्रम्यते ? मैवं, तेषां प्रागनुदाहरणीकृतत्वात् । अतस्मिन् स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाभासार्थानां दृष्टान्तत्वेनेष्टत्वात्, तत्रापि धर्मान्तरारोपाभ्युपगमे तादात्म्याभावस्य संसर्गाभावप्रवेशापत्तेः । नचैवमप्येष्टव्यमेव, तथापि स्वरूपभेदग्रहे तत्राभेदस्य धर्मस्याप्यशक्यारोपत्वात् ॥

इतरेतरेति । भेदनं भेद इति व्युत्पत्तिमालम्ब्येत्यर्थः । धर्मान्तरमिति । भिद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तिमालम्ब्येत्यर्थः । भिन्ने इति । रजतभिन्ने शुक्त्यादौ रजताभेदग्रहो न स्यात् । विशेषदर्शनादित्यर्थः । नन्विति । निःसंबन्धितया व्यवस्थितेषु परस्परोदासीनेष्वित्यर्थः । एतस्यैव विवरणमनारब्धावयविष्विति । तथा चारब्धावयवित्वारोपो न भेदग्रहविरोधीति न भ्रमानुपपत्तिरित्यर्थः । मैत्रे स एवायं चैत्र इत्येतादृशभ्रमानुपपत्तिरुक्तेत्याह—अतस्मिन्निति । ननु तत्राप्यभेदो नारोप्यते येन भेदग्रहस्तत्परिपन्थी स्यादपि तु चैत्रमैत्रयोस्तादात्म्यमित्यत आह—तत्रापीति । तथा च नायं चैत्र इति विशेषदर्शनं तादात्म्यमारोपितं निषिध्येत् ततो यां धियमन्योन्याभावविषयामुपैषि तयाऽत्यन्ताभाव एव चेद्विषयीकृतस्तदाऽन्यान्याभावेऽतिरिक्ते प्रमाणं नास्तीत्यर्थः । दोषान्तरमाह—तथापीति । तादात्म्यारोपोऽप्यनुपपन्न एव तत्रेत्यर्थः ॥ ६० ॥

ज्ञान का ही अर्थ आकार है, इस मत से भेद खण्डन का आरम्भ है। भेद क्या है ? क्या वह जहाँ भेदबुद्धि होती है, उस पदार्थ का स्वरूप मात्र है ? या पदार्थ का परस्पर भेदन रूप इतरेतराभाव (अन्योन्याभाव) है ? या भिद्यतेऽनेन, भेद किया जाय जिससे वह धर्मान्तर भेद शब्द का अर्थ है। यहाँ प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि स्वरूप मात्र भेद हो तो रजत से भिन्न शुक्ति में रजत के अभेद का ज्ञान (इदं रजतम्) ऐसा नहीं होना चाहिये। भ्रम ज्ञान से भी धर्मी शुक्ति के स्वरूप का अवगाहन (ग्रहण) होता ही है। अतः विरोधी भेद ज्ञान के होने पर अभेद भ्रम नहीं हो सकता, यदि कहें कि भ्रान्ति ज्ञान से अभेद मात्र का ग्रहण होता है, स्वरूप का नहीं; तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि धर्मी स्वरूप के ग्रहण के बिना वह भ्रान्ति किस के अभेद को ग्रहण करेगी ? स्वतन्त्र अभेद कोई वस्तु नहीं है जिसका ग्रहण धर्मी स्वरूप के ग्रहण के बिना हो सके। शंका यह होती है कि अभेद का भ्रम ही नहीं होता है जिससे स्वरूपात्मक भेद का ज्ञान विरोधी हो, किन्तु परस्पर निःसम्बन्धी (सम्बन्धरहित) रूप से व्यवस्थित (वर्तमान) दूरस्थ अनेक वृक्षकाष्ठादि में नाना अवयवरूप आधार वाला अन्य ही अवयवी आरोपित होता है। और जिनमें आरोप होता है वे सब भेदपूर्वक ही भासते हैं उनमें अभेद का भ्रम रूप ज्ञान नहीं होता, किन्तु अनारब्ध (अनुत्पादित) अवयवी वाले उन तरुकाष्ठादिकों में आरब्ध अवयविता रूप से भ्रम आरोप किया जाता है। इसी प्रकार शुक्ति में आरोप मात्र अभेद का होता है, वह स्वरूपात्मक भेदग्रह का विरोधी नहीं होता। न भेदग्रह दोष मूलक आरोप का विरोधी होता है। परन्तु यह शंका युक्त नहीं। उन तरुकाष्ठादि को प्रथम अनुदाहरण कर दिया गया है कि भिन्न में अभेद भ्रम नहीं हो सकता। अचैत्र में जो (स एव चैत्रः) वही चैत्र है, ऐसा प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम होता है, उस प्रत्यभिज्ञाभास (भ्रम) के अर्थों को दृष्टान्तरूप से माना है कि यदि स्वरूपात्मक भेद के ग्रहण से वहाँ अभेद का भ्रम नहीं होना चाहिये। यदि कहें कि वहाँ भी अभेद का भ्रम नहीं होता, किन्तु

अचैत्र में चैत्रत्व धर्म का या उभयनिष्ठ तादात्म्य नामक धर्मान्तर का आरोप होता है। अतः यह भी भिन्न में अभेद भ्रम का उदाहरण नहीं हो सकता। तो उत्तर यह है कि वहां उस प्रत्यभिज्ञा में धर्मान्तर के आरोप को मानने पर नायं चैत्र यह चैत्र नहीं, इस बाध प्रतीति का विषय तादात्म्य के अभाव को संसर्गाभाव में प्रवेश की प्राप्ति होगी, इसी प्रकार सर्वत्र अन्योन्याभाव के स्थान में आरोपित धर्म के निषेध होने के कारण अभेद का निषेधात्मक अन्योन्याभाव का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहें कि ऐसा ही मन्तव्य है, अन्योन्याभाव को नहीं मानना है, तो यह कहने से निर्वाह नहीं है। अन्योन्याभाव का संसर्गाभाव में प्रवेश होने पर भी स्वरूपात्मक भेद के ग्रहण होने पर वहाँ अभेद (तादात्म्य) रूप धर्म का आरोप हाना अशक्य है। क्योंकि भेदाभेद को विरोध है। अतः स्वरूपात्मक भेद के ग्रहण होने पर न तादात्म्य का आरोप हो सकता और न अभेद का भ्रम हा सकता है। वस्तुतः अभेद और तादात्म्य एक है ॥ ६० ॥

नापि द्वितीयः। प्रतीतावन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्। प्रतियोगित्वेनाप्रतीतावधिकरणप्रतीतिः अधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्च तद्ग्रहणकारणमतः क्वेतरेतराश्रयः? इति चेत्। मैवं, एवं हि सति कुम्भः पटो न भवतीत्यत्र यथैव तस्याभावस्य प्रतियोगितया पटो निषिध्यते तथा कुम्भोऽपीति सोऽपि कुम्भात्मतया निषिद्धः प्रसज्यते। वस्तुतोऽन्योन्याभावस्य कुम्भप्रतियोगिकत्वेऽपि कुम्भस्यापटत्वनिरूपणकाले कुम्भप्रतियोगिता नापेक्ष्यते किन्त्वाश्रयतैवेति कुम्भाप्रतिक्षेपः पटस्य तु प्रतियोगितैवापेक्ष्यते न त्वाश्रयतेति कुम्भवत् पटस्यापि न सङ्ग्रहापत्तिः। यद्यप्यन्योन्याभावस्योभयप्रतियोगिकता, तथाप्यन्या कुम्भाश्रयताऽन्या च पटाश्रयताऽन्या कुम्भप्रतियोगिकताऽन्या च पटप्रतियोगिकता। तेनान्योन्यभावास्योभयप्रतियोगिकत्वे चोभयाश्रितत्वे च नोभयोरपि सङ्ग्रहप्रतिक्षेपविरोधापत्तिः ॥६१॥

प्रतीताविति। प्रतियोगित्वेन गृह्यमाणेन प्रतियोगिनाऽन्योन्याभावनिरूपणं प्रतियोगित्वं चाभावविरहात्मत्वमित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। प्रतियोगित्वेन प्रतीतिर्न तन्त्रं किन्तु प्रतियोगिप्रतीतिरिति न परस्पराश्रय इत्याह--प्रतियोगित्वेनेति। एवं हीति। प्रतियोगिनः प्रतियोगित्वेन भानं न चेत्तन्त्रं तदा घटः पटो न भवतीत्यत्र नञन्वयोऽविशेषेणैव स्यादित्युभयं प्रतियोगि भवेदित्यर्थः। उभयोरेक एवान्योन्याभाव इति मतमाश्रित्येदमुक्तमित्येके। अन्योन्याश्रयं द्रढयितुं प्रतियोगित्वेन ज्ञानमन्योन्याभावनिरूपणे तन्त्रमाह--वस्तुत इति। यस्य प्रतियोगित्वं स्फुरति तस्य प्रतिक्षेपो यस्याधिकरणत्वं स्फुरति न तस्यापीत्यवश्यं वक्तव्यं तथा चान्योन्याश्रय एवेत्यर्थः। यद्वा वस्तुत इत्यारभ्य विशेषादिति पर्यन्तमाशङ्काग्रन्थ एव। वस्तुतो यद्यपीत्यत एवाऽऽशङ्का द्रष्टव्या। अन्योन्याभावस्येति। एकस्यैवेति शेषः। तस्यैवैकस्य चत्वारो धर्माः पटाश्रयत्वं घटाश्रयत्वं पटप्रतियोगित्वं घटप्रतियोगित्वं च, तत्र स्मर्यमाणो निषेध्य एवानुभूयमानस्त्वाश्रय एवेति व्यवस्थायां क्वोभयनिषेध्यत्वमुभयस्य चाश्रयत्वं भासेतेत्यर्थः॥ ६१॥

इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) रूप भेद है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा

सकता । क्योंकि अन्योन्याश्रय के ज्ञान में अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है, धर्मित्व प्रतियोगित्व के ज्ञान होने पर अन्योन्याभाव की प्रतीति हो सकती है। और अन्योन्याभाव की प्रतीति होने पर प्रतियोगित्व की प्रतीति हो सकती है। कारण यह है कि स्वाभावाभावात्मकत्व प्रतियोगित्व होता है। तथा जिसका अभाव हो वह अभाव का प्रतियोगी होता है। जिसमें अभाव हो, वह अनुयोगी होता है, इस प्रकार अन्योन्याभाव के ज्ञान में अन्योन्याश्रय होता है। यदि कहें कि स्वाभावाभावात्मकत्वादिरूप प्रतियोगित्व रूप से प्रतियोगी की अप्रतीति रहते भी अधिकरण (अनुयोगी) की प्रतीति और अधिकरण स्वभावरूप (अनुयोगित्वरूप) से स्मृति नहीं रहते भी प्रतियोगी के स्वरूपमात्र की स्मृति उस अन्योन्याभाव के ग्रहण (ज्ञान) में कारण है। अतः इतरेतराश्रय कहाँ है ? तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि प्रतियोगी का प्रतियोगित्वरूप से ज्ञान न हो, तो इस अवस्था में (कुम्भः पटो न भवति) कुम्भ पट नहीं है। यहाँ जैसे उस अभाव का प्रतियोगीरूप से पट का निषेध किया जाता है, वैसे ही कुम्भ भी निषिद्ध प्राप्त होता है। अतः वह कुम्भ भी कुम्भ स्वरूप से निषिद्ध प्राप्त होगा। क्योंकि, प्रतियोगिता के ज्ञान बिना नकार को समानाधिकरण वाले दोनों के साथ तुल्य सम्बन्ध होगा। यहाँ भेदवादी स्वमत का उपपादन करता है कि (कुम्भः पटो न भवति) यहाँ वस्तुतः अन्योन्याभाव को कुम्भप्रतियोगिकत्व होते भी कुम्भ के अपटत्व (पटत्वाभाव) के निरूपण (बोधन) काल में कुम्भ की प्रतियोगिता अपेक्षित नहीं रहती। अर्थात् उस निषेध का कुम्भ प्रतियोगी नहीं होता, किन्तु आश्रयता (अनुयोगिता) ही अपेक्षित रहती है। अतः कुम्भ का प्रतिक्षेप (निषेध) नहीं होता। और पट की प्रतियोगिता ही अपेक्षित रहती है, आश्रयता नहीं। अतः कुम्भ के समान पट के संग्रह (अनिषेध) की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि यद्यपि अन्योन्याभाव को घट कुम्भ उभय प्रतियोगित्व है, तथापि (घटः पटो न, पटो घटो न) इत्यादि प्रतीति भेद से कुम्भाश्रित प्रतियोगिता अन्य है और घटाश्रित प्रतियोगिता अन्य। इसी प्रकार अभाव में अन्य कुम्भ प्रतियोगिकत्व है और अन्य पट प्रतियोगिकत्व (प्रतियोगिवत्त्व) है, इस प्रकार एक अन्योन्याश्रय (भेद) के प्रतियोगिता अनुयोगिता के भिन्न भिन्न होने से अन्योन्याभाव के दो प्रतियोगी वाला और दो आश्रितत्व होते भी दोनों के ही संग्रह और निषेधरूप विरोध की प्राप्ति नहीं होती ॥६१॥

प्रतियोगित्वस्यानुयोगिनि भेदोपजीवनेऽन्योन्याश्रयः अनुपजीवने च स्वस्मादपि भेदग्रहापत्तिः प्रसज्यते। यतः स्मर्यमाणस्य प्रतियोगितानुभूयमानस्य चाश्रयतेत्येतावन्मात्र एवोक्ते स्वस्मादपि भेदग्रहानापत्तिः। न चैवं स एवायमित्यत्रापि भेदग्रहप्रसङ्गः। वास्तवतत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात् इति चेन्मैवं, तथाहि-- किमधिकरणप्रतीतिरधिकरणतया प्रतीतिरुत वस्तुगत्याधिकरणस्य स्वरूपेण विवक्षिता ? आद्ये किमियमधिकरणतया घटादेः प्रतीतिस्तस्य कारणं स्यात् न तावदन्योन्याभावाधिकरणतया दण्डाप्रतीतौ दण्डाधिकरणताया इव तदप्रतीतौ तदधिकरणतायाः प्रत्येतुं पूर्वमशक्यत्वात् विशिष्टप्रतीत्या विशेषणस्यावश्योल्लेख्यत्वात् विशिष्टस्य च विशेषणघटितमूर्त्तित्वात् ॥ ६२ ॥

ननु स एवायमित्यत्रापि स्मर्यमाणस्य तत्ताविशिष्टस्यानुभूयमाने इदन्ताविशिष्टे भेदः प्रतीयेतेत्यत आह—नचेति। तद्ग्रहे भेदस्यापि वास्तवस्य प्रयोजकत्वादित्यर्थः। अधिकरणत्वेन प्रतीतिराधेयपरतन्त्रेत्यन्योन्याभावस्याधेयस्य ग्रहं विनाधिकरणत्वेन प्रतीतिरेव न स्यादिति स एवान्योन्याश्रयः। विशिष्टेति। अन्यान्याभावाधिकरणत्वं यद्विशिष्टं तस्यान्योन्याभावस्य विशेषणस्य स्फुरणं विना स्फुरणानुपपत्तेरित्यर्थः। अत्र हेतुमाह—विशिष्टस्येति॥ ६२॥

यदि कहें कि प्रतियोगित्व को अनुयोगी से भेद का अनुजीवन (आश्रयण) करना हो, तो अन्योन्याश्रय होगा, अर्थात् अनुयोगी से भिन्न ज्ञात होकर प्रतियोगी स्वभेद का बोधक हो, तो अन्योन्याश्रय होगा। और अनुयोगी के भेद का आश्रयण नहीं करने पर भिन्न के भेद का बोधक नहीं होने से स्वात्मा से भी भेद ग्रहण को प्राप्ति होगो, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि स्मर्यमाण (स्मृतिविषय) को प्रतियोगिता होती है। और अभावाश्रय रूप से अनुभूयमान को आश्रयता होती है। इतना ही कहने से स्वात्मा से भेद ग्रहण को प्राप्ति नहीं होती, यदि कहें कि (सोऽयम्) यहाँ भो अयम् इस धर्मी अंश को गृह्यमाणता (प्रत्यक्षता) है, और 'स' इस अंश में स्मर्यमाणता है। अतः यहाँ भी भेद ग्रहण की प्राप्ति होगी जिससे उक्त प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम भो नहीं हो सकेगा, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि वास्तवभेद के सत्त्व और असत्त्व से (घटः पटो न) और (सएवायम्) इन दोनों में विशेष (भेद) है। वास्तवभेदयुक्त प्रतियोगो का स्मरण भेद ज्ञान का कारण। (सएवायम्) यहाँ वास्तव भेद नहीं है, अतः भेद का ज्ञान नहीं होता (वस्तुतः से यहाँ तक भेद का प्रतिपादन होने पर कहते हैं कि) ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि भेद ज्ञान में जो अधिकरण (अनुयोगो) को प्रतोति कारण है, वह अधिकरण रूप से प्रतीति कारण है? या वस्तुतः जो अधिकरण है उसका स्वरूप मात्र से ज्ञान कारण रूप से विवक्षित है? यहाँ प्रथम पक्ष में किसके अधिकरणरूप से घटादि की प्रतीति उस भेद का कारण होगा? यह विचारणीय है। यहाँ अन्योन्याभाव के अधिकरण रूप से ज्ञान तो कारण हो नहीं सकता है, क्योंकि जैसे दण्ड की अप्रतीति रहते दण्डाधिकरणता का ज्ञान अशक्य है, वैसे ही उस अन्योन्याभाव की अप्रतीति (अज्ञात) रहते उसके अधिकरणत्व को प्रथम जानना अशक्य है। क्योंकि, विशिष्ट के विशेषणयुक्तमूर्ति (स्वरूप) वाले होने से विशिष्ट की प्रतीति द्वारा विशेषण का अवश्य उल्लेख (प्रकाश) होता है, अतः अन्योन्याभाव के अधिकरणत्वरूप से अधिकरण की प्रतीति से अन्योन्याभाव की प्रतीति प्रथम होना चाहिये। वहाँ अन्योन्याभावादि से ऐसा असम्भव है॥ ६२॥

नापि यस्य कस्यचिदधिकरणतया प्रतीतिस्तत्कारणम्। यत्र भिन्ने भेदभ्रमस्तत्र धर्मिणः सदशधारतया प्रतीतावपि तदनुपपत्तेः। न तन्मात्रादुत्पत्तिः अपि तु प्रतियोगिस्मृतिसहितात्। सा च तदा नास्तीति तदनुपपत्तिः इति चेन्न, प्रतियोगिस्मृतिरपि किं प्रतियोगितया स्मृतिः, उत वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेणेति विकल्प्यत्वात्। आद्ये किमन्योन्याभावप्रतियोगितया यस्य कस्यचित् प्रतियोगितया वा। नाद्यः। अन्योन्याभावाप्रतीतौ तदनुपपत्तेः। पूर्ववत्॥ ६३॥

नन्वन्योन्याभावाधिकरणत्वेन ग्रहो न तन्त्रं किन्त्वधिकरणत्वमात्रेणेति नान्योन्याश्रय इत्यत आह—नापीति। एवं सति सत्तायां गृह्यमाणायां शुक्तौ रजताभेदग्रहकालेऽपि रजतभेदग्रहः स्यादित्यर्थः। सा चेति। प्रतियोगिस्मृतिरित्यर्थः। तदेति। अनुभूयमानारोपकाले इत्यर्थः। केचित्तु प्रत्यभिज्ञाने स्मृतिर्न हेतुः किंतु पूर्वानुभव एव संस्कारद्वारेति प्रतियोगिस्मरणं तत्र नास्तीति व्याचख्युः। तन्मन्दम्। स्मृतेरेव तत्र हेतुत्वात् तथाप्यग्रिमग्रन्थोत्थानात् भ्रान्तप्रत्यभिज्ञाने स्मर्यमाणारोपान्तरे वा यद्यप्येवमप्यन्योन्याभावग्रहापत्तिस्तथाऽपि परिहारान्तरमाह—प्रतियोगीति। पूर्ववदिति। यथान्योन्याभावग्रहे तदधिकरणत्वं दुर्ग्रहं तथा तदग्रहे तत्प्रतियोगित्वमपीत्यर्थः॥ ६३॥

यदि अन्योन्याभाव से अन्य जिस किसी के अधिकरणरूप से प्रतीति को उस भेद ज्ञान में कारण मानें, तो वह भी अयुक्त है, क्योंकि जहाँ भिन्न में अभेद का भ्रम (सोऽयंचैत्रः) ऐसा होता है, वहाँ धर्मी के सत्ता के आधाररूप से प्रतीत होते भी उस भेद ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। यदि कहें कि केवल अधिकरण का ज्ञान भेद ज्ञान का कारण नहीं है, किन्तु प्रतियोगी की स्मृति सहित अधिकरण का ज्ञान भेद ज्ञान का कारण है, और भ्रम स्थान में प्रतियोगी का स्मरण नहीं रहता, अतः भेद का ज्ञान नहीं होता, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यहाँ भी विकल्प होगा कि प्रतियोगी की स्मृति भी क्या प्रतियोगित्वरूप से होती है? या वस्तुतः प्रतियोगी की स्वरूप से स्मृति होती है? यहाँ भी प्रथम पक्ष में अन्योन्याभाव के प्रतियोगित्वरूप से जिस किसी के प्रतियोगित्व रूप से स्मृति होती है। वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभाव की प्रतीति के बिना अन्योन्याभाव के प्रतियोगित्व के ज्ञान की अनुपपत्ति से वह अन्योन्याभाव के ज्ञान में कारण नहीं हो सकता, इत्यादिपूर्वतुल्य समझना चाहिये॥ ६३॥

नापि द्वितीयः। यस्य वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमविषयीकृतस्य स्वदेशेतरदेशादावसत्त्वेन प्रतीयमानत्वे स्वाभावप्रतियोगितया प्रतीतावन्योन्याभावप्रतीत्यनुत्पत्तेः प्रतियोग्यनुभूतिः सा न स्मृतिः इति चेत्। न, स्मृतित्वस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथाऽनुभूयमानयोरन्योन्याभावाप्रतीतिप्रसङ्गात्। अत्रान्तराले स्मृतिकल्पनया नान्योन्यात्मानावित्यनुभवबाधितया प्रयोजकत्वेऽपि वा स्मृतित्वस्य। योऽसौ तत्र नासीत् सोयमिति स्मर्यमाणाभावप्रतियोगिकत्वेऽपि वस्तुगत्या भिन्नस्याभिन्नतया भ्रमेणोल्लिख्यमानस्याऽन्योन्याभावप्रतीत्यनुदयात्॥ ६४॥

यस्येति। वणिग्वीथ्यामिदं रजतं नास्तीति संसर्गाभावप्रतियोगितया गृह्यमाणस्य रजतस्य तादात्म्यारोपदशायां भवदुक्तान्योन्याभावग्रहसामग्रीसत्त्वेऽपि तदनुपपत्तेरित्यर्थः। सेति। देशान्तराभावप्रतियोगितया प्रतीतिरित्यर्थः। प्रतियोगिनो रजतस्य ताद्रूप्येण स्मरणसामग्री तदा नास्तीति भावः। अनुभूतेरप्येतादृश्यास्त्वयान्योन्याभावग्रहहेतुत्वेनावश्यं मन्तव्यत्वादित्यभिप्रेत्याह—स्मृतित्वस्येति। एतदेवाह अन्यथेति। ननु तत्राप्यन्योन्याभावग्रहान्यथानुपपत्त्या स्मृतिः कल्पनीयेत्यत आह—अत्रेति। नान्योन्यात्मानावित्यनुभवबाधितयाऽप्यन्तराले स्मृतिकल्पनया स्मृतित्वस्य प्रयोजकत्वे वेति योजना। यद्वा स्मृतिकल्पनया इत्यत्रालमिति शेषः। प्रतियोगिज्ञानमात्रस्यैव तन्त्रत्वात्। प्रयोजकत्वे वेत्यास्याभ्युपगमवादो भिन्न एव। योऽसाविति। विश्वनाथमण्डपे यो नासीत् स एवायं चैत्र इति मैत्रे प्रत्यभिजानतोऽपि त्वदुक्तसामग्रीसत्त्वेऽप्यन्योन्याभाव-

प्रतीतिर्नोदेतीत्यर्थः। पूर्वेति। गेहनिष्ठाभावप्रतियोगितया पूर्वदृष्टं घटं स्मरतो घटान्तरानुभवकाले त्वदुक्तसामग्रीव्यभिचारादन्योन्याभावग्रहमित्यर्थः। यद्यप्यग्रे संशयदर्शनेन दोषस्तत्र नास्तीति वक्तुमशक्यं तथापि तत्काले दोषवत्त्वप्रमाऽपि नास्तीत्यर्थः। बुद्ध्यत एवान्योन्याभाव इति शेषः। पश्चादिति। भेदग्रहे तत्संशयो न स्यादित्यर्थः। विशेषधीरिति। भ्रमे च विशेषदर्शनं नास्तीत्यर्थः। विशेषधीरिति। भ्रमे च विशेषदर्शनं नास्तीत्यर्थः। विशेषो हि व्यावर्त्तको धर्म उच्यते व्यावर्त्तकत्वं च स्वविशेष्ये तदितरान्योन्याभाववत्त्वधीजनकत्वमिति स एवान्योन्याश्रय इत्यर्थः। एतेनेति। प्रतियोगित्वेन ज्ञानं न तन्त्रं किन्तु प्रतियोगिनः स्मरणमात्रमन्योन्याभावग्रहकारणमिति निरस्तमित्यर्थः। वस्तु सदधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिरित्यपीत्यत्रापि व्युदस्तमिति योज्यम्। एतेनेत्यस्यातिदेश्यमाह—भिन्नस्येति। चैत्रं मैत्रतया प्रत्यभिजानतस्तदुभयान्योन्याभावग्रहणप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेत्यर्थः॥ ६४॥

जिस किसी के प्रतियोगीरूप से प्रतीयमानभेद ज्ञान में कारण है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं क्योंकि जो मैत्र वस्तुतः चैत्र से भिन्न है, उसको स्वदेश गृहादि से अन्य देशादि में असत्त्वरूप से प्रतीयमानत्व होने पर और उस अपने असत्त्व रूप अभाव के प्रतियोगिरूप से प्रतीत होने पर चैत्र से अभिन्न रूप से भ्रम का विषय किया गया उस मैत्र के अन्योन्याभाव की प्रतीति की अनुपपत्ति से यह पक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि, जिस किसी अभाव के प्रतियोगी के ज्ञान होते भी अन्योन्याभाव का ज्ञान नहीं होता है। यदि कहें उस भ्रमस्थान में प्रतियोगी की अनुभूति है (अयं चैत्रः) इस प्रकार भेद का प्रतियोगी प्रत्यक्ष अनुभूत होता है और भेद के ज्ञान में प्रतियोगी की स्मृति हेतु है अतः वहाँ भेद ज्ञान नहीं होता तो यह कहना युक्त नहीं, स्मृतित्व को भेद ज्ञान में प्रयोजकत्व (हेतुत्व) नहीं है। अन्यथा यदि स्मृतित्व ही भेद ज्ञान का हेतु हो तो अनुभूयमान घट पट के अन्योन्याभाव की अप्रतीति की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि जहाँ अनुभूत घट पट का भेदज्ञान होता है, वहाँ भी अनुभव और भेदज्ञान के मध्य काल में स्मृति की कल्पना से वहाँ भी स्मृति प्रयोजक सिद्ध होती है, तो कहा जा सकता है कि (नान्योन्यात्मानौ इमे) ये दोनों घटपट परस्पर अभिन्न नहीं हैं, इस अनुभव से बाधित भी मध्यकालिक स्मृतित्व की कल्पना से स्मृतित्व के प्रयोजकत्व को मानने पर भी, जो चैत्र वहां शिवमन्दिर में नहीं था वह यह है। इस प्रकार जहाँ चैत्र का मैत्र में अभेद का प्रत्यभिज्ञारूप भ्रम होता है, वहाँ अभाव (भेद) के प्रतियोगी को स्मर्यमाणत्व रहते भी वस्तुतः भिन्न का अभिन्नरूप से भ्रम से प्रतीयमान का अन्योन्याभाव की प्रतीति के अनुदय (अनुत्पत्ति) से स्मृति में भेदज्ञान का प्रयोजकत्व नहीं सिद्ध हो सकता अतः मध्य में स्मृतित्व की कल्पना कर्तव्य नहीं है, क्योंकि कल्पना बाधित है॥ ६४॥

दोषाभावोऽपि हेतुः स भ्रमोदाहरणे नास्ति इति चेत्। न, पूर्वदृष्टे स्मृतिमतः ततो वस्तुगत्याऽन्यस्यैवानन्तरं दृष्टस्य पूर्वदृष्टाद्भिन्नमभिन्नं वेत्यनिरूपितस्यापि सम्भवेन तत्रेतरेतराभावबुद्ध्यापत्तेः। बुध्यते एव इति चेत्। न, पश्चात्तत्संशयदर्शनात्। विशेषधीरपि तत्र हेतुः इति चेत्। न, विशेषत्वस्यान्योन्याभावनिरूपणं विना दुर्निरूपत्वात्। एतेन

वस्तुगत्या प्रतियोगिनः स्वरूपेण स्मृतिः सहकारीत्यपि व्युदस्तम्। वेदितव्यं वस्तुगत्याऽधिकरणस्य स्वरूपेण प्रतीतिः सहकारिणीत्यपि। भिन्नस्याभिन्नतया वृक्षादेः प्रतीयमानस्यान्योन्याभाववत्तया ग्रहणप्रसङ्गात् ॥ ६५ ॥

यदि कहें कि दोष का अभाव भी भेदज्ञान का हेतु है और वह दोषाभावभ्रमरूप उदाहरण में नहीं रहता अतः वहाँ भेद का ज्ञान नहीं होता है। तो भी प्रथम दृष्ट पदार्थ विषयक स्मृतिवाले को वस्तुतः उस पूर्व दृष्ट से अन्य में अनन्तर (बाद में) दृष्ट और पूर्व दृष्ट से भिन्न या अभिन्नरूप से अनिश्चित वस्तु के भी सम्भव होने से वहाँ अन्योन्याभाव के ज्ञान की प्राप्ति होती है क्योंकि, वहाँ दोष का अभाव भी है परन्तु ज्ञान होता नहीं यदि कहें कि वहाँ अन्योन्याभाव का ज्ञान होता ही है तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि, वहाँ पीछे संशय होता हुआ देखा जाता है। यदि कहें विशेष का ज्ञान भी उस भेदज्ञान में हेतु है और उक्त अभेद भ्रमादि के स्थान में विशेष का ज्ञान नहीं रहता अतः भेद का ज्ञान नहीं होता है तो यह कहना भी संगत नहीं क्योंकि, अन्योन्याभाव के निरूपण के बिना विशेष दुर्निरूपणीय है, क्योंकि व्यावर्तक धर्म ही विशेष कहा जाता है और उस धर्माश्रय विशेष में अन्य से भेद बुद्धिजनकत्व ही विशेषत्व (व्यावर्तकत्व) है। अतः अन्योन्याभाव के ज्ञान के बिना विशेष का ज्ञान नहीं हो सकने से अन्योन्याश्रयता है, इसीसे प्रतियोगित्वरूप से प्रतियोगी का ज्ञान भेदज्ञान में हेतु नहीं है, किन्तु वस्तुतः प्रतियोगी की स्वरूप से स्मृति सहकारी कारण है, इस कथन को भी व्युदस्त समझना चाहिये और वस्तुतः अधिकरण (अनुयोगी) की स्वरूप से प्रतीति सहकारी कारण है, इस कथन को भी व्युदस्त समझना चाहिये। क्योंकि, भिन्न होते भी अभिन्नरूप से भासने वाले वृक्षादि का अन्योन्याभाववाले स्वरूप से ग्रहण की प्राप्ति होती है वहाँ प्रतियोगी का स्वरूप से स्मरण और अधिकरण का ज्ञान भी रहता ही है, इसी प्रकार चैत्र के मैत्र रूप से प्रत्यभिज्ञा ज्ञान वाले को उन दोनों के अन्योन्याभाव के ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ ६५ ॥

नापि तृतीयः। अभावस्य निर्द्धर्मकतापक्षे तस्य विश्वाभिन्नत्वप्रसक्तौ विश्वस्याप्यभावरूपत्वेन निर्द्धर्मकतया धर्मलक्षणान्योन्यभेदविरहिण ऐकरूप्यापत्तेः—अभावे धर्माभावात्स्वरूपमेव भेद इति चेत्। न, योऽसौ भेदः तस्य स्वात्मा स किं कस्मादपि भेदः उत निष्प्रतियोगिक एव?। न तावन्निष्प्रतियोगिक एव। प्रमाणाभावेनासत्त्वप्रसङ्गात्। योऽसौ भेदव्यवहारोऽस्ति स कस्मादपि नतु नीलव्यवहारवन्निष्प्रतियोगिकः। स च निष्प्रतियोगिको नोपपद्यते। निष्प्रतियोगिकोऽपि वा यद्ययं सप्रतियोगिकव्यवहारं करोति तदा प्रतियोगिनियमो न स्यादिति ॥ ६६ ॥

वैधर्म्यभेदं खण्डयति—नापीति। अभावे वैधर्म्याभावात् सर्वाभेदप्रसङ्ग इत्यर्थः। वैधर्म्यं विनाऽपि स्वरूपभेदेनैवाभावो भिद्यते इत्याह—स्वरूपमिति। निष्प्रतियोगिकश्च भेदश्चेति विरुद्धमित्याह—प्रमाणेति। एतदेवाह—योसाविति। तथा च व्यवहाराभावेन व्यवहर्त्तव्याभाव इत्यर्थः। ननु नीलादिव्यवहारवद् भेदव्यवहारोऽपि निष्प्रतियोगिकः स्यादित्यत आह—नत्विति। सचेति। भेद इत्यर्थः। यदि भेदो निष्प्रतियोगिकः

स्यात् तदा नीलत्वन्निष्प्रतियोगिकस्तद्व्यवहारः सम्भाव्येतापि नत्वेवमित्यर्थः। ननु नि-ष्प्रतियोगिक एव भेदः स्वाभाव्यात् प्रतियोगिकभेदव्यवहारं कुर्यादित्यत आह—यदीति ॥ ६६ ॥

धर्मान्तररूप भेद है, यह तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि अभाव के निर्धर्मकता पक्ष में (अभाव से कोई धर्म नहीं रहता, ऐसे मानने वालों के मत में) अत्यन्ताऽभावादि रूप अभाव में संसार से भेदरूप धर्म के नहीं रहने के कारण उस अभाव को समस्त संसार से अभिन्नता की प्राप्ति होने पर, संसार को भी अभावरूपता की प्राप्ति से उसमें निर्धर्म-कता के कारण धर्मरूप अन्योन्याभाव के अभाव वाले संसार को एकरूपता की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि भाव में धर्मान्तर रूप भेद रहता है, परन्तु अभाव में धर्मान्तर के अभाव से अभाव का स्वरूप ही भेद है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि, जैसे घट में पट का भेद है, तो वह भेद स्वरूप भी अभाव पट रूप प्रतियोगी वाला है, वैसे सब संसार का भेद स्वरूप जो अत्यन्ताभावादि रूप वह भेद है, उसका जो स्वरूप है, वह क्या किसी संसार से (भाव से) ही = भावप्रतियोगिक भेद है ? अथवा निष्प्रतियोगिक (प्रतियोगी रहित ही) भेद है ? प्रतियोगी रहित ही भेद नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे भेद में प्रमाण के अभाव से उसके असत्त्व की प्राप्ति होगी। व्यवहार भी निष्प्रति-योगिक भेद में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि जो वह भेद का प्रसिद्ध व्यवहार होता है, वह भी किसी प्रतियोगी से निरूपित (सिद्ध) भेद का ही व्यवहार होता है। नील, पीतादि व्यवहार के समान निष्प्रतियोगिक भेद का व्यवहार नहीं होता, अतः वह भेद निष्प्रतियोगिक सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि यह निष्प्रतियोगिक भी भेद सप्रतियोगिक व्यवहार करे, तो प्रतियोगी का नियम नहीं रहेगा कि भाव का अभाव से भेद है ॥६६॥

स्वस्मादपि भेदव्यवहारं कुर्यात्। स्वस्मात् कथं भेदः सम्भवतीति चेत् तत्किं भिन्नाद्भेदः ?। नन्वेवमनवस्था स्यात्। नापि प्रथमः। वक्तव्यं हि तद्यस्मादसौ भेदः न तावत्सर्वस्मात्स्वात्मनोऽपि भेदप्रसङ्गान्नापि घटा-देर्घटादिना सह तस्यावध्यवधिमद्भावो योऽसौ स ह्यर्थान्तरं वा स्यात्स्व-रूपमेव वा। आद्ये तस्यापि भेदावधित्वेन तत्राप्येवमेवानुयोगे यद्येतदे-वोत्तरमनवस्था स्यात्। अथ तत्र स्वरूपमेव तर्हि प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किन्निबन्धन इति प्रथमत एव स्वरूपं वाच्यम् ॥ ६७ ॥

अनियममेवाह—स्वस्मादपीति। नत्वेवमिति। येन भेदेनासौ भिन्नः सोऽपि भेदान्त-रेण भिन्नो भवेदित्यनवस्थेत्यर्थः। स्वरूपभेदस्य सप्रतियोगिकत्वे दोषमाह—वक्तव्यं हीति। असाविति। अभाव इत्यर्थः। ननु घटादेर्भावादभावः स्वरूपभेदात्मा स्यादित्यत आह—नापीति। पञ्चम्यावधित्वं घटादेः प्रतीयते स्वरूपभेदश्चावधिमान् भवति हि घटाद्भिन्नस्तदभाव इति तत्रावध्यवधिमद्भावोऽवधेर्घटादवधिमतश्चाभावात् संबन्धान्तरं वा स्यादुभयस्वरूपं वेति विकल्पयति। घटादिनेति। तस्यापीति। अवध्यवधिमद्भावात्मा यः संबन्धो घटतदभावभिन्नस्तस्मादप्यभावो भिन्नो बाध्यस्तत्राप्यन्य एवावध्यवधिमद्-भावः स्यात्ततोऽपि भेद एवाभावस्य। अवध्यवधिमद्भावपरम्परानुसरणादनवस्थेत्यर्थः। ननु घटतदभावयोरवध्यवधिमद्भावो भिन्न एवास्तु तत्रापि योऽवधित्वप्रत्ययः स स्वरूप-संबन्धाधीन एवेति नानवस्थेति शङ्कते। अथेति ॥ ६७ ॥

उक्तरीति से प्रतियोगी के नियम का अभाव होने पर, वह भेद अपने स्वरूप से अपने में भेद व्यवहार को सिद्ध करने लगेगा। यदि कहें कि भेद के प्रतियोगित्व अनु-योगित्व के एक में असम्भव होते स्वात्मा से भेद का सम्भव कैसे हो सकता ? तो उत्तर यह है कि क्या भिन्न से भेद होता है ? यदि भिन्न से भेद के मानें तो इस प्रकार अवश्य अनवस्था होगी। क्योंकि, जिस भेद से भिन्न होगा वह भेदान्तर से भिन्न होगा, तो भेदप्रवाह प्राप्त होगा। और स्वरूपात्मक (अभाव स्वरूप) भेद प्रतियोगी वाला है, (किसी की अपेक्षा से है) यह दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि कहना होगा कि वह स्वरूपात्मक भेद जिससे भिन्न है, वह प्रतियोगी कौन है ? सब से भेद तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि सब में स्वात्मा के भी अन्तर्गत होने से स्वात्मा से भी भेद की प्राप्ति होगी। घटादि से भाव भी अभाव स्वरूप भेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घट से भेद कहने पर घट भेद की अवधि होगा और अभाव स्वरूप अवधि वाला होगा वहाँ उन दोनों का जो अवधिअवधिमद्भाव सम्बन्ध होगा (घटादि के साथ जो अभाव को वह अवधिअवधिमद्भाव होगा) वह उन दोनों के स्वरूप से अर्थान्तर होगा ? या उन दोनों का स्वरूप ही होगा ? यहाँ प्रथम अर्थान्तर पक्ष में उस अर्थान्तर को भी भेदावधित्व से उत्तर उत्तर अर्थान्तर मानने पर अनवस्था होगी और यदि वह अवधिअवधिमद्भाव स्वरूपभिन्न ही हो, परन्तु उसमें स्वरूपात्मक ही अवधित्व की प्रतीति मानी जाय जिससे अनवस्था नहीं हो तो प्रथम के ही स्वरूपात्मकत्व क्या प्रद्वेष है ? किस निमित्तक द्वेष है जिससे प्रथम से ही नहीं कहा जाय। प्रथम से ही स्वरूप सम्बन्ध ही वक्तव्य है ॥ ६७ ॥

तदपि न, तथाहि यदि घटादिभिः सार्द्धमवध्यवधिमद्भावसम्बन्धोऽस्य स्वरूपं प्रतियोगिना सार्द्धं तद्भावस्याऽस्य निषेध्यनिषेधभावलक्षणः संबन्धः स्वरूपं न स्यात्, स्वरूपस्यैकत्वात् अनयोश्च संबन्धयोर्भिन्नत्वात्। नहि यदेव प्रतियोगिनः सकाशात् भिन्नत्वं तदेव तन्निषेधत्वमिति सम्भवति। ततो व्यतिरिक्तत्वस्यानिषेध्यसाधारणत्वान्निषेधभावस्य नियतवस्त्वपेक्षत्वादिति। एवं च कार्यकारणभावादौ स्वभावसंबन्धान्तरेऽपि वाच्यम्॥६८॥

ननु प्रथमोऽप्यवध्यवधिमद्भावः स्वरूपमेव घटतदभावयोः स्यादित्यत आह। तदपि नेति। अस्ति प्रतियोग्यभावयोरवध्यवधिमद्भावोऽस्ति च निषेध्यनिषेधलक्षणसंबन्धस्तदुभयं च प्रतियोग्यभावस्य स्वरूपमेव, तथा चैकस्य स्वरूपद्वयात्मकत्वमसम्भवीत्याह। यदीति। ननु द्वावपि संबन्धावभिन्नौ स्यातां तत्कुतो विरोध इत्यत आह। अनयोश्चेति भेदमेवोपपादयति। नहीति। घटाभावो हि निषेधात्मा घटमात्रस्य, भेदात्मा तु पटादेरपीति कथमनयोः संबन्धयोरैक्यं स्यादित्यर्थः। व्यतिरिक्तत्वस्य भेदस्यानिषेध्यसाधारण्यात् अनिषेध्येन पटादिना साधारण्यात्। एवमिति। कार्यकारणभावो दण्डघटयोः स्वरूपमवध्यवधिमद्भावोऽपि तथेत्येकस्यैवोभयस्वरूपात्मकत्वं स्यादित्यर्थः॥ ६८॥

परन्तु वह पहला ही अवधिअवधिमद्भाव घट और उसके अभाव का स्वरूप ही है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि घटादि के साथ अवधिअवधिमद्भाव रूप सम्बन्ध का स्वरूपात्मक है, तो प्रतियोगी के साथ इस अभाव का निषेध्य निषेधक

भाव रूप स्वरूप सम्बन्ध नहीं होगा। क्योंकि स्वरूप में एकत्व है, और इन दोनों सम्बन्धों में भिन्नत्व है। जो ही प्रतियोगी से अभाव को भिन्नत्व है वही उस प्रतियोगी का निषेध्यत्व अभाव में नहीं है। क्योंकि घटरूप प्रतियोगी से भेदात्मत्व पटादि में भी है। और घटनिषेधात्मत्व घटाभावमात्र में रहता है। अतः उस घट से व्यतिरिक्तत्व (भेद) को अनिषेध्य पटादि साधारण रूपत्व या वृत्तित्व होता है। और निषेध्य (घट) और उसका निषेध (अभाव = भेद) भाव को नियत घटतद्भाव मात्र वस्तु की अपेक्षा होती है। कार्य कारण भावादि में स्वभावरूप सम्बन्धान्तर में भी इसी प्रकार दोष होगा। कार्य कारण का यदि स्वरूप सम्बन्ध होगा तो (मृन्मयो घटः) इत्यादि विशेषण विशेष्यभाव नहीं होगा इत्यादि। क्योंकि स्वरूप एक रहता है, और विशेष्य विशेषणभाव अन्यत्र भी रहता है ॥ ६८ ॥

ऊहनीयश्चान्यत्रापि स्वरूपभेदे एष दोषः। किञ्च धर्मान्तरं भेद इति ब्रुवतः कोऽभिसन्धिः। किं घटत्वादय एव भेदः, उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद्धर्मः। आद्ये घटत्वादीनां सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गः। भेदस्य सप्रतियोगिकत्वात्। न च घटत्वादयस्तथा। पटाद्यनपेक्ष्य तेषां प्रतीतेः। यदा पटाद्यपेक्षया प्रतीयन्ते तदा भेदव्यवहारं कुर्वन्ति ? इति चेत्। न, प्रतीतौ कस्य पटाद्यपेक्षेति वाच्यम्। किं घटत्वादे, उत तद्धर्मस्य कस्यचित्। आद्ये पटाद्यपेक्षामन्तरेण घटत्वप्रतीत्यनुपपत्तिप्रसङ्गः। न हि यदन्तरेण यदुत्पद्यते तत्तत्कारणकं नाम। वह्न्यादाविवावान्तरजातिभेदे कारणभेदस्य चरितार्थयितुमशक्यत्वात्। साक्षात्कारित्वादिना सह परापरभावानुपपत्तेः ॥६९॥

पृथक्त्वादिनिरूपणे योऽवध्यवधिमद्भावस्तत्रायं दोष उक्तः। यदि च घटादिरपि स्वरूपभेद इष्यते तत्राप्ययं दोष ऊहनीय इत्याह। ऊहनीय इति। अत्र केषाञ्चिदपव्याख्यानम्। यदेति। निरूपकप्रकारभेदादेकस्यैव सप्रतियोगित्वं निष्प्रतियोगिकत्वं च स्यादित्यर्थः। घटत्वनिरूपणे पटापेक्षा चेत्तदा पटज्ञानमन्तरेण कदापि घटत्वनिरूपणं न स्यादित्याह। आद्य इति। नहीति। व्यभिचारेण कारणतैव न स्यादित्यर्थः। ननु विजातीयमेव तद्घटत्वज्ञानं यत्र पटापेक्षा। न हि जातिभेदाभ्युपगमेऽपि कारणं [illegible] तृणारणिमणिकारणतादर्शनादित्याह। वह्न्यादाविति। अनुपलम्भबाधे सत्यपि दोषान्तरमाह। साक्षादिति ॥ ६९ ॥

अभाव के स्वरूप भेद पक्ष में जो दोष कहा गया है, वह अन्य स्वरूप भेद पक्ष में भी ऊहनीय (कल्पनीय) है। और धर्मान्तर भेद है, ऐसा कहने वाले का क्या तात्पर्य है ? यह भी विचारणीय है। क्या घटत्वादिक ही पटादि से धर्मान्तर रूप भेद है ? या भेद नामक अन्य ही कोई एक धर्म है (नाना घटत्वादि नहीं) प्रथम पक्ष में घटत्वादि को सप्रतियोगिकत्व (अन्य निरूप्यत्व) प्राप्त होगा। क्योंकि, भेद (अभाव) सप्रतियोगिक (निरूपक प्रतियोगी वाला) होता है। और घटत्वादि (सप्रतियोगिक) नहीं है। क्योंकि, पटादि की अपेक्षा किये बिना उन घटादिकों की प्रतीति होती है, भेदात्मक अभाव रूप होने पर पटादि प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्र उनकी प्रतीति नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि घटत्वादिक ही जब प्रतियोगी पटादि की

अपेक्षा पूर्वक (घटाद् घटो भिन्नः) इत्यादि रूपसे प्रतीत होते हैं तब भेदव्यवहार सिद्ध करते हैं। निरपेक्ष प्रतीति काल में घटत्वादि व्यवहार के हेतु होते हैं। अतः निरूपकभेद से एक में पितृत्वादि के समान सप्रतियोगित्व निष्प्रतियोगित्व भी हो सकता है, तो यह युक्त नहीं। क्योंकि, प्रतीति में किस को पटादि की अपेक्षा होती है, यह कहना होगा। क्या घटत्वादि को पटादि की अपेक्षा होती है ? या घटत्वादि के किसी धर्म को पटादि की अपेक्षा होती है ? यहां प्रथम पक्ष में पटादि को अपेक्षा के बिना घटत्वादि को प्रतीति की सदा अनुपपत्ति प्राप्त होगी। पटादि (प्रतियोगी) को प्रतीति के बिना कभी घटत्वादि की प्रतीति नहीं होगी और होती है। अतः घटत्वादि के ज्ञान में यदि पटादि ज्ञान की अपेक्षा हो तो पट ज्ञान उस ज्ञान का कारण होगा। और जिसके बिना जो उत्पन्न होता है वह उत्पन्न होने वाले का कारण नहीं होता। अतः घटत्वादि के ज्ञान में कभी भी पटादि ज्ञान की अपेक्षा नहीं होने से घटत्वादि भेद रूप नहीं हैं। यदि कहें कि जैसे तृण अरणि सूर्यकान्तादि अग्नि के कारणों में व्यभिचारित्व वारण के लिये अग्नि में अवान्तर जाति का भेद माना जाता है कि तत्तत् जातिवाली अग्नि के प्रति तत्तत् तृणादि कारण हैं, वैसे घटत्वादि भी ज्ञानों में जातिभेद है। कोई पटादि ज्ञान की अपेक्षा करता है, कोई नहीं। तो अग्नि में तो जाति भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है, और घटत्वादि के ज्ञान में उक्त भेद विषयक कोई प्रमाण नहीं है। अतः यहां अग्नि आदि के समान कार्य भेद में (अवान्तर जातिभेद में) कारण भेद को चरितार्थ करना अशक्य है। और साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) आदि के साथ परापर भाव की अनुपपत्ति से भी प्रतीति सापेक्ष घटत्व ज्ञानत्व रूप विलक्षण जाति नहीं हो सकती। क्योंकि पटादि के प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रत्यक्षत्व जाति है, और वहाँ घटत्व ज्ञानत्व नहीं है। अनुमिति रूप घटत्व ज्ञान में पटादिप्रत्यक्षत्व नहीं है। और घटत्वप्रत्यक्ष ज्ञान में प्रत्यक्षत्व घटत्व ज्ञानत्व का संकर है, इससे घटत्वज्ञानत्व जाति नहीं हो सकती ॥ ६९ ॥

जात्योः परापरसङ्करमिच्छतामपि मते पञ्चम्यावधिभावः प्रतिपाद्यमानः केन समन्वियात् ? घटत्वस्यावधिघटितत्वे तथैव परं प्रतीत्यापत्तेः तद्धर्मस्य तथात्वम् इति चेत्। न, तथाहि-न द्वितीयः। स एव सापेक्षप्रतीतिर्भेदो ननु घटत्वादिः घटत्वादेश्च स भेदः स्यात्तद्धर्मत्वाद्धटादेस्तु भेदपर्यनुयोगे तदभिधानमसङ्गतं कथं च भिन्नैरनुगतभेदव्यवहारः स्यात्तथापि। तथा सति वा किं न तैरेव तदादिव्यवहारोऽपि स्यात् ॥ ७० ॥

ननु गुणगतजातौ परापरभावानुपपत्तिर्न दोष इत्यत आह। जात्योरिति। ज्ञानवैजात्याभ्युपगमेऽप्यर्थं तदभावादवधिभावो यदा घटत्वेनान्वियात् तदा स्वरूपसंबन्ध एव तस्यान्वयो वक्तव्य इति घटत्वस्वरूपमवधिघटितं भवेत् तथा च सर्वदा ताद्रूप्येणैव तत्प्रतीतिः स्यादित्यर्थः। ननु घटत्वगतो धर्मः कश्चिदवधित्वघटिते न तु घटत्वमित्याह। तद्धर्मस्येति। एवं सत्युक्तधर्मस्य कस्यचिदिति यद्विकल्पितं तत्रैवानुप्रवेश इति तदेव दुष्टमित्याह। न द्वितीय इति। स एवेति। घटत्ववृत्तिधर्म एवेत्यर्थः। दूषणान्तरमाह। घटत्वादेरिति। न घटादेरित्यर्थः। घटे भेदाभिधानमुपक्रान्तं घटत्वे तदभिधानमसङ्गतमित्यर्थः। न हि घटत्ववृत्तिरपि धर्मो घटवृत्तिर्येन घटभेदः स्यादित्यर्थः। किंच घटत्वपटत्व-

प्रत्येकवृत्तिधर्माणां भेदत्वे कथं भेदाकारानुगतप्रत्यय इत्याह। कथं चेति। यद्वा भेदमात्रमभिप्रेत्यैतदुक्तम्। ननु भिन्नैरेवानुगतप्रत्ययः स्यादित्यत आह। तथा सतीति। एवं सति जातिमात्रापलाप इत्यर्थः॥ ७०॥

जातियों के पर अपर स्वरूप के संकर को मानने वालों के मत में भी पटाद्घटो भिन्नः। पट से घट भिन्न है। इस प्रकार जो अवधित्व प्रतिपादित होता है। घटत्व के भेदस्वरूप होने पर उस अवधित्व का किस के साथ समन्वय (सम्बन्ध) होगा। यदि घटत्व के साथ समन्वय हो, तो घटत्व के अवधिघटितत्व (अवधिमिश्रितत्व) होने पर केवल उस मिश्रित रूप से ही प्रतीति की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि घटत्वादि का धर्म भेदस्वरूप है और उस घटत्वादि के धर्म को ही तथात्व (अवधिसापेक्षत्व) है। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि प्रथम का यही द्वितीय पक्ष है कि (उत भेदो नामान्य एवैकः कश्चिद् धर्मः) परन्तु वह द्वितीय (धर्म) भी अवधि सापेक्ष भेद स्वरूप नहीं है। क्योंकि, वही सापेक्षप्रतीति का विषय भेद है। घटत्वादि भेद नहीं, ऐसा मानने पर वह घटत्वादि के धर्म होने से घटत्वादि का भेद होगा। वहाँ घटादि के भेद विषयक प्रश्न होने पर घटत्व आदि के भेद का कथन असङ्गत होगा। क्योंकि घटत्वादि वृत्ति धर्म घटादि वृत्ति नहीं है जिससे वह घट आदि का भेद हो सके। और घटत्व पटत्वादि प्रत्येक में रहने वाले भिन्न भिन्न धर्मों के भेदात्मक होने पर, उन भिन्न भेदों से अनुगत (व्यापक) भेदव्यवहार वा ज्ञान कैसे होगा? और यदि घटत्वादि को ही घटादि का भेद मानें तो भी अननुगत घटत्वादि से अनुगत भेद का व्यवहार नहीं हो सकता और न स्वरूप पृथक्त्व से अनुगत व्यवहार हो सकता। और यदि घटत्वादि के अननुगत होते भी उनसे अनुगत व्यवहार किसी प्रकार होता हो तो तत्तत् घटादि व्यक्तियों से ही घटादि का अनुगत व्यवहार भी क्यों नहीं होगा? तो इस प्रकार जातिमात्र का अभाव होगा॥ ७०॥

नापि द्वितीयः। अनभ्युपगमात्सप्तपदार्थानामनन्तर्भावप्रसङ्गात्स्वात्मनिवृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेश्च। ईदृशां चोपाध्यालीढवैचित्र्याणां जात्या समर्थने सर्वोपाध्युपधानानां जात्यैव समर्थनं स्यात्। ननु घटत्वादय एव भेदः। घटत्वादिज्ञानाविशेषेऽपि प्रतियोगिज्ञानसहकारिवशाद् विचित्रव्यवहारोपपत्तिः इति चेन्न, व्यवहारसत्यत्वार्थं वास्तवार्थगतविशेषस्यावश्यं स्वीकर्त्तव्यत्वे तथैव पर्यनुयोगानुवृत्तेः॥ ७१॥

उत भेदो नामान्य एव कश्चिद्धर्म इति यद्विकल्पितं तद् दूषयति नापीति। अनभ्युपगमादिति। इतरेतराभावस्य दूषितत्वादिति भावः। तस्य भेदाख्यधर्मस्य स्वाश्रयादिभ्योऽपि तेनैव भेदेन भेदो भेदान्तरेण वा? आद्ये स्ववृत्तिता, द्वितीये त्वनवस्थेत्याह। स्वात्मनीति। ननु जातिरेवास्तु काचिद्भेद इत्यत आह। ईदृशां चेति। प्रतियोग्यधिकरणादिरूपोपाधिघटितवैचित्र्यस्य भेदस्य जातित्वे प्रमाविषयत्वमपि जातिरूपमेव स्यादित्युपाधिमात्रोच्छेद इत्यर्थः। प्रमेयत्वादीनामुपाधीनां जातित्वे जात्यादिवृत्तित्वं बाधकमिहापि तुल्यमिति भावः। शङ्कितमपि दोषान्तराभिधानाय शङ्कते। नन्विति। नन्वेवं घटत्वादि गृह्यमाणं भेदत्वेनैव सदा गृह्यते तथाच प्रतीतिवैलक्षण्यं क्वापि न स्यादित्यत आह—

घटत्वादिज्ञानेति । यद्वा पूर्वमविशिष्टं घटत्वादिभेद इति शङ्कितमिदानीं तु प्रतियोगिनिरू-प्यत्वविशिष्टं घटत्वादिकं भेद इति शङ्क्यते इत्यपौनरुक्त्यं तदेव दोषान्तरमाह । व्यव-हारेति । विषयं विना सत्यो व्यवहारो न भवतीति घटत्वपटत्वादिकमपि भिन्नतया व्यव-ह्रियत इति सर्वत्रानुगतो भेदो वाच्यश्चेत्तदा तत्रापि को भेद इति पर्यनुयोगस्तदवस्थ एवेत्यर्थः । अनन्तभेदा यदि क्रमेण ज्ञेयास्तदैकवस्तुभेदपरम्परानुसरणे भेदप्रतीतिर्न पर्यव-स्येदित्यर्थः । अथैकदैव सर्वे भेदा ग्राह्यास्तदा सर्वेषां भेदानां भेदत्वेन स्वसदृशतया किं केन भिन्नं कस्य भेदो मया गृहीत इदमस्माद्भिन्नं न वेत्यादिसंशयविपर्ययोः सर्वत्र सौलभ्येन भेदज्ञानप्रामाण्यानाश्वासः स्यादित्यर्थः ॥ ७१ ॥

अन्य ही कोई धर्म रूप भेद है, यह दूसरा पक्ष भी नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि घटत्वादि गत धर्म रूप भेद का स्वीकार नहीं हो सकता, यह पहले कहा गया है। और अन्योन्याभाव रूप धर्म का स्वीकार नहीं है। उस का भी खण्डन हो चुका है। और घटत्वादि तथा अन्योन्याभाव से भिन्न सप्त पदार्थ वृत्ति कोई धर्म भेद स्वरूप माना जाय तो उसका सप्त पदार्थ में अनन्तर्भाव का प्रसङ्ग होगा, अष्टम पदार्थ मानना होगा। और उस विलक्षण धर्मात्मक भेद की स्वात्मा में वृत्तित्व अवृत्तित्व रूप से भी अनुपपत्ति है। क्योंकि यदि वह स्वात्मा में नहीं है, तो उसका किसी से भेद न होने से, सब संसार तत्स्वरूपता को प्राप्त होगा। और स्वात्मवृत्ति होने पर आत्माश्रयादि दोष प्राप्त होंगे। अनवस्था भी होगी। यदि कहें कि घटत्वादि से भिन्न कोई जाति विशेष भेद है जो द्रव्यादि में रहता है। और सामान्य के अन्तर्गत होने से, अष्टम पदार्थ भी नहीं मानना पड़ता, तो प्रतियोगी अधिकरणादि उपाधियुक्त विचित्रता वाले ऐसे भेदादि को जाति द्वारा समर्थन (सिद्ध) करने पर सभी उपाधि वालों का जाति से ही समर्थन (साधन = व्यवहार) होगा (दण्डित्व पाचक प्रमेयत्वादि भी जाति माना जायगा) उपाधि-व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहें कि घटत्वादिक ही भेद रूप माने जायँ, और घटत्वादि के ज्ञान में विशेष (भेद) विलक्षणता के नहीं होते भी प्रतियोगी के ज्ञान रूप सहकारी के बल से विचित्र (भेद) व्यवहार की घटत्वादि विषयक ही, सिद्धि होगी, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, घटः, पटः, इत्यादि जो प्रतीति होती है और घटः पटाद् भिन्नः, यह प्रतीति होती है, यहाँ विलक्षण दोनों प्रतीति और व्यवहार की सत्यता के लिये वास्तविक अर्थगत विशेष (भेद) को अवश्य मानना होगा। अन्यथा दोनों में से एक की असत्यता होगी। और विशेष स्वीकार करने पर वही भेद सिद्ध होगा। फिर उस में भेदान्तर है या नहीं, यह पूर्व प्रश्न भी यहाँ पूर्वतुल्य अनुवृत्त होगा ॥७१॥

अनन्तभेदपरम्पराभ्युपगमे च क्रमज्ञेयतायां प्रतीत्यपर्यवसानात् तद्युग-पज्ज्ञेयतायामनन्तस्वसदृशतया कस्यचिदन्यभेदस्यान्यदीयतयापि ग्रहण-सम्भवादिना सर्वत्रप्रामाण्यानाश्वासात् सर्वप्रतीतिनियमानङ्गीकारे चाऽती-तसत्त्वे प्रमाणाभावात् । जिज्ञासायां तस्य तस्यापि ज्ञेयत्वे तद्बुद्धीनां भेद-बुद्धित्वात् तदर्थं त्वनुगतस्यानुपपत्त्या तेष्वेकजात्याद्यभ्युपगमे तद्भेदेऽपि तदङ्गीकारे परस्पराश्रयिभावप्रसङ्गात् । एवं च सत्तादीनामानन्त्यस्वीकारे द्रष्टव्यम् ॥ ७२ ॥

ननु त्रिचतुरा एव भेदा गृह्यन्ते न तु तत्परम्पराकाः सर्वे इत्यत आह–सर्वेति । अगृहीत-

भेदस्य स्वाश्रयाभेदे मूलपर्यन्तमभेदः स्यादित्यर्थः। ननु तदानीमगृहीतोऽपि भेदः क्रमेण ग्रहीतव्य इति न मूलपर्यन्तमभेद इत्याह। जिज्ञासायामिति। भेदजिज्ञासायामपि या भेदबुद्धिधारा तत्रानुगतो यो भेदो विषयस्तत्रानुगमिका यदि जातिस्तदा साऽपि स्वाश्रय-भिन्नेति स्वभादायैवानुगमिका स्यादिति सैवाश्रयस्स्यादाश्रितापि तत्र स्यादित्यर्थः। एव-मिति। सत्तायामपि सद्बुद्ध्यनुरोधेन सत्तान्तरस्वीकारे सर्वासां सत्तानां क्रमेण वा युग-पद्ज्ञाने दोषोऽयं वाच्य इत्यर्थः। घटत्वपटत्वे द्वे अपि भेदौ परस्पराबाधकौ परस्परज्ञाना-धीनज्ञाने स्यातामित्यर्थः ॥ ७२ ॥

और यदि भेद का भी भेद, भेद में भी भेद मानें, तो अनन्त भेद परम्परा (भेदप्रवाह) के स्वीकार करने पर, और उनकी क्रम से ज्ञेयता के कारण उनकी प्रतीति का पर्यवसान (अन्त) नहीं होगा। यदि युगपत् (एक काल में साथ) सब-की ज्ञेयता हो (सब ज्ञान के विषय हो) तो अनन्त और सदृश होने से किसी अन्य भेद को उससे अन्य के भेद रूप से ग्रहण (ज्ञान) के सम्भवादि से सब भेद ज्ञान में प्रमाणता का अविश्वास होगा। और यदि भेदप्रवाह में सबकी प्रतीति के नियम को नहीं मानें किन्तु दो चार के ज्ञान में ही सब के सत्त्व को अङ्गीकार करें, तो अज्ञात के सत्त्व में प्रमाण के अभाव से उसके असत्त्व द्वारा सर्वभेद का असत्त्व होगा। यदि कहें कि एक काल में सब भेद परम्परा का ज्ञान नहीं होता, किन्तु जिज्ञासा होने पर तत्तत् भेदों का कभी ज्ञान होता है, अतः भेद रूप अभाव का अभाव नहीं होगा, तो इस प्रकार भेदों के ज्ञेयत्व होने पर उनकी बुद्धियों में भेदबुद्धित्व (एकाकार भेदज्ञानत्व) के होने से उनके अर्थों में एक अनुगत धर्म माने बिना उस अनुगत बुद्धित्व की अनुपपत्ति से उन भेदों में एक जाति आदि को मानने पर और उस जाति आदि भेद (व्यक्ति में फिर उस-उस भेदत्वादि जाति मानने पर परस्पर आश्रयाश्रयिभाव (आधाराधेय भाव) की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार सत्ता में सद्बुद्धि आदि के कारण सत्तान्तर मानने पर अनन्तसत्ता की बुद्धि की अपरिसमाप्ति आदि दोषों को समझना चाहिये और समवाय के समवाय को मानें तो भी ये दोष प्राप्त होते हैं ।। ७२ ॥

किञ्च घटत्वादेर्भेदत्वे चावधिभूतपटत्वादिसापेक्षप्रतिपत्तिकतायां घट-त्ववत्पटत्वस्यापि भेदरूपस्य भेदावधिप्रतिपत्तिसापेक्षतयावधेश्च घटत्वा-दित्वेन घटत्वादिप्रतीत्यपेक्षायामन्योन्याश्रयप्रसङ्गः। भेदरूपत्वे घटत्वा-देरवधिप्रतीत्यपेक्षा न तु स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ स्वरूपमात्रेण चावधित्व तत्कुत एवम् ? इति चेत्। न, भेदस्वरूपता यदि तस्य स्वात्मैव तदा स्वरूपमात्रप्रतिपत्तौ नावध्यपेक्षेति शून्यं वचनम्। अथ धर्मान्तरं तदा स एव भेदोऽस्तु कृतं तद्वत्तया घटत्वादेर्भेद-रूपतेति प्रक्रियाकल्पनया अस्तु स एव धर्मान्तरं भेद इति चेन्न, दूष्य-त्वात् ॥ ७३ ॥

घटत्वेन तज्ज्ञाने पटत्वेन च ज्ञाने नान्योन्यापेक्षेत्याह—भेदेति। पटत्वस्वरूपमेव चेद्भेदस्तदा तत्प्रतीताववश्यमवध्यपेक्षेत्याह। भेदस्वरूपतेति। पटत्वस्वरूपमेव न भेदत्वं किं तु तद्वृत्तिधर्मान्तरमेवेत्याह। अथेति। तर्हि घटत्ववृत्तिधर्मान्तरादेव भेदव्यवहारोऽ-

स्त्वित्याह। स एवेति। दूष्यत्वादिति। दूषितत्वाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्, अन्योन्याश्रयादि-दोषेणेति भावः॥ ७३॥

और घटत्वादि के भेदत्व (भेदस्वरूपत्व) होने पर अवधिरूप पटत्वादियुक्तपटादि-सापेक्ष प्रतीति के विषय होने पर, घटत्व के समान पटत्व के भी भेद रूप होने से और भेदावधि की प्रतीति के सापेक्ष प्रतीति के विषय होने से और अवधि के घटत्वादिविशिष्ट रूपत्व से घटत्वादिविशिष्ट की प्रतीति को अपेक्षा होने पर अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि घटत्वादि के भेदरूपत्व में (भेदरूप से ज्ञान में) अवधि की प्रतीति की अपेक्षा होती है और घटत्वादि के स्वरूप मात्र की प्रतीति में नहीं। और स्वरूपमात्र से अवधित्व होता है। तो इस प्रकार अन्योन्याश्रय कैसे है? अर्थात् जिस रूप से भेदत्व है उसी रूप से परस्पर अपेक्षा हो तो अन्योन्याश्रय हो, घटत्व विशिष्टत्वादि रूप से अवधित्व है। घटत्वादि रूप से भेदत्व है। अतः अन्योन्याश्रय नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि यदि उस घटत्वादि का स्वात्मा ही भेदस्वरूपता है। अर्थात् भेदस्वरूपता उस का स्वरूप है। और स्वरूप मात्र ही अवधि है। इस अवस्था में स्वरूप मात्र (भेद) के ज्ञान में स्वरूपमात्र अवधि की अपेक्षा नहीं है, यह वचन अर्थशून्य है और यदि भेदरूपता घटत्वादि का स्वात्मा नहीं किन्तु धर्मान्तर है तो वह धर्मान्तर ही भेद हो। उस धर्मवत्ता रूप से घटत्वादि को भेदरूपता है। इस प्रक्रिया की कल्पना से कुछ फल नहीं। यदि कहें तो वह धर्मान्तर ही भेद मान्य हो तो वह भी अयुक्त है। क्योंकि वह भी अन्योन्याश्रयादि से दूषणीय है। यह पहले दूषित हो चुका है॥ ७३॥

अथापि स्वरूपादित्रयमिदं भेद इति कथं सङ्गच्छते? तत्र व्यवहारस्यैकाकारस्य नानानिमित्तत्वे गोत्वाद्यनुगताकारप्रतीतेरपि कथमेकनिमित्तत्वसिद्धौ प्रमाणत्वं? व्यभिचारात्, सामान्यविशेषैरेव परसामान्यबुद्धिव्यवहारोपपत्तौ तत्कल्पनाऽनुपपत्तेः। किञ्च भेदे भेदान्तरमस्ति न वा। आद्ये अनवस्था, द्वितीये तदभाव एव स्यात्। तद्धर्मिण्येव तत्प्रवेशात्। भेदस्वभावत्वात् स्वात्मन्यपि स्वयमेव तद्व्यवहारमयं करोति सतेव सद्व्यवहारम् इति चेन्न, यदि स्वस्मादपि स्वयं भिन्नो न स भेद इति स्वस्मादित्यवधेयावधिभावस्वरूपः स्वयं भेदोऽन्यस्माच्च स्वस्य तदास्य भेदस्य स्वात्मप्रतियोगिकत्वेन स्वाश्रयत्वेन चाङ्गीकारे स्वस्मादपि स्वयं भिन्नः किं नाङ्गीक्रियते विरोधाभावात्॥ ७४॥

किञ्च स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्यैष्यनुगतभेदबुद्धिर्यद्यनुगतनिमित्तमन्तरेणैव तदा क्वापि न सामान्यं सिद्ध्येत्तद्व्यतिरेकेणाप्यनुगतधीदर्शनेन व्यभिचारादित्याह। अथापीति। प्रत्येकभेदवृत्तिधर्माधीनैव भेदाकारानुगतिश्चेत्तदा घटत्वपटत्वादिनैव द्रव्याकारानुगतप्रत्ययोऽस्तु किं तेनेत्याह। सामान्येति। इतरेतराभाववैधर्म्ये भेदावधिकृत्याह। किञ्चेति। स्वस्मादभिन्न एवायं स्वस्य भेद इति पञ्चम्या अवधित्वं षष्ठ्या च धर्मित्वमेकस्य प्रतीयमानमविरुद्धं चेत्तदा स्वस्माद्भिदा स्वस्माद्भिन्नत्वमेव स्वस्य किं न स्यादित्याह। यदीति॥ ७४॥

यदि कहा जाय कि स्वरूप, अन्योन्याभाव, और धर्मान्तर इन तीनों को यथा सम्भव भेदत्व रहता है। अतः घटादि में घटत्वादि रूप भेद अन्योन्याभाव (भेद) और अभाव में स्वरूपात्मक भेद रहता है, तो इन तीनों में अनुगत धर्म के बिना ये तीनों भेद हैं, यह अनुगत ज्ञान कैसे सङ्गत होगा, वहां तीनों में एकाकार व्यवहार तथा प्रतीति को यदि नाना निमित्तत्व रहते मान लें, तो गोत्वादि की अनुगत आकार वाली प्रतीति को एक गोत्व रूप निमित्तत्व (प्रवृत्तिनिमित्त = वाच्यतावच्छेदक) में प्रमाणत्व (अनुमितिहेतुत्व) कैसे होगा ? क्योंकि भेद की अनुगत प्रतीति की एक निमित्त के बिना सिद्धि से वहाँ व्यभिचार है। इसी प्रकार गोत्व अश्वत्वादि जाति से ही पर सामान्य द्रव्यत्वादि के बुद्धि व्यवहार की सिद्धि होने पर सामान्य की कल्पना की अनुपपत्ति होगी, अतः तीनों में भेदत्व नहीं माना जा सकता। और जो कुछ भेद है, उसमें भेदान्तर है ! या नहीं ! यदि है, तब तो अनवस्था है। और यदि भेद में भेद नहीं है, तो भेद के बिना वह घटादि से भिन्न नहीं होगा। अतः उस का अभाव ही होगा। क्योंकि, धर्मी रूप घटादि में ही उसका प्रवेश (अन्तर्भाव) होगा। यदि कहें कि भेद में भेदान्तर के नहीं रहते भी भेदस्वभाव से अपने आत्मा स्वरूप में भी स्वयं ही भेद व्यवहार को यह भेद सिद्ध करता है, जैसे सत्ता अपने स्वरूप में स्वयं सद् व्यवहार को करती है तो यह कहना भी असंगत है। यदि स्वमें स्वयं भेद व्यवहार कहता है, तो व्यवहार योग्य भेद के बिना भेद का व्यवहार हो नहीं सकता अतः व्यवहार की सिद्धि के लिये यदि स्वात्मा से भिन्न होगा, तो वह स्वयं भेद नहीं रहेगा। अतः स्व से स्वका भेद (अपने से अपना भेद) स्वरूप होने से अवधेयत्व (अवधिमत्व) और अवधित्व स्वरूप स्वयं भेद ही अन्य से भेद स्वरूप होगा, तो इस भेद को स्वात्म प्रतियोगिकत्व (आत्म प्रतियोगी वाला) रूप से और स्वाश्रय रूप से मानने पर स्व से भी स्वयं भिन्न हैं, ऐसा क्यों नहीं माना जाता, क्योंकि एक में प्रतियोगित्व अनुयोगित्व मानने पर भेद मानने में भी विरोध नहीं है॥ ७४ ॥

स्वीक्रियेताप्येवं यदि प्रतीतिर्व्यवहारो वा स्यात् इति चेन्न, अस्त्यपि शब्दाभासादेस्तथा प्रतीतिराभासशब्दव्यवहारश्च सत्यौ प्रतीतिव्यवहारौ स्वीकारकारणम्। न च तौ स्वात्मन एव स्वस्माद्भेदविषयौ स्त इति चेन्न, स्वात्मा स्वस्यैवाधिकरणमवधिश्चेत्यपि तर्हि न सत्या प्रतीतिः सम्भवति न वा व्यवहारः, तत्कथमित्थमङ्गीकुरुषे। ननु च वयं स्वाधिकरणं स्वावधि वेत्यभ्युपगच्छामः, किन्तु धर्मान्तरे तत्प्रतियोगिके तदाधारे वा स्वीकृते यौ बुद्धिव्यवहारावुपपद्येते तावनवस्थाभयाद्धर्मान्तरमन्तरेणैव स्वभावाद्भेदः करोतीति ब्रूम इति चेत् न। तर्ह्यन्यत्र यादृशी प्रतीतिर्धर्मान्तरविषया तादृश्येवात्र धर्मान्तरं विनोत्पद्यत इति भ्रान्ता स्यात्॥ ७५॥

स्वभिन्नत्वेन न किंचित् प्रतीयते न वा व्यवह्रियते इति कथं तथा स्यादित्याह। स्वीक्रियेतेति। स्वस्माद्भिन्नोऽयं घट इत्यन्योदीरितशब्दादेतादृशी प्रतीतिर्व्यवहारश्चास्त्येव। 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति न्यायादिति शङ्कते। अस्त्यपीति। स एव स्वस्मादभेदो भेदश्च स्वस्येत्यपि बाधितमेवेत्यर्थः। स्वस्मिन् वर्त्तमान एव भेदः

परस्मात् स्वात्मानं भिन्नत्तीति ब्रूम इति शङ्कते। ननु न वयमिति। अन्यत्र भिन्नत्व-प्रतीतिः स्वनिष्ठभेदवैशिष्ट्याधीना। भेदे तु भिन्नत्वप्रतीतिस्तद्व्यतिरेकेण भवन्ती भ्रान्तैव स्यादित्याह। तर्हीति ॥ ७५ ॥

यदि कहे कि स्वात्मा से भेद की प्रतीति और व्यवहार होते तो वह इस प्रकार माना ही जाता। परन्तु स्वात्मभेदविषयक प्रतीति और व्यवहार के अभाव से नहीं माना जाता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि शब्दाभासादि से तथाप्रतीति (स्वात्मा-में भेद का ज्ञान) तथा शब्दाभास (मिथ्या शब्द का प्रयोग) रूप व्यवहार होते ही हैं। यदि कहें कि सत्यज्ञान और सत्यव्यवहार स्वीकार के कारण होते हैं। और स्वात्मा के ही स्वात्मा से भेद विषयक वे सत्यबुद्धि व्यवहार नहीं होते। अतः वह भेद नहीं माना जाता, तो यह कहना आप का युक्त नहीं, क्योंकि यदि सत्यज्ञानादि से पदार्थ स्वीकार किया जाता है, स्वात्मा अपना ही आप अधिकरण और अवधि भी हो, ऐसी प्रतीति सत्य हो, ऐसा सम्भव नहीं, और न ऐसा व्यवहार का सम्भव है, तो भी इस प्रकार आत्माधिकरणत्व आत्मसम्बन्धित्व कैसे मानते हो? यदि कहें कि स्वात्मा (भेद का स्वरूप) स्वयं अधिकरण है? या स्वयं अपनी अपनी अवधि है, ऐसा हम नहीं मानते किन्तु भेद प्रतियोगिक (भेद सम्बन्धि) या भेदाधार वाले धर्मान्तर के स्वीकृत होने पर जो ज्ञान और व्यवहार हो सकते हैं, उन बुद्धि (ज्ञान) तथा व्यवहारों की अनवस्था के भय से धर्मान्तर के बिना ही स्वभाव से भेद सिद्ध करता है, यह कहते हैं, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अन्य पदार्थ में जैसी बुद्धि धर्मान्तर (भेद) विषयक होती है, वैसी ही बुद्धि इस भेद मे धर्मान्तर (भेद) के बिना होती है, तो भ्रान्त होगी, रजतत्वरहित में रजतत्व बुद्धि के समान भेदरहित में भेदसहित बुद्धि अभ्रान्त नहीं हो सकती ॥ ७५ ॥

यस्य च स्वभावस्य बलेनेदृशी सा जायते स दोषः स्यात् यथा सत्य-रजते रजतप्रतीतिः रजतत्वादुत्पन्नान्यत्र विना रजतत्वं जायमाना भ्रान्ता भवति, यस्य च सामर्थ्यात् सा तादृशी जायते स दोष इत्युच्यते तत्र रजतत्वं नास्ति, अत्र तु धर्मिरूपोऽपि भेद एव सन्नवलम्बनम् इति चेत् न, भिन्नप्रतीतिविशिष्टविषयाभेदतदाश्रयोभयवस्तुविषयान्यत्र यादृशी सत्या-ङ्गीकृता ततो मात्रयाप्यन्यूनार्थाया इह जायमानाया यदि द्वयं विषयं नाङ्गी-कुरुषे तदा शक्रेणापि भ्रान्तत्वं दुर्वारम्, अथाङ्गीकुरुषे अनवस्थाप्रसङ्गः। अथ तदुभयविषयव्यतिरेकेणैवात्र सा सत्या अन्यत्र तर्हि ततोऽन्यादृश-विषया मिथ्या स्यादित्यलं पल्लवेन ॥ ७६ ॥

जिस स्वभाव के बल से इस प्रकार की (अभिन्न भेद में भिन्नाकार वाली) वह बुद्धि होती है वह दोष होगा, जैसे कि सत्य रजत में रजत की प्रतीति रजतत्व से उत्पन्न होती हुई, अन्यत्र (शुक्ति) में रजतत्व के बिना उत्पन्न होकर वह भ्रान्त होती है। और जिस सादृश्यादि सामर्थ्य से वह शुक्ति में रजत बुद्धि होती है। वह दोष कहा जाता है। यदि कहें कि वहाँ शुक्ति में रजतत्व नहीं रहता, और भेद में तो भेदान्तर के नहीं रहते भी धर्मी स्वरूप भी भेद ही होता हुआ भेदबुद्धि का अवलम्बन

(विषय) होता है। अतः दोनों में अन्तर है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भेद प्रतीति का अवलम्बन भेद हो सकता है, परन्तु भिन्न (भेद युक्त) की प्रतीति-विशिष्ट (भेद युक्त) विषयवाली होती हुई, भेद और भेदाश्रय दोनों वस्तुविषयक अन्यत्र जैसी सत्य मानी गई है, उससे किञ्चित् भी अन्यून अर्थ (विषय) वाली यहाँ (भेद में) उत्पन्न बुद्धि का विषय यदि दोनों (विशेष्य विशेषण) को नहीं मानें तो इन्द्र से भी उस बुद्धि का भ्रान्तत्व दुर्निवार है, और यदि दो भेद रूप विषय को मानें तो अनवस्था होगी। और यदि विशिष्ट भेदबुद्धि उस भेद रूप दो विषय के बिन्न ही उस विषय में वह सत्य (प्रमाण) समझी जाय, तो उससे अन्यत्र अन्य प्रकार के विद्यमान विशेषण विशेष्य वाली बुद्धि मिथ्या होगी। क्योंकि विरुद्ध सत्य मिथ्या बुद्धि के विषय भी विरुद्ध होते हैं। अब विस्तार व्यर्थ है ॥ ७६ ॥

यत्तु सत्तेवेत्युक्तं तत्कटकगवोदाहरणमनुहरति, यतः सत्ताप्यमुना दूषणेनास्माभिः खण्डनीया। यत्पुनरभिधीयते किमेतेन भेदखण्डनवादिभिरभिहितं भवति किं भेदज्ञानमेव नास्ति, सदपि वा नित्यमनित्यमपि वा, निर्हेतुकं सहेतुकमपि वा, निर्विषयं सविषयमपि वा, बाध्यमानविषयं वा? तत्र प्रथमः सर्वतो विरोधादनुत्तरः। द्वितीयः सुषुप्त्यवस्थानुरोधादुपेक्षणीयः। तृतीयोऽपि विरोधाद्धेयः। चतुर्थस्तु भेदोल्लेखादेव त्याज्यः। पञ्चमस्तु चिन्त्यते किमेतेष्वन्यतमोऽस्य विषयः तदन्यो वा? द्वितीये किमेताभिर्व्यधिकरणानुपपत्तिभिस्तस्य बाध्यते ॥ ७७ ॥

ननु दोषमन्तरेण कथं भ्रम इत्यत आह—यस्येति। क्वचिद्विषय एव दोषो यथा तमसीत्यर्थः। विषयबाधे भ्रमत्वे विषयस्य च दोषत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति। तत्र विषयबाधोऽत्र तु विषयो भेदोऽस्त्येव, तथा च ज्ञानं कथं भ्रमः स्यादिति शङ्कते—'तत्रेति'। सति भेदे प्रतीतिमात्रमस्तु भिन्नत्वप्रतीतिस्तु भेदे भेदान्तरमन्तरेण भवन्ती भ्रान्तैव स्यादित्याह—भिन्नेति। न हि स्वं स्वेनैव विशिष्टमिति भावः। भेदान्तरवैशिष्ट्ये त्वाह—अनवस्थेति। तदुभयेति। भेदतदाश्रयरूपमुभयमित्यर्थः। भेदमन्तरेणैव विशिष्टप्रतीतिश्चेत् सत्या तदा भेदे सति तद्विशिष्टप्रतीतिर्मिथ्या स्यात् सत्यत्वप्रयोजकविषयवैषम्यादित्याह—अन्यत्रेति। सतेव सद्व्यवहारमिति यदुदाहृतं तत्राह—यत्त्विति। कटकगवेति। यथा कटके बद्धा गौर्बन्धनरज्जुमादाय विद्रवति विद्रवद्भिरश्वैः सह तथामुना खण्डनेन विद्रवता भेदेन सत्तापि विद्रविष्यतीत्यर्थः। यद्वा यथा कटके गौरपसार्यमाणापि पुनस्तत्रैवायाति तथा बहुशः खण्डितापि सत्ता पुनरुदाहरणत्वेनायातीत्यर्थः। भेदखण्डने यदुदयनाचार्यैः समाहितं तत्खण्डनाय शङ्कते—यदिति। भेदग्राहिकां सामग्रीं खण्डयद्भिः खण्डनवादिभिः किमभिहितमित्यर्थः। सर्वत इति। अप्रतीतस्य भेदस्य निषेद्धुमशक्यत्वादसति भेदज्ञाने भेदो नास्तीति शब्दप्रयोगव्याघातात् भेदग्राहिका सामग्री नास्तीति तत्परिच्छेदमन्तरेण निषेधानुपपत्तेः। भेदवादिनं प्रति वाक्यस्य सार्थकत्वे तत्त्वादित्वापरिचयात् पदानां भेदेन ज्ञानमन्तरेण वाक्यप्रयोगाभावात् भेदवाद्यपेक्षया स्वस्य भेदग्रहमन्तरेण कथोपक्रमाभावात् साधनीयदूषणीययोर्भेदज्ञानमन्तरेण कथायामप्रवृत्तेः साधनदूषणभेदग्रहमन्तरेण तत्प्रयोगानुपपत्तेः। साधकबाधकप्रमाणभेदग्रहं विना कथायामप्रवेशात् भेदस्य निषेध्यत्वेनापि ज्ञानमन्तरेण निषेधानुपपत्तेरिति सर्वतो विरोध इत्यर्थः। सषुप्तेति। ज्ञानाभावकालस्य सुषुप्तित्वादित्यर्थः। विरोधादिति।

अनित्यत्वस्य सहेतुकत्वेन व्याप्तित्वादित्यर्थः । भेदोल्लेखादिति । उल्लिख्यमानस्यैव विषयत्वादित्यर्थः । एतेष्विति । स्वरूपान्योन्याभाववधर्म्येष्वित्यर्थः । किमिति । अन्य-खण्डनेऽपि भेदो न खण्डित इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

जो सत्ता के समान यह दृष्टान्त देते हैं, वह तो कटक (राजधानी शिविर) के गौरूप उदाहरण का अनुकरण करता है, अर्थात् जन समाज में भागी हुई भोगलोलुप गाय जहाँ जहाँ जाती है वहाँ वहाँ मार खाती (पीटी जाती) है, वैसे ही सत्ता भी जिससे इस दूषण द्वारा हम से खण्डनीय है, अतः उसको दृष्टान्त रूपता में भी कुशल नहीं है। और जो उदयनाचार्य जी से कहा गया है कि इस दूषण के कथन द्वारा भेदखण्डनवादियों से क्या कहा जाता है ? क्या भेद का ज्ञान ही नहीं है, यह कहा जाता है (१) या भेद का ज्ञान (प्रकाश) है। परन्तु नित्यात्मस्वरूप ज्ञान है, यह तात्पर्य है ? (२) अथवा अनित्य भी ज्ञान है, परन्तु सत्यविषयादि हेतु के बिना स्वप्नतुल्य है ? (३) अथवा संस्कारादि हेतुजन्य हैं, परन्तु निर्विषय है ? (४) अथवा सविषय होता हुआ भी बाधितविषय वाला है (५) यहाँ प्रथम पक्ष सर्वानुभव से विरोध होने से नहीं मानने वाले के भी निष्प्रतियोगिक भेद निषेध की अनुपपत्ति से भेद के विना कथा हेतु दृष्टान्तादि की असिद्धि से अनुत्तर पक्ष है। उसमें कुछ उत्तर समाधान कहना नहीं है, स्वयं ही असिद्ध है।— और ज्ञानाभाव कालिक सुषुप्ति अवस्था के अनुसार (स्वीकार) से दूसरा पक्ष भी उपेक्षणीय (त्याज्य) है क्योंकि (न किञ्चिदवेदिषम्) कुछ नहीं जाना इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का अभाव अनुभवसिद्ध है—और सुषुप्ति में ज्ञान नहीं रहते भी जागते ही ज्ञान होता है, वह निर्हेतुक कार्य नहीं हो सकता। अतः विरोध से (कार्यत्व और निर्हेतुकत्व के असम्भव से) तृतीय पक्ष भी हेय है—और भेदात्मक विषय के उल्लेख (अनुभव) से ही चतुर्थ पक्ष त्याज्य है—पञ्चम का विचार किया जाता है कि इस भेद ज्ञान का क्या, स्वरूप, अन्योन्याभाव, और धर्मान्तर, इन तीनों में ही कोई विषय है ? या इन तीनों से अन्य ? यदि इन तीनों से अन्य भेदज्ञान का विषय है, तो इस दूसरे पक्ष में, इन व्यधिकरण = स्वरूपान्योन्याभावादि विषयक अनुपपत्ति (खण्डन युक्ति) द्वारा उस अभाव (भेद) का क्या बाधित होता है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ ७७ ॥

एवं हि चौरापराधेन व्यक्तमयं माण्डव्यनिग्रहः स्यात् । अथान्यतमात्मा न तत्रापि यदि धर्मान्तरमेवेति तत्त्वं तदाऽनवस्थाभयात्तदधिकः प्रवाहस्त्यज्यताम् । तस्य तु कुतस्त्यागः न ह्यनवस्था प्रतिभासमानमर्थं निवर्तयति किं तु प्रवाहं परिहारयति गन्धे गन्धान्तरवत् । अथेतरेतराभावमेव भेदज्ञानमालम्बते तत्रापि कात्माश्रयः? तेन हि भेदे ज्ञानमेव न स्यात् । अस्ति चेत्ततो हेत्वन्तरमाक्षिपेत् न तु स्वात्मनि स्वयमहेतुत्वे स्वयमेव निवर्त्तते । अविद्यावशादिति चेत्किं चातः । न ह्यविद्येत्येवात्मीयनिवृत्ति, तथा सति घटादयोऽपि कुलालादिनिरपेक्षाः स्वयमेव भवेयुः । अथात्माश्रयादिदोषोपहततया न तत्तस्यैव कारणमतो यतः कुतश्चित्तस्य जन्म तच्च दुर्निरूपम् । अतोऽविद्येत्युच्यत इति विचारार्थः नास्ति तर्हि विवादः ॥ ७८ ॥

एवं हीति । चोरः पलायित एव माण्डव्यस्तु महर्षिः शूलमारोपित इतिवद्भेदोऽपि

न दूषयितुं परितोऽन्यत् दूषितमित्यर्थः। धर्मान्तरमिति। वैधर्म्यमित्यर्थः। तस्य त्विति अनुभूयमानस्येत्यर्थः। केति। इतरेतराभावप्रतियोगित्वेन ज्ञानमितरेतराभावग्रहकारणं चेत् तदात्माश्रय इति यदुक्तं तन्न भवति इतरेतराभावज्ञानेन त्वदभ्युपगतेन स्वं प्रति कारणान्तरस्याक्षेपादित्यर्थः। अविद्येति। अविद्या भेदग्रहे कारणमित्यर्थः। अविद्यावशादपि भवत्कारणसापेक्षमेवेत्याह—किञ्चात इति। अविद्यावशादेव घटादयोऽपि स्युस्तथा च दृष्टकारणभावा अपि दण्डादयो न कारणं स्युरित्यर्थः। तदेव कारणं भेदज्ञानं प्रति घटादिकं च दुर्वचमित्यविद्यात इत्युक्तं न त्वविद्या कारणत्वेनाभ्युपगता मयेत्याशङ्कते—अथेति। भेदज्ञानं तावद्भेदविषयक भेदहेतुकं चेति वचनभङ्गिभेदेन त्वयाऽपि स्वीकृतमित्यर्थः ॥ ७८ ॥

और यदि इस प्रकार व्यधिकरण स्वरूपादि विषयक दोष से अन्य भेद का खण्डन करें, तो चोर के अपराध से माण्डव्य ऋषि का निग्रह (शूलारोपण) न्याय (दृष्टान्त) स्पष्ट प्राप्त होगा (यह पुराण की कथा है)। और यदि भेद ज्ञान का विषय उक्तस्वरूपादि तीनों में से ही अन्यतमात्मा (कोई एक) है तो उस पक्ष में भी बाधा नहीं है, क्योंकि यदि धर्मान्तर ही तत्त्व (भेदत्व) है, भेद बुद्धि का विषय है तो, अनवस्था के भय से अधिक प्रवाह (धर्मपरम्परा) का त्याग हो सकता है, परन्तु उस प्रथम धर्मान्तर रूप भेद का कैसे त्याग होगा ? क्योंकि अनवस्था प्रतिभासमान (अनुभूत) अर्थ की निवृत्ति नहीं कराती, किन्तु प्रवाह का परिहार (निवारण) जैसे गन्ध में गन्धान्तर का वारण कराती है वैसे कर सकती है। और यदि अन्योन्याभाव को ही भेद ज्ञान अवलम्बन (विषय) करता है। तो वहाँ भी आत्माश्रय कहाँ है ? अर्थात् नहीं है। क्योंकि, अन्योन्याभाव के ज्ञान को अन्योन्याभाव के ज्ञान में हेतु माने तो आत्माश्रय हो उस आत्माश्रय से भेद का ज्ञान ही नहीं होगा। और भेद का ज्ञान जब है, तब तो उस अपने स्वरूप से अन्य कारण का आक्षेप करेगा (कारणान्तर से सिद्ध होगा) और स्वात्मा का स्वयं अहेतुत्व (आत्माश्रयता के कारण अकारणत्व) से स्वयं ही निवृत्त नहीं होगा। यदि कहें कि अनवस्था आत्माश्रयादि से अयुक्त भी भेदज्ञान अविद्या बल से होता है, तो उत्तर यह है कि इस अविद्या से क्या हो सकता। अयुक्त को भी अविद्या नहीं सिद्ध कर सकती, क्योंकि अविद्या है, इसीसे आत्माश्रय की निवृत्ति नहीं हो जाती है अतः आत्माश्रय के स्थान में कारणान्तर की कल्पना से ही आत्माश्रय का वारण होगा। यदि अविद्या से आत्माश्रय का वारण भी मान लें, तो घटादि भी कुलालादि की अपेक्षा के विना ही स्वयं उत्पन्न होंगे। कारण रूपसे प्रत्यक्ष भी कुलाल दण्डादि घटादि के कारण नहीं होंगे। यदि कहें कि आत्माश्रयादि दोषों से उपहतता (खण्डितता) के कारण वही घट उसी घटका, वही भेदज्ञान उसी भेदज्ञान का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अव्यवहित पूर्वकाल वृत्ति कारण होता है, उत्तरकाल वृत्ति कार्य होता है, एकमें पूर्वोत्तर भाव हो नहीं सकता। अतः जिस किसी अन्य से कार्यका जन्म होता है। परन्तु वह कारण भिन्नत्व सत्यत्वादि रूप से दुर्निरूपणीय है। अतः 'अविद्या' इस शब्द से कहा जाता है, यह हमारे विचार का तात्पर्य है, तब तो अन्योन्याभाव के ज्ञान में सहेतुकत्व विषयक विवाद नहीं है। केवल कारण के नामों में भेद है ॥ ७८ ॥

नच तदपि दुर्निरूपं, प्रतियोगिरूपत्वेनाप्रतीतावधिकरणस्वभावत्वेनाधिकरणप्रतीतिः अधिकरणस्वभावत्वेनास्मृतौ प्रतियोगिस्मृतिश्चेतरेतराभावग्रहणकारणमिति निरूपणात्। अथ स्वरूपमेव भेदप्रतिभासस्य विषय इति तत्त्वं तथापि सहप्रयोग एवानुपपन्नः परिहीयतां भेदेन तु किमपराद्धं सोऽपि दृश्यत इति चेत् सत्यम्। नैमित्तिकस्तु स्यान्न स्वरूपतः। न हि घटमानय घटमवलोकयेत्यादौ भेदपदमपि प्रेक्षावानुपादत्ते व्याख्यायां तु मूढप्रबोधनार्थं घटः कुम्भ इतिवत्सहप्रयोगोऽपि न दोषः॥ ७९॥

नचेति। अधिकरणग्रहणं प्रतियोगिस्मरणं च भेदग्रहकारणं न त्वधिकरणत्वेन प्रतियोगित्वेन वा तदुभयज्ञानं कारणं येनान्योन्याश्रयः स्यादित्यर्थः। स्मृतिरित्युपलक्षणमनुभवोऽपि क्वचित्प्रयोजकः, तत्रापि वान्तरा स्मृतिकल्पनमित्यर्थः। सहप्रयोग इति। घटस्वरूपं भेद इति सहप्रयोगः। यद्वा घटो भिन्न इति सहप्रयोगः। घटस्य भेद इति तु राहोः शिर इतिवदुपपाद्यम्। नैमित्तिक इति। सञ्ज्ञापरिचायननिमित्तकः यथा पिकः कोकिल इति पर्यायान्तरसहप्रयोग इत्यर्थः॥ ७९॥

और भेद ज्ञान का कारण दुर्निरूप नहीं है, क्योंकि प्रतियोगिरूपत्व से अप्रतीति रहते अधिकरणस्वभावत्व से अधिकरण की प्रतीति और अधिकरण स्वभाव से स्मरण के अभाव रहते प्रतियोगी की स्मृति, इस प्रकार के अधिकरण की प्रतीति और प्रतियोगी की स्मृति दोनों भेदज्ञान के कारण हैं, अधिकरण का ज्ञान प्रतियोगी का स्मरण भेदज्ञान का कारण है। अधिकरणत्वेन प्रतियोगित्वेन ज्ञान कारण नहीं है जिससे अभाव निरूपित अधिकरणत्वादि के ज्ञान में अन्योन्याश्रय हो। यदि पदार्थ स्वरूप ही भेद का विषय है, यही सिद्धान्त हो तो भी घटः कुंभः। यह जैसे पर्याय वाचक शब्दों का यह प्रयोग नहीं होता वैसे घटो भिन्नः। घटस्वरूपो भेदः। इत्यादि सहप्रयोग ही असिद्ध है (अयुक्त है) यही अयुक्तता परिहार के योग्य हैं। भेद ने क्या अपराध किया जिससे उसको त्यागा जाय (उसका खण्डन किया जाय)। यदि शंका हो कि घटो भिन्नः, इत्यादि रूप से उसका सह (साथ) प्रयोग भी देखा जाता है, तो उसका भी त्याग कैसे हो सकता है, तो यह कहना सत्य है, परन्तु वह सह प्रयोग संज्ञाबोधन निमित्तक होता है, जैसे पिक कोकिल कहाता है इत्यादि। निर्निमित्तक स्वाभाविक स्वरूप से सह प्रयोग नहीं होता। अतएव घट ले आओ, घटको देखो, इत्यादि वाक्यों में बुद्धिमान भेद पदका भी ग्रहण नहीं करता कि भिन्न घटको लाओ इत्यादि। किन्तु व्याख्यान में अज्ञको समझाने के लिए, घट कुम्भ, कहा जाता है, इसके समान भेदरूपो घटः, इत्यादि सहप्रयोग दोषरूप नहीं होता॥ ७९॥

तथापि कः परमार्थः? यथायथं त्रयमपि घटस्य हि घटाद्यात्मना प्रतीतिः अपटाद्यात्मना च प्रतीतिः ततो वैशिष्ट्यप्रतीतिश्चेत्यनुभवसिद्धं तत्राभावस्य प्रथममात्रमभावान्तरभावात् सामान्यादिषु त्रिषु द्वयं धर्मान्तराभावात् द्रव्यादिषु त्रयं त्रयस्यापि तत्र सम्भवात्। भवति हि पटोऽयं न घटः तन्तुमयश्चेति। गन्धोऽयं न रूपं सुरभिश्चेति। गतिरियं नोत्क्षेपणं तिर्यक् चेति लक्षणं तु स्वरूपभेदस्य ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः इतरेतराभावस्य

त्वबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्ययः वैधर्म्यस्य तु विरोधः स चैकधर्म्यसमावेश इत्येषा दिगिति॥ ८०॥

तथापीति। भेदपदस्य नानार्थत्वापत्तेरित्यर्थः। यथायथमिति। पूर्वोक्तव्युत्पत्तित्रयमाश्रित्य नानार्थं एवायं भेदशब्द इत्यर्थः। यद्वा द्रव्यगुणकर्मसु त्रयमपि सामान्यविशेषसमवायाभावेषु स्वरूपभेदमात्रमित्यर्थः। यद्वा सर्वत्र भेदत्रयमेव यथायथं तु सामग्रीवशात्तद्ग्रहणमित्यर्थः। क्रमेणाभावत्रयप्रतीतिः प्रमाणयति—घटस्य हीति। घटादेरित्यर्थः। तेन घटाद्यात्मनेत्यविरोधः। वशिष्ट्यप्रतीतिरिति। वैधर्म्यप्रतीतिरित्यर्थः। प्रथममात्रमिति। स्वरूपभेदमात्रमित्यर्थः। एतच्च सुप्रतिपदतयोक्तम्। अभावेऽप्यधिकरणप्रतियोगिरूपवैधर्म्यसत्त्वात्। द्वयमिति। स्वरूपभेदेतरेतराभावरूपमित्यर्थः। यद्यपि सामान्ये सामान्यान्तराभावेऽपि व्यक्तिरेव वैधर्म्यविशेषसमवाययोरप्याश्रयो वा निरूपकान्तरं वा यथायथं वैधर्म्यमस्ति तथापि तत्र सामान्यभावमात्रविवक्षयेदमुक्तं पटोऽयमिति स्वरूपभेदग्रहप्रकारः न घट इत्यन्योन्याभावग्रहस्य तन्तुमय इति वैधर्म्यस्य द्रव्ये त्रयमुक्त्वा गुणेऽप्याह। गन्धोऽयमिति। कर्मण्याह—गतिरियमिति। प्रत्येतव्यस्य प्रतीतिरेव लक्षणं सुप्रतिपदमिति क्रमेण तदाह—लक्षणं त्विति। विरोध इति। विरुद्धधर्मप्रतीतिरित्यर्थः। सहानवस्थानं विरोध इत्याह—स चेति। यद्वा प्रतीतिपदेन प्रत्येतव्यमेवोक्तं तेन प्रतियोगिसमानाधिकरणो भाव इतीतरेतराभावलक्षणमित्यर्थः॥ ८०॥

उक्त रीति से स्वरूपादि, स्वरूप (भेद) अभाव के होते भी मुख्य अर्थ क्या है? उत्तर यह है कि यथासम्भव तीनों ही मुख्य हैं। अर्थात् भेदशब्द अनेकार्थक है। अपने जगह में सब अर्थ सत्य ही है, जैसे घट की घटरूप मृन्मयादि रूप से और अपरादि रूप से प्रतीति होती है, उस पट से वैशिष्ट्य (वैधर्म्य) रूप से प्रतीति होती है, अतः घटात्मना स्वरूप भेद भासता है, अपटात्मना अन्योन्याभाव भासता है और वैधर्म्य भी भासता ही है, अतः त्रिविध भेद अनुभव सिद्ध है। यहाँ अभाव का 'प्रथम' स्वरूप मात्र (भेद) उसमें रहता है, क्योंकि अभाव में अन्य अभाव या गुण कर्म जाति रूप धर्म नहीं रहते हैं उसमें वैधर्म्यादि भी रहते हैं, परन्तु वे भी स्वरूप मात्र ही रहते हैं अभावाधिकरणक अभाव पूर्वाभाव स्वरूप ही होता है, यह तात्पर्य है। और सामान्य (जाति) विशेष और समवाय, इन तीनों में स्वरूपात्मक और अन्योन्याभाव रूप दो प्रकार के भेद रहते हैं, क्योंकि, इनमें धर्मान्तर का अभाव रहता है, द्रव्य, गुण और कर्म में तीनों भेद रहते हैं, क्योंकि, इनमें तीनों का सम्भव है वहाँ यह पट है, इस प्रकार स्वरूप भेद का ज्ञान होता है यह घट नहीं है, इस प्रकार अन्योन्याभाव का ग्रहण होता है और तन्तुमय पट है, यह वैधर्म्य का अनुभव है। यह गन्ध है, रूप नहीं है और यह सुगन्धि है, इस प्रकार गुण में स्वरूपादि तीनों प्रकार के भेद भासते हैं। यह गति (गमनरूप क्रिया) है, उत्क्षेपण (ऊर्ध्वक्षेपण) नहीं है। और तिर्यक् (सर्वतोगमन) है, इस प्रकार कर्म (क्रिया) में स्वरूपादि तीनों भेद भासते हैं। प्रतीति की विलक्षणता रूप तीनों के पृथक् २ लक्षण हैं वहाँ स्वरूप भेद का लक्षण है यह है कि किसी अन्य के साथ तादूप्य (तादात्म्य = अभेद) रूप से प्रतीति के नहीं होते प्रतीति होना। और अन्योन्याभाव का, अबाधित और समानाधिकरण प्रतियोगी वाला निषेध का ज्ञान अर्थात् स्वप्रतियोगिसमानाधिकरण

अबाधित अभाव अन्योन्याभाव होता है। (नीलमुत्पलमित्यादि के वारण के लिये अभावादि लक्षण में हैं)। वैधर्म्य का विरोध (विरुद्ध धर्म) ही लक्षण है और वह विरोध विरुद्ध धर्म का एक धर्मी में असमावेश (साथ स्थिति का अभाव) स्वरूप है—यह भेद का दिग् दर्शन ॥ ८० ॥

यत्पुनरभिधीयते, यहाँ से पूर्वपक्ष करके अब समाधान किया जाता है वहाँ परमत अभ्युपगमवाद से दोषाभिधान से वादी का कथन अयुक्त है यह कहा जाता है—

अत्रोच्यते। तथाहि—यत्तावत्पृष्टं किमेतेष्वन्यतमात्मास्य विषयस्तदन्यो वेति तन्निर्वचनवादिनि शोभेत नास्मासु प्रतिभासमानोऽयं भेदः स्वरूपादिपक्षान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां चासत्सत्त्वाभ्यां वान्येनापि वा धर्मेण येन निरूप्यमाणोऽन्वयेन च व्यतिरेकेण वा बाध्यतामेति तेन सर्वेणानिर्वचनीय इति ब्रूमः। एतच्च न केवलं भेदस्यापि तर्हि जगत एवानिर्वचनीयवादश्चायं यथा तथोदितं प्राक्। यदप्युक्तमथान्यतमेत्यादि गन्धे गन्धान्तरवदित्यन्तं तदपि न साधु। यया युक्त्यैकस्वीकारस्तयैव प्रवाहस्वीकारस्य दुर्वारत्वात्। तत्र यदि प्रवाहस्वीकारे तस्या असाधकत्वं स्वीक्रियते एकस्वीकारेऽपि स्यात्। अविशिष्टलक्षणत्वात् ॥ ८१ ॥

उक्त शंका का समाधान इस प्रकार है आपने जो प्रश्न किया है कि इन स्वरूपादिकों में अन्यतम (कोई एक) इस भेद ज्ञान का विषय हैं? या उन से अन्य यह प्रश्न निर्वचन वादी (संसार को सत्यादि निश्चित वादी) के प्रति शोभता है, अनिर्वचनीय वादी के प्रति नहीं। क्योंकि, प्रतीयमान (ज्ञान का विषय) यह भेद स्वरूपादि त्रिविध पक्ष के अन्तर्भाव द्वारा या अनन्तर्भाव द्वारा, अथवा सत्वासत्व स्वरूप से या अन्य भी जिस किसी धर्म द्वारा निरूप्यमाण (विचार्यमाण) होता हुआ अन्वय (कारण) रूप से या व्यतिरेक (कार्य) रूप से बाध्यता (मिथ्यात्व) को ही प्राप्त होता है। कार्य कारण रूप कोई भेद सत्य नहीं प्रतीत होता, अतः उन सब रूपों से भेद अनिर्वचनीय है, यह हम कहते हैं और अनिर्वचनीयत्व केवल भेद को ही नहीं है। अपितु समस्त जगत को अनिर्वचनीयत्व है। और जैसे है वह पहले कहा गया है। और अथान्यतम, इत्यादि से गन्धे गन्धान्तरवत्, यहाँ तक जो आप ने कहा है, वह भी युक्त नहीं क्योंकि, जिस भेदप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति (भेद के बिना असिद्धि) रूप युक्ति से एक भेद का स्वीकार किया जाता है, उसी युक्ति से प्रवाह स्वीकार को दुर्वारत्व है। और यदि उस युक्ति के उस प्रवाह स्वीकार में असाधकत्व (आभासत्व) को आप मानें, तो एक भेद के स्वीकार में भी उस युक्ति को साधकत्व (हेतुत्व) नहीं होगा। क्योंकि, अविशिष्ट लक्षणत्व (तुल्य स्वभावत्व) एक और प्रवाह को है। दोनों की प्रतीति भेदत्वादि सामान्य है और अन्यथा प्रतीति की अनुपपत्ति जैसे एक भेद में है, वैसे प्रवाह में है ॥ ८१ ॥

यदि कहें कि (भेदो भिन्नो वस्तुत्वात्) इत्यादि युक्ति से भेद का भेद माना जाता है (घटः पटाद् भिन्नः) यह सर्वलोक प्रत्यक्ष भेद है। अतः प्रत्यक्ष एक भेद मानने योग्य है, अन्य नहीं तो कहते हैं कि—

अत एव प्रतिभाससमानत्वादेकस्वीकार इत्यप्ययुक्तम्। एकप्रतिभासिकाया युक्तेः सर्वसाधारण्यात्। नहि प्रत्यक्षादेव जायमानः प्रतिभासः प्रमाणं नानुमानादेरित्यत्र युक्तिरभ्युपगमो वा तव। न चानवस्थाप्रसञ्जिका युक्तिरनुमानादेरन्या नाम। तर्कस्यापि व्याप्तिमूलत्वम्। सर्वं चानुमानच्छायामापद्य दूषणमपि प्रवर्त्तते इति भवत एव व्युत्पादनम्। अतोऽनवस्थाप्रसञ्जिकाया युक्तेर्दोषो वा वक्तव्यः त्यक्तव्यो वा स्वपक्षः ॥ ८२ ॥

निर्वचनाय प्रश्न एवानिर्वचनवादिनिं न घटते तथा च किमेतेनेत्यादिप्रश्नानुपपत्तिमाह—यत्तावदिति। यया युक्त्येति। भेदप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्राथमिकभेदवत्त्रापि तत्प्रतीतिरिति तदन्यथानुपपत्तिरविशिष्टेत्यर्थः। प्रवाहे तस्या युक्तेराभासत्वे प्रथमोऽपि भेदो न स्यात् साधकाभावादित्याह—तत्रेति। ननु प्राथमिके भेदे युक्तिर्न प्रमाणं किन्तु प्रत्यक्षमेवेत्यत आह—अत एवेति। प्रत्यक्षमाभासं मन्यमानाय त्वया युक्तिरवश्यं वाच्या। सा च साधारणीत्याह—एकेति। ननु द्वितीयादिभेदगोचरं प्रत्यक्षमाभासतयापि सन्दिह्यमानं नास्तीत्यत आह—नहीति। ननु भेदप्रवाहे युक्तिरपि नास्तीत्यत आह—नचेति। भेदे भेदान्तरानभ्युपगमे तस्य स्वाश्रयाभेदे भेदस्वरूपमेव तस्मादिति तत्र तत्रावश्यं भेद इत्यनवस्थाप्रसञ्जिका युक्तिरनुमानमेवेत्यर्थः। ननु तर्क एवानवस्थाप्रसञ्जको नानुमानमत आह—तर्कस्यापीति। तथा च तर्कणापि सिद्ध्यन् प्रवाहो व्याप्तिबलादेव सेत्स्यतीत्यर्थः। तर्कोऽपि विपर्ययावसानमेव मूलं तच्चानुमानमेवेति वार्थः। भवतु वा तर्कोऽनवस्थाप्रसञ्जकस्तथाप्यनुमानच्छायापन्न एव स प्रयोज्य इत्याह—सर्वमिति। असिद्ध्यादिकमपीत्यर्थः। तथा च भेदेऽपि भेदप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिर्यद्याभासा तदानवस्थैव, यदि चाभासा तदा प्राथमिकोऽपि भेदो न सिद्ध्येदित्याह—अत इति ॥ ८२ ॥

एक को भी स्वीकार करने पर अन्यथा अनुपपत्ति रूप युक्ति अवश्य स्वीकर्तव्य होगी, अन्यथा प्रत्यक्षाभास के सम्भव से एक की भी सिद्धि नहीं होगी। देहात्मत्वादि की सिद्धि होने लगेगी। इसीसे प्रत्यक्ष प्रतिभाससमानत्व से एक का स्वीकार कर्तव्य है प्रवाह का नहीं, यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि, एक की प्रतिभासिका (बोधिका) युक्ति सर्वसाधारण है। यदि कहें कि प्रथम एक भेद में युक्ति प्रत्यक्ष सहायक है अन्य में नहीं अतः अन्य की सिद्धि नहीं, तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि, प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जन्य ज्ञान स्वविषय के लिये प्रमाण होता है और प्रत्यक्ष की सहायता के बिना केवल अनुमानादि से जन्य ज्ञान प्रमाण नहीं होता। इस अर्थ में युक्ति या आप का अभ्युपगम (स्वीकृति) भी नहीं है। यदि कहें कि अनुमानादि तो प्रमाण होता है, परन्तु अनवस्थासाधक युक्तिमात्र प्रमाण नहीं होता प्रत्यक्ष की सहायता के बिना उससे अनवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती, तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि, अनवस्था प्रसञ्जक (प्रापक) युक्ति अनुमानादि से अन्य नहीं है, किन्तु अनुमान अर्थापत्ति रूप है। अतः भेद में भेदाभाव हो, तो उसका स्वरूप ही विलीन हो जायगा, इत्यादि युक्ति अनुमान है। यदि कहें कि यह युक्ति तर्करूप है, अनुमान नहीं तो, यह कहना युक्त नहीं, तर्क के भी व्याप्ति मूलकत्व से वह अनुमान के अन्तर्गत होता है। यदि (वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमो न स्यात्) इस तर्क के विपर्य्यय से अनुमान ही सिद्ध होता और आत्माश्रय अनवस्था असिद्धि आदि सब दूषण अनुमान की छाया (आकार) को प्राप्त करके प्रवृत्त होता है इस प्रकार का आप का व्युत्पादन प्रतिपादन है। अतः अनवस्था-

प्रसञ्जक युक्ति के दोष आप को वक्तव्य है। या स्वपक्ष त्यक्तव्य है (प्रवाह के समान एक भेद भी सत्य मन्तव्य नहीं है)॥ ८२॥

प्रवाहस्वीकारवदेकस्वीकारे नाऽनवस्थेति चेत् तत्किमनवस्थाभावविशिष्टायास्तस्या युक्तेः साधकत्वं मन्यसे ? एवं तर्हि द्वितीयमात्रस्वीकारेऽपि नानवस्थेति द्वितीयस्वीकारप्रसङ्गः। ओमिति चेत् परार्द्धपर्यन्तप्रवाहस्वीकारं को वारयिता ? नैतावन्मात्रेण तुष्यति भवान् परार्द्धादप्यधिकमेकादिकं किं नाभ्युपगम्यते इत्यपि भवता वक्तव्यमेव। तथाच सैवानवस्थेति चेत् सत्यम्। तस्यास्तु भयात्कीदृशमभ्युपगम्यतामिति निपुणं मन्त्रयावहे। द्व्यादिकं परित्यज्यतामिति चेत्। एकस्मिन्नाम कीदृशोऽनुग्रहः येनानवस्थाप्रवाहनिवेशाविशेषेऽपि द्व्यादिकमुपेक्षितमेकं तु रक्षितम्। द्वितीयमादायानवस्थेति चेत्। द्वितीये यदि भवतोऽनुग्रहः स्यात् तृतीयमादायानवस्थेत्यभिधाय सोऽपि रक्षितः स्यात्। तावेतौ भवतो रागद्वेषौ निःश्रेयसाय यतमानस्य मानसमाक्रन्दमानौ न कल्याणोदर्कौ तर्कयामि॥ ८३॥

नन्वनवस्थादोषादेव प्रवाहो न सेत्स्यतीत्याह – प्रवाहेति। यथा द्वितीयो भेदोऽनवस्थामूलत्वेन त्यज्यते तथा प्रथमोऽपि त्यज्यतामविशेषादित्याह—एकस्मिन्निति। यथा द्वितीयस्तथा तृतीयश्चतुर्थोऽपीति क्रमेणैकैकमात्राभ्युपगमे द्वितीयवन्नानवस्थेत्याह— तृतीयमिति॥ ८३॥

यदि कहें कि प्रवाह के स्वीकार में जैसे अनवस्था होती है, वैसे एक के स्वीकार में नहीं होती। अतः एक को नहीं त्यागते हैं, तो क्या अनवस्था के अभावसहित भेदप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति रूप उस युक्ति को भेद का साधक मानते हैं! यदि ऐसी बात हो तो द्वितीयभेदमात्र स्वीकार करने पर भी अनवस्था नहीं होगी। अतः द्वितीय का भी स्वीकार प्राप्त होगा। और यदि द्वितीय का स्वीकार करें, तो इसी प्रकार तीन चार आदि के स्वीकार क्रम से परार्द्ध पर्यन्त प्रवाह स्वीकार का वारण करने वाला कौन है? और इतने ही से यदि आप सन्तुष्ट न हों तो परार्द्ध से भी अधिक एकादिक क्यों न आप से माना जायगा? अतः वह भी आप को वक्तव्य ही है, यदि कहें कि इस प्रकार तो वही अनवस्था प्राप्त होगी, तो यह कहना सत्य है। अनवस्था होगी, तो उस अनवस्था के भय से कैसा माना जाय। इस बात को हम आप अच्छी तरह से बिचार करें, यदि कहें कि विचार क्या करना है? एक भेद को मानकर द्वितीयादि को त्याग दें। नहीं मानें, तो सहज ही अनवस्था नहीं होगी, तो आप का उत्तर यह है कि एक भेद पर आपका कैसे अनुग्रह है? जिससे अनवस्था के प्रवाह में निवेश के तुल्य होते भी द्वितीयादि की उपेक्षा (त्याग) करते हैं। एक की रक्षा करते हैं जिससे द्वितीयादि उपेक्षित होता ही और एक रक्षित रहता है। यदि कहें कि एक से अनवस्था नहीं होती है। किन्तु द्वितीयादि से होती है। अतः उसे त्यागते हैं, तो उत्तर यह है कि इसी प्रकार द्वितीय पर भी यदि आप का अनुग्रह हो, तो तृतीय के ग्रहण से अनवस्था है ऐसा कह कर वह द्वितीय भी आप से रक्षित होगा। परन्तु इस प्रकार रक्षा और

त्याग करने वाले आपके वे राग और द्वेष निःश्रेयस (मोक्ष) के लिये यत्न करने वाले आपके मन में प्राप्त होकर कल्याण फल वाले नहीं होंगे। ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। अर्थात् भेद विषयक सत्यता का आग्रह रागद्वेषादि द्वारा मुमुक्षु के कल्याण का बाधक है। अतः मुमुक्षु से त्याज्य है ॥ ८३ ॥

गन्धे गन्धान्तरप्रसञ्जिका च न युक्तिरस्ति। तदस्तित्वे का नो हानिः। तस्या अप्यस्माभिः खण्डनीयत्वात्। यदप्यथेतरेत्यादिति निरूपणादित्यन्तं तदप्ययुक्तम्। तथाहि इतरेतराभावज्ञानं भेदव्यवहारहेतुं मन्यते यस्तस्य पक्षो नोपपन्न आत्माश्रयप्रसङ्गादित्येवं ब्रुवाणस्य न किञ्चिद्बाधकमुक्तं स्यात्, प्रतियोगिरूपत्वेनेत्यादिसमाधानं च प्रागेव दूषितम्। अथ स्वरूपमेवेत्यादि न दोष इत्यन्तं यदुक्तं तदप्यस्मदनुक्तदोषदूषणमित्युपेक्षितम्। यदपि तथापि के इत्यादि तिर्यक् चेत्यन्तं तदपि गर्तवर्त्तिगोधामांसविभजनन्यायमनुहरति। पक्षत्रयस्याप्युक्तयुक्त्या आच्छादितस्य दर्शयितुमशक्यत्वेन तद्विभागव्यवस्थितेरनवसरनिरस्तत्वात् ८४ ॥

गन्धे इति। नहि गन्धे गन्धविशिष्टप्रतीतिर्यदन्यथानुपपत्त्या गन्धेऽपि गन्धः स्यान्न वा? तदनभ्युपगमे प्रथमोपि गन्धो न स्यादित्यर्थः। अनवस्थया गन्धोऽपि वा मा सिद्धयत्वित्याह—तदस्तित्व इति। तस्या अपीति। गन्धसाधिकाया युक्तेरित्यर्थः। अथेत्यादिनिरूपणादित्यन्तेनेतरेतराभावाग्रहसामग्रीपर्यवसायिका युक्तिरुक्ता तां खण्डयति—तदप्ययुक्तमिति। एतावताप्यात्माश्रयपरिहारो न कृत इत्यर्थः। ननु यदि प्रतियोगिज्ञानं तन्त्रं स्यात्तदात्माश्रयः स्यान्न त्वेवमित्यत आह—प्रतियोगीति। एवं सति निषेध्यनिषेधसाङ्कर्यं स्यादित्यादिना दूषितत्वादित्यर्थः ॥ ८४ ॥

और आपने अनवस्था के अभाव (परित्याग) में गन्ध में गन्धाभाव रूप दृष्टान्त दिया है। वह युक्त नहीं है। क्योंकि गन्ध में गन्ध का प्रसञ्जक (साधक) कोई प्रतीति की अनुपपत्ति आदि रूप युक्ति नहीं है। गन्ध में गन्ध विशिष्ट ज्ञान नहीं होता जिस की अनुपपत्ति से गन्ध में गन्ध सिद्ध हो और भेद में भेद प्रतीत होता है। अतः गन्ध दृष्टान्त नहीं हो सकता। यदि गन्ध में गन्धान्तर साधक युक्ति हो, तो हमारी हानि क्या है ? गन्ध की अनवस्था के खण्डन से उस गन्ध का साधक युक्ति भी हम से खण्डनीय है। और जो (अथेतरेतराभाव) से निरूपणात्, पर्यन्त ग्रन्थ से कहा है वह भी अयुक्त है। क्योंकि, इतरेतराभाव के ज्ञान को जो भेदव्यवहार का हेतु मानता है, वहाँ आत्माश्रय की प्राप्ति से उसका पक्ष युक्त नहीं, इस प्रकार कहने वाले खण्डनवादी का बाधक कुछ भी उक्त कथन से उक्त नहीं होगा। और जो यह कहा है कि प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी के अस्मृति रहते अधिकरणत्व रूप अधिकरण की प्रतीति आदि भेद ज्ञान का कारण है। अतः आत्माश्रयादि नहीं है, इत्यादि समाधान प्रथम ही दूषित हो चुका है कि ऐसा होने पर निषेध्य निषेधक का सांकर्य होगा इत्यादि। और (अथ स्वरूपमेव, इत्यादि, से, न दोषः) यहाँ जो आप ने कहा है कि स्वरूप भेद में यह प्रयोग की अनुपपत्ति होगी इत्यादि। वह भी हम से अनुक्त दोष का आपने खण्डन किया है। अतः मैं ने उस की उपेक्षा की है। और जो भी तथापि कः, इत्यादि से

(तिर्यकूच) यहाँ तक कहा है, वह भी गर्त में स्थिर गोधा (गोह) के मांस विजन (विभाग) न्याय का अनुकरण करता है। अर्थात् अप्राप्त विषय का विभजन उपहासास्पद है। और उक्त युक्ति से आच्छादित (खण्डित) तीनों पक्षों को दर्शाना अशक्य होते भी उन के विभाग की व्यवस्था अनवसरदोष से निरस्त है ॥ ८४ ॥

यच्च स्वरूपभेदस्य लक्षणमुक्तं ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिरिति तदप्यवद्यम्। यदेकमेव वस्तु भ्रान्त्या भिन्नमिति प्रतीयते यत्र ताद्रूप्येणैकरूपतया प्रतीतिर्नास्ति अस्ति च प्रतीतिः। न च स्वरूपभेद इत्यतिव्याप्तिः। ताद्रूप्येणेत्यस्य धर्मान्तररूपभेदासङ्कीर्णोदाहरणार्थत्वात्। प्रतीतिरभ्रान्ता विवक्षिता इति चेन्न, स्वरूपप्रतीतेस्तत्राप्यभ्रान्तत्वात्। यच्च स्वरूपमात्रेण प्रतीयते वस्तु न ताद्रूप्येण। न च नानात्मतया वस्तुगत्या चैकमेव तत्तत्रापि स्वरूपलक्षणो भेदः स्यात् ॥ ८५ ॥

स्वरूपभेदे सहप्रयोगानुपपत्तिर्न मयोक्ता येन मूढप्रतिपत्त्रनुरोधेन समाहिता किन्तु दोषान्तरमुक्तं तन्न समाहितमित्याह—यच्चेति। यदेकमेवेति। यत्र चन्द्रद्वयधीरस्ति तत्रैकस्यापरात्मतया प्रतीतिर्नास्ति। अतस्ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिरस्ति नतु द्वित्वेन प्रतीयमानस्य स्वरूपभेदोऽस्तीत्यर्थः। ताद्रूप्येणेत्यस्य विवरणमेकरूपतयेति। ननु ताद्रूप्येणाप्रतीताविन्त्येव तत्र नास्तीति कथमतिव्याप्तिरित्यत आह—ताद्रूप्येणेत्यस्येति। धर्मान्तररूपो यो भेद इतरेतराभावात्मा वैधर्म्यात्मा च तदसङ्कीर्णोदाहरणं ताद्रूप्येणाप्रतीतावित्यस्यार्थः। तथा च यस्यान्योन्याभावो वैधर्म्यं वा यत्र तत्र ताद्रूप्येणाप्रतीतिर्विवक्षिता सा च चन्द्रद्वयदर्शनेप्यस्ति। नहि तत्र चन्द्रयोरन्योन्याभावा वैधर्म्यं वेति भावः। स्वरूपप्रतीतेरिति। चन्द्रादिस्वरूपप्रतीतेरित्यर्थः। नैकरूपतया न वा नानारूपतया यत्प्रतीयते तत्र लक्षणगमनादतिव्याप्तिरित्याह यच्चेति ॥ ८५ ॥

और ताद्रूप्य से अप्रतीति होते प्रतीति रूप जो आप ने स्वरूप भेद का लक्षण कहा है वह भी दोषयुक्त है। क्योंकि, यदि ताद्रूप्य का एकरूपत्व अर्थ हो तो जो एक ही चन्द्रादि वस्तु भ्रम से भिन्न के समान प्रतीत होती है वहाँ ताद्रूप्य से अर्थात् एकरूपता से प्रतीति नहीं रहती। और स्वरूपभेद भी नहीं रहता। अतः अलक्ष्य में लक्षण के गमन से अतिव्याप्ति है। या एक को ताद्रूप्य (अन्य रूप) से प्रतीति नहीं है। अतः ताद्रूप्य से अप्रतीति होते प्रतीति है। परन्तु दो रूप से प्रतीयमान में स्वरूप भेद नहीं है। अतः प्रतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि दो चन्द्र की प्रतीति के स्थान में ताद्रूप्य नहीं है। अतः अतिव्याप्ति भी नहीं है। क्योंकि ताद्रूप्य इस पद को धर्मान्तर रूप भेद (अन्योन्याभाव और वैधर्म्य) से असंकीर्ण उदाहरणार्थत्व से अभ्रान्त प्रतीति विवक्षित है। अर्थात् अन्योन्याभाव वैधर्म्य से असंकीर्ण अभ्रान्त प्रतीति का विषय स्वरूप भेद होता है, यह तात्पर्य है। भ्रम प्रतीति के विषय चन्द्र में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि वहाँ भी चन्द्रस्वरूप की प्रतीति अभ्रान्त ही रहती है। और जो वस्तु स्वरूप मात्र से प्रतीत हो, एकस्वरूप से या नाना रूप से प्रतीत नहीं होता हो परन्तु वस्तुतः एक ही वह हो वहाँ स्वरूपात्मक भेद होगा ॥ ८५ ॥

नास्त्येवेदृशमुदाहरणम्। ताद्रूप्याताद्रूप्याभ्यामेकस्यावश्यं प्रतीतेरिति चेत्, प्रतीतिकलहानवकाशात्, भवति हि यत्त्वया दृष्टं तत्किमेकमनेकं वा

इत्यनुयुक्तो नायं विशेषो मया शङ्कितो जिज्ञासितो वा स्वरूपमात्रं तु प्रतीत्याहमुदासीनोऽभूवमित्यभिधत्त इति। ननु तदपि स्वरूपं भेद एव कस्मादपि तत्कथमुक्तदोषावतारः? इति मैवम्, एवं ताद्रूप्येणाप्रतीताविति व्यर्थं स्यात्। प्रतीतिमात्रलक्षणं वक्तव्यं यत्प्रमेयं तत्कस्मादप्यवश्यं भिन्नमित्येकस्यैव स्वस्माद्भेदप्रसङ्गनिराकरणार्थमपि ताद्रूप्येणाप्रतीतावित्युक्तं तच्च खण्डितमिति ताद्रूप्यमन्यरूपत्वं विवक्षितम्? इति चेन्न, तथाहि तदानुपस्थापितपरामर्शवदन्यत्वस्य स्वरूपभेदत्वे आत्माश्रयः। सर्वस्वरूपाणां लक्ष्यत्वात् अन्योन्याभावत्वे चान्योन्याश्रयः वैधर्म्ये च चक्रकम्॥ ८६॥

ताद्रूप्याताद्रूप्ययोरन्यतरप्रकारेण प्रतीतिध्रौव्यमालम्ब्याह—नास्तीति। एतादृशीं प्रतीतिमुपपादयति—भवति हीति। स्वरूपमात्रप्रतीतौ ताद्रूप्याताद्रूप्यप्रकारयोरभावादित्यर्थः। ननु लक्ष्यमपि तत्रास्त्येवेति नातिव्याप्तिरित्याह—नन्विति। सर्वप्रतीतिविषये स्वरूपभेदस्य लक्ष्यस्य सत्त्वात्तदितरविशेषणवैयर्थ्यमित्याह—मैवमिति। एतदेवोपपादयति। यदिति। ननु ताद्रूप्येणाप्रतीताविति यदि न कर्त्तव्य तदा स्वस्मादपि स्वस्य स्वरूपभेदो भवेदित्याह—एकस्यैवेति। तच्चेति। यत्र ताद्रूप्याताद्रूप्याभ्यां न प्रतीतिः किन्तु स्वरूपप्रतीतिमात्र तत्रापि स्वरूपभेदः स्यादित्यनेन खण्डितमित्यर्थः। तदा हीति। तच्छब्देनेत्यर्थः। तदानीमन्यतोऽनुपस्थितस्यैव स्वय परामर्शे यथात्माश्रयस्तथा स्वरूपभेदज्ञानाधीनमेव स्वरूपभेदज्ञानमित्यात्माश्रय एव। अन्यशब्दस्य स्वरूपभेदार्थत्वात्। तर्हि स्वरूपभेदान्तरज्ञानाधीनं स्वरूपभेदज्ञानान्तरमेवास्तु, तथा च नात्माश्रय इत्यत आह—सर्वेति। ननु तच्छब्दोन्यपरोऽन्यश्चान्योन्याभावप्रतियोगीति नात्माश्रय इत्यत आह—अन्योन्येति। तथान्योन्याभावग्रहाधीनः स्वरूपभेदग्रहस्तदधीनश्चान्योन्याभावग्रह इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। नन्वन्यशब्दान्यपरोऽन्यश्च तद्विधर्मेति नात्माश्रयान्योन्याश्रयावित्यत आह—वैधर्म्येति चेति। वैधर्म्यग्रहाधीनः स्वरूपभेदग्रहस्तदधीनश्चान्योन्याभावग्रहस्तदधीनं च पुनर्वैधर्म्यज्ञानं तथा च चक्रकम्, वैधर्म्यं हि तदन्योन्याभावसमानाधिकरणधर्मवत्त्वमित्यर्थः॥ ८६॥

यदि कहेंकि ऐसा उदाहरण ही नहीं है जो एकत्व नानात्व दोनों से रहित प्रतीति हो। क्योंकि, ताद्रूप्य अताद्रूप्य (एकत्व नानात्व) दोनों में से एक की अवश्य प्रतीति होती है तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि प्रतीति कलह (विरोध) का अवकाश नहीं है। ताद्रूप्य अताद्रूप्य से रहित प्रतीति होती ही है क्योंकि आपने जो कमल देखा था यह एक या अनेक था, ऐसे पूछने पर उत्तर यह देना है कि इस विशेष विषयक न मुझे शंका हुई न जिज्ञासा हुई स्वरूपमात्र ही देख (जान) कर मैं उदासीन हो गया। यदि कहें कि वह एकत्वादि रहित रूप से ज्ञात भी किसी से भेद स्वरूप ही है। अतः उस में लक्षण का जाना ठीक ही है, तो ऐसा कहना असंगत होगा। क्योंकि ऐसा होने पर 'ताद्रूप्येणाप्रतीतौ' यह लक्षणांश व्यर्थ हो जायगा। प्रतीतिमात्र लक्षण कहना होगा, क्योंकि प्रमेयमात्र ही किसी से अवश्य भिन्न है। और सब इस लक्षण के अनुसार भेद स्वरूप हैं। यद्यपि आप ने एक के अपने स्वरूप से भेद के प्रसंग निराकरण के लिये ही ताद्रूप्येणाप्रतीतौ (एक रूप से अप्रतीति रहते) यह कहा है। तथापि वह खण्डित हो चुका है कि जहाँ ताद्रूप्यादि से प्रतीति नहीं है वहाँ भी भेद प्राप्त होगा। अतः उसके

रहते भी दोष है ही। फिर उसका रहना व्यर्थ है। यदि कहें कि ताद्रूप्य, स्वरूपात्मक भेद से अन्यरूपत्व विवक्षित है। अतः स्वरूप भेद से अन्य रूप से अप्रतीति होते प्रतीति जिसका हो वह स्वरूप भेद है। यह लक्षण होगा। तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि इस अवस्था में लक्षण गत तत् शब्द से अनुपस्थापित परामर्श (ज्ञान) वाले अन्यत्व के स्वरूप भेदत्व होने पर आत्माश्रय होगा। क्योंकि स्वरूप से अन्य भी स्वरूप ही है। स्वरूप से अन्य से अन्यत्व यह लक्षण नहीं हो सकता। यदि कहें कि स्वरूपान्तर के ज्ञानाधीन स्वरूपान्तर का ज्ञान हो तो आत्माश्रय नहीं होगा तो यह कहना युक्त नहीं। सभी स्वरूप लक्ष्य हैं। लक्ष्य से अन्य नहीं है जिस से अन्यत्व में आत्माश्रय नहीं हो। यदि तत् शब्द अन्यार्थक हो, और अन्य शब्द अन्योन्याभाव के प्रतियोगी स्वरूप का बोधक हो। तो स्वरूप के ज्ञान से अन्यत्व रूप अन्योन्याभाव, का ज्ञान, उसके ज्ञानाधीन स्वरूप के ज्ञान से अन्योन्याश्रय होगा। अन्य शब्द यदि वैधर्म्यार्थक हो, तो चक्रक होगा। क्योंकि, भिन्न में ही वैधर्म्य रहता है। अतः भेदाधीन वैधर्म्य ज्ञान, तदधीन स्वरूप भेद ज्ञान, फिर तदधीन अन्योन्याभाव ज्ञान, पुनः तदधीन वैधर्म्यज्ञान इस प्रकार चक्रक होगा ॥ ८६ ॥

यदपीतरेतराभावस्य लक्षणमबाधितः समानाधिकरणो निषेधप्रत्यय इति तदप्यशोभनम्। समानाधिकरण-इत्यादिभाषायाः कथमपि तात्पर्यगवेषणेऽपि समानाधिकरणो यो निषेधस्तत्प्रत्ययविषयोऽन्योन्याभाव इति तात्पर्यपर्यवसाने समानाधिकरण इति। किं तुल्याश्रयः, उतैकाश्रयः, उत तादात्म्यप्रतियोगिकः, उताधिकरणीभूतपदार्थवाचिशब्दविशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितपदाभिधेय, उतान्यदेव? तत्र न प्रथमः। तुहिनमयूखे प्रियामुखे च न दूषणकणस्यापि सम्भव इति प्रत्ययस्यापि दर्शनात्। तत्र मुखचन्द्रयोरन्योन्याभावोऽस्ति? इति चेन्न, तस्य सत्त्वेऽप्युक्तप्रत्ययस्य तदविषयत्वात् ॥

निषेधप्रत्ययस्य सामानाधिकरण्यं केनेति वाच्यम्। प्रतियोगिना चेत् तदा प्रत्यय आत्मनि प्रतियोगी च घटादिरन्यत्रेति भाषेयमनादेयेत्याह—यदपीति। तात्पर्यमाह—समानाधिकरण इति। सामानाधिकरण्यं विकल्पयति। किमिति। तुल्य आश्रयो यस्याभावस्य सोऽन्योन्याभाव इत्यर्थः। अपदार्थमपि तात्पर्यगतिमालम्ब्य विकल्पयति—तादात्म्येति। शाब्दं सामानाधिकरण्यमभिप्रेत्याह—अधिकरणीभूतेति। अधिकरणवाचिना शब्देन घटादिशब्देन विशेषणविशेष्यभावव्यवस्थितं यन्नञ्पदं तदभिधेयो योऽभावः सोऽन्योन्याभाव इत्यर्थः। तुहिनेति भवति घटः पटो न भवतीति पटान्योन्याभाववान् घट इत्यर्थः। तुहिनमयूखप्रियामुखे तुल्ये दूषणकणात्यन्ताभावस्याप्यधिकरणे इति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। यदि तत्रान्योन्याभावो न भवेत्तदातिव्याप्तिर्न त्वेवमित्याह—तत्रेति। परिहरति—नेति। तत्प्रत्ययस्य विषयः यो विषयः सोऽन्योन्याभाव इति लक्षणं तत्प्रत्ययविषये मुखचन्द्रवर्त्तिकलङ्कदोषात्यन्ताभावेऽपि गतमित्यतिव्याप्तिरेवेत्यर्थः। यद्वा ननु यत्रायं प्रत्ययस्तत्र प्रियामुखशीतमयूखयोरन्योन्याभावोऽस्तीति नातिव्याप्तिरित्याह—तत्रेति। तस्येति। एतत्प्रत्ययप्रतीयमानत्वं तत्र नास्तीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

स्वरूप भेदलक्षण का निषेध करके अन्योन्याभाव के लक्षण का निषेध करते हैं। अबाधित समानाधिकरण निषेधज्ञान रूप अन्योन्याभाव का लक्षण है। परन्तु यह भी

असंगत है, क्योंकि ज्ञानका समानाधिकरण यदि निषेध प्रतियोगी के साथ कहें तो प्रतियोगी घटादि अन्यत्र रहता है, ज्ञान आत्मा में रहता है। अतः यह लक्षण नहीं हो सकता। समानाधिकरण इत्यादि भाषाका किसी प्रकार (परम्परा) सम्बन्ध से तात्पर्य के अन्वेषण करने पर भी समानाधिकरण जो निषेध उसके ज्ञानका विषय अन्योन्याभाव होता है यह लक्षण का निश्चित स्वरूप है। उसमें 'समानाधिकरण' इस शब्द से, क्या तुल्याश्रय वाला अन्योन्याभाव विवक्षित है ? अथवा अधिकरणस्वरूप पदार्थ वाचक शब्द के साथ विशेषणविशेष्य भावसे व्यवस्थित जो निषेधक पद उससे अभिधेय होना (कहा जाना) विवक्षित है ? अथवा अन्य ही है ? यहां प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि तुहिनमयूख (हिमकरणवाले चन्द्र) और स्त्रीमुखमें दूषण के लेश का भी सम्भव नहीं है, इस प्रतीति के विषय दोषके अत्यन्ताभाव में भी उक्त रीति से लक्षण की अतिव्याप्ति होती है जैसे 'घटः पटो न भवति' यहां घटान्योन्याभाव वाला पट है, इस प्रकार तुल्याश्रय की प्रतीति होती है, वैसे ही दोष निषेधाश्रय चन्द्रमुखतुल्य प्रतीत होती है। वैसे ही दोषनिषेधाश्रय चन्द्रमुखतुल्य प्रतीत होते हैं। यदि कहें कि चन्द्र और मुखतुल्य प्रतीत होते हैं। यदि कहें कि चन्द्र और मुखमें अन्योन्याभाव नहीं हो, तो अतिव्याप्ति हो परन्तु वहां अन्योन्याभाव रूप लक्ष्य भी है ही। अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि चन्द्र और मुख में उस लक्ष्य अन्योन्याभाव के रहते भी उक्तदूषण निषेध ज्ञान को उस अन्योन्याभाव विषयकत्व नहीं है। वह ज्ञान अत्यन्ताभाव को विषय करता है। अतः उसमें अतिव्याप्ति होगी ॥ ८७ ॥

मास्तु तद्विषयः लक्षणं त्वस्यैतत् , तच्च तदविषयत्वेऽपि न दुष्टम् ? इति चेन्न, कीदृशं तर्हीदं लक्षणम्। न तावत्समानाधिकरणो यो निषेधः तत्प्रत्ययो यस्तस्य यो विषयः सोऽन्योन्याभाव इति। नापि स एवान्योन्याभाव इति नापि यत्र समानाधिकरणो भेदप्रत्ययस्तत्र योऽस्ति सोऽन्योन्याभाव इत्यस्तु। तद्धर्मस्य सर्वस्यान्योन्याभावत्वापातात्। समानाधिकरणपदवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। एतेनैकमुदाहरणमादाय द्वितीयोऽपि निरस्तः॥

ननु लक्ष्यलक्षणयोर्विषयविषयिभावमन्तरेणापि व्यावर्त्तकत्वसम्भव इत्याह। मास्त्विति। न तावदिति। प्रियामुखशीतलमयूखयोर्यो दूषणकणात्यन्ताभावस्तत्रातिव्याप्तेरित्यर्थः। स एवेति। समानाधिकरणप्रत्यय एवेत्यर्थः। प्रत्ययस्यान्योन्याभावे लक्ष्ये वृत्त्यभावेन लक्षणत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। यद्वा समानाधिकरणनिषेधप्रत्ययविषय एवेत्यर्थः। संसर्गाभावस्तु व्यधिकरणनिषेधप्रत्ययविषयोऽपीत्यर्थः। समानाधिकरणपदार्थविकल्पानुपपत्तेरित्यर्थः। नापीति। समानाधिकरणनिषेधप्रत्ययसमानाधिकरणोऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि नेत्यर्थः। तद्धर्मस्येति। घटाद्यन्योन्याभावाधिकरणानां पटादीनां ये धर्मास्तेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः। आत्मनो ये धर्माः प्रत्ययसमानाधिकरणास्तत्रातिव्याप्तिरिति वार्थः, प्रत्ययस्यादौ वातिव्याप्तिरित्यर्थः। एवं सत्यत्यन्ताभावाव्यवच्छेदे तदर्थोपादीयमानसमानाधिकरणपदवैयर्थ्यमित्याह। समानाधिकरणेति। उक्तैकाश्रय इति पक्षं दूषयति। एतेनेति। प्रियामुखशीतमयूखौ द्वावुदाहृतौ यौ तयोरेकमुदाहरणं प्रियामुखं शीतमयूखो वा तदादायेत्यर्थः। तथा च प्रियामुखे दूषणकणो नास्तीत्यत्यन्ताभावेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः॥ ८८॥

यदि कहें कि चन्द्रमुख में दोषाभाव को विषय करने वाले ज्ञान का विषय अन्योन्या-

भाव न हो, तो भी अन्योन्याभाव का लक्षण तो यही है (मुखं न चन्द्रः) इस प्रतीति के विषय लक्ष्य में यह लक्षण समन्वित होगा और अत्यन्ताभाव विषयक इस लक्षण के नहीं होते भी लक्षण दुष्ट नहीं है। अत्यन्ताभाव के साथ रहनेवाले अन्योन्याभाव को ग्रहण करके लक्षण चरितार्थ होगा। तो यह कहना भी युक्त नहीं। क्योंकि, कैसा वह लक्षण है जो दुष्ट नहीं है यह कहना होगा। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि समानाधिकरण निषेध के ज्ञान का विषय अन्योन्याभाव होता है और न यह कहा जा सकता है कि वह निषेध का ज्ञान ही अन्योन्याभाव है। क्योंकि, उस ज्ञान का विषय चन्द्रस्त्रीमुख दूषणात्यन्ताभाव में प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति है। और उस निषेध विषयक ज्ञानरूपलक्षण की लक्ष्यरूप अन्योन्याभाव में वृत्तित्व का अभाव है। ज्ञान आत्म-वृत्ति होता है, अन्योन्याभाव वृत्ति नहीं। यह भी नहीं कह सकते कि जिस विषय में समानाधिकरण भेद ज्ञान हो, इसमें जो है वह अन्योन्याभाव है, ऐसा लक्षण हो। क्योंकि इस प्रकार भेदज्ञान के विषय घटादि में जो धर्म घटत्वादि रहेंगे, उन सबको अन्योन्याभावत्व की प्राप्ति होगी तथा ज्ञान के समानाधिकरण वृत्ति जो आत्मा के धर्म हैं, उनमें अतिव्याप्ति होगी। यदि ज्ञान सामानाधिकरण्य विवक्षित होगा और इस प्रकार से अत्यन्ताभाव को व्यावृत्ति के लिये लक्षण में दिया गया समानाधिकरण पद व्यर्थ होगा क्योंकि भेदप्रत्ययाधिकरण में अत्यन्ताभाव भी रहता है। इसी से एक उदाहरण का ग्रहण करके एकाश्रयत्व रूप समानाधिकरण स्वरूप दूसरा पक्ष भी निरस्त हो गया। अर्थात् प्रियामुख और चन्द्र दो उदाहरण हैं। उनमें से एक एक के ग्रहण करके अत्यन्ताभाव में लक्षण की अतिव्याप्ति है। चन्द्रे दूषणकारणं नास्ति, इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति हैं क्योंकि एकाश्रयत्व है ॥ ८८ ॥

नापि तृतीयः। तादात्म्यप्रतिसन्धानव्यतिरेकेण तत्प्रतियोगित्वस्य प्रत्येतुमशक्यतया तन्निर्वचनप्रसङ्गात्। तच्चाशक्यम्। तथाहि—तदेकत्वं वा भेदाभावो वा स्वरूपत्वं सम्भावितम्। तस्य भेदत्वोपगमात्। तस्मिन् दृष्टेऽपि तन्नवेति तादात्म्यसंशयानवकाशापत्तेः। आद्येऽपि सङ्ख्याविशेषो वा धर्मान्तरं वा? नाद्यः। गुणादौ तदभावप्रसङ्गात्। प्रथमक्षणे कार्यद्रव्यस्यैकस्यापि स्वातादात्म्यप्रसङ्गात् वैशेषिकमतव्युत्थाने चैकत्वे तदभावप्रसङ्गात्। उपाधिभिन्नावलम्बि च तादात्म्यं कथं स्वरूपमात्रावलम्बिनैकीकर्तुं शक्यम्। विचित्रप्रतिपत्तिकत्वात् ॥ ८९ ॥

उत तादात्म्यप्रतियोगिक इति विकल्पितं पक्षं दूषयति। नापीति। यद्यपि समानाधिकरणपदस्य नायमर्थः सम्भवति तथापि परविवक्षामात्रेण विकल्पः तादात्म्यस्य दुर्वचतया तत्प्रतियोगित्वं दुर्निरूपमित्यर्थः। तदिति। तादात्म्यमित्यर्थः। स्वरूप इविति। परेण स्वरूपस्य भेदमभ्युपगम्यते तेन तादात्म्यत्वेन सम्भवदपि न तद्विकल्पितमित्यर्थः। तादात्म्यं न स्वरूपमित्यत्र पपर्यन्तरमाह—तस्मिन्निति। स्वरूपे दृष्टे तादात्म्य संशयो न स्याद्यदि स्वरूपमेव तादात्म्यं स्यादित्यर्थः। आद्ये इति। एकत्वं स्वरूपं तत्रेत्यर्थः। गुणादाविति। गुणे गुणस्य सङ्ख्यायास्त्वयानभ्युपगमादित्यर्थः। प्रथमेति। क्षणमगुणो भाव इति त्वया स्वीकारात् प्रथमक्षण सङ्ख्यायास्तत्राभावात्। द्रव्यस्येति। तादात्म्यं न स्यादित्यर्थः। ननु वैशेषिकस्य प्रक्रियेय यद्गुणे गुणो न वर्त्तते क्षणमगुणो भाव इति न त्वस्माक-

मपीति नोक्तदोष इत्यत आह—वैशेषिकेति । व्युत्थानं विप्रतिपत्तिः । एकत्वे इति । आत्माश्रयभयेनैकत्वे स्वयैकत्वं नाभ्युपेयमिति तत्र तादात्म्यं न स्यादित्यर्थः॥ ननु तदेकत्वं यदि तत्र वर्त्तेत तदात्माश्रयः सजातीयैकत्वप्रवाहाङ्गीकारे चानवस्था किन्तु भिन्नाभिन्नोपाधिघटितमेकत्वं तदेकत्वेषु वर्त्ततां तदेव च तेषां तादात्म्यमिति नोक्तदोष इत्याशंक्याह—उपाधीति । तावतामुपाधीनामेकपदेनोपसङ्ग्रहीतुमशक्यानामसङ्ग्रहे लक्षणमिदं तादात्म्यस्य दुरुपपादनमेव स्यादित्यर्थः ॥ ननु तेऽप्युपाधय एकत्वपदेनैवोच्यन्तां को दोष इत्यत आह—विचित्रेति। एकप्रकारिकया हि प्रतिपत्त्या ये विषयीक्रियन्ते घटादयस्ते घटादिपदेन संग्रहीतुं शक्यन्ते प्रकृते च तदभाव इत्यर्थः ।। ८९ ॥

तादात्म्यप्रतियोगी वाला अन्योन्याभाव है, यह तीसरा पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि तादात्म्य के निश्चय ज्ञान के बिना तादात्म्यप्रतियोगित्व समझना अशक्य होने के कारण उस तादात्म्य का पहले निर्वचन आवश्यक है और वह निर्वचन अशक्य है। क्योंकि, वह तादात्म्य एकत्वरूप या भेद का अभावरूप हो सकता है। स्वरूपात्मक तो तादात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूप को भेदात्मक मान लिया गया है, और तादात्म्य भेदाभावरूप होता है, दूसरी बात यह है कि स्वरूप के देखने पर भी प्रत्यक्ष दूरवर्ती स्वरूप में (तन्न वेति) 'वह है या नहीं ?' इस प्रकार तादात्म्य का संशय होता है, इससे भी स्वरूपात्मक तादात्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष दृष्ट में संशय का अवकाश नहीं है। फिर भी तादात्म्य एकत्वरूप है, इस प्रथम पक्ष में विकल्प हो सकता है कि वह एकत्व संख्याविशेषरूप है ? या धर्मान्तर ? वहाँ आद्य पक्ष संख्यारूप नहीं कह सकते क्योंकि गुणादि में संख्यादि रूप गुण के अनङ्गीकार से उनमें तादात्म्य का अभाव होगा और गुण कर्म की उत्पत्ति में द्रव्य के समवायी कारण होने से तथा कारण की पूर्ववृत्तिता के नियम से (आद्यक्षणे द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियं चोत्पद्यते) प्रथम क्षण में द्रव्य निर्गुण निष्क्रिय उत्पन्न होता है, इस वैशेषिक मत के अनुसार प्रथमक्षण में एक कार्यद्रव्य को भी अपने से अतादात्म्य की प्राप्ति होगी। यदि वैशेषिक मत में विप्रतिपत्ति हो, अर्थात् यहाँ उस मत को नहीं मानें, द्रव्य को आद्य क्षण में भी सगुण मानें तथा गुण में गुण मानें तो भी अनवस्था के भय से एक संख्या में अन्य एकत्व के अभाव से उसमें तादात्म्य का अभाव होगा तथा आत्माश्रयता से केवल एकत्व एकत्व में नहीं रह सकता और तादात्म्य को सम्बन्ध मानने के कारण जैसे किसका किसके साथ संयोग है, इसी प्रकार किसका किसके साथ तादात्म्य है, इस सप्रतियोगिक (उपाधिरूप भिन्न वस्तु का अवलम्बन करने वाले) तादात्म्य को स्वरूपमात्रावलम्बी एकत्व के साथ एक करना शक्य कैसे हो सकता ? क्योंकि दोनों विचित्र ज्ञान वाले हैं। अतः यह पक्ष असम्भव है, तथा घटैकत्वं पटैकत्वं, इस प्रकार की उपाधि को अवलम्बन करने वाले एकत्वरूप तादात्म्य को स्वरूपमात्र अवलम्बी-तादात्म्य के साथ भी एकत्व नहीं कर सकते ॥ ८९ ॥

धर्मान्तररूप एकत्व तादात्म्य है, यह दूसरा पक्ष भी असंगत है इत्यादि अर्थ का प्रतिपादन करते हैं कि—

नापि द्वितीयः। तस्यापि धर्मान्तरापेक्षयानवस्थानात् । अनपेक्षायां

स्वातादात्म्यप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । सहि भेदस्याभावो भवन्नप्यन्योन्याभावस्यैव स्यादन्योन्याभावस्य तत्प्रतिक्षेपात्मकत्वात् । तेनाप्यन्योन्याभावप्रतिक्षेपात्मना भवितव्यं परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वात् निषेध्यनिषेधयोः । तथाच सत्यन्योन्याभावप्रतीतिमन्तरेण तन्निरूपणमशक्यं निषेध्यप्रतीतिसापेक्षत्वान्निषेधबुद्धेरित्यन्योन्याश्रयः । नापि तुरीयः । निर्घटं भूतलमित्यत्रापि प्रसङ्गात् ॥ ९० ॥

धर्मान्तरं वेति पक्षं दूषयति—नापीति । यद्धर्मान्तरमेकत्वं घटतादात्म्यं तत्र यदि धर्मान्तरमभ्युपगम्यते तदानवस्था यदि न तत्र धर्मान्तरं तदा तत्र स्वतादात्म्यमेव न स्यादित्यर्थः । मूलविकल्पे भेदाभावो वेति पक्षं दूषयति—नापीति । तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावस्तादात्म्यं च भेदाभाव इत्यन्योन्याभावाभावपर्यवसन्न एवेत्यन्योन्याभावेनैव तन्निरूपणमित्यात्माश्रयस्तादात्म्यमान्तरालिकं विवक्षित्वान्योन्याश्रय इत्याह—स हीति । उताधिकरणीभूतपदार्थवाचिशब्दविशेष्यभावव्यवस्थितपदाभिधेय इति विकल्पं दूषयति—नापीति । निर्घटमिति । अत्रापि निर्घटत्वभूतलयोर्विशेषणविशेष्यवाचिनी पदे निर्घटभूतलपदे विशेषणविशेष्यभावापन्ने एव तद्वाच्यत्वं दुर्वारमिति संसर्गाभावेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः ॥

धर्मान्तररूप एकत्व को तादात्म्य मानें तो जो धर्मान्तररूप एकत्व घट का तादात्म्य होगा, उसको भी स्वात्मतादात्म्य के लिये धर्मान्तर की अपेक्षा से अनवस्था होगी और धर्मान्तर की अपेक्षा नहीं होने पर स्वात्मा में अतादात्म्य की प्राप्ति होगी। मूल विकल्प में भेदाभाव तादात्म्य है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि भेद का अभावरूप होता हुआ वह तादात्म्य अन्योन्याभाव का ही अभावरूप होगा (स्वरूप या वैधर्म्यरूप भेद का अभावरूप नहीं होगा) क्योंकि अन्योन्याभाव को उस तादात्म्य के प्रतिक्षेप (निषेध) स्वरूपत्व है। अतः वह तादात्म्य अन्योन्याभाव का निषेधरूप होगा क्योंकि, निषेध्य (प्रतियोगी) और निषेध (अभाव) को परस्पर प्रतिक्षेप (अभाव = निषेध) स्वरूपत्व होता है। तो ऐसा होने पर अन्योन्याभाव की प्रतीति के बिना उस तादात्म्य (भेदाभाव) का निरूपण अशक्य है। क्योंकि, निषेध्य (भेद) की प्रतीति की अपेक्षापूर्वक निषेध (भेदाभाव) की बुद्धि होगी। अतः भेदाभाव द्वारा अन्योन्याभाव के निरूपण में अन्योन्याश्रय होगा। दोनों को व्यक्ति एक होने पर आत्माश्रय होगा और अधिकरणार्थवाचक शब्द के साथ विशेषणविशेष्यभाव से व्यवस्थित पद से अभिधेय (वक्तव्य) अर्थ अन्योन्याभाव है। यह चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं। क्योंकि निर्घटं भूतलम्, घटरहित भूमि है, इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव में भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी; यहाँ निर्घट और भूतल पद विशेषणविशेष्यवाचक हैं, उनसे अभिधेयत्व अभावाधिकरण को है ॥ ९० ॥

नापि पञ्चमः । समानाधिकरण इति प्रतियोगिसमानाधिकरणो विवक्षितः तादृशश्च निषेधोऽन्योन्याभावः तत्प्रत्ययश्च तल्लक्षणमित्यस्याप्ययुक्तत्वात् भावासमानाधिकरणस्यान्योन्याभावस्य कुम्भः पटत्वं न भवतीत्यादेरव्यापनात् । तज्जातीयतथात्वं च यं विशेषमन्योन्याभावे गतमादाय स्यात् तदेव लक्षणीभवनसमर्थमुपजीव्यमानमस्य लक्षणस्योपन्यासं प्रत्यादिशति । नच

तदपि सम्भवति, अन्योन्याभावसंसर्गाभावभेदखण्डनप्रस्तावे निरस्तत्वात्। प्रकारान्तरस्य चासम्भवात् ॥ ९१ ॥

अन्यदेवेति पक्षं हि दूषयति—नापि पञ्चम इति। यद्यपि समानाधिकरणपदार्थविकल्पे तद्विशिष्य तदनिरुक्तः पञ्चमविकल्पपर्यवसानं तथापि तदादायैव दूषयति। समानाधिकरण इति। पटत्वस्यान्योन्याभावप्रतियोगिनः कुम्भावृत्तित्वात् सामानाधिकरण्याभावादत्राव्याप्तिरित्यर्थः। ननु यद्यप्ययमन्योन्याभावो न प्रतियोगिसमानाधिकरणस्तथाप्यन्योन्याभावजातीयं किञ्चित्तथा भवत्येव। यथा भूतलं घटो न भवतीत्यादि। तथा च कथमव्याप्तिरित्यत आह—यज्जातीयतथात्वं चेति। अन्योन्याभावजातीयत्वमेकमुपग्राहमन्तरेण दुर्निरूपमित्यर्थः। ननु तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वादिनैकजात्यं स्यादित्यत आह—अन्योन्याभावेति ॥ ९१ ॥

(अन्यदेव) यह पञ्चम पक्ष भी ठीक नहीं पञ्चम पक्ष पहले विशेषरूप से नहीं कहा गया है। अतः विशेष का ग्रहण करके कहते हैं कि—समानाधिकरण पद से प्रतियोगी के साथ समानाधिकरण लक्षण में विवक्षित है और तादृश (प्रतियोगिसमानाधिकरण) अन्योन्याभाव विवक्षित है और उस का ज्ञान ही उस का लक्षण है। इस से प्रतियोगिसमानाधिकरण अभावप्रतीति अन्योन्याभाव का लक्षण सिद्ध होता है। परन्तु इस लक्षण के अयुक्तत्व से पञ्चम पक्ष मान्य नहीं है। अयुक्तत्व में कारण यह है कि भाव (प्रतियोगी) के असमानाधिकरण 'कुम्भः पटत्वं न भवति' घट पटत्व नहीं है। इत्यादि अन्योन्याभाव के इस लक्षण से व्याप्त नहीं होगा। कारण यह है कि यहाँ प्रतियोगिसमानाधिकरण अभाव नहीं है। अभाव का प्रतियोगी पटत्व पट में रहता है। उस का भेद घट में रहता है। यदि कहें कि पटत्व और उस का अन्योन्याभाव पट में समानाधिकरण वाले हैं, पटत्व प्रतियोगिक होने से घटवृत्ति पटत्वाभाव भी उस पटदृष्टि से प्रतियोगिसमानाधिकरण माना जा सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं। धर्मी प्रतियोगी के भेद से अभाव का भेद होता है। यदि कहें कि अन्योन्याभावत्वजाति वाले में प्रतियोगिसामानाधिकरणत्व का ग्रहण करके लक्षण होगा—स्वप्रतियोगिसमानाधिकरण अभाव जाति वाला अन्योन्याभाव होता है। तो अन्योन्याभावगत जिस जातीय तथा स्वरूपविशेष को ग्रहण करके लक्षण करेंगे, वही विशेष लक्षण होने में समर्थ है और इस लक्षण का उपजीव्यमान (हेतु) होता हुआ इस लक्षण के उपन्यास को खण्डन करेगा और वह तज्जातीयत्वरूप विशेष भी लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि द्रव्यादि तीन से अन्य में जाति नहीं मानी जाती है। अतः अन्योन्याभाव संसर्गाभाव के भेदखण्डन प्रकरण में वह निरस्त हो चुका है और प्रकारान्तर का सम्भव नहीं है ॥ ९१ ॥

नच पटः पटत्वं न भवतीत्ययमेवाऽभावः घटः पटत्वं न भवतीत्येक एव एवं प्रतियोग्यैक्येन मयाऽत्राभ्युपगमादिति क्वचित्प्रतियोगिसमानदेशत्वाल्लक्षणसिद्धिरिति वाच्यम्। तथापि प्रतियोग्यैक्येन तदत्यन्ताभावैक्यापत्तेः तादात्म्यवत्संयोगस्यापि द्विष्ठत्वाविशेषादतिव्याप्तेः कालभेदेन च प्रागभावादेरपि प्रतियोगिसमानाधिकरणतयाऽतिव्याप्तेः। कालैक्येन विशेषणे च तदन्योन्यव्यतिरेकाऽव्याप्तेरिति ॥ ९२ ॥

ननु य एव पटे पटत्वान्योन्याभावः प्रतियोगिसमानाधिकरणः स एवेतरस्मिन्नपि

पटत्वान्योन्याभाव इति कथं लक्षणमव्यापकमित्याशङ्क्य निराकरोति—नचेति। यद्यभिन्न-प्रतियोगिकत्वाद्घटपटनिष्ठयोः पटत्वान्योन्याभावयोरभेदस्तदा घटसंसर्गाभावान्योन्या-भावयोरप्यभेद एव स्यादित्यर्थः। नन्वन्योन्याभावे घटपटतादात्म्यं द्विष्ठो धर्मः प्रतियोगी तदवच्छेदको वा न त्वेवं संसर्गाभावे इति तयोर्भेद इत्यत आह—तादात्म्यवदिति। संयोगस्य संसर्गस्येत्यर्थः। तत्रापि संसर्गस्तथेति भावः। यद्वान्योन्याभावे द्वयं प्रतियोगि संसर्गाभावे तु तथेति वैषम्यमित्यत आह—तादात्म्यवदिति। तत्रापि संसर्गावच्छेदकतया द्वयं प्रतियोगीति भावः। प्रतियोगिसमानाधिकरणे संयोगात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तिपरोऽयं ग्रन्थः कालभेदेन प्रतियोगिसामानाधिकरण्यं प्रागभावप्रध्वंसयोरतिव्यापकमित्याह। काल-भेदेनेति। प्रतियोगिसमानकालीनत्वे विशेषणे कालान्योन्याभावाव्याप्तिरित्याह—कालैक्येनेति। न हि कालसमानकालीनः कालस्यान्योन्याभावः। काले कालाभावा-दित्यर्थः॥ ९२॥

यदि कहें कि 'पटः पटत्वं न भवति' इस प्रतीति का विषय अभाव, और, 'घटः घटत्वं न भवति' इस प्रतीति का विषय यह अभाव एक ही है। क्योंकि, प्रतियोगी की एकता से यहाँ मुझ से ऐसा ही माना जाता है। अतः कहीं (पट में) प्रतियोगी के साथ समानाधिकरण होने से लक्षण की सिद्धि होगी तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा होने पर प्रतियोगी की एकता से उस प्रतियोगी के अत्यन्ताभाव के साथ भी अन्योन्याभाव की एकता होगी। यदि कहें कि अन्योन्याभाव में घटपटादि प्रतियोगी नहीं होते, किन्तु तादात्म्य प्रतियोगी होता है, वह दो में रहता है और संसर्गाभाव में ऐसा नहीं रहता। अतः एकता नहीं होगी, तो उत्तर यह है कि तादात्म्य के समान संयोग (संसर्ग) के भी प्रतियोगी होने से और द्विनिष्ठ होने से तुल्यता के कारण अतिव्याप्ति होगी। तथा संयोगात्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होगी, और कालभेद से प्रतियोगी के समानाधिकरण प्रागभावादि में भी अतिव्याप्ति होगी। यदि एककालता विशेषण दें कि एककाल में जो प्रतियोगी के साथ एकाधिकरण में रहता है वह अन्योन्याभाव है। तो उस काल के अन्योन्याभाव में अव्याप्ति होगी। क्योंकि अन्य का अन्योन्याभाव तो काल में रहता है परन्तु काल का काल में नहीं रहता। अतः (कालो न घटः) इत्यादि प्रतीति का विषय अन्योन्याभाव नहीं होगा॥ ९२॥

यदपि धर्मान्तरस्य लक्षणमवादि वैधर्म्यस्य विरोधः स चैकधर्म्यसमावेश इति तदप्युद्भ्रान्तमनसो भाषितम्। तथाहि—प्रमाणप्रमेययोर्भेदोऽस्ति न वा? न चेत्तदभिधानस्य पर्यायत्वप्रसङ्गः, किम्प्रमाणिका बुद्धिरित्युक्ते बुद्धेर्विष-येणोत्तरप्रसङ्गश्च। नापि प्रथमः। स हि न तावत् स्वरूपलक्षणः तुलादि-द्रव्यस्यैकस्याप्युभयभावदर्शनात्। अत एव नान्योन्याभावोऽपि। धर्मान्तरं तु तयोर्भेदः परिशिष्यते यतोऽन्येन रूपेण तत्प्रमाणमन्ये च तदेव प्रमेयामि-त्युच्यते। तथा च सत्यैकधर्म्यसमावेशो लक्षणव्यापकं सोऽयं "प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवदि"ति पारमर्षमपि परामर्शव्यस्मार्षीदित्यास्तां विस्तरः॥९३॥

प्रमाणत्वप्रमेयत्वयोरेकधर्मिसमावेशयोरपि वैधर्म्यं त्वया वाच्यमिति तल्लक्षणं तत्रा-ऽव्यापकमिति आह—तथा हीति। ननु तयोर्न वैधर्म्यं तत्कुतोऽव्याप्तिरित्याशङ्कते—न चेति। तर्हि प्रमाणप्रमेयपदयोः पर्यायत्वमित्याह—तदभिधानस्येति। पर्यायत्वे दोषा-

न्तरमाह—किंप्रमाणिकेति। प्रमाणप्रश्ने प्रमेयेणोत्तरं स्यादित्यर्थः। नापि प्रथम इति। प्रमाणप्रमेययोर्भेदपक्षोऽपि न घटत इत्यर्थः। भेदत्रयेऽप्यनुपपत्तिमाह—न तावदिति स्वरूपभेदे यदेव प्रमाणं तत्प्रमेयं न स्यादित्यर्थः। स्वरूपभेदाभावेऽन्योन्याभावोऽपि न स्यादित्याह—अत एवेति। नैयायिकमुपहसति—सोयमिति। द्वितीयाध्याये 'प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवदिति सूत्रं तदुभयनिमित्तसमावेशोपदर्शकं त्वया विस्मृतमित्यर्थः॥ ९३॥

धर्मान्तररूप भेद का जो आपने लक्षण किया है कि वैधर्म्य (विरोधी धर्म) का जो विरोध है वह धर्मान्तर है, और वह विरोध एकधर्मी में असमावेशस्वरूप है। अर्थात् 'घटः पटोऽस्ति' ऐसी प्रतीति का विषय घटत्व पटत्व का सामानाधिकरण्य वैधर्म्य है और 'घटो न पटः' यह उस का विरोध है जिससे घटत्व पटत्व का एक एक अधिकरणधर्मी में असन्निवेशरूप घट पट का भेद सिद्ध होता है सही, परन्तु यह भी उद्भ्रान्त (उन्मत्त) का कथन है। क्योंकि, एकधर्मी में सन्निवेश वाले प्रमाणत्वप्रमेयत्व के वैधर्म्य को कहना है और वहाँ उसका लक्षण है नहीं, अतः कहते हैं कि, प्रमाण और प्रमेय को परस्पर भेद है या नहीं? अर्थात् आप भेद मानते हैं, या नहीं? यदि भेद नहीं मानते तो हस्तकरादि पद के समान प्रमाणप्रमेय के अभिधान (वाचक शब्द) को पर्यायत्व होगा। और किस प्रमाण वाली बुद्धि (ज्ञान) है? ऐसा प्रश्न होने पर इन्द्रियादि प्रमाण को न कह कर बुद्धि के विषय द्वारा उत्तर का प्रसङ्ग होगा। क्योंकि, विषय भी प्रमाण शब्द का अर्थ है। अतः बुद्धि में क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का घट प्रमाण है, या बुद्धि ऐसा कुछ कह कर उत्तरवक्ता कृतकार्य होगा। प्रमाण प्रमेय का भेद है यह प्रथमपक्ष भी नहीं मान सकते, क्योंकि प्रमाणप्रमेय उभयभाव (उभयस्वरूपत्व) एक तुलादि द्रव्य में देखा जाता है। अतः प्रमाणप्रमेय में स्वरूपात्मक भेद नहीं माना जा सकता। स्वरूप भेद हो तो जो प्रमाण होगा वह प्रमेय नहीं हो सकेगा। इसी से प्रमाण प्रमेय को अन्योन्याभाव नहीं हो सकता। एक में अन्योन्याभाव नहीं होता है और तुलादि में प्रमाणप्रमेय एक (अभिन्न) हैं, किन्तु प्रमाणप्रमेय का धर्मान्तर रूप भेद परिशेष रहता है। क्योंकि, अन्य = प्रमा करणत्व धर्मरूप से वह तुला (तराजू) आदि प्रमाण होता है उसकी अपेक्षा अन्य प्रमाविषयत्व धर्मरूप से प्रमेय होता है और कहा जाता है। एकधर्मी में असमावेशरूप जो वैधर्म्यरूप भेद का लक्षण है। यह उदाहरण में अव्यापक है। अतः इस लक्षणकर्ता वह प्रसिद्ध पुरुष (प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्) इस परमर्षि गौतम के परामर्श (विचार) को भी स्मरण नहीं किया। अब विस्तर का कोई प्रयोजन नहीं है॥ ९३॥

ननु भेदप्रतिपत्तेस्तावत् प्रत्यक्षफलस्यार्थेन्द्रियसन्निकर्षः कारणं वक्तव्यं नच य एवेन्द्रियसन्निकर्षस्य भेदप्रतीतिहेतोर्द्वितीयस्संबन्धी स एव भेदोऽस्तु, न उक्तबाधकैर्बाधितायाः प्रतीतेरर्थेन्द्रियसन्निकर्षकारणत्वाभावादिति ॥९४॥

कारणताखण्डनावतारं सङ्गमयितुं पीठिकामारचयति—नन्विति। भेदसाक्षात्कारविषय एवेत्यर्थः। तथा च नान्योन्याभावादिविकल्पावकाश इति भावः। उक्तेति। तत्प्रतीतिविषयखण्डनमेव बहुशः कृतमिति न प्रतीतिरर्थजन्येत्यर्थः। अर्थकारणत्वाभावादिति बहुव्रीहिः॥ ९४॥

शंका होती है कि भेद के ज्ञानरूप प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक फल का इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप कारण अवश्य वक्तव्य है। क्योंकि, प्रत्यक्ष ज्ञान वर्तमान विषय और इन्द्रिय के सम्बन्धजन्य ही होता है, अतः उस स्थान में भेदप्रतीति के हेतु इन्द्रिय सम्बन्ध का जो दूसरा सम्बन्धी है, वही भेद ज्ञान का विषय भेद है। क्योंकि, विषय के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान हो नहीं सकता है। अर्थात् इन्द्रियाऽतिरिक्त भेद प्रमाजनकसन्निकर्षाधिकरण जातीयत्व भेद का लक्षण है, जहाँ अन्योन्याभावादि विकल्प का अवकाश नहीं है, उत्तर यह है कि पूर्वोक्त अन्योन्याश्रयादि बाधकों से बाधित प्रतीति के अर्थेन्द्रियसन्निकर्षरूप कारणवत्त्व के अभाव से भेद की सिद्धि नहीं हो सकती अर्थात् बाधित होने से भेद की प्रतीति में भ्रान्तित्व की सिद्धि से उसके विषय में सत्यता नहीं हो सकती ॥ ९४ ॥

किञ्च तत्कारणत्वमेव पूर्वभावित्वम् इति चेन्न। चिरानन्वयध्वस्तानामपि कारणत्वम् इति चेन्न। व्यापारस्यैव कारणत्वप्रसङ्गात् व्यापारेण न व्यवधानम् इति चेन्न, कारणकारणस्यापि कारणत्वप्रसङ्गात् कारणस्यातद्व्यापारत्वान्नैवम् इति चेन्न, विना विशेषोक्तिं तस्य दुर्विवेकत्वात् यद्विना यद्यन्न जनयति तत्तस्य तत्रावान्तरव्यापारः इति चेन्न, सहकारिणामप्यवान्तरव्यापारत्वप्रसङ्गात्। जन्यम् ? इति चेन्न, तथापि कारणत्वाव्यवस्थितो विशेषोक्तेरशक्तेः ॥ ९५ ॥

पूर्वभावित्वमिति। पूर्ववर्त्तित्वमित्यर्थः। चिरध्वस्तस्य यागादेः कारणत्वमिष्टमेवेति विशिनष्टि—अनन्वयेति। यागादेरन्वयोऽपूर्वादिर्व्यापारः। अव्यवहितेति। चिरध्वस्तानां व्यवहितत्वान्नातिव्याप्तिरिति भावः। व्यापारस्यैवेति। ननु यागादेर्व्यापारिणोपीत्यर्थः। व्यापारेणेति। स्वाङ्गमप्यव्यवधायकमिति न्यायादिति भावः। कारणेति। अन्यथासिद्धस्यापि कुलालपित्रादेरित्यर्थः। कुलालः कुलालपितुर्न व्यापार इति न तत्पितुः कारणत्वमित्याह—कारणस्येति। कारणकारणस्य कारणं व्यापारो न भवति यागादेस्तु कारणमेवापूर्वं व्यापार इत्यत्र नियामकं नास्तीत्याह—विनेति। व्यापारस्य दुर्विवेकत्वादित्यर्थः। व्यापारविवेकायाह। यद्विनेति। कुलालस्तु पुत्रमन्तरेणापि जनयति ननु यागोऽपूर्वमित्यर्थः। सहकारिणामिति। नहि चक्रं विना दण्डो घटं जनयतीत्यर्थः। जन्यमिति। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकमित्यर्थः। तज्जन्यत्वं तत्कारणकमित्यात्माश्रयं इत्याह—तथापीति ॥ ९५ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में कारणत्व बताया गया है। वह कारणत्व क्या है यह विचारणीय है। कार्य से पूर्वभावित्व (वृत्तित्व) को कारणत्व नहीं कह सकते हैं, क्योंकि बहुत पूर्व नष्ट अनन्वय में भी कारणत्व होगा। अर्थात् कपास तन्तुरूप से सान्वय ध्वस्त होने पर तो तन्तु द्वारा पट का कारण होता ही है, परन्तु अग्नि से निरन्वय ध्वस्त होने पर भी उसमें कारणत्व की आपत्ति होगी। यदि कार्य से अव्यवहित पूर्ववृत्तित्वरूप कारणत्व मानें तो स्वर्गप्राप्तिरूप कार्य से अव्यवहित पूर्ववृत्ति यागादिजन्य अदृष्ट (पुण्य) रूप व्यापार को ही कारणत्व होगा और यागादि के उससे व्यवहित हो जाने से स्वर्गप्राप्ति के प्रति कारणत्व नहीं होगा। पुण्यरूप व्यापार याग का अंग है। स्वांगव्यवधायक नहीं होता। याग का व्यवधायक अदृष्टरूप व्यापार नहीं होगा, यदि ऐसा कहें तो घट के कारण कुलाल के कारणरूप कुलाल के पिता को भी घट के प्रति

कारणत्व होगा। यदि कहें कि कारणरूप कुलाल (अतद्व्यापार है) अपने पिता का व्यापार नहीं है। अतः उसके द्वारा पिता को कारणत्व नहीं होगा, तो विशेष लक्षण के कथन के बिना उस व्यापार का विवेकज्ञान कठिन है। कुलाल अपने पिता से जन्य होते अपने पिता का व्यापार नहीं है और अदृष्ट यागजन्य याग का व्यापार है, इसमें हेतु देना पड़ेगा। यदि कहें कि जो हेतु = यागादि, जिस अदृष्टादि के बिना जिस स्वर्गादि को उत्पन्न नहीं कर सकता वह अदृष्टादि उस यागादि से स्वर्गादि जनन में अवान्तर (मध्यवर्ती) व्यापार है। कुलालपुत्र के बिना भी घट का जनक होता है। याग अदृष्ट के बिना स्वर्गप्राप्ति का हेतु नहीं होता है, न कुठारादि उद्यमन निपातनादि व्यापार के बिना काष्ठच्छेदनादि का हेतु होता है, यह विशेष है। तो इस प्रकार सहकारी कारणों को भी अवान्तर व्यापारत्व प्राप्त होगा। क्योंकि मृत्तिका चक्रादि सहकारी के बिना दण्डादि पटादिरूप कार्य उत्पन्न नहीं करता। यदि कहें कि जो जिसके बिना स्वकार्य नहीं कर सकता हो, वह उस कारण से जन्य भी हो वह अवान्तर व्यापार है। मृत्ति का चक्रादि सहकारी कारण दण्डादि से जन्य नहीं हैं, (तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य जनकत्व) व्यापार का लक्षण है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है, तो भी कारणत्व की अव्यवस्थिति रहते विशेष नहीं कहा जा सकता, अर्थात् कारण के लक्षण के बिना व्यापार का लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि (तज्जन्यजनक) कहने से कारणत्व घटित व्यापार का लक्षण सिद्ध होता है और तज्जन्यत्व का तत्कारणकत्व अर्थ होने से आत्माश्रयादि होता है ॥ ९५ ॥

कथमपि वा विशेषोक्तौ गगनादेः सर्वत्र कार्यहेतुत्वप्रसङ्गात्। अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वम् इति चेन्न। वक्तव्यं हि कस्मादन्येन प्रकारेण विना का च सिद्धिरिति। यदि कार्यादन्येन प्रकारेण न निष्पत्तिस्तदाऽसिद्धत्वम्। नहि कार्येण कारणस्योत्पादनं नापि कार्यादन्येन प्रकारेण न ज्ञप्तिः प्रत्यक्षादेरपि कारणत्वज्ञप्तेः। न खलु सर्वा कार्यलिङ्गजा कारणस्य ज्ञप्तिः। नापि कारणत्वाद्व्यतिरिक्तेन प्रकारेण न निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा। ज्ञप्तावात्माश्रयात्। अन्यथापि तदुपगमात् ॥ ९६ ॥

ननु तज्जन्यत्वं तदुत्पाद्यत्वं न तु तत्कारणकत्वमिति नात्माश्रय इत्यत आह—कथमपीति। अव्यवहितपूर्वभावित्वं सर्वकार्यापेक्षया गगनस्येति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। ननु शब्दं प्रति कारणत्वे गृहीते कार्यान्तरं प्रत्याकाशस्य पूर्ववर्त्तित्वं गृह्यत इति तत्र तदन्यथासिद्धत्वान्न कारणमित्याह—अनन्येति। अन्यत्वस्य सप्रतियोगिकत्वनियमात् सिद्धेश्चोत्पत्तिज्ञप्तिसाधारणत्वाद्विशेषोऽयं पृच्छति कस्मादिति। सन्निहितत्वेन कार्यमेवान्यत्वप्रतियोगितया शङ्कते। कार्यादिति। ननु कार्येण कारणं न जन्यते यद्यपि तथापि ज्ञाप्यत इति कार्याधीनज्ञप्तिः स्यादेवानन्यथासिद्धं कारणमित्यत आह—नापीति। न हि नियमतः कार्यादेव कारणज्ञप्तिरित्यर्थः। कारणत्वमेवान्यत्वप्रतियोगीति शङ्कते। नापीति। कारणत्वेनैव कारणत्वज्ञप्तावात्माश्रयमाह। ज्ञप्ताविति। दण्डत्वादिनापि कारणस्य दण्डादेर्ज्ञप्तिरित्याह—अन्यथापीति। तदुपगमात् ज्ञप्त्युपगमात् ॥ ९६ ॥

किसी प्रकार (तदुत्पाद्यत्वादि) व्यापार की विशेषोक्ति होने पर भी गगनादि को सर्वत्र कार्य से पूर्ववृत्तित्व होने के कारण सर्वकार्य का विशेष हेतुत्व प्राप्त होगा। यदि

कहें कि शब्द के प्रति कारणत्व को समझ कर आकाश के कार्यान्तर के प्रति पूर्ववृत्तिता का ग्रहण होता है, और ऐसा जहां हो, वह अन्यथासिद्ध कहा जाता है। हम अनन्यथा-सिद्ध (अन्यथासिद्ध से भिन्न) कार्य से नियतपूर्ववृत्तित्वरूप कारण का लक्षण करते हैं। अतः आकाशादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो, न अन्यथा-अनन्यथा ऐसा कहने से अन्यथा से अन्यत्व की प्रतीति होती है। वह अन्यत्व किसी प्रतियोगी से होता है और सिद्धि शब्द उत्पत्ति और ज्ञान दोनों का बोधक है। किसकी अपेक्षा अन्य प्रकार से बिना सिद्धि न हो, और वह सिद्धि क्या है ? इसका विचार आवश्यक है। यदि कहें कि कार्य की अपेक्षा अन्य प्रकार से कारण की सिद्धि का अभाव अर्थ है, तो वह असिद्ध है क्योंकि, कार्य से कारण का उत्पादन नहीं होता या कार्य को अपेक्षा अन्य प्रकार से उस कारण का ज्ञान नहीं होता, किन्तु कार्य से ही कारण की अनुमिति मात्र होती है यह नियम नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाण से मृत्तिकादि एवं कुम्भकारादि में कारणत्व का ज्ञान होता ही है। कारण का सब ज्ञान कार्यरूप लिङ्गजन्य ही नहीं होता। यदि कहें कि अन्यत्व का प्रतियोगी कार्य नहीं है, किन्तु कारण है अतः कारणत्व से अन्य प्रकार से सिद्धि जिसकी न हो, यह अर्थ है, तो यह नहीं कह सकते। कारणत्व की अपेक्षा अन्य प्रकार से जिसकी उत्पत्ति वा ज्ञप्ति न हो, वह अन्यथासिद्ध कारण है, ऐसा मानने पर कारण के लक्षण के ज्ञान में कारण ज्ञान की अपेक्षा होने से आत्माश्रय होगा और कारण की अपेक्षा अन्य रूप से कारण नहीं समझा जाय यह नियम नहीं हैं। दण्डत्वादि अन्यथा स्वरूप से कारण समझा जाता है ॥ ९६ ॥

व्यतिरिक्तत्वमकारणत्वमिष्टम् इति चेन्न, उक्तदोषानिवृत्तेः। कारणत्वात्पूर्वमुत्पत्तिज्ञप्त्योरक्षणिकवादिभिरभ्युपगमात् अव्यवहितपूर्वतया कदाचित्तदपि कारणमेव तत्पूर्वतरमपि कस्याश्चिद्व्यक्तेरनेवम्भावेऽपि तज्जातीयतया तथाभावित्वविवक्षिततया व्यक्तिव्यभिचाराप्रयोजकत्वात् इति चेन्न, कार्यान्तरेऽपि गगनादेरतथाभावस्य विनिगन्तुमशक्यत्वात् ॥९७॥

व्यतिरिक्तत्वमिति। अनन्यथासिद्धमित्यकारणत्वव्यतिरेकेण सिद्धमित्यर्थः। उक्तेति। अकारणत्वव्यतिरेकेणेति। कारणत्वेनेत्यर्थपर्यवसाने पुनरात्माश्रयादित्यर्थः। कारणत्वादिति। पूर्वक्षणमात्रनियतं हि कारणत्वं स्थैर्यपक्षे तत्पूर्वं नास्तीति तदाऽकारणव्यतिरेकेण सिद्धिरनुपपन्नेत्यर्थः। ननु कार्योत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तितामात्रे स्थिरमपि कारणमेव पूर्वमिति तदाप्यकारणत्वव्यतिरेकेणैव तत्सिद्धिर्या च कारणव्यक्तिरुत्पन्नविनष्टकार्योत्पत्ति-पूर्वक्षणे सती न भवत्येव तत्रापि तादृशव्यक्तिजातीयत्वेनैव कारणत्वमिति न व्यभिचारो-ऽपीति शङ्कते—अव्यवहितेति। तत्पूर्वतरमपि कारणमेव कदाचिदव्यवहितपूर्वक्षणवर्त्ति तथेत्यन्वयः। कार्यान्तरेऽपीति। शब्दादन्यतोऽपि घटादावित्यर्थः। अतथाभावस्य। अकारणत्वस्येत्यर्थः। गगनादेः स्वकार्यादन्यत्राव्यवहितपूर्वसत्तया कारणत्वं दुर्वारमिति भावः ॥ ९७ ॥

यदि कहें कि अन्यथात्व का व्यतिरिक्तत्व अर्थ है और वह कारणत्वरूप है। अतः कारणत्व की अपेक्षा अन्य प्रकार से असिद्ध कार्य पूर्ववर्ती कारण होता है। यह लक्षण होगा, तो ऐसा होने पर कारणत्व से अन्य अकारणत्व होगा। उस रूप से असिद्ध का कारणत्वरूप से सिद्ध यह अर्थ होगा, तो फिर उक्त दोष आत्माश्रय की निवृत्ति नहीं

होगी और कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षणवृत्ति सामग्रीरूपता को प्राप्त दण्डादि में ही कारणत्व के स्वीकार से तथा लक्षण के अनुसार कारणत्व की सिद्धि से स्थिर कारणवादी के मत में उस कारणत्व से पूर्वकाल में दण्डादि कारण की उत्पत्ति और ज्ञान के स्वीकार से वहाँ अकारण व्यतिरेकेण सिद्धि की अनुपपत्ति है। अकारणरूप से ही उस काल में दण्डत्वादि रूप से सिद्धि होती है। अतः उसमें लक्षण की अव्याप्ति है। यदि कहें कि कभी पूर्ववृत्तिता से उस पूर्ववृत्तिता के पूर्वलक्षण भी वह कारण ही रहता है, उस पूर्वक्षण की अपेक्षा भी पूर्वतरक्षणवृत्ति कदाचित्पूर्ववृत्तिता से कारण रहता है, किसी कारणरूप उत्पन्न विनष्ट व्यक्ति के कार्य से अव्यवहित पूर्ववृत्तित्व के कभी नहीं होने पर भी, कार्यपूर्ववृत्ति दण्डादि जातीयता से कार्यपूर्ववृत्तित्व के विवक्षित होने से तत्तद् व्यक्ति का व्यभिचारदोष का प्रयोजक (हेतु) नहीं होता। परन्तु ऐसा मानने पर आकाशादि को शब्दादि स्वकार्य से अन्य कार्य घटादि में भी अकारणत्व का निश्चय करना अशक्य है। स्वकार्य के पूर्ववृत्ति होता हुआ सब कार्य के पूर्ववृत्ति आकाशादि सबका कारण होगा ॥ ९७ ॥

कालदेशव्यापकतया अन्यथासिद्धस्थितिः इति चेन्न। तथा सति शब्दादौ गगनादेरकारणत्वप्रसङ्गात्। एतेनानन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमपि निरस्तम्। गगनादेर्व्यतिरेकाभावादकारणत्वप्रसङ्गश्चाधिकः व्यापारवत्त्वं कारणत्वम् इति चेन्न। तद्धि व्यापारसमवायित्वं व्यापारजनकत्वं वा? नाद्यः, यागादेरकारणत्वप्रसङ्गात्। नोत्तरः। तस्यैव निरूप्यमाणत्वात् ॥ ९८ ॥

ननु गगनादीनां घटादिपूर्वक्षणे सत्त्वं व्यापकत्वनित्यत्वप्रयुक्तमिति नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते। कालदेशेति। एवं सति स्वकार्यमपि प्रति तत्कारणं न स्यादुक्तप्रकारेणान्यथासिद्धत्वादिति परिहरति। तथा सतीति। एतेनेति। अनन्यथासिद्धत्वखण्डनेनेत्यर्थः। अतिदिष्टाद्दोषान्तरमाह। गगनादेरिति। नित्यत्वव्यापकत्वाभ्यां देशतः कालतो वा व्यतिरेकाभावात् स्वकार्यमपि प्रति गगनादेः कारणत्वं न स्यादित्यर्थः। लक्षणान्तरं शङ्कते। व्यापारवत्त्वमिति। यागादेरिति। यागस्य चेच्छाविशेषस्यापूर्वरूपव्यापारसमवायित्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। तस्यैवेति। जनकस्यैवेत्यर्थः ॥ ९८ ॥

यदि कहें कि गगनादि के देश काल में व्यापक होने से, अर्थात् विभुत्व और नित्यत्व होने से अनिवार्यरूप से घटादि से पूर्वकाल में उनकी अन्यथासिद्ध (घटादि की हेतुता के बिना) स्थिति रहती है, तो ऐसा होने पर गगनादि को शब्दादि के प्रति भी अकारणत्व प्राप्त होगा। इस अनन्यथासिद्धत्व के खण्डन से तथा शब्द के प्रति आकाश के अन्यथासिद्धत्व की प्राप्ति से, कार्य के साथ अनन्यथासिद्ध अन्वय व्यतिरेक वाला कारण होता है, यह लक्षण भी निरस्त हो गया और नित्य व्यापक होने से किसी देश काल में गगनादि के व्यतिरेक के अभाव से उसको अपने कार्य शब्द के प्रति भी अकारणत्व की प्राप्ति अधिक दोष है। यदि कहें कि व्यापारवत्त्व कारणत्व है और गगनादि का कार्यान्तर में व्यापार नहीं रहता। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी तो वह व्यापारवत्त्व, व्यापारसमवायित्व (व्यापारसमवायवत्त्व) है या व्यापारजनकत्व ? यह कहना होगा। वहाँ यदि व्यापारसमवायित्व कहें, तो यागादि को अकारणत्व प्राप्त

होगा, क्योंकि उसका व्यापार पुण्य आत्मा में समवायसम्बन्ध से माना जाता है, यागादि में नहीं। व्यापारजनकत्वरूप उत्तरपक्ष भी नहीं कह सकते। क्योंकि वह जनकत्व ही अभी विचारणीय है, लक्षण में उसके प्रवेश से आत्माश्रय होगा ॥ ९८ ॥

नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकत्वम् ? इति चेन्न, निवारकपदावयवस्य प्रत्ययस्य कारणनिर्वचनं विनाऽनिरूप्यमाणार्थत्वात्। अन्यतरत्वस्य चैकस्य निरुक्त्यशक्तेः यदनभ्युपगमे यस्य तत्पूर्वं सत्त्वप्रसङ्गः, तत्तस्य कारणं तद्भवश्च कारणत्वम् इति चेन्न। भावस्य विनाशित्वानभ्युपगमे तथा प्रसङ्गेनातिव्यापकत्वात् ॥ ९९ ॥

कार्यस्य नित्यसत्त्वं नित्यासत्त्वं वा प्रसज्यमानं येन निवार्यते तत्कारणमिति। शङ्कते। नित्येति। निवारकं हि निवृत्तिजनकं तच्चाद्याप्यनिरूपितं तेनैव तन्निरूपणे आत्माश्रय इति परिहरति। निवारकेति। अवयवस्यैकदेशस्य करणाधिकरणयोश्चेति विधीयमानस्य ल्युट्प्रत्ययस्येत्यर्थः। अन्यतरत्वं यद्यनिर्द्धारितैकत्वं तदाऽनिर्द्धारणगर्भं लक्षणमसिद्धम्। अथ तदुभयान्योन्यत्वं तदान्योन्याभावखण्डनेन तद्गर्भलक्षणखण्डनेन वा गतार्थमित्याह। अन्यतरत्वस्येति। यदनभ्युपगमे इति। कारणानभ्युपगमे हि कार्यस्य स्वोत्पत्तिकालात् पूर्वं सत्त्वं प्रसज्येतेत्यर्थः। यद्यप्यसत्त्वमपि प्रसज्यते तेन नियमाभावात् पूर्वसत्त्वप्रसङ्गो न भवति तथापि यदि सदिदं सकारणकं न स्यात्तदा पूर्वं सत् स्यादिति प्रसङ्गो द्रष्टव्यः। यदि भावो विनाशो न स्यात्तदा पूर्वं सत्स्यादिति परिहरति। भावस्येति। विनाशित्वानभ्युपगमेन पूर्वसत्त्वमापादयितुं न शक्यते ध्वंसे व्यभिचारादत उक्तम्। भावस्येति ॥ ९९ ॥

कार्य में नित्यप्राप्त सत्त्व या नित्यप्रसक्त असत्त्व इनमें से अन्यतर का निवारकत्व कारणत्व है, वहां विनाश का कारण नित्य सत्त्व का वारक होता है, जन्म का कारण नित्य प्राप्त असत्त्व का वारक होता है। यह लक्षण भी नहीं हो सकता, क्योंकि निवारक पद के अवयवरूप ल्युट् के अक का कर्ता अर्थ है, वह कारण विशेषरूप है। अतः कारण के निर्वचन के विना वह प्रत्यय अविचारित अर्थ वाला है। और एक अन्यतरत्व के निरुक्ति की शक्ति नहीं है। अर्थात् अन्यतर शब्द से सत्व के ग्रहण करने पर नाशकारण में अव्याप्ति होगी और सत्व के ग्रहण करने पर जन्मकारण में अव्याप्ति होगी और सत्त्वासत्त्व उभयगत अन्यतरत्वरूप कोई धर्म है नहीं जिससे दोनों का ग्रहण हो सके। इस प्रकार यदि अन्यतरत्व को अनिश्चित एकत्वरूप मानें तो अनिर्धारण युक्त लक्षण की सिद्धि नहीं हो सकती, यदि उभय के अन्योन्यत्वरूप अन्यतरत्व कहें तो वह अन्योन्याभाव के खण्डन से खण्डित है। यदि कहें कि जिसके कारण के नहीं मानने पर जिस कार्य का उसकी उत्पत्ति काल से पूर्वकाल में सदा सत्त्व प्राप्त हो वह मृत्तिकादि उस घटादि का कारण है तो घट के ध्वंस को नहीं मानने पर घट का जिस कारण सामग्री से सत्त्व दीखता है, उससे पूर्व भी उसका सत्त्वप्रसङ्ग होगा। क्योंकि अविनाशी भावपदार्थ अनादि होता है, इससे प्रध्वंसाभाव में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अर्थात् भावरूप पदार्थ यदि विनाश युक्त नहीं होता तो स्वोत्पत्तिकाल से पूर्वकाल भी होता, ऐसी संभावना से विनाश (ध्वंस) में भी कारणत्व प्राप्त होगा ॥ ९९ ॥

तत्पूर्वस्थितत्वेन च विशेषणे सहभावनियतस्याभावेऽपि प्रसङ्गः तथात्वोपगमे तत्सामग्र्यामपि प्रसङ्गः तस्या अपि तथात्वोपगमे कार्यद्वयैक्यप्रसङ्गः असाधारण्यं च। विशेषापेक्षित्वेऽतिव्याप्तिरविशेषे भाविपूर्वार्थविकल्पावकाशश्च ॥ १०० ॥

ननु पूर्ववर्त्तिनो यस्यानभ्युपगमः पूर्वसत्त्वमापादयति तत्कारणम्। ध्वंसस्तु कार्यपूर्ववर्त्ती न भवतीति न तन्न कारणत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—तत्पूर्वस्थितत्वेनेति। एवं सति कार्यपूर्वसत्त्वे सति कार्यपूर्वसत्त्वापादकानभ्युपगमविषयत्वं कारणत्वमित्युक्तं स्यात्। तथाच पाकस्थले यदि रूपप्रागभावो न स्यात्तदा रसोऽपि पूर्ववर्त्ती स्यादिति रसपूर्वसत्तापादकरूपप्रागभावानभ्युपगमविषयकरूपप्रागभावस्यापि रसकारणत्वं स्यादित्यर्थः। ननु रसे रूपप्रागभावः कारणं भवतु को दोष इत्यत आह—तथात्वोपगम इति। एवं सत्युक्तन्यायेन रसं प्रति रूपसामग्र्या अपि कारणत्वं स्यादित्यर्थः। ननु रसे रूपसामग्री पाकजस्थले तु कारणमित्यत आह—तस्या अपीति। एवं सत्यभिन्नसामग्रीकत्वे रूपरसयोरभेदापत्तिः सामग्रीभेदस्यैव कार्यभेदप्रयोजकत्वात्तदभेदे सोऽपि न स्यादित्यर्थः। यदनभ्युपगम इत्यादिलक्षणे दोषान्तरमाह—असाधारण्यं चेति। यत्पदार्थाननुगमे नानुगम इत्यर्थः। ननु यदनभ्युपगमे घटपूर्वसत्ताप्रसङ्गस्तद्घटकारणमिति लक्ष्यमप्यननुगतमेवेत्यत आह—विशेषापेक्षित्वे इति। लक्षणस्य विशेषमात्रपरत्वे इत्यर्थः। एवं सति रूपपूर्वसत्तापादकानभ्युपगमविषयत्वं घटरूपकारणत्वं रसकारणेऽपि तत्र गतमित्यतिव्याप्तिः, घटम्योभयकारणस्योभयत्राविशेषाद्वा शेषलक्षणस्यैव तवाभिप्रेतत्वादिति भावः। ननु पूर्वसत्तापादकानभ्युपगमविषयत्वं कारणत्वं सामान्यत एव विवक्षितं तथा च नाननुगमो न वाऽतिव्याप्तिरित्यत आह—अविशेषे इति। सामान्याविवक्षा चेत्तदा भावी वक्ष्यमाणो यः पूर्वपदार्थविकल्पः तस्यावकाशः, तथा च लक्षणस्य पर्वपदार्थानिरुक्त्या लक्षणं दुर्ग्रहमिति भावः ॥ १०० ॥

यदि कहें कि जिस कार्य से पूर्वस्थित को नहीं मानने से कार्य की पूर्वकालिक सत्ता का प्रसंग हो, वह कारण है, इस प्रकार से पूर्वस्थितत्वेन विशेषण देने से पश्चात् वृत्ति-ध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं होगी। तो भी जहां अग्नि के सम्बन्ध से रूप रसादि पाकज गुण नियत साथ उत्पन्न होते रहते हैं, वहां रूप के प्रागभाव में रस के कारणत्व की भी प्राप्ति होगी, क्योंकि यदि रूप प्रागभाव न हो, तो रस निजोत्पत्ति से पूर्वकाल में भी सत्व को प्राप्त हो, इस प्रकार रस की पूर्वसत्तापादकरूप प्रागभाव के अनभ्युपगम विषयत्वरूप प्रागभाव को भी है। यदि रूप प्रागभाव में रस कारणत्व मान लें तो रूप उत्पत्ति सामग्री में भी रसोत्पत्ति की सामग्रीत्व प्राप्त होगा, उस रूप सामग्री को भी रस सामग्री मान लें, तो रूप और रसात्मक दोनों पाकज कार्य की एकता प्राप्त होगी। और जिसे नहीं मानने से इस लक्षणगत 'यद्' पद को कारणरूप दण्डादि विशेषापेक्षित्व विशेषमात्रपरत्व हो, यत् पद कारणरूप विशेष व्यक्ति का बोधक हो, तो लक्षण में असाधारणत्व की प्राप्ति होगी। कारण मात्र का यह लक्षण नहीं होगा। अतः यत् पद से जिस कारणव्यक्ति का ग्रहण होगा, उसमें अन्यकारण में इस लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि पूर्वसत्तापादक अनभ्युपगमविषयत्वं कारणत्वम्, इस प्रकार सामान्यरूप से यत् पद द्वारा कारणमात्र का ग्रहण करें, तो अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि, कारणमात्र के अनंगीकार से कार्यमात्र के अभाव की अतिप्रसक्ति से तत्तत् कार्यकारण का

नियम नहीं रह जायगा, और सामान्य की विवक्षा से वक्ष्यमाण पूर्वशब्दार्थ के विकल्प का अवकाश है जिससे लक्षणस्थ पूर्वपदार्थ की अनिरुक्ति से लक्षण का ज्ञान असम्भव होगा ॥ १०० ॥

नियतप्राग्भावित्वम् इति चेन्न। अवश्यम्भावस्य नियमार्थत्वे गगनादेः सर्वकार्यहेतुत्वप्रसङ्गस्य तदवस्थत्वादवयवरूपादेश्चावयवितद्रसादिषु कारणत्वप्रसङ्गात् । अनौपाधिकत्वं नियमार्थ इति चेदेवं ह्यनौपाधिकः पूर्वभावो हेतुत्वमित्युक्तं भवति । तथा च पिपीलिकोत्थानादेर्वृष्ट्यादौ जनकत्वप्रसङ्गः। सहभाविसामग्र्या वा न प्राचि पूर्वभावो नियतः, किन्तु वृष्टेः च परं भाव इति चेन्न, प्राग्रूपाणामेव नियतत्वात् ॥ १०१ ॥

लक्षणान्तरं शङ्कते—नियतेति। नियमः पूर्ववर्त्तितामात्रं वा कार्येण सहाविनाभावो वा। आद्यं दूषयति—अवश्यम्भावस्येति। अनौपाधिकत्वमिति। एवमिति। पिपीलिकाण्डसञ्चारस्य वृष्ट्यनुमापकतयाऽनौपाधिकसम्बन्धाभ्युपगमादित्यर्थः। सहभावीति। रूपसहभाविनो रसस्य या सामग्री साऽपि रूपकारणं स्यात् अनौपाधिकत्वादित्यर्थः। न प्राचीति। प्राचि प्राक्कालवर्त्तिनि पिपीलिकाण्डसञ्चारे पूर्वः भावनियमो नास्ति। न हि यत्र वृष्टिस्तत्र पूर्वं सोऽस्त्येवापि तु तदनन्तरं वृष्टिर्भवत्येवेत्यानन्तर्यनियमः। परमिति। पूर्वभावनियम एव विवक्षितो न त्वनौपाधिकत्वमित्यर्थः। प्राग्रूपेति। रोगलिङ्गानां प्राग्रूपाणां निदानभिन्नत्वेन चरकाद्युक्तानामतिव्यापकता स्यादित्यर्थः। उक्तं हि—'निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा। संप्राप्तिश्चेति रोगाणां पञ्चधा ज्ञानमिष्यते'। रोगकारणानामित्यपव्याख्यानम्। वैद्यकविरोधात् ॥ १०१ ॥

कार्य से नियत पूर्वभावित्व (वर्तमानत्व) भी कारण का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि नियम शब्द का अवश्यंभाव (सत्त्व) अर्थ हो, तो सब कार्य से अवश्य पूर्व सत्त्ववाले गगनादि को सर्वकार्यहेतुत्व पूर्व के तुल्य प्राप्त होता है। अवयव के रूपादि को अवयवी के प्रति तथा अवयविगत रसादि के प्रति कारणत्व प्राप्त होता है। यदि नियम शब्द का अनौपाधिक अर्थ हो, अर्थात् अविनाभावरूप कार्यकारणभाव अर्थ हो, तो ऐसा होने पर, अनौपाधिक (उपाधिरहित) कार्य से पूर्वसत्त्व हेतुत्व (कारणत्व) है यह लक्षण वर्णित होगा, तो पूर्वोक्त अतिव्याप्ति नहीं होगी, परन्तु ऐसा होने पर भी पिपीलिकोत्थान पुरोवातादि में वृष्टि आदि के कारणत्व प्राप्त होगा। तथा साथ रहने वाले रूप रसादि की सामग्रियों में रूप की सामग्री रस से भी पूर्व होने के कारण रस का कारण होगी। यदि कहें कि उस पिपीलिकोत्थान में प्राचि (पूर्वकाल वृत्तित्व) होते भी उसमें पूर्वसत्त्व नियत नहीं है। वृष्टिज्ञान के प्रति हेतुत्व होते भी, कभी उसके बिना भी वृष्टि देखी जाती है। किन्तु वृष्टि का परभाव (पश्चात् होना) नियम है। अतः अनौपाधिक नियम नहीं है, तो भी रोग के प्राग्रूपों को ही नियतत्व होने से रोग के कारणत्व की प्राप्ति होगी, अर्थात् रोगकारण (निदान) के लक्षण की रोग के पूर्वरूप में अतिव्याप्ति होगी ॥ १०१ ॥

तानि कारणमेव इति चेन्न। निदानप्राग्रूपसाङ्कर्यप्रसङ्गात् पूर्वार्थश्च वक्तव्यः पूर्वकालसंबन्धित्वं पूर्वत्वम् इति चेन्न, कालस्याहेतुत्वप्रसङ्गात् तस्यापि किं पूर्वत्वमिति च विवेचनीयत्वात्। अतीतोपाध्यवच्छिन्नत्वं

तस्य पूर्वत्वम् इति चेन्न, अतीत इति निष्ठान्तस्य पूर्वकालवाचिनो विवेचनीयत्वात् परत्वापरत्वयोर्गुणयोर्मध्ये यत्परत्वं तत्पूर्वत्वमुच्यते इति चेन्न। कालादौ गुणादौ च तदनङ्गीकारात्तेषामकारणत्वप्रसङ्गात्, तस्मिन्नेव तदभावात् साक्षात्कारिज्ञानादावपि तस्याकारणत्वप्रसङ्गात् ॥ १०२ ॥

तानीति। पूर्वरूपाणीत्यर्थः। निदानेति। तथा च पञ्चधा विभागव्याघात इति भावः। पूर्वकालेति। यद्यपि पूर्वभावित्वमिति पूर्वकालभावित्वमेवोक्तं तथापि पूर्वत्वमात्रं खण्डयितुमेतदुक्तम्। कालस्येति। न हि कालः कालसंबन्धीत्यर्थः। तस्यापीति। कालस्यापीत्यर्थः। अतीतेति। अतीता ये सूर्यस्पन्दादयः उपाधयस्तदवच्छिन्नत्वमेव कालस्य। पूर्वत्वमित्यर्थः। अतीत इति। अतीतत्वं हि पूर्वकालीनविषयत्वमित्यात्माश्रय इत्यर्थः। परत्वं गुणविशेष एव पूर्वत्वमिति शङ्कते—परत्वेति। तस्य मूर्तगुणत्वेन कालावृत्तितया तेषां पूर्वत्वासम्भवादित्याह—कालादाविति। परत्वे परत्वाभावात् परत्वानुपपत्त्या कारणत्वं न स्यादित्याह—तस्मिन्नेवेति। ननु परत्वापरत्वद्वित्वद्विपृथक्त्वादीनामकारणत्वमेवोक्तं वैशेषिकशास्त्रे इति तदकारणत्वं नानिष्टमित्यत आह—साक्षादिति। ज्ञानेतरकार्यापेक्षया तदकारणत्वमुक्तं। न तु ज्ञानेऽपीत्यर्थः। आदिपदात्सुखदुःखपरिग्रहः। तथाचात्मधर्मेतरकार्यापेक्षया तदकरणत्वाभिधानं द्रष्टव्यं भवति हि मम प्रिया परापरा वेति सुखदुःखे ॥ १०२ ॥

यदि कहें कि वे रोग के पूर्वरूप भी कारण (निदान) ही हैं, तो ऐसा होने पर निदान और पूर्वरूप का सांकर्य (संमिश्रण) होगा। वैद्यक ग्रन्थ में इनको भिन्न कहा गया है। वस्तुतः निदान आदि कारण को कहते हैं। पूर्वरूप कार्य की सूक्ष्म पूर्वकालिक अवस्था (स्वरूप) को कहते हैं। अतः दोनों एक नहीं हो सकते। नियतप्राग्भावित्व इस लक्षण का निर्वचन के लिये पूर्व (प्राग्) शब्द का अर्थ भी वक्तव्य है, लक्षण में पूर्वकालसम्बन्धित्वरूप पूर्वत्व नहीं कह सकते, क्योंकि काल के कालसम्बन्धी नहीं होने से उसमें अव्याप्ति होगी। काल को अहेतुत्व प्राप्त होगा। पूर्वकाल शब्द से कथित काल का पूर्वत्व क्या है ? यह भी निर्वचनीय है। अतीत सूर्य-चन्द्रादि की क्रियारूप उपाधि से अवच्छिन्नत्व (व्यावृत्तत्व) काल का पूर्वत्व है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अतीत शब्द में अति उपसर्गपूर्वक इण् धातु से निष्ठा प्रत्यय भूतकालरूप अर्थ में होता है, अतः निष्ठा (त) जिसके अन्त में है ऐसा पूर्वकालवाची अतीत शब्द विवेचनीय है। स्वयं अविवेचितार्थ वाला अन्य के विवेचन के लिये यह समर्थ नहीं है और आत्माश्रय भी होगा। यदि कहें कि कालिक परत्व अपरत्व गुणों में जो परत्व है, वही कालगत पूर्वत्व कहा जाता है, क्योंकि ज्येष्ठ में परत्व रहता है, और कनिष्ठ में अपरत्व रहता है। अतः कनिष्ठ की अपेक्षा से ज्येष्ठ पूर्वादि भी कहा जाता है। परन्तु ऐसा मानने पर, नित्यकालादि में तथा गुणादि में उस परत्व के अनङ्गीकार से उनमें अकारणत्व की प्राप्ति होगी। क्योंकि परत्व के गुण होने से द्रव्य के बिना अन्य में नहीं रहता, और अनित्य द्रव्यमात्रवृत्ति कालिक परत्वापरत्व रहता है, अन्य में नहीं, उस परत्व में ही परत्व के अभाव से उसमें भी पूर्वकाल वृत्तित्व के अभाव से उसको कारणत्व नहीं होगा। यदि कहें कि, परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्वादि के अकारणत्व का ही वैशेषिकशास्त्र में वर्णन है, अतः परत्वादि में अकारणत्व की प्राप्ति इष्ट ही है, तो यह कहना

युक्त नहीं, क्योंकि ज्ञान-सुखादि आत्मधर्म की अपेक्षा अन्य के प्रति उनके अकारणत्व को वैशेषिकशास्त्र में कहा गया है, और उक्त रीति से स्वसाक्षात्कारी ज्ञानादि में भी उस परत्वादि के अकारणत्व की प्राप्ति होगी। परत्वादि का ज्ञान और तन्मूलक सुख-दुःख प्रत्यक्ष होता है, वहां विषयरूप से परत्वापरत्व कारण होता है ॥ १०२ ॥

सामग्र्येकदेशत्वं कारणत्वम् इति चेन्न। एकदेशत्वस्यानिर्वचनत्वात् अवयवत्वप्रदेशत्वादीनां सामग्र्यामसम्भवात्। सकलकारणकलापसमवधानस्यैव च मेलकार्थत्वात्तेनैव तन्निर्वचनत्वात् यदनन्तरं कार्यं भवत्येव सा सामग्री इति चेन्न। विभागानन्तरं संयोगनाशस्योत्पत्तेर्विभागस्यापि सामग्रीत्वप्रसङ्गात् एवं कर्मणो विभागेऽन्त्यतन्तुसंयोगस्य पटे इत्यादि कार्यकारणभावो नाम संबन्धः कोऽपि इति चेन्न, तदा अविशेषेण कार्यकारणसाङ्कर्यापत्तेः कार्यकारणविशेषितत्वात् भेदे तयोः पृथक् निर्वाच्यत्वापत्तेः। कारणत्वं धर्मः कोऽपि इति चेन्न, तत्सद्भावे प्रमाणस्य वाच्यत्वात् ॥ १०३ ॥

अवयवत्वेति। द्रव्यासमवायिकारणस्यावयवत्वात् संयोगविशेषावच्छेदकस्य प्रदेशत्वात्तयोश्च सामग्र्यामसम्भवादित्यर्थः। आत्माश्रयमप्याह—सकलेति। कारणेनैव कारणनिर्वचनादित्यर्थः। आत्माश्रयपरिहाराय कारणबहिर्भावेन सामग्रीं शङ्कते—यदनन्तरमिति। अकारणे चरमकारणे चातिव्याप्तिमाह—विभागेति। कोऽपीति। संयोगसमवायभिन्नो विशिष्यानिर्वाच्य इत्यर्थः। तदेति। संबन्धस्य द्विष्ठतया कार्यमेव कारणं किं न स्यादित्यर्थः। ननु कार्यसंबन्धित्वं कारणसंबन्धित्वं च कार्यत्वमिति न साङ्कर्यमत आह—कार्यकारणेति। यद्वा ननु कार्येण विशेषितात् सम्बन्धात् कारणविशेषितोऽसावन्य एवेति न तयोः साङ्कर्यमित्यत आह—कार्यकारणेति। ननु भावत्वाभावत्वादिवत् कारणत्वमपि कश्चिद्धर्मः सिद्धः। किं तल्लक्षणोपन्यासग्रहेणेति शङ्कते—कारणत्वमिति। अनुगतमतिसाक्षिकेऽपि विशेषव्यवहाराधानाय प्रमाणं पृच्छति—तत्सद्भाव इति ॥ १०३ ॥

सामग्री का एकदेशत्वरूप कारणत्व भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामग्री में एकदेशत्व को अनिर्वचनीयत्व है। सामग्री का एकदेश कहा नहीं जा सकता, कार्यारम्भक द्रव्यरूप अवयव को, या संयोगावच्छेदक प्रदेशादि को एकदेश कहते हैं। उन अवयवत्व-प्रदेशत्वादि का सामग्री में अभाव रहता है। सामग्री शब्द के सब कारण समूह के समवधान के ही मेलकार्थक होने से, उस मेलक से ही कारण के निर्वचन करने पर अन्योन्याश्रय होगा। कारणसमूह से सामग्री का और सामग्री से कारण का निर्वचन युक्त नहीं होगा। यदि कहें जिसके अनन्तर कार्य होता ही है, वह सामग्री है, ऐसा कारणत्व अघटित सामग्री के लक्षण करने पर अन्योन्याश्रय नहीं होगा, तो विभाग के अनन्तर संयोगनाश की उत्पत्ति से विभाग संयोगनाश का सामग्री होगा और इसी प्रकार कर्म को विभाग में और अन्तिम तन्तु संयोग को पट में सामग्रीत्व प्राप्त होगा। यदि कहें कि संयोग समवाय से भिन्न विशेषरूप से अनिर्वाच्य कार्यकारण भाव नामक कोई सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध का अधिकरणत्व कारणत्व है, तो इस प्रकार सम्बन्ध के द्विनिष्ठ होने से, सम्बन्ध में विशेष (भेद) के अभाव से वह सम्बन्ध कार्य में भी रहेगा ही। अतः कार्यकारण के सांकर्य की प्राप्ति नहीं होगी। यदि कहें कि कार्य-

कारण से विशेषितत्व होने से सम्बन्ध में भेद होने पर सांकर्य की प्राप्ति नहीं होगी, अर्थात कार्यसम्बन्धित्व कारणत्व है, और कारणसम्बन्धित्व कार्यत्व है, अतः साङ्कर्य नहीं है, तो भी नन दोनों के पृथक् पृथक् निर्वाच्यत्व की प्राप्ति होगी। और कारणादि के अभी अनिरूपित होने से उसका सम्बन्ध भी अनिर्वाच्य है। यदि कहें कि भावत्व अभावत्वादि के समान विशेषरूप से अनिर्वाच्य कारणत्वरूप कोई धर्म है, उस धर्म वाला कारण कहा जाता है। तो उस धर्म में प्रमाण कहना होगा ॥ १०३ ॥

क्वचित्प्रत्यक्षः स क्वचिद्दृष्टानुमेय इति चेन्न। किं हि प्रति कारणत्वं प्रत्यक्षमुल्लिखेन्न तावदनिर्लुठितकार्यम्, अप्रतीतेः, अन्वयव्यतिरेकादेर्व्यञ्जकस्य च विशेषं प्रत्येव सम्भवात्। नापि सामान्यतो घटादि प्रत्येवं विशेषतो घटाद्यनुत्पत्त्यापत्तेः। तावन्मात्राद्विशेषोत्पत्तेर्विशेषेषु विनिगमना न स्यात् प्रतिविशेषं चोत्पत्तेः प्रागवर्तमानत्वादसन्निकर्षादध्यक्षविषयतानुपपत्तेः ॥

क्वचिदिति। दण्डादौ प्रत्यक्षं परमाण्वादावनुमेयमित्यर्थः। दण्डादौ कारणत्वं प्रत्यक्ष-मुल्लिखत् घटकारणत्वप्रकारकं वा स्यात् कारणत्वप्रकारकं वा स्यात्। द्वितीयं दूषयति—अनिर्लुठितेति। अनिर्णीतकार्यविशेषकारणत्वे प्रतीतिव्यवहारयोरभाव एवेत्यर्थः। अत्र हेतु-माह—अप्रतीतेरिति। ननु दण्डादौ घटत्वसामान्यावच्छिन्नकार्यकरत्वं प्रत्यक्षगम्यं स्यात्तत्र चान्वयव्यतिरेकौ प्रभवत एवेत्यत आह—नापीति। एवं सति दण्डादेर्घटसामान्यमेव स्यात्। ननु घटविशेषः सामान्यकारणत्व एव प्रमाणप्रवृत्तेः विशेषे तदभावादित्यर्थः। ननु सामान्यमपि विशेषोपरक्तमिति सामान्यकारणादेव विशेषोत्पत्तिरपि स्या-दित्याशङ्क्याह—तावन्मात्रादिति। उत्पत्स्यमानविशेष एतद्दण्डजन्य इति विनिगमना न स्यादिति भावः। ननु सामान्यतो न कारणत्वं ग्राह्यमपि तु प्रतिविशेषमित्याशङ्क्याह—प्रतिविशेषमिति तद्युत्पत्स्यमानविशेषकारत्वमध्यक्षं न स्यात्। न हि तदा तद्वर्त्तमान-विशेषघटितत्वेनैव तस्यावर्त्तमानस्यैवाध्यक्षविषयत्वादित्यर्थः ॥ १०४ ॥

यदि कहें कि कहीं घट के कारणरूप दण्डादि में कारणत्वरूप वह धर्म प्रत्यक्ष है, और कहीं उस प्रत्यक्ष में व्याप्ति आदि देख कर कारणत्वरूप धर्म अनुमेय है। अतः प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण हैं, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष यदि कारण का उल्लेख करेगा, तो किस के प्रति कारणत्व का उल्लेख करेगा, अर्थात् दण्डादि में घट के प्रति कारणत्व का प्रकाश करेगा, या केवल कारणत्व का? वहाँ केवल कारणत्वरूप अनिर्णीत = असम्बद्ध कार्य वाले कारणत्व का प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि कारणत्व सप्रतियोगिक (ससम्बन्धिक) धर्म है। कार्यात्मक प्रतियोगी के बिना कारणत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। और कारणत्व के व्यञ्जक (बोधक) अन्वय व्यतिरेक (दण्डादिसत्त्वे घटसत्त्वं दण्डाद्यभावे घटासत्त्वं) का भी विशेष कारण के ही प्रति सम्भव है, सामान्य कारणत्व के प्रति नहीं। यदि कहें कि केवल कारणत्व के प्रत्यक्ष नहीं होते भी सामान्य घटत्वादि से युक्त कार्य के प्रति दण्डादि में कारणत्व का प्रत्यक्ष हो सकता है और वहाँ अन्वय व्यतिरेक भी व्यञ्जक हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, सामान्यरूप से घटादि के प्रति भी कारणत्व का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा होने पर विशेषरूप से घटादि के कार्यकारणभाव में प्रमाण के अभाव से विशेषरूप से घटादि की अनुत्पत्ति होगी। दण्डादि से घट सामान्य ही होगा,

घटविशेष नहीं। क्योंकि सामान्य में प्रमाण की प्रवृत्ति हुई है, विशेष में नहीं। यदि कहें कि विशेष के बिना सामान्य नहीं रहता। अतः सामान्य कारण से ही विशेष की उत्पत्ति होगी, सामान्य के साधकप्रमाण से विशेष कारण की सिद्धि होगी, तो तावन्मात्र (सामान्य मात्र) कारण से विशेष कार्य की उत्पत्ति होने से विशेष कार्यों में विनिगमना (नियम) नहीं होगा कि अमुक कार्य का अमुक ही कारण है या होगा। अतः कार्य विशेष के लिये कारणविशेष के ग्रहणादि विषयक प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। यदि कहें कि सामान्यरूप से कारणत्व का ग्रहण नहीं होता किन्तु तत्तत् विशेष कार्य के प्रति प्रत्यक्ष से कारणत्व का ग्रहण होता है, तो यह कहना असंगत है। क्योंकि, विशेष तत् तत् कार्य के प्रति कार्य की उत्पत्ति से पूर्वकाल में कारणता का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जिस कार्य से निरूपित जिससे विशिष्ट कारणता का ग्रहण करना है, उस भावी कार्य के पूर्वकाल में अवर्तमानत्व से इन्द्रिय के साथ असम्बन्ध होने के कारण भावी कार्य विशिष्ट कारण का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ॥ १०४ ॥

कार्यसत्त्वकालश्च सामग्र्यभावान्न तज्जननकाल इति तदानीं तज्जनन-विशिष्टता कथमध्यक्षा स्यात्। प्राक् तदग्रहणेन च संस्कारसाचिव्यस्याप्य-सम्भवात्। एवं च क्वचिदपि हेतुत्वे साक्षात्कारासम्भवेन किं मूलव्याप्ति-ग्रहात्तत्रानुमापि स्यात्प्रतिबन्दी चानिर्वचनीयवादिनि न स्थाने कादाचि-त्कत्वानुपपत्त्या तद्ग्रह इति चेन्न, वैयधिकरण्यात् कथमपि सामानाधि-करण्ये तदुपपादकस्योपपाद्यवदनुपपत्तावविशेषादविश्रान्तेर्नानादित्वेनापि शक्योपपादना वैयधिकरण्येऽप्युपपाद्यासंबन्धश्चेदनियमः संबन्धश्चेदवि-श्रान्तिरिति। एतेन शक्तेः कारणत्वमित्यपि निरस्तम् ॥ १०५ ॥

ननु यदा यत्कार्यमुत्पद्यते तदा तद्घटितं कारणत्वं वर्त्तमानत्वात् प्रत्यक्षं स्यादित्या-शङ्क्याह—कार्यसत्त्वकाल इति। कार्योत्पत्त्यनन्तरं च प्रागभावस्याभावाद्दण्डस्यापि सामग्रीं विना कृतस्य न जनकत्वमिति कथमध्यक्षता तस्य स्यादित्यर्थः। ननु प्रत्यभि-ज्ञायां तत्तांशवत् संस्कारोपकारणत्वं प्रत्यक्षं तत्र स्यादित्याशङ्क्याह—प्रागिति। उत्पत्स्य-मानविशेषं प्रति दण्डकारणत्वस्याननुभूततया संस्काराविषयत्वादित्यर्थः। ननु कारण-त्वमनुमेयं स्यादित्यत आह—एवमिति। अनुमानमपि प्रत्यक्षोपज्ञमिति तदभावा-दित्यर्थः। ननु कारणत्वग्रहमन्तरेण परप्रतिपत्त्यर्थं तवापि वाग्व्यवहारो वा तोयपानादौ प्रवृत्तिर्वा कथं स्यादित्यत आह—प्रतिबन्दीति। न स्थाने नोचितेत्यर्थः। प्रतिबन्दि-खण्डनस्य कृतत्वादिति भावः। अर्थापत्तिं कारणत्वे शङ्कते—कादाचित्कत्वेनेति। यदि कारणत्वं न स्यात्तदा कार्याणां कादाचित्कत्वं न स्यादित्यर्थापत्तिरुपपाद्या कादाचित्कव्य-धिकरणस्योपपादकस्य कारणत्वस्य कल्पनायां कथं प्रभवेत्। अन्यथा देवदत्तीयगृहा-सत्त्वे न यज्ञदत्तबहिःसत्त्वमपि कल्पनीयं स्यादित्याह—वैयधिकरण्यादिति। ननु कार्ये यत्कादाचित्कत्वं धर्मः स कार्यस्य सकारणत्वं समानाधिकरणमेवाक्षिपतीत्याशङ्क्याह—कथमिति। एवं सकारणत्वमपि स्वकीयं सकारणत्वं समानाधिकरणमाक्षिपेदित्यनवस्था। नहि परस्तत्रानुपपत्तिं न ब्रूयात् कार्येण कारणमाक्षेप्यं तेन तेनापीति वानवस्था। नच तत्रानादित्वं परिहारस्तत्रापि प्रमाणस्य वाच्यत्वात् बीजाङ्कुरादिदर्शनात्तदन्यथानुपपत्तिश्च नानादित्वे प्रमाणम्। कार्यकारणभावानुपपत्तेरेवमापाद्यमानत्वादिति भावः। वैयधिक-रण्ये दोषान्तरमाह—वैयधिकरण्येऽपीति। उपपाद्योपपादकयोरसंबन्धेऽर्थापत्तिरनुपपन्ना

अर्थापत्त्याभासानवकाशात्संबन्धश्च तयोः संबन्धान्तरनियत एव । अन्यथा पुनरविशेषादर्थापत्त्याभासानवकाश एवेति संबन्धाविश्राम एवेत्यर्थः। अवैयधिकरण्येऽपीत्यकारप्रश्लेषेण केचिद् व्याचक्षते संबन्धासंबन्धविकल्पस्तत्रापि तुल्य एव। मीमांसकमते दोषमाह—शक्तिरिति। तत्रापि प्रमाणाभाव एव उक्तरीत्या भवदभ्युपगमाच्च न तत्राध्यक्षं तदभावाच्च तन्मूलकव्याप्तिग्रहाभावान्नानुमानम् । न चार्थापत्तिरुक्तदोषादित्यर्थः। कारणत्वमभ्युपेत्य दोषान्तरमाह—॥ १०५ ॥

यदि कहें कि जिस समय कार्य उत्पन्न होता है, उस समय कार्ययुक्त कारणता की वर्तमानता से कारण का प्रत्यक्ष से ग्रहण होगा, तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि कार्यकाल में कार्य से पूर्व काल नहीं रहता। और पूर्वकाल कारण का विशेषण है, अतः विशेषण के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध के (बिना) विशिष्ट कारण का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। और कार्य की उत्पत्ति होने से कार्य सामग्री के अन्तर्गत प्रागभाव का अभाव हो जाता है, अतः कार्य का सत्त्व (वर्तमानत्व) काल सामग्री के अभाव वाला रहता है। अतः वह उत्पत्ति काल रहता है, तो उस समय जननविशिष्टतारूप कारणता का प्रत्यक्ष कैसे होगा? अर्थात् प्रागभाव से रहित दण्डादि घटादि की कारणता से रहित हो जाते हैं। अतः उनका प्रत्यक्ष कारणता का प्रत्यक्षरूप नहीं हो सकता, जैसे प्रत्यभिज्ञा में संस्कार द्वारा तत्तांश भासता है, वैसे भी संस्कार द्वारा कार्यता कारणता का ज्ञान कार्य की उत्पत्ति के बाद नहीं हो सकता, क्योंकि कार्योत्पत्ति से पूर्वकाल में उस कारणता के अग्रहण से प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रत्यभिज्ञा के समान यहाँ संस्कार के साचिव्य (साहाय्य) का भी असम्भव रहता है। इस रीति से कहीं किसी काल में हेतुत्वविषयक साक्षात्कार के असम्भव होने के कारण व्याप्तिज्ञान भी किस प्रमाण मूलक होगा जिससे कारणत्व की अनुमिति भी होगी। अर्थात् अनुमान से भी कारणता का ज्ञान नहीं हो सकता। अनुमान से व्याप्तिज्ञान मानें तो अनवस्था होगी। यदि कहें कि कारणता का ज्ञान न हो तो वाग् व्यवहार में परबोधजनकत्व के ज्ञान बिना आप का वाग्व्यवहारादि कैसे होता है? तृषा निवृत्ति के लिये जलपान में प्रवृत्ति कैसे होती है? तथा जगत् का कारणरूप से ब्रह्म कैसे मानते हैं? तो अनिर्वचनीयतावादी के प्रति यह प्रतिबन्दी उचित नहीं है और प्रतिबन्दी का खण्डन भी किया गया है। यदि कहें कि प्रत्यक्ष अनुमान से कारणत्व का ज्ञान नहीं हो, तो भी अर्थापत्ति से उस का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि कार्यगत कादाचित्कत्व (असर्वकालिकत्व) की अनुपपत्ति से कारण की कल्पना होती है, घटादि यदि कारण रहित होते तो आकाशादि के समान नित्य सदातन होते, ऐसा नहीं है, अतः कारण वाले हैं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि कादाचित्कत्व कार्य में रहता है और कारणत्व कारण में रहता है। अतः व्यधिकरणता से कादाचित्कत्व कारणत्व का कल्पक नहीं हो सकता। यदि कहें कि कार्य में जो कादाचित्कत्व धर्म है, वही कार्य का सकारणत्वरूप है, अतः सामानाधिकरण्य है, या कार्य कारण में तादात्म्य (अभेद) होने से सामानाधिकरण्य है, तो किसी प्रकार सामानाधिकरण्य के होने पर भी कारण के सदातनत्व से कार्य में भी सदातनत्व की प्राप्ति होगी। अतः कारण भी अपने उपपादक का कल्पक होगा। कारण यह है कि उस कार्य के उपपादक (कारण) की

अपने उपपाद्य के समान अनुपपत्ति (कारण के बिना असिद्धि) होने पर कार्य कारण में अविशेषता से कारण-कल्पना की विश्रान्ति नहीं होगी। अत एव अनवस्था होगी। और बीजाङ्कुर के समान अनादि कार्य-कारण प्रवाह मानें, तो वह अनादिता भी उपापादन योग्य नहीं है, क्योंकि उस अनादिता में प्रमाण कहना होगा, वह अशक्य है। बीजाङ्कुर का प्रवाह दृष्ट है। और कार्य-कारण के स्वरूप ही में विप्रतिपत्ति है, तो अदृष्ट प्रवाह की कल्पना कैसे होगी? और उपपाद्य-उपपादक (कार्यत्व-कारणत्व) के व्यधिकरणता पक्ष में उपपाद्य को उपपादक के साथ सम्बन्ध के बिना यदि उपपाद्य उपपाक की कल्पना का हेतु हो, तो अनियम प्राप्त होगा। सब कार्य से सब कारण की अविशेषता से कल्पना होगी, या अनियत रूप से, जिस किसी कार्य से जिस किसी कारण की कल्पना होगी और यदि सम्बन्ध माना जाय तो सम्बन्ध का भी सम्बन्ध मानने पर अनवस्था ही होगी। इसी से कारणवृत्ति कार्यानुकूलशक्ति कारणत्व है, यह मीमांसामत भी निरस्त हो गया। क्योंकि उसमें भी उक्त रीति से प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है, अतीन्द्रिय शक्ति की प्रत्यक्षादि से सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १०५ ॥

किञ्च प्रत्यक्षप्रमितौ विषयस्यापि सन्निकर्षव्यापारकस्य कारणतया स्ववृत्त्यापत्तेः, अन्यथाऽक्षस्यापि कारणत्वं न स्यात्, अनुविधानाविशेषाद्विषयाविशेषिताक्षसंनिकर्षस्य तथात्वेऽत्यापत्तेः क्वचित्कारणाकारणत्वविवादस्य चानुच्छेद्यत्वापत्तेः। एकेन तस्य दृष्टेरपरेण चादृष्टेः तल्लक्षणस्य च नियतपूर्वभावित्वादेः कथने कथितदोषापत्तेः ॥ १०६ ॥

किञ्चेति। कारणत्वं स्वसन्निकर्षद्वारा प्रत्यक्षकारणं वाच्यमिति कारणत्वेऽपि कारणत्वं वाच्यं तद्यदि स्वाभिन्नं तथापि प्रत्यक्षे विषयतया कारणं तदवश्यं वाच्यमित्यर्थः। सन्निकर्षेणैवान्यथासिद्धौ दण्डमाह—अन्यथेति। अनुविधानेति। अन्वयव्यतिरेकतौल्यादित्यर्थः। ननु सन्निकर्षमात्रं कारणं न तु सन्निकर्षप्रतियोग्यपीति कारणत्वस्याध्यक्षत्वेऽपि न कारणत्वमत आह—विषयेति। एवं सति यत्किञ्चित्त्वेऽसन्निकर्षादेव प्रत्यक्षमुत्पद्येतेत्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। कारणत्वप्रत्यक्षत्वे च दोषान्तरमाह—क्वचिदिति। प्रत्यक्षेण तन्निर्णयान्निर्णीते च विवादानवकाशात् अवकाशे चानुच्छेद्यत्वापत्तेरित्यर्थः। ननु कारणत्वस्याननुगमादेव विवाद उच्छेत्स्यत इत्यत आह—एकेनेति ॥ १०६ ॥

प्रत्यक्ष का विषय कारण होता है, इस प्रकार कारणत्व मान लें, तो प्रत्यक्षरूप प्रमा में सन्निकर्षरूप व्यापार वाले विषय की भी प्रत्यक्ष आदि में कारणता होने से कारण को स्ववृत्तिता (आत्माश्रयता) प्राप्त होगी अर्थात् कारणत्वयुक्तविषय में प्रत्यक्षविषयत्व होगा, वहाँ कारणत्वयुक्त विषय उस प्रत्यक्ष में विषयरूप से कारण होगा तो प्रत्यक्षज्ञाननिरूपितकारणत्व के प्राथमिक कारणत्व में भी रहने से आत्माश्रयता होगी। और यदि कारण में ज्ञानरूपकार्यतानिरूपितकारणत्व भिन्न मानें तो कारणत्व की अनवस्था होगी और कारणत्व का अननुगम भी होगा। यदि कहें कि कारणतायुक्तकारणरूप विषय को इन्द्रिय सन्निकर्ष के प्रति स्वप्रत्यक्षता के लिये कारणता होती है, प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति नहीं, अतः उक्त दोष नहीं है, तो विषय को उक्त रीति से ज्ञान में कारण नहीं मानने पर इन्द्रियों को भी उक्त रीति से ज्ञान में कारणता नहीं होगी, फिर इन्द्रिय-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, इत्यादि नियम नहीं रहेगा। यदि कहें कि प्रत्यक्ष

ज्ञान इन्द्रियों के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुविधान (अनुसरण) करता है, अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है, तो अन्वय एवं व्यतिरेक का अनुविधान विषयों के साथ भी इन्द्रियों के समान ही है, उसमें विशेषता नहीं है। यदि कहें कि विषय का सम्बन्धमात्र प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण होता है, उस सम्बन्ध का प्रतियोगी (सम्बन्धवाला विषय) कारण नहीं होता, अतः कारणत्वविषयक प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षविषयरूप कारणगत कारणत्व कारण नहीं होता, तो इस प्रकार विषय से अविशेषित (विषयविशेष से अनिरूपित) इन्द्रिय सम्बन्ध में कारणत्व की प्राप्ति होगी। जिस किसी के साथ सम्बन्ध से विषय का ज्ञान होगा और ऐसा होता नहीं है। ऐसे ही विषयविशेषित सम्बन्ध के बिना विषय का ज्ञान नहीं होता। यदि कारणत्व का प्रत्यक्ष हो, तो अभाव के प्रत्यक्ष कारणादिविषयक किसी का विवाद होता है, वह नहीं होना चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष से निर्णीत विषय में विवाद नहीं होता और प्रत्यक्ष निर्णीत्त विषय में विवाद हो तो उसका कभी उच्छेद (अभाव) नहीं हो सकता। यदि कहें कि नैयायिक ने अभावज्ञान में उस इन्द्रिय कारणता को माना है, और मीमांसक ने अनुपलब्धि को अभावज्ञान में कारण मानने के कारण इन्द्रियकारणता को नहीं माना, अतः विवाद होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्षकारणत्व के विषय में अन्यत्र भी विवाद होता है, फिर अन्वयव्यतिरेक के दर्शनादिमूलक विचारादि से विवाद की निवृत्ति भी हो सकती है, विवाद अनुच्छेद्य नहीं है, तो यह कहना असंगत है, क्योंकि विवाद निवृत्त्यर्थक कारण ज्ञान के लिये, नियतपूर्वभावित्वादि जो उस कारण के लक्षण हैं, उनके कथन में पूर्वकथित्त दोषों की प्राप्ति कारण का ज्ञान होना और विवाद का निवृत्त होना असम्भव है ॥ १०६ ॥

विना च तच्चिन्हाद्भ्रमसन्दोहौ तत्र किं दर्शनादुच्छेद्यौ अक्षेण हेतुधर्मिणि दृष्टेऽपि तदद्दृष्ट्या यदभ्युपगमोऽक्षसहकारी वाच्यः तदर्थेन सिद्धेन हेतुधियोर्थवत्त्वे सम्भवति तदन्यार्थकल्पनागौरव कुतोबलात्सिद्ध्येत् । यस्यान्वयानुविधानादेरनुमेयहेतुत्वे व्योमादावनुपपत्तेः, तदन्यत्वसिद्धिः ? इति चेन्न, अन्योन्याश्रयापत्तेः। प्रत्यक्षस्यान्यस्मिन् विषये सिद्धेऽन्यत्र दृष्टान्तेन तदनुमानं तत्सिद्धौ च प्रत्यक्षस्यान्यविषयतासिद्धिः ॥ १०७ ॥

येन कारणत्वं दृष्टं तेनादृष्टकारणत्ववादिनं प्रत्यनुमानार्थं नियतपूर्ववर्त्तित्वादि यल्लिङ्गमुपादेयं तत्सर्वं खण्डितमेवेत्यनुमापकलिङ्गाभावादेव न विवादोच्छेदमुक्त्वा स्वारसिकभ्रमसंशयानुच्छेदमाह—विना चेति। विशेषदर्शनमन्तरेण न भ्रमसंशयोर्निवृत्तिर्विशेषश्च नियतपूर्ववर्त्तित्वादिविह्नभूतं तच्च दूषितमेवेत्यर्थः। दण्डे दृष्टेऽपि कारणत्वं तत्र व्यञ्जकाग्रहान्न ग्राह्यं व्यञ्जकं च तस्य यद्यस्ति तदा तदेव कारणत्वपदे तिष्ठता किं कारणत्वाङ्गीकारेणेत्याह—अक्षेणेति। हेतुरूपो धर्मी दण्डादिः तददृष्ट्याकारणत्वादृष्ट्या यदभ्युपगमे इति। योऽभ्युपगम्यमान इत्यर्थः। तदर्थेनेति। अभ्युपगमविषयेण कारणत्वव्यञ्जकभूतेनेत्यर्थः। हेतुधिय इति। हेतुत्वविशिष्टधिय इत्यर्थः। तदन्येति। व्यञ्जकादन्यो योऽर्थः कारणत्वं तत्कल्पनागौरवं कुतो बलात्सिद्ध्येत् कथमभ्युपगम्येतेत्यर्थः। ननु व्यञ्जकत्वं क्वचिदन्वयव्यतिरेकित्वं क्वचिच्च व्योमादिकारणत्वानुरोधेन धर्मिग्राहकं प्रमाणमिति व्यञ्जकाननुगमेऽपि व्यङ्ग्यं कारणत्वमनुगतमवश्यकं कल्पनीयमिति शङ्कते—तस्येति। अनुमेयहेतुत्वे इति बहुव्रीहिः। तदन्यत्वसिद्धिरिति। व्यञ्जकापेक्षया कारणत्वस्यान्यत्वसिद्धिरित्यर्थः। यदि प्रत्यक्षस्य कारणत्वं विषयः स्यात्तदा तद्दृष्टान्तेन व्योमादावपि

व्यञ्जकातिरिक्तं कारणत्वमनुमेयं तत्र यदि कारणत्वमनुमेयं तदा प्रत्यक्षस्यापि व्यञ्जक-भिन्नकारणत्वविषयत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति परिहरति—अन्योन्येति ॥ १०७ ॥

और कारणत्व के लक्षण के विना कारणत्वविषयक भ्रम और सन्देह किस के दर्शन से उच्छेद्य होंगे। क्योंकि विशेष दर्शन के विना भ्रम एवं संशय निवृत्त नहीं होते और नियतपूर्ववृत्तित्वादिविशेषरूप जो लक्षण हैं वे खण्डित हो चुके हैं, अतः प्रत्यक्ष से संशयभ्रमरहित कारणत्व का ज्ञान अशक्य है। और कभी इन्द्रिय से हेतुरूप धर्मी के प्रत्यक्ष होने पर भी उस कारणत्व के अदृष्ट होने से कारणत्व के ज्ञान में इन्द्रिय में सहकारित्व स्वीकृत है। सिद्ध सहकारी उसी अर्थ से कारणबुद्धि के अर्थवत्त्व सम्भव होते उससे अन्य कारणत्वरूप अर्थ का कल्पनारूपगौरव किस बल से सिद्ध हो सकता, अतः इन्द्रियसहकारी से अतिरिक्त कारणत्व के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय प्रमाण नहीं हो सकती। यदि कहें कि इन्द्रियसहकारित्वरूप व्यञ्जकत्व (हेतुत्व) कहीं (दण्डादि में) अन्वय-व्यतिरेकरूप है। और शब्दादि के कारण आकाशादि में व्यतिरेक के अभाव से धर्मी का ग्राहक अनुमान सहकारीरूप आकाश के कारणत्व ज्ञान में है, अतः व्यञ्जक के अननुगम होने से अतिरिक्त अनुगत कारणत्व मन्तव्य है। क्योंकि, जिस दण्डादि के धर्मरूप कारणत्व के अन्वयानुविधानादि से अनुमेयहेतुत्वरूप होने पर भी व्योमादि में उससे अनुमेयहेतुत्व की अनुपपत्ति से उस व्यञ्जक की अपेक्षा कारण के अन्यत्व की सिद्धि होती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी। व्यञ्जक से अन्य प्रत्यक्षकारणत्व के गगनादि से अन्यदण्डादि से सिद्ध होने पर उस दृष्टान्त से गगनादि में कारणत्व की सिद्धि होगी और गगनादि में अन्वय-व्यतिरेकादिरूप व्यञ्जक के अभाव से व्यञ्जकातिरिक्त कारणत्व की सिद्धि होने पर उसके अनुसार दण्डादि में भी व्यञ्जक से अतिरिक्त कारणत्व की सिद्धि होगी। अर्थात् अनुमान से आकाश में विलक्षण कारणत्व के सिद्ध होने पर प्रत्यक्ष व्यञ्जक से अन्यविषयकत्व की सिद्धि होगी, अतः अन्योनाश्रय होगा ॥१०७॥

तस्य चानागन्तुकत्वे प्रागपि तत्सत्त्वादस्तीति मतिवत्करोतीति प्रमापातः आगन्तुकत्वे च तदुत्पत्तेः प्राक् कारणत्वं क्वापि न स्यात्तथाप्यरजतत्वे घटाद्यपि किं न तथा स्यात् व्यावृत्तेषु तेष्वनुगतौ च सर्वं प्रति सर्वकारणत्वप्रसङ्गात्। प्रतिकार्यव्यक्ति तत्पृथक् इति चेन्न, साधारणस्यापि तद्गतस्य स्वरूपस्य घटादिकारणात्मतयानुवृत्तौ घटकारणत्वस्यापि स्तम्भकारणत्वापत्तेः ॥ १०८ ॥

दोषान्तरमाह—तस्य चेति। कारणत्वं दण्डादौ यदि नित्यं तदा सर्वदा करोतीति मतिः स्यात् अनित्यत्वे तु तदुत्पत्तेः पूर्वं कारणत्वं न स्यात् तथा च तदुत्पत्तिरपि न स्यादित्यर्थः। ननु कारणत्वमनित्यमपि न जायते एवेत्यत आह—तथापीति। दोषान्तरमाह—व्यावृत्तेष्विति। घटादिकारणेषु दण्डादिष्वेकमनुगतकारणत्वं चेत्तदा दण्डादेः सकलकार्यकारणत्वापत्तिः। नहि गौः कश्चित्प्रत्यगौरित्यर्थः। कारणत्वं घटादिप्रत्येकनिरूपितमेवेत्याशङ्कते—प्रतिकार्यव्यक्तीति। अनुगतप्रतीतिसाक्षिकमनुगतं यत्कारणत्वं तद्यदि घटादिप्रतियोगिकत्वविश्रान्तमेव तदा घटकारणमेव पटादिकारणं स्यादित्याह—साधारणस्यापीति ॥ १०८ ॥

यदि वह कारणत्व अनागन्तुक (नित्य) हो तो कार्योत्पादन काल से पहले भी उस कारणत्व के कारण में रहने से जैसे दण्डत्व की सत्ता पहले रहने से (दण्डोऽस्ति) दण्ड है, यह व्यवहार तथा बुद्धि प्रमा होती है, वैसे (करोति) दण्ड कार्य करता है ऐसी भी प्रमा बुद्धि होनी चाहिये, क्योंकि कर्तृरूप कारण की विवक्षा काल में क्रियावत्व ही कारणत्व होगा और आगन्तुक (कार्यस्वरूप) कारणत्व के होने पर, कारणत्व के एक होने से उसको उत्पत्ति से प्रथम कहीं भी कारणत्व नहीं रहेगा और कारणत्व के नहीं रहने से कारणत्व की उत्पत्ति भी नहीं होगी। कारणत्व के आगन्तुक होने पर भी यदि किसी कारणत्वयुक्त कारण से उसको उत्पन्न नहीं मानें (यदृच्छा सिद्ध मानें) तो घटादि कार्यों को भी वैसा यदृच्छासिद्धत्व क्यों न हो ? जिससे कारणत्व की आवश्यकता ही नहीं हो। और व्यावृत्त (स्वरूप से भिन्न भिन्न) चक्र, दण्ड, तन्तु एवं वेमादि कारणों में कारणत्व एक अनुगत हो तो सब कार्य के सब कारण में कारणत्व प्राप्त होगा, क्योंकि जैसे गौ सब के प्रति गौ है, वैसे कारण सब कार्य के प्रति कारण है। यदि कहें कि तत् तत् कार्यव्यक्ति से निरूपित कारणत्व पृथक्-पृथक् है अतः सब कारण से सब कार्य नहीं होता, तो यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि साधारण भी उस कारणगत कारणबुद्धिविषयस्वरूप को घटादि के कारणात्मकस्वरूप में अनुवृत्ति (वर्तमानता) रहने पर घटकारणत्व में भी स्तम्भकारणत्व की प्राप्ति होगी, अतः घटकारण से भी स्तम्भ उत्पन्न होगा ॥ १०८ ॥

कारणत्वमात्रेण तदनुगतं रूपं न घटकारणत्वादिना इति चेन्न, घटादिविशेषानुपहितकारणत्वमात्रस्य किं प्रतीत्य निर्देश्यस्य सद्भावे प्रमाणाभावात्, अन्यथा यदि किञ्चित्प्रतिकारणे सामान्यतः कारणत्वं नाम धर्मः स्यात्तदा तस्या एव व्यक्तेः किञ्चित्प्रत्यकारणत्वादकारणत्वमपि रूपं तत्र स्यादित्यनपेक्षितविशेषकारणत्वाध्यासाद्भेदेनैकमात्रमेवोच्छिद्येत्। किञ्च कार्यव्यक्तेः कारणमस्ति न वा ? न चेन्नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गः। अस्ति चेत्किं तत्कारणम् ? व्यक्तिविशेष इति चेन्न, पूर्वादिभावस्य रासभादिसाधारणत्वात्तां कार्यव्यक्तिं प्रति तस्याः किं तत्कारणत्वम् ॥ १०९ ॥

ननु कारणत्वमन्यदन्यच्च घटकारणत्वमिति सामान्यविशेषरूपतया घटकारणमेव स्तम्भादिकारणं कथं स्यादिति शङ्कते—कारणत्वेति। कारणपदार्थः न प्रतियोगिक एव प्रतीयत इति निष्प्रतियोगिककारणत्वसामान्यमप्रामाणिकमेवेति परिहरति—घटादीति कारणत्वसामान्याङ्गीकारे दण्डमाह—अन्यथेति। कार्यविशेषोपहितकारणत्वमेव यदि कारणत्वं तदा कार्यविशेषे तदकारणत्वमपीति कारणत्वाकारणत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात्स्वतोऽपि दण्डो भिन्नः स्यादित्यर्थः। ननु घटस्य कारणमस्ति न वा ? अन्त्ये नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यस्यानपेक्षणादिति नित्यसत्त्वासत्त्वान्यतरप्रसङ्गः। यदि च घटव्यक्तेः कारणमस्ति तदा तत्स्वरूपं वक्तव्यमित्याह—किञ्चेति। न तु दण्डादिव्यक्तिविशेष एव घटव्यक्तिकारणमिति शङ्कते—व्यक्तिविशेष इति। भवतु व्यक्तिविशेष एव कारणं तथापि तस्या दण्डादिव्यक्तिविशेषस्य घटव्यक्तिविशेषं प्रति किं कारणत्वमिति पृच्छति—पूर्वादिभावस्येति। तद्व्यक्तिपूर्वसत्त्वमात्रं रासभादावतिव्याप्तमिति तद्वाच्यमित्यर्थः ॥ १०९ ॥

यदि कहें कि 'कारणं कारणम्' इस सामान्य बुद्धि से कारणत्वमात्रस्वरूप से उस

कारणत्व का कारणमात्र में अनुगतस्वरूप गृहीत होता है, घटकारणत्वादिरूप से नहीं और कारण में दोनों स्वरूप रहते हैं, वहाँ घट कारणत्वादिरूप से कारणत्व होने से सब कारण से सब कार्य नहीं होता, तो ऐसा कहना असंगत है, क्योंकि तत्तत् कार्य-निरूपितकाणत्व तो घटकारणमित्यादि प्रतीति से सिद्ध होता है परन्तु घटादि कार्य विशेषोपाधि (प्रतियोगी) रहित कारणत्वमात्र के अयोग्यसामान्य कारणत्व के सत्त्व में प्रमाण के अभाव से उक्त व्यवस्था नहीं हो सकती। तत्तत् कारणत्व से भिन्न सामान्य कारणत्व मानने पर यदि घटादि के प्रति विशेष कारण में सामान्यरूप से कारणत्वनामक धर्म होगा, तो जो एक कारण व्यक्ति किसी के प्रति कारणत्व वाली है, उसी व्यक्ति में किसी के प्रति अकारणत्व से उसमें अकारणत्व भी रहेगा, तो इस प्रकार विशेष की अपेक्षा रहित कारणत्व तथा अकारणत्व के एक में अध्यास (आरोप प्रतीति) से वस्तु में भेद होने के कारण एक कारण वस्तुमात्र उच्छिन्न हो जायगा और जो एक कार्य व्यक्ति है, उसका विशेष कारण है ? या नहीं ?, यदि नहीं, तो आकाशादि के समान नित्य सत्त्व या शशशृङ्ग के समान नित्य असत्त्व प्राप्त होगा क्योंकि, सामान्य कारण कारणता के रहते भी आकाशादि नहीं उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उन का विशेष कारण नहीं है। इसी तरह विशेषकारणरहित घट भी नहीं उत्पन्न होगा। यदि कार्य व्यक्ति का विशेष कारण है, तो वह कारण क्या है ? यदि कहें कि दण्डादि विशेष व्यक्ति कारण है, तो भी उस दण्डादि व्यक्ति में कारणत्वरूप विशेष क्या है ? कार्य से पूर्वभावित्व तथा अव्यवहित पूर्वभावित्वादि तो रासभादि साधारण है, उस विशेष कार्य व्यक्ति के प्रति उस कारण व्यक्ति का तत्कार्यनिरूपितकारणत्व क्या है ? यह विचारणीय है ॥ १०९ ॥

स्वरूपमेव इति चेन्न, तस्य व्यावृत्तत्वात्। तस्य तत्कारणात्मत्वे चा-तदात्मनं तत्कारणत्वविरोधात्, तत्कारणत्वस्य च समवाय्यसमवयिनिमित्त-भूतानेकव्यक्तिसाधारण्यात्। अनेकस्य चैकानुगतबुद्धिव्यवहारनिमित्तत्वे गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात्। नियतपूर्वभावित्वम् इति चेन्न, व्याप्त्यर्थस्य नियमस्यैकस्य सर्वत्र व्यक्तावसम्भवात्, पूर्वमात्रस्य चातिप्रसञ्ज-कत्वात्। तज्जातीयं प्रति नियततज्जातीयत्वम् इति चेन्न, तस्य तज्जातीय-व्यक्त्यन्तरसाधारण्यात्। नियततज्जातीयत्वे सति तत्पूर्वत्वम् इति चेन्न, तत्समानकालोत्पत्तिककार्यव्यक्तिशतसाधारण्यात्, तथाभ्युपगमे चैकसम-वायादिनाशे सर्वतत्कार्यनाशप्रसङ्गः ॥ ११० ॥

ननु दण्डादिस्वरूपमेव तदिति शङ्कते—स्वरूपेति। तद्दण्डस्वरूपं चेत्तदा चक्र-स्वरूपं घटव्यक्तिकारणं न स्यादिति परिहरति—तस्येति। अतदात्मनामिति। अण्डात्मनां चक्रात्मनामित्यर्थः। नन्वेकमेवैककार्यकारणमित्याशङ्क्याह—तत्कारणस्येति। ननु प्रतिस्वं व्यावृत्तमेव दण्डादिस्वरूपं घटकारणत्वानुगतव्यवहारं कुर्यादित्या-शङ्क्याह—अनेकस्य चेति। एवं सति गवाकारानुगतमतिरपि व्यक्तिभिरेव स्यात् किं गो-त्वेनेत्यर्थः। ननु घटनियतपूर्वभावित्वमेव रासभादिव्यावृत्तं घटकारणत्वमिति शङ्कते—नियतेति। एकघटव्यक्तिनिरूपितनियमस्य तत्कारणव्यक्तिषु निरूपयितुमशक्यत्वात्सा-मान्यद्वयावच्छेदेनैव नियमनिरूपणादिति परिहरति—व्याप्त्यर्थस्येति। ननु घटत्वा-

वच्छिन्नकार्यं प्रति दण्डादीनां नियतपूर्ववर्त्तित्वं सुग्रहमेवेति शङ्कते—यज्जातीयमिति। एवं सत्येकघटव्यक्तिकारणत्वमपरघटव्यक्तिकारणेऽपि गतमिति व्यक्तिविशेषकारणत्वाभिधानाय प्रवृत्तस्तज्जातीयकारणत्वमात्रमभिधत्त इत्यसंबन्धमिति परिहरति—तस्येति। घटनियतपूर्ववर्त्तिजातीयत्वे सति तद्घटपूर्ववर्त्तित्वं तद्घटकारणत्वं न च घटान्तरकारणेषु व्यक्तिविशेषपूर्वसत्त्वमिति नातिप्रसङ्ग इति शङ्कते—नियतेति। एकस्मिन् घटे जायमाने यत्र शतं घटा जायन्ते तत्रोक्तरूपमेकघटकारणत्वमपरघटकारणे गतमित्यतिप्रसङ्ग एवेति परिहरति—तत्समानेति। नन्वेकं कपालं भवतु समानकालीननानाघटकारणं को दोष इत्यत आह—तथेति। आदिपदादसमवायिकारणसङ्ग्रहः॥ ११०॥

कार्यव्यक्ति से पूर्वस्थित कारणव्यक्ति का स्वरूप ही कारण है, यह अन्य रासभादि से व्यावृत्त है, ऐसा कहें तो जो कारण है वह भी स्वयं परस्पर व्यावृत्त है। जब दण्डस्वरूप कारण होगा, तो चक्र में अकारणता प्राप्त होगी, क्योंकि दण्डव्यक्ति के कारणस्वरूपत्व होने पर, अदण्डात्मक को उस कारणत्व में विरोध होगा। क्योंकि जो एक व्यक्ति का स्वरूप स्वभाव रहता है, वह अन्य नहीं। और एक कार्य का एक ही कारण हो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि अनेकव्यक्तिस्वरूप कारणत्व हो, और अनुगत एक कारणत्व ज्ञान का जनक हो, तो अनेक को अनुगत व्यवहार और ज्ञान के निमित्त (कारण) गोत्वादि जाति का उच्छेद होगा, यह पीछे दिखाया गया है। यदि कहें कि कार्य से नियत (निश्चित) पूर्वभावित्व (सत्त्व) कारणत्व है, वह रासभादि से व्यावृत्त है, तो व्याप्ति अर्थरूप एक नियम के सब कारण व्यक्ति में असम्भव से प्रतिकारणव्यक्ति में नियम के भेद से यह लक्षण नहीं बन सकता। और नियमरहितपूर्ववृत्तित्वमात्र लक्षण करें, तो रासभादि में अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि तज्जातीय (घटत्व जाति वाले) के प्रति नियतपूर्ववर्तिजाति वाले को कारणत्व है, क्योंकि घटत्व आदि जाति वाले के प्रति दण्डादि जाति वाले में पूर्ववर्त्तित्व अवश्य रहता है, तो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि जो एक घट व्यक्ति के पूर्ववृत्ति है वह तज्जातीयत्व से अन्य घट व्यक्ति के प्रति भी पूर्ववृत्ति कहा जा सकता है। अतः अन्य घटजातीय के प्रति साधारणता से अन्य की कारणता की भी प्राप्ति होगी। यदि कहें कि कार्यपूर्ववर्त्तिनियतजातीयत्व होते हुए तत्कार्यजातीय पूर्ववृत्तित्व कारणत्व है, अतः कार्यान्तर के पूर्ववृत्तित्व के अभाव से उक्त दोष नहीं होगा, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि एक कार्यव्यक्ति के समानकाल वाले सैकड़ों कार्यव्यक्ति और सैकड़ों कारणव्यक्ति में इस लक्षण की साधारणता होगी। एक काल में उत्पन्न होने वाले सब एक कार्यजातीय के पूर्व काल में वर्तमान एक जातीय कारण सब के कारण सिद्ध होंगे, और यदि सब कारण को सब कार्य का कारण माना जाय, तो एक समवायि या असमवायि कारण के नाश से सब कार्यों का नाश प्राप्त होगा। क्योंकि, समवायि तथा असमवायि कारण के नाश से न्याय में कार्य का नाश माना जाता है॥ ११०॥

तत्कालतज्जातीयसर्वसामग्रीतः सर्वतत्कालतज्जातीयोत्पत्तौ सामग्रीभेदस्य कार्यभेदहेतुतया प्रत्येकमिलितसामग्रीत्वविकल्पेन कार्यव्यक्त्यभेदप्रतिव्यक्तिस्वरूपभेदयोरन्यतरप्रसङ्गश्च। समवायित्वं प्रत्यपि साधर्म्यानुविधा-

यिनि नियमेत्यापत्तेः। व्यावृत्तत्वे चानियमात्। नियततज्जातीयत्वे सति तत्सादेश्यम् इति चेन्न, समवायिदेशापेक्षया कार्यकारणयोः सादेश्यनियमानभ्युपगमात्, संयोगिदेशापेक्षया गुणादावसम्भवात्। यथाकथञ्चित्सादेश्यमात्रस्य चातिप्रसञ्जकत्वाद् ॥ १११ ॥

समानकालोत्पत्तिकनानाघटसामग्रीणामनेकत्वे एकोऽपि घटोऽनेकः स्यादेकत्वे वानेकोऽप्येकः स्यादित्याह—"तत्कालतज्जातीये"ति। इदानीं समवायिकारणं विशिष्य खण्डयति—समवायित्वमिति। पटं प्रति तन्तुत्वेन समवायिकारणत्वे सर्वेषां तन्तूनामेकपटसमवायित्वापत्तिः तथाच किञ्चित्तन्तुनाशे सर्वपटनाशः स्यादित्यर्थः। तत्तत्तन्तुत्वेन तु कारणत्वं दुर्ग्रहमित्याह—व्यावृत्तत्वे' इति। अनियमान्नियमग्रहाभावात्सामान्यावच्छेदेनैव तत्तद्ग्रहादिति भावः। ननु यत्पटसमानदेशो यः तन्तुः स च तत्पटसमवायिकारणमिति शङ्कते—नियतेति। तन्तुपटयोरेकत्रांशे वृत्तौ सादेश्यं स्यान्नचैवं त्वयाभ्युपगम्यते इति परिहरति—समवायीति। ननु समवायेन सबन्धेनावयवावयविनोः सादेश्यं न भ्रमः किन्तु संयोगेन तथा च तन्तुपटयोर्भूतले सादेश्यं सम्भवत्येवेत्याशङ्क्याह—संयोगीति। एवं सति गुणकर्मणोः समवायिकारणासङ्ग्रहः तयोस्संयोगाभावादित्यर्थः। नन्ववयवावयविनोरिव गुणगुणिनोरपि कथञ्चित्सादेश्यमस्त्येवेत्याशङ्क्याह—यथाकथञ्चिदिति ॥ १११ ॥

और एक ही काल तथा एक ही जाति वाली सब सामग्री से सब तत्काल और तज्जाति वाले कार्य की उत्पत्ति होने पर सामग्रीभेद को कार्यभेद में हेतुता के कारण प्रत्येक और मिलित सामग्री के विकल्प से कार्यव्यक्ति का अभेद और प्रतिस्वरूप व्यक्ति का भेद इन दोनों में से एक का प्रसंग होगा। अर्थात् एक कालिक एक जाति वाली सब सामग्री मिलित होकर यदि सब कार्य उत्पन्न करेंगे, तो सामग्री भेद को कार्य भेदजनकता होने से सब के सम्मिलित हो जाने से सामग्रीभेद के अभाव द्वारा कार्यव्यक्ति का अभेद प्राप्त होगा। और प्रत्येक सामग्री से एक कार्य की भी एक काल में एक जातीय से उत्पत्ति होने पर उसमें सामग्री भेद से भेद प्राप्त होगा। सामग्रियों के अनेक रहने पर एक कार्य भी अनेक होगा। सामग्री के मिलितरूप से एक रहने पर अनेक कार्य भी एक होगा, यह भाव है। यहाँ तक कारण सामान्य का विचार हुआ। अब वैशेषिक सम्मत कारण विशेष का विचार है। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो, वह समवायिकारण है। कार्य या कारण के साथ एक अर्थ में समवेत कारण असमवायिकारण होता है। जैसे तन्तु संयोग पट का असमवायि कारण होता है। तन्तु का रूप पटरूप का कारण होता है। वहाँ तन्तु का रूप पटरूप के कारण पट के साथ एक तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है वहाँ समवायिकारणत्व के प्रति साधर्म्यानुविधायी नियम के स्वीकार करने पर अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् तन्तुत्वरूप से तन्तु को पट के समवायिकारण मानने पर, सब तन्तुओं में एक पट के समवायिकारणत्व की प्राप्ति होगी। और ऐसा होने पर कुछ एकादि तन्तु के नाश से सब पट का नाश प्राप्त होगा। और यदि व्यावृत्त तत्तत् तन्तुत्वरूप से कारण मानें तो अनियम से कारणत्व का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि, धूमत्वेन वह्नित्वेन जैसे सामान्यरूप से व्याप्तिग्रह होता है, वैसे तन्तुत्वेन पटत्वेन कार्यकारणभाव का नियम गृहीत हो सकता है। तत्तत् तन्तुत्वरूप से नहीं। यदि कहें कि नियत पटकारणतन्तुजाति

वाले होते हुए पट के साथ समानदेशवृत्तित्व पटसमवायिकारणत्व है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि समवायिकारण की दृष्टि से कार्य-कारण के समानदेशत्व को नहीं माना जाता। क्योंकि तन्तु संयोग सम्बन्ध से भूमि में रहता है और समवाय सम्बन्ध से स्वावय अंसु में रहता है। और पट समवाय सम्बन्ध से तन्तु में रहता है, अतः तन्तु में पटकारणत्व असम्भव हो जायगा। यदि समवाय सम्बन्ध से तन्तु पट के समान देशता नहीं होते भी संयोग सम्बन्ध से दोनों की भूतलवृत्तिता से संयोग सम्बन्ध से तुल्यदेशवृत्तित्व मानें, तो भी समवायी के संयोगी देश की अपेक्षा से गुण कर्म को अपने समवायी देश में संयोग सम्बन्ध से वृत्तित्व असम्भव है। वह द्रव्य से अन्यत्र कहीं भी संयोग सम्बन्ध से नहीं रहता। द्रव्य ही का संयोग द्रव्य के साथ होता है, वह नियम है। यदि कहें कि अवयवावयवी के समान गुणकर्म को भी किसी प्रकार स्वसमवायी समान देश हो सकता है, अर्थात् स्वसमवायिसंयोग सम्बन्ध से गुण-कर्म भी भूतल में रह सकते हैं, तो यथाकथञ्चित् सादेश्य (तुल्यदेशत्व) मात्र में अतिप्रसञ्जकत्व (अतिव्याप्तिजनकत्व) होगा (स्वसजातीयसंयोग सम्बन्ध से तन्तुमात्र पटमात्र के कारण होंगे) ॥ १११ ॥

अदृष्टादेभिन्नदेशस्यापि कारणत्वोपगमे सर्वं प्रति सर्वकार्यसामग्र्याः कारणत्वापातात्पूर्वभावनियमादेस्तुल्यत्वात्, अनुगते च रूपेऽन्वयव्यतिरेकसम्भवात्, व्यक्तिगतसामान्ययोरेव कार्यत्वकारणत्वापत्तेः, तद्गतसामान्ययोरन्वयव्यतिरेकादिनियमः व्यक्त्योश्च कार्यकारणतेति लक्ष्यलक्षणभाववैयधिकरण्यात्। सामान्याकारेण प्रविष्टां व्यक्तिमादायान्वयव्यतिरेके विशेषस्याकारणत्वं सामान्याकारेण च पूर्वकार्यत्वं द्रव्यसामग्र्यां वृक्षसामग्र्या शिंशपासामग्र्या च पृथग्व्यक्तिजननापातः, पृथगेव तासां सामग्रीत्वात् सर्वासां च व्यक्तिं प्रत्येव जनकत्वात् द्रव्यत्वादीनामजन्यत्वात् ॥ ११२ ॥

किञ्च त्वयाऽदृष्टादीनां भिन्नदेशानामपि नियतपूर्ववर्त्तिजातीयत्वेन कारणत्वमभ्युपगम्यते इति सर्वत्र सर्वं कारणं स्यादित्याह—अदृष्टादेरिति। पूर्वभावेति। वाराणसीवर्त्तिदण्डस्य पाटलीपुत्रीयपटजातीयपूर्ववर्त्तित्वेन कारणत्वं स्यात्सादेश्यस्त्वस्य त्वयैव तिरस्कृतत्वादित्यर्थः। किञ्च दण्डव्यक्तिघटव्यक्त्योः कार्यकारणभावो न स्यादेव पूर्ववर्त्तितानियमस्य सामान्यद्वयमात्रविश्रान्तत्वादित्याह—अनुगते इति। ननु निर्विशेषं न सामान्यमिति सामान्यावच्छेदेनापि व्यक्तीनामेव कारणत्वं पर्यवसन्नमित्याशङ्क्याह—तद्गतेति। सामान्ययोर्नियतपौर्वापर्यलक्षणं कार्यकारणभावलक्षणं दण्डघटादौ लक्ष्ये नास्तीति वैयधिकरण्यमित्यर्थः। ननु तथापि घटजातीयनियतपूर्ववर्त्तित्वमेव कारणत्वं प्रमाणेन सामान्यस्य परिच्छेद्यमिति विशेषयोरपि कार्यकारणभावः स्यादेव विशेषगर्भत्वात् सामान्यस्येत्याशङ्क्याह—सामान्याकारेणेति। एवं सति विशेषः कारणं न स्यादेव कारणताग्राहकप्रमाणस्य विशिष्टे एव प्रवृत्तेः सामान्यविशिष्टं वस्त्वन्तरमेव कारणं तत्र दण्डादिरित्यर्थः। सामान्याकारेणेति। पूर्वसत एव कार्यत्वं स्यादिति सत्कार्यवादापत्तिरथवा पूर्वमत एव घटस्य भाविदण्डकार्यत्वं स्यादित्यर्थः। किञ्च द्रव्यं वृक्षः शिंशपेतिसामानाधिकरण्यप्रत्ययो न स्यात्सामग्रीत्रयेण कार्यत्रयजननसम्भवादित्याह—द्रव्यसामग्रेति। अत्र हेतुमाह—पृथगेवेति। ननु सामग्रीत्रयेण वृक्षत्वशिंशपात्वादिधर्मत्रयं पृथगेव क्रियते व्यक्तिस्त्व-

भिन्नस्येत्याशङ्क्याह—सर्वासामि'ति । सामान्यत्रयमजन्यमेव तेन तद्भेदो नापाद्यते किन्तु व्यक्तिभेद एव सामग्रीभेदादापाद्यत इत्यर्थः ॥ ११२ ॥

और भिन्नदेशवृत्ती अदृष्ट (पुण्य-पाप) आदि को भी कार्यमात्र के प्रति कारण मान लेने पर, नियतपूर्ववृत्तितामात्र से जैसे अदृष्टादिसमानदेशता के बिना भी कारण होते हैं, वैसे सब समान जाति वाले कार्य के प्रति सब समानजाति वाली सामग्री में कारणत्व की प्राप्ति होगी। क्योंकि, पूर्वकालभाव (सत्त्व) नियमादि सबमें तुल्य रहता है। अतः अदृष्टादि में समानदेशता के बिना कारणत्व मानने पर काशीस्थदण्डादिसामग्री से कहीं अन्यत्र भी पटोत्पत्ति होगी। और दण्डव्यक्ति में कार्यकारणभाव नहीं होगा। क्योंकि, अन्वय-व्यतिरेक से कारणत्व-कार्यत्व का निश्चय होता है। और अनुगत (सामान्य) रुप में अन्वय-व्यतिरेक सम्भव है। अतः व्यक्तिगत सामान्यों (जातियों) में ही कार्यत्व और कारणत्व होंगे। यदि कहें कि निर्विशेष सामान्य के अभाव से सामान्ययुक्तव्यक्ति में कारणत्व सिद्ध होता है, तो भी व्यक्तिगत जातियों (सामान्यों) के अन्वय व्यतिरेकादि का नियमरूप कार्यकारणभाव का लक्षण रहता है। और व्यक्तियों में कार्यता तथा कारणता रहती है, तो इस प्रकार लक्ष्यत्व और लक्षणत्व में व्यधिकरणता होती है। लक्ष्य में लक्षण का अभाव प्राप्त होता है। और अलक्ष्य में लक्षण प्राप्त होता है। यदि कहें कि सामान्य के विशेषयुक्त होने से सामान्य में जो नियतपूर्ववृत्तित्वादिरूप कारणत्व प्रमाण से गृहीत होता है, उसी से विशेषव्यक्तियों में कार्यकारणभाव होगा, तो ऐसा होने पर सामान्याकार से अन्वय-व्यतिरेक के होने पर, उसमें प्रविष्ट व्यक्ति को ग्रहण करके भी उस विशेष (विशेष्य) व्यक्ति में अकारणत्व ही रहेगा, वह कारण नहीं होगा। क्योंकि प्रमाण से सामान्यविशिष्ट में कारणता के ग्रहण से विशिष्टरूप वस्त्वन्तर कारण होगा, दण्डादि नहीं और सामान्याकार से कारण से पूर्वकाल में सत् (वर्तमान) में ही कार्यत्व होगा जिससे सत्कार्यवाद की प्राप्ति से नैयायिक के लिये अनिष्ट होगा। या पहले से वर्तमान घट में भावी दण्ड के प्रति कार्यत्व प्राप्त होगा। क्योंकि दण्डत्वरूप से दण्डमात्र में उक्त रीति से कारणत्व है। और सामान्यरूप से कार्यकारणभाव होने पर (द्रव्यं वृक्षः शिंशपास्ति) द्रव्यरूप वृक्ष सीसो है या सीसो का वृक्ष द्रव्य है, गुणादि नहीं, इस प्रकार सामानाधिकरण्य (अभेद) का ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि, द्रव्यरूप सीसो वृक्ष के एक अभिन्न होने पर भी द्रव्यत्व, वृक्षत्व और शिंशपात्वरूप से भिन्न है और द्रव्यत्वयुक्त कार्य द्रव्य की सामग्री तथा वृक्षत्वविशिष्ट की सामग्री और शिंशपा की सामग्री परस्पर भिन्न हैं, अतः सामग्रीत्रय से कार्यत्रय के जन्म के सम्भव से तीनों सामग्रियों से पृथक् पृथक् व्यक्ति के जन्म की प्राप्ति होती है। सामान्य तो जन्म के योग्य नहीं है। परन्तु उसमें भी अभेद में भेद प्राप्त होता है। क्योंकि उन व्यक्तियों की सामग्री पृथक् पृथक् हैं। और सब सामग्रियों को व्यक्तियों के ही प्रति कारणत्व है क्योंकि द्रव्यत्व एवं वृक्षत्वादि को अजन्यत्व है ॥ ११२ ॥

शिंशपासामग्र्या वृक्षसामग्रीसहिताया एव सामग्रीभावान्न पृथक्

शिंशपाव्यक्तिः इति चेन्न, वृक्षसामग्र्या शिंशपासामग्रीमतीत्यापि शाल-तालादेर्वृक्षस्य जननात् पृथक्तया वृक्षव्यक्तिजननापत्तेः। सापि शिंशपासाम-ग्रीतन्मिलितजनिकेति न व्यक्तिभेद इति चेन्न, शिंशपार्थातिरिक्तवृक्षा-र्थाभावापत्तेः, वृक्षशिंशपासामग्र्योरेकीभूतयोर्जननाविशेषाद् वृक्षसामग्री च वृक्षजनन एव कथं क्वचिच्छिंशपासामग्रीं क्वचित्तमालसामग्रीमपेक्षत इति स्यात्। एकस्य वृक्षलक्षणस्य कार्यस्य सामग्रीभेदे स्वरूपभेदापातात् अनु-गतायाश्च वृक्षसामग्रीत्वे पृथग्वृक्षव्यक्तेः पृथक् शिंशपादिव्यक्तेरुत्पत्त्यापत्ते-रित्यादि स्वयमूहनीयम् ॥ ११३ ॥

ननु शिंशपासामग्री वृक्षसामग्रीमिलितैव जनिकेति शिंशपा कथं वृक्षभिन्ना स्यादि-त्याशङ्कते—शिंशपेति। शिंशपा सामग्रीसाहित्यनियम इति परिहरति—वृक्षसामग्र्येति। ननु तमालादौ शिंशपासामग्रीमन्तरेणापि वृक्षसामग्री भवतु किं तेन प्रकृते वृक्षसामग्रिता शिंशपासामग्रीमादायैवेति कथं व्यक्तिभेदः स्यादिति शङ्कते—सापीति। सा शिंशपासामग्री वृक्षसामग्रीसाहित्यनियता चेत्तदा वृक्षसामान्यसामग्रीतोऽपि प्रकृते वृक्षसामग्री तत्राभिन्नैव वाच्या तदा तदेकवृक्षगतं वृक्षत्वं शिंशपात्वं चाभिन्नमेव स्यात्तत्र वृक्षसामग्र्याः सामान्य-सामग्रीत्वभावादिति परिहरति—शिंशपार्थेति। किञ्च शिंशपातमालसामग्रीमिलता वृक्ष-सामान्यसामग्र्यप्येका कथं तिष्ठेद्येन शिंशपातमालयोर्द्वयोरपि वृक्षत्वाविशेषः स्यादि-त्याह—वृक्षसामग्री चेति। ननु भवतु वृक्षसामग्र्या अपि विशेषसामग्रीद्वयभेदेन भेदः को दोष इत्यत आह—एकस्येति। विशेषद्वयसामग्रीतः सामान्यसामग्री भिन्नैवेत्यत आह—अनुगताया इति। तथा सति विशेषद्वयातिरिक्तं वृक्षरूपं कार्यमनुभूयेतेत्यर्थः॥११३॥

यदि कहें कि वृक्षसामग्रीसहित ही शिंशपा सामग्री में सामग्रीत्व (कारणत्व) है। अतः वृक्ष से पृथक् शिंशपा व्यक्ति उत्पन्न नहीं होती। किन्तु वृक्षरूप ही शिंशपा उत्पन्न होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि शिंशपासामग्री के बिना भी वृक्ष सामग्री से शाल एवं तालादि वृक्ष के जन्म होने से, शिशपा के जन्म स्थान में भी वृक्ष सामग्री द्वारा शिंशपा से पृथक् रूप से वृक्ष व्यक्ति का जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् शिंशपा वृक्ष से भिन्न नहीं हो, क्योंकि उसकी सामग्री वृक्षसामग्रीसहित होकर उसको उत्पन्न करता है, अन्यथा नहीं। परन्तु वृक्ष तो वहाँ भिन्न होगा ही, क्योंकि वृक्ष सामग्री शिंशपा सामग्री की अपेक्षा नहीं करती, यदि वह शिंशपा सामग्री की अपेक्षा करे तो उससे शालादि नहीं उत्पन्न होंगे। यदि कहें कि वह शिंशपासामग्री भी वृक्ष सामग्री से मिलकर दोनों एकरूप होकर शिंशपा को उत्पन्न करते हैं। अतः शिंशपा और वृक्ष व्यक्ति कार्य का भेद नहीं होता, इसी से वृक्ष सामग्री से अन्यत्र शालादि की उत्पत्ति होने पर भी शिंशपा देश में भिन्न वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु ऐसा मानने पर शिंशिपा से भिन्न शिंशपास्थान में वृक्षरूप अर्थ के अभाव की प्राप्ति होगी। फिर वहां वृक्ष शब्द का प्रयोग भी नहीं होगा या पास वृक्षसामग्री में सामान्यसामग्रीत्व के अभाव से उस एक वृक्ष में शिंशपात्व-वृक्षत्व अभिन्न ही होगा। क्योंकि सामग्री भेद से कार्य-भेद होता है, और वृक्ष और शिंशपा की सामग्री एक होकर अविशेषरूपसे कार्य को उत्पन्न करती है तो एकस्वरूप कार्य कैसे होगा? और एक वृक्षसामग्री वृक्ष की ही उत्पत्ति में कहीं शिंशपासामग्री की अपेक्षा करे और कहीं शालादि सामग्री की अपेक्षा

करे यह कैसे होगा ? तत्तदपेक्षित के भेद से वृक्षसामग्री भिन्न हो जायगी, अतः वृक्ष सामग्री एक नहीं रह जायगी। और भी अन्य सापेक्ष होने से केवल दण्डादि के समान सामग्री नहीं कहलायेगी। यदि कहें कि एक वृक्षसामग्री को भी विशेषतालतमालादि सामग्री के भेद से भेद होने में क्या हानि है? तो उत्तर यह है कि एक वृक्षरूप कार्य को सामग्री के भेद होने पर स्वरूप के भेदापत्तिरूप हानि है। और यदि विशेषसामग्रियों से सामान्य अनुगत वृक्षसामग्री के होने पर पृथक् वृक्षव्यक्ति और पृथक् शिंशपादि व्यक्ति की उत्पत्ति होगी, ऐसा होने पर शालतमालादि विशेष वृक्षों से पृथक् सामान्य वृक्ष का अनुभव भी प्राप्त होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं, अतः कारण का सामान्य-विशेष लक्षण अनिर्वाच्य है इत्यादि विषय स्वयं विवेचनीय है ॥ ११३ ॥

नियमे च प्राक्कालतयाभिधीयमाने प्रागित्यस्य व्यवच्छेद्यौ वर्त्तमान-भविष्यत्कालौ प्राक्कालश्च व्यवच्छेदको विवेचनीयः। नच तद्विवेचनं शक्यं वर्त्तमानादिबुद्धय एव स्वविषयवैचित्र्ये प्रमाणम् इति चेन्न, तथाहि वर्त्त-मानादिबुद्धेरेव को विषयः कालविशेष इति चेत्कालस्य विशेषः स्वाभाविक औपाधिको वा? नाद्यः। कालस्य भवद्भिरेकत्वाभ्युपगमात्। य एव च कालो वर्त्तमान इति प्रतीयते स एव पूर्वं भावीति पश्चाद्भूत इति च न प्रतीयेत। त्रिविधस्वभाव एवासौ इति चेन्न, भेदप्रसङ्गात् व्यवस्थानुपपत्ति-प्रसङ्गाच्च। यदेव वर्तते इति प्रत्ययस्तदेव वृत्तो वर्त्तिष्यते इति प्रत्ययः स्यात्। द्वितीयश्चेदुपाधिरभिधीयताम्, सूर्यादिक्रियासंबन्धभेदः स इति चेन्न, भूतभविष्यतोरपि क्रियासंबन्धप्रत्ययस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्, य एव दिवसः सूर्यगतिविशेषावच्छिन्नो वर्त्तते इति प्रतीतः स एव हि तदवच्छिन्नो वृत्त इत्यगम्यते वर्त्स्यन्निति च। नहि निर्विशेषस्य कालस्य तदतीतत्वं वा किन्तू-पाधिविशेषेणैवावच्छिन्नस्य। येनैवासौ पूर्वदिनान्तराद्व्यवच्छिन्नो वर्त्तत इति प्रतीतस्तेनैवोपाधिना तत एव व्यवच्छिन्नो वृत्त इति वर्त्तिस्यत इति च कदाचिज्ज्ञायते ॥ १४ ॥

प्राक्कालीनतायां कारणस्य नियम उक्तस्तत्र पूर्वपदार्थं खण्डयति—नियमेचेति। तदनिरुक्तौ तद्व्यवच्छेद्याप्रतीतौ विशेषणमफलं स्याल्लक्षणं च दुरवधारणमापद्येतेति भावः। ननु विषयवैचित्र्याधीनमित्यतीतत्वेन प्रतीयमान एव कालः पूर्वकाल इति सु-वचनमेवैतदित्याह—वर्त्तमानादिप्रतीतिविषयमेव न विद्म इति सोऽवश्यं निर्वाच्य इत्याह—नेति। एकत्वाभ्युपगमे दोषमाह—य एवेति। एकस्य विरुद्धत्रैविध्यानुपपत्ति-रित्यर्थः। ननु स्वभाव एवास्य प्रतीतिबलात्त्रिविध इति शङ्कते—त्रिविधेति। एकस्य विरुद्धस्वाभाव्यानुपपत्तेरिति परिहरति—नेति। दोषान्तरमाह—व्यवस्थेति। तदेव दर्श-यति—यदेवेति। वर्त्तमान एवातीतत्वादिनापि भासेतेत्यव्यवस्थितिः स्यादित्यर्थः। औपाधिकत्वे दोषमाह—द्वितीय इति। वर्त्तमानत्वमात्रं प्रतिनियतस्योपाधेरभावात्साधा-रणेन चोपाधिना नियतप्रतीतिप्रयोगयोरनुपपत्तिरित्याह—भूतभविष्यतोरपीति। भूत-भविष्यतोरप्यनौपाधिकत्वमित्याह—य एवेति। वर्त्तमानोपाधेरभिन्न एवोपाधिर्भूतभविष्य-तोरपीत्याह—येनैवेति। तथा च वर्त्तमानबुद्धिरेवातीतादिबुद्धिरपि स्यात्तदुपाध्यवच्छेद-रूपविषयाविशेषादित्यर्थः ॥ ११४ ॥

नियतपूर्वकालभावित्व कारणत्व है, इस लक्षण में पूर्वकालतारूप से कथित नियम में प्राक् (पूर्वकाल) इस पद का व्यवच्छेद्य (निषेध्य) वर्तमान और भविष्यत् काल हैं, और वर्तमान कालव्यवच्छेदक (व्यावर्तक) है। यहाँ यह विवेचनीय है। परन्तु इसका विवेचन अशक्य है। इस विवेक के बिना उक्त कारणलक्षण दुर्ज्ञेय है। यदि कहें कि वर्तमानादि काल के विचित्र (विविक्त) बुद्धियाँ ही निजविषय की विचित्रता (विविक्तरूपता) में प्रमाण हैं, क्योंकि विषय की विचित्रता के बिना ज्ञान में विचित्रता नहीं हो सकती, अतः इस विचित्रता से ही वर्तमानकाल का विवेक हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वर्तमानादि ज्ञान का ही क्या विषय है ? यह भी निर्वाच्य है। यदि कहें कि कालविशेष वर्तमानादिबुद्धि का विषय है, तो वह काल का जो विशेष (भेद) है, वह स्वाभाविक है ? या औपाधिक (कारणान्तराधीन) प्रथमपक्ष का अङ्गीकार नहीं कर सकते, क्योंकि आप से काल की एकता मानी गई है। और एक में स्वाभाविक भेद नहीं रह सकता, अतः जो ही एक काल वर्तमान इस रूप से प्रतीत होता है, वही प्रथमभावी था। और वही पीछे भूत हो गया, इस रूप से प्रतीति का विषय नहीं हो सकता। यदि कहें कि एक ही काल त्रिविध स्वभाव वाला है, अतः विरोध नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, स्वभाव के भेद से पदार्थों में भेद होता है। अतः त्रिविध स्वभाव के होने पर काल में भेद की प्राप्ति होगी, एक काल नहीं कहा जा सकेगा। और भूत भावी आदि की व्यवस्था एक काल में स्वभाव भेद को मानने पर भी नहीं हो सकेगी। क्योंकि स्वभाव भेद होने पर भी यदि वस्तु एक है तो जिस काल में (वर्तते) है, ऐसा ज्ञान होता है, उसी समय (बीत गया और होगा ऐसा ज्ञान भी होगा। अर्थात् तीनों व्यवहारज्ञान सदा प्राप्त होंगे। यदि दूसरा औपाधिक भेद पक्ष मान्य हो, अर्थात् काल में औपाधिक विशेष (भेद) मानें, तो वह उपाधि वक्तव्य है। यदि कहें कि सूर्य-चन्द्रादि की क्रियाओं (गतियों) का काल के साथ सम्बन्ध विशेष उपाधि है, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि, वह क्रिया भी निर्विशेष है, और उस काल विशेष से विशेष कहना होगा। परन्तु यहकाल में विशेष की सिद्धि के बिना असम्भव है। अतः जिस क्रियासम्बन्ध से वर्तमानता काल में कहते हैं या कहेंगे, उसी क्रिया के सम्बन्ध से भूत भविष्यत् के ज्ञान को भी अवश्य वक्तव्य होगा। अतः सूर्यगतिविशेषयुक्त दिन है इस प्रकार प्रतीत होता है। वही दिवस उसी क्रिया से युक्त होता हुआ वृत्त (बीता) ऐसा प्रतीत होता है और वर्त्स्यन् (होने वाला) है, ऐसा भी प्रतीत होता है। क्योंकि, निर्विशेषकाल के अतीतत्व या अनागतत्व नहीं प्रतीत होता, किन्तु उपाधिविशेष से अवच्छिन्न के ही अनागतत्वादि भेद भी भासते हैं और उपाधि भी भिन्न नहीं है जिससे भेद की प्रतीति सत्य सिद्ध हो। क्योंकि, जिस क्रिया सम्बन्धरूप उपाधि से पहले वह दिवस दिनान्तर (भूत-भविष्यत्) से व्यवच्छिन्न (व्यावृत्त) होता हुआ वर्तते (विद्यते) ऐसा प्रतीत होता है, फिर उसी उपाधि से उस वर्तमान दिन से ही व्यवच्छिन्न होकर कभी (वृत्तः या वर्त्तिष्यते) हुआ या होगा ऐसा समझा जाता है, अतः औपाधिक भेद भी काल में सिद्ध नहीं होने से वर्तमानता का ज्ञान अशक्य है ॥ ११४ ॥

ननु सत्यमेतत्परं यदा तदुपाधिसंबन्धोऽस्य स्वरूपेणावतिष्ठमानस्तदा वर्त्तमानप्रत्ययो यदा स एव विनष्टो भवति तदा भूतप्रत्ययो यदानागतस्तदा भविष्यत्प्रत्यय इति नैतदस्ति, यद्यत्र लटो विवक्षितोर्थः तदा तज्ज्ञानस्यैव तज्ज्ञानोपायत्वमित्यात्माश्रयानवस्थयोरन्यतरप्रसङ्गः। विनष्टादिशब्दाश्चातीतादिपर्यायाः तेषां सर्वेषामेवार्थे निरूप्यमाणे तन्मध्यपतितमेकं शब्दं प्रयुज्य तन्निरुक्तिं कुर्वाणः श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमानसि। क्रियावच्छिन्नः कालो वर्त्तमानः तत्प्रागभावाच्छिन्नो भूतः तत्प्रध्वंसावच्छिन्नो भविष्यन् इति चेन्न, अतीतानागतप्रतीतिकालेऽपि क्रियावच्छिन्नः प्रतीयत इति वर्त्तमानप्रत्ययप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्। क्रियानवच्छिन्नस्य तत्प्रागभावप्रध्वंसाभावावच्छेदानुपपत्तेः ॥ ११५ ॥

ननूपाधेरेकत्वेपि तद्वर्त्तमानातीतानागतत्वैः प्रत्ययवैचित्र्यं स्यादिति शङ्कते—नन्विति। नैतदिति। स्वरूपेणावतिष्ठमान इति शानच्स्थानिने लट् इत्यर्थः। यदि तेनैव वर्त्तमानेन तन्निरूपणं तदात्माश्रयो वर्त्तमानान्तरेण चेत्तदानवस्थेत्यर्थः। आत्माश्रयान्तरमाह—विनष्टादीति। विनष्टो ह्यतीत एवोच्यते तथाचात्माश्रय इत्यर्थः। वर्त्तमानादिव्यवहारोपाधिभेदं प्रति नियतमाह—क्रियेति। कालस्यैक्यादेकस्यैव क्रियातत्प्रागभावतत्प्रध्वंसावच्छेदसम्भवे वैचित्र्यानुपपत्तिरिति परिहरणम्। यद्वा क्रियापदेन क्रियामात्रमभिधीयते तथा च क्रियाप्रागभावावच्छिन्नोऽपि किञ्चित्क्रियावच्छिन्नो भवत्येवेति नैतत्कृतमपि वैचित्र्यमित्यर्थः। तदेवाह—क्रियानवच्छिन्नस्येति ॥ ११५ ॥

अब शंका होती है कि क्रियासम्बन्धरूप उपाधि एक है, यह कहना सत्य ही है। परन्तु जिस काल में इसका उस उपाधि से सम्बन्ध स्वरूप से अवतिष्ठमान (वर्तमान) रहता है, तब उस काल में 'वर्तते' ऐसा वर्तमान प्रत्यय (ज्ञान) होता है। और जब वह सम्बन्ध विनष्ट हो जाता है, तब भूत का ज्ञान होता है। और जब अनागत (भावी) सम्बन्ध रहता है, तब भविष्यत् का ज्ञान होता है। उत्तर यह है कि यह निर्वचन (व्यवस्था) युक्त नहीं, क्योंकि वर्तमान लक्षणगत 'अवतिष्ठमान' इस पदगत वर्तमानार्थकलट्लकारस्थानीय शानच्प्रत्यय का यदि वर्तमानत्व अर्थ विवक्षित नहीं हो, तब तो उपाधि का सम्बन्ध मात्र वर्तमान प्रत्यय का हेतु होता है, यह वर्तमान का लक्षण होगा, वह कालान्तर में प्राप्त होगा। और यदि वहाँ लट् का वर्तमानत्व अर्थ विवक्षित है, तो वर्तमानत्वज्ञान में वर्तमानता के ज्ञान की उपायता से आत्माश्रय एवं अनवस्था में से किसी एक की प्राप्ति होगी। अर्थात् लक्ष्यरूप उपाधिगत और लक्षणगत वर्तमानत्व यदि एक हो तो आत्माश्रय होगा। और यदि भिन्न हो तो वर्तमानत्व में वर्तमानत्वान्तर की कल्पना से अनवस्था की प्राप्ति होगी, इसी प्रकार विनष्ट आदि शब्द अतीतादि के साथ एकार्थ हैं, अतः उन सब के अर्थ निरूपणीय हैं। फिर भी उनके मध्यगत किसी एक शब्द का प्रयोग करके उनका निर्वचन करते हुए आप प्रशंसनीय बुद्धिवाले तथा माता पिता आदि से शिक्षा पाये हुए हैं। अर्थात् विनष्ट अतीतादि के एकार्थक होने से वहाँ भी आत्माश्रयादि है। यदि कहें कि क्रियारूप पाक एवं गमनादि उपाधि से अवच्छिन्न काल वर्तमान होता है, और वर्तमान क्रिया के प्रागभाव से

अवच्छिन्न भूतकाल होता है, तथा वर्तमान क्रिया के प्रध्वंस से अवच्छिन्न भविष्यत् काल होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अतीतानागत काल भी क्रिया युक्त ही प्रतीत होता है। अतः उनमें भी वर्तमानत्व ज्ञान की प्राप्ति पूर्वतुल्य है। अर्थात् काल की एकता से क्रिया रहित काल का अभाव है। तथा विनष्ट प्रतियोगिक प्रागभावादि के नहीं होने से उनका प्रतियोगी उस काल में रहता है, वह प्रागभावादि के विशेषण रूप से रहता है। अतः क्रिया से अनवच्छिन्न काल को प्रागभाव और ध्वंसाभाव से अवच्छेद (अवच्छिन्नत्व = युक्तत्व) की अनुपपत्ति से भूतभविष्यत् काल भी किसी क्रिया से युक्त रहता है, अतः उक्त लक्षण युक्त नहीं है॥ ११५॥

प्रागभावाश्च प्रागर्थानिरुक्तौ कथं तद्दुरधिगमः प्रध्वंसस्यापि प्रागभावात्कथं विशेषो वक्तव्यः। अभावो विनाशी प्रागभाव उत्पत्तिमान् प्रध्वंस इत्यनयोर्विशेष इति चेन्न, को हि प्रागभावस्य विनाशो येन विनाशीत्युच्यते। यदि प्रतियोगिभूतो घटादिः प्रध्वंसस्यापि प्रागभाववत्प्रतियोगीति सोऽपि विनाशी प्राप्तः उत्पत्तिमांश्च प्रध्वंस इत्युत्पत्तिपदार्थो विवेचनीयः। यद्यसावसतः सत्त्वं तच्च सामान्यं तदाऽऽभावेऽसम्भव एव। अथ स्वरूपसत्त्वं तदा प्रागभावेऽपि प्रसङ्गः तस्यापि कदाचिदसत्त्वात्पूर्वमसत पश्चात्सत्त्वं विवक्षितम् इति चेन्न, पूर्वदानीं पश्चादर्थस्यैवानिरूणात्। एतेन कारणावच्छिन्नं सत्त्वमुत्पत्तिरित्यपिनिरस्तम्। पूर्वापरनिर्वचनमन्तरेण कारणार्थानिर्वचनात्॥ ११६॥

प्राक्काल एव निरूप्यते प्राक्कालवर्त्यभाव इत्यात्माश्रय इत्याह—प्रागभावाश्चेति। प्रध्वंसोपि प्रागभावादभिन्न एवेति भूतभविष्यतोर्नोपाधिवैचित्र्यमित्याह—प्रध्वंसस्यापीति। विनाशीति विनाशवान् विनाशश्च प्रतियोग्येव प्रागभावस्येव प्रध्वंसस्यापि सप्रतियोगिकत्वमेव विनाशित्वमित्याह—को ही ति। तच्च सामान्यमिति। सत्तेत्यर्थः। तस्यापीति। उत्तरकाले सत एव पूर्वकाले सत्त्वादित्यर्थः। पूर्वमसत इति। प्रागभावस्य तु पूर्वं स्वरूपसत्त्वमेवेत्यर्थः। एतेनेति। प्रागभावे कारणावच्छेदाभावान्नोत्पत्तिरित्यर्थः। अतिदेशं दर्शयति—पूर्वेति। अपरेति सम्प्राप्तापातं कार्यं पूर्ववर्तित्वं कारणत्वं कार्यत्वं चापरकालवर्त्तित्वमिति परम्परयापरकालस्यापि कारणत्वनिरूपकत्वमिति तात्पर्यम्। न त्वन्यापेक्षयेति। न स्वानवच्छेदकापेक्षयेत्यर्थः॥ ११६॥

प्राक् शब्दार्थ के निर्वचन के बिना प्रागभाव दुर्ज्ञेय होगा। अतः पहले प्राक् (पूर्व) काल का ही निर्वचन किया जा रहा है। पूर्वकालवृत्ति अभाव कहने से आत्माश्रय होगा और प्रध्वंसाभाव का प्रागभाव से विशेष (भेद) कैसे कहा जायगा? क्योंकि पूर्व में अविद्यमान अभाव ध्वंस कहा जाता है, अतः ध्वंस का भी प्रागभाव कहना होगा, वह प्रागभाव के निरूपण के बिना अशक्य है। यदि कहें कि अभाव होता हुआ बिनाशी हो वह प्रागभाव है और उत्पत्ति वाला अभाव प्रध्वंसाभाव है। यह प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव में भेद है (पृथक् लक्षण है) तो इतना कहने से विशेष (भेद) सिद्ध नहीं होगा और यह भी कहना पड़ेगा कि प्रागभाव का विनाश क्या है जिससे वह विनाशी कहा जाता है। यदि कहें कि प्रतियोगिस्वरूप अर्थात घटादि स्वरूप ही प्रागभाव का बिनाश है, तो भूतभविष्यत की उपाधि के भिन्न नहीं होने से

और जिस घट का प्रागभाव रहता है, उसी का उत्पत्ति एवं स्थिति के बाद ध्वंस होता है अतः प्रागभाव और ध्वंस के प्रतियोगी के एक होने से दोनों अभिन्न हैं और प्रागभाव के समान ध्वंस का भी प्रतियोगी है, अतः वह भी विनाशी प्राप्त होता है, प्रागभाव से विशेष सिद्ध नहीं होता। यदि कथञ्चित् विशेष हो भी तो उत्पत्ति वाला अभाव ध्वंस होता है, यहाँ उत्पत्ति पद का अर्थ विवेचनीय है। यदि उत्पत्ति शब्द का अर्थ असत् (अविद्यमान) का सत्त्वस्वरूप कहा जाय, तो शब्द के अर्थ सत्ता जाति और स्वरूपलाभ दोनों है, अतः वह सत्त्व यदि जातिरूप माना जाय, तो ध्वंसाभाव में उस का असम्भव ही होगा, क्योंकि द्रव्यगुण कर्ममात्रवृत्ति जाति मानी जाती है। यदि स्वरूपसत्त्व होगा तो प्रागभाव में भी उसकी प्राप्ति होगी, क्योंकि प्रागभाव का भी कभी स्वरूपसत्त्व रहता ही है। यदि कहें कि प्रथम असत् का पश्चात् उत्पत्ति शब्द का अर्थ है प्रागभाव का प्रथम सत्त्व रहता है, यह भेद है, तो पूर्व (भूत) इदानीम् (वर्तमान) और पश्चात् (भविष्यत्) इन शब्दों के अर्थों का अभी निर्वचन नहीं होने से वह कथन युक्त नहीं है। अर्थात् अतीत के लक्षण में ध्वंस के, ध्वंस के लक्षण में उत्पत्ति के और उत्पत्ति के लक्षण में अतीत (पूर्व) के निवेश से चक्रक होगा। यदि कहें कि कारणावच्छिन्न (कारण निरूपित = कारण सम्बन्धी) सत्त्व उत्पत्ति शब्द का अर्थ है, अतः दण्डादि से घट का ध्वंस निरूपित होता है और प्रागभाव के अनादि होने से कारण निरूपितत्व का अभाव रहता है यह दोनों में भेद है। परन्तु यह कथन भी इस पूर्वादि अर्थ के अनिर्वचन से ही निरस्त हो गया पूर्व एवं अपर शब्द के अर्थों के निर्वचन के बिना कारण का निर्वचन नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वकालवृत्तित्व कारणत्व होता है और अपरकालवृत्तित्व कार्यत्व होता है वहाँ काल के निरूपण के बिना दोनों का निरूपण अशक्य है ॥ ११६ ॥

अस्तु तावदतीतानागतयोर्यथातथा निरुक्तिः। यत्क्रियावच्छिन्नो यः कालः स तत्क्रियापेक्षया वर्त्तमानो न त्वन्यापेक्षया इति चेन्न, तदपेक्षयेति कोर्थः किं तदुपधानेन उत तदवधिकतयोत तत्प्रतियोगिकतया उत तेन प्रकारेणेत्येव। नाद्यः तदुपाध्यवच्छिन्नस्यातीतानागतप्रतिपत्तिविषयत्व-मपि तस्येत्यसकृदुक्तत्वात्। नापि द्वितीयः। अस्मादयं दीर्घ इति वदस्मादयं वर्त्तते इत्यवध्यपेक्षामन्तरेण प्रतीयमानत्वात्सर्वदैव च त्रिविधावध्यपेक्षया-सीदस्तिभविष्यतीति प्रत्ययाव्यवस्थाप्रसङ्गात्। अत एव न तृतीयः। नापि चतुर्थः। अतीतानागतप्रतीतिकाले क्रियावच्छेदप्रकारेण वर्त्तमानप्रत्ययवि-षयत्वप्रसङ्गात् ॥ ११७ ॥

किमिति। क्रियाया उपाधित्वमवधित्वं प्रतियोगित्वं वेति विकल्पार्थः। तत्क्रियोपहि-तस्यैवातीतत्वमनागतत्वं चेत्यविशेषः। कालस्यैकत्वादित्याह—उपाध्यवच्छिन्नस्येति। क्रियाया अवधित्वे दोषमाह—नापीति। किञ्च यथावधिर्वर्त्तमानत्वे तथा तत्प्रागभावप्रध्वं सावधिभूतभविष्यतोरपि स्यातां तैश्चावधिभिरेक एव कालस्तत्तत्प्रत्ययविषयः स्यात्तदा वर्त्तत इतिवत्तदेवासीद्भविष्यतीत्यपि प्रत्ययः स्यादित्यव्यवस्था भवेदित्याह—सर्वदैवेति। अत एवेति। तथाप्रतीत्यभावादेवेत्यर्थः। ननु भवत्येव तस्यायं वर्त्तमानः कालः तस्याय-

मतीत इत्यादिप्रतीतिः षष्ठ्या प्रतियोगित्वस्यैवाभिधानादिति चेन्न, घटो वर्त्तत इत्यादि न स्यात। किञ्च क्रियाया एव प्रतियोगित्वे घटादेरपि वर्त्तमानत्वे ग्राह्ये क्रियामात्र एव प्रतियोगित्वं स्फुरेदिति भावः। एवं क्रियायाः प्रकारत्वेऽपि द्रष्टव्यम्। अतीतानागतेति। अतीतानागतया च क्रिययावच्छिन्नः स एव काल इति तयोरपि वर्त्तमानत्वेन भानं स्यादित्यर्थः ॥ ११७ ॥

अब शंका होती है कि अतीत तथा अनागत काल की निरुक्ति यथा तथा हो उसकी अभी आवश्यकता नहीं है। जिस सूर्यादि की क्रिया से युक्त जो काल है, वह उस क्रिया की अपेक्षा से वर्तमान है, अन्य स्वानवच्छेदक क्रिया की अपेक्षा से नहीं। उत्तर यह है कि यह वर्तमान का लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि, यदपेक्षया इसका अर्थ विवेचनीय है वह क्रियारूप उपाधि द्वारा या क्रियावधिकता से या प्रतियोगिता से अथवा उस क्रिया के प्रकार भेद से वर्तमान काल हो सकता है। परन्तु इसमें कौन अर्थ विवक्षित है ? यह विचारणीय है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि काल की एकता से उस क्रियारूप उपाधि से अवच्छिन्न ही उस काल में अतीतानागतप्रतीति विषयत्व भी होता है। अतः उसमें भी वर्तमानता की प्राप्ति होगी। यह पहले भी अनेकवार कहा गया है। क्रियारूप अवधि से वर्तमानत्व है यह द्वितीय अर्थ भी नहीं हो सकता। क्योंकि, इससे यह दीर्घ है इस प्रतीति में जैसे नियम से अवधि की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार इस कर्म से यह वर्तता है, इस अवधि की अपेक्षा के बिना भी वर्तते, इस प्रकार से वर्तमानत्व की प्रतीयमानता रहती है। और यदि अवधि से वर्तमानता हो, तो प्रागभावप्रध्वंसाभाव भूतभविष्यत् की अवधि होंगे। अतः सदा ही त्रिविध अवधि की अपेक्षा से आसीत्–अस्ति–भविष्यति, इन प्रतीतियों की प्राप्ति से काल भेद द्वारा इन प्रत्ययों की अव्यवस्था होगी। अर्थात् जिस समय क्रिया की दृष्टि से वर्तमानता का ज्ञान होगा, उसी समय अतीतानागतज्ञानादि की अपेक्षा से आसीत् आदि व्यवहार भी होगा। सप्रतियोगिज्ञानविषयत्व के वर्तमानता में अभाव से ही तृतीय पक्ष नहीं माना जा सकता। अर्थात् जैसे (घटाद् भिन्नः पटः, घटोनास्ति) इत्यादिरूप से सप्रतियोगिकाभाव की प्रतीति होती है, वैसे वर्तमानता नहीं भासती। और क्रियारूप प्रकार (विशेषण) द्वारा वर्तमान होता है, यह चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि काल की एकता से अतीतानागतज्ञान काल में भी क्रियावच्छेद (भेद) रूप से वर्तमानज्ञानविषयत्व की प्राप्ति होगी, जब कि अतीत-अनागत-ज्ञान होता है, उस समय भी व्यवच्छेदक प्रकाररूप कोई क्रिया रहती ही है ॥ ११७ ॥

नासौ क्रियावच्छेदलक्षणः प्रकारोऽतीतानागतकाले वर्त्तते इति चेन्न, वर्त्तमानताया अद्याप्यनिरूपणेन वर्तते इति उक्त्वा विशेषस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। तत्क्रियाकाले तत्क्रियावच्छिन्नः कालो वर्त्तमान इति चेन्न, कालस्य कालाश्रयतया निरूपणासम्भवात्कालान्तरस्यानभ्युपगमात्तस्यैव कालस्य तदाश्रयत्वे व्यक्तमात्माश्रयत्वापत्तेः। स्यादेतत्। ग्राहकविज्ञानविषयो ग्राहकविज्ञानाश्रयश्च कालो वर्त्तमानः वर्त्तमानोपाधिप्रागभावावच्छि-

अश्च पूर्वस्तत्प्रध्वंसाभावावच्छिन्नश्चानागतः प्रागभावप्रध्वंसयोश्च स्वाभाविकमेव भेदमादाय व्यवस्था प्राग्व्यवस्थाहेतुरभावः प्रागभाव इति स्वभावभूतस्यैव विशेषस्य कार्यमादाय लक्षणमनागतव्यवस्थानिदानभावः प्रध्वंस इति च प्रध्वंसस्य इति ॥ ११८ ॥

यदा क्रियावच्छेदः प्रकारो वर्त्तमानस्तदा तथाप्रत्ययं करोति तदतीतत्वादिदशायां च न स वर्त्तमान इति न ताद्रूप्येण प्रतीतिरिति शङ्कते—नालाविति । यदि वर्त्तमानत्वं परिच्छिन्नं स्यात्तदा क्रियावच्छेदः प्रकारो यदा वर्त्तते इत्युक्त्यातीतानागतयोर्विशेषः प्रतीयेत तदेवाद्यापि न परिच्छिन्नमिति परिहरति—नेति । तत्क्रियावच्छिन्नः कालः इत्युक्ते अतीतादावपि प्रसङ्ग इत्यत उक्तं तत्क्रियाकाले इति । कालस्य कालाश्रयतयेति । यद्यपीदानीं काल इति प्रतीत्यनुरोधात्कालेपि कालः । न चात्माश्रयतया यद्यपि न स्वरूपे तस्य तथाप्युपाधिविशिष्टे केवलः केवले चोपाधिविशिष्ट इति सम्भवत्येव काले कालः । किञ्च स्थूलोपाध्यवच्छेदेन सूक्ष्मोपाध्यवच्छिन्नः कालः सम्भवत्येव, भवति हि दिवा मुहूर्त्तमित्याद्याविधा तथापि तत्राप्यतीतादिविशेषकः प्रयोगो नास्तीति भावः । वर्त्तमानविषयकज्ञानाश्रयः नालो वर्त्तमानः एवं तदतीतत्वाद्यपि निर्वाच्यमिति शङ्कते स्यादेतदिति । ननु प्रागभावप्रध्वंसावेव दुर्वचावित्यत आह—प्रागभावप्रध्वंसयोरिति । व्यवस्थानलक्षणं कार्यमादायेत्यर्थः । यद्वा कार्यपदेन प्रतियोगीत्युच्यते तथा च प्रतियोगिजनकोऽभावः प्रागभाव इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

अब शंका होती है कि अतीत एवं अनागत काल में किसी क्रिया के रहने पर भी वह वर्तमान काल के व्यवच्छेद (भेद) रूप प्रकार अतीत तथा अनागत काल में वर्तमान नहीं रहता है और वर्तमान क्रियारूप व्यवच्छेदक प्रकारवाला काल वर्तमान विवक्षित है। उत्तर यह है कि अभी वर्तमानता के निरूपण न होने के कारण 'वर्तते' ऐसा कह कर किसी वर्तमान विशेष को दिखा नहीं सकते। वर्तमान लक्षण के बिना उसके लक्ष्य को नहीं कह सकते हैं, और वर्तमान के लक्षण में वर्तमान के निवेश से आत्माश्रयता होने से लक्षण नहीं हो सकता। अर्थात् प्रथम वर्तमानत्व निश्चित हो, फिर उसमें क्रियावच्छेदप्रकार के कथन से उसकी अतीतादि से व्यावृत्ति हो, परन्तु अभी वर्तमानत्व ही निश्चित नहीं है। यदि कहें कि उस एक क्रिया (पाकादि) काल में उसी क्रिया से अवच्छिन्न काल वर्तमान होता है। अतीतादि काल के कथञ्चित् उस क्रिया से अवच्छिन्न होते भी, उस क्रिया के काल नहीं होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो भी तत्काल में तत्क्रियावच्छिन्न काल, यह नहीं कह सकते। क्योंकि काल को काल का आश्रयरूप से निरूपण करना अशक्य है, और कालान्तर माना नहीं जाता। एक काल को कालाश्रयत्व होने पर स्पष्ट आत्माश्रयत्व होगा। अतः यह लक्षण नहीं हो सकता। यद्यपि उपाधि भेद से काल में काल भासता है, तथापि उसका लक्षण में उपयोग नहीं है। लक्षणान्तर की शंका होती है कि यह वक्ष्यमाण लक्षण हो सकता है। ग्राहक = काल का प्रकाशक विज्ञान का विषय और ग्राहक विज्ञान का आश्रय जो काल वह वर्तमान कहा जाता है और वर्तमान उपाधि (क्रिया) के प्रागभाव से अवच्छिन्न काल पूर्व (अतीत) कहलाता है और वर्तमान उपाधि के प्रध्वंसाभाव से अवच्छिन्न काल भविष्यत् होता है।

यद्यपि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के निर्वचन बिना यह लक्षणाभिधान अशक्य है, तथापि प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव के स्वाभाविक भेद का ग्रहण करके इस लक्षण की व्यवस्था हो सकती है। उनका स्वाभाविक भेद यह है कि प्राग् (पूर्व) कार्यप्रतियोगी की व्यवस्था (नियम) का हेतु अभाव होता है, वह प्रागभाव है, अर्थात् जिस कार्य का जहाँ प्रागभाव रहता है, वह वहां उत्पन्न होता है, यह नियम है, यह प्रागभाव का स्वभाव है। अतः स्वभाव स्वरूपविशेष के ही कार्य को ग्रहण करके पूर्वोक्त अतीत काल का लक्षण समझना चाहिये। उक्त अनागत व्यवस्था का निदान प्रध्वंस होता है। उस प्रध्वंस के स्वाभाविक स्वरूप का ग्रहण करके भविष्यत् का लक्षण समझना चाहिये ॥ ११८ ॥

मैवं, ज्ञानाऽस्वप्रकाशतापक्षे स्वोपहितस्य स्वयं ग्रहणानुपपत्तेः कथं वर्त्तमानताग्रहः ज्ञानान्तरेण च तथाग्रहे वर्त्तमानतावभासाङ्गीकारे तदासौ दृष्टो मयेति प्रत्ययस्य तदासौ मया दृश्यत इत्याकारतापत्तिः। अत एव स्वप्रकाशपक्षेऽप्यनिस्तारः। यावानर्थः स्वप्रकाशे वर्त्तमानतयोक्तस्तावत एव परेण ग्रहणे व्यभिचारात्स्वप्रकाशतायाश्चाधिक्येऽपि विषये विशेषाभावात्स्वरूपमेव विशेषः इति चेन्न, तस्यानुगमाननुगमाभ्यामनुपपत्तेः॥ ११९ ॥

ज्ञानेति। वर्त्तमानताग्राहकं ज्ञानं स्वप्रकाशमस्वप्रकाशं वा ? अन्त्ये वर्त्तमानत्वग्रहो न स्यादेव तस्य ज्ञानघटितत्वात् वर्तमानताघटकज्ञानानन्तरमुत्पन्नेनापि ज्ञानेन यदि वर्त्तमानताग्रहस्तदा दृष्टं तन्मयेत्यत्रापि दृश्यते तन्मयेत्याकारः स्यात् तदपगमेपि तया तद्ग्रहस्येष्यमाणत्वादित्यर्थः। यावानर्थ इति। ग्राहकज्ञानविषयो ग्राहकाज्ञानाश्रयश्चैक एव कालोतीतादिसाधारण इति सैवाव्यवस्था। किञ्च पूर्वेणाप्यतीतत्वादिग्राहकेणापि ज्ञानेनायमेवार्थो गृह्यत इति तस्य वर्त्तमानग्राहकता नास्तीति व्यभिचार इत्यर्थः। ननु स्वप्रकाशात्मकज्ञानविषयत्वे सति तादृशज्ञानाश्रयत्वं विवक्षितमिति नोक्तदोष इत्याशङ्कते—स्वप्रकाशताया इति। एतावताप्यतीतादिवैलक्षण्यमनिरुक्तमेवेत्यर्थः। ननु स्वेनेव विषयीक्रियमाणं तज्ज्ञानं वर्तमानत्वप्रत्ययं करोति नान्येनेत्यतीतादौ कः प्रसङ्ग इति शङ्कते—स्वरूपमेवेति। चैत्रज्ञानस्य स्वपदवाच्यत्वे चैत्रस्य वर्तमानताप्रत्ययो न स्यादिति परिहरति—तस्येति ॥ ११९ ॥

यदि ग्राहक ज्ञानविषयत्व तथा आश्रयत्वयुक्त लक्षण वर्तमानत्व का हो तो ऐसा लक्षण युक्त नहीं, क्योंकि ज्ञान के अस्वप्रकाशतापक्ष में जिस ज्ञान का विषयत्व और आश्रयत्व काल में है, (रहेगा) उसी ज्ञान से उस आश्रयत्व एवं विषयत्व के ग्रहण की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती (स्वोपहित (स्वाश्रयत्वादियुक्त) का स्वयं ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकता) क्योंकि स्वरूप उपाधि के ग्रहण के बिना उपहित का ग्रहण नहीं हो सकता और अस्वप्रकाशता से स्व का ग्रहण नहीं हो सकता, तो वर्तमानता का कैसे ग्रहण हो सकता ? और ज्ञानान्तर से पूर्वज्ञानविषयत्व तथा आश्रयत्व के ग्रहण होने पर तद्युक्त वर्तमानता के अवभास (प्रकाश) अङ्गीकार करने पर (तदाऽसौ दृष्टो मया) पहले यह मुझ से देखा गया था, इसकी (तदाऽसौ मया दृश्यते) उस काल में यह मुझ से देखा जाता है, ऐसी आकारता की प्राप्ति होगी। क्योंकि, वर्तमानता साधक प्रथम ज्ञान के बीतने पर दूसरा ज्ञान होगा और दूसरे से ही वर्तमानता के ग्रहण को मानना है, वहाँ (दृष्टो मया) ऐसे ज्ञान से वर्तमानता का ग्रहण नहीं हो

सकता, अतः पूर्व ज्ञान के नाश काल में भी 'दृश्यते मया, ऐसा ज्ञान का प्रसंग होगा और 'दृष्टः' इसके स्थान में 'दृश्यते', इसकी आपत्ति से ही ज्ञान के स्वप्रकाश पक्ष में भी निस्तार नहीं है। क्योंकि स्वप्रकाश एक ज्ञानस्वाश्रयत्व तथा विषयत्व के ग्रहण करने पर भी ज्ञानान्तर काल में आश्रय विषयादि के एक वर्तमान होने से दृश्यते मया', इस ज्ञान की प्राप्ति होती है और जितना अर्थ (स्वाश्रयस्वविषयादि) पूर्वकालिक स्वप्रकाश ज्ञान में वर्तमान रूप से कहा गया है, उतना ही अर्थ अतीतादि ग्राहक अन्य ज्ञान से (दृष्टः) इत्यादि रूप से ग्रहण होने पर वहां वर्तमानता का व्यभिचार होगा। अतीतादिरूप से गृहीत होने पर वह वर्तमान नहीं कहा जायगा। यदि कहें कि स्वप्रकाश द्वितीय ज्ञान से प्रथम ज्ञान के आश्रयत्व तथा विषयत्व का ग्रहण होने से 'दृष्टः', ऐसा आकार होता है, 'दृश्यते, नहीं क्योंकि अपने स्वरूप को वह ज्ञान विषयरूप से प्रकाश नहीं करता तो भी स्वप्रकाशता के अधिक होने पर भी विषय में अतीतादि से विशेष के अभाव से 'दृष्टः', के स्थान में दृश्यते, की प्राप्ति होगी ही। यदि कहें कि काल के ग्राहक ज्ञान को अपने विषय से अभेद होने से अपने से अपने विषय को वर्तमानरूप से ग्रहण करने से विषय का स्वरूप ही विशेष हो जाता है, तो भी स्वरूप पद में स्वपद से ज्ञानत्वेन अनुगत ज्ञान मात्र का ग्रहण करें, तो ज्ञानान्तर जो वर्तमानकाल विषयक नहीं है, उसके द्वारा व्यभिचार होगा और अननुगतचैत्र ज्ञान को स्वपद से ग्रहण करने पर मैत्र ज्ञान का ग्रहण नहीं होगा। इस प्रकार स्वरूपात्मक विशेष के अनुगम, अननुगम एवं दोनों प्रकार से अनुपपत्ति है॥ ११९॥

प्राक्प्रध्वंसाभावयोश्च स्वरूपतो विशेषेऽपि कतरो भूतव्यवहारस्य कतरश्चानागतव्यवहारस्योपाधिरित्यनुयुक्ते कार्यभेदजनकतया च तन्निरुक्तावुत्तरे पूर्वप्रत्युक्तां पूर्वतापरतानिरुक्तिं विना जन्यजनकत्वाज्ञानमिति उपाधिभेदाच्च कालभेदे योऽप्येकतयाभिमतः कालः सोपि चन्द्रसूर्यक्रियाद्यसङ्ख्योपाधिभेदसम्भवेन नानास्यात्तत्रायमेवोपाधिर्नायमिति च्चाविनियम्यत्वात्प्रतिक्षणस्वभावभेदवादिपक्षे च नानाक्षणेषु वर्त्तमानत्वादिव्यवहारार्थमुपाध्यनुसरणावश्यम्भावेनोक्तोपाधिदोषग्रासस्यैवापातादिति ॥ १२० ॥

कतर इति। लक्षणमन्तरेणातत्त्वग्रहमेवेत्यर्थः। कार्यभेदेति। पूर्वपश्चाद्भवत्वव्याहरलक्षणकार्यभेदः पूर्वापरभावनिरुक्तिमन्तरेणाशक्यग्रह एवेत्यर्थः। उपाधयः। सार्यादिस्पन्दा बहव इति तमुपहितस्यैकदेशे बहुत्वप्रसङ्ग इत्याह—उपधीति। नन्वेकेन केनचिदुपाधिनोपहितत्वेनैकनानात्वमित्यत आह—तत्रेति। ननु प्रतिलक्षणकालस्वरूपभेदाधीनमेव वर्त्तमानादिव्यवहारवैचित्र्यं स्यादत आह—प्रतिक्षणेति॥ १२०॥

यह जो कहा गया है कि प्रागभाव एवं प्रध्वंभाव के स्वाभाविक भेद को ग्रहण करके अतीतानागत की व्यवस्था होगी। वहां प्रागभाव में स्वरूप से विशेष होने पर भी कौन भूतव्यवहार का उपाधिरूप है ? और कौन अनागत व्यवहार का ? ऐसा पूछने पर और कार्यभेदजनकता (पूर्वपरव्यवहारजनकता) रूप से उन की निरुक्ति (निर्वचन) रूप उत्तर देने पर, उस उत्तर में पूर्व खण्डित पूर्वता परत्ता की निरुक्ति के बिना जन्य-जनकत्व (कार्यकारणभाव) का अज्ञान रहेगा। अतः

लक्षणाधीन जन्य-जनक-ज्ञान और जन्यजनक के ज्ञान से लक्षण के ज्ञान के प्राप्त होने से अन्योन्याश्रय होगा और उपाधि भेद से वर्तमानादि काल भेद के होने पर जो काल एकरूप से ही अभिमत है, वह भी चन्द्र-सूर्य के क्रियादिरूप अनन्त उपाधि के सम्भव से नाना होगा, एक नहीं। यदि कहें कि सूर्यादि किसी एक ही की क्रिया उपाधि होगी, अन्य की नहीं, तो उन क्रियाओं में अमुक ही उपाधि हो, अन्य नहीं, इस में कोई विनिगमक (नियामक) प्रमाण नहीं है। अतः अविनिगम्यत्व (अनिर्णेयत्व है। यदि कहें कि प्रतिक्षण में काल के स्वभाव भेद से ही वर्तमानादि विचित्र व्यवहार होगा, अतः अनेकोपाधि की आवश्यकता नहीं हैं, तो बुद्ध मत के अनुसार प्रतिक्षण स्वभावभेदवादियों के पक्ष में नाना क्षणों में वर्तमानत्वादिव्यवहार के लिये उपाधि के अनुसरण (स्वीकार) के अवश्यंभाव से उक्त उपाधि दोष से प्रसन की प्राप्ति होती है ॥ १२० ॥

॥ इति कालविचारः ॥

ननु तथापि तावद्विषयभेदेनावश्यं भवितव्यं प्रतीतिभेदस्य दुरपह्नवत्वादतः सामान्यतः सिद्धौ विशेषतो विवेचनाशक्तौ भेदे संशय एवास्ताम् इति चेन्न, संशयस्यापि निर्वक्तुमशक्यत्वात्- तथापि संशयस्य निश्चयात्किमुपाधिकृतो विशेषः उत जातिकृतः? आद्ये किं विषयविशेषेणोपाधिना उत कारणविशेषेण उतान्येनैव केनचित्संबन्धिना कृतः, न तस्यानिर्वचनात्। उभयकोटिविषयः संशय इति चेन्न, कोटिद्वयसमुच्चयनिश्चयस्यापि संशयत्वप्रसङ्गात्। प्रतीतिरेवनैवम् इति चेन्न, भेदाभेदप्रतीतीनां शाब्दस्वप्नादिप्रतीतीनां च तादृशासम्भवात्। समुच्चयप्रकाशे कोट्योरविरोधः प्रकाशते। संशयेत् विरोध चेन्न, पीतः शङ्ख इत्यादिषु पीतत्वशङ्खत्वादेर्भिन्नाश्रयतानियमं विरोधं जानतोपि प्रत्ययात् ॥ १२१ ॥

संशयखण्डनं प्रस्तौति—ननु तथापीति। प्रतीतिभेदस्येति। प्रतीतिभेदवैलक्षण्यस्येत्यर्थः। विषयभेदमन्तरेण सर्वाः प्रतीतय एकाकारा स्युरिति भावः। सामान्यत इति। प्रतीतिभेदान्यथानुपपत्त्या विषयभेदः सामान्यतः सिद्धोऽपि स्वरूपान्योन्याभाववैधर्म्याणां प्रत्येकमनुपपत्तौ तत्र सन्देह इत्यर्थः। यद्वा विषयभेदो घटादिरेव निर्वक्तुमशक्य इति सन्देह इत्यर्थः। विषयविशेषेणेति। विरोधिनानाकोटित्वादिनेत्यर्थः। कारणविशेषेणेति। समानधर्मज्ञानादिनेत्यर्थः। स्थाणुरयं पुरुषश्चेत्यत्रातिव्याप्तिमाह—कोटिद्वयेति। भेदाभेदेति। भिन्नोयमभिन्नश्चेति मते तादृशप्रतीतिसम्भवात् भिन्नोयमभिन्नश्चेति शाब्दप्रतीतेरसम्भवादित्यर्थः। अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हीति न्यायादिति भावः। विरोधिविषयत्वं लक्षणमाशङ्कते—समुच्चयेति ॥ १२१ ॥

प्रकृत में शंका होती है कि उक्तरीति से वर्तमानादि भेद युक्त काल की प्रतीति (सिद्धि) नहीं होने पर भी काल विषयक भूत वर्तमान-भविष्यत् प्रतीति के भेद से उक्त प्रतीतियों के विषय का भेद भी अवश्य होना चाहिये, क्योंकि विषय भेद के बिना प्रतीति में भेद नहीं हो सकता। भूतादि प्रतीति का भेद अपलापायोग्य है। अतः प्रतीति के बल से सामान्यरूप से काल की भूतादिरूप से सिद्धि होने पर, विशेषरूप से लक्षण

स्वरूप की सिद्धि नहीं होने पर भी उस के विवेचन की अशक्ति होने पर भी काल के भेद विषयक संशय होगा ही। फिर उस संशय की एक कोटि के विषयरूप से काल की सिद्धि होगी, तथा भूत-भविष्यदादिभेद की सिद्धि होगी। उत्तर यह है कि जिस संशय से काल भेद सिद्ध करना चाहते हैं, उस संशय का ही निर्वचन (लक्षण) अशक्य है। फिर स्वयं असिद्ध संशय अन्य को कैसे सिद्ध करेगा ? क्योंकि, संशय सिद्ध करने के लिये पहले उस को निश्चय से भिन्न सिद्ध करना पड़ेगा। वहाँ संशय को निश्चय से क्या उपाधिकृत विशेष (भेद) है, या जातिकृत, यह विचारणीय है। पहले उपाधिकृत भेद पक्ष में क्या विषयविशेषरूप उपाधिकृत भेद है ? या कारण विशेष कृत ? अथवा अन्य किसी सम्बन्धीकृत निश्चय से ? वहाँ प्रथम प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि विषयविशेषरूप उपाधिकृत भेद का निर्वचन (लक्षण) नहीं हो सकता। यदि कहें कि एक धर्मी में उभयकोटिक विषयवाला संशय होता है, यह निर्वचन हो सकता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार कोटिद्वय के एक धर्मी में समुच्चय (मेल) के ज्ञानरूप निश्चय भी संशय होगा। यदि कहें कि एक धर्मी में संशय से अतिरिक्त ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती जो दो कोटि के समुच्चय को ग्रहण करे, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, भेदाभेद वाद में गुण कर्मादि के भेदाभेद का धर्मी के साथ ग्रहण होता है तथा शब्दजन्य स्वप्नकालिक वैसी प्रतीतियों का सम्भव रहता है। यदि कहें कि (शब्दो नित्योऽनित्यश्च) इत्यादि समुच्चय के प्रकाश (ज्ञान) में कोटियों का अविरोध भासता है। शब्द किसीरूप से नित्य है, किसीरूप से अनित्य भी है। भेदाभेदादि की भी ऐसी व्यवस्था होती है। और (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) यहाँ कोटियों का विरोध भासता है, यह भेद है, तो यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि, (पीतः शङ्खः) शंख पीला है, इत्यादि स्थानों में पीतत्वशंखत्वादि के भिन्नाश्रयता नियमरूप विरोध को जानने वाले को भी दोषवश यह ज्ञान होता है। अतः विरुद्ध कोटि विषयता से इस ज्ञान में संशयत्व प्राप्त होगा ॥ १२१ ॥

तथापि तस्यां बुद्धौ न भासते विरोध इति चेन्न, कथमेवमिति प्रकाशेऽपि तत्प्रकाशात्, तयोरेकाश्रययोर्विरोधप्रतीतेरवश्योपेयत्वात्। मिथ्याधियस्ता इति चेन्न, संशयस्यापि भवद्भिरतत्त्वबुद्धितयाङ्गीकारात्, तत्त्वातत्त्वबुद्ध्योश्च तद्विषयत्वेन विशेषाभावात्। नहि मिथ्या रजतबुद्धी रजतबुद्धिरेव न भवति। अव्यवस्थितकोटिद्वयविषयः संशय इति चेत्, केयमव्यवस्थितता ? पाक्षिकतेति चेत्, न पर्यायं पृच्छामोऽपितु किं कोटिद्वयस्वरूपमेव उत कोटिद्वयस्य धर्मः कश्चिदाद्ये कोटिद्वयनिश्चयेन सहाविशेषस्तदवस्थः। द्वितीये यद्यसौ केनचित्प्रमाणेन सिद्धः, तदा तस्यैव कोटिद्वयाश्रिततद्धर्मविषयस्य संशयत्वप्रसङ्गेन प्रमाणत्वव्याघातः। अथ कस्यचित्प्रमाणस्य नासौ विषयः नास्ति तर्हि विषयकृतो विशेषः ॥ १२२ ॥

पीतत्वशङ्खत्वयोर्यद्यपि वास्तवो विरोधस्तथापि पीतः शङ्ख इति प्रतीतौ न भासते इति नास्तिव्याहारित्याह—तथापीति। कथमयं शङ्खः पीत इत्यर्थसंशयस्यापि पीतः शङ्ख इति निश्चयदर्शनादित्याह—कथमिति। ननु कथमेवमिति पृथगेव विरोधज्ञानमित्यत

आह—तयोरिति। शङ्खत्वपीतत्वयोरित्यर्थः। ननु विरोधे भासमाने नानाकोटिकं प्रमारूपं ज्ञानं संशयः शङ्खत्वपीतत्वसमुच्चयज्ञानं न तथेत्याह—मिथ्येति। लक्षणमिदमसम्भवि संशयस्यापि प्रमात्वादित्याह—नेति। ननु तत्त्वबुद्धित्वेन लक्षणं न विशेषणीयं येनासम्भवः स्यादपि तु वस्तुस्थितिस्तादृशीत्याह—तत्त्वेति। विरोधकोटिद्वयविषयकत्वस्याविशेषादित्यर्थः। अव्यवस्थितेति। समुच्चयस्तु विरोधविषयकोपि व्यवस्थितकोटिक इति भावः। असाविति। अव्यवस्थितेत्यर्थ। तदेति। अव्यवस्थितत्वं विषयीकुर्वत् प्रमाणमव्यवस्थितविषयतयासंशयः स्यादेवेत्यर्थः। नास्तीति। विषयविशेषस्याव्यवस्थितत्वासिद्धेत्यर्थः॥ १२२॥

यदि कहें कि यद्यपि पीतः शंखः, यह ज्ञान विरुद्ध विषयक है, तथापि उस ज्ञान में विरोध नहीं भासता और संशय में विरोध भासता है, तो यह कहना अयुक्त है। क्योंकि पीतः शंखः, इस ज्ञान के बाद शंख पीत कैसे होगा? इस विचाररूप ज्ञान में विरोध भी भासता है। कथं, यह विरोध प्रदर्शित करता है और शेष ज्ञानांश से कोटि द्वय का ग्रहण होता है। अतः पीत शंख के प्रकाश में भी उस विरोध के प्रकाश से अतिव्याप्ति होगी और एकाश्रय (धर्मी) वाले शंखत्व तथा पीतत्व इन दोनों के विरोध की प्रतीति को अवश्य मानना चाहिये। यदि कहें कि संशय में एक कोटि के यथार्थ होने के कारण विरोध के प्रकाश में नाना कोटिक प्रमा ज्ञान संशय होता है और शंखपीतता का ज्ञान ऐसा नहीं रहता, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। क्योंकि शंखादि में पीतादि का ज्ञान भ्रम है, प्रमा नहीं, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि संशय को भी आपने अतत्त्वबुद्धि रूप से स्वीकार किया है और एक कोटि में यथार्थ होने से यदि संशय ज्ञान प्रमा हो तो भ्रम के भी सामान्य 'इदमंश' में यथार्थत्व होने से वह भी प्रमा होगा। यदि कहें कि संशय और भ्रम में मिथ्यात्व एवं अमिथ्यात्व के भेद नहीं होने पर भी संशय तत्त्वविषयक विकल्परूप होता है और भ्रम अतत्वविषयक होता है, यह भेद है तो, यह कहना व्यर्थ है। क्योंकि, तत्त्व और अतत्त्व उभय विषयक उक्त बुद्धियों के उक्त विरुद्धविषयक होने से उन में विशेष (भेद) नहीं है। विरुद्ध विषयकत्व होने पर यदि अन्य विशेष हो भी तो वह अकिञ्चित्कर है और संशय में तत्त्व विषयत्व का नियम भी नहीं है। रज्जु में सर्पमाला का संशय हो सकता है और मिथ्या रजतबुद्धि भी रजतबुद्धि नहीं होती, यह बात नहीं है। अर्थात मिथ्या ज्ञान भी स्वकाल में तत्त्वरूप से ही स्वविषय को ग्रहण करता है। अतः ग्रहणाकार के भेद से भी भेद नहीं हो सकता। यदि कहें कि अव्यवस्थित कोटिद्वयविषयक संशय होता है; और (स्थाणुः पुरुषश्च) इत्यादि समुच्चय ज्ञान में विरोधिविषयकत्व होने पर भी अव्यवस्थितकोटिविषयकत्व नहीं होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह अव्यवस्थितता क्या है? यह वक्तव्य है। यदि कहें कि पाक्षिकता अव्यवस्थितता है, तो मैं पर्याय नहीं पूछता, पाक्षिकता तो पर्याय है, किन्तु मैं यह पूछता हूं कि अव्यवस्थितता कोटिद्वय का स्वरूप ही है? या कोटिद्वय का कोई धर्म? प्रथमपक्ष में कोटिद्वय के निश्चयरूप (पीतःशंखः) इत्यादि की अविशेषता तदवस्थ है। अर्थात उस में अतिव्याप्ति है। और दूसरे पक्ष में यदि वह अव्यवस्थिततारूप धर्म किसी प्रमाण से सिद्ध है, तो वह प्रमाण कोटिद्वयस्वरूप धर्मी के ग्रहण के बिना तद्गत धर्म का ग्रहण नहीं कर सकता, अतः वह कोटिद्वय का भी ग्रहण करेगा, तो इस प्रकार

कोटिद्वयाश्रित धर्मविषयक उस प्रमाण में भी संशयत्व की प्राप्ति से प्रमाणत्व का अभाव होगा। यदि वह धर्म किसी प्रमाण का विषय नहीं है, तो वह धर्म शशश्टङ्ग के समान है नहीं और व्यवस्थित विषयकृत विशेष भी नहीं है। अतः लक्षण भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १२२ ॥

एतेनान्योपि यः कश्चिद्विषयविशेषः स्थाणुतदभावपुरुषतदभावादिरूपोऽभिधीयते सोऽपि निरस्तो वेदितव्यः। अत्यन्तासत एव च तस्य प्रतिभासे जितं जिनैरसत्ख्यातिवादिभिः क्वचित्सतश्चेत्तत्रैव प्रसङ्गः। नापि द्वितीयः कारणविशेषो हि विशिष्य सामग्री स्यात्तदेकदेशो वा? नाद्यः तस्या अप्रत्यक्षत्वे तदुपहितस्य प्रत्यक्षतोऽवगमानुपपत्तेः। न च तस्या अनुमेयत्वं लिङ्गासम्भवात्, कार्यविशेष एव लिङ्गम् इति चेन्न, कार्यगतस्यैव विशेषस्य चिन्त्यमानस्स्याद्याप्यप्राप्तेः जातिभेदस्य दूषणीयत्वात् ॥ १२३ ॥

एतेनेति। प्रमाणसिद्धत्वासिद्धत्वविकल्पेनेत्यर्थः। यद्यपि स्थाणुत्वपुरुषत्वतदभावानां प्रत्येकं प्रमितत्वेनैकत्र दोषवशादारोपः सम्भवति स एव च संशयस्तथापि विशिष्टं न प्रमितमित्यर्थः। ननु तत्र प्रमितत्वं अतन्त्रमित्यत आह—सत इति। अत्यन्तासद्विषयत्वमेव नहिं संशयस्य स्यादित्यर्थः। तत्रैवेति। येन प्रमाणेन तद्ग्रहणं वाच्यं तस्यैव संशयत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। कारणोपधानेन संशयस्य वैलक्षण्यं निरस्यति—नापीति। तस्या इति। दृष्टादृष्टकारणचक्ररूपायास्सामग्र्या उपधायकत्वे संशयः क्वापि मानसप्रत्यक्षविषयो न स्यादित्यर्थः। नन्वनुमानोपहिता संशयसामग्री संशयानुव्यवसायविषयः स्यादित्यत आह—नचेति। कार्यविशेष इति। संशयरूप इत्यर्थः। ज्ञानान्तरापेक्षया संशयस्य सञ्ज्ञाभेदकाभावेन तद्विषयासिद्धेरित्याह—कार्येति। ननु संशयत्वजातिरेवकार्यविशेषिका स्यादित्यत आह—जातीति। आदिपदग्राह्यं धर्मिज्ञानविशेषादर्शनादि ॥ १२३ ॥

इस प्रमाण विषयत्व एवं अविषयत्व से अन्य भी जो कोई संशय के विषयगत विशेष स्थाणु तदभाव, पुरुष तदभावादि कहा जाता है, वह निरस्त समझना चाहिये। अर्थात् (स्थाणुर्वापुरुषो वा) यह उभय भावकोटिक (स्थाणुर्वा तदभावो वा) यह एक भाव एक अभाव कोटिक और (स्थाणुर्वा तदभावो वा पुरुषो वा तदभावो वा) यह उभय भाव, उभय अभाववाला चतुष्कोटिक संशय कहा जाता है। परन्तु सब पक्षों में कोटि विशेष के प्रमाण विषय होने पर प्रमाण में संशयत्व प्राप्त होगा। और प्रमाणाभाव पक्ष में विषयकृत विशेष नहीं होगा। यद्यपि स्थाणुत्वादि के प्रमित होने से उनका एक में आरोपरूप संशय हो सकता है, तथापि विशिष्ट के प्रमित नहीं होने से विशिष्ट का आरोप नहीं हो सकता। यदि कहें कि संशय के विषय यदि प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकते, तो असत् विषय ही संशय में भासते हैं, तो अत्यन्त असत् ही उस विषय के प्रतिभास के स्वीकृत होने पर असतख्यावादी बुद्धों की विजय होगी। यदि कहें कि कहीं सत् का संशय के विषयरूप से प्रमाण से ग्रहण होता है, तो जिस प्रमाण से ग्रहण होगा उसी प्रमाण में संशयत्व का प्रसग होगा। कारणकृत संशय में विशेषतारूप दूसरा पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि, वह विशिष्य (निश्चय से भिन्न) कारण विशेष सामग्री (कारण समूह) रूप होगा, या सामग्री का एक देश रूप, यहाँ यदि प्रथम पक्ष कहें, तो दृष्टादृष्ट कारणसमूहरूप सामग्री के अप्रत्यक्ष होने से उस कारण

रूप उपाधि वाला संशय का भी मानस प्रत्यक्ष नहीं होगा। यदि कहें कि सामग्री अनुमेय होगी, संशय के अनुव्यवसाय से संशय सामग्री का प्रकाश होगा, तो लिङ्ग के अभाव से ऐसा नहीं हो सकता, अनुव्यवसाय से संशय का प्रकाश भी हो तो सामग्री का प्रकाश हेतु के बिना नहीं हो सकता। संशय रूप कार्य विशेष ही स्वसामग्री का लिङ्ग (अनुमान का हेतु) है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संशयरूप कार्यगत विशेष के ही अभी विचार का विषय होने से वह अभी स्वयं असिद्ध है, तो सामग्री का साधक हेतु कैसे होगा? अर्थात् ज्ञानगत अव्यवस्थितत्व (पाक्षिकत्व) की सिद्धि होने पर, उससे सामग्री विशेष की सिद्धि हो, फिर उससे सामग्री विशेषोपाधिक विशेष की सिद्धि हो तो अन्योन्याश्रय से कार्यगत विशेष अभी असिद्ध होगा। यदि कहें कि संशयत्व जाति ही कार्य का भेदक सामग्री का लिङ्ग हो सकता है, तो यह कहना युक्त नहीं संशयत्व जाति भेद का आगे खण्डन करना है ॥ १२३ ॥

नापि द्वितीयः। दृश्यस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्शनादेर्विशेषद्वयस्मरणादेश्च साधारणधर्मविशेषद्वयज्ञानप्रत्यक्षादावपि हेतुत्वेन साधारण्यात् अदृश्ये च तस्मिल्लिङ्गाभावात् तेन कार्ये विशेषजात्याधानस्य निरस्यत्वात् तस्या अविषयत्वेनानुव्यवसायसाक्षिककार्यगतविशेषभवनाऽसामर्थ्यात्। नापि तृतीयः, तस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्। नच द्वितीयः, धर्मिस्वरूपादेरपि तद्विषयतया संशयितत्त्वप्रसङ्गात् ॥ १२४ ॥

साधारणेति। साधारणधर्मज्ञानस्य कोटिस्मरणस्य धर्मिज्ञानस्य च यन्मानसं प्रत्यक्षं तस्यादि जन्यतया तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। तेनेति। तेनातीन्द्रियकारणोपनायकमित्यपि नेत्यर्थः। तस्यां जातावनुपलम्भबाधमाह—तस्या इति। जातिश्चेददृश्येन कारणेन संशये काचिदाधेया तदा योग्यव्यक्तिवृत्तितया सा योग्या स्यान्न चैवमित्यर्थः। येनकेनचिदुपाधिनेति शङ्कितं पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति। जातिविशेषं दूषयति—नच द्वितीय इति। संशयत्वजातेर्बाह्यवृत्तितया धर्म्यंशेति सन्दिग्धत्वं स्यादित्यर्थः ॥ १२४ ॥

सामग्री का एक देश संशय का निश्चय से भेदक है यह दूसरा पक्ष भी असंगत है। क्योंकि, संशय की सामग्री के एक देशरूप दृश्य साधारण धर्मदर्शनादि के और विशेषद्वय स्मरण धर्मिज्ञानादि के साधारणधर्मविशेषद्वय के ज्ञान के प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय), स्मरण में भी विषयरूप से हेतु होने से उसमें संशयत्व की प्राप्ति होगी, क्योंकि, संशयसामग्री के एक देश की उसके हेतु में साधारणता है। संशय का विषय स्वानुव्यवसाय का भी विषय होता है। विषय रहित केवल ज्ञानविषयक अनुव्यवसाय या स्मरण नहीं होता। यदि अदृश्य संशय सामग्री के एक देश को संशय में विशेषाधायक कहें, जो मानस प्रत्यक्ष के विषय नहीं हों, तो उनमें लिङ्गादि प्रमाण का अभाव है, उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहें कि उस अतीन्द्रिय कारण से कार्य रूप संशय में विशेष जाति का आधान (सिद्धि) होता है, उस जाति से युक्त संशय ज्ञान अतीन्द्रिय कारण का अनुमापक होता है, तो यह भी निरसनीय है। और उस जाति के ज्ञान के अविषय होने से अनुव्यवसायरूप साक्षी वाले कार्यरूप संशयगत विशेष होने के सामर्थ्य वाला वह नहीं है, विषयरूप से संशय में विशेषाधान नहीं कर सकता। विषय

कारण से भिन्न किसी सम्बन्धिकृत संशय में निश्चय से विशेष होता है, यह तृतीय पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उस भिन्न सम्बन्धी का प्रतिपादन अशक्य है, संशय में निश्चय से उपाधिकृत भेद है ? या जातिकृत ? यह प्रथम विकल्प हुआ था वहाँ उपाधिकृतविशेष का अभाव कहा गया। जातिकृतविशेष भी नहीं हो सकता, क्योंकि संशयत्व जाति वाले ज्ञान के संशय होने पर उसके धर्मी के स्वरूपादि के भी विषय होने से उस स्वरूपादि को भी संशयित्व (सन्दिग्धत्व) प्राप्त होगा, अर्थात निश्चय के सब विषयों को जैसे निश्चितत्व होता है, वैसे संशय के सब विषयों को सन्धिग्धत्व होगा। अतः यह द्वितीय पक्ष भी असंगत है ॥ १२४ ॥

न चैवं न ह्ययं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशये सतीदमा परामृष्यमाणस्योर्द्ध्वत्वशालिनो धर्मिणः स्वरूपसत्त्वेपि स्वरूपमेव भवति न वेति तद्द्रष्टुरभिमानो व्यवहारो वा किन्नाम तत्र। किमिति चेत्, एकस्यैव ज्ञानस्य निश्चयत्वसंशयत्वजातिसङ्करः। स प्रामाण्याप्रामाण्यवद्भविष्यति इति चेन्न, अत एव हि तयोरपि जातित्वानङ्गीकारः किन्नाम। तथाभूताऽतथाभूतार्थतालक्षणोपाधिद्वयरूपतास्वीकार एव तयोः॥ १२५ ॥

ननु धर्म्यंशेपि संशयः स्यात्तदायं धर्मो न वा स्वरूपमिदं न वेति तदाकारस्स्यादित्यर्थः। प्रत्युत धर्म्यंशे निश्चयत्वमेवाह—किं नामेति। एकस्यैवेति। यद्यप्यनुभवत्वसाक्षात्वादिना परापरभावानुपपत्त्या नित्यत्वं न जातिस्तथापि उपाधिरपि निश्चयत्व संशयविरोधिज्ञानत्वमेव वाच्यं तच्च कथं संशयवृत्ति स्यादिति भावः। नन्वभेदेन यथैकत्वं प्रमात्वमप्रमात्वं च यथा तथा निश्चयत्वसंशयत्वे स्यातामित्याह—स इति। जातिसङ्कर इत्यर्थः। तथाभूतेति। सत्यानुभवत्वासत्यानुभवत्वलक्षणमुपाधिद्वयमित्यर्थः॥ १२५ ॥

यदि कहें कि संशय ज्ञान धर्मी अंश में भी सन्दिग्ध ही हो, तो क्या दोष है ? तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह स्थाणु है ? या पुरुष ? ऐसा संशय होने पर भी इदं शब्द से परामृष्यमाण (गृहीत ऊर्ध्वता वाले) धर्मी के स्वरूप के सत्त्व में भी संशय नहीं होता और न उसके द्रष्टा को अभिमान (विचार) या उसका व्यवहार होता है कि स्वरूप ही है ? या नहीं ? किन्तु उस वस्तु के सत्त्व मात्रांश का अवलम्बन (विषय) करने वाले उस ज्ञान का निश्चयत्व ही सिद्ध होता है। यदि कहें कि धर्मी अंश में संशय के निश्चयत्व से क्या फल होता है ? तो उत्तर यह है कि एक ही ज्ञान में निश्चयत्व एवं संशयत्व जाति का संकर फल होता है। यद्यपि अनुभत्व तथा साक्षात्वादि के साथ निश्चयत्व के परापर भाव की असिद्धि से निश्चयत्व जाति नहीं है, तथापि संशय विरोधी ज्ञानत्वरूप निश्चयत्व संशय का सहवृत्ती होगा, जिससे संशयत्व जाति सिद्ध नहीं होगी। यदि कहें कि धर्मीधर्म विषयों से भेद से जैसे एक ज्ञान में प्रमाणत्व तथा अप्रमाणत्व जाति का संकर होता है वैसे निश्चयत्व एवं संशयत्व का भी वह जातिसंकर विषय भेद से हानिकारक नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, इस जाति संकर दोष से ही उस प्रमात्व एवं अप्रमात्व से भी जातित्व का अङ्गीकार नहीं किया जाता, किन्तु प्रमात्व एवं अप्रमात्व में तथा भूतार्थत्व (सत्यानुभत्व) और अतथाभूतार्थत्व (असत्यानुभवत्व) रूप उपाधिद्वयरूपता स्वीकार ही किया जाता है ॥ १२५ ॥

यदा च संशयत्वलक्षणजातिद्वयसम्भिन्नं तद्विज्ञानमास्थीयते तदा कश्चि-द्विषयमपेक्ष्य संशयत्वं किञ्चिदपेक्ष्य निश्चयत्वमित्यापेक्षिकी जातिव्यवस्थि-तिरित्यपूर्वः पन्थाः ईदृशस्य पथः पान्थेनापि भवता किं नियामकमभिधेयं येन धर्मिणि तस्य निश्चयत्वं व्यवतिष्ठते विशेषद्वये च संशयत्वं विशेषदर्श-नादर्शने इति चेत् तर्हि भवति स्थाणोः स्थाणुत्वं पुरुषत्वं पुरुषस्य विशेषः प्रतीयते चासाविति विशेषदर्शनात्तत्रापि निश्चयप्रङ्गः ॥ १२६ ॥

ननु तथाप्यवच्छेदभेदेनैकत्र वृत्तिर्निश्चयत्वसंशयत्वयोस्स्यात्संयोगतदभाववदित्यत आह—यदाचेति । तर्हि धर्म्यपेक्षया निश्चयत्वं कोटिद्वयापेक्षया संशयत्वमिति जातेः सापेक्षत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । नन्वन्यत्र यथा तथास्तु संशयत्वसम्भवे त्ववस्थितिरुभयोरनु-भूयत एवेत्यत आह—ईदृशस्येति । धर्म्यंशे निश्चयत्वं कोटिद्वये च तस्य संशयत्वमत्र यदि किञ्चिन्नियामकं स्यात्तदानुभवोऽप्ययमनन्यथासिद्धस्स्यान्नत्वेवमित्यर्थः । ननु कोटिद्वये विशेषादर्शनात्संशयो धर्मिणि विशेषदर्शनान्निश्चय इत्याह—'विशेषेति'। स्थाणुपुरुषयोः स्थाणुत्वपुरुषत्वे विशेषेण दृश्येते इति तत्रापि निश्चय एवायं स्यादित्यत—तर्हीति ॥ १२६ ॥

यदि औपाधिक भेद नहीं मानकर संशयत्व तथा निश्चयत्व दोनों जातियों से युक्त वह संशय विज्ञान मानें, तो वहाँ किसी विषय की अपेक्षा से निश्चयत्व होगा। इस प्रकार अपेक्षाकृत जाति की व्यवस्था होने से अपूर्व मार्ग स्थिर होगा, क्योंकि ज्ञानव्यक्ति के स्वतः अभिन्न होने पर विषयभेद से भेद की सिद्धि और सर्व व्यक्तिगत जाति की आपेक्षिकी सिद्धि यह अपूर्व मार्ग है। ऐसा मार्ग स्थिर करने पर भी ऐसे मार्ग के पथिक आपसे कोई नियायक हेतु मानना पड़ेगा जिस नियामक से उस ज्ञानरूप धर्मी में निश्चयत्व स्थिर हो एवं विशेषद्वय में संशयत्व। यदि कहें कि विशेष दर्शन से निश्चय होता है, उसके बिना भ्रम और संशय होता है, तो संशय के स्थान में (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) स्थाणु के स्थाणुत्व और पुरुष के पुरुषत्व का ज्ञान होता है और वे ही विशेष हैं, अतः वहाँ विशेष दर्शन से निश्चय ही होगा, संशय नहीं ॥ १२६ ॥

संशयात्पूर्वं नास्ति विशेषदर्शनमिति युक्तः तत्रापि संशय इति चेन्न, धर्मिधियः पूर्वं तर्हि कथं तद्गतविशेषदर्शनं स्यात् संशयकाले चास्ति विशेषदर्शनमित्यनन्तरं तर्हि संशयानुवृत्तिप्रसङ्गोपि युक्त एव। तदीयविष-याद्विशेषाद्व्यतिरिक्तस्य विशेषस्य दर्शनं विवक्षितम् इति चेन्न, स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयानन्तरं दारुमयो मांसमयो वायमिति संशयो नोपपद्यते तदुभयत्वातिरिक्तयोः स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्विशेषयोः पूर्वज्ञानेनोल्लिखितत्वात्। अन्यतरविशेषदर्शनं संशयप्रतिरोधकं संशयेन तूभयोरुपदर्शनमतो नोक्त-दोषप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि स्थाणुः पुरुषश्चेति कुतोऽपि विभ्रमे जाते दारु-मयो वेति संशयप्रतिरोधो न स्यात् ॥ १२७ ॥

ननु संशयः तदुभयनिश्चयत्वमापद्येत तदा तस्मात्पूर्वं तदुभयविशेषदर्शनं स्यान्न त्वेव-मित्याह—संशयादिति। धर्मिण्यपि विशेषदर्शनं संशयात्पूर्वं नास्तीति तदंशेऽपि निश्चयो न स्यादित्याह—धर्मिधिय इति। दूषणान्तरमाह—संशयकाले इति। प्रथमसंशयरूप-विशेषदर्शनात्संशयधारावाहिज्ञानं न स्यादित्यर्थः। ननु तत्संशयमारभत कोटिद्वयं अति-रिक्तविशेषदर्शनेन तत्संशयप्रतिबन्धकं प्रकृते तु न तथेत्याह—तदीयेति। तर्हि यद्विशेष-

द्वयविषयकः प्राथमिकः संशयस्तदतिरिक्तद्विशेषद्वयविषयकस्तत्र धर्मिणि न स्यादित्याह—स्थाणुर्वेति। कुतोपीति। शब्दाभासादेरपीत्यर्थः। ननु विशेषनिश्चयः संशयप्रतिबन्धकः स च प्रकृते नास्तीत्याह—॥ १२७ ॥

यदि कहें कि संशय से पूर्वकालिक विशेष दर्शन निश्चय का नियामक होने से संशय का प्रतिबन्धक होता है और (स्थाणुर्वा पुरुषों वा) यहाँ संशय से पूर्वकाल में विशेष का दर्शन नहीं है। अतः वहां संशययुक्त ही है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि संशय ज्ञान को भी धर्मी अंश में संशय नहीं माना जाता और उस धर्मी अंश में धर्मी के ज्ञान से प्रथम उस धर्मिगत विशेष का ज्ञान कैसे होगा? जिससे वह संशय नहीं हो, अतः धर्मी में भी विशेष दर्शन संशय से प्रथम नहीं होने के कारण धर्मी अंश में भी निश्चय नहीं होगा। संशयकाल में विशेष दर्शन हो जाने पर फिर उसके बाद संशय की अनुवृत्ति ही युक्त होगी। अर्थात् संशय रूप विशेष दर्शन के बाद संशय प्रवाह नहीं हो सकेगा। प्रथम क्षण में संशय होने पर द्वितीय क्षण में स्वयं निवृत्त हो जायगा, या निश्चयरूप हो जायगा। यदि कहें कि उस संशय का विषय जो विशेष उससे भिन्न विशेष का दर्शन संशय का प्रतिबन्धक निश्चय का नियामक है, और (स्थाणुर्वा पुरुषों वा) इस संशय में या उसकी धारा में स्थाणुत्व एवं पुरुषत्व ही विशेष रहता है, अतः धारा की अनुवृत्ति होती है, तो यह कहना भी असंगत है। यदि ऐसा माना जाय, तो (स्थाणुर्वा पुरुषों वा) इस संशय के बाद यह काष्ठमय या मांसमय है? ऐसा संशय नहीं उत्पन्न होना चाहिये, क्योंकि काष्ठमयत्व एवं मांसमयत्वरूप जो दूसरे संशय के विशेष हैं, उनसे अन्य स्थाणुत्व तथा पुरुषत्वरूप विशेष का उल्लेख (दर्शन) वहां पूर्व के संशय ज्ञान से रहता है। यदि कहें कि (स्थाणुर्वा पुरुषों वा) इत्यादि स्थानों में दो विशेषों का दर्शन रहता है, अतः 'दारुमयो मांसमयो वा' इसका प्रतिबन्ध नहीं होता, क्योंकि एक विशेष (स्थाणुत्व या पुरुषत्व) का ही दर्शन संशय का विरोधी है, अतः उक्त दोष का प्रसंग नहीं है अर्थात् (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) उसके बाद दारुमयोमांसमयो वा, इसकी अनुपपत्ति नहीं है, तो यह उक्ति भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि किसी शब्दाभासादिरूप हेतु से स्थाणुः पुरुष है, ऐसा एक धर्मी में निश्चयात्मक भ्रम हो जाने पर भी (दारुमयो मांसमयो वा) इस संशय का प्रतिरोध (निवारण) नहीं होगा। क्योंकि, पूर्वज्ञान से दो विशेष उपदर्शन (ज्ञान) कराये गये हैं ॥ १२७ ॥

पूर्वज्ञानेन विशेषद्वयोपदर्शनस्य कृतत्वात्। विशेषदर्शनं हि विशेषनिश्चयो विवक्षितो न तु विशेषज्ञानमात्रं येन संशयोपनीतादपि विशेषात्संशयप्रतिरोधः प्रसज्येतेति चेत् मैवं, संशयेन यावुपदर्शितौ विशेषौ तत्र न संशयस्य निश्चयत्वमिति व्यवस्थायां सिद्धायामुपदर्शितनियामकसिद्धिर्भवति सिद्धे वाऽस्मिन्नियामके संशयस्य विशेषद्वयं प्रति निश्चयत्वं नास्तीति सिद्ध्येदित्यन्योन्याश्रयापत्तेः को वारयिता? स्यादेतत्। संशयज्ञानस्य धर्मिविषयत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽर्द्धवैशसमापद्येत, तच्च तदनभ्युपगमे एव निवर्तते तेन धर्मिज्ञानं निश्चयात्मकमन्यदेव स्थाणुर्वा पुरुषो वेति चान्यदेव संशयज्ञानमित्यभ्युपैष्याम इति चेत् मैवम्, एकधर्मिसंबन्धोपनयनव्यतिरेकेण

स्थाणुत्वपुरुषत्वयोर्विरोध एव नास्तीति स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्येतदेव न स्यात्। न हि यस्य कस्यचित्स्थाणुत्वेन यस्यकस्यचित्पुरुषत्वं विरुध्यते। एकधर्मिसंबन्धमनन्तर्भाव्य विरोधे जगति तयोरन्योन्यस्य व्यतिघ्नतोरसत्वमेव प्रसज्येत ॥ १२८ ॥

विशेषेति। संशयस्य निश्चयाद् भेदे सति संशयोपस्थापितादपि विशेषान्न संशयबाध इति स्यात्स एव तु नाद्यापि सिद्ध इत्याह—संशयेन यावितिं। नियामकसिद्धिरिति विशेषनिश्चयत्वस्य संशयप्रतिबन्धकत्वेन भवदुक्तनियामकस्य सिद्धिरित्यर्थः। तथा च संशयज्ञानस्यानिश्चायकत्वसिद्धौ भवदुक्तनियामकत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च संशयत्वे व्यवस्थिते निश्चयत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

यदि कहें कि 'विशेषदर्शन' इस शब्द से विशेष का निश्चयज्ञान विवक्षित (अभिप्रेत) है ज्ञानमात्र नहीं, जिससे संशय से उपदर्शित (उपनीत = ज्ञात) भी विशेष से संशय का प्रतिरोध प्राप्त हो, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि संशय में निश्चय से भेद सिद्ध होने पर संशय से उपदर्शित विशेष से संशय के बाध का अभाव सिद्ध होगा, वह भेद अभी सिद्ध नहीं हुआ है, और न होने वाला है, क्योंकि जो संशय से विशेषद्वय उपदर्शित होते हैं, उस विषय में संशय में निश्चयरूपत्व नहीं है, इस व्यवस्था के सिद्ध होने पर विशेषनिश्चयत्व को संशयप्रतिबन्धरूपनियामक की सिद्धि होगी, उस नियामक के सिद्ध होने पर संशय को विशेषद्वय के प्रति निश्चयत्व नहीं है, यह सिद्ध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी, उसका कौन वारण करेगा ? फिर शंका यह है कि संशय ज्ञान को धर्मिविषयत्व मानने पर खण्डन प्राप्त होगा। अर्थात् धर्मी अंश में निर्णयत्व तथा धर्मांश में संशयत्व से विभक्त का संकर प्राप्त होगा। वह संकर संशय में धर्मिविषयत्व नहीं मानने पर ही निवृत्त होगा। अतः निश्चयरूप धर्मी का ज्ञान अन्य होता है और वह (सो अयम्) इत्याकारक होता है। फिर स्थाणुर्वापुरुषो वा, ऐसा अन्य ही संशय ज्ञान होता है, यदि ऐसा मानें, तो संकर नहीं होगा। परन्तु ऐसा नहीं मान सकते, उत्तर यह है कि एक ज्ञान द्वारा एक धर्मी के साथ विरोधी धर्मद्वय के सम्बन्ध की प्राप्ति (प्रतीति) के विना स्थाणुत्व एवं पुरुषत्व में विरोध ही नहीं है, अतः एक धर्मिविषयत्व नहीं हो, तो स्थाणुर्वापुरुषो वा, यह विकल्पात्मक आकार ही नहीं होगा। क्योंकि, जिस किसी अन्य धर्मी के स्थाणुत्व के साथ, उससे अन्य जिस किसी धर्मी का पुरुषत्व विरुद्ध नहीं होता। और यदि धर्मी में अन्तर्भाव (विषय) किये विना स्वरूप से स्थाणुत्व पुरुष का विरोधी हो, तो उनके परस्पर के प्रतिघात से संसार में उन दोनों का अभाव ही प्राप्त होगा ॥ १२८ ॥

तस्य धर्मिणो वा पुरुषत्वनिश्चयाद्यथा संशयो निवर्तते नोत्पद्यते वा तथा स्वात्मनः पुरुषत्वनिर्णयात्संशयो निवर्तेत नोत्पद्येत वा विशेषभावाद्यथायं द्रष्टुर्न स्वशरीरविषयः संशयः तथैव पुरोवर्त्तिविषयोऽपि नासौ कथं चेदमर्थेन सामानाधिकरण्याभिमानः योयमूर्द्ध्वताधर्मा स किं स्थाणुरुत पुरुष इति कस्माद्वा प्रत्यभिज्ञानादयोऽप्येकं ज्ञानमङ्गीकृता इत्युच्छिन्ना विशिष्टविज्ञानसंकथा संजातश्च गौरश्वः पुरुष इतिषड्विशकलितो विज्ञानसंसार

इत्यास्तां विस्तराभिनिवेशः। नन्वस्ति तावदयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परस्परविरुद्धार्थावगाही प्रत्ययः स स्वविषयं तथाभूतमुपस्थापयिष्यति, न, उक्तबाधकैः सर्वप्रकारखण्डने परिशेषासम्भवात् ॥ १२९ ॥

शङ्कते—तस्येति। पक्षे संयोगादेः स्वाभावस्य सादेश्याङ्गीकारपक्षे पक्षे धर्मिणि वा ॥१२९॥

और यदि संशय ज्ञान को अग्रवर्ती एक धर्मिविषयकत्व नहीं हो तो उस धर्मी में पुरुषत्व के निश्चय से जैसे उत्पन्न संशय निवृत्त हो जाता है, या संशयोत्पत्ति से प्रथम पुरुषत्व के निश्चय से संशय उत्पन्न ही नहीं होता, वैसे स्वात्मा (अपने शरीर) में पुरुषत्व के निर्णय से संशय निवृत्त होगा, या उत्पन्न ही नहीं होगा। क्योंकि, संशयविषयत्व या अविषयत्वरूप विशेष (भेद) के अभाव से जैसे यह संशय द्रष्टा के शरीर विषयक नहीं, वैसे ही वह अग्रवर्ती विषयक भी नहीं होता है। और अग्रवर्ती वस्तु विषयक नहीं होने पर इदम् (अयम्) शब्द के अर्थ के साथ सामानाधिकरण्य (अभेद) का अभिमान (ज्ञान) कथन कैसे होता है कि जो यह ऊर्ध्वत्वधर्मवाला है, वह क्या स्थाणु है या पुरुष ? यदि कहें कि स्थाणुपुरुष में ऐदमर्थ के सामानाधिकरण्य का व्यवहार होता है, तो सोऽयम्-अयंघटः इत्यादि प्रत्यभिज्ञा आदि को किस हेतु से आपने एक ज्ञान माना है, वहाँ भी 'सः' इत्यादि अंश को पृथक् कहा जा सकता है। और इस प्रकार संशयप्रत्यभिज्ञा आदि को एक ज्ञान नहीं मानने पर विशिष्टज्ञान की सत्यत्वकथा उच्छिन्न हो जायगी और यह संजात (सम्यक् सिद्ध) सिद्ध होगा कि (गौः, अश्वः, पुरुषः इत्यादि के समान विशकलित = विभिन्नक्षणिकविज्ञानमय संसार है। अब विस्तार का अभिनिवेश व्यर्थ है। फिर भी शंका होती है कि स्थाणुर्वापुरुषो वा, यह परस्परविरुद्धार्थ को ग्रहण करने वाला जो ज्ञान प्रसिद्ध है, वह निर्विषयक नहीं हो सकता, वही अपने अनुकुलविषय (संशय और उसके विषय) को सिद्ध करेगा। उत्तर यह है कि उक्त बाधकों (खण्डनयुक्तियां) से विषय कारण या जातिकृत सब प्रकार के खण्डन होने पर, परिशेष के अभाव से विषयसहित संशय में कल्पितत्व अनिर्वाच्यत्व सिद्ध होता है ॥ १२९ ॥

यच्च स्वरूपमादाय विरुद्धार्थत्वमभिधीयते तदपि निर्वक्तुं न शक्यते। तथाहि भावतदभावयोः को विरोधः ? सहानवस्थानम् इति चेन्न, देशभेदेन सहाप्यवस्थानात्। देशाभेदेन इति चेन्न, संयोगाद्यव्यापकत्वं यद्यभ्युपैषि तथाप्यनुपपत्तिः। प्रकारभेदेन तथाभावस्याभ्युपगमात्। तस्य पक्षे एकेन प्रकारेणैकस्मिन् सहानवस्थानं विरोधः, संयोगाद्यव्यापकत्वानभ्युपगन्तृपक्षे च देशाभेदेन सहानवस्थानं स इति चेन्न, तद्धि तदुभयावस्थानसाहित्यनिषेधो वा तदुभयावस्थाननिषेधसाहित्यं वा स्यात्। आद्येऽप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वं तदुभयावस्थानसाहित्यस्य क्वचिदप्यप्रमितेः शशविषाणनिषेधादेश्च शशके विषाणनिषेधादिरूपत्वाङ्गीकारेण प्रसिद्धप्रतियोगिकत्वाभ्युपगमात्। यदाहैकोऽवस्तुनः प्रतियोगितेति अन्यश्च लब्धरूपं क्वचित्किञ्चित्तादृगेव निषिध्यते इति ॥ १३० ॥

ननु येन संयोगादीनामव्याप्यवृत्तित्वं नाभ्युपगम्यते तन्मते एकेन प्रकारेणेति व्यर्थमत आह—संयोगादीति। स इति। विरोध इत्यर्थः। तद्धीति। सहानवस्थानमित्यर्थः। तदुभयानवस्थानसाहित्यमप्रसिद्धत्वान्निषेद्धुमशक्यमित्याह—अप्रसिद्धेति। ननु शशविषाणं नास्तीति वचनाद्यथा प्रसिद्धमेव विषाणं निषिध्यते तथा प्रकृतेऽपि स्यादित्यत आह—शशेति। तत्र गवादिविषाणं प्रसिद्धमेवाधिकरणे निषिध्यते तत्र व्यधिकरणमेव शशीयत्वं तद्रोमादौ प्रसिद्धं प्रतियोगितावच्छेदकमिति नाप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वमित्यर्थः। ननु क एवमाह यदप्रसिद्धं तन्न निषिध्यतेऽत आह—यदाहेति। एक इति। अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगितेति कुसुमाञ्जलावुदयनः। अन्य इति। प्रमाणटीकायां वाचस्पतिरित्यर्थः। लब्धरूपं ज्ञातस्वरूपं। तादृगिति। यथाप्रमितमित्यर्थः॥ १२०॥

भावाभाव का साक्षात् विरोध है और उसी के सम्बन्ध से अन्यत्र भी विरोध होता है, इस प्रकार जिस भावाभाव के विरुद्ध स्वरूप को ग्रहण करके संशय में विरुद्धार्थत्व कहा जाता है, उस विरुद्ध स्वरूप का भी निर्वचन अशक्य है। भावाभाव का क्या विरोध है? यह वचारणीय है। यदि सहानवस्थान (साथ स्थिति) का अभाव, विरोध कहे, तो देशभेद से साथ (एक काल में) स्थिति से यह नहीं कहा जा सकता। यदि कहें कि देश के अभेदपूर्वक (एक देश में) सहाऽनवस्थान विरोध है, तो संयोग, विभाग, शब्द, आत्मा के विशेष गुणों को यदि स्वाश्रय में अव्यापकत्व मानें, तो भी एक देशानवस्थानरूप विरोध मानने पर भी विरोध की अनुपपत्ति है। क्योंकि मूलादि प्रकार (प्रदेश) भेद से एक वृक्षादि देश में एक ही काल में संयोग तथा उसके अभाव (सहावस्थानत्व) माना जाता है। शब्द एवं आत्मविशेषगुण के भावाभाव सहवृति आकाश और आत्मा में रहते ही हैं। यदि कहें कि संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति मानने वाले के मत में एक प्रकार से एक देश में सहानवस्थान विरोधार्थ है, प्रकार भेद से नहीं और जो संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति नहीं मानते, उनके मत में देश के अभेद द्वारा (एक देश में) सहाऽनवस्थानरूप वह विरोध है, तो इसका उत्तर यह है कि इन दोनों मतों में सहानवस्थान शब्द के अर्थ का निरूपण करना अशक्य है। अतः दोनों मत अयुक्त हैं। क्योंकि वह सहानवस्थान क्या है? क्या भावाभाव दोनों के अवस्थान (स्थिति) के साहित्य (सहवृत्तिता) का निषेध रूप है? अथवा भावाभाव दोनों के अवस्थान के निषेध का साहित्यरूप सहानवस्थान है? ये दो पक्ष हो सकते है। यहाँ प्रथम पक्ष में भावाभाव के अवस्थानसाहित्यरूप प्रतियोगी की कहीं भी प्रमिति के अभाव से अप्रसिद्धप्रतियोगित्व है। अर्थात् उक्त रीति से सहवृत्तिभाव कहीं प्रसिद्ध नहीं हैं जिनका निषेधरूप सहानवस्थान कहा जा सके। यदि कहें कि जैसे अप्रमित (अप्रसिद्ध) शशश्रृङ्ग का निषेध होता है (शशश्रृङ्गं नास्ति) इसी प्रकार अप्रसिद्ध भावाभाव साहित्य का भी निषेध होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि (शशविषाणं नास्ति) इत्यादि स्थान में शशविषाण (श्रृङ्ग) के निषेधादि को शशक में (या शश के शिर में) अन्यत्र गवादि में प्रसिद्ध श्रृङ्ग के निषेधादि के अङ्गीकार से प्रसिद्ध प्रतियोगित्व ही माना जाता है, गवादि में प्रसिद्ध श्रृङ्ग का शशक में आरोप करके उस का निषेध होता है। उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि नामक ग्रन्थ में कहा है कि (अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता) अभावाभावरूपत्व प्रतियोगित्व वस्तु में होता है। और अन्य विद्वान्

कहते हैं कि—(लब्धरूपं क्वचित् किञ्चित्तादृगेव निषिध्यते। विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः) जो कहीं कुछ लब्धरूप वाला है, उसका वैसा ही निषेध किया जाता है, अतः विधि के बिना निषेध का सम्भव नहीं है ॥ १३० ॥

द्वितीये तु तदुभयावस्थानसाहित्यस्वीकार एव स्यात्तदुभयनिषेधयोस्तदुभयतयैवाङ्गीकारात्। परस्परप्रतिक्षेपकत्वं विरोध इति चेन्न, तद्धि परस्परप्रतिक्षेपं प्रतिकारणत्वं वा तदा तदात्म्यं वा ? न प्रथमः। प्रमाणाभावेन तथाविधतत्कार्यानङ्गीकारात्। न द्वितीयः। प्रतिक्षेपशब्दार्थस्योभयानुगतस्यानिर्वचनात् यत्रैकस्य सत्त्वं तत्रापरस्यासत्त्वं नियमेन यत्स विरोधस्तयोः इति चेन्न, सत्त्वासत्त्वयोरेकापराश्रयत्वे वैयधिकरण्यात् सम्बन्धस्य तद्व्यतिरेकत्वे एकसत्त्वस्यैव चापरासत्त्वात्मकतया वचनार्थप्रसङ्गेन पौनरुक्त्याद्यापातात् ॥ १३१ ॥

द्वितीये इति। तदुभयावस्थाननिषेधो हि तदुभयपर्यवसन्न एव घटाभावनिषेधस्य घटत्वाघटत्वनिषेधस्य च घटाभावरूपत्वादित्यर्थः। ननु भावेनाभावः प्रतिक्षिप्यते अभावेन च भाव इति परस्परप्रतिक्षेपकत्वमेव तयोर्विरोध इति आह—परस्परेति। प्रतिक्षेपक इति कर्त्तरि क इति प्रत्ययविवक्षायामाह—कारणत्वं वेति। स्वार्थे कप्रत्ययविवक्षायामाह—तादात्म्यं वेति। प्रमाणाभावेनेति। नहि घटेन स्वाभावलक्षणं कार्यं जन्यते न वा तदभावेन घटलक्षणमित्यर्थः। न द्वितीय इति। प्रतिक्षेपशब्दोभावार्थश्चेत्तदा भावस्तदर्थो न स्यात् भावार्थश्चेत्तदाऽभावार्थो न स्यादित्यर्थः। यत्रैकस्येति। यत्र भावस्य सत्त्वं न तत्राभावस्य तथा च न परस्परापरया सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। घटाकाशत्वस्य घटाश्रयत्वे तदा भावाश्रयत्वस्य तदभावाश्रयतया यत्र तत्रेति सामानाधिकरण्योक्तिर्व्याहन्येतेत्याह—सत्त्वासत्त्वयोरिति। ननु घटतदभावस्वरूपसत्त्वासत्त्वे न विवक्षिते येन वैयधिकरण्यं स्यादपि तु यत्र भूतलादावेकस्य संबन्धस्तत्रापरस्य तदभावस्यासंबन्ध इति विवक्षितमित्याशङ्क्याह—सम्बन्धस्य तद्व्यतिरेकत्वे इति ॥ १३१ ॥

भावाभाव उभय के अवस्थान के निषेध का साहित्यरूप सहानवस्थान है, इस दूसरे पक्ष में तो तदुभयावस्थान के निषेध को तदुभयावस्थान साहित्यरूप ही स्वीकार होगा, क्योंकि भावाभाव का जो निषेध उसके निषेध को भावाभावात्मक ही माना जाता है, तो इस प्रकार भावाभाव के निषेध का निषेध भावाभावरूप सहानवस्थान कहा जायगा। परन्तु यह युक्त नहीं है। भावाभाव में परस्पर प्रतिक्षेपकत्व विरोध है, यह कहना भी असंगत है, क्योंकि, परस्परप्रतिक्षेपकत्व का क्या परस्परप्रति क्षेप (निषेध) के प्रति कारणत्व अर्थ है ? या परस्परप्रतिक्षेप का तादात्म्य (अभेद) ? यहाँ प्रथम पक्ष प्रमाण के अभाव से अयुक्त है। क्योंकि परस्पर भावाभाव के कार्य के अनङ्गीकार से इसमें प्रमाण का अभाव प्रसिद्ध है। यदि घट एवं तदभाव में परस्पर कार्यकारणभाव होता, तो कोई भी अवश्य ऐसा मानता कि घटाभाव का कार्य घट है और घट का कार्य घटाभाव इत्यादि। भावाभाव दोनों में अनुगत प्रतिक्षेप शब्दार्थ के अनिर्वचन से तादात्म्यस्वरूप वाला दूसरा पक्ष भी अयुक्त है प्रतिक्षेप शब्द जब अभावार्थक होगा, तब भावार्थक नहीं होगा, और जब भावार्थक होगा, तो अभावार्थक नहीं होगा।

अतः भावप्रतिक्षेपात्मकत्व अभाव के और अभावप्रतिक्षेपात्मकत्व भाव के होने पर अनुगतरूप के अनिर्वचन और अन्योन्याश्रय से विरोध लक्षण की असिद्धि होगी। जहाँ एक (भाव या अभाव) का सत्त्व हो, वहाँ अपर (अभाव या भाव) का जो नियम से सर्वत्र असत्त्व हो, वही भावाभाव का विरोध है। परन्तु यह भी कहना युक्त नहीं, क्योंकि सत्त्वभाव का धर्म है और असत्व अभाव का दोनों धर्म दोनों में नहीं रह सकते। अतः सत्त्वभाव में रहेगा और असत्त्व अभाव में, इस प्रकार दोनों की व्यधिकरणता (भिन्नाश्रयता) से उनका एकाश्रयत्वरूप विरोध सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् जहाँ भाव का सत्त्व रहेगा वहाँ अभाव का नहीं। अतः परस्पर तादात्म्यापत्तिरूप सामानाधिकरण्य विरोध नहीं हो सकता। यदि कहें कि घट (भाव) और तदभावस्वरूप सत्त्वासत्त्व विवक्षित नहीं है जिससे व्यधिकरणता होगी, किन्तु एक घटादि का जिस अधिकरण भूतलादि में सम्बन्ध हो वहां उसके अभाव का असम्बन्ध हो, ऐसा विवक्षित है। और उस सम्बन्ध की समानाधिकरणता ही भावाभाव का विरोध है तो इस प्रकार एक का सत्त्व (सम्बन्ध) और अपर का असत्त्व (असम्बन्ध) यदि कहें और इस प्रकार के सत्त्वासत्त्वरूप सम्बन्ध यदि भावाभाव का व्यतिरेक (अभाव) रूप हो और विरोध परस्पर प्रतिक्षेप रूप हो तो भाव का सत्त्व सम्बन्ध ही के अपर (अभाव) के असत्त्वात्मक स्वीकार करने से घटाभाव का असत्त्व घटसत्वरूप ही सिद्ध होगा। अतः जहाँ एक (भाव) सत्त्व हो वहाँ अपर (अभाव) असत्त्व हो, इस कथन का यही अर्थ होता है कि जहाँ एक का सत्त्व हो वहाँ एक सत्त्व हो। और ऐसे वचनार्थ (लक्षणार्थ) की प्राप्ति से पुनरुक्ति होगी और घटादि भावरूप प्रतियोगी का ही कथन होगा, अभाव का नहीं। अतः विरोधाश्रय अभाव में लक्षण की अव्याप्ति होगी। और सत्त्वासत्त्व के परस्पर व्यवृत्त होने से भी लक्षण की अव्याप्ति होगी ॥ १३१ ॥

यत्र घटाभाव इत्यत्र खल्वयमर्थो यन्नाम यस्याधेयतया संबन्धी घटाभावस्तत्र घटो नास्तीत्यस्याप्ययमर्थः तस्याधेयतया संबन्धी घटाभाव इति। यत्र घट इत्यस्य कोर्थः यस्याधेयतया सम्बन्धी घटः, तत्र घटाभावो नास्तीति कोर्थः—तस्याधेयतया संबन्धी घटाभावसंबन्धनिषेधः, घटाभावसंबन्धस्य घटाभावात्मकतया घटाभावनिषेधस्यापि घटात्मकतेति। तस्मात्तस्याधेयतया संबन्धी घट इत्येवार्थः। अतो घटतदभावयोर्भेदं मनसिकृत्यापि विप्रतिपत्तव्यमिति। यत्रैकस्यावस्थानं तत्रैकस्यैवेति नियमाभिप्रायेण न पौनरुक्त्यादिः इति चेन्न, नियमस्य यत्किंचिदन्यव्यवच्छेदकत्वेऽसिद्धत्वापातात्। विरोधिव्यवच्छेदकत्वस्य च विरोधानिर्वचनेऽनिर्वचनात् ॥१३२॥

तर्हि घटस्य सत्त्वमेव तदभावासत्त्वमिति यत्र घटसत्त्वं तत्र घटासत्त्वमित्ययमर्थः पर्यवस्येत्। तथाच पौनरुक्त्यादेकस्यैव विरोध इति प्रतियोगिनोभिधानेऽपरानभिधानमित्येवाव्याप्तिरित्यर्थः। पौनरुक्त्यमेव व्याख्याय स्फुटयति यत्र घटाभाव इति। पौनरुक्त्यं व्याख्यायाव्याप्तिमुपसंहरति—तस्मादिति। यद्यपि घटतदभावयोर्भेदो मनसि वर्तते तेनापि तदुभयविरोधस्वरूपमनेन लक्षणेन प्रतिपत्तव्यं न बोद्धव्यमेकस्यैव विरोधप्रतियोगिनोभिधानादित्यर्थः। ननु विशेषश्चेन्न पौनरुक्त्यमिति यत्रैकस्यासत्त्वं तत्रैकस्य सत्त्वमिति द्वितीयं वाक्यं नियमपरमिति नोक्तदोष इति शङ्कते—यत्रैकस्येति। तत्रैकस्यैवेत्येव-

कारस्यायोगव्यवच्छेदार्थस्य घटादि यत्किंचिदन्ययोगव्यवच्छेदश्चेदर्थस्तदा विरोध एव न सिद्धयेन्नवाप्रतिपाद्येतेत्यर्थः। असिद्धत्वापातो लक्षणस्यासम्भवित्वं वा नहि यत्र भूतले कपाले वा घटस्तत्र तत्तद्धर्मादिकमपीति येनान्ययोगव्यवच्छेदः स्यादित्यर्थः। नन्वन्यमात्रं न व्यवच्छेद्यं येनासंभवस्स्यादपितु विरोधिनोऽन्यस्माद्व्यवच्छेदोऽभिमत इति तत्राह—विरोधीति ॥ १३२ ॥

अब पुनरुक्ति का ही प्रदर्शन कराते हैं। उक्त लक्षण के अनुसार यत्र घटाभावः, यहां यह प्रसिद्ध अर्थ होता है कि जिसका आधेय (आश्रित) रूप से सम्बन्धवाला घटाभाव है, 'तत्र घटो नास्ति' इसका भी यह अर्थ है कि उसका आधेयरूप से सम्बन्धी घटाभाव है। और यत्र घटः, इसका क्या अर्थ है जिसका आधेय रूप से सम्बन्धी घट है। और तत्र घटाभावो नास्ति, वहाँ घटाभाव नहीं है, इसका क्या अर्थ है जिसका आधेयरूप से सम्बन्धी घटाभाव के सम्बन्ध का निषेध है और भाववस्तु के संयोगादिसम्बन्ध सम्बन्धी से भिन्न माने जाते हैं, परन्तु अभाव का सम्बन्ध स्वरूप ही होता है, अतः घटाभाव सम्बन्ध के घटाभावात्मकता से घटाभाव के निषेध में भी घटात्मकता (घटस्वरूपता) सिद्ध होती है, अतः घटाभाव सम्बन्ध का निषेध और घटाभाव का निषेध दोनों घटात्मक होते हैं, उन दोनों का पृथक् निषेध पुनरुक्ति होती है। अतः उस घटाभाव का ही आधेयतारूप से सम्बन्धवाला घटरूप यही अर्थ हुआ। इससे घट और उसके अभाव के भेद को मन में करके भी इस लक्षण द्वारा विरोध विप्रतिपत्ति कर्तव्य नहीं है। क्योंकि, इस लक्षण में उक्त रीति से पुनरुक्ति होती है। घट तदभाव के भेद होने पर भी उनके सम्बन्ध निषेध के अभेद होने से विरोध सिद्ध नहीं होता इत्यादि। यदि कहें कि विशेषार्थ के लाभ से शब्द पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, अतः जहां एक का अवस्थान (सत्व) हो, वहां एक ही का सत्व हो, इस प्रकार के नियम के अभिप्राय से पुनरुक्ति आदि दोष नहीं होंगे, तो यह कहना अयुक्त है। क्योंकि एवकार का अयोग व्यवच्छेद अन्ययोग व्यवच्छेद अर्थ होता है वहां 'एकस्यैवावस्थानम्, इस नियम को यदि यत्किञ्चित् अन्य का व्यवच्छेदकत्व हो तो अन्यत्व की प्राप्ति होगी (असम्भव होगा) क्योंकि घटवृत्तितारूपसे यत्किञ्चित् का निषेध करेंगे और और घट में रूपादि रहते ही हैं, उनका निषेध नहीं हो सकता। जहां भूतलादि में घट और घट का अभाव है, वहां भी भूतलत्व भूतलवृत्ति गुणादि रहते हैं। यदि विरोधी का व्यवच्छेदकत्व कहें, तो अभी विरोध के अनिर्वचन से विरोधी का भी निर्वचन नहीं हुआ है जिसका व्यच्छेद हो ॥ १३२ ॥

अभावपक्षे भावव्यवच्छेदो भावपक्षे चाभावव्यवच्छेदो नियमार्थः इति चेन्न, एकरूपानभिधानेऽनुगतविरोधानिर्वचनात्। किंच भावाभावव्यवच्छेदयोरभावभावविधानातिरिक्तयोरनभ्युपगमे पुनरपि च यत्र भावस्तत्राभावो यत्राभावस्तत्र भाव इत्युद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिरभेदादिति पौनरुक्त्याधिकफलाभाव एव। स्यादेतत् भावाभावयोः स्वरूपमेव विरोधः। नचैवं सत्यविरुद्धतापत्तिः यथा सत्ता भावरूपैव सती स्वात्मनि सदिति भवितृव्यवहारं करोति तथा भावाभावौ विरोधात्मानावेव स्वात्मनि विरुद्धरूपं भवितृव्य-

वहारं कुर्वाते कस्येतौ विरोध इति चानुयोगे स्वाश्रयस्येत्युत्तरम्, किं तत्र विरोधफलमिति प्रश्ने भेदव्यवस्थानमित्यभिप्रेयम्। यदाहायमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति ॥ १३३ ॥

ननु विरोधित्वेनान्यपदार्थनिवचने दोषः स्यादिह तु तत्रैकस्यैवेत्येकपदेनाभावविवक्षायां भावव्यवच्छेद इति नोक्तदोष इति शङ्कते—अभावपक्ष इति। सकृदुच्चरितात्सकृदर्थप्रतिपत्तिरित्येकपदस्यैकमात्रपरत्वेनानुगमो दोष इति परिहरति—एकरूपेति। किंच यत्रैकस्यैवेत्यवधारणे यत्र घटस्तत्र घट एव न तदभाव इति घटाभावनिषेधे घटविधिरेव स्यादिति तदेव पौनरुक्त्यं स्यादित्याह—किंचेति। ननु भावाभावयोर्धर्म न विरोधः किंतु तावेव विरुद्धावुभाविति व्यवहारश्च स्वाभाव्यादेवेत्याह—स्यादेतदिति। भवितृव्यवहारं धर्मिव्यवहारं दर्शितं विरोधफले परसंमतिमाह—अयमेव हि भेद इति। विरोध एव विरुद्ध इत्याह—विरुद्धधर्माध्यास इति। विरुद्धौ धर्मौ भावाभावौ गोत्वागोत्वरूपौ वा तदध्यासस्तदध्यवस्थानमित्यर्थः ॥ १३३ ॥

अब शंका यह होती है कि विरोधीरूप से अन्य पदार्थ के निर्वचन में विरोध के निर्वचन के बिना उसका निर्वचन नहीं हो सकता, यह कहा गया है। यहाँ भावाभाव से अन्य विरोधी का व्यवच्छेद नहीं होता है किन्तु 'एकस्यैव' इस एवकार से भावपक्ष में अभाव का व्यवच्छेद होता है एवं अभावपक्ष में भाव का व्यवच्छेद होता है, अतः उक्त दोष नहीं है। उत्तर यह है कि 'एकस्यैव' से कभी भाव का कभी अभाव का ग्रहण होता है, यह नहीं हो सकता। एक बार उच्चारित शब्द एक अर्थ का ही बोधक होता है। अतः भावाभावसाधारण एक स्वरूपवाले लक्षण के अकथन से अनुगत विरोध का निर्वचन नहीं हो सकता, और भाव तथा अभाव के व्यवच्छेद (निषेध) को अभाव और भाव के विधान (विधि) से अतिरिक्त नहीं मानने पर, फिर जहां भाव है वहां भाव है, जहां अभाव है वहां अभाव है, इस प्रकार यहां अभेद होने से उद्देश्यविधेयभाव की अनुपपत्ति और पुनरुक्ति से अधिक फल का अभाव ही है। भावाभाव के स्वरूप से अतिरिक्त विरोध शब्दार्थ की सिद्धि नहीं होने पर शंका होती है कि यह हो सकता है कि भावाभाव का स्वरूप ही विरोध है। यदि कहें कि विरोधवाला विरोधी या विरुद्ध कहा जाता है और भावाभाव स्वयं विरोधरूप हैं, तो ऐसा होने पर इनमें अविरुद्धता की प्राप्ति होगी। ये परस्पर विरोधवाले नहीं रह जायेंगे, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि जैसे सत्तास्वयंभाव (सत्त्व) रूप ही होती हुई अपने स्वरूप में सत्ता है। इस प्रकार सत्ताधर्मी व्यवहार को सत्ता ही सिद्ध करती है, इसी प्रकार विरोध स्वरूप ही भावाभाव अपने स्वरूप में विरुद्धरूप विरोधाश्रय व्यवहार को सिद्ध करते हैं। यदि शंका हो कि विरोध तो सप्रतियोगिक धर्म प्रतीत होता है। विरोध किसी का किसी से होता है। अतः भावाभाव यदि विरोध है, तो यह किसका विरोध है, ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह है कि अपने आश्रय का विरोध है, अपने आश्रय का धर्मरूप है। उस आश्रय में भावाभावरूप विरोध का फल क्या होता है? ऐसा प्रश्न होने पर भेद का व्यवस्थान (व्यवस्था) फल है, ऐसा उत्तर दिया जाता है। आचार्य ने कहा है कि (यह विरुद्ध धर्म का अध्यास और कारण का भेद ही भेद का हेतु है, यहां विरुद्ध धर्म भावाभावादि मन्तव्य है, उनका अध्यास = निश्चय इत्यादि अर्थ है ॥१३३॥

तदेतदनुपपन्नमेतयोर्विरोधत्वं प्रत्येकं वा स्यान्मिलितयोर्वा । नाद्यः । प्रत्येकमेवाश्रयैकत्वभङ्गप्रसङ्गात् । नैकत्वाभावो भेदोऽभिमतः किंत्वन्योन्याश्रयापेक्षभेदरूपधर्मवत्त्वम् इति चेन्न, तस्याभावात् । कालभेदेनैकस्य भावाभावाश्रयत्वाभ्युपगमात्तदभेद इति चेन्न, तदभेदस्य स्वाभाविकस्य विवक्षितत्वविशेषणवैयर्थ्यात् । एकोपाध्यवच्छिन्नस्य विवक्षितत्वे कालभेदाभिमतेऽपि संभवात् । भिन्नोपाध्यनवच्छिन्नत्वस्य विवक्षितत्वेऽसम्भवात् ॥ १३४ ॥

प्रत्येकमेवेति । ननु विरुद्धधर्माध्यासेन एकत्वभङ्गो नाम भवति किंतु विरुद्धयोर्द्धर्मयोराश्रयभेद इति शङ्कते—नैकत्वेति । अन्योन्याश्रयभेदोऽपि पाकरक्तघटादौ नास्तीत्याह—तस्याभावादिति । रक्तरूपाभाववत एव घटस्य रक्तरूपदर्शनेनाश्रयभेदस्य भावादित्यर्थः । ननु कालाभेदेन विरुद्धौ धर्मौ नाश्रयभिदौ मताविति नियम इति शङ्कते—कालेति । तदभेदस्येति । यदि कालभेदो भवेत्तदा तद्व्यावर्त्तनार्थं कालभेदेनेति विशेषणमर्थवत्स्यान्नत्वेवमित्यर्थः । नन्वेकोपाध्यवच्छिन्ने एकस्मिन्नपि काले भावाभावाश्रयभेदकाविति शङ्कते—एकोपाधीति । एकदिनावच्छेदेनैकत्रैव भूतले घटतदभावयोरसत्त्वात्तादृशोरपि नाश्रयभेदकत्वमित्यर्थः । कालभेदाभिमतः प्रहरमुहूर्त्तादिस्तत्रापि संभवादाश्रयभेद इत्यर्थः । भिन्नोपाध्यनवच्छिन्ने काले भावाभावौ भेदाश्रयभेदकौ तत्राह—भिन्नोपाधीति ॥ १३४ ॥

यह भावाभावस्वरूप विरोधवर्णन अयुक्त है । इसका विवेचन इस प्रकार है—क्या यहां प्रत्येक में विरोधत्व होगा ? या मिलित में ? यहां प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्येक में अपने आश्रय के एकत्व का भञ्जकत्व होगा, अर्थात् भाव या अभावरूप विरोध जिस एक आश्रय में रहेगा, उसके विरोधात्मक होने से उसका एकत्व नहीं रहने देगा, द्वित्व स्थापित करेगा । तब वहाँ विरोधसार्थक होगा । अन्यथा एक व्यक्ति में निरर्थक रहेगा और आश्रय को भिन्न करके अपने स्वरूप को भी भिन्न-भिन्न करेगा । यदि विरोधी धर्म द्वारा एकत्वाभावरूपभेद अभिमत नहीं हो किन्तु अन्योन्याश्रय की परस्पर अपेक्षावाला भेद (भावाभाव) रूप धर्मवत्त्व (भेद विरोध) विवक्षित है । अतः प्रत्येक के आश्रय में भेद की प्राप्ति नहीं हो सकती । तो, यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि रक्तत्व और तदभाव दोनों कालभेद से घटादि में रहते हैं । और वहां आश्रय का भेद 'अन्योन्याश्रयत्व' नहीं रहता । अतः वहां अव्याप्ति होगी । यदि कहें कि घट के रक्तत्वादि में काल के भेद से भावाभाव के आश्रयत्व के अभ्युपगम से वहां आश्रय का अभेद रहता है, और एक काल में भावाभावाश्रयत्व अन्योन्याश्रयाश्रित रहता है, अतः विरोध नहीं है, क्योंकि कालभेद से विरुद्ध धर्म आश्रय का भेदरूप नहीं माना गया है, किन्तु काल का अभेद रहते—अर्थात् समकालिक विरुद्ध धर्म (भावाभाव) आश्रय का भेदरूप माना गया है । परन्तु यह कहना भी असंगत है, क्योंकि प्रथम कालभेद सिद्ध हो तो उसकी व्यावृत्ति के लिये कालाभेद यह विशेषणसार्थक हो सकता है, अतः उस काल का अभेद स्वाभाविकत्व विवक्षित होने पर व्यावर्त्य कालभेद के अभाव से विशेषण व्यर्थ होगा । यदि किसी एक उपाधियुक्त काल का अभेद विवक्षित हो, वर्षोपाधि से अवच्छिन्न (युक्त) काल के एक होने से भूतल में अनेक भावाभावत्व होते भी भूतल का भेद नहीं होता है, और एक वर्षोपाधियुक्त काल में

मासपक्षादि काल भेद के अभिमत में भावाभाव का सम्भव रहता है, परन्तु आश्रय का भेद नहीं होता। यदि कहें कि भिन्न उपाधि से अनवच्छिन्न काल में वर्तमानभावाभाव आश्रय का भेदक होता है, तो इस प्रकार भिन्नोपाधि से अनवच्छिन्नत्व के विवक्षित होने पर असम्भव होगा। क्योंकि, सूर्यचन्द्रादि के अनेक कियादिरूप उपाधि से सब काल युक्त हैं। भिन्नोपाधि से अनवच्छिन्न काल का ही अभाव है ॥ १३४ ॥

असहावस्थितभिन्नोपाध्यनवच्छिन्नस्य वांछितत्वे सहत्वस्यैककालरूपत्वेन तत्रापि कालाभेदविकल्पानुवृत्त्यापत्ते.। मिलितत्वं चानयोरेकदेशत्वं वाभिमतमेककालत्वं वा एकप्रकारेण वृत्तिर्वा वृत्तिप्रकारान्यैकोपाध्यवच्छेदो वा। नाद्यः भावात्यन्ताभावयोस्तदभावात्। न द्वितीयः। भावस्य प्रध्वंसप्रागभावाभ्यां तदनुपपत्तेः। न तृतीयः। संयोगाद्यव्याप्यवृत्तितावादिपक्षे गगनादौ संयोगभावाभावयोस्तदभावात् ॥ १३५ ॥

असहेति। असहत्वं हि सहत्वप्रतियोगिनिरूप्यं सहत्वं चैककालीनत्वं चेत्तदातिप्रसङ्गः, एकोपाध्यवच्छिन्नकालीनत्वं चेत्तदोक्तदोषापत्तिरित्यर्थः। मिलितौ भावाभावौ विरोध इति पक्षं दूषयति—मिलितत्वमिति। एकप्रकारेणेति। एकावच्छेदेनेत्यर्थः। वृत्तीति। वृत्तिप्रकारः शाखामूलादिः तद्भिन्नोपाध्यवच्छिन्नत्वमित्यर्थः। तदभावादिति। एकदेशत्वाभावादित्यर्थः। तथा च तयोर्मिलितत्वाभावाद्विरोधो न स्यादिति भावः। तदनुपपत्तेरिति। विरोधानुपपत्तेरित्यर्थः। तदभावादिति। एकावच्छेदेन वृत्त्यभावाद्विरोधानापत्तेरित्यर्थः। गगनादावप्यवच्छेदभेदेनैव संयोगतदभाववृत्त्यभ्युगमादिति भावः ॥ १३५ ॥

सूर्यचन्द्रादि की क्रिया की सहस्थिति रहती है। उन से अन्य असहावस्थितभिन्न उपाधि से अनवच्छिन्न एक काल विवक्षित हो और काल में भावाभाव का अन्योन्याश्रय प्रतियोगिक भेद विरोध हो, तो सहत्व के एककालरूपत्व होने से उस में भी एकत्व स्वाभाविक है? या औपाधिक? इस प्रकार के काल भेद विकल्प की अनुवृत्ति (सम्बन्ध) प्राप्त होगी। अर्थात् सहत्व का असहत्व है और सहत्व एककालिकत्व है। वह स्वाभाविक है? या औपाधिक? इत्यादि विकल्प यहां भी प्राप्त होगा। मिलितभावाभाव विरोध रूप है, इस पक्ष में भावाभाव में मिलितत्व, एकदेशवृत्तित्व अभिमत है? या एक कालवृत्तित्व? या एक विशेष प्रकार से वृत्तित्व या वृत्तिप्रकार से भिन्न (अवच्छेदक से भिन्न) एक उपाधि। भावाभाववृत्ति धर्म, से अवच्छिन्नत्व (व्युक्तत्व)? यहाँ भाव और अत्यन्ताभाव के एकदेशवृत्तित्व के अभाव से प्रथम पक्ष अमान्य है। और भाव (प्रतियोगी) को प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के साथ एक काक में वृत्तित्व के अभाव से दूसरा पक्ष भी नहीं माना जा सकता। एक प्रकार (अवच्छेदक) रूप से वृत्तित्वरूप तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है। संयोगादि के अव्याप्यवृत्तितावादी पक्ष में गगनादि में संयोग के भावाभाव को तदभाव (एक प्रकार = एकावच्छेद) से वृत्तित्व के अभाव से विरोध के अभाव की प्राप्ति होगी। आकाशादि में संयोगादि और उस का अभाव आकाशादि के प्रदेश (प्रकार) भेद में रहता है। भावाभाव दोनों एक देश में नहीं रहते। अतः मिलितत्व के अभाव से विरोधत्व भी नहीं होगा ॥ १३५ ॥

अव्याप्यवृत्तिधर्मानभ्युपगन्तृपक्षे भावाभावयोर्वृत्तौ प्रकारान्तराभावे प्रमाणाभावात्। नापि चतुर्थः। स हि यदि निर्देष्टुं शक्यते तदापि भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोर्वैकदानभ्युपगमेन तद्विशेषितयोरप्येकदावश्यमनभ्युपगन्तव्यतया कदा विरोधस्य तदाश्रयतेति वक्तुमशक्यत्वात्। किञ्च भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोर्यदि तथाभावोऽभ्युपगम्यते तदाश्रयभेदप्रसङ्गः अभावान्तरेऽपि सावकाशत्वात् न परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं च। परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वं हि भावात्यन्ताभावयोरेव। अथ नाभ्युपगम्यते, तदा भावप्रागभावयोर्भावप्रध्वंसयोश्चाविरोधापत्तिः॥ १३६॥

अव्याप्यवृत्तीति। येनाव्याप्यवृत्तित्वं संयोगादीनां नाभ्युपगम्यते तेन भावाभावयोरवच्छेदोऽभेदान्तर्भावे तन्निवृत्तिरपि नाभ्युपगम्यते तदभावान्मिलितत्वं तयोर्न स्यादिति तद्घटितोऽपि विरोधो न स्यादित्यर्थः। सहीति। वृत्तिप्रकारादन्य एक उपाधिभावोऽप्रामाणिक एव। यदि च केचित्तदुपाधयो वाच्यास्तदा प्रतियोगिना सह प्रागभावप्रध्वंसयोर्मिलितत्वं संभवतीति तयोरविरोधः स्यादित्यर्थः। तदाश्रयतेति। प्रतियोगिना सह प्रागभावप्रध्वंसाश्रयतेत्यर्थः। किंच घटतत्प्रागभावयोर्विरुद्धाश्रयत्वेन कपालमपि स्वस्माद्भिद्येतेत्याह—किंचेति। किञ्च घटतत्प्रध्वंसप्रागभावयोः परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वमपि विरोधो न संभवति। नहि घटः स्वप्रागभावमात्रं प्रतिक्षिपति ध्वंसस्यापि प्रतिक्षेपात्। नापि ध्वंसमात्रम्। प्रागभावस्यापि प्रतिक्षेपात्। न च तत्प्रागभावो घटमात्रं प्रतिक्षिपति। तत्प्रध्वंसस्यापि प्रतिक्षेपात्। एवमन्यत्रापीत्याह— अभावान्तरमिति। प्रतियोगिप्रागभावयोः प्रतियोगिप्रध्वंसयोः परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वानभ्युपगमे दण्डमाह— तदा भावेति॥ १३६॥

अव्याप्यवृत्तिधर्मरूप संयोगादि को नहीं मानने वाले। अर्थात् गगनादि में संयोगादि का भाव है, अभाव नहीं, क्योंकि, निरवयव गगनादि में प्रदेशभेद के अभाव से, ऐसा नहीं हो सकता है कि कहीं संयोगादि रहें और कहीं उनका अभाव रहे, ऐसा मानने वाले के पक्ष में भावाभाव की वृत्ति (वृत्तित्व) में प्रकारान्तर के (अवच्छेदक भेद के) अभाव में प्रमाण का अभाव है और एक प्रकार से मिलितत्व नहीं है। अतः एक प्रकार से यह विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि उसका व्यवच्छेद्य नहीं है। वृत्तिप्रकार से भिन्न एकोपाध्यवच्छेदरूप चतुर्थ पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि वह उपाधि निर्देश के योग्य नहीं है। यदि किसी प्रकार निर्देश के योग्य भी हो तो, प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव में प्रतियोगी के साथ एककाल में वृत्तित्व के अस्वीकार से उस उपाधि से विशेषित (युक्त) भावाभाव को एक काल में अवश्य अस्वीकार्य होने से कब विरोध होगा और कब विरोध की आश्रयता होगी, यह कहना अशक्य है क्योंकि समकालिक में विरोध होता है और यदि भाव प्रागभाव एवं भावप्रध्वंस में विरोध मानें तो उनके आश्रय में भेद होगा। घटप्रागभाव एवं तत्प्रध्वंस का अधिकरण कपाल घट का अधिकरण नहीं हो सकेगा, कपालभिन्न हो जायगा। अतः कपालान्तर में घट के उत्पन्न होने पर भी प्रागभाव वर्तमान रहेगा इत्यादि। और अभावान्तर में भी सावकाश होने से घट-तत्प्रागभाव एवं घट-तत्-ध्वंस परस्पर प्रतिक्षेप (निषेध) रूप विरोधात्मक भी नहीं है। क्योंकि घट स्वकाल में प्रागभावमात्र का प्रतिक्षेप नहीं करता, किन्तु ध्वंस का भी प्रतिक्षेप करता है। ऐसे ही वह ध्वंसमात्र का प्रतिक्षेप नहीं करता, किन्तु

प्रागभाव का भी प्रतिक्षेप करता है। इसी प्रकार प्रागभाव स्वकाल में प्रतियोगी मात्र का प्रतिक्षेप नहीं करता किन्तु ध्वंस का भी प्रतिक्षेप करता है। और ध्वंस अपने काल में प्रतियोगी तथा प्रागभाव दोनों का प्रतिक्षेप (विरोध=निषेध) करता है अतः प्रतियोगी और प्रागभाव दोनों ही परस्पर प्रतिक्षेपात्मक नहीं हैं। क्योंकि, अभावान्तर (अन्य की अभावरूपता) में भी सावकाश है। अभावान्तर (अत्यन्ताभाव) रूप संसर्गाभाव में भी भिन्नाश्रयत्व से ही परस्पर प्रतिक्षेपात्मकता सावकाश है। अतः भिन्नाश्रयत्व के बिना प्रागभावदि में परस्पर प्रतिक्षेपात्मकत्व नहीं हो सकता। और एक उपाधि रहने पर (समानाधिरण रहने पर) विरोध नहीं हो सकता। परस्पर निश्चित प्रतिक्षेपस्वरूपत्व भाव और अत्यन्ताभाव में ही है, अन्य में नहीं। यदि प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी के साथ विरोध (प्रतिक्षेपात्मकत्व) नहीं मानें तो उन का प्रतियोगी के साथ अविरोध होगा। अर्थात् एक काल में एक अधिकरण में वृत्तिता होगी ॥ १३६ ॥

तत्तदसत्त्वमात्रयोर्विरोधो न तु तत्तदसत्त्वविशेषयोः इति चेन्न, विशेषस्य तथात्वाविरोधात्कदापि सहावस्थितियोग्यतापत्तेः। नियमेन तथात्वे च विरोधव्याघातान्मात्रशब्देन च यदि विशेषशून्यत्वमसत्त्वस्योच्यते तदा तदनभ्युपगम एव प्रमाणभावात्। न हि निर्विशेषासत्त्वमात्रसद्भावे प्रमाणमभिधातुं शक्यते। अथ मात्रशब्दोपादानं सत्यपि विशेषेऽसत्त्वस्य साधारणरूपपुरस्कारेण विरोधव्यवस्थितिप्रदर्शनार्थं तदा भावप्रध्वंसयोस्तादृगेव दोषापत्तिः। प्रध्वंसादौ विशेषे सामान्यरूपस्यावश्याभ्युपगम्यत्वात्तदादायैव विशेषे विरोधपर्यवसानात् ॥ १३७ ॥

ननु घटप्रागभावयोर्न विरोधोऽपितु घटतदभावयोरेवेति परस्परप्रतिक्षेपात्मकत्वमपि तादृप्येणेति शङ्कते—तत्तदसत्त्वमात्रयोरिति। एवं सति घटतत्प्रागभावयोर्विरोधो न स्यादेककालसमावेशोऽपि स्यादिति परिहरति—नेति। ननु घटतत्प्रागभावयोरयं स्वभावो यदेतौ विरोधं विनापि सह न भवत इत्याशङ्क्याह—नियमेनेति। एवं सति विरोध एव तयोः पर्यवसन्न इत्यर्थः। सत्त्वासत्त्वमात्रयोरित्यत्र मात्रपदार्थं विकल्पयति—मात्रशब्देनेति। अभावत्वसामान्यस्य निर्विशेषत्वं वा मात्रार्थो विशेषविवक्षितत्वं वा। यदाद्यः तदा विशेषपुरस्कारेण घटतत्प्रागभावयोरविरोधे समावेशः स्यादेवेत्यर्थः। तर्कखण्डनं—सङ्गतिं कुर्वाण एव विशेषं शङ्कते—प्रध्वंसादाविति। सामान्ययोरेव विरोधो विशेषद्वयविरोधपर्यवसायी सामान्यस्य विशेषनियतत्वादिति कथं तयोरविरोधः। किंच त्वयापि भावाभावयोर्विरोधश्चेन्नाभ्युपगम्यते तदाऽनिष्टमापतेदित्यर्थः। केचित्तु प्रध्वंसादावित्यादिपूर्वग्रन्थोपपादकतया व्याचक्षते ॥ १३७ ॥

अब शंका यह होती है कि प्रतियोगी और तदसत्त्वमात्र का सामान्य भावाभावरूप से विरोध है, तत्तदसत्त्व (प्रागभावत्वादि) विशेषरूप से नहीं, अतः उन में परस्पर प्रतिक्षेपकत्व नहीं होता और न प्रतियोगी से आश्रय भेद ही होता। उत्तर यह है कि तो भी विशेष प्रागभावादि का उक्तरीति से प्रतियोगी के साथ अविरोध होने के कारण प्रतियोगी के साथ कभी स्थिति की योग्यता होगी। यदि कहेंकि प्रतियोगी और प्रागभाव का यह स्वभाव है कि नियम से विरोध के बिना सहवृत्तित्वा-

भाव होना, तो नियम से सहवृत्तित्वाभाव होने पर विरोध ही सिद्ध होता है। विरोध के बिना कहना, यह विरुद्ध है। और 'तत्तदसत्त्वमात्रयोः, यहाँ मात्र शब्द से किस की व्यावृत्ति विवक्षित है ? यदि विशेष अभाव की व्यावृत्ति विवक्षित हो, अतः विशेष शून्यत्व सामान्यासत्त्व (अभाव) को कहा जाय, तो सब विशेष से रहित उस सामान्य का अनभ्युपगम (अस्वीकार = अभाव) ही प्रमाण के अभाव से प्राप्त होगा। क्योंकि, विशेष रहित असत्त्व (अभाव) मात्र में प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि विशेष के रहते भी असत्त्व (अभाव) के साधारण स्वरूप के स्वीकार द्वारा ही विरोध व्यवस्था के प्रदर्शनार्थक मात्र शब्द का ग्रहण हो कि सत्त्वासत्त्वमात्र से भावाभाव में विरोध भासता है, इत्यादि, तो भाव और प्रध्वंस में पूर्वोक्त के समान ही दोष की प्राप्ति है। अर्थात् सामान्यद्वारा विशेष में भी विरोध से घट और तद्ध्वंस में भिन्नाश्रयत्व होगा। क्योंकि, ध्वंसादिविशेष में सामान्यरूप के अवश्य स्वीकार से उस सामान्य स्वरूप का ग्रहण करके ही विशेष में विरोध का पर्यवसान होगा ॥ १३७ ॥

भावाभावयोर्विरोधानभ्युपगमे तवाप्यनिष्टापत्तिरिति चेत् , केयमापत्तिस्तर्कभेद इति चेत् , अथ कस्तर्कः, अभ्युपगतव्याप्यं प्रति व्यापकप्रसञ्जनं च स्वीकारार्हताबोधनम् इति चेन्न, अव्याप्तेः। अस्ति ह्यप्रसङ्गोऽपि संभावना नाम तर्कः। तद्यथा यदि जलं सहकारिभिः संपत्स्यते तदा मे तृषं शमयिष्यतीति, इष्टापादनेऽपि गतत्वाच्च। अनभ्युपगतव्यापकमित्यपि इति चेन्न, तथाभूतमपि प्रत्यव्याप्याद्व्यापकप्रसञ्जने गतत्वात्। व्याप्येनेत्यपि कार्यम् इति चेन्न, विकल्पासहत्वात् ॥ १३८ ॥

भावाभावयोरित्यादिग्रन्थमग्रिमशङ्कागामिनं तर्कस्तु सर्वशङ्कानिवारणपटीयान्विजयत इति सिद्धान्तिनामभिमानस्तमेवन्निराकर्तुं तत्तत्पदार्थखण्डनानन्तरं तर्कखण्डनं प्रस्तौति—अथेति। अभ्युपगतेति। अभ्युपगतो व्याप्यो येन वादिना तं प्रति व्यापकप्रसञ्जनमित्यर्थः। अनुमितावतिव्याप्तिं निराचिकीर्षुस्तत्प्रसञ्जने विवेकमाह—प्रसञ्जनमिति। नहि धूमेन वह्न्यभावो बोध्यते किंतु वह्निरेव बोध्यते इति नानुमितावतिव्याप्तिरिति भावः। अत्र संभावनातर्कादिष्वव्याप्तिमाह—अव्याप्तेरिति। संभावनां विवृणोति—तद्यथेति। उदन्योपशमो व्यापको जलस्य सहकारिसंपत्तिः पानरूपा व्याप्या तर्केन तु कश्चित्प्रति तदा प्रतिपाद्यते इति प्रसङ्गत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। ननु तर्कमात्रमिह न न लक्ष्यं किंतु प्रसङ्गात्मक एकस्तर्को लक्ष्य इति नाव्याप्तिरित्याशङ्क्याह—इष्टापादनेऽपीति। तर्काऽभासेऽपि तर्कलक्षणं गतमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। ननु व्यापकाभ्युपगन्तारं प्रति तत्रेष्टापादनं स्याद्येन तु नाभ्युपगम्यते तं प्रति तदापादनं तर्क इति नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—अनभ्युपगतेति। यत्र व्याप्यस्याभ्युपगमात्रं न तु वस्तुगत्या व्याप्त्वं तेनानभ्युपतव्यापकं प्रति प्रसज्जनं तत्रातिव्याप्तिः प्रशिथिलमूलतयातर्काभासत्वादिति परिहरति—तथा भूतमपीति। ननु वास्तवं व्याप्यत्वं प्रसञ्जनप्रयोजकमुक्तं तथा च न प्रशिथिलमूलेऽतिव्याप्तिरिति शङ्कते—व्याप्येनेति ॥ ३८ ॥

अब शंका यह होती है कि भावाभाव के विरोध को नहीं मानने पर आप को भी अनिष्ट की प्राप्ति होगी। क्योंकि, बन्धाभावरूप मोक्ष को चाहने वाले आप को भी बन्ध और तदभाव में विरोध इष्ट है, नहीं मानने से अनिष्ट की प्राप्ति होगी। बन्धमोक्ष का भेद सिद्ध नहीं होगा। उत्तर यह है कि अनिष्टापत्ति भी अनिर्वाच्य है। यदि कहें कि

तर्कभेद (तर्क विशेष) रूप है, तो वह तर्क क्या है? यह विचारणी है। यदि कहें कि व्याप्य को मान कर जो व्यापक को नहीं मानता हो उस के प्रति व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है, और उसके प्रति व्यापक के स्वीकार की योग्यता को बोधन प्रसञ्जन कहा जाता है। जैसे पर्वत में व्याप्य प्रत्यक्ष धूम को मान कर अग्नि को नहीं मानता हो, तो कहा जाता है कि धूम के व्यापक अग्नि के बिना अविच्छिन्नमूलरेखावाला धूम नहीं रह सकता। अतः अग्नि मन्तव्य है, यह तर्क है। परन्तु यह लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि भावनारूप तर्कादि में इस लक्षण की अव्याप्ति है। उक्त प्रसञ्जन से भिन्न अप्रसञ्जनरूप सम्भावना नाम का तर्क भी है। और वह सम्भावना ऐसी होती है कि यदि इस जलाभावस्थान में भी सहकारियों द्वारा जल सम्पन्न (सिद्ध = पीत) होगा, तो मेरी तृषा (पिपासा) को निवृत्त करेगा, यह भी तर्क है। परन्तु यह उत्कटैककोटिक आशंका रूप है। यदि अग्नि न हो तो धूम भी नहीं हो, धूम है, अतः अग्नि भी है, ऐसा प्रसञ्जन रूप नही है। अतः लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि कहें कि इस लक्षण का तर्क मात्र लक्ष्य नहीं है, किन्तु प्रसङ्ग मात्र है, अतः अव्याप्ति नहीं है। तो भी इष्टापादनरूप तर्काभास में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति है। अर्थात् पर्वत में जो अग्नि को मानता ही हो, उस के इष्ट का ही प्रतिपादन करे तो वह तर्क नहीं कहा जाता, परन्तु उक्त लक्षण वहाँ भी प्राप्त होता है। यदि उस अतिव्याप्ति के वारण के लिये अनभ्युपगत व्यापक भी कहें कि व्याप्य के स्वीकार पूर्वक व्यापक का स्वीकार नहीं करने वाले के प्रति व्यापक का प्रसञ्जन तर्क होता है, तो भी अतिव्याप्ति से लक्षण युक्त नहीं है। व्यापक को नहीं मानने वाले के प्रति भी जहाँ वस्तुतः अव्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जनरूप तर्काभास होता है—यदि पर्वत इन्धन वाला होगा तो अग्नि वाला अवश्य होगा इत्यादि, उस में भी लक्षण प्राप्त होता है। अतः अतिव्यप्ति है। यदि कहें कि लक्षण में व्याप्य यह भी निवेशनीय है। अनभ्युपगत व्यापक के प्रति वस्तुतः व्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जन तर्क है, तो यह लक्षण भी युक्त नहीं। क्योंकि यह वक्ष्यमाण विकल्प (विचार) को नहीं सह सकता ॥ १३८ ॥

किं परमार्थतो व्याप्यव्यापकभावव्यवस्थितयोः स्वरूपेणेष्टानिष्टत्वमुत व्याप्यव्यापकयोर्भावेन तत्। नाद्यः। तथात्वाज्ञानेन वैपरीत्येनेष्टेनापि प्रसञ्जने प्रसङ्गात्। अन्यथा परैस्तथात्वेनानङ्गीकृतेन स्वयमपि परान् प्रति तथात्वेन व्युत्पादयितुमशक्तेन परमार्थतस्तथाभूतेन प्रसञ्जने जयप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। स्वयमपि तथेष्टानिष्टतायां सत्यां कृते तादृशि प्रसङ्गे यत्रोभयोरित्यादिना दोषेण सत्प्रसङ्गतयानिष्टेऽपि गततयातिव्यापकत्वात् ॥१३९॥

एवं सतीष्टव्याप्यं प्रति व्याप्येनानिष्टस्य व्यापकस्य प्रसञ्जनं तर्क इति लक्षणमुक्तं स्यात्। तत्र विकल्पेन दोषमाह—किमिति। यं प्रत्यापादनं क्रियते तस्येष्टत्वमनिष्टत्वमवश्यं वक्तव्यं तथा च येन पक्षे धूमस्वरूपमिष्यते वह्निस्वरूपं च नेष्यते तं प्रति व्याप्येन धूमेन व्यापकस्य वह्नेरापादनं तर्कः किंवा येन धूमस्य व्याप्यत्वमिष्यते पक्षस्तु वह्निमत्तया नेष्यते तं प्रति व्याप्येन व्यापकापादनमिति विकल्पार्थः। वास्तवीं व्याप्तिमजानानस्तं प्रति प्रसङ्गस्तर्कः स्यादित्यति

व्याप्तिमाह—तथात्वाज्ञानेनेति । उभयसिद्धव्याप्तेरेव प्रसङ्गमूलत्वादिति भावः । दोषान्तरमाह—वैपरीत्येनेति । वादिना व्याप्यत्वेनेष्टापादनेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । आपादकेन वास्तवीं व्याप्तिमनुरुध्यापादनसम्भवादिति भावः । यद्व्याप्यव्यापकभाववैपरीत्येनेत्यर्थः । तथा च वह्नेर्व्याप्यत्वेनाभ्युपगन्तारं प्रति धूमेन तदापादनं तर्कः स्यादित्यर्थः । ननु वस्तुमतीव्याप्तिश्चेत्तदा व्याप्येनेष्टापादनं स तर्क एवेति न तत्रातिव्याप्तिरित्यत आह—अन्यथेति । तथात्वेनेति । व्याप्यत्वेनेत्यर्थः । एवमग्रेपि । तथा च व्याप्तेर्वस्तुसत्त्वमात्रं चेत्तदा तादृशतर्कप्रयोक्तुर्विजय एवस्यात्तत्त्वेवं व्याप्तौ विमतं प्रति तदसाधने तर्काभासोपन्यासेन भङ्गस्यैव दर्शनादिति भावः । न द्वितीय इति । व्याप्यत्वेनेष्टेनानिष्टव्यापकं प्रति व्यापकप्रसज्जनं तर्क इत्यपि नेत्यर्थः । यत्र तर्कप्रयोक्ता पक्षं व्याप्यवत्तया व्यापकाभाववत्तया चेच्छति तादृशमेव प्रतिवादिनं प्रति तर्कं प्रयुङ्क्ते प्रतिवादी च सत्प्रतिपक्षवत्तमेव प्रसङ्गं प्रति प्रसङ्गतयोपन्यस्यति तत्र पूर्वप्रसङ्गे सत्प्रतिपक्षप्रसङ्गतया तर्काभासतां गतेति व्याप्तिरित्यर्थः । संभवति हि यदि सद्व्यवहारविषयः स्यात्सत्तासत्तावती स्यादित्यत्र प्रसङ्गे पुनरयमेव प्रतिप्रसङ्गः । यद्यपि वास्तवी व्याप्तिरिह नास्ति सत्तायामेव व्यभिचारात् तथापि तदा तथात्वेन द्वाभ्यामिष्यमाणमस्त्येवेति भावः । एतदेव स्वयमित्यादिना दर्शितम् ॥ १३९ ॥

उक्त रीति से स्वीकृत व्याप्य वाले के प्रति उस व्याप्य के द्वारा अनिष्ट (अस्वीकृत) व्यापक का प्रसञ्जन तर्क का लक्षण है । वहाँ विकल्प ऐसा है कि क्या वस्तुतः व्याप्य-व्यापकभाव से व्यवस्थित के स्वरूप से हेतु (व्याप्य) में इष्टत्व (स्वीकृतत्व) और साध्य (व्यापक) में अनिष्टत्व (अस्वीकृतत्व) लक्षण में विवक्षित है ? अर्थात् इस प्रकार से स्वीकारास्वीकार वाले के प्रति व्याप्य से व्यापक का आपादन तर्क है ? अथवा केवल व्याप्यत्व एवं व्यापकत्वरूप से इष्टत्व एवं अनिष्टत्व विवक्षित है ? अर्थात् जो धूम को (हेतु को) व्याप्य मानता है और पक्ष को अग्नि (साध्य) वाला नहीं मानता उसके प्रति व्याप्य से व्यापक का आपदन तर्क विवक्षित है ? इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है । क्योंकि वस्तुतः धूमाग्नि के व्याप्यव्यापकभाव रहते भी व्याप्यव्यापकभाव के अज्ञान से जहाँ हेतु से साध्य का प्रसञ्जन हो वहाँ अतिव्याप्ति होगी । अर्थात् वास्तविक व्याप्ति को नहीं जानने वाले के प्रति प्रसञ्जन तर्क प्राप्त होगा । उभयसिद्ध (ज्ञात) व्याप्ति को तर्क का भूल माना जाता है । अतः जहाँ एक से भी विद्यमान व्याप्ति अज्ञात हो, वहां भी लक्षण प्राप्त होगा। परन्तु वह तर्क नहीं है प्रत्युत तर्काभास है । क्योंकि, एक से अज्ञात व्याप्तिकता के कारण शिथिलमूल वाला है। इसी प्रकार जहाँ प्रतिवादी को विपरीत व्याप्यव्यापकभाव ज्ञात हो, वास्तविक व्याप्ति के रहते भी धूम को व्यापक और अग्नि को व्याप्य समझता है, उस के प्रति विपरीतरूप से (स्वकीय इष्टरूप से अर्थात् व्याप्य धूम से) भी अग्नि के प्रसञ्जन में तर्कत्व की प्राप्ति होगी । परन्तु वह तर्क नहीं है । क्योंकि जिसके प्रति धूम से वह्नि का आपादन करना है, उस को धूम के व्याप्यत्व का यदि ज्ञान ही नहीं है, तो धूम से अग्नि का ज्ञान तर्क द्वारा भी कैसे कराया जा सकता है, अन्यथा (यदि ऐसे स्थान में भी तर्क माना जाय) तो जहाँ परवादी से व्याप्यत्वेन अस्वीकृत हेतु से स्वयं भी उसके प्रति व्याप्यत्वरूप से प्रतिपादन में अशक्य हेतु से किन्तु वस्तुतः तथाभूत (व्याप्त) उस हेतु से प्रसञ्जन (तर्क) करने पर विजय का प्रसङ्ग होगा । परन्तु ऐसा होता नहीं है । क्योंकि वादी द्वारा

तर्काभास के उपन्यास से पराजय ही होती है। व्यापक को नहीं मानने वाले के प्रति स्वीकृत व्याप्य से व्यापक का प्रसञ्जनरूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि, जहाँ स्वयं भी वादी को प्रतिवादी के तुल्य इष्टता और अनिष्टता के रहते, वहाँ तादृश प्रसङ्ग (व्याप्य से व्यापक आपादन) करने पर (यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपितादृशः) इत्यादि दोष से सत्प्रतिपक्षरूप प्रसङ्ग (तर्क) रूप से अनिष्ट (अमान्य) में भी लक्षण की प्राप्ति से अतिव्याप्ति है। अर्थात् जहाँ तर्क करने वाला पक्ष को व्याप्यवाला और व्यापकाभाववाला स्वयं मानता हो, और वैसे ही मानने वाले प्रतिवादी के प्रति तर्क करे, तो प्रतिवादी भी सत्प्रतिपक्ष के समान उसी तर्क का उस वादी के प्रति भी प्रयोग कर सकता है। अतः वह तर्काभास हो जाता है। जैसे स्वयं सत्ता में सत्तान्तर को नहीं मानते हुए, तर्क करे कि (यदि सत्ता सद्व्यवहार का विषय होगी, तो सत्ता सत्तावाली होगी) इस प्रसंग में फिर यही प्रसङ्ग हो सकता है। यद्यपि यहाँ सत्ता में व्यभिचार से वास्तविक व्याप्ति नहीं है, तथापि वादी और प्रतिवादी से प्रयोग काल में सत्ता व्यवहार में सत्तावत् की व्याप्यता मान्य है॥ १३९॥

स्वयं व्याप्यतयानिष्टेनेत्यपि विशेषणीयम् इति चेन्न, स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन स्वमात्रेष्टव्यापके विषये प्रसङ्गस्याव्यापनात्। अथ स्वयमनिष्टव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टेन यत्र भवति तत्रानभ्युपगतव्यापकं परं प्रति पराभ्युपगतेन व्याप्येन व्यापकप्रसञ्जनं तर्कः, एवं सति हि स्वानिष्टव्यापके स्वयमिष्टव्याप्येन यत्र प्रसङ्गस्तत्र गमनादतिव्याप्तिर्या, या च स्वमात्रेष्टव्यापके स्वयमपि व्याप्यतयेष्टेन प्रसङ्गस्याव्याप्तिस्ते निरस्ते भवतः इति चेन्न, यद्यत्र सत्त्वयापि घटोऽभविष्यत्तदाऽद्रक्ष्यदित्याद्यव्यापनात्, तत्र स्वयमनिष्टदर्शनरूपव्यापके स्वयं व्याप्यतयेष्टनैव हि दर्शनयोग्येन घटसत्त्वेनासौ प्रसङ्गः॥ १४०॥

ननु प्रसङ्गस्य तत्रावकाशो यत्र तर्कप्रयोक्ता व्याप्यत्वं नेच्छति सत्तया तु प्रतिबन्दिमात्रस्य व्याप्यत्वेनेष्यमाणेऽपि प्रसञ्जनं विवक्षितमिति नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—स्वयमिति। स्वयं यद्व्याप्यत्वेनेष्टं तेन परानिष्टव्यापकस्य पक्षे यदापादानं क्रियते तत्राव्याप्तिरिति परिहरति—स्वयमपीति। पूर्वोक्तां प्रति प्रसङ्गस्थलेऽतिव्याप्तिमधुनोक्तामव्याप्तिं च परिहरन् विशिष्टव्यतिरेकेण लक्षणं शङ्कते-स्वयमनिष्टव्यापक इति। स्वयमनिष्टव्यापके यत्र भवतीत्यनेन नातिव्याप्तिः परिहृता सद्व्यवहारविषयत्वेन व्याप्येन सत्तायां सत्तावत्त्वं सद्व्यापकमापादितं तत्स्वयमनिष्टव्यापके एवेति सत्प्रसङ्गात्तर्काभासेऽपि नातिव्याप्तिः स्वयं च व्याप्यत्वेनेष्टापादने या अव्याप्तिरुक्ता सा स्वयमिष्टव्याप्येन व्यापकस्य पक्षे परानभ्युपगममात्रेणेति न सापीत्यर्थः। ननु विशिष्टातिरेकेण लक्षणं प्रवर्त्तमानमनुगतं कीदृशं भवतीत्यत आह—एवमिति। सत्तायां सत्तावत्त्वस्य व्यापकस्य स्वानिष्टत्वादतिव्याप्तिर्या च प्रतिप्रसङ्गस्य भिया उक्तेऽव्याप्तिरुक्ता तदुभयं दूषणं न भवतीत्यर्थः। अत्रापि लक्षणाव्याप्तिमाह—यद्यत्रेति। अयं हि प्रसङ्गो न परमात्रानिष्टव्यापके किंतु घटाभाववति घटादर्शने तस्य व्यापकस्य स्वानिष्टत्वात् व्याप्यस्य च स्वयमभ्युपगमादित्यर्थः॥ १४०॥

यदि कहें कि व्याप्य का स्वीकार व्यापक का अस्वीकार करने वाले के प्रति स्वयं व्याप्यरूप से अस्वीकृत के द्वारा व्यापक का प्रसञ्जन तर्क होता है—और सद् व्यवहार

विषयत्व को तो व्याप्यरूप से मान कर प्रसञ्जन होता है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर स्वयं और प्रतिवादी दोनों से व्याप्य रूप से स्वीकृत हेतु के द्वारा स्वमात्र से स्वीकृत वादी से अस्वीकृत व्यापकविषयक प्रसङ्ग (तर्क) में लक्षण की अव्याप्ति होगी। जैसे अदृष्टादि (धर्माधर्मादि) में प्रमेयत्व नैयायिक और मीमांसक दोनों को इष्ट है, परन्तु ईश्वरादि सर्वज्ञ को स्वीकार करने वाले नैयायिक को अदृष्टादि में प्रत्यक्षत्व भी इष्ट है, अनीश्वरवादी को नहीं। वहां प्रमेयत्व से प्रत्यक्षत्व का प्रसञ्जन रूप सत्तर्क में अव्याप्ति होगी, क्योंकि, नैयायिक को प्रमेयत्व में प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति अनिष्ट नहीं है, अतः अदृष्टादि प्रमेय होगा तो प्रत्यक्ष होगा, ऐसा तर्क नैयायिक मीमांसकके प्रति नहीं कर सकेगा। यदि कहें कि जो प्रसञ्जन स्वयं अनिष्ट व्यापकविषयक स्वयं व्याप्यरूप से इष्ट द्वारा जहां नहीं हो, वहां व्यापक को नहीं मानने वाले प्रतिवादी के प्रति उसके स्वीकृत व्याप्य से ही व्यापक का प्रसञ्जन तर्क होता है, इस लक्षण में स्वयं अनिष्ट विषयक जहाँ हो, इस कथन से उक्त सत्ताविषयक तर्क में अतिव्याप्ति का परिहार होता है। क्योंकि, वहां स्वयं भी सत्ता में सत्ताा न मान कर प्रसञ्जन होता है। सत्तावत्त्व इष्ट नहीं रहता, अतः अनिष्टव्यापक का इष्ट द्वारा प्रसञ्जन होने से तद्भिन्नत्व नहीं रहता। और यदि दृष्ट प्रमेय होगा तो प्रत्यक्ष होगा, इसमें अव्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि, पराभ्युपगत प्रमेयत्व से ही प्रसञ्जनरूप लक्षण है। ऐसा होने पर स्वकीय अनिष्ट व्यापक के रहते स्वयं इष्ट व्याप्य द्वारा जहां व्यापक का प्रसञ्जन हो, वहां लक्षण के गमन से जो अतिव्याप्ति कही गयी थी और स्वमात्र के इष्ट व्यापक के रहते स्वयं भी व्याप्यरूप से इष्ट प्रमेयत्व के द्वारा प्रसञ्जन की अव्याप्ति प्राप्त हुई थी, वे दोनों अतिव्याप्ति तथा अव्याप्तिरूप दोष से निरस्त हो गये। परन्तु यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि (यदि यहां वर्तमानतायुक्त दर्शनयोग्य घट होता तो दीखता) इस प्रकार के तर्क में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है। क्योंकि, वहां स्वयं अनिष्टदर्शनरूप व्यापक के रहते, स्वयं व्याप्यरूप से इष्टदर्शनयोग्य घट सत्त्व से ही वह प्रसञ्जन होता है। अतः 'यन्न भवति' यहां पर्यन्त लक्षणभाग का इस लक्ष्य में समन्वय नहीं होता है ॥ १४० ॥

अथ तत्र सत्तयापि स्वयमिष्टेनेति निषेध्यकोटौ प्रवेश्य निषेधोऽभिधीयते, एवं यत्र भवतीति तदपि न, एवं भूते एव विपर्ययावर्यवसायिनि गततयातिव्यापकत्वात् विपर्ययपर्यवसायिनेत्यपि प्रक्षेप्यम् इति चेन्न, केवलपरपक्षदूषणाय परमात्राभ्युपगम्यमानव्याप्यत्वेनैवं क्षमस्य परं प्रति व्यापकप्रसञ्जनस्याव्यापनात् तत्र स्वयं व्याप्त्यनभ्युपगमेन विपर्ययपर्यवसायित्वासंभवात् ॥ १४१ ॥

ननु घटवत्त्वस्य दर्शनापादकस्य व्याप्यत्वमात्रमिष्यते न तु भूतले तत्सत्त्वमिति तथा च विशिष्टव्यतिरेके स्वयं व्याप्यतयेष्टेन यत्र भवतीति यो निषेध उक्तस्तत्र कोटौ प्रतियोगितया पत्ते व्याप्यस्य सत्तानिवेशनीयता तथा च स्वयमनिष्टव्यापके स्वयं व्याप्यतया सत्तया चेन्न यत्र भवतीति विशिष्टव्यतिरेकः पर्यवस्यति तथा च प्रकृतेऽपि प्रसङ्गसत्तया इष्टेन न भवत्येवेति नाव्याप्तिरिति शङ्कते—अथ तत्रेति। यथाकाशं जन्यं स्यादिति नैया-

यिकं प्रति यत्रापाद्यते मीमांसकेन तत्र मीमांसकेन तत्र मीमांसकमते विपर्ययापर्यवसायिनि तर्काभासे गतत्वादतिव्याप्तिरिति परिहरति—एवंभूते एवेति। अनभ्युपगतव्यापकं नैयायिकं प्रति तदभ्युपगतव्याप्यत्वेन जन्यत्वेन व्यापकस्य प्रसञ्जनादित्यर्थः। केवलेति स्वमते विपर्ययापर्यवसायिनापि परमते दूषणाय कृतः प्रसङ्गोयं स तर्क एव दूषणक्षमत्वान्न विपर्ययपर्यवसायिनो न विशेषणात्तद्संग्रहः स्यादित्यर्थः। ननु विपर्ययपर्यवसन्न एवायं कथं न भवतीत्यत आह स्वयमिति॥ १४१॥

यदि कहें कि उक्त लक्षण में जहां 'स्वयं व्याप्यतया इष्टेन भवति' है वहां 'स्वयं सत्तयापि इष्टेन प्रसञ्जनं यन्नभवति' इस प्रकार निषेध्य कोटि में सत्ता का निवेश करके उसका निषेध कहा जायगा, तो स्वयं व्यापक के अनिष्ट रहते सत्स्वरूपव्याप्यत्वरूपसे इष्ट व्याप्य द्वारा जो व्यापक का प्रसञ्जन हो, वह प्रसञ्जन तर्क होता है। प्रकृत में भी सत्तारूप से इष्ट द्वारा प्रसङ्ग नहीं होता है, अतः अव्याप्ति नहीं होगी। तो उत्तर यह है कि 'एवं यत्र भवति' ऐसा जहां हो वहां लक्षण का समन्वय होगा, यह आप कहते हैं। परन्तु ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि इसी प्रकार के विपर्ययपर्यवसायी अलक्ष्य में लक्षण की गति से अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् नैयायिक यदि ब्रह्मवादी के प्रति तर्क करता है कि (ब्रह्म यदि वेदैकगम्य होगा तो अग्निहोत्रादिजन्य अदृष्टतुल्य अस्वयंप्रकाश होगा) यह विपर्ययापर्यवसायी होने से तर्क (प्रसङ्ग) नहीं कहा जाता है, विपर्यय पर्यवसायी ही तर्क होता है, जैसे (यदि अग्नि न हो तो धूम नहीं हो) यह तर्क है। तब विपर्यय सिद्ध होता है कि धूम है, अतः अग्नि भी है। प्रकृत में ऐसी बात नहीं है। अर्थात् (जो स्वयं प्रकाश है वह वेदैकगन्य नहीं है) ऐसी विपरीत व्याप्ति नहीं मानी जाती। और लक्षण की वहां प्राप्ति होती है, क्योंकि नैयायिक भी वेदैकगम्यत्वरूप व्याप्य को सत्तारूप से ब्रह्म में नहीं मानते। इसी प्रकार नैयायिक के प्रति यदि मीमांसक कहें कि (यदि आकाशजन्य होगा तो सकर्तृक होगा) तो यहां भी मीमांसकमत में विपर्यय पर्यवसायी नहीं है। (यत् जन्य तत् सकर्तृकं) यह व्याप्ति उनके यहां नहीं है। और व्यापक को नहीं मानने वाले नैयायिक के व्याप्यजन्यत्व से व्यापक का प्रसञ्जन होने से अतिव्याप्ति है। यदि उक्त अतिव्याप्ति के वारण के लिये विपर्ययपर्यवसायी इसका भी लक्षण में निवेश करें कि स्वयं व्यापक के अनिष्ट होते स्वयं व्याप्यरूप से इष्ट द्वारा जो प्रसञ्जन जहां नहीं हो, वहां व्यापक को नहीं मानने वाले प्रतिवादी के प्रति उससे स्वीकृत सत् रूप से अस्वीकृत व्याप्य द्वारा विपर्यय पर्यवसायिता का प्रसञ्जन तर्क होता है, तो भी लक्षण निर्दोष नहीं होता, क्योंकि केवल परपक्ष के दूषण के लिये पर से स्वीकृतव्याप्यत्व से परमत के दूषण में समर्थ जो पर के प्रति व्यापक का प्रसञ्जन होता है और जिसमें विपर्यय पर्यवसायिता नहीं रहती, उसमें अव्याप्ति होगी। जैसे नैयायिक ब्रह्मवादी के प्रति कहते हैं कि (ब्रह्म यदि उपादान कारण होगा तो मृत्तिका आदि के समान विकारी होगा) वहां इस प्रसङ्ग को विपर्ययपर्यवसायिता नैयायिक मत में नहीं है। क्योंकि निर्विकार आकाश को भी नैयायिक शब्द का उपादान मानते हैं। अतः विपरीत व्याप्ति के अस्वीकार से इसमें अव्याप्ति होगी। क्योंकि, यह सत्तर्करूप से स्वीकृत है॥ १४१॥

स प्रसङ्ग एव न भवति, विरोधमात्रं तत् इति चेन्न, अनिष्टं व्याप्त्य-भ्युपगमबलेन परं प्रत्यापाद्यते इत्येवंभूतस्यार्थस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। तुल्यत्वेऽपि लक्षणकरणासामर्थ्याद्यदि विपर्ययपर्यवसायिन्येव प्रसङ्गत्वं त्वया परिभाष्येत तर्हि मया परबाधमात्रे एव प्रसङ्गताया विपर्ययपर्यवसा-यिनि तु तत्र विरोधतायाः परिभाषितुं शक्यत्वात्। अन्यथाविरोधत्वमेवो-भयोरपि स्यात्॥ १४२॥

नन्वेतादृशस्तर्क एव न भवति दूषणक्षमतात्वस्य विरोधापादनमात्रेणत्वेति शङ्कते—प्रसङ्ग एवेति। व्याप्त्याभ्युपगमबलेन परानिष्टापादनमेवोभयसाधारणं लक्षणमस्तु किं विपर्ययपर्यवसायित्वविशेषणग्रहेण। अन्यथा त्वदभ्युपगत एव तर्को विरोधात्मा विपर्य-यपर्यवसन्न एव स तर्क इति परिभाषाविनिगमकतयापत्तिरिति परिहरति—अनिष्टमिति। तुल्यत्वेऽपीति। अनिष्टसङ्गत्वेन तुल्यत्वेऽप्युभयसाधारणलक्षणकरणासामर्थ्यादिति। यद्वा द्वयमपीदं तर्कलक्षणक्रान्तमेवास्तु परंतु मत्क्रियमाणखण्डनव्याकुलितमनसा लक्षण-करणासामर्थ्याद्विपर्ययपर्यवसायित्वेन विशेषितं चेत्तदा वैपरीत्यमेव किं न स्यादित्यर्थः। अन्यथेति। मत्परिभाषां नाद्रियसे तदा त्वत्परिभाषामप्यनादृत्य द्वयोर्विरोधत्वमेवा-स्थातुमुचितमित्यर्थः॥ १४२॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि ब्रह्म में उपादानत्व से विकारित्व का आपादन (कथन) प्रसङ्ग (तर्क) ही नहीं है जिसमें लक्षण की अव्याप्तिरूप दोष हो क्योंकि, जहाँ प्रसङ्ग का विपर्यय में पर्यवसान (फल) हो, उस को प्रसङ्ग मानते हैं। अतः ब्रह्म में उपादानत्व रहते विकारित्व को नहीं मानने पर लोक प्रसिद्धि आदि से विरोध होगा, इस प्रकार का विरोध मात्र वह ब्रह्म में विकारित्व का कथन है। उत्तर यह है कि व्याप्ति (व्याप्य) के स्वीकार के बल से प्रतिवादी के प्रति उस अनिष्ट (व्यापक) का प्रतिपादन किया जाता है और इस प्रकार का अर्थ विपर्यय पर्यवसायी और तदपर्यय-वसायी दोनों उदाहरण में तुल्य है, अतः व्याप्त्याभ्युपगमबल से परानिष्टापादनरूप उभय साधारण प्रसङ्ग का लक्षण हो सकता है। ऐसा तुल्यत्व होते भी यदि उभय साधारण लक्षण करण के असामर्थ्य से विपर्ययपर्यवसायी में आप प्रसङ्ग की परिभाषा (नियत-संकेत) करते हों, तो मुझ से भी परपक्षबाधमात्र में ही प्रसङ्गता की और उस विपर्यय पर्यवसायी में विरोधता की परिभाषा की जा सकती है, अन्यथा यदि मेरी परिभाषा नहीं मानी जाय तो आप की परिभाषा भी नहीं मानी जायगी, अतः दोनों में तुल्यत्व से विरोधत्व ही होगा॥ १४२॥

प्रत्यवस्थानवैचित्री चेत्तत्र विरोधाद्विशेषः, साऽत्रापि तुल्यैव। अत एव संभावनापि तर्कादन्यैवेति निरस्तम्। आरोपादपि व्याप्यतानिमित्तव्याप-काभ्युपगमाविशेषात्। अत एव परप्रमितेनेति विशिष्य परानिष्टापादनमात्र-रूपविपर्ययापर्यवसायितर्कता निरस्येति निरस्तम्। परमार्थतो व्या-प्त्यभावेऽपि पराभ्युपगममादाय प्रसङ्गप्रवृत्तेरुपपत्तेः॥ १४३॥

ननु व्याप्यमभ्युपैषि व्यापकं च नाभ्युपैषीति कथं स्याद्यावता तत्रापि व्यापका-भ्युपगम आवश्यक इति विरोधापादनप्रकारात् यद्ययं निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादित्य-निष्टप्रसञ्जनप्रकारो भिन्न एवेति कथमनयोर्न भेद इत्यत आह—प्रत्यवस्थानेति। उभ-

योरपि प्रकारयोरुभयत्र संभवादयमपि विशेषो न भेदक इत्यर्थः। अत एवेति। प्रसङ्गगर्भ-तर्कलक्षणस्य संभावनात्मकतर्काव्याप्तिरुक्ता तदतर्कत्वमभ्युपेत्य परिहृता येन तस्यापि तुल्य-न्यायतया तर्कत्वमेव व्यवस्थाप्य दोषो वाच्य इत्यर्थः। व्याप्यारोपाधीनव्यापकाभ्यु-पगमस्य तर्कत्वप्रयोजकस्य तत्रापि संभवादित्यर्थः। ननु परप्रमितेन परानिष्टापादनं तर्क इति लक्षणं न संभावनात्मकेन वा विपर्ययापर्यवसायिनीत्यत आह—अत एवेति। तर्कत्वेन निर्णयात्तयोरेव चान्याव्यापकत्वादित्यर्थः। यत्र न पारमार्थिकी व्याप्ति-स्तत्रापि पराभ्युपगमेनापादनाविशेषात्तर्कत्वमिति तत्राप्यव्याप्तिरित्यर्थः॥ १४३॥

यदि कहें कि एक स्थान में व्याप्य का मान कर व्यापक को नहीं मानना विरोध से प्रत्यवस्थान होता है (उसको अयुक्त कहा जाता है) और अन्य स्थान में विपर्ययपर्यवसान से प्रत्यवस्थान होता है कि यदि यह व्यापकाऽभाव वाला (निर्वह्नि) होगा, तो व्याप्याभाववाला (निर्धूम) होगा, अतः प्रत्यवस्थान की विचित्रता से दोनों में विचित्रता (भेद) है, तो उत्तर यह है कि वह विचित्रता भी दोनों स्थान में तुल्य ही है, अतः उक्त विपरीत परिभाषा भी प्राप्त होगी ही। दोनों प्रकार के दोनों में सम्भव से यह विशेष भेदक नहीं है तथा पराभ्युगत व्याप्य से परानिष्ट व्यापक का आपादन तुल्य होने से अन्य विशेष से भेद नहीं हो सकता। अतएव (इस विरोध को प्रसङ्गत्व साधन रीति से ही) सम्भावना भी तर्क से अन्य ही है, यह कथन निरस्त हो गया, क्योंकि, व्याप्य के आरोप से भी व्याप्यता निमितक व्यापक का अभ्युपगम तर्क के तुल्य ही सम्भावना में भी रहता है व्याप्यारोपाधीन व्यापक का अभ्युपगम तर्कत्व का साधक है, वह दोनों में तुल्य है। फिर उक्तरीति से वही जो कोई कहते हैं कि पराभ्युगत व्याप्य से परानिष्ठापादन तर्क है, उसके स्थान में पर प्रमित व्याप्य से परानिष्ठापादन तर्क है, ऐसा विशेष लक्षण करके परानिष्टापादनमात्ररूप विपर्यय अपर्यवयी में प्राप्त तर्कता निरास के योग्य है, यह कहने वाले भी निरस्त हो गये। क्योंकि, जहां विपर्यय में पर्यवसान नहीं है, व्याप्यत्व भी प्रमित नहीं है, वहां वस्तुतः व्याप्ति के अभाव रहते भी प्रतिवादी की स्वीकृति को मान कर प्रसङ्ग की प्रवृत्ति की सिद्धि उक्त विरोधादि स्थानों में होती है, अतः वे तर्क के लक्ष्य हैं और वहां लक्षण के अगमन से अव्याप्ति है॥ १४३॥

कथं हि परेण व्याप्यतयाऽनुमता तं प्रति व्यापकानुमत्या नापतितव्यं नहि प्रसङ्गो वास्तवत्वं व्याप्तेरालम्बते, किं नामाभ्युपगममात्रम्। अनभ्युप-गतौ वस्तुगत्या स्थितेनापि तेनापादनाप्रवृत्तेः। अत एव परस्य प्रमाणेन व्याप्यानुमतिमुत्पाद्याप्यापादनं क्रियते वस्तुगत्या। व्याप्यत्वं तथात्वेनाभ्यु-पगतत्वं च द्वयमपि प्रसङ्गस्याङ्गम् इति चेन्न, तथात्वेनाभ्युपगमस्यावश्यं प्रसङ्गाङ्गतया मन्तव्यस्य परानपेक्षस्यैव समर्थत्वे वास्तवव्याप्तत्वस्यापि प्रवे-शने प्रमाणाभावात्तस्माद्यः प्रसङ्गः स्वपक्षसिद्ध्यङ्गं तस्य विपर्ययापर्यवसा-यिता दोषायैव स्यात्॥ १४४॥

ननु व्याप्तेरभावे प्रसञ्जनमेव न भवतीत्यत आह—कथं हीति। औचित्यावर्जित-मेव तत्र व्यापकापादनमित्यर्थः। औचित्यमेव दर्शयति—नहीति। विनिगमकमाह—

अनभ्युपगताविति। तथाच विपर्ययापर्यवसायिनाप्यापादानं तर्क एव तथाच तद्व्या-वर्त्तनाय विपर्ययापर्यवसायेति यद्विशेषितं तदनुपादेयमेवेति भावः। अत एवेति। यत एवाभ्युपगममात्रं व्याप्यस्य तन्त्रं नतु वास्तवत्वमपि तेन त्वया व्याप्यत्वेनाभ्युपगतो-यमर्थ इत्येव प्रामाण्येन साध्यते न तु व्याप्योयमर्थ इत्यपीत्यर्थः। विपर्ययापर्यवसायि-न्यतिव्याप्तिवारणाय पुनः शङ्कते—वस्तुगत्येति। यत्र वस्तुतो व्याप्तिसत्त्वे विपर्यया-पर्यवसानमेवेत्यर्थः। अभ्युपगममात्रमेव तन्त्रमापादनेन तु वस्तुगत्यापि व्याप्यत्वं गौर-वादिति परिहरति—तथात्वेनेति। नन्वेवं तर्कदोषत्वे विपर्ययापर्यवसानपरिगणनं किंमूलकमिति प्रसङ्गद्वयं विभज्योपसंहरति—तस्मादिति। स्वसधनपरपक्षदोषापादन-भेदे प्रसङ्गसामान्यस्थितौ विपर्ययावर्यवसानमाद्ये दोषो न द्वितीयोऽपीत्यर्थः॥ १४४॥

जब वस्तुतः व्याप्ति के अभाव रहते पराभ्युपगम के ग्रहण से प्रसङ्ग की प्रवृत्ति सिद्ध होती है, तो प्रतिवादी से व्याप्यरूप से स्वीकृत द्वारा उक्त स्थानों में व्यापक की अनुमति का आपादान क्यों नहीं होगा? अर्थात् व्याप्यरूप से स्वीकृत द्वारा व्यापक का प्रसङ्ग होगा ही। क्योंकि प्रसङ्ग वास्तव व्याप्ति का अवलम्बन (अपेक्षा) नहीं करता। किन्तु व्याप्ति के अभ्युपगममात्र की अपेक्षा करता है। व्याप्ति का अभ्युपगमन हो, तो वस्तुतः वर्तमान उस व्याप्ति से भी अनिष्टापादन (प्रसङ्ग) नहीं होता है। अर्थात् अभ्युपगम के बिना प्रसङ्गयोग्य प्रतिवादित्व ही नहीं रहता है। अतएव प्रतिवादी के प्रति प्रमाण से व्याप्य की अनुमति को सिद्ध करा कर भी आपादान (प्रसङ्ग) वहां किया जाता है, जहां वह स्वयं व्याप्य का स्वीकार नहीं किया हो कि अमुक हेतु से यह व्याप्ति मुझे मन्तव्य है, परन्तु इसमें यह दोष है इत्यादि। अब शंका यह होती है कि वस्तुतः व्याप्यत्व और व्याप्यरूप से स्वीकृतत्व दोनों ही प्रसङ्ग (तर्क) के अङ्ग (साधन) हैं। अतः जहां वस्तुतः व्याप्ति नहीं है, वहां विरोध मात्र है, प्रसङ्ग नहीं। अतः विपर्ययापर्यवसायी तर्क नहीं होता है, उत्तर है यह है कि पर (वास्तवत्व) की अपेक्षा रहित ही प्रसङ्ग के अङ्गरूप से अवश्य मन्तव्य-व्याप्यत्वरूप से अभ्युपगम प्रसञ्जन में समर्थ होते वस्तुतः व्याप्यत्व को भी अङ्गरूप से प्रवेशन में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि ऐसा होने पर विपर्ययापर्यवसान को तर्क दोषपक्ष में क्यों गिना जाता है? उसके न रहते भी तर्क हो सकता है। अतः कहते हैं कि जो प्रसङ्ग स्वपक्ष की सिद्धि का अङ्ग है, उसकी विपर्ययापर्यवसायिता दोष के ही लिये होगी। अन्य के दोष के लिये नहीं। अर्थात् स्वपक्ष साधन और परपक्ष दोषापादन में सामान्य प्रसङ्ग की प्राप्ति होती है। वहां विपर्ययपर्यवसान स्वपक्ष साधन में दोष होता है। उसके अभाव से स्वपक्ष की सिद्धि होती है। परपक्ष दोषापादन में विपर्ययापर्यवसान दोष नहीं होता, अतः विपर्ययापर्यवसान सहित तर्क से भी परपक्ष में दोषापादन होता है॥ १४४॥

प्रसङ्गस्य तस्य विपर्ययपर्यवसानदाढर्यार्थं दण्डतयोपन्यासात् सौग-तानां स क्षणिकत्वव्याप्तिसाधकविपर्ययान्यथा भावदण्डप्रसङ्गवत्। ताम-न्तरेण तस्य स्वपक्षसाधनाक्षमत्वात्तस्य च व्याप्तिवास्तवत्वमपि मन्तव्यम्। अन्यथा विपर्ययेपि व्याप्त्यभावेन स्वपक्षसाधनाक्षमत्वादेव यस्तु प्रसङ्गः परपक्षबाधनाङ्गं तत्र पराभ्युपगममात्रं प्रयोजकं तावतैव परपक्षप्रतिक्षेपप-

मत्वेन वास्तवव्याप्तिविपर्ययपर्यवसानपर्यन्तानुसारित्वादिति युक्तं पश्यामः। तथाच सति कथितलक्षणासङ्गतिस्तदवस्थैव ॥ १४५ ॥

नन्वत्रापि किं विपर्ययपर्यवसानगवेषणयेत्यत आह—प्रसङ्गस्येति। आपाद्यस्य निर्धूमत्वादिनापादकस्य निर्वह्निमत्त्वादौ प्रमाणं तदीयवाच्यार्थमेव हि तत्र प्रसङ्गस्य दर्शनीयत्वेन विपर्ययपर्यवसानमन्तरेण स्वपक्षसाधकतैव प्रसङ्गस्य न घटेतेत्यर्थः। दण्डतयेति। विपक्षबाधकतयेत्यर्थः। निश्चितसाध्यवतः पक्षस्यैव विपक्षत्वशङ्कां तर्को बाधते इत्यर्थः। सौगतानामिति। सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं क्षणिकत्वव्याप्यत्वेन सौगतैरुपन्यस्तं तत्र तावत्सत्त्वमात्रं स्यात् क्षणिकत्वं मास्त्विति विपक्षवृत्तिताशङ्कायां यदि क्षणिकत्वं न स्यादर्थक्रियाकारित्वमपि न स्यादर्थक्रियाकारित्वं हि क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तं तच्च क्षणिकत्वाद्व्यावर्तमानमर्थक्रियाकारित्वार्थं सत्त्वमपि व्यावर्तयेदेव। नहि क्रमकारित्वं संभवति तथासति न कुर्यादेव करणे हि क्रमकारित्वं स्वाभाव्यमेव विरुध्येत नाप्यक्रमकरित्वं तथासत्युत्पत्त्यनन्तरमेव यावत्सत्त्वं कार्यं कुर्यादित्यादिसत्त्वक्षणिकत्वयोर्या व्याप्तिस्तत्साधको विपर्ययान्यथाभावाय विपर्ययशङ्कानिवारणाय दण्डरूपो यः प्रसङ्गस्तद्वदित्यर्थ ॥ १४५ ॥

यदि कहें कि विपर्ययपर्यवसान से यदि स्वपक्ष की सिद्धि होती है, तो विपर्ययापर्यवसानरूप प्रसंग (तर्क) क्यों किया जाता है ? तो उत्तर यह है कि उस प्रसङ्ग का विपर्यय के पर्यवसान की दृढता के दण्डरूप (विपक्ष बाधकरूप) से उपन्यास (कथन) किया जाता है। जैसे बौद्धों के क्षणिकत्व के साधकसत्त्व के विपयर्य का अन्यथाभावरूप दण्ड का प्रसङ्ग होता है। अर्थात निश्चित साध्य वाले पक्ष के विपक्ष शंका को तर्क बाध करता है। वहाँ 'सर्वं क्षाणीकम् सत्त्वात्' सत् होने से सब क्षणिक हैं। सत्त्व अर्थक्रियाकारित्व है। वहाँ सत्त्व हो अर्थक्रियाकारित्व क्षणिकत्व नहीं हो, ऐसी शंका होने पर, यदि क्षणिकत्व नहीं होगा, तो सत्त्व नहीं होगा, इत्यादि प्रसङ्गद्वारा सत्त्व से क्षणिकत्व की सिद्धि है, वैसे ही यदि 'निर्वह्निः पर्वतः स्यात् तर्हि निर्धूमः स्यात्' इसके विपर्ययपर्यवसान से 'यतः धूमवान् अतः अग्निमान्' यह दृढ निश्चय होता है। ऐसे ही मायाशक्ति द्वारा उपादानता से निर्विकार ब्रह्म सिद्ध होता है। और उस विपर्ययपर्यवसायिनी व्याप्ति के बिना उस तर्क को स्वपक्ष साधन में असमर्थ होने से उसके व्याप्ति में वास्तवत्व भी मन्तव्य है। अन्यथा यदि तर्क में वास्तव व्याप्ति न हो, तो उसके विपर्यय में भी व्याप्ति के अभाव से स्वपक्ष के साधन में असामर्थ्य ही होगा (यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमो न स्यात्) यहाँ प्रसङ्ग में व्याप्ति रहने ही से विपर्यय में भी व्याप्ति रहती है। यह स्वपक्ष साधक तर्क की कथा हुई। और जो प्रसङ्ग परपक्ष बाधन का अङ्ग होता है उसमें प्रतिवादी के व्याप्ति का अभ्युपगममात्र हेतु होता है। क्योंकि, पराभ्युपगममात्र से परपक्ष के प्रतिषेध की तर्क में क्षमता (योग्यता) से वास्तविक व्याप्ति विपर्यय पर्यवसान पर्यन्त का अननुसरणत्व (अस्वीकार) को उचित समझते हैं। और ऐसा होने पर कथित लक्षण की असङ्गति तदवस्थ है। अर्थात् विरोध का उद्भावनरूप भी तर्क के होने से उसमें उक्त लक्षण में अव्याप्तिरूप दोष है। विपर्ययपर्यवसायित्वरूप तर्क के विशेषण को मानने पर परपक्ष बाधक तर्क में अव्याप्ति होगी ही ॥ १४५ ॥

अथ व्याप्याभ्युपगमेनानिष्टस्य व्यापकस्य प्रतीतिस्तर्क इति चेन्न, इष्टार्थसंभावनायामव्याप्तेः। तेन व्यापकस्य प्रतीतिः स इति चेन्न, इष्टापा-

दनेऽपि गतत्वात्। अप्रमितस्य तथेति चेन्न, प्रथमानुमानेऽपि गतत्वात्। अनुमाने व्याप्यस्य प्रमया तथा न त्वभ्युपगमेन इति चेन्न, वस्तुगत्या व्याप्यस्य प्रमयापि प्रतिवाद्यसिद्धस्य व्यापकानुमानासंभवेन तत्राप्यभ्युपगमपर्यन्तगन्तव्यत्वादेव। नन्वेवमन्यतरासिद्धं व्याप्यं प्रसाध्यानुमानव्यवस्थापनमुच्छिन्नं तदप्रसाधनेन्यतरासिद्ध्या तत्प्रसाधने परस्याभ्युपगन्तुरपसिद्धान्तमनुद्भाव्य वादिना प्रसाधितात् व्याप्यात् व्यापकसाधने पर्यनुयोज्योपेक्षणादिति ॥ १४६ ॥

तामिति। विपर्ययपर्यवसायिनामित्यर्थः। विपक्षबाधकोपन्यासमन्तरेण सत्त्वाख्यसाधस्य क्षणिकत्वसाधकत्वमेवानुपपन्नमिति भावः। कथितेति। विपर्ययपर्यवसायित्वेन तर्कलक्षणविशेषणे परपक्षबाधकतर्कव्याप्तेरसङ्गतिरित्यर्थः। एतद्दोषपरिजिहीर्षया शङ्कते—अथेति। अभ्युपगमो व्याप्तेः सत्त्वेवाऽसत्त्वे वा एवं च स्वपक्षसाधकपरपक्षबाधकतर्कयोरुपग्रहः। प्रतिप्रसङ्गेतिव्याप्तौ सत्यामपि दोषान्तरमाह—इष्टार्थेति। जलस्य सहकारिसंपत्तौ उदन्योपशमस्य व्यापकस्य पिपासोरिष्टस्यैव प्रतीतेस्तत्तर्कातिव्याप्तिरित्यर्थः। ननु व्यापकेनिष्टत्वं विशेषणं न देयमेव येन संभावनायामव्याप्तिस्स्यादिति शङ्कते—तेनेति। व्याप्याभ्युपगमेनेत्यर्थः। एवं सतीष्टापादने तर्काभासेतिव्याप्तिरिति परिहरति—इष्टेति। ननु अप्रमितस्य व्यापकस्य व्याप्याभ्युपगमेन प्रतीतिस्तर्कः प्रकृते तद्व्यापकं प्रमितमेवान्यथेष्टापादनानुपपत्तेरिति शङ्कते—अप्रमितस्येति। प्रथमं यानुमितिरुत्पद्यते तत्राप्रमितस्यैव व्यापकस्य प्रतीतिरिति परिहरति प्रथमेति। नन्वनुमाने व्याप्यप्रमाधीनव्यापकप्रतीतिस्तर्के तु तदभ्युपगममात्राधीनेति विशेष इति शङ्कते—अनुमान इति। तथेति। व्यापकप्रतीतिरित्यर्थः। अन्यतरासिद्धोद्भावनस्थले यावत्प्रतिपादितव्याप्यत्वाभ्युपगमो न कर्त्तव्यस्तावत्तस्मादनुमितिरपि नोत्पद्यत इति तदवस्थैव तत्राव्याप्तिरिति। वस्तुगत्येति। नन्वन्यतरासिद्धव्याप्यत्वस्य हेतोर्व्याप्यत्वं प्रमाध्य परोभ्युपगमयितव्य इति न भवतीत्याक्षिपति—नन्विति। कथमुच्छिन्नमित्यत आह—तदिति। यदि व्याप्यत्वेऽस्यान्यतरासिद्धत्वं न परिहर्त्तव्यं तदा तेनैव निग्रहेण वादी निगृह्येत अर्थान्यतरासिद्धत्वं परिहृतप्रतिवादिनस्तत्राभ्युपगमः कारयितव्यस्तदनन्तरं तादृशेन हेतुनानुमानं प्रवर्तनीयं तदा तदनभ्युपगमात्रेण प्रतिवादिनापसिद्धान्त उपपादित उपेक्षितः स्यादिति पर्यनुयोज्योपेक्षणेन वादी निगृह्येत सेयं वादिन उभयतः पाशा रज्जुरित्याक्षेपार्थः ॥ १४६ ॥

उक्त दोष के वारण के लिये लक्षणान्तर है कि व्याप्य के अभ्युपगम द्वारा अनिष्ट व्यापक की प्रतीति तर्क है, व्याप्ति का सत्त्व हो या नहीं। अभ्युपगममात्र के लक्षण में प्रवेश से स्वपक्षसाधक तथा परपक्षबाधक दोनों का संग्रह तो होता है। परन्तु इष्टार्थ सम्भावना में अव्याप्ति से लक्षण युक्त नहीं है क्योंकि, (यदि यहाँ जल हो तो मेरी तृषा निवृत्त हो) यहाँ व्याप्य अभ्युपगत जलप्राप्ति से व्यापक तृषा की शान्ति प्रतीत होती है, वह अनिष्ट नहीं है। यदि कहें कि व्यापक में अनिष्ट विशेषण नहीं देकर व्याप्य के अभ्युपगम द्वारा व्यापक की प्रतीति तर्क है, ऐसा लक्षण होने से उक्त अव्याप्ति नहीं होगी, तो भी इष्टापादनरूप तर्काभास में अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् जिसको पक्ष में साध्य स्वयं इष्ट (मान्य) है उसके प्रति हेतु (व्याप्य) से साध्य के आपादन (प्रतिपादन) में अतिव्याप्ति होगी। यदि कहें कि व्याप्य के अभ्युपगमद्वारा अप्रमित (अज्ञात)

व्यापक की प्रतीति तर्क है, तो ज्ञान के इष्टापादन में अतिव्याप्ति तो नहीं रहेगी, परन्तु किसी वस्तु की जो हेतु के अभ्युपगम से प्राथमिक अनुमिति होगी, उसमें अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि वह अप्रमित की ही अनुमिति होती है। यदि कहें कि अनुमान स्थान में व्याप्य हेतु की प्रमा से व्यापक की अनुमिति होती है, अभ्युपगममात्र से नहीं और लक्षण में अभ्युपगम का सन्निवेश है अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि, वस्तुतः व्याप्य की प्रमा से भी अनुमिति होती है। परन्तु अन्यतरासिद्धोद्भावन के स्थान में प्रतिपादित व्याप्यत्व का अभ्युगम जब तक नहीं किया जाय तब तक उस व्याप्य की प्रमा से भी व्यापक के अनुमान के असम्भव से वहाँ भी अभ्युपगमपर्यन्त गन्तव्य होता ही है अर्थात् वहाँ अभ्युपगम से ही अनुमिति होती है क्योंकि, वादी के असिद्ध हेतु का अभ्युपगम कराना पड़ता है अतः वहाँ पूर्वोक्त अतिव्याप्ति तदवस्थ है। शंका होती है कि उक्तरीति से अन्यतरासिद्ध हेतु के व्याप्ति के अभ्युपगम को अनुमिति के कारण मानने पर अन्यतर (वादी) के प्रति असिद्ध व्याप्य का प्रसाधन करके जो अनुमान (अनुमिति) का व्यवस्थापन किया जाता है, वह उच्छिन्न हो जायगा, क्योंकि व्याप्य के अप्रसाधन रहते अन्यतरासिद्धि से अनुमिति नहीं होगी और व्याप्य के प्रसाधन करने पर यदि प्रतिवादी उस का स्वीकार करेगा, तो प्रथम से अस्वीकृत के स्वीकार से उसको अपसिद्धान्त (स्वसिद्धान्त का त्याग) होगा। वहाँ वादी यदि उस अपसिद्धान्त का उद्भावन (कथन) नहीं करके प्रसाधित साधन (हेतु) से व्यापक के साधन में प्रवृत्त हो, तो पर्यनुयोज्योपेक्षण, अपसिद्धान्तोद्भावनरूप पर्यनुयोग (निग्रह) उसकी उपेक्षा (त्याग) रूप निग्रह दोष का भागी वादी होता है, अतः वादी को उभयतः पाशारज्जु की प्राप्ति होती है॥ १४६॥

किं तत्र तथा न स्यात्किमत्राप्रस्तुतया तच्चिन्तया। अन्यतरासिद्धस्य तावद्व्याप्यस्याभ्युपगमं परेणाकारयित्वैव न व्यापकसाधनमुपेयम्। तस्याऽप्रमा स इति चेन्न, मिथोविरुद्धादौ तर्काभासेऽपि गतत्वात्। आश्रयासिद्ध्यादिव्यतिरेके सति इति चेन्न, संदिग्धधूमदर्शनात् यद्यत्र धूमस्तदाग्निमानिति संभावनायाः परमार्थतस्तथाऽवस्थानात् प्रमात्वं त्यक्तुमपारयन्त्या अव्यापनात्॥ १४७॥

किं तत्रेति भवतु वादिन उभयथापि निग्रहः परन्तु तर्कखण्डनप्रवृत्तस्य ममाप्रस्तुतमेतत् कथामार्गस्त्वयं तत्राभ्युपगमकारयित्वैवानुमानं प्रवर्त्तनीयं तथाच तस्यानुमितौ व्यापकप्रतीतिरिति लक्षणमतिव्यापकमेवेत्यर्थः। ननु व्याप्याभ्युपगमेन व्यापकस्याप्रमा तर्क इति नानुमितावतिव्याप्तिरिति शङ्कते—तस्येति। व्यापकस्येत्यर्थः। मिथोविरुद्धादावित्यादिपदाश्रयासिद्ध्यादिपरिग्रहः गगनारविन्दं यदि विकचं स्यात्सुरभि स्यादित्यादिकमाश्रयासिद्ध्यादिकं तथाच यदीश्वरः कर्त्ता स्यात् सर्वज्ञः स्यादित्यादावीश्वरासिद्धिदशायामाश्रयासिद्ध्यादीत्यादिपदेन मिथो विरुद्धोपग्रहः सन्दिग्धेति वास्तवे धूमे धूमत्ववाप्यत्वकोटिकसन्देहबलात्कृतायां वह्निसम्भावनायां तर्कत्वेन व्यवस्थापितायामव्याप्तिरित्यर्थः॥ १४७॥

उक्त शंका का समाधान यह है कि अन्यत्र असिद्ध स्थान में तथा व्याप्य का प्रसाधन करके अनुमान का व्यवस्थापन न होगा, तो इससे क्या हानि है? और वादी का

उभयथा निग्रह हो तो उसकी इस अप्रस्तुत चिन्ता का क्या फल है ? यह चिन्ता यहाँ निरर्थक है। तर्क खण्डन के लिये मुझे तो यह कहना है कि अन्यतर के प्रति असिद्ध व्याप्य का प्रथम प्रतिवादी से अभ्युपगम कराये बिना ही व्यापक का साधन (अनुमान) उपेय (भवितव्य) नहीं है, अतः प्रथम व्याप्य के अभ्युपगम से होने वाले उस अनुमान में लक्षण की अतिव्याप्ति है। यदि कहें कि व्याप्य के अभ्युपगम से अप्रमित उस व्यापक की अप्रमा तर्क होता है, अतः प्रमारूप अनुमिति में अतिव्याप्ति नहीं है। तो भी परस्पर विरुद्धादिरूप तर्काभास में अतिव्याप्ति होगी। शुक्तिरूप्यादि को यदि प्रतीयमानत्व इष्ट हो, तो उसमें सत्त्व होगा, सत्त्व होते यदि बाध्यत्व अनिष्ट हो, तो सत्त्व प्राप्त हो इत्यादि विरुद्ध तर्काभास होता है। आदि शब्द से आश्रयासिद्धि का ग्रहण है (गगनारविन्दं यदि विकशितं स्यात्, सुरभि स्यात्) इत्यादि। यदि इस अतिव्याप्ति के वारण के लिये आश्रयासिद्धि आदि से भिन्नत्व का उक्त लक्षण में निवेश करें कि व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक की अप्रमा आश्रयासिद्धि आदि से भिन्न होते हुए तर्क होता है, तो जहाँ सन्दिग्ध धूमदर्शन से, यदि धूम यहाँ है, तो यह अग्निवाला है, इस प्रकार के वस्तुतः तथार्थ (अग्नि) की स्थिति से, वह संभावना प्रमात्व को नहीं त्याग सकती, अतः वहाँ अव्याप्ति होगी ॥ १४७ ॥

तत्कालं प्रमात्वेनाप्रमीयमाण इत्यपि इति चेन्न, बहुशो दत्तोत्तरत्वात्। सर्वस्य चास्य पूर्वोक्तोभयानिष्टव्यापकेष्टव्याप्योदाहरणे गतत्वेनातिव्यापकत्वात्। तद्व्यवच्छेदार्थमारोपितस्य व्याप्यस्याभ्युपगमेनेति करणे च सिद्धेन व्याप्येन प्रसङ्गस्याव्यापनात्। तद्यथा कार्यत्वात् यद्यदृष्टसृष्टमङ्कुरादि मीमांसकः शंसति तदानीमविशेषेण कर्तृकार्यमपि पर्यवस्येत् अस्य तदिति। अपि चात्माश्रयोन्योन्याश्रयश्चक्रकं व्याघातोऽनवस्था प्रतिबन्दी वेत्यापाद्यैर्भिद्यमाना षट्तर्कीष्यते। स्वरूपं चैषां स्वस्याव्यवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः। अन्योन्यस्याव्यवहितान्योन्यापेक्षित्वमन्योन्याश्रयः। अन्तरितस्य तदेव द्वयमात्माश्रयोन्योन्याश्रयश्चक्रकम्। विरुद्धसमुच्चयो व्याघातः। उपपाद्योपपादकप्रवाहोऽनवधिरनवस्था। स्वाभ्युपगतदोषतुल्यता प्रतिबन्दी॥ १४८ ॥

ननु तत्र वह्निप्रतीतेर्वस्तुगत्या प्रमात्वेऽपि सम्भावनाकाले प्रमात्वं न प्रमीयते इति न तत्राव्याप्तिः व्यापकप्रतीतेर्न प्रमीयमाणप्रमात्वमुभयसाधारणमिति—शङ्कते। तत्कालमिति। तच्छब्दान्तर्भावेण लक्षणमननुगतमप्रमीयमाणत्वं च वादिना प्रतिवादिना वेत्यादिविकल्पकवलितं चेत्याह—बहुश इति। यत्रोभयोरित्यादिना प्रसङ्गेन तर्काभासताकृतेऽतिव्याप्तिस्तदवस्थैव व्याप्याभ्युपगमेनानिष्टव्यापकप्रतीतिस्तर्क इत्यादीनां लक्षणानामित्याह—सर्वस्येति। ननु नात्रव्यापकप्रसङ्गो नारोपितेन व्याप्येन किंतु वस्तुतोऽसतैव नहि तत्रायां सद्व्यवहारविषयत्वं सत्तान्तरापादनमवास्तवमिति नातिव्याप्तिरित्याशङ्कते—तदिति। यदि कार्यत्वादङ्कुराद्यदृष्टयोत्पाद्यं तदा तत एव सकर्तृकमपि किं न स्यादिति मीमांसकं प्रति नैयायिकेन कृतप्रसङ्गेऽव्याप्तिरित्यर्थः। इदानीमात्माश्रयादिरूपं तर्कं खण्डयितुमारभते—अपि चेति। खण्डनसौकर्याय स्वरूपममीषामादर्शयति—स्वरूपं चेति। स्वस्येति। स्वस्याव्यवहितस्यापेक्षणाभ्युपगमनिबन्धनमनिष्टापादनमात्माश्रय इत्यर्थः। स्वस्य स्वापेक्षणाभ्युपगमः परस्पराश्रयचक्रकयोरपीति तद्व्यावर्त्तनाय अव्यव-

हितेति। यद्यपि स्वापेक्षित्वमप्रसिद्धं तथापि घटापेक्षित्वं पटेऽभ्युपगम्यमाने भवत्यात्माश्रयो दोष इति विशिष्टाप्रतीतावपि खण्डशः प्रतीतिरस्त्येव। यद्वा स्वापेक्षित्वं प्रमेयत्वादौ प्रसिद्ध-मन्यत्राभ्युपगम्यमानं दोषायेति भावः। अन्योन्येति। अन्यान्यस्याव्यवहितान्योन्या-पेक्षित्वाभ्युपगमनिबन्धनमनिष्टापादनमन्योन्याश्रय इत्यर्थः। अत्राव्यवहितपदं चक्र-कव्यावर्त्तनाय आत्माश्रयव्यावर्तनाय। अन्योन्यस्येति। अन्योन्यापेक्षित्वं दीर्घत्वह्रस्व-त्वज्ञानादौ प्रसिद्धं कथञ्चित् द्रष्टव्यम्। चक्रकस्वरूपमाह—अन्तरितस्येति। अन्तरितस्य व्यवहितस्य भाव्यात्माश्रयोन्योन्याश्रयो वा यस्तदेव चक्रकं तेन स्वस्य द्वयापेक्षणाभ्युप-गमनिबन्धनमनिष्टापादनं चक्रकमित्यर्थः। विरुद्धेति। विरुद्धसमुच्चयाभ्युपगमनिबन्धनम-निष्टापादनं व्याघातः विरुद्धसमुच्चयाभ्युपगमस्तु माता वन्ध्याऽगौर्गौरयमपीत्याकारेण इत्यर्थः। अत्र हि मातरि वन्ध्यात्वमात्राभ्युपगमः संभवत्येव सिद्धत्वात् एवमभ्युप-गन्तुर्व्याघात आपाद्यते यदि मातुर्वन्ध्यात्वं गोश्चाश्वत्वमभ्युपैषि तदा व्याघात इति। ननु विरुद्ध समुच्चय एव क्वचिदपि प्रसिद्ध इति भावः। अनवस्थास्वरूपमाह—उपपाद्येति। भेदव्यवहार उपपाद्य उपपादकश्च तस्य भेदः। नहि भेदमन्तरेण तद्व्यवहारः संभवति। एवं सत्तायां व्यवहार उपपाद्यस्तद्गता च सत्ता उपपादिकेति तथाचैतादृशव्यवहाराभ्युप-गमनियन्धनमनिष्टापादनमनवस्थेत्यर्थः। अत्र यदि तृतीयश्चतुर्थो वा भेदः प्रथमभेदम-पेक्षत इत्यभ्युपेयते तथापि प्रवाहाभ्युपगमोस्ति। न चानवस्थेष्यत उत्कमनवस्थिरिति। प्रवाहस्यानादित्वात् कार्यकारणभावेष्वसिद्धाभ्युपगम्यते एकैकभेदबुद्धावापाद्यमानायां भेदमात्रं प्रसिद्धमेवेति भावः। आपत्तिप्रयोजकीभूतरूपवदापाद्यापादनमनवस्थेत्येके। तत्र यदि सामान्यं सामान्यवत्स्यात् द्रव्यादित्रितयान्यतमं स्यादित्यापादनमियं चानवस्थै-वानास्थेत्युच्यते। नहि द्रव्यादित्रयान्यतमत्वेन सामान्यं व्यवतिष्ठत इत्यूह्यम्। स्वा-भ्युपगतेति। यदि पुरुषत्वादयं चौरस्तदा एवं त्वमपि चौरः स्या इत्यापादननामकः प्रति-बन्दी। यद्वा परापादितं दोषमभ्युपेत्य परस्मै तदापादनेन यदनिष्टापादनं तत्प्रतिबन्दी भवति हि त्वं चौर इत्यभिधानस्य प्रतिबन्दीति भावः॥ १४८॥

यदि उक्त अव्याप्ति के वारण के लिये कहें कि व्याप्य के अभ्युपगम द्वारा आश्रयासिद्धि आदि से शून्य अप्रमित व्यापक की तत्काल में प्रमात्वरूप से अप्रमीय-माण (अज्ञात) को प्रतीति तर्क है, अतः उक्त उदाहरण में अग्निज्ञान में वस्तुतः प्रमात्व होते भी सम्भावना काल में वहां प्रमात्व की प्रमिति नहीं होने से अव्याप्ति नहीं होगी, तो इसका अनेक बार उत्तर दिया गया है कि तत्काल में तत् शब्द युक्तता से लक्षण का अननुगम होगा और अप्रमीयमाणत्व वादी द्वारा या प्रतिवादी द्वारा होना चाहिये इत्यादि विकल्पों से ग्रसित यह लक्षण है। और 'व्याप्य के अभ्युपगम से अनिष्ट व्यापक की प्रतीति तर्क है' इत्यादि सभी लक्षणों के पूर्वोक्तोभय (वादी तथा प्रतिवादी) के अनिष्ट व्यापक और इष्ट व्याप्य वाले उदाहरण में प्राप्त होने से इन लक्षणों में अतिव्याप्ति है। उदाहरण यह है कि जहाँ कहा गया है कि (यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोपि तादृशः) अर्थात् सत्ता में सद्व्यवहाररूप व्याप्य वादी तथा प्रतिवादी दोनों को इष्ट है और सत्ता का सत्त्ववत्त्व दोनों को अनिष्ट है वहाँ सत्ता यदि व्यवहार विषय हो तो सत्तावती हो, इस तर्काभास में सब लक्षण की अति-व्याप्ति होने से लक्षण अयुक्त हैं। यदि उस अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिये कहें कि आरोपित व्याप्य के अभ्युपगम से व्यापक की प्रतीति तर्क है, तो सत्ता में सद्व्यवहार के आरोपित नहीं होने से किन्तु वर्तमान होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो भी सिद्ध

(वर्तमान = अनारोपित) व्याप्य से व्यापक का प्रतीतिरूप प्रसङ्ग का अव्यापक लक्षण होगा। जैसे कार्य होने से अदृष्ट = धर्माधर्म से सृष्ट = रचित अङ्कुरादि है, इस प्रकार यदि मीमांसक कहते हैं, तो नैयायिक कहते हैं कि इस अङ्कुरादि की अविशेषता से (अदृष्टजन्यता कार्यता की तुल्यता से) वह अङ्कुरादि कर्तृकार्य (कर्तृजन्य) भी सिद्ध होगा। अर्थात् कार्य होने से अङ्कुरादि यदि अदृष्ट जन्य है, तो कार्यत्व से ही कर्तृजन्य होगा) यहाँ अव्याप्ति होगी क्योंकि, कार्यत्व आरोपित नहीं है। उस सिद्ध व्याप्य से ईश्वर का प्रसङ्ग नैयायिक करते हैं। आत्माश्रयादि के खण्डन के लिये उन का निदर्शन है कि आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, व्याघात, अनवस्था, और प्रतिबन्दी इन आपाद्य (प्रतिपाद्य) दोषों से भिन्नता को प्राप्त छः प्रकार के तर्क माने जाते हैं। इन का स्वरूप (लक्षण) इस प्रकार का है—स्वप्रतीति, स्वस्थिति और स्वव्यवहार में अव्यवहित (साक्षात्) स्वापेक्षा होना आत्माश्रय है। अन्य-अन्य दो को साक्षात्परस्पर अपेक्षित होना अन्योन्याश्रय है। और अतिरिक्त (व्यवहित) का वही आत्माश्रय तथा अन्योन्याश्रय दोनों चक्रक हैं। और विरुद्ध दो धर्मों का एक धर्मी में समुच्चय (सम्बन्ध) व्याघात है। जैसे माता बन्ध्या है, अगौ गौ है, इत्यादि। और अवधि (सीमा) से रहित उपपाद्य तथा उपपादक साध्यसाधक = कार्यकारण का प्रवाह अनवस्था कही जाती है। और अपने पक्ष के दोष की तुल्यता को अन्य के पक्ष में प्रतिपादन को प्रतिबन्दी कहते हैं ॥ १४८ ॥

तत्रात्माश्रयस्य सबन्धद्वारभेदादाभासत्वं यथा प्रमेयत्वस्यात्मनि वृत्तौ। क्वचिन्नैवमपि यथानेककालस्थस्य घटस्य पूर्वकालवृत्त्यात्मन उत्तरकालवृत्त्यात्मानं प्रति कारणत्वे। अन्योन्याश्रयस्य व्यक्तिभेदात् यथाज्ञानेन संस्कारस्य तेन च ज्ञानस्य जनने। चक्रकस्यापि तस्मात्, यथा बीजेनाङ्कुरस्तेन स्तम्बः तेन बीजं जन्यत इत्यत्र। व्याघातस्योपाधिभेदात्, यथा कालभेदादिना जननाजननादौ ॥ १४९ ॥

तेषामाभासत्वानाभासत्वे विवेचयति—तत्रेति। घटादीनां घटादिविषयकप्रमाधीनं प्रमेयत्वस्य च प्रमेयत्वगोचरप्रमाधीनं प्रमेयत्वं हि प्रमैव द्वारं सा चान्या घटादौ अन्या च प्रमेयत्वे। यद्यपि स्वगोचरप्रमाऽद्वारके प्रमेयत्वे द्वारभेदो नास्ति तत्रापि तत्संभवात् स्वप्रकाशस्यैव तस्याभ्युपेतं तदुक्तं "प्रमाणं प्रवणं वृत्तौ न भिन्नाभिन्नते यत" इति। उक्तं च प्रमेयव्यक्तयस्त्वन्याः स्वे स्वे रूपे तथाविधं व्यवहारं तनोत्येव विरोधं भजते न चेति। एवं विशेषणत्वविशेष्यत्वाभिधेयत्वधर्मित्वादावात्माश्रयस्याभासत्वमनाभासमात्माश्रयमाह—क्वचिदिति। नानाकालस्थितस्यैकस्य घटस्य पूर्वापरकालवृत्तितामादाय कार्यकारणभावेऽभ्युपगम्यमाने भवत्येवात्माश्रयदोष इत्यर्थः। व्यक्तिभेदादिति ज्ञानेन संस्कारद्वारा ज्ञानमेव जननीयमित्यभ्युपगमेऽन्योन्याश्रयापादानमाभासो भवति अनुभवेन स्मृतिजननस्य प्रामाणिकत्वादित्यर्थः। तस्मादिति व्यक्तिभेदादेवेत्यर्थः। बीजेनाङ्कुरस्तेन स्तम्बस्तेन मञ्जरी तेन पुनर्बीजमेवेति चक्रकदशायां व्यक्तिभेदादेवाभासत्वं नहि तदेव बीजं तदुत्पाद्येन बीजेन जन्यते इति भावः। व्याघाते आभासत्वमाह—यथेति। कुसूलस्थस्य बीजस्याजनकत्वं क्षेत्रवति तस्य च जनकत्वमिति संभवत्येवेत्यर्थः। अजननमिह क्रियानुपधानमात्रम् ॥ १४९ ॥

वहाँ आत्माश्रय को सम्बन्ध द्वारा भेदाश्रयत्व प्राप्त है, यही दोषत्व है, जैसे प्रमेयत्व घट में रहता है, वहाँ घट और प्रमेयत्व में भेद रहते आश्रयाश्रयिभाव (आधाराधेयभाव) सम्बन्ध होता है, वैसे ही यदि प्रमेयत्व को स्वात्मा में वृत्तित्व होगा तो आत्माश्रय होने से आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध और सम्बन्ध द्वारा भेदाश्रयत्व प्राप्त होगा, परन्तु यह दोष है। और कहीं इस प्रकार का दोष नहीं भी है। जैसे अनेक काल में रहनेवाले घट के पूर्वकालवृत्ति आत्मा (स्वरूप) के उत्तर कालवृत्ति आत्मा के कारणत्व में आत्माश्रय दोष नहीं है, क्योंकि घटके एक होते भी पूर्वोत्तरकालसम्बन्धरूप भेद को मानकर वह कार्यकारणभाव होता है। अन्योन्याश्रय को भी व्यक्तिभेद से दोषत्व नहीं होता। जैसे ज्ञान से संस्कार के और संस्कार से ज्ञान के जनन में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता, क्योंकि ज्ञानत्व एवं संस्कारत्वरूप से दो होते भी व्यक्ति भेद के होने से जिस ज्ञान से जो संस्कार उत्पन्न होता है, उस संस्कार से उसी ज्ञान की उत्पत्ति प्राप्त नहीं होती, जिससे अन्योन्याश्रय हो। चक्रक में भी व्यक्तिभेद से दोषत्व नहीं रहता। जैसे बीज से अंकुर, अंकुर से स्तम्ब (वृक्ष) और वृक्ष से बीजान्तर होता है। अतः व्यक्ति भेद से दोष नहीं होता है। व्याघात को भी काल, अवस्थादि उपाधि भेद से दोषत्व नहीं रहता है, जैसे बीज मे अनुकूल देशकालादि के रहते अंकुर का जन्म होता है, अन्यथा नहीं। जो किसी स्थान में है वह अन्यत्र नहीं है, तो यहाँ व्याघात नहीं है ॥ १४९ ॥

अनवस्थायाः क्रियायै परस्परानन्त्यानपेक्षणात्, यथा सामग्र्या कार्यजननाय स्वसामग्र्यनन्त्यानपेक्षणे। तामेतामधोधावन्तीमनवस्थामाचक्षते। क्वचिन्नैवमपि यथा स्वाश्रये भिन्नबुद्धिजननाय स्वगतभेदानुपजीवनादपि भेदस्यानन्त्ये। प्राग्लोपादिदोषात् तामेतामूर्ध्वं धावन्तीमनवस्थामाचक्षते॥ १५०॥

अनवस्थाभासमाह—अनवस्थाया इति। क्रियायै कार्यजननाय। नहि कार्यं स्वसामग्र्यधीनं सापि सामग्री स्वसामाग्र्यधीनैवं कादाचित्कत्वादिति प्रवाहाभ्युपगमोऽस्ति। किंचेदानीं नूनं कार्यं न तावत्सामग्रीप्रवाहाधीनमेव तथा च तदुत्पत्तिरेव न स्यात् दृश्यते च कार्योत्पत्तिरिति प्रमाणिकीयमनवस्था भवत्याभासा तामेतामिति। आभासरूपामित्यर्थः। आचक्षत इति। अनवस्थासु स्वकार्योपहितस्य स्वसामग्र्यादिकालस्याधःप्रदार्थत्वात्तद्धावनशीलेत्यर्थः। अनाभासरूपामनवस्थामाह—क्वचिदिति। भेदः स्वाश्रये घटे स्वयमेव भेदबुद्धिं जनयति स्वगतं भेदान्तरं नोपजीवतीति तावद्वस्तुगतिस्तत्र भेदस्यानन्त्ये आपाद्ये याऽनवस्था साऽनाभासेत्यर्थः। ननु कथमियं दोष इत्यत आह—प्राग्लोपेति। यदि भेदे भेदान्तरमङ्गीक्रियते तदा प्रथमभेदो लुप्त एव स्यादित्यर्थः आदिपदादविनिगम्यत्वप्रमाणापगमयोस्संग्रहः। तामेतामिति। अनाभासरूपामित्यर्थः। ऊर्ध्वमिति। भाविप्रवाहरूपामित्यर्थः॥ १५०॥

क्रिया (कार्य) के लिये परस्पर अनन्तता की अपेक्षा नहीं रहने पर अनवस्था दोषरूप नहीं होती है। जैसे सामग्री से कार्योत्पादन में अपनी सामग्री अनन्तता के अनपेक्ष में दोष नहीं है। यद्यपि कार्यसामग्री से होता है। और सामग्री भी अपनी सामग्री से होती है। क्योंकि सामग्री में कादाचित्कत्व (किञ्चित्कालवर्तित्व) रहता है। और

कादाचित्क वस्तु कार्य होती है। अतः कार्यकारण का अनादि प्रवाह है, यह मन्तव्य है। तथापि कार्य की उत्पत्ति में कार्य की सामग्री को अपनी सामग्री की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती, अतः अनवस्था दोष नहीं होती है। वस्तुतः कार्यजनन में सामग्री की सामग्री अन्यथा सिद्ध हो जाती है। जैसे घट जनन में कुलाल का पिता अन्यथा सिद्ध होता है। प्रमाणिकी अभावरूप इस प्रसिद्ध अनवस्था को अधोधावन करने वाली (पूर्वपूर्व कारण को ओर गमनवाली) विद्वान् कहते हैं। और कहीं अनवस्था (प्रामाणिकी आभास रूप नहीं भी होती है, जैसे घटपट के भेद से स्वाश्रय घटपट में भेदाश्रयतारूपभिन्न बुद्धि को उत्पन्न करने के लिये स्वगत अन्य भेद का अनुपजीवन (अनाश्रयण) से भी घट में भेद बुद्धि होती है। वहां भेद की अनन्तता (भेद का स्वाश्रय से भेद उस भेद का भी स्वाश्रय से भेद प्रबाह) को स्वीकार करने पर वह अनाभासरूप दोषात्मक अनवस्था प्राप्त होती है, अत एव प्रागलोप (उत्तरोत्तर के स्वीकार से पूर्वपूर्व की निरर्थकता से अस्वीकार) विनिगमनाविरह (अनन्त भेद में किस भेद से कहां भिन्न बुद्धि होती है, इसमें नियामक का अभाव) अत एव प्रमाणाभावरूप ये तीन दोष प्राप्त होते हैं, इस अनवस्था को ऊर्ध्वधावन (उत्तरोत्तरकल्पना) रूप अनवस्था कहते हैं ॥ १५० ॥

प्रतिबन्द्यविशेषात् यथा धूमानुमानेऽप्युपाधिशङ्का प्रतिबन्द्या तर्कानुकूलत्वादिति तदेषामापादनानि तर्काभासाः कथमुक्तलक्षणेन न संग्राह्याः। सत्यपि व्याप्याय दोषे प्रसङ्गस्थानगतेन तेन विशेषणेनाभासीभूतत्वात्। प्रसङ्गस्थाने तावतां विशेषाणामभावेनापि लक्षणं विशेषणीयम् इति चेत्, न 'अन्योन्याश्रयाभासत्वप्रयोजकस्य व्यक्तिभेदस्याभावो नानवस्थायामेवमात्माश्रयाभासत्वप्रयोजकस्य द्वारभेदस्याभावो नात्माश्रयान्तरादाविति व्यकमव्यापकत्वापत्तेः। अपि चापसिद्धान्तविरोधादिष्वपि तर्कलक्षणं गच्छत्कथङ्कारं वारणीयम्। यत्रैव निग्रहे तर्कान्तराणामन्तर्भावः तत्रैवानयोरपीति पृथग्निग्रहत्वानुपपत्तेः ॥ १५१ ॥

आभासमाह—प्रतिबन्द्येति। यद्यनुपलभ्यमानोपाधिशङ्कास्मदनुमानमास्कन्देत तदा भवदनुमतं धूमानुमानमपि हि द्वितीयं भवत्याभासं यतो यथा धूमव्याप्तिग्रहेऽनुकूलः तर्को न तथा त्वदभिमतव्याप्तावित्यर्थः। यत्र तु विशेषाभावस्तत्र प्रतिबन्दी दोष एवेति भावः। एवं व्युत्पादिते त्वदभ्युपगतव्याप्यं प्रति व्यापकप्रसञ्जनं तर्क इति लक्षणमिति व्यापकमित्याह—तदेषामिति। आपादनान्येव तर्काभास इत्यर्थः। आत्माश्रयादीनामभावादिनाशङ्क्याह—सत्यपीति। द्वारभेदादिना विशेषेण तेषामाभासत्वस्य त्वयापि वक्तव्यत्वात्। अन्यथा प्रमेयत्वे प्रमेयत्वमनेन दोषेण न भवेदिति केवलान्वयित्वं तस्य न स्यादित्यर्थः। ननु तर्काभासव्यावृत्तये द्वारभेदरहितत्वे सतीति विशेषणीयमिति शङ्कते—प्रसङ्गस्थान इति। तर्हि तर्कलक्षणमव्यापकं स्यादेकाभासत्वप्रयोजकस्य द्वारभेदादेरपरत्र सत्त्वेन तदभाववत्त्वस्य विशेषणस्य तत्रासत्त्वादित्याह—नेति। अनाभासान्योन्याश्रयादावव्याप्तिः स्यादित्यर्थः। ईश्वरमनभ्युपगम्याभ्युपगच्छतो मीमांसकस्यापसिद्धान्तापादनं विरोधापादनं वा तर्कलक्षणाक्रान्ततया तर्कः स्यादित्याह—अपि चेति। अनैकान्तिके चापसिद्धान्तस्योपन्यासमात्रं न त्वापादनमिति चेन्न, उक्तप्रकारेणापादनस्यापि संभवादनैकान्तिकापादनं च न संभवति। अपसिद्धान्तस्त्वभ्युपगमतन्त्र इति विशेषात् अपसिद्धान्तस्य तर्कत्वे दोषमाह—यत्रैवेति। अन्योन्याश्रयादीनां व्याप्त्यादिग्रहं प्रति प्रतिबन्धकतया व्याप्य-

त्वासिद्धादिनिग्रहेऽन्तर्भाव इति तदपेक्षयापसिद्धान्तस्य पृथग्निग्रहत्वं भज्येत। भवति हि भेदव्यवहारविषयत्वात् घटो भेदवानिति स्थापनायां भेदेऽपि भेदव्यवहारस्तेनैव भेदेन चेदात्माश्रयोऽन्योन्यापेक्षायामन्योन्याश्रयः व्यवहितान्योन्यापेक्षायां चक्रकमनन्तप्रवाहापेक्षायामनवस्थेत्यापादनैर्भेदाभाववति भेदे भेदव्यवहारविषयत्वं गतमित्यनेन व्याप्यत्वासिद्धिनिग्रहस्थानेऽन्तर्भावितमित्यर्थः॥ १५१॥

प्रतिबन्दी को भी विशेष प्रमाण से आभासत्व होता है, जैसे (शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्) कार्य होने से शब्द अनित्य है, इस अनुमान में मीमांसक की उपाधि की शंका होने पर नैयायिक कहें कि यदि शंकितोपाधि दोष हो तो धूम हेतुक अग्नि के अनुमान में भी उपाधि की शंका हो सकती है, तो यहाँ इस प्रतिबन्दी में कार्यकारणभाव विशेष के दर्शनरूप अनुकूलतर्क से प्रतिबन्दी आभासरूप हो जाती है। वहाँ इन आभासरूप आत्माश्रयादि के आपादन (दोषरूप से उद्भावन = कथन) तर्काभास है, वस्तुतः तर्क रूप नहीं, तो भी व्याप्यारोप से व्यापक का प्रसङ्गरूप उक्त तर्क के लक्षण से ये संग्राह्य क्यों नहीं होगें? अर्थात् इनमें अवश्य अतिव्याप्ति होगी। जो वस्तु है, वह स्वाश्रित नहीं है, न परस्पर सिद्धिवाली है, इत्यादि व्याप्ति की तुल्यता रहते आत्माश्रयादि आभासरूप कैसे हो सकते हैं? वे भी दोषरूप ही हैं। अतः वहाँ लक्षण की प्राप्ति अतिव्याप्ति नहीं है। परन्तु ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि उक्त व्याप्यादि के अदोषरूप (तुल्य) रहते भी प्रसङ्ग स्थान में गत तत्तत् पूर्वोक्त द्वारभेदादिरूप विशेष से तर्काभास रूप हो जाता है। यदि कहें कि प्रसङ्ग के स्थान में उन विशेषों के अभाव से भी लक्षण विशेषणीय है। आभासत्व हेतु विशेषों के अभावयुक्त आरोपित व्यापकारोप तर्क है, ऐसा लक्षण करने से तर्काभास में अतिव्याप्ति नहीं होगी, तो यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि अन्योन्याभाव के आभासत्व का प्रत्येक व्यक्तिभेद अभाव अनवस्था में नहीं रहता है। और इसी प्रकार आत्माश्रय के आभासत्व के प्रयोजक द्वारभेद अभाव अन्य आत्माश्रयादि में नहीं रहता है। अतः प्रकट अव्याप्ति प्राप्त होगी। अनाभास में भी लक्षण प्राप्त नहीं होगा। इसी प्रकार अनीश्वरवादी ईश्वर को मानते हैं, तो अपसिद्धान्त होता है, शब्द को नित्य कहकर अनित्य कहते हैं, तो वचन विरोध होता है। वहाँ इन अपसिद्धान्तादि को भी प्राप्त होता हुआ तर्क का लक्षण कैसे निवारणीय होगा? अर्थात् इन सब में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि इन सब को तर्क मानें तो आत्माश्रयादि के समान इनको तर्क में गिनना चाहिये। यदि तर्क होते भी इनको निग्रहस्थान में गिनें, तो आत्माश्रयादि तर्क को भी निग्रहस्थान में गिनना चाहिये। फिर जिस निग्रह में आत्माश्रयादि तर्कान्तर का अन्तर्भाव होगा, उसी निग्रह स्थान में अपसिद्धान्त वचन विरोध का भी अन्तर्भाव होगा, पृथक् निग्रहत्व की सिद्धि नहीं होगी॥ १५१॥

उक्तरीति से आत्माश्रयादि को सत्तर्क मानकर आभासरूप आत्माश्रयादि में अतिव्याप्ति कही गई है। अब उसके दुर्वाच्यत्वका वर्णन किया जाता है—

आत्माश्रयादेश्च मूलव्याप्तौ प्रमाणोपगमश्चेत्तर्हि प्रामाणिकत्वान्न दोषत्वम्। न चेन्मूलशैथिल्यमित्युभयतः पाशबन्धः कथं मोचनीयः। अथोच्यते

यदेतदाश्रयत्वमाश्रयित्वं च तद्भेदे दृष्टं तद्यदि विवादाध्यासिते त्वयोपेयते तदा भेदः स्यादित्याकारेणापादने नोक्तदोषापत्तिरिति मैवं, एकत्र द्वयस्यापि दृष्टत्वात्। तदाश्रयत्वं तदाश्रितत्वं च मिथो भेदनियतम् इति चेन्न, तन्मिथःशब्दाभ्यां क्षारीकृतत्वात्। एतदाश्रयत्वादेतदाश्रितत्वाद्वा नैकत्वं स्यादित्यादिवचनभङ्ग्यापाद्यम् इति चेन्मैवम्, यद्येतदेतदाश्रयादि स्यात्तदेतन्न स्यादिति ह्यापाद्यम्। न चैतद्युक्तम्। धर्म्यापाद्ययोर्व्याहतत्वात् ॥१५२॥

दोषान्तरमाह—आत्माश्रयेति। यदि स्वस्य स्वापेक्षित्वं स्यात्तदात्माश्रयः स्यादित्यापादनप्रकारो नेह येन तस्य प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वविकल्पोऽवतरेत। अपि तु यद्ययं घट एतद्घटाश्रयः स्यादेतद्घटकारणं वा स्यादेतद्घटज्ञाप्यो वा स्यात्तदेतद्घटभिन्नः स्यादित्याद्यापादनप्रकारे कथमप्रामाणिकत्वमित्याशङ्कते—तदेतदाश्रयत्वमिति। आश्रयत्वमाश्रितत्वं च रूपकपालाभ्यां निरूपितं घटस्यास्ति नतु भेद इति परिहरति—मैवमिति। एकनिरूपितमाश्रत्वमाश्रितत्वञ्चभेदनियतमिति शङ्कते—तदेति। अत्रानानुगममाह—तन्मिथ इति। तच्चच्छब्दस्य मिथः शब्दस्य च विशेषपरत्वादितिभावः। क्षारीकरणमापदकाननुगमदोषदुष्टत्वम्। नन्वापादकाननुगमो न दोषः तथाच घट एतद्घटाश्रितः स्यादेतद्घटभिन्नः स्यादिति संभवापादनमिति शङ्कते—एतदिति। तथा सत्ययं न स्यादित्यापादनार्थस्तथा च धर्म्यापाद्ययोर्व्याघात इति परिहरति—यद्येतदिति ॥ १५२ ॥

आत्माश्रयादिरूप तर्क का मूल व्याप्ति है, उसमें कोई प्रमाण है या नहीं ? यदि है, तो उसी से व्याप्यव्यापक के ग्रहण से आत्माश्रयादि के प्रामाणिकत्व होने से दोषत्व नहीं रहेगा। यदि प्रमाण नहीं है तो मूल की शिथिलता से तर्काभासत्व की प्राप्ति होगी। इस प्रकार उभयतः पासबन्ध कैसे निवारणीय होगा, अर्थात् दोषत्व अनिर्वाच्य है। यदि कहें कि स्व में यदि स्वापेक्षित्व हो तो आत्माश्रय होगा, ऐसा आपादन में करने पर यद्यपि उक्त प्रामाणिकत्व तथा अप्रामाणिकत्व का विकल्प हो सकता है कि ऐसे अर्थ में प्रमाण है या नहीं। परन्तु मैं तो कहता हूँ कि जो यह लोक में प्रत्यक्ष आश्रयत्व एवं आश्रितत्व देखा गया है वह भेद में देखा गया है। यदि आप इसे विवादविषय प्रमेयत्वादि में मानें कि केवलान्वयी होने से प्रमेयत्व में भी प्रमेयत्व रहता है, तो भेद होगा। अर्थात् दो प्रमेयत्व हो जायेंगे। इस प्रकार आत्माश्रय के आपादन करने पर उक्त दोष नहीं होगा, परन्तु ऐसा आपादन नहीं कर सकते। क्योंकि एक घट में रूपाश्रयत्व और भूतलाश्रितत्व देखा जाता है परन्तु भेद नहीं होता है। यदि कहें कि वहाँ भूतलरूप के भेद से एक में आश्रयत्व तथा आश्रितत्व होता है, हमें कहना है कि घट ही घट का जहाँ आश्रय हो और घट ही घट के आश्रित हो, वहां आश्रयत्व और आश्रितत्व परस्पर भेद नियत ही रहते हैं, ऐसे ही प्रमेयत्व में प्राप्त होगा, तो यह कथन (लक्षण) भी तत् और मिथः शब्द से खण्डित है। क्योंकि, तत् शब्द के और मिथःशब्द के विशेषपरक होने से अननुगम होता है, यहां अनुगत कोई धर्म नहीं है जिसका तत् शब्द से ग्रहण हो और मिथः शब्द से सामान्य परस्पर का ग्रहण हो, तो घटपटादि के भेद स्वीकृति से इष्टापत्ति होगी, इत्यादि वचन शुद्ध कल्पना मात्र है। यदि कहें कि आपादक का अननुगम दोष नहीं होता है, अतः व्यक्तिपरक आपादन लक्षण होगा—

विमत इससे भिन्न है आश्रय होने से, एतदारम्भक द्रव्यवत् , विमत इससे भिन्न है, आश्रित होने से, रूपादिवत् , तो इस प्रकार एकत्व नहीं होगा, यही वचन भेद से आपादनीय है, तो ऐसा कहना भी असंगत है, क्योंकि, आप के इस कथन का यह अर्थ होता है कि यदि यह इसका आश्रयादि होगा, तो यह नहीं होगा यही आपादनीय है। परन्तु यह युक्त नहीं। क्योंकि इस प्रकार धर्मी (एतत्) और आपाद्य (तत् न) इन दोनों में विरोध होगा। यह, यह नहीं होगा, ऐसी प्रतीति विरोध से बाधित है। यह है और यह नहीं है, ऐसा कहना है ॥ १५२ ॥

न च वाच्यमापाद्यस्य प्रमाणबाध्यतानुकूलैवेति व्याघातादपि सा संभवति न दोषमावहतीति, यत आपाद्यापादकयोः सामानाधिकरण्यानादरेतिप्रसङ्गः स्यादतो विपर्ययापर्यवसायित्वमेवं स्यात् एवं हि विपर्ययो वक्तव्यो यन्नाम भवति चैतदेतत्तस्मान्नैतदाश्रय इति। न चैतदेतद् भवितुं शक्नोति एतदित्युद्दिष्टे धर्मण्येतत्त्वविधानासंभवादुद्देश्यविधेययोः प्रकारभेदस्याभावात्। न च प्रसङ्गमात्रमेतद्बाधायैवास्तु कृतमस्य विपर्ययपर्यवसानेनेति युक्तम्, स्वयमपि प्रसङ्गमूलस्य व्याप्तेरिष्टतया प्रसञ्जितनिषेधे तद्व्यतिरेकप्रामाणिकत्वस्यावश्यमन्तव्यत्वापत्तेः ॥ १५३ ॥

ननु व्याघातादेवापाद्यबाधात्तर्को न दोषः किंतु अनुगुण एवेत्याह—न च वाच्यमिति। अयमर्थं न स्यादिति प्रसङ्गस्य विपर्ययो भवति चायमयमित्याकारेणावर्त्तनीयः स च उद्देशविधेयभावानुपयुक्त इति विपर्ययापर्यवसानं स्यादित्यर्थः। तदुक्तम्—प्रथमखण्डनेन "अतत्तन्मन्यसे तत्त्वन्न तत्तदपि मन्यसे सामानाधिकरण्यं हि रूपभेदमपेक्षत" इति। ननु तर्कद्वैविध्यं त्वयैवोक्तं तथाच परबाधाय यस्तर्कस्तत्र किं विपर्ययापर्यवसायित्वेनेत्यत आह—नचेति। विपर्ययापर्यवसाने मूलशैथिल्यमावश्यकं यतोन्वयव्याप्तेर्व्यतिरेकव्याप्तिव्यापकत्वात्तदभावे सापि न स्यादिति भावः। व्यतिरेकाप्रमाणिकत्वमेव वा तदपर्यवसानम् ॥ १५३ ॥

यदि कहें कि आत्माश्रयादि प्रतिवादी के पक्ष को दूषित करने के लिये उद्भावित होते हैं, वहां व्याघात से भी वह होने वाली आपाद्य की प्रमाणबाध्यता अनुकूल ही है, दोष नहीं है, तो ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि एतदाश्रयत्व और एतदाश्रितत्व आपादक हैं और अनेकत्व आपाद्य है, इन दोनों को यदि एकधर्मिनिष्ठत्व मानें, तो विरोध से आपाद्य की सिद्धि नहीं हो सकती। और इन दोनों के सामानाधिकरण्य का अनादर करें, तो अतिप्रसंग होगा। उक्त आपादन से कहीं एक स्थान में अनेकता के आपादन से सर्वत्र एकता का भंग (अनेकत्व) होगा। और इसी प्रकार इससे विपर्ययापर्यवसायिता होगी जिससे तर्काभासता होगी, क्योंकि विपर्यय इस प्रकार से कहना होगा कि 'एषः घटश्च एषः घटोभवति' यह (घट) तो यह (घट) है (एकमात्र है) तस्मात् नैतदाश्रयः (अतः इस (घट) का यह (घट) आश्रय नहीं है) परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'एतत्' इस शब्द से उद्दिष्ट (उद्देशविषय) धर्मी में एतत् धर्म का विधान असम्भव है, उसमें कारण यह है कि उद्देश्य और विधेय में प्रकार (विशेषण धर्मादि) के भेद का अभाव है। उद्देश्यविधेय में प्रकारभेद रहते ही उद्देश्यविधेयभावादि सम्बन्ध होता है। यदि कहें कि परपक्ष बाधनार्थक और स्वपक्ष-

साधनार्थक दो प्रकार के तर्क कहे गये हैं, वहां स्वपक्षसाधनार्थक तर्क में विपर्ययपर्यवसान की आवश्यकता होती है और यह आत्माश्रयादि परपक्ष बाधन के लिये प्रसङ्गमात्र हो सकता है। अतः इसको विपर्ययपर्यवसान का कोई उपयोग (फल) नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि स्वयं भी प्रसंग के मूलरूप से व्याप्ति की इष्टता (स्वीकार) में प्रसञ्जित (आपादित) के निषेध होने पर उस प्रसञ्जित अनेकत्व के व्यतिरेक (विपर्ययपर्यवसान) एकत्व के प्रामाणिकत्व की अवश्य मन्तव्यत्वापत्ति होती है। अतः विपर्ययपर्यवसान (एकत्व) की सिद्धि के लिये प्रमाण की आवश्यकता है और विपर्ययपर्यवसान के बिना यह नहीं हो सकता ॥ १५३ ॥

अत एवैतदन्यत्स्यादित्यपि न शक्यप्रसञ्जनमेतदन्यत्वस्यैतत्स्वरूपभेदमादायैव प्रतीतिपर्यवसायितया प्रसङ्गे व्याघातादेव। विपर्ययोऽप्येतद्विशेषितान्यत्वविधायिनो विशेषणविशेषणताप्रविष्टमात्मानमात्मनि विधीयमानं न क्षमते। एतदनन्यत्वस्यैतदन्यान्यत्वस्यैतत्त्वादेवान्यत्वावधेरात्मन उपलक्षणत्वे चान्यत्वमात्रमुपलक्ष्यमाणमन्यस्मादप्यन्यत्वमादाय पर्यवस्येत्। स्वरूपत एव विलक्षणमन्यत्वविशेषमवधिरात्मोपलक्षयतीति च न घटते। यतोन्यत्वमात्रमेवावधिविशेषैरुपधीयमानं तदन्यत्वप्रत्ययव्यवहारोपपादकं भवदन्यत्वव्यक्तिभेदपर्यन्तगमनं प्रमाणस्य न सहते ॥ १५४ ॥

नन्वयमयं न स्यादिति न प्रसङ्गाकारो येन न विपर्ययः सामानाधिकरण्याभावात् पर्यवस्येत् अपि त्वेतदन्यः स्यादित्यापाद्यमित्याशङ्क्याह—अतएवेति। एतदन्यत्वमेतत्त्वं विनापीत्येतदप्यापादनं व्याहतमिति भावः। नचायमेतदन्य इत्याकारेण वर्तमानेऽयं चायमित्याकारपर्यवसित एव स्यादिति युक्तः स एव दोषः स्यादित्याह—विपर्ययोऽपीति ॥ १५४ ॥

यदि कहें कि उद्देश्यविधेयभावादि यदि संगत नहीं होता है, तो (एतदेतन्न-स्यात्) ऐसा प्रसङ्ग नहीं करके, ऐसा प्रसङ्ग होगा कि यदि आश्रितत्व तथा आश्रयत्व एक में होगा, तो यह एक से अन्य होगा, तो उत्तर यह है कि इस वक्ष्यमाण दोष से यह प्रसञ्जन (तर्क) भी नहीं हो सकता, क्योंकि एतदन्यत्व के एतत् स्वरूप के भेद को ग्रहण करके ही प्रतीति के विषय होने से 'एतत् एतदन्यत्' होगा। इस प्रसङ्ग में पूर्वतुल्य धर्मी आपाद्य में व्याघात ही है। और 'एतत् एतदन्यत् स्यात्' इसका विपर्यय भी (एतत् धतदन्यत् न स्यात्) इस प्रकार का एतत् से विशेषित अन्यत्व का विधान करने वाले के विशेषण के विशेषणता में प्रविष्ट अपनी आत्मा (एतत्त्व) को अपने में विधीयमान को नहीं सह सकता। क्योंकि, एतदन्यत्व और एतदन्योन्यत्व में एकत्व ही है, अर्थात् दोनों में एतत् विशेषण रूप से प्रविष्ट है। अतः उद्देश्य विधेय दोनों में एकत्व प्रविष्ट है। यदि कहें कि एकत्व के विशेषण होने पर उक्त दोष होता है, उपलण मानने से दोष नहीं होगा, तो उत्तर यह है कि अन्यत्व की अवधि आत्मा (एतत्) के उपलक्षणत्व होने पर अन्यत्वमात्र उपलक्ष्यमाण (बोधित) होगा, वह उपलक्षक से अन्यसे भी अन्यत्व को ग्रहण करके सिद्ध होगा। अर्थात् एतदर्थ घट को अन्यत्व में उपलक्षण होने पर उद्देश्य घट में अन्य से अन्यत्व होने से एक में विपर्यय

का पर्यवसान नहीं होगा। यदि कहें कि एतत् के उपलक्षण होते भी अन्यत्वमात्र का उपलक्षण नहीं होता, किन्तु निजस्वरूप से ही विलक्षण (स्वप्रतियोगिक) अन्यत्व विशेष को अवधिस्वरूप एतत् उपलक्षित करता है। अतः स्वप्रतियोगिक अन्यत्व का अन्यत्व स्वनिष्ठ होने से विपर्यय का पर्यवसान होता है, तो यह कथन भी संघटित नहीं होता, क्योंकि प्रतियोगी के भेद से यदि अन्यत्व का भेद होता तो यह कहना संगत होता, किन्तु अन्यत्वमात्र ही तत्तत् अवधि विशेषों (उपाधियों) से उपधीयमान (उपहित = युक्त) होता हुआ, तत्तदन्यत्वप्रतीति और व्यवहारों का साधक होता हुआ, प्रमाण के अन्यत्वव्यक्ति के भेदपर्यन्तगमन (विषयत्व) अन्यत्व नहीं सह सकता, अर्थात् अन्यत्व के भेद की प्रतीति और व्यवहार के साधक प्रमाणों से भी अन्यत्व में भेद सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे आकाश में उपाधि भेद से प्रतीति और व्यवहार में भेद होते भी आकाश में भेद नहीं होता, वैसे ही अन्यत्व में भी नहीं होता है ॥ १५४ ॥

यदि चान्यत्वव्यक्तिभेदोऽपि स्यात्तथापि प्रसङ्गमूलभूता व्याप्तिः सामान्याकारपुरस्कारित्वादेतेनैवोपधीयमानानामन्यत्वव्यक्तीनामैक्यमादाय प्रवृत्ता तथैव प्रसङ्गे विपर्यये चोपनयन्ती स्यादेवोक्तदोषालंघनायेति। एवंप्रकारताचाश्रयाश्रयिभाववत्प्रकारान्तराश्रयेष्वप्यात्माश्रयोदाहरणेष्वतिदिश्यते अन्योन्याश्रयो यथाभेदेनावगताद्भेदज्ञानोपगमे सोऽपि त्वया कथंकारमुपन्यसनीयः। न तावद्यद्येतदेतद्बोधाधीनबोधं स्यात्तदा न बुध्येतेति। तथा सति व्याप्त्यसिद्धेः, एतद्बोधाधीनबोधं यद्बोधाधीनबोधस्य तस्यैवादृष्टचरत्वात् ॥ १५५ ॥

और यदि अवधिविशेष से उपधीयमान अन्यत्व का व्यक्तिभेद होगा, तो भी प्रसङ्ग के मूलस्वरूप व्याप्ति, सामान्याकार के पुरस्कारित्व (सामान्याकारपूर्वकत्व) से इस सामान्याकारद्वारा ही उपधीयमान (उपाधिरूप प्राप्त) अन्यत्व व्यक्तियों की एकरूपता को ग्रहण करके प्रवृत्त होती हुई, उसी प्रकार से (एकतारूप से) ही प्रसङ्ग और विपर्यय में भी प्राप्त करती हुई उक्त दोष के अलंघन के लिये व्याप्ति ही होगी। अर्थात् सामान्यरूप से अन्यत्व के ग्रहण से किसी का अन्यत्व गृहीत होगा। अतः उपलक्षण मानने पर भी दोष से छुटकारा नहीं है। आश्रयाश्रयिभाव के समान प्रकारान्तर के आश्रय आत्माश्रय के उदाहरणों में भी इसी की समानता समझनी चाहिये। अर्थात् स्वयं स्वात्मा से उत्पन्न होता है, ऐसा मानने पर अपना जनक अपने होगा, अतः स्वसे स्व अन्य होगा, ऐसा आपादन में व्याघात होगा, इत्यादि पूर्ववत् जानने योग्य हैं। आत्माश्रय के समान अन्योन्याश्रय भी अनिर्वाच्य है। जैसे अन्योन्याभाव धर्मो प्रतियोगी आदि से भिन्न रूप से अवगत से ही भेद ज्ञान को मानने पर अन्योन्याश्रय होता है, क्योंकि भेद के ज्ञान के बिना भेदेन अवगत नहीं होगा, यही अन्योन्याश्रय दोष है, वहाँ यह अन्योन्याश्रय भी आप से किस प्रकार से उपन्यास (कथन) के योग्य है, यह विचारणीय है। वहां ऐसा नहीं

कह सकते कि यह भेदादि इस भेदादि के अधीन जो प्रतियोगी आदि का ज्ञान, उस ज्ञान के अधीन ज्ञान का विषय यदि होगा तो नहीं समझा जायगा। अर्थात् ऐसा ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। ऐसा इसलिये नहीं कह सकते कि ऐसे आपादन में व्याप्ति का ज्ञान होना चाहिये। यहाँ व्याप्ति की असिद्धि है, क्योंकि, एतद्बोधाधीन जो बोध उस बोधाधीन उस बोधक के ही अन्यत्र अदृष्ट होने से व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता और यदि अन्यत्र दृष्ट हो, तो उक्त आपादन ही नहीं हो सकता ॥ १५५ ॥

कयाचन व्याप्यव्यापकभावभेदकल्पनया व्यभिचाराप्रतीतचरत्ववारणेऽप्य तथाभावशङ्काखण्डकदण्डदुर्लभत्वादेवमन्योन्याश्रयांन्तरेऽपि । चक्रकं च मध्ये परमन्तर्भाव्यात्माश्रयान्योन्याश्रयावेव विपरिणमत इति तद्दोषं नातिक्रामति। व्याघातस्तु यथा सन्नास्तीत्यत्र। तमपि कथं प्रयोक्ष्यसे यदि, यद्ययं सन्नस्यात्तदानीमसत् स्यादिति तर्ह्यसन्न स्यादित्यस्यापि सत् स्यादित्यस्मिन्नेवार्थे पर्यवसानादभेदेन व्याप्यव्यापकभावस्यैवासिद्ध्यापत्तिः। स्वभावविरुद्धोपजीविनी च विरुद्धान्तरे तद्व्याघातनिरासादेव निरस्तप्राये। गौर्महिषः ततो न भवति, अगवात्मता नियता यतो महिषात्मतेति एष हि तयोर्विरोधः ॥ १५६ ॥

यदि किसी व्याप्यव्यापकभाव के भेद की कल्पना से व्यभिचार और अप्रतीतिविषयत्व का वारण करें कि जो वस्तु है, वह परस्पर बोध का विषय नहीं होती है, यह सामान्य व्याप्ति है जैसे घटरूपादि। और प्रतियोगी के स्वरूप ज्ञान में भेद ज्ञान के हेतु नहीं होने से उक्त सामान्य व्याप्ति का व्यभिचार भी नहीं है, तो उत्तर यह है कि उक्त व्याप्यव्यापकभाव का अभाव की शंका के खण्डक (नाशक) दण्ड (हेतु) की दुर्लभता है। अर्थात् वस्तुत्व भी हो और परस्परबोधविषयत्व भी हो इस शंका का बाधक हेतु नहीं है, अतः व्याप्ति की असिद्धि से मूल शिथिल है। इसी प्रकार अन्य अन्योन्याभाव में भी दोष ज्ञातव्य है। और मध्य में अन्य का अन्तर्भाव करके आत्माश्रय तथा अन्योन्याश्रय ही चक्ररूप से परिणत होते हैं। अतः चक्रक उन दोनों के दोषों का अतिक्रमण (त्याग) नहीं करता और व्याघात तो (सन्नास्ति) यहाँ जैसे कहा जाता है, वैसे उसका भी कैसे प्रयोग करेंगे? यदि प्रयोग करें कि यदि यह सत् होगा तो असत् नहीं होगा, तो असत् नहीं होगा, इसका भी सत् होगा, यही अर्थ सिद्ध होने से अभेद होने के कारण व्याप्यव्यापकभाव के ही असिद्धि की प्राप्ति होगी, अतः व्याप्तिरूप मूलरहित व्याघात तर्क नहीं होगा और स्वरूप विरुद्धरूप व्याघात का उक्तरीति से निरसन होने पर स्वभावविरुद्धरूप और व्यापकविरुद्धोपलब्धिरूप दोनों स्वभाव विरुद्धों को उपजीवन (आश्रयण) करने वाले विरुद्धान्तर (व्याघातान्तर) उक्त व्याघात के निरास से ही निरस्तप्राय हो गये। और अगवात्मता से नियत व्याप्य जिससे महिषात्मता है, इस लिए गाय भैंस नहीं होती है, यही स्वभाव विरुद्ध और व्यापकविरुद्धोपलब्धि दोनों विरोध के उदाहरण हैं। अगवात्मत्व गवात्मत्व से स्वाभाविक विरोध वाला है। और अगवात्मता से व्याप्य महिषात्मता है, अगवात्मतारूप की निवृत्ति से व्याप्य महिषात्मता निवृत्ति होती है, ऐसा होने पर गोत्व से

अगोत्वाभाव का प्रतिपादन करें तो उसके व्याप्य महिषत्व का भी अभाव प्राप्त होगा परन्तु अगोत्वाभाव से महिषत्व का अभाव नहीं होगा ॥ १५६ ॥

अनवस्था तु यथा सत्तायामपि सत्तान्तरमित्यनवधौ सत्ताप्रवाहे इष्यमाणे तत्र कथं प्रत्यवस्थेयम्। न तावद्यदि सत्तायां सत्ता स्यात्तदा न विश्रान्तिः स्यादिति। सत्तायां सत्ताभ्युपगमस्य विश्रान्त्यभावेन सह व्याप्ति सिद्ध्यसिद्ध्योर्दोषग्रस्तत्वात्। प्रतिबन्दी च खण्डितैव। किञ्च प्रमेयत्वाभिधेयत्वव्यवहार्यत्वसन्निकर्षवत्त्वाभावप्रतियोगित्वादीनामात्माश्रितत्वदर्शनात् कथंमाश्रयता खण्डकाव्याप्तिः सव्यभिचारा न स्यात्। द्वारव्यक्तिभेदस्यापि व्यभिचारिव्यतिरेकत्वात्स्वप्रकाशवादिना स्वयमेव स्वज्ञानत्वस्य, एवमभावेप्यन्यमभावमस्वीकुर्वता स्वयमेव स्वाभावत्वस्य, एवं तदेव ग्राह्यं ग्राहकं चात्मप्रतीतौ, एवं तदेव ज्ञाप्यं ज्ञप्तिकारणं च शब्दो वाचक इत्यत्र, एवं तदेव नाश्यं नाशकं च प्रध्वंसिनि, एवं तदेव संबन्धि संबन्धश्च स्वभावसंबन्धोपगम इत्यादि बहुलमुपगमादात्माश्रयतदाभासविवेकाय किं नियामकमुपेयम् ॥ १५७ ॥

स्वप्रकाशेति तनव ज्ञानेन तज्ज्ञानग्रहे द्वारभेदो नास्ति स्वप्रकाशतावादिमते अन्यमते वेश्वरज्ञाने च तद्ग्रहोऽन्यथा तदसर्वज्ञत्वापातः शब्दो वाचक इति शब्दस्यैव वाचकत्वं परिच्छिनत्ति ॥ १५७ ॥

अनवस्था तो है जैसे सत्ता में सत्तान्तर है, इस प्रकार अनवधि सत्ता के प्रवाह को मानने पर प्राप्त होती है। वहाँ यदि कोई सत्ता में सत्ता मानता हो, तो प्रत्यवस्थान (विरोध) कैसे होगा ? ऐसा विरोध (प्रसंग) तो नहीं किया जा सकता कि यदि सत्ता में सत्ता होगी तो उसकी अवधि नहीं होगी। क्योंकि सत्ता में सत्ता के अभ्युपगम को अवधि के अभाव के साथ व्याप्ति की सिद्धि और असिद्धि दोनों अवस्थाओं में दोष है। अर्थात् प्रमाण से यदि व्याप्ति सिद्ध है तो प्रमाण से सिद्ध अनवस्था दोषरूप नहीं हो सकती। यदि सिद्ध नहीं है, तो उसका आपादन (दोषरूप से कथन) नहीं हो सकता, दोषापादन का मूल व्याप्ति का ही अभाव है, तो आपादन नहीं होगा। और प्रतिबन्दी द्वितीय परिच्छेद में खण्डित हो चुका है। और प्रमेयत्व, अभिधेयत्व (वाच्यत्व) तथा व्यवहार्यत्व में प्रमादिविषयत्व से स्ववृत्तित्व है, समवाय को समवायान्तर के बिना सम्बन्धी के साथ सन्निकर्षवत्त्व है, अभावप्रतियोगित्व में अभावप्रतियोगित्व है, अतः इनके आत्माश्रितत्व के देखने से आत्माश्रयता खण्डन करने वाली व्याप्ति सव्यभिचार क्यों नहीं होगी, अवश्य सव्यभिचार होगी। यदि कहें कि द्वार और व्यक्ति के भेद से आत्माश्रयता के कारण हो जाने से व्याप्ति में सव्यभिचारत्व नहीं है, क्योंकि घटज्ञान से घट में प्रमेयत्व होता है, और मेरा घटज्ञान प्रमा है, ऐसे ज्ञान से प्रमेयत्व का ज्ञान होने से प्रमेयत्व ज्ञात होता है, अतः वहां प्रमेयत्व व्यक्ति का भेद है। और दो ज्ञानरूप द्वार का भी भेद है, अतः आत्माश्रय नहीं है, तो यह कहना अयुक्त है, क्योंकि द्वारभेद और व्यक्तिभेद के व्यभिचारित्व के हेतु व्यतिरेकित्व है। अर्थात् द्वार तथा व्यक्ति भेद के अभाव रहते भी आत्माश्रय है जिससे व्याप्ति में सव्यभिचारत्व है।

क्योंकि स्वयं प्रकाशज्ञान आत्मवादी से स्वयं स्वज्ञान को माना जाता है। इसी प्रकार अभाव में भी अन्य अभाव को नहीं मानने वाले एक अभाव स्वरूप ही अभावान्तर मानते हैं। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान में एक आत्मा ही को ग्राह्य (विषय) और ग्राहक (विषयी) मानते हैं। इसी प्रकार (शब्दो वाचकः) शब्द वाचक होता है, यहां यह वाक्यरूप स्वयं भी वाचकत्वरूप से ज्ञाप्य (बोध्य) होता है और बोध का कारण भी होता है। क्षणिक विज्ञानवाद में एक ही विज्ञान स्वयं नाश्य और नाशक होता है। इसी प्रकार स्वभाव (स्वरूप) को सम्बन्ध मानने पर वह स्वरूप ही सम्बन्ध और सम्बन्धी होता है, इत्यादि बहुल (बहुत) आत्माश्रय के स्वीकार से, आत्माश्रय और आत्माश्रयाऽऽभास के विवेक के लिए क्या नियामक मानना होगा, यह अनिर्वाच्य है ॥ १५७ ॥

अन्योन्याश्रये चान्त्योपान्त्यशब्दयोरन्योन्यनाशकतायां समव्याप्तिकयो-श्चान्योन्यव्याप्यव्यापकतायाम्, एककार्यकारिणां चान्योन्यसहकारितायाम्, एवमन्यस्मिन्नपि तत्र तत्र दर्शनात्कथं न व्याप्तिभङ्गः। कश्च विशेषो यद्व्यति-रेको विशेषणमुपादीयेत। तत्र तत्रविरोधान्नैवम् इति चेन्न, अन्यत्र तथा-भावादर्शनस्य विरोधाभ्युपगममूलस्याविशेषात्तत्र तत्र तथात्वे प्रमाणस-द्भाव एव विशेष इति चेत्तर्हि सर्वत्रानभ्युपगममूलं तथात्वे प्रमाणाभाव एवोपजीव्यो दूषणमिष्यतां कृतमन्योन्याश्रयेण व्यभिचरितदोषत्वेनेति। च-क्रकेऽपि दुःखजन्मादिसूत्रोक्तादिषु व्यभिचारदर्शनादव्याप्तिः। विशेषव्यतिरेक-दर्शनदुःशक्यत्वं च। कार्यकारणभावस्य तज्जातीयतया नियतत्वेन व्यक्ति-भेदस्य चक्रकानन्तर्भूतत्वात् ॥ १५८ ॥

दूषणान्तरमभिधातुं पृच्छति—कश्चेति। आत्माश्रयादीनां द्वारादिभेदादाभासत्वं प्रमेयत्वादौ प्रमेयत्वादेः प्रामाणिकत्वेन चेदुच्यते तदा यत्रात्माश्रयादिर्दोषस्तत्र प्रमाणा-निर्वचनस्यैव दोषत्वमिति किमात्माश्रयादित्यर्थः। ननु चक्रकं न क्वाप्याभासं येन स दोषो न स्यादित्यत आह—"चक्रकेपीति"। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापयादपवर्ग इत्यत्र दोषात्प्रवृत्तिः प्रवृत्या च जन्म जन्मना च पुनर्दोष एव जन्यत इत्यादिक्रमेण कथं न चक्रकम्? येन विशेषणव्यक्त्यभेदादिना चक्रकं भवति स विशेष इह नास्तीति व्यवस्थापनमशक्यमित्याह—विशेषेति। नन्वन्या दोषव्यक्तिः कारणमन्यच्च कार्यमिति व्यक्तिभेदाच्चक्रकमिहाभासमित्यत आह—कार्यकारणभावस्येति"। कार्यकारणभावाग्रहस्तज्जातीयत्वेनेति सन्नपि व्यक्तिभेदो न तन्त्रमित्यर्थः ॥ १५८ ॥

अन्योन्याश्रय में भी इसे खण्डन करने वाली व्याप्ति (दोषत्व) का अभाव है, जैसे अन्त्य तथा उपान्त्य शब्दों के अन्योन्य नाशकता में, गन्ध और पृथिवीत्वादि समव्याप्ति व्याप्ति वाले के परस्पर व्याप्यता एवं व्यापकता में, एक घटादि कार्य के कारण चक्रदण्डादि की परस्पर सहकारिता में। इसी प्रकार अन्यत्र भी तत्तत् स्थानों में देखने से व्याप्ति का भङ्ग कैसे नहीं होगा? दोषत्व के प्रसङ्गस्थान में कौन विशेष है जिस के अभाव का यहाँ विशेषणरूप से ग्रहण किया जाय अर्थात् ऐसा कोई विशेष नहीं है। यदि कहें कि ज्ञानसंस्कारादि में व्यक्ति भेद से अन्योन्याश्रय में आभासत्व है, प्रमेयत्वादि में प्रमेयत्वादि के प्रामाणिकत्व से आभासत्व है, अतः इसी प्रकार

अन्त्योपान्त्य शब्दादि में प्रमाणसिद्धता से अविरोध होने से दोषत्व नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर जहाँ अविरोध नहीं है, वहाँ विरोध के अभ्युपगममूलक अन्योन्यभाव के अदर्शन के सर्वत्र अविशेष (तुल्य) होने से तत्तत् स्थानों में अविरोधित्व में प्रमाण का सद्भाव हो विशेष है। यदि ऐसा कहें, तो सभी स्थानों में अन्योन्याभाव के अनभ्युपगम का मूलरूप परस्परभाव में प्रमाण का अभाव ही उपजीव्य (कारण) रूप दूषण मन्तव्य है। व्यभिचरित दोषत्व वाले अन्योन्याभाव को दोष मानना व्यर्थ है और चक्रक, में (दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपर्गः) इस सूत्रवर्णित रीति से राग-द्वेषादि दोष से पुण्यपापरूप प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति से जन्म होता है, जन्म से फिर दोष होता है। इस प्रकार दुःखादि में व्यवधान द्वारा जन्यजनकभाव के अङ्गीकार से चक्रक में दोषत्व नहीं हो सकता, अतः दोषलक्षण की अव्याप्ति है। यदि कहें कि यह चक्रक आभासमात्र है। यहां व्यक्तिभेद से जन्यजनकभाव है, अतः अदुष्टत्व है। जहां यह विशेष नहीं रहता वहां दोषत्व रहता है, तो उत्तर यह है कि अदुष्ट से दुष्ट में विशेष (भेद) के व्यतिरेक का दर्शन दुःशक्य है, क्योंकि सूत्रोक्त जन्मादि के चक्रक में भी व्यक्तिभेद से भेद नहीं हो सकता, जन्मादि में जन्यजनकभाव की व्याप्ति ज्ञान के तत्तत जातीयता से नियतत्व होने के कारण व्यक्तिभेद में चक्रक के अन्तर्गतत्व नहीं होता है। अर्थात् जन्मादि की व्यक्तियों को वहां चक्ररूप से ज्ञानविषयत्व नहीं होता है, किन्तु जन्मत्वादि को होता है ॥ १५८ ॥

व्याघातेऽप्येकस्यैव जनकत्वाजनकत्वे तथा, न च कालभेदादिर्विशेषो घटतत्प्रध्वंसादौ कालभेदेऽपि तादात्म्यव्याघातोपगमादेव। सत्प्रतिपक्षजात्योश्च को विशेषो व्याघाते येन पूर्वत्र बाध्यबाधकयोर्द्वयोरप्याभासत्वमुत्तरत्र तूत्तरस्य परं तथोपेयत इति गुरवः ॥ १५९ ॥

व्याघातेऽपीति। एकमेव बीजमङ्कुरजनकं तदजनकं चेति व्याघात एवेत्यर्थः। यदि तदा जनकत्वं तदजनकत्वं व्याहतमित्युच्यते तदा कालभेदे व्याघातो न स्यादेव। दृश्यते च भिन्नकालयोरपि प्रतियोगिध्वंसयोस्तादात्म्यं व्याहतमित्याह—न च कालेति। व्याघातखण्डनान्तरमाह—सत्प्रतिपक्षजात्योरिति। पूर्वत्रेति। सत्प्रतिपक्ष इत्यर्थः। सत्प्रतिपक्षे हि द्वयोरपि हेत्वोरविशेषेणैव बाध्यबाधकभावो जातौ तु जातिरेव बाध्या न तु तथा स्थापनीयहेतुरपि बाध्यत इत्यत्र किं विनिगमकमिति व्याघातविशेषे कथय कथमिदं वैषम्यमिति गुरूपदिष्टोयं दोषो नतु मयोदित इत्यर्थः॥ १५९ ॥

व्याघात में भी दोषत्वाभाव है, क्योंकि एक ही बीज के कार्यजनकत्व और अजनकत्व होने पर व्याघात होता है। यदि कालभेदादि से विशेष होने से जनकत्व तथा अजनकत्व में व्याघात (विरोध) नहीं हो सकता, ऐसा माना जाय, तो भी वह युक्त नहीं होगा, जब कालभेद से विरोध नहीं होता है, तब तो घट और उसके प्रध्वंसादि के कालभेद होने से यदि कोई मानता है कि (घटः प्रध्वंसात्मकः) घट प्रध्वंसस्वरूप है, तो इस घट और प्रध्वंस के तादात्म्य मे व्याघात नहीं मानना चाहिये और तादात्म्य-व्याघात माना ही जाता है। अतः कालभेद से व्याघात का अभाव नहीं कह सकते।

सत्प्रतिपक्ष और जाति में परस्पर व्याघात (विरोध) के तुल्य होते भी क्या विशेष (भेद) है जिससे सत्प्रतिपक्ष में बाध्य-बाधक दोनों ही के आभासत्व को माना जाता है और जाति में केवल परपक्ष को ही आभास माना जाता है, यह गुरु (प्रभाकर) ने दोष कहा है ॥ १५९ ॥

यद्यपि प्रतिपक्षहेतुः साध्यान्तरसाधक इत्यस्ति तस्य जात्युत्तरवैधर्म्यम्, तथापि त्वद्धेतुरसाधकः समबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादित्यस्य दूषणत्वार्थमवश्यापेक्षस्य द्वारात्मव्याघातकत्वात्साक्षाद्वा, अवश्योपस्थाप्यद्वारेण वा स्वव्याघातकतायामुपयुक्तविशेषाभावः ॥ १६० ॥

ननु सत्प्रतिपक्षहेत्वोर्व्याप्तिपुरस्कारात्साधकत्वं जातेश्च तदपुरस्कारादसाधकत्वमित्येतदधीनमेव वैषम्यमित्याशङ्क्याह—यद्यपीति। इदं वैषम्यमतन्त्रं यतस्तु प्रतिहेतुप्रतिहतत्वात् यथा सत्प्रतिपक्षः परं व्याहन्ति तथा स्वात्मानमपि व्याहन्त्येतैवेति। स्वव्याघातकत्वस्य तुल्यत्वादित्यर्थः। दूषणत्वार्थमिति। न नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति प्रयुक्ते यथा नित्यत्वसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्योयं तथा नित्यत्वसाधर्म्यान्निःस्पर्शत्वान्नित्य एव किं न स्यादित्ययं प्रत्यवस्थानप्रकारः, इदमसाधकं नियमानपेक्षप्रतिधर्मप्रतिहतत्वादित्यत्रैव पर्यवस्यति। अस्य च साक्षादेव स्वात्मानं व्याहन्ति किं तर्हि तदुपन्यासानन्तरमसाधकतासाधनार्थं प्रतिहेतुप्रतिहतत्वं यदुच्यते तत्तत्परम्परयेति वैषम्यमित्याशङ्क्याह—साक्षाद्वेति। यद्यपि प्रतिहेतुप्रतिहतत्वं न सम्भवति नियमानपेक्षप्रतिधर्मप्रतिहतत्वं सम्भवतीति स्वाव्याघातकत्वं स्फुटमेव तथापि प्रतिधर्मप्रतिहतत्वं स्वपरसाधारणमेवेति भावः ॥ १६० ॥

यदि कहें कि प्रतिपक्षरूप हेतु व्याप्ति से साध्यान्तर का साधक होता है और जाति के स्थान में प्रतिबन्दीरूप हेतु व्याप्ति के अभाव से साध्य का साधक नहीं होता है, यह प्रतिपक्ष में जात्युत्तर से वैधर्म्य (भेद) है, तो यह कहना यद्यपि सत्य है, तथापि यह भेद अकिञ्चित्कर है। क्योंकि, आपका हेतु असाधक है। अतः समबलवाले हेतुरूप प्रतिपक्ष से प्रतिहत है। प्रतिपक्ष से परपक्ष में दूषणत्व के लिये अवश्य जिसकी अपेक्षा होती है, ऐसे (त्वद्धेतुरसाधकः) इत्यादि आपादन में द्वाररूप से व्याघातत्व होने से प्रतिपक्ष इसके द्वारा व्याघातक (निरोधक) या जाति के समान कहीं साक्षात् व्याघातक होता है, या कहीं अवश्य उपस्थाप्य द्वारा व्याघातक होता है। परन्तु स्वव्याघातकता में उपयुक्त विशेष का अभाव है। जैसे जाति अन्य का निरोध करती है, है, आप भी निरुद्ध होती है, वैसे सत्प्रतिपक्ष भी अन्य का निरोध करता हुआ स्वयं भी निरुद्ध होता है। जैसे (सर्वं सत् अर्थ क्रियाकारित्वात्) इसका यदि- प्रतिपक्ष होता है कि (सर्वम् असत् ज्ञेयत्वात्) तो यह ज्ञेयत्व हेतु भी ज्ञेय होने से स्वयं भी साक्षात् बाधित होता है और (शब्दोऽनित्यः कृतत्वात् घटवत् शब्दो नित्यः निःस्पर्शगुणत्वादाकावत्) यहाँ निःस्पर्शगुणत्व से उपस्थाप्य रूपादि के समान शब्द में अनित्यत्व सिद्ध होता है और समबल हेत्वन्तर से व्याघात होता ही है ॥ १६० ॥

नच तत्रास्तामेव व्याघातः, सा प्रतिपक्षता तु निरवद्यैवेति शक्यं वक्तुं, यतः शब्दादेर्नित्यत्वमेकस्मादनित्यत्वं चापरस्मादनुमानात्तथासति किं न स्यात् तयोर्विरोधग्राहिणः प्रमाणस्य बलात् इति चेन्न, यथा नित्यत्वम-

नित्यत्वमित्युभयमास्तामित्याचक्ष्महे तथा विरुद्धमविरुद्धं चास्तामित्यपि ब्रुवतोऽस्मान्कथं निवारयिष्यसि । स्यादप्येवं यदि सत्प्रतिपक्षत्वमेव तत्र दोषो न स्यादिति चेत्तर्हि मन्तव्यं प्रथमस्य हेतोः समानबलप्रतिपक्षप्रतिहतत्वादसाधकत्वमित्युक्तमावर्तते ॥ १६१ ॥

स्वव्याघातकत्वे सति सत्प्रतिपक्षतास्तु नियमपुरस्सरा जात्युत्तरं च नियमानपेक्षत्वे सतीति तदसदुत्तरमित्याशङ्क्याह—नचेति । उभयोरतिव्याप्तिपुरस्कारेण सत्प्रतिपक्षतायां नियमत्वानियमत्वविरुद्धधर्माध्यास इत्याह—यत इति । ननु विरुद्धयोरध्यासे विरोध एव तयोर्न भवेत् विरोधित्वान्नाध्यास एकत्रेति शङ्कते—तयोरिति । तर्ह्यन्यत्र विरुद्धत्वं विरुद्धत्वं विरुद्धत्वांशे वा विरुद्धत्वं नित्यत्वानित्यत्वयोरस्तु को दोष इत्याह—नेति । ननु सत्प्रतिपक्षिताभ्यां नित्यत्वानित्यत्वयोरेकस्यापि न तत्र सिद्धिरसत्प्रतिपक्षितत्वस्य तन्त्रत्वादिति शङ्कते—स्यादप्येवमिति । प्रथमस्य समानबलप्रतिहतत्वादसाधकत्वमिव द्वितीयस्यापि जात्युत्तरवत् स्वव्याघातकत्वमायातमिति परिहरति—तर्हीति ॥ १६१ ॥

यदि कहें कि सत्प्रतिपक्ष स्थान में व्याघात हो, तो भी हेतुबल से सत्प्रतिपक्षता निर्दोष ही है। और व्याप्तिरूप बल के नहीं रहने से जाति असदुत्तर कही जाती है, तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि शब्दादि में प्रतिपक्षावस्था में एक अनुमान (हेतु) से नित्यत्व सिद्ध होता है और अन्य अनुमान से अनित्यत्व सिद्ध होता है। तो, प्रतिपक्ष में हेतुमूलक होने पर नित्यत्व-अनित्यत्व क्यों नहीं होगा ? अर्थात् विरुद्ध धर्म की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि नित्यत्वानित्यत्व के विरोधग्राहकप्रमाण के रहने से उस प्रमाण के बल से दोनों एक सिद्ध नहीं हो सकते, तो जैसे हेतुबल से नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों रहें ऐसा कहते हैं, वैसे विरुद्ध तथा अविरुद्ध दोनों रहें, यह भी कहते हुए हमको कैसे निवारण करेंगे ? यदि कहें कि ऐसा भी होता यदि सत्प्रतिपक्षत्वरूप दोष वहाँ नहीं होता, सत्प्रतिपक्ष के रहते नित्यत्व-अनित्यत्व तथा विरुद्धत्व किसी की सिद्धि नहीं हो सकती। तब तो मानना होगा कि प्रथम हेतु के समान बल वाले हेतु से प्रतिहत होने से असाधकत्व होता है। और वैसे ही द्वितीय हेतु के असाधकत्व होने से स्वव्याघातकत्व जात्युत्तर के समान ही सिद्ध हुआ। जात्युत्तर से विशेष की सिद्धि नहीं हुई, इस उक्ति की पुनरावृति है ॥ १६१ ॥

अनवस्थायां च यस्यां यस्यां सत्तायामपरापरसत्ता यायात्तस्यास्तस्याः प्रमाणेन सिद्धौ नानवस्थादोषः स्यात् । असिद्धौ चाश्रयासिद्धविषयमापादनमिति, यदि चात्माश्रयादिषु सर्वत्र विशेषोऽयमभिधीयते प्रमाणसिद्धत्वात्तत्र तथोपेयत इति, तर्ह्यापादनस्थाने तथाभ्युपगमाय प्रमाणं नास्तीत्युक्तं भवति । तथाच तत्र प्रमाणप्रश्नस्यावसरो न प्रसङ्गस्येति ॥ १६२ ॥

द्वितीयसत्तायां तृतीया तत्रापि चतुर्थी आपाद्या तत्राश्रयस्य द्वितीयसत्तादेः सिद्धयसिद्धिपराघातादनवस्था स्थातुमेव न पारयतीत्याह—अनवस्थायामिति । ननु यत्रात्माश्रयादीनामाभासत्वं तत्र प्रामाणिकत्वं यत्र च तथा न तत्रैव तेषामनाभासत्वाद्दोषत्वमित्याशङ्क्याह—यदि चेति । "आपादनस्थान" इति । यत्रात्माश्रयादिदोषत्वेनापाद्यत तत्रेत्यर्थः ॥ १६२ ॥

और सत्ता की अनवस्था में जिस जिस सत्ता में अपर-अपर सत्ता प्राप्त होती हो

(आपादनीय प्रतीत होती हो) उन-उन सत्ताओं की प्रमाण से सिद्धि होने पर तो प्रमाणिकता से अनवस्था दोषरूप नहीं होगी, जैसे सामग्री अनवस्था को दोषरूप नहीं कहा गया है। प्रमाण से सिद्धि नहीं हो तो आश्रय की असिद्धि से असिद्ध आश्रय-विषयक आपादन भी असिद्ध होगा और यदि आत्माश्रयादि में सर्वत्र यह विशेष कहा जाय कि प्रमाण सिद्ध होने से प्रमाणसिद्धता के स्थान में तथा आत्माश्रयादि के सत्त्व और अदोषत्व को मानते हैं, तब तो यह सिद्ध उक्त होगा कि दोषापादन के स्थान में आत्माश्रयादि के सत्त्वसिद्धि स्वीकार के लिये प्रमाण नहीं है और ऐसा होने पर वहाँ प्रमाणविषयक प्रश्न का अवसर है, प्रसङ्ग का नहीं। क्योंकि प्रमाण का भाव और अभाव ही स्वीकार और अस्वीकार का हेतु है ॥ १६२ ॥

अब कथित लक्षणों के अव्याप्ति को प्रदर्शित करते हुए तर्कान्तरों का वर्णन करते हैं कि—

अपरेऽपि विषयभेदात्तर्कभेदा आत्माश्रयादिवन्मन्तुमुचिताः । तद्यथा अविनिगमः, उत्सर्गः, कल्पनागौरवलाघवे चानौचित्यं चेति । विकल्पेनान्वयावगमयोग्येऽनेकस्मिन्नभ्युपगते तदेकदेशान्वयनियमनिर्द्धारणाऽशक्यत्वमविनिगमः । सत्प्रतिपक्षहेत्वोरिव निर्धारयितुमशक्यान्वययोः परस्पर-प्रतिक्षेप एवपर्यवसानात् ॥ १६३ ॥

तर्कविभागोऽन्यून इत्युपदर्शयन्नेव तर्कप्रतिरूपकत्वेनाभिमतानामुत्सर्गादीनां खण्डनमभिधातुं स्वरूपमादर्शयति—अपरेऽपीति । विकल्पेनेति । भूतत्वमूर्तत्वयोर्जातित्वेनान्वययोग्यतायामुभयोर्जातित्वे जातिसङ्कर इत्येकतरं जातिस्तत्र विकल्पः किं भूतत्वं मूर्तत्वं वा जातिरतस्तत्रैकतरस्य जातित्वग्राहकं प्रमाणं विनिगमनाविरहः प्रतिबध्नातीत्यर्थः ॥ १६३ ॥

विषयभेद से अन्य भी तर्क का भेद आत्माश्रयादि के समान मानना उचित है। जैसे अविनिगम, उत्सर्ग, कल्पनागौरव, कल्पनालाघव, और अनौचित्य, ये पांच मानने योग्य हैं। क्योंकि, किसी में इनका अन्तर्भाव नहीं है। विकल्प से अन्वय अवगम के योग्य अनेक के उपस्थित होने पर तदेकदेश के अन्वयविषयक नियम के निर्धारण में अशक्यता अविनिगम है। जैसे भूतत्व एवं मूर्तत्व दोनों में जातित्व के अन्वय की योग्यता है, वहां दोनों में जातित्व मानने पर संकर होगा। अतः एक को ही जाति होना चाहिये। वहां जातित्व साधक अनुगत प्रतीति की तुल्यता से विकल्प होता है कि भूतत्व जाति है या मूर्तत्व ? और एक में जातित्व के अन्वय के नियम-निर्धारण में अशक्यता विनिगमनाविरह (अविनिगम) है और एक के जातित्व का ग्राहक प्रमाण हो तो वह विनिगमनाविरह न हो, परन्तु उस प्रमाण को भी विनिगमनाविरह बाधता है। क्योंकि, सत्प्रतिपक्ष हेतुओं के समान निर्धारण में अशक्य अन्वय वालों का परस्पर प्रतिक्षेप (निषेध) में ही पर्यवसान (स्थान) होता है ॥ १६३ ॥

नन्वन्यतरमादायापि प्रकृतस्योपपत्तिसम्भवेनाविनिगमस्य दोषत्वमेवानुपपन्नम्, केवलं पुंसस्तत्र यदि संशयः स्यात्स च किं न स्यात् इति चेन्न, भावानवबोधात्प्रमाणासम्भवेन क्वचिदपि विशेषः कथमभ्युपगन्तुं शक्यो-

यमादाय वस्तुगत्याप्येकस्यान्वयः स्यात्। नन्वेवं प्रमाणाभाव एव दोषः स्यान्नाविनिगम इति चेन्न, तस्याविनिगमोन्नेयत्वेनाविगमस्यैव प्रथमोत्पन्नस्योपन्यासौचित्यात्। नन्वेवमनुमाने व्यक्त्यविनिगमो दोषः स्यात् इति चेन्न, तत्रानेकव्यक्तीनामभ्युपगमसिद्ध्यभावात्सामान्योपसंहारस्यैकामेव व्यक्तिमाक्षेप्तुं सामर्थ्यात् अविनिगमस्य चानेकाभ्युपगमे सत्युपस्थानादिति ॥१६४॥

ननु निर्द्धारणशक्यत्वमेव कथं स्यादेकस्य जातित्वसाधकमन्यस्य जातित्वं प्रतिबध्नातीत्यत्र विनिगमनाविरह एव तन्त्रमित्यर्थः। भूतत्वमात्रस्यापि जातित्वाभ्युपगमे जातिसाङ्कर्यान्निवर्तते एवेति भूतत्वस्य जातित्वं सेद्धुमर्हत्येवापाततः ननु संशयमात्रं भवतीति शङ्कते—नन्विति। अन्योन्यप्रतिबन्धादेकमात्रनियतं प्रमाणमेव न भवतीतिपरिहरति-प्रमाणेति। प्रमाणाभावेऽपि विनिगमनाविरहप्रयुक्त एवेति तस्यैवोपजीव्यत्वमित्याह—तस्येति। ननु धूमेन तार्णः पार्णो वाऽनुमीयतामिति विनिगमनाविरहादेकत्रेपि वह्निस्तत्र न विरुध्येदितिशङ्कते—नन्विति। तार्णत्वेन पार्णत्वेन वा वह्निर्नानुमीयते किंतु वह्नित्वेन, तत्र च न विनिगमनाविरह इति परिहरति—तत्रेति। तत्र वैकल्पिको द्वयोरुपस्थितिरेव नास्तीत्यर्थः। एतदेवाह—अविनिगमस्येति। अनेकाभ्युपगमे। प्रतीतेः पूर्वमनेककोटिकविकल्पे सतीत्यर्थः ॥ १६४ ॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि भूतत्व तथा मूर्तत्व में अन्यतर भूतत्व को जातिरूप से ग्रहण करके भी संकर दोष की निवृत्ति से जातिनिमित्तक भूतत्वव्यवहार और उपाधिनिमित्तक मूर्तत्वव्यवहारादिरूप प्रकृत कार्य की सिद्धि के सम्भव से अविनिगम में दोषत्व ही अनुपपन्न (असिद्ध) है। इसी प्रकार जहाँ अनेक भेद से भिन्नत्व व्यवहार होता हो, वहाँ एक किसी भेद से भिन्नत्वव्यवहार की सिद्धि होने पर विनिगमनाविरह दोष नहीं रहता। केवल पुरुष को वहाँ संशय होता है कि भूतत्व जाति है या मूर्तत्व ? इत्यादि तो वह संशय भी एक में जातित्व मान लेने से नहीं होगा। उत्तर यह है कि यह शंका भाव (तात्पर्य) के अज्ञान से होती है अन्यथा होने योग्य नहीं है। क्योंकि, अनुगत प्रतीति के हेतुत्व मूर्तत्व और भूतत्व में तुल्य रहते और अन्य विशेष भी प्रमाण के अभाव से कहीं (किसी में) भी जातित्व उपाधित्वरूप विशेष कैसे अवगम (ज्ञान) के लिये शक्य हो सकता। जिस विशेष को ही वस्तुतः ग्रहण करके उसके साथ एक ही का अन्वय हो। अतः अन्योन्य (परस्पर) प्रतिबन्ध से एकमात्र नियतविषयक प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि ऐसा होने पर प्रमाण का अभाव ही दोष होगा, अविनिगम नहीं। तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रमाणाभाव के अतीन्द्रिय होने से वह अविनिगम से उन्नेय (अनुमेय) है। अतः प्रथम उत्पन्न (उपस्थित) अविनिगम का ही दोषरूप से उपन्यास में औचित्य (युक्तता) है। शंका यह होती है कि विशेष के अन्वय का अनिर्धारण यदि दोष है, तो अनुमान में भी व्यक्ति का अविनिगमरूप दोष होगा, क्योंकि धूम से अनुमेय, तृणजन्य, पर्णजन्य, काष्ठजन्यादि अनेक व्यक्ति वाली पर्वतवृत्ति अग्नि के साथ धूम के अन्वय का अविनिगम होगा। अतः अनुमिति नहीं, हो सकेगी। उत्तर यह है कि अनुमिति में अविनिगम दोष नहीं होता, क्योंकि वहाँ अनेक व्यक्ति के अभ्युपगम की सिद्धि का पहले अभाव रहता है, क्योंकि, व्याप्तिग्रहण काल में समान्य वह्नित्व का ही

धूम के साथ उपसंहार (व्याप्ति) गृहीत होता है और उस उपसंहार को अनुमितिकाल में एक व्यक्ति के ही आक्षेप करने में सामर्थ्य रहता है, संसार की अनन्त अग्निव्यक्तियों का वह आक्षेप नहीं कर सकता और वहाँ अनेक व्यक्ति का अभ्युपगम भी नहीं रहता अविनिगम की अनेक के अभ्युपगम रहते ही उपस्थिति (प्राप्ति) होती है ॥ १६४ ॥

बाहुल्याददृष्टमपेक्ष्य बाहुल्यदृष्टतयाऽदुर्बलस्योपगमार्हतोत्सर्गः । तद्यथा । स्वस्थस्य जाग्रतो ज्ञानं प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्द्धारकप्रमाणानुपनिपाताविशेषोऽपि विना बाधमप्रामाणमभ्युपगच्छन्तं प्रति स्यात्, न तु प्रामाण्यम्, यं तर्कमेतमालम्ब्याहुः "तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता । अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते" इति । द्रष्टव्योदाहरणञ्चैतदीश्वराभिसन्धौ वेदप्रामाण्ये तथा, यथा न सौगतोपि विप्रतिपत्तुमर्हति ॥ १६५ ॥

उत्सर्गस्वरूपमाह—बाहुल्येति । स्वस्थस्येति । सुप्तजाग्रदवस्थमपि ज्ञानमप्रमाणं स्यादित्यभ्युपगमे ज्ञानानामौत्सर्गिकं प्रामाण्यम् । तस्माद् बोधात्मकत्वेनेति । बोधकप्रामाण्यास्यौत्सर्गिकत्वेनेत्यर्थः ननु ज्ञानप्रामाण्यमौत्सर्गिकं नियतमेवेत्यत उक्तम्-अर्थान्यथात्वेत्यादि । अर्थान्यथात्वे विषयतावैयधिकरण्यं तत्र हेतुश्चक्षुरादयस्तदुत्थस्य तन्निष्ठस्य दोषस्य पित्तादेर्ज्ञानादपोद्यते तथोत्पादकत्वेन नायं स नियमः क्वचिच्च साधारणस्यापि सम्भवादित्यर्थः । औत्सर्गिकं च शब्दानामर्थपरत्वं क्वचिदित्यादिभिः पदरपोद्यत इत्युदाहरणम् । उदाहरणान्तरमभिप्रेत्याह-द्रष्टव्येति ॥ १६५ ॥

बाहुल्यरूप से अदृष्ट की अपेक्षा (अप्रसिद्ध की अपेक्षा) से बाहुल्यरूप से दृष्टता के कारण अदुर्बल (प्रबल) की स्वीकारयोग्यता को उत्सर्ग कहा जाता है । जैसे स्वस्थ (निर्दोष इन्द्रिय शरीरवाले) और जागते हुए मनुष्य के ज्ञान को प्रामाण्य-अप्रामाण्य के निर्णायक प्रमाण की अनुपस्थितिरूप अविशेष के होते भी, बाध के बिना जो अप्रमाण मानते हैं, उनके प्रति उत्सर्गरूप तर्क प्रवृत्त होता है कि ज्ञान उत्सर्ग (सृष्टिमात्र से सामान्यरूप से) स्वस्थादि अवस्था में प्रमाण होता है । कहीं दैवयोग से बाधक के मिलने पर ही अप्रमाण होता है, अन्यथा नहीं । अतएव जो उस स्वस्थ जाग्रत् पुरुषादि के ज्ञान को प्रामाण्ययुक्त मानते हैं, उनके प्रति उत्सर्गरूप तर्क प्रवृत्त नहीं होता । इस उत्सर्गरूप तर्क का ही अवलम्बन करके भट्टप्रवर ने कहा है कि उत्सर्ग से ज्ञान में बोधात्मकत्व से बुद्धि की प्रमाणता प्राप्त होती है । प्रायः ज्ञान प्रमाणरूप होता है । अर्थ के अन्यत्व (विषय के मिथ्यात्व) हेतुरूप इन्द्रियादिगत दोष के ज्ञान से ज्ञान की प्रमाणता बाधित होती है । दोषज्ञान से ज्ञान को स्वविषय में अप्रमाण समझता है, अन्यथा नहीं । इसी प्रकार शब्द प्रमाण में प्रायः अर्थबोधकत्व होता है, कहीं भ्रमप्रमादविप्रलिप्सा आदि वक्तृगत दोष से शब्द में अप्रमाणता होती है । इस उत्सर्ग में यह दोषत्व ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थ के वेदप्रामाण्य नामक प्रकरण में इस प्रकार दिखाया गया है कि जिस प्रकार सौगत (बुद्धानुयायी) विप्रतिपत्ति नहीं कर सकते ॥ १६५ ॥

ननु बलवदेककोटिकः संशय एवोत्सर्गस्तत्कथं तर्कः स्यात् इति चेन्न,

उत्सर्गस्य सम्भावनायाः स्वार्थसिद्ध्यनुकूलतयावलम्ब्यत्वात्संशयेत्वनेवं भावात् उत्सर्गस्यैककोटिनिष्ठत्वात्संशयस्य च कोटिद्वयावगाहित्वात्। एतेन संशयस्यैवैका बलवती या कोटिः सैवोत्सर्ग इति निरस्तम्। निर्णयोऽपि संशयस्यैव वस्तुनियतकारणजत्वरूपबलवती कोटिः स्यात्। स्यादप्येवं यद्युत्सर्गवन्निर्णयेऽपि संशयस्यानुस्फूर्तिः स्यात् इति चेन्न, उत्सर्गोदाहरणे उत्सर्गमाद्रियमाणैः संशयोच्छेदानुमतेरेव बाधाभावं सहकारिणमपेक्ष्योत्सर्गेणार्थैक्यभाव एव प्रमाणीभवनात्। तस्माद्यथाऽनवस्थादयो बाधाद्दूषणत्वं त्यजन्तस्तदभावे दूषणानि भवन्ति तयोत्सर्गोपि तथैवेति ॥ १६६ ॥

प्रायशो ज्ञानमिदं प्रमैव स्यादेवमेकसंभावनात्मकसंशयस्त्वयोत्सर्गो वाच्यः संभावनायाश्च स्यादुत्सर्ग एव मूलम्। अन्यथा समकोटिक एव संशयः स्यादिति मूलमूलीभावापन्नयोर्महान् भेद इत्याह—उत्सर्गस्येति। भेदकमूलमाह—उत्सर्गस्येति। ज्ञाने प्रामाण्यं संभवतीत्युत्सर्गाऽऽकारः, ज्ञानं प्रमाणं न वेति संशयाकारस्तयोराकारकृत एव भेद इत्यर्थः। संशयस्यैकस्यां कोटावुत्सर्गपदप्रयोगं निरस्यति—एतेनेति उपजीव्योपजीवकभावेन। विषयभेदेनेत्यर्थः। ननूत्सर्गकाले संशयानुवृत्त्या तस्य संशयकोटित्वं संभाव्यते निर्णयकाले संशयो नास्त्येवेति कस्य कोटित्वनिर्णयः स्यादिति शङ्कते—स्यादप्येवमिति। येनोत्सर्गस्तर्क इष्यते तस्य तत्काले कोटित्वं संभाव्यते निर्णयकालेऽपि संशयानुमतिर्नास्तीति परिहरति—उत्सर्गेति। तर्को भवत्येवेत्याह—तस्मादिति ॥ १६६ ॥

शंका होती है कि (उत्सर्गस्तु बलवदेककोटिकः सन्देहो बाहुल्येन दर्शनात्) इत्यादि उक्ति के अनुसार, बलवान् एककोटिवाला संशय ही उत्सर्ग है, तो फिर वह तर्क कैसे होगा ? उत्तर यह है कि सम्भावना (बलवदेककोटिक संशय) के स्वार्थसिद्धि की अनुकूलता से सम्भावना का उत्सर्ग अवलम्ब्य (हेतु) है और संशय को सम्भाना का अवलम्ब्यत्व नहीं है तथा उत्सर्ग में एककोटिनिष्ठत्व है, संशय में कोटिद्वय विषयत्व है। अतः उत्सर्ग को संशयरूप कहना अयुक्त है। इस शंका के निरास से ही संशय की ही जो एकबलवती कोटि होती है वह उत्सर्ग है, यह कथन भी निरस्त हो गया। क्योंकि उत्सर्ग और संशय में उपजीव्य-उपजीतकभाव है। दोनों एक नहीं हो सकते। यदि उत्सर्ग को संशय का उपजीव्य (कारण) होने पर भी उसको बलवदेककोटिकसंशयरूप मानें, तो निर्णय भी वस्तुरूप नियत कारणजन्यत्वरूप बलवाली संशय कोटि में प्रविष्ट होगा। यदि कहें कि जैसे उत्सर्ग में संशय की अनुभूति होती है, वैसे यदि निर्णय में भी संशय की अनुभूति होती तो ऐसा भी होता (निर्णय भी उत्कटैककोटिक संशय माना जाता) परन्तु निश्चय (निर्णय) में संशय की स्फूर्ति कभी नहीं होती है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि उत्सर्ग में संशय की स्फूर्ति नहीं होती है। अतएव उत्सर्ग का आदर करनेवालों से उत्सर्ग के उदाहरण में बाधाभावरूप सहकारी की अपेक्षा करके (बाधाभाव सहित) संशय की उच्छेदानुमति (स्वीकृति) को ही उत्सर्ग के साथ अर्थैक्य में ही प्रमाण माना जाता है। अर्थात् उत्सर्ग और संशयोच्छेदानुमति एकार्थ में प्रमाणरूप माने जाते हैं। अतः उत्सर्ग में संशय की स्फूर्ति नहीं हो सकती। किन्तु जहाँ संशयोच्छित्ति की अनुमति का बाध हो वहाँ संशय की

स्फूर्ति हो सकती है। किन्तु उत्सर्ग के उदाहरण में प्रायः ऐसा होना सम्भव नहीं। अतः जैसे अनवस्थादि बाध से दूषणत्व को त्यागते हुए भी बाध के अभाव रहते दूषण होते हैं वैसे उत्सर्ग भी बाध के अभाव रहते दूषण होता है, अन्यथा नहीं ॥ १६६ ॥

सुगमासुगमयोरसुगमदुर्बलत्वं कल्पनागौरवम्। दृष्टजातीयमपेक्ष्यादृष्टजातीयं दुःखं न प्रमीयते स्वल्पमपेक्ष्य च बह्विति। अखिलजनानुभवसिद्धमेतत्, दर्शितं च विविच्येदमीश्वराभिसन्धौ। यथा नैयायिकादिकं प्रति क्षित्यादिषु प्रति कार्यं कर्तॄणां भिन्नानामभ्युपगमापादके। यथा च सौगतं प्रति प्रत्येकं कारणानां समर्थानामनेकसमानदेशकालानेकनीलादिव्यक्त्युत्पादापादके चेति दूषणानुकूलमिदं तद्व्यतिरेकेण कल्पनालाघवं साधनानुकूलम् ॥ १६७ ॥

सुगमासुगमयोरिति। सुबोधकदुर्बोधकयोरित्यर्थः। तथा च दृष्टजातीयमत्यन्तसुबोधं अदृष्टजातीयं च दुर्बोधं तत्र गौरवं प्रमाणप्रतिबन्धकं लाघवं च प्रमाणसहकारि गौरवे लाघवे च विषयभेदौ तद्विषयभेदौ वा तद्विषयके ज्ञाने एव इदं गुरु इदं लध्वित्याकारं प्रमाणस्वाभाव्यादेव लघुविषयपरिच्छेदकत्वं गुरुविषयाग्राहकत्वमित्याह—दृष्टेति नैयायिकानामेकेश्वरसिद्धौ प्रमाणसहकारि सौगतानां न समर्थबीजक्षणस्यैकाङ्कुरजनकत्वे लाघवं सहकारि विपरीतसिद्धौ च गौरवं दोष इत्यर्थः ॥ १६७ ॥

सुगम एवं असुगम (सुबोध एवं दुर्बोध) में जो असुगम में दुर्बलत्व होता है, उसकी कल्पना में गौरव है। दृष्टजातीय (अध्ययन का फल अर्थज्ञान) की अपेक्षा, अदृष्टजातीयपुण्य स्वर्गादि दुःख से समझा जाता है, तथा स्वल्प की अपेक्षा बहुत दुःख से समझा जाता है, यह सबों के अनुभव से सिद्ध है। इस कल्पनागौरव को उदाहरणों के विवेकपूर्वक ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थ में दिखाया गया है। यहाँ उदाहरणार्थ नैयायिकादि से कार्यत्व हेतु द्वारा क्षिति आदि में सकर्तृत्व के प्रतिपादन किये जाने पर जैसे उन नैयायिकों के प्रति पृथिवी आदि में प्रत्येक कार्य के प्रति भिन्न कर्ताओं के अभ्युपगम के आपादक होने पर कोई ईश्वर कर्ता है, तो जैसे लोक में घट-पटादि अनेक कार्य के अनेक कर्ता होते हैं, वैसे पृथिवी जलादि के अनेक कर्ता मानना चाहिये, तो उस आपादन में दूषण के अनुकूल यह कल्पनालाघव होता है। अतः एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर माना जाता है। कल्पनागौरव से अनेकापत्ति का निवारण होता है और सौगत के प्रति अनेक समर्थ कारणों के प्रत्येक अनेक समान देशकालवाले अनेक नीलादि व्यक्ति के उत्पाद (उत्पत्ति) के आपादक के होने पर सब कारण के सब कार्य के लिये समर्थ होने से सब से एकदेश काल में सब कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये, तो यही दूषण गौरवतर्क अनुकूल होता है। और उस गौरव के व्यतिरेक (अभाव) से कल्पनालाघव स्वपक्ष के साधन के लिये अनुकूल (सहायक) होता है ॥ १६७ ॥

प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमसमाधेयजातीयमनौचित्यम्, वैजात्यनामकम्, तस्य भेदाः प्रश्नवैजात्यादयः। प्रश्नविषयमप्रमिण्वतां प्रष्टरि प्रश्नानौचित्यं प्रश्नवैजात्यम्। यथा अवस्तुनि विधिनिषेधयोः किमिच्छसीति पृच्छसीति प्रमाणव्यवहारिणां सौगते, अत एवात्रानौचित्यापरनामकं वैजात्यं परस्य दोषं मनसि कृत्वैके ब्रुवते। अत्र सहृदयानां मूकतैवोचितेति।

अपरे च न ह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः कृष्णो वेति वैजात्यं विना प्रश्नः स्यादिति ॥ १६८ ॥

अनौचित्यस्वरूपमाह—प्रामाणिकेति। प्रामाणिकानां न व्यवहारो यश्च सर्वथाप्य-समाधेयं तदनौचित्यमित्यर्थः। उत्तरानर्हाभिधानमनौचित्यमिति सामान्यलक्षणमित्यर्थः। धर्मिण उपस्थानं किं गौरः कृष्णो वेत्यादिवैजात्यमनौचित्योद्भावने प्रकारमाह—सहृद-यानां मूकतैवेति। अन्यथैवं वाग्प्रतिभयैव निगृह्येतेत्यर्थः। तत्परम्पराम्। अर्थान्तरपरम्प-राम्। अर्थान्तरस्य निग्रहत्वे विमतस्तेन जेतुमशक्योऽनौचित्येनैव विजीयेतेत्यर्थः। अन्यथार्थान्तरभेदोर्थान्तरं वा एवं सत्वादिदं जीयेतेत्याद्यनौचित्यं च दोषाय भवेदित्यर्थः॥

प्रामाणिकों से व्यवहार के अयोग्य एवं सर्वथा समाधान के अयोग्य अनौचित्य और वैजात्य (वैयात्य) नामक दूषण होता है। उस अनौचित्य के ही भेद (प्रकार = विशेष) प्रश्नवैजात्यादि होते हैं। प्रश्न के विषय को प्रामाणिक नहीं मानने वालों के प्रति प्रश्न करनेवाले में प्रश्नानौचित्य प्रश्नवैजात्य दोष कहा जाता है। जैसे प्रमाणादि को सत्य मान कर प्रमाणदि से व्यवहार करनेवाले नैयायिकादि के प्रति यदि सौगत प्रश्न करते हैं कि अवस्तु (असत् = शून्य) में विधिनिषेध में से किस की इच्छा करते हैं (किस को प्रामाणिक मानते हैं) तो यहाँ प्रश्नकर्ता सौगत में प्रश्नानौ-चित्य दोष माना जाता है। अतएव ऐसे स्थान में प्रतिवादी के अनौचित्य नामक दोष को वैजात्य दोष मानकर एक विद्वान् कहते हैं कि ऐसे अनुचित प्रश्न के स्थान में सहृदयों (पण्डितों) की मूकता (मौनाम्बलम्बन) ही उचित है। अन्य आचार्य ने कहा है कि देवदत्तादि के अज्ञान रहते, वह गौर है या कृष्ण ? ऐसा प्रश्न वैजात्य (धाष्टर्य) के बिना नहीं हो सकता ॥ १६८ ॥

यदि चेदमनौचित्यं नाम दोषो नाभ्युपेयते तदानीमर्थान्तरेण प्रकृत-मर्थं निरस्यार्थान्तरस्यार्थान्तरेण परिहारात् तत्परामालम्बितुकामः केन दोषेणार्थान्तरपरिहाराभासत्ववादिनि अर्थान्तरेणैव तत्परिहरण-मनुचितमित्यतोऽन्येन जीयेत। अर्थान्तरनिग्रहतायां विप्रतिपन्नोपि प्रश्न-परम्परामालम्ब्य स्वभङ्गभयात् कथावसानमनिच्छन्तं कथं जयेत। न चा-नवस्था जयतीति वाच्यम्, यावदुत्तरमर्थान्तरेण परिहरणे प्रश्नान्तरेण वा द्वयोरप्यनवस्थासाम्यात् ॥ १६९ ॥

अनौचित्यस्य मूलान्तरमाह—अर्थान्तरेति। योऽप्यर्थान्तरं निग्रहं नेच्छति प्रश्न-परम्परामालम्बमानं वादिनं कथं विजीयेत किं द्रव्यमिति प्रश्ने गुणवद्द्रव्यमित्युत्तरे को गुण इति पुनः प्रश्ने स्पर्शाश्रयो गुण इत्युत्तरे स्पर्श एव क इति पृच्छन् वादी कथमनौ-चित्यमन्तरेण जेतव्यः। न च प्रश्नावस्थैव तत्रोद्भाव्येत्याह—न चेति। नचेति—अन-वस्थापादनेऽपि कानवस्थेति प्रश्नसंभवात् तथा च प्रश्नोत्तरपरम्परायां द्वयोरनवस्था स्यादित्यर्थः॥ १६९ ॥

यदि इस अनौचित्य नामक दोष को नहीं माना जाय, तो अनुचित वाद करने वाले वादी को अन्य किस दोष से जीत सकते हैं। क्योंकि अनौचित्य को दोष नहीं मानने पर, वादी यदि प्रयोग करता है कि, शब्दोऽनित्यः कृतत्वात्, कार्य होने से शब्द अनित्य है, तो प्रतिवादी कहता है कि (शब्दो न जन्यते विभुत्वात्) शब्द उत्पन्न नहीं

होता है, क्योंकि वह विभु है, वहां यदि कहें कि यह तो अर्थान्तर हुआ मैं विभु को अनित्य कहता नहीं, तो प्रतिवादी पूछ सकता है कि अर्थान्तर का क्या लक्षण है ? इस प्रकार प्रकृत अर्थ का अर्थान्तर से निरास करके अर्थान्तर का भी अन्य अर्थान्तर से परिहार से उस अर्थान्तर के परस्परा का अवलम्बन की इच्छा करनेवाला, अर्थान्तररूप परिहार को आभासत्वादी के रहते अर्थान्तर से ही परिहार अनुचित है। इस अनुचितत्व के उद्भावन से अन्य किस दोष से प्रतिवादी को जीतेगा। जो वादी अर्थान्तर की निग्रहस्थानता में भी विप्रतिपन्न होगा (अर्थान्तर को निग्रहस्थान नहीं मानेगा) वह प्रश्न परम्परा का अवलम्बन कर के अपनी पराजय के भय से कथा के अवसान को नहीं चाहनेवाले प्रतिवादी को कैसे जीतेगा। यदि कहें कि प्रश्नपरंपरावाले प्रतिवादी को अनवस्था जीतती है, अर्थात् अनवस्था दोष से वह पराजित होता है, तो यह नहीं कह सकते। क्योंकि, वह जितना प्रश्न करेगा, उतना ही अर्थान्तर दोष से परिहार करने पर या प्रश्नों के उत्तर द्वारा वादी एवं प्रतिवादी दोनों को अनवस्था तुल्य प्राप्त होती है। अतः अनौचित्यादि के आपादन के बिना उसको जीता नहीं जा सकता ॥ १६९ ॥

"दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुङ्कविलोकविलोचने। काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमादृत ॥" ननु कथमत्र प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमिति पृष्टेन यदि मूकत्वमालम्ब्य तथात्वं वादिनि न व्युत्पाद्यते तदानीमप्रतिभाऽऽपतेत्। अथ तथात्वं व्युत्पाद्यते प्रश्नार्थादेः प्रमाणाविषयत्वमुपन्यस्य तदात्यन्तासद्व्यवहार्यता स्वीकृतैव स्यादिति चेदत्र ब्रुवते मूकतैवात्र विजयायेति। नचाप्रतिभैवं प्रसज्येत, उत्तरस्याप्रतिपत्तिरुत्तरार्हस्येति तल्लक्षणात् ॥ १७० ॥

अनौचित्यस्य प्रामाणिकाभ्युपगमेन प्रामाणिकत्वमाह—दोषमिति। अमुं दोषमनौचित्याख्यं दोषम् महिमनामा कश्चिदालङ्कारिकः स्वकृते व्यक्तिविवेकनामग्रन्थे आदृत पुरस्कृतत्वात् काव्यमीमांसिषु काव्यविचारेषु प्राप्तमहिमा लब्धमहत्त्व इत्यर्थः। तथा च महिमा "अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यमूला हि रसस्योपनिषत्परे"ति प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमनौचित्यविशेषमालम्ब्य शङ्कते—नन्विति। तथात्वमिति। प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमित्यर्थः। प्रश्नार्थादेरिति। विधिनिषेधव्यवहाराभाजनत्वेन किञ्चिद्व्यवह्रियते न चेति प्रश्नार्थः। विधिनिषेधव्यवहाराभाजनत्वेन यदि व्यवह्रियते तदापि दोषो न व्यवह्रियते चेत्तत्राप्युभयथा चोत्तरयितुरसद्व्यवहार्यतास्वीकरणं व्याघात इत्यर्थः। अप्रतिभालक्षणे उत्तरैर्हि उत्तराप्रतिपत्तिरिति कृते तस्योत्तरानर्हतया नाप्रतिभेत्याह—उत्तरस्येति ॥ १७० ॥

अनौचित्य दोष में प्रमाणिकत्व सिद्ध करने के लिये, अभियुक्त वचन का उल्लेख है—कविसमूह के नेत्रतुल्य अर्थ प्रकाशक व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ में, काव्यमीमांसकों (विचारकों) में प्राप्त महिमा (महत्व) वाला महिम नामक आलंकारिक ने इस अनौचित्य नामक दोष को आदरसे स्वीकार किया है ॥ १ ॥ और लिखा है कि (अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्) अनौचित्य के सिवाय काव्य में रसभंग का कारण नहीं है। यहां शंका होती है कि इस अनौचित्य में प्रामाणिक अव्यवहार्यता कैसे है ? इस प्रकार पूछे गये पुरुष से मूकत्व का अवलम्बन करके यदि प्रामाणिकाव्यवहार्यत्ववादी के प्रति प्रतिपादन नहीं किया जाता है, तो अप्रतिभा नामक निग्रह दोष की प्राप्ति होती

है और यदि तथात्व का प्रतिपादन किया जाता है तो अत्यन्त असत (अनुचित) की भी व्यवहार्यता (व्युत्पादनरूप व्यवहारविषयता) स्वीकृत ही हो जायगी, फिर लक्षण अयुक्त हो जायगा। इस शंका का उत्तर यह है कि मूकता ही यहां विजय के लिये होती है और इस प्रकार अप्रतिभा भी प्राप्त नहीं होगी। क्योंकि, उत्तरयोग्य प्रश्न के उत्तर की अप्रतिपत्ति (अज्ञान) अप्रतिभा होती है यह उस अप्रतिभा का लक्षण है ॥ १७० ॥

यदि चायं नियमो वादिना इष्यते, पदभ्रान्त्यैव तेन व्यवहर्तव्यम् अनुवादादन्यत्रेति, तदा मध्यस्थोद्भाव्यत्वमस्य दोषस्योपन्यस्यताम्। मध्यस्थेन ह्यपभ्रंशभाषयापि यथा वादिप्रबोधनं क्रियते, तथा यद्यप्रमाणमवलम्ब्यापि क्रियते, तदा को दोषस्तस्य स्यात्तत्र विषये तथैव तेन वादिबोधनस्य शक्यत्वात्। तस्मान्मध्यस्थं प्रत्यनुत्तरदानं स्वदोषपरिहाराय प्रतिवादिनापि वैजात्यलक्षणदर्शनं कार्यम् , मध्यस्थं प्रति तस्याप्रमाणेनापि प्रतिबोधने निर्दोषत्वात्। ननु वादिभ्यामेव वा वादिनि मध्यस्थेन वा तं प्रतिवादिना वात्यन्तासद्विषयव्यवहारोपगमे कथं नासत्ख्यातिः स्वीकृता स्यात्। किन्न स्याद्विशिष्टरूपे संबन्धांशे चाऽसत्ख्यातेरन्यथाख्यातिवादिभिरप्यभ्युपगमात् ॥ १७१ ॥

गत्यन्तरमाह—यदि चायमिति। मध्यस्थेन तत्रानौचित्यविषयविषयकमनौचित्यमुद्भावनीयमिति समुदायार्थः। पदभ्रान्त्यैवेति। अनौचित्योल्लेखवादिनो भ्रान्त्या व्यवहारे नियमभङ्गः स्यादिति भावः। नन्वेवं मध्यस्थ एव निगृह्यते इत्यत आह—मध्यस्थेन हीति। अन्यथापभ्रंशाभिधाने निरर्थकनिग्रहेण मध्यस्थो निगृह्येतेत्यर्थः। ननु वादिनियोगमन्तरेण मध्यस्थोऽपि कथमिदमुद्भावयेत्तन्नियोगश्चाभिद्धानस्यानौचित्यमापतितमिति तथा चाभ्रांत्यैव वक्तव्यमिति नियमो भक्त इत्यत आह—तस्मादिति। वादिनं प्रत्ययं नियमो नतु मध्यस्थमपि प्रतीत्यर्थः ॥ १७१ ॥

यदि कहें कि प्रमाण के अयोग्य असत् विषय का भ्रम के बिना भान नहीं होता है, अतः असत भान व्यवहारभ्रम से होता है। यह वादी-प्रतिवादी के लिये योग्य नहीं होता, अतः अनुवाद से अन्यत्र अभ्रान्तिपूर्वक व्यवहार की कर्तव्यता होते यदि भ्रम से अनुचित व्यवहार हो तो उसका उद्भावन होना चाहिये, मौन नहीं। ऐसी शंका होने पर उत्तर यह है कि यदि इस नियम को मानें कि उस वादी से अनुवाद से अन्यत्र भ्रान्ति के बिना समझ बूझ कर व्यवहार किया जायगा, तो उस अवस्था में भ्रम से अनौचित्य होने पर मध्यस्थ उद्भाव्यत्व (वक्तव्यत्व) इस वादी के दोष को कहा जाता है। यदि कहें कि मूकभाव के स्थान में यदि मध्यस्थ अनौचित्य का उद्भावन करेगा तो वह निगृहीत होगा, तो इसका उत्तर यह है कि मध्यस्थ निगृहीत नहीं होता, मध्यस्थ जैसे अपभ्रंश भाषा से भी प्रतिबोधन करता है, वैसे यदि यहां प्रमाण का अवलम्बन करके भी प्रतिबोधन करेगा तो इसको कौन दोष होगा। क्योंकि उस अनौचित्य विषय में उस मध्यस्थ से अप्रामाण द्वारा भी बोधन शक्य होता है। अर्थात् प्रमाणोपन्यास के बिना दोषोद्भावन कर्तव्य होता है। अतः मध्यस्थ के प्रति उत्तर नहीं देते हुए स्वदोष की निवृत्ति के लिये प्रतिवादी से भी वैजात्य के लक्षण का ज्ञान कर्तव्य होता है अर्थात् मध्यस्थ के

प्रतिबोद्धव्य होता है और मध्यस्थ के प्रति उस अनौचित्य के अप्रमाण से भी समझाने में निर्दोषता ही रहती है। अर्थात् वादी-प्रतिवादी के व्यवहार में प्रमाण से ही दोष-दर्शनादि का नियम रहता है, मध्यस्थ के साथ व्यवहार में नहीं। शंका होती है कि यदि प्रमाणमूलक व्यवहार का नियम हो तब तो असत् का व्यवहार नहीं हो सकता, परन्तु प्रमाण के बिना यदि वादियों से ही या वादी के प्रति मध्यस्थ से, अथवा मध्यस्थ के प्रतिवादी से अत्यन्त असद्विषयक व्यवहार के स्वीकार होने पर असत्ख्याति कैसे न स्वीकृत होगी, अर्थात् अवश्य असत्ख्यातिवाद प्राप्त होगा। उत्तर यह है कि किसी अंश में असत्ख्याति क्यों नहीं होगी ? क्योंकि विशेष्यविशेषण से अतिरिक्त विशिष्ट को नहीं माननेवाले तथा स्वरूप अतिरिक्त स्वरूप से सम्बन्ध नहीं माननेवाले अन्यथाख्याति वादियों से भी विशिष्ट स्वरूप और सम्बन्धांश में असत्ख्याति का स्वीकार किया जाता है ॥ १७१ ॥

ननु वन्ध्यासुताच्छशविषाणं भिन्नमित्यादिषु व्यवहरतः कथं विशेष्ये विशेषणेऽपि नासत्ख्यातिरुपगन्तव्या इति चेन्न, असत्ख्यात्यभ्युपगमस्य सत्ख्यातित्वात्यागनियमोपगमविश्रान्तत्वात्। असदपि सदुपश्लिष्टमेव प्रतिभासते न तु केवलमसत् कयापि ख्यात्या समुल्लिख्यत इत्यन्यथाख्यातिवादिभिरिष्यमाणत्वात्। वन्ध्यासुताच्छशविषाणं भिन्नमिति प्रतिपत्तावपि भिन्नमित्ययमंशः सामान्यतोऽन्यत्र दृष्ट एव प्रतीयते, केवलं भेदस्य सदाश्रयः प्रतियोगि चेति यद्वस्तुतः सदसदाश्रयः प्रतियोगि च तस्येत्यन्यथा कृत्वा प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातिरेवोपगता भवति ॥ १७२ ॥

नन्वेवमप्यसत्ख्यात्यापत्तिस्वीकारो दुर्वार इत्याशङ्कते—नन्विति। वादिभ्यामेवासत्ख्यातिः स्वीकृता स्यादित्यन्वयः। यद्वा वादिभ्यामेवेत्यत आरभ्यैवासत्ख्यातिव्यवहारोपगम इत्यर्थः। ईदृशीमसत्ख्यातिमभ्युपगच्छन्त्येवान्यथाख्यातिवादिनोऽपीत्याह—किं न स्यादिति। नन्वन्यथाख्यातिवादिभिर्वैशिष्ट्येऽप्यसद्भावोऽभ्युपेयते स च विशेषणविशेष्ययोरपीति शङ्कते—नन्विति। अत्राखण्डनमसन्मात्र भासते सासत्ख्यातिरङ्गीक्रियते प्रकृते च विशेषणविशेष्ययोरसत्त्वेऽपि भेदः सन्नेव भासते इति नासत्ख्यातिरिति। परिहरति—नेति। अन्यत्र सतोर्विशेषणविशेष्ययोर्वैशिष्ट्यमसद्भासते प्रकृते त्वसतोस्तयोर्भेदः सन्नेव भासत इति भानवैषम्यमित्यर्थः ॥ १७२ ॥

शंका होती है कि बन्ध्यासुत से शशशृङ्ग भिन्न है, इत्यादि स्थान में उक्त व्यवहार करनेवाले को असत्ख्याति विशेष्य—विशेषण में कैसे स्वीकार्य नहीं होगी (यहाँ सर्वांश में असत्ख्याति मन्तव्य होगी)। उत्तर यह है कि असत्ख्याति के अभ्युपगम को सत्ख्यातित्व के अत्यागनियम के अभ्युपगम में विश्रान्तत्व है, असत् के अभ्युपगम से भी उक्त स्थानों में सत् का ही अभ्युपगम सिद्ध होता है। क्योंकि असत् भी सत् से मिलित ही प्रतीत होता है। केवल असत् किसी ख्याति = ज्ञान से प्रकाशित नहीं होता। यही अन्यथा ख्यातिवादी से माना जाता है। बन्ध्यासुत से शशशृङ्ग भिन्न है, ऐसे समझने वाले को भी सामान्यरूप से अन्यत्र दृष्ट से भिन्न यह अंश प्रतीत होता है, परन्तु विशेष यह है कि अन्यत्र भासित भेद का केवल सत् आश्रय और प्रतियोगी रहता है और भासता है। प्रकृतोदाहरण में जो भेद वस्तुतः असत् है उसका असत् आश्रय है और असत् ही

प्रतियोगी है, किन्तु अन्यथा करके प्रतीत होता है, इससे अन्यथाख्याति ही सिद्ध होती है। भाव यह है कि पहले कहा गया है कि शशशृङ्गं नास्ति, यह अन्यत्र प्रसिद्ध शृङ्ग में ही शशीयत्व का आरोप करके निषेध होता है, असत् का नहीं और प्रतियोगी की प्रसिद्धि के बिना निषेधादि नहीं होते, यह अतिप्रसिद्ध है। अतः बन्ध्यासुत से शशशृङ्ग भिन्न है, ऐसी प्रतीति किसी को नहीं हो सकती। यदि होती है तो अन्यत्र प्रसिद्ध मातृत्व का बन्ध्या में आरोप करके अन्यत्र प्रसिद्ध शृङ्गाश्रयत्व का शश में आरोप करके कहा जाता है कि बन्ध्यागतमातृत्व से शशगतशृङ्गाश्रयत्व भिन्न है, अर्थात् मातृत्वाभाव से शृङ्गाश्रयत्वाभाव विलक्षण है, असत्ख्याति की शंका सर्वथा अयुक्त है ॥ १७२ ॥

यथा तु विशिष्टमत्यन्तासदेव तथाश्रयप्रतियोगिनी अत्यन्तासती एव किं न प्रतिभासेते, तावतापि यथोक्तान्यथाख्यात्यनुल्लङ्घनादेव। नचैवमसत्ख्यातिवादिनापि शक्यं वक्तुं केवलं सदेव प्रकाशत इत्यस्मत्पक्षाद्विपरीतं विशिष्टं संबन्धश्च कचिद्विशेषणाद्यप्यत्यन्तासद्भ्रान्त्योल्लिख्यत इत्येवंरूपा तावदसत्ख्यातिः परेणोपगतैव। यदि तु सदपि प्रकाशते किंचित्तत्किं नासत् प्रकाशते इति। यतः परेण विकल्पः सर्वथा वस्त्वनुल्लेखी केवलमलीकमुल्लिखन्नसत्ख्यात्यात्मा स्वीक्रियते। यदि तु यथोक्तमेव परोऽभ्युपगच्छति तदानीमनुमानप्रामाणादिवदत्राप्यविप्रतिपत्तिरेवेति। ननु सर्वथैवासत्ख्यातिरपि भवतानुमन्तव्यैव। तथाहि-वंन्ध्यासुतशशविषाणे कूर्मरोमैवेति वदतः शब्दादर्थं प्रतिपादयतां किं तदणुमात्रमपि समुल्लेख्यं तत्प्रतीतेः-इति चेन्न, तत्रापि तादात्म्यस्य सामान्यतोऽन्यत्र प्रतीतस्यैवाऽसदुपहितस्य स्फुरणोपगमात्। प्रकारभेदवैशिष्ट्येन भिन्नयोरेकत्वं हि तादात्म्यं तच्चान्यत्रास्त्येव ॥ १७३ ॥

तावतापीति। अन्यथाख्यातिरेवमभ्युपगता भवतीत्यर्थः। न चेत्यस्मिन् प्रकाशत इत्यन्तं शङ्का किञ्चित्सद्भासने यथान्यथाख्यातिः तथा किंचिदसद्भासने सत्ख्यातिरेव किं न स्यात्। तथा च स्वीकृता त्वयाप्यसत्ख्यातिरिति शङ्कार्थः। परिहारमाह—यत इति। विकल्पे सन्मात्रविषयः परेण बौद्धेन स्वीक्रियते तेन न सादृश्यं सत्ख्यातौ विप्रतिपन्नत्वादेव। यदि विकल्पेऽपि सदुपरागस्त्वयेष्यते तदा धूमत्वादिजातीनां पारमार्थिकत्वाभ्युपगमे व्याप्तिग्रहसम्भवे त्वयानुमानप्रामाण्यविप्रतिपत्तिस्त्याज्या। न चासावसत्ख्यातिरित्यर्थः। सामान्यमलीकं, स्वलक्षणं च देशकालाननुगतमिति व्याप्तिग्रहो न संभवतीत्यनुमानप्रामाण्येन वानुदयः स त्वया त्यक्त एवेति भावः। यद्वा तत्प्रामाण्यमङ्गीकरोति असत्ख्यातिं च तं प्रतीदमुक्तम्—अणुमात्रमपीति। स्वल्पमपीत्यर्थः। ननु शशविषाणादीनामन्योन्यतादात्म्यं कथं सदित्यत आह—प्रकारेति। प्रकारभेदवत्त्वेनेत्यर्थः॥ १७३ ॥

अन्यथाख्याति पक्ष में भी जैसे असत् ही विशिष्टरूप भासता है, वैसे ही अत्यन्त असत् ही भेद का आश्रय और प्रतियोगी क्यों नहीं भासेंगे? वहाँ भी अन्यथा भासने से असत् के भासने से ही यथोक्त अन्यथाख्याति का अनुल्लङ्घन ही सिद्ध होता है। इस प्रकार असत्ख्यातिवादी भी नहीं कह सकते कि केवल सत् ही प्रकाशित होता है। यह सत्ख्याति पक्ष है, परन्तु इस पक्ष से विपरीत कहीं विशिष्ट और सम्बन्ध असद् रूप से

प्रकाशित होता है। कहीं विशेषणादि भी अत्यन्त असत् ही भ्रान्ति से उल्लिखित होते हैं। अतः इस प्रकार की असत्ख्याति तो पर (अन्यथाख्यातिवादी) से स्वीकृत ही है। जैसे सत् भी कुछ प्रकाशता है और सत् से उपश्लिष्ट असत् के भासने से यदि अन्यथाख्याति मानी जाती है, वैसे ही असत् कुछ प्रकाशता ही है। फिर ऐसा होने पर असत्ख्याति ही क्यों न मानी जाय ? यह असत्ख्यातिवादी की शंका है। उत्तर यह है कि जिस कारण से असत्ख्यातिवादी द्वारा विकल्प (कल्पनारूप) सर्वथा वस्तु को अनुल्लेख (अप्रकाश) करनेवाला केवल अलीक असत् को प्रकाशनेवाला असत्ख्याति का स्वरूप माना जाता है। सत्ख्यातिरूप अन्यथाख्याति में उसकी तुल्यता नहीं है। क्योंकि सत् से उपश्लिष्ट असत् की प्रतीति अन्यथाख्याति में मानी जाती है और असत्ख्याति में सर्वथा सत् का अस्वीकार है। यदि असत्ख्यातिवादी भी यथोक्त (सत् उपश्लिष्ट) को मान कर असत्ख्याति कहते हैं, तो अनुमानप्रमाणादि के समान कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, नाममात्र का भेद है। अर्थात् अनुमानादि में व्याप्तिज्ञानादि के लिये धूमादि को सत्य मान कर, अनुमानप्रामाण्य में जैसे विरोध नहीं है, वैसे अन्यथाख्याति में भी आपको विरोध करना उचित नहीं है, किन्तु इस प्रकार स्वसिद्धान्त क्या त्याग होगा।

फिर यदि असत्ख्यातिवादी कहें कि आपको असत्ख्याति भी स्वीकर्तव्य ही है। क्योंकि बन्ध्यासुत और शशविषाण कूर्मरोम ही हैं, ऐसे कहनेवाले के शब्द के अर्थ का आप प्रतिपादन करें कि क्या वहाँ उस प्रतीति का समुल्लेख्य (विषय) अणुमात्र भी (सत्) है ? अतः असत्ख्याति अवश्य मन्तव्य है, तो यह कथन युक्त नहीं। क्योंकि वहाँ भी अन्यत्र प्रतीत ही असत् उपहित तादात्म्य का स्फुरण माना जाता है। प्रकारभेद की विशिष्टता से युक्त दो पदार्थ की एकता ही तादात्म्य है। वह तादात्म्य (नीलो घटः) इत्यादि स्थान में नील और घटरूप विशेषण-विशेष्य में है ही ॥ १७३ ॥

तर्कसंशयाभ्यामप्रमाभ्यां जननेऽपि तत्तत्प्रमावत् मध्यस्थाद्यप्रमया तथा प्रश्नानौचित्यादिप्रमोत्पादनाविरोधे बाधवत् । भ्रमविषयाऽतथाभावेऽपि भ्रमस्याप्रमात्वपारमार्थिकतावत्प्रश्नविषयासत्यत्वेऽपि प्रश्नानौचित्यसत्यतोपपत्तिरेव । एतेन भ्रान्तिजाया धियः प्रमात्वं तथाप्यदश्चरमित्यपि परास्तप्रायमिति । एवमन्यत्राप्येवंविधोदाहरणे वाच्यम् ॥ १७४ ॥

नन्वनौचित्यविषयगोचरभ्रान्तिमता मध्यस्थेन वादिन्यनौचित्यप्रमा कथमुत्पादनीया अनुत्पादने च कथमनौचित्यमप्रमितं न भवेदित्यत आह—तर्कसंशयाभ्यामिति । नहि भ्रान्तेर्भ्रान्तिरेव जायते तर्कसंशयाभ्यां सदनुमितिजननात् । यद्वा तर्कसंशयविषयको विषयजन्यः साक्षात्कार एव दृष्टान्तः शशशृङ्गं ऋजु वक्रं वा गगनारविन्दं सुरभि नवेति प्रश्नविषयस्यासत्त्वेऽप्यनुचितमेतत् यदयं पृच्छतीति ज्ञानं प्रमैवेत्यर्थः । बाधवदिति । बाधवनो भ्रमस्य विषयतथात्वाभावे भ्रमत्वं प्रामाणिकानां तथानौचित्यज्ञानप्रमात्वमविरुद्धमित्यर्थः । नन्वन्यथाख्यातिजन्यं ज्ञानं भवतु प्रमा प्रकृते त्वसत्ख्यातिजन्यमिति नानौचित्यज्ञानं प्रमा स्यादित्यत आह—एतेनेति । असत्ख्यातेरन्यथाख्यातित्वव्युत्पादनेनेत्यर्थः । ननु वन्ध्यासुते गगनारविन्दं तत्र च कूर्मरोमेत्यादौ चासत्ख्यातौ का गतिर्न ह्यत्र तादात्म्यं भेदो वान्यत्र गृहीतो भासते येनान्यथाख्यातिः स्यादित्यत आह—एवमिति ॥ १७४ ॥

यह अनौचित्य प्रकरण में अन्यथाख्याति की चर्चा आई है। वहाँ अन्यथाख्याति को मान कर असत् पक्ष में भी यदि व्यवहार माना जाता है, तो इसी प्रकार अनौचित्यविषयक भ्रान्तिज्ञान से भी वादी में अनौचित्य का ज्ञान मध्यस्थ से कराया जा सकता है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि जैसे अप्रमारूप तर्क और संशय से प्रमारूप अनुमिति होती है, क्योंकि तर्क से व्यभिचार शंका को नष्ट करके अव्यभिचारी प्रमा का जन्म होता है। गुरु से संशयोत्पादन द्वारा शिष्य में बुद्धिविशेष की सिद्धि से तत्त्वज्ञान का जन्म होता है तथा तर्क-संशय स्वविषयक जैसे प्रमा होती है, वैसे मध्यस्थादि के अप्रमा से प्रश्नानौचित्यादि के प्रमोत्पादन में अविरोध होने पर जैसे प्रमा से अप्रमा का बाध होता है और भ्रम में प्रमात्वाभाव रहते भी भ्रमविषयक ज्ञान को जैसे प्रमात्व होता है, वैसे ही शशशृङ्ग कैसा होता है, इत्यादि प्रश्न विषय में असत्यत्व होते भी प्रश्नानौचित्य में सत्यत्व की उपपत्ति होती है। उस का ज्ञान सत्ख्यातिरूप होता है—असत्ख्याति नहीं। इससे जो कोई कहते हैं कि 'तो भी भ्रान्तिजन्यबुद्धि के प्रमात्व की अदृष्टचरत्व (अदृष्टविषयत्व) है' वे परास्त हो गये। क्योंकि उक्त असत्ख्यातित्व के साधन से तथा उक्त दृष्टान्तों से भ्रम से भी प्रमा की सिद्धि होती है। अन्यत्र भी इस प्रकार के उदाहरणों में ऐसा ही उत्तर वक्तव्य है कि सर्वत्र ही सत् से उपश्लिष्ट ही असत् की प्रतीति होती है ॥ १७४ ॥

नच कश्चिदुक्तप्रकारमन्यथाख्यातिसमाधानं नानुमन्तुं शक्नोति, अन्यथा कथमसत्ख्यातिवादिनो मतमपि जानीयादज्ञात्वा च स्वपरमतवैचित्र्यं कथं वादे प्रवर्तेत। एते सर्वेपि तर्काः प्रमाणविरोधे वा प्रमाणाभावे वा निष्पीडिताः प्रविशन्तो न बाधासिद्धिभ्यां भिद्यन्ते। पूर्वैरपि लोकसिद्धत्वाद् व्यवहृताः। केवलमस्माभिरेव तर्कपदव्यामभिषिक्ताः। ततो न प्रबन्धेन निरस्यन्ते "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतमि"ति ॥ १७५ ॥

एवं सत्यपि विप्रतिपन्नं प्रत्याह—नच कश्चिदिति। नन्वेवमप्यनुपपन्नमेव तन्मते ज्ञानं चासत्ख्यातिपर्यवसन्नमेव स्यादित्यत आह—अन्यथेति। नन्वात्माश्रयादीनामुत्सर्गादीनां च पृथक्त्वे निग्रहस्थानाधिक्यं स्यादिति सिद्धान्तमनुरुध्याह—एते इति। ननु बाधाऽसिद्ध्योरेवैषामनुप्रवेशे त्वयैव किं पृथक् पृथङ् निरूप्यत इत्यत आह—पूर्वैरिति। ननूत्सर्गादीनां, पूर्वैर्वच्यमानानामपि तत्पूर्वैर्नोक्तमित्यत आह—केवलमिति। प्रबन्धेनेति। खण्डनानन्तरोक्तेन तु खण्डिता एवेत्यर्थः। विशिष्टखण्डने हेतुमाह—विषवृक्षोऽपीति ॥ १७५ ॥

असत् की प्रतीति का असम्भव है, सर्वथा असत् में प्रतियोगिता आदि नहीं हो सकती। प्रतीति के लिये नहीं अधिक तो प्रातिभासिक सत्ता भी तो होनी ही चाहिये, तो भी सर्वथा असत् की प्रतीति मानने पर, सत् से उपश्लिष्ट ही असत् की प्रतीति होती है, केवल असत् की नहीं, यह अन्यथाख्याति है, कोई अन्यथाख्यातिवादी इस उक्त प्रकार वाले अन्यथाख्यातिरूप असत् ख्यातिवादी के प्रति समाधान नहीं माने यह नहीं हो सकता। सब अन्यथाख्यातिवादियों के लिये यह मन्तव्य है। यदि इस अपने मत को नहीं जानेगा तो इससे विपरीत असत्ख्यातिवादी के मत को कैसे जानेगा?

स्वपरमत की विचित्रता को जाने बिना वाद में कैसे प्रवृत्त होगा ? अतः वादेच्छुक अन्यथा-ख्याति (सत्ख्याति) वादी को यह अवश्य ज्ञातव्य है और विचारित होते हुए, ये अविनिगमादि सभी चारों तर्क प्रमाणविरोध वा प्रमाणाभाव में प्रवेश करते हुए बोध और असिद्धिरूप हेत्वाभास से भिन्न नहीं होते हैं, प्रमाण से विरोध होने पर बाध के अन्तर्गत होते हैं, प्रमाणाभाव से असिद्धि के अन्तर्गत होते हैं। लोकसिद्ध होने से पूर्व के विद्वानों से भी ये व्यवहृत हुए हैं। केवल हम से ही ये तर्कपदवी में अभिषिक्त हुए हैं (आरूढ किये गये हैं) अतः प्रबन्ध द्वारा विशेषरूप से मुझ से ये निरस्त नहीं किये जाते हैं, क्योंकि विषवृक्ष को भी स्वयं संवृद्ध करके (बढ़ाकर) काटना अयोग्य होता है, और बाध तथा असिद्धि से इनकी पृथक् सत्ता नहीं होने से बाध असिद्धि के निरास से ये निरस्त हो ही जाते हैं, अतः इनके पृथक् निरास की आवश्यकता भी नहीं है ॥ १७५ ॥

ये चपरैस्तर्कदोषाः षट् स्वीक्रियन्ते—आश्रयासिद्धिरनुकूलत्वं मूलशैथिल्यमिष्टापादानं विपर्ययापर्यवसानं मिथो विरोधश्चेति सोयं तर्कस्य दोषविभागो नोपपद्यते। व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोः प्रतीतिमपेक्ष्य यथानुमानं जायते, तथैव तर्कोऽपि। इयान् परमनयोर्विशेषो यदनुमानं तयोः प्रमित्या जायते तर्कस्त्ववास्तवाभ्यामपि ताभ्यां पराभ्युपगममात्रसिद्धाभ्यां भवति, तेन विमृष्यमाणः तर्कः पराभ्युपगममात्रप्रसादसिद्धपरिकरो नाश्रयासिद्धिमपि तावद्वास्तवीमनुरोद्धुमधिकरोति। ततः प्रमित्यभ्युपगमसिद्धिकृतवैचित्र्याश्रयाद्भेदादन्यो यावान् यथा च हेत्वाभासविभागः, तद्वदेव च तर्काभासविभागोऽपि न्याय्यः ॥ १७६ ॥

हेत्वाभासा एव तर्काभासा अपि नतु तर्काणां दोषविशेषाभिधानं युक्तमित्याह—ये च परैरिति। नन्वनुमानापेक्षया बीजवैषम्यममीषामिति तद्दोषवैषम्येणापि भवितव्यमित्यत आह—व्याप्तीति। व्याप्तिपक्षधर्मतयोरभ्युपगमो बीजमिति व्याप्तिपक्षधर्मताश्रया एव दोषा इतोपि भवितुमर्हन्तीत्यर्थः। प्रमित्यभ्युपगमसिद्धीति। अनुमाने प्रमितिरूपा सिद्धिस्तर्के वाभ्युपगमरूपासिद्धिस्तत्कृतं यद्वैचित्र्यं तदाश्रयाद्भेदादित्यर्थः। तथा चेयानेव भेदस्तर्कानुमानयोर्न त्वन्यो येन वैषम्यं स्यादित्यर्थः ॥ १७६ ॥

जो तर्क के दोष अन्य लोगों से छः माने जाते हैं, वे आश्रयासिद्धि १, अनुकूलत्व २, मूलशैथिल्य ३, इष्टापादन ४, विपर्ययापर्यवसान ५ और मिथोविरोध ६। इन नामों से प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह तर्क के दोषों का विभाग युक्त नहीं है, क्योंकि व्याप्तिपक्षधर्मता की प्रतीति की अपेक्षा करके (व्याप्तिपक्षधर्मता के ज्ञानपूर्वक) जैसे अनुमिति होती है, वैसे ही तर्क भी होता है। परन्तु अनुमान और तर्क में केवल इतना भेद रहता है कि अनुमान तो उस पक्षधर्मता के प्रमाज्ञान से उत्पन्न होता है, और तर्क पर के अभ्युपगममात्र से सिद्ध अवास्तव भी उस व्याप्ति और पक्षधर्मता से होता है। इस कारण से विचार्यमाण तर्क, पद के अभ्युपगममात्ररूप प्रसाद से सिद्ध परिकर (सामग्री साधन) वाला होता हुआ वह वास्तव आश्रयासिद्धि को भी अनुरुद्ध (प्रतिरुद्ध) करने में अधिकारी नहीं होता। अतः अनुमान में प्रमितिकृत और तर्क में अभ्युपगमकृत सिद्धिकृत विचित्रता के आश्रय भेद से अन्य जितना और जैसा हेत्वाभास का

विभाग अनुमान में होता है वैसा ही और उतना ही तर्काभास का विभाग भी न्याय्य (उचित) है ॥ १७६ ॥

तस्मादाश्रयासिद्धिमूलशैथिल्येष्टापादनान्यसिद्धिरेकैव दोषोऽनुमानवत्। तत्राप्रमितत्वावलम्बिनीह त्वनभ्युपगमावलम्बिनीति विशेषः। मिथोविरोधश्च सत्प्रतिपक्षतैव, 'विपर्ययापर्यवसानं तु दोष एवापादनस्य न भवति। यन्नाम विपर्ययापर्यवसानादापादनमात्मसाधनानुकूलं न भवति, तदन्यदेव किमपि। बाधविरुद्धत्वव्यभिचारास्त्वनुमानवत् तर्केऽपि दोषाः पृथग्वाच्याः। बाध उत्सर्गसम्भावनादेरन्यत्रानुकूलः। तर्कस्य सप्तममपि दोषं तर्कस्यापत्ति-साम्यं न नामोपगच्छामः। स चोभाभ्यामभ्युपगतव्याप्येनानभ्युपगतव्यापकेन प्रागेव दर्शित इत्यास्तां विस्तर इति ॥ १७७ ॥

ननूक्तास्तर्का दोषा हेत्वाभासेषु चेन्नान्तर्भवन्ति तदा तत एव तत्र भविष्यन्तीत्यत आह—तस्मादिति। असिद्धिरेकैवेति। स्वाश्रयासिद्धिः स्फुटैव मूलशैथिल्यं व्याप्यत्वा-सिद्धिरेव इष्टापादनं स्वाश्रयासिद्धिरेव सिद्धसाधनद्वारिकेत्यर्थः। तत्रेति। हेतौ। इहेति। तर्के। विपर्ययापर्यवसायितर्केण परसाधनदोषाभिधानस्यादर्शितत्वादित्याह—विपर्ययेति। तर्कदोषविभागे न्यूनत्वमाह—बाधेति। यद्यपि विरुद्धहेतौ तथापि यथानुमाने व्याप्यत्वा-सिद्धेः प्रस्तावेन तयोः परिगणितं तथात्रापि स्यादित्यर्थः। ननु बाधेन गुण एव नतु दोष इत्यत आह—बाध इति। उत्सर्गोऽप्यसम्भवाख्ये च तर्के तत्रापि भवत्येवोत्सर्ग इत्यर्थः। पूर्वोपपादिततर्कदोषान्तरमाह—दर्शित इतीति। यत्रोभयोः समो दोष इत्यादिस्थल इत्यर्थः। एतदेव विविच्याह—स चेति ॥ १७७ ॥

हेत्वाभास एवं तर्काभास के तुल्य विभाग होने से आश्रयासिद्धि, मूलशैथिल्य और इष्टापादन ये तीनों तर्क में एक ही असिद्धिरूप दोष अनुमान के समान हैं, अर्थात् अनुमान में जैसे ये तीनों एक असिद्धि दोषरूप माने जाते हैं, वैसे तर्क में भी मन्तव्य हैं। भेद यह है कि अनुमानाभास में अप्रमितत्व का अवलम्बन करनेवाली असिद्धि होती है और तर्काभास में अनभ्युपगतत्व का अवलम्बन करनेवाली होती है। परस्पर विरोध-रूप तर्क का दोष तो सत्प्रतिपक्षतारूप ही है और आपादन (तर्क) का विपर्ययाऽ-पर्यवसन दोष ही नहीं होता, जिससे अनुमानाभास से तर्काभास में अधिक दोषता की प्राप्ति हो, तथापि विपर्ययावसान से विपक्ष का बाधन होता है अतः विपर्यय के अपर्य-वसान से आपादन (तर्क) आत्मसाधनानुकूल नहीं होता अर्थात् विपक्ष का बाधन नहीं करता है। अतः कुछ अन्य ही है, बाधक-साधक तर्क सम्बन्धी नहीं है और बाध, विरुद्धत्व एवं व्यभिचार ये तीनों अनुमान के समान तर्क में भी पृथक् दोष वक्तव्य होते हैं। उत्सर्ग सम्भावनादि से अन्यत्र बाध अनुकूल होता है। अतः उत्सर्ग सम्भावनादि बाध के अन्तर्गत नहीं हो सकते, जिससे गणना में अधिकता की प्राप्ति होती है। तर्क की आपत्ति साम्यतारूप तर्क के सप्तम दोष को भी कोई मानते हैं, परन्तु इसको हम नहीं मानते। यह दोष वहाँ माना जाता है जहाँ वादी तथा प्रतिवादी दोनों से अभ्युपगत व्याप्य द्वारा और अनभ्युपगत व्यापक द्वारा कथा प्रवृत्त हुई हो।

इसको (यत्रोभयोः समोदोषः) इत्यादि कह कर पहले ही दर्शित कराया गया है। यदि सत्ता सद्व्यवहार विषय हो, तो सत्तावती होगी, इत्यादि उदाहरण हैं। अब विस्तार बेकार है ॥ १७७ ॥

एवं प्रकाराणि तत्तल्लक्षणेषु खण्डनान्यूहनीयानि। तदेतासु खण्डनयुक्तिषु कामपि स्थानान्तरस्थां केनापि प्रकारान्तरेणानीय तत्सदृशीमन्यां वा स्वयमूहित्वा परैर्विविच्यमानानि पदार्थान्तराण्यपि बुद्धिमता बाधनीयानि। अत्र चास्माभिर्दूषयितुं शङ्कितेभ्यः परपक्षप्रकारेभ्यो यदि प्रकारान्तरं कोपि स्वयमूहति उक्तानां बाधकानां मध्ये क्वचित्प्रज्ञया समाधानमभिदध्यात्तत्र खण्डनवादिनः प्रस्तुता प्रतिक्रिया न स्फुरेत्तदा परेण प्रयुज्यमाने वाक्ये बहुपदात्मके कस्यचित्पदस्यार्थं खण्डयितुं खण्डनान्तरमवतारणीयम्। एवं तत्रापि परेण प्रज्ञाशोषणे पुनस्तथैव शाखान्तरेषु संक्रमणीयमिति प्रकारेण खण्डनमये चक्रे सम्यगवधेयम् । १७८ ॥

उक्तखण्डनमन्यत्रातिदिशति—एवं प्रकाराणीति। ये पदार्थाः यानि च लक्षणानि खण्डितानि तेषां सिद्धान्तिभिः प्रकारान्तरेणोपन्यासे कृते तत्खण्डने स्वयं समाधाने वा कृते खाण्डनिकाय प्रकारमुपदिशति—तदेतास्विति। प्रज्ञाशोषः खाण्डनिकस्य सर्वथात्यन्तमवधेय इति यत्किञ्चित्सिद्धान्ती वदति—खण्डनेति । तत्खण्डनमवतारणीयमित्यर्थः ॥ १७८ ॥

उक्त रीति से प्रमाणादि के लक्षणों के खण्डित होने पर भी जो तत्तत् लक्षण खण्डित नहीं हुए हैं, उनमें भी उक्त प्रकारवाली खण्डन युक्तियां स्वयमूहनीय हैं। वहां इन उक्त खण्डन युक्तियों में से ही स्थानान्तरस्थ युक्ति को किसी भी प्रकार से आनयन (प्राप्त) करके या स्वयं तन्तुल्य अन्य युक्ति की ऊहा करके प्रतिवादी से विविच्यमान (ब्रह्मात्मा से भिन्न सत्य समझा गया) पदार्थान्तर भी बुद्धिमान से बाधनीय हैं। बाधरहित एक ब्रह्म ही बोधनीय है। यहां हमसे दूषित होने की शंका के विषय परपक्षप्रकारों से प्रकारान्तर की यदि कोई भी स्वयं ऊहा करता है और उक्त बाधकों के मध्य में कहीं किसी बाधकयुक्ति का बुद्धिबल से समाधान भी कहे और वहां खण्डनवादी को प्रस्तुत खण्डनप्रक्रिया की स्फूर्ति न हो, तो वादी से प्रयुक्त (उच्चारित) अनेक पदात्मक वाक्य के किसी पद के अर्थ का खण्डन करने के लिये खण्डनान्तर का आरम्भ कर्तव्य है। वहां भी यदि खण्डन दोषोद्धार से प्रतिवादी खाण्डनिक के प्रज्ञाशोषण (प्रतिभाशोषण) करे, तो उस विषय में प्रज्ञाशोषण होने पर उसी प्रकार से शाखान्तरों में संक्रमण कर्तव्य है, अर्थात् दूसरे पद के तीसरे पद के अर्थादि का खण्डन कर्तव्य है, क्योंकि नामरूपात्मक सब जगत् खण्डनार्ह है। अतः इस प्रकार से खण्डनमय चक्र (समूह) संसार प्रवाह में अच्छी तरह समझना चाहिए ॥ १७८ ॥

न च शाखान्तरसंक्रान्तावर्थान्तरं पतेत् अप्रकृतत्वाभावात्। न चैकनिर्णयारम्भेऽन्यसंक्रान्तावनौचित्यं स्यात्, शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यादौ

परेणोक्ते कृतकत्वादावविप्रतिपत्तव्यत्वापत्तेरन्यतरासिद्ध्याद्युच्छेदापातात् । येन हि तन्निर्वाह्यते तदनिर्वचनीयतयापि निर्वाह्यानिर्वचनीयतैवेति तस्मात् । तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे । शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया ।। १७९ ।।

प्रकृतपदार्थखण्डनमुपक्रम्य यत्किञ्चित्खण्डनाचरणेऽर्थान्तरं स्यादित्याशङ्क्याह—नचेति । प्रकृतपदार्थखण्डनोपयोगितैव तदभिधानान्नार्थान्तरत्वमित्यर्थः । ननु माभूदर्थान्तरत्वमनौचित्यं स्यादेव शाखान्तराश्रयण इत्यत आह—नचेति । एवमनौचित्ये शब्दानित्यत्वं विप्रतिपद्य तत्साधने कृतकत्वे पुनर्विप्रतिपत्तावनौचित्यं भवेत् येनान्यतरासिद्ध्युपन्यासोऽपि न घटेतेत्यर्थः । अर्थान्तरत्वनिरासायोक्तमर्थं कारिकया सङ्कलयति—तत्तुल्येति । उक्तखण्डनतुल्यस्य खण्डनान्तरस्योह उक्तस्यैव वा खण्डनस्य विषयान्तरे योजनम् । उभयथाऽपरिस्फूर्त्तौ यत्किञ्चित्पदमादाय खण्डनमुक्तं खण्डनस्मरणं चेति प्रक्रिया त्रिविधा भ्रमतीत्यर्थः । क्वचित् "धात्रमतिमत्क्रियेति पाठः" मतिमतामत्र त्रिधा क्रियेत्यर्थः ॥ १७९ ॥

यदि कहें कि उक्त रीति से शाखान्तर के अवलम्बन से अर्थान्तर की प्राप्ति होगी, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अप्रकृत के अवम्बन से अर्थान्तर होता है। यहाँ खण्डन प्रकृत है। इसमें अप्रकृतत्व का अभाव है। इसी प्रकार एक पदार्थ के निर्णय के आरम्भ में अन्यार्थ संक्रमण होने पर होनेवाला अनौचित्य दोष भी नहीं होगा, क्योंकि यह अनौचित्य भी प्रकृतार्थ में अनुपयुक्त अर्थान्तर के अवलम्बन करने पर होता है। यदि प्रकृतार्थ में उपयुक्त अर्थान्तर के अवलम्वन से भी अर्थान्तर हो, तो (शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्) कार्य होने से शब्द अनित्य है, इत्यादि स्थान में शब्द के अनित्यत्व साधन के लिये कृतकत्वादि हेतु के वादी से कथित होने पर, उस अनित्यत्व के साधन के प्रसङ्ग में अर्थान्तर की प्राप्ति न हो जाय, इस दृष्टि से अविप्रतिपत्तव्यत्व की प्राप्ति होगी, अर्थान्तर के भय से कोई विप्रतिपत्ति नहीं कर सकेगा (प्रश्नादि नहीं कर सकेगा) अन्यतराऽसिद्धि आदि का भी उच्छेद प्राप्त होगा। अर्थात् उस स्थान में असिद्धि आदि का उद्भावन करें, या उसका परिहार करें तो अर्थान्तरत्व हो जायगा। अर्थात् साध्य के साधन के प्रसङ्ग में हेतु का विचार कोई नहीं कर सकेगा, परन्तु प्रकृत साध्य के विचार में हेतु का विचार साध्य के विचार के उपयोगी होने से उसका विचार भी प्रस्तुत (प्रारब्ध) ही रहता है। क्योंकि जिस हेतु से जो साध्य निर्बाह्य (साध्य) रहता है, उस हेतु की अनिर्वचनीयता से भी निर्बाह्य (साध्य) की अनिर्वचनीयता ही होती है। अतः साध्य के विचारप्रसंग में साधन का विचार अर्थान्तर नहीं होता है। इसी तरह उक्त शाखान्तर अवलम्बन भी प्रकृतोपयोगी रहते अर्थान्तर नहीं होता है। अतः हमसे वर्णित युक्तियों के तुल्य अन्य युक्ति की ऊहा (अनुभूति) और तदीय अन्यत्र वर्णित मेरी युक्ति का विषयान्तर में योजना (सम्बन्ध करना) तथा उन उक्ति के खण्डन होने पर उस शेष (शब्दार्थ) में शृङ्खला (परम्परा) इस रीति से तीन प्रकारों से मेरी खण्डनप्रक्रिया भ्रमण करती है ॥ १७९ ॥

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया, प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठितो मास्मिन् खलः खेलतु श्रद्धाऽऽराद्धगुरुः श्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय, त्वे तत्त्वरसोर्मिमज्जनसुखेष्वासञ्जनं सज्जनः। 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्म प्रमोदार्णवम्। यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः, श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥ १८० ॥

इति श्रीश्रीहर्षकृतानिर्वचनीयसर्वस्वखण्डनखण्डखाद्ये
तुरीयः संकीर्णपरिच्छेदः समाप्तः।



कठिनोक्तिदोषं समाधातुमाह—ग्रन्थग्रन्थिरिति। अभिसन्धिपूर्वकमेव क्वचित्किञ्चित्काठिन्यं न त्वकौशलकृतमित्यर्थः। ग्रन्थिन्यासे हेतुमाह—प्राज्ञमिति। प्रसन्नतायां स्वयमेव पुरुषस्तदर्थं जानीयादित्यर्थ एवास्य ग्रन्थस्य न स्यादिति भावः। श्रद्धया आराद्धः सेवितो गुरुर्येन तेन श्लथीकृतो दृढो ग्रन्थिर्यस्य स सज्जन एव तर्करूपो रसस्तस्योर्मिषु मज्जनेन यत्सुखं तेषु आसञ्जनमासंगमासादयत्वित्यर्थं सद्गुरोरधीत्य खण्डनमयं तर्कप्रयोगेण विजयखण्डनमासादयतु सत्कृत इति भावः। स्वोत्कर्षख्यापनेन ग्रन्थस्य श्लाघनीयतामाह—ताम्बूलेति। "स्वभ्रातुर्जयनाथस्य व्याख्यामाख्यातवान् यतः। प्रीत्या भवनाथोयं तामिहालिखमुज्ज्वलाम्।

इति श्रीमहामहोपाध्यायसन्मिश्रभवनाथात्मजमहामहोपाध्यायसन्मिश्रशङ्करविरचिता खण्डनखाद्यचतुर्थपरिच्छेदशाङ्करी टीका समाप्ता ॥



स्वाधीनपद प्रयोग के रहते कठिनपद का प्रयोग अज्ञत्वादिमूलक भी हो सकता है, अतः इस शंका का निवारण करते हुए, कठिन ग्रन्थ की गुरु द्वारा प्राप्ति से फलविशेष को दर्शाते हुए, अधिकारी प्रयोजनादि को भी दर्शाते हैं कि—(इह) इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं सर्वत्र नहीं मैंने ग्रन्थग्रन्थि (ग्रन्थकाठिन्य) का न्यास (रचना) प्रयत्न से किया है, वह इसलिये किया है कि जो प्राज्ञ है नहीं, किन्तु प्राज्ञंमन्य है (प्राज्ञत्व का जो अभिमानी है) तथा पठित भी जिसको कुछ है, ऐसा खल (दुर्जन-कुतर्की) अपने मन से इसमें खेल नहीं करे। किन्तु श्रद्धा से जिनसे आराद्ध (आराधित-सेवित) गुरु हो, अत एव श्लस्थित (नष्टप्राय) जिनके कामादि दृढ ग्रन्थियाँ हों तथा ग्रन्थ की ग्रन्थियाँ जिनके गुरु द्वारा श्लथीकृत (सुज्ञेय) हो, ऐसे सज्जन (विवेकादि युक्त विद्वान्) तर्करूप रस के ऊर्मियों (तरंगों) में जो मज्जन (प्रेम) उससे होनेवाले सुखों में आसज्जन (स्नान आसज्जन = स्थिति) उसको प्राप्त करें ॥ १ ॥ स्वोत्कर्षता द्वारा ग्रन्थ

की श्लाघनीयता को कहते हैं कि कान्यकुब्जेश्वर (काशीराज) से अन्य सब विद्वान् एक-एक ताम्बूल की बीड़ा सत्कार के लिये पाते हैं और साधारण आसन पर बैठते हैं, और जो श्रीहर्ष दो बीड़े और विशिष्ट आसन पाते हैं, तथा समाधि की सब शुद्ध अवस्थाओं में परब्रह्मरूप प्रमोदार्णव (भेदरहित ब्रह्मानन्द) का सक्षात्कार करते हैं तथा जिनका काव्य मधुवर्षी (मधुरानन्दशान्तरसादि का प्रवर्षक) है, और तर्कविषयक जिनकी उक्तियाँ (वचन) वादियों को परास्त करने वाली हैं। उस श्रीहर्ष कवि की यह कृति (ग्रन्थ) कृतिमुदे (विद्वानों के आनन्द के लिये) अभ्युदित (प्रकटित = प्रसिद्ध = प्रख्यात) हो ॥ १८० ॥

इति स्वामिश्रीहनुमानदासषट्शास्त्रिविरचितायां 'तत्त्वबोधिनी'
हिन्दीव्याख्यायां तुरीयः संकीर्णपरिच्छेदः समाप्तः ।

हिन्दीव्याख्योपसंहारः

शुभमस्तु सुखञ्चास्तु सर्वस्यमङ्गलं सदा ।
खण्डयित्वा जगज्जालं न कालवसतामियात् ॥ १ ॥

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥' इत्यादि शास्त्र के अनुसार अनेक पूर्वजन्मकृत सत्कर्मोपासनादि से संशोधित चित्तवाला जो पुरुष शास्त्र, गुरु आदि में श्रद्धा, तत्परता, संयतेन्द्रियतापूर्वक श्रवणादि एवं ध्यानाभ्यासादि से आत्मसाक्षात्कार करता है, उसको जो परम शान्ति मिलती है, कुकर्मादि का अभाव होता है तथा शोक-चिन्तादि रहित स्वरूप में स्थिति होती है, वही ब्रह्मानन्द की अनुभूति है, इस अवस्था में समूल पाप, राग-द्वेषादि के नाश से दुःख का स्वस्वरूप में सम्बन्ध नहीं भासता है, पूर्ण विवेक से अविवेकमूलक मोह नहीं रहने के कारण अपवित्रता एवं कुचरित्रता नहीं रहती है, क्योंकि परमपावन ज्ञान की अवस्था में पापमय मन, वचन और शरीर के व्यवहार का सम्भव नहीं रहता है, क्योंकि पूर्वजन्मों के तथा वर्तमान जन्म के पावन कर्मयोग, भक्तियोग, आदि से परम पावन ज्ञानयोग प्राप्त होता है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ भ, गी. अ. ४।३८॥) ज्ञान के समान कोई यज्ञादि कर्म इस संसार में पवित्र नहीं है, उस परोक्ष ज्ञान को श्रद्धादिपूर्वक पहले गुरु से प्राप्त करके योग से पवित्रात्मा अपने अन्तःकरण में अभ्यासादि के द्वारा कुछ काल में अपरोक्षरूप से प्राप्त करता है । वहाँ अन्तःकरण के शुद्ध रहने पर और ईश्वर की कृपा और अनुकूल स्वकर्मादि से गुरु के उपदेशादि प्राप्त होने पर वर्णाश्रमादि का कोई भेद बाधक-साधक नहीं होता है, सब वर्णाश्रमवाले को सब देशकालादि में ज्ञान हो सकता है, और सब ब्रह्मानन्द का अनुभव सब देश-काल में कर सकता है, परन्तु एकान्त पवित्र देश तथा अनुकूल कालादि सहायक अवश्य होते हैं, अतः (समे शुचौ, श्वेता० २।१०) इत्यादि श्रुतियों में सम तथा शुचि देशादि का विधान है । उक्त ज्ञानी जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्त होते हैं, जिनके विषय में श्रुति कहती है कि (विमुक्तश्च विमुच्यते । कठ. ५।१) जो ब्रह्मनिष्ठ कामादिविमुक्त रहते हैं, उनको जीवन्मुक्त कहा जाता है । उन जीवन्मुक्तों में भी जिनमें पूर्वार्जित तपोबल, शापानुग्रहादि कुछ ऐश्वर्य रहता है, वे ईश्वर कोटि के जीवन्मुक्त कहे जाते हैं, जैसे भगवान् वसिष्ठ, व्यासादि हुए हैं, ईश कोटिवाले अधिकारी पुरुष कहे जाते हैं, जिनका एक कल्पपर्यन्त का प्रारब्ध रहता है, अतः समय-समय पर अवतार लेते हैं और आतिवाहिक शरीर सहित एक कल्पपर्यन्त रहते हैं, विदेहमुक्त नहीं होते, यह प्रारब्ध की प्रबलता है कि अधिकारी से भिन्न भी ईश्वर कोटि के ज्ञानी होते हैं, उसी कोटि के श्रीश्रीहर्ष कवि प्रतीत होते हैं । इसी को ये अपनी उक्ति से व्यक्त करते हैं । इन्होंने मधुवर्षि, काव्य के कथन से तथा (धर्षितपराः उक्तयः) के कथन से अपनी दण्डानुग्रहशक्ति को व्यक्त किया है और परब्रह्म प्रमोदार्णव के साक्षात्कार के कथन से बाहर

भगवान् कृष्णादि के समान वादादि-परायण होकर भी अन्तःकरण से कामादि दोषविमुक्तता को व्यक्त किया है। कामासक्त विमूढ को न सच्ची समाधि हो सकती है और न समाधि में ब्रह्मानन्द का अनुभव ही हो सकता है। श्रुति कहती है कि (ते ये शतं प्रजापतेरानन्दः, स एको ब्रह्मण आनन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। तैत्तिरीय २।८) (राजा से ब्रह्मान्त, अहै जौ सुख सगरो लहै। रहै सदा एकान्त, कामगन्ध जाको नहीं ॥ १ ॥) वस्तुतः पूर्ण काव्यशक्ति ईश्वरांश देवेश्वर की कृपा के विना नहीं हो सकती। (कविर्मनीषी। ईशा० ८) इत्यादि के अनुसार कवि परमात्मा का नाम है, अतः जैसे कहा जाता है कि जो विष्णु का अंश नहीं है, उसको शुद्ध सन्तोषजनक धर्म हेतु लक्ष्मी नहीं मिल सकती, इसी प्रकार जिसमें परम शुद्ध एवं सर्वज्ञ ईश्वर का अंश सरस्वती-शक्ति किसी प्रकार व्यक्त नहीं होगी वह मधुवर्षि काव्य नहीं बना सकता। अतः दो-चार छन्द, सोरठा आदि बना लेना तो अन्य बात है, पर प्रेमपोषक, भक्तिप्रवर्द्धक, ज्ञानदीपक, और आनन्दप्रद किसी भाषा में सुन्दर काव्य उपदेशमर्यादापालनमय ग्रन्थ की रचना करनेवाला कवि ईश्वरांशमय ही होता है। ज्ञान को सात अवस्थाएँ वर्णित हैं—प्राक्तन शुभकर्मादिजन्य शुभसंस्कार वर्तमान सत्सङ्ग से विवेकादि पूर्वक ब्रह्मचर्यावस्था में प्रबल मोक्षेच्छा, ज्ञानेच्छा-रूप शुभेच्छा और सुविचारणा से तनुमानसारूप तीसरी अवस्था यदि स्वयं प्राप्त होती है, तो गुरु-सद्गुरु द्वारा ब्रह्मचर्य अवस्था में या गृहस्थावस्था में वह जीवन्मुक्त शुकदेव, जनक, याज्ञवल्क्यादि महामहिम महापुरुषों के समान ही ज्ञानी जीवन्मुक्त हो जाता है, और गृह में भी अतिथि के समान बसता हुआ कभी समाधिस्थ, कभी व्यवहारपरायण भी होता है, या प्रारब्ध के अनुसार गङ्गामग्नार्द्धकाय मनुष्य जैसे एक काल में शीतोष्ण का अनुभव करता है, वैसे ब्रह्मसुख और संसार-दुःख का साथ ही साथ अनुभव करता है, या संस्कार, कर्म, प्रारब्ध के अनुसार कोई ब्रह्मचर्य या गृहस्थावस्था में अनुकूल गुरु आदि के नहीं मिलने पर गृहप्रपञ्च को सदा दुःखदाई समझकर गृहादि से उपरत हो कर ही गुरु आदि को प्राप्त करके ज्ञान की प्राप्ति करता है। यह तो सत्त्वापत्ति (सत्यतत्त्व की अनुभूति) रूप ज्ञान की अवस्था कही जाती है, इसके बाद ज्ञानाभ्यास से असंसक्ति और पदार्थाभाविनी ज्ञानावस्था जिस परमपुण्यकर्मा को प्राप्त होती है, वह शरीर से चाहे जहाँ रहे, मन से सदा ब्रह्मनिष्ठ रहता है, उसके लिये ही श्रुति कहती है कि (ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति छा. २।२३।१)। उसी विलक्षणावस्था के लिये जनक-याज्ञवल्क्यादि महाज्ञानियों ने भी अन्त में पूर्णोपरति को स्वीकार किया है जो श्रुति एवं शास्त्र में प्रसिद्ध है। पदार्थाभाविनी के बाद सप्तम ज्ञान की अवस्था है जहाँ की कथा है कि (सुख-दुख से वह परे परमपद, सो पद है सुखदाई) ॥ (साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः। समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ अध्यात्मोपनिषद्, ४७ ॥ जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः ॥ अ. १६)। इन सभी अवस्थावाले ज्ञानियों के संक्षेपरूप में तीन प्रकार हैं। उसमें प्रथम प्रकार सद्व्यवहारपरायणता है, जिस अवस्था में सब व्यवहार को दुःखरूप जानकर भी, निज सुख-दुःख के समान सब के सुख-दुःख को समझ कर परदुःखनिवारण के लिये ही उपदेशादि परोपकाररूप व्यवहारपरायण रहते हैं, जिनके विषय में भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि (शान्ता महान्तो निवसन्ति

लोके वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः । तृणाः स्वयं भीमभवार्णवाज्जनानहेतुरन्यानपि तारयन्तः) शान्त महात्मा (ज्ञानी) लोक में स्वार्थ के बिना वसन्त ऋतु के समान लोकहित करते हुए और स्वयं भयानक संसारसागर से पार होते हुए भी अन्य सज्जनों को उससे तारते (पार करते हुए) इस संसार में जीवन्मुक्तिकाल में बसते हैं। गीता में श्रीभगवद् वचन है कि (आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः । अ. ६।३२) । हे अर्जुन ! जो योगी अपनी उपमा (दृष्टान्त) से सुख या दुःख को सब प्राणियों में तुल्य देखता है, अर्थात् अपने सुख-दुःख के समान सब प्राणियों के सुख-दुःख को अनुकूल और प्रतिकूल समझता है, अतः अपनी अनुकूलता (हित) के समान यथाशक्ति जो सब का अनुकूल करता है, इस प्रकार हिंसादिरहित सुख-दुःखादि में समतावाला रागद्वेषादिरहित समदर्शी होता है, वह परम योगी माना गया है। श्रीश्रीहर्षकवि प्रायः व्यवहारी के सङ्गी और व्यवहारपरायण थे और कभी समाधिसुख का अनुभव करते थे, यह उनके लेख से प्रतीत होता है। दूसरा प्रकार विचारपरायण ज्ञानी का होता है, जिसके विषय में कवि का कथन है कि (अभिअन्तर ब्रह्मविचार सदा मुख साच हिये करुणा धन है । अघनिग्रह-संग्रह धर्मकथा निपरिग्रह साधुन का गुण है ॥ कह केशव भीतर योग जगै इत बाहर भोगमई तन है । मन हाथ भये जिनके तिनके बन ही घर है घर ही बन है ॥ १ ॥) अर्थात (आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया । दद्यान्नावसरं क्वापि कामादीनां मनागपि ॥ १ ॥ शयन और मरण-पर्यन्त वेदान्त (ज्ञानमय ग्रन्थ) के चिन्तन तथा विचार द्वारा समय को बिताना चाहिये और इसके द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोहादि को कहीं अवसर नहीं देना चाहिये। (तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् । एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥) गुरु आदि श्रुत असन्दिग्ध तत्त्व ब्रह्मात्मा का भी बुद्धि में स्थिरता के लिए चिन्तन करना, और परस्पर सम्बोधन = समझना-समझाना, इन सबों के द्वारा इसी एक तत्त्व के विचार-ध्यानपरायण = तत्पर होना, इसको विद्वान् अभ्यास कहते हैं । अभ्यास तथा वैराग्य से मन कुमार्ग तथा कुवस्तु से निरुद्ध होकर सन्मार्ग तथा सद्वस्तु में स्थिर तथा लीन होता है। अतः विचारपरायण ज्ञानी सदा अभ्यन्तर में ब्रह्मविचार करते हुए मुख से सत्य ब्रह्म और सत्य का ही भाषण करते हुए करुणा युक्त (दया, परोपकारपरायण, अहिं-सक) रहता है। अतः सब पापरूप, अज्ञानमय हिंसा तथा असत्यादि का त्यागी होता है, धर्ममयकथा का संग्राहक होता है, हिंसामय परिग्रह से रहित होता है। इस प्रकार मन की वशवर्तिता से गृह और बन में तुल्य ही असङ्गरूप से विचारपरायण ज्ञानी रहता है, इत्यादि । समाधिपरायण तो जीवन्मुक्ति काल में भी विदेह के समान प्रायः रहता है और वस्तुतः जीवन्मुक्त को असङ्गता से विलक्षण ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है, अपूर्व शान्ति तथा निश्चिन्तता मिलती है। उसके लिये कोई पूर्ण जिज्ञासु संगादि के त्याग एवं उपरतिपूर्वक श्रवणादि करते हैं और ज्ञान की इच्छा करने वाले संन्यास का अवलम्बन करते हैं, क्योंकि उसी प्रकार से अपना और अन्य का भी हित और उपकार समझते हैं । वे लोग संग के कामादि शत्रुओं पर परमधीर और वीर होते हैं, वे प्रायः भक्ति-योग और ज्ञानपथ के पथिक या योगयुक्त सदा रहते हैं, जैसे कि स्वामी श्रीरामानन्दजी महाराज

और स्वामी शङ्कराचार्यादि हुए हैं। अतएव (सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुख-मश्नुते। तस्मात्सङ्गं न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ १ ॥ निःसङ्गतामुक्तिपदं यतीनां सङ्गा-दशेषाः प्रभवन्ति दोषाः। आरुढयोगो विनिपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पबुद्धिः ॥२॥) सुसङ्ग-कुसङ्ग दो प्रकार के सङ्ग होते हैं, इन में सुसङ्ग (सत्सङ्ग) तो सुख का हेतु होता है, क्योंकि (सत्सङ्गति मुदमङ्गलमूला ! सङ्गति ते सुख उपजै) इत्यादि महात्माओं का कथन है, परन्तु अन्य सङ्गवाले लोक में अवश्य बाधित (पीडित) होते हैं और उस सङ्ग से रहित ही सुख पाता है, अतः पारदर्शी (ज्ञानी) यति सङ्ग नहीं करते हैं ॥ १ ॥ क्योंकि असङ्गता ही यति की मुक्ति का स्थान है, सङ्ग से सब दोष आते हैं, योग में आरूढ योगी भी सङ्ग से नीचे गिराया जाता है, अल्पबुद्धिवाले की तो बात ही क्या कहना है ॥ २ ॥ विवेकी मुमुक्षु तथा ज्ञानी को कामी, कामिनी, काम-क्रोधादि का सङ्ग त्याज्य है। भगवान् शंकराचार्यादि के वचन हैं कि (किमत्रहेयं कनकं च कान्ता श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम्) यद्यपि योग-दर्शन में (हेयं दुःखमनागतम्) इस सूत्र से अनागत दुःख को हेय (त्याज्य) कहा गया है, तथापि उसका त्याग कारण के त्याग से ही हो सकता है, अतः भगवान् शंकर ने दुःख के त्याग के लिये ही स्त्री-कनकादि को त्याज्य कहा है। महात्मा ने कहा है कि (कनक कामिनी देखिके, तू मति भूल सुरङ्ग। मिलन बिछुरन दुहेलरा, कोंचुरि तजत भुजङ्ग ॥१॥ हे सुरङ्ग (विवेकी) ! कनकादि को देखकर भूलो नहीं=मोह-ममता, आदि अवि-वेक के बश नहीं होवो, इनसे मिलन और वियोग दोनों ही दुहेलरा (कठिन दुःखप्रद) हैं, जैसे सांप की केंचुली मिले रहने पर भी दुःखद होती है, त्यागते समय भी दुःखद होती है और (दीपशिखासम युवति तनु, मन जनि होसि पतङ्ग। भजसि राम अभिअन्तर, करसि सदा सतसङ्ग ॥ १ ॥) आरोग्यादियुक्त युवावस्थायुक्त शरीरी का शरीर दीपशिखा के तुल्य चमक-तेजयुक्त दीखता है, वहां विवेकरहित मन आसक्त होकर पतङ्ग के समान नष्ट मानवता आदि से रहित होता है, अतः उपदेश है कि पतङ्गतुल्य नष्ट नहीं होवो किन्तु सर्वात्मा असङ्ग राम को इस देह द्वारा भजो, और सदा सत्सङ्ग करो, कुसङ्ग को त्यागो। गृहस्थाश्रमादि के कारण जो ज्ञानी कनक-कामिनी को नहीं त्याग सकते, उन्हें भी मन से मोह-ममता आदि को त्यागने ही पर कल्याण होता है, वस्तुतः सत्यात्मज्ञान-पूर्णविवेकादि होने पर मोह-ममतादि अज्ञानात्मक मूल के अभाव से स्वयं नष्ट हो जाते हैं। यदि ज्ञान होने पर भी मोह-ममता, शोकादि नहीं नष्ट होते हों, तो समझना चाहिये कि साक्षात् अनुभवात्मक ज्ञान नहीं हुआ है, इत्यादि। शास्त्र कहता है कि (संसारजसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीतिवादिनम्। कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदंत्यजं यथा ॥ १ ॥ द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जन्तुर्नममेति विमुच्यते ॥ २ ॥ गरुड पु० प्र० अ० ४९) सांसार सुख में आसक्त मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ, ऐसा कहने वाले कर्म और ब्रह्म दोनों से पतित को, अंत्यज के समान त्यागना चाहिये ॥ १ ॥ बन्ध और मोक्ष के लिये, मम और न मम = ममता और ममता का अभाव = सर्वत्र समता, ये दो पद = दो निश्चय ही हैं, यहाँ मम इस निश्चय से प्राणी बँधता है, न मम इस निश्चय से विमुक्त होता है। अतः (ममता त्याग करहिं सब

ज्ञानी) (यो न निर्वासनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सः । सर्वज्ञोऽप्यभितोबद्धः पञ्जरस्थो यथा खगः ॥ १ ॥ नाऽत्यक्त्वा सुखमाप्नोति नाऽत्यक्त्वा विन्दते परम् । नाऽत्यक्त्वाचाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वसुखी भव ॥ २ ॥ योगवासिष्ठ महाभारत) जो वासनारहित नहीं है, वह सर्व-धर्मपरायण सर्वज्ञ होता हुआ भी पिंजरा में वर्तमान पक्षीतुल्य सर्वथा अवश्य बद्ध है ॥१॥ क्योंकि लौकिक वासनादि को त्यागे बिना न कोई सुख पाता है, न परतत्त्व (परब्रह्म) को पाता है, और न निर्भय होकर सोता है । अतः सबको त्याग कर सुखी होना चाहिये ॥२॥ अतएव सत्याद्वैतसमदर्शी निर्मम निर्वासन श्रीश्रीहर्षकवि ने शिष्टादि में जो ममता, वासनादि हैं उनकी निवृत्ति कराने की दृष्टि से ही अनात्मस्वरूप लक्षण और लक्ष्यात्मक नामरूप का खण्डन किया है, अर्थात् उनके अनिर्वाच्यत्व (मिथ्यात्व) को दर्शाया है, क्योंकि सत्य सुखद सुन्दरादि समझी गई वस्तु की प्रायः ममता वासना होती है, असत्यादि समझी गई स्वप्नतुल्य वस्तु के वर्तमानकाल में ज्ञान-व्यवहारादि होने पर भी ममता नहीं होती है, अतएव अत्यन्त प्रिय पिता-माता आदि के शरीरादि को मृतक अवस्था में अपवि-त्रादि समझ कर शीघ्र ही दाहादि किये जाते हैं । अतः कहा जाता है कि (झूठ झूठ कै छाड्हू, मिथ्या यह संसार । भजहु राम संशय तजहु, जाते होय उबार ॥ १ ॥) अर्थात् जैसे दीपक के प्रकाश में सन्मार्ग से चलने पर सद्व्यवहार करने पर मनुष्य को लाभ, सुख, सुयश सद्गति होती है, परन्तु पतङ्ग के उस दीपक में गिरने से दीपक बुझ जाती है—पतङ्ग नष्ट हो जाता है, वैसे मानवतनरूप युवावस्था के प्रकाश से युक्त दीपक के प्रकाश में सन्मार्ग से चलने पर और सद्भक्ति विचारादि करने पर अवश्य कल्याण होता है और ममता, वासनादि से इसमें पतङ्ग तुल्य आसक्त होने से नाश होता है । अतः देहासक्ति, ममता, कुसंग के त्यागपूर्वक विचारसद्भक्ति आदिक ही संसार का त्याग है, वही कर्तव्य है । और दूसरा ममतात्याग के लिये उपाय प्रदर्शन है कि—(त्याग तो ऐसा कीजिये, सब कुछ एकहि बार । सब प्रभु का मेरा नहीं, निश्चय किया विचार ॥ १ ॥) अर्थात् अधिष्ठान और आधाररूप से सत्ता प्रकाशरूप से सच्चिदा-नन्दरूप असङ्ग सर्वात्मा अन्तर्यामी प्रभु ही पराशक्तिरूप विविध माया द्वारा सब जगत का कारण है, और (सन् घटः = अस्ति घटः) इत्यादि रूप से वही सर्वत्र समरूप से भासता है, अतः वह सर्वत्र सर्वात्मा धर्मी है और सब जगत् उसके आश्रित मायामात्र मिथ्या है वह भी प्रभु का है—व्यावहारिक जीव का नहीं ममता अज्ञान से होती है । और माया = अज्ञान से ही विपरीत धर्मधर्मीभाव भासता है, अर्थात् सत्तास्वरूप ब्रह्मात्मा धर्म भासता है, और द्रव्यगुणादि धर्मी भासते हैं, जिसे नैयायिक द्रव्यादि के धर्मरूप सत्ता मानते हैं (यह विषय विशेषरूप से पञ्चदशी से समझने के योग्य है) अतः सत्ता विशिष्ट की (द्रव्यादि की) कारणता को श्रीश्रीहर्ष कवि निषेध करते हैं, क्योंकि सत्ता विशिष्ट (सत्ता का धर्मी) द्रव्यादि वस्तुतः नहीं हैं, इत्यादि । खण्डनकार ने जो यह कहा है कि, यदि भिन्न में भेद है, तो अनवस्था है, अभिन्न में भेद है, तो यह एकता का अभाव होगा, इत्यादि यह यद्यपि पञ्चदशी प्रथम प्रकरण में वर्णित (गुणादि न सगुणादि आदि में हैं, न निर्गुण आदि हैं) किन्तु सब गुणादि द्रव्यादि स्वरूप में है (स्वरूप के हैं) इस रीति से खण्डित हो सकता है, परन्तु गुणादि

से भिन्न द्रव्यादि स्वयं प्रसिद्ध हैं, ये गुणादि का आश्रय नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार भेदाश्रय के स्वयं असिद्ध होने से स्वरूप में (स्वरूप का) भेद नहीं हो सकता है, इत्यादि स्थानों में खण्डनकार ने स्वसिद्धान्त की ममता को भी त्याग कर उसका खण्डन किया है, कि जिससे सब व्यवहार में अनिर्वाच्यतारूप मुख्य सिद्धान्त की सिद्धि होती है। वौर सत्यपरमाद्वैत तो स्वयंसिद्ध है ही ॥

वन्दौ श्रीसद्गुरुचरण, जो भञ्जत भवभीर ।
अद्भुत विमल विचार से, लावत सो भवतीर ॥ १ ॥
श्रीगुरु रमितारामपद, श्री हरिहर सुकृपालु ।
सुमिरि लिखो हनुमान ने, पाय प्रसाद दयालु ॥ २ ॥
संस्कृत टीकाकार का, यह प्रसाद लघु जानु ।
सरला करि सो हिन्दि में, शुभमति ते हनुमानु ॥ ३ ॥

इस प्रकार स्वामी श्रीहनुमानदास षट्शास्त्री विरचित 'तत्त्वबोधिनी' नामक
हिन्दीव्याख्यासहित श्रीश्रीहर्ष प्रणीत खण्डनखण्डखाद्य
नामक ग्रन्थ समाप्त ।



समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः



नवीनतम चौखम्बा प्रकाशन

(शताधिक नवीन प्रकाशन के सविवरण सूचीपत्र नं० ८३ निःशुल्क मंगाकर पढ़ें)

अमरकोष-रामाश्रमी—सटिप्पण 'सरल मणिप्रभा' हिन्दी व्या० सहित ३५-००
काशिकावृत्तिः—'प्रकाश' हिन्दी व्याख्यासहित। प्र० ब्रह्मदत्तजिज्ञासुः प्रथम भाग १२-००
हिन्दी सिद्धान्तकौमुदी—व्या०-प्रो० बालकृष्ण पंचोली। पूर्वार्ध १८-००
प्रबन्धरत्नाकरः—डॉ० रमेशचन्द्र शुक्ल। सर्वोच्च निबन्ध ग्रन्थ १६-५०
नवीन अनुवादचन्द्रिका—डॉ० रमाकान्तत्रिपाठी। सरल...संस्करण ३-००
अभिज्ञानशाकुन्तल : एक अध्ययन—श्री काशीनाथ द्विवेदी ४-००
हिन्दी गाथासप्तशती—व्या०-जगन्नाथ पाठक। बृहत्तम संस्करण २०-००
हिन्दी युधिष्ठिर विजय—व्या०-व्रजेशचन्द्र श्रीवास्तव १२-५०
ललितमाधवं नाटकम्—रूपगोस्वामि कृत। हिन्दीव्याख्या सहित १५-००
हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—(विमर्श सहित) व्या०-राधेश्याम मिश्र १५-००
हिन्दी विक्रान्तकौरव—व्या०-पन्नालाल जैन ६-००
हिन्दी वेतालपंचविंशति—व्या०-दामोदर झा। कथासार सहित १०-००
हिन्दी राजनीतिरत्नाकर—चण्डेश्वर कृत। व्या०-वाचस्पतिशास्त्री [illegible]
काश्मीर [illegible]दर्शन और कामायनी—डॉ० भँवरलाल जोशी २०-००
संस्कृत नाट्यसिद्धान्त—डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी १०-००
संस्कृत महाकाव्य की परम्परा—डॉ० केशवराव मुसलगाँवकर २५-००
संस्कृत साहित्य में नीतिकथा का उद्गम एवं विकास-डॉ० कवठेकर २०-००
कवियों की लोकदृष्टि—पं० शिवशंकर त्रिपाठी १०-००
हिन्दी न्यायदर्शन—(वात्स्यायनभाष्यसहित) व्या०-ढुंढिराजशास्त्री १५-००
हिन्दी खण्डनखण्डखाद्य—(शांकरीसहित) व्या० हनुमानदासजी २५-००
हिन्दी वैशेषिकदर्शन—(उपस्कार सहित) व्या०-ढुंढिराज शास्त्री २०-००
न्यायपरिचय—(म० म० फणिभूषण तर्कवागीश) हिन्दी रूपान्तर १०-००
बौद्धन्याय—(एफ० टी० शेरवात्सकी) हिन्दी रूपान्तर। प्र० भाग ३०-००
आपस्तम्बधर्मसूत्रम्—(उज्ज्वलावृत्तिसहित) 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या २०-००
धर्मसिन्धुः—सटिप्पण 'धर्मदीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित २५-००
शुक्रनीतिः—हिन्दी व्याख्या सहित। प्र० पण्डितराज राजेश्वरशास्त्री १२-००
याज्ञवल्क्यस्मृतिः—(मिताक्षरासहित) 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या २०-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१